प्रबन्ध सम्पादक '—ब्र. धर्मचन्द शास्त्री, प्रतिष्ठाचार्य
एव ब्र प्रभा पाटनी

प्रथम संस्करण

प्रतियाँ 1000

प्राप्ति स्थान : 1. आचार्य विमलसागर संघ
2. अनेकान्त सिद्धान्त समिति लोहारिया,
3. श्री दि. जैन मन्दिर गुलाब बाटिका दिल्ली

वीर निर्वाण सम्वत्—२५१६

सन् १९८९-९० वि स २०४६-४७

मूल्य/

प्रकाशन -
विनोद कुमार जैन
भोलानाथ नगर, शाहदरा
दिल्ली-32

अर्थसहयोग

श्री बेतालीश दशाहुमड दिगम्बर जैन
''समाजविकास'' मंडल-यात्रासंघ-बम्बई

श्री बाबुलाल सोमचन्द शाह—(महादेवपुरा)—मलाड़
श्री ताराचन्द मणीलाल शाह—(अलुवा)—घाटकोपर
श्री रमणलाल कोदरलाल दोशी—(ननानपुर)—बम्बई
श्री बाबुलाल जेठालाल महेता—(वडासण)—बम्बई
श्री पोपटलाल रामचन्द शाह—(करोल)—माटुंगा
श्री कान्तिलाल सोमचन्द दोशी—(ननानपुर)—बम्बई
श्री मीठालाल लल्लुभाई शाह—(उजेडीया)—बम्बई
श्री भोगीलाल चुनीलाल शाह—(उजेडीया)—बम्बई
श्री अमृतलाल नेमचन्द कोटडिया—(ओराण)—बम्बई
श्री रतिलाल चुनीलाल कस्तुरचन्द दोशी—(कांदीवली ननानपुर)
श्री धनसुखलाल जीवराज गांधी—(सोनासण)—बोरीवली

समर्पण

युग-प्रमुख

चारित्र शिरोमणि

सन्मार्ग दिवाकर

करुणा निधि

वात्सल्य मूर्ति

अतिशय योगी—

तीर्थोद्धारक चूड़ामणि—

अपाय विचय धर्मध्यान के ध्याता

शान्ति-सुधामृत के दानी

वर्तमान में धर्म-पतितों के उद्धारक

ज्योति पुञ्ज—

पतितों के पालक

तेजस्वी अमर पुञ्ज

कल्याणकर्त्ता, दुःखों के हर्ता, समदृष्टा

बीसवीं सदी के अमर सन्त

परम तपस्वी, इस युग के महान साधक

जिन भक्ति के अमर प्रेरणास्रोत

पुण्य पुञ्ज—

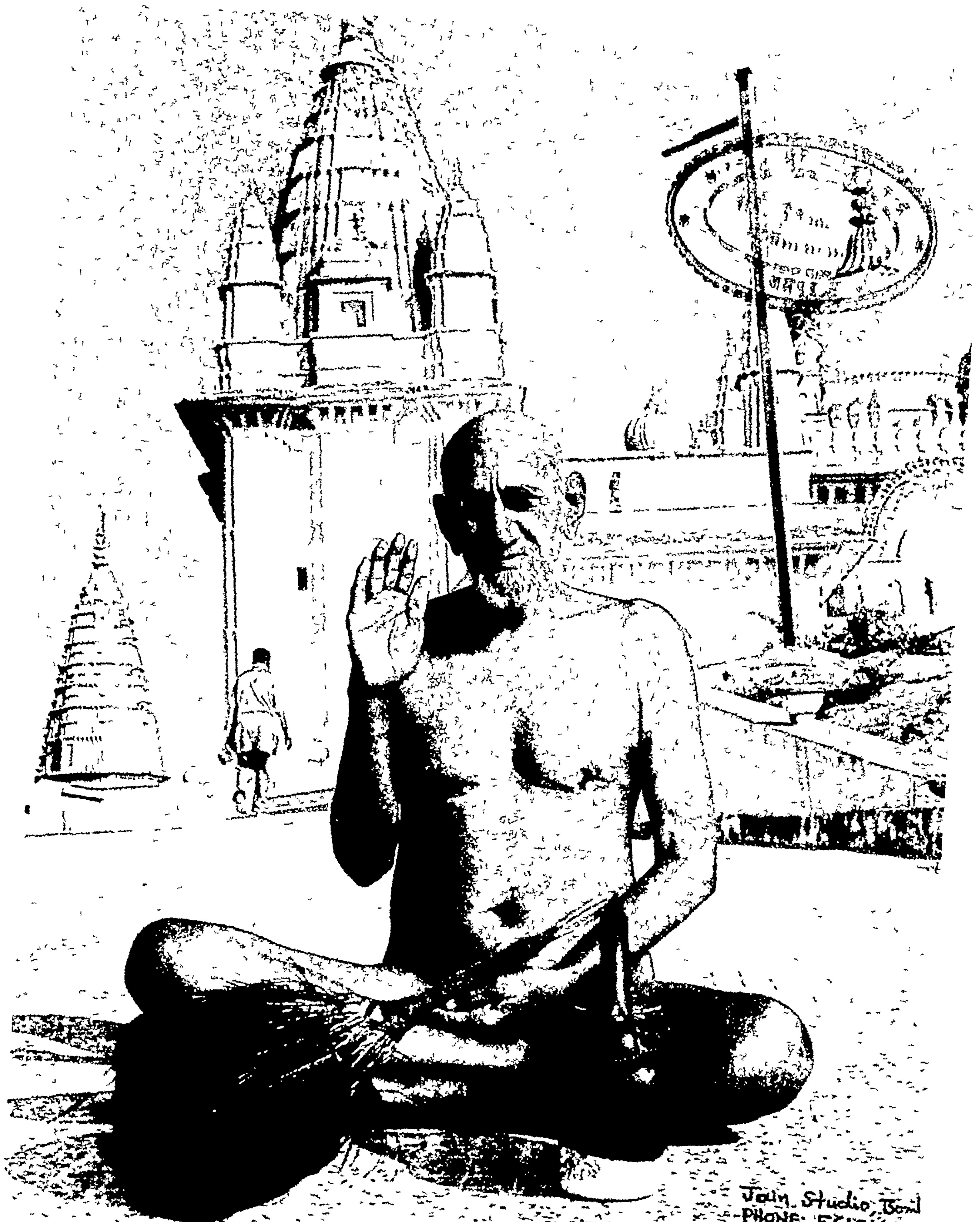
गुरुदेव आचार्यवर्यश्री 108

श्रीविमलसागर जी महाराज के कर-कमलों में

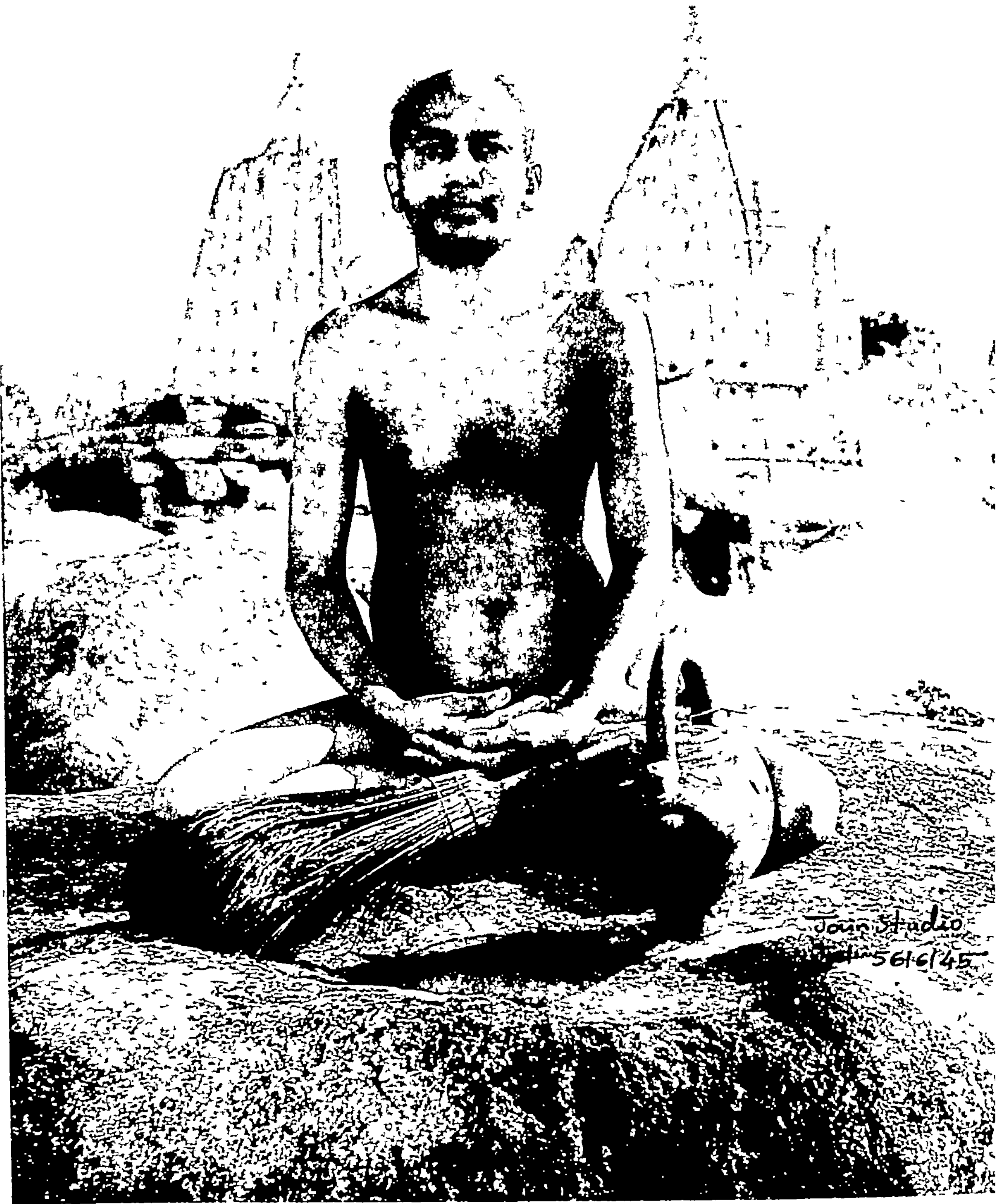
"ग्रन्थराज"

समर्पित

तुभ्यं नम : परम धर्म प्रभावकाय।
तुभ्यं नम : परम तीर्थ सुवन्दकाय।।
स्याद्‌वाद'' सूक्ति सरणि प्रतिबोधकाय।
तुभ्यं नम : विमल सिन्धु गुणार्णवाय।।



आचार्य श्री विमल सागर जी महाराज



उपाध्याय श्री भरत सागर जी महाराज

।।आशीर्वाद।।

विगत् कतिपय वर्षों से जैनागम को धूमिल करने वाला एक श्याम सितारा ऐसा चमक गया कि सत्यपर असत्य का आवरण आने लगा-एकान्तवाद-निश्चयाभास तूल पकड़ने लगा।

आज के इस भौतिक युग में असत्य को अपना प्रभाव फैलाने में विशेष श्रम नहीं करना होता, यह कटु सत्य है, कारण जीव के मिथ्या संस्कार अनादिकाल से चले आ रहे हैं। विगत् ७०-८० वर्षों में एकान्तवाद ने जैनत्व का टीका लगा कर निश्चय नय की आड़ में स्याद्वाद को पीछे ढकेलने का प्रयास किया है। मिथ्या साहित्य का प्रसार-प्रचार किया है। आचार्य कुन्द-कुन्द की आड़ लेकर अपनी ख्याति चाही है और शास्त्रों के भावार्थ बदल दिए हैं, अर्थ का अनर्थ कर दिया है।

बुधजनों ने अपनी क्षमता पर 'एकान्त' से लोहा लिया है पर वे अपनी ओर से जनता को अपेक्षित सत्साहित सुलभ नहीं करवा पाए। आचार्य श्री विमलसागर जी महाराज का हीरक जयन्ती वर्ष हमारे लिए एक स्वर्णिम अवसर लेकर आया है। आर्यिका स्याद्वादमती माताजी ने आचार्य श्री एवं हमारे सान्निध्य में एक संकल्प लिया कि पूज्य आचार्य श्री की हीरक जयन्ती के अवसर पर आर्ष साहित्य का प्रचुर प्रकाशन हो और यह जन-जन को सुलभ हो। फलतः ७५ आर्ष ग्रन्थों के प्रकाशन का निश्चय किया गया है क्योंकि सत्यसूर्य के तेजस्वी होने पर असत्य अन्धकार स्वतः ही पलयन कर जाता है।

आर्ष ग्रन्थों के प्रकाशन हेतु जिन भव्यात्माओं ने अपनी स्वीकृति दी है एवं प्रत्यक्ष-परोक्षरूप में जिस किसी ने भी इस महदनुष्ठान में किसी भी प्रकार का सहयोग किया है, उन सबको हमारा आशीर्वाद है।

—उपाध्याय भरतसागर

ता. ११-७-१९९०

सकंल्प

''णाणं पयासं'' सम्यग्ज्ञान का प्रचार-प्रसार केवलज्ञान का बीज है। कलयुग में ज्ञान प्राप्ति की तो होड़ लगी है। पदवियाँ और उपाधियाँ जीवन का सर्वस्व बन चुकी हैं परन्तु सम्यग्ज्ञान की ओर मनुष्यों का लक्ष्य ही नही है।

जीवन में मात्र ज्ञान नहीं, सम्यग्ज्ञान अपेक्षित है। आज तथाकथित अनेक विद्वान् अपनी मनगढ़न्त बातों की पुष्टि पूर्वोचार्यों की मोहर लगाकर कर रहे है ऊटपटांग लेखनियाँ सत्य की श्रेणी में स्थापित की जा रही है; कारण पूर्वाचार्य प्रणीत ग्रन्थ आज सहज सुलभ नहीं है और उनके प्रकाशन व पठन-पाठन की जैसी और जितनी रूचि अपेक्षित है, वैसी और उतनी दिखाई नहीं देती।

असत्य को हटाने के लिए पर्चेबाजी करने या विशाल सभाओं में प्रस्ताव पारित करने मात्र से कार्यसिद्धि होना अशक्य है। सत्साहित्य का जितना अधिक प्रकाशन व पठन-पाठन प्रारम्भ होगा, असत् का पलायन होगा। अपनी संस्कृति की रक्षा के लिए आज सत्साहित्य के प्रचुर प्रकाशन की महती आवश्यकता है :—

येनैते विदलन्ति वादिगिरय स्तुष्यन्ति वागीश्वस :
भव्या येन विदन्ति निर्वृतिपदं मुञ्चन्ति मोहं बुधा :।
यद् बन्धुर्यमिनां यदक्षयसुखस्याधार भूतं मत,
तल्लोक जयशुद्दिदं जिनवच: पुष्याद् विवेकश्रियम्।।

सन् १९८४ से मेरे मस्तिष्क मे यह योजना बन रही थी परन्तु तथ्य यह है कि ''सकल्प के बिना सिद्दि नहीं मिलती।'' सन्मार्ग दिवाकर आचार्य १०८ श्री विमलसागरजी महाराज की हीरक-जयन्ती के मागलिक अवसर पर माँ जिनवाणी की सेवा का यह संकल्प मैंने प.पू. गुरूदेव आचार्यश्री व उपाध्यायश्री के चरण-सानिध्य में लिया। आचार्य श्री व उपाध्यायश्री का मुझे भरपूर आशीर्वाद प्राप्त हुआ। फलतः इस कार्य में काफी हद तक सफलता मिली है।

इस महान् कार्य में विशेष सहयोगी पं. धर्मचन्द जी व प्रभाजी पाटनी रहे। इन्हें व प्रत्यक्ष-परोक्ष में कार्यरत सभी कार्यकर्त्ताओं के लिए मेरा आशीर्वाद है।

पूज्य गुरूदेव के पावन चरण-कमलों में सिद्ध-श्रुत-आचार्य भक्तिपूर्वक नमोस्तु-नमोस्तु-नमोस्तु

सोनागिर, ११-७-९०

—आर्यिका स्याद्वादमती

आभार

सम्प्रत्यस्ति ने केवली किल कलो त्रैलोक्यचूड़ामणि-
स्तद्वाच: परमासतेऽत्र भरतक्षेत्रे जगद्योतिका।।
सद्‌रत्नत्रयधारिणो यतिवरांस्तेषां समालम्बनं।
तत्पूजा जिनवाचिपूजनमत: साक्षाज्जिन: पूजित:।।

वर्तमान में इस कलिकाल में तीन लोक के पूज्य केवली भगवान इस भरतक्षेत्र में साक्षात् नहीं हैं तथापि समस्त भरतक्षेत्र में जगत्प्रकाशिनी केवली भगवान की वाणी मौजूद है तथा उस वाणी में आधारस्तम्भ श्रेष्ठ रत्नत्रयधारी मुनि भी हैं। इसीलिए उन मुनियों का पूजन तो साक्षात् केवली भगवान् का पूजन है।

आर्ष परम्परा की रक्षा करते हुए आगम पथ पर चलना भव्यात्माओं का कर्त्तव्य है। तीर्थंकर के द्वारा प्रत्यक्ष देखी गई, दिव्यध्वनि में प्रस्फुटित तथा गणधर द्वारा गुंथित वह महान आचार्यों द्वारा प्रसारित जिनवाणी की रक्षा प्रचार-प्रसार मार्ग प्रभावना नामक एक भावना तथा प्रभावना नामक सम्यग्दर्शन का अंग हैं।

युगप्रमुख आचार्यश्री के हीरक जयंती वर्ष के उपलक्ष में हमें जिनवाणी के प्रसार के लिए एक अपूर्व अवसर प्राप्त हुआ। वर्तमान युग में आचार्यश्री ने समाज व देश के लिए अपना जो त्याग और दया का अनुदान दिया है वह भारत के इतिहास में चिरस्मरणीय रहेगा। ग्रन्थ प्रकाशनार्थ हमारे सान्निध्य या नेतृत्व प्रदाता पूज्य उपाध्यायजी भरतसागरजी महाराज व निर्देशिका तथा जिन्होंने परिश्रम द्वारा ग्रन्थों की खोजकर विशेष सहयोग दिया, ऐसी पूज्या आ. स्याद्‌वादमती माताजी के लिए मेरा शत-शत नमोस्तुवंदामि अर्पण करती हूँ। साथ ही त्यागीवर्ग, जिन्होंने उचित निर्देशन दिया उनको शत-शत नमन करती हूँ। तथा ग्रन्थ के सम्पादक महोदय, ग्रन्थ के अनुवादकर्त्ता तथा ग्रन्थ प्रकाशनार्थ अनुमति प्रदाता ग्रन्थमाला एवं ग्रन्थ प्रकाशनार्थ अमूल्य निधि का सहयोग देने वाले द्रव्यदाता एवं ग्रन्थ प्रकाशनार्थ अमूल्य निधि का सहयोग देने वाले द्रव्यदाता का में आभारी हूं तथा यथासमय शुद्ध ग्रन्थ प्रकाशित करने वाले प्रेस के संचालक आदि की मैं आभारी हूँ। अन्त में प्रत्यक्षपरोक्ष में सभी सहयोगियों के लिए कृतज्ञता व्यक्त करते हुए सत्य जिनशासन की जिनागम की भविष्य में इसी प्रकार रक्षा करते रहें, ऐसी भावना करती हूँ।

ब्र. प्रभा पाटनी संघस्थ

प्रकाशकीय

इस परमाणु युग मे मानव के अस्तित्व की ही नही अपितु प्राणिमात्र के अस्तित्व की सुरक्षा की समस्या है। इस समस्या का निदान ''अहिसा'' अमोघअस्त्र से किया जा सकता है। अहिंसा जैनधर्म-सस्कृति की मूल आत्मा है। यही जिनवाणी का सार मी है।

तीर्थंकरो के मुख से निकली वाणी को गणधरो ने ग्रहण किया और आचार्यो ने निबद्ध किया, जो आज हमे जिनवाणी के रूप मे प्राप्त है। इस जिनवाणी का प्रचार-प्रसार इस युग मे अत्यन्त उपयोगी है। यही कारण है कि हमारे आराध्य पूज्य आचार्य, उपाध्याय एव साधुगण निरन्तर जिनवाणी के स्वाध्याय और प्रचार-प्रसार मे लगे हुए हैं।

उन्ही पूज्य आचार्यों मे से एक हैं सन्मार्ग-दिवाकर, चारित्र-चूडामणि, परम-पूज्य आचार्यवर्य विमलसागर जी महाराज। जिनकी अमृतमयी वाणी प्राणीमात्र के लिए कल्याणकारी है। आचार्यवर्य की हमेशा भावना रहती है कि आज के समय मे प्राचीन आचार्यों द्वारा प्रणीत ग्रन्थो का प्रकाशन हो और मंदिरो में स्वाध्याय हेतु रखे जाये जिसे प्रत्येक श्रावक पढ़कर मोह रूपी अन्धकार को नष्टकर ज्ञानज्योति जला सके।

जैनधर्म की प्रभावना जिनवाणी का प्रचार-प्रसार सम्पूर्ण विश्व मे हो, आर्ष परम्परा की रक्षा हो एव अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीर का शासन निरन्तर अबाधगति से चलता रहे। उक्त भावनाओं को ध्यान मे रखकर परम्-पूज्य, ज्ञान-दिवाकर, वाणीभूषण, उपाध्यायरत्न भरतसागरजी महाराज एव आर्यिकारत्न स्याद्वादमती माता जी की प्रेरणा व निर्देशन मे परम-पूज्य आचार्य विमलसागर जी महाराज की ७४वी जन्म-जयन्ति के अवसर पर ७५वी जन्मजयन्ति हीरक जयन्ति वर्ष के रूप मे मानने का सकल्प समाज के सम्मुख भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वत परिषद ने लिया। इस हीरक जयन्ति वर्ष मे निम्नलिखित प्रमुख योजनाये क्रियान्वित करने का निश्चय किया, तद्नुरूप ग्रन्थो का प्रकाशन किया जा रहा है। योजनान्वित ग्रन्थो की सूची इस प्रकार है —

१ सिद्धचक्र विधान, २ विमल भक्ति-सग्रह, ३ रयणसार, ४ धर्ममार्गसार, ५ आराधना कथा कोष, ६ अष्ट पाहुड, ७ पञ्चास्तिकाय, ८. पच स्तोत्र, ९ तत्त्वानुशासन, १० चर्चासार, ११ सुधर्म-श्रावकाचार, १२ सम्यक्त्व-कौमुदी, १३ परीक्षामुख, १४ क्षत्र-चूडामणि, १५ समयसार, १६ योग-सार, १७ नीतिसार समुच्चय, १८ परमात्म प्रकाश, १९ न्याय-दीपिका, २० शान्ति-सुधा सिन्धू, २१ इन्द्रनन्दी नीतिसार, २२ इष्टोपदेश, २३ समाधितत्र, २४ वराग चरित्र २५ भरतेश वैभव, २६ वैराग्य मणिमाला, २७ स्वरूप सबोधन, २८ श्रुतावतार, २९ अमितगति श्रावकाचार, ३० आत्मानुशासनम्, ३१ स्वयमू स्तोत्र, ३२ द्रव्य-सग्रह, ३३ धर्म रसायन ३४ सार-समुच्चय, ३५ प्रश्नोत्तर श्रावकाचार, ३६ आलाप पद्धति, ३७ मदन पराजय, ३८ वसुनन्दी श्रावकाचार, ३९ धर्मशर्माभ्युदय, ४० सागार धर्मामृत, ४१ बोधामृत सार, ४२ पाडवपुराण, ४३ नयचक्र, ४४ जीवक चिन्तामणि, ४५ अभयकुमार चरित्र ४६ आप्तमीमासा, ४७ मन्दरमेरु पुराण, ४८ युक्त्यानुशासन, ४९ प्रतिष्ठा पाठ, ५० भाव-सग्रह वामदेव, ५१ लघु तत्वस्फोट, ५२ रत्नकरण्ड श्रावकाचार, ५३ अमरसेन-चरयू, ५४ रत्नकरण्ड श्रावकाचार (प्रश्नौत्तर), ५५ धर्मरत्नाकर, ५६ प्रमेय रत्नमाला, ५७ यशस्तिलक चम्पू, ५८ सिद्धान्त सार, ५९ तत्वार्थवृत्ति, ६० ज्ञानामृत, ६१ भावफलत्रयोदशी, ६२ श्रावक धर्म प्रदीप, ६३ श्रेणिक चरित्र, ६४ अमृताशीति, ६५ अगपण्णत्ति, ६६, पार्श्व पुराण, ६७ मल्लिनाथ पुराण, ६८ विमलनाथ पुराण, ६९ नेमिनाथ पुराण, ७० प्रवचनसार, ७१ सुभाषित रत्नावली, ७२ धन्यकुमार चरित्र, ७३ सिद्धिप्रिय स्तोत्र, ७४ सार-चतुर्विशितिका, ७५ जम्बूस्वामी चरित्र।

७५ ग्रन्थो के प्रकाशन की योजना के साथ ही साथ भारत के विभिन्न नगरों में ७५ धार्मिक शिक्षण शिविरो का आयोजन किया जा रहा है और ७५ पाठशालाओ की स्थापना भी की जा रही है। इस ज्ञान यज्ञ मे पूर्ण सहयोग करने वाले ७५ पाठशालाओं की स्थापना भी की जा रही है। इस ज्ञान यज्ञ में पूर्ण सहयोग करने वाले ७५ विद्वानो का सम्मान एव ७५ युवा विद्वानों को प्रवचन हेतु तैयार करना तथा ७७७५ युवा वर्ग से सप्तव्यसन का त्याग कराना आदि योजनाए इस हीरक जयन्ति वर्ष में पूर्ण की जा रही हैं।

सम्प्रति आचार्यवर्य पू विमलसागर जी महाराज के प्रति देश एव समाज अत्यन्त कृतज्ञता ज्ञापन करता हुआ उनके चरणो मे शत-शत नमोऽस्तु करके दीर्घायु की कामना करता है। ग्रन्थों के प्रकाशन में जिनका अमूल्य निर्देशन एव मार्गदर्शन मिला है। वे पूज्य उपाध्याय भरतसागरजी महाराज एवं माता स्याद्वादमति जी हैं। उनके लिये मेरा क्रमश नमोऽस्तु एव वन्दामि अर्पण है।

उन विद्वानों का भी आभारी हूँ जिन्होने ग्रन्थों के प्रकाशन में अनुवादक, सम्पादक एवं संशोधक के रूप मे सहयोग दिया है। ग्रन्थों के प्रकाशन मे जिन दाताओं ने अर्थ का सहयोग करके अपनी चञ्चला लक्ष्मी का सदुपयोग करके पुण्यार्जन किया उनको धन्यवाद ज्ञापित करता हूँ। ये ग्रन्थ विभिन्न प्रेसों में प्रकाशित हुए एतदर्थ उन प्रेस संचालकों को जिन्होने बड़ी तत्परता से प्रकाशन का कार्य किया का भी धनवाद ज्ञापित करता हूँ। अन्त में उन सभी सहयोगियों का आभारी हूँ जिन्होंने प्रत्यक्ष परोक्ष में सहयोग प्रदान किया है।

—ब्र. पं. धर्मचन्द शास्त्री

अध्यक्ष

भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वत परिषद्

अनुक्रम

प्रधान-सम्पादकीय

उपदेश चाहे छोटा हो या बड़ा, धार्मिक हो या नैतिक, सामाजिक व अन्य किसी विषयक, वह सामान्य जनोंके हृदयमें अथवा स्मृति-पटलपर तबतक स्पष्टत स्थिरतासे अंकित होकर नहीं बैठता जबतक कि अनुभवमें आनेवाली जीवन-धारासे मेल मिलाकर न समझाया जाये। इसीलिए धर्मके प्रणेताओं तथा आचार्योंने आख्यानों तथा कथानकोंका बहुत उपयोग किया है। किसी भी धार्मिक साहित्यको देखिए, उसका अधिकाश भाग मूलत कथा-प्रधान ही पाया जावेगा। हिन्दू धर्मके वेद, उपनिषद् व पुराण, बौद्ध धर्मका त्रिपिटक, ईसाई धर्मका बाइबिल आदि सभी ग्रन्थ आख्यानोंसे परिपूर्ण हैं और उनके प्रचारक प्राय. उन्हीं कथानकोंके द्वारा श्रोताओंके हृदयपर अपने धार्मिक तत्त्वों व नियमोंका प्रभाव जमानेका प्रयत्न करते हैं।

जैनधर्ममें यह कथा-प्रवृत्ति विशेष रूपसे मौलिक, प्राचीन तथा परिपुष्ट रही है। इसका कारण यह है कि यहाँ मनुष्यको क्रियाशील बनाने तथा अपने कृत्योंके लिए पूर्ण उत्तरदायी सिद्ध करनेका प्रयत्न किया गया है। मानव-जीवनमें जो उत्कर्ष और अपकर्ष आते हैं, जो सुख और दु खका घटना-चक्र चलता दिखाई देता है, उसमें विचारशील व्यक्तियोंको कार्य-कारण की शृखला भी दृष्टिगोचर हो जाती है। परन्तु बहुजन समाजके लिए प्रकृतिकी नियामकता समझना-समझाना कठिन हो जाता है। फिर अनेक विषमताएँ तो ऐसी भी सामने आती हैं जिनके किसी नियमित कारणका पता लगाना प्राय' असम्भव हो जाता है। एकने राजाके महल तथा दूसरेने रंककी कुटियामें जन्म क्यों लिया? कोई सुन्दर व धनी तथा कोई कुरूप और दरिद्री क्यों? कोई नियमसे चलनेवाला भी व्याधि-पीडित तथा दूसरा खान-पानमें असयमी रहता हुआ भी स्वस्थ और हृष्ट-पुष्ट क्यों? ईमानदारी करनेवाला व्यापारी उन्नति नही कर पाता, जबकि धन्धेमें सदैव धोखेबाजी करनेवाला नित्य उन्नति करता क्यों दिखाई देता है? इत्यादि, इत्यादि।

यो तो जो भी पौराणिक, ऐतिहासिक तथा लोक-प्रचलित व जनश्रुतिकी परम्परासे चले आये सभी प्रकारके कथानकों व आख्यानोंको ग्रहणकर जैनाचार्योंने उन्हें सुरुचिपूर्ण तथा अपने धार्मिक सिद्धान्तोंके अनुकूल बनाकर उन्हें अपने साहित्यमें स्थान देनेका प्रयत्न किया है। किन्तु उन्होने कुछ ऐसे महापुरुषोंका भी चयन किया है जिनके जीवनकी घटनाएँ मनुष्यके मनको पाप-प्रवृत्तियोंसे विरक्त करके धर्म और पुण्यकी साधनाओंकी ओर विशेष रूपसे आकर्षित करनेमें प्रभावशाली हो सकती हैं। इन महापुरुषोंकी सख्या परम्परासे तिरेसठ मानी गयी है और उन महापुरुषोंको शलाका पुरुषकी सज्ञा दी गयी है। शलाकाका अर्थ है सीक या सलाई। अर्थात्—जिनका स्मरण रखनेके लिए उनके नामकी सीक रखी जाय वे शलाका पुरुष। इनमें प्राय वे सभी अवतारी, पूज्य एव प्रतापी पुरुष आ जाते हैं जिन्हें वैदिक परम्परामें भी प्रतिष्ठा प्राप्त हुई है। वे हैं चक्रवर्ती, वसुदेव, नारायण व इनके महाबलशाली शत्रु भी। किन्तु जिन्हें जैन धर्म व साहित्यमें विशेष रूपसे धर्मकी व्यवस्थाओंकी स्थापनाके लिए उच्च स्थान दिया गया है, वे हैं ऋषभ आदि चौबीस तीर्थंकर। सभी व अनेक तीर्थंकरों व अन्य तिरेसठ शलाका पुरुषोंके वशों व जीवन वृत्तोंका वर्णन करनेवाले ग्रन्थोंको महापुराण माना गया है, और जिन ग्रन्थोमें केवल एक-एक मात्र महापुरुषोंका वृत्तान्त हो उन्हें पुराण या चरितकी संज्ञा दी गयी है। चरितोंमें प्राय उन छन्द, रस, भाव अलकार आदि गुणोंका समावेश करनेका भी प्रयत्न किया गया है जिन्हें साहित्य-शास्त्रियोने काव्यगुण कहा है। इस कारण इन चरित ग्रन्थोंने काव्य या महाकाव्यकी सज्ञा भी प्राप्त की है। ये रचनाएँ साहित्यकी उत्कृष्ट उपलब्धियाँ मानी जाती हैं।

जबहम प्राचीनसे लेकर अर्वाचीन जैन साहित्यको कालक्रमके अनुसार देखते हैं तब हमें यह भी ज्ञात हो जाता है कि इन काव्यमय महान् व विशाल पुराणों व चरितोंका विकास किस प्रकार हुआ। ऊपर कहा जा चुका है कि धर्मके व्याख्यानों व उपदेशोंको विशेष स्पष्ट, रोचक व हृदयग्राही बनानेके लिए कथाओंका उपयोग आदिसे ही किया जाता रहा है। सामान्य मनुष्योंकी दृष्टिको धर्मकी ओर मोड़ने, अर्थात् मिथ्यादृष्टिको सम्यग्दृष्टि बनाने हेतु इन कथाओंका सर्व प्रथम योगदान था। इसी कारण इस कथानक-वर्णन-

को जैन आगममें प्रथमानुयोग अर्थात् धार्मिक शिक्षणका प्रथम चरण कहा गया है। आदिमें इन महापुरुषोंके चरितोंको पूर्णतः लिपिबद्ध किया गया प्रतीत नही होता। कथानकोंके नायकोके नाम, उनके माता-पिताके नाम, जन्म-नगरी, जन्मादि निर्वाण पर्यन्त विशेष अवसरोकी तिथियाँ आदि ही लिख ली जाती थी, या याद कर ली जाती थी, तथा इनका विस्तारसे वर्णन गुरु-शिष्य परम्परा द्वारा मौखिक रूपसे चलता था। लेखन-सामग्रीकी कठिनाई व अपरिग्रही मुनियो द्वारा साहित्य-सामग्री को लेकर निरन्तर विहार करनेमें असुविधा आदि इसके कारण हो सकते हैं। इन मुख्य-मुख्य बातोकी सूचियोको नामावलि कहते थे। स्वय जैन पौराणिक परम्परा अनुसार प्राचीन पुराणकारो व चरित-रचयिताओने इस बातका उल्लेख किया है कि उन्हें अपनी रचनाओंकी आधारभूत सामग्री 'नामावलि निबद्ध' ही प्राप्त हुई थी। स्थानाग व समवायाग आदि जैन आगमोमें ऐसी ही नामावलियाँ प्राप्त होती है। तिलोय-पण्णत्तिमें समस्त तीर्थंकरोका विवरण ऐसी ही नामावलियोमें पाया जाता है। यह शैली जैन साहित्यमें निरन्तर प्रचलित रही और 'दस ठाणा' 'बीस ठाणा' आदि समय-समय पर संकलित की गयी सूचियाँ आजतक भी प्रचलित हैं। इन्हें कितने ही जैन मुनि कण्ठस्थ भी कर लेते हैं। इन नामावलियोंके आधारसे कथानायकोंके जीवन-चरित्रका उपदेश देनेमें यह तो एक त्रुटि अवश्यम्भावी है कि उसमें समस्त घटनाओके वर्णनमें एकरूपता नही हो सकती। किन्तु दूसरी दृष्टिसे ये ही त्रुटियाँ और दोष उन कथाओ और आख्यानोंके विकासमें सहायक सिद्ध हुए है। प्रत्येक गुरु उनके मौलिक ढाँचेको सुरक्षित रखकर उसका विस्तार अपनी प्रतिभानुसार करनेके लिए स्वतन्त्र था। इसी स्वतन्त्रताके फलस्वरूप धीरे-धीरे न केवल कथाओंको उत्तरोत्तर अधिक विस्तृत, रोचक, रोमाञ्चकारी व नाना शैलियोंमें वर्णित किया गया, किन्तु उनमें अलंकार युगमें नाना काव्य गुणोका तथा प्रसगानुसार अवान्तर कथाओका समावेश भी होने लगा। पुराणों व चरितोको इस विकासशीलताके उदाहरण देनेकी यहाँ आवश्यकता नही है, जैन साहित्यिक इतिहासका अवलोकन करनेसे वह स्वयं स्पष्ट हो जाता है।

प्रस्तुत चन्द्रप्रभ-चरितकी रचना ग्यारहवी शतीमें हुई है। यह युग भारतीय साहित्यमें छन्द, अलकार व रस-भावादि काव्यगुणोंके विकासमें चरम सीमापर पहुँच चुका था। अतएव इस चरितकी रचनामें युगकी इस विशेषताका पूरा प्रतिबिम्ब पाया जाता है। धार्मिक दृष्टिसे यह युग बडा महत्त्वपूर्ण था। इसमें एक ओर दार्शनिक व सैद्धान्तिक चिन्तनका, और दूसरी ओर न्याय शैली तथा उसकी खण्डन-मण्डन वृत्तियोका बहुत उत्कर्ष हुआ। वैदिक परम्परामें षड् दर्शनोंका सुव्यवस्थित रूप सामने आ चुका था तथा शकराचार्य, रामानुजाचार्य, मण्डन मिश्र आदि महान् दार्शनिक व तार्किक भी हो चुके थे। चार्वाक दर्शन भी परिपुष्ट हो चुका था। तत्त्वोपप्लवसिंह जैसी रचनाएँ भी प्रसिद्ध हो चुकी थी। जैन समाजमें समन्तभद्र, सिद्धसेन, अकलंक, विद्यानन्दि आदिके द्वारा जैन दर्शन और न्यायने उक्त सभी सैद्धान्तिक धाराओंसे लोहा लिया। इस सबका यथोचित प्रतिबिम्बन भी प्रस्तुत रचनामें पाया जाता है। कथाके नायक एक जैन तीर्थंकर थे, तथा मुनियोकी रचनाओंका उद्देश्य सदैव धार्मिक प्रतिपादन और प्रचार रहा है। अतएव इस रचनामें पद-पदपर प्रसंगानुसार जैन तत्त्वोंका विवरण उपस्थित किया गया है। जैन मान्यताका यह एक सुदृढ आधार-स्तम्भ है कि आत्मा अनादि-निधन है, अजर और शाश्वत है, एव व्यक्ति जब जैसा है वह बहुत अंशमें उसके पूर्व जन्म-जन्मान्तरोंमें किये गये पाप-पुण्यात्मक कर्मोका परिणाम है। इसी बातको शृंखलाबद्ध बताने हेतु प्राय कथानकके अनेक, पूर्व जन्मोका भी वर्णन किया जाता है। और यह वर्णन केवल इहलौकिक मात्र नही रहता, किन्तु इस लोकमें किये गये अच्छे-बुरे कर्मोंका परिणाम स्वर्गके सुख भोग एवं नरककी यातनाओंके सहन द्वारा दर्शाया जाता है। इसका जैन साहित्यमें कितना महत्त्व है यह इससे भी प्रकट होगा कि प्रस्तुत चरितमें कथानक चन्द्रप्रभ तीर्थंकरके छह पूर्व भवोंका वर्णन किया गया है और वह सक्षेपमें नही, किन्तु इतने विस्तारसे कि ग्रन्थके प्रथम पन्द्रह सर्ग उसीमें घिर गये हैं, जबकि उनके तीर्थंकर जन्मका चरित मात्र अगले तीन सर्गोंमें वर्णित है। तीर्थंकर चरितका ढाँचा बहुत कुछ बंधा

हुआ है, क्योंकि उसमें वैयक्तिक घटनाएँ बहुत कम हुआ करती हैं, मुख्यतासे उनके गर्भ, जन्म, तप, ज्ञान और निर्वाण इन पाँच कल्याणकोंके वर्णनको प्रधानता रहती है। फिर भी ऐसा नहीं है कि यह वर्णन कहीं-से जैसाका तैसा रख दिया गया हो। उसमें कविकी अपनी मौलिकता स्पष्ट दिखाई देती है, जिससे वह समस्त विवरण नीरस नहीं किन्तु बहुत सरस पाया जाता है। कविने अपनेसे पूर्वकालीन रचनाओं, जैसे पद्मपुराण, हरिवंश पुराण तथा आदि और उत्तर पुराणमें वर्णित चन्द्रप्रभके जीवनवृत्तको अपना आधार बनाया है। फिर भी रचना शैली व काव्यकी दृष्टिसे यह नहीं कहा जा सकता कि उन्होंने उनकी नकल की है। यथार्थत उनकी रचनामें उक्त पूर्व रचनाओंकी शाब्दिक छाया प्राय. बिल्कुल ही नही पायी जाती।

इस चरित या काव्यके रचयिता वीरनन्दिका जैन मुनि-परम्परामें बहुत ऊँचा स्थान है। यह इसी बातसे सिद्ध है कि गोम्मटसारके कर्ता नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्तीने अपनेको उनका 'वत्स' कहा है तथा पार्श्वनाथ चरितके कर्ता वादिराज सूरिने उनकी भारतीको कुमुद्वतीके समान 'चन्द्रप्रभाभिसम्बद्ध,' 'रसपुष्ट' और 'मन प्रिय' कहकर स्मरण किया है। इसपर टीका और पंजिका भी लिखी गयी, तथा उसकी प्राचीन हस्तलिखित प्रतियाँ उत्तरसे दक्षिण भारत तक शास्त्रभण्डारोंमें पायी जाती हैं। ये इस रचनाके लोक-प्रियता व प्रचार के प्रमाण हैं।

यह ग्रन्थ पहले भी एक बार मुद्रित हो चुका था, और उसका एक अनुवाद भी छप चुका था। किन्तु वे प्रकाशन न तो इस युगके विद्वत्समाजकी आलोचनात्मक रुचिके अनुकूल थे और न अब उनकी प्रतियाँ ही उपलब्ध थीं। ऐसी अवस्थामें यह आवश्यक समझा गया कि इस प्राचीन रचनाका एक अच्छा सस्करण तैयार कराकर प्रकाशमें लाया जाये। बडी प्रसन्नताकी बात है कि इसका यथेष्ट रीतिसे सम्पादन और अनुवाद प० अमृतलालजी शास्त्रीने बडे प्रयासपूर्वक सम्पन्न किया। उन्होंने पूर्वमुद्रित पाठको भी अपने सम्मुख रखा तथा विविध स्थानोंसे प्राप्त भिन्न भिन्न कालीन सात हस्तलिखित प्रतियोंका मिलान करते हुए पाठ-शोधन किया एव उन प्रतियोंके पाठान्तर भी सकलित कर पाद-टिप्पण रूपसे दे दिये। उनका अनुवाद भी भावानुवाद होते हुए भी मूल रचनाके साथ पूर्ण न्याय करता है। और भाषाकी दृष्टिसे भी परिमार्जित एव धारावाही है जिससे मूल आख्यान व वर्णन ही नहीं, किन्तु उसकी काव्य-कलाका भी पाठकको पर्याप्त मात्रामें रसास्वादन मिल सकता है। उन्होंने ग्रन्थकी प्राचीन टीका एवं पंजिकाका भी उनकी अनेक उपलभ्य प्राचीन प्रतियोंपरसे उद्धारकर प्रस्तुत संस्करणमें समावेश कर दिया है। उन्होंने अपनी ३३ पृष्ठकी प्रस्तावनामें सम्पादन-सामग्री, ग्रन्थकार और रचना तथा टीका व पंजिकाके विषयमें सभी ज्ञातव्य बातोंका विवेचन कर दिया है, तथा परिशिष्टोंमें 'मूल रचनाके पद्यों, व्याख्या व पंजिकामें उद्धृत अवतरणों एव उनके विशिष्ट शब्दोंकी अनुक्रमणिकाएँ भी संलग्न कर दी हैं। इस प्रकार इस महाकाव्यका प्रस्तुत सस्करण सर्वांग परिपूर्ण कहा जा सकता है जिसके लिए प्रधान सम्पादक प० अमृत-लाल शास्त्रीके अनुगृहीत हैं।

आ० ने० उपाध्ये
हीरालाल जैन

प्रस्तावना

[१] आदर्श प्रतियों का परिचय

चन्द्रप्रभचरितम्‌के प्रस्तुत संस्करण का सम्पादन निम्नांकित हस्तलिखित बारह—मूल (७), संस्कृत-व्याख्या (३) और पञ्जिका (२) की प्राचीन प्रतियोंके आधार पर किया गया है—

मू० १. अ—यह प्रति कारंजाकी है। यह ११३/४×५ इंच लम्बे-चौड़े १३० पत्रों (२६० पृष्ठो) में समाप्त हुई है। दोनो ओर डेढ़-डेढ़ इंच का हासिया छूटा है। प्रति पृष्ठ पंक्ति-संख्या ८-८ है, पर अन्तके दो पृष्ठों पर ९-९। प्रति पंक्ति लगभग ३५-३६ अक्षर हैं। लिपि सुन्दर एवं सुवाच्य है। इसमें पडिमात्रा या पृष्ठमात्राका उपयोग किया गया है। 'सर्गः'के स्थानमें 'सर्ग.' एवं 'च्छ'के स्थान में 'छ' लिखा हुआ है। यत्र-तत्र हासियोंमें टिप्पण भी दिये गये हैं। कागज पुष्ट, पीले रंगका है। इसमें कलासनाथस्य''''इत्यादि (१.५९), ज्ञानमागमनिरोधि''''इत्यादि (७ ५२) तथा कविप्रशस्तिका य. श्रीवर्म नृपो बभूव '''इत्यादि (६) पद्य नहीं हैं। आदिभाग—ॐ नम. सिद्धेभ्य.। श्रियं क्रियाद्यस्य '''इत्यादि। पुष्पिका—इति श्रीवीरनंदिकृता-वुदयाके चंद्रप्रभचरिते महाकाव्ये प्रथम. सर्ग ॥१॥छ॥ अन्तिम भाग—स्वस्ति श्री संवत् १५९१ वर्षे आषाढमासे। कृष्णपक्षे दशम्या तिथौ सोमवासरे श्रीमूलसंघे सरस्वतीगछे। बलात्कारगणे श्रीकुंदकुंदा-चार्यान्वये भट्टारक श्रीपद्मनंदिदेवा तत्पट्टे भ० श्रीसकलकीर्तिदेवा. तत्पट्टे भ० भुवनकीर्तिदेवा. तत्पट्टे भ० ज्ञानभूषणदेवा. तत्पट्टे श्री विजयकीर्तिदेवाः तच्छिष्य श्री ब्र० श्री हसाख्यः तच्छिष्यब्रह्मराजपालपठनार्थं चंद्रप्रभकाव्यं चिर तिष्ठतु भूतले। गुरुशिष्ययोः शुभ भूयात्। श्लोक संख्या २३४०॥ चद्रप्रभकाव्यम।

मू० २, आ—यह प्रति कारंजाकी है। १२×५१/२ इञ्च लम्बे-चौड़े ४८ पत्रो (९६ पृष्ठो) में इसकी समाप्ति हुई है। दोनो ओर एक-एक इञ्चका हासिया छूटा है। प्रति पृष्ठ १६-१६ पंक्तियाँ हैं, और प्रति पंक्ति ५१-५२ अक्षर हैं। इसमें भी अङ्कों और मात्राओंकी आकृति 'अ' प्रतिके समान है। ऊपर और नीचेके रिक्त भागोमें छोटे-छोटे सघन अक्षरोमें टिप्पण भी दिये गये हैं। इसमें ग्रन्थकारकी प्रशस्तिके पद्य नहीं हैं। इसका लेखन काल १६४३ है। आदि भाग—ॐ नमो वीतरागाय ॥ ॥ श्रिय क्रियाद्यस्य''''इत्यादि। पुष्पिका—इति श्री वीरनंदिकृतावुदयाके चद्रप्रभचरिते महाकाव्ये प्रथमः सर्ग ॥छ॥१॥ अन्तिम भाग—इति श्री सिद्धान्तवेदी श्रीवीरणंद्याचार्यकृतौ चद्रप्रभस्वामीमहाकाव्य समाप्तमिति। संवत् १६४३ वर्षे एकादशी तिथौ भौमवासरे तुलवदेशे वंगवाटिपत्तने जैनराज्यसुराज्ये शान्तीश्वरचैत्यालये श्रीमूलसघे सरस्वतीगछे बलात्कारगणे श्रीकुन्दकुन्दाचार्यान्वये महामुनीश्वरश्रीमहेन्द्रकीर्तिदेवरुश्रीचिक्कमहेन्द्रकीर्तिदेवरुगुरूणा पादपद्माराधकभट्टारकश्रीभुवनकीर्तितछीस्यब्रह्मज्ञानसागरस्वहस्तेन लखितं स्वपठनार्थं कर्मक्षयार्थं। शुभ भवतु कल्याणमस्तु। मंगल महा श्री श्री श्री ॥श्री॥ ॥श्री॥ ॥श्री॥

मू० ३. इ—यह प्रति भी कारंजाकी है। यह १११/२×५ इञ्च लम्बे-चौड़े ७९ पत्रो (१५८ पृष्ठों) में समाप्त हुई है। प्रति पृष्ठ पंक्ति संख्या ९ (पृ० १४ तक), १० (पृ० १५-३८), ११ (पृ०३९-७४), १० (पृ०७५-७९) और प्रति पंक्ति अक्षरसंख्या प्रारम्भमें ३७-३८ है पर आगे चलकर ४५-४६। दोनों ओर एक-एक इञ्चका हासिया छूटा है। इसमें भी प्रशस्ति-पद्य नहीं हैं, और न टिप्पण भी। अङ्कों और मात्राओं-की आकृति कहीं-कहीं 'अ'-'आ' प्रतियोंके समान भी है। कागज पुष्ट, पीले रंगका है। इसका भी लेखन-काल १६४३ है। आदि भाग—श्रीवीतरागाय नम.। अथ चन्द्रप्रभस्वामिमहाकाव्य लिख्यते। श्रीय क्रिया-द्यस्य''''इत्यादि। पुष्पिका—इति विरनंदिकृतावुदयाके चन्द्रप्रभचरिते महाकाव्ये प्रथम. सर्ग ॥१॥ अन्तिम-भाग—॥ गद्य ॥ इति श्रीवीरणंदिकृतावुदयाक चन्द्रप्रभचरित महाकाव्ये निर्वाणगमनो नाम अष्टादशः सर्गाः ॥ ꣼ ॥ १८॥ इति श्रीसिद्धान्तवेदी श्रीवीरणंद्याचार्यकृतौ चन्द्रप्रभस्वामीमहाकाव्य संपूर्ण समाप्त-

मिति। संवत् १६४३ वर्षे एकादशीतिथौ भौमवासार तुलवादशे बगवाडिपत्तने जिनराज्यसुराज्य शान्तिश्वरचैत्यालये श्रीमूलसंघे सरस्वतीगछे वलात्कारगणे श्रीकुकुदाचार्यान्वये महामुनीश्वरश्रीमहेन्द्रकीर्तिदेवरु-श्रीचिक्कमहेन्द्रकीर्तिदेवरुगुरुणा पादपद्माराधकभट्टारकश्रीभुवनकीर्ति तछीस्य ब्रह्मज्ञानसागरस्वहास्तन लिखित स्वपरपठनार्थं कर्मक्षयार्थं ॥ ॥ शुभ भवतु ॥ कल्याणमस्तु ॥ मगल महा श्री श्री श्री ॥श्री॥ ॥ श्री ॥ ॥ श्री ॥ छ ॥ ९ ॥ ⫶ ॥ ९ ॥ उक्त तीनों प्रतियोकी प्राप्ति पं० माणिकचन्द्रजी चवरे कारंजाकी कृपासे हुई।

मू० ४. क—यह प्रति नयामन्दिर, धर्मपुरा, दिल्लीकी है। इसका नम्बर ३८ (क) है। यह १२×६$\frac{3}{4}$ इञ्च लम्बे-चौडे ११२ पत्रो (२२४ पृष्ठों) में समाप्त हुई है। प्रति पृष्ठ ७-७ पक्तियाँ हैं, कहीं-कही ८-८ भी। प्रतिपक्ति अक्षर सख्या कही ४५ तो कही ५२ है। लिपि सुन्दर एव सुवाच्य है, पर अक्षर सर्वत्र एक-से नहीं हैं—१० वें सर्ग तक वडे-वडे हैं, और आगे (११-१८) छोटे-छोटे, यद्यपि लेखक एक ही है। कही-कही टिप्पण भी हैं। लेखन काल स० १८९९ है। आदिभाग—ओ नमो वीतरागाय—श्रिय क्रियाद्यस्य "इत्यादि। पुष्पिका—इति वीरनदिकृतावुदयाके चन्द्रप्रभे विरचते महाकाव्ये प्रथमसर्ग ।१। अन्तिम भाग—पूर्ण सवत् १८९९ माद्रपद शुक्ल ४ गुरुवासरे अस्मिन् ग्रन्थे श्लोकानि द्विसहस्रद्विशतविंशतिप्रमाणानि सर्गा अष्टादशं इद महाकाव्य लिपीकृत श्रावकअगरवालवखतावरसिह स्वपठनार्थं लिखी दील्लीनगर्यां लाला गीरधारी लालजी पढत श्रावक तिनोसे इद महाकाव्य मया अधीत। शुभ भवतु कल्याणमस्तु।

मू० ५. ख—यह प्रति नया मन्दिर, धर्मपुरा, दिल्लीकी है। इसका नम्बर अ ३८ (ख) है। यह १२×६ इञ्च लम्बे-चौडे १४४ पत्रो (२२८ पृष्ठों) में समाप्त हुई है। प्रति पृष्ठ पक्तिसंख्या १० है, और प्रति पक्ति अक्षर सख्या ३०। यत्र-तत्र टिप्पण भी हैं। आदि भाग—ओं नमो वीतरागाय। श्रिय क्रियाद्यस्य···इत्यादि। पुष्पिका—इति वीरनदिकृतावुदयाके चन्द्रप्रभविरचिते महाकाव्ये प्रथम सर्ग ॥१॥ अन्तिमभाग—संवत् १८७२ कार्तिक कृष्णसप्तम्या बुधवासरे अस्मिन् श्लोकानि द्विसहस्रद्विशतविंशतिप्रमाणानि। सर्गा अष्टादशं। इद महाकाव्य गिरधारीलालश्रावकपठनार्थं लिपीकृत गोपालविप्रेण मेरठनगर्यां।

मू० ६. ग—यह प्रति भी नया मन्दिर, धर्मपुरा, दिल्लीकी है। इसका न० अ ३८ (ग) है। यह १०$\frac{1}{2}$×५ इञ्च लम्बे-चौडे १६२ पत्रो (३२४ पृष्ठों) मे समाप्त हुई है। प्रति पृष्ठ पक्ति सख्या ८ और प्रति पक्ति अक्षरसख्या २९ है। अक्षर सघन और सुवाच्य हैं। यत्र-तत्र टिप्पण भी हैं। लेखन कालका उल्लेख नही है। आदि भाग—॥६०॥ ओं नमो वीतरागाय ॥ श्रिय क्रियाद्यस्य इत्यादि। पुष्पिका—इति वीरनदिकृतावुदयांके चन्द्रप्रभविरचिते महाकाव्ये प्रथम सर्ग ॥१॥ अन्तिम भाग—ग्रथप्रमाण २२२० सर्गा अठारेह भट्टारक श्री देवेन्द्रकीर्तिना दत्त विबुधाय रूपशिने पठनार्थं पावल्या मध्ये।

मू० ७. घ—यह प्रति पञ्चायती मन्दिर, मसजिद खजूर, दिल्लीकी है। इसका नं० आ ७ है। यह ११×५ इञ्च लम्बे-चौडे ११० पत्रों (२१९ पृष्ठों) में समाप्त हुई है। प्रति पृष्ठ पक्ति सख्या १० और प्रति पक्ति अक्षरसख्या ३३ पर कही-कहीं-कही ३६ भी है। प्रथम पत्र एक ही ओर लिखा गया है और अन्तिम पत्रमें ४ पक्तियाँ छूटी हुई हैं। अक्षर साधारण हैं। टिप्पणोंकी मात्रा अधिक नहीं है। आदि भाग—ओं ममो वीतरागाय ॥ श्रिय क्रियाद्यस्य""इत्यादि। पुष्पिका—इति वीरनदिकृतावुदयांके चन्द्रप्रभविरचिते महाकाव्ये प्रथम सर्ग ॥१ अन्तिमभाग—सवत् १८७५ वैसाषकृष्णतृतीयाया वृहस्पतवासरे लिखितमिदं पुस्तक दिल्लीमध्ये श्रीभट्टारकश्रीललितकीर्तिजि तच्छिष्यपण्डितरत्नचदपठनार्थं। शुभमस्तु लेखकपाठकयो। श्री

देहलीकी उक्त चारो प्रतियोंके पाठ प्राय एक-से हैं, अत इनकी प्रतिलिपि किसी एक ही आदर्श प्रतिसे की गयी प्रतीत होती है। इन चारों प्रतियोमें अशुद्धियोंकी बहुलता है। ये चारों प्रतियाँ श्री पन्नालालजी अग्रवाल, देहलीके सौजन्यसे प्राप्त हुई।

म—मूलग्रन्थके सम्पादनमें उक्त हस्तलिखित प्रतियोके साथ निर्णयसागरीय मुद्रित प्रति (चतुर्थ सस्करण, सन् १९२६) का भी उपयोग, पाठान्तर लेने की दृष्टिसे किया गया है।

च० च० की सस्कृत व्याख्या—'विद्वन्मनोवल्लभा'का सम्पादन निम्नाङ्कित हस्तलिखित प्रतियोंके आधारपर किया गया है—

व्या० १. आ—यह जैन सिद्धान्तभवन, आराकी प्रति है, जो १३ × ८$\frac{1}{2}$ इञ्च लम्बे-चौडे ३०६ पत्रो (६१२ पृष्ठो) में समाप्त हुई है। प्रति पृष्ठ २० पंक्तियाँ हैं, और प्रतिपंक्ति प्रायः २३ अक्षर हैं। बाईं ओर एक इञ्ची और दाईं ओर आधा इञ्ची हासिया छूटा है। कागज पुष्ट, सफेद रगका है। इसे दो लेखकोंने पूरा किया है। एकके अक्षर अत्यन्त सुन्दर हैं, और दूसरेके अत्यन्त भद्दे। एकने गाढी चटकीली काली स्याहीसे लिखा, और दूसरेने फीकी नीली स्याहीसे। आदि भाग—श्री सरस्वत्यै नम । श्री चन्द्रप्रभाय नम । श्री चारुकीर्तिमुनये नम । श्री कामयक्षज्वालामालिन्यै नम । शुभमस्तु। चन्द्रप्रभसंस्कृतव्याख्यानम्। निर्विघ्नमस्तु। पुष्पिका—इति श्री वीरनंदिकृता उदयाके चन्द्रप्रभचरिते महाकाव्ये तद्व्याख्याने च विद्वन्मनोवल्लभाख्ये प्रथम सर्ग ॥ १ ॥ श्री ॥ श्री ॥ श्री ॥ अन्तिम भाग—शकवर्ष १७६१ नेयविकारिसंवत्सरदमाघ शुद्ध १ डयदल्लुश्रीमच्चारुकीर्तिपडिताचार्यवर्यस्वामियवरपादकमलभृगोपमानियादबेलगुलदयि वर्गदवशिष्टगोत्रदविजयणैयनुयीचंद्रप्रभकाव्यदव्याख्यानपुस्तकबरदु सपूर्णवायि तु आचन्द्रार्कपर्यतं भद्र शुभ मगलं ॥ यह प्रति डॉ० नेमिचन्द्रजी, आराके सौजन्यसे प्राप्त हुई।

व्या० २. श—यह प्रति श्राविकाश्रम, सोलापुरकी है। यह १२$\frac{1}{2}$ × ७ इञ्च लम्बे-चौडे १७८ पत्रों (३५६ पृष्ठो) में समाप्त हुई है। दोनो ओर २-२ इञ्चका हासिया छूटा है। पंक्तिसख्या प्रथम पृष्ठपर १५, अन्तिमपर १० और शेषपर १६-१६ है। प्रति पक्ति अक्षरसख्या कही ३८ कही ४० और कही ५६ भी है। अक्षर सर्वत्र एक-से नही हैं, यद्यपि लेखक एक ही है। कही गाढी तो कही फीकी काली स्याहीका उपयोग किया गया है। पत्रोंपर अङ्क डालनेमें सावधानी नही बरती गयी। कागज पुष्ट, पीले रंगका है, पर बाईं ओरका कोना गल गया है। आदिभाग—श्रीचन्द्रप्रभाय नम । शुभमस्तु। निर्विघ्नमस्तु ॥ वदेहं सहजानन्दकदलीकंदबधुरं चद्राक चद्रसकाश चंद्रनाथ स्मराहरं ॥ पुष्पिका—इतिवीरनदिकृता उदयाके चद्रप्रभचरिते महाकाव्ये तद्व्याख्याने च विद्वन्मनोवल्लभाख्ये प्रथमः सर्ग ॥ अन्तिमभाग—स्वर्गिणो देवा । पचम परिनिर्वाणाख्यं ॥। कल्याण मंगलकार्यं। प्रविधाय। स्व स्वं स्वकीय स्वकीय ॥ पद स्थानं। अगु. युयुः। लुङ् ॥१५४॥ ॥ इति वीरनदिकृतावुदयाके चद्रप्रभचरिते महाकाव्ये तद्व्याख्याने च विद्वन्मनोवल्लभाख्ये अष्टादशः सर्गः ॥१९॥

व्या० ३ स—यह अपूर्ण प्रति भी श्राविकाश्रम, सोलापुरकी है। इसमें १३$\frac{1}{2}$ × ८ इञ्च लम्बे-चौडे १५९ पत्र (३१८ पृष्ठ) है। दोनो ओर १-१ इञ्च का हासिया छूटा है। प्रति पृष्ठ पंक्तिसंख्या १५-१५ और प्रतिपक्ति अक्षरसख्या प्रायः ३२-३३ है। उक्त दो व्या० प्रतियोंकी भाँति इसमें भी अक्षरोकी बनावट सर्वत्र एक-सी नही है। हासियो, और पूर्ण विरामोमें गाढी लाल स्याही तथा व्या० लेखनमें चटकीली गाढ़ी काली स्याही प्रयुक्त हुई है। कागज पुष्ट, पीले रगका है। इसमें आदिके बारह सर्गोंकी व्याख्या है। इसमें भी उपान्त्य ११०वें पद्यकी व्याख्या अधूरी है और अन्तिम १११वें की व्याख्या है ही नही। इसमें भी लेखनकाल अङ्कित नही है। आदिभाग—श्रीचन्द्रप्रभाय नमः। शुभमस्तु। निर्विघ्नमस्तु ॥ वंदेह सहजानंदकंदलीकंदबंधुर। चद्राक चंद्रसकाशं चंद्रनाथ स्मराहर ॥ पुष्पिका—इति वीरनदिकृता उदयाके चद्रप्रभचरिते महाकाव्ये तद्व्याख्याने च विद्वन्मनोवल्लभाख्ये प्रथम. सर्ग ॥१॥ अन्तिमभाग—समर सग्राम वा। प्रदिशामि। इत्येवं। द्वयाश्रयै. द्वयमवलबनं आश्रयो येषा तै.। वचनै· वचोभि.। रिपुद्रुतः रिपोः शत्रोर्द्रु (इस प्रतिकी समाप्ति यही हो जाती है।)।

'श' तथा 'स' प्रतियोंकी प्रतिलिपि किसी एक ही आदर्श प्रतिसे की गयी है। यदि कही थोडा-बहुत पाठभेद है भी, तो उसका कारण लिपिककी अनवधानता है। ये दोनों प्रतियाँ प० बालचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्रीके सौजन्यसे प्राप्त हुई।

प्रस्तुत महाकाव्यकी संस्कृतपञ्जिकाका सम्पादन निम्नलिखित हस्तलिखित प्रतियोंके आधारपर किया गया है—

पं० १. ब—यह प्रति ऐ० प० दि० जैन सरस्वती भवन, ब्यावरकी है। यह १२×५ इञ्च लम्बे-चौडे ५३ पत्रो (१०४ पृष्ठो) में समाप्त हुई है। प्रारम्भके १८ पत्रोंपर दोनों ओर १-१ इञ्चका हासिया छूटा है। प्रथम और अन्तिम पत्र एक ही ओर लिखे गये हैं। प्रतिपृष्ठ पंक्तिसख्या ११-११ (१२व पृ० तक) तथा शेष पृष्ठोपर १३-१३ है। प्रति पक्ति अक्षर सख्या प्राय' ४०-४० है। लिपि सुवाच्य है, पर सुन्दर नही। कागज पतला, पीले रगका है। अवस्था जीर्ण-शीर्ण है। इसमें लेखनकाल नही दिया गया। आदिभाग—स्वस्ति श्री सरस्वात्ये। श्री श्रुतमुनिमुनये नम' ॥ प्रणम्य वीर नृसुरासुरस्तुत प्रकृष्टबोध विबुधेष्ट-सन्मतं। करिष्यते शसयधामभजिका मायाथ चंद्रप्रभकाव्यपजिका ॥ अन्तिमभाग—इति चद्रप्रभकाव्यपजि-काया अष्टादश सर्ग: समाप्त ॥१८॥ दशीयगणेऽग्रगण्य. प्रधान । गुणनन्दी इत्यर्थ' ॥ ॥छ॥छ॥छ॥

पं० २. ज—यह प्रति श्री महावीर दि० जैन शोधसंस्थान, जयपुरकी है। यह १०×४$\frac{3}{4}$ इञ्च लम्बे-चौडे ८६ पत्रों (१७० पृष्ठों) में समाप्त हुई है। दोनों ओर १-१ इञ्चका काली स्याहीका हासिया छूटा है। प्रथम और अन्तिम पत्र केवल एक ही ओर लिखे गये हैं। प्रति पृष्ठ पक्ति सख्या १० और प्रति पंक्ति अक्षर सख्या प्राय ३५ है। कागज पुष्ट, पीले रगका है। 'ब' प्रतिकी भाँति इसमें भी गाढ़ी काली स्याही-का उपयोग किया गया है। अक्षर सुवाच्य एव सुन्दर हैं। 'ब' प्रतिकी भांति इसमें अशुद्धियोंकी बहुलता नही है। इसमें भी लेखनकालका उल्लेख नही है। प्रतियोकी स्थिति व मात्राओकी आकृतिसे इतना स्पष्ट है कि 'ज' प्रतिसे 'ब' प्रति प्राचीन है। आदिभाग—॥ स्वस्ति श्री सरस्वत्यै ॥ श्री श्रुतमुनिमुनये नम ॥ प्रणम्य वीर नृसुरासुरस्तुत प्रकृष्टबोध विबुधेष्टसन्मतम्। करिष्यते शशयधामभजिका मयाथ चद्रप्रभकाव्यपजिका ॥१॥ अन्तिमभाग—इति चद्रप्रभकाव्यपजिकाया अष्टादश. सर्ग ॥१८॥ देशीयगणेऽग्रगण्य प्रधान । गुण-नन्दी इत्यर्थ ॥ ॥छ॥श्री ॥ब॥श्री ॥ब॥ ॥

सम्पादन पद्धति

[क] शुद्ध पाठ

१ उक्त सातो ह० लि० मूल प्रतियोंके पाठोमें जो शुद्धतम प्रतीत हुआ, उसे मूलमें रखकर अन्य सभी प्रतियोंके, जिनमें एक मुद्रित प्रति भी सम्मिलित है, पाठोंको पृथक्-पृथक् सकेत चिह्नोंके साथ नीचे स्थान दिया गया है। जहाँ उनके पाठोंसे व्याख्यान्तर्गत मूल पाठ और भी अधिक शुद्ध जान पड़ा, वहाँ उसीको मूलमें मिलाकर सभी प्रतियोंके पाठोंको पाठान्तरोंमें स्थान दिया गया है, और इसकी सूचना भी वहीं दे दी गयी है। व्याख्याका स्वरूप जैसा भी हो, पर उसकी सबसे बडी विशेषता है लगभग पचासी प्रतिशत मूलपाठोंकी शुद्धि। व्याख्यामें पहले मूलको स्थान देकर बादमें उसका अर्थ खोला है।

२ व्याख्याकी तीन प्रतियोंमें 'आ' और 'श' अपेक्षाकृत प्राचीन हैं, और 'स' अर्वाचीन। 'स' प्रति अपूर्ण है और अशुद्ध भी। अन्य दो प्रतियोमें अशुद्धियाँ कम हैं। इन्हीं तीन प्रतियोंके आधार पर व्याख्याको शुद्ध बनानेका प्रयास किया गया है। तीनोंमें जिसका पाठ शुद्ध ज्ञात हुआ उसे यथास्थान रखकर शेषके पाठोंको तत्तत् सङ्केतोंके साथ नीचे पाठान्तरोंके रूपमें स्थान दिया गया है।

कहीं-कही अत्यावश्यकता पडनेपर (   ) इस कोष्ठकमें सम्पादक ने अपनी ओरसे भी लिखा है, और कही-कही पाठान्तरोके साथ नीचे भी, जिसे = इस चिह्न से पहचाना जा सकता है।

३ पञ्जिकाकी दो प्रतियोंमें 'ज' अधिक शुद्ध है। 'ज' की तुलनामें 'ब' में अधिक पाठ छूटे हुए हैं। दोनो में जिसका पाठ शुद्ध ज्ञात हुआ, उसे यथास्थान रखकर अन्य प्रतिके पाठको सकेत चिह्नके साथ नीचे पाठान्तरोंमें स्थान दिया गया है। जहाँ दोनोंके ही पाठ अशुद्ध प्रतीत हुए वहाँ (   ) ऐसे कोष्ठकमें सम्पादककी ओरसे नया पाठ प्रस्तुत किया गया है।

[ख] अवतरणोंके चिह्न और मूल स्थलोंके निर्देश

प्रस्तुत ग्रन्थकी व्याख्यामें ३२९ तथा पञ्जिकामें ६३ अवतरण ग्रन्थान्तरोंके हैं। उन्हें ' ' इस चिह्नसे पहचाना जा सकता है। अधिकांश अवतरणोंके मूल स्थलोंके निर्देश [ ] ऐसे कोष्ठकोंमें किया गया है, और अशुद्ध अवतरणोंको मूल ग्रन्थोंके आधारपर शुद्ध भी किया गया है।

उद्धृत कोषवाक्योंके मूल स्थलोंका निर्देश अनेकार्थध्वनिमञ्जरी, अनेकार्थ नाममाला, अनेकार्थसंग्रह, अभिधानचिन्तामणि, अमरकोष, धनञ्जयनाममाला, विश्वप्रकाश, विश्वलोचन और वैजयन्ती–इन ९ संस्कृत कोषोंके आधारपर कर दिया है, पर 'विश्व' कोषके न मिलनेसे उसके स्थलोंका निर्देश नहीं किया जा सका। इस कोषके अवतरण जैन व जैनेतर काव्योंकी टीकाओंमें पाये जाते हैं, पर यह ज्ञात नहीं हो सका कि यह प्रकाशित है या अप्रकाशित।

अप्रकाशित कोष—प्राचीन संस्कृत कोष पद्य शैलीमें निबद्ध मिलते हैं, पर चं० च० की व्याख्यामें नानार्थकोषके नामसे लगभग पन्द्रह अवतरण गद्यसूत्रोंके रूपमें हैं। अर्हद्दासकृत मुनिसुव्रतकाव्यम् और पार्श्वाभ्युदयम्की सं० टी० में भी इसी कोषके अनेक अवतरण हैं, पर मुनिसु० की स० टी० में पृ० १४३ पर जिस अवतरणके आगे 'नानार्थकोषे' लिखा है, उसीके आगे पृ० १८१ पर 'नानार्थरत्नकोषे'। संभवतः इस कोषके दो नाम प्रसिद्ध रहे हों। जो कुछ भी हो, यह कोष अभी तक कहींसे प्रकाशित नहीं हुआ। जैन साहित्यका बृहद् इतिहास भाग ५ (पृ० ९३) से ज्ञात होता है कि इसके रचयिता असग थे।[1]

[ग] टिप्पण

प्रस्तुत ग्रन्थमें व्याख्याकारके अभिप्रायको स्पष्ट या पुष्ट करनेके लिए यत्र-तत्र टिप्पण भी दिये गये हैं, जिनमें कुछ तुलनात्मक भी हैं। टिप्पणोंमें कुछ अन्य ग्रन्थोंके, विशेषतः कोषोंके अनेक वाक्य उद्धृत किये गये हैं। प्रायः प्रत्येक पृष्ठके नीचे मूल ग्रन्थ और उसकी व्याख्याके पाठान्तरोंके साथ ही टिप्पण दिये गये हैं। दोनोंके लिए हिन्दी अङ्कोंका उपयोग किया गया है। मूल श्लोकों और व्याख्याके पदोंपर डाले गये अङ्कोंके आधारपर नीचे डाले गये अङ्कोंको देखकर यह स्पष्टतया समझा जा सकता है कि मूलके या व्याख्याके पाठान्तर कौनसे हैं। टिप्पण, पाठान्तरोंमें रले-मिले हैं, पर वे '=' इस चिह्नसे पृथक् ही समझे जा सकते हैं।

[घ] परिशिष्ट

प्रस्तुत ग्रन्थके अन्तमें निम्नलिखित परिशिष्ट जोड़े गये हैं—१. संस्कृत पञ्जिका, २. मूलग्रन्थकी पद्यानुक्रमणिका, ३. व्याख्याके अवतरणोंकी अनुक्रमणिका, ४. पञ्जिकाके अवतरणोंकी अनुक्रमणिका, ५. मूलग्रन्थकी पुष्पिकाएँ, ६. मूल ग्रन्थ गत विशिष्ट-शब्द-सूची, ७ व्याख्यान्तर्गत विशिष्ट-शब्द-सूची, ८. पञ्जिकान्तर्गत विशिष्ट-शब्द-सूची, ९ चं० च० में प्रयुक्त छन्दोंका विवरण और १०. संकेत विवरण।

[२] ग्रन्थ-परिचय

नाम—अष्टम तीर्थंकर चन्द्रप्रभके जीवन वृत्तको लेकर लिखे गये प्रस्तुत महाकाव्यका नाम 'चन्द्रप्रभचरितम्' है, जैसा कि प्रतिज्ञावाक्य (१,९), पुष्पिका वाक्यों तथा 'श्रीजिनेन्दुप्रभस्येदं चरितं' इत्यादि पद्य (पृ० ४९०) से स्पष्ट है।

---

१ 'नानार्थ कोश' के रचयिता असग नामक कवि थे, ऐसा मात्र उल्लेख प्राप्त होता है। वे शायद दिगम्बर जैन गृहस्थ थे। वे कब हुए और उनकी रचनाशैली कैसी है, यह ग्रन्थ प्राप्त नहीं होनेसे कहा नहीं जा सकता।—जैन साहित्यका बृ० इ० भाग ५ पृ० ९३

प्राकृत, संस्कृत और अपभ्रंश भाषाओंमें निबद्ध प्राचीन एवं अर्वाचीन काव्योंके परिशीलनसे ज्ञात होता है कि उनके चरितान्त नाम रखनेकी परम्परा प्राचीन कालसे ही चली आ रही है। उपलब्ध काव्योंमें विमलसूरिका 'पउमचरिय' प्राकृत चरित काव्योंमें, अश्वघोषका 'बुद्धचरितम्' संस्कृत काव्योंमें तथा स्वयम्भूदेवका 'पउमचरिउ' अपभ्रंश काव्योंमें सर्वाधिक प्राचीन हैं। इन तीनोंमें प्रारम्भके दो काव्य ई० की प्रथम शतीके तथा तीसरा ई० की सातवीं शतीका है। प्रस्तुत महाकाव्यका नाम इसी परम्पराके अनुकूल है।

विषय—प्रस्तुत ग्रन्थका प्रतिपाद्य विषय चन्द्रप्रभका जीवनवृत्त है, जो इसके अठारह सर्गोंमें समाप्त हुआ है। प्रारम्भके पन्द्रह सर्गोंमें चरितनायकके छह अतीत भवोंका और अन्तके तीन सर्गोंमें वर्तमान भवका वर्णन किया गया है। सोलहवें सर्गमें गर्भकल्याणक, सत्रहवेंमें जन्म, तप और ज्ञान तथा अठारहवेंमें मोक्ष कल्याणक वर्णित हैं। महाकाव्योचित प्रासङ्गिक वर्णन और अवान्तर कथाएँ भी यत्र-तत्र गुम्फित हैं। सभी सर्गोंके अन्तिम पद्योंमें 'उदय' शब्दका सन्निवेश होनेसे यह 'उदयाङ्क' कहलाता है।

[३] चं० च० की कथावस्तुका संक्षिप्तसार

च० च० में चरितनायकके राजा श्रीवर्मा, श्रीधरदेव, सम्राट् अजितसेन, अच्युतेन्द्र, राजा पद्मनाभ, अहमिन्द्र और चन्द्रप्रभ—इन सात भवोंका विस्तृत वर्णन है, जिसका संक्षिप्तसार इस प्रकार है—

१ राजा श्रीवर्मा—पुष्करार्ध द्वीपवर्ती सुगन्धि[1] देशमें श्रीपुर नामक पुर था। वहाँ राजा श्रीषेण निवास करते थे। उनकी पत्नी श्रीकान्ता[2] पुत्र न होनेसे सदा चिन्तित[3] रहा करती थी। किसी दिन गेंद खेलते बच्चोंको देखते ही उसके नेत्रोंसे अश्रुधारा प्रवाहित होने लगी। उसकी सखीसे इस बातको सुनकर राजा श्रीषेण उसे समझाते हुए कहते हैं—देवि, चिन्ता न करो। मैं शीघ्र ही विशिष्ट ज्ञानी मुनियोंके दर्शन करूँगा, और उन्हींसे पुत्र न होनेका कारण पूछूँगा। कुछ ही दिनोंके पश्चात् वे अपने उद्यानमें अचानक आकाशसे उतरते हुए चारणऋद्धिके धारक मुनिराज अनन्त के दर्शन करते हैं। तत्पश्चात् प्रसङ्ग पाकर वे उनसे पूछते हैं—'भगवन्! मुझे वैराग्य क्यों नहीं हो रहा है?'। उन्होंने उत्तर दिया—'राजन्! पुत्र प्राप्तिकी इच्छा रहनेसे आपको वैराग्य नहीं हो रहा है। अब शीघ्र ही पुत्र होगा। अभी तक पुत्र न होनेका कारण आपकी पत्नीका पिछले जन्मका अशुभ निदान है।' घर जाकर वह अपनी पत्नीको पुत्र होनेकी उक्त बातको सुनाता है। वह प्रसन्न हो जाती है। दोनों धार्मिक कार्योंमें संलग्न रहने लगते हैं। इतनेमें आष्टाह्निक पर्व आ जाता है। दोनोंने आठ-आठ उपवास किये, आष्टाह्निक पूजा की और अभिषेक भी। कुछ ही दिनोंके बाद रानी गर्भधारण करती है[4]। धीरे-धीरे गर्भके चिह्न[5] प्रकट होने लगे। नौ मास बीतनेपर पुत्ररत्न की प्राप्ति होती है। उसका नाम श्रीवर्मा रखा गया। वयस्क होनेपर राजा उसका विवाह करके युवराज बना देता है। उल्कापात देखकर राजाको वैराग्य हो जाता है। फलत: वह श्रीवर्माको अपना राज्य सौंपकर श्रीप्रभ[6] मुनिसे जिनदीक्षा लेकर घोर तप करता है और फिर मुक्ति कन्याका वरण करता है। पिताके वियोगसे वह कुछ दिनों तक शोकमग्न रहता है। शोकके कम होनेपर वह दिग्विजयके लिए प्रस्थान करता है। उसमें वह पूर्ण सफल होकर घर लौटता है। शरत्कालीन मेघको शीघ्र ही विलीन होते देखकर उसे वैराग्य हो जाता है। फलत: वह अपने पुत्र श्रीकान्त[7] को अपना उत्तराधिकार देकर श्रीप्रभ मुनिके निकट जाकर दीक्षा ग्रहण करता है और घोर तपश्चरण करने लगता है।

---

१ पुराणसार संग्रह (७६,२) में देशका नाम गन्धिल लिखा है। २ पुराणसा० (७६,३) में श्रीमती नाम दिया है। ३ उ० पु० (५४,४४) में राजाका चिन्तित होना लिखा है। ४ उ० पु० (५४, ५१) में गर्भधारण करनेसे पहले चार स्वप्न देखनेका उल्लेख है, और पुराणसा० (७६,५) में पाँच स्वप्न देखनेका। ५. पुराणसा० में गर्भचिह्नोंकी चर्चा नहीं है। ६ उ० पु० (५४,७३) में मुनिका नाम श्रीपद्म और पुराणसा० (७८,१९) में श्रीधर लिखा है। जिस वनमें दीक्षा ली थी, उसका नाम उ० पु० में शिवकर और पुराणसा० में प्रियंकर दिया है। ७ पुराणसा० (७८,१९) में श्रीकान्तके स्थानमें श्रीधर लिखा है।

२ श्रीधरदेव—घोर तपश्चरणके प्रभावसे श्रीवर्मा पहले स्वर्गमें श्रीधरदेव होता है। वहाँ उसे दो सागरोपम आयु प्राप्त होती है। उसका अभ्युदय अन्य देवोंसे कही अच्छा है। देवियोंकी दृष्टि उसे स्थायी उत्सव समझती है।

३. सम्राट् अजितसेन—धातकी खण्ड द्वीपके अलका नामक देशमें कोशला[1] नगरी है। वहाँ राजा अजितजय और रानी अजितसेना[2] निवास करते हैं। श्रीधर देव इन्हीका पुत्र–अजितसेन[3] होता है, जो वयस्क होते ही युवराज बना दिया जाता है। अजितजयके देखते-देखते उसके सभाभवनसे अजितसेनको कुख्यात चण्डरुचि नामक असुर पिछले जन्मके वैरके कारण उठा ले जाता है। राजा व्याकुल होकर मूर्च्छित हो जाता है। इसी बीच तपोभूषण मुनि पधारते हैं और यह कहकर वापिस चले जाते हैं कि युवराज कुछ दिनोके बाद सकुशल घर आ जायगा।[4] उधर वह असुर उसे बहुत ऊँचाईसे एक तालावमें गिरा देता है। मगर-मच्छोंसे जूझता हुआ वह किसी तरह किनारेपर पहुँच जाता है। वहाँ से वह ज्यो ही परुषा नामकी अटवीमें प्रवेश करता है त्यो ही एक भयङ्कर आदमीसे द्वन्द्व छिड जाता है। पराजित होनेपर वह अपने असली रूपको प्रकट कर कहता है—'युवराज, मैं मनुष्य नही देव हूँ। मेरा नाम हिरण्य है। मैं आपका मित्र हूँ, पर आपके पौरुषके परीक्षणके लिए मैंने ऐसा व्यवहार किया है, क्षमा कीजिए। पिछले तीसरे भवमें आप सुगन्धि देशके नरेश थे। आपकी राजधानीमें एक दिन शशीने सेंध लगाकर सूर्यके सारे धनको चुरा लिया था। पता लगनेपर आपने शशीको कडा दण्ड दिया, जिससे वह मर गया और फिर वह चण्डरुचि असुर हुआ। इसी वैरके कारण उसने, आपका अपहरण किया। बरामद धन उसके स्वामीको वापिस दिलवा दिया। युवराज, वही शशी मरनेके बाद हिरण्य नामकदेव हुआ, जो इस समय आपसे बात कर रहा है।'[5]

तत्पश्चात् युवराज विपुलपुरकी ओर प्रस्थान करता है। वहाँके राजाका नाम जयवर्मा, रानीका जयश्री और उनकी कन्याका शशिप्रभा था। महेन्द्र नामक एक राजा जयवर्मासे उसकी कन्याकी मंगिनी करता है, पर किसी निमित्तज्ञानीसे उसे अल्पायुष्क जानकर वह स्वीकृति न दे सका। इससे क्रुद्ध होकर महेन्द्र जयवर्माको युद्धके लिए ललकारता है। युवराज जयवर्मा का साथ देता है और युद्धमें महेन्द्रको मार डालता है। इससे प्रभावित होकर जयवर्मा युवराजके साथ अपनी कन्या शशिप्रभाका विवाह करना चाहता है। इतनेमें विजयार्ध भी दक्षिण श्रेणीके आदित्यपुरका राजा धरणीध्वज जयवर्माको सन्देश भेजता है कि वह अपनी कन्याका विवाह मेरे (धरणीध्वज) के साथ करे। इसके लिए जयवर्मा तैयार नही होता। फलत भयङ्कर युद्ध छिड जाता है। पूर्वचर्चित हिरण्यदेवके सहयोगसे युवराज अजितसेन धरणीध्वजको भी युद्धभूमिमें स्वर्गवासी बना देता है। इसके उपरान्त जयवर्मा शुभमुहूर्तमें युवराज अजितसेनके साथ अपनी कन्याका विवाहकर देता है। फिर उसके साथ अपने नगरकी शोभा बढ़ाता है। वहाँ अजितंजय उसे अपना उत्तराधिकार सौंप देते हैं। चक्रवर्ती होनेसे वह चौदह रत्नो एव नौ निधियोंका स्वामित्व प्राप्त करता है। तीर्थङ्कर स्वयप्रभके निकट अजितंजय जिन दीक्षा ले लेता है और सम्राट्के हृदयमें सच्ची श्रद्धा (सम्यग्दर्शन) जाग उठती है। दिग्विजयमें पूर्ण सफलता प्राप्त करके सम्राट् अजितसेन राज्यका सचालन करने लगता है। किसी दिन एक उन्मत्त हाथीने एक मनुष्यकी हत्या कर डाली, इस दु खद घटना[6] को देखकर सम्राट्को वैराग्य हो जाता है, फलत वह अपने पुत्र जितशत्रुको उत्तराधिकार सौंपकर शिवकर[7] उद्यानमें गुणप्रभ मुनिके निकट जिनदीक्षा गहण कर लेता है और घोर तपश्चरण करता है।

---

१ उ० पु० (५४,८७) में और पुराणसा० (८०,२२) में नगरीका नाम अयोध्या लिखा है। २ पुराणसा० (८०,२३) में रानीका नाम श्रीदत्ता लिखा है। ३ उ० पु० (५४,८९) में श्रीधर देवके गर्भमें आनेसे पहले रानीके आठ शुभस्वप्न देखनेका भी उल्लेख है। ४. इस घटनाका उल्लेख उ० पु० और पुराणसा० में नही है। ५. इस घटनाका उल्लेख उ० पु० तथा पुराणसा० में नही है। ६ इस घटनाका उल्लेख उ० पु० और पुराणसा० में नही है। इन दोनोंमें सम्राट्के द्वारा अरिंदम मुनिको आहार दिये जानेका उल्लेख है, जो च० च० में नही है। ७ उ० पु० (५४-१२२) में उद्यानका नाम 'मनोहर' लिखा है।

४. अच्युतेन्द्र—घोर तपश्चरण करनेसे वह अच्युतेन्द्र हो जाता है। वहाँ वह बाईस सागरोपम आयुकी अन्तिम अवधि तक दिव्यसुखका अनुभव करता है।

५ राजा पद्मनाभ—आयु समाप्त होनेपर अच्युतेन्द्र अच्युत स्वर्गसे चयकर धातकीखण्डवर्ती मङ्गलावती देशके रत्नसञ्चयपुरमें राजा कनकप्रभ[1] के यहाँ उनकी पट्टरानी सुवर्णमाला[2] की कुक्षिसे पद्मनाभ नामक पुत्र होता है। किसी दिन एक बूढ़े बैलको दलदलमें धँसकर मरते देखकर कनकप्रभको वैराग्य हो जाता है[3]। फलत वह अपने पुत्र पद्मनाभको राज्य दे देता है और श्रीधर मुनिसे जिनदीक्षा लेकर दुर्धर तप करता है। पिताके विरहसे वह कुछ दिन दु खी रहता है। फिर मन्त्रियोंके प्रयत्नसे वह अपने राज्यका सचालन करने लगता है। कुछ काल बाद अपने पुत्रको युवराज बनाकर वह अपनी रानी सोमप्रभा[4] के साथ आनन्दमय जीवन बिताने लगता है। किसी दिन मालीके द्वारा श्रीधर मुनिके पधारनेके शुभ समाचार सुनकर पद्मनाभ उनके दर्शनोंके लिए मनोहर उद्यानमें ८ाता है। दर्शन करनेके पश्चात् वह उनके आगे अपनी तत्त्वजिज्ञासा प्रकट करता है। वे तत्त्वोपप्लव आदि दर्शनोंके मन्तव्योंकी विस्तृत मीमासा करते हुए तत्त्वोंके स्वरूपका निरूपण करते हैं। उसे सुनकर पद्मनाभका सशय दूर हो जाता है। इसके पश्चात् पद्मनाभके पूछनेपर वे उसके पिछले चार भवोंका विस्तृत वृत्तान्त सुनाते हैं। इस वृत्तान्तकी सत्यतापर कैसे विश्वास हो ? इस प्रश्नका उत्तर देते हुए मुनिराजने कहा—'राजन् ! आजसे दसवें दिन एक मदान्ध हाथी अपने झुण्डसे बिछुडकर आपके नगरमें प्रवेश करेगा। उसे देखकर मेरे कथनपर विश्वास हो जायगा।' इसके उपरान्त मुनिराजसे व्रत ग्रहणकर वह अपनी राजधानीमें लौट आता है।· ठीक दसवें दिन एक मदान्ध हाथी सहसा राजधानीमें घुसकर उपद्रव करने लगता है। पद्मनाभ उसे अपने वशमें कर लेता है, और उसपर सवार होकर वनक्रीडाके लिए चल देता है। इसी निमित्तसे उस हाथीका 'वनकेलि' नाम पड जाता है। क्रीडाके पश्चात् पद्मनाभ उसे अपनी गजशालामें बँधवा देता है[5]। राजा पृथिवीपाल इस हाथीको अपना बतलाकर वापिस करवाना चाहता है। पद्मनाभके इनकार करनेपर दोनोंमें युद्ध छिड जाता है। युद्धमें पृथिवीपाल मारा जाता है। इसके कटे सिरको देखकर पद्मनाभको वैराग्य हो जाता है, फलत· वह श्रीधर मुनिसे जिनदीक्षा लेकर सिंहनिष्क्रीडित आदि व्रतों व तेरह प्रकारके चारित्रका परिपालन करता हुआ घोर तप करता है। कुछ ही समयमें वह द्वादशाङ्ग श्रुतका ज्ञान प्राप्त करता है और सोलह कारण भावनाओंके प्रभावसे तीर्थङ्कर प्रकृतिका बन्ध कर लेता है।

६. वैजयन्तेश्वर—आयुके अन्तमें सन्यासपूर्वक भौतिक शरीरको छोडकर पद्मनाभ वैजयन्त नामक अनुत्तर विमानमें अहमिन्द्र होते हैं, और तेतीससागरोपम आयुकी अन्तिम अवधि तक वहाँ वे दिव्यसुखका अनुभव करते हैं।

७ तीर्थङ्कर चन्द्रप्रभ—इनका जन्मस्थान पूर्वदेश[6] की चन्द्रपुरी[7] है।

---

१ पुराणसा० (८२-३२) में कनकाभ नाम दिया है। २ पुराणसा० (८२-३२) के अनुसार रानीका नाम कनकमाला है। ३ इस घटनाकी चर्चा उ० पु० और पुराणसा० दोनोंमें नहीं है। ४ उ० पु० (५४-१४१) में पद्मनाभकी अनेक रानियाँ होनेका संकेत है। ५ उ० पु० और पुराणसा० में इस घटनाका तथा इसके बाद होनेवाले युद्धका उल्लेख नहीं है। ६ वाराणसीसे आसामतकका पूर्वी भारत 'पूर्वदेश' के नामसे प्रख्यात रहा। उ० पु०, पुराणसा०, त्रिषष्टिशलाकापुरुष० और त्रिषष्टिस्मृति० में इस देशका उल्लेख नहीं है। ७ त्रिषष्टिशलाकापुरुष० (२९६,१३) में इस नगरीका नाम 'चन्द्रानना', उ० पु० (५४,१६३) में 'चन्द्रपुर', पुराणसा० (८२,३९) में 'चन्द्रपुर', तिलोयपण्णत्ती (४,५३३) में 'चन्द्रपुर' और हरिवश (६०,१८९) में 'चन्द्रपुरी' लिखा है। सम्प्रति इसका नाम 'चन्द्रवटी' 'चन्द्रौटी' या 'चदरौटी' प्रसिद्ध है। यह वाराणसीसे १८ मील दूर गङ्गाके बायें तटपर है। यहाँ दि० व श्वे० सम्प्रदायके दो अलग-अलग जैनमन्दिर हैं।

माता-पिता—इनकी माताका नाम लक्ष्मणा[1] और पिताका नाम महासेन है। यह पट्टरानी थी। इक्ष्वाकुवंशी महासेन अनेकानेक गुणोंकी दृष्टिसे अनुपम रहे। दिग्विजयके समय इन्होंने अङ्ग, आन्ध्र, औढ़, कर्णाटक, कलिङ्ग, कश्मीर, कीर, चेदी, टक्क, द्रविल, पाञ्चाल, पारसीक, मलय, लाट और सिन्धु आदि अनेक देशोंके नरेशोंको अपने अधीन किया था।

रत्नवृष्टि—दिग्विजयके पश्चात् चन्द्रपुरीमें राजा महासेनके राजमहलमें चन्द्रप्रभके गर्भावतरणके छ मास पहलेसे जन्म दिनतक प्रतिदिन साढ़े तीन करोड रत्नोंकी वृष्टि होती रही।

गर्भशोधन आदि—रत्नवृष्टिको देखकर महासेनको आश्चर्य होता है, पर कुछ ही समयके पश्चात् इन्द्रकी आज्ञासे आठ दिक्कुमारियाँ उनके यहाँ रानी लक्ष्मणाकी सेवाके लिए उपस्थित होती हैं। उनके साथ हुए वार्तालापसे उनका आश्चर्य दूर हो जाता है। महासेनसे •अनुमति लेकर वे उनके अन्त.पुरमें प्रवेश करती हैं और लक्ष्मणाके गर्भशोधन आदि कार्योंमें सलग्न हो जाती हैं।

शुभ स्वप्न—महारानी सुखपूर्वक सोयी हुई थी, इतनेमें उन्हें रात्रिके अन्तिम प्रहरमें सोलह[2] शुभ स्वप्न हुए। प्रभात होते ही वे अपने पतिके पास पहुँचती हैं।

स्वप्नफल—पत्नीके मुखसे क्रमश. सभी स्वप्नोंको सुनकर महासेनने उनका शुभफल बतलाया, जिसे सुनकर उसे अपार हर्ष हुआ।

गर्भावतरण—आयुके समाप्त होते ही पूर्वचर्चित अहमिन्द्र वैजयन्त नामक अनुत्तर विमानसे चयकर प्रशस्त [चैत्र कृष्णा पञ्चमीके[3]] दिन महारानी लक्ष्मणाके गर्भमें प्रवेश करता है।

गर्भकल्याणक महोत्सव—इसके पश्चात् इन्द्र महासेनके राजमहलमें पहुँचकर गर्भकल्याणक महोत्सव मनाते हैं। माताके चरणोंकी अर्चना करके वे वहाँसे वापिस चले जाते हैं, पर श्री, ह्री और धृति देवियाँ वही रहकर उनकी सेवा-शुश्रूषा करती हैं।

जन्म—पौष कृष्णा एकादशी[4] के दिन लक्ष्मणा सुन्दर पुत्र—चन्द्रप्रभको जन्म देती हैं। इस शुभ वेलामें दिशाएँ स्वच्छ हो जाती हैं, आकाश निर्मल हो जाता है; सुगन्धित वायुका सचार होता है, दिव्य-पुष्पोंकी वृष्टि होती है, कल्पवासी देवोंके यहाँ मणिघण्टिकाएँ, ज्योतिष्कोंके यहाँ सिंहनाद, भवनवासियोंके यहाँ शङ्ख और व्यन्तरोंके यहाँ दुन्दुभि बाजे स्वयमेव बजने लगते हैं—इन हेतुओं तथा आसनके कम्पनसे इन्द्र चन्द्रप्रभके जन्मको जानकर देवोंके साथ चन्द्रपुरीकी ओर प्रस्थान करते हैं।

अभिषेक—इन्द्राणी माताके निकट मायामयी शिशुको सुलाकर वास्तविक शिशुको राजमहलसे बाहर ले आती है। सौधर्मेन्द्र शिशुको दोनो हाथोंमें लेकर ऐरावतपर सवार होता है और सभी देवोंके साथ सुमेरु पर्वतकी ओर प्रस्थान करता है। वहाँ पाण्डुक शिलापर शिशुको बैठाकर देवों द्वारा लाये गये क्षीर-सागरके जलसे अभिषेक करता है, और विविध अलंकारोंसे अलङ्कृत करके उनका चन्द्रप्रभ नाम रख देता

---

१. तिलोयप० (४,५३३) में माताका नाम 'लक्ष्मीमती' लिखा है। २ उ० पु०, पुराणसा० और त्रिषष्टिशलाकापु० में केवल स्वप्नोंकी सख्याका ही उल्लेख है। गुणभद्र और दामनन्दीने स्वप्नोंकी संख्या १६ और हेमचन्द्रने १४ दी है। हेमचन्द्रकी दृष्टिसे १४ स्वप्न ये हैं—गज, वृषभ, सिंह, लक्ष्मी-अभिषेक, माला, चन्द्र, सूर्य, कुम्भ, ध्वज, सागर, सरोवर, विमान, रत्नराशि और अग्नि। सिंहासन और नाग-विमान ये दो स्वप्न दिगम्बर साहित्यमें अधिक हैं। ३. यह मिति उ० पु० (५४,१६६) के आधारपर दी है, क्योंकि तिलोयप०, हरिवंश और पुराणसा० की भाँति प्रस्तुत च० च० में इसका उल्लेख नही है। उ० पु० में जो मिति दी गयी है वही त्रिषष्टिशलाका पु० (२९६,२९) में भी दृष्टिगोचर होती है। ४. यही मिति उ० पु०, हरिवंश तथा तिलोय० में अङ्कित है, त्रिषष्टिशलाकापु० (२९७,३२) में पौष कृष्णा द्वादशी लिखी है, पर पुराणसा० (८४,४४) में केवल अनुराधायोगका ही उल्लेख मिलता है।

है। इसके उपरान्त सौधर्मेन्द्र अन्य इन्द्रोंके साथ चन्द्रप्रभकी [1] स्तुति करता है और फिर उन्हें माताके पास पहुँचाकर महासेनसे अनुमति लेकर वापिस चला जाता है।

बाल्यकाल—शिशु अमृतलिप्त अपनी अंगुलियोंको चूसकर ही तृप्त रहता है, उसे मांके दूधकी विशेष लिप्सा नहीं होती। चन्द्रकलाओंकी भांति उसका विकास होने लगता है। धीरे-धीरे वह देव कुमारोंके साथ गेंद आदि लेकर क्रीडा करने योग्य हो जाता है। इसके पश्चात् वह तैरना, हाथी-घोड़े पर सवारी करना आदि विविध कलाओंमें प्रवीण हो जाता है।

विवाह संस्कार—वयस्क होते ही महासेन उनका विवाह संस्कार[2] करते हैं, जिसमें सभी राजे-महाराजे सम्मिलित होते हैं।

राज्य संचालन—पिताके आग्रह पर चन्द्रप्रभ राज्य संचालन स्वीकार करते हैं। इनके राज्यकाल में प्रजा सुखी रही, किसीका अकाल मरण नहीं हुआ, प्राकृतिक प्रकोप नहीं हुआ तथा स्वचक्र या परचक्र से कभी कोई बाधा नहीं हुई। दिन-रातके समयको आठ भागोंमें विभक्त करके वे दिनचर्याके अनुसार चलकर समस्त प्रजाको नयमार्ग पर चलनेकी शिक्षा देते रहे। विरोधी राजे-महाराजे भी उपहार ले-लेकर उनके पास आते और उन्हें नम्रता पूर्वक प्रणाम करते रहे। इन्द्रके आदेश पर अनेक देवाङ्गनाएँ प्रतिदिन उनके निकट गीत-नृत्य करती रहीं। अपनी कमला आदि अनेक पत्नियोंके साथ वे चिरकाल तक आनन्द-पूर्वक रहे।

वैराग्य—किसी दिन एक वृद्ध लाठी टेकता हुआ उनकी सभामें जाकर दर्दनाक शब्दोंमें कहता है—'भगवन्! एक निमित्तज्ञानीने मुझे मृत्यु की सूचना दी है। मेरी रक्षा कीजिए, आप मृत्युञ्जय हैं, अतः इस कार्यमें सक्षम हैं।' इसके बाद वह अदृश्य हो जाता है। चन्द्रप्रभ समझ जाते हैं कि यह वृद्धके वेषमें देव आया था, जिसका नाम था धर्मरुचि। इसी निमित्तसे वे भोगोंसे विरक्त हो जाते हैं[3] और दीक्षा लेनेका निश्चय करते हैं। इतनेमें ही वहाँ लौकान्तिक देव आ जाते हैं, और 'साधु' 'साधु' कहकर उनके वैराग्य की सराहना करते हैं। इसके उपरान्त ही वे अपने पुत्र वरचन्द्र को राज्य सौंप देते हैं।

तप—तत्पश्चात् इन्द्र और देव चन्द्रप्रभको 'विमला' नामकी शिविकामें बैठाकर सकलर्तु[4] वनमें ले जाते हैं, जहाँ वे [पौष कृष्णा एकादशीके[6] दिन] दो उपवासोंका नियम लेकर सिद्धोंको नमन करते हुए एक हजार राजाओंके साथ दीक्षा लेकर तप करते हैं। इसी अवसर पर वे पाँच दृढ मुष्टियोंसे केश

---

१. उ० पु० (५४,१७४) में स्तुतिका उल्लेख नहीं है, 'आनन्द' नाटकका उल्लेख है। त्रिषष्टिशलाकापु० में नाटकका नहीं, स्तुतिका उल्लेख है। २ उ० पु० (५४, २१४) में और पुराणसा० (८६, ५७,) में क्रमशः, निष्क्रमणके अवसर पर अपने पुत्र वरचन्द्र, व रवितेजको चन्द्रप्रभके उत्तराधिकार सौंपनेका उल्लेख है पर दोनोंमें उनके विवाहके स्पष्ट उल्लेख करनेवाले पद्य नहीं हैं। त्रिषष्टि शलाका पु० (२९८, ५५) में चन्द्रप्रभकी अनेक पत्नियोंका उल्लेख है, जो चन्द्रप्रभचरितम् (१७,६०) में भी पाया जाता है। ३ चन्द्रप्रभ के वैराग्यका कारण तिलोयप० (४, ६१०) में अध्रुव वस्तुका और उ० पु० (५४, २०३) तथा त्रिषष्टिस्मृति (२८,९) में दर्पण में मुखकी विकृतिका अवलोकन लिखा है। त्रिषष्टिशलाकापु० और पुराणसा० में वैराग्यके कारणका उल्लेख नहीं है। ४ हरिवंश० (७२२,२२२) में शिविकाका नाम 'मनोहरा', त्रिषष्टिशलाकापु० (२९८,६१) में 'मनोरमा पुराण सा० (८६,५८) में 'सुविशाला' लिखा है। ५. तिलोयप० (४,६५१) में वनका नाम 'सर्वार्थ' उ० पु० (५४,२१६) में 'सर्वर्तुक', त्रिषष्टिशलाका पु० (२९८,६२) में एव पुराणसा० (८६,५८) 'सहस्राम्र' लिखा है। ६ चन्द्रप्रभचरितम्में मिति नहीं दी, अतः हरिवंश० (७२३,२३३) के आधार पर यह मिति दी है। उ० पु० (५४,२१६) में भी यही मिति है, पर कृष्ण पक्षका उल्लेख नहीं है। पुराण सा० (८६,६०) में केवल अनुराधा नक्षत्रका ही उल्लेख है और त्रिषष्टिशलापु० (२९८,६४) में पौष कृष्ण त्रयोदशी मिति दी गयी है।

लुञ्चन करते हैं। देवेन्द्र और देव मिलकर तप कल्याणकका उत्सव मनाते हैं, और उन केशोको मणिमय पात्रमें रखकर क्षीरसागरमें प्रवाहित करते हैं।

पारणा—नलिनपुर[1] में राजा सोमदत्त[2] के यहाँ से पारणा करते हैं। इसी अवसर पर वहाँ पाँच आश्चर्य प्रकट होते हैं।

कैवल्य प्राप्ति—घोर तप करके वे शुक्लध्यानका अवलम्बन लेकर [फाल्गुन कृष्णा सप्तमी[3] के दिन] कैवल्य—पूर्णज्ञानकी प्राप्ति करते हैं।

समवसरण—कैवल्य प्राप्तिके पश्चात् इन्द्रका आदेश पाकर कुबेर साढे आठ योजनके विस्तारमें वर्तुलाकार समवसरणका निर्माण करता है। इसके मध्य गन्ध कुटीमें एक सिंहासन पर भ० चन्द्रप्रभ विराजमान हुए और चारो ओर वर्तुलाकार बारह प्रकोष्ठोमें क्रमश गणधर आदि।

दिव्य देशना—इसके अनन्तर गणधर (मुख्य शिष्य) के प्रश्नका उत्तर देते हुए भगवान् चन्द्रप्रभ ने जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, सवर, निर्जरा और मोक्ष—इन सात तत्त्वोके स्वरूपका विस्तृत निरूपण ऐसी भाषामें किया, जिसे सभी श्रोता आसानीसे समझते रहे।

गणधरादिकों की संख्या—दस सहज, दस केवल ज्ञान कृत और चौदह देवरचित अतिशयो तथा आठ प्रातिहार्योसे विभूषित भ० चन्द्रप्रभके समवसरणमें तेरानवे गणधर, दो हजार[5] कुशाग्रबुद्धि पूर्वधारी, दो लाख चारसौ[6] उपाध्याय, आठ हजार[7] अवधिज्ञानी, दस हजार[8] केवली, चौदह हजार[9] विक्रिया ऋद्धि-धारी साधु, आठ हजार मन पर्ययज्ञानी साधु, सात हजार[10] छ सौ वादी, एक लाख अस्सी हजार[11] आर्यि-काएँ; तीन लाख सम्यग्दृष्टि श्रावक और पाँच लाख[12] व्रतवती श्राविकाएँ रही।

यत्र-तत्र आर्यक्षेत्रमें धर्मामृतकी वर्षा करते हुए भ० चन्द्रप्रभ सम्मेदाचल (शिखर जी) के शिखर पर पहुँचते हैं। भाद्रपद शुक्ला[13] सप्तमीके दिन अवशिष्ट चार अघातिया कर्मोको नष्ट करके दस लाख पूर्व प्रमाण आयुके समाप्त होते ही वे मोक्ष प्राप्त करते हैं।

---

१ हरिवंश० (७२४,२४०) में और त्रिषष्टिशलापु० (२९८,६६) में पुरका नाम 'पद्मखण्ड' दिया है, एव पुराणसा० (८६,६२) में 'नलिनखण्ड'। २ हरिवश० (७२४,२४६) में और पुराणसा० (८६,६२) में राजाका नाम 'सोमदेव' दिया है। ३ चन्द्रप्रभचरितम्में मिति नही दी, अत. उ० पु० (५४,२२४) के आधार पर दी है। चन्द्रप्रभचरितम्में चन्द्रप्रभ भगवान्के जन्म और मोक्ष कल्याणकोकी मितियाँ दी हैं, शेष तीन कल्याणको की नही। ४ त्रिषष्टिशलाका पु० (२९८,७५) में समवसरणका विस्तार एक योजन लिखा है। ५ तिलोयप० (४,११२०) में पूर्वधारियोकी सख्या चार हजार दी है। ६. तिलोयप० (४,११२०) में उपाध्यायोंकी संख्या दो लाख दस हजार चारसौ दी है। ७. तिलोयप० (४,११२१) में अवधिज्ञानियोंकी सख्या दो हजार लिखी मिलती है। ८ तिलोयप० (४,११२१) में केवलियोकी संख्या अठारह हजार दी है। ९. तिलोयप० (४,११२१) में विक्रिया ऋद्धिधारियोकी संख्या छ. सौ दी है, और हरिवंश० (७३६,३८६) में दस हजार चारसौ। १०. तिलोयप० (४.११२१) में वादियोकी सख्या सात हजार दी है। ११. तिलोयप० (४,११६९) में आर्यिकाओंकी सख्या तीन लाख अस्सी हजार दी है और पुराणसा० (८८,७५) में भी यही सख्या दृष्टिगोचर होती है। १२. पुराणसा० (८८,७७) में श्राविकाओंकी सख्या चार लाख एकानवे हजार दी है। त्रिषष्टिशलाकापु० मे दी गयी संख्याएँ इनसे प्राय भिन्न हैं। १३. उ० पु० (५४,२७१) में चन्द्रप्रभके मोक्षकल्याणककी मिति फाल्गुन शुक्ला सप्तमो दी गयी है, पुराणसा० (९०,७९) में मिती नही दी गयी केवल ज्येष्ठा नक्षत्रका उल्लेख किया है।

[४] चं० च० की कथावस्तुका आधार

'चन्द्रप्रभचरितम्'की कथावस्तुके आधारके विषयमें इसके रचयिताने स्वय कोई स्पष्ट उल्लेख नही किया। प्रस्तुत कृतिके प्रारम्भ (१, ६)में जहाँ आचार्य समन्तभद्रका स्मरण किया है, वहाँ किसी एक भी पुराणकारका नही। हाँ, इसके प्रथम सर्ग(१, ९-१०)में गुरुपरम्परासे प्राप्त दुष्प्रवेश पुराणसागरमें स्वय प्रवेशार्थ उद्यत होनेकी चर्चा वीरनन्दीने अवश्य की है। वह इस बातको ध्वनित करती है कि प्रस्तुत कृतिकी सामग्रीके सकलनके लिए वीरनन्दीने अनेक विशालकाय पुराणोंका परिशीलन किया था।

अब देखना यह है कि वे विशालकाय पुराण कौनसे हैं, जो विक्रमकी ग्यारहवी शताब्दीके प्रथम चरणमें वीरनन्दीके सामने रहे। सम्प्रति जो पुराण उपलब्ध हैं, उनमें तीन विशालकाय हैं—पद्मपुराण, हरिवशपुराण और महापुराण। यदि लेखकोकी भिन्नताके आधारपर महापुराणको आदिपुराण और उत्तर-पुराणके रूपमें विभक्त कर लें तो पुराणोंकी सख्या तीन से चार हो जाती है। च० च०के परिशीलनसे ज्ञात होता है कि वीरनन्दीके समक्ष इन चारोके अतिरिक्त अन्य पुराण भी रहे, जो अभी तक उपलब्ध नही हुए।

वीरनन्दीका अन्वेष्य विषय चन्द्रप्रभका जीवनवृत्त था, जो उन्हें उ० पु०से पर्याप्त मात्रामें उपलब्ध हुआ। यों यह पद्मपुराणमें भी स्वल्पतम मात्रामें विद्यमान है, पर हरिवशकी तुलनामें सर्वथा नगण्य है। हरिवशमें इसका जो थोडा-बहुत अश सूत्ररूपमें उपलभ्य है, वह उत्तरपुराणकी तुलनामें अपर्याप्त है। उत्तरपुराणके बाईस (४४-६५) पृष्ठोंपर चन्द्रप्रभका साङ्गोपाङ्ग जीवनवृत्त दो सौ छिहत्तर सुन्दर पद्योंमें अङ्कित है। हरिवशपुराणमें चन्द्रप्रभके जन्मादि स्थानों, पारिवारिक व्यक्तियो, विभूतियो, अतिशयो, पञ्च-कल्याणमितियों और गणधरादिकोकी सख्या आदिका ही मुख्यतया उल्लेख है। लगभग इसी ढगका अत्यन्त ही स्वल्प उल्लेख पद्मपुराणमें है। जिनरत्नकोष (पृ० ११९) आदि ग्रन्थोंसे ज्ञात होता है कि आचार्य गुणभद्रके अतिरिक्त अन्य कवियोंके भी भिन्न-भिन्न भाषाओंमें निबद्ध चन्द्रप्रभचरितके सदर्भ मिलते हैं। निष्कर्ष यह कि वीरनन्दीके 'पुराणसागरे' पदसे उन्हें जो विपुल पुराणवाङ्मय विवक्षित है, उनमें सम्प्रति उत्तरपुराण ही ऐसा है, जिसे उनकी कृति च० च० की कथावस्तुका आधार माना जा सकता है। उ० पु० और च० च० के प्रतिपाद्य विषयमें जहाँ-कही थोडा-बहुत वैषम्य है, वहाँ हरिवशपुराण आधार है, और जहाँ उक्त दोनोंसे भी वैषम्य है, सभव है वहाँ कवि परमेश्वरका 'वागर्थसग्रह' नामक पुराण आधार रहा हो, जिसके अनेक पद्य वीरनन्दीके समकालीन चामुण्डरायने अपने पुराणमें उद्धृत किये हैं।

आदिपुराणके आधारपर निर्मित पुरुदेवचम्पूमें यत्र-तत्र आदिपुराणके अनेक श्लोकोको थोडे-बहुत परिवर्तनके साथ अपनाया गया है। ऐसा चं० च० में नहीं किया गया। उ० पु० को कथावस्तुका आधार बनाकर वीरनन्दीने अपनी कृतिमें अथसे इति तक सर्वत्र अपनी मौलिक प्रतिभाका उपयोग किया है। च० च० के केवल एक स्थलमें उ० पु० के दो पदोंका थोडा-सा साम्य[१] है, जो अकस्मात् हुआ जान पडता है।

चं० च० के 'गुरुसेतुवाहिते' (१, १०) में 'गुरु'का अर्थ टीकाकारने 'गणधर' और पञ्जिकाकारने 'श्रीजिनसेनादि' किया है। यदि पञ्जिकाकारका अर्थ साधार हो तो उ० पु० को च० च० के आधार माननेकी बात और पुष्ट हो जाती है, क्योंकि उ० पु० जिनसेनकी कृतिका ही अङ्ग है। अथवा 'श्रीजिन-सेनादि' में दिये गये 'आदि'से गुणभद्रको भी लिया जा सकता है। जो कुछ भी हो, यह सुनिश्चित है कि वीरनन्दीने उ० पु० से पर्याप्त लाभ उठाया है। इसके लिए उ० पु० और च० च० का साम्य ही साधक है, जो इस प्रकार है—

---

१ ग्रामा कुक्कुटसपात्या सारा बहुकृपीबला। पशुधान्यधनापूर्णा नित्यारम्भा निराकुला ॥
—उ० पु०, पृ० ४५, श्लो० १५

ग्रामै कुक्कुटसपात्यै सरोभिर्विकचाम्बुजै। सीमभि सस्यसपन्नैर्य समन्ताद्विराजते ॥
—च० च०, सर्ग २, श्लो० ११८

	विषय	चं० च०	उ० पु०
१८.	कल्याणकोंकी तिथियाँ	केवल दो (जन्म और मोक्ष) की	पाँचोंकी
१९	चन्द्रप्रभके जन्माभिषेकके समय	×	आनन्द नाटक
२०	चन्द्रप्रभके विवाह विषयक श्लोक	स्पष्ट	अस्पष्ट
२१.	चन्द्रप्रभकी पत्नियाँ	अनेक	,,
२२	चन्द्रप्रभके वैराग्यका कारण	देव	दर्पणमें मुखकी विकृति
२३	चन्द्रप्रभका दीक्षावन	सकलर्तु	सर्वर्तुक
२४	समवसरणमें चन्द्रप्रभकी स्तुति	×	ऐशानेन्द्रके द्वारा
२५.	चन्द्रप्रभके गणधरादिकोंकी संख्यामें	पहले उपाध्याय फिर अवधिज्ञानी	पहले अवधिज्ञानी फिर उपाध्याय

इस वैषम्यपर विचार—(१) पुत्रके न होनेपर राजा श्रीषेणका चिन्तित होना उ० पु० में वर्णित है। ठीक ऐसे ही प्रसगमें रघुवश (१, ३३-३४) में दिलीपका, रघुवश (१०,२-४) में दशरथका और धर्मशर्माभ्युदय (२,६९-७४) में महासेनका चिन्तातुर होना लिखा है। किन्तु च० च० (३,३०-३५) में श्रीकान्ताका चिन्तामग्न होना चर्चित है। इसका आधार उ० पु० के स्थानमें गुणभद्रकी दूसरी कृति 'जिनदत्तचरितम्' है, जिसमें पुत्रके न होनेसे जीवजसाकी चिन्ताका वर्णन है[1]। अतएव प्रथम वैषम्यके आधारपर यह सिद्ध नही होता कि उ० पु० च० च० की कथावस्तुका आधार नही है।

(२) उ० पु० में श्रीषेण पुरोहितसे पुत्र प्राप्तिका उपाय पूछते हैं, पर च० च० में वे चारण मुनि अनन्तके दर्शन करते हैं, जिससे वे चिन्तासे मुक्त हो जाते हैं। सूक्ष्म विचार करनेपर ज्ञात होता है वीरनन्दीने जैनसंस्कृतिकी अनुकूलताको ध्यानमें रखकर यह परिवर्तन किया।

(७) उ० पु० के अनुसार अजितंजयकी राजधानीका नाम अयोध्या और चं० च० के अनुसार कोशला है। कोषोंके[2] अनुसार दोनोंका अर्थ एक ही है, अत' कोई विरोध नही है।

(९–१०) च० च० में अजितसेनका अपहरण चण्डरुचि असुर करता है, और बादमें परुषाटवीके निकट हिरण्य देवसे भेंट होती है— यह उ० पु० में चर्चित नहीं है। इन घटनाओंका स्रोत अन्यत्र न मिले तो यह मानना होगा कि वीरनन्दीने गुणभद्रके जिनदत्तचरितम्से सहायता ली है। वह इस प्रकार—

दधिपुरके उद्यानमें जिनदत्तका उसके स्वामी सेठ समुद्रदत्तसे परिचय हो जाता है। जिनदत्तके वृक्षायुर्वेदके ज्ञानका अपने उद्यानमें चमत्कार देखकर समुद्रदत्त उससे प्रसन्न हो जाता है। फलतः वह वसन्तोत्सवमें जिनदत्तका खूब सम्मान करता है और फिर उसे अपने साथ व्यापारके निमित्तसे सिंहलद्वीपमें लिवा ले जाता है। सिंहलद्वीपके राजा मेघवाहनकी पुत्री श्रीमतीके शयनागारकी रक्षाके लिए जो पहरेदार नियुक्त होता रहा वह रात्रिमें मारा जाता था। इससे मेघवाहन हैरान था। जिनदत्तने प्रयत्न करके उस भयकर सर्पका पता लगा कर पिटारीमें बन्द कर दिया, जो प्रतिदिन पहरेदारके प्राणोंका अपहरण करता रहा। इससे प्रसन्न होकर मेघवाहनने अपनी कन्या श्रीमतीका जिनदत्तके साथ विवाह कर दिया। सिंहलद्वीपसे लौटते समय जिनदत्तकी पत्नीको देखकर सेठ समुद्रदत्तकी दृष्टि दूषित हो जाती है, फलत. वह जिनदत्तको समुद्रमें गिराकर अपने जलयानको द्रुतगतिसे आगे बढ़ा ले जाता है। जिनदत्त एक लकडीका सहारा लेकर

---

१ अशोकस्तबकेनेव यौवनेन ममामुना। रागिणा केवलं किन्तु न यत्र फलसभव ॥ वारिधेरिव लावण्य विरस मम सर्वथा। न यत्रापत्यपद्मानि तेन कान्तजलेन किम् ॥ नाममात्रेण सा स्त्रीति गुणशून्येन कीर्त्यते। पुत्रोत्पत्त्या न या पूता यथा शक्रवधूटिका ॥ प्रसादोऽपि न मे भर्त्तु शोभायै सूनुना विना। शब्दानुशासनेनेव विद्वत्ताया विजृम्भितम् ॥ साह मोहतमश्छन्ना निशेवोद्वेगदायिनी। दीप्यते यदि नो पुत्रप्रदीप कुलवेश्मनि ॥ चिन्तयन्तीति सा बाला कपोलन्यस्तहस्तका। पातयामास सम्याना नेत्रभृङ्गान् मुखाम्बुजे ॥ —जिनदत्तच० १,६१-६६। २ 'साकेत कोशलायोध्या' अभिधानचिं० ४,४१।

तटकी ओर बढनेका यत्न करता है। इतनेमें दो व्यक्ति आकाशमार्गसे वहाँ पहुँचकर उसे धमकाने लगते हैं, पर उस (जिनदत्त) के वीरतापूर्ण वचनोंको सुनकर वे पानी-पानी हो जाते हैं, और उसे अशोकश्री नामक विद्याधरनरेशके पास लिवा ले जाते हैं। वह अपनी कन्या शृङ्गारमतीका उसके साथ ब्याह कर देता है।

च० च० में चर्चित हिरण्यदेव पहले अजितसेनको धमकाता है, पर बादमें उसकी वीरतासे प्रसन्न होकर उसकी सहायता करता है। राजा जयवर्माके प्रतिद्वन्द्वी धरणीध्वजको मारनेमें अजितसेनको यही देव सहयोग देता है। अन्ततोगत्वा राजा जयवर्मा प्रसन्न होकर अपनी कन्या शशिप्रभाका अजितसेनके साथ विवाह कर देता है।

सूक्ष्म दृष्टिसे विचार करनेपर जिनदत्तच० और च० च० की उक्त घटनाओंमें पर्याप्त समानता है, अत. यह स्पष्ट है कि वीरनन्दीने जिनदत्तच० से भी सहायता ली। गुणभद्रने जिन घटनाओंसे जिनदत्तका उत्कर्ष सिद्ध किया है, उन्हीं जैसी घटनाओंसे वीरनन्दीने अजितसेनका।

(१३,१७,२३) सुवर्णमाला, कनकमाला, चन्द्रपुरी, चन्द्रपुर, सकलर्तु, सर्वर्तुक—ये नाम कुछ भिन्न-से प्रतीत होते हैं, पर इनका अभिप्राय भिन्न नहीं है। सुवर्ण कनकका, पुरी पुरका और सकल सर्वका पर्यायवाचक है। इनमें छन्दके अनुरोधसे थोडा-सा अन्तर आया है।

(१५) पद्मनाभकी राजधानीमें एक जगली हाथीके प्रवेशकी घटना जो च० च० में वर्णित है, उसका आधार उ० पु० के स्थानमें जिनदत्तच० (६,८१-९१) प्रतीत होता है। इन दोनों कृतियोंमें वर्णित घटनाओंमें अत्यधिक साम्य है। उक्त घटनाओंके अतिरिक्त दोनोंमें पद्यगत साम्य भी यत्र-तत्र है। चन्द्रप्रभचरितम् और जिनदत्तचरितम्के कतिपय पद्योंकी क्रमश. तुलना कीजिए—चं० च० १,१७, २,१२४; २,११६, ३,३१, ३,३२, ३,६७, ३,७४, ६,१७, ६,१९, ६,२१, ११,७६–९० क्रमश जि० च० १,१३, २,७, ३,७४, १,६१; १,६३, १,७२, १,७५–७६, ६,७, ६,९, ६,१३; ६,७७–९१।

अतएव यह स्पष्ट है कि चं० च० का कथानक गुणभद्रके उ० पु० से तथा कतिपय घटनाओंके स्रोत उन्हींके जिनदत्तच० से लिये गये हैं।

(१८) चं० च० में उ० पु० की भाँति पाँच कल्याणकोंकी पाँचों मितियाँ न देकर 'नेमिनिर्वाणम्'की भाँति केवल दो ही मितियाँ दी गयी हैं। इसका कारण कौन-सी परम्परा रही है, यह ज्ञात नहीं हो सका।

शेष विषमताओंके विषयमें सम्भव है वीरनन्दीके सामने कोई अन्य आधार रहा हो। जो कुछ भी हो, तुलनात्मक सूक्ष्म अध्ययनसे यह ज्ञात होता है कि च० च० की कथावस्तुका मुख्य आधार उपलब्ध पुराणोंमें उ० पु० ही है।

[५] चं० च० की प्रासङ्गिक कथाएँ

(१) सुनन्दाका निदान—सुगन्धि देशके श्रीपुर नगरमें देवाङ्गद वणिक् रहता था, जिसकी पत्नीका नाम श्री और पुत्रीका नाम सुनन्दा था। किसी दिन वह एक गर्भवती नवयुवतीके श्रीहीन शरीरको देखकर जन्मान्तरमें भी युवावस्थाके प्रारम्भमें उस जैसी न होनेका निदान बाँध लेती है, और आजीवन गृहस्थधर्मका परिपालन करती है। मृत्युके पश्चात् वह सौधर्म स्वर्गमें देवी होती है। वहाँसे चयकर राजा दुर्योधनकी पुत्री तथा राजा श्रीषेणकी पत्नी श्रीकान्ता होती है। पिछले जन्मके अशुभ निदानके कारण उसे प्रारम्भिक नवयौवनमें सन्तानकी प्राप्ति नहीं होती। [चं० च० ३,५३–५५]

(२) दो किसान—सुगन्धि नामका एक देश था। उसमें किसी समय राजा श्रीषेणका शासन रहा। उनके शासनकालमें उन्हींकी राजधानी—श्रीपुरमें दो किसान गृहस्थ रहते थे। उनमें-से एकका नाम शशी था और दूसरेका सूर्य। शशीने किसी दिन सेंध लगाकर सूर्यका सारा धन चुरा लिया। पता लगनेपर राजाने बरामद हुआ धन सूर्यको दिलवाया और शशीको प्राणदण्ड। चोरी करनेसे शशी नाना कुयोनियोंके दुःख भोगकर चण्डरुचि नामक असुर होता है और सूर्य सत्कर्म करनेसे सुयोनियोंके सुख भोगकर हिरण्य नामक देव। [च० च० ६,३३–३५] इन कथाओंका स्रोत उ० पु० में नहीं है।

[६] चं० च० में सैद्धान्तिक विवेचन

वीरनन्दीने च० च० के अन्तिम सर्गमें भ० चन्द्रप्रभकी दिव्य देशनाका प्रसङ्ग पाकर जिन सैद्धान्तिक विषयोंका विवेचन किया है, उनमें मुख्य हैं—सात तत्त्व, नौ पदार्थ, छ द्रव्य, चार गतियाँ, आठ कर्म, बारह तप, चार ध्यान, रत्नत्रय और चौंतीस अतिशय। इस विवेचनसे अभिव्यक्त होता है कि वीरनन्दी सिद्धान्त-विद् भी रहे। इस विवेचन का आधार कुन्दकुन्द साहित्य, तत्त्वार्थसूत्र और उसके व्याख्याग्रन्थ आदि हैं, न कि उ० पु०।

[७] चं० च० में तत्त्वोपप्लव आदि इतर दर्शनोंकी आलोचना

च० च० (२, ४३-११०) में तत्त्वोपप्लव दर्शनकी विस्तृत आलोचनाकी गयी है, और इसीके प्रसङ्गसे चार्वाक, साख्य, न्याय-वैशेषिक, बौद्ध और मीमासा दर्शनोकी भी। तत्त्वोपप्लव दर्शनकी मान्यता है कि विचार करनेपर लोक प्रसिद्ध पृथिवी आदि तत्त्व भी जब सिद्ध नही किये जा सकते तब (जैन दर्शन मान्य) अन्य तत्त्वोंकी तो बात ही क्या है, (क्योंकि वे सभी बाधित हैं)—'पृथिव्यादीनि तत्त्वानि लोके प्रसिद्धानि, तान्यपि विचार्यमाणानि न व्यवतिष्ठन्ते किं पुनरन्यानि ?—तत्त्वोपप्लवसिंह पृ० १। चार्वाक दर्शन देहको ही आत्मा मानता है, जो उसीके साथ उत्पन्न होता है और उसीके साथ समाप्त भी हो जाता है—जन्मान्तर ग्रहण नही करता। साख्यदर्शन आत्माके अस्तित्वको स्वीकार करता है, पर वह उसे कूटस्थनित्य और अकर्ता बतलाता है। न्याय-वैशेषिक दर्शन आत्माको जड मानता है—आत्मा स्वय ज्ञानवान् नही है, ज्ञानके समवायसे ज्ञानवान् है। मीमासा दर्शनको मोक्षके विषयमें विप्रतिपत्ति है (च० च० २, ९०)। च० च० की स० टी० से इसके दो अर्थ प्रतिफलित होते हैं—१ मीमासा दर्शनके आचार्योंको मोक्षके विषयमें विवाद है और २ मोक्ष नही है। दोनो अर्थ सङ्गत है। १ महर्षि जैमिनीयने अपने सूत्रोमें मोक्षकी चर्चा नही की। इनके उत्तरवर्ती भट्ट और प्रभाकरके मोक्षके मन्तव्योमें वैषम्य है। २ नित्यकर्मोका अनुष्ठान ही मोक्ष है—नियोग-सिद्धिरेव मोक्ष —प्रकरणपञ्चिका पृ० १८८-१९०। जैमिनीय सम्मत मोक्षका लक्षण लिखते हुए सोमदेव सूरिने कहा है—कोयला और कज्जलकी भाँति स्वभावत मलिन चित्तवृत्ति कभी शुद्ध नही हो सकती—यशस्ति० उ० पृ० २६९। बौद्धदर्शन ज्ञानकी धाराको ही आत्मा मानता है। इस तरह उक्त दर्शनोकी मान्यताओंकी वीरनन्दीने समालोचना की है। इसकी विशेष जानकारीके लिए पाठक प्रस्तुत ग्रन्थका हिन्दी अनुवाद और 'तत्त्वससिद्धि' देख लें। इस प्रसङ्गको आद्योपान्त पढ़कर वीरनन्दीके दार्शनिक वैदुष्यका अनुमान लगाया जा सकता है।

[८] चं० च० की जैन व जैनेतर ग्रन्थोंसे तुलना

(अ) जैन ग्रन्थ

[१] आचार्य कुन्दकुन्द (ई० की पहली शती) और वीरनन्दी

च० च०—१८,६९,१८,६८,१८,६, १८, ७८-७९	पञ्चास्तिकाय—८५ नियमसार—३४,१६,२०-२४

[२] आचार्य उमास्वामी[1] (वि० १-३ शती) और वीरनन्दी

च० च०—१८,२,१८,७-८	तत्त्वार्थसूत्र—१,४, ३,१

१ इसी तरहसे च० च० के अन्तिम सर्गका लगभग आधा भाग उमास्वामीके तत्त्वार्थसूत्रके आधार-पर बनाया गया है।

[३] पूज्यपादस्वामी (वि० ५वी शती) और वीरनन्दी

चं० च०—१८,४,१८,२-३[१-२]; १८,१२५-१२७	सर्वार्थसिद्धि—१,४, १,४ पृ० ३ (ज्ञानपीठ संस्करण)

[४] अकलङ्कदेव (वि० ७वी शती) और वीरनन्दी

चं० च०—१८,४३;१८,२१-२६; १७,७५	तत्त्वार्थवार्तिक—अ० ३ पृ० २०१ (ज्ञा० सं०) अ० ३ पृ० २०८ (ज्ञा० सं०) अ० ५ पृ० ४८२ (ज्ञा० सं०)

[५] भगवज्जिनसेन (ई० ८वी शती) और वीरनन्दी

चं० च०—१,८,१८,७६-७७	आदिपुराण—पर्व १,३१-३२, पर्व ३,७, पर्व २४,१४७

[६] नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती (वि० ११वी शतीका प्रारम्भ) और वीरनन्दी

च० च०—१८,२०-२१	गोम्मटसार जीवकाण्ड—गा० ८५

[७] महाकवि असग (वि० ११वी शतीका प्रारम्भ) और वीरनन्दी

चं० च०—२,१४२,२,१३८-१४०, १, ३६; ४, ४८	वर्धमानचरित—५,१२,५,१४,५,१८, ७,६४

[८] महाकवि हरिचन्द्र[3] (वि० १२वी शती) और वीरनन्दी

च० च०—१८,२,१८,३,१८,७५; १८,१३२	धर्मशर्माभ्युदय—२१,८,२१,९, २१,८९;२१,१६६-६७

[९] विबुध सीधर (वि० १२-१३वी शती) और वीरनन्दी

चं० च०—१५,२७-३०,१५,३२-३४	पासणाहचरिउ[४]—संधि ३ कड० १६-१७, संधि ४ कड० ६

(आ) जैनेतर ग्रन्थ

[१] महाकवि कालिदास (ई० ४-५ शती) और वीरनन्दी

च० च०—३,४,३,१४,३,७३; ८,८८	रघुवंश—१,२४,३,८,३,१६; ७,८

[२] महाकवि भारवि (ई० ७वी शती) और वीरनन्दी

च० च०—३,४८,५,८५,१२,१५; १२,८९	किरातार्जुनीय—३,७,३,१२, २,४१,१,४२

---

१. 'पुण्यपापयोर्बन्धेऽन्तर्भावान्न भेदेनाभिधानम्'। इति हरिभद्रकृताया वृत्तौ पृ० २७ (सूरत संस्करण)। २. 'पुण्यपापपदार्थोपसंख्यानमिति चेत्, न; आस्रवे बन्धे वान्तर्भावात्'। इति तत्त्वार्थवा० अ० १ पृ० २७ (ज्ञा० सं०)। ३. महाकवि हरिचन्द्रका 'धर्मशर्माभ्युदयम्' अथ से इति तक च० च० से प्रभावित है। इसके अन्तिम सर्गका लगभग आधा भाग च० च० का ऋणी है। ऊपर केवल नमूनेके लिए ४-५ पद्योंकी ही तुलना की गयी है। खरकर्मोंका शब्द साम्य हरिचन्द्रको हेमचन्द्रका उत्तरवर्ती सिद्ध करता है। ४ यह सूचना पं० रतनलालजी कटारिया, केकड़ी (अजमेर) के दिनाङ्क २२।४।६८ के पत्रसे प्राप्त हुई।

[३] महाकवि माघ (ई० ७वी शतीका अन्तिम चरण) और वीरनन्दी

च० च०—१५,६०, ५,७६-७७,	शिशुपाल वध—५,४४, १,१४-१५,
६,२२, ८,५८,	२,१३, ८,६६,
१४,४७,	५,२७,

जैन व जैनेतर ग्रन्थोके साथ की गयो चं० च० की इस सक्षिप्त तुलनासे वीरनन्दीके व्यापक अध्ययनका पता चलता है।

[९] चं० च० की साहित्यिक सुषमा

च० च० एक महाकाव्य—निर्दोष, सगुण, सालङ्कार और कही (जहाँ रस आदिकी स्पष्ट प्रतीति हो) निरलङ्कार भी शब्द और अर्थ दोनोका जहाँ सुन्दर सन्निवेश हो उसे काव्य कहते हैं[1]। दृश्यकी भाँति श्रव्यकाव्यकी भी अनेक विधाएँ है। महाकाव्य उन्हीमें-से एक है। आठ सर्गोंसे अधिक सर्गवद्ध रचनाको महाकाव्य कहते हैं। इसमें देव या धीरोदात्तत्व आदि गुणोंसे विभूषित कुलीन क्षत्रिय एक नायक होता है। कही एक वशके कुलीन अनेक राजा भी नायक होते हैं। इसमें शृङ्गार, वीर और शान्त—इन तीनो-में-से कोई एक रस अङ्गी (प्रधान) होता है और शेष अङ्ग (अप्रधान)। नाटकोंकी भाँति इसमें भी मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श और निर्वहण—ये पाँच सन्धियाँ होती हैं। इसकी कथा ऐतिहासिक या लोक-विख्यात सज्जनसे सम्बद्ध होती है। इसमें धर्म आदि चारो पुरुषार्थोंकी चर्चा रहती है, पर फलका सम्बन्ध एकसे ही रहता है। इसका आरम्भ आशीर्वाद, नमस्कार या वर्ण्य वस्तुके निर्देशसे होता है। इसमें दुर्जनोंकी निन्दा और सज्जनोकी प्रशसा रहती है। प्रत्येक सर्गमें एक ही छन्दका प्रयोग रहता है, पर उसके अन्तमें अन्य छन्दोंका भी। किसी एक सर्गमें अनेक छन्द भी प्रयुक्त होते हैं। सर्गके अन्तमें अगले सर्गकी कथाकी सूचना रहती है[2]। इसके वर्ण्य विषय[3] हैं—राजा[4], रानी[5], पुरोहित[6], कुमार[7], अमात्य, सेनापति, देश[8], ग्राम[9], पुर[10], सरोवर[11], समुद्र[12], सरित्[13], उद्यान[14], पर्वत[15], अटवी[16], मन्त्रणा[17], दूत[18], प्रयाण[19], मृगया-अश्व[20], गज[21], ऋतु[22], सूर्य[23], चन्द्र[24], आश्रम[25], युद्ध[26], विवाह, वियोग[27], सुरत[28], स्वयवर, पुष्प वचय[29], और जलक्रीडा[30]। आलङ्कारिकोंके अभिप्रेत महाकाव्यके लक्षणकी कसौटीपर च० च० का महाकाव्यत्व खरा उतरता है, जो सर्वमान्य है।

---

१. काव्यप्र० १, १। २ साहित्यद० ६, ३१५–३२१। ३. अलङ्कारचि० १, २४। च० च० के वर्ण्य विषय—४ राजा–कनकप्रभ १, ३९-५४, श्रीषेण ३, १-१३, अजितजय ५, २३-२५, महासेन १६, ११-१५, चन्द्रप्रभ १७, ५२-६०। ५ रानी–सुवर्णमाला १, ५५-५७, श्रीकान्ता ३, १४-१८, अजितसेना ५, ३६-३९, लक्ष्मणा १६, १६-१९, कमलप्रभा १७, ६०। ६ पुरोहित ७, १४। ७ कुमार–पद्मनाभ १, ५८-६३, श्रीवर्मा ४, १-१४, अजितसेन ५, ४०-४४, चन्द्रप्रभ १७ ५०। ८ देश मङ्गलावती १, १२-२०, सुगन्धिदेश २, ११४-१२४, अलका ५, २-११, अरिंजय ६, ४१, पूर्वदेश १६, १-५। ९ ग्राम १, २०, २, ११८। १० पुर–रत्नसचय १, २१-३८, श्रीपुर २, १२५-१३२, कोशला ५, १२-२२, विपुलपुर ६, ४२, आदित्यपुर ६, ७५, चन्द्रपुरी १६, ६-९। ११ सरोवर–मनोरम ६, १। १२. समुद्र ४, ६५, १६, २९-३०। १३ सरित्–जलवाहिनी १३, ५३-६२। १४ उद्यान–मनोहर २, १२-२३। १५ पर्वत ६, १२, मणिकूट १४, १-४०। १६ अटवी–परुषा ६, ५-१०। १७ मन्त्रणा १२, ५७-१११। १८ दूत १२, १-२४। १९ प्रयाण ४, ४७-५१, ७, ५९-८०, १३, १-५२, १६, २४-५३। २०, अश्व १४, ५१-५४। २१. गज १४, ५५-६२। २२. ऋतु ८, १-५१। २३. सूर्योदय १०, ७६-७९, सूर्यास्त १०, १-३। २४. चन्द्रोदय १०, १७-४१, चन्द्रास्त १०, ६३। २५ आश्रम ११, ३४। २६ युद्ध १५, १-१३२।

नामकरण—साहित्यदर्पण (६, ३२४) के अनुसार महाकाव्यका नाम कविके नामपर, जैसे माघ, वर्ण्यविषयके नामपर, जैसे कुमारसम्भव; नायकके नामपर, जैसे विक्रमाङ्कदेव चरित, अथवा रघुवंश आदिकी भाँति वश आदिके नामपर भी रखा जाता है। प्रस्तुत चं० च० का नामकरण इसके नायक चन्द्रप्रभके नामके आधारपर हुआ है जो सद्वंश क्षत्रिय रहे।

मङ्गलाचरण[1]—काव्यादर्श (१, १४) के अनुसार महाकाव्यका प्रारम्भ आशीर्वादात्मक किंवा नमस्कारात्मक मङ्गलाचरणसे या सीधे वस्तुनिर्देशसे भी होता है। च० च० का प्रारम्भ आशीर्वादात्मक (तीन पद्य) और नमस्कारात्मक (चतुर्थ पद्य) मङ्गलाचरणसे हुआ है।

चं० च० का तुलनात्मक अध्ययन—रघुवंश, किरातार्जुनीयम्, माघ और नैषधीयचरित—इन चार महाकाव्योंकी विद्वत्ससारमें विशेष ख्याति है। यहाँ इन्हींके साथ चं० च० के कुछ अंशोका तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत है।

१. मङ्गलाचरण—किरात, माघ और नैषधका प्रारम्भ वस्तुनिर्देशसे हुआ है। इसीमें मङ्गलाचरणकी कल्पना की गयी है, जैसा कि उनकी टीकाओसे ज्ञात होता है। रघुवंशमें कालिदासने नमस्कारात्मक मङ्गलाचरण किया है। इसमें उन्होने अपने आराध्य पार्वती और परमेश्वर (शिवजी) को अभिवादन किया है। इसका मुख्य उद्देश्य शब्द अर्थका ज्ञान प्राप्त करना है। वीरनन्दीने जगत्कल्याणके उद्देश्यसे च० च० के प्रथम पद्यमें ऋषभदेवको, लोकशान्तिके उद्देश्यसे द्वितीय पद्यमें चन्द्रप्रभको, आत्मशान्तिके उद्देश्यसे तीसरे पद्यमें शान्तिनाथको और विशिष्ट गुणोंकी प्राप्तिके उद्देश्यसे चौथे पद्यमें महावीरको नमस्कार किया है। मङ्गलाचरणके इन पद्योंसे अभिव्यक्त उदात्तभावनाकी दृष्टिसे वीरनन्दी कालिदास, भारवि, माघ और श्रीहर्ष—इन चारो कवियोंसे आगे हैं।

२. सज्जन-दुर्जनोंका वर्णन—रघुवश आदि चारो महाकाव्योमें सज्जन-दुर्जनोका वर्णन नही है, पर-च० च० (१, ७-८) में है। इस प्रसङ्गमें एक मार्मिक बात यह भी द्रष्टव्य है कि वीरनन्दीने दुर्जनोको भी गुरु मानकर नमन किया है[2]।

---

२७. वियोग १०, ७०-७३। २८ सुरत १०, ४२-६१। २९. पुष्पावचय ९, २२-२६। ३०. जलक्रीड़ा ९, २७-५८।

मन्त्रणाके प्रसङ्गमें अमात्यो और प्रमाणके प्रसङ्गमें सेनापतियोकी चर्चा की गयी है, पर स्वयंवर तथा विवाहकी भाँति इनका भी स्वतन्त्र रूपसे कोई वर्णन च० च० में नही किया गया। मृगयाके स्थानमें पुष्पावचय वर्णित है, जो अलङ्कारशास्त्रकी दृष्टिसे ठीक है।

१ च० च० के मङ्गलाचरणके क्रममें विशेषता है। इस युगके आदिमें प्रथमत धर्मतीर्थका प्रवर्तन करनेसे ऋषभदेवको, प्रस्तुत कृतिके नायक होनेसे चन्द्रप्रभको, कृतिकी निर्विघ्न समाप्तिके लिए शान्तिनाथको और वर्तमान धर्मतीर्थके नायक होनेसे महावीरको नमस्कार किया गया है, जो युक्तिसङ्गत है। वीरनन्दीके इस क्रमने इनके उत्तरवर्ती हरिचन्द्र एव अर्हद्दास आदि अनेक कवियोको प्रभावित किया है। च० च० का प्रारम्भ 'श्री' शब्दसे हुआ है। जहाँतक मैं जानता हूँ यह परम्परा भारविसे प्रारम्भ हुई है। २. आचार्य गुणभद्रने आत्मानुशासन (श्लो० १४१) में लिखा है—कोई गुरु शिष्टतावश अपने शिष्यके दोषोका, जो औरोंको ज्ञात हैं, यह सोचकर उद्घाटन न करे—छिपाये रहे कि सन्मार्गमें प्रवर्तन करानेसे कभी यह स्वय ही उन्हें छोड देगा, और इसी बीच यदि वह दिवगत हो जाता है तो उसका वह शिष्य सदोष ही बना रहेगा। फिर कभी कोई मुँहफट खल, जो दूसरोंके अणुप्रमाण भी दोषोको पर्वताकारमें देखता है, उसके दोषोंको प्रकट कर दे तो उसके मनमें यह बात घर किये बिना नही रहेगी कि उसके गुरु तो कोरे गुरु ही रहे, सच्चा गुरु तो यह खल है जिसके निपुण समीक्षणसे उसकी आँखें खुली—दोषोका भान हुआ।

काव्येतर ग्रन्थ अपने नियत विषयोंका ही प्रतिपादन करते हैं, पर काव्यकी यह विशेषता है कि वह प्रसङ्गत अन्यान्य विषयोंपर भी प्रकाश डालता है। नीरस विषय भी काव्यके सम्पर्कसे सरस बन जाते हैं। इसी दृष्टिसे वीरनन्दीने सज्जन-दुर्जनोका भी आकर्षक वर्णन किया है।

३. **द्वीप वर्णन**—च० च० में कनकप्रभ आदि सभी राजाओके अन्य वर्णनके साथ उनके द्वीपोकी भी चर्चा की गयी है, पर रघुवश आदि चारो महाकाव्योमें राजाओके द्वीपोकी, जिनके वे निवासी रहे, चर्चा नही है। च० च० की भाँति उनकी भी कथावस्तु पौराणिक है, अत पुराणोके आधारपर उनमें भी यह चर्चा दी जा सकती थी।

४. **देश-पुर-वर्णन**—च० च० में मङ्गलावती आदि अनेक देशों एव रत्नसञ्चय आदि पुरोंका सजीव वर्णन द्रष्टव्य है। इनके वर्णनके प्राय अन्तिम पद्योंमें परिसख्यालङ्कारमें वहाँकी सामाजिक स्थितिपर सुन्दर प्रकाश डाया गया है। जैसे २, १२२, २, १३८-३९ आदि। यह बात रघुवश आदि चारोंमें नहीं है।

५. **नायकवर्णन**—महाकाव्यमें उसके नायकका उत्कर्प दिखलाना कविका मुख्य लक्ष्य होता है। च० च० में इसकी जितनी पूर्ति की गयी है, रघुवश आदि चारोमें दृष्टिगोचर नहीं होती। च० च० में नायकका क्रमिक उत्कर्ष पिछले सातवें जन्मसे शुरू होता है जो चन्द्रप्रभके भवमें चरम सीमातक पहुँचता है। वाग्भट, असग, वादिराज, हरिचन्द्र और अर्हद्दास आदि जैन महाकवियोंने अपने महाकाव्योमें इसी ढगसे नायकोका उत्कर्प सिद्ध किया है। कादम्बरीमें इसकी आशिक झलक मिलती है, पर वह महाकाव्य नही है। रघुवशमें दिलीपसे लेकर अग्निवर्ण पर्यन्त रामकी अनेक पीढ़ियोका वर्णन है, न कि उनकी भवावली का। माघ (१, ४२-६८) में शिशुपालके दो पिछले भवोका वर्णन है, पर वह नायक नही, प्रतिनायक है। कुमारसम्भव (१, २१) में पार्वतीके पिछले भवका उल्लेख है, किन्तु वह भी नायक नही है। निष्कर्ष यह कि नायकका उत्कर्ष दिखलानेवाली भवावली जिस तरह च० च० में वर्णित है, उस तरह रघुवश आदि चारोंमें नही है। भवावलीके वर्णनसे महाकाव्यमें पुराणत्व आ जायेगा, यह बात सर्वमान्य नही हो सकती। किसी भी व्यक्तिके वर्तमान जीवनके उत्कर्षमें उसके पिछले जन्मोंकी साधनाका प्रभाव रहता है। वर्तमान जीवनकी भी पिछली साधना उसके भावी उत्कर्षका हेतु होती है—यह स्वाभाविक है। अतएव उ० पु० के आधारपर च० च० में नायकके पिछले छ भवोंका जो वर्णन किया गया है, वह उस (चं० च०) के वैशिष्ट्यका परिचायक है।

६. **नायिका वर्णन**—च० च० में चन्द्रप्रभ की पत्नी के अतिरिक्त उनके पिछले जन्मों से सम्बद्ध सुवर्णमाला, श्रीकान्ता, अजितसेना आदिका भी वर्णन है। इसकी विशेषता यह है कि किसीका भी नख-शिख वर्णन नही किया गया, सभीके शील आदि गुणोंपर प्रकाश डाला गया है। इसके लिए चं० च० के १, ५५, ३, १६ आदि पद्य द्रष्टव्य हैं। रघुवश, माघ और किरात में मुख्य नायिकाओका नाम मात्रका ही वर्णन है। नैषधमें दमयन्तीका नख-शिख वर्णन है, न कि शील आदिका। अत च० च० का नायिका वर्णन प्रस्तुत चारों महाकाव्योंसे विलक्षण है।

७. **नायिकाओं की चेष्टाओंका वर्णन**—किसी विशिष्ट व्यक्तिके आनेपर उसे देखनेके लिए स्वाभाविक कौतूहल (वह इच्छा, जिसे रोका न जा सके) वश नायिकाओं में अनेक चेष्टाएँ उत्पन्न होती हैं। इनका सजीव चित्रण च० च० (७, ८२-९०), रघुवश (७, ६-१२), माघ (१३, ३१-४८) और नैषध (१६, १२६-१२७) में द्रष्टव्य है। किरातमें इस प्रसङ्गके पद्य दृष्टिगोचर नही हुए। इस प्रसङ्गका च० च० (७, ८७) का पद्य अत्यन्त सुन्दर है, जिसका भाव है—कोई अन्य नायिका अंगुलियोंमें अगुलियाँ मिलाकर दोनों बाहुओंको अपने सिरपर रखकर जमुहाई लेने लगी, जिससे वह ऐसी जान पडी मानो सम्राट् अजितसेनको देखकर हृदयमें प्रवेश करनेवाले कामदेवके निमित्तसे माङ्गलिक तोरण

तैयार कर रही हो। ऐसी अनूठी कल्पना रघुवश आदिमें खोजनेपर भी नही मिली। चं० च०के इस प्रसङ्ग के अन्य पद्य भी अभिनव कल्पनाओसे अनुस्यूत हैं, अत च० च०का यह प्रसङ्ग रघुवंश आदि चारो काव्योके समीक्ष्य सन्दर्भमे कही अधिक स्तुत्य है।

प्रस्तुत प्रसङ्गके नैपध (१६, १२७), माघ (१३, ३५), रघुवश (७, ११) तथा च० च० (७, ८७) के पद्योमें क्रमश चमत्कृति अधिक है। नैपधका यह पद्य अनेक दृष्टियोसे दोपपूर्ण भी है। यों नैपध श्रेष्ठ महाकाव्योमें-से एक है, पर उक्त पद्य उसके रूपके अनुरूप नही है।

८. ऋतुवर्णन—ऋतुओका वर्णन प्राय सभी महाकाव्योमें रहता है। रघुवश (९, २४-४७) में वसन्त, किरात (१०, १९-३६) में वर्षा, हेमन्त, वसन्त और ग्रीष्म एव (४,१-३६) में शरद्, माघ (६, १-७९) में सभी तथा च० च० (८, १-५१) में वसन्त वर्णित है। नैषध (१, ७५-१०६) में नलके क्रीडावनमें एक ही साथ अनेक ऋतुओके फूल, फल और पक्षी वर्णित हैं, इसके अतिरिक्त स्वतन्त्र ऋतु वर्णन नही किया गया। इस प्रसगके पद्योमें भारवि और श्रीहर्षको छोडकर शेष (कालिदास, माघ और वीरनन्दी) ने यमकका प्रयोग किया है। रघुवशके प्रसगके पद्योके केवल उत्तरार्धमें, माघके उत्तरार्धके साथ किसी-किसी पद्यके पूर्वार्धमें भी यमक प्रयुक्त है, पर च० च० के सभी पद्योके पूर्वार्ध और उत्तरार्ध दोनोमें ही। च० च० के द्वितीय सर्ग (११-२३) में राजा पद्मनाभके उद्यानमें युगपद् सभी ऋतुओके फल-फूल और पक्षी वर्णित हैं। इस सन्दर्भमें चमत्कारपूर्ण अर्थालङ्कारोंका प्रयोग हुआ है। इसकी एक झलक नैषध (१, ७५–१०६) में दृष्टिगोचर होती है, जो किरातमें नहीके बराबर है। अत इस प्रसंगकी रचनामें च० च० का अपना स्वतन्त्र वैशिष्टय है।

९. पर्वत वर्णन—अलकारशास्त्रके निर्देशानुसार महाकाव्योके वर्ण्य विषयोंमें पर्वत भी है, पर रघुवश और नैपधमें इसके वर्णनके लिए स्वतन्त्र सर्ग दृष्टिगोचर नही होते। किरात, माघ और च० च० में क्रमश हिमालय, रैवतक (गिरनार) और मणिकूट पर्वतके वर्णनके लिए पाँचवें, चौथे तथा चौदहवें सर्गका स्वतन्त्र उपयोग किया गया है। इस सन्दर्भमें भारविने चौदह और माघने उन्नीस छन्दोंका प्रयोग किया है तो वीरनन्दीने बीस का। जलोद्धतगति, द्रुतविलम्बित, पुष्पिताग्रा, प्रहर्षिणी, प्रमिताक्षरा, मालिनी, वसन्ततिलका, शालिनी और मालिनी, इन नौ छन्दोका उक्त तीनों महाकवियोने पर्वत वर्णनके प्रसगमें समानरूपसे उपयोग किया है। प्रस्तुत सन्दर्भमें भारविने कान्तोत्पीडा और प्रभाका, माघने आर्यागीति, कुररीरुता, पथ्या, मत्तमयूर, वशस्थ, सुमगला एव स्रग्विणीका तथा वीरनन्दोने अतिरुचिरा, इन्द्रवज्रा, पृथ्वी, मन्दाक्रान्ता और रथोद्धता छन्दोका एक-दूसरेसे भिन्न प्रयोग किया है। इन तीनो महाकाव्योके प्रस्तुत प्रसग के प्राय. सभी पद्य चमत्कारपूर्ण है, पर स्वाभाविकताकी दृष्टिसे वीरनन्दी कही-कही दोनोंसे आगे चले जाते हैं।

१० सूर्यास्त आदिका वर्णन—कालिदासने रघुवशमें यत्र-तत्र प्रभात आदिका सक्षिप्त वर्णन किया है, पर इसके लिए किसी पूरे सर्गका उपयोग नही किया। श्रीहर्षने नैषधके उन्नीसवे सर्गमें प्रभातका वर्णन किया है, जो माघकी तुलनामें फीका है। भारविने किरातके नवमसर्गमें और माघने माघके तीन (९–११) सर्गोंमें सूर्यास्तसे प्रभात तकका, जिसमें गोष्ठी, मधुपान, प्रणयालाप तथा सभोग शृगार भी सम्मिलित हैं, आकर्षक वर्णन किया है। वीरनन्दीने च० च० के दशम सर्गमें मधुपानको छोडकर शेष सभीका चमत्कारपूर्ण वर्णन किया है, जो किरात और माघसे भी अच्छा है। इस प्रसङ्गके पद्योका पाठक वीरनन्दीकी श्लाघा किये बिना नही रह सकता। सूर्यास्तके प्रसगमें किरात (९, १), माघ (९, १) और च० च० (१०, १) को ध्यानसे पढनेपर तीनोकी चमत्कृतिका उत्तरोत्तर प्रकर्ष ज्ञात होने लगता है। केवल एक ही पद्य नही दसवाँ सर्ग पूरा-का-पूरा चमत्कार से भरा हुआ है, चमत्कारका मूलकारण उक्ति वैचित्र्य है। इस दृष्टिसे वीरनन्दी प्रस्तुत अन्य कवियोंसे कही अधिक सफल हुए है।

११. युद्ध वर्णन—महाकाव्योंमें युद्ध जैसे भयावह विषयका भी सरस वर्णन किया जाता है। रघुवशके तीन (३, ७, १२) सर्गोके कुछ पद्योंमें युद्धका संक्षिप्त किन्तु सारगर्भ वर्णन है। किरातके पूरे पन्द्रहवें तथा माघके उन्नीस-बीसवें सर्गोंमें युद्धका वर्णन किया गया है। च० च० के पूरे पन्द्रहवें सर्गमें युद्धका विस्तृत वर्णन है। रघुवशकी भाँति अन्य सर्गों में भी इसका जो सक्षिप्त वर्णन है, वह इससे भिन्न है। किरात और माघ की भाँति च० च० का युद्ध वर्णन अनुष्टुप् छन्दमें किया गया है। नैषधमें युद्धका वर्णन दृष्टिगोचर नही हुआ। च० च० में वर्णित युद्धमें अर्धचन्द्र, असि, कुन्त, कवच, गदा, चक्र, चाप, परशु, प्रास, बाण, मुद्‌गर, यष्टि, वज्रमुष्टि, शङ्कु और शक्ति आदि अस्त्र-शस्त्रो के प्रयोगका उल्लेख है। कालिदासने युद्ध वर्णनके पद्योमें अर्थचित्रको और भारवि तथा माघने शब्दचित्रको मुख्यता दी है, पर वीरनन्दीने इस सन्दर्भमें मध्यमार्गका आश्रय लिया है इसीलिए इन्होने एक पद्यमें एकाक्षर चित्र, एक पद्यमें द्वयक्षरचित्र तथा कुछ पद्योमें यमकका प्रयोग किया और शेषमें अर्थचित्रका। शब्दचित्रके प्रदर्शनमें भारवि और माघ दोनो पटु हैं, पर इसमें माघ अधिक सफल हुए हैं। रघुवशकी भाँति च० च० के युद्धवर्णनमें वीर रसका जो आस्वाद प्राप्त होता है, किरात और माघमें नहीं। च० च० का वर्ण्यविषय किरात और माघ जैसा है, पर भाषा और शैली रघुवश जैसी। यही कारण है कि युद्ध जैसे विषयमें भी वीरनन्दीको कालिदासकी ही भाँति सफलता प्राप्त हुई है। च० च० के प्रस्तुत प्रसगमें एक विशेष बात यह भी है कि रणाङ्गणमें विजय पानेवाले राजा पद्मनाभको जब उसके एक सैनिकने प्रतिद्वन्द्वी राजा पृथिवीपालका कटा हुआ सिर दिखलाया तो उसे उसी समय वैराग्य हो गया। इस अवसर पर उसके मुखसे जो उद्‌गार निकले वे स्तुत्य हैं। अन्तमें वह पृथिवीपालका राज्य उसके पुत्रको और अपना राज्य अपने पुत्रको देकर श्रीधर मुनिके निकट जिन दीक्षा ले लेता है। माघके अन्तिम सर्गमें भ० कृष्णके द्वारा युद्धमें शिशुपालके सिर काटने का उल्लेख है, पर उसके बाद च० च० जैसे विचारोंका वर्णन नही है। इस ढगका वर्णन रघुवश, किरात या अन्य किसी महाकाव्यमें अभी तक दृष्टिगोचर नही हुआ। किसी भी अच्छे या बुरे कामके बाद उसके करनेवाले व्यक्तिके हृदयमें कुछ-न-कुछ विचार अवश्य उत्पन्न होते हैं। सत्कविके द्वारा उनकी चर्चा अवश्य की जानी चाहिए। निष्कर्ष यह कि च० च० का युद्धवर्णन भी अपने ढगका एक है।

१२ चतुर्थ पुरुषार्थका वर्णन—भामहने (काव्या० १,२) में काव्य-प्रयोजन बतलाते हुए लिखा है—सत्काव्यकी रचना धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, कला प्रवीणता, आनन्द एव कीर्ति प्रदान करती है। विश्वनाथने (सा० द० १,२) में लिखा है कि अल्पमति व्यक्तियोको भी विशेष परिश्रम किये बिना धर्म आदि पुरुषार्थोंके फलकी प्राप्ति काव्यसे ही हो सकती है, अत ···। इस प्रयोजनकी दृष्टिसे वीरनन्दी अपने काव्य निर्माणमें पूर्ण सफल हुए हैं। काव्योचित अन्यान्य विषयोंके साथ च० च० में चारो पुरुषार्थों पर भी पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। च० च० के अन्तिम सर्गमें केवल चतुर्थ पुरुषार्थका ही वर्णन है। इसमें सात तत्त्व, मोक्षका स्वरूप और उसके प्राप्त करनेके उपाय—इन विषयोका विस्तृत वर्णन है। इसका सीधा सम्बन्ध चन्द्रप्रभकी दिव्य देशनासे है। नायककी मुक्ति प्राप्ति पर प्रस्तुत महाकाव्यकी समाप्ति हुई है। सत्काव्योंके अध्ययनसे चतुर्वर्ग रूप फलकी प्राप्ति अलङ्कार ग्रन्थोमें बतलायी गयी है तो धर्मसे लेकर मोक्ष पर्यन्त चारो वर्गों या पुरुषार्थोंका वर्णन भी सत्काव्योमें होना चाहिए, जैसा कि च० च० में है। रघुवश आदि चारों जैनेतर काव्योंमें यह दृष्टिगोचर नही होता। किसी एकाध पद्यसे इसका सम्बन्ध जोड़ दिया जाये तो वह अलग बात होगी। च० च० का अङ्गी रस शान्त है, जिसका फल मोक्ष है, अत इसमें मोक्ष पुरुषार्थका वर्णन आवश्यक था, जिसे वीरनन्दीने पूरा किया।

इस तुलनात्मक सक्षिप्त अध्ययनसे यह स्पष्ट है कि वीरनन्दी अपने महाकाव्यके निर्माणमें कालिदास, भारवि, माघ और श्रीहर्ष आदि महाकवियोंकी अपेक्षा कही अधिक सफल हुए हैं। वीरनन्दी यदि जैन न होते तो इनका महाकाव्य भी रघुवश आदि की भाँति ख्याति प्राप्त करता और प्रचारमें भी आ जाता।

[१०] चं० च० में रस योजना

'स कविर्यस्य वचो न नीरसम्' (चं० च० १२, १०८)—इस उक्तिसे स्पष्ट है कि वीरनन्दीकी दृष्टि-में श्रेष्ठ कवि वह है, जिसका काव्य सरस हो। यही कारण है कि चं० च० में आदिसे अन्त तक रसकी अविच्छिन्न धारा प्रवाहित है। यहाँ इसके मुख्य रसोका उल्लेख प्रस्तुत है।

शान्तरस—च० च० का अङ्गी (प्रधान) रस शान्त है, जो इसके प्रथम, द्वितीय, चतुर्थ, पञ्चम, एकादश, पचदश (१३३-१६१), सप्तदश और अन्तिम अष्टादश सर्गमें प्रवाहित है। इन सर्गोंमें विरक्तिके कारणोंके मिलने पर ससार, शरीर, यौवन, जीवन और विषयोकी अनित्यता, मुनिदर्शन, दीक्षा, तपस्या, दिव्य देशना और मुक्ति की प्राप्ति वर्णित है। उदाहरण के लिए १, ७८, ४, २५; ११, १७, १५, १३५, १७, ६९ इत्यादि पद्य द्रष्टव्य हैं।

शृङ्गाररस—च० च० के सप्तम सर्गके बयासीवें पद्यसे लेकर दशम सर्गके अन्त तक शृङ्गार रस प्रवाहित है। सप्तम सर्गके उक्त अशमें दिग्विजयके उपरान्त सम्राट् अजितसेन अपनी राजधानीमें प्रवेश करते हैं। इन्हें देखने वाली नायिकाओंकी विविध चेष्टाएँ शृङ्गार रस (पूर्वराग) को अभिव्यक्त करती हैं। अष्टम सर्गमें वसन्त ऋतु, नवममें उपवन यात्रा, उपवन विहार एव जलक्रीडा तथा दशममें सायकाल, अन्धकार, चन्द्रोदय और रात्रिक्रीडा (सुरत) वर्णित हैं, जिनमें संभोग और विप्रलम्भ दोनोंका आस्वाद मिलता है। अन्य सर्गोंमें भी न्यूनाधिक मात्रामें शृङ्गार रस विद्यमान है। ७, ८३, ८, ३९, ९, २४, १०, ६० इत्यादि पद्य शृङ्गार रसके उदाहरणके रूपमें द्रष्टव्य हैं।

पति-पत्नीके हृदयमें विद्यमान रति (स्थायीभाव) यदि एक-दूसरेके प्रति हो तो वह विभाव, अनुभाव और सचारी भावके सयोगसे शृङ्गार रसके रूपमें परिणत हो जाती है। यदि यही रति देव, मुनि या राजा आदिके विषयमें हो तो वह 'भाव' रूपमें परिणत होती है। इसके उदाहरण इस प्रकार हैं। देव विषया रति—१७, ३२; मुनिविषया रति ११, ४२, राजविषया रति–१२-६८।

वीररस—ग्यारहवें सर्ग (८५-९२) में तथा पन्द्रहवें (१-१३१) में वीररस है। ग्यारहवें सर्गके अन्तमें राजा पद्मनाभके द्वारा अदम्य उत्साह पूर्वक, राजधानीमें प्रलय मचाने वाले एक जगली हाथीको वशमें लानेका वर्णन है और पन्द्रहवें सर्गके इसी हाथीको अपना बतलाकर अपमानजनक व्यवहार करनेवाले राजा पृथिवीपालके साथ पद्मनाभके युद्धका वर्णन है, जो वीररससे आप्लावित हैं। १५, ३६, १५, ४८, १५, ५८, १५, ९९ इत्यादि पद्य इसके उदाहरणके लिए अवलोकनीय हैं।

रौद्ररस—च० च० के छठे सर्गमें कुख्यात चण्डरुचि नामक असुर पिछले वैरके कारण राजकुमार अजितसेनका अपहरण करके उसकी हत्याका दुष्प्रयास करता है। राजा महेन्द्र राजा जयवर्माकी अनुपम सुन्दरी कन्या शशिप्रभाको बलात् छीननेके लिए युद्ध छेड देता है, और इसके पराजित होने पर धरणीध्वज भी शशिप्रभाको पानेके उद्देश्यसे युद्धके मैदानमें उतर आता है, पर जयवर्मा महेन्द्रकी भाँति इसके भी छक्के छुडा देता है। इन तीनो प्रसगोमें रौद्ररसका परिपोष हुआ है।

बीभत्सरस—च० च० के (१५, ५३) आदि कतिपय पद्योंमें बीभत्स रस अभिव्यक्त है, जिनमें मास और रक्तासवके सेवनसे उन्मत्त डाकनियोका धडोंके साथ नाचना वर्णित है।

करुणरस—च० च० (५, ५५-७१) में करुण रस[1] प्रवाहित है, जहाँ अपहृत पुत्रके शोकमें उसके पिता अजितजयका विलाप वर्णित है। इसके उदाहरणके लिए ५, ५८, ५, ६२ आदि पद्य द्रष्टव्य हैं।

---

१. मृत्युके उपरान्त करुण रसकी अभिव्यक्ति होती है। यहाँ अजितसेनकी मृत्यु नही हुई, अनिष्टकी प्राप्ति हुई—इसी दृष्टिसे करुणरस अभिव्यक्त हुआ है। 'इष्टनाशादनिष्टाप्तेः करुणाख्यो रसो भवेत्' (सा० द० ३, २२२)। काव्यानु० (२, पृ० ९१) और अलङ्कारचि० (५, १०१) से भी इसका समर्थन होता है, अतः चं० च० के उक्त सन्दर्भमें करुणरस मान्य है।

अद्भुतरस—च० च० (५, ७२-७३) में अद्भुत रसका आस्वाद होता है, जहाँ आकाश मार्गसे उतरते हुए दीप्ति सम्पन्न एक चारण मुनिको अकस्मात् देखते ही अजितंजय और उसकी सभाका विस्मित होना वर्णित है।

वात्सल्यरस—च० च० (१७, ४३-४८) में वात्सल्य रसका भी परिपोष हुआ है, जहाँ शिशु चन्द्रप्रभकी बाललीलाको देख कर उनके माता-पिता आनन्दका अनुभव करते हैं। भरत मुनिकी भाँति विश्वनाथ कविराज (सा द ३, २५१) ने इसे स्वतन्त्र रस माना है। यदि यह रस वीरनन्दीको मान्य न रहा हो, तो उक्त सन्दर्भमें पुत्र विषयक रतिभाव स्वीकार्य होना चाहिए। भक्तिरस, लौल्यरस और स्नेहरस आदि सर्वमान्य नहीं हैं, अत च० च० में इन्हें खोज निकालना निष्फल होगा।

इस तरह च० च० में अङ्गाङ्गीभावसे प्राय सभी रस प्रवाहित हुए हैं।

[११] चं० च० मे अलङ्कार योजना

च० च० में जिन अलङ्कारोका सन्निवेश है, उनका एक-एक उदाहरण यहाँ दिया जा रहा है।

(क) शब्दालङ्कार

छेकानुप्रास—दिव्यान् दिव्याकारकान्तासहायो भोगान् भोगी निर्विशन्निर्विशङ्क ।
राज्यं राज्यभ्रंशिताकारलोकश्चक्रे चक्री पूर्वपुण्योदयेन ॥७,९४

यहाँ व्यञ्जनोंकी एक-एक बार आवृत्ति होनेसे छेकानुप्रास है। इसमें स्वरसाम्य नहीं देखा जाता।

वृत्त्यनुप्रास—इत्थ नारी क्षणरुचिरुचः क्षोभयन्नीतिरक्ष
क्षीणक्षोभ क्षपितनिखिलारातिपक्षोऽम्बुजाक्ष ।
क्षोणीनाथो विनिहितगृहामङ्गलद्रव्यशोभ
प्रापत्तेजोविजिततपनो मन्दिरद्वारदेशम् ॥७,९१

यहाँ व्यञ्जनोकी अनेक बार आवृत्ति होनेसे वृत्त्यनुप्रास, और आनुनासिक वर्णोंकी आवृत्तिके कारण श्रुत्यनुप्रास भी है। इनके अतिरिक्त लुप्तोपमा (अर्थालङ्कार) भी विद्यमान है।

श्रुत्यनुप्रास—नयेन नृणां विभवेन नाकिनां गतस्पृहाणां विनयेन योगिनाम् ।
महीभुजामेष निजेन तेजसा तनोति चित्ते सततं चमत्कृतिम् ॥११,५२

आनुनासिक वर्णोंकी आवृत्ति होनेसे यहाँ श्रुत्यनुप्रास है, और उत्तरार्धमें 'त' की अनेक बार आवृत्ति होनेसे वृत्त्यनुप्रास भी। इनके अतिरिक्त दीपक (अर्थालङ्कार) भी है।

अन्त्यानुप्रास—मानोन्मादव्यपनयचतुराश्चैत्रारम्भे विदधति मधुराः ।
यूनामस्मिन् घटितयुवतयो दूतीकृत्यं परभृततयः ॥१४,३०

पूर्वार्धके चरणोंके अन्तमें 'रा' और उत्तरार्धके दोनो चरणोके अन्तमें 'तय' की आवृत्ति होनेसे यहाँ अन्त्यानुप्रास है।

अथवा

सहसैव समुद्भिद्य सुस्रुवे करिणा कटैः ।
भेजे कोऽपि महोत्साहो रोमाञ्चकवचैर्भटैः ॥१५,२९

पूर्वार्ध और उत्तरार्धके अन्तमें 'टै' की आवृत्ति होनेसे यहाँ अन्त्यानुप्रास है।

पादयमक—भूरिभैरवधीराया रुष्टे प्रतिगजश्रुते ।
भूरिभैरवधीरायाः समदानै स्वपाणिना ॥१५,१०

यहाँ प्रथम और तृतीय चरणोंमें अयुतावृत्तिमूलक पादयमक है। यहाँ विसर्गकृत दोष नही है, जैसा कि वाग्भटा० (१,२०) में वतलाया गया है।

पादयमक—शस्त्रप्रहारैर्गुरुभि. समुदा येन योजितः।
तेनामर्षात् पुन. सोऽस्त्रसमुदायेन योजितः ॥१५,४५

यहाँ द्वितीय तथा चतुर्थ चरण में अयुतावृत्तिमूलक पादयमक है।

पदयमक—सेना सेना यती बद्धराजिराजिसमुत्सुका।
चक्रे चक्रेपुखड्गास्त्रसारा सारातिसाध्वसम् ॥१५,२०

यहाँ सयुतावृत्तिमूलक प्रतिपादादि पदयमक है।

पदयमक—वणिक्पथस्तूपितरत्नसंचयं समस्ति तस्मिन्नथ रत्नसंचयम्।
पुरं यदालानितमत्तवारणैर्विभाति हर्म्यैश्च समत्तवारणैः ॥१,२१

यहाँ अयुतावृत्तिमूलक प्रत्यर्धभागभिन्न पादान्त्य पदयमक है।

पदयमक—यथा पलाशास्तत्रेश शोभन्ते नवकिंशुकैः।
तथैव जम्बूतरवो विराजन्ते न किंशुकैः ॥२,१७

यहाँ अयुतावृत्तिमूलक पद्यार्धान्त्य पदयमक है।

पदयमक—भयात् पलायमानस्य कामस्य गलित' करात्।
बाणावलिरिवाभाति बाणावलिरितस्तत ॥२,२०

यहाँ अयुतावृत्तिमूलक तृतीय-चतुर्थ पादादिगत पदयमक है।

पदयमक—तत्र शासति मही जनतायास्त्रातरि क्रमसरोजनतायाः।
मोदयन्मधुरभून्मधुपानां सततिं कृतगलन्मधुपानाम् ॥८,१

यहाँ अयुतावृत्तिमूलक प्रथम-द्वितीय-तृतीय-चतुर्थपादान्तगत पदयमक है। चं० च० के आठवें, चौदहवें तथा पन्द्रहवें सर्गमें ऐसे ही उदाहरण और भी हैं।

वर्णयमक—सपौर ससुहृद्वर्ग सकलत्र सबान्धव.।
सतनूज. ससामन्तः स चचाल ससैनिकः ॥२,३०

यहाँ अयुतावृत्तिमूलक आद्यन्त वर्णयमक है।

एकाक्षरचित्र—रैरोरा रैररैरेरी रोरो रोरुररेररि—
रुरूरूरुरुरूरोरारारीरैरुरोररम् ॥१५,३९

आदिसे अन्त तक केवल 'र' व्यञ्जनके होनेसे यहाँ एक व्यञ्जनचित्र या एकाक्षरचित्र है।

द्व्यक्षरचित्र—धीरधीरारिरुधिरैरुरुधाराधरैररम्।
धरा धराधराधारा रुरुधेऽधोऽधराधरा ॥१५,४९

आदिसे अन्त तक 'ध' और 'र'—इन दो व्यञ्जनोके रहनेसे यहाँ द्विव्यञ्जनचित्र या द्व्यक्षर चित्र है।

काकुवक्रोक्ति—विशदामसमुज्झितान्वया नयसारामविहीनसौष्ठवाम्।
गिरमेष कदाचिदीदृशीमभिदध्यादथवा बृहस्पति ॥१२,१००

'अथवा बृहस्पति भी कभी ऐसे वचन कह सकते हैं ?'—इस तरह कण्ठध्वनिके परिवर्तनके साथ अर्थ करनेपर यहाँ 'काकुवक्रोक्ति' अलङ्कार घटित होता है।

(ख) अर्थालङ्कार

च० च० में जिन अर्थालङ्कारोंका प्रचुरमात्रामें सन्निवेश है, उनके नाम इस प्रकार हैं—

पूर्णोपमा (१,३१), मालोपमा (१६,१७), लुप्तोपमा (११,१५), उपमेयोपमा (१०,२७), प्रतीप (३,३) रूपक (१५,५३), परम्परितरूपक (१,१०), परिणाम (५,६०), भ्रान्तिमान् (१,२६,१,२७,६,९,९,६,९,३०;१५.५,१४,३२,१४,३८ आदि), अपह्नुति (५,४३), कैतवापह्नुति (१४,६४), उत्प्रेक्षा (१,१३), अतिशय (१६,३६), अन्तदीपक (१,४५), तुल्ययोगिता (१५,१३५), प्रतिवस्तूपमा (१,६३), दृष्टान्त (११,२१), निदर्शना (४,२४), व्यतिरेक (१,४४), सहोक्ति (३,६६), समासोक्ति (१,१६), परिकर (१७,६२), श्लेष (२,१४२), अप्रस्तुतप्रशंसा (१५,१३४), पर्यायोक्त (१६,२६), अन्य प्रकारका पर्यायोक्त (९,२४), विरोधाभास (१,३७), विभावना (१,५९), अन्य प्रकारकी विभावना (६, ६६), विशेषोक्ति (४, ६), विषम (१५, १३०), अधिक (२, २४), अन्योन्य (१४, १४), कारणमाला (४,३७, ४, ३८), एकावली (१, ३५) परिवृत्ति (९, ४३), परिसंख्या (२, १३८), समुच्चय (३, ४९), अर्थापत्ति (१, ७३), काव्यलिङ्ग (४, १९), अर्थान्तरन्यास (४, ११), तद्गुण (१४, २९), लोकोक्ति (२, २६), स्वभावोक्ति (१४, ६३), उदात्त (२, १२८), अनुमान (९, १३), रसवत् (१५, ८), प्रेय (१५, १४४), ऊर्जस्वित् (८, २०), समाहित (८, ४५), भावोदय (८, २१), संसृष्टि (१, १०) और सङ्कर[1] (८, ४३)।

[१२] चं० च० में छन्द योजना

च० च० में एक मात्रिक (औपच्छन्दसिक) और तीस वर्णिक छन्द प्रयुक्त हुए हैं, जिनके नाम निम्नलिखित हैं—

(१) अतिरुचिरा, (२) अनुष्टुप्, (३) इन्द्रवज्रा, (४) उद्गता, (५) उपजाति, (६) उपेन्द्रवज्रा, (७) औपच्छन्दसिक, (८) क्षमा, (९) जलधरमाला, (१०) जलोद्धतगति, (११) द्रुतविलम्बित, (१२) नर्कुटक, (१३) पुष्पिताग्रा, (१४) पृथ्वी, (१५) प्रमिताक्षरा, (१६) प्रहर्षिणी, (१७) भ्रमरविलसित, (१८) मन्दाक्रान्ता, (१९) मालिनी, (२०) रथोद्धता, (२१) वंशस्थ, (२२) वंशपत्रपतित, (२३) वसन्ततिलका, (२४) वसन्तमालिका, (२५) शार्दूलविक्रीडित, (२६) शालिनी, (२७) शिखरिणी, (२८) सुन्दरी, (२९) स्रग्धरा, (३०) स्वागता, (३१) हरिणी[2]।

[१३] चं० च० की समीक्षा

वीरनन्दीको चन्द्रप्रभका जो संक्षिप्त जीवनवृत्त प्राचीन स्रोतोंसे समुपलब्ध हुआ, उसे उन्होंने अपने च० च० में खूब ही पल्लवित किया है। चन्द्रप्रभके जीवन वृत्तको लेकर बनायी गयीं जितनी भी दि०-श्वे० कृतियाँ सम्प्रति उपलब्ध हैं, उनमें वीरनन्दीकी प्रस्तुत कृति ही सर्वाङ्गपूर्ण है। इसकी तुलनामें उ० पु० गत च० च० भी संक्षिप्त सा प्रतीत होता है, जो उपलब्ध अन्य सभी चन्द्रप्रभचरितोंसे, जिनमें हेमचन्द्रका च० च० भी शामिल है, विस्तृत है। अतः केवल कथानकके आधार पर ही विचार किया जाये तो भी यह मानना पड़ेगा कि वीरनन्दीको सबसे अधिक सफलता प्राप्त हुई है। सरसताकी दृष्टिसे तो इनकी कृतिका महत्त्व और भी अधिक बढ़ गया है।

---

१ सभी अलङ्कारोंके लक्षण घटानेमें प्रायः कुवलयानन्दका उपयोग किया गया है। २ सभी छन्दोंके लक्षण वृत्तरत्नाकरके अनुसार घटाये गये हैं।

वीरनन्दी का च० च० अपनी विशेषताओंके कारण सस्कृत महाकाव्योमें विशिष्ट स्थान रखता है। कोमल पदावली, अर्थ सौष्ठव, विस्मयजनक कल्पनाएँ, अद्‌भुत घटनाएँ, विशिष्ट संवाद, वैदर्भी रीति, ओज, प्रसाद तथा माधुर्य गुण, विविध छन्दों और अलङ्कारोंकी योजना, रसका अविच्छिन्न प्रवाह, प्राञ्जल सस्कृत, महाकाव्योचित प्रासगिक वर्णन और मानवोचित शिक्षा आदिकी दृष्टिसे प्रस्तुत कृति अत्यन्त श्लाघ्य है।

प्रस्तुत कृतिमें वीरनन्दीकी साहित्यिक, दार्शनिक और सैद्धान्तिक विद्वत्ताकी त्रिवेणी प्रवाहित है। साहित्यिक वेणी (धारा) अथसे इति तक अविच्छिन्न गतिसे वही है। दार्शनिक धाराका सङ्गम दूसरे सर्गमें हुआ है, और सैद्धान्तिक धारा सरस्वतीकी भाँति कही दृश्य तो कही अदृश्य होकर भी अन्तिम सर्गमें विशिष्ट रूप धारण करती है। पर कविकी अप्रतिम प्रतिभाने साहित्यिक धाराको कही पर भी क्षीण नही होने दिया। फलत दार्शनिक और सैद्धान्तिक धाराओमें भी पूर्ण सरसता अनुस्यूत है।

अश्वघोष और कालिदासकी भाँति वीरनन्दीको अर्थ चित्रसे अनुरक्ति है। यो इन तीनो महाकवियो-की कृतियोमें शब्दचित्रके भी दर्शन होते हैं, पर भारवि और माघकी कृतियोकी भाँति नही, जिनमें शब्द चित्र आवश्यकताकी सीमासे बाहर चले गये हैं।

बुद्धचरित, सौन्दरनन्द, रघुवश और चन्द्रप्रभचरित इन चारोकी रचना शैलीमें पर्याप्त साम्य है, फिर भी इतना अवश्य है कि वीरनन्दीको कालिदासकी अपेक्षा अश्वघोषने अधिक मात्रामें प्रभावित किया है। जान पडता है कि च० च० का नामकरण बु० च० से और सर्ग सख्या सौ० न० की सर्ग सख्यासे प्रभा-वित है। बु० च० में वर्णित भ० बुद्धके जन्मसे निर्वाण तकके जीवन वृत्तकी भाँति च० च० में चन्द्रप्रभका जीवन वृत्त वर्णित है। हाँ, चन्द्रप्रभचरितमें वर्णित चन्द्रप्रभके पिछले जन्मोका वृत्त उसकी अपनी विशेषता है, जो जैनेतर काव्योमें नही है। अश्वघोषकी कृतियोंमें बौद्ध धर्मके अनुसार जिस तरह मानव जन्म के लाभ, सासारिक सुखकी असारता बतलायी गयी है, दार्शनिक चर्चा की गयो है और पारिभाषिक शब्दोका प्रयोग किया गया है, उसी तरह वीरनन्दीकी कृति च० च० में जैन धर्मके अनुसार। अथ च अश्वघोषकी भाँति वीरनन्दीको भी शान्तरस अभिप्रेत है। इसी आधारपर जान पडता है कि वीरनन्दी अश्वघोषसे से अधिक प्रभावित रहे।

च० च० में वर्णित चन्द्रप्रभका जीवनवृत्त अतीत और वर्तमानकी दृष्टिसे दो भागोमें विभक्त किया जा सकता है। प्रारम्भके पन्द्रह सर्गोंमें अतीतका और अन्तिम तीन सर्गोंमें वर्तमानका वर्णन है। इस लिए अतीतके वर्णनसे वर्तमानका वर्णन कुछ दब-सा गया है। चन्द्रप्रभकी प्रधान पत्नीका नाम कमलप्रभा है। नायिका होनेके नाते इनका विस्तृत वर्णन होना चाहिए था, पर केवल एक (१७, ६०) पद्यमें इनके नाम-मात्रका ही उल्लेख किया गया है। इसी तरह इनके पुत्र वरचन्द्रकी भी केवल एक (१७, ७४) पद्यमें ही नाममात्रकी चर्चा की गयी है। दानोंके प्रति बरती गयी यह उपेक्षा खटकने वाली है। दूसरे सर्गमें की गयी दार्शनिक चर्चा अधिक लम्बी है। इसके कारण कथाका प्रवाह कुछ अवरुद्ध-सा हो गया है। इतना होते हुए भी कवित्वकी दृष्टिसे प्रस्तुत महाकाव्य प्रशंसनीय है। क्लिष्टता और दूरान्वयके न होनेसे इसके पद्य पढ़ते ही समझमें आ जाते हैं। इसकी सरलता रघुवंश और बुद्धचरितसे भी कही अधिक है।

[१४] ग्रन्थकार-परिचय

च० च० के अन्तमें मुद्रित ग्रन्थकारकी प्रशस्ति (श्लो० १-४) से उनका निम्नलिखित परिचय प्राप्त होता है—

(क) संघ और गण—ग्रन्थकार वीरनन्दी 'नन्दी' सघके 'देशीय' गणमें हुए है। मूल सघ अर्थात् दि० सम्प्रदायकी चार शाखाएँ है—(१) नन्दी, (२) सिंह, (३) सेन और (४) देव। इन शाखाओकी प्रतिशाखाएँ गण, गच्छ आदि नामोसे प्रसिद्ध हैं। नन्दी सघमे जो कई गण, गच्छ आदि हैं, देशीय गण उन्ही में से एक है।

(ख) गुरुपरम्परा—वीरनन्दीके गुरुका नाम अभयनन्दी, दादा गुरुका नाम 'विबुध' गुणनन्दी और परदादा गुरुका नाम गुणनन्दी था।

वीरनन्दी असाधारण विद्वान् थे, जैसा कि उनकी कृतिके अध्ययन एव अन्य ग्रन्थोंके उल्लेखोंसे ज्ञात होता है।

विद्वत्ता तथा प्रभाव

(क) विद्वत्ता—च० च० के क्रियापदोंके देखनेसे स्पष्ट है कि वीरनन्दोका व्याकरणशास्त्रपर पूर्ण अधिकार रहा। द्वितीय सर्ग (श्लो० ४४-११०) यह सिद्ध करता है कि वीरनन्दी जैन व जैनेतरदर्शनोंके अधिकारी विद्वान् थे। तत्त्वोपप्लव दर्शनकी समीक्षाके सन्दर्भमें उन्होंने जो युक्तियाँ दी हैं, वे अष्टसहस्री आदि विशिष्ट दार्शनिक ग्रन्थोमें भी दृष्टिगोचर नही होती। अन्तिम सर्ग वीरनन्दीकी सिद्धान्त मर्मज्ञताको व्यक्त करता है। च० च० के तत्तत्प्रसङ्गोंमें चर्चित राजनीति, गजवशीकरण और शकुन-अपशकुन आदि विषय उनकी बहुज्ञताको प्रमाणित करनेमें सक्षम हैं।

(ख) प्रभाव—अभयनन्दोके शिष्य होनेके नाते वीरनन्दी नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्तीके सतीर्थ रहे, जिन्होने शौरसेनी प्राकृतमें गोम्मटसार (जीवकाण्ड, कर्मकाण्ड), त्रिलोकसार, लब्धिसार और क्षपणासार आदि विशिष्ट ग्रन्थोकी रचना की थी, फिर भी उन्होने कर्मकाण्डमें अपनेको वीरनन्दीका 'वच्छो'[1] (वत्स) लिखा है, और एकाधिक बार उनका नामोल्लेख[2] किया है। वीरनन्दीके नामके आगे 'णाह' (नाथ) और चंद (चन्द्र) का प्रयोग और मङ्गलाचरणके प्रसङ्गमें उनका बार-बार स्मरण किया जाना उनके प्रभावका द्योतक है। वादिराज सूरिने अपने पार्श्वनाथचरितमें नामोल्लेखपूर्वक उनकी कृति—च० च०की सराहना[3] की है। कविवर दामोदरने अपने चन्द्रप्रभचरितमें उन्हें 'कवीश' बतलाया है और वन्दन[4] भी किया है। पण्डित गोविन्दने अपने पुरुषार्थानुशासनमें उनका उल्लेख धनञ्जय, असग और हरिचन्द्रसे भी पहले किया है और उनके काव्यकी प्रशसा भी[5]। पण्डित प्रवर आशाधरने उनके च० च० के एक (४, ३८) पद्यको उद्धृत करके अपने सागारधर्मामृतके न्यायोपात्त—इत्यादि (१, ११) श्लोकमें चर्चित कृतज्ञता गुणका समर्थन किया है, और इष्टोपदेशकी अपनी टीकामें भी च० च० का एक पद्य उद्धृत किया है।

जीव० च० तथा धर्मश०के कर्ता महाकवि हरिचन्द्रने धर्मशर्माभ्युदयकी रूपरेखा च० च० को सामने रखकर बनायी। च० च० और धर्मश० की मङ्गलाचरणपद्धति, पुराणोंके आश्रयकी सूचना, दार्शनिक चर्चा और धर्मदेशना प्राय एक-सी है। धर्मदेशनाके कतिपय पद्योंके चरण-के-चरण मिलते हैं[6]। यदि अनुक्रम और भावकी समानतापर ध्यान दिया जाये तो लगभग आधी धर्मदेशना दोनोंकी एक जैसी ही सिद्ध होगी। अतएव यह स्पष्ट है कि समकालीन और उत्तरकालीन अनेक विद्वानोंपर वीरनन्दीकी विद्वत्ताका महान् प्रभाव रहा है।

---

१ जस्स पायपसायेण णतससारजलहिमुत्तिण्णो। वीरिंदणदिवच्छो णमामि त अभयणदिगुरुं ॥गा० ४३६॥ २ णमिऊण अभयणदिं सुदसागरपारगिंदणदिगुरु। वरवीरणदिणाह पयडीण पच्चय वोच्छ ॥गा० ७८५॥ णमह गुणरयणभूसणसिद्धतामियमहद्धिभवभाव। वरवीरणदिचदं णिम्मलगुणमिंदणदिगुरुं ॥गा० ८९६॥ ३ चन्द्रप्रभाभिसबद्धा रसपुष्टा मन प्रियम्। कुमुद्वतीव नो धत्ते भारती वीरनन्दिन ॥१. ३०॥ ४ चन्द्रप्रभजिनेशस्य चरित येन वर्णितम्। त वीरनन्दिनं वन्दे कवीश ज्ञानलब्धये ॥१. १९॥ ५ 'श्रीवीरनन्दिदेवो धनञ्जयासगौ हरिश्चन्द्र। व्यधुरित्याद्या कवय काव्यानि सदुक्तियुक्तीनि ॥—'जैनग्रन्थप्रशस्तिसग्रह' पृ० १२७ से उद्धृत। ६ तुलना कीजिए—च० च० १८, २ तथा धर्मश० २१, ८, च० च० १८, ७८ तथा धर्मश० २१, ९०, च० च० १८, ८८ तथा धर्मश० २१, ९९ इत्यादि।

प्रशस्त विचारधारा

वीरनन्दी साधु थे, अत उनका मन विरागतासे प्रभावित रहा। इसका आभास उनके च च० में ही यत्र-तत्र उपलभ्य है। लगभग आठ स्थलोपर उन्होने विरक्तिके विचारो एव नरेशोके दीक्षित होनेका वर्णन किया है। प्राय ऐसे ही प्रसङ्गोमें उनकी प्रशस्त विचारधाराकी झलक मिलती है, जो इस प्रकार है—

प्रत्येक जन्तुका जीवन मरणसे और यौवन बुढ़ापेसे आक्रान्त है—इसे देखता हुआ भी जड मनुष्य अपने हितकी ओर ध्यान नही देता, यह खेद और आश्चर्यकी बात है ॥१, ६९॥ यह मनुष्य जन्म अशुभ-कर्मोदयकी मन्दतासे किसी तरह काकतालीय न्यायसे प्राप्त हुआ है। अत इसे पाकर चतुर्गतिपरिभ्रमणके वृत्तान्तको समझनेवाले व्यक्तिको आत्महितके विषयमें प्रमाद करना उचित नही है ॥४, २६॥ अनिष्ट सयोग और इष्टवियोग समानरूपसे सभीके साथ लगे हुए हैं—इस बातको सोचकर बुद्धिमान् मानव विषाद करके अपने मनको खिन्न नही करता ॥५, ८७॥ बुद्धिमान् मानव खूब आगा-पीछा सोचकर कार्य करता है या फिर उसका आरम्भ ही नही करता, क्योकि सहसा कार्य करना पशुओका धर्म है, वह मानवमें कैसे हो सकता है? ॥१२, १०२॥ पुत्र वह है, जो अपने कुलका विस्तार करे, मित्र वह है, जो विपत्तिमें साथ दे, राजा वह है, जो प्रजाकी रक्षा करे और कवि वह है, जिसके वचन नीरस न हो ॥१२, १०८॥ प्रेमसे वढकर कोई वन्धन नही है, विषयसे वढकर कोई विष नही है, क्रोधसे वढकर कोई शत्रु नही है और जन्मसे वढकर कोई दु ख नही है ॥१५, १४३॥ ऐसे विचार च० च० में यत्र-तत्र विखरे पडे हैं। विस्तारका भय न होता तो उन सभीका सकलन यहाँ प्रस्तुत किया जाता।

अन्य वीरनन्दी—प्रस्तुत वीरनन्दीके अतिरिक्त अन्य वीरनन्दी भी हुए हैं। (१) आचारसारके प्रणेता, जो मेघचन्द्र त्रैविद्यके शिष्य थे, (२) महेन्द्रकीर्तिके शिष्य एव कलधौतनन्दीके प्रशिष्य। (३) 'सिद्धान्तचक्रवर्ती' उपाधिसे विभूषित और (४) पण्डित महेन्द्रके शिष्य।

वीरनन्दीका समय

च० च० के रचयिता—वीरनन्दीने अपनी इस कृतिमें कही पर भी अपने समयका उल्लेख नही किया, पर अन्य आचार्योंके, जिन्होने अपनी कृतियोमें उनके नामका उल्लेख किया है, समयके आधारपर उनका समय सुनिश्चित है। नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्तीने अपने कर्मकाण्डमें उनके नामका तीन वार उल्लेख किया है जैसा कि पीछे लिखा जा चुका है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि वे नेमिचन्द्र सि० च० के सम-कालीन हैं। प्रेमीजीने नेमिचन्द्र सि० स० का समय विक्रमकी ग्यारहवी शतीका पूर्वार्द्ध सिद्ध किया है, अत च० च० के कर्ताका भी यही समय सिद्ध होता है[१]। बलदेव उपाध्यायने च० च० के कर्ता वीरनन्दीका समय १३०० ई० लिखा है[२], और डॉ० वहादुरचन्दने भी लगभग यही समय बतलाया है[३], जो भ्रम-मूलक है।

वादिराज सूरिने अपने पार्श्वनाथचरितमें वीरनन्दी और उनके च० च० की प्रशसा[४] की है, जिसकी समाप्ति शक स० ९४७ (वि० स० १०८२) में समाप्त[५] हुई थी। अत वीरनन्दी इनसे पूर्ववर्ती ही ठहरते हैं। ऐसी स्थितिमें वीरनन्दीका सुनिश्चित समय विक्रमकी ग्यारहवी शतीका पूर्वार्ध ही सिद्ध होता है।

---

१. इससे उक्त दोनो ग्रन्थोंके कर्ता नेमिचन्द्र सि० च० और उनके सहयोगियो—वीरनन्दी, इन्द्रनन्दी, कनकनन्दी—का समय भी विक्रमकी ग्यारहवी सदीका पूर्वार्ध ठहरता है।—जैन साहित्य और इतिहास पृ० २७४। २. वीरनन्दी (१३०० ई०)—चन्द्रप्रभचरित।—सस्कृत साहित्यका इतिहास पृ० २७३। ३ सस्कृत साहित्यका इतिहास (१३वी शताब्दीके महाकाव्य) पृ० ८६८। ४ 'चन्द्रप्रभाभिसबद्धा रसपुष्टा मन· प्रियम्। कुमुद्वतीव नो धत्ते भारती वीरनन्दिन ॥ पार्श्वनाथच० १, ३०॥ ५ 'शाकाब्दे नगवार्धिरन्ध्र-गणने सवत्सरे क्रोधने, मासे कार्तिकनाम्नि वुद्धिमहिते शुद्धे तृतीयादिने। सिंहे पाति जयादिके वसुमती जैनी कथेय मया, निष्पत्ति गमिता सती भवतु च कल्याणनिष्पत्तये ॥पार्श्वनाथच० प्र० प० ५॥

[१५] संस्कृत व्याख्या

नाम—प्रस्तुत ग्रन्थके साथ मुद्रित सस्कृत व्याख्याका सम्पादन जिन आदर्श ह० लि० प्रतियोंके आधारपर किया गया है, उनके पुष्पिकावाक्योंके अनुसार यह 'व्याख्या' नही 'व्याख्यान' है और इसका नाम 'विद्वन्मनोवल्लभ' है, पर 'श' प्रति (सर्ग ११) के पुष्पिकावाक्यको ध्यानमें रखकर सौन्दर्यकी दृष्टिसे च० च० के ऊपर व्याख्याका नाम 'विद्वन्मनोवल्लभा' प्रकाशित किया गया है, और अन्दर 'विद्वन्मनोवल्लभ', यद्यपि समस्यन्त पदके कारण इतना सूक्ष्म अन्तर बादमें ज्ञात हो पाता है।

विशेषता—प्रस्तुत व्याख्या साधारण-सी ही है। विज्ञ पाठकोंको इसमें स्वय व्याख्याकारकी कुछ अशुद्धियाँ दृष्टिगोचर होंगी। अलङ्कारोंके निर्देश भी यत्र-तत्र भ्रान्तिपूर्ण हैं। पर इसकी सबसे बडी विशेषता शुद्धपाठोंकी बहुलता है, जिसके कारण मूल ग्रन्थके सम्पादनमें बडी सहायता मिली है। मूल ग्रन्थके पदोंको अन्वयके अनुसार रखकर उनकी व्याख्या की गयी है। इसके साहाय्यसे दार्शनिक अशको छोडकर प्राय पूरे मूलग्रन्थका अर्थ खुल जाता है। व्याकरण और कोष आदि ग्रन्थोंके इसमें जो उद्धरण दिये गये हैं वे महत्त्व-पूर्ण हैं। इसकी तुलना अर्हद्दासके मुनिसुव्रतकाव्यकी सस्कृत टीका-'सुखबोधिनी'से की जा सकती है।

व्याख्याकारका परिचय—इस व्याख्याके रचयिताका नाम 'मुनिचन्द्र' है। इन्होंने अपनेको 'विद्यार्थी' लिखा है। 'कन्नडप्रान्तीय-ताडपत्र-ग्रन्थ सूची' (पृ० १२३) के अनुसार ये अलगंचपुरीके निवासी द्विजोत्तम देवचन्द्रके पुत्र थे।

व्याख्याकारका समय

प्रस्तुत व्याख्यामें अनेकार्थध्वनिमंजरी, अनेकार्थसंग्रह, अभिधानचिन्तामणि, अमरकोष, नाममाला, नानार्थकोष (गद्यात्मक), नीतिवाक्यामृत, वाग्भटालङ्कार, विश्वप्रकाश, विश्वलोचन, वैजयन्ती, शाकटायन और समवसरण स्तोत्र—इत्यादि ग्रन्थोंके अवतरण हैं। इनमें अनेकार्थ सग्रह और अभिधानचिन्तामणिके रचयिता आ० हेमचन्द्र (वि० १२ वीं शती) हैं, अत व्याख्याकार इनके उत्तरवर्ती सिद्ध होते हैं। च० च० (१८,१, पृ० ४२९) की व्याख्यामें 'गभीर मधुर ' इत्यादि पद्य उद्धृत है, जो अज्ञातसमय विष्णु-सेनके समवसरण-स्तोत्र (प० २९) और वि० १३ वी शतीके आचारसार (४,९५) में पाया जाता है। यदि यह पद्य आचारसारका ही सिद्ध हो जाये तो व्याख्याकार इनके बादके सिद्ध होते हैं। भा० ज्ञानपीठसे प्रकाशित 'कन्नड प्रान्तीय-ताडपत्र-ग्रन्थसूची (पृ० १२३) के अनुसार व्याख्याकारका समय 'प्रमोदूत' (प्रमोद) सवत्सर माघ शु० प्रतिपद् रोहिणी नक्षत्र है, जिसे प० कमलाकान्तजी शुक्ल, प्रा० ज्योतिष विभाग, वा० स० वि० वि०, वाराणसीने वि० स० १५६० (शक स० १४२५) माघ शुक्ला प्रतिपद् शनिवार प्रमाणित किया है।[१]

---

१ प्रस्तुत 'प्रमोदूत' (प्रमोद) सवत्सर वि० स० १५६० (शक स० १४२५) माघ शुक्ला प्रतिपद् शनिवार घटी ५३।४८ श्रवण नक्षत्रमें सिद्ध होता है। जिसका नियामक ग्रहलाघवीय अहर्गण १८९० तथा मध्यम सूर्य ९।१८।४२।४७ त्रिफल चन्द्रमा ९।१९।४६ है।

विशेष—माघ शुक्ला प्रतिपद्को रोहिणी नक्षत्रका होना सभव नहीं है, जैसा कि सूर्यसिद्धान्त मान अध्याय श्लोक १६ से ज्ञात होता है—

'कार्तिकादिषु सयोगे कृत्तिकादिद्वय द्वयम्।
अन्त्योपान्त्यौ पञ्चमश्च त्रिधा मासत्रय स्मृतम्॥'

इस आधारपर माघ शुक्ला पूर्णिमाको श्लेषा या मघाका होना संभव है। इससे पूर्व पन्द्रहवें दिन प्रतिपद्को श्रवण या धनिष्ठा नक्षत्र हो सकता है, न कि रोहिणी।

[१६] संस्कृत पञ्जिका

प्रस्तुत ग्रन्थके प्रथम परिशिष्टमें संस्कृत पञ्जिका भी मुद्रित की गयी है। संस्कृत व्याख्याकी भाँति यह भी अभी तक अप्रकाशित रही। जिसमें ग्रन्थके क्लिष्ट पदोंका अर्थ खोला जाये, उसे पञ्जिका कहते हैं—'विषमपदभञ्जिका पञ्जिका'—यह परिभाषा प्रस्तुत पञ्जिकामें अक्षरश घटित होती है। द्वितीय सर्गके दार्शनिक पद्यो पर इसमें अच्छा प्रकाश डाला गया है, जिससे पञ्जिकाकारका दार्शनिक वैदुष्य व्यक्त होता है। प्रारम्भिक दो सर्गोंकी पञ्जिका व्याख्याका काम करती है। इसकी रचना अपेक्षाकृत प्रौढ है।

पञ्जिकाकारका नाम—जिन आदर्श प्रतियोके आधारपर इसका सम्पादन किया गया है, उनमें इसके रचयिताका नाम अङ्कित नही है, पर डॉ० कस्तूरचन्द्रजी कासलीवाल, जयपुरने अपने यहाँकी हस्त-लिखित प्रतियाँ देख कर इनका नाम गुणनन्दी बतलाया है, जो 'जिनरत्नकोष' (भाग १, पृ० १२०) में भी दिया गया है।

पञ्जिकाकारका समय—'जिनरत्नकोष' (भा० १, पृ० १२०) में पञ्जिकाकारका समय वि० सं० १५९७ दिया गया है। पञ्जिकामें अनगारधर्मामृत, अनेकार्थध्वनिमञ्जरी, अमरकोष, आत्मानुशासन, आप्तमीमासा, कामन्दकीय नीतिसार[1], काव्यादर्श, तत्त्वार्थसूत्र, पञ्चसग्रह, पद्मनन्दिपञ्चविंशतिका, माधव-निदान, रघुवंश, और वाग्भटालङ्कार आदि ग्रन्थोके उद्धरण दृष्टिगोचर होते है। इनमें-से अनगारधर्मामृतकी रचना वि० स० १३०० में समाप्त हुई। इससे पञ्जिकाकार आशाधरके उत्तरवर्ती सिद्ध होते हैं। पञ्जिका-कारने प्रथमको छोड कर शेष सभी सर्गोंकी पञ्जिकाके प्रारम्भमें श्रुतमुनिका जयघोष किया है और उनके वैदुष्यकी श्लाघा भी। वि० सं० १३९८ में समाप्त परमागमसारके रचयिताका नाम भी श्रुतमुनि है। यदि इन्हीका जयघोष पञ्जिकाकारने किया हो तो वे इनसे परवर्ती ही ठहरते हैं। ऐसी स्थितिमें जिनरत्नकोष (भा० १, पृ० १२०) में दिया गया इनका समय (वि० स० १५९७) सही-सा प्रतीत होता है। विशेष निर्णयके लिए अन्य सामग्रीकी अपेक्षा है।

इस तरह प्राप्त सामग्रीके आधारपर ग्रन्थ, ग्रन्थकार, व्याख्याकार और पञ्जिकाकारके विषयमें संक्षिप्त प्रकाश डाला गया है।

—अमृतलाल शास्त्री

१ 'जैन साहित्यका बृहद् इतिहास' (भाग ५, पृष्ठ २४१) के अनुसार 'कामन्दकीयनीतिसार' का सकलन उपाध्याय भानुचन्द्रके शिष्य सिद्धिचन्द्र (अकबर बादशाहके समकालीन) ने किया था। यदि यह प्रमाणित हो जाये तो पञ्जिकाकार के [illegible] पर पर्याप्त प्रकाश पड सकता है।

विषयानुक्रमः

१. प्रथमः सर्गः

२ द्वितीयः सर्गः

पुर सरं मोक्षतत्त्वस्य प्रसाधन च । १११ पुनरपि मुनिं प्रति राज्ञः स्वपूर्वजन्मविषयक प्रश्न । ११२ राजान प्रति मुनेरुत्तरदानस्योपक्रम. । ११३ पुष्करार्धवर्तिन पूर्वमन्दरस्य वर्णनम् । ११४-१२४ तत्पूर्वविदेहवर्तिन. सुगन्धिनाम्नो देशस्य वर्णनम् । १२५-१४३ श्रीपुराख्यस्य पुरस्य वर्णनम् ।

३. तृतीयः सर्गः

१-१३ राज्ञ. श्रीषेणस्य वर्णनम् । १४-१८ तन्महिष्या श्रीकान्ताया वर्णनम् । १९ राज्ञस्त्रिवर्ग-सेवनवर्णनम् । २० अनपत्यतया श्रीकान्ताया शोकवर्णनम् । २१-२६ राज्ञ तत्कारणजिज्ञासाया वर्णनम् । २७-३५ श्रीकान्ताया बालसख्या तच्छोककारणप्रकाशनम् । ३६-४१ राज्ञा तत्प्रतिबोधनम् । ४२-४३ राज्ञ क्रीडावनविहार । ४४ तत्र तारापथादवतीर्णेनानन्तसञ्ज्ञकेन चारणमुनिना सह राज्ञ. समागमवर्णनम् । ४५-४९ मुनिचरणवन्दना स्तुतिश्च । ५० 'अद्यापि मे मानस विरतिं किं नोपयाति'—इति मुनिं प्रति राज्ञ. प्रश्न । ५१-५८ राजान प्रति मुनेरुत्तरदानम् । ५९ राज्ञो धर्मप्रवृत्ति । ६०-६१ आष्टाह्निकपर्वणि समीहितनिमित्त पत्न्या सह राज्ञस्तद्व्रतसेवनवर्णनम् । ६२ श्रीकान्ताया गर्भधारणवर्णनम् । ६३-६७ गर्भचिह्नवर्णनम् । ६८ दोहदवर्णनम् । ६९ पुत्रजन्मवर्णनम् । ७० पुत्रजन्मनि नभ प्रभृतीना शुभ्रतादिवर्णनम् । ७०-७४ राजभवने पौरसदनेषु च तज्जन्मोत्सववर्णनम् । ७५ पुत्रस्य 'श्रीवर्मा' इति नामकरणवर्णनम् । ७६ सुते जाते राज्ञोऽभ्यु-दयावाप्तेर्वर्णनम् ।

४ चतुर्थः सर्गः

१-२ शिशो श्रीवर्मणो वृद्धिवर्णनम् । ३ श्रीवर्मणो विद्योपविद्याध्ययनम् । ४ श्रीवर्मणं कलाभ्यासस्य प्रकर्ष । ५ श्रीवर्मण शस्त्रास्त्रप्रयोगपटुत्वमश्वगजारोहणप्रवीणत्व च । ६ श्रीवर्मण सौन्दर्यवर्णनम् । ७ श्रीवर्मण औदार्यम् । ८ श्रीवर्मणः शौर्यम् । ९ श्रीवर्मण त्यागादिगुणाना विकास । १० श्रीवर्मण आश्रयिजनाना पतित्व गुरुत्व च । ११ श्रीवर्मणा स्वपक्षवद्विपक्षोऽपि प्रहर्षित । १२ श्रीवर्मणोऽनुपमा रूपसपत् । १३ श्रीवर्मणो गर्वराहित्यम् । १४ श्रीवर्मण षड्वर्गजेतृत्व दोषस्पर्शशून्यत्व च । १५ श्रीवर्मण प्रभावत्या सह परिणय । १६-१७ श्रीवर्मणे यौवराज्य वितीर्य तत्पितु श्रीषेणस्य निश्चिन्ततया राज्यसौख्यानुभूति. । १८ अम्बरत पतन्तीमुल्का विलोक्य श्रीषेणस्य वैराग्यम् । १९-२७ श्रीषेणस्य विषयगर्हणम् । २८-३३ श्रीवर्मण पुरस्तात्तत्पितु श्रीषेणस्य जिनदीक्षाग्रहणाभिलाषप्रकाशनम् । ३४-४४ श्रीवर्माणं प्रति श्रीषेणस्य सदुपदेश, तस्मै राज्यसमर्पण च । ४५ श्रीप्रभमुने पादमूले जिनदीक्षाग्रहण विधाय तपस्तप्त्वा च श्रीषेणस्य निर्वाण-गमनम् । ४६ श्रीवर्मणो दिग्जैत्रयात्रा । ४७ मौल बलमात्ममूले विधाय श्रीवर्मण. प्रयाणम् । ४८ सेनारजोवर्ण-नम् । ४९ सैन्यध्वजवर्णनम् । ५० मातङ्गमदप्रवाहवर्णनम् । ५१ पटहप्रणादवर्णनम् । ५२ पौरैर्ग्रामिमहत्तरैश्च श्रीवर्मणोऽभिनन्दनम् । ५३-५५ द्विपा चेष्टितानि । ५६-६७ दिग्विजयवर्णनम् । ६८ श्रीवर्मण श्रीपुर प्रत्याग-मनवर्णनम् । ६९ प्रत्यागतं त प्रणन्तु सत्कर्तुं चार्घहस्ताया जनताया वहिरवस्थानम् । ७० मनोहरान् कच्छवाटान् ('कछवारे'—इति बुन्देलखण्डभाषया व्यवहृतान्) विलोकयन् स श्रीवर्मा गोपुराभिमुखो बभूवेति वर्णनम् । ७१ तरुमूलबद्धाना शिरोधीन् धुनता कृतप्रणामानामिव गजानामवलोकनम् । ७२ परिखातटीषु हसावलीना दर्शनम् । ७३ खातिकायाः पयसो विनिर्गच्छत पाठीनकुलस्य निरीक्षणम् । ७४ श्रीवर्मदर्शनार्थं पौराङ्गनानामौत्सुक्य चेष्टित च । ७५ पुरप्रवेशवर्णनम् । ७६ श्रीवर्मणो राज्यसचालनं विषयानुभवश्च । ७७ शरन्मेघावलोकनेन श्रीवर्मणो वैराग्यम् । ७८ स्वगुणाग्र्य श्रीकान्ताय राज्य समर्प्य श्रीप्रभपादमूले प्रव्रज्य च दुश्चर तपस्तप्त्वा श्रीवर्मा सौधर्मस्वर्गे श्रीधराभिधो देवो बभूव इति वर्णनम् ।

५. पञ्चमः सर्गः

१ धातकीखण्डद्वीपस्य दक्षिणदिग्वर्तिन इषुकारगिरेर्वर्णनम्। २-११ तत्पूर्वभरतवर्तिनोऽलकाभिधस्य देशस्य वर्णनम्। १२-२२ तत्र कोशलाख्यनगरीवर्णनम्। २३-३५ तदधिपते राज्ञोऽजितजयस्य वर्णनम्। ३६-३९ तन्महिष्या अजितसेनाया वर्णनम्। ४० स श्रीधराभिधो देवस्तयोरजितसेनसज्ञ सुत समजनीति वर्णनम्। ४१-४५ अजितसेनस्य कलाना यशसो रूपसपदो विनयस्य तत्पितु प्रसन्नतायाश्च वर्णनम्। ४६-४८ अजितसेनविषये तत्पितुर्विचार। ४९ अजितसेनाय तत्पिता यौवराज्यपदवी प्रायच्छदिति वर्णनम्। ५०-५१ यौवराज्यपदवीप्राप्त्यनन्तरमजितसेन प्रति राज्ञा प्रजाजनाना च विनय यवहारवर्णनम्। ५२ उपहारप्रदानार्थं समुपागतै सामन्तै सह राज्ञो युवराजस्य च सभाभवनेऽवस्थानम्। ५३ चण्डरुचिनामासुर सभाभवनतो युवराजमपजहारेति वर्णनम्। ५४-७१ युवराजविकलां सकला सभामवलोक्येलाधिपतेर्विलापो मूर्च्छावस्था च। ७२ अपनीतमूर्च्छो राजा तपोभूषणनामान मुनिं ददर्श। ७३ मुनिमीक्षमाणा सभा विस्मयमाजगाम। ७४ मुनिसमागनवर्णनम्। ७५ तद्दर्शनाद्राज्ञ शोकोपशम। ७६-८० मुनिराजस्य सत्कृतिमर्चना च विधाय राज्ञोऽभूतपूर्व तोष आशीर्वादावाप्तिश्च। ८१-८३ मुनिश्लाघा। ८४-८९ 'कतिपयैरहोभिस्त्व समायात स्वसुत द्रक्ष्यसि' इति राजान प्रति मुनेराश्वासनम्। ९०-९१ मुनीन्द्रे गतवति सति तद्वचनविश्वासाद्राज्ञ सुखावस्थिति।

६. षष्ठः सर्गः

१ तेनासुरेण परिभ्रमय्य नभस्तो मुक्तस्य युवराजस्य मनोरमाख्ये सरसि निपतनम्। २ तन्निपतनाज्जाताया सरसोऽवस्थाया वर्णनम्। ३ तत उत्तरणवर्णनम्। ४-११ परुषाभिधाटवीवर्णन ततो युवराजस्य प्रस्थान च। १२ पर्वतवर्णनम्। १३ वनसीमान्तवुभुत्सया तदुपरि युवराजावरोहणम्। १४-२६ तत्र सहसा समायातेन केनचित्करालवक्त्रेण पुरुषेण सह युवराजस्य वाक्कलहो नियुद्ध युद्ध विजयावाप्तिश्चेति वर्णनम्। २७-३७ युवराजेन पराजित स पुरुषो दिव्यरूपमास्थाय 'अह हिरण्यनामा देवस्तव मित्रमस्मि चण्डरुचिश्च शत्रुर्यो भवन्तं सभाभवनतो जहार नभस्त पातयामास च' इति जगादेति वर्णनम्। युवराजो हिरण्यप्रभावेणात्मान वनसीम्नि व्यलोकयदिति वर्णनम्। ततो युवराजस्य राष्ट्रप्रवेशस्तत्र च पलायमानान् जनान् निरीक्ष्य तत्कारणजिज्ञासेति वर्णनम्। ३८-४८ ततो 'अरिंजयाख्ये देशे विपुलाभिधपुरे राज्ञो जयवर्मण शशिप्रभानामधेया कन्यामपहर्तुं महेन्द्राह्वो भूपतिरायातो युद्धे जयवर्मबल च निहत्य पुरमावृत्य वितिष्ठते। तद्भयाज्जना पलायन्ते' इति ज्ञात्वा युवराजस्य विपुलपुर प्रति प्रस्थानमिति वर्णनम्। ४९-५६ तत्र महेन्द्रं निहत्य जयवर्मणा सह युवराजस्य तत्पुरप्रवेश। ५७ पुरनारीणाममन्दानन्दानुभूति। ५८ जयवर्मणा युवराजस्य वपुषा पौरुषेण च तज्जातिकुलोन्नतेरनुमानम्। ५९ कृतसत्कृतिर्युवराजो जयवर्मणो धरित्री वश्यां चकारेति वर्णनम्। ६०-६९ युवराजे शशिप्रभाया अनुरागवर्णनम्। ७० तदाकर्ण्य जयवर्मण प्रसन्नता। ७१ निमित्तिनमापृच्छ्य जयवर्मणो विवाहनिश्चय। ७२ ततो युवराजस्य औत्सुक्यम्। ७३ ७४ विजयार्धगिरेर्वर्णनम्। ७५ तद्दक्षिणतो रम्यस्यादित्याख्यस्य पुरस्य वर्णनम्। ७६ तदधिपते खेचरेन्द्रस्य धरणीध्वजस्य वर्णनम्। ७७ स प्रियधर्मनामधेय क्षुल्लक ददर्शेति वणनम्। ७८ तत्सत्कृतेर्वर्णनम्। ७९-८७ तन्मुखाच्छशिप्रभापरिणेतु. सकाशादात्मनो वधमश्रौसीदिति वर्णनम्। ८८ स खेचरेन्द्रो जयवर्मपुर रुरोधेति वर्णनम्। ८९ जयवर्माण प्रति खेचरेन्द्रेण दूतप्रेषणम्। ९०-९४ दूतोक्तिवणनम्। ९५-९७ दूतविसर्जनम्। ९८ जयवर्मसमीपेऽजितसेनस्य खेचरेन्द्रवधप्रतिज्ञावर्णनम्। ९९ अजितसेनो हृदि हिरण्यदेव सस्मार, स च स्मृत एव दिव्य रथ गृहीत्वा तत्पुरोऽभवदिति वर्णनम्। १००-१०६ अजितसेनधरणीध्वजयोर्युद्धे धरणीध्वजस्य वध। १०७ विजयानन्तरमजितसेनस्य विपुलपुरप्रवेश। १०८ अजितसेनस्य शशिप्रभया सह विवाह। १०९-११० वध्वा सह तस्य स्वपुर प्रति प्रस्थानम्। १११ स्वपुरप्रवेशवर्णनम्।

७. सप्तमः सर्गः

१-१७ अजितसेनस्य चतुर्दशरत्नाना वर्णनम् । १८-२७ तस्य नवनिधीनां वर्णनम् । २८ तादृशी श्रिय समवाप्यापि स नोदसिक्त-इति वर्णनम् । २९ निधिरत्नपूजनम् । ३०-३९ राज्याभिषेकमहोत्सवस्य वर्णनम् । ४० स्वयंप्रभामिधस्य जिनपतेरागमनवर्णनम् । ४१ त वन्दितुमजितसेनाजितजययोर्गमनवर्णनम् । ४२-४३ प्रणामानन्तर स्वयप्रभ प्रति राज्ञोऽजितंजयस्य 'जन्तु कर्मभिः कथं बध्यते कथ च मुच्यते' इति प्रश्न । ४४-५३ तदुत्तरदानम् । ५४ तच्छ्रुत्वाजितसेनस्य विरक्तेर्वर्णनम् । ५५ ततो जिनदीक्षाग्रहणम् । ५६ जिनं प्रणम्य चक्रवर्तिन स्वपुरप्रवेशवर्णनम् । ५७-६९ अजितसेनस्य दिग्विजयवर्णनम् । ७०-७९ तत्समृद्धिवर्णनम् । ८० स्वपुरप्रवेशवर्णनम् । ८१-९० पुरस्त्रीचेष्टावर्णनम् । ९१-९२ राजभवनप्रवेशवर्णनम् । ९३ कृतचरणनमस्क्रियाणा नृपाणा विद्याधराणा च विसर्जनम् । ९४ राज्योपभोगवर्णनम् ।

८. अष्टमः सर्गः

१-५० वसन्तवर्णनम् । ५१-६० शशिप्रभाख्याया महिष्या पुरतो राजमुखेन पुरोपवनशोभाया वर्णनम् । ६१ राज्ञोऽजितसेनस्य वनविहरणयात्राघोषणा । ६२ प्रस्थानशसी ध्वनिर्व्योम व्याप—इति वर्णनम् ।

९. नवम' सर्गः

१ वनश्रियं वीक्षितु चक्रिणोऽजितसेनस्य प्रस्थानम् । २ तामेव श्रिय विक्षितुं रमणीना प्रस्थानम् । ३-१७ उपवनयात्रावर्णनम् । १८ उपवनप्रवेशवर्णनम् । १९-२६ उपवनविहारस्य पुष्पावचायस्य च वर्णनम् । २७-५७ जलकेलिवर्णनम् । ५८ वस्त्रपरिवर्तनम् । ५९ रवौ पश्चिमाचलस्य प्रस्थं समनुसरति सति चक्री परिजनै सहान्नपानादिकृत्यं चक्रे—इति वर्णनम् ।

१०. दशमः सर्गः

१ सूर्यस्यास्ताचलसश्रय. । २ सूर्यस्यारुण्यम् । ३-६ सायकालवर्णनम् । ७-१६ अन्धकारवर्णनम् । १७-४० चन्द्रोदयवर्णनम् । ४१-७४ रात्रिक्रीडाया (सुरतस्य) वर्णनम् । ७५-७६ वैतालिकमुखेन निशावसानवर्णनम् । ७७-७९ राज्ञ प्रबोध शय्यात्याग शयनागारतो निर्गमन च ।

११. एकादशः सर्गः

१-२ राज्ञोऽजितसेनस्य सभाभवनप्रवेशवर्णनम् । ३-६ राज्ञो गजक्रीडावलोकनवर्णनम् । ७-९ गजेन निहत कचनमानवमवलोक्य राज्ञो वैराग्यम् । १०-३० विषयगर्हणम् । ३१-३३ तदैव वनपालमुखाद् गुणप्रभाभिधस्य मुनीन्द्रस्यागमनश्रवण सपरिकरस्य राज्ञो तद्दर्शनार्थं गमनवर्णनं च । ३४-३८ आश्रमावलोकनं नानामुनीना दर्शन च । ३९ ४९ राजमुखेन मुनीन्द्रस्तुति । ५०-६६ मुनीन्द्रनरेन्द्रयो परिचर्चावर्णनम् । ६७ जितशत्रुसज्ञकाय पुत्राय राज्य वितीर्य राज्ञो जिनदीक्षाग्रहणम् । ६८-७२ तत्तपश्चरणवर्णनम् । ७३ राज्ञोऽच्युतेन्द्रपदावाप्ति । ७४ ततश्च्युत्वात्र रत्नसंचयपुरे सुवर्णमालाकनकप्रभयो पुत्र पद्मनाभो जातोऽसि-इति प्रतिपादनम् । ७५-७६ स्वजन्मान्तराणि समाकर्ण्य तत्र सदिहान पद्मनाभस्तत्प्रत्ययार्थं श्रीधरमुनि पुन पप्रच्छेति वर्णनम् । ७७-७८ इतो 'दशमेऽहनि तव नगरे यूथ परित्यज्य कश्चिदेको मदान्धगज आगमिष्यति तत्प्रत्ययात् त्वमखिल मदुक्त वचन निश्चेष्यसि' इति राजानं प्रति मुनेरुक्तिवर्णनम् । ७९ पद्मनाभस्य निजपुर प्रति प्रत्यावर्तनम् । ८० तत्पुरे महान् कलकल । ८१ तत्परिज्ञानाय भृत्यप्रेषणम् । ८२-८४ ततो गजप्रवेशस्य तत्कृताया सहारलीलायाश्च वृत्त परिज्ञाय राजा विषादं भेजे मुनिवचनस्य प्रामाण्यं च निश्चित्य

जहर्ष—इति वर्णनम् । ८५-९१ तद्वशीकरणवर्णनम् । ९२ तमारुह्य वने क्रीडाकरण, ततस्तस्य 'वनकेलि.' इति नामकरण तत्पश्चाच्च पुरप्रवेशकरणम्—इति कथनम् ।

१२. द्वादशः सर्गः

१-२४ गजार्थं राजान पद्मनाभ प्रति प्रेषितस्य पृथिवीपालदूतस्योक्तिवर्णनम् । २५-४१ दूत प्रति युवराजोक्तिवर्णनम् । ४२-५४ युवराज प्रति पृथिवीपालदूतस्य प्रत्युक्तिवर्णनम् । ५५ दूतभाषितै. क्षुभिता सभा राजावारयदिति प्रतिपादनम् । ५६ दूतसत्कृतेरादेश । ५७-१११ मन्त्रगृहे राज्ञ. पुरतो मन्त्रिणा मन्त्रणा ।

१३. त्रयोदशः सर्गः

१ पृथिवीपालजिगीषया राज्ञ पद्मनाभस्य प्रयाणोपक्रम । २ राज्ञ सितच्छत्रस्य सुषमा । ३-७ राज्ञो हार-कुण्डल-मुकुट-अङ्गद-रशनाभरणाना वर्णनम् । ८ तमन्येऽपि भूभुजोऽनुजग्मुरिति वर्णनम् । ९-२३ सेनाङ्गानामश्वादीना वर्णनम् । २४ गजवधूषु कृतासनानामवरोधपुरन्ध्रीणा वर्णना । २५ दर्शनार्थिनामागमनम् । २६ पुरयोषिता कौतुकम् । २७ तरलवेगसरादवरोधिकापतनम् । २८ करिभयात्पलायत उष्ट्रस्य वर्णना । २९ शकटवृषभाणा करिसूत्कृतिभियासन्मार्गाश्रयणाद् वणिजा घृतघटाना विघटनम् । ३० वारणभयभवत्पतन-भग्नदधिपात्राया वल्लवयोषितो राजमार्गात्प्रत्यावर्तनम् । ३१ वैवधिकानामाशुगमनवर्णनम् । ३२ नृपवधूजन-यानवर्णनम् । ३३ पुरवीथीषु सेनाया सुषमा । ३४ अश्वसेनावर्णनम् । ३५ प्रस्थानपटहध्वनिवर्णनम् । ३६ रथारूढस्य पद्मनाभस्य पुरशोभावलोकनम् । ३७ पुरगोपुरत सैन्यनिर्गमनवर्णनम् । ३७-५२ मार्गे नानामनोरम-पदार्थानामवलोकनवर्णनम् । ५३-६१ मार्गे प्राप्ताया 'जलवाहिनी' इति ख्याताया सरितो वर्णनम् । ६२ राज्ञस्तदुत्तरणवर्णनम् ।

१४. चतुर्दशः सर्गः

१-१८ राज्ञ पद्मनाभस्य मणिकूटाभिधपर्वतस्यावलोकनम् । १९-४० राज्ञ पुरत सेनापतिमुखेन तच्छोभावर्णनम् । ४१ तदाकर्ण्य राजा तत्र रन्तुमियेष । ४२ तत्रानुतट पर्यटन् राजा मध्यदिनवेलाया सेनानिवेशप्रदेश प्राप्त । ४३ प्रियाणा कपोलस्थलीषु घर्मोदबिन्दूनवलोकयतो राज्ञो बाधाकरोऽपि मध्यंदिन-दिवाकरोऽभिमतो बभूव । ४४ वणिग्विपणिवर्णनम् । ४५ आश्रयस्थान प्रति यान्तीना सामन्तसन्ततीना वर्णनम् । ४६ पद्मनाभवसतिं विलोक्य पश्चादागताना जनाना स्वावासभूमेरवगम. । ४७ वेश्यावर्गवर्णना । ४८ विलम्बत समायाताना स्थानान्वेषणप्रयासवर्णनम् । ४९ कान्दविक (हलवाई) धाम कटकिभिर्व्याप्तमिति वर्णनम् । ५० शैलानिलवर्णना । ५१-५३ सेनाया अश्वाना वर्णना । ५४-६२ गजवर्णनम् । ६३-६४ वृषभवर्णनम् । ६५-६६ उष्ट्रवर्णनम् । ६७ स्कन्धावारवर्णनम् । (इत्थ ४४-६७ सेनासनिवेशवर्णनम्) । ६८ तत्र ससैन्यस्य प्रतिद्वन्द्विन पृथिवीपालनरपतेरभिगमनम् । ६९ रात्रिवर्णनम् । ७० पद्मनाभस्य निजभटै सह भाविसङ्ग्रामचर्चा । ७१ रात्रिसमाप्तिवर्णनम् ।

१५. पञ्चदशः सर्गः

१ सनाहपटहध्वनि । २-५ भटाना सनाहोपक्रम । ६-१४ कवचादिधारणवर्णनम् । १५-१८ दीनानाथकृतोत्सर्ग पद्मनाभो मणिकङ्कणादिभि स्वाभरणै सहयोगिन सामन्तान् सच्चकार—इतिवर्णनम् । १९-२५ युयुत्सुना राज्ञा सैनिकाना च शस्त्रास्त्रग्रहणस्य रथाद्यारोहणस्य च वर्णनम् । २६ युद्धोद्यतसेना व्यक्तेयत्ता न-इति कथनम् । २७-३० शुभशकुनवर्णनम् । ३१ सराजक पृथिवीपालोऽपि सनह्यामर्षादभिनिर्ययौ । ३२-३४ अपशकुनवर्णनम् । ३५-६० युद्धवर्णनम् । ६१-६५ पृथिवीपालस्य सेनापतिश्चन्द्रशेखरो रणपराङ्मुख-

मात्मसैन्यं सघीरयन् सोत्साह चकार इति वर्णनम्। ६६-७४ चन्द्रशेखरस्य पद्मनाभसेनापतिना भीमेन सह युद्धम्। ७५-९६ सामन्ताना प्रतिद्वन्द्विभि सामन्तै. सह युद्धम्। ९७-१०५ सुवर्णनाभधर्मपालयो (पद्मनाभ-पृथिवीपालपुत्रयो) वाग्युद्धवर्णनम्। १०६-१११ द्वन्द्वयुद्धे सुवर्णनाभो धर्मपाल बन्दीकृत्य पितुरन्तिक निनायेति वर्णनम्। ११२-११३ पद्मनाभसामन्तै पृथिवीपालसामन्ता भग्नमनोरथाः कृता —इति वर्णनम्। ११४-१२९ पद्मनाभपृथिवीपालयोर्युद्धम्। १३० पद्मनाभस्तत्र पृथिवीपालस्य शिरश्चिच्छेद—इति वर्णनम्। १३१ शत्रूणा पलायन रणभूमिसशोधन च। १३२ युद्धमूर्ध्नि मृताना दाहसस्कार। १३३ शत्रोश्छिन्न शिरो निरीक्ष्य पद्मनाभस्य वैराग्यम्। १३४-१४४ वैराग्यविचार। १४५-१४७ निजतनूजाय सुवर्णनाभाय राज्यभार वितीर्य पृथिवीपालनन्दनाय च तत्पितु पद, पद्मनाभ श्रीधरमुने सकाशाद्दीक्षामादाय श्रमणो बभूव। १४८-१५० पद्मनाभस्य ज्ञानर्द्धिप्राप्तेस्तपश्चरणस्य च वर्णनम्। १५१-१६० षोडश भावना भावयन् पद्मनाभस्तीर्थकृन्नामकर्म बबन्ध—इति वर्णनम्। १६१-१६२ स्वतनु त्यक्त्वा सोऽनुत्तरवैजयन्तं भेजे, तत्र दिव्य सुख च लेभे।

१६. षोडशः सर्गः

१-५ पूर्वदेशवर्णनम्। ६-९ चन्द्रपुरीवर्णनम्। १० राजवेश्मवर्णनम्। ११-१५ तदधिपतेर्महासेन-नृपतेर्वर्णनम्। १६-२० तन्महिष्या लक्ष्मणाया वर्णनम्। २१ ता लक्ष्मणामवाप्य राजा महासेन आत्मान सार्वभौम कलयतिस्म—इति वर्णनम्। २२ ता प्रति राज्ञोऽनुरक्तेर्वर्णनम्। २३ तदनुरक्ते प्रभावात् सामन्ताना स्वाच्छन्द्यम्। २४ सचिवमुखात्तच्छ्रुत्वा राज्ञस्तद्विजयस्य विचार। २५-५२ राज्ञो दिग्विजयवर्णनम्। ५३ राज्ञ स्वपुरी प्रति प्रत्यागमनम्। ५४ सत्कृत्यनन्तर राज्ञा विसर्जनम्। ५५ रत्नवृष्टिवर्णनम्। ५६ दिक्कुमार्यो लक्ष्मणाया गर्भशोधनादि कर्तव्य व्यधिषत—इति वर्णनम्। ५७-६२ देवी षोडश स्वप्नान् ददर्श—इति वर्णनम्। ६३-६६ राजमुखेन स्वप्नफलवर्णनम्। ६७ तच्छ्रुत्वा लक्ष्मणा देवी प्रमोद भेजे—इति वर्णनम्। ६८ चन्द्रप्रभस्य गर्भावतरणम्। ६९ गर्भकल्याणमहोत्सवस्य वर्णनम्। ७० श्रीह्रीधृत्यादिभिर्देवीभि. सेव्यमाना लक्ष्मणा देवी नवमासान् सुखेनैव निन्ये—इति वर्णनम्।

१७. सप्तदशः सर्गः

१ जिनजन्मवर्णनम्। २-३ जिनजन्मसमये ककुभ प्रसेदु, नभस्तलममल जात, सुरभिर्वायुर्ववौ, वियतो दिव्यकुसुमवृष्टिर्जाता—इति वर्णनम्। ४-५ कल्पवासिप्रभृतिदेवानामावासस्थानेषु मणिघण्टिकादय स्वयमेव रेणु—इति वर्णनम्। ६ ज्ञातचन्द्रप्रभजिनजन्मना देवाना चन्द्रपुरी प्रति प्रस्थानम्। ७ सुरासुराभरणकिरणै ककुभा शोभाया वर्णनम्। ८ नभसि देवविमानाना सुषमा। ९ अमरालयादानृपतिगेह विस्तृताया देवपङ्क्ते सौन्दर्यम्। १० सवासव सुरगणो नृपसद्म प्राप—इति वर्णनम्। ११ शची मायाशिशु मातुरुरसि विनिवेश्य जिनमुज्जहार—इति वर्णनम्। १२ समुदीक्ष्य हरेर्हर्षप्रकर्ष समजनि—इति वर्णनम्। १३ सौधर्मेन्द्रस्तमर्भक-मात्मगजमरोपयत्—इति वर्णनम्। १४ अन्येषाममरपतीनामानमनवर्णनम्। १५ मङ्गलगानपूर्वक देवीना-मग्रतोऽभिमेरु प्रस्थानम्। १६ देवाना प्रस्थानवेलाया दुन्दुभिनाद। १७ तदवसरे नभस्तले देवनृत्यमजनि—इति वर्णनम्। १८ सुमेरुप्राप्तिवर्णनम्। १९ सुमेरुशिखरस्य पाण्डुकशिलाया सिंहासने जिनार्भकस्य स्थापनम्। २० तदभिषेकवर्णनम्। २१ सोत्सव तत्कर्णच्छेदनसस्कार सुरेश्वराश्चक्रु—इति वर्णनम्। २२ सुरास्त जिनार्भक मणिकुण्डलादिभिराभरणैरभूषयन्—इति वर्णनम्। २३ तन्नामकरणसंस्कार। २४ तत्स्तुतेरुपक्रम.। २५-४० इन्द्रमुखेन जिनार्भकस्तुति। ४१ सुमेरुतश्चन्द्रपुरी प्रति प्रस्थानम्। ४२ जिनार्भक समर्प्य सुरा सुरे-न्द्राश्च तत्र महोत्सव चक्रु—इति वर्णनम्। ४३-४८ जिनार्भकस्य बालक्रीडाया वर्णनम्। ४९ धनदप्रेषिताना तदाभरणाना वर्णनम्। ५० तत्कलावगमनवैशिष्ट्यम्। ५१ तद्विवाहसस्कार। ५२ राज्यलाभ तत्प्रशासन च। ५३-५६ तच्छासने प्रजाया सुखावस्थिति। ५७ सामन्तानामानुकूल्यम्। ५८ रजनीमहश्चाष्टधा विभज्य विहितः

कार्यक्रमः । ५९ समये समये सुरवनितानामागमनं ललितगीतनर्तनादिविधानं च । ६० चन्द्रप्रभस्य भोगसुखानुभवनम् । ६१-६४ चन्द्रप्रभस्य पुरतो धर्मरुचिनाम्नो धृतवृद्धविग्रहस्य सुरस्य पूत्कृति । ६५ अन्तर्हिते तस्मिन् स क इति सभ्यजनाना जिन प्रति जिज्ञासा । ६६ तदुत्तरम् । ६७-७० ससारासारतायाश्चिन्तनम् । ७१ कृत्स्नकर्मक्षयस्य निश्चय. । ७२ लौकान्तिकदेवानामागमनम् । ७३ विमलाभिधा शिबिकामारुह्य चन्द्रप्रभः सकलर्तुवनं प्रापत्—इति वर्णनम् । ७४ वरचन्द्राभिधानाय स्वपुत्राय राज्यं वितीर्य स तपोऽग्रहीत्–इति वर्णनम् । ७५ अपाकृतास्तत्कचानमराधिप क्षीरसमुद्रे निदधे—इति वर्णनम् । ७६ दीक्षाकल्याणमहोत्सव. । ७७ नलिनपुरपालिन सोमदत्तस्य गृहे चन्द्रप्रभस्य पारणा । ७८ चतुर्णां कषायाणा नाशनम् । ७९ परीषहजयवर्णनम् । ८० चन्द्रप्रभस्य पार्श्वे संशयनिरासाय नानामुनीनामनुदिनमागमनम् । ८१ पुनरपि दीक्षावन प्रति गमनम् । ८२ तत्र नागशाखिनस्तस्तलभुवि कैवल्यलाभ । ८३-९१ समवसरणवर्णनम् ।

१८. अष्टादशः सर्गः

१ गणधरप्रश्नाज्जिनेश्वरश्चन्द्रप्रभस्तत्त्व जगाद–इति कथनम् । २ सप्ततत्त्वानां नामानि । ३ पुण्यपापयोर्बन्धेऽन्तर्भावोऽनन्तर्भावे च नवपदार्था - इति प्रतिपादनम् । ४ जीवस्वरूपनिरूपणम् । ५ विवक्षावशाज्जीवस्य द्वैविध्य चातुर्विध्य च । ६ पृथिवीभेदान्नारक सप्तधा प्रभिद्यते । ७-८ अधोलोकस्थिताना सप्तपृथिवीना नामानि । ९-१० नारकाणामुत्सेध । ११-१२ नारकाणामायु । १३-१४ नारकबिलाना सख्या । १५ पापा नरक प्रयान्ति तत्र दु ख चानुभवन्ति । १६ नरकगतिवर्णनस्योपसंहारस्तिर्यग्गतिवर्णनस्योपक्रमश्च । १७ तिर्यग्योनिजाना जीवाना भेदा । १८-१९ स्थावरजीवाना भेदा । २०-२१ इन्द्रियापेक्षया जीवानामुत्कृष्टावगाहना । २२ इन्द्रियाणा नामानि द्वीन्द्रियादिजीवेषु तद्वृद्धिक्रमश्च । २३-२४ स्थावरजीवानामायुष प्रमाणम् । २५-२६ त्रसजीवानामायुष प्रमाणम् । २७ तिर्यग्गतिवर्णनस्योपसहारो मनुष्यगतिवर्णनस्योपक्रमश्च । २८ मनुष्याणा भेदा भोगभूमीनां सख्या च । २९ उत्तमादिभेदेन भोगभूमीनां त्रैविध्यमुत्तमासु च भोगभूमिषु नृणामुत्सेध । ३० भोगभूमिजानामायु । ३१ भोगभूमिजा कल्पद्रुमोद्भव फल भुञ्जते—इति कथनम् । ३२ कर्मभूमिजाना मानवाना भेदा कर्मभूमीना संख्या च । ३३ कर्मभूमिजानां मानवानामुत्कृष्ट उत्सेध । ३४ कर्मभूमिजानामायु, विदेहे वृद्धिह्रासौ न—इति कथनम् । ३५ भरतैरावतयो कालकृतौ वृद्धिह्रासौ, कालश्च द्विविध — इति प्रतिपादनम् । ३६ उत्सर्पिण्या अवसर्पिण्याश्च कालस्य प्रमाणम् । ३७-३८ तयो सुषमासुषमादयो भेदा. । ३९-४१ सुषमासुषमादीना कालस्य प्रमाणम् । ४२ म्लेच्छाना भेदा । ४३ आर्याणा भेदा । ४४-४६ गुणस्थानाना नामानि । ४७ मनुष्यगतिवर्णनस्योपसहारो देवगतिवर्णनस्योपक्रमश्च । ४८ निकायापेक्षया देवाना चातुर्विध्य तत्र च भवनवासिना दशविधत्वम् । ४९ व्यन्तरा अष्टधा । ५० वैमानिकदेवाना भेदा । ५१ कल्पातीतदेवाना वर्णनम् । ५२ भवनवासिना देवानामवगाहना । ५३ व्यन्तरज्यौतिषसौधर्मैशानदेवानामुत्सेध । ५४-५८ अन्येषां सुमनसां (वैमानिकाना) कायोच्छ्राय । ५९-६५ देवानामायु प्रमाणम् । ६६ जीवनिरूपणाया उपसहारोऽजीववर्णनाया उपक्रमश्च । ६७ अजीवद्रव्यस्य पञ्चविधत्वम् । ६८ षष्ठस्य जीवद्रव्यस्य पञ्चास्तिकायना च प्रतिपादनम् । ६९-७० धर्मद्रव्यस्य स्वरूपनिरूपणम् । ७१ अधर्मद्रव्यस्य स्वरूपम् । ७२ आकाशद्रव्यस्य निरूपणम् । ७३ धर्मादिद्रव्याणा प्रदेशसख्या । ७४ कालद्रव्यस्य लक्षणमुपकारश्च । ७५-७७ दिनकरादीना क्रिया विहायापर कालो नास्तीति पूर्वपक्षस्तदुत्तरपक्षश्च । ७८ पुद्गलस्य स्वरूपनिरूपणमणुस्कन्धविवक्षया द्वैविध्य च । ७९ स्थूलसूक्ष्मादिभेदत पुद्गलाना बहुविधत्वम् । ८० पुद्गलद्रव्यस्योपकार । ८१ पुद्गलवर्णनस्योपसहार आस्रवतत्त्वस्योपक्रमश्च । ८२ आस्रवस्य स्वरूपम् । ८३ आस्रवस्य भेदौ तत्स्वामिनौ च । ८४ ज्ञानदर्शनावरणयोरास्रवहेतव । ८५ असातवेदनीयस्यास्रवहेतव । ८६ सातवेद्यस्यास्रवहेतव । ८७ दर्शनमोहनीयस्यास्रवहेतव । ८८ चारित्रमोहनीयस्यास्रवहेतव । ८९ नारकायुषस्तिर्यगायुषश्चास्रवहेतव । ९० मनुष्यायुषो देवायुषश्चा-

ॐ

श्री वीरनन्दि-प्रणीतं

चन्द्रप्रभचरितम्

[१. प्रथमः सर्गः]

श्रियं क्रियाद्यस्य सुरागमे नटत्सुरेन्द्रनेत्रप्रतिबिम्बलाञ्छिता ।
सभा बभौ रत्नमयी महोत्पलैः कृतोपहारेव स वोऽग्रजो जिनः ॥१॥
स पातु यस्य स्फटिकोपलप्रभे प्रभावितानै विनिमग्नमूर्तिभिः ।
विदिद्युते दुग्धपयोधिमध्यगैरिवामरैर्यः शशिलाञ्छनो जिनः ॥२॥

विद्वन्मनोवल्लभा

वन्देऽहं सहजानन्दकन्दलीकन्दबन्धुरम् । चन्द्राङ्कं चन्द्रसंकाशं चन्द्रनाथं स्मराहरम् ॥ १ ॥

चन्द्रप्रभार्हदीशस्य[1] काव्यं व्याख्यायते मया । विश्वमन्वयरूपेण स्पष्टसंस्कृतभाषया ॥ २ ॥

श्रियमित्यादि । यस्य स्वामिनः । सुरागमे सुराणामागमस्तस्मिन् । नटत्सुरेन्द्रनेत्रप्रतिबिम्बलाञ्छिता नटतां नृत्यतां सुरेन्द्राणां देवेन्द्राणां नेत्राणां प्रतिबिम्बैर्लाञ्छिता चिह्निता तथोक्ता । रत्नमयी रत्नस्य [रत्नानां] [2]विकारस्तथोक्ता मणिनिर्मिता । सभा समवसरणम् । महोत्पलैः महान्ति च च तान्युत्पलानि च[3] तैर्नीलोत्पलैः । कृतोपहारेव कृता उपहारा यस्याः सा[4] विरचितपुष्पाञ्जलियुक्तेवेत्यर्थः । बभौ रेजे । सः[5] अग्रजः अग्रे जायत इत्यग्रजः प्रथमकाले जातः । जिनः दुर्जयकर्मठकर्मारातीन् जयति निर्मूलयतीति जिनः पुरुपरमेश्वरः । वः युष्माकम् । 'पदाद्वाक्यस्य' इत्यादिना युष्मदः षष्ठीबहुवचनस्य वसादेशः । श्रियम् अन्तरङ्गबहिरङ्गमप्राप्तिम् । क्रियात् विधेयात्[6] डुकृञ्[7] करणे लिङ् । उत्प्रेक्षा ॥ १ ॥ स इत्यादि । यस्य स्वामिनः । स्फटिकोपलप्रभे स्फटिकस्योपलस्येव प्रभा यस्य तस्मिन् । उपमा । प्रभावितानै प्रभाणां कान्तीनां वितानै समूहे । विनिमग्नमूर्तिभिः विनिमज्जन्ति स्म विनिमग्नास्ता मूर्तयो येषां ते तथोक्तास्तैः । अमरै

भावानुवाद

प्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव तुम सबको कल्याण सम्पत्ति प्रदान करे । इस युगमें सबसे पहले अवतरित होनेसे वे अग्रज अर्थात् आदिपुरुष कहे जाते हैं । उन्हें जब केवलज्ञानकी प्राप्ति हुई थी तब समस्त इन्द्रोने उत्सव मनाया था । उन्होने देवोकी उपस्थितिमे उक्त ऋषभदेवके सामने सभा (समवसरण) में नृत्य किया था । सभाकी भूमि चूँकि रत्नजटित थी, अत वहाँ इन्द्रोंके नेत्रोकी छाया पडनेसे ऐसा प्रतीत होता था मानो वह उन (ऋषभदेव) के लिए स्वयं नील कमलोका उपहार भेंट कर रही हो ॥१॥ चन्द्र-चिह्नसे विभूषित अष्टम तीर्थंकर भगवान् चन्द्रप्रभ (चरितनायक) तुम सबकी रक्षा करे । उनके देहकी कान्ति स्फटिक

---

१ आ °हंधीरस्य । २. आ स विकारास्त° । ३ आ प °तथोक्तानि तैर्नी° । ४. = कृत उपहार पुष्पाविशेषो यस्या सा । ५ = सचराचरे जगति प्रसिद्ध । ६ श स विधीयात् । ७ आ डुकृड्, श स डुकृञ् ।

अनन्तविज्ञानमनन्तवीर्यतामनन्तसौख्यत्वमनन्तदर्शनम् ।
विभर्ति योऽनन्तचतुष्टयं विभुः स नोऽस्तु शान्तिर्भवदुःखशान्तये ॥३॥
[1]जराजरत्यास्मरणीयमीश्वरं स्वयंवरीभूतमनश्वरश्रियः ।
निरामयं वीतभयं भवच्छिदं नमामि वीरं नृसुरासुरैः स्तुतम् ॥४॥

देवै । दुग्धपयोधिमध्यगै दुग्धस्य पयोधिर्दुग्धपयोधि[2] क्षीरसमुद्र तस्य मध्य गच्छन्ति स्म तथोक्तास्तैरिव । विदिद्युते । द्युति दीप्ती भावे लिट् । स शशिलाञ्छन शश्येव लाञ्छन यस्य स, चन्द्रलाञ्छन इत्यर्थ । जिन अष्टमतीर्थंकर । व युष्मान् । 'पदाद्वाक्यस्य' इत्यादिना युष्मच्छब्दस्य द्वितीयाबहुवचने वसादेश । पातु रक्षतु । पा रक्षणे लोट्[3] । उत्प्रेक्षा ॥ २ ॥ अनन्तविज्ञानमित्यादि । य स्वामी । अनन्तविज्ञान न विद्यतेऽन्तोऽवसानो(न) यस्य तत् अनन्त च तद्विज्ञान तथोक्तम् । अनन्तवीर्यताम् अनन्त च तद्वीर्य चानन्तवीर्यम्, तस्य भावस्ताम् । अनन्तसौख्यत्व सुखमेव सौख्यम् । 'भेषजादि-' इत्यादिना स्वार्थिकस्टघण्[3] अनन्त च तत्सौख्य चानन्तसौख्य तस्य भावस्तत् । अनन्तदर्शनम् अनन्त च तद्दर्शनं च तथोक्तम् । इति अनन्तचतुष्टयम् अनन्ताना चतुष्टय तथोक्तम् । विभर्ति धरति[4] । डुभृञ्[5] धारण-पोषणयोर्लट् । स । शान्ति शान्तिजिन । विभु स्वामी । न अस्माकम् । 'पदाद्वाक्यस्य' इत्यादिना युष्मदस्मत्षष्ठीबहुवचनस्य नसादेश । भवदु खशान्तये भवस्य ससारस्य दु खस्य शान्तये शमननिमित्तम् । अस्तु भूयात् ।[6] ॥ ३ ॥ जरेत्यादि । जराजरत्या जरैव जरती[7] तया । अस्मरणीय ध्यातुमयोग्यम् । ईश्वर स्वामिनम् । अनश्वरश्रिय नित्यश्रिय । स्वयवरीभूत प्रागवर इदानी वरो भवति स्म तथोक्तस्तम् 'कर्मकर्तृभ्याम्-' इत्यादिना च्वि । 'च्वौ चास्यानव्ययस्य' इतीकारादेश । निरामयम् आमयान्निर्गतो निरामय त व्याधिरहितम् । वीतभयम् वीत भय यस्य त भयरहितम् । भवच्छिदम् भव छिनत्तीति भवच्छित् त ससारनाशकम् । नृ-सुरासुरस्तुतम् नरामरासुरै सन्नुतम् । वीरम् विशिष्टाम् ई लक्ष्मीं राति[8] ददातीति वीर त वर्धमानस्वामिनम् । नमामि

मणिकी प्रभा जैसी धवल थी । अत चारो ओर बैठे हुए देव उस (कान्ति) मे निमग्न होकर ऐसे सुशोभित होते थे मानो वे क्षीरसागरमे डुबकी लगा रहे हो ॥२॥ अनन्तज्ञान, अनन्त-दर्शन, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य इस अनन्तचतुष्टयके धारण करनेवाले सोलहवे तीर्थंकर भगवान् शान्तिनाथ हम सबके सासारिक दु खोका उपशमन करें ॥३॥ मै (वीरनन्दी) चौबीसवें तीर्थंकर भगवान् महावीरको नमन करता हूँ । वे सर्वथा नीरोग व निर्भय थे । उन्होंने भवपरम्पराको नाश कर दिया था, तथा क्या नर, क्या सुर और क्या असुर सभी उनके पवित्र गुणोकी प्रशसा करते थे । उनमे वे सब गुण विद्यमान थे जो मुक्तिके योग्य वरमे आवश्यक होते हैं । इसीलिए अनन्तचतुष्टयादिस्वरूप अविनश्वर लक्ष्मीसे सम्पन्न मुक्ति-श्रीने, स्वय ही उनका वरण किया था । बेचारी जरा (वृद्धावस्था) उनके साथ अपने सम्बन्धके विषयमे उनका स्मरण भी नही कर सकती थी । कारण कि उसका तारुण्य ढल चुका था –

---

१ टीकाश्रितोऽय पाठ प्रतिपु तु °त्या स्मरणीय° इत्येवविध एव पाठ उपलभ्यते । २ आ लेट् । ३ आ इत्यादिना शास्त्रार्थिक-वत् । ४ आ धरति स्म । ५ आ भृञ् । ६ श स लेट् । ७. आ जरति । ८ श स विशिष्ट इ इष्ट राति ।

हितं विसंवादविवर्जितस्थितिं परैरभेद्यं प्रवितीर्णनिर्वृतिम् ।
शरण्यभूतं शरणं जिनागमं गतोऽस्म्यहं भव्यजनैकबान्धवम् ॥५॥
गुणान्विता निर्मलवृत्तमौक्तिका नरोत्तमैः कण्ठविभूषणीकृता ।
न हारयष्टिः परमेव दुर्लभा समन्तभद्रादिभवा च भारती ॥६॥

नौमि । णम प्रह्वत्वे शब्दे लट् । रूपकम् ॥ ४ ॥ हितमित्यादि । हितम् उपकारकम् । विसंवादविवर्जित-स्थितिं विसंवादेन विरोधवचनेन विवर्जिता रहिता स्थितिर्यस्य तम् । 'मर्यादा धारणा-स्थिति' इत्यमर । परैः अन्यवादिभि । अभेद्यं कुहेतुदृष्टान्तैरभेद्यम् । प्रवितीर्णनिर्वृतिं प्रवितीर्णा प्रदत्ता निर्वृतिर्मोक्षो येन तम् । शरण्यभूतं शरण्यमपायसरक्षणोपायो भवति स्म, तथोक्तस्तम् । भव्यजनैकबान्धवं रत्नत्रयाविर्भवनयोग्या भव्याः ते च ते जना तेषामेको मुख्यो बान्धवः तम् । जिनागमं जिनेन प्रणीत आगमं तम् । अहं वीरनन्दी । शरण रक्षकम् । 'शरण गृहरक्षित्रो' इत्यमर । गत. यातः । अस्मि भवामि । अस भुवि लट् ॥ ५ ॥ गुणान्वि-तेत्यादि । [गुणान्विता] गुणै तन्तुभि पक्षे प्रसादमाधुर्यादिभिरन्विता । 'मौर्व्यप्रदा[धा]नपारदेन्द्रिय-सूत्रसत्त्वादिसंख्यादिविद्यादिहरितादिषु गुण' इति नानार्थकोशे । निर्मल-वृत्तमौक्तिका निर्मल निर्दोष त्रासादि-दोषरहितं वृत्त पद्य वर्तुल येषा ते तथोक्ता मौक्तिका मुक्तिः प्रयोजन येषा ते मौक्तिका भव्या, पक्षे मुक्तामणयः निर्मला वृत्ता मौक्तिका यस्या सा तथोक्ता । (निर्मलानि त्रासादिदोषरहितानि वृत्तानि वर्तुलानि मौक्तिकानि मुक्ताफलानि, पक्षे निर्मलानि यतिभङ्गप्रभृतिदोषशून्यानि वृत्तमौक्तिकानि श्रेष्ठच्छन्दांसि यस्या सा) हारयष्टिरिव[रेव] हारलतेव[तैव] । परम् अत्यन्तम् । नरोत्तमैः नरेषूत्तमैः श्रेष्ठैः । कण्ठ-विभूषणीकृता प्रागकण्ठविभूषणमिदानीं कण्ठविभूषणं क्रियते स्म तथोक्ता । [न] नासीत्, सैकैव न धृते-त्यर्थः । पुनः कापीति चेत् । दुर्लभा दु खेन महता कष्टेन लभ्यत इति दुर्लभा । समन्तभद्रादिभवा समन्ता-द्भद्रं कल्याणं यस्यासौ समन्तभद्र, स आदिर्येषा ते समन्तभद्रादयः, तेषु भवा तथोक्ता । भारती च भाषा

वह बुढिया हो चुकी थी ॥४॥ मेरे लिए जिनागम ही शरण (रक्षक) है । मै उसीकी शरण आया हूँ । वह सबको हितकारी है । उसकी स्थिति पूर्वापर विरोधसे रहित है । उसके सिद्धान्त दूसरोके लिए अकाट्य हैं । वह शान्ति और मुक्ति प्रदान करनेवाला है तथा भव्य-जीवोंका तो एक मात्र बन्धु है ॥५॥ इस युगमे केवल हार ही नही, बल्कि समन्तभद्र आदि आचार्योंकी वाणी भी अत्यन्त दुर्लभ है । हार और समन्तभद्र आदि आचार्योंकी वाणीमे अद्‌भुत साम्य है – जिस प्रकार निर्मल गोल मोतियोको धागेमे पिरोकर हार बनाया जाता है और उत्तम पुरुष उसे अपने गलेमे आभूषणके रूपमें पहनते है इसी प्रकार समन्तभद्र आदि आचार्योंकी वाणी ओज, प्रसाद और माधुर्य गुणोंसे गुम्फित है, निर्दोष सुन्दर छन्दोमे निबद्ध

---

१. = ननु च चत्वार एव तीर्थकरा. कथमभिष्टुता न सर्वेऽपि, इति चेत्, उच्यतेऽत्र कवेरभि-प्राय: – बृहत्कथाप्रवरस्यास्य काव्यस्य विस्तरभयात् । अथवोत्सर्पिणीसमयादितीर्थप्रवर्तनादादिजिनस्याभिष्टव, प्रारब्धकथानायकत्वादष्टमस्य, निर्विघ्नत शास्त्रपरिसमाप्ते. कारणत्वात् शान्ते, वर्तमानतीर्थस्वामित्वादन्त्य-स्येति । तदापि शेषाणा नमनाकरणेऽपरीक्षकत्वमिति चेत् सर्वेऽपि नुता भगवताचार्येण – वीर विशिष्टाम् ई समवसरणादिलक्षणा लक्ष्मीम् ईरते इति वीर तीर्थकरसमुदाय त नमामि, यत सर्वेषामपि श्री पञ्चकल्याणाभिधा प्रातिहार्यातिशयादिलक्षणा समानैव श्रूयते श्रुते ।

गुणानगृह्णन् सुजनो न निर्वृतिं प्रयाति दोषानवदन्न दुर्जनः।
चिरंतनाभ्यासनिबन्धनेरिता गुणेषु दोषेषु च जायते मतिः ॥७॥
गुणान्यथैवोपदिशन्प्रशंसया गुरुत्वबुद्ध्या सुजनो नमस्यते।
तथैव दोषान्दिशतः प्रणिन्दया कृतः खलस्यापि मयायमञ्जलिः ॥८॥
सुदुष्करं यन्मनुते गणाधिपोऽप्यवैति वाग्देव्यपि भारमात्मनः।
विधित्सुरर्हच्चरितं तदल्पधीर्ध्रुवं न यास्यामि न हास्यतां सताम् ॥९॥

च, नरोत्तमै कण्ठविभूषणीकृतेत्यर्थ । श्लेष ॥ ६ ॥ गुणानित्यादि । सुजन शोभनो जन । गुणान् अगृह्णन् गृह्णातीति गृह्णन्, न गृह्णन् [अगृह्णन्] तथोक्त, अस्वीकुर्वन् । निर्वृति सतोषम् । 'निर्वृतिस्तु मनस्तोषे मोक्षे समयवाढयो' इति विश्व । न प्रयाति । दुर्जन निन्दितो जनो दुर्जन । दोषान् अवदन् वदतीति वदन् न वदन् अवदन् तथोक्तोऽब्रुवन् निर्वृतिम् । न प्रयाति । चिरन्तनाभ्यासनिबन्धनेरिता चिर भवश्चिरन्तन । 'सायं चिर प्राह्णे प्रगेऽव्ययात्' इति तनट् । चिरन्तनश्चासावभ्यासश्च स एव निबन्धन तेनेरिता प्रेरिता । मति बुद्धि' । गुणेषु सम्यग्ज्ञानादिसहभाविपरिणामेषु । दोषेषु च तद्विपरीतेषु च । च-शब्द समुच्चयार्थ । जायते उत्पद्यते । जनैङ् प्रादुर्भावे लट् ॥ ७ ॥ गुणानित्यादि । गुणान् उपदिशन् उपदिशत्युपदिशन् । 'लल्लट्' इत्यादिना शतृप्रत्यय । उपदेश कुर्वन् । सुजन सत्पुरुष । प्रशसया स्तुत्या । गुरुत्वबुद्धया गुरुत्वस्य महत्त्वस्य बुद्धया । यथैव नमस्यते नमस्क्रियते । 'नमो वरिवस्तपसः क्यच्' । तथैव दोषान् दिशत. ब्रुवत. । खलस्य दुर्जनस्यापि प्रणिन्दया प्रगर्हया। मया कविना । अयम् एव अञ्जलि मुकुलितहस्त । 'तौ युतावञ्जलि पुमान्' इत्यमर । कृत क्रियते स्म कृतो विहित[1] ॥ ८ ॥ सुदुष्करमित्यादि[2] । यत् चरितम् । गणाधिपोऽपि गणाना द्वादशानामधिपोऽपि गणाधिपोऽपि । सुदुष्कर सु सुष्ठु दु खेन महता कष्टेन क्रियत इति तथोक्तम् । मनुते जानाति । वाग्देव्यपि सरस्वत्यपि । आत्मन स्वस्य । भारम् । अवैति बुध्यते । तत् अर्हच्चरितम् अर्हतश्चरितम् । विधित्सु विधातुमिच्छु । 'सन्भिक्षा-' इत्यादिना[3] उ-प्रत्यय । अल्पधी अल्पाधीर्यस्य स', स्तोकबुद्धिरित्यर्थ । ध्रुव निश्चयम् । सता सत्पुरुषै । 'वा नाकस्य' इत्यादिना करणे षष्ठी । हास्यतां हास्यस्य भावम् । न यास्यामि न गमिष्यामि । न इति न, अपि तु यास्याम्येव । द्वौ नञौ प्रकृतमर्थं गमयत

है और उसे श्रेष्ठ पुरुष कण्ठस्थ करते हैं ॥६॥ दूसरोंसे गुण ग्रहण किये बिना सज्जनको और उनके दोषोका व्याख्यान किये विना दुर्जनको चैन नही पडती। इसका एक मात्र कारण है अपना-अपना चिरन्तन अभ्यास, जिससे प्रेरित होकर मानव (सज्जन और दुर्जन) की मति गुणो या दोषोकी ओर झुकती है ॥७॥ सज्जन दूसरोंके सद्गुणोकी—उनकी कृतिकी—प्रशंसा करता है और उनके ग्रहण करनेका उपदेश भी देता है, अत. लोग उसे अपना गुरु मानकर नमस्कार करते हैं। इसी प्रकार दुर्जन दूसरोके दोषोकी—उनकी कृतिकी—निन्दा करता हुआ उनको प्रख्यात करता है, अत मैं उसे भी हाथ जोडता हूँ ॥८॥ अरहत भगवान्के जिस चरितको चार ज्ञानके धारी, स्वय गणधर भगवान् भी कठिन मानते हैं और जिसे भगवती सरस्वती देवी (तीर्थंकरकी वाणी) भी अपना बोझा समझती है, अर्थात् अपरिमित होनेसे जिसका वर्ण, पद व वाक्योंके द्वारा पूर्णतया वर्णन नही किया जा सकता है, उसीको लिखनेके लिए मैं मन्द बुद्धि होकर भी प्रवृत्त हुआ हूँ। अत सत्पुरुषोंके सामने परिहास योग्य नहीं बनूँगा, यह कभी नही हो सकता—निश्चित ही उनकी हँसीका भाजन बनूँगा ॥ ९ ॥

---

१ श स 'विहित' नास्ति। २ श स सुदुष्करमिति। ३ श स सन्विपेत्यादिना।

तथापि तस्मिन् गुरुसेतुवाहिते सुदुष्प्रवेशेऽपि पुराणसागरे।
यथात्मशक्ति प्रयतोऽस्मि पोतकः पथीव यूथाधिपतिप्रवर्तिते ॥१०॥
अथास्ति[1] शृङ्गोल्लिखितामरालयो द्विपूरणद्वीपगतो गभस्तिभिः।
सृजन्नमेघां कलमाग्रपिङ्गलैस्तडिच्छ्रियं व्योमनि पूर्वमन्दरः ॥११॥
विभूष्य तत्पूर्वविदेहमात्मन श्रिया स्थितो नाकिनिवाससंनिभः।
समस्ति देशो भुवि मङ्गलावतीत्यभिख्यया यः प्रथितोऽर्थयुक्तया ॥ १२ ॥

॥ ९ ॥ तथेत्यादि। तथापि हास्यगमनप्रकारेणापि [प्रकारेऽपि]। सुदुष्प्रवेशेऽपि[2] सुष्ठु दुःखेन महता कष्टेन प्रवेशनीयेऽपि। गुरुसेतुवाहिते गुरवो गणधरादय त एव सेतुस्तेन वाहिते प्रापिते। तस्मिन्[3] पुराणसागरे पुराणमेव सागर तस्मिन्। यथात्मशक्ति आत्मन शक्तिस्तथोक्ता, आत्मशक्तिमनतिक्रम्य यथात्मशक्ति। यूथाधिपतिप्रवर्तिते यूथानामधिपतिर्गजाधिप तेन प्रवर्तित शोधित[4] तस्मिन्। पथि मार्गे। पोतक इव करिशावक इव। प्रयत उद्यत। अस्मि भवामि। उपमा ॥ १० ॥

अथेत्यादि। अथ पुराणप्रवेशानन्तरम्[5]। शृङ्गोल्लिखितामरालय शृङ्गेणोल्लिखित संस्पृष्टः सुरालय. स्वर्गो यस्यासौ तथोक्त, अत्युन्नतत्वादित्यर्थ। द्विपूरणद्वीपगत द्वयो पूरण द्वीप गच्छति स्म तथोक्त, द्वितीयद्वीपस्य धातकीखण्डस्य मध्यगत इत्यर्थ। कलमाग्रपिङ्गलै कलमाना शालीनामग्राणि मञ्जर्य. तानीव पिङ्गला सुवर्णवर्णा तै। गभस्तिभि किरणै। अमेघा जलधररहिताम्। व्योमनि आकाशे। तटिच्छ्रिय तटितो विद्युत श्रिय सपत्तिम्। सृजन् सृजतीति सृजन् निर्मापयन्। पूर्वमन्दर पूर्वमन्दरो मेरु। अस्ति वर्त्तते। अस भुवि लट् ॥११॥ विभूष्येत्यादि। य विषय। आत्मन स्वस्य। श्रिया पुण्यवत पुरुषान् श्रयतीति श्री, तया सपदा। तत्पूर्वविदेह तस्य पूर्वमन्दरस्य पूर्व पौरस्त्य विदेह जनपदम्। विभूष्य विभूषण पूर्व पश्चात् किंचिदिति, अलकृत्य। स्थित नाकिनिवाससनिभ नाकिना देवाना निवासस्य स्वर्गस्य सनिभ समान। अर्थयुक्तया अर्थेन युक्ता तया, सार्थकया। मङ्गलावतीत्यभिख्यया 'मङ्गलावती' इति अभिख्यया अभिधानेन। भुवि भूमौ। प्रथित प्रतीत। देश विषय। समस्ति सम्यग् वर्तते। अस भुवि लट् ॥१२॥

यद्यपि मुझे अपने परिहासका पहलेसे ही भान हो गया है, किन्तु फिर भी जैसे सेतु (पुल) की सहायतासे समुद्रमे प्रवेश करना सरल हो जाता है, इसी तरह गुरु-परम्पराको कृपासे मुझे पुराण (उत्तरपुराण, जिसके आधारसे चन्द्रप्रभचरित लिखा गया है) मे प्रवेश करना सरल हो गया है। यह पुराण भी समुद्रसे किसी अशमे कम नही है, तो भी गुरुओकी कृपासे अपनी प्रतिभा शक्तिके अनुसार इसमे प्रवेश करनेके लिए उद्यत हुआ हूँ। जैसे गजराजके द्वारा बनाये गये मार्गमे उसका बच्चा (पोतक) प्रवेश करनेके लिए उद्यत होता है ॥१०॥

अब यहाँसे कथाका प्रारम्भ होता है—दूसरे द्वीपका नाम धातकी खण्ड है। वहाँ पूर्व दिशामे जो मेरु पर्वत अवस्थित है, उसका शिखर स्वर्गको छूनेवाला—बहुत ऊँचा—है। उसका ऊपरी भाग सुनहरे रगका है, अत वह पकी धानकी बालो (मञ्जरी) के समान पीली किरणोके द्वारा आकाशमे मेघोके न रहनेपर भी बिजलीकी छटा दिखलाता है ॥११॥ उसके उस क्षेत्रमे—जिसका नाम पूर्व विदेह है—एक मगलावती नामका देश है। सदा मगलमय रहनेसे वह सार्थक नामवाला है। वह उस विदेहका भूषण है। वह अपनी श्री—विभूति और उत्कृष्ट शोभा—की दृष्टिसे स्वर्गके समान है। इसीलिए वह सारे भूमण्डलमे विख्यात है ॥१२॥

१ अ अथोस्ति। २ स प्रवेशनीयोऽपि। ३ श स अस्मिन्। ४. आ लोभित। ५ आ श स प्रवेशानन्तरे।

निरन्तरैर्यत्र शुकाङ्गकोमलैः समानसस्याङ्कुरसंचयैश्चिताः।
जनस्य चेतांसि हरन्ति भूमयो हरिन्मणिव्रातविनिर्मिता इव ॥१३॥

निशाकरांशुप्रकराच्छवारिभिर्विनिद्रनीलोत्पलरश्मिरञ्जितैः।
च्युतैर्निरालम्बतया विहायसो विभाति खण्डैरिव यः सरोवरैः॥१४॥

निशासु शीतांशुमणिस्थलच्युतैः पयःप्रवाहैः परिपूरितान्तराः।
वहन्ति यस्मिञ्जलराशियोषितो निदाघकालेष्वपि कूलमुद्रुजाः॥१५॥

निरन्तरैरित्यादि। यत्र यस्या मङ्गलावत्याम्। निरन्तरै अन्तरान्निर्गतै, निरवकाशैरित्यर्थ। शुकाङ्गकोमलै शुकानामङ्गानीव कोमलैर्मृदुलै। समानसस्याङ्कुरसचयै समानाना सस्यानाम् अङ्कुराणा सचयै समूहै। चिता चीयन्ते स्म चिता, व्याप्ता। भूमय भुव। हरिन्मणिव्रातविनिर्मिता इव हरिता मणीना मरकत-रत्नाना व्रातेन समूहेन विनिर्मिता सृष्टा इव। जनस्य लोकस्य। चेतासि चित्तानि। हरन्ति अपहरन्ति। हृञ् हरणे लट्। उत्प्रेक्षा ॥१३॥ निशाकरेत्यादि। य देश। निशाकराशुप्रकराच्छवारिभि निशाकरस्य चन्द्रस्य अशूना प्रकर समूह इव अच्छानि निर्मलानि वारीणि जलानि येषा तै.। विनिद्रनीलोत्पलरश्मिरञ्जितै विनिद्राणा विकसिताना नीलोत्पलानाम् इन्दीवराणा रश्मिभिः कान्तिभी रञ्जितैर्विम्बितै. (नीलवर्णीकृतै)। सरोवरै महासरोभि। निरालम्बतया आलम्बनात् [आलम्बात्][1] निर्गत निरालम्ब तस्य भाव तया, आधाररहितत्वेनेत्यर्थ। च्युतै च्यवन्ते स्म च्युता तै, पतितै। विहायस गगनस्य। खण्डैरिव शकलैरिव। विभाति विराजते। भा दीप्तौ लट्। उत्प्रेक्षा ॥१४॥ निशास्वित्यादि। यस्मिन् देशे। निशासु रात्रिषु। शीताशुमणिस्थलच्युतै शीताशुमणे. चन्द्रकान्तमणे स्थलात् प्रदेशात् च्युतै पतितै। पय प्रवाहै पयसा सलिलाना प्रवाहै। परिपूरितान्तरा परिपूर्यते स्म परिपूरितम् अन्तर मध्यप्रदेशो यासा[2] ता। जलराशि-योषित जलराशे. समुद्रस्य योषित स्त्रियो नद्य इत्यर्थ। निदाघकालेष्वपि[3] निदाघाश्च ते कालाश्च निदाघ-काला तेष्वपि, उष्णकालेष्वपि। कूलमुद्रुजा कूलम् उद्रुजन्तीति कूलमुद्रुजा.। 'कूलादुदिरुज्वह' इति खश्., 'खित्यरु –' इत्यादिना अम्[4] [मम्]। तटविदारका सत्य। वहन्ति स्रवन्ति। वह[5] प्रापणे

वहाँ धान्यकी खेती प्रचुर मात्रामे होती है। वहाँकी भूमि उपजाऊ है। जब उसमे चारो ओर समान ऊँचाईवाले कोमल, इतने कोमल जितना कि तोतेका शरीर कोमल होता है, धान्यके अकुर दृष्टि-गोचर होते हैं, तब वह ऐसी जान पडती है मानो उसमे हरे मणि जड दिये गये हो। इसीलिए वह देखनेवालोके मनको बरबस हर लेती है—देखनेवाले वहाँसे भले ही चले जाँय, किन्तु उनका मन वही रमा रह जाता है ॥१३॥ वहाँ जो बडे-बडे सरोवर हैं उनमे चन्द्रमाकी किरणोंके समान निर्मल जल भरा हुआ है और उसमे नील कमल खिले हुए हैं। उन कमलोकी नीली प्रभासे सरोवरोका जल नीला दिख रहा है। अत वे ऐसे जान पडते हैं मानो आधार न रहनेसे टूटकर गिरे हुए आकाशके टुकडे हो ॥१४॥ वहाँ जहाँ-तहाँ जो चन्द्रकान्त मणिमय भवन हैं उनसे रात्रिके समय चन्द्रमाकी किरणोका स्पर्श होते ही जो जलका पूर बहने लगता है उसके प्रभावसे वहाँकी नदियोंके प्रवाह ग्रीष्मकालमे भी अपने दोनो

---

१ श स निरालम्बन। २ आ येषा। ३ श ष निदाघकालेऽपि। ४. श स मट्। ५ आ वहि प्रापणे।

सदायमस्मत्प्रतिपक्षभूतया कृताधिवासो धनधान्यसंपदा।
इतीव यस्मिन् विहिताभ्यसूयया न जातु लोको विपदा विलोक्यते ॥१६॥
विकासवद्भिः शरदभ्रपाण्डुरैः सितातपत्रैरिव यः प्रसारितैः।
समस्तदेशाधिपतित्वमात्मनो व्यनक्ति लोके स्थलनीरजाकरैः ॥१७॥
समुज्ज्वलाभिः कनकादियोनिभिर्विकासिनीभिः[1] खनिभि समन्ततः।
कृतास्पदा यत्र जनर्द्धिहेतुभिर्यथार्थनामा वसुमत्यजायत ॥१८॥
शिखावलीलीढघनाघनाध्वभिर्बहिः स्थितैर्नूतनधान्यराशिभिः।
विभान्ति यस्मिन्निगमाः कुतूहलादिवोपयातैः कुलमेदिनीधरैः ॥१९॥

लट् ॥१५॥ सदेत्यादि। यस्मिन् विदेहे[2]। अयम् एष मङ्गलावतीदेश। अस्मत्प्रतिपक्षभूतया अस्माक प्रतिपक्षभूतया विरुद्धभूतया। धनधान्यसपदा धनाना धान्याना सपदा सपत्त्या। सदा सर्वस्मिन् काले। कृताधिवास कृतो विहितो अधिवास स्थान यस्यासौ[3] इति एव प्रकारेण। विहिताभ्यसूयया विहितया कृतया अभ्यसूयया ईर्ष्ययेत्र यद्वा विहिता अभ्यसूया यया सा तथोक्ता तया। विपदा विपत्त्या। लोक जन। जातु कदाचिदपि। न विलोक्यते न वीक्ष्यते। लोकृञ्[4] दर्शने कर्मणि लट् ॥१६॥ विकासवद्भिरित्यादि। य देश। विकासवद्भि विकासोऽस्त्येषामिति विकासवन्तः तै विकसनयुक्तै। 'अस्त्यस्मिन्वेति मतु' इति मतु, 'मान्तोपान्त –' इत्यादिना मस्य व। शरदभ्रपाण्डुरै शरदि शरत्काले प्रवर्तमानम् अभ्र मेघ इव पाण्डुरा. शुभ्रा' तै.। प्रसारितै विस्तृतै। स्थलनीरजाकरै स्थले प्रवर्तमानाना नीरजानाम् आकरै खनिभि[5] सितातपत्रैरिव सितै. आतपत्रैरिव श्वेतच्छत्रैरिव। लोके जगति। आत्मन स्वस्य। समस्तदेशाधिपतित्व समस्ताना देशानाम् अधिपतित्व प्रभुत्वम्। व्यनक्ति व्यक्तीकरोति। अञ्जू गतिव्यक्तिम्रक्षणेषु लट् ॥१७॥ समुज्ज्वलाभिरित्यादि। यत्र देशे। जनर्द्धिहेतुभि जनानाम् ऋद्धीनाम् ऐश्वर्याणा हेतुभि कारणभूतै। समुज्ज्वलाभि. प्रकाशमानाभि। कनकादियोनिभि कनकादीना योनिभि उत्पत्तिस्थानै। विकासिनीभि विकसनशीलाभिः। खनिभि आकरै। समन्तत परितः कृतास्पदा कृतो विहित आस्पद[6] आश्रयो यस्या सा तथोक्ता। वसुमती वसु द्रव्यम् अस्या अस्तीति वसुमती। यथार्थनामा यथार्थं नाम यस्या सा यथार्थनामा यथार्थाभिधाना। अजायत जनैङ् प्रादुर्भावे लङ् ॥१८॥ शिखेत्यादि। यस्मिन् देशे। शिखावलीलीढघनाघनाध्वभि शिखानाम् अग्राणाम् आवल्या लीढ सश्लिष्टो घनाघनस्य मेघस्याध्वा मार्गो येषा तै, अत्युदग्रै इत्यर्थ। 'घनाघनो घनो मेघः'

किनारोसे टकराते हुए बहा करते हैं ॥१५॥ यहाँके लोगोंके पास सदा मेरी विरोधिनी (सौत) धन-धान्य-सम्पत्ति निवास करती है। अत यहाँ मेरी दाल गलना कठिन है। मानो इसी सौतियाडाहके कारण विपत्ति वहाँके किसी मनुष्यकी ओर देखती तक न थी ॥१६॥ वहाँ जो शरत्कालीन मेघके समान धवल स्थलकमल खिले हुए है वे खुले हुए शुभ्रवर्ण छातोके समान दिखते हैं। अत लगता है कि वह देश उनसे यह व्यक्त कर रहा है कि 'मै सभी देशोका राजा हूँ' ॥१७॥ वहाँ चारो ओर जो निर्मल, स्वर्ण आदि धातुओकी उत्पादक एव लोगोकी समृद्धिकी कारणभूत खानें फैली हुई थी उनसे वहाँकी वसुमती—भूमि—का वसुमती—धनवाली—नाम सार्थक हो गया है ॥१८॥ उस देशके निकटवर्ती गाँवोमे अन्न बहुतायतसे उत्पन्न होता है। उन गाँवोके बाहर खलिहानोमे मेघ मार्गको छूनेवाली—अतिशय ऊँची—जो नवीन

१. अ विकाशनीभि, आ इ विकाशिनीभि। २ [मङ्गलावतीविषये]। ३ [यस्मिन्नसौ]। ४. स लोकृय्। ५. [समूहै]। ६ [आस्पदम्]।

गतैः समासन्निमिवेतरेतरश्रियामनन्यत्रभुवां दिदृक्षया।
निरन्तरोद्यानवितानराजितैर्महागृहैर्ग्रामपुरैर्विभाति यः ॥२०॥
वणिक्पथस्तूपितरत्नसंचयं समस्ति तस्मिन्नथ रत्नसंचयम्।
पुरं यदालानितमत्तवारणैर्विभाति हर्म्यैश्च समत्तवारणैः ॥२१॥
गभीरनादैः प्रतिमानिपातिभिः पयोधरैर्मन्दसमीरणेरितैः।
जलेभयूथैरिव संकुलान्तरा विराजते यत्परिखा प्रथीयसी ॥२२॥

इति धनजय । बहि स्थितै बाह्यस्थितै । नूतनधान्यराशिभि नूतनाना नवीनाना धान्याना राशिभि पुञ्जै । कुतूहलात् कौतुकात् । उपयातै. उपागतै । कुलमेदिनीधरै कुलभूधरैरिव । निगमा भक्तग्रामा । विभान्ति विराजन्ते । भा दीप्तौ लट्। उत्प्रेक्षा ॥१९॥ गतैरित्यादि । य देश. । अनन्यत्रभुवाम् अन्यत्र भवन्तीत्यन्यत्रभुवो नान्यत्रभुवोऽनन्यत्रभुव तासाम् अन्यत्र [°त्रा] सभूतानाम्। इतरेतरश्रियाम् इतरेतरस्य श्रिय तासाम् अन्योन्यसपदाम्। दिदृक्षया द्रष्टु वाञ्छया। 'सन्भिक्षा—' इत्यादिना उ-प्रत्यय । समासन्नि सामीप्यम्। गतै यातैरिव[1]। निरन्तरोद्यानवितानराजितै निरन्तराणा निबिडानाम् उद्यानानाम् आरामाणां वितानेन निवहेन राजितै । [2]'विस्तारावसरक्रतुवृत्तभेदतुच्छमन्दसमाजेपु वितानम्' इति नानार्थकोशे । महागृहै [महान्ति विशालानि गृहाणि भवनानि येपु तैस्तथोक्तै]। ग्रामाश्च पुराणि च तै ग्रामै पत्तनैश्च। विभाति विराजते । भा दीप्तौ लट्। उत्प्रेक्षा ॥ २० ॥ वणिक्पथेत्यादि । अथ देशवर्णनानन्तरम्। तस्मिन् देशे। यत् यस्मात्[3] आलानितमत्तवारणै बन्धमभाविता[4] मत्तवारणा मत्तगजा येषां तै[5]। समत्तवारणै मत्तवारणेन सह वर्तन्त इति समत्तवारणा, तै, उपधानफलकविशेषयुतै । 'मत्तवारण-मिच्छन्ति दानक्लिन्नकटद्विपे। महाप्रासादवीथीना वरण्डे चाप्युपाश्रये' इति विश्व । हर्म्यै धनिनिवासै । विभाति विराजते। वणिक्पथस्तूपितरत्नसचय वणिजा पथिपु वणिक्पथेपु । 'ऋक्पू पथ्यपोऽत्' इति अत्, स्तूपितो राशीकृतो[6] रत्नाना संचयो यस्मिन् तत्तथोक्तम्। रत्नसचय नाम [रत्नसचयनामकम्]। पुर पत्तनम्। समस्ति प्रवर्तते। अस भुवि लट्। पादान्त्ययमकम् ॥२१॥ गभीरनादैरित्यादि । प्रथीयसी प्रकृष्टा पृथ्वी प्रथीयसी,[7] अत्यन्त महती। 'गुणाङ्गाद्वेष्ठेयसु' इति[8] ईयसु। यत्परिखा यस्य पुरस्य परिखा खातिका। गभीरनादै गभीरो नादो येषा तैर्गभीरध्वनिसहितै । प्रतिमानिपातिभि प्रतिमा निपातयन्तीत्येव

अन्नकी ढेरियाँ लगी हुई हैं वे ऐसी प्रतीत होती हैं मानो उन गाँवोकी शोभाके देखनेकी इच्छासे कौतूहलवश कुलाचल ही चले आये हो ॥१९॥ वहाँके निकटवर्ती ग्रामो और नगरोमें अटूट सम्पत्ति है, ऐसी सम्पत्ति और कही सम्भव नही है। वे ग्राम-नगरादि मानो एक दूसरेकी इस सम्पत्तिके देखनेकी इच्छासे ही समीपताको प्राप्त हुए हैं। थोडे-थोडे अन्तरसे लगे हुए बाग-बगीचोंके समूहो और बडे-बडे महलोसे उन ग्रामो और नगरोकी शोभा देखते ही बनती है ॥२०॥ अब यहाँसे नगरका वर्णन प्रारम्भ होता है—उस देशमे एक रत्न सचय नामका नगर है। उस नगरके बाजारोमे रत्नोकी ढेरियाँ लगायी जाती हैं। इससे उसका 'रत्नसचय' यह सार्थक नाम ही समझना चाहिए। वह पुर खम्भेसे बँधे हुए मत्तवारणो—हाथियो—और मत्तवारण सहित—छज्जेवाले—बडे-बडे भवनोसे सुशोभित है ॥२१॥ मेघो और हाथियोमे बडी समानता पाई जाती है। दोनोका गर्जन एक-जैसा गम्भीर होता है। दोनोकी विशाल छाया दृष्टिगोचर होती है। दोनो ही मन्दवायुसे प्रभावित होते हैं – मेघ उसी दिशाकी ओर जाते हैं, जिधर

१ श स यातै । २ °रापसर । ३ [यत् पुर] । ४ आ बन्धासम्भाविता । ५. [बन्धसम्भाविताश्च ते मत्तवारणा मत्तगजा तै] । ६ श स राशितो । ७. [अतिशयेन पृथ्वी पृथीयसी] । ८ आ श स ईयस्।

परीतशृङ्गः[१] स्फुरदंशुजालकैर्निशासु नक्षत्रगणैः समन्ततः ।
विभाति यस्मिन् परिधिः स्थिरप्रभैरिव प्रदीपप्रकरैः प्रबोधितै[२] ॥२३॥
मलीमसं भृङ्गनिभेन लक्ष्मणा विलोक्यते यत्र घनाध्वमध्यगम् ।
गृहैरिवाभ्रंलिहशृङ्गकोटिभिर्निघृष्टदेहच्छवि चन्द्रमण्डलम् ॥२४॥
मदाभमम्भो विसृजद्भिरुल्लसत्तडिल्लतालंकरणैरधोगतैः ।
शरीरिणां गोपुरशृङ्गवर्तिनां वितन्यते यत्र गजभ्रमो घनैः ॥२५॥

शीला तै प्रतिबिम्बप्रदानशीलै । मन्दसमीरणेरितै मन्देन समीरणेन वायुना ईरितै प्रेरितै । पयोधरै मेघै. । व्योमगतैरिति शेष । जलेभयूथै जलगजाना समूहै । सकुलान्तरेव सकुल सघटितमन्तर मध्य यस्या सेव । विराजते विभाति । राजृ दीप्तौ लट् ॥ २२ ॥ परीतशृङ्ग इत्यादि । यस्मिन् पुरे । निशासु रात्रिषु । प्रबोधितै प्रदीपितै । स्थिरप्रभै स्थिरा निश्चला प्रभा कान्तयो येषा तै । प्रदीपप्रकरै प्रदीपाना प्रकरै समूहैरिव । समन्तत. समन्तात् समन्तत सर्वत । स्फुरदशुजालकै स्फुरत्प्रज्वलदशूना किरणाना जाल समूहो येषा तै. । नक्षत्रगणै नक्षत्राणा गणैर्निवहै । परीतशृङ्ग' परीतानि परिवेष्टितानि शृङ्गाणि शिखराणि यस्य स । परिधि प्राकार । विभाति विराजते । उत्प्रेक्षा ॥ २३ ॥ मलीमसमित्यादि[३] । यत्र पुरे । भृङ्गनिभेन भृङ्गस्य भ्रमरस्य निभेन समानेन । उपमा । लक्ष्मणा चिह्नेन । मलीमसम् मलम-[४] स्यास्तीति मलीमसम् । 'मलादीमसश्च' इति ईमस प्रत्यय । 'मलीमस तु मलिनम्' इत्यमर । घनाध्वमध्यगम् घनाध्वन आकाशस्य मध्य गच्छतीति मध्यगम् । 'गम[५] खड्डा' इति ड–प्रत्यय । चन्द्रमण्डल चन्द्रस्य[६] मण्डल बिम्बम् । अभ्रलिहशृङ्गकोटिभि अभ्र लिहन्तीत्यभ्रलिहानि तानि च तानि शृङ्गाणि च तयोक्तानि तेषा कोटयोऽग्रभागा येषा तै । 'वहाभ्राल्लिह' इति श्व । 'खित्यरु—' इत्यादिना ममागम । गृहै मन्दिरै. । निघृष्टदेहच्छवि निघृष्टा घृष्टा[७] देहस्य छवि कान्तिर्यस्य तत्, तदिव । विलोक्यते लक्ष्यते । लोकृ[८] दर्शने लट् । उत्प्रेक्षा ॥ २४ ॥ मदाभमित्यादि । यत्र पुरे । मदाभं मदजलाभम् । अम्भ सलिलम् । विसृजद्भि. विस्रवद्भि[९] । उल्लसत्तडिल्लतालङ्करणै उल्लसन्त्यो विभान्त्य तडिता लता एवालङ्करणं येषा तै । अधोगतै अधोयातै । घनै वारिवाहै । गोपुरशृङ्गवर्तिना गोपुरस्य पुरद्वारस्य शृङ्गे शिखरे वर्तिना

उसका रुख हो और हाथी उसीकी चाल (मन्दगति) से चलते हैं। अतएव मेघोकी छाया पड़नेसे उस नगरकी विशाल परिखा (खाई) ऐसी जान पडती है मानो उसके बीचमे जल-गजोका झुण्ड इकट्ठा हो गया हो ॥२२॥ उस नगरके चारो ओर विशाल परकोटा है। उसके उन्नत शिखरोपर रात्रिके समय जब चारो ओरसे चमचमाते हुए नक्षत्र दृष्टिगोचर होते हैं तब ऐसा मालूम पडता है मानो वहाँ (शिखरोपर) स्थिर प्रभाको धारण करनेवाले दीपक जलाकर रख दिये गये हो। इस अवसरपर उस (परकोटे) की छवि देखते ही बनती है ॥२३॥ उस नगरमे रात्रिके समय आकाशके बीचसे जाते हुए चन्द्रमण्डलके भ्रमरके समान काले चिह्न-को देखकर ऐसा भान होता था कि मानो वहाँके गगनचुम्बी शिखरोके अग्रभागवाले भवनोंसे उसके शरीरकी कान्ति घिस गई है ॥२४॥ मेघो और हाथियोमे अनेक दृष्टियोसे बडी समानता है। मेघ मदजलके समान सुगन्धित जल बरसाते हैं व कौंधती हुई बिजलीके आभूषणसे भूषित रहते हैं और हाथी भी सुगन्धित मदजल बरसाते है एव बिजली सरीखे चमचमाते हुए सोनेके

१ म परीतशृङ्गैं । २ अ 'युग्म' इत्युपलभ्यते । ३. श स मलीमस इत्यादि । ४ [मलोऽस्या०] । ५. श स 'गमः –' इत्यादि नास्ति । ६ आ 'चन्द्रस्य' नास्ति । ७ आ विस्पृष्टा । ८ आ लोकृ दर्शने । ९. श स विसृपद्भिः ।

सुगन्धिनिःश्वासमरुन्मनोहरे मनोभुवापाण्डुनि कामिनीमुखे।
समापतन् राहुरिवेन्दुशङ्कया विलोक्यते यत्र मधुव्रतव्रज ॥२६॥
निपातयन्ती तरले विलोचने सजीवचित्रासु निवासभित्तिषु।
नवा वधूर्यत्र जनाभिशङ्कया न गाढमालिङ्गति जीवितेश्वरम् ॥२७॥
शशाङ्ककान्ताश्ममयोर्ध्वभूमिकान् पतत्पय सौधचयाद् विधूद्गमे।
शिखण्डिना यत्र पयोदशङ्किना तनोत्यकाण्डेऽपि विकासि ताण्डवम् ॥२८॥

वर्तनशीलानाम्। शरीरिणा शरीरमस्त्येषामिति शरीरिणस्तेषा प्राणिनाम्। गजभ्रम गजा इति भ्रम। वितन्यते विस्तार्यते। तनु विस्तारे कर्मणि लट्। भ्रान्तिमान् ॥ २५ ॥ सुगन्धीत्यादि। यत्र पुरे। सुगन्धिनिश्वासमरुन्मनोहरे सु शोभनो गन्धो यस्य [स] सुगन्धि, 'सूत्पूतिसुरभेर्गन्धादिद् गुणे' इति इत्, स चासौ निश्वासश्च तस्य मरुद् वायु तेन मनोहर तस्मिन्[२]। मनोभुवा पाण्डुनि[३] मनोभवेन मन्मथेन मन्मथक्रीडयेत्यर्थ आपाण्डुनि ईषच्छुभ्रे। कामिनीमुखे कामिनीना वनिताना मुखे। मधुव्रतव्रज मधुव्रताना भ्रमराणा व्रज समूह। इन्दुशङ्कया इन्दुरिति चन्द्र इति शङ्कया सदेहेन। समापतन् समागच्छन्। राहुरिव राहुग्रह इव। विलोक्यते वीक्ष्यते। लोकृञ् दर्शने कर्मणि लट। भ्रान्तिरुत्प्रेक्षा च[४] ॥ २६ ॥ निपातयन्तीत्यादि। यत्र पुरे। सजीवचित्रासु जीवचित्रै सह वर्तन्त इति तथोक्ता तासु भावचित्रसहितासु। निवासभित्तिषु निवासस्य गृहस्य भित्तिषु कुड्येषु। तरले चञ्चले। विलोचने नयने। निपातयन्ती व्यापारयन्ती। नवा नवोढा। वधू नारी। जनाभिशङ्कया जना वर्तन्त इत्यभिशङ्कया सदेहेन। जीवितेश्वर प्राणकान्तम्[५]। गाढम् दृढम्। न आलिङ्गति आलिङ्गन न करोति। लिगु गतौ लट् ॥ २७ ॥ शशाङ्केत्यादि। यत्र पुरे। विधूद्गमे विधोश्चन्द्रस्योद्गम उदय तस्मिन्। शशाङ्ककान्ताश्ममयोर्ध्वभूमिकात् शशाङ्ककान्तश्चासावश्मा च शशाङ्ककान्ताश्मा चन्द्रकान्तशिला तस्य विकारा शशाङ्ककान्ताश्ममया[६], ऊर्ध्वा चासौ भूमिश्च तथोक्ता शशाङ्ककान्ताश्ममयोर्ध्वभूमिर्यस्य तस्मात्। सौधचयात् सौधाना चय तस्मात्। पतत्पय स्रवदुदकम्। अकाण्डेऽपि अकालेऽपि। 'काण्डोऽस्त्री दण्डबाणार्ववर्गावसरवारिषु' इत्यमर। पयोदशङ्किना पयोदो मेघ इति शङ्किना शिखण्डिना शिखण्डोऽस्त्येषामिति शिखण्डिन तेषा मयूराणाम्। विकासिताण्डवम्, विकासि मनोहर[७] ताण्डव नर्तनम्। तनोति

आभूषण पहनते हैं। फलत उस नगरके प्रमुख द्वारके शिखरपर जो भी मनुष्य पहुँचते है, उन्हे नीचे घुमडते हुए मेघोमे हाथियोका भ्रम हो जाता है ॥२५॥ वहाँ अत्यन्त सुन्दर स्त्रियाँ निवास करती हैं। उनके गोरे मुखमण्डलको कामदेवने और भी अधिक गोरा कर दिया है। उनके श्वासवायुमे मनको हरनेवाली सुगन्धि निकलती है। फलत उनके मुखमण्डलपर जो भौरोका झुण्ड गिरता है, उसे देखकर ऐसा जान पडता है मानो वह उनके उस मुखमण्डलको पूर्णमासीका चन्द्रमण्डल समझकर ही उसपर गिर रहा है ॥२६॥ वहाँकी चित्रकला और महलोकी सजावट दर्शनीय है। उन महलोकी दीवालोपर जो मनुष्य आदि प्राणियोंके अनेक चित्र बने हुए हैं वे सब-के-सब सजीव जान पडते हैं। ऐसी अवस्थामे पहली बार आई हुई बहू उन्हे अपनी चचल दृष्टिसे देखकर वहाँ अन्य लोगोकी उपस्थितिके भ्रममे पड जाती है अत एव वह अपने पतिके साथ गाढ आलिगन नही करती ॥ २७ ॥ वहाँके महल बहुत ऊँचे हैं। उनकी छतो पर चन्द्रकान्तमणि जडे हुए हैं। अत. चन्द्रोदय होते ही उनसे पानी झरने लगता है।

१ अ आ इ विकाशि। २ = अत्र मुख-चन्द्रयो कान्तिमत्तया समानत्वेऽपि सुगन्धित्वेन कामिनीमुखे विशेष इति भावः। ३ श स मनोभुवापाण्डुर°। ४ आ 'च' नास्ति। ५ प्राणनाथम्। ६ अ °श्ममयी। ७ [विकासि प्रोत्फुल्लवर्हं]।

निशागमे सौधशिरोधिरोहिणो वधूजनस्यामलगण्डमण्डलात् ।
अभिन्नदेशो विधुराननाम्बुजाद् विभज्यते यत्र कलङ्करेखया ॥२९॥
समुल्लसद्भिः शरदभ्रपाण्डुभिर्ध्वजांशुकैर्यद्विनिवारितातपैः ।
गृहाग्रभागोल्लिखितस्य निर्मलैर्विभाति निर्मोकलवैरिवोष्णगोः ॥३०॥
विशालशालोपवनोपशोभिनः शिरःसमुत्तम्भितमेघपङ्क्तयः ।
जिनालयाः सिंहसनाथमूर्तयो विभान्ति यस्मिन् धरणीधरा इव ॥३१॥

विस्तारयति । उत्प्रेक्षा[1] ॥ २८ ॥ निशागम इत्यादि । यत्र पुरे । निशागमे निशाया रात्र्या आगम तस्मिन् । सौधशिरोधिरोहिण सौधाना हर्म्याणा शिरोऽग्रभागमधिरोहिण आरोहणशीलस्य । वधूजनस्य वनितालोकस्य अमलगण्डमण्डलात् अमल गण्डयोर्मण्डल यस्य तस्माद् विशुद्धकपोलतलयुतात् । आननाम्बुजात् वदनकमलात् । रूपकम् । अभिन्नदेश अभिन्नो देशो यस्य सोऽविभक्तप्रदेशयुक्त । विधु. चन्द्र । कलङ्करेखया कलङ्कस्य लाञ्छनस्य रेखया लेखया । विभज्यते विभिद्यते । भज सेवाया कर्मणि लट् ॥ २९ ॥ समुल्लसद्भिरित्यादि । यत् पुरम् । समुल्लसद्भि समुल्लसन्तीति समुल्लसन्त: तैर्विराजमानै । शतृप्रत्यय । शरदभ्रपाण्डुभि. शरद शरत्कालस्याभ्रवन्मेघवत्पाण्डुभि' शुभ्रै । विनिवारितातपै. निरुद्धातपै[2] । ध्वजांशुकै ध्वजाना पताकानामंशुकैर्वस्त्रै । गृहाग्रभागोल्लिखितस्य गृहाणा सदनानामग्रभागैरुल्लिखितस्य विदारितस्य । उष्णगो. उष्णा तीक्ष्णा गाव किरणा यस्य स, सूर्यस्य । 'स्वर्गेषुपशुवाग्वज्रदिङ्नेत्रघृणिभूजले । लक्षदृष्ट्या स्त्रिया पुसि गौ' इत्यमर । निर्मलै शुभ्रै. । निर्मोकलवैरिव कञ्चुकलेशैरिव । विभाति विराजते । भा दीप्तौ लट् । उत्प्रेक्षा ॥ ३० ॥ विशालेत्यादि । यस्मिन् पुरे । विशालशालोपवनोपशोभिन विशालाभ्या[3] शालोपवनाभ्या प्राकारोद्यानाभ्यामुपशोभिन. शोभनशीला. पक्षे शालाश्च ते सालाश्च शालसाला विशिष्टा शालसाला विशालसाला विशालसालाश्चोपवनानि च विशालशालोपवनानि तैः शोभिनो विशिष्टसर्जवृक्षै समीपगतवनैश्च विराजमाना । 'शालो हाले नृपे मत्स्यप्रभेदे सर्जपादपे । साल पादपमात्रे स्यात्प्राकारे शिशुकद्रुमे[4] ।' इत्युभयत्रापि विश्व । शिर समुत्तम्भितमेघपक्तय' शिरोभि शिखरैः समुत्तम्भिता सरुद्धा मेघानां जलधराणा पक्तिर्येषा ते तथोक्ता. । सिंहसनाथमूर्त्तय सिंहै मृगेन्द्रै. सनाथा सहिता मूर्त्तय. प्रतिमा,

---

फलतः मयूरोको मेघका भ्रम हो जाता है । इसीलिये वे असमयमे ही—वर्षाका समय न रहने पर भी—अपने पिच्छको फैलाकर नृत्य प्रारम्भ कर देते हैं ॥ २८ ॥ वहाँ को स्त्रियाँ चाँदनीका आनन्द लेनेके लिए रात्रिके समय महलोकी छतपर चली जाती हैं । वहाँ उनके निर्मल कपोल-मण्डलवाले मुखकमल और चन्द्रमण्डल एक ही प्रदेशमे पहुँच कर—ऊपर आकाशमे स्थित होकर—समान दिखते हैं । तब उस अवस्थामे चन्द्रकी पहचान केवल उसके कलककी रेखासे ही हो पाती है ॥ २९ ॥ वहाँके महलोपर शरत्कालीन मेघके समान श्वेत ध्वजाओंके वस्त्र लहरा रहे हैं : वे धूपको रोकते हैं : वे ऐसे जान पडते हैं मानो वहाँके महलोंके उन्नत शिखरोसे घिसकर गिरे हुए सूर्यके स्वच्छ वस्त्रके टुकडे ही हो ॥ ३० ॥ वहाँके जैन मन्दिर पर्वतोके समान हैं—मन्दिरोके चारो ओर विशाल चहार दीवारी खिंची हुई है। उनके आस-पासमे अनेक उपवन हैं। उनमे अनेक प्रकारके वृक्ष लगे हुए हैं। उन (मन्दिरों) के शिखरोपर मेघ विश्राम करते हैं। उनके अन्दर वेदियोपर ऐसी मूर्तियाँ विराजमान हैं, जिनका चिह्न सिंह है और उनके प्रवेश द्वारके ऊपर भी सिंहोकी मूर्तियाँ बनी हुई हैं।

---

१. [उदात्तो भ्रान्तिमाश्च]। २ श स विरुद्धातपै । आ अक्षदृष्ट्यो । श स लक्ष्यदृष्ट्यो. । ३ श स 'विशालाभ्या' इत्यत प्रारभ्य 'तै शोभिनो' पर्यन्त संदर्भो नोपलभ्यते । ४ श स शाखकद्रुमे ।

मदेन योगो द्विरदेषु केवलं विलोक्यते धातुषु सोपसर्गता।
भवन्ति शब्देषु निपातनक्रियाः कुचेषु यस्मिन् करपीडनानि च ॥३२॥
द्विजिह्वता यत्र परं फणाभृतां कुलेषु चिन्तापरता च योगिषु।
नितम्बिनीनामुदरेषु केवलं दरिद्रतौष्ठेष्वधरत्वसंभवः ॥३३॥

पक्षे मूर्ति स्वरूप येषा ते तथोक्ता । 'मूर्ति काठिन्यकाययो ' इत्यमर । जिनालया चैत्यालया । धरणीधरा इव पर्वता इव। विभान्ति विराजन्ते। श्लेषोपमालङ्कार ॥ ३१ ॥ मदेनेत्यादि। यस्मिन् पुरे। मदेन गर्वेण[१] । 'मदो रेतसि कस्तूर्यां गर्वे हर्षेभदानयो । मद्येऽपि मद आख्यातो मुदि कृतकवस्तुनि।' इति विश्व । योग सबन्ध । केवल परम्। द्विरदेपु गजेपु विलोक्यते दृश्यते, नान्यत्रेत्यर्थ । सोपसर्गता उपसर्गसहितत्व, पक्षे प्राद्युपसर्गयुतत्व क्रियावसनस्यादि (?) 'उपसर्ग स्मृतो रोगे विघ्नोपप्लवयोरपि' इति विश्व । धातुपु धातुपाठेपु विलोक्यते। निपातनक्रिया निपातनस्य नाशनस्य क्रिया कार्याणि, पक्षे 'लोकप्रसिद्धशब्दस्वरूपोच्चारण निपातनम्' इति वचनात् तेषा व्यापार। शब्देपु शब्दशास्त्रेपु भवन्ति। करपीडनानि च करस्य सिद्धायस्य, पक्षे करयोर्हस्तयो पीडनानि बाधनानि च। 'बलिहस्तांशव करा ' इत्यमर । कुचेपु स्तनेपु भवन्ति, नान्यत्र। परिसख्यालङ्कार ॥ ३२ ॥ द्विजिह्वतेत्यादि। यत्र पुरे। द्विजिह्वता द्विजिह्वस्य भावः सूचकत्व, पक्षे सर्पत्वम् । 'द्विजिह्वौ सर्पसूचकौ' इत्यमर । पर केवलम्। फणाभृता सर्पाणाम् । कुलेषु समूहेषु, नान्यत्र। चिन्तापरता उद्वेगपरत्व, पक्षे ध्यानतत्परत्वम्। योगिषु मुनीश्वरेषु। दरिद्रता दरिद्रत्व, पक्षे अमांसलत्वम्[२] । केवल परम्। नितम्बिनीनाम् वनितानाम्। उदरेषु गर्भेषु[३] । अधरत्वसभव अधरत्वस्य हीनत्वस्य, पक्षे रदनच्छदत्वस्य सभवोऽस्तित्वम्। 'अधरो दन्तवसनेऽनूर्ध्वे हीने धरोऽन्यवत्।' इति विश्व । ओष्ठेषु रदनच्छदेषु सभवति, नान्यत्रेति। इयमपि परिसख्या[४]

इसी तरह पर्वत भी बडे-बडे सर्ज वृक्षोंके उपवनोसे विभूषित हैं। उनके शिखर मेघोको विश्राम देते हैं। उनकी गुफाओमे सिंह निवास करते हैं। वहांके जिनालयो और वहांके पर्वतोकी शोभा एक सी है ॥ ३१ ॥ वहाँ मद–मदजलका सम्बन्ध केवल जवान हाथियोमे ही दृष्टि-गोचर होता है, वहांके निवासियोमे मद—घमण्डका सम्बन्ध नही है—वे अहकारी नही हैं। केवल 'भू' आदि धातुओमे ही 'प्र' आदि बाईस उपसर्गोका सम्बन्ध देखा जाता है, वहांके निवासियोंके ऊपर किसी प्रकारका उपद्रव नही होता। केवल शब्द—शब्दशास्त्र व्याकरणमे ही निपातनसे सिद्धि होती है, वहांके निवासियोमे एक दूसरेको गिरानेकी चेष्टा नही देखी जाती। केवल स्त्रियोके स्तनोमे ही उनके पतियोंके द्वारा करमर्दन होता है, वहांके निवासियोको टैक्सकी बाधा नही है—इतना टैक्स नही देना पडता, जिससे उन्हे पीडा हो ॥ ३२ ॥ केवल सर्पोंके कुलमे ही दो जीभें पाई जाती हैं, वहांके निवासियोमे दो जीभें नही हैं—प्रत्यक्षमे एक और परोक्षमे दूसरी—वे चुगलखोर नही हैं। केवल योगियोमे ही ध्यानकी तत्परता दृष्टिगोचर होती है, वहांके निवासियोको किसी बातकी चिन्ता नही है। केवल स्त्रियोंके उदरमे ही कृशता देखी जाती है, वहांके निवासियोमे दरिद्रता–गरीबी नही है। केवल स्त्रियोके नीचेके होठमे ही 'अधर' शब्दका प्रयोग होता है, वहांके निवासियोमे कोई अधर—नीच नही है ॥ ३३ ॥

---

१ [द्विरदपक्षे मदजलेन]। २ श स अमांसलत्वम्। ३ [जठरेषु]। ४ श स नान्यत्रेति परिसख्या।

विभान्ति यस्मिन् बहुधोज्ज्वलोपलप्रणद्धभित्तीनि गृहाणि सर्वतः ।
निजेषु लीनानि दधत्सु दीप्रतां पतङ्गसंतापभियेव धामसु ॥३४॥
स न प्रदेशोऽस्ति न यो जनाकुलो जनोऽप्यसौ नास्ति न यो धनेश्वरः ।
धनं न तद् भोगसमन्वितं न यन्न यत्र भोगोऽपि स यो न संतत ॥३५॥
विलुप्तशोभानि विलोचनोत्पलैः सितेतराण्यम्बुरुहाणि योषिताम् ।
मरुच्चलद्वीचिनि यत्र शीतले लुठन्ति तापादिव दीर्घिकाजले ॥३६॥
महागुणैरप्यगुणैर्मदोज्झितैरपि प्रवृत्तप्रमदैर्महाजनैः ।
अधिष्ठितं यत्प्रविभाति निर्भयैरपि प्रकामं परलोकभीरुभिः ॥३७॥

॥ ३३ ॥ विभान्तीत्यादि । यस्मिन् पुरे । विविधोज्ज्वलोपलप्रणद्धभित्तीनि विविधैर्नानाप्रकारैरुज्ज्वलैर्दिव्यैरुपलै रत्नशिलाभि प्रणद्धा निबद्धा भित्तयो येषा तानि । गृहाणि सदनानि । सर्वत समन्तत । दीप्रताम् प्रकाशनशीलताम्[1] । 'नम्कम्पजस्कम्पस्मिहिंसदीपो र' इति र-प्रत्यय । दधत्सु धरत्सु । निजेषु स्वकीयेषु । धामसु कान्तिषु । 'गृहदेहत्विट्प्रभावा धामानि' इत्यमर । पतङ्गसतापभिया पतङ्गस्य सूर्यस्य सतापाज्जातया[2] भिया भीत्या[3] । 'पञ्चमी भयादिभि' इति पञ्चमी । 'पतङ्गौ पक्षिसूर्यौ च' इत्यमरः । लीनानि स्थगितानीव[4] । विभान्ति विराजन्ते । उत्प्रेक्षा ॥ ३४ ॥ स इत्यादि । यत्र पुरे । य प्रदेश । जनाकुल लोकसकीर्ण । न-न भवति । स प्रदेश । न अस्ति न विद्यते । य जनोऽपि लोकोऽपि । धनेश्वर द्रव्यपति । न-न भवति । असौ जनोऽपि । नास्ति न विद्यते । यत् धनम् । भोगसमन्वितं भोगसयुतम्[5] । न–न संभवति । तत् धनम् । न–न सभवति[6] । य भोगोऽपि । सन्तत. शाश्वत । न–न भवति । स भोग । न–न विद्यते । एकावल्यलकार ॥ ३५ ॥ विलुप्तशोभानीत्यादि । यत्र पुरे । योषिता वनितानाम् । विलोचनोत्पलै विलोचनानि एव उत्पलानि तै । विलुप्तशोभानि विलुप्ता अपहृता शोभा येषा तानि तथोक्तानि । सितेतराणि सितस्य[7] इतराणि सितेतराणि । अम्बुरुहाणि अम्बुनि रुहन्तीत्यम्बुरुहाणि, नीलोत्पलानि इत्यर्थ । मरुच्चलद्वीचिनि मरुता चलन्त्यो वीचयो यस्मिन् तस्मिन् । शीतले दीर्घिकाजले दीर्घिकाया सरोवरस्य जले । तापादिव सतापादिव । लुठन्ति[8] । लुठि प्रतिघाते लट् । उत्प्रेक्षा ॥ ३६ ॥ महागुणैरित्यादि । यत् पुरम् । महागुणैरपि महान्तो गुणा येषा तै सम्यक्त्वादिगुणयुक्तैरपि । अगुणै गुणहीनै, पक्षे न गुणा अगुणा तैर्मुखै [मुख्यैः] । 'रूपादौ तन्तुषु ज्यायामप्रधाने नये गुण' इत्यभिधानात् । मदोज्झितैरपि गर्वरहितैरपि । प्रवृत्तप्रमदैः प्रकृष्टो मद प्रमदो महाहकार, पक्षे प्रमद सतोष, प्रवृत्तो निष्पन्न प्रमदो येषा तै । निर्भयैरपि सप्तभयरहितैरपि ।

वहाँके भवनोकी भित्तियाँ बहुत प्रकारके उज्ज्वल—चमकीले—पाषाणोसे निर्मित थी । इसलिये वे दिनमे खूब चमकते हैं। उनका तेज इतना अधिक है कि उसमे वे स्वय दृष्टिगोचर नही होते। अत एव ऐसा जान पडता है मानो वे सूर्यकी तेज धूपके भयसे अपने धाम—तेज—मे छिप रहे हैं ॥३४॥ वहाँ ऐसा कोई प्रदेश (मुहल्ला) नही जो मनुष्योसे व्याप्त न हो; ऐसा कोई मनुष्य भी नही, जो धनकुबेर न हो, ऐसा धन भी नही, जो भोगमे न आता हो, और ऐसा कोई भोग भी नही, जो निरन्तर उपलब्ध न हो ॥३५॥ वहाँकी स्त्रियोके नेत्र-कमलोने नील कमलोकी शोभाको लुप्त कर दिया है—जीत लिया है । इससे ऐसा प्रतीत होता है कि इस पराजयजनित सन्तापके कारण ही मानो वे दीर्घिकाओ (जलाशयो) के भीतर वायुके वेगसे लहराते हुए शीतल जलमे इधर-उधर लोट रहे हैं ॥ ३६ ॥ उस नगरकी शोभा जिन महान् पुरुषोंसे है, वे सम्यग्दर्शन

१ श स प्रकाशशीलता । २ श स 'सन्तापाज्जातया' नास्ति । ३ आ 'भिया' नास्ति । ४. [तिरोहितानीव] । ५ आ भोगै. सयुत । ६ श न विद्यते । ७. [सितेभ्य] । ८ =लुठन्ति प्रकम्पन्ते ।

स यत्र दोषः परमेव वेदिकाशिरःशिखाशायिनि मानभञ्जने ।
पतत्कुले कूजति यन्न जानते रसं स्वकान्तानुनयस्य कामिनः ॥३८॥
अथाभवद् भूरिगुणैरलंकृतो नरेश्वरस्तस्य पुरस्य शासिता ।
न केनचिद्यस्तुलितद्युतिस्तथाप्युवाह रूढ्या कनकप्रभाभिधाम् ॥३९॥
यशोभिरेणाङ्ककलासमुज्ज्वलैः पुरः प्रयातैरिव पूरितान्तरे ।
विधूपितारातिकुलानि भूतले न यस्य तेजांसि ममुर्महौजस ॥४०॥

परलोकभीरुभि परलोकेभ्य शत्रुलोकेभ्य, पक्षे परलोकेभ्यो जन्मान्तरेभ्यो भीरुभिर्भयचाकितै महाजनै सत्पुरुषै । प्रकाम यथेष्टम् । अधिष्ठितम् आश्रितम् । प्रविभाति प्रविराजते । भा दीप्तौ लट् । विरोध । ॥ ३७ ॥ स इत्यादि । यत्र पुरे । वेदिकाशिर शिखाशायिनि वेदिकाया शिरस पुरोभागस्य शिखाया-मग्रभागे शायिनि स्वापिनि । मानभञ्जने मान गर्वं भनक्तीति मानभञ्जन तस्मिन् गर्वविमर्दने । पतत्कुले पतता पक्षिणा कुले समूहे । कूजति ध्वनति सति । कामिन कामुका । स्वकान्तानुनयस्य स्वेषा कान्तानां प्राणनायिकानाम्[1] । अनुनयस्य प्रार्थनाया । रस स्वादम् । यत् यस्माद्धेतो । न जानते न बुध्यन्ते । ज्ञा अवबोधने लट् । यत्तदोर्नित्यसबन्धादिति ततो हेतो । स अरसज्ञतालक्षणो गुण । परमेव केवलमेव । दोष स्यान्नापरो भवेत् । तद्ध्वनि ततोऽप्यधिक (?) इति भाव ॥ ३८ ॥

अथेत्यादि । अथ पुरवर्णनानन्तरम्[2] । य. राजा । केनचित् चेतनाचेतनद्रव्येण । तुलितद्युति तुलिता उपमिता द्युति कान्तिर्यस्य स । न—न भवति । तथापि कनकप्रभाभिधा कनकप्रभ इत्यभिधाम् अभिधानम् । रूढ्या प्रतीत्या । उवाह दधौ । वह प्रापणे लिटि[3] । भूरिगुणै भूरिभिर्बहुलैर्गुणैर्नय प्रतापादिभि । अलकृत भूषित । स नरेश्वर नराणामीश्वरो नरपति । तस्य पुरस्य रत्नसचयपुरस्य । शासिता रक्षक. । अभवत् अभूत् । भू सत्ताया लङ् ॥ ३९ ॥ यशोभिरित्यादि । एणाङ्ककलासमुज्ज्वलै एणाङ्कस्य चन्द्रस्य कला[4] इव समुज्ज्वलै प्रकाशमानै । पुर प्रयातैरिव अग्रे धावद्भिरिव । यशोभि कीर्तिभि । पूरितान्तरे पूरित परिपूर्णम् अन्तर मध्य यस्य तस्मिन् । भूतले भूमिप्रदेशे । महौजस महापराक्रमस्य । यस्य राज्ञ. । विधूपितारातिकुलानि विधूपितानि[5] सतापितानि अरातीना शत्रूणा कुलानि यै तानि । तेजासि पराक्रमा । न ममु

आदि उत्तम गुणोसे विभूषित हैं, मुख्य हैं, अरहत या विष्णुके समान गुणी हैं, मद रहित हैं, सदा हर्ष मनाते है, निर्भय हैं और कभी किसीसे शत्रुता नही रखना चाहते ॥ ३७ ॥ वहाँ यदि कोई दोष है तो केवल यही कि वेदिकाके ऊपरी भागमे सोनेवाले पक्षी, जो अव्यक्त मधुर ध्वनि—कलकल शब्द—करते हैं उसे सुनते ही मानवती नायिकोका मान गलित हो जाता है । फलत उनके साथ अनुनय करनेसे जो रस मिल सकता है, उससे उनके कामक्रीडाके इच्छुक पतिदेव सर्वथा वचित रह जाते हैं—उसके अनुभवका उन्हे अवसर प्राप्त हो नही होता ॥ ३८ ॥

अब आगे उस पुरके राजाका वर्णन प्रारम्भ होता है । उस नगरका शासक—राजा अनेक गुणोसे विभूषित था । उसके शरीरकी आसाधारण कान्तिके लिए यद्यपि किसी सुवर्णादिकी उपमा नही दी जा सकती थी, फिर भी वह रूढिवश कनकप्रभ—सुवर्ण-जैसी कान्तिवाला इस नामको धारण करता था—उसका नाम कनकप्रभ था ॥ ३९ ॥ वह बडा बलवान था । उसका यश चन्द्रमाकी कलाओके समान निर्मल था—जो पहलेसे हो पृथ्वीको व्याप्त कर चुका था—उसका पराक्रम प्रसिद्ध हो चुका था । मानो इसीलिए शत्रुओको सन्ताप देनेवाला उसका

१ [प्रणयिनीनाम्] । २ आ तद्दर्शनानन्तरे । ३ आ वहि प्रापणे लिटि । ४ [कलाभि] । ५ आ प्रधूपितानि श स प्रधूपितानि ।

प्रयासमुच्चैःकटकेषु भूभृतां गणेषु संचारवशादवाप या ।
बभूव भीतेव ततः पुनश्चिरं स्थिरा जयश्रीरधिगम्य यद्भुजम् ॥४१॥
अचिन्त्यमाहात्म्यगुणो जनाश्रय स्वविक्रमाक्रान्तसमस्तविष्टपः ।
श्रिया सनाथः पुरुषोत्तमोऽप्यभून्न यो वृषोच्छेदविधायिचेष्टितः ॥४२॥
गरीयसा यस्य परार्थसंपदो[1] निसर्गजत्यागगुणेन निर्जितैः ।
शुचेव कल्पोपपदैर्महीरुहैर्दधे नितान्तं विमनस्कवृत्तिता ॥४३॥

न प्रमान्ति स्म। मा माने लिट् ॥ ४० ॥ प्रयासमित्यादि । या जयलक्ष्मीः उच्चै.कटकेषु उच्चैर्महत् कटकं सेना, पक्षे सानु येषा तेषु । 'कटक वलये सानौ राजधानीनितम्बयो' इति विश्व । भूभृता भूपतीनाम्, पक्षे पर्वतानाम् । 'भूभृद् भूमिधरे नृपे' इत्यमर । गणेपु समवायेषु । श्लेष[2] । सचारवशात् पर्यटनवशात् । प्रयासं परिश्रमम् । अवाप प्राप । पुन भूय । तत सचारवशत । भीतेव त्रस्तेव । जयश्री जयलक्ष्मीः । यद्-भुजम्, यस्य कनकप्रभस्य भुज बाहुम् । अधिगम्य प्राप्य । चिर दीर्घकालम् । स्थिरा निश्चला । बभूव भवति स्म । भू सत्ताया लिट् ॥ ४१ ॥ अचिन्त्येत्यादि । य भूप । अचिन्त्यमाहात्म्यगुण. अचिन्त्यम् अगण्य[3] माहात्म्य महिमा, पक्षे[4] व्यपगता(?)तदेव गुण. सहभावपरिणामो यस्य स । जनाश्रय जनानाम् आश्रय शरण्य-भूत , पक्षे जनार्दनत्वात् जगत्सुखहेतुरित्यर्थ । स्वविक्रमाकान्तसमस्तविष्टप. स्वस्य विक्रमेण पराक्रमेण, पक्षे विशिष्ट क्रमो विक्रमो विक्रियर्द्धिप्राप्तश्चरण , तेन आक्रान्त व्याप्त समस्त विष्टपं लोको यस्य[5] स । श्रिया सपदा, पक्षे लक्ष्म्या । सनाथ युक्त । पुरुषोत्तमोऽपि पुरुषेषु उत्तमोऽपि श्रेष्ठोऽपि, विष्णुरपि[6] । वृषोच्छेद-विधायिचेष्टित वृषस्य धर्मस्य, पक्षे वृष इति अरिष्टासुरस्य [स्यो] च्छेदविधायि नाशकारि चेष्टित व्यापारो यस्य स । 'श्रेष्ठवासकसौरभेयधर्मराशिभेदपुरुषेषु वृष.' इति नानार्थकोशे । नाभूत् नाभवत् । भू सत्ताया लुङ् ॥४२॥ गरीयसेत्यादि । परार्थसपद परार्थं परनिमित्त सपद् यस्य तस्य । यस्य कनकप्रभस्य । गरीयसा प्रकृष्टो[7] गुरुर्गरीयान् तेन । 'गुणाङ्गाद्वेष्ठेयसू' इति ईयसु । 'प्रियस्थिर—' इत्यादिना गुरुशब्दस्य गरा-

प्रताप पृथ्वीतल पर समा नहो रहा था—ऊपर और नीचे भी चला गया ॥ ४० ॥ बडी-बडी सेनाएँ रखनेवाले अनेक राजा महाराजाओके पास बारी-बारीसे जानेके कारण विजयलक्ष्मी बहुत थक चुकी थी । मानो इसीलिए वह कनकप्रभकी भुजाका आश्रय पाकर वही स्थिर होकर बस गई । भूभृत् शब्दका अर्थ राजा और पर्वत तथा कटक शब्दका अर्थ शिबिर (छावनी) और नितम्ब भाग भी होता है । इससे यहाँ यह अभिप्राय व्यक्त किया गया है कि वह विजय लक्ष्मी मानो पर्वतोंके नितम्ब भागोमे भटकते रहनेसे चूँकि अत्यन्त थक चुकी थी, इसीलिये वह उस राजाकी प्रबल भुजाको पाकर वही स्थिर हो गई थी ॥ ४१ ॥ विष्णुकी महिमा अचिन्त्य थी । वे मानवमात्रके आश्रयदाता थे । उन्होने वामनावतारमे तीन कदममे सारी भूमि माप ली थी । वे श्री—लक्ष्मीके पति थे और वे पुरुषोत्तम कहलाते थे । इसी तरह महाराज कनकप्रभकी भी महिमा अचिन्त्य थी । वह शरणागतका रक्षक था । उसका पराक्रम सारे संसार मे फैला हुआ था । वह श्री—सम्पत्तिका स्वामी था और पुरुषोमे उत्तम (विष्णु) था । यों वह और विष्णु दोनो समान थे । किन्तु विष्णुने वृष—वृषासुर (धर्म या बैल) का उच्छेद—विनाश या वध कर डाला था, जब कि कनकप्रभने वृष—असुर (धर्म या बैल) के उच्छेद—विनाश या वधके लिए कभी कोई चेष्टा नही की ॥ ४२ ॥ वह बड़ा उदार था । उसकी सारी सम्पत्ति

१ अ परार्थसपदा । २ आ श्लिष्ट । ३ [मनोज्ञोचरम्] । ४. [महत्त्वगुण – सर्वव्यापकता] । ५. [येन] । ६ आ 'विष्णुरपि' नास्ति । ७ [अतिशयेन] ।

कलासमग्रोऽपि जनाभिनन्द्यपि श्रियं दधानोऽप्यभिभूतविष्टपाम्।
प्रदोषसंसर्गितया यमुज्ज्वलं शशाक जेतुं न[1] कुरङ्गलाञ्छनः ॥४४॥
कुलं चरित्रेण विशुद्धवृत्तिना यशोभिराशाः शरदभ्रविभ्रमैः।
वपुर्गुणौघैः श्रवणेन शेमुषीं विशेषयामास जगद्विशेषकः ॥४५॥

देश । निसर्गजत्यागगुणेन निसर्गजेन स्वभावजनितेन त्यागगुणेन वितरणगुणेन। निर्जिते पराजिते । कल्पोपपदै कल्प एवोपपद येषा तै । महीरुहै वृक्षै., कल्पवृक्षैरित्यर्थ । शुचेव शोकेनेव । नितान्तम् अत्यन्तम् । विमनस्कवृत्तिता विनष्ट मनो यस्या सा विमनस्का सा वृत्तिर्येषा ते विमनस्कवृत्तय तेषा भाव तथोक्ता मनोविहीनवर्त्तनत्वम्[2]। दधे दध्रे। डुधाञ् धारणे च कर्मणि लिट् ॥४३॥ कला-समग्रोऽपीत्यादि । कुरङ्गलाञ्छन मृगाङ्क चन्द्र । कलासमग्रोऽपि कलाभि षोडशभागै समग्रोऽपि सपूर्णोऽपि, पक्षे कलाभि शिल्पादिकौशलै सपूर्णोऽपि । 'कला स्यान्मूलरैवृद्धौ[3] शिल्पादावंशमात्रके। षोडशांशे च चन्द्रस्य कलना[4] कालयोः कला.।।' इति विश्व । जनाभिनन्द्यपि लोकपोषणशीलोऽपि, पक्षे जगदा-ह्लाद्यपि । अभिभूतविष्टपाम् अभिभूत तिरस्कृत विष्टपं यया ताम्। श्रियं शोभाम्, पक्षे सपत्तिम् । दधानोऽपि धत्त इति दधान । 'सल्लड्—' इत्यादिना आनश्-प्रत्यय । प्रदोषसंसर्गितया प्रदोषस्य रजनीमुखस्य, पक्षे प्रकृष्टो दोष[5] प्रदोष इति ध्वनि तस्य संसर्गितया सम्बन्धित्वेन। उज्ज्वलम् उत्तेजसम् । यं कनकप्रभम् । जेतु जयनाय। न शशाक समर्थो न बभूव। शक्लृ शक्तौ लिट् ॥४४॥ कुलमित्यादि । जगद्विशेषक जगता विशेषको जगत्तिलक इत्यर्थ । 'तमालपत्रतिलकचित्रकाणि विशेषकम्' इत्यमर । य कनक-प्रभ.। विशुद्धवृत्तिना विशुद्धया निर्मलरूपया वृत्या युक्तेन। चरित्रेण चारित्रेण। कुल गोत्रम्। विशेषयामास अलंचकार। शिष्लृ विशेषणे णिजन्ताल्लिट् तद्योगे 'दयायास्क–' इत्यादिना अस भुवीति धातोर्योग । शरदभ्र-विभ्रमै शरद शरत्कालस्याभ्रस्येव विभ्रमो येषा तै, शुभ्रै यशोभि कीर्तिभि । आशा दिशा । विशेषया-मास । गुणै शक्तित्रयादिभि । वपु शरीरम्। विशेषयामास। श्रवणेन शास्त्रेण। 'श्रवण श्रुतिकर्णयो' इति

दूसरोंके लिए थी। उसने अपने सर्वोत्कृष्ट स्वाभाविक दानगुणसे कल्पवृक्षोको जीत लिया था। इसी शोकसे मानो उन सबने अतिशय अचेतनाको—पृथिवीकायिकरूपताको—ग्रहण किया था ॥ ४३ ॥ वह समस्त (७२) कलाओंमे प्रवीण था, प्रजाको आनन्द देता था और उसके पास अपार सम्पत्ति थी यो चन्द्रमा भी समस्त (१६) कलाओका स्वामी है, लोगोको आह्लाद प्रदान करता है और उत्कृष्ट शोभा व लक्ष्मीको धारण करता है। फिर भी वह चूंकि प्रदोष संसर्गितासे—रात्रिके समागम रूप दोषसे—दूषित है अतः वह कुरगलाछन—मृगले चिह्नसे उपलक्षित (कलंकी) चन्द्रमा—उस उक्त प्रदोषससर्गिता दोषसे—अनेक निष्कृष्ट दोषोंके सम्बन्धरूप कलंकसे रहित उस कनकप्रभको जीतनेके लिए समर्थ नही हो सका ॥ ४४ ॥ वह समस्त जगत्का तिलक था। उसने पवित्र चरित्रसे अपने कुलको, धवल यशसे दिशाओको,

---

१ अ क ख ग घ शशांककेतुर्न आ इ शशाक जेतु न। २ विगत मनो यस्यासौ विमनस्कोऽचेतन-स्तस्य वृत्तिर्व्यापारस्तस्याः भावस्ताम्; अचेतनत्वमित्यर्थ]। ३ आ मूलगैवृद्धा श स मूलगे वृद्धो। ४ आ श स कलानां। ५. आ प्रकृष्टदोष.।

न भूरिदानोऽपि मदेन संगतिं जगाम यः साधितशत्रुषड्गुणः[1] ।
[2]अहीनसंसर्गसमन्वितोऽपि वा द्विजिह्वसंसर्गतया न दूषितः ॥४६॥
निजैः समस्तानभिभूय धामभिः समुद्धतान् मण्डलिनोऽतिदुःसहैः[3] ।
चकार यो गामपि सर्वविष्टपप्रतीतकीर्तिः करिणीं वसुंधराम् ॥४७॥
नितान्तवृद्धेन कठोरवृत्तिना सनीतिना कञ्चुकिनेव तेजसा ।
निरन्तरं यस्य विभोर्वधूरिव व्यधीयत श्रीश्चपलापि निश्चला ॥४८॥

विश्व । शेमुषीम् बुद्धिं च । विशेषयामास ॥४५॥ नेत्यादि । साधितशत्रुषड्गुण.[4] साधिता. शत्रव. षड्गुणाश्च येन स 'संधिर्ना विग्रहो यानमासन द्वैधमाश्रयः । षड्गुणा.' इत्यमरः । य कनकप्रभः । भूरिदानोऽपि भूरि बहुलं दानं वितरण यस्य, बहुवितरणोऽपि, पक्षे बहुगर्वयुक्तोऽपि । 'त्यागग[5]जमदशुद्धिपालनच्छेदनेषु दानम्' इति नानार्थकोषे । मदेन अहकारेण । सगतिं संसर्गम् । न जगाम न ययौ । गम्लृ गतौ लिट् । अहीनसंसर्गसमन्वितोऽपि न हीना अहीना , तेषा महता ससर्गेण संपर्केण समन्वितोऽपि युक्तोऽपि, पक्षे अहीनाम् इनोऽहीन. तस्य सर्पराजस्य-संसर्गमहितोऽपि । द्विजिह्वससर्गतया द्विजिह्वस्य दुर्जनस्य, पक्षे, सर्पस्य ससर्गतया[6] सपर्कयुक्ततया [युक्ततया] दूषित निन्दित । न–न बभूव ॥४६॥ निजैरित्यादि । सर्वविष्टपप्रतीतकीर्ति सर्वेषु विष्टपेषु प्रतीता प्रथिता कीर्तिर्यस्य स । य कनकप्रभ । अन्यदुःसहै अन्यैः इतरैः सोढुमशक्यैः । निजैः स्वकीयैः । धामभिः तेजोभि. । 'गृहदेहत्विट्प्रभावा धामानि' इत्यमर. । समुद्धतान् गर्वितान् । समस्तान् सकलान् । मण्डलिन: मण्डलम् अस्त्येषाम् इति मण्डलिनः भूपालान् । 'स्यान्मण्डलं द्वादशराजके च देशे च बिम्बे च कदम्बके च । कुष्ठप्रभेदेऽप्युपसूर्यकेऽपि भुजङ्गभेदे शुनि मण्डल स्यात् ॥' इति विश्वः । अभिभूय तिरस्कृत्य । वसुधरा वसु द्रव्यं धरतीति वसुंधरा ता द्रव्यधारिणीं [7]भूमिम् । गाम् अपि गोसंज्ञाम् अपि । करिणीं हस्तिनीं करवतीं च । चकार विदधौ । डुकृञ् करणे लिट् ॥४७॥ नितान्तेत्यादि । विभोः प्रभोः । यस्य कनकप्रभस्य । नितान्तवृद्धेन नितान्तम् अत्यन्त वृद्धेन वर्षीयसा प्रवृद्धेन च । कठोरवृत्तिना निष्ठुरवर्तनायुक्तेन । सनीतिना नीतियुक्तेन । कञ्चुकिनेव अन्त.पुराधिकारिणेव । तेजसा पराक्रमेण । श्रीः लक्ष्मीः । चपला चञ्चलापि । वधूरिव सीमन्तिनीव । निरन्तर सदैव । निश्चला स्थिरीभूता । व्यधीयत अक्रियत । डुधाञ् धारणे च कर्मणि लङ्

गुणोंसे शरीरको और शास्त्र-श्रवणसे बुद्धिको विभूषित किया था ॥ ४५ ॥ वह बड़ा दानी (हाथी) था किन्तु उसे तनिक भी मद-घमण्ड (मदजल) नहीं था, हो भी कैसे सकता था; क्योंकि उसने काम, क्रोध, हर्ष, मान, लोभ और मद इन छ अन्तरङ्ग शत्रुओंपर पूर्ण विजय पा ली थी । वह उत्तम पुरुषो (शेषनाग) से सम्बन्ध रखता था, किन्तु उसे चुगलखोरों व दुर्जनों (सर्पों) का संसर्ग दूषित नही कर सका था—वह कानका कच्चा नहीं था ॥ ४६ ॥ उसकी कीर्ति सारे संसारमे फैली हुई थी । उसने अपने असह्य तेज व प्रभावसे उद्दण्ड मण्डलेश्वरोंको जीतकर अपने अधीन कर लिया था । इस प्रकारसे उसने गोको–गायको–भी करिणी–हथिनी–बना दिया था, (विरोधाभास है; उसका परिहार है–) गोको–पृथिवीको–करिणी–करवाली (राजशासन ग्राह्य भागसे सयुक्त)–बना दिया ॥ ४७ ॥ उसका प्रताप उन्नतिकी चरम सीमापर था, कठोर व्यवहार करनेवाला था तथा कानून उसका साथ दे रहा था । उस (प्रताप) ने उस (कनकप्रभ) की चञ्चल लक्ष्मीको हमेशाके लिए स्थिर कर दिया था ।

१. टीकानुसृतोऽयं पाठ, प्रतिषु षड्गणः । २ आ इ अदीन । ३. अ आ (टीकाकृतस्तु समक्ष °नोऽन्यदु सहै ' पाठ आसीदिति प्रतीयते) इ °नोरिदु.सहै । ४ =साधितो वश नीत शत्रूणा षड्गणो येन सः । तदुक्तम् – काम क्रोधश्च हर्षश्च मानो लोभस्तथा मद । अन्तरङ्गोऽरिषड्वर्ग' क्षितीशाना भवत्ययम् । ५. श स त्यागमद गजमद । ६ आ श स ससर्गितया । ७ आ श ॰ ता भूमिं द्रव्यधारिणीं ।

धराश्रयः संततभूतिसंगमः शशाङ्ककान्तो धृतनागनायकः ।
अधोभवद्गोपतिरीश्वरोऽपि सन् बभूव यो नासमदृष्टिदूषितः ॥४९॥
यदीयगाम्भीर्यगुणेन निर्मलप्रसिद्धिना लुप्तयशोमहाधनः ।
करोति पूत्कारमिवाधुनाप्यसावुदस्तकल्लोलभुजः पयोनिधिः ॥५०॥
नरेन्द्रविद्याधिगमाद्विशुद्धया विमृश्य कार्याणि विधित्सतो धिया ।
न यस्य निःशेषितशत्रुसंततेरजायताप्राप्यवृत्तिचेष्टितम् ॥५१॥

॥४८॥ धराश्रय इत्यादि । य कनकप्रभ । धराश्रय धराया भूमे आश्रय, पक्षे पर्वत आश्रय स्थानं यस्य स । संततभूतिसंगम सततम् अनवरत भूत्या सपदा, पक्षे भस्मना सगमो यस्य स । 'भूतिर्भस्मनि संपदि' इत्यमर । शशाङ्ककान्त शशाङ्क इव कान्तो मनोहर, पक्षे शशाङ्केन चन्द्रेण कान्तो मनोहर, चन्द्रशेखरत्वात् । धृतनागनायक धृतो नागाना गजाना नायको येन स, पक्षे धृतो नागाना सर्पाणा नायको येन स, सर्पाभरण इत्यर्थ । अधोभवद्गोपति अधोभवन्तो गवा भूमीना पतयो यस्य स पक्षे अधोभवन् गोपतिर्वृषभो यस्य स । ईश्वर सन् अपि शकर सन्नपि भवन्नपि । असमदृष्टिदूषित असमाभि विषमाभिर्दृष्टिभिर्नेत्रैर्दूषितो निन्दित पक्षपातेन निन्दित, पक्षे विषमदृष्टिभिस्त्रिनयनै निन्दितो न बभूव न भवति स्म । भू सत्ताया लिट् ॥४९॥ यदीयेत्यादि । निर्मलप्रसिद्धिना निर्मलेन विमलेन प्रसिद्धिना प्रतीतिना[2] । यदीयगाम्भीर्यगुणेन यदीयेन यत्सबन्धिना गाम्भीर्यगुणेन । लुप्तयशोमहाधन लुप्तम् अपहृत यश एव महाधन यस्य स । असौ पयोनिधि समुद्र । अधुनापि इदानीमपि । उदस्तकल्लोलभुज उदस्ता उद्धृता[3] कल्लोला तरङ्गा त एव भुजा बाहवो यस्य स, एवभूत सन् । पूत्कारमिव फूत्कारध्वनिमिव[4] । करोति विदधाति । डुकृञ् करणे लट् । उत्प्रेक्षा ॥ ५० ॥ नरेन्द्रेत्यादि । नरेन्द्रविद्याधिगमात् नरेन्द्रस्य राज्ञ विद्यानाम् आन्वीक्षिकीत्रयीवार्त्तादण्डनीतीनाम् अधिगमात् परिज्ञानात् । विशुद्धया निर्मलया । धिया बुद्धया । कार्याणि कृत्यानि । विमृश्य विचार्य । विधित्सत विधातुमिच्छत ।

जैसे एक वृद्ध, कठोर और नीतिकुशल कञ्चुकी अन्त पुरमे आनेवाली नववधूको, उसकी चञ्चलताको दूर कर गम्भीर बना देता है ॥ ४८ ॥ वह सारी पृथ्वीका रक्षक था । उसके यहाँ सदा सम्पत्ति आती रहती थी । वह चन्द्रमाके समान सुन्दर था । उसके पास बडे-बडे गजराज थे । उसने समस्त राजो-महराजोको अपने अधीन कर लिया था तथा वह सब कुछ करनेके लिए समर्थ था । अत वह साक्षात् ईश्वर-शङ्कर था; क्योकि यही विशेषता शङ्करमें भी है—वे कैलास पर्वतका आश्रय लेते हैं—वहीपर निवास करते हैं, भस्म रमाते हैं, मस्तकपर चन्द्रकला धारण करनेसे बडे ही सुन्दर लगते हैं—उनके मस्तकपर चन्द्रकला फबती है, सर्पोके विभूषणसे विभूषित हे और बैल-नन्दीपर सवारी करते हैं । इस तरह दोनोमे इतनी समानता होनेपर भी एक अन्तर था—शङ्कर असम दृष्टि—तीन नेत्रो (पक्षपात) से दूषित और विरूप थे, किन्तु वह राजा समदृष्टि-दो नेत्रो (निष्पक्षता) से भूषित तथा सुरूप था । अत वह शङ्करसे कही अच्छा था ॥ ४९ ॥ गम्भीरता भी एक गुण है । यह गम्भीरता गुण(गहराई) समुद्रमे सदा ही रहा है और इसीसे उसने बडा यश कमाया जो उसका धन है । किन्तु ज्यों-ज्यो राजा कनकप्रभकी गम्भीरताका निर्मल यश पृथिवीके कोने-कोनेमे फैला त्यो-त्यों समुद्रका यश कम होता गया—यहाँ तक कि वह उस राजाके सामने सर्वथा ही लुप्त हो गया । फलत. वह यह सोचकर कि उसके यशोधनका अपहरण कनकप्रभके गम्भीरता गुणने किया

१ अ बभूव भूपो न स दृष्टि° । २ [निर्मला विमला प्रसिद्धि ख्यातिर्यस्य स तेन] । ३ श श 'उद्धृता.' नास्ति । ४. टीकाकारस्य पुरत 'फूत्कार' पाठ आसीत् ।

[1]रतिप्रदानप्रवणेन कुर्वता विचित्रवर्णक्रमवृत्ति[2]मुज्ज्वलाम् ।
गुणानुरागोपनता कृतायतिः प्रसाधिता येन वधूरिव प्रजा ॥५२॥
अतीतसंख्यैः [3]परिरब्धकीर्तिभिः शरन्निशानाथमरीचिनिर्मलैः ।
रुरुत्सुभिर्दोषचमूमिवाखिलैरकारि यस्मिन् समुदायिता गुणैः ॥५३॥

नि.शेषितशत्रुसंतते. नि शेषिता निराकृता शत्रूणाम् अरीणा संततिर्येन तस्य । यस्य कनकप्रभस्य । पौरुष सामर्थ्यम् । अष्टापदवृत्ति अष्टापदस्येव वृत्तिर्यस्य तदविचारितवर्तनम् । नाजायत नाभवत् । जनैङ् प्रादुर्भावे लङ् ॥ ५१ ॥ रतिप्रदानेत्यादि । रतिप्रदानप्रवणेन रत्याः सुरतस्य संतोषस्य च प्रदाने करणे प्रवणेन समर्थेन । उज्ज्वलाम् प्रज्वलाम्[4] । विचित्रवर्णक्रमवृत्तिम्, विचित्रा विविधा वर्णानां जातीना, पक्षेऽङ्कुतमकरिकापत्रमाल्यानुलेपनादीना वा क्रमस्य परिपाट्या वृत्ति वर्तनं जीवनं वा । 'स्तुतिरूपयशोक्षरविलेपनद्विजातिशुक्लादिषु वर्ण ' इति नानार्थकोशे । कुर्वता विदधता । येन कनकप्रभेण । गुणानुरागोपनता गुणानाम् अनुरागेण प्रीत्योपनता वशगता । कृतायति. कृता आयति. प्रभुत्व, पक्षे उन्नतिर्यस्या सा । 'आयतिर्दीर्घताया स्यात् प्रभुताऽऽगामिकालयो.' इत्यभिधानात् । प्रजा जन. । वधूरिव नारीव प्रसाधिता सतोषिता पक्षेऽलङ्कृता ॥ ५२ ॥ अतीतेत्यादि । अतीतसंख्यैः अतीता अतिक्रान्ता[5] सख्या येषा तै. । परिरब्धकीर्तिभि[6] परिरब्धा[7] कीर्तिर्येषा [यै] ते[8] । शरन्निशानाथमरीचिनिर्मलैः शरदः शरत्कालस्य निशानाथस्य चन्द्रस्य मरीचय कान्तय इव निर्मलैर्विमलै । अखिलै सकलै. । गुणै । दोषचमू दोषसेनाम् । रुरुत्सुभि. रोद्धुमिच्छुभिः । यस्मिन् कनकप्रभे । समुदायिता समुदाययुक्तता । अकारि व्यधायि । डुकृञ् करणे कर्मणि लुङ् ॥ ५३ ॥ पराक्रमेत्यादि

है, बडा दु खी रहने लगा । आज भी जब उसमे उत्ताल तरगें उठती हैं और भयानक शब्द होता है तब लगता है मानो वह आज भी अपने कल्लोल-बाहुओको ऊपर उठाकर करुण क्रन्दन कर रहा है ॥ ५० ॥

उसने राजनीतिके ज्ञानसे तथा आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्त्ता और दण्डनीति इन चार विद्याओके अभ्याससे अपनी बुद्धिको निर्मल बना लिया था । वह जो भी काम करना चाहता था, उसके बारेमे पहले खूब सोच लेता था । फलत. उसके शत्रुओकी परम्परा सर्वथा निर्मूल हो चुकी थी । इसीलिये उसे कभी अष्टापद (एक हिंसक पशु—देखिये द्विसंधान २,२०) के समान प्रवृत्ति—युद्धजन्य घोर हिंसा—नही करनी पडी ॥ ५१ ॥ वह सभीके साथ ऐसा व्यवहार करनेमे कुशल था, जिससे उनकी प्रेमकी भूख मिटती थी और सन्तोष होता था । उसने ब्राह्मण आदि चारो वर्णोंकी निर्दोष व्यवस्था की थी । इसीलिए सारी उन्नतिशील प्रजा उसके गुणोसे उसके पास खिची चली आती थी । इस तरह उसने अपनी प्रजाको वशमे कर लिया था । जैसे सम्भोगकी कलामें कुशल पति अपनी नववधूको उसके ललाट, कपोल और स्तन आदि अङ्गोमे रग-विरंगे नाना प्रकारके चित्र बनाकर अपने सौन्दर्य आदि गुणोसे आकृष्ट कर उसे अपने वशमे कर लेता है ॥ ५२ ॥ जैसे एक सेना अपनी विरोधिनी सेनाको जीतनेके लिए आपसमे सगठन करती है व योग्य स्थानमे स्थित होकर डटकर प्रतीकार करती है । इसी तरह शरत्कालीन चन्द्रमाके निर्मल और कीर्ति उत्पन्न करनेवाले अगणित गुण मानो दोषोकी सेनाको रोकनेके लिए उस राजाके भीतर सगठित हुए थे ॥ ५३ ॥

१ अ रतिप्रदाने प्र° । २ अ क्रम-वृद्धिमु° । ३ आ परिलब्ध° । ४ श स 'प्रज्वला' नास्ति । ५ श स अतिक्रान्ता. । ६ श स परिलब्ध° । ७. श स परिलब्धा । ८ =परिलब्धा कीर्तियैस्ते तै ।

पराक्रमाक्रान्तमहीभुजो जगल्ललामलक्ष्मीनिलयीकृतोरसः ।
नृपस्य तस्याथ निशान्तनायिका सुवर्णमालेति बभूव भामिनी[1] ॥५४॥
यदीयमेणाङ्कमरीचिहारिणा विसारिणा कान्तिमयेन वारिणा ।
नितान्तनिर्धौतमिवाविनिन्दितं[2] न जातुचिच्छीलमभून्मलीमसम् ॥५५॥
वहन् स्मरापाण्डुकपोलमण्डले शशाङ्कशङ्कामिव वक्त्रपङ्कजे ।
सहासफेनो विचकास यत्तनावनूनलावण्यमयः पयोनिधिः ॥५६॥
भुवः समुद्धर्तुरधिष्ठितात्मनो बलेन सत्यानुरतैकचेतसः ।
बभूव लक्ष्मीः पुरुषोत्तमस्य सा मृगेक्षणा तस्य नृपस्य मन्दिरे ॥५७॥

अथ नरपतिवर्णनानन्तरम् । पराक्रमाक्रान्तमहीभुज पराक्रमेण विक्रमेण आक्रान्ता निराकृता महीभुजो राजानो यस्य, तस्य । जगल्ललामलक्ष्मीनिलयीकृतोरस जगतो लोकस्य ललाम्ना श्रेष्ठया लक्ष्म्या रमया निलयीकृतम् आवासीकृतम् उरो वक्षो यस्य तस्य । नृपस्य [कनकप्रभस्य । सुवर्णमालेति सुवर्णमालेत्यभिख्या निशान्तनायिका अन्त पुरप्रधाना । भामिनी कामिनी । बभूव भवति स्म । भू सत्ताया लिट् ॥ ५४ ॥ यदीयमित्यादि । यस्या सुवर्णमालाया इद यदीयम् । 'दोश्छ' इति छ–प्रत्यय । अविनिन्दितम् अकुत्सितम् । शील स्वभाव । 'शील स्वभावे सद्वृत्ते' इत्यमर । एणाङ्कमरीचिहारिणा एणाङ्कस्य चन्द्रस्य मरीचिहारिणा अपहारशीलेन[3] । विसारिणा प्रसारिणा । कान्तिमयेन कान्तिस्वरूपेण । वारिणा सलिलेन । नितान्तनिर्धौतमिव नितान्तम् अत्यन्त निर्धौतमिव प्रक्षालितमिव । जातुचित् सकृदपि । मलीमस मलयुक्तम् । नाभूत् नाभवत् । भू सत्ताया लुङ्[4] । ॥ ५५ ॥ वहन्नित्यादि । यत्तनौ यस्या सुवर्णमालाया तनौ शरीरे । महासफेन. हास एव फेन तेन सहित । अनूनलावण्यमय अनून संपूर्ण लावण्यमय देहकान्तिमयं लवणमय वा यस्य स (?)। पयोनिधि समुद्र । स्मरापाण्डुकपोलमण्डले स्मरेण मन्मथेन आपाण्डु ईषच्छुभ्र कपोलयोर्गण्डयो मण्डलं प्रदेशो यस्य तस्मिन् । वक्त्रपङ्कजे मुखकमले । शशाङ्कशङ्का चन्द्र इति शङ्का सशयम् । वहन्निव धरन्निव । विचकास ववृधे । कस गतौ लिट् । उत्प्रेक्षा ॥ ५६ ॥ भुव इत्यादि । भुव भूमे । समुद्धर्तु रक्षकस्य । 'कृतकामुकस्य—' इत्यादिना कर्मणि षष्ठी । पक्षे समुद्धर्तु धारकस्य । बलेन सामर्थ्येन, बलदेवेन । अधिष्ठितात्मन अधिष्ठितो युक्त आत्मा बुद्धि , पक्षे देहो यस्य । 'आत्मा यत्नो धृतिर्बुद्धि स्वभावो ब्रह्म वर्ष्म च ।' इत्यम' । सत्यानुरतैकचेतस सत्येऽनुरत तत्परम् एकं मुख्य चेत चित्त यस्य तस्य, पक्षे सत्यायां सत्यभामायाम् अनुरतम्

अब यहाँसे रानीका वर्णन प्रारम्भ होता है । उसके पराक्रमसे सभी राजा-महराजा प्रभावित थे । जगत्के पदार्थोंमे सबसे श्रेष्ठ जो लक्ष्मी है उसने कनकप्रभके वक्षस्थलको अपना निवासगृह बना लिया था । उसके अन्त पुरमे रानी सुवर्णमाला मुख्य थी । वही उसकी पटरानी थी ॥ ५४ ॥ सुवर्णमालाका शील कभी मलिन नही हुआ, उसकी सभी प्रशसा करते थे । वह मानो चन्द्रकिरणोंके समान मनोहर व चारो ओर फैलनेवाले उसके कान्ति-जलसे खूब धो दिया गया था ॥ ५५ ॥ उसका कपोल मण्डल गोरा था । कामदेवने उसे और भी गोरा कर दिया । अतएव वह चन्द्र सदृश दिखता था । लावण्यके समुद्रने उसे साक्षात् चन्द्रमा समझ लिया । फलत वह उसके शरीरमे वृद्धिको प्राप्त हुआ था । उसका मन्दहास उसमे फेनका स्थान ले रहा था ॥५६॥ कनक प्रभने कृष्णके समान पृथ्वीका उद्धार किया था । कृष्ण जहाँ बलरामसे युक्त थे वहाँ कनकप्रभ आत्मबलसे सयुक्त था । कृष्णका मन यदि सत्यभामा

---

१ अ भोगिनी । २ अ °मिवावनिन्दित म °मिवारिनिन्दित । ३ [एणाङ्क चन्द्र , तस्य मरीचय किरणा , तद्वत् हारिणा मनोहरेण] । 'यत्राकृतिस्तत्र गुणा भवन्ति प्रायो विरूपासु भवन्ति दोषा.' इति सूचितम् । ४ श स 'भू सत्ताया लुङ्' नास्ति ।

परस्परस्नेहनिबद्धचेतसोस्तयोरभूद्धामनिधिस्तनंधयः ।
स येन दध्रे नरकद्विषा परं न संज्ञयार्थेन च पद्मनाभता ॥५८॥
[1]कलासनाथस्य हिमद्युतेरिव हिमेतरांशोरिव तीव्रतेजसः ।
न यस्य निःशेषजनानुकम्पिनो बभूव बाल्येऽपि विवेकरिक्तता ॥५९॥
समाचरन् यः शिशुभावदुर्लभाः क्रियाः कृतज्ञो नयमार्गशालिनीः ।
समस्तविद्याधिगम[2]प्रवृद्धधीर्बभूव वृद्धः पलिताङ्कुरैर्विना ॥६०॥

एक चेतो यस्य तस्य । 'श्लुग्वा' इति समासविधाद् [वु] त्तरपदस्य लोप । पुरुषोत्तमस्य पुरुषेषूत्तमस्य श्रेष्ठस्य, नारायणस्य । तस्य नृपस्य कनकप्रभस्य । मन्दिरे राजसदने । मृगेक्षणा मृगस्येव ईक्षणे लोचने यस्या. सा, मृगसदृशनयनेत्यर्थ । सा सुवर्णमाला । लक्ष्मी श्री । बभूव भवति स्म । लिट् । श्लेष ॥ ५७ ॥

परस्परेत्यादि । नरकद्विषा नरकगतेर्द्विषा वैरिणाऽऽसन्नभव्यत्वाद् इत्यर्थ., पक्षे नरकासुरवैरिणा । येन पर केवलम् । सज्ञया नाम्ना । पद्मनाभता नाभौ पद्म[3] यस्यासौ पद्मनाभ तस्य भाव । 'नाभेर्नाम्नि' इत्यप्–प्रत्यय । न दध्रे न बभ्रे । धृञ् धारणे कर्मणि लिट् । किंतु अर्थेन च अभिधेयेन च । च–शब्दोऽपिशब्दार्थ' । दध्रे बभ्रे । परस्परस्नेहनिबद्धचेतसो परस्परस्य अन्योन्यस्य[4] स्नेहेन प्रेम्णा निबद्धम् आसक्तं चेत चित्तं ययो, तयो' कनकप्रभस्वर्णमालयो । धामनिधि धाम्न तेजसो निधिर्निधानम् । स[5] . स्तनंधय पुत्र' । अभूत् अभवत् । लुङ् ॥ ५८ ॥ कलासनाथस्येत्यादि । हिमद्युतेरिव हिमरूपा द्युति किरणा[6] यस्य तस्येव[7] । कलासनाथस्य कलाभि चतु षष्टिकलाभि षोडशभागैर्वा सनाथस्य युक्तस्य । हिमेतरांशोरिव हिमादितरे तीक्ष्णा अंशवो यस्य तस्येव, सूर्यस्येवेत्यर्थ' । तीव्रतेजस तीव्र तीक्ष्ण तेजो धाम यस्य, तस्य । नि.-शेषजनानुकम्पिन नि शेषेषु सर्वेषु जनेषु लोकेषु अनुकम्पिन कृपावत । यस्य पद्मनाभस्य[8] । बाल्येऽपि बाल्यावस्थायामपि । विवेकरिक्तता हेयोपादेयविज्ञानशून्यत्वम् । न बभूव न भवति स्म ॥ ५९ ॥ समाचरन्नित्यादि । शिशुभावदुर्लभा' शिशुभावे बाल्यावस्थाया दुर्लभा दुष्प्रापाः । नयमार्गशालिनी. नयस्य नीते-

---

मे आसक्त था तो कनकप्रभका मन सत्य बोलनेमे आसक्त था । कृष्ण नामसे पुरुषोत्तम कहे जाते थे तो कनक प्रभ पुरुषोमे उत्तम समझा जाता था । कृष्णके महलमे जहाँ साक्षात् लक्ष्मी निवास करती थी वहाँ स्वर्णमाला कनकप्रभके महलकी लक्ष्मी थी । इस तरह राजा कृष्णके समान और रानी लक्ष्मीके समान थी ॥ ५७ ॥

कनकप्रभ और स्वर्णमालाका हृदय एक दूसरेके स्नेह रूप बन्धनमे बँधा हुआ था । उन दोनोके एक पुत्र उत्पन्न हुआ । वह बडा तेजस्वी था । उसका नाम पद्मनाभ था । पद्मनाभ–कृष्ण–ने, यदि नरक–नरकासुर–का बध किया था तो राजकुमार पद्मनाभने सद्विचारोंके बलसे नरकके कारणोका निरोध किया था । इस प्रकार नरकद्वेषी दोनो ही थे । अतएव उसका 'पद्मनाभ' नाम सर्वथा सार्थक था ॥ ५८ ॥ वह चन्द्रमाके समान कलाओका स्वामी –शीतल और सूर्यके समान तेजस्वी होकर भी मनुष्यमात्रके प्रति दयालु था । बचपनमे जो स्वभावत विवेक शून्यता होती है वह उसमे नही थी, यह उसकी एक विशेषता थी ॥ ५९ ॥ उसे दूसरोके द्वारा कृत उपकारका सदा स्मरण रहता था । जो काम बचपनमे कठिन समझे

---

१ अ एतत् पद्यमत्र नोपलभ्यते । २ टीकानुगतोऽय पाठ । मूल प्रतिषु तु 'प्रवृद्धधो°' पाठोऽस्ति । ३. [पद्म नाभौ] । ४ [परस्परम् अन्योन्यम्] । ५ श स 'स' नास्ति । ६ श स किरणो । ७ [हिमा शीतला द्युति कान्तिर्यस्य स., तस्येव] । ८ आ यस्य युक्तस्य पद्मनाभस्य ।

गलन्मदस्योन्नतवंशशालिनो गृहीतसम्यग्विनयस्य सोन्नतेः ।
गजाधिपस्येव गरीयसौजसा युतस्य यस्याभवदङ्कुशो गुरुः ॥६१॥
विभूषितं यौवनरूपसंपदा विकारवत्या दधतोऽपि विग्रहम् ।
प्रमाथिभिर्यस्य जितान्तरद्विषो मनो न जह्रे व्यसनैर्मनस्विनः ॥६२॥
स बह्वपत्योऽपि विशामधीश्वरः सुतेन तेनैव रराज जिष्णुना ।
विराजतेऽनेकशकुन्तसंकुलो न राजहंसेन विना जलाशयः ॥६३॥

मार्गेण शालिनी शोभमाना । क्रिया. जिनपूजादिव्यापारान् । समाचरन्[१] प्रवर्तयन् । कृतज्ञ कृत जानातीति कृतज्ञ उपकारस्मरणवान् । समस्तविद्याधिगमात् समस्तविद्याया परिज्ञानात् । प्रवृद्धधी [२]प्रवृद्धा धीर्यस्य तथोक्त समृद्धबुद्धिरित्यर्थ । स पद्मनाभ । पलिताङ्कुरैर्विना सितकेशैर्विना । वृद्ध स्थविर । बभूव भवति स्म । लिट् ॥६०॥ गलन्नित्यादि । गलन्मदस्य गलन् स्रवन् मदो गर्वो मदजल वा यस्य तस्य । उन्नतवशशालिन उन्नतेन महता वशेन गोत्रेण, पक्षे महता भद्रजात्या अथवा पृष्ठास्थिना शालिन शोभमानस्य । 'वशो वेणौ कुले वर्गे पृष्ठस्यावयवेऽपि च ।' इति विश्व । गृहीतसम्यग्विनयस्य गृहीत सम्यक् समीचीनो विनय सत्कारो येन तस्य । सोन्नते उन्नत्या गाम्भीर्येण दैर्घ्येण च सहितस्य । गजाधिपस्येव हस्तिन[३] इव । यस्य पद्मनाभस्य । गुरु पिता । अङ्कुश सृणिरिव । अभवत् अभूत् । लङ् । श्लेषोपमा । ॥ ६१ ॥ विभूषितमित्यादि विकारवत्या विकारयुक्तया । यौवनरूपसपदा यौवनस्वरूपसपत्त्या । विभूषितम् अलकृतम् । विग्रहं शरीरम् । दधतोऽपि धरतोऽपि । जितान्तरद्विष जिता निराकृता अन्तरद्विष कामक्रोधलोभमानमदरूपा अरिषड्वर्गा[४] येन तस्य । मनस्विन सुमनोयुक्तस्य[५] । यस्य पद्मनाभस्य । प्रमादिभि[६] तिरस्करणशीलै । व्यसनै स्वाभाविकादिभि[७] । न जह्रे नापह्रियते स्म । हृञ् हरणे कर्मणि लिट् ॥ ६२ ॥ स इत्यादि । विशां मनुजानाम् । 'द्वौ विशौ वैश्यमनुजौ' इत्यमरः । अधीश्वर प्रभु । स कनकप्रभ । बह्वपत्योऽपि बहुपुत्रयुक्तोऽपि । जिष्णुना जयशीलेन । 'भूजेस्स्नुक्' इति शीलार्थे स्नुक् । तेनैव पद्मनाभेनैव । सुतेन पुत्रेण ।

जाते हैं उन्हे भी वह आसानीसे कर दिखलाता था, तथा वे सब न्याय मार्गके अनुकूल होनेसे सुन्दर दृष्टिगोचर होते थे । समस्त विद्याओका अभ्यासकर लेनेसे उसकी बुद्धि विकसित हो गई थी । यद्यपि उसके बाल श्वेत नही हुए थे, फिर भी वह बुद्धिसे वृद्ध हो गया था ॥ ६० ॥ जैसे गजराजके गण्डस्थलसे मदजल क्षरता है, उसकी पीठकी हड्डी उभरी रहती है, वह अच्छी शिक्षा प्राप्त करता है, वह ऊँचा होता है, बहुत अधिक बलवान् होता है और उसका दबानेवाला केवल अङ्कुश ही होता है । इसी तरह पद्मनाभको ज्ञान आदिका मद-अहङ्कार नही था; उसने उन्नत वशमे जन्म लिया था, उसने अच्छी शिक्षा प्राप्त की थी, वह निरन्तर उन्नतिशील था, वह बलवान था और वह अपने पिताजीको ही अपना अङ्कुश मानता था—केवल पिताजीसे ही दबता था, और किसीसे भी नही दबता था ॥ ६१ ॥ यौवन रूप सम्पत्ति काम-क्रोधादि विकारोको उत्पन्न करनेवाली होती है । किन्तु पद्मनाभके शरीरको विभूषित करके भी वह उसे विकारयुक्त नही बना सकी । वह बडा मनस्वी था । उसने काम आदि आभ्यन्तर शत्रुओपर उसने विजय पाली थी । अत घोर दु ख देनेवाले व्यसन उसके मनको नही हर सके ॥ ६२ ॥ कनकप्रभके और भी अनेक पुत्र थे, किन्तु उसकी शोभा केवल विजयशील पद्मनाभसे ही थी, सो

१ म 'समाचरन् प्रवर्त्तयन्' नास्ति । २ = प्रवृद्धा धीर्यस्य स । ३ श स यागहस्तिन । ४ श स वर्गो । ५ = मनस्विन पण्डितस्य । ६ मूलप्रतिषु 'प्रमाथिभि' पाठोऽस्ति । = प्रमाथिभि प्रमादिभि । ७ आ भाविकादिभि ।

अथ जातु स मेदिनीपतिर्निजलक्ष्मीपरिभूषितं पुरम् ।
परिहृष्टमतिर्विलोकयन्नवतस्थे गुरुसौधमूर्धनि ॥६४॥
विनिपातयता यदृच्छया दृशमासन्नतमैकपल्वले ।
परिपीय[१] पयः समुत्तरन् ददृशे तेन तदा गवां गणः ॥६५॥
घनपङ्कनिमग्नमक्षमं किल तत्रैकमसौ जरद्गवम् ।
म्रियमाणमवेक्ष्य तत्क्षणादिति निर्वेदमगाद्विचक्षणः ॥६६॥
क्षणभङ्गुरवृत्ति जीवितं भवभाजामिति नात्र विस्मयः ।
तदिहाद्भुतमेतदीदृशं यदवस्यद्भिरपि[२] प्रमुह्यते ॥६७॥

रराज बभौ । राजृ॒ दीप्तौ लिट् । अनेकशकुन्तसकुल अनेक शकुन्ताना सकुल यस्य स जलाशय. सरोवर । राजहसेन विना राजहसपक्षिणा विना । न विराजते न भाति । लट् ॥ ६३ ॥

अथेत्यादि । अथ अनन्तरम् । स मेदिनीपति कनकप्रभ । निजलक्ष्मीपरिभूषितम्, निजस्य स्वस्य लक्ष्म्या सपदा परिभूषितम् अलकृतम् । पुरम् रत्नसंचयम् । परिहृष्टमति परिहृष्टा सतुष्टा मतिर्यस्य स, संतुष्टबुद्धि सन् । विलोकयन् गुरुसौधमूर्धनि गुरौ महति सौधस्य हर्म्यस्य मूर्धनि उपरि । अवतस्थे अवतिष्ठति स्म । स्था गतिनिवृत्तौ लिट् ॥६४॥ विनिपातयतेत्यादि । यदृच्छया स्वेच्छया । दृशं नेत्रम् । विनिपातयता व्यापारयता । तेन कनकप्रभेण । तदा तत्समये । आसन्नतमे अत्यन्तसमीपे । एकस्मिन् पल्वले सरसि । पयः सलिलम् । परिपीय परिपान पूर्वं पीत्वा । समुत्तरन् निर्गच्छन् । गवा पशूनाम् । ददृशे दृश्यते स्म । दृशृ प्रेक्षणे कर्मणि लिट् ॥६५॥ घनपङ्केत्यादि । विचक्षण प्रौढ । असौ कनकप्रभ । तत्र सरसि । घनपङ्कनिमग्न घने सान्द्रे पङ्के कर्दमे निमग्न पतितम् । म्रियमाणम्, म्रियत इति म्रियमाण त जीवित त्यजन्तम् । एक जरद्गवम् जरश्चासौ गौश्च जरद्गव त 'गोस्तत्पुरुषात्' इत्यट्, वृद्धवृषभम् । अवेक्ष्य अवेक्षण पूर्वं दृष्ट्वा । तत्क्षणात् तस्मात्क्षणात् । इति वक्ष्यमाणप्रकारेण । निर्वेद वैराग्यम् । अगात् अगमत् । इण गतौ लुङ् । 'गैत्यो.' इति गादेश ॥६६॥ क्षणभङ्गुरेत्यादि । भवभाजा भव भजन्ति स्म[४] भवभाजः तेषाम्, ससारिणामित्यर्थः । जीवितं जीवनम् । [क्षणभङ्गुरवृत्ति क्षणभङ्गुरा विनश्वरा वृत्तिर्यस्य तत्] । इति एवं प्रकारेण । अत्र लोके । विस्मयः आश्चर्यम् । न—न भवति । किंतु यत् एतत् इदम् । ईदृशम् एतत्प्रकारम् 'त्यदाद्य—' इत्यादिना दृशे-र्धातो कट् प्रत्यय । अवस्यद्भिरपि जानद्भिरपि । प्रमुह्यते मुग्धीभूयते[५] । मुह वैचित्ये लट् । [एष विस्मय]

ठीक भी है—जलाशयमे कितने ही अन्य पक्षी क्यो न रहे, किन्तु राजहसके बिना वह शोभा नही पाता ॥ ६३ ॥

एक दिन राजा कनकप्रभ विशाल राजमहलकी छतपर बैठे हुए अपनी विभूतिसे विभूषित राजधानीकी शोभाको देखकर मन-ही-मन बडे प्रसन्न हो रहे थे ॥ ६४ ॥ इतनेमे उनकी दृष्टि पासके एक जलाशयपर पडी जहाँ पानी पीकर एक बैलोका झुण्ड वापिस लौट रहा था ॥ ६५ ॥ जिधरसे वह झुण्ड लौट रहा था वहाँ सघन कीचड जमा हुआ था । उसमे एक बूढा बैल फँस गया था । उसे मरते हुए देखकर बुद्धिमान् राजाको वैराग्य उत्पन्न हो गया, वह मनमे इस प्रकार विचार करने लगा ॥ ६६ ॥

ससारी जीवोका जीवन यदि क्षणभङ्गुर बिजलीके समान देखते-देखते नष्ट होनेवाला है तो इसमे कोई आश्चर्य नही है, आश्चर्य तो केवल यही है कि जीवनकी क्षणभङ्गुरताको

१. अ परिपाय । २ क ख ग घ यद्वश्यद्भिरपि । ३ [अनेके नाना शकुन्ता पक्षिण तैः संकुलो व्याप्त] । ४ [भजन्तीति] । ५. आ मूढो भूयते ।

क्षणदृष्टतिरोहितैर्जनो विषयैः स्वप्न इव प्रतार्यते ।
रतिमेति तथापि तेष्वयं जडबुद्धिर्धिगनात्मवेदिताम्[1] ॥६८॥
प्रहतं मरणेन जीवितं जरसा यौवनमेष पश्यति ।
प्रतिजन्तु जनस्तदप्यहो स्वहितं मन्दमतिर्न पश्यति ॥६९॥
यदतीतमतीतमेव तत्सुखमागामिनि को विनिश्चयः ।
समुपैति वृथा बत श्रमं पुरुषस्तत्क्षणसौख्यमोहितः ॥७०॥
परिणामहिते समीहते[2] पथि सद्यः सुखलिप्सया न यः ।
स शिवादतिविप्रकृष्यते ज्वररोगीव विरुद्धसेवया ॥७१॥

॥६७॥ क्षणदृष्टेत्यादि । स्वप्न इव स्वप्ने यथा । क्षणदृष्टतिरोहितै क्षणे स्वल्पकाले[3] दृष्टै पश्चात् तिरोहितै अदृष्टै[4] । विषयै पञ्चेन्द्रियविषयै । जनः लोक । प्रतार्यते वञ्च्यते । तृ प्लवन तरणयो । णिजन्तात्कर्मणि लट् । तथापि तेन प्रकारेणापि । मन्दबुद्धि. मन्दमति. । अयं जन । तेषु विषयेषु । रति प्रीतिम् । एति गच्छति । इण गतौ लट् । अनात्मवेदिताम् आत्मज्ञानरहिताम् । धिक् कष्टम् । 'हा धिक् समया—' इत्यादिना द्वितीया ॥६८॥ प्रहतमित्यादि । एष अयम् । जन लोक । प्रतिजन्तु जन्तून् जन्तून् प्रतिजन्तु[5] तेषु सकल-जीवेषु । जीवित जीवनम् । मरणेन मृत्युना । प्रहत विनष्टम् । यौवन जरसा जरया । 'जरायाङसिन्द्रयस्याचि' इति जसादेश । प्रहतम् इति पश्यति स्वयमीक्षते । तदपि तथापि । मन्दबुद्धि मन्दमति स्वहित स्वस्मै हितम् आत्मनेहितम् । न पश्यति । दृश् प्रेक्षणे लट् । '[पाघ्राध्मा-] धेट् दृश श ' इत्यादिनाति (?) इति पश्यादेश[6] । अहो आश्चर्यम् ॥६९॥ यदित्यादि । यत्सुखम् अतीत भूतम्[7] । तदतीतमेव अतिगतमेव[8] । आगामिनि भविष्यति । सुखे विनिश्चय व्यवसाय क·, न कोऽपीत्यर्थ । तत्क्षणसौख्यमोहित । तत्क्षणे तत्काले जातसौख्येन सुखेन मोहितो मूढ । पुरुष । वृथा मुधा । श्रम प्रयासम् । 'समुपैति संप्रयाति । बत हन्त ॥७०॥ परिणामहित इत्यादि । यः सद्य· शीघ्रम् । सुखलिप्सया सुख लब्धुमिच्छया[9] । परिणामहिते परिणामेऽन्ते हिते । पथि रत्नत्रयात्मके[10] । न समीहते न चेष्टते । सः जन शिवात् मोक्षात् । 'सुखसलिलमोक्षमङ्गलकीलकवालुकाभयाम-

जाननेवाले भी मोहजालमे फँसे हुए हैं ॥ ६७ ॥ स्पर्शन आदि पाँच इन्द्रियोंके विषय स्वप्नमे देखे गये राज्यादिके समान क्षणभर दिखलायी देते हैं, बादमे वे दृष्टिसे ओझल हो जाते हैं। वे विषय प्राणीको धोखा देकर चले जाते हैं। फिर भी उनकी मूर्खता देखिए जो वे उन्ही विषयोमे आनन्द मानते हैं वे अपनी आत्माकी ओर जरा भी ध्यान नही देते इस अनात्मज्ञताको धिक्कार है ॥ ६८ ॥ प्रत्येक जीवका जीवन मृत्युके द्वारा और यौवन बुढापेके द्वारा नष्ट किया जाता है। परन्तु इसे देखते हुए भी मूर्ख जीव अपने हितकी ओर ध्यान नही देता, यह कितने आश्चर्यकी बात है ॥६९॥ भूतकालमे जो भोगनेमे आया, वह तो बीत ही गया—अब वह लौटकर नही आयगा। रहा भावी सुख, सो उसका निश्चय ही क्या है—कदाचित् वह न भी प्राप्त हो सके ? फिर भी बडा खेद और आश्चर्य है कि मनुष्य उस क्षणिक तात्कालिक सुखके मोहमे मग्न होकर व्यर्थं ही परिश्रम करता रहता है ॥ ७० ॥ जो मनुष्य आगे सुख देनेवाले मार्गं (रत्नत्रय) इच्छासे तात्कालिक सुखकी अभिलाषासे शीघ्र ही नही लगता, वह मोक्षसे

१ क ख ग घ °वेदितम् । २ अ समीहिते । ३ [क्षण स्वल्पकाल] । ४. आ दृष्टै पाश्चात्र दृष्टै अदृष्टै श स दृष्टै तिरोहितै पाश्चात्र दृष्टै अदृष्टै । ५ [जन्तु जन्तुं प्रति इति प्रतिजन्तु] । ६ आ धेड्वेत्यादिना शिघे पश्यादेश । ७ [गतम्] । ८ श स अतिगतमिव । ९. [सुखस्य लब्धुम् इच्छा लिप्सा, तया] । १०. स आत्मत्रयात्मके ।

दहनस्तृणकाष्ठसंचयैरपि तृप्येदुदधिर्नदीशतैः ।
न तु कामसुखैः पुमानहो बलवत्ता खलु कापि कर्मणः ॥७२॥
वपुरप्यतिमात्रमान्तरं त्यजति प्राणिनमायुषः क्षये ।
विरहे खलु कोऽत्र विस्मयो बहिरङ्गैर्धनमित्रबान्धवैः ॥७३॥
सुखमिष्टसमागमे यथा विरहे तस्य तथैव चासुखम् ।
अत एव सजन्ति निर्वृतौ सुधियः संगसुखैकनिःस्पृहाः ॥७४॥
हितमेव न वेत्ति कश्चन भजतेऽन्यः खलु तत्र संशयम् ।
विपरीतरुचिः परो जगत्त्रिभिरज्ञानतमोभिराहतम् ॥७५॥

लक्ष्यद्रिजाक्रोष्टुशङ्करेषु शिवम्' इति नानार्थकोशे । अतिविप्रकृष्यते दूरीक्रियते । विरुद्धसेवया विरोध–[धि] वस्तुसेवनेन । ज्वररोगीव ज्वररोगवानिव । उपमा ॥७१॥ दहन इत्यादि । अपि यदि । तृणकाष्ठसचयै· तृणाना काष्ठाना सचयै समूहै· । दहन अग्नि । तृप्येत् प्रीणयेत्[1] नदीशतै नदीनाम् अनेकै[2] । उदधि समुद्र । पुमान् तु पुरुषस्तु । कामसुखै कामस्य सुखै । न तृप्येत् । कर्मण दुरितस्य । कापि काचित् । बलवत्ता खलु बलयुक्तता हि । अहो अद्भुतम् ॥७२॥ वपुरित्यादि । अत्र ससारे । वपुरपि शरीरमपि । आयुष आयुष्यस्य । क्षये नाशे । आन्तरम् अन्त स्थितम् । प्राणिन जीवम् । अतिमात्रं भृशम् । त्यजति विमुञ्चति । बहिरङ्गै बाह्यै । धनमित्रबान्धवै धनै. द्रव्यै मित्रै सखिभि· बान्धवै बन्धुभि । सह । विरहे विगमे । विस्मय आश्चर्यम् । क खलु न-कोऽपीत्यर्थ ॥७३॥ सुखमित्यादि । यथा येन प्रकारेण । इष्टसमागमे इष्टस्य वनितादे समागमे सप्राप्तौ । सुखम् । तथैव च । तस्य इष्टस्य । विरहे विगमे । असुख दु खम् । स्यादित्यध्याहार । अतएव एतस्मात्कारणादेव । [3]सगसुखैकनिस्पृहा सगेन[4] परिग्रहेण जाते सुखे एक केवल निस्पृहा वाञ्छारहिता । सुधिय कल्याणबुद्धयो जना । निर्वृत्तौ मोक्षकारणे[5] । सजन्ति सन्नह्यन्ति, सन्नद्धा भवन्तीत्यर्थ । पञ्ज सगे लट् । 'दन्शसन्जस्वञ्जां शपि' इति न लुक् ॥७४॥ हितमित्यादि । कश्चन पुरुष । हितमेव न वेत्ति न जानाति । अन्य अपर । तत्र हिते । सशय सदेहम् । भजते[6] सेवते । खलु स्फुटम् । पर अन्य । विपरीतरुचि विपरीता रुचि श्रद्धान यस्य स । जगत्त्रिभि जगता[7] त्रिभिर्मूढसशयविपरीतलक्षणै त्रिभि । अज्ञानतमोभि·

बहुत दूर पहुँच जाता है। जैसे ज्वरका रोगी कुपथ्यका सेवन करनेमे ज्वरके मोक्षसे-आरोग्य लाभसे–दूर जा पहुँचता है ॥ ७१ ॥ सम्भव है कभी अग्नि घास व लकडी आदिके ढेरसे और समुद्र सैकडो नदियोसे तृप्त हो जाय। किन्तु मनुष्य विषय-सुखसे कभी भी तृप्त नही हो सकता। कर्मोकी प्रबलता आश्चर्य जनक है ॥ ७२ ॥ आयुके नष्ट होते ही जब शरीर भी सदा अपने अन्तरवर्ती–शरीरसे कभी पृथक् न दिखनेवाले–जीवको छोड देता है, तो प्रत्यक्षमे पृथक् दृष्टिगोचर होनेवाले सम्पत्ति, मित्र और भाइयोसे विरह होनेमे आश्चर्य ही क्या है ॥७३॥ पत्नी व धन आदि इष्ट वस्तुओके सयोगमे जैसे सुख होता है, वैसे ही उनके वियोगमे दु ख भी होता है। इसीलिये बुद्धिमान् मनुष्य उस सयोगजनित सुखकी चाहको ठुकराकर मुक्तिसुखकी प्राप्तिका प्रयत्न करते हैं—मोक्षमार्गमे लग जाते हैं ॥७४॥ इस जगत्मे तीन प्रकारके अज्ञानी हैं—पहले वे जो अपने हितको जानते ही नही, दूसरे वे जो हितको जानकर भी उसके विषयमे सन्देह करते है, और तीसरे वे जो हितको अहित या अहितको ही हित समझते हैं। इस प्रकार सभी संसारी प्राणी इन तीन प्रकारके अज्ञानोसे नष्ट हो रहे हैं—सदा दुखका अनुभव कर रहे हैं। जिस

१ [तृप्तिमवाप्नुयात्] । २ [नदीना शतानि तै शतमख्यापरिमिताभिर्नदीभिरित्यर्थ] । ३ श स सगमसु । ४ श स सगमेन । ५ आ मोक्षकारण । ६. श स भजति । ७ [जगत् लोक त्रिभि ०] ।

परिणामसुखं शरीरिणां जिनवाक्यं न विहाय विद्यते ।
सरुजामिव पथ्यमौषधं तदनात्मज्ञतया[1] न रोचते ॥७६॥
अधिगम्य यथाविधि श्रुतं प्रतिपद्योत्तमसाधुसंगमम् ।
अवयन् भवफल्गुतामिमामपरः कोऽहमिव प्रमाद्यति ॥७७॥
सुखमायतिदुःखमक्षजं भजते मन्दमतिर्न बुद्धिमान् ।
मधुदिग्धमुखाममन्दधीरसिधारां खलु को लिलिक्षति ॥७८॥

स्वरूपज्ञानरहिते[2] । आहत विनष्टम् ॥७५॥ परिणामेत्यादि । सरुजा रोगसहितानाम् । औषधम् । पथ्य हितमिव । शरीरिणा देहिनाम् । जिनवाक्य जिनस्य जिनेश्वरस्य वाक्यम् आगमम् । विहाय त्यक्त्वा । परिणामसुख परिणामेऽन्ते सुख सौख्यम्[3] । न विद्यते नास्ति । तत् जिनवाक्यम् । अनात्मज्ञतया स्वरूपज्ञानरहिततया । न रोचते न प्रीणाति[4] । रुचि अभिप्रीत्याञ्च । लट् ॥७६॥ अधिगम्येत्यादि । यथाविधि विधिमनतिक्रम्य । श्रुत द्वादशाङ्गरूपम् । अधिगम्य ज्ञात्वा निश्चित्य वा । उत्तमसाधुसगमम् उत्तमाना वरेण्यानासाधूना मुनीश्वराणा सगम संसर्गम् । प्रतिपद्य प्रतिपदन पूर्वं[5] पश्चात् किंचित्, लब्ध्वा । इमाम् एताम् । भवफल्गुताम् नि सारताम् । अवयन् जानन् । अहमिव क पर[6] अन्य । प्रमाद्यति प्रमादीभवति । मदि हर्षग्लपनयो ॥७७॥ सुखमित्यादि । आयतिदु खम् आयतौ उत्तरकाले दु ख कष्टकरम् । 'उत्तर काल आयति' इत्यमर । अक्षजम् अक्षेभ्य इन्द्रियेभ्यो जायत इति तथोक्त पञ्चेन्द्रियजनित सुखम् । मन्दमति मन्दबुद्धियुत । भजते सेवते । भज सेवाया लट् । बुद्धिमान् मतिमान् । न भजते । तथा हि मधुदिग्धमुखा मधुना दिग्ध लिप्त मुख यस्या ताम् । असिधाराम् असे खड्गस्य धाराम्[7] । अमन्दधी अमन्दा महती धीर्यस्य । कः को वा । खलु स्फुटम् । लिलिक्षति लेढुमिच्छति । लिह् आस्वादने सन्नन्ताल्लट् । न कोऽपीत्यर्थ ॥७८॥

प्रकार अन्धकारमे आच्छादितमार्गमे चलनेवालोमे-से किसीको तो अपना मार्ग ही नही सूझता, किसीको कुछ सूझता भी है तो उसमे सन्देह होता है, और किसीको वह ठीक विपरीत प्रतीत होता है, इसी प्रकार मिथ्याज्ञानके वशीभूत होनेपर कोई तो हितमार्गको समझ ही नही पाता, कोई समझकर भी उसमे सन्देह करता है, और कोई उसे अहितका ही मार्ग समझ बैठता है ॥७५॥ प्राणियोको भविष्यमे सुख देनेवाली केवल जिन-वाणी (जैनागम) ही है—उसे छोडकर अन्य कोई भी वस्तु भविष्यमे सुख नही दे सकती । किन्तु जिन्हे आत्मज्ञान नही है उन्हे वह रुचती नही है । जैसे रोगीको केवल औषधि ही हितकर होती है—उसे छोडकर उसके लिए अन्य कोई वस्तु हितकर नही हो सकती । किन्तु जिस रोगीको स्वय अपने हितका विवेक नही है, उसे वह रुचती नही है ॥७६॥ विधिपूर्वक शास्त्रको पढकर, उत्तम साधुओकी सङ्गतिको पाकर और ससारकी असारताको जानकर भी मेरे समान आत्महितमे प्रमाद करनेवाला दूसरा कौन होगा ॥७७॥ इन्द्रियजन्यसुख परिणाममे दुखप्रद होता है । अतएव उसका सेवन केवल मूर्ख ही किया करते हैं, न कि बुद्धिमान् । ठीक है, कौन ऐसा बुद्धिमान् मनुष्य होगा जो शहदल-

१ अ नदिहाज्ञानतया । २ [मिथ्याज्ञानतिमिरै] । ३ [सुखकरम्] । ४ [न रुचिरं प्रतिभाति] । ५ श स 'पूर्व' नास्ति । ६ [अपर क] । ७ श स 'धारा' नास्ति ।

असुखैकफलं प्रभज्य यो रसति[1] प्रेममयं न पल्लवम्।
प्रविरक्तमतिः प्रवर्तते पुरुषः श्रेयसि हा स वञ्चितः ॥७९॥

इति विषयविरक्तश्छन्नया कर्णजाहं
स्वयमिव स समेत्य व्याहृतो मुक्तिदूत्या।
न्यविशत मुनिमार्गे चेतसा चारुचेता
भवति हि मतिभाजां काललब्धिर्न वन्ध्या ॥८०॥
प्रपृच्छ्य सुतमात्मनस्तमपरेद्युरुद्यच्छ्रियं
प्रमृज्य च तदक्षिणी विगलदश्रुणी पाणिना।

असुखैकफलमित्यादि। प्रविरक्तमति. प्रविरक्ता बुद्धिर्यस्य स, प्रकृष्टविरक्तबुद्धि' सन्। य पुरुष : असुखैकफलम् असुख दु.खमेवैक मुख्य फल यस्य तम्। प्रेममय रागरूपम्। पल्लव किसलयम्। रसति[2] रसतीत्यनुकरणम्[3]। न प्रभज्य प्रभञ्जन पूर्व नावमर्द्य। प्रवर्तते। स पुरुष । श्रेयसि सुखनिमित्तम्! वञ्चित प्रतारित.। हा कष्टम्। 'हा दु खहेता उद्दिष्टो[4] विस्मयविषादयो' इति विश्व ॥७९॥ इतीत्यादि। छन्नया गूढया। मुक्तिदूत्या मुक्त्या मोक्षलक्ष्म्या दूत्या सख्या। कर्णजाहम् कर्णमूलम्। 'कर्णादि पक्षाज्जाहति मूले' इति जाह प्रत्यय। समेत्य सप्राप्य। स्वयम् आत्मनैव। व्याहृत आहूत इव। इति उक्तप्रकारेण। विषयविरक्त विषयेपु पञ्चेन्द्रियविषयेपु विरक्त। चारुचेता. चारु शोभन चेत चित्त यस्य स तथोक्त। स कनकप्रभ.। चेतसा चित्तेन। मुनिमार्गे मुनीना यतीना मार्गे न्यविशत प्रविशति स्म। तथा हि—मतिभाजा मति भजन्ति[5] स्म मतिभाज तेषा बुद्धिमताम्। काललब्धि कालस्य लब्धि प्राप्ति। वन्ध्या निष्फला। न भवति[6] ॥ ८० ॥ प्रपृच्छ्येत्यादि। स कनकप्रभ.[7]। अपरेद्यु अन्यस्मिन् दिने। '**पूर्वापर**—' इत्यादिना एद्युस् प्रत्यय.। उद्यच्छ्रियम् उद्यन्ती श्रीर्यस्य तमुदयोन्मुखसपदम्। आत्मन स्वस्य। तं सुतम्—पद्मनाभसुतम्। प्रपृच्छ्य प्रार्थ्य[8]। विगलदश्रुणी विगलत् स्यन्दन्नेत्रोदकं[9] ययो[10] ते तदक्षिणी तस्य

पेटी तलवारकी धारको चाटना चाहेगा ॥७८॥ जो विरक्त मनुष्य एकमात्र दु खरूप फलके देनेवाले रागरूप नवीन कोमल पत्तेको तोडकर शीघ्र ही कल्याणके मार्गमे नही लगता, खेद है कि वह ठगा जाता है—उस कल्याणसे वञ्चित ही रह जाता है ॥७७॥

इस प्रकारका विचार करते हुए निर्मलबुद्धि महाराज कनकप्रभको विषयसुखसे अतिशय वैराग्य उत्पन्न हुआ। फलतः वह हृदयसे मुनिमार्गमे प्रविष्ट हुआ। मानो मुक्ति-दूतीने गुप्तरूपमे स्वय पहुँचकर इसके लिये उसके कानमे कहा हो। सच है, बुद्धिमानोको काललब्धि कभी व्यर्थ नही जाती ॥८०॥ जिस दिन उसे वैराग्य हुआ, उसके दूसरे ही दिन कनकप्रभने अपने उत्तराधिकारी पुत्र पद्मनाभसे दीक्षा ग्रहण करनेकी अनुमति माँगी। यह सुनते ही उसके नेत्रोमे आँसू भर आये। इसपर कनकप्रभने अपने हाथसे उसके आँसू पोछकर उसे ससारकी स्थिति समझायी। तत्पश्चात् वह

---

१. अ य स्पृशति आ इ य पृशति। (मुद्रितप्रतौ 'झटिति' पाठान्तरमुपलभ्यते)। २ =रसिति झटिति प्रभज्य आमर्द्य न प्रवर्तते स पुरुष श्रेयसि मुक्त्यर्थ वञ्चित विप्रलब्ध। हि विस्मये। निर्विण्णेन झटित्युद्यमो विधेय इति भाव। ३ आ सति – सितीत्यनुकरणम्। ४ आ हि दु खहेता उद्दिष्टो हि वि०। ५. [भजन्तीति]। ६ आ श स न भवति हि। ७ आ 'कलकप्रभ' नास्ति। ८. [पृष्ट्वा]। ९. श स स्पन्ददात्मनेत्रोदकम्। १० [याभ्याम्]।

मुनीन्द्रमविनिन्दितं समभिवन्द्य स श्रीधरं
तपः समधिशिश्रिये नृपतिभिः समं भूरिभिः ॥८१॥

गुरुविरहभवेन पद्मनाभो भृशमसुखेन हतस्तदा तताम ।
नरपतिपदमास्थितोऽपि लक्ष्मीर्भवति मुदे नहि बान्धवैर्वियुक्ता ॥८२॥

विपुलमतिभिर्वृद्धामात्यैः कृतप्रतिबोधनः
पितृविरहजं हित्वा शोकं कियद्भिरसौ दिनैः ।
नयनविगलद्बाष्पापूरां सुधीः समभावयत्
प्रकृतिमुभयीं स्वामिस्नेहाकुलीकृतचेतसम् ॥८३॥

पद्मनाभस्य अक्षिणी नयने । पाणिना हस्तेन । प्रमृज्य प्रमार्जनं पूर्वं समार्ज्य । अविनिन्दितम् अकुत्सित सपूर्ण-चारित्रम् इत्यर्थ । श्रीधरं श्रीधरनामधेयम् । मुनीन्द्र मुनीनाम् इन्द्र तं मुनिपतिम् । समभिवन्द्य सस्तुत्य । भूरिभि अनेकै । नृपतिभि नृणां नराणां पतिभि । समं साकम् । तप बाह्याभ्यन्तरभेदम् । समधिशिश्रिये स्वीकरोति स्म । श्रिञ् सेवायां लिट् ॥ ८१ ॥ गुरुविरहेत्यादि । गुरुविरहभवेन पितृवियोगजनितेन । असुखेन दुःखेन । हत पीडित । पद्मनाभ पद्मनाभनरेन्द्र । नरपतिपदम् अधिराजपदम् । आस्थितोऽपि आरूढोऽपि । 'शीङ्स्थासोऽधेराधार ' इत्याधारे द्वितीया । तदा तस्मिन् अवसरे । भृशम् अत्यन्तम् । तताम सक्लिष्टवान् । तमु ग्लानौ लिट् । बान्धवै ज्ञातिभि । वियुक्ता रहिता । लक्ष्मी सपत्ति । मुदे प्रीतये । न भवति[1] । अर्थान्तरन्यास ॥ ८२ ॥ विपुलमतिभिरित्यादि । विपुलमतिभि विपुलया महत्या मत्या बुद्ध्या सहितै[2] । वृद्धामात्यै वृद्धै परपरागतै अमात्यै मन्त्रिभि । कृतप्रतिबोधन कृता प्रतिबोधना यस्य स । सुधी शोभनधिषण । असौ पद्मनाभ । कियद्भि कि मानम् अस्त्येषाम् इति कियन्ति तै कतिचिद्भि । दिनै दिवसै । पितृविरहज पितु विरहेण जातम् । शोक दुःखम् । हित्वा त्यक्त्वा । नयनविगलद्बाष्पापूराम् नयनै[3] विगलन् बाष्पस्य आपूर प्रवाहो यस्या ताम । स्वामिस्नेहाकुलीकृतचेतसम् स्वामिन स्नेहेन प्रेम्णा प्रागनाकुलमिदानीमाकुल क्रियते, आकुलीकृत स्वामिस्नेहेन आकुलीकृत चेतो यस्य तम्[4] उभयाम् उभयरूपा प्रजापरिवारभेद-भिन्नाम् आप्तबलमूलबलविकल्पा वा । प्रकृतिम् अमात्यादिसहतिम् । 'प्रकृति पञ्चभूतेषु स्वभावे मूलकारणे । छन्द कारणगुह्येषु जन्त्वमात्यादिमातृषु ।' इति वैजयन्ती । समभावयत् आश्वासयत्[5] । भू कृपोव-

---

श्रीधर मुनिके पास पहुँचे । निर्मल चारित्रके धारक होनेसे उनकी प्रशसा सभी करते थे । उनको नमस्कारकर कनकप्रभने अनेक राजाओके साथ जिनदीक्षा ले ली और तपस्या प्रारम्भ कर दी ॥८१॥ राजगद्दीपर बैठकर भी पद्मनाभको, पिताके चले जानेसे बडा दुःख हुआ, उससे उसके हृदयको बडी चोट पहुँची । ठीक है—बन्धुओंके बिना राज्यलक्ष्मी भी सुख नही दे सकती ॥८२॥ कनकप्रभके चले जानेसे पद्मनाभके समान प्रजाको भी बहुत सन्ताप हुआ । उसकी आँखोसे अश्रुधारा प्रवाहित हो रही थी और उसका हृदय भी व्याकुल हो उठा था । स्वामीके प्रति उसे स्नेह जो था । इस स्थितिको देखकर बुद्धिमान् वृद्ध मन्त्रियोने पद्मनाभको सान्त्वना दी । फलत. कुछ दिनोमे उसका वह शोक दूर हो सका । इस प्रकार स्वय शोकको छोडकर उसने दोनो प्रकारकी प्रकृतिको अपने स्वभाव (स्वास्थ्य) और प्रजा

---

१ आ श स न भवति हि । २ श म आ 'विपुलया महत्या मत्या बुद्धया सहितै ' नास्ति । ३ [नयनेभ्यो] ४ [यस्या ताम्] । ५ = सस्कृतवान् ।

एतस्यानृजुरयमष्टमीमृगाङ्को व्याक्षिप्तो विकटललाटपट्टकेन ।
संजातानतिभिरितीव तत्र भेजे भूपालैर्न कुटिलता नृपासनस्थे ॥८४॥
तेजोनिधावुदयधाम्नि सुवर्णनाभ-
नाम्नि प्रवर्त्य तनये युवराजशब्दम् ।
भोगानवास्थित सदानुभवन् स भूपः
सोमप्रभादशनजातकिणाङ्कितोष्ठः ॥८५॥

॥ इति श्रीवीरनन्दिकृतावुदयाङ्के चन्द्रप्रभचरिते महाकाव्ये प्रथम सर्ग ॥ १ ॥

कल्पने लङ् ॥ ८३ ॥ एतस्येत्यादि । एतस्य पद्मनाभस्य । विकटललाटपट्टकेन विकटस्य विशालस्य ललाटस्य पट्टकेन प्रदेशेन 'सुन्दरविशालविकरालेषु विकट' इति नानार्थकोशे । अनृजु वक्र । अयम् एष. । अष्टमी-मृगाङ्क अष्टम्या चन्द्र । व्याक्षिप्त[1] निराकृत । इतीव सजातानतिभि सजाता निष्पन्ना आनतिर्नमस्कारो येषा तै । भूपालै भूपतिभि । नृपासनस्थे सिंहासनस्थिते तत्र तस्मिन् पद्मनाभे । कुटिलता वक्रता । न भेजे न सिषेवे[2] । भज सेवाया कर्मणि लिट् ॥ ८४ ॥ तेज इत्यादि । सोमप्रभादशनजातकिणाङ्कितोष्ठ[3] सोम-प्रभादेव्या दशनैर्दन्तैर्जातेन किणेन कलङ्केन[4] अङ्कित चिह्नित[5] ओष्ठो यस्य स । स भूप पद्मनाभ. । तेजोनिधौ पराक्रमनिधाने । उदयधाम्नि उदयस्य भाग्यस्य धाम्नि निलये । सुवर्णनाभनाम्नि सुवर्णनाभनाम-धेये । तनये पुत्रे । युवराजशब्द युवराजाभिधानम् । प्रवर्त्य प्रवर्तन कृत्वा । भोगान् पञ्चेन्द्रियभोगान् । सदा अनवरतम् । अनुभवन् । निर्विशन् । अवास्थित अवसत् । स्था गतिनिवृत्तौ लुङ् । 'समवप्रविभ्य' इति तङ् ॥ ८५ ॥

॥ इति श्रीवीरनन्दिकृतावुदयाङ्के चन्द्रप्रभचरिते महाकाव्ये तद्व्याख्याने
च विद्वन्मनोवल्लभाख्ये प्रथमः सर्गः ॥ १ ॥

दोनोको सम्हाला ॥८३॥ पद्मनाभने जब अपने विस्तीर्ण सुन्दर ललाटकी शोभासे कुटिल अष्टमीके चन्द्रमाको भी जीत लिया, तब उसके सामने हमारी क्या दशा होगी, मानो इसी चिन्ताके कारण पद्मनाभके राजसिंहासनपर आरोहण करते ही सभी राजा उसके सामने नतमस्तक हो गये और उन्होने अपनी कुटिलवृत्ति छोड दी ॥८४॥ पद्मनाभकी रानीका नाम सोमप्रभा और पुत्रका नाम सुवर्णनाभ था । पुत्र बडा तेजस्वी और प्रगतिशील था । उसे युवराज बनाकर पद्मनाभ अपनी पत्नी सोमप्रभाके साथ—जिसने सम्भोगके समय अनुरागवश उसके होठको दन्तक्षतसे चिह्नित कर दिया था—भोगोका अनुभव करने लगा ॥८५॥

इस प्रकार वीरनन्दी विरचित उदयाङ्क चन्द्रप्रभचरित महाकाव्यमें
पहला सर्ग समाप्त हुआ ॥१॥

---

१ श स व्याक्लृष्ट । २ = भूपालै राजभि । नृपासनस्थे सिंहासनस्थिते । तत्र राजनि । कुटि-लता वक्रत्वम् । न भेजे । यथायमष्टमीमृगाङ्कोऽनेन वक्रतरोऽपि जित तत्र के वयम्, इति वक्रत्व विहाय पदयो पतिता इति भाव । ३ श स °तोष्ठ । ४ श स 'कलङ्केन' नास्ति । ५. आ अङ्कितौ चिह्नितावोष्ठौ यस्य स । ६ श स 'ओ' नास्ति ।

[२. द्वितीयः सर्गः]

अथैकदास्थानगतं प्रतीहारनिवेदितः ।
वनपालो महीपालमिति नत्वा व्यजिज्ञपत् ॥१॥
देव देवोचितस्थाने सुगन्धिपवने वने ।
मुनिरेक समायातः शब्दार्थाभ्यां मनोहरे ॥२॥
भुवनव्यापिनीं भव्यपुण्डरीकाभिनन्दिनीम् ।
धत्ते श्रीधर इत्याख्यां यो भानुरिव दीधितिम् ॥३॥

श्रीपुष्पदन्तजिनप प्रणमामि नित्य यत्कायकान्तिरजताद्रिसमानशोभम् ।
देवासुरोरगनरेन्द्रकिरीटकोटीमाणिक्यकान्तिपरिचर्चितपादपीठम् ॥

अथेत्यादि । अथ प्रथमसर्गनिरूपणानन्तरम्[1] । एकदा एकस्मिन् दिने । प्रतीहारनिवेदित प्रतीहारेण द्वारपालेन[2] निवेदितो ज्ञापित. । वनपाल. उद्यानपाल. । आस्थानगत सभाया स्थितम् । महीपाल पद्मनाभमहीपतिम् । नत्वा नमन पूर्व (पश्चात् किंचित्) प्रणम्य । इति वक्ष्यमाणप्रकारेण । व्यजिज्ञपत् अज्ञापयत्[3] । ज्ञा अवबोधने[4] णिजन्तात्लुड् ॥१॥ देवेत्यादि । देव भो राजन् । देवोचितस्थाने देवानाम् उचितं योग्य स्थान यस्य[5] तस्मिन् । सुगन्धिपवने शोभनगन्धसहितवायुयुक्ते[6] । शब्दार्थाभ्या शब्देन नाम्ना अर्थेन च अभिधेयेनापि च । मनोहरे मनोहरनाम्नि । वने उद्याने । एक' कश्चित् । मुनिः यतीश्वर. । समायातः समागत ॥ २ ॥ भुवनव्यापिनीमित्यादि । य मुनिपति । भुवनव्यापिनीं भुवन लोक व्याप्नोतीत्येव शीला ताम् । भव्यपुण्डरीकाभिनन्दिनीं भव्यपुण्डरीकाणा भव्यश्रेष्ठानाम् अभिनन्दिनीं सतोषकरीम्, पक्षे भव्यानि मनोहराणि पुण्डरीकाणि कमलानि अभिनन्दनशीला (अभिनन्दयतीत्येवशीला) विकासनशीला ताम् । भानु सूर्य. । दीधितिमिव किरणमिव[7] । श्रीधर इत्याख्या श्रीधर इति नामधेयम् । धत्ते डुधाञ् धारणे च

इसके बाद एक दिनकी बात है । राजा पद्मनाभ सभामे वैठा हुआ था । इतनेमे द्वारपालने उसे मनोहर वागके मालीके आनेकी सूचना दी, और उसकी अनुमति लेकर मालीको अन्दर लिवा ले गया । वहाँ पहुँचते ही मालोने राजाको प्रणाम किया और कहा— ॥१॥ राजन् ! जिसमे देवोके योग्य स्थान है और जहाँ सदा सुगन्धित वायु वहा करती है, वह वाग न केवल नामसे बल्कि अर्थसे भी मनोहर है । वहीपर एक मुनिराज पधारे हैं ॥२॥ उनका नाम श्रीधर है जो विश्वके कोने-कोनेमे प्रसिद्ध है । उसे सुनकर भव्य जीवोको बडा आनन्द होता है । जैसे सूर्यकी किरणें सारे संसारमे फैली हुई है । वे सुन्दर कमलोको विकसित कर

---

१ श स °नन्तरे । २ आ °पालकेन । ३ =विज्ञापयामास । ४ =ज्ञप ज्ञाने ज्ञापने च । ५. =यस्मिन् । ६ शोभनो गन्धो यस्य स सुगन्धि, सुगन्धि पवन पवमानो यस्मिन् स तस्मिन् । ७. आ प्रतावेव 'किरणमिव' इति समुपलभ्यते ।

दारुणं यस्तपस्तेज सौम्यां च दधदाकृतिम् ।
समाहारेण निर्वृत्तः सूर्याचन्द्रमसोरिव ॥४॥
मोक्षसंधानचित्तेन गुणमार्गणशालिना ।
येन चापधरेणेव भूतेभ्योऽदीयताभयम् ॥५॥
त्रिकालगोचरानन्तपर्यायपरिनिष्ठितम् ।
प्रतिबिम्बमिवादर्शे जगद्यद्वचसीक्ष्यते ॥६॥
सुवर्णैरभिनिर्वृत्ता दत्तमुक्तोत्तमास्पदाः ।
यस्याश्चर्यकथाः कर्णपूरायन्ते विपश्चिताम् ॥७॥

लट् ॥ ३ ॥ दारुणमित्यादि । य मुनिपति । दारुणं भयकरम् (तीव्रम्) । तपस्तेज तप एव तेज तप प्रतापम् । सौम्या मनोहराम् । आकृति च आकार च । दधत् दधातीति दधत् धरन् । सूर्याचन्द्रमसोः सूर्यश्च चन्द्रमाश्च सूर्याचन्द्रमसौ तयो । 'इन्द्रासोमादिषु देवतानाम्' इति साधु । समाहारेण समूहेन[2] निर्वृत्त. निष्पन्न इव । भातीत्यध्याहार ॥ ४ ॥ मोक्षेत्यादि । मोक्षसधानचित्तेन मोक्षे परमनिर्वाणे सधानं सबन्धो यस्य तत् तयोक्त मोक्षसधान चित्त यस्य तेन, पक्षे मोक्षश्च सधान च तयो शरमोक्षणशरसंधानयो चित्तं यस्य तेन । गुणमार्गणशालिना गुणै गुणस्थानै मार्गणै मार्गणास्थानैः शालिना सम्पूर्णेन, पक्षे गुणेन मौर्व्या मार्गणै बाणैश्च शालिना । येन मुनिपतिना । चापधरेणेव धनुर्धरेणेव । भूतेभ्य. प्राणिभ्य । अभयम् अदीयत । दाण् दाने कर्मणि लङ् , पक्षे अभयम् अदीयत अखण्डयत[3] । दो अवखण्डने । श्लेषोपमा ॥ ५ ॥ त्रिकालेत्यादि । त्रिकालगोचरानन्तपर्यायपरिनिष्ठित त्रिकाल एव गोचरो येषा ते त्रिकालगोचरा अनन्ता अनन्तसंख्यावच्छिन्ना पर्याया सहभाविपरिभावि[4]परिणामा. तयोक्ता त्रिकालगोचराश्च ते[5] अनन्तपर्यायाश्च तै परिनिष्ठित युक्तम् । जगत् लोक । यद्वचसि यस्य श्रीधरमुनीन्द्रस्य वचसि वचने । आदर्शे दर्पणे । प्रतिबिम्बमिव प्रतिकृतिरिव । ईक्ष्यते दृश्यते । ईक्षि दर्शने कर्मणि लट् ॥ ६ ॥ सुवर्णैरित्यादि । सुवर्णैः स्पष्टाक्षरैं, पक्षे कनकै. । अभिनिर्वृत्ता विरचिता । दत्तमुक्तोत्तमास्पदा दत्त मुक्ताना सिद्धानाम् उत्तम श्रेष्ठम् आस्पद येषा तै.[6], पक्षे दत्तं मुक्ताना मौक्तिकानाम् उत्तमम् आस्पद येषा तै[7] । यस्य मुनिपतेः ।

उन्हे आनन्द देती हैं ॥३॥ उनकी आकृति सौम्य है और उसपर उनके तपका तीव्र तेज है । अतः लगता है वे सूर्य और चन्द्रके समिश्रणसे रचे गये है । वे तेजस्वी होकर भी शान्त हैं ॥४॥ उनका मन मुक्तिके अनुसन्धानमे लगा हुआ है, सद्गुणोके अन्वेषणसे उनकी शोभा है और वे समस्त प्राणियोको अभय प्रदान करते हैं । अतएव वे इस समय उस धनुर्धारीके समान जान पड़ते हैं, जिसका मन केवल बाण छोड़ने और उसके स्थानमे दूसरा बाण रखनेमे लगा हुआ है, जिसकी शोभा डोरी और बाणोसे है तथा जो लोगोको निर्भय कर रहा है ॥५॥ जिस प्रकार दर्पणमे, सामने रखे सभी पदार्थों और उनकी वर्तमान अवस्था की स्पष्ट झलक मिल जाती है, उसी प्रकार उनके वचनोमे सारे जगत् और उसकी भूत, वर्तमान और भविष्यमे होनेवाली सभी अवस्थाओकी स्पष्ट झांकी मिल जाती है ॥६॥ उपदेश देते समय वे प्रसगवश जो कथाएँ सुनाते हैं, वे कर्णभूषण सरीखी रहती हैं । जिस प्रकार कर्णभूषण सोनेसे बनाये

---

१. =तपस्तेजस्तपस्तेज । २ =समुच्चयेन । ३ श स अखण्डयत । ४. 'परिभावि' । ५ आ प्रतौ केवलं 'ते' इति दृश्यते । ६ = यामु ता । ७ =यासु ताः ।

भ्रमन्ति भुवनाभोगे निश्चला अपि यद्गुणा ।
असङ्ख्येयाश्च सर्वत्र व्रजन्ति गणनीयताम् ॥८॥
यत्पादपांसुसंपर्कादलंकृतशिरोरुहा. ।
निस्पृहा वासचूर्णेषु भवन्ति नृसुरासुराः ॥९॥
भास्वानपि च यः सेव्यपादोऽभूत्तापवर्जित. ।
विकासयति चाशेषकुमुदं कुमुदोज्ज्वलः ॥१०॥

आश्चर्यकथा विस्मयकथा । विपश्चिता विदुषाम् । कर्णपूरायन्ते कुण्डलमिवाचरन्ति । कर्णपूरमिति सुब्वातो क्यङ्प्रत्यय ॥ ७ ॥ भ्रमन्तीत्यादि[1] । यद्गुणा यस्य मुनिपतेर्गुणा । निश्चला अपि स्थिरा अपि । भुवनाभोगे भुवनाना लोकानाम् आभोगे विस्तारे । 'आभोग परिपूर्णता' इत्यमर । भ्रमन्ति चलन्ति । भ्रमू[2] चलने लट् । असङ्ख्येयाश्च अगणेयाश्च[3] । सर्वत्र सर्वस्मिन् सर्वत्र । गणनीयता,[4] (पक्षे) श्लाघ्यता । व्रजन्ति गच्छन्ति ॥ ८ ॥ यदित्यादि । यत्पादपांसुसपर्कात् यस्य मुनिपते पादयो चरणयोः रजसो धूल्या सम्पर्कात् सगात् । अलङ्कृतशिरोरुहा अलङ्कृता भूपिता शिरोरुहा केशा येषा ते । नृसुरासुरा मनुष्यदेवासुरा. । वासचूर्णेपु सुगन्धिचूर्णेषु । निस्पृहा' वाञ्छारहिता' । भवन्ति ॥ ९ ॥ भास्वानित्यादि । य मुनिपति । भास्वानपि च तेजोयुक्तोऽपि च, सूर्य इति ध्वनि । सेव्यपाद सेव्यौ पूजनीयौ पादौ यस्य, पक्षे सेव्या किरणा यस्य स. । 'पादा रश्म्यङ्घ्रितुर्यांशा.' इत्यमर । अभूत् अभवत् । लुङ् । तापवर्जित तीक्ष्णपरिणामरहित सन्तापरहितश्च । कुमुदोज्ज्वल कुमुदवत् चन्द्रवदुज्ज्वलो भासमान । 'शशिवृक्षोत्पलकपिकृपणदिग्गजेपु कुमुद' इति नानार्थकोशे । यो भास्वानपीत्यत्रापि योज्य । अशेषकुमुदम् अशेषा चासौ कुश्च अशेषकु. तस्या मुत् हर्ष ता, पक्षे अशेष च तत् कुमुद चेति कम (?) समस्तकैरवम् । विकासयति च प्रकाशयति, पक्षे

जाते हैं, उनमे मोती जडे रहते हैं और वे पहरनेवालोके कानोकी शोभा बढाते हैं। इसी प्रकार उनकी कथाएँ अच्छे अक्षरोसे रची रहती हैं, उनमे यथास्थान मुक्त जीवोकी उत्तम चर्चा रहती है और अनेक विशेषताओके रहनेसे वे आश्चर्यजनक होती हैं तथा उनका श्रवण विद्वान् श्रोताओके कानोको सुशोभित करता है ॥७॥ उनके गुणोमे दो विचित्र बातें हैं—पहली यह कि वे चलते नही हैं किन्तु घूमते सारे ससारमे हैं और दूसरी यह कि वे गणनाके बाहर हैं पर सब जगह गणनामे आते हैं। वस्तुत वे बडे ही गुणी हैं—उनके गुण अविनाशी हैं, उनके गुणोकी चर्चा सभी करते हैं, उनके गुणोको गिनाया नही जा सकता और वे (गुण) सर्वत्र आदर पाते हैं ॥८॥ जो भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी, कल्पवासी और मनुष्य उनके चरणरजसे अपने बालोको विभूषित कर लेते हैं, उन्हे सुगन्धि-चूर्णकी चाह नही रहती ॥९॥ श्रीधर मुनि तेजकी दृष्टिसे सूर्य हैं, किन्तु उनमे कुछ ऐसी भी विशेषताएँ हैं, जिनसे वे उससे कही अच्छे हैं, क्योकि उष्णताके कारण सूर्यके किरण (चरण) सेवन करने योग्य नही है जब कि उनके चरण सेवन करने योग्य हैं। सूर्य सन्तापसहित है किन्तु वे सन्तापरहित है, क्योकि वे कभी ऐसा कार्य ही नही करते जिससे उन्हे सन्ताप हो। सूर्यका वर्ण चन्द्र-जैसा उज्ज्वल नही है। किन्तु उनका शरीर चन्द्र-जैसा उज्ज्वल है। वे सारे भूमण्डलके प्रमोदको बढ़ाते हैं पर सूर्य सारे भूमण्डलकी बात तो दूर रही कुमुदको भी प्रमोद नही दे पाता ॥ १० ॥

१. श स 'भ्रमन्ति इत्यादि' इति । २ श भ्रमु स भ्रम । ३. श स अगणीयाश्च । ४ = गणनीयतां गणनाविषयता, गणेन जनवृन्देन नीयतां प्राप्यतां च ।

मुनेस्तस्य प्रभावेण[1] या विभूतिरभूद्वने ।
तां विवक्षाम्यहं किं तु वक्त्रं नोक्तं करोति मे ॥११॥
वसन्तमनपेक्ष्यैव तस्यातिशय[2]विस्मिताः ।
रोमाञ्चानिव मुञ्चन्ति कोरकांश्चूतपादपाः ॥१२॥
तत्संगादिव संजातशान्तचित्तेन पुष्यता[3] ।
न विसोढमशोकेन कामिनीपादताडनम् ॥१३॥
बकुला अपि दृष्ट्वा तमणुव्रतमिवाश्रिताः ।
यद्वधूमधुगण्डूषाननादृत्यैव पुष्पिताः ॥१४॥
तिलकस्तिलकं पृथ्व्यास्तं दृष्ट्वा व्यकसत्क्षणात् ।
स्वपक्षदर्शनात्कस्य न प्रीतिरुपजायते ॥१५॥

स्फुटयति । काशि[4] दीप्तौ णिजन्ताल्लट् ॥१०॥ मुनेरित्यादि । तस्य मुने श्रीधरमुनिपस्य । प्रभावेण[5] सामर्थ्येन । वने मनोहरोद्याने । या विभूति सपत्ति । अभूत् अभवत् । ता विभूतिम् । अह विवक्षामि वक्तुमिच्छामि । वच् परिभाषणे । 'कर्म्येककर्तृकात्' इत्यादिना सन् प्रत्यय तस्माल्लट् । किंतु विशेषोऽस्ति । मे मम । 'ते मयावेकत्वे' इति अस्मच्छब्दस्य षष्ठ्येकवचने मे इत्यादेश' । वक्त्र वदनम् । उक्त भाषितम् । न करोति न विदधाति । डुकृञ् करणे लट् । तद्विभूतिर्वाचामगोचरेति भाव' ॥११॥ वसन्तमित्यादि । तस्य मुनिपते । अतिशयविस्मिता. अतिशयेन उत्कर्षेण विस्मिता आश्चर्यं गता । चूतपादपा. सहकारवृक्षा । वसन्त वसन्तकालम् । अनपेक्ष्यैव अपेक्षामकृत्वैव । रोमाञ्चानिव रोमहर्षणानीव । कोरकान् मुकुलानि । मुञ्चन्ति धरन्तीत्यर्थ । मुच्लृ[6] मोक्षणे ॥१२॥ तत्संगादित्यादि[7] । पुष्यता[8] विकसता । अशोकेन अशोकवृक्षेण । तत्सगात् तस्य मुनिपते सगात् सम्पर्कात् । सजातशान्तचित्तेन सम्यग्ज्ञानशान्तहृदयेनेव । कामिनीपादताडन कामिनीना स्त्रीणा पादताडन चरणाघातम् । न विषोढ न मृष्टम्, वाञ्छित न भवतीत्यर्थः ॥१३॥ बकुला इत्यादि । बकुला वकुलवृक्षा अपि । त मुनीन्द्रम् । दृष्ट्वा वीक्ष्य । अणुव्रत सूक्ष्मव्रत-श्रावकव्रतम् । श्रिता इव आश्रिता इव । 'श्रितादिभि.' इति समास । यत् यस्मात्कारणात् । वधूमधुगण्डूषान् वधूना स्त्रीणा मधुनो मद्यस्य गण्डूषान् निष्ठीवनक्रिया । अनादृत्यैव उदासीन कृत्वैव[9] । पुष्पिता. पुष्पाणि सजातानि एषाम् इति पुष्पिता. कुसुमिता । वकुलवृक्षाणा स्त्रीणा मद्यगण्डूषेण पुष्पाणि जायन्तेऽत्र तदपेक्षा नास्तीत्यर्थ ॥१४॥ तिलक इत्यादि । तिलकः

उनके प्रभावसे मनोहर बागकी जो विभूति प्रकट हुई है, उसे मैं तो कहना चाहता हूँ, किन्तु मेरा मुँह कहना नही मान रहा है । शब्दोमे इतना सामर्थ्य ही कहाँ, जो वे उसे कह सके, वह तो केवल देखते ही बनती है ॥११॥ सभी जगह वसन्त ऋतुके आनेपर ही आमके पेडोमे बौर लगती है, किन्तु राजन्, आपके मनोहर बागमे बिना वसन्तके आये ही उनमे बौर लग गई है । लगता है मुनिराजके अतिशयसे चकित हो जानेके कारण उन्हे रोमाञ्च हो आया है ॥१२॥ स्त्रियोके चरणोकी चोट सहे बिना ही अशोक वृक्ष विकसित हो गये हैं । मानो मुनिराजके समागमसे उनका चित्त शान्त हो गया है ॥१३॥ मौलसिरी वृक्ष स्त्रियोके मद्यके कुरलोकी अवहेलना करके अपने-आप विकसित हो गये हैं । मानो मुनिराजके दर्शन पाकर उन्होने पाँच अणुव्रत ग्रहण कर लिये हैं ॥१४॥ मुनिराज पृथिवीके तिलक हैं । मानो इसीलिए उनके दर्शन

---

१. क ख ग घ प्रभावेन । २. अ °तिशयि° । ३ अ आ इ क ख ग घ श स पुष्यता । ४. कासृङ् दीप्तौ इति शाकटा० धातुपाठे, काशृ दीप्तौ इति पाणिनीये । ५. श स °भावेन । ६ श स मुच । ७ श स °ङ्गादिति । ८ श स पुष्यता । ९ =अनपेक्ष्यैव ।

तद्धर्मश्रवणज्जातविबोधा इव चम्पकाः ।
न मनागप्यजायन्त मलिनालिसमाश्रयाः ॥१६॥
यथा पलाशास्तत्रैव[1] शोभन्ते नव किंशुकैः ।
तथैव जम्बूतरवो विराजन्ते न किं शुकैः ॥१७॥
जयशब्दं वयःशब्दैः कुर्वत्याः काननश्रियः ।
दन्तावलिरिवाभाति कुन्दकुड्मलसंततिः[2] ॥१८॥
हासानिव विमुञ्चन्तः सतोषात्कुसुमोद्गमान् ।
शिखण्डिताण्डवाटोपं तन्वन्ति कुटजद्रुमा ॥१९॥

तिलकवृक्ष.। पृथ्व्या भूमे । तिलक श्रेष्ठम् । तं मुनिम् । दृष्ट्वा वीक्ष्य । क्षणात् उत्सवात् । 'कालविशेषोत्सवयो क्षण' इत्यमर । व्यकसत् अस्फुटत् । कस गतौ लङ् । तथा[3] हि—स्वपक्षदर्शनात् स्वेषा पक्षाणां सहायाना दर्शनात् वीक्षणात् । कस्य पुरुषस्य । प्रीति संतोष. । नोपजायते नोत्पद्यते, अपि तु उपजायते एव ॥१५॥ तद्धर्मेत्यादि । चम्पका चम्पकवृक्षा । तद्धर्मश्रवणात् तस्य श्रीधरमुनीन्द्रस्य धर्मस्य धर्मोपदेशस्य श्रवणात् । जातविबोधा इव जात उत्पन्नो बोधो[4] येषा ते त इव । मनागपि स्वल्पमपि । मलिनालिसमाश्रया मलिनाना कृष्णवर्णानाम् अलीना भ्रमराणा समाश्रया सबन्धयुक्ता, पापसमूहस्याधारा न भवन्तीति ध्वनि.। नाजायन्त नाभवन् । जनैङ् प्रादुर्भावे लङ् ॥१६॥ यथेत्यादि । तत्रैव मनोहरोद्यान एव । पलाशा पलाशवृक्षा । नवकिंशुकै नवैर्नवीनै किंशुकै किंशुकवृक्षस्य पुष्पाणि किंशुकानि तै । 'बहुल ह्लुक् पुष्पमूले' इति विहितप्रत्ययस्य ह्लुक् । यथा येन प्रकारेण । शोभन्ते विराजन्ते । तथैव तेन प्रकारेणैव । जम्बूतरव जम्बूवृक्षाः । शुकै कीरपक्षिभि । न विराजन्ते किं न शोभन्ते किम् । अपि तु विराजन्त एव । राजृ दीप्तौ लट् । यमकम् ॥१७॥ जयशब्दमित्यादि । कुन्दकुड्मलसतति. कुन्दाना माध्याना कुड्मलाना मुकुलानां संतति समूह । वय शब्दै वयसा शब्दै पक्षिध्वनिभि । 'खगबाल्यादिनोर्वय' इत्यमर । जयशब्द जयेतिशब्दम् । कुर्वत्या विदधत्या । काननश्रिय. उद्यानलक्ष्म्या । दन्तावलिरिव दन्ताना रदनानाम् आवलि· पक्ति समूह इव । आभाति विराजते । भा दीप्तौ लट् । उत्प्रेक्षा ॥१८॥ हासानित्यादि । सतोषात् प्रमोदात् । हासानिव हास्यानीव । कुसुमोद्गमान् कुसुमाना पुष्पाणाम् उद्गमान् [5]कुड्मलानि ।

पाकर तिलकवृक्ष मारे खुशीके फूल उठे हैं । अपने पक्षके व्यक्तिको देखकर किसे प्रसन्नता नही होती ? ॥१५॥ जान पडता है उनके श्रीमुखसे धर्मोपदेश सुनकर चम्पक वृक्षोका विवेक जाग उठा है, मानो इसीलिए उन्होने अपना पूर्ण विकास कर लिया है और इसके पश्चात् काले भौंरोको—भौरोको क्या पापपुञ्जको—आश्रय लेनेके लिए अपने पास तनिक भी नही फटकने दिया ॥१६॥ राजन् ! यह तो सभी जानते हैं कि ढाकके पेड वसन्तमे और जामुनके पेड वर्षा ऋतुमे विकसित होते हैं । किन्तु आपके बागमे इस समय ढाकके पेड जैसे नवीन फूलोंसे शोभा पा रहे हैं क्या उसी प्रकार जामुनके पेड तोतोसे शोभा नही पा रहे हैं ? ॥१७॥ राजन् ! वहाँ पक्षी चहचहा रहे हैं, अतः लगता है मुनिराजको देखकर वनलक्ष्मी जयजयकार कर रही है । कुन्द वृक्षोमे कलियाँ खिल रही हैं । उन्हे देखकर ऐसा प्रतीत हो रहा है मानो जयजयकार करनेसे उसके दाँतोकी पक्ति देख पड रही हो ॥१८॥ कुटजवृक्ष विकसित हो गये हैं । उनमें कलियाँ खिल उठी हैं । अतएव ऐसा जान पडता है कि मुनिसमागमके सन्तोषसे वे हँस रहे हैं ।

१ आ ह तत्रैव म तत्रेश । २ अ क ख ग घ म संहृति । ३ श स तथापि । ४ =विबोधो । ५ आ कुट्म° ।

भयात्पलायमानस्य कामस्य गलिता करात् ।
बाणावलिरिवाभाति बाणावलिरितस्ततः ॥२०॥
शुचिसंगाद्विकासो मे कश्चातोऽपि मुनेः शुचि ।
इतीव मन्यमानागाद्विकासं नवमल्लिका ॥२१॥
कदम्बैः सहसा नाथ विकसत्कुसुमोत्करैः ।
रोमाञ्चकञ्चुकादानादलमात्मसमीकृतः ॥२२॥
तिरश्चां संहतिस्तत्र परस्परविरोधिनी ।
विरोधं सहजं हित्वा बन्धुभावेन वर्तते ॥२३॥

विमुञ्चन्तः विमुञ्चमानाः । कुटजद्रुमा कुटजवृक्षाः । शिखण्डिताण्डवाटोप शिखण्डिना मयूराणा ताण्डवस्य नर्तनस्य आटोप सभ्रमम् । तन्वन्ति विस्तारयन्ति । तनू[2] विस्तारे लट् ॥१९॥ भयादित्यादि । भयात् भीतेः । इतस्तत इतोऽमुतश्च[3] । पलायमानस्य । कामस्य मन्मथस्य । करात् हस्तात् । गलिता पतिता । बाणावलिरिव बाणाना शराणाम् आवलिरिव समूह इव । बाणावलि' बाणाना कुरण्टकानाम् आवलि समूह. । आभाति शोभते ॥२०॥ शुचिसंगादित्यादि । मे मम । शुचिसगात् शुचे आषाढमासस्य सगात् सपर्कात्, पक्षे शुचे. निर्मलपुरुषस्य सगात् । विकासः विकसनम् । भवितव्य इति शेष । अतो[4] अमुष्मात् । मुनेरपि योगीन्द्रादपि । कः शुचि' को निर्मल: न कोऽप्यन्य इति भाव । इति इत्यम् । मन्यमानेव बुध्यमानेव । नवमल्लिका नूतनमल्लिका । विकासं विकसनम् । अगात् आयात् । इण गतौ लुङ् । 'गत्यो.' इति गादेश ॥२१॥ कदम्बैरित्यादि । नाथ, भो स्वामिन् । विकसत्कुसुमोत्करै विकसन् कुसुमानाम् उत्करो येषा तैः, विकसत्पुष्पसमूहयुक्तैरित्यर्थ । कदम्बै' कदम्बवृक्षै । रोमाञ्चकञ्चुकादानात्[5] रोमाञ्च एव रोमहर्षणम् एव कञ्चुको वारबाणः तस्य आदानात् । आत्मा स्वयम् । सहसा शीघ्रेण[6] । अलम् अत्यन्तम् । समीकृत प्राक् असम इदानीं समः क्रियते स्म समीकृत, अभूवम् इति भावः ॥२२॥ तिरश्चामित्यादि । तत्र मनोहरोद्याने । परस्परविरोधिनी परस्पर[7] वैरवती । तिरश्चा तिर्यग्जीवानाम् । संहति संदोह. । सहजं सहभाविनम् । विरोध । हित्वा त्यक्त्वा[8] । बन्धुभावेन बन्धुत्वेन, उपशमभावेनेत्यर्थ ।

कुटज वृक्षोका विकास देखकर मयूर यह समझ रहे हैं कि वर्षाऋतु आ गयी है, अतः वे भी नाच रहे हैं ॥१९॥ राजन् ! वहाँ इधर-उधर बाण-वृक्षोकी पक्तियाँ लगी हुई हैं । वे ऐसी जान पड़ती है मानो मुनिराजके भयसे भागे हुए कामदेवके हाथसे गिरे हुए बाणोकी पक्तियाँ हों ॥२०॥ 'शुचि-आषाढमासके समागमसे मेरा विकास होता है । इन मुनिराजसे बढ़कर शुचि-पवित्र (आषाढ मास) और कौन होगा' मानो यही सोचकर चमेली खिल उठी ॥२१॥ राजन् ! मुनिराजके आनेपर जिस समय कदम्ब वृक्षोमे फूल खिले उसी समय मेरे सारे शरीरमे रोमाच हो आया, इससे ऐसा जान पडा मानो मैने कवच पहन लिया हो । इस अवसरपर कदम्ब वृक्षोंने मुझे पूरी तरहसे अपने समान बना लिया ॥२२॥ जिन पशुओमे आपसी विरोध है, उनका झुण्ड वहाँ जन्मजात विरोध छोडकर मित्रोकी भाँति हिल-मिलकर बैठा हुआ

---

१ अ क ख ग घ म °दहमा° । २ श स तनुङ् । ३ आ प्रतौ केवल 'इतोऽमुतश्च' इति पाठो दृश्यते । ४. आ 'अतो' इति नास्ति । ५ °'दानात्' इति टीकाकारसंमत पाठ., °'धानात्' इति सर्वासु प्रतिपु । ६ =शीघ्रम् । ७. आ 'परस्पर' इति नास्ति । ८. आ हित्वा हा सपूर्वं त्यक्त्वा ।

इति श्रुत्वा स तद्वाणीं मुनिवृत्तान्तशंसिनीम् ।
स्वाङ्गेऽपि न ममौ हर्षादुद्वेल इव वारिधिः[1] ॥२४॥
सत्कृत्य स स्वकीयैस्तं भूषणैः[2] पारितोषिकैः ।
वनपालमथान्यैश्च कृतार्थमकरोद्धनैः ॥२५॥
यस्य देवस्य गन्तव्यं स देवो गृहमागतः ।
इत्युक्तिं घोषयन्नुच्चैरुदस्थादासनादसौ ॥२६॥
दिशि तस्यामवस्थाय यत्रासौ परमेश्वरः ।
बद्ध्वा लक्ष्यमसौ भूमावनंसीत्तस्य पादयोः ॥२७॥
व्यानशेऽथ तदादेशात्पुरं पटहनिःस्वनः ।
मुनिवन्दनयात्रायां कुर्वन्संकेतिनी प्रजाः ॥२८॥

वर्त्तते तिष्ठति । वृतु वर्तने आत्मनेपदम्[3] ॥२३॥ इतीत्यादि । स पद्मनाभमहीपति । मुनिवृत्तान्तशंसिनीं मुनेः श्रीधरमुनीन्द्रस्य वृत्तान्तशंसिनीं वार्त्ताभिधायिनीम् । तद्वाणीं तस्य वनपालस्य वाणीं वचनम् । इति उक्त-प्रकारेण । श्रुत्वा निशम्य । हर्षात् संतोषात् । स्वाङ्गेऽपि स्वस्य आत्मनः अङ्गेऽपि शरीरेऽपि । उद्वेल वेला-मुद्गतः, तीरमतिक्रान्त इत्यर्थः । वारिधिरिव समुद्र इव । न ममौ न प्रमिमीते स्म[4] । मा माने लिट् ॥२४॥ सत्कृत्येत्यादि । स पद्मनाभः । अथ वार्त्ताश्रवणानन्तरम् । स्वकीयैः स्वस्य सबन्धैः[5] । पारितोषकैः पारि-तोषस्य संतोषस्य योग्यानि पारितोषकाणि तैः । भूषणैः आभरणैः । तं वनपालम् ऋषिनिवेदकम्[6] । सत्कृत्य सत्कारं कृत्वा[7] । 'कारिका'—इत्यादिना ति संज्ञा । अन्यैश्च शेषैश्च । धनैः द्रव्यैः । कृतार्थं कृतो निष्पन्नोऽर्थः प्रयोजनं यस्य तम् । अकरोत् अकार्षीत् । डुकृञ् करणे लङ् ॥२५॥ यस्येत्यादि । यस्य देवस्य देवतायाः । गृहम् आवासः । गन्तव्यं गन्तुं योग्यम् । स देव देवता । आगतः समायातः । इत्युक्तिम्[8] एवं प्रकार [कं] नीतिवचनम् । उच्चैः नितान्तम् । घोषयन् उच्चारयन् । असौ पद्मनाभमहीपतिः । आसनात् सिंहासनात् । उदस्थात् उदतिष्ठत् । ष्ठा गतिनिवृत्तौ लुङ् ॥२६॥ दिशीत्यादि । असौ पद्मनाभभूपतिः । यत्र यस्यां दिशि । असौ अयम् । परमेश्वरः श्रीधरमुनिपरमेष्ठी वर्तते । तस्यां दिशि । अवस्थाय अवस्थानं पूर्वं[9] स्थित्वा । लक्ष्यम् अङ्कम्[10] । बद्ध्वा कृत्वा । तस्य श्रीधरमुनीन्द्रस्य । पादयोः चरणारविन्दयोः । भूमौ धरण्याम् । अनंसीत् अनमत् । णम् प्रह्वत्वे शब्दे । लुङ् ॥२७॥ व्यानश इत्यादि । अथ वन्दनानन्तरम् । तदादेशात् तस्य पद्म-नाभमहीपतेः आदेशात् आज्ञाया । मुनिवन्दनयात्रायां मुनेः मुनीन्द्रस्य वन्दनस्य यात्रायां प्रस्थाने । प्रजाः पौरजनान् । संकेतिनीः संकेतवतीः । कुर्वन् विदधानः । पटहस्वनः पटहस्य आनकस्य स्वनः ध्वनिः । पुरं रत्नसं-

है ॥२३॥ इस प्रकार मालीसे मनोहर बागमे मुनिराजके आनेके समाचार सुनकर महाराज पद्मनाभ चन्द्रोदय होनेपर उमडे हुए सागरकी भाँति ख़ुशीके मारे अपने शरीरमे फूला नही समाया ॥२४॥ पद्मनाभने अपने आभूषण देकर उस मालीका सत्कार किया और उसे और भी धन इनाममे देकर कृतार्थ कर दिया ॥२५॥ 'जिनके मन्दिरमे मुझे स्वय जाना चाहिए था वे देव स्वय ही मेरे घर पधारे हैं' इस उक्तिको जोरसे दुहराता हुआ राजा पद्मनाभ उन्नत सिंहासनसे उठ खड़ा हुआ ॥२६॥ और जिस दिशामे मुनिराज विराजे थे उसी ओर खडे होकर पद्मनाभने भूमिपर उनके चरणोंका ध्यान कर नमस्कार किया ॥२७॥ इसके पश्चात् महाराज पद्मनाभके आदेशसे प्रजाको मुनिराजकी वन्दनाके लिए जानेवाले जुलूसमे सम्मिलित होनेकी सूचना देनेके

१ अ वारिधे । २ °यैं सभूष° । ३ आ ष्ठा गतिनिवृत्तौ लट् आत्मने पदम् । ४ = न माति स्म । ५ = आत्मीयैः । ६. आ प्रतावेव 'ऋषिनिवेदकम्' इति समुपलभ्यते । ७ = आदृत्य । ८ आ श स इत्युक्तम् । ९. = पश्चात् किञ्चित् । १०. = नमनोद्देश्यम् ।

पञ्चषानपि कृत्वाग्रे पत्तीन्प्राप्तैर्नराधिपैः ।
क्रमशः संमिलल्लोकैरक्षुभ्यद्राजगोपुरम् ॥२९॥
सपौरः ससुहृद्वर्गः सकलत्रः सबान्धवः ।
सतनूजः ससामन्तः स चचाल ससैनिकः ॥३०॥
गच्छंल्लावण्यसंक्रान्तदिदृक्षुनयनो वनम् ।
नन्दनाभिमुखीभूतशक्रशोभां बभार सः ॥३१॥
क्षणादशोकसंयुक्तं पुंनागपरिवारितम् ।
वनमात्मसमं प्राप्य पिप्रिये पृथिवीपतिः ॥३२॥

चयम् । व्यानशे व्याप्नोति स्म । अशोङ् व्याप्तौ कर्त्तरि लिट् । 'नक्चाश्नुदाद्यनेकहल.'[1] इति नगागम· ॥२८॥ पञ्चषानपीत्यादि । पञ्चषानपि पञ्च वा षड्वा इति पञ्चषा तान् । 'सुज्वा—' इति समास । 'प्रमाणीसंख्याड्ड' इति ड-प्रत्यय. । पत्तीन् पदातीन्, पादचारिभृत्यानित्यर्थः । अग्रे पुर. । कृत्वा विधाय ! प्राप्तै. प्रयातै. । नराधिपै नराणाम् अधिपा तै. भूपालै । क्रमशः क्रमात् । 'बह्वल्पार्थ—' इत्यादिना शसि प्रत्यय:[2] । ·मिलल्लोकै समिलद्भि संयुञ्जानै. लोकै जनै. । राजगोपुर राजद्वारम् । अक्षुभ्यत्[3] । क्षुभ सचलने ॥२९॥ सपौर इत्यादि । सपौरः पौरजनसहितः । ससुहृद्वर्ग. सुहृदा वर्गेण समूहेन सहित. । सकलत्र. अन्त.पुरसयुक्त. । सबान्धव. बन्धुजनै युत । सतनूज. तनूजै.[4] पुत्रै. युक्त । ससामन्त राज्यसंधिस्थभूपै.[5] सहित. । [6]ससैनिक सेनापतिसनाथ । सः पद्मनाममहीपाल । चचाल प्रतस्थे । चल कम्पने लिट् ॥३०॥ गच्छन्नित्यादि । [7]लावण्यसक्रान्तदिदृक्षुनयन लावण्ये देहकान्तौ सक्रान्तानि प्रतिबिम्बितानि दिदृक्षूणा द्रष्टुमिच्छूना नयनानि नेत्राणि यस्य स । वन मनोहरोद्यानम् । गच्छन् यान्[8] । स पद्मनाभभूपति । नन्दनाभिमुखीभूतशक्रशोभा प्रागनभिमुख इदानोमभिमुखो भवति स्म अभिमुखोभूत नन्दनस्य नन्दनवनस्याभिमुखोभूत तथोक्त स चासौ शक्रश्च तस्य शोभा लीलाम् । बभार धरति स्म । भृञ् भरणे । लिट् ॥३१॥ क्षणादित्यादि । पृथिवोपति. पद्मनाभमहीपति । अशोकसयुक्तम् अशोकैः अशोकवृक्षैः, पक्षे शोकरहितजनै सयुक्त[9] सहितम् । पुनागपरिवारित पुन्नागैः पुन्नागवृक्षै, पक्षे पुसा पुरुषाणा नागै श्रेष्ठैः परिवारितं वेष्टितम् । 'स्युरुत्तरपदे व्याघ्रपुगवर्षभकुञ्जरा । सिंहशार्दूलनागाद्याः पुंसि श्रेष्ठार्थगोचराः ।' इत्यमरः । आत्मसमं आत्मनः स्वस्य

लिए ··की आवाज सारे नगरमे गूँज उठी ॥२८॥ इस समाचारको सुनते ही आस-पासके अन्य नगरोके राजे-जिनके आगे पाँच-छह नौकर थे—पुरके दरवाजेपर जा पहुँचे । धीरे-धीरे और लोग भी क्रमसे आ गये । फलतः वहाँ बड़ी भीड हो गयी ॥२९॥ फिर अपने पुत्र, मित्र, कलत्र, भाई, पुरवासी और सामन्तोके साथ महाराज पद्मनाभने भी प्रस्थान किया ॥३०॥ महाराज पद्मनाभ जब वनकी ओर जा रहे थे, उस समय सभी दर्शकोकी दृष्टि उन्हीकी ओर लगी हुई थी । इससे उनके दीप्तिमय देहमे हजारो नेत्र दृष्टिगोचर होने लगे । फलतः वे नन्दन वनकी ओर जानेवाले इन्द्रकी भाँति सुशोभित हो रहे थे ॥३१॥ महाराज पद्मनाभ शीघ्र ही वन पहुँच गये । उस वनमे अशोक वृक्ष थे और वह चारो ओरसे नागकेसरके वृक्षोंसे घिरा हुआ था । पद्मनाभके साथ जितने मनुष्य थे वे सबके सब अशोक—शोक रहित थे तथा उसे चारो ओरसे श्रेष्ठ पुरुष घेरे हुए थे । अतः उस वनको अपने ही समान पाकर पद्मनाभको

१ आ प्रतावेव केवलं सूत्रमिदं दृश्यते । २. श स श-प्रत्यय. । ३. = चुक्षोभ । ४. श स तनुजैः । ५ श स 'स्वभावै । ६ अ ससैन्यकः । ७ = 'मुक्ताफलेषुच्छायायास्तरलत्वमिवान्तरा । प्रतिभाति यदङ्गेषु तल्लावण्यमिहोच्यते ॥' ८ श स यन् । ९. श स सह संयु° ।

वायुना विदधे किंचित्संजाताध्वपरिश्रमः ।
वनलक्ष्मीविनिःश्वाससमेन विपरिश्रमः ॥३३॥
सेनापतिं समादिश्य सेनामावासयेति स ।
प्रविवेश महानागादवतीर्य महावनम् ॥३४॥
राजलीलां[1] परित्यज्य चामरादिपरिच्छदाम् ।
विनीतः शिष्यवद् भेजे देशं मुनिसमाश्रितम् ॥३५॥
ददृशे च मुनिस्तेन स्थितो नीलशिलातले ।
शरत्प्रसन्ने शीतांशुरिवाकाशैकमण्डले ॥३६॥
त्रिः परीत्य प्रणम्य त्रिस्त्रिर्जयेति निगद्य स ।
त्रिरुक्तमखिलं कृत्वा न्यविक्षत मुनेः पुरः ॥३७॥

सम सदृशम् । वन मनोहरोद्यानम् । क्षणात् शीघ्रात्[2] । प्राप्य गत्वा । पिप्रिये प्रीति ययौ । प्रीञ् प्रीतौ । लिट् । श्लेष ॥३२॥ वायुनेत्यादि । किंचित्संजाताध्वपरिश्रम[3] किंचित् ईषत् संजातेन उत्पन्नेन अध्वन. मार्गस्य परिश्रमेण युक्त वनलक्ष्मीनि[विनि] श्वाससमेन वनस्य उद्यानस्य लक्ष्म्या श्रिय नि[विनि] श्वासस्य समेन सदृशेन । वायुना मन्दमारुतेन । विपरिश्रम विगतपरिश्रम । विदधे चक्रे । डुधाञ् धारणे च । कर्मणि लिट् । उपमा ॥३३॥ सेनापतिमित्यादि । स पद्मनाभभूपाल. । सेना चमूम् । आवासयेति निवासयेति[4] सेनापति सेनानायकम् । समादिश्य आज्ञापयित्वा । महानागात् महागजपतेः[5] । अवतीर्य अवरुह्य । [महावन] महत् पृथु वनम् उद्यानम् । प्रविवेश जगाम[6] । विश प्रवेशने लिट् ॥३४॥ राजलीलामित्यादि । विनीत विनययुत । चामरादिपरिच्छदा चामरादिभि· प्रकीर्णकादिभि परिच्छदैः परिकरै· युक्ता राजलीला राजविलासम्[7] । परित्यज्य विमुच्य । मुनिसमाश्रित मुनिना मुनीन्द्रेण समाश्रितम् । देश प्रदेशम् । शिष्यवत् छात्रवत् । भेजे सिषेवे[8] । भज सेवायाम् । लिट् ॥३५॥ ददृश इत्यादि । शरत्प्रसन्ने शरदा प्रसन्ने निर्मले । आकाशैकमण्डले आकाशस्य एकमण्डले एकप्रदेशे । शीतांशुरिव चन्द्र इव । नीलशिलातले इन्द्रनीलशिलाप्रदेशे । स्थित । मुनि मुनीन्द्र. । तेन पद्मनाभभूपेन । ददृशे च वीक्ष्यते[9] । दृशु प्रेक्षणे[10] । कर्मणि लिट् ॥३६॥ त्रि.परीत्येत्यादि । स पद्मनाभभूप । त्रि परीत्य त्रीन् वारान् परीत्य प्रदक्षिणीकृत्य । त्रि त्रीन् वारान् जयेति सर्वोत्कर्षेण वर्तस्वेति । निगद्य उच्चार्य । अखिल समस्तम् । त्रिरुक्त त्रिवारोक्तम् । कृत्वा विधाय ।-

---

बडी प्रसन्नता हुई ॥३२॥ पद्मनाभको रास्तेकी थोडी-सी थकान हो गयी थी । किन्तु उसे वनलक्ष्मीकी श्वास-सरीखी वहाँकी मन्द, सुगन्ध और शीतल वायुने शीघ्र ही दूर कर दिया ॥३३॥ पद्मनाभने पहले सेनापतिको आदेश दिया कि सेनाको यहीपर ठहरा दो और फिर हाथीसे उतरकर वनमे प्रवेश किया ॥३४॥ पद्मनाभने चामर आदि शाही ठाटको हटा दिया और फिर एक विनीत शिष्यकी भाँति वे उस प्रदेशमें जा पहुँचे जहाँ मुनिराज विराजे थे ॥३५॥ वहाँ पहुँचकर पद्मनाभने मुनिराजके दर्शन किये । वे उस समय नीली चट्टानपर विराजमान थे । अत वे शरत्कालीन निर्मल आकाशके एक प्रदेशमे पूर्णचन्द्रकी भाँति सुशोभित हो रहे थे ॥३६॥ फिर पद्मनाभने मुनिराजको तीन बार परिक्रमा की, उन्हे तीन बार प्रणाम किया और तीन बार उनका जयजयकार किया । इस तरह सब तीन-तीन बार करके उनके आगे

---

१ क ख ग राजलक्ष्मीम् । २ = शीघ्रम् । ३ = किंचिद् ईषत् सजात उत्पन्नोऽध्वपरिश्रमो यस्य स । ४. = निवेशय, इति इत्यम् । ५ आ श स महागजपते सकाशात् । ६ = प्रवेश चकार । ७ क ख घ राजलक्ष्मीम् । ८ = प्राप इत्यर्थ । ९ = दृष्टश्च । १०. आ दृश्ृ प्रेक्षणे श स दृश प्रेक्षणे ।

नृपतेर्मुकुलीकुर्वन्स कराम्भोरुहद्वयम् ।
शीतगुत्वं व्यनक्ति स्म स्वकीयं मुनिपुंगवः ॥३८॥
भुवः शोभाभवद्योगाद्या जिनेन्द्रसुरेन्द्रयोः ।
तयोः सगतयोरासीत्सा मुनीन्द्रनरेन्द्रयोः[१] ॥३९॥
शान्ते जयजयेत्युच्चैर्भव्यकोलाहले ततः ।
दत्ताशीर्मुनिना तेन जगाद जगतीपतिः ॥४०॥
निरालोके जगत्यस्मिन्नदृष्टशिववर्त्मनि ।
सन्मार्गदर्शनान्नाथ[२] त्वमालोक इवोद्गतः ॥४१॥
खपुष्पं तदहं मन्ये भुवने सचराचरे ।
दिव्यज्ञानमये यन्न स्फुरितं तव चक्षुषि ॥४२॥

मुने मुनीन्द्रस्य । पुर अग्रे । न्यविक्षत उपाविशत । विश प्रवेशने । लुङ् ॥३७॥ नृपतेरित्यादि । नृपतेः पद्मनाभमहीपते । कराम्भोरुहद्वयं[३] मुकुलीकुर्वन् कुड्मलीकुर्वन्[४] । स मुनिपुगव मुनीना पुगव. श्रेष्ठः । स्वकीय स्वसबन्धम्[५] शीतगुत्व शीता. गाव किरणाः[६] यस्य [स.] शीतगु, तस्य भाव तत् । व्यनक्ति स्म व्यक्तीकरोति स्म । अञ्जु गतिव्यक्तिम्रक्षणेषु । लट् । लट स्म योगे भूतार्थ ॥३८॥ भुव[७] इत्यादि । जिनेन्द्र-सुरेन्द्रयो. तीर्थंकरदेवेन्द्रयो । योगात् सबन्धात् । भुव भूमे. । या शोभा द्युति । अभवत् अभूत् । लङ् । सगतयो सयुक्तयो । तयोः मुनीन्द्रनरेन्द्रयो[८] श्रीधरमुनीन्द्रपद्मनाभयो । योगात् सा शोभा । आसीत् अभवत् । अस भुवि लङ् ॥३९॥ शान्त इत्यादि । तत पश्चात् । जय जयेति सर्वोत्कर्षेण वर्तस्वेति । उच्चै. नितान्तम् । भव्यकोलाहले भव्याना रत्नत्रयाविर्भवनयोग्याना कोलाहले कलकले । शान्ते स्तिमिते । तेन मुनिना मुनीन्द्रेण । दत्ताशीः वितीर्णाशीः । जगतीपति जगत्या लोकस्य पतिः । जगाद उवाच । गद व्यक्तायां वाचि । लिट् ॥४०॥ निरालोक इत्यादि । नाथ स्वामिन् । अदृष्टशिववर्त्मनि शिवस्य मोक्षस्य वर्त्म मार्ग[९] शिव-वर्त्म, अदृष्ट शिववर्त्म येन (यस्मिन्) तस्मिन् । निरालोके आलोकान्निर्गतो[त] निरालोक [क] तस्मिन्, प्रकाशरहित इत्यर्थः । 'आलोको[१०] दर्शनोद्योतौ' इत्यमर । अस्मिन् एतस्मिन् । जगति लोके । सन्मार्ग-दर्शनात्[११] सतो विशिष्टस्य मार्गस्य अभ्युपेतप्राप्त्युपायस्य[१२] दर्शनात् प्रकाशनात् । त्वं भवान् । आलोक इव प्रदीप इव । उद्गत उद्गच्छति स्म तथोक्तः अधिगत. । गम्लृ गतौ । क्तप्रत्यय । उपमा ॥४१॥ खपुष्पमि-

---

बैठ गया ॥३७॥ मुनिराजके आगे बैठते ही पद्मनाभके दोनो हाथ अपने आप सकुचित कमलकी कलीकी भाँति जुड गये । अतः ऐसा प्रतीत हो रहा था मानो मुनिराजने अपना चन्द्रपना व्यक्त कर दिया हो ॥३८॥ मुनिराज और राजा पद्मनाभके सयोगसे उस समय पृथिवीकी वही शोभा उत्पन्न हो गयी जो पहले तीर्थंकर और इन्द्रके सयोगसे हुई थी ॥३९॥ भव्य जीव इस समय मुनिराजकी जयजयकार कर रहे थे । इससे बडा कोलाहल सुनायी पड़ रहा था । उसके शान्त होते ही पद्मनाभ मुनिराजसे आशीर्वाद लेकर यो बोला— नाथ ! इस जगत्मे ज्ञानका प्रकाश न रहनेसे कल्याणका मार्ग नही सूझ रहा था । आपके आते ही वह सूझने लगा है, अत आप प्रकट हुए प्रकाशके समान हैं ॥४१॥ इस जंगम

---

१ म नरेन्द्रमुनीन्द्रयो । २. अ आ इ °देशनान्नाथ । ३ आ कर एवाम्भोरुहयो र्द्वयम् (करावेवा-म्भोरुहे तयोर्द्वयं करकमलयुगलम्) । ४ श स कराम्भो—इत्यादि मूल तद्व्याख्यान च नास्ति । ५ = आत्मीयम् । ६. श स किरणानि । ७ श स भवन इत्यादि । ८. म नरेन्द्रमुनीन्द्रयो । ९ आ मार्गं । १० आ °लोको । ११. अ आ इ °देशनान्नाथ । १२. आ प्रतौ केवलम् 'अभ्युपेतप्राप्त्युपायस्य' इति समुपलभ्यते ।

ततोऽवगन्तुमिच्छामि त्वत्तस्तत्त्वं जगत्प्रभो ।
संदिग्धं हि परिज्ञानं गुरुप्रत्ययवर्जितम् ॥४३॥
केचिदित्थं यतः प्राहुर्नास्तिकागममाश्रिता. ।[1]
न जीवः कश्चिदप्यस्ति पदार्थो मानगोचरः ॥४४॥

त्यादि । सचराचरे चराश्च अचराश्च चराचरा तै सह वर्तन्ते इति सचराचर[2] तस्मिन्, जङ्गमस्थावरसहिते इत्यर्थ । भुवने जगति । यत् वस्तु । दिव्यज्ञानमये अपूर्वज्ञानस्वरूपे । तव भवतः । चक्षुषि ज्ञानचक्षुषि । न स्फुरित न दृष्टम् । तत् वस्तु । खपुष्पम् आकाशकुसुममिति । मन्ये जानामि । मनि ज्ञाने लट् ॥४२॥ तत इत्यादि । तत तस्मात् कारणात् । जगत्प्रभो जगता प्रभो जगन्नाथ । त्वत्त त्वत् त्वत्त भवत सकाशात् । तत्त्व वस्तुस्वरूपम् । अधिगन्तुम् अधिगमनाय अधिगन्तु ज्ञातुम् । गत्यर्थेना धातुना ज्ञानार्थत्वादित्यर्थ । इच्छामि वाञ्छामि । इषु इच्छाया लट् । 'यं मिषो इच्छ इति दादेश'[3] ('यम्मिषोशिश च्छ' शाकटा० ४।२।५७ यम् गम् इषू इत्येतेषां धातूना शि प्रत्यये छकारादेशो भवति । यच्छति गच्छति इच्छति) । गुरुप्रत्ययवर्जित गुरो प्रत्ययेन उपदेशेन वर्जितम् । परिज्ञान विज्ञानम् । सदिग्ध सशयितम् । हि स्फुटम् । अर्थान्तरन्यास ॥४३॥ केचिदित्यादि । मानगोचर मानस्य प्रमाणस्य गोचरो विषय सामान्यविशेषात्मा प्रमाणार्थो विषय इत्यभिप्राय । कश्चिदपि एकोऽपि । जीव जीवति जीविष्यति अजीजीवत्[4] इति जीव प्राणिपदार्थ[5] वस्तु । नास्ति न विद्यते । अस भुवि । लट् । नास्तिकागम नास्ति परलोकादिमदिमतिर्यस्य [स.] नास्तिक चार्वाक., तस्य आगम[6] मतम् । आश्रिता. आश्रयन्ते स्म तथोक्ता , अङ्गीकृता[7] इत्यर्थ । केचित् अन्ये । इत्थम् अनेन प्रकारेण । 'कथमित्थमु' इति साधु । यत यस्मात् । यत कस्मात्(?) । प्राहु:

औरस्थावर जगत्मे, मैं उस वस्तुको आकाशका फूल समझता हूँ, जो आपकी दिव्यज्ञानकी दृष्टिसे ओझल हो ॥४२॥ हे जगन्नाथ ! इसीलिए मैं आपसे तत्त्वोका स्वरूप जानना चाहता हूँ; क्योकि गुरुके उपदेशके बिना तत्त्वज्ञानमे सन्देह बना रहता है ॥४३॥ कोई नास्तिकागमानुयायी (चार्वाक दर्शनवाले, और कुछ बातोमे चार्वाकोंसे भी चार कदम आगे चलनेवाले 'तत्त्वोपप्लव'[1] दर्शनके अनुयायी) यह कहते हैं कि 'जीव' नामका ऐसा कोई पदार्थ ही नही है,

---

१ चार्वाक दर्शन बहुत पुराना है। इसका उल्लेख महाभारतमें भी मिलता है। इस दर्शनकी दृष्टिसे पुण्य-पाप, स्वर्ग-नरक और आत्मा-परमात्माकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है, पृथिवी, जल, तेज और वायु ये चार भूत हैं (आकाश नहीं), जीव भूत चतुष्टयके सयोगसे उत्पन्न होता है, जो देहके साथ उत्पन्न होकर, उसीके साथ नष्ट हो जाता है और केवल प्रत्यक्ष ही प्रमाण है। तत्त्वोपप्लवदर्शन, चार्वाकदर्शनसे उत्पन्न हुआ एक नवीन दर्शन है। यो यह दर्शन स्थूल रूपसे चार्वाकदर्शन समझा जाता है, किन्तु सूक्ष्म विचार किया जाये, तो उससे भिन्न है, यद्यपि उसीसे उत्पन्न हुआ है। भिन्नताका कारण मान्यताका भेद है। चार्वाकदर्शन, भूतचतुष्टय रूप चार तत्त्व, किसी-न-किसी रूपमें जीवतत्त्व, और अन्य प्रमाणको न मानकर भी प्रत्यक्ष प्रमाणको स्वीकार करता है, जब कि तत्त्वोपप्लव दर्शन किसी भी तत्त्व और किसी भी प्रमाणको नहीं मानता। इस दर्शनकी दृष्टिसे सर्वत्र बाधा-ही-बाधा है। इसीलिए आचार्य विद्यानन्दने अष्टसहस्रीमें उक्त दोनों दर्शनोंकी पृथक्-पृथक् समालोचना की है। प्रस्तुत प्रकरणमें महाकवि वीरनन्दीने तत्त्वोपप्लवदर्शनको यहाँ पूर्वपक्षके रूपमें उपस्थित किया है। २ आ °चर । ३. श स ' '–चिह्नित पाठो नास्ति । ४. आ अजिजीवत् । ५ = प्राणी । पदार्थ. वस्तु । ६ श सं आगमो° । ७ = अङ्गीकृतवन्त ।

केवलं तदभिषेकवारिभिर्दूरमुच्छ्वसदभून्न भूतलम् ।
हर्षसागरविवर्तवर्तिनां सर्वबन्धुसुहृदां च मानसम् ॥ ३१ ॥
सप्रसादसविकासतारकं[1] निर्मलाम्बरतया[2] मनोहरम् ।
केवलं न पुरलोकयोषितां मण्डलं समभवद्दिशामपि ॥ ३२ ॥
लब्धसौरभगुणैर्मधुव्रतव्रातचुम्बितविकासिकेसरैः ।
पर्यपूरि कुसुमोत्करैः परं भूमिजैर्न दिविजैरपि क्षितिः ॥ ३३ ॥
संततोत्सवनिविष्टचेतसां संबभूव सुहृदां न केवलम् ।
विद्विषामपि भविष्यदापदां सर्वतोऽप्युदितकेतु मन्दिरम् ॥ ३४ ॥

सन्निधाय सन्नद्धा भूत्वा । निरवर्तयत् अकरोत् । वृतुङ् वर्तने लङ् ॥३०॥ केवलमिति । तदभिषेकवारिभिः तस्य पट्टाभिषेकस्य वारिभिः सलिलैः । केवलं[3] मुख्यम् । भूतलं भूमितलम् । दूरं नितान्तम् । उच्छ्वसत्[4] प्रवर्धमानम् । नाभूत् नाभवत् । लुङ्[5] । हर्षसागरविवर्तवर्तिनां हर्षः संतोषः स एव सागरस्तस्य समुद्रस्य (स एव सागरः समुद्रस्तस्य) विवर्ते जलभ्रमे वर्तिनां स्थितानाम् । सर्वबन्धुसुहृदां सर्वेषां बन्धूनां सुहृदां मित्राणाम् । मानसं च चित्तं च, उच्छ्वसदभूदित्यर्थः ॥३१॥ सेति । दिशां ककुभाम् (पुरलोकयोषितां पौराङ्गनानाम्) । मण्डलं समूहः । निर्मलाम्बरतया निर्मलं मलरहितमम्बरं वस्त्रं यस्य तस्य भावस्तयोक्ता तया मलरहितवस्त्रयुक्तया, पक्षे मेघरहितगगनयुक्तया । सप्रसादसविकासतारकं प्रसादश्च विकासश्च तयोस्तौ प्रसादविकासाभ्यां सह वर्तेते इति तयोक्ता[6] सप्रसादसविकासा[7] तारका कनीनिका यस्य तत्, पक्षे तारका नक्षत्राणि यस्य तत् । मनोहरं मञ्जुलम् । केवलं[8] मुख्यम् । न समभवत् नाभूत् । लङ् । पुरलोकयोषितामपि पुरलोकानां पुरजनानां योषितामपि स्त्रीणामपि (दिशामपि ककुभामपि) समभवत् (इति) शेषः ॥३२॥ लब्धेति । लब्धसौरभगुणैः सौरभ एव गुणस्तथोक्तः, लब्धः सौरभगुणो यैस्तैः । मधुव्रतव्रातचुम्बितविकासिकेसरैः मधुव्रतानां भ्रमराणां व्रातेन समूहेन चुम्बिता आवृता विकासिनः केसराः किञ्जल्का येषां तैः । भूमिजैः, कुसुमोत्करैः कुसुमानां पुष्पाणामुत्करैर्निवहैः क्षितिः भूमिः । परं केवलम् । न पर्यपूरि[9] न व्याप्ता । पॄ पालनपूरणयोः कर्मणि लुङ् । (किन्तु) दिविजैरपि स्वर्गोत्पन्नैरपि । सुरपुष्पवृष्टिरपि जातेत्यर्थः ॥३३॥ संततेति । संततोत्सवनिविष्टचेतसां सततमनवरतमुत्सवे निविष्टं न्यस्तं चेतश्चित्तं येषां तेषाम् । सुहृदां मित्राणाम् । मन्दिरं

कूल उत्सवके साथ अपने चक्रवर्ती पुत्रका पट्टाभिषेक किया ॥३०॥ अजितसेनके अभिषेकके जलसे न केवल भूतल ही फूला, वरन् हर्षके समुद्रमें डुबकी लगानेवाले सभी बन्धुओं और मित्रोंके हृदय भी फूले नहीं समा रहे थे ॥३१॥ इस अवसरपर न केवल वहाँका महिलामण्डल ही बल्कि सारा दिङ्मण्डल भी मनोहर हो गया। महिलाओंका मण्डल स्वच्छ वस्त्र पहने हुए था, उसके चेहरेपर प्रसन्नता झलक रही थी, जिससे उसके नेत्रोंकी कनीनिकाएँ कमलकी भाँति खिल उठी थीं। इसी प्रकार आकाशकी निर्मलताके कारण सभी ताराएँ स्पष्ट ही प्रसन्नता और विकाससे ओतप्रोत होकर दृष्टिगोचर हो रही थीं। इसीलिए सारा दिग्मण्डल भी मनोहर हो गया ॥३२॥ उस समय भूमि न केवल पार्थिव फूलोंकी राशिसे बल्कि दिव्य फूलोंकी राशिसे भी व्याप्त हो गयी। दोनों ही प्रकारके फूल अत्यन्त सुगन्धित थे और इसीलिए उनकी विकसित परागके ऊपर बैठकर भौंरोंका झुण्ड उन्हें ढके हुए था ॥ ३३ ॥ निरन्तर उत्सव मनानेमें जिनका मन आसक्त था, उन मित्रोंके महलोंपर पताकाएँ फहरा रही थीं और जिनके ऊपर आपदाएँ आनेवाली थीं, उन शत्रुओंके महलोंपर केतु ग्रह उदित हो रहा था। इस अवसरपर

१ क ख ग घ °कासितारकं । २ अ निर्मलपरतया । ३. = परम् । ४ = उच्छूनम् । ५ श स लङ् । ६ श्रा वर्तेते इति तथोक्ते । ७ = सप्रसादा सविकासा च । ८ = परम् । ९ = न व्याप्ता ।

प्राप वारवनिताप्रवर्तितैर्गीतनृत्यविधिभिर्मनोज्ञताम् ।
मेदिनी विहितलोकविस्मयैर्द्यौश्च किंनरवधूसमुद्भवैः ॥ ३५ ॥
पेठुरेत्य नटगायकादयो[1] मङ्गलं नृपतिमन्दिराङ्गणे ।
तुम्बरुप्रभृतयश्च कोकिलालापकोमलगिरो नभोङ्गणे ॥ ३६ ॥
वारिकैर्मृदुजलच्छटोद्यतैः केवलं न खलु राजवर्त्मसु ।
वारिदैरपि[2] मनाक्प्रवर्षिभिः पांसवः प्रशममाशु निन्यिरे ॥ ३७ ॥
केवलं न मणिबन्धभासुरं तेन पुण्यजयिना नृपासनम् ।
चक्रिरे गुरुजनाशिषोऽप्यधस्तन्मनोरथपथातिगश्रिया ॥ ३८ ॥

सदनम् । सर्वतोऽपि[3] सर्वस्मादपि । उदितकेतु उदिताः उत्पन्ना केतवो ध्वजा यस्य तत् । केवलं परम् । न सबभूव सजायते स्म । भू सत्ताया लिट् । अपितु भविष्यदापदा भविष्यन्ती आपद् येषा तेष म् । विद्विषामपि शत्रूणामपि । मन्दिरमुदितकेतु[4] संबभूवेत्यर्थ ॥३४॥ प्रापेति । वारवनिताप्रवर्तितै वारवनिताभिर्गणिकाभि· प्रवर्तितैर्विहितै । विहितलोकविस्मयै· विहितः कृतो लोकस्य विस्मय आश्चर्यं येषा (यैं) तै । गीतनृत्य-विधिभि गीतनृत्ययोर्विधिभिर्विधानै । मेदिनी भूमि । मनोज्ञता मनोहरताम् । न प्राप न ययौ[5] । किंनरवधूसमुद्भवै किंनरस्य स्त्रीभि समुद्भूतैरुत्पन्नैरपि[6] । द्यौश्च गगनमपि । मनोज्ञता प्रापेत्यर्थ ॥३५॥ पेठुरिति । नृपतिमन्दिराङ्गणे नृपतेर्भूपतेर्मन्दिरस्य सदनस्याङ्गणेऽजिरे । नटगायकादय नर्तकगायकादय । एत्य आगत्य । मङ्गल मङ्गलस्तोत्रम् । पेठु गायन्ति स्म । पठ व्यक्तायां वाचि लिट् । नभोऽङ्गणे गगनाङ्गणे । कोकिलालापकोमल-गिर कोकिलाना पिकानामालाप इव कोमला मृदुला गीर्वाणी येषा ते । तुम्बरुप्रभृतय· तुम्बरुमुख्याश्च, पेठुरित्यर्थ ॥३६॥ वारिकैरिति । राजवर्त्मसु[7] राजवीथिषु । मृदुजलच्छटोद्यतै मृदुजलस्य[8] छटेन(?)सेचनेन उद्यतैरुद्युक्तैः । वारिकै रथ्योदकवाहकै[9]· । केवलं परम् । पासव·[10] रेणव । प्रशमम् उपशमम् आशु शीघ्रम् । न खलु निन्यिरे[11] नहि नयन्ति स्म । मनाक् किंचित् । प्रवर्षिभि प्रस्यन्दिभि । वारिदैरपि मेघैरपि । पासवः प्रशम निन्यिरे, इत्यर्थः ॥३७॥ केवलमिति । पुण्यजयिना पुण्यैर्जयतीत्येव शीलस्तेन, धर्मजयिनेत्यर्थ ।

न केवल मित्रोके बल्कि शत्रुओके भी महल उदितकेतु हो गये थे—मित्रोके महलोके ऊपर केतु—पताकाएँ और शत्रुओके महलोपर केतु–केतुग्रह दृष्टिगोचर हो रहा था । मित्रोंने हार्दिक प्रसन्नता व्यक्त करनेके लिए अपने महलोपर पताकाएँ लगाई थी, और शत्रुओने केवल व्यवहार वश अपने महलोपर पताकाएँ लगाई । किन्तु आश्चर्य है जो मित्रोके महलोपर पताकाएँ ज्यो-की-त्यो फहराती रही पर शत्रुओके महलोकी पताकाएँ कट-फटकर नीचे गिर रही थी ॥ ३४ ॥ लोगोको आश्चर्यजनक, वेश्याओंके गान और नाचसे न केवल पृथ्वी ही, बल्कि गन्धर्वोंकी अङ्गनाओके अद्भुत गान और नाचकी विधिसे आकाश भी मनोज्ञ हो गया ॥ ३५ ॥ इधर राजमहलके आँगनमे पहुँचकर नटो, गायको और उनके सहयोगियोने मङ्गल-स्तोत्रोका पाठ किया उधर कोकिलकण्ठ तुम्बरु आदिने बीच आकाशमे जाकर मङ्गलमय स्तवन पढे ॥ ३६ ॥ न केवल जल छिडकनेवाले लोगोने थोडा-थोडा-सा जल छिडककर सडको की धूलिको शान्त किया, बल्कि धीमी-धीमी वर्षा करनेवाले बादलोने भी उसी काम (धूलि-शमन) को उनसे कही पहले ही पूरा कर दिया ॥ ३७ ॥ पुण्यात्मा राजकुमार अजितसेनने न केवल रत्न-जटित देदीप्यमान सिंहासनको ही (बैठकर) नीचा कर दिया, बल्कि गुरुजनोके मनोरथसे भी

१ म °गायनादयो° । २. अ वारिकैर्मुद° । ३. = परितोऽपि । ४ = 'ग्रहभेदे ध्वजे केतुः ।' इत्यमर । ५ = प्राप ययौ—इति स्यात् । ६ = गीतनृत्यविधिभिरित्यर्थः । ७. = राजमार्गेषु । ८ = छटाया सेचने-सेचनकर्मणि । ९. श एधोदकवाहकैः । १०. आ श पाशव. । ११. = नीयन्तेस्म ।

प्राप्य चक्रधरराज्यसंपदा[1] संगमं गुरुकृताभिषेचनः ।
सोऽधिकं सहजदीधितिर्वभौ सूर्यकान्त इव सूर्यरोचिषा[2] ॥ ३९ ॥
अन्तरेऽत्र नखचन्द्रचन्द्रिकाचुम्बितत्रिदशराजमस्तकः ।
भव्यलोकनिवहं प्रबोधयन्नाययौ जिनपतिः स्वयंप्रभः[3] ॥ ४० ॥
सिंहविष्टरनिविष्ट[4]मच्युतं तं निशम्य निकटव्यवस्थितम् ।
निर्जगाम रभसेन वन्दितुं चक्रवर्तिसहितोऽजितंजयः ॥ ४१ ॥

तेन चक्रिणा । मणिवन्धभासुर[5] मणे रत्नस्य वन्वेन कोलेन भासुरं देदीप्यमानम् । नृपासन सिंहासनम् । केवल परम् । अघ अधोभागे । न (चक्रे), किन्तु तन्मनोरथपथातिगश्रिया तेषा गुरुजनाना मनोरथस्याभिलापस्य पथ-[पन्थान-] मतिगच्छतीति तन्मनोरथपथातिगा[6] सा चासौ श्रीश्च तया । गुरुजनाशिषोऽपि गुरुजनैर्गुणाढ्यसत्पुरुषै कृता आशिप इष्टाशसनवचनानि च । अघ नीचै । चक्रिरे विदधिरे । डुकृञ् करणे (कर्मणि) लिड् । श्री आशीरर्थाद- (आशिषो-) ऽप्यधिका-इति भाव ॥ ३८ ॥ प्राप्येति । गुरुकृताभिषेचन गुरुणा पित्रा कृत विरचितमभिषेचनमभिषवण यस्य स । सहजदीधिति सहजा निसर्गजा दीधिति कान्तिर्यस्यस । सः चक्री । चक्रधरराज्यसपदा चक्रधरस्य चक्रेश्वरस्य राज्यस स पदा सपत्त्या । सगम सवन्धम् । प्राप्य लब्ध्वा । सूर्यरोचिषा सूर्यस्य रोचिषा कान्त्या । सूर्यकान्त इव सूर्यकान्तशिलेव[7] वभौ भाति स्म । भा दीप्तौ लिट् । अतिशय उत्प्रेक्षा वा (उपमा) ॥३९॥ अन्तरइति । अत्रान्तरे एतस्मिन् प्रस्तावे । नखचन्द्रचन्द्रिकाचुम्बितत्रिदशराजमस्तक नखा एव चन्द्रास्तेषा चन्द्रिका ज्योत्स्ना तया चुम्बिता व्याप्ता[8] त्रिदशाना देवाना राज्ञा[9] मस्तका यस्य[10] स । स्वयप्रभ स्वयप्रभ इति जिनपति तीर्थङ्कर । भव्यलोकनिवह रत्नत्रयाविर्भवनयोग्यभव्यलोकाना भव्यजनाना निवह समूहम् । प्रबोधयन् प्रबोधयतीति तथोक्त सन् । आययौ आजगाम । या प्रापणे लिट् । समाहितालङ्कार (?) ॥४०॥ सिंहेति । सिंहविष्टरनिविष्ट[11] सिंहैर्मृगेन्द्रैर्धृते विष्टरे पीठे निविष्ट स्थितम्[12] । त जिनपतिम् । निशम्य आकर्ण्य । चक्रवर्तिसहित चक्रेश्वरेण सहित । अजितजय. । वन्दितुं वन्दनाय । रभसेन शीघ्रम् । निर्जगाम[13]

कहीं अधिक लक्ष्मी पाकर उन (गुरुजनों) के आशीर्वादोंको भी नीचा कर दिया ॥ ३८ ॥ पिताने जब राज्याभिषेक कर दिया, तब राजकुमार अजितसेन चक्रवर्ती राज्यकी सम्पत्तिके सङ्गम या अधिकारको पाकर पहलेसे कहीं अधिक शोभायमान हुआ । जैसे स्वाभाविक ज्योतिसे युक्त सूर्यकान्त मणि सूर्यकिरणोंका सम्पर्क पाकर अत्यधिक सुशोभित होने लगता है ॥ ३९ ॥ इसी बीचमें स्वयप्रभ नामक तीर्थङ्कर – जिनके चन्द्रसरीखे चरणनखोंकी चन्द्रिका-सी प्रभा देवेन्द्रोंके मस्तकको (भक्तिपूर्वक झुककर अष्टाङ्ग या पञ्चाङ्ग नमस्कार करते समय) प्रकाशित करती थी—भव्यजीवोंके समाजको प्रबोध देते या मोह निद्रासे जगाते हुए वहाँ (अजितसेन भी राजधानीमें) पधारे ॥ ४० ॥ 'तीर्थङ्कर स्वयप्रभ बिलकुल निकटमें ही पधारे हुए हैं, वे अपने शुद्ध आत्मस्वरूपसे कभी च्युत होनेवाले नहीं हैं, और वे सिंहासनपर विराजमान हैं ।' यह सुनकर राजा अजितजय अपने चक्रवर्ती पुत्र अजितसेनके साथ उनकी वन्दना करनेके लिए

---

१ एष टीकानुगत पाठ प्रतिषु तु °सपदा—इति दृश्यते । २ अ 'सोऽधिक सहजदीधितिश्चिर तारकापतिरिव व्यदीप्यत ॥' इति पाठो दृश्यते । ३ अ पद्यमिद नोपलभ्यते । ४. = सिंहोपलक्षित विष्टर सिंहविष्टर सिंहासन तस्मिन् निविष्टमुपविष्टम् । ५ = मणीना रत्नाना बन्धो रचनाविशेष, तेन भासुर देदीप्यमानम् । ६. श °पदातिगा । ७ = सूर्यकान्तमणिरिव वा । ८ श स प्राप्ता । ९ भा राजानाम् । १० = येन । ११ अ 'निविष्ट'—इति नास्ति । १२ श सुस्थितम् । १३. = निर्ययौ ।

तीर्थभूतमुरुभक्तिभावितस्तं[1] प्रणम्य मुनिहंससेवितम् ।
मस्तकस्थकरकुड्मलोऽमलं प्रश्नमित्यकृत तत्त्वगोचरम्[2] ॥ ४२ ॥
बध्यते कथय कर्मभिः कथं नाथ जन्तुरिह मुच्यतेऽथवा ।
देव संशयविपर्ययाकुलं तिष्ठते[3] त्वयि जगद्यतोऽखिलम् ॥ ४३ ॥
वस्तुतत्त्वमधिगन्तुमिच्छतो भारतीमिति निशम्य भूभृतः ।
योजनप्रमितया गिराधरस्पन्दवर्जितमुवाच तीर्थकृत् ॥ ४४ ॥
सप्रमादहृदयः कषाययुग्योगवान्विरतिवर्जिताशयः ।
सम्यगीक्षणविपर्ययस्थितः कर्मबन्धमुपयाति चेतनः ॥ ४५ ॥

प्रविवेश । गम्लृ गतौ लिट् ॥४१॥ तीर्थेति । उरुभक्तिभावितः उर्व्या महत्या भक्त्या गुणानुरागेण भावितः संस्कृतः । मस्तकस्थकरकुड्मलः मस्तकस्थकरावेव कुड्मलो यस्य सः । अमलः निर्मलचित्तः सन् । तीर्थभूतं पवित्रीभूतम् । मुनिहंससेवितं मुनिहंसैर्गणधरादिमुनिवरैः सेवितमाराधितम् । तं स्वयंप्रभजिनम् । प्रणम्य वन्दित्वा । तत्त्वगोचरं तत्त्वान्येव गोचरो विषयो यस्य तत् (तम्) । प्रश्नं पृच्छनम् । इति वक्ष्यमाणप्रकारेण । अकृत व्यधात् । डुकृञ् करणे लुङ् ॥४२॥ बध्यत इति । भो स्वामिन् । संशयविपर्ययाकुलं संशयविपर्ययाभ्यामाकुलं बाधितम् । अखिलं सकलम् । जगत् लोकः । यतः यस्मात् । त्वयि भवति । तिष्ठते प्रकाशते । ष्ठा गतिनिवृत्तौ लट् । 'स्थेयः प्रकाशने' इति तङ् । नाथ जिनपते । जन्तुः जीवः । इह संसारे । कर्मभिः शुभाशुभकर्मभिः । कथं केन प्रकारेण । बध्यते संबध्यते[4] । अथवा, कथं मुच्यते त्यज्यते । कथय ब्रूहि । कथ वाक्यप्रबन्धे लट् ॥४३॥ वस्त्विति । वस्तुतत्त्वं वस्तुनः पदार्थस्य तत्त्वं स्वरूपम् । अधिगन्तुं ज्ञातुम् । इच्छतः वाञ्छतः । भूभृतः क्षितिपतेः[5] । इति एवं (भूताम्) । भारतीं वचनम् । निशम्य श्रुत्वा । तीर्थकृत् स्वयंप्रभजिनपतिः । योजनप्रमितया योजनप्रमाणभूतया (योजनव्यापिन्या इत्यर्थः) । गिरा दिव्यनिनादेन । अधरस्पन्दवर्जितम् अधरयोरोष्ठयोः स्पन्देन चलनेन वर्जितं रहितं यथा भवति तथा । उवाच निरूपयतिस्म । ब्रूञ् व्यक्तायां वाचि लिट् । 'अस्ति ब्रुवोर्भूवचौ' इति वचादेशः । स्वभावोक्तिः ॥४४॥ सेति । सप्रमादहृदयः प्रमादैर्विषयादिपञ्चदशप्रमादैर्युक्तं हृदयं मानसं तेन सह वर्तते इति । [कषाययुक्] क्रोधादिचतुःकषायैर्युग्[6] युक्तः क्रोधादिकषायवान् । योगवान् कायवाङ्मनःकर्म योगस्तद्वान् । विरतिवर्जिताशयः विरत्या हिंसादिनिवृत्त्या वर्जितः आशयो यस्य सः । सम्यगीक्षणविपर्ययस्थितः[7] सम्यगीक्षणस्य सम्यग्दर्शनगुणस्य[8] विपर्यये मिथ्यादर्शने स्थितः । चेतनः जीवः । कर्मबन्धं कर्मणा

घरसे चल पडे ॥ ४१ ॥ वे तीर्थस्थान स्वरूप हैं। श्रेष्ठ मुनि या गणधर उनकी आराधना करते हैं। उनके दर्शन करते ही अत्यन्त भक्तिभावसे प्रणाम करके अजितजयने हाथ जोडते हुए मस्तक नवाकर शुद्ध हृदयसे एक तात्त्विक प्रश्न किया – ॥ ४२ ॥ भगवन् ! सारा संसार संशय और विपर्ययसे व्याकुल हो रहा है। चूँकि वह आपके ज्ञानमे स्पष्ट ही झलक रहा है, अतः नाथ ! यह बताइये कि इस संसारमे यह जीव शुभ और अशुभ कर्मोंसे कैसे बँध जाता है और फिर उनसे छुटकारा कैसे पा जाता है ? ॥ ४३ ॥ वस्तु स्वरूपके जिज्ञासु राजा अजितजयके इन वचनोको सुनकर तीर्थङ्कर स्वयंप्रभ यो बोले। बोलते समय उनका अधर (नीचेका ओठ) स्पन्दन रहित था और उनकी वाणी एक योजन पर्यन्त सुनाई पड रही थी ॥ ४४ ॥ जिस जीवके हृदयमे प्रमाद भरा हुआ है; जो कषायवान् है; जिसके मन, वचन और कायमे चञ्चलता भरी हुई है; जिसका हृदय हिंसा आदि पापोसे विरत नही है और जिसकी श्रद्धा

१. अ °भूतगुरु° । २ अ क ख ग घ म बन्वगो° । ३ अ तिष्ठति । ४ आ बध्यन्ते । ५. आ पतिपति । ६ = कषायैः क्रोधादिभिर्युज्यत इति कषाययुक् । ७. श समस्तमिदं पदं नास्ति । ८ श इदमपि समस्तं पदं नास्ति ।

तेन स स्ववशभावमाहृतः कर्मणाष्टविधभेदभागिना[1] ।
संसरत्यशरणो भवाम्बुधौ लोहकान्तमणिकृष्टलोहवत्[2] ॥ ४६ ॥
कर्मभिः परवशीकृतात्मनो[3] भ्राम्यतो बहुविधासु योनिषु ।
खल्वबिल्वविधिना प्रमादतो जायते मनुजजन्मसंगमः ॥ ४७ ॥
प्राप्तमानवभवोऽपि कृच्छ्रतः पुत्रबान्धवकलत्रमोहितः ।
कर्म तत्किमपि संचिनोत्यसौ येन गच्छति पुनः कुयोनिषु ॥ ४८ ॥

ज्ञानावरणादीनां बन्धम् । उपयाति उपगच्छति । या प्रापणे लट् ॥४५॥ तेनेति । अष्टविधभेदभागिना अष्टविधा प्रकारा यस्य स तथोक्त, अष्टविधश्चासौ भेदश्च तथोक्त, अष्टविधभेद भजतीत्येवंशील अष्टविधभेदभागि, तेन । तेन कर्मणा । स्ववशभाव स्वस्य वशभावमधीनत्वम् । आहृत[4] नीत । अशरण सन् न विद्यते शरण यस्य स, रक्षितुरहित सन् । स जीव । भवाम्बुधौ भव एवाम्बुधिस्तस्मिन् । रूपकम् । लोहकान्तमणिकृष्टलोहवत् लोहकान्तमणिना अयस्कान्तमणिना कृष्ट[5] आहृतो लोहवत् । संसरति भ्रमति । सृ गतौ लट् । उपमा ॥४६॥ कर्मभिरिति । प्रमादत प्रमादात् । कथंचित् (?) । बहुविधासु[6] बह्वीषु विधासु भेदेषु । योनिषु[7] जन्मसु । भ्राम्यत पर्यटत । कर्मभि शुभाशुभरूपकर्मभि । परवशीकृतात्मन परवशीकृतस्य पराधीन (नी) कृतस्यात्मनो जीवस्य । खल्वबिल्वविधिना खल्वस्य नष्टरोमशिरस[8] पुरुषस्य बिल्वविधिना बिल्वफलस्य न्यायेन । अबुद्धिपूर्वक बिल्वफल नष्टरोमशिरोयुक्तस्य मस्तके पतित[9] (पतति) यथा तथा इत्यर्थ. । मनुजजन्मसंगम· मनुजस्य मानुषस्य जन्मन उत्पत्ते संगम· संपर्कः । जायते संभवति । जनैङ् प्रादुर्भावे लट् । उपमा ॥४७॥ प्राप्तेति । कृच्छ्रत कष्टात् । प्राप्तमानुषभवोऽपि प्राप्तो लब्धो मानुषस्य मनुष्यस्य भवो यस्य (येन) स । पुत्रबान्धवकलत्रमोहित पुत्राश्च बान्धवाश्च कलत्राणि च तथोक्तानि तेषु मोहित आसक्त सन् । किमपि तत्कर्म[10] शुभाशुभकर्म । संचिनोति संपादयति । पुन पश्चात् । येन कर्मणा संबन्ध, तेन कर्मणा । योनिषु गच्छतीत्यर्थ । असौ जीव । कुयोनिषु कुत्सितयोनिषु । गच्छति याति । गम्लृ गतौ लट् ॥४८॥ इतीति ।

विपरीत है उसके कर्मबन्ध होता है । मूल बात यह है कि मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ये पांच कर्मबन्धके कारण हैं ॥ ४५ ॥ ज्ञानावरण आदि आठ भेदोवाले कर्मने जीवको अपने आधीन कर लिया है । अतः जैसे अयस्कान्त मणि या चुम्बक पत्थरसे आकृष्ट होकर लोहा अशरण हो जाता है, वैसे कर्माधीन जीव भी—अशरण हो जाता है । फलत वह ससार सागरमे गोते खाता रहता है ॥ ४६ ॥ प्रमादके कारण यह जीव कर्मों द्वारा परवशकर दिया जाता है । फिर यह नाना (चौरासी लाख) योनियोमे भटकता फिरता है । भटकनेवाले इस जीवको खल्वबिल्व न्यायसे मानव जन्म बडी कठिनाईसे मिलता है । खल्वाट जब-जब बेलके नीचे जाय तब-तब उसके सिरपर बेल गिरे, यह कभी सम्भव नही हो सकता। ऐसी घटना क्वचित् कदाचित् ही घटती है । इसी प्रकार यह जीव जब-जब पर्याय बदले तब-तब उसे मानव जन्म मिले, यह असम्भव है। वह तो बडे भाग्यसे मिलता है ॥४७॥ बडी कठिनाईसे मानवभवको पाकर भी यह जीव पुत्र, मित्र और कलत्रके मोहमे फँसकर ऐसे कर्मोका सञ्चय कर लेता है, जिससे वह

---

१ अ 'ध' नोपलभ्यते । २ अ भवान्तरेष्वन्तवर्जितमृतिर्नर स्वयम् । ३ अ कर्मसङ्गविवशीकृतात्मनो॰ । ४ आ ॰मावृतः । ५. =कृष्टमाहृत यल्लोहं लोहधातुस्तद्वत् । ६ =बह्वी विधा यासां तासु नानाविधासु । ७ =उत्पत्तिस्थानेषु । ८ =खल्वाटस्य । ९. आ पतीत । १० =अशुभकर्म ।

इत्यवेत्य भवदुःखभीरवः संगमं विदधते सुमेधसः।
कर्मबन्धनविपक्षभूतया ज्ञानदर्शनचरित्रसंपदा ॥ ४९ ॥
ज्ञानमर्थपरिबोधलक्षणं दर्शनं जिनमताभिरोचनम्।
पापकार्यविरतिस्वभावकं कीर्तितं चरितमात्मवेदिभिः ॥ ५० ॥
संगतं त्रयमिदं प्रजायते कृत्स्नकर्मविनिवृत्तिकारणम्।
पङ्गुलोचनविहीनवद्भवेदेककं न पुनरर्थसाधकम् ॥ ५१ ॥
ज्ञानमागमनिरोधि कर्मणो भाविनश्चरितमर्जितासनम्।
दृष्टिराचरति पुष्टिमेतयोरित्थमेतदुपयोगवत्त्रयम्[1] ॥ ५२ ॥

सुमेधसः शोभना मेधा येषु[2] ते। इति एवम्। अवेत्य ज्ञात्वा। भवदुःखभीरवः[3] भवे संसारे सम्भवद् दुःखे भीरवो भीताः। कर्मबन्धनविपक्षभूतया कर्मणां[4] बन्धनस्य विपक्षभूतया। ज्ञानदर्शनचरित्रसंपदा ज्ञानं सम्यग्ज्ञानं तच्च दर्शनं सम्यग्दर्शनं तच्च चरित्रं सम्यक्चारित्रं तच्च तथोक्तानि, ज्ञानदर्शनचरित्राणां संपदा संपत्त्या। संगमं संसर्गम्। विदधते कुर्वन्ति। डुधाञ् धारणे च लट्॥४९॥ ज्ञानमिति। आत्मवेदिभिः आत्मज्ञानिभिः। अर्थपरिबोधलक्षणम् अर्थस्य परिबोधः परिज्ञानं स एव लक्षणं यस्य तत्। ज्ञानं सम्यग्ज्ञानम्। जिनमताभिरोचनं जिनमते आर्हतमतेऽभिरोचनं विश्वासः। दर्शनं सम्यग्दर्शनम्। पापकर्मविरतिस्वभावकं[5] पापकर्मणां कर्मबन्धस्य-कारणहिंसादिव्यापाराणां विरतिर्निवृत्तिरेव स्वभावो यस्य तत्। चरितं सम्यक्चारित्रमिति। कीर्तितं भाषितम्॥५०॥ संगतमिति। संगतं संयुतम्। इदम् एतत्। त्रयं त्रयोऽवयवा अस्य त्रयम्। 'अवयवात्तयट्' इति तयट्। 'द्वित्रिभ्यां तुवा'' इति तकारस्य लुक्। सम्यग्ज्ञानादित्रयम्। कृत्स्नकर्मविनिवृत्तिकारणं कृत्स्नानां साकल्यानां (सकलानां) कर्मणां द्रव्यभावकर्मणां विनिवृत्तेर्विमोक्षस्य कारणं निमित्तम्। प्रजायते प्रभवति। पङ्गुलोचनविहीनवत् पङ्गुः खञ्जः (खन्) स च लोचनविहीनोऽन्धकः स च तथोक्तौ पङ्गुलोचनविहीनाविव तथोक्तम्। एककम्[6] असहायम्। पुनः पश्चात्। अर्थसाधकं प्रयोजनसाधकम्। न भवेत् न स्यात्। भू सत्तायां लिङ्। उपमा।५१॥ ज्ञानमिति। ज्ञानं सम्यग्ज्ञानम्। भाविनः भविष्यतः। कर्मणः, आगमनिरोधि (धि) आगमस्यास्रवस्य निरोधि (धि) निवारकः (कम्)। चरितं चारित्रम्। अर्जितासनम् अर्जितस्य पूर्वोपात्तस्य कर्मणोऽसनं नाशनम्। दृष्टिः सम्यग्दर्शनम्। एतयोः ज्ञानचारित्रयोः। पुष्टिं[7] तुष्टिम्। आचरति[8] इत्थम् अनेन प्रकारेण। एतत् इदं त्रयं सम्यग्ज्ञानादित्रयम्[9]। उपयोगवत् परस्परोपकारवत्। भवति॥५२॥

फिर खोटी-खोटी योनियोमे चला जाता है ॥ ४८ ॥ यह जानकर संसारके दुःखोसे डरनेवाले बुद्धिमान् पुरुष कर्मबन्धनकी विरोधिनी सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की सम्पत्ति का समागम करते हैं ॥ ४९ ॥ जीवादि पदार्थोंका यथावत् जानना सम्यग्ज्ञान है, जिन मतकी अभिरुचि सम्यग्दर्शन है और हिंसा आदि पाप कार्योसे निवृत्त होना सम्यक् चारित्र है, ऐसा आत्मज्ञानियोने कहा है ॥ ५० ॥ सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये तीनो मिलकर समस्त कर्मोंकी निवृत्तिके कारण हैं। यदि वे पगु और अन्धे पुरुष की भाँति अलग-अलग रहे तो मानवके प्रयोजनको सिद्ध नही कर सकते। अन्धे और पगु मिलकर अपने इष्ट स्थानमे पहुँच सकते हैं। इसी तरह सम्यग्दर्शन आदि तीनो गुणोके सम्मिलित सहयोगको पाकर जीव अपने गन्तव्य मोक्ष-धाम तक पहुँच सकता है ॥ ५१ ॥ सम्यग्ज्ञान आनेवाले कर्मको रोकनेवाला है और सम्यक्चारित्र पहलेसे आये हुए—बद्ध कर्मोंको दूर करनेवाला है। तथा सम्यग्दर्शन

---

१ अ पद्यमिदं नोपलभ्यते। २ = येषां। ३ = भवः संसारः, तस्य दुःखं तस्माद् भीरवो भीताः। ४. श कर्मणो। ५ = पापकर्मणामशुभकर्मणां हिंसादिव्यापाराणां विरतिनिवृत्तिरेव स्वभावो यस्य तत्। ६. श एकम्। ७ = पुष्टताम्। ८. = विदधाति। ९. श सम्यग्ज्ञानचारित्रत्रयम्।

ज्ञानमात्रमिह संसृतिक्षये कल्पितं यदबुधैर्न तत्तथा[1] ।
भेषजावगममात्रतः[2] शमं व्याधिरेति किमनुष्ठितैर्विना ॥ ५३ ॥
शुश्रुवानिति स बन्धमोक्षयोः कारणं जिनमुखारविन्दतः ।
तत्क्षणादुपययौ विरक्ततां श्रेयसि त्वरयते हि भव्यता ॥ ५४ ॥
स प्रहाय शमसक्तमानसः प्रेम बन्धुसुतदारगोचरम् ।
देहजार्पितपरिच्छदः परं शिश्रिये श्रमणसेवितं पदम् ॥ ५५ ॥
चक्रवर्त्यपि गृहीतदर्शनः कायवाङ्मनसशुद्धिसंयुतः ।
त्रिः प्रणम्य जिनमर्चितं सतां प्राविशत्पुरमुदारगोपुरम् ॥ ५६ ॥

ज्ञानमात्रमिति । इह अस्मिन् । संसृतिक्षये संसृतेः संसारस्य क्षये । यत् ज्ञानमात्रं दर्शनमात्रं (दर्शन—) चारित्र-निरपेक्षं ज्ञानमात्रम् । अबुधैः अज्ञानिभिः । कल्पितं कृतं तत् तथा [न] तेन प्रकारेण न भवति । अनुष्ठितैः [विना] आचरणैर्विना । भेषजावगममात्रतः भेषजस्य औषधस्यावगममात्रतो ज्ञानमात्रतः । व्याधिः रोगः । शमम् उपशमम् । एति किं याति किम् ॥५३॥ शुश्रुवानिति । सः अजितजयः । जिनमुखारविन्दतः जिनस्य तीर्थङ्करस्य मुखमेवारविन्दं[4] कमलं तस्मात् । बन्धमोक्षयोः कर्मबन्धमोक्षयोः । इति एवं प्रकारेण । शुश्रुवान् शृणोति स्म । तत्क्षणात्, विरक्ततां वैराग्यम् । उपययौ उपजगाम । या प्रापणे लिट् । भव्यता भव्यत्वम् । श्रेयसे मोक्षनिमित्तम् । त्वरयते हि शीघ्रं (शीघ्रताम्) करोति ॥५४॥ स इति । शमसक्तमानसः शमेन उपशमेन (शमे उपशमे) सक्तं युक्तं (आसक्तं) मानसं यस्य सः । सः अजितजयः । बन्धुसुतदारगोचरं बन्धवश्च सुताश्च दाराश्च तथोक्ताः बन्धुसुतदारा एव गोचरा यस्य तत् । प्रेम प्रीतिम् । प्रहाय विहाय । देह-जार्पितपरिच्छदः देहजेऽजितसेनेऽर्पितः स्थापितः परिच्छदो येन सः, सन् । श्रमणसेवितं श्रमणैः सेवितमाराधि-तम् । परं प्रकृष्टम् । पदं मोक्षपदमित्यर्थः । शिश्रिये सिषेवे । श्रिञ् सेवायां लिट् ॥५५॥ चक्रेति । कायवाङ्-मनसशुद्धिसंयुतः कायवाङ्मनसानां शुद्धया युतः । चक्रवर्त्यपि सार्वभौमोऽपि । गृहीतं दर्शनं यस्य (येन) सः सन् । सतां सद्भिः । अर्चितं पूजितम् । 'वा नाकस्य—' इत्यादिना करणे षष्ठी । जिनं जिनेश्वरम् । त्रिः प्रणम्य त्रीन् वारान् प्रणम्य । उदारगोपुरम् उदाराण्युन्नतानि गोपुराणि पुरद्वाराणि यस्य तत् । पुरं विनीता-

इन दोनो (सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र) की पुष्टि करता है । इस तरह ये तीनो उपयोगी हैं और हैं एक दूसरेके उपकारी ॥ ५२ ॥ 'अकेला ज्ञान ही संसारका अन्त करके मुक्ति दिलाने-मे समर्थ है' ऐसी कल्पना कुछ अज्ञानी लोगोने कर रखी है, पर वह ठीक नही, क्योकि अनु-ष्ठानके बिना दवाओका खाली ज्ञान कर लेनेसे व्याधि शान्त नही हो सकती । दवाओकी जानकारीके साथ जब विश्वास और परहेज होते हैं, तब रोग शान्त होता है । इसी प्रकार तत्त्वोके ज्ञानके साथ जब श्रद्धा और आचरण होते हैं तब कही संसारकी समाप्ति—मुक्तिकी प्राप्ति होती है ॥ ५३ ॥ जिनेन्द्र भगवान् – स्वयप्रभके मुख कमलसे, इस तरह बन्ध और मोक्ष के कारण सुनकर अजितजय तत्काल विरक्त हो गया । भव्यता निश्चय ही कल्याणके लिए शीघ्रता कराती है ॥ ५४ ॥ अजितजयका मन अब केवल आत्मशान्ति पानेके लिए उत्सुक हो उठा । फलत उसने अपने परिवारके बन्धु, पुत्र और पत्नीसे प्रेमका नाता तोड दिया, राज्यका भार पुत्रको सौंप दिया और फिर उत्कृष्ट पदका–जिसकी आराधना श्रमण करते चले आ रहे हैं– आश्रय लिया ॥ ५५ ॥ चक्रवर्तीके मन, वचन और कायमे पहलेसे पवित्रता थी ही, पर इस अवसरपर उन्हे सच्ची श्रद्धा भी उत्पन्न हो गई । सज्जनोके द्वारा पूजित स्वयप्रभ भगवान्को

१ अ ज्ञानमाचरणहीनमत्र सज्ज्ञानहीनमपि तन्न सिद्धये । २ अ क ख ग घ म भेषजैश्च विदितै-र्यत शमं । ३ =कल्पनाविषयीकृतम् । ४. =मुखमरविन्दमिव ।

अन्यदा नृपतिवृन्दवेष्टितः संनियुज्य[1] स पुर प्रयाणके।
वाहिनीपतिमसह्यतेजसं निर्जगाम दशदिग्जिगीषया ॥ ५७ ॥

छत्रमुल्लसितफेनपाण्डुरं निर्बभावुपरि तस्य गच्छतः।
घर्मवारणमुखेन[2] सेवितुं चन्द्रमण्डलमिवागतं स्वयम् ॥ ५८ ॥

चित्ररत्नपरिपूर्णकुक्षयो मन्द्रगर्जितकृतोऽर्णवा इव।
सचरिष्णुरथरूपधारिणं[3] स्वं विकृत्य निधयः प्रतस्थिरे ॥ ५९ ॥

स्वस्वकृत्यकरणोद्यताशयं[4] व्यन्तरामरसहस्ररक्षितम्।
सर्वमध्वनि रथाङ्गपूर्वकं तस्य रत्नमभवत्पुरःसरम् ॥ ६० ॥

पुरम्। प्राविशत् प्रविष्टवान्। विश प्रवेशने लङ् ॥५६॥ अन्यदेति। अन्यदा अन्यस्मिन् काले। नृपतिवृन्दवेष्टित. नृपतीना भूपाना वृन्देन समूहेन वेष्टित परिवृत। स अजितसेनचक्री। असह्यतेजस सोढुमशक्यप्रतापम्। वाहिनीपतिं सेनापतिम्। पुर प्रयाणके अग्रप्रयाणनिमित्तम्। सनियुज्य विनियोग विधाय। दशदिग्जिगीषया जेतुमिच्छा जिगीषा दशाना दिशा दिशाना जिगीषा तया। जि ज्रि अभिभवे। 'कम्येककर्तृकात्' इत्यादिना सन्। 'जेर्लिट् सन्' इति द्विभावे पूर्वस्मात्परस्य गी[5]-इत्यादेशः। निर्जगाम निर्ययौ। गम्लृ गतौ लिट् ॥५७॥ छत्रमिति। उल्लसितफेनपाण्डुरम् उल्लसितो विभासित. फेन इव डिण्डीर इव[6] पाण्डुरं शुभ्रम्। छत्र छत्ररत्नम्। गच्छत यात। तस्य चक्रिण.। उपरि ऊर्ध्वभागे। घर्मवारणमुखेन (मिषेण) घर्मवारणमिति छत्रमिति मुखेन व्याजेन (घर्मवारण छत्र तस्य मिषेण व्याजेन) सेवितुम् आराधि (घयि-) तुम्। स्वयम् आगतम् आयातम्। चन्द्रमण्डलमिव चन्द्रबिम्बमिव। निर्बभौ भाति स्म। उत्प्रेक्षा ॥५८॥ चित्रेति। चित्ररत्नपरिपूर्णकुक्षय. चित्रैर्नानाविधै रत्नै परिपूर्ण कुक्षिर्येषा ते। मन्द्रगर्जितकृत. मन्द्र गभीरध्वनि तच्च तद्गर्जित च मन्द्रगर्जित (तत्) कुर्वन्तीति तथोक्ता.। अर्णवा इव समुद्रा इव। निधय नवनिधय। स्वं स्वरूपम्। सचरिष्णुरथरूपधारिण सचरिष्णोर्गमनशीलस्य रथस्य स्यन्दनस्य रूपधारिण स्वरूपधारिणम्। विकृत्य निर्माय। प्रतस्थिरे निर्जग्मु.। उत्प्रेक्षा (?) ॥५९॥ स्वेति। स्वस्वकृत्यकरणोद्यताशय स्वेषा स्वेषा कृत्यस्य कार्यस्य करणे विधाने उद्यत उद्युक्त आशयो मानस यस्य तत्। व्यन्तरामरसहस्ररक्षित व्यन्तराणा व्यन्तरदेवाना सहस्रेण रक्षित पालितम्। रथाङ्गपूर्वकं रथाङ्ग चक्र तदेव पूर्वं यस्य तत्। सर्वं सकलम्। रत्न जीवाजीवभेदम्। तस्य चक्रिणः। अध्वनि मार्गे। पुर सर पुर सरतीति पुर सरमग्रगामि। अभवत्

तीन बार प्रणाम करके उसने अपने नगरमे प्रवेश किया – जहाँ बडे-बडे द्वार थे ॥ ५६ ॥ कुछ दिनोंके बाद चक्रवर्ती अजितसेन—जिसके साथ सभी राजे-महाराजे थे—अपने तेजस्वी सेनापतिको आगे प्रयाण करनेका आदेश देकर दिग्विजयके लिए निकल पडा ॥५७॥ चलते समय चक्रवर्तीके ऊपर, लहराते फेनकी भाँति सफेद छाता ऐसा जान पडता था मानो उस (सफेद छाते) के बहाने स्वय चन्द्रमण्डल उसकी सेवामे उपस्थित हुआ हो ॥ ५८ ॥ जिनका भीतरी भाग विचित्र रत्नोसे भरा हुआ है और जिनका गर्जन गभीर है, समुद्र सरीखी वे नौ निधियाँ चलते हुए रथका रूप धारण करके चल पडी ॥ ५९ ॥ अपना-अपना कर्त्तव्य पालन करनेके लिए उद्यत और एक हजार व्यन्तर देवोसे सुरक्षित चौदह रत्न मार्गमे चक्रवर्तीके आगे-आगे चलने लगे।

---

१. अ सप्रयुज्य म सनियोज्य। २ अ क ख ग घ म °वारणमिषेण। ३. म °रूपधारिण। ४ घ °शयव्यन्तरा°। ५. आ गिरित्यादेश. श गा॥त्यादेशः। ६. =फेनो डिण्डीर. स इव।

तस्य वाजिखुरजै रजश्चयैरुत्थितै[1]स्तपनवर्त्मरोधिभिः।
पूरिताः करभयादिव स्वयं भेजिरे भृशमदृश्यतां दिशः॥ ६१॥
चित्रमेतदतिदूरवर्तिनाप्यस्य सैन्यरजसा प्रसर्पता।
यन्निरन्तरमरातियोषितश्चक्रिरे विगलदश्रुलोचनाः॥ ६२॥
सिद्धरत्नमवगम्य संमुखीभूतमप्रतिमपौरुषाश्रयम्।
मूर्धदेशनिहिताग्रपाणय प्राभृतैस्तमुपतस्थिरे नृपः॥ ६३॥
नामयन्नतुलदैवपौरुष.[2] सिद्धशक्त्युपचितान्स पार्थिवान्।
प्राप वारिधितट समुच्चलत्कीर्तिभासितसमस्तदिङ्मुखः॥ ६४॥

अभूत्। भू सत्ताया लङ्। जातिः॥६०॥ तस्येति। तस्य चक्रिण। वाजिखुरजै वाजिनामश्वाना खुरजैः शफजातै। तपनवर्त्मरोधिभि. तपनस्य सूर्यस्य वर्त्म आकाश रोधिभिराच्छादिभि। उत्थितै ऊर्ध्वं गतै। रजश्चयै रजसा रेणूना चयैर्निवहैः। पूरिताः[3] व्यापिता। दिश ककुभ। करभयादिव करस्य किरणस्य भयादिव भीतेरिव। स्वय, भृशम् अत्यन्तम्। अदृश्यता दृष्टिगोचररहितत्वम्। भेजिरे भजन्ति स्म। भज सेवाया लिट्। उत्प्रेक्षा॥६१। चित्रमिति। अस्य चक्रिण। प्रसर्पता निर्गच्छता। सैन्यरजसा (सैन्यस्य सेनाया) रजसा रेणुना। अतिदूरवर्तिना अपि विप्रकृष्टे[4] वर्तमानेनापि। निरन्तरम् निरवकाशम्। अरातियोषित अरातीना शत्रूणा योषित प्रमदा। विगलदश्रुलोचना. विगलत् स्रवद् अश्रु नेत्रोदक ययो[5] ते तथोक्ते विगलदश्रुणी लोचने यासा ता। चक्रिरे[6] विदधु यत् एतत्। चित्रम् आश्चर्यम्। उत्प्रेक्षा (?)॥६२॥ सिद्धेति। सिद्धरत्न सिद्धानि रत्नानि यस्य तम्। समुखीभूतम् अभिमुखीभूतम्। अप्रतिमपौरुषाश्रयम् अप्रतिमस्योपमातीतस्य पौरुषस्याश्रय तम्। तं चक्रिणम्। अधिगम्य ज्ञात्वा। मूर्धदेशनिहिताग्रपाणय मूर्ध्नो मस्तकस्य देशे प्रदेशे निहितोऽग्रपाणिर्येषा[7] ते। नृपा भूमिपाः। प्राभृतै उपायनै। उपतस्थिरे सेवा चक्रिरे। ष्ठा गतिनिवृत्तौ लिट्।६३॥ नामयन्निति। अतुलदैवपौरुष अतुले असमाने दैवपौरुषे यस्य स.। समुच्चल[8]त्कीर्तिभासित-समस्तदिङ्मुख समुच्चलन्त्या कीर्त्या यशसा भासितानि समस्ताना सर्वासा दिशा मुखानि यस्य[9] स। स चक्री। सिद्धशक्त्युपचितान् सिद्धाभिर्निष्पन्नाभि शक्तिभिरुत्साहप्रभुमन्त्रशक्तिभिरुपचितान्[10] राशीभूतान्। पार्थिवान् भूमिपालान्। नामयन् नम्रीकुर्वन्। वारिधितट वारिधे समुद्रस्य तट तीरम्। प्राप ययौ। आप्लृ

चलते समय रत्नोमे सबसे आगे चक्र था॥ ६०॥ घोडो की टापोके पडनेसे धूलि उडने लगी। धीरे-धीरे उसने पूरे आकाशको घेरकर सूर्यका मार्ग छेक लिया। सारी दिशाएँ अदृश्य हो गईं, जिससे ऐसा प्रतीत होने लगा मानो चक्रवर्तीको लगान देनेके भयसे सब दिशाएँ स्वय कही जाकर छिप गई हो॥ ६१॥ उस समय यह एक आश्चर्यकी बात हुई कि फैलनेवाली सेना की धूलिने स्वय बहुत दूर रहकर भी (केवल अपना दर्शन देकर, आँखोमे घुसकर नही) शत्रु-स्त्रियोको लगातार आँखोंसे आँसू गिरानेके लिए बाध्य कर दिया॥ ६२॥ चक्रवर्तीको चौदह रत्न सिद्ध हैं। उसका पराक्रम अनुपम है — पराक्रममे उसकी कोई बराबरी नही कर सकता। वह यहाँ आ ही रहे हैं, यह जानकर राजे-महराजे नाना प्रकारका उपहार लेकर उसके सामने हाथ जोडकर सिर नवाते हुए पहुँचे॥ ६३॥ अनुपम दैव और पुरुषार्थ वाले और परिपूर्ण प्रभु-शक्ति, मन्त्रशक्ति तथा उत्साह शक्तिसे समृद्ध राजाओको झुकाकर चक्रवर्तीने अपनी बढ़ती हुई कीर्तिसे समस्त दिशाओको प्रकाशित कर दिया। फिर वह समुद्र तटपर पहुँचा॥ ६४॥

१ म °रुच्छ्रितैः। २ आ इ क ख ग घ म °दैवपौरुषान्। ३ = व्याप्ता। ४ श विप्रकृष्टवर्ते°। ५ = याभ्या। ६ = विदधिरे। ७ = निहिता अग्रपाणयो यै। ८ एष टीकाश्रय. पाठ. प्रतिषु तु सर्वासु 'समुच्छलत्' इत्येवोपलभ्यते। ९ = येन। १० = सपन्नान्।

तत्क्षणात्क्षुभितसिंहविष्टरः संनिकृष्टमवगम्य चक्रिणम् ।
त प्रभासविबुधः कृताञ्जलिर्दिव्यरत्ननिकरैरपूपुजत्[1] ॥ ६५ ॥
एत्य ढौकितविचित्रभूषणो देव नन्द जय रक्ष मेदिनीम् ।
तं वचोभिरिति साञ्जलि. स्तुवन्मागधोऽप्यजनि सत्यमागधः ॥ ६६ ॥
द्वीपसिन्धुविविधाकरोद्भवैः प्राभृतैर्वरतनुर्मनोहरैः ।
तं विनम्रमुकुटः कुटुम्बिवत्पर्युपास्त मदमानवर्जितः ॥ ६७ ॥
[2]प्रागपाग्वरुणदिग्व्यवस्थितानानमय्य नृपखेचरामरान् ।
व्योमसंचरणगर्वितानसौ निर्जिगाय विजयार्धवासिनः ॥ ६८ ॥

व्याप्तौ लिट् । सामान्यम् (?) ॥६४॥ तत्क्षणादिति । अल्पकालात् । क्षुभितसिंहविष्टर क्षुभित[3] संचलितं सिंहविष्टर सिंहासन यस्य स । प्रभासविबुव प्रभासनामा अमर । सनिविष्टम्[4] आगतम् । त चक्रिणम्-अजितसेनचक्रवर्तिनम् । अवगम्य ज्ञात्वा । कृताञ्जलि विहिताञ्जलि सन् । दिव्यरत्ननिकरै दिव्याना रत्नाना निकरै समूहै । अपूपुजत् अपूजयत् । पूज पूजाया लुङ् । ६५॥ एत्येति । ढौकितविचित्रभूषणः ढौकितान्यानीतानि विचित्राणि नानाविधानि भूषणानि येन सः । साञ्जलि अञ्जलिना युक्त । मागधोऽपि मागधामरोऽपि । एत्य आगत्य । देव स्वामिन् । नन्द समृद्धो भव । जय सर्वोत्कर्षेण वर्तस्व । मेदिनीं भूमिम् । रक्ष पालय । रक्ष पालने लेट् (लोट्) । इति एवविधै । वचोभि. वचनै । त चक्रिणम् । स्तुवन् नुवन् । तस्य चक्रिणः । मागधः स्तुतिपाठक. । अजनि अजायत । जनैड् प्रादुर्भावे लुङ् ॥६६॥ द्वीपेति । विनम्रमुकुटः विनम्र विनमनशील मुकुट[5] यस्य स । 'नम्कम्य–' इत्यादिना शीलार्थे र-प्रत्यय । मदमानवर्जितः मदमानाभ्या मदाग्रहगर्वाभ्या वर्जितो रहित । वरतनुः वरतनुनामा अमरः । द्वीपसिन्धुविविधाकरोद्भवैः द्वीपेषु अन्तरीपेषु[6] सिन्धौ समुद्रे विद्यमानेषु [विविधेषु] नानाप्रकारेषु आकरेषु खनिस्थानेषु उद्भवैः उत्पन्नैः । मनोहरै मनोरमै । प्राभृतै उपायनै । त चक्रिणम् । कुटुम्बिवत् करदीकृतकृषीवलवत्[7] । पर्युपास्त असेवत । आसि उपवेशने लङ् ॥६७॥ प्रागिति । असौ अय चक्री । [8]'प्रागपाग्वरुणदिग्व्यवस्थितान् प्राक् पूर्वा सा च अपाग् दक्षिणा सा च वरुणा पश्चिमा सा च तथोक्ता ताश्च ता दिशश्च तथोक्ताः, प्रागपाग्वरुणदिक्षु व्यवस्थिता प्रवृत्ता, तान् । नृपखेचरामरान् नृपान् भूमिपान् खेचरान् विद्याधरान् देवान् । आनमय्य आनमन पूर्व० । व्योमसचरणगर्वितान् व्योम्नि गगने सचरणेन गमनेन गर्वितान् । विजयार्धवासिनः विजयार्धे विजयार्धपर्वते वासिनो वसन्तीत्येवशीलान् । निर्जिगाय जयति स्म । जि ज्री अभिभवे लिट् ।

ज्यो ही वह समुद्र तटपर पहुँचा त्यो ही अपने सिंहासनके हिलनेसे प्रभास नामक देव यह समझ गया कि चक्रवर्ती अजितसेन यहाँ आया हुआ हैं । फिर उसने दोनो हाथ जोडते हुए दिव्य रत्नोका उपहार देकर चक्रवर्तीका सत्कार किया ॥ ६५ ॥ मागध नामका देव चक्रवर्तीके पास जाकर तथा विचित्र रत्नोके आभूषण प्रदान करके उसकी स्तुति करता हुआ कि 'देव ! आप समृद्ध हो, आपकी जय हो, आप सारी भूमिकी रक्षा करें' पूरा मागध (स्तुति पाठक) ही बन गया ॥ ६६ ॥ वरतनु नामक देवने आग्रह और अहङ्कार छोडकर अपने मुकुटको नवाते हुए द्वीप, समुद्र और नाना खानोसे उत्पन्न सुन्दर उपहार देकर चक्रवर्ती अजितसेनको कुटुम्बके एक सदस्यकी भाँति उपासना की ॥ ६७ ॥ अजितसेनने पहले पूर्व, पश्चिम और दक्षिण दिशाओके निवासी राजो-महाराजो, विद्याधरो और देवोको नमाया फिर आकाशगमनका गर्व

१ म °रपूजयत् । २. आ इ प्रागप्राग्व° । ३ =कम्पितमित्यर्थ । ४ =सनिकृष्टम् । ५ आ मकुटं । ६. आ अन्तर्द्वीपेषु । ७. – 'कुटुम्बे कर्षकः क्षेत्री हलो कृषिकक पंको । कृषीवलोऽपि' इति हैम. । ८ श प्रागवारव° ।

शक्तिभिस्तिसृभिरन्वितोऽभवच्च समस्तविजयस्य भाजनम् ।
तस्य कः खलु जितांशुमद्द्युतेर्विस्मयोऽत्र विजयार्धसाधने ॥ ६९ ॥
साधयन्विविधरत्नमण्डितां मेदिनीमधरितारिविक्रमः ।
वर्धमानविभवोऽनुवासरं सोऽभवत्सकललोकवत्सलः ॥ ७० ॥
प्रत्यहं द्विगुणषोडशावनीमुख्यपार्थिवसहस्रमूर्धसु ।
तस्य संसदि गतस्य चक्रिरे वासचूर्णरुचिमङ्घ्रिरेणवः ॥ ७१ ॥
पूर्वजन्मकृतपुण्यकर्मणा सोऽजनिष्ट भुवनातिवर्तिना ।
षण्णवत्यचिररोचिरुज्ज्वलस्त्रीसहस्रमुखपद्मषट्पदः ॥ ७२ ॥

'जे लिट् सनि' इति द्विर्भावे पूर्वस्मात्परस्य गो-इत्यादेश । अवसरः (?) ॥६८॥ शक्तिभिरिति । य चक्री । तिसृभि त्रिसङ्ख्याभि । शक्तिभिः प्रभूत्साहमन्त्रशक्तिभि । अन्वित युक्त. । समस्तविजयस्य समस्ताना सर्वेषा विजयस्य । भाजन स्वामिस्थान च । अभवत् अभूत् । जितांशुमद्द्युते जिता अंशुमद्द्युतिर्यस्य तस्य । तस्य चक्रिण । अत्र अस्मिन् । विजयार्धसाधने समस्तदेवाधिपते: तस्य विजयार्धपर्वतस्थितविद्याधर (स्य) साधने देशार्धसाधने वा । को विस्मय, विस्मयो नास्तीत्यर्थ । सर्वविजयभाजनस्य चक्रिणो विजयार्ध इत्युक्ते अर्धे विजयो यावत् (तावत्) तस्य साधने को विस्मय, इति ध्वनि ॥६९॥ साधयन्निति । अधरितारिविक्रम. अधरितो निराकृतोऽरीणा विक्रमो येन स । सकललोकवत्सल सकले लोके जने वत्सल प्रीतियुक्त. । स चक्री । विविधरत्नमण्डिता विविधैर्नानाविधै रत्नै मण्डितामलकृताम् । मेदिनीं भूमिम् । साधयन्[2] निष्पादयन् । अनुवासर प्रतिदिनम् । वर्धमानविभव वर्धमान एधमानो विभव सपद् यस्य स । अभवत् अभूत् ॥७०॥ प्रत्यहमिति । ससदि सभायाम् । गतस्य यातस्य । तस्य चक्रिण । अङ्घ्रिरेणव अङ्घ्र्यो रेणवो रजासि । द्विगुणषोडशावनीमुख्यपार्थिवसहस्रमूर्धसु द्वौ गुणौ येषा ते (तेषा) द्विगुणाना षोडशानामवन्या मुख्याना श्रेष्ठाना पार्थिवाना भूपाना सहस्रस्य मूर्धसु मस्तकेषु–द्वात्रिंशत्सहस्र-मकुटबद्धानां मस्तकेष्वित्यर्थ । प्रत्यह प्रतिदिनम् । वासचूर्णरुचि वासचूर्णस्य पटवासचूर्णस्य रुचि शोभाम् । चक्रिरे विदधु । डुकृञ् करणे लिट् । उत्प्रेक्षा (?) । ७१ ॥ पूर्वेति । स चक्री । भुवनातिवर्तिना[3] । भुवन लोकमतिवर्तिना अतिक्रम्य वर्तमानेन । पूर्वजन्मकृतपुण्यकर्मणा पूर्वस्मिन् जन्मनि प्राग्भवे कृतेन विहितेन पुण्यकर्मणा शुभकर्मणा 卐 षण्णवत्यचिररोचिरुज्ज्वलस्त्रीसहस्रमुखपद्मषट्पद अचिर रोचि र्यस्या सा अचिर-रोचिर्विद्युन्माला सेवोज्ज्वलाः स्त्रियो वनितास्तासा सहस्र तथोक्त षड्भिरधिका नवति तथोक्ता षण्णवतिवारान्[4]— 卐चिररोचिरुज्ज्वलस्त्रीसहस्र तस्य मुखान्येव पद्मानि कमलानि तेषा षट्पदो भ्रमर ।

करनेवाले विजयार्द्ध पर्वतके वासियोको परास्त किया ॥ ६८ ॥ चक्रवर्ती अजितसेन प्रभुशक्ति, मन्त्रशक्ति और उत्साहशक्ति, इन तीन शक्तियोंसे युक्त है, सूर्यसे कही अधिक तेजस्वी है और उसमे पूरे भरतक्षेत्रके—जिसके छ खण्ड हैं—विजयकी पूर्ण क्षमता है। अत उसके विजयार्द्ध विजयसे क्या आश्चर्य ? ॥ ६९ ॥ नाना प्रकारके रत्नोसे विभूषित भूमि (रत्नगर्भा वसुन्धरा) को अपने वशमे करके चक्रवर्तीने शत्रुओके पराक्रमको हेठा–नीचा कर दिया। उसका वैभव दिन-प्रतिदिन बढ रहा था और उसका वात्सल्य भी सभी लोगोसे हो गया ॥७०॥ अजितसेन प्रतिदिन जब सभा में जाता था तब उसके चरणोकी धूलि बत्तीस हजार प्रमुख राजाओके मस्तकपर सुगन्धित चूर्णकी शोभाको प्राप्त कर रही थी ॥ ७१ ॥ चक्रवर्ती अजितसेन पूर्व सचित लोकातिशायी पुण्यकर्मके निमित्तसे छियानवे हजार बिजुलीके समान

१. =येन । २. =वशीकुर्वन् । ३ =लोकमतिवर्तत इति लोकातिवर्ती, तेन । लोकातिशायिना इत्यर्थ । ४ आ प्रतौ स्वस्तिकान्तर्गत पाठो नोपलभ्यते ।

तस्य मन्थरचतुष्टयाधिकाशीतिलक्षकरिदानकर्दमैः ।
मन्दिराङ्गणमभूदनारतं दुष्प्रलङ्घ्यमघनागमेष्वपि ॥ ७३ ॥
तस्य मारुतविलोलमूर्तिभिर्द्विर्नवोत्तमतुरङ्गकोटिभिः ।
क्षुभ्यति स्म परितश्चमूचयो वीचिपङ्क्तिभिरिवापगापतिः ॥ ७४ ॥
शुद्धकुन्ददलरोचिषां गवामाचितास्तिसृभिरस्य कोटिभिः ।
रेजिरे गहनभूमयो दिशः शारदीभिरिव मेघपङ्क्तिभिः ॥ ७५ ॥
तस्य वारिनिधिवारिमेखला मेदिनी मदनसंनिभाकृतेः ।
सस्यसंपदमसूत वाञ्छितामेकसंख्यहलकोटिवाहिता ॥ ७६ ॥

रूपकम् । अजनिष्ट अजायत । जनैङ् प्रादुर्भावे लुङ् ॥७२॥ तस्येति । तस्य चक्रिण. । मन्दिराङ्गण मन्दिरस्य गृहस्याङ्गणम् । मन्थरचतुष्टयाधिकाशीतिलक्षकरिदानकर्दमैः चतुष्टयेनाधिकाशीति., चतुष्टयाधिकाशीतिवारान् लक्षाणि येषा ते च ते करिणश्च तथोक्ता, मन्थरा मन्दगमनाः ते च ते चतुष्टयाधिकाशीतिलक्षकरिणश्च तथोक्ता. तेषा दान मदजल तस्माज्जात (तैः) कर्दमै पङ्कै । अघनागमेष्वपि ग्रीष्मकालेष्वपि । अनारतम् अनवरतम् । दुष्प्रलङ्घ्य लङ्घितुमशक्यम् । अभूत् अभवत् । ७३॥ तस्येति । तस्य चक्रिण. । चमूचय चम्वा. सेनायाश्चय समूह । मारुतविलोलमूर्तिभिः मारुत इव वायुरिव विलोला चञ्चला मूर्ति. शरीर यासा ताभिः । द्विर्नवोत्तमतुरङ्गकोटिभि द्वौ वारौ नव द्विर्नव उत्तमाश्च ते तुरङ्गाश्च तथोक्ता, उत्तमतुरङ्गाणा कोटयस्तथोक्ता. द्विर्नव च ता उत्तमतुरङ्गकोटयश्च ताभि । वीचिपङ्क्तिभिः वीचीना तरङ्गाणा पङ्क्तिभि समूहै. । आपगापतिः समुद्र. । स इव । सर्वत परित. । क्षुभ्यति स्म चुक्षोभ । क्षुभि सचलने लट् । उत्प्रेक्षा ॥७४॥ शुद्धेति । शुद्धकुन्ददलरोचिषा शुद्धाना निर्मलाना कुन्ददलाना[1] कुन्दपुष्पाणा रोचिरिव रोचिः कान्तिर्यासा तासाम् । गवा धेनूनाम् । तिसृभिः कोटिभि, आचिता व्याप्ता. । अस्य चक्रिण. । गहनभूमय. गहनस्य काननस्य भूमय प्रदेशा । शारदीभि. शरत्कालसवन्धिनीभि. । मेघपङ्क्तिभि. मेघाना जलदाना पङ्क्तिभि समूहै. । दिश. ककुभ इव । रेजिरे राजन्ति स्म । राजृ दीप्तौ लिट् ॥७५॥ तस्येति । मदनसनिभाकृतेः मदनस्य मन्मथस्य सनिभा[2] आकृतिराकारो यस्य तस्य । उपमा । तस्य चक्रिण । एकसख्यहलकोटिवाहिता एका सख्या येषा ते तथोक्ता, एकसख्याना हलाना लाङ्गलाना कोटया वाहिता कृषिता, एककोटिप्रमितहला—इत्यर्थ । वारिनिधिवारिमेखला वारिनिधे समुद्रस्य वार्येव जलमेव मेखला काञ्चि.[3] यस्या सा समुद्रमर्यादा—इत्यर्थ । रूपकम् । मेदिनी भूमिः ।

उज्ज्वल, सुन्दर स्त्रियोके मुखकमलोका रस लेनेके लिए साक्षात् भ्रमर बन गया ॥ ७२ ॥ अजितसेनके यहाँ मन्द गतिसे चलने वाले चौरासी लाख हाथी थे । उनके मदजलसे राजप्रासादके आँगनमे वर्षा ऋतुके बिना भी सदा इतनी अधिक कीच मची रहती थी कि लोगोको वहाँ से निकलना ही कठिन हो गया ॥ ७३ ॥ चक्रवर्तीके यहाँ वायुकी गतिसे चलनेवाले और वायुके समान चञ्चल अठारह करोड घोडे थे । उनके रहनेसे उसकी विशाल सेना चारो लहराते हुए क्षुब्ध समुद्रोंकी भाँति दृष्टिगोचर होती थी । सेना समुद्रकी तरह अपार थी और घोडे उत्ताल तरङ्गो सरीखे – सदा उछल-कूद मचाने वाले ॥ ७४ ॥ उसके यहाँ तीन करोड़ गायें थी । वे निर्मल कुन्दपुष्पके समान धौले रंग की थी । उनसे व्याप्त चरागाहोकी भूमियाँ, शरत्कालीन मेघोसे घिरी हुई दिशाओकी भाँति सुशोभित होती थी ॥ ७५ ॥ वह कामदेवके समान सुन्दर था – उसका आकार कामदेवसे बिल्कुल मिलता-जुलता था । उसके राज्य की सीमा समुद्र पर्यन्त थी—उसके राज्यकी भूमि समुद्रसे घिरी हुई थी । उसकी उपजाऊ जमीन,

१ श कुन्दाना । २ =समाना । ३ =काञ्ची ।

सैन्यनाट्यनिधिरत्नभोजनान्यासनं शयनभाजने[2] पुरम् ।
वाहनेन सममित्यभीप्सितं भोगमाप स दशाङ्गमीश्वरः ॥ ७७ ॥
सोऽधिगम्य वसुधाविशेषकः षोडशामरसहस्रसेव्यताम् ।
नाकनायक इव स्वतेजसा दुःसहेन विततान रोदसीम्[3] ॥७८॥
संकुलं नरनभश्चरामरैराकरैश्च बहुरत्नयोनिभिः ।
म्लेच्छखण्डसहितं स समितैरार्यखण्डमनयद्वशं दिनैः ॥ ७९ ॥
षट्खण्डमण्डितमखण्डमिति[4] प्रचण्डकोदण्डखण्डितरिपुर्भरतं[5] प्रसाध्य ।
प्रत्याजगाम जगतीतिलकः स[6] सम्राडुत्कण्ठमाननिजबन्धुजनामयोध्याम्[7] ॥ ८० ॥

वाञ्छिता समीहिताम् । सस्यसम्पदं सस्यसंपत्तिम् । असूत उदपादयत् । षूङ्[8] प्राणिगर्भविमोचने लङ् ॥७६॥ सैन्येति । ईश्वरः प्रभुः । सः चक्री । सैन्यनाट्यनिधिरत्नभोजनानि सैन्यं सेना तच्च नाट्यं नर्तनं तच्च निधिश्च रत्नानि जीवाजीवभेदानि तानि च भोजनं जेमनं[9] तच्च तथोक्तानि। आसनं सिंहासनम् । शयनभाजने शयनं च भाजनं च तयोक्ते । वाहनेन समं यानेन साकम् । पुरमिति पुरीति । अभीप्सितं वाञ्छितम् । दशाङ्गं दश अङ्गान्यवयवा यस्येति दशाङ्गस्तम् । भोगम्, आप ययौ । आप्लृ व्याप्तौ लिट् ॥७७॥ स इति । वसुधाविशेषकः वसुधाया वसुन्धराया विशेषकस्तिलकः । स चक्री । षोडशामरसहस्रसेव्यतां षोडशस्य [षोडश] अमराणां[10] गणबद्धदेवानां सहस्रेण[11] सेव्यतामाराध्यताम् । अधिगम्य लब्ध्वा । दुःसहेन सोढुमशक्येन । स्वतेजसा स्वस्य तेजसा प्रतापेन । नाकनायक इव नाकस्य स्वर्गस्य नायक इव देवेन्द्र इव । रोदसीं भूम्याकाशे । 'एकयोक्त्या द्यावाभूमी रोदस्यौ रोदसी तथा[12]' इत्यभिधानात् । विततान विस्तारयति स्म । तनूञ् विस्तारे लिट् । उपमा ॥७८॥ संकुलमिति । स चक्री । नरनभश्चरामरैः नरैर्मनुष्यैर्नभश्चरैः विद्याधरैरमरैः देवैश्च । बहुरत्नयोनिभिः बहूनां बहुलानां रत्नानां योनिभिरुत्पत्तिकारणैः । आकरैश्च खनिस्थानैश्च । संकुलं संकीर्णम् । म्लेच्छखण्डसहितं म्लेच्छानां खण्डैर्भागैः । सहितं युक्तम् । आर्यखण्डम् आर्याणां पूज्यपुरुषाणां खण्डम् । समितैः अल्पैरित्यर्थः । दिनैः दिवसैः । वशं स्वाधीनम् अनयत्[13] प्रापयत । णीञ् प्रापणे लङ् । सहोक्तिः (?) ॥७९॥ षट्खण्डेति। प्रचण्डकोदण्डखण्डितरिपुः प्रचण्डेन समर्थेन कोदण्डेन चापेन खण्डिता निरस्ता रिपवः शत्रवो यस्य[14] सः । जगतीतिलकः जगत्या लोकस्य तिलकः श्रेष्ठः । स सम्राट् अजितसेनचक्री । षट्खण्डमण्डितं षट्खण्डैः षड्भागैः मण्डितमलंकृतम् । अखण्डं संपूर्णम् । भरतं भरतक्षेत्रम् । इति उक्तप्रकारेण । प्रसाध्य

जो एक करोड हलोसे जोती जाती थी, इच्छित खाद्य सम्पत्ति उत्पन्न करती थी ॥ ७६ ॥ सारी प्रजा उसे अपना ईश्वर समझती थी। उसके पास सेना, नाट्य, निधि, रत्न, भोजन, आसन, सेज, पात्र, पुर और वाहन ये दस प्रकारके इच्छित भोग थे ॥ ७७ ॥ वह पृथ्वीका तिलक था। सोलह हजार देव उसकी सेवामे उपस्थित रहा करते थे। उसने इन्द्रके समान अपने असह्य तेजसे पृथ्वी और आकाशको व्याप्त कर दिया था ॥ ७८ ॥ उसने थोड़े ही दिनोमे आर्यखण्डको—जो मनुष्य, विद्याधर, देव और नाना प्रकारके रत्नोको उत्पन्न करनेवाली खानोसे व्याप्त था—म्लेच्छखण्ड सहित जीत लिया—पाँच म्लेच्छखण्ड और एक आर्यखण्ड–इस तरह छः खण्डवाले भरतक्षेत्रको अजितसेन चक्रवर्तीने अपने अधीन कर लिया ॥ ७९ ॥ सम्राट्का पराक्रम अप्रतिहत था। उसने अपने भयङ्कर धनुषसे शत्रुओके छक्के छुडा दिये थे।

१. अ आ इ °रत्नभाजना° । २ अ आ इ शयनभोजने । ३ क ख ग घ म रोदसी । ४ अ क ख ग घ म °मखण्डबल. । ५ अ °रिपुनिवरा । ६. आ इ °डुत्कण्ट° । ७ अ °बन्धुरता° । ८ श षूङो । ९ = 'भोजनं जेमनादने' इति हैमः । १०. श षोडशैरमराणां । ११ श प्रतौ 'सहस्रेण' इति नोपलभ्यते । १२ आ रोधस्यौ रोधसी तथा । १३ = षट्पण्डमण्डितामखिलां भरतक्षेत्रमहीमल्पीयसा कालेन जिगायेत्यर्थः । १४ = येन ।

तस्यां वणिक्पथकृताधिकसत्क्रियायां[1] द्वारप्रदेशविनिवेशिततोरणायाम्।
तं कामकल्पवपुषं प्रविशन्तमुच्चैश्चुक्षोभ वीक्ष्य निवहः पुरसुन्दरीणाम् ॥ ८१ ॥
प्रावेशिकानकनिनादविबोधितस्य भूपालमार्गमभिधावनतत्परस्य।
योषिद्गणस्य गुणवानपि संबभूव श्रोण्या सहानभिमतः कुचकुम्भभारः ॥ ८२ ॥
तद्रूपलोकनविलोभितलोचनायाः कस्याश्चिदुद्ग्रथितनीवि नितम्बबिम्बे।
संसक्तमिन्दुरुचिरं दधदन्तरीयं स्वेदाम्बु बुद्धिमदिव स्खलितं ररक्ष ॥ ८३ ॥

साधयित्वा। उत्कण्ठमाननिजबन्धुजना निजस्य स्वस्य बन्धव एव जना, उत्कण्ठमाना द्रष्टुमीहमाना निजबन्धुजना यस्या[2] ताम्। अयोध्या विनीतापुरीम्। प्रत्याजगाम प्रत्यायथौ। गम्लृ गतौ लिट्। रूपकम् (?) ॥८०॥ तस्यामिति। वणिक्पथकृताधिकसत्क्रियाया (सत्क्रियाया) वणिक्पथे विपण्या कृता विहिता अधिका बह्वी सत्क्रिया (सत्क्रिया) यस्या तस्याम्। द्वारप्रदेशविनिवेशिततोरणाया द्वारप्रदेशे विनिवेशिता स्थापितास्तोरणा यस्या[3] तस्याम्। तस्याम् अयोध्यायाम्। प्रविशन्त[4] गच्छन्तम् (प्रवेश कुर्वन्तम्)। कामकल्पवपुष कामस्य मन्मथस्य कल्प समान वपु शरीर यस्य तम्। त चक्रिणम्। पुर-सुन्दरीणा पुरे पुर्यां विद्यमानसुन्दरीणा स्त्रीणाम्। निवह समूह॰। वीक्ष्य दृष्ट्वा। उच्चै अधिकम्। चुक्षोभ सचलित स्म। क्षुभि संचलने लिट्। उपमा ॥८१॥ प्रावेशिकेति[5]। प्रावेशिकानकनिनादविबोधितस्य प्रावेशिके प्रवेशकाले ताडितानामानकाना भेरीणा निनादैर्ध्वनिभिर्विबोधितस्य ज्ञापितस्य। भूपालमार्गं भूपालस्य राज्ञो मार्गं वीथीम्। अभिधावनतत्परस्य अभिधावनेऽभिमुख धावने तत्परस्य[6] प्रीतस्य। योषिद्ग-णस्य योषिता स्त्रीणा गणस्य समूहस्य। कुचकुम्भभारः कुचावेव कुम्भौ तयोर्भार। गुणवानपि कठिन-स्पर्शनादिगुणयुक्तोऽपि[7]। श्रोण्या नितम्बेन। सह साकम्। अनभिमत अनिष्ट। संबभूव समभवति स्म। भू सत्तायां लिट्। रूपकम् (?) ॥८२॥ तद्रूपेति। तद्रूपलोकनविलोभितलोचनाया तस्य चक्रिणो रूपस्य विलोकने दर्शने विलोभिते मोहिते लोचने यस्यास्तस्या। कस्याश्चित् वनिताया। नितम्बबिम्बे नितम्बप्रदेशे। उद्ग्रथितनीवि उद्ग्रथिता शिथिलिता नीवी यस्य तत्। इन्दुरुचिरम् इन्दुरिव चन्द्र इव रुचिर मनोहरम्। उपमा। अन्तरीयम् उपसव्यानवस्त्रम्[8]। ससक्त सबद्धम्। दधत् धरत्। स्वेदाम्बु स्वेदस्य घर्मस्याम्बु जलम्। बुद्धिमदिव बुद्धियुक्तमिव। स्खलित[9] प्रमादम्। ररक्ष पालयति स्म। रक्ष पालने लिट्। उत्प्रेक्षा

वह पृथ्वीका तिलक था—उससे पृथ्वीकी शोभा थी। वह छः खण्डवाले भरत क्षेत्रको जीत-कर अयोध्या लौट आया, जहाँ बन्धुजन उससे मिलनेके लिए उत्सुक थे ॥ ८० ॥ उस नगरीके बाजारोमे खूब सजावट की गई और दरवाजोके ऊपर तोरण (राजस्थानमे अभी भी इस शब्दका प्रयोग होता है) स्थापित किये गये। कामदेव सरीखे सुन्दर अजितसेनको नगरीमे प्रवेश करते देख वहांका स्त्रीवर्ग उतावला हो उठा ॥ ८१ ॥ प्रवेशके शुभ अवसरपर बजनेवाले नगाड़ो-के शब्दसे चक्रवर्तीको सडकपर आया हुआ जानकर स्त्रीवर्ग उसी ओर दौडनेको तत्पर हो गया। इस अवसरपर उसे अपने स्तन और नितम्ब अप्रिय हो गये, यद्यपि दोनो गुणवान् थे—स्तनोमे कठोरता और नितम्बोमे गुरुता थी ॥ ८२ ॥ किसी सुन्दरीके नेत्र अजितसेनके रूपको देखकर उसीमे लुभा गये। गाठ ढीली पड जानेसे उसका अधोवस्त्र—जो चन्द्रमाकी आकृतिकी बूटियोसे सुन्दर था—कमरसे नीचेकी ओर खिसकने लगा, पर पसीनेके जलने उसे नितम्बपर

---

१ अ आ इ °धिकसत्क्रियाया। २ = यस्या। ३ = यस्या। ४. प्रवेश कुर्वन्तम्। ५ आ प्रावेति ब प्रेति। ६. = प्रवणस्य। ७. सद्गुणसमेतोऽपीति ध्वनि। ८ = अधोवस्त्रम्। ९. = वत्पतन।

काचिद्विहाय गृहभित्तिगतं विचित्रं चित्रं गवाक्षवदनाभरणीकृताक्षी ।
तद्रूपदर्शनसमुद्भवमन्यदेव चित्रं स्वचेतसि चकार चकोरनेत्रा ॥ ८४ ॥
कस्याश्चिदन्यजनसंकुलमार्गगाया घर्मोदबिन्दुरुचिरे कुचकुम्भमध्ये ।
जातत्रपेव परभागमनश्नुवाना तुत्रोट हारलतिका लतिकाकृशाङ्ग्याः[1] ॥ ८५ ॥
आर्द्रार्द्रदत्तनवयावकमण्डनेन काचिद्विकासिरुचिराधरपल्लवेन ।
तद्रूपदर्शनसमुत्थममान्तमङ्गे[2] बभ्राम रागमतिरिक्तमिवोद्गिरन्ती ॥ ८६ ॥

॥८३॥ काचिदिति । गृहभित्तिगतं गृहस्य सदनस्य भित्तिं गच्छतिस्म गृहभित्तिगतम्—कुड्यगतम् । विचित्रं नानाविधम्[3] । चित्रं[4] रचनाम् । विहाय त्यक्त्वा । गवाक्षवदनाभरणीकृताक्षी गवाक्षस्य वातायनस्य मुखस्य[5] आभरणीकृते[6] अलङ्कारविहिते अक्षिणी नयने यस्याः[7] सा । चकोरनेत्रा चकोर इव नेत्रे यस्याः सा । उपमा । काचित् कापि स्त्री । तद्रूपदर्शनसमुद्भवं तस्य चक्रिणो रूपस्य दर्शने वीक्षणे[8] समुद्भवं सञ्जातम् । अन्यदेव भिन्नमेव । चित्रं[9] रचनाम् विस्मयं च । स्वचेतसि स्वचित्ते । चकार करोति स्म । डुकृञ् करणे लिट् ॥८४॥ कस्या इति । अन्यजनसंकुलमार्गगायाः अन्यैः शेषैर्जनैः संकुलं संकीर्णं मार्गं पन्थानं गच्छतीत्यन्यजनसंकुलमार्गगा तस्याः । लतिकाकृशाङ्ग्याः लतिकेव कृशमङ्गं यस्यास्तस्याः । 'असंहृनत्—'इत्यादिना ङी । कस्याश्चित् एकस्या नार्याः । घर्मोदबिन्दुरुचिरे घर्मोदस्य स्वेदोदकस्य बिन्दुभी रुचिरे मनोहरे । कुचकुम्भमध्ये कुचावेव कुम्भौ तयोर्मध्ये मध्यप्रदेशे । परभागं शोभाम् । 'भागो रूपार्धके प्रोक्तो भागधेयैकदेशयोः ।' 'परं स्यादुत्तमानात्मवैरिदूरेषु केवलः ।' इत्युभयत्रापि विश्वः । अनश्नुवाना अलभमाना । हारलतिका हार एव लतिका । रूपकम् । जातत्रपेव जातलज्जेव । तुत्रोट भनक्ति स्म । त्रुटति स्म । त्रुट छेदने लिट् । उत्प्रेक्षा ॥८५॥ आर्द्रेति । काचित् एका वनिता[10] । आर्द्रार्द्रदत्तनवयावकमण्डनेन आर्द्रमार्द्रं दत्तं लिप्तं नवं नूतनं यावकमण्डनं यस्य[11] तेन । विकासिरुचिराधरपल्लवेन अधर एव ओष्ठ एव पल्लवस्तथोक्तः, विकासिना रुचिरेणाधरपल्लवेन । तद्रूपदर्शनसमुत्थं तस्य चक्रिणो रूपदर्शनेन समुत्थमुत्पन्नम् । अङ्गे शरीरे । अमान्तम् असमितम् । अतिरिक्तम् अतिक्रान्तम् । रागमिव अनुरागमिव[12] । उद्गिरन्तीव उद्वमन्तीव । बभ्राम चचाल ।

ही रोककर एक बुद्धिमान् पुरुष की भाँति पतनसे बचा लिया ॥ ८३ ॥ एक चकोराक्षी नायिका अपने घरकी दीवारपर एक आश्चर्यकारी सुन्दर चित्र बना रही थी, उसे छोडकर वह खिडकीके पास जाकर खडी हो गई । उनके नेत्रोसे खिडकीकी शोभा बढ गई । चक्रवर्तीको देखते ही उसके मनमे दूसरा ही चित्र आ गया । और दीवारके चित्रसे मनका चित्र कही सुन्दर है, यह सोचकर उसके मनमे चित्र (आश्चर्य) भी उत्पन्न हो गया ॥ ८४ ॥ अजितसेनके दर्शनोके लिए छरहरे वदनकी कोई युवती बहुत ही भीडभरे रास्तेसे चली जा रही थी । जाते-जाते वह पसोनेसे सराबोर हो गई । पसोनेकी बिन्दुओसे स्तनकलशोका मध्यभाग बहुत ही सुन्दर प्रतीत होने लगा । वहीपर एक लडीका हार भी लटक रहा था, पर पसीनेकी बिन्दुओकी सुषमाके सामने उसकी सुषमा फीकी पड गई, मानो इसी कारणसे वह लज्जित होकर सहसा टूट गया ॥ ८५ ॥ शीघ्रतावश एक नायिका पैरोमे लगाने योग्य महावरको अपने सुन्दर होठपर लगाकर अजितसेनको देखनेके लिए चल पडी । अजितसेनको देखते समय भी उसके होठपर लगा हुआ महावर गोला था और नीचेकी ओर फैलता जा रहा था । अतएव ऐसा जान पडता था मानो उसके देखनेसे उत्पन्न हुए रागको – जो उसके शरीरमे समा

१ अ क ख ग घ म सहसा कृशा° । २ अ क ख ग घ म °मान्तमन्त° । ३ = विलक्षणम् । ४. = चित्ररचनाम् । ५ = ऊर्ध्वभागस्येत्यर्थ. । ६. = मण्डनीकृते । ७ = यया । ८ = दर्शनाद् वीक्षणात् । ९. = आलेख्य-रचना । १० श 'एका वनिता' इति नास्ति । ११ = यत्र । १२ = रागम् अनुरागम् ।

अन्योन्यसंहतकराङ्गुलिबाहुयुग्ममन्या निधाय निजमूर्धनि जृम्भमाणा।
तद्दर्शनात्प्रविशतो हृदये स्मरस्य माङ्गल्यतोरणमिवोत्क्षिपती रराज ॥ ८७ ॥
संभावितैकनयना रुचिराञ्जनेन तद्रिक्तमेव दधतीक्षणमन्यदन्या।
लोकस्य सस्मितविलोकनकारिणोऽर्धनारीश्वरस्मरणकारणतां जगाम ॥८८॥
वस्त्रं गलद्विगतनीवितया दधाना रोमोद्गमोपचयगाढतया रुजन्ती।
विस्रस्तकेशनियमाकुलिताग्रपाणेर्द्वेष्या प्रिया च समभूद्रशना परस्याः ॥ ८९ ॥

भ्रमु चलने लिट्। उत्प्रेक्षा ॥८६। अन्योन्येति। अन्योन्यसंहतकराङ्गुलिबाहुयुग्मम् अन्योन्यं संहताः संयुक्ता कराङ्गुलयो यस्य तद् बाह्वोर्भुजयोर्युग्म,[1] अन्योन्यसहित कराङ्गुलिबाहुयुग्म यस्मिन् तत्। निजमूर्धनि स्वमस्तके। निधाय संस्थाप्य। जृम्भमाणा गात्रविनाम कुर्वन्ती[2]। अन्या एका स्त्री। तद्दर्शनात् तस्य चक्रिणो दर्शनात्। हृदये चित्ते। प्रविशत अन्तर्गच्छत। स्मरस्य मारस्य। माङ्गल्यतोरण माङ्गल्याय मङ्गलनिमित्त वर्तमान तोरण वन्दनमालाम्। उत्क्षिपतीव नयन्तीव। रराज बभौ। राजृ दीप्तौ लिट्। उत्प्रेक्षा ॥८७॥ संभावीति। रुचिराञ्जनेन रुचिरेण मनोहरेणाञ्जनेन नेत्राञ्जनेन। संभावितैकनयना संभावित सत्कृतम्[3] एक नयन यस्या सा। तद्रिक्तमेव तेनाञ्जनेन रिक्तमेव[4]। अन्यत् एकम्[5]। दधती धरन्ती। अन्या एका नारी। सस्मितविलोकनकारिण सस्मितमीषद्धसनसहित विलोकनकारिणो दर्शनकारिण[6] लोकस्य जनस्य। अर्धनारीश्वरस्मरणकारणताम् अर्धनारे. अर्ध नारीरूपयुक्तस्य ईश्वरस्य स्मरणस्य कारणता हेतुत्वम्। जगाम ययौ। गम्लृ गतौ लिट्। उत्प्रेक्षा ॥८८॥ वस्त्रमिति। विधृतनीवितया [विगतनीवितया] विधृतया नीवितया (विगता विस्रस्ता नीविर्वस्त्रग्रन्थिस्तस्या भावस्तया)। गलत् पतत्। वस्त्र वसनम्। दधाना धरन्ती। रोमोद्गमोपचयगाढतया रोम्णा तनूरुहाणामुद्गमस्य (मेन) गाढतया दृढतया। रुजन्ती तुदन्ती। रशना काञ्ची। विस्रस्तकेशनियमाकुलिताग्रपाणि. (णे) विस्रस्ताना शिथिलिताना केशाना मूर्धजाना नियमे बन्धने आकुलितो व्यापारितोऽग्रपाणि यस्या सा (यया सा तस्या)। अपरस्या. अन्यस्या। द्वेष्या कोपनीया (द्वेषविषया, अप्रिया—इत्यर्थ)। प्रिया च (तद्विपरीता च)। समभूत्

नहीं रहा था—बाहर निकाल रही हो ॥ ८६ ॥ कोई स्त्री अंगुलियोमे अगुलियाँ डालकर दोनो बाहुओको सिरपर रख करके जँभाई ले रही थी। अतएव ऐसा जान पडता था मानो अजितसेनको देखकर हृदयमे प्रवेश करनेवाले कामदेवके लिए वह ऊपर मङ्गल तोरण उठा रही हो। इस अवसरपर उसकी शोभा देखते ही बनती थी ॥ ८७ ॥ शीघ्रतावश एक स्त्री अपनी एक आँखमे सुन्दर अञ्जन आंज कर और दूसरीको बिना आंजे ही सम्राट्के दर्शनोंके लिए दौड़ी चली गई। उसे आश्चर्यके साथ देखनेवालोको वह अर्धनारीश्वरका स्मरण दिलानेमे कारण बन गई—उसे देखकर दर्शकोको अर्धनारीश्वरकी याद आ गई। अर्धनारीश्वरके वामभागमे पार्वती और दक्षिण भागमे शिवजी हैं ॥ ८८ ॥ एक युवती अपने बालोको सँवार रही थी, पर चक्रवर्तीके आनेके समाचारको सुनकर वह बिखरे हुए बालोको एक हाथसे पकडकर दौड़ी चली जा रही थी। दौड़नेसे उनका वस्त्र नीचे गिरने ही वाला था, पर उसकी गाँठ करधनीमे फँसी हुई थी, इसलिए गिर नही सका। फलत नायिकाको वह करधनी बडी प्रिय लगी। चक्रवर्तीको देखते ही उसे रोमाञ्च हो आया, जिससे करधनी कमरमें कसने लगी और उसे पीडा देने लगी। इसीलिए करधनी उसे द्वेष्य भी बन गई। वस्त्रको गिरनेसे

१. पुनलग्न्। २ आ कुर्वती। ३. = सत्कृतमञ्जित वा। ४. = अनञ्जितमेव। ५. = द्वितीयमिति भाव। 'संख्ये हि पूर्व मनुष्या अञ्जते' इति वचनात्। ६. = तस्मैर विलोकयत —इत्यर्थ।

कादम्बरीमद इवाशयसंप्रमोहं संस्कारनाश इव च स्मृतिविप्रमोषम् ।
कुर्वन्प्रभञ्जन इवाखिलदेहभङ्गं चिक्रीड तासु मदनो ग्रहतुल्यवृत्तिः ॥ ९० ॥

इत्थं नारीः क्षणरुचिरुचः क्षोभयन्नीतिदक्षः क्षीणक्षोभः क्षपितनिखिलारातिपक्षोऽम्बुजाक्षः ।
क्षोणीनाथो विनिहितमहामङ्गलद्रव्यशोभं प्रापत्तेजोविजिततपनो मन्दिरद्वारदेशम् ॥ ९१ ॥

प्रविश्य भवनान्तरं क्षणचतुष्कमध्यस्थितः प्रतीक्ष्य जरतीकृतं कुशलमङ्गलारोपणम् ।
नमन्नपि स पादयोर्गुरुजनस्य बद्धाञ्जलिर्बभूव भृशमुन्नतो यदिदमद्भुतादद्भुतम् ॥ ९२ ॥

समभवत् । भू सत्तायां लुङ् । शिथिलतया द्वेष्या शृङ्गारतया प्रीता – इत्यर्थः ॥८९॥ कादम्बरीति । कादम्बरीमद इव कादम्बर्या मद्येन जातमद इव उन्माद इव । आशयसंप्रमोहम् आशयस्य चित्तस्य संप्रमोहं भ्रान्तिम् (मूर्छां वैचित्यं वा) । संस्कारनाश इव संस्कारस्य धारणाज्ञानस्य नाश इव विनाश इव । च. समुच्चयाय । स्मृतिविप्रमोषं स्मृतेः स्मरणस्य विप्रमोषं भ्रंशम् । प्रभञ्जन इव वायुरिव (वातरोग इव) । अखिलदेहभङ्गम् अखिलानां सर्वेषां देहभङ्गं कम्पनम् । कुर्वन् विदधत् । मदनः कामः । ग्रहतुल्यवृत्तिः ग्रहेण भूतेन तुल्या समाना वृत्तिर्यस्य सः, सन् । तासु वनितासु । चिक्रीड विजहार । क्रीड्[1] विहारे लिट् । उपमा ॥९०॥ इत्थमिति । नीतिदक्षः नीत्यां नीतिशास्त्रे दक्षः प्रवीणः । क्षीणक्षोभः क्षीणो नष्टः क्षोभश्चित्तविक्षेपो यस्य सः । क्षपितनिखिलारातिपक्षः क्षपितो निराकृतो निखिलानां समस्तानामरातीनां पक्षो येन सः । अम्बुजाक्षः अम्बुजे[2] कमलमिवाक्षिणी यस्य सः । तेजोविजिततपनः तेजसा प्रतापेन विजितो निराकृतस्तपनः सूर्यो यस्य[3] सः । क्षोणीनाथः क्षोण्या भूम्या नाथः प्रभुः । क्षणरुचिरुचः क्षणरुचिरिव विद्युदिव रुक् कान्तिर्यासां ताः[4] । नारीः पुरवनिताः । इत्थम् अनेन प्रकारेण । क्षोभयन् विकारयन् । विनिहितमहामङ्गलद्रव्यशोभं विनिहितानां[5] महामङ्गलद्रव्याणां प्रशस्तपूर्णकुम्भादिमङ्गलवस्तूनां शोभा यत्र तम्[6] । मन्दिरद्वारदेशं मन्दिरस्य राजसदनस्य द्वारस्य देशं प्रदेशम् । प्रापत् अगमत् । आप्लृ व्याप्तौ लुङ् । 'सर्तिशास्ति—' इत्यङ्प्रत्ययः । उपमा ॥९१॥ प्रविश्येति । स चक्री । भवनान्तरे सदनमध्ये । प्रविश्य गत्वा । क्षणचतुष्कमध्यस्थितः सन् क्षणस्योत्सवस्य चतुष्कस्य मण्डपस्य मध्ये मध्यप्रदेशे स्थितः सन् । जरतीकृतं जरत्या वृद्धया कृतं रचितम् । कुशलमङ्गलारोपणं कुशलस्य क्षेमकरणस्य मङ्गलस्यारोपणं नीराजनम्[7] प्रतीक्ष्य प्रतिपाल्य, गृहीत्वा—इत्यर्थः । बद्धाञ्जलिः सन् बद्धो रचितोऽञ्जलिर्येन सः । गुरुजनस्य शिष्टजनस्य । पादयोः

बचाया, इसलिए प्रिय, और रोमञ्चसे कसने लगी, अतः द्वेष्य ॥ ८९ ॥ चक्रवर्तीको देखकर स्त्रियोमे काम उत्पन्न हो गया । उस (कामदेव) ने शरावके नशेके समान उनके हृदयमे बेहोशी-सी उत्पन्न कर दी, संस्कारनाशकी तरह उसने उनकी स्मृतिको नष्ट कर दिया—वे अपनी सुध-बुध खो बैठी, वायुकी भांति उसने उनके शरीरमे कम्पन उत्पन्न कर दिया और वह उनमे ग्रह-भूतकी तरह क्रीडा करने लगा ॥९०॥ सम्राट् अजितसेन नीतिनिपुण था, उसके मनमे कभी क्षोभ नही होता था, उसने शत्रुओकी पार्टियाँ समाप्त कर दी थी, उसके लोचन कमल-सरीखे थे, उसने अपने प्रतापसे सूर्यको परास्त कर दिया था, और वह समस्त पृथ्वीका स्वामी था । राजमार्गमे चलते समय देखनेवाली स्त्रियोके मनमे उसने विकार उत्पन्न कर दिया था । धीरे-धीरे वह राजमहलके द्वार तक—जहाँ रखे गये बडे-बडे मगल कलश आदि मागलिक वस्तुओसे शोभा बढ गयी थी—पहुँच गया ।।९१।। राजमहलके अन्दर जाकर अजितसेन मगल चौकके बीचमे बैठ गया । फिर वृद्धाओने आरती उतारकर उसके ऊपर मागलिक अक्षतोका प्रक्षेप किया, जिसे उसने सादर स्वीकार किया । फिर उसने हाथ जोडकर गुरुजनोके चरणोमे प्रणाम किया । चरणोमे

-१. आ क्रीड । २ = अम्बुजं कमलं तद्वदक्षिणी यस्य स । ३. = येन । ४. आ यस्य स । ५ = स्थापितानां । ६ श यस्य स तम् । ७ = मङ्गलाक्षतप्रक्षेपं वा ।

कृतचरणनमस्क्रियास्तदाज्ञां सह मुकुटेन शिरोभिरुद्वहन्तः ।
नृपखचरगणा यथायथं ते ययुरपरेऽह्नि रथाङ्गिना विसृष्टाः ॥ ९३ ॥
दिव्यान्दिव्याकारकान्तासहायो भोगान्भोगी निर्विशन्निर्विशङ्कः ।
राज्यं राज्यभ्रंशितारातिलोकश्चक्रे चक्री पूर्वपुण्योदयेन ॥ ९४ ॥

इति श्रीवीरनन्दिकृतावुदयाङ्के चन्द्रप्रभचरिते महाकाव्ये सप्तमः सर्गः ॥ ७ ॥

चरणयो । नमन्नपि नमस्यन्नपि । भृशम् अत्यन्तम् । उन्नत उत्तुङ्ग. । बभूव भवति स्म । यदिदम् इद कार्यम्[1] । अद्भुतात् आश्चर्यात् । अद्भुतम् आश्चर्यम् । विरोध ।९२।। कृतेति । कृतचरणनमस्क्रिया कृता विहिताश्चरणयोः पादयो र्नमस्क्रिया यैस्ते । तदाज्ञा तस्य चक्रिण आज्ञाम् । मुकुटेन मौलिना । सह साकम् । शिरोभि मस्तकै । उद्वहन्त धरन्त । ते नृपखचरगणा. नृपाणा भूपाना खचराणा[2] गणा समूहा । यथायथ स्वस्वस्थानम् । परेह्नि परेद्यु । रथाङ्गिना चक्रिणा । विसृष्टा सन्त. विसर्जिता सन्त. । ययुः प्रापुः । या प्रापणे लिट् ।।९३।। दिव्यानीति । दिव्याकारकान्तासहाय. दिव्यो मनोहर आकारो यासा ता, ताश्च ता कान्ताश्च, ता एव सहायो यस्य सः (तासा सहायः) । भोगी दशाङ्गभोगी । दिव्यान् मनोहरान् भोगान् । निर्विशन् अनुभवन् । निर्विषादः सक्लेशरहित [निर्विशङ्कः निःशङ्क] । राज्यभ्रंशितारातिलोक राज्याद् भ्रंशितो निराकृत अरातयः शत्रव त एव लोको यस्य स. (निराकृतोऽरातीना शत्रूणा लोको वर्गो येन स) । चक्री सार्वभौमः । पूर्वपुण्योदयेन पूर्वस्य जन्मान्तरसपादितस्य पुण्यस्योदयेन । राज्यं साम्राज्यम् । चक्रे विदधे । डुकृञ् करणे लिट् । रूपकम् (?) ।।९४।।

इति वीरनन्दिकृतावुदयाङ्के चन्द्रप्रभचरिते महाकाव्ये तद्व्याख्याने च विद्वन्मनो-
वल्लभाख्ये सप्तम. सर्गः ॥७॥

अवनत होता हुआ भी वह उस समय बहुत अधिक उन्नत हो रहा था, यह अत्यन्त हो आश्चर्यजनक बात हुई ।।९२।। इस शुभ अवसरपर जो राजे-महाराजे और विद्याधर लोग सामूहिक रूपमे अजितसेनके यहाँ पधारे थे, वे एक दिन ठहरकर दूसरे दिन अजितसेनके चरणोमे प्रणाम करके और उनकी आज्ञाको अपने-अपने सिरपर मुकुटके साथ धारण करके उससे बिदाई लेकर अपने-अपने घर चले गये ।।९३।। पूर्वोपार्जित पुण्यकर्मके उदयसे अत्यन्त सुन्दर छियानवै हजार सुन्दर स्त्रियाँ अजितसेनकी सगिनी बनी, भोगनेको दिव्य भोग प्राप्त हुए, और प्रजाको सतानेवाले उद्दण्ड शत्रुओको राज्यसे च्युत या निर्वासित कर देनेसे वह शंकाओसे मुक्त हुआ । इस तरह भीतरी और बाहरी परिस्थितिकी अनुकूलतामे वह राज्यका सचालन करने लगा ।।९४।।

इस तरह श्री वीरनन्दीकृत उदयाङ्क चन्द्रप्रभचरित महाकाव्यमें
सातवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।।७।।

---

१ श शौर्यम् । २. =विद्याधराणा ।

[८. अष्टमः सर्गः]

तत्र शासति महीं जनतायास्त्रातरि क्रमसरोजनतायाः ।
मोदयन्मधुरभून्मधुपानां संततिं [1]कृतगलन्मधुपानाम् ॥ १

संहतिं नवनवाङ्कुरलीनां नेक्षितुं तरुषु शेकुरलीनाम् ।
साश्रुभिर्विरहिणो रमणीयैर्लोचनैरपहृता रमणी यैः ॥ २ ॥

अस्मरत्पतति चम्पकरेणौ वल्लभां कुसुमचापकरेणौ ।
अध्वगो विधुरधीरमराणां कामिनीमिव मनोरमराणाम् ॥ ३ ॥

सद्दृष्टिबोधचरितात्मकधर्मनाथ श्रीधर्मनाथजिनपो जगदेकनाथ ।
धर्मामृत त्रिजगता सुखद प्रवर्षन् यो धर्मशीलमखिल सुजन करोतु [2] ॥

तत्रेति । क्रमसरोजनतायाः क्रमौ पादौ तावेव सरोजे कमले तयोर्नता प्रणता तस्याः । जनतायाः जनसमूहस्य । 'ग्रामजनबन्धुगजसहायात्तल्' इति समूहे तल्-प्रत्यय । त्रातरि रक्षितरि । 'कृत्कामुकस्य—' इत्यादिना कर्मणि षष्ठी । तत्र तस्मिन् चक्रिणि । महीं भूमिम् । शासति पालयति सति । कृतगलन्मधुपानां गलच्च तन्मधु च गलन्मधु स्रवत्पुष्परसः तस्य पान गलन्मधुपान कृत गलन्मधुपान यया सा कृतगलन्मधुपाना ताम् । मधुपाना भ्रमराणाम् । संहतिं निवहम् । मोदयन् संतोषयन् । मधु वसन्तकाल । अभूत् लब्धावसरोऽभवत् । रूपक यमक (च) ॥१॥ संहतिमिति । साश्रुभि नेत्रोदकसहितैः । रमणीयैः मनोहरैः । यैः कैश्चित् । लोचनैः नयनैः । रमणी नारी । अपहृता रञ्जिता । तैः इत्यध्याहार. । तरुषु वृक्षेषु । नवनवाङ्कुरलीना नवेषु नवेषु नूतनेषु नूतनेषु, 'वीप्सायाम्' इति द्वि , अङ्कुरेषु मुकुलेषु लीना स्थगिताम् । अलीना मधुकराणाम् । संहतिं समूहम् । ईक्षितुम् आलोकितुम् । विरहिण वियोगिन । न शेकु समर्था न भवन्ति स्म । शक्लृ शक्तौ लिट् ॥२॥ अस्मरदिति । कुसुमचापकरे कुसुममेव चाप यस्य तस्य कामस्य करे हस्ते [3] । अणौ सूक्ष्मे । चम्पकरेणौ चम्पकस्य हेमपुष्पस्य रेणौ धूल्याम् । पतति गलति सति । विधुरधी· विधुरा सदुःखा धीर्बुद्धिर्यस्य (स) । अध्वग पथिक । अमराणा देवानाम् । कामिनीमिव रमणीमिव । मनोरमराणा मनोरमो राणो ध्वनिर्यस्यास्ताम् । वल्लभा वनिताम् । अस्मरत् स्मरति स्म । स्मृ चिन्तायां

चक्रवर्ती अजितसेनके शासन करनेपर सारी जनता उनके चरणोमे झुक गयी, और वह भी बडी तत्परतासे उसकी रक्षा करने लगा। मानो उसके शासनसे प्रभावित होकर ऋतुराज वसन्त भी भौंरोको सन्तुष्ट करता हुआ प्रकट हुआ। ऋतुराजने सभी प्रकारके फूलोको विकसित कर दिया। खिले हुए फूलोसे रस बहने लगा, और भौंरोने उसे पीना शुरू कर दिया ॥१॥ युवकोंने अपने जिन सजल सुन्दर नेत्रोसे पहले युवतियोका आवर्जन और मनोरजन किया था, वे युवक विरही होकर आज वसन्तके इन दिनोमे उन्ही नेत्रोसे, वृक्षोंके ऊपर नयी-नयी कलियोमे छिपकर बैठी हुई भ्रमर-पक्तिको न देख सके ॥२॥ चम्पक वृक्षकी कामोद्दीपक सूक्ष्म परागको झडते देख, एक पथिकका मन बेचैन हो उठा, और उसे अपनी देवागना-सी मधुरभाषिणी प्रियाकी

---

१ अ 'कृत' इति नोपलभ्यते । २ आ प्रतौ पद्यमिद नास्ति । ३ = कामोत्पादके ।

विभ्रती मधुकरं कलिकालं नागकेसरतरोः कलिकालम् ।
मन्मथार्तिमकरोद्वनितानां चित्तनाथवसतावनितानाम् ॥ ४ ॥
पुष्पमम्बुरुहनाम धुनाना भृङ्गपङ्क्तिरदती मधु नाना ।
कामिनीजनमनोऽभिनदन्तः कोकिलाश्च परितोऽभिनदन्तः ॥ ५ ॥
वीक्ष्य जातमुकुलं सहकारं कामिनी प्रणयिना सह कारम् ।
पञ्चसायकशरैर्विततातान प्रीतिकारि सुरतं वितताना ॥ ६ ॥
शीतलो वनभुवामनिलोऽलं स्त्रीजनं दयितधामनि लोलम् ।
उत्कयन्प्रविकसत्कमलास्यं पल्लवं प्रविदधे कमलास्यम् ॥ ७ ॥

लङ् ॥३॥ बिभ्रतीति । कलिकाल कलिरिव कलिकाल इव कालः कृष्णवर्णस्तम् । मधुकर भ्रमरम् । बिभ्रती धरन्ती । नागकेसरतरो पुन्नागवृक्षस्य । कलिका कोरक । चित्तनाथवसतौ चित्तनाथस्य प्राणकान्तस्य वसतौ सदने । 'वसती रात्रिवेश्मनो' इत्यमर. । अनिताना यन्ति स्म इता (न इता) अनिताः तासाम् । अयातानाम्[1] । वनिताना स्त्राणाम् । मन्मथार्ति मन्मथस्य मदनस्यार्ति पीडाम् । अल नितान्तम् । अकरोत् अकार्षीत् । डुकृञ् करणे । उपमा ॥४॥ पुष्पमिति । अन्त वनमध्ये । अम्बरुहनाम अम्बुरुहमिति कमलमिति नाम यस्य तत् । पुष्प कुसुमम् । धुनाना धुनीते इति धुनाना कम्पयन्ती । नाना बहुप्रकारम् । 'नानानेकोभयार्थयोः' इत्यमर । मधु पुष्परसम् । 'मधु मद्ये पुष्परसे क्षौद्रेऽपि' इत्यमर । अदती पिबती । भृङ्गपङ्क्तिः भृङ्गाणा मधुकराणा पङ्क्तिः सदोह । कामिनीजनमनः कामिन्येवजन.[2] तस्य मनश्चित्तम् । रूपकम् (?) । अभिनत्[3] भेदयति स्म । भिदृञ् विदारणे लङ्[4] । परित समन्तात् । अभिनदन्त ध्वनन्त । कोकिलाश्च परभृताश्च । च—शब्दबलेन कामिनीजनमनोऽनिन्दन् इत्यन्वीयते ॥५॥ वीक्ष्येति । जातमुकुल जात मुकुल यस्य[5] तम् । सहकार चूततरुम् । वीक्ष्य दृष्ट्वा । पञ्चसायकशरै पञ्चसायकस्य मन्मथस्य शरैर्बाणै. । अर नितान्तम् । वितता व्याप्ता । [का]कामिनी [का]रमणी । प्रीतिकारि प्रियविधायि । सुरत निधुवनम् । प्रणयिना प्राणनायकेन । सह साकम् । न वितताान न चकार । अपि तु वितताान—इत्यर्थ ॥६॥ शीतल इति । प्रविकसत्कमलास्य प्रविकसत्कमलमिवास्य मुख यस्य तम् । दयितधामनि दयितस्य पुरुषस्य धामनि सदने । लोल लम्पटम् । 'लोलश्चलसतृष्णयो' इत्यमर । स्त्रीजन वनिताजनम् । अल नितान्तम् । उत्कण्ठयन् उत्सुक कुर्वन् । वनभुवा वने भवन्ति स्म वनभुवस्तेषाम्, वृक्षाणा सबन्धी इति शेष । शीतल शैत्यगुणयुतः । अनिल. मारुत[6] । क पल्लव, विट च । 'पल्लव किसलये षिड्गे विटपे विस्तरे जवे । शृङ्गारेऽलक्तरागेऽपि' इति विश्व. । अलास्य नृत्यरहितम् । अपि तु सलास्य प्रविदधे एव । उपमा

याद आने लगी ॥३॥ कलिकालके समान काले भौंरेको धारण करनेवाली नागकेसरकी कलीने उन युवतियोके मनमे काम पीडा उत्पन्न कर दी, जो अपने प्राणनाथके घर नही पहुँच सकी ॥४॥ बाग-बगीचोके अन्दर कमलोको हिलानेवाली और उनके नाना प्रकारके रसको पीनेवाली भ्रमरपक्तिने एव चारो ओर 'कुहू-कुहू' शब्द करनेवाली कोकिलाओने नायिकाओके हृदयको कुरेदना या विदीर्ण करना शुरू कर दिया ॥५॥ एक आमके पेडको—जिसपर चारो ओरसे बौर लगी हुई थी—देखते ही कामदेवके बाणोके प्रहारसे पीडित हुई किस नायिकाने अपने पतिके साथ अतिमात्रामे सुखद सम्भोग नही किया ? ॥६॥ जिनका चेहरा खिले हुए कमलके समान था और जो पतिके यहाँ जानेके लिए लालायित थी, उन युवतियोको वनकी ठडी हवाने और भी अधिक उत्सुक कर दिया, तथा उस (हवा) ने किस कामी पुरुषको नृत्यसे अछूता छोड़ा, और

१ = इत्यर्थ. । २ = कामिनीना जनो वर्ग । ३ = भिनत्ति स्म । ४ आ श लुट् । ५ = यस्मिन् । ६ श प्रतौ 'अनिल मारुत' इति नोपलभ्यते ।

तापकृत्कुरवकः[1] स्तवकेन हेतुना न नमितस्तव केन ।
प्रावसो य[2] इति नो किल नादः पान्थमभ्यधित[3] कोकिलनादः ॥ ८ ॥
योऽभवत्प्रियतमै सह मानस्तं पुरंध्रिनिवहोऽसहमानः ।
वायुनाम्रजसा शवलेन प्रत्यबाध्यत रतीशवलेन ॥ ९ ॥
याः प्रसूनविगलन्मधुरागास्तेनिरे [4]मधुलिहो मधुरा गाः ।
प्रोषितस्य सकलं विषमाभिर्हृद्यवस्तु विदधे विषमाभिः ॥ १० ॥
अप्यनारततपोनियतीनां तान्यजायत दिनानि यतीनाम् ।
मानस प्रविकसत्कुसुमेषु वीक्षितेषु सुरभे[5] कुसुमेषु ॥ ११ ॥

॥७॥ तापेति । य त्वम् । प्रावस परदेशस्थितोऽभव । वस निवासे लङि मध्यमपुरुष । स्तवकेन पुष्पसमूहेन । नमित नम्रीभूतः, प्रह्वीभूत —इत्यर्थ. । कुरबक कुरबकवृक्ष । तव 'यमकश्लेषचित्रेषु बवयोर्डलयो[6] र्न भित्[7] ।' इति वचनात् तव—इत्यर्थ । केन हेतुना कारणेन । तापकृत् सतापकृत् । न इति न भवतीति । अद इत्येतत्, वार्ताम् (वचनम्) इत्यर्थ । कोकिलनाद कोकिलस्य नाद. स्वर । पान्थ पथिकम् । 'नित्य ण पन्थश्च' इति पन्थादेश । नो न अभ्यधित नावोचदिति नो, अपि त्ववोचदेव । द्वौ नञौ प्रकृतमर्थं द्योतयत ॥८॥ य इति । प्रियतमै प्राणवल्लभै । सह साकम् । यः मान गर्व । अभवत् अभूत् । भू सत्ताया लङ् । त मानम् । असहमान अक्षममाण । पुरन्ध्रीनिवह पुरन्ध्रीणा सुचरितस्त्रीणा निवह । आम्ररजसा आम्रस्य माकन्दस्य रजसा पासुना । शवलेन मिश्रेण । रतीशबलेन रतीशस्य बलेन सहायेन । वायुना मन्दमारुतेन । प्रत्यबाध्यत प्रापीड्यत । बाधृङ् रोधने[8] कर्मणि लङ् । मन्दमारुतेन कामिनीना बाधा जाना—इत्यर्थ ॥९॥ या इति । प्रसूनविगलन्मधुरागा प्रसूनाद् विगलत् स्रवत् तच्च तत् मधु च तत्र राग· प्रीतिर्येषा ते । मधुलिह भृङ्गा । याः मधुरा मनोहरा । गा झङ्कार[9] रवान् 'स्वर्गेषुपशुवाग्वज्रदिङ्नेत्रघृणिभूजले । लक्ष्यदृष्ट्या[10] स्त्रिया पुसि गौ ।' इत्यमर । तेनिरे विस्तारयन्ति[11] स्म । विषमाभि तीव्राभि । आभि गोभि । झङ्काररवै·—इत्यर्थ । प्रोषितस्य देशान्तरगतस्य । सकल समस्तम् । हृद्यवस्तु मनोज्ञस्रक्चन्दनादिवस्तु । विष विषरूपम् । अनिष्टम्—इत्यर्थ । विदधे क्रियते स्म । डुधाञ् धारणे च[12] कर्मणि लिट[13] ॥१०॥ अपीति । सुरभे वसन्तस्य, वृक्षविशेषस्य वा । 'चम्पकस्वर्णसुगन्धवसन्तपशुमनोज्ञेषु सुरभि ' इति नानार्थकोशे । कुसुमेषु पुष्पेषु । वीक्षितेषु विलोकितेषु सत्सु । अनारततपो·

तो और नये-नये पत्तोको भी नृत्यसे मुक्त नही रहने दिया—वे हिलने लगे ॥७॥ कोकिल अपने शब्दोमे पथिकसे कही यह बात तो नही कह रहा था कि गुच्छोसे झुका हुआ यह कुरबक वृक्ष किस कारण तुम्हे सन्तापकारी नही हुआ जो तुम अपनी प्रियाको छोडकर अकेले ही प्रवासमे निकल पडे हो ॥८॥ जो मानवती कुलीन नायिकाएँ पहले अपने प्रियतमके गर्वको नही सहा करती थी, उनको आमकी बौरके परागसे मिश्रित, कामदेवकी सहायक वायुने बाधा देना शुरू कर दिया । फलत· इन वसन्तके दिनोमे उन्हे बाध्य होकर पतिका मान सहना पडा ॥९॥ फूलोसे बहते हुए रसमे राग रखनेवाले भौंरे अपने जिस झकारके मधुर स्वरको खूब जोर-जोरसे सुना रहे थे, वह प्रवासियोको बडा ही दु खदायी सिद्ध हुआ । उसने प्रवासियोके लिए माला और चन्दन आदि जो चीजें बहुत प्रिय थी, उन सभीमे विष घोल दिया ॥१०॥ वसन्तके फूलो-

१ क ख ग घ °रवक । । २ अ प्रावसोऽपि । ३ आ इ °मभ्यहित । ४ अ पुसूनमगलन्म° । ५ अ प्रस्फुटत्सुरभे । ६ आ रलयो । ७ आ श °योरभेदः । ८ आ लोटने । ९ आ झेङ्कार° । १० आ °दृष्ट्या श अक्ष्यदृष्ट्यो । ११ श प्रस्तारयन्ति । १२ श धारणपोषणयो । १३ श प्रतौ 'कर्मणि लिट्' इति नोपलभ्यते ।

मन्दधूतवकुलोपवनेन स्पृश्यमानवपुषां पवनेन[1] ।
सुभ्रुवामवधिना विकलेन पञ्चमेन समभावि कलेन ॥ १२ ॥
माग्रहं सखि भजस्व स माया यत्करोति दयितः स्वसमायाः ।
गोप्यते तव कथं तनु तेन पुष्टिमङ्गकमिदं तनुते न ॥ १३ ॥
नास्ति तस्य मयि यन्ममतापि तेन मानसमिदं मम तापि ।
तन्ममास्तु सखि तन्नमनेन नासुखप्रतिविधानमनेन ॥ १४ ॥
योऽपराधरचनासु खलेशस्तेन कः प्रणयिना सुखलेशः ।
तद्वरं विदधतं महिमानं युक्तमेव विदधीमहि मानम् ॥ १५ ॥

नियतानाम् अनारतमनवरत तपसो नियतिर्नियमो येषा तेषाम् । यतीना यमिनामपि । मानस चित्तम् । तानि दिनानि तद्दिवसपर्यन्तम् । 'काल ध्वनोर्व्याप्तौ' इति द्वितीया । प्रविकसत्कुसुमेषु प्रविकसन् प्रादुर्भवन् कुसुमेषु कामविकारो यस्य[2] तत् । अजायत अभवत् । जनैङ् प्रादुर्भावे लङ् ॥११॥ मन्देति । मन्दधूतबकुलोपवनेन मन्दम् ईषद् धूत कम्पित बकुलोपवन बकुलवृक्षोद्यान येन तेन । पवनेन मारुतेन । स्पृश्यमानवपुषा स्पृश्यमान वपु. शरीर यासा तासाम् । सुभ्रुवा सु शोभने भ्रुवौ यासा तासाम्, वनितानाम्—इत्यर्थ. । अवधिना मर्यादया । विकलेन रहितेन । कलेन मनोहरेण । पञ्चमेन पञ्चमरागेण । समभावि सभूतम् । भू सत्ताया कर्मणि लुङ् । 'हन् दृशि—' इत्यादिना ञि । 'ञ' इति त-लुक् । १२॥ मेति । सखि भो वयस्ये । यत् कारणात् । स. दयित प्राणनायक. । माया वञ्चनानि । करोति विदधाति । स्वसमाया स्वस्य प्राणाना समाया सदृशाया । तव ते । इदम् एतत् । तनु कृशम् । अङ्गक शरीरम् । पुष्टि[3] तुष्टिम् । न तनुते न विस्तारयति । तनूञ् विस्तारे लट् । तेन प्राणनायकेन । कथ केन प्रकारेण । गोप्यते आच्छाद्यते । गुपौ रक्षणे कर्मणि लट् । आग्रह[6] तात्पर्यम् । मा भजस्व मा कुरु ॥१३॥ नास्तीति । सखि भो वयस्ये । तस्य प्राणनायकस्य । मयि, यत् कारणात् । ममतापि ममत्वमपि । नास्ति न विद्यते । तेन[4] दयितेन । मम मे । इदम् एतत् । मानस चित्तम् । तापि तापोऽस्यास्तीति तापि सतापयुक्तम् । तत् तस्मात् कारणात् । अनेन एतेन । तन्नमनेन तस्य प्राणनायकस्य नमनेन नमस्करणेन । मम मे । असुखप्रतिविधानम् असुखस्य विरहजनितदु खस्य प्रतिविधान प्रतीकारः । नास्तु न भवतु ॥१४॥ य इति । य. पुरुष । अपराधरचनासु मानसस्यानुकूल(ता)रहितवर्तनाक्रियासु[5] । खलेश खलाना दुर्जनामीश. श्रेष्ठ । तेन प्रणयिना प्राणकान्तेन । सुखलेश सुखस्य सतोपस्य लेश एकदेश ।

को देखकर निरन्तर तप करनेवाले यतियोके मनमे भी कामविकार उत्पन्न हो गया, जो वसन्तके अन्तिम दिनो तक बराबर बना ही रहा ॥११॥ धीरे-धीरे बकौलीके वृक्षोको हिलानेवाले (मन्द सुगन्ध) पवनने ज्यो ही सुन्दर नायिकाओके शरीरका स्पर्श किया, त्यो ही उनका अस्पष्ट किन्तु मधुर पचम स्वर, जिसमे किसी प्रकारकी मर्यादाका कोई नियन्त्रण नही था—शुरू हो गया । इधर वसन्ती हवा बही उधर मधुर स्वरमे नायिकाओका गान शुरू हुआ ॥१२॥ हे सखि ! वह पतिदेवजी चूँकि मुझसे मायाचारी करते हैं, इसीलिए तो मेरा यह शरीर पुष्ट नही हो रहा है । तुझे मैं अपने समान मानती हूँ । अत तुझसे ये बातें कैसे छिपाऊँ ? अब तू मुझसे, उनसे मिलनेका आग्रह न कर ॥१३॥ सखि ! मेरे ऊपर उनकी ममता भी तो नही है । इसी कारणसे मेरा यह मन सन्तप्त रहा करता है । अत्र उनके चरणोमे नमन करनेसे मेरे विरहजन्य दु खोका-प्रतीकार—जो पहले कभी सम्भव रहा—न हो तो न सही, पर अब तो उनसे मेरा दिल बिलकुल ही निकल गया है ॥१४॥ अपराधोकी झड़ी लगानेके लिए जो खल, खल नही,

१. अ॰ वपुषोपवनेन । २ =यस्मिन् । ३. =पुष्टत्वम् । ४. =हठम् । ५. =कारणेन । ६. =मन.प्रतिकूलव्यवहारविधानेषु ।

तापहारि वपुषो विधुरस्य चन्दनाम्बु न न वा विधुरस्य ।
गन्तुमप्रियकृतो नियतेहं न प्रिय तदपि धाम्नि यतेऽहम् ॥ १६ ॥
यान्यदास्त वचनानि वदन्ती दूतिकामिति महानिव दन्ती ।
माधवोऽकृत वशे मधुरस्य ता प्रियस्य धृतकामधुरस्य[1] ॥ १७ ॥
(पञ्चभिः कुलकम्[2])
त्वादृशी पटुरकारि वयस्या मच्छुभैर्ग्रहपतेरिव यस्याः ।
मूर्तिरुत्सवकरी सकलस्य सज्जनस्य सविकासकलस्य[3] ॥ १८ ॥
तत्प्रगम्य दयितं रुचिताभिर्वाग्भिरालि निगदेरुचिताभिः ।
यत्प्रियैकवचसामपरस्य जायते न तदसामपरस्य[4] ॥ १९ ॥

क, न कोऽपीत्यर्थ । तत् तस्मात् कारणात् । परम् उत्कृष्टम् । महिमान महत्त्वम् । विदधत कुर्वन्तम् । युक्तम् उचितम् । मानसमेव गर्वमेव । विदधीमहि कुर्यामहि । डुधाञ् धारणे च लिङ् ॥१५॥ तापेति । विधुरस्य (विरह-)दु खितस्य । [अस्य]वपुष शरीरस्य । चन्दनाम्बु गन्धोदकम् । तापहारि संतापहारि । न भवति । विधुर्वा चन्द्रोऽपि । अस्य [वपुषः] शरीरस्य । तापहारि न भवति । तदपि तथापि । अप्रियकृतो अप्रियस्य अहितकार्यस्य कृतो करणे । नियतेह नियता नियमिता ईहा-चेष्टा यस्य तम् । प्रिय वल्लभम् । गन्तु गमनाय । धाम्नि गृहे । अह न यते यत्न न करोमि । यतङ् प्रयत्ने लट् ॥१६॥ येति । या नायिका । अन्यदा शेषर्तुषु । अव्ययम् । दूतिका सचारिकाम् । इति उक्तप्रकारेण । वचनानि वचासि । वदन्ती ब्रुवाणा । आस्त अतिष्ठत् । माधव वसन्त । धृतकामधुरस्य धृता कामस्य मदनस्य धूर्भारो यस्य[5] तस्य । मधुरस्य मनोहररूपातिशययुक्तस्य । प्रियस्य वल्लभस्य । वशे अधीने । ता स्त्रीम् । महान् दन्तीव गज इव । अकृत अकरोत् । डुकृञ् करणे लुङ् । पञ्चभि कुलकम् ॥१७॥ त्वादृशीति । यस्या वनितायाः[6] । मूर्ति. शरीरम् । सविकासकलस्य सविकासा प्राकट्यसहिता कलाश्चतुःषष्टिकला यस्य तस्य, पक्षे प्रकाशयुक्तषोडशभाग-सहितस्य । ग्रहपते चन्द्रस्य इव । सकलस्य सर्वस्य । सज्जनस्य सत्पुरुषजनस्य[7], पक्षे सता नक्षत्राणा जनस्य लोकस्य च । उत्सवकरी सतोषकरी । पटु समर्था । त्वादृशी त्वत्सदृशी । वयस्या सखी । मच्छुभै मम शुभै पुण्यै । अकारि अक्रियत । डुकृञ् करणे कर्मणि लुङ् । श्लेषोपमा ॥१८॥ तदिति । तत् तस्मात् कार-णात् । इति काचिन्नायिका सखीं स्तौति—इत्यर्थ । आलि भो सखि । दयित प्राणकान्तम् । प्रगम्य प्राप्य ।

महाखल है, उस खलनायकसे क्या लेशमात्र भी सुख हो सकता है ? अतएव मैं श्रेष्ठ बडप्पन दिलानेवाले मानको करूँ, यही उचित है ॥१५॥ मेरे इस दु खी शरीरके सन्तापको न तो चन्दनका जल या गन्धोदक हर सकता है और न चन्द्रमा । तो भी वे जान बूझकर अप्रिय कार्योमे लगे रहते हैं, अत उनके पास जानेके लिए मैं अपने घरमे कोई प्रयत्न नही कर रही हूँ ॥१६॥ इस तरह जो नायिका ग्रीष्म आदि अन्य ऋतुओमे अपनी दूतीसे कहा करती थी, उसी (नायिका) को, बहुत बडे हाथीके समान प्रभावशाली वसन्तऋतुने उसके अत्यन्त सुन्दर और इसीलिए कामदेवके कार्यभारको धारण करनेवाले पतिके वशमे कर दिया ॥१७॥ तुझ सरीखी समर्थ सखी मुझे बडे भाग्यसे मिली है । जिस प्रकार सोलह कलावाले पूर्णचन्द्रमाकी मूर्ति नक्षत्र लोकके उत्सवकी पूर्ति करनेवाली होती है इसी प्रकार तेरी मूर्ति सब कलाओमे निष्णात समस्त सज्जनोको सन्तोष देनेवाली है ॥१८॥ अत. हे सखि ! मेरे पतिदेवके निकट जाकर

१ अ यान्यदा तव च तानि वदन्ती हन्ति मामिति महानिव दन्ती । साधवोऽकृत वशे मधुरस्य नाप्रियस्य वृतकामधुरस्य ॥ २ अ क ख ग घ 'पञ्चभि. कुलकम् इति नोपलभ्यते । ३. अ सज्जनाशयविकामकलस्य । ४ आ इ 'युग्मम्' इत्यधिक पाठ समुपलभ्यते । ५ =येन । ६ तव-इत्यर्थ । ७ =सत्पुरुषस्य ।

किंकरी तव भवामि सदाहं मन्मनः सुरतकामि सदाहम् ।
ह्लादय प्रियतमानयनेन त्वं क्षमात्र न मृगीनयने न ॥ २० ॥

तापयन्ति मम मानिनि तान्तं मानसं मधुदिनानि नितान्तम् ।
तद्विधेहि दयितं दयमानं सामभिर्मम महोदयमानम् ॥ २१ ॥

काचिदुत्पलतुलासहनेत्रा रन्तुमुत्सुकमना· सह नेत्रा ।
दूतिकामिति जगौ विनयेन दु·खमुद्भवति भावि न येन ॥ २२ ॥

(पञ्चभिः[1] कुलकम्)

रुचिताभि इष्टाभिः । उचिताभिः प्रस्तुताभि । वाग्भि वचनै. । निगदे. त्व ब्रूहि । गद व्यक्तायां वाचि लिङ् । प्रियैकवचसा प्रिय प्रीतमेक मुख्य वचो येषा तेषाम् । यत् वस्तु । जायते सपद्यते । असामपरस्य असाम्नि अप्रियवचने परस्य तत्परस्य । अपरस्य अन्यस्य । तत् वस्तु । न जायते ॥१९॥ किंकरीति । मृगीनयने मृग्या (नयने) इव नयने नेत्रे यस्यास्तस्या· सबोधने[2] भो एणलोचने । अह, सदा अनवरतम् । तव ते । किंकरी सेविका । भवामि अस्मि । भू सत्तायां लट् । सुरतकामि (सुरत) सभोगम् (कामयते) इच्छतो· (ति सुरतकामि) । सदाह सतापसहितम् । मन्मन· मम मे मन चित्त मन्मन । प्रियतमानयनेन प्रियतमस्य प्रकृष्टप्राणकान्तस्यानयनेन । त्व भवती । ह्लादय तृप्ति नय । अत्र प्रियतमानयने । त्वं न क्षमा न समर्था (इति) न, न भवसि, अपि तु क्षमैव । द्वौ नञौ प्रस्तुतार्थं गमयतः ॥२० ॥ तापेति । मानिनि भोः सखि । तान्त दु·खसहितम् । मम मे । मानस चित्तम् । मधुदिनानि मधोर्वसन्तस्य दिनानि दिवसा । नितान्तं तीव्रम् । तापयन्ति सतापयन्ति । तत् तस्मात् कारणात् । महोदयमानम् उदय ऐश्वर्यं, मानोऽभिमान·, उदयश्च मानश्च तथोक्तौ, महान्तौ उदयमानौ यस्य तम् । मम मे । दयित कान्तम् । सामभि प्रियवचनै । दयमानं पालयन्तम् । विधेहि कुरु । डुधाञ् धारणे च लोट्[3] ॥२१॥ काचिदिति । उत्पलतुलासहनेत्रा[4] उत्पलस्य कुवलयस्य तुले समाने असहे नेत्रे यस्या सा, उत्पलोपमाननेत्रा—इत्यर्थ.[5] । काचित् अन्या स्त्री । नेत्रा प्राणनायकेन । सह सार्धम् । रन्तु क्रीडितुम् । उत्सुकमना उद्युक्तमना सती । येन केन (?) । भावि भविष्यत् । दु·ख कृच्छ्रम् । नोद्भवति न जायते । विनयेन प्रश्रयेण । दूतिका सखीम् (दूतीम्) । इति प्रोक्त-प्रकारेण । जगौ जगाद । गै शब्दे लिट् । 'एचोऽयवा.' इति आकारादेश । उपमा । पञ्चभि कुलकम् ॥२२॥

तुम उचित वचन बोलना, क्योंकि जो वस्तु प्रियावादीको मिल जाती है, वह अप्रियवादीको नही मिल सकती ॥१९॥ हे मृगनयनी ! मैं सदा तेरी दासी बनी रहूँगी । मेरा सन्तप्त मन सम्भोगके लिए लालायित है । अत उन (पतिदेव) को यहाँ लाकर मुझे तृप्त कर दे । तू इस काममे समर्थ नही है, सो यह बात तो है नही ॥२०॥ हे सखि ! ये वसन्तके दिन मेरे दुखी मनको खूब ही सन्ताप दे रहे हैं । अतएव तू अपनी प्रिय बातोसे उन (पतिदेव) को मेरे ऊपर दयालु बना दे । वे महान ऐश्वर्यके स्वामी हैं और हैं मानके धनी । तू भी तो मानकी धनी है । अतएव वे तेरी बातको टालेंगे नही ॥२१॥ इस तरह कोई नवयुवती, जिसके नेत्रोकी तुलनामे नील-कमल भी अत्यन्त तुच्छ थे और जिसके मनमे अपने पतिके साथ क्रीडा करनेकी उमग भरी हुई थी, यह सोचकर कि उसे आगे विरहका दु·ख न उठाना पड़े, बड़ी विनयसे ये बातें अपनी

---

१ आ इ 'पञ्चभि' इति नोपलभ्यते । २. = तत्सबुद्धौ । ३ आ लिट् श लेट् । ४ = उत्पल कुवलय तस्य तुला साम्य न सहेते नेत्रे यस्य सा । ५. = उत्पलाभिभाविलोचना–इत्यर्थ ।

का क्षता[1] हृदयभूशवरस्य सायकैर्न विननाश वरस्य ।
संस्मरन्त्यनुपमासहितस्य प्रोषितस्य मधुमासहितस्य ॥ २३ ॥
प्रीणिताहिनरदेवकुलानि प्रोल्लसन्ति नितरां बकुलानि ।
नीररिक्तजलवाहसितानां साम्यमापुरवलाहसितानाम् ॥ २४ ॥
काञ्चनारकुसुमे द्युतिमत्ताह्रेपितामलिनविद्युति मत्ता ।
कुर्वती ध्वनिमतारमतारं कालिनी न सरसारमतारम् ॥ २५ ॥
ता शशाङ्ककिरणा विदहन्ति मन्मथश्च नयकोविद हन्ति ।
पीडितां निजमन कमलेन त्वद्वियोगभवशोकमलेन ॥ २६ ॥

केति[2] । अनुपमासहितस्य उपमया सादृश्येन सहित सयुक्त तथोक्त , न उपमया सहितोऽनुपमासहित तस्य, उपमाराहित्ययुक्तस्य—इत्यर्थ[3] । प्रोषितस्य परदेशस्थस्य । मधुमासहितस्य मधुमासाय वसन्तमासाय हितस्य हितभूतस्य । 'शक्तार्थ—' इत्यादिना हितशब्दयोगे चतुर्थी वा (?) । बरस्य वरस्य नायकस्य । वबयोरभेद । सस्मरन्ती ध्यायन्ती । 'स्मृत्यर्थ—' इत्यादिना कर्मणि षष्ठी । हृदयभूशवरस्य हृदयभूरेव मन्मथ एव शवरो व्याधस्तस्य । सायकै बाणै । क्षता विद्धा सती । का न विननाश का न नश्यति स्म, अपि तु ननाश एव । रूपकम् । २३॥ प्रीणितेति । प्रीणिताहिनरदेवकुलानि अहीना भवनवासिना[4] नराणा मनुष्याणां देवाना कल्पवासिना[5] कुलानि समूहा तथोक्तानि, प्रीणितानि[6] तृप्तानि तानि च तानि अहिनरदेवकुलानि च तथोक्तानि । नितराम् अत्यन्तम् । प्रोल्लसन्ति विलसन्ति । बकुलानि बकुलपुष्पाणि । नीररिक्तजलवाहसितानां नीरेण जलेन रिक्तो रहितो जलवाहवत् शरत्कालमेघवत् (जलवाह शरन्मेघ तद्वत्) सिताना शुभ्राणाम् । अवलाहसितानाम् अवलाना वनिताना हसिताना मन्दस्मितानाम् । साम्य सादृश्यम् । आपु ययु । आप्लृ व्याप्तौ लिट् । उपमा ॥२४। काञ्चनारेति[7] । द्युतिमत्ताह्रेपितामलिनविद्युति द्युतिमत्तया कान्तियुक्तत्वेन ह्रेपिता लज्जिता अमलिना निर्मला विद्युद् यस्य[8] तस्मिन् । काञ्चनारकुसुमे काञ्चनारस्य कोविदारस्य कुसुमे पुष्पे । मत्ता प्रीता । अतारमतार मन्द मन्दम् । 'वं प्सायाम्' इति द्वि । ध्वनि स्वरम् । कुर्वती विदधती । सरसा सरागा । का अलिनी भ्रमरी । अरम् अत्यन्तम् । नारमत नाक्रीडत् अपि त्वरमत एव ॥२५॥ तामिति । नयकोविद भो नीतिचतुर । त्वद्वियोगभवशोकमलेन तव वियोगेन विरहेण भवो जात: शोको विषाद स एव मल दोषो यस्य[9] तेन । निजमन.कमलेन निजस्य स्वस्य मन एव चित्तमेव कमल तेन । रूपकम् । पीडिता बाधिताम् । ता स्त्रीम् । शशाङ्ककिरणा शशाङ्कस्य चन्द्रस्य किरणा मयूखा । विदहन्ति[10]

दूतीसे कह रही थी । (यहाँ १८ वें से २२ वें श्लोक तक सम्बन्ध है) ॥२२॥ ऐसी कौन सी युवती थी, जो सौन्दर्यमे अनुपम एव वसन्त मासमे हितकर अपने प्रवासी पतिको याद करती-करती काम-व्याधके बाणोसे घायल होकर कामदेवकी दसवी अवस्थामे नही पहुँची ? ॥२३॥ भवनवासी, मनुष्य और कल्पवासी देवो (तीनो लोकोके निवासियो) को प्रसन्न करनेवाले वकुल (मौलसिरी) के फूल खूब ही खिल रहे हैं और वे शरत्कालीन मेघकी भाँति श्वेत, नायिकाओंके हासकी (धवल होनेसे) बराबरी कर रहे हैं ॥२४॥ इन दिनोमें ऐसी कौन सी रसीली भौंरी थी, जो अपनी कान्तिमे उज्ज्वल विजलीको लजानेवाले कचनारके फूलपर उसके रससे मतवाली होकर, मन्द-मन्द ध्वनि करती हुई क्रीडा नही कर रही थी ? ॥२५॥ हे नीति-निपुण ! तुम्हारे विरह जन्य शोकके मलसे उस (तुम्हारी प्रिया) का हृदयकमल भीतर-ही-भीतर दबा-सा जा रहा है, अत. वह योही दु खी है, ऊपरसे चन्द्रमाकी किरणें उसे जला रही हैं

१ इक्षिता । २ आ श का इति । ३ = अनुपमस्य–इति यावत् । ४ आ °वासिकाना श °वासिताना । ५ श °वासिताना । ६ = तृप्ति प्रापितानि । ७. आ श कामिति । ८ = येन । ९ = यत्र । १० = समुदायन्ति ।

शीतदग्धनलिनीसमदेहां वल्लभां च्युतविलासमदेहाम् ।
पासि तां यदि गुणो भवतोऽयं देहि वा जितमनोभव[1] तोयम् ॥ २७ ॥

यः प्रविश्य हृदये रजनीषु स्थैर्यवान्रतिपतेरजनीषुः ।
सुभ्रुवः स तव संगमनेन नोद्धृतो[2] व्रजति सगमनेन ॥ २८ ॥

गच्छ तत्सुभग सारमयत्वं सम्प्रहाय दयितां रमय त्वम् ।
मन्मथव्यसनलाविरहस्य न क्षमेन्दुवदना विरहस्य ॥ २९ ॥

वितपन्ति । मन्मथश्च मारोऽपि । हन्ति हिनस्ति । हन् हिंसागत्यो लट् ॥२६॥ शीतेति । जितमनोभव जित' पराजितो मनोभव कामो येन तस्य सबोधनम्,[3] भो जितमार । शीतदग्धनलिनीसमदेहा शीतेन हिमेन दग्धाया सतप्ताया नलिन्या पद्मिन्याः सम समानो देहः शरीर यस्या , ताम् । च्युतविलासमदेहा च्युता विनष्टा विलासस्य शृङ्गारस्य मदस्य ईहा चेष्टा यस्या', ताम् । ता वल्लभा प्राणकान्ताम् । यदि पासि रक्षसि । पा रक्षणे लट् । अयम् एष । भवत तव । गुण[4] । वा अथवा । तोयं जलम् । देहि यच्छ ॥२७॥ य इति । य , रतिपते कामस्य । इषुः बाण । रजनीषु रात्रिषु । सुभ्रुव सु शोभने भ्रुवौ यस्याः तस्याः, स्त्रिया.—इत्यर्थ । हृदये अन्तरङ्गे । प्रविश्य गत्वा । स्थैर्यवान् स्थिरतर । अजनि अजायत । तव ते । सगमनेन ससर्गेण । उद्धृत उत्पाटितश्चेत् । स बाण । अनेन हृदयेन । सग ससर्गम् । न व्रजति न प्राप्नोति । व्रज गतौ लट् ॥२८॥ गच्छेति । तत् तस्मात् कारणात् । सुभग भो मनोहराङ्ग । मन्मथव्यसनलाविरहस्य मन्मथेन कामेन जात व्यसन मन्मथव्यसन तल्लुनातीत्येव शील तथोक्त मन्मथव्यसनलावि रहस्य भोगो यस्य तस्य सबोधन[5] हे कामव्यसनच्छेदिभोगयुक्त—इत्यर्थ । सारमयत्व लोहमयत्व कठिनत्व मूर्खत्व वा—इत्यर्थ । 'जलजबलन्यास्यस्थिराशवरधनेषु सार ' इति नानार्थकोशे । सप्रहाय त्यक्त्वा । गच्छ याहि । गम्लृ गतौ लोट्[6] । 'यमगमिषोश्शिच्छः' इति च्छादेश । त्व भवान् । दयिता वनिताम् । रमय क्रीडय । इन्दुवदना इन्दुरिव वदन मुख यस्या सा । विरहस्य वियोगस्य । क्षमा[7] सहमाना । न न भवति । उपमा ॥२९॥

और कामदेव मारे डालता है ॥२६॥ सुन्दर ! तुमने तो सुन्दरतामे कामदेवको भी मात कर दिया है । तुम्हारी प्रियाकी अवस्था इस समय अत्यन्त दयनीय हो गयी है—उसकी काया शीत-लहरी (पाला) से झुलसी हुई कमलिनीके समान हो गई है, और उसे अपने जिस शृङ्गारपर गर्व था, उस ओर अब उसका ध्यान ही नही जाता, न उसकी चेष्टा ही करती है । यदि तुम उसे दचा लेते हो (उसके निकट जाकर) तो तुम्हारा दयागुण व्यक्त होगा—तुम्हारी दया होगी । यदि ऐसा नही कर सकते हो तो उसे जलाञ्जलि दे दो ॥२७॥ रात्रिके समय कामदेवका जो बाण तुम्हारी प्रियाके—जिसकी भौं अत्यन्त सुन्दर है—कलेजेमे घुसकर वही जम गया है, जरा भी नही हिलता, उसे तुम अपने मधुर ससर्गसे निकाल दो तो वह उस (कलेजे) के साथ नही जायगा ॥२८॥ हे सुभग ! कामपीडाको दूर करनेका रहस्य तुम जानते हो । अतः तुम अपनी फौलादी कठोरताको छोड़ो, जाओ और अपनी प्रियाको रमाओ । तुम्हारी चन्द्रमुखी

---

१. अ जनमनो॰ । २ अ मोदितो॰ । ३ =तत्संबुद्धौ । ४. =लाभ उपकारो वा । ५. =तत्संबुद्धौ । ६ आ लिट् श लेट् । ७ =गोप्या ।

दूतिकोक्तमिति कोऽपि निकामं शुश्रुवान्मनसि कोपिनि कामम् ।
तत्क्षणादुपययौ परमेण दीर्घमानकलुषोपरमेण ॥ ३० ॥ (पञ्चभिः कुलकम्[1])
कर्णिकारमधवाजनितान्तं[2] चारुगन्धगुणतोऽजनि तान्तम्[3] ।
सर्जने हि विधिरप्रतिमोहस्तस्य युक्तघटना प्रति मोह ॥ ३१ ॥
वृक्षपङ्क्तियुवतेरधरेण चारुतापरमपारधरेण ।
किंशुकेन शुशुभे समयोऽसौ बिन्दुनेव सविलासमयोऽसौ ॥ ३२ ॥
गायनेष्वलिवधूनिकरेषु[4] जातवत्सु शमहानिकरेषु ।
पुष्परेणुकृतपांसुलतानां नर्तको मरुदभूत्सुलतानाम् ॥ ३३ ॥

दूतिकेति । दूतिकोक्त दूतिकया सचारिकया उक्त भाषितम् । इति एवम् । कोपिनि क्रोधयुक्ते । मनसि मानसे । निकामम् अत्यन्तम् । शुश्रुवान् शुश्राव इति शुश्रुवान् आकर्णित[5] । कोऽपि कश्चिन्नायक । परमेण महता। दीर्घमानकलुषोपरमेण दीर्घो बहलो मानो गर्व स एव कलुष दोष तस्योपरमो विनाश , तेन । तत्क्षणात् क्षणमात्र त् । काम कामविलासम् । उपययौ जगाम । या प्रापणे लिट् । रूपकम् । पञ्चभि कुलकम् ॥३०॥ कर्णिकारमिति । अधवाजनितान्त न विद्यते धवो यासा ता अधवास्तासा नायकवियुक्ताना जनितो[6] जातो अन्तो नाशो येन तत् । कर्णिकार[7] गिरिपद्मम् । चारुगन्धगुणत चारोर्गन्धस्य गुणतो विशिष्टपरिमलात् । तान्त शून्यम् । अजनि अभूत्, स्यय दृग्रम्यमपि सुगन्धिहीनमभूत्–इति भाव । तथा हि—विधि ब्रह्मा । सर्जने सृष्टौ । अप्रतिमोह अप्रतिम उपमातीत ऊहो विचारो यस्य स , स तथोक्त । तथापि । तस्य ब्रह्मण । युक्तघटना प्रति[8] परिमलसंबन्धव्यापार प्रति । मोहो हि अज्ञान हि ॥३१॥ वृक्षेति । चारुतापरमपारधरेण चारुताया मनोहरत्वस्य परममुत्कृष्ट पारमवसान धरतीति चारुतापरमपारधर , तेन । वृक्षपङ्क्तियुवते वृक्षाणा तरुणा पङ्क्त समा.[9] (राजि) सा एव युवतिस्तरुणी तस्याः । रूपकम् । अधरेण रदनच्छदनिभेन । किंशुकेन पलाशेन । असौ समय. । अय वसन्तकाल । असौ खड्गे । अय. लोहम् । बिन्दुनेव जलकणेनेव । सविलास विलाससहित यथा तथा । शुशुभे बभौ । शुभि दीप्तौ लिट् । उपमा ॥३२॥ गायनेष्विति । शमहानिकरेषु शमस्य उपशमपरिणामस्य हानिकरेषु नाशकारिषु[10] । अलिवधूनिकरेषु अलीना मधुकराणा

प्रिया अब विरह सहने योग्य नही है ॥२९॥ किसी नायकके मनमे यो तो अत्यधिक क्रोध भरा हुआ था, किन्तु दूतीकी उक्त बातोंको सुनते ही उसके मनकी, गर्वसे उत्पन्न हुई कलुषता बिलकुल ही विलीन हो गई । फलत. वह शीघ्र ही अपनी प्रियाके पास चला गया । (२६वें से ३०वें श्लोक तक सम्बन्ध है) ॥३०॥ कनेरका फूल अत्यन्त सुन्दर होता है, कामोद्दीपक होता है और होता है विधवाओ या विरहिणियोके जीवनका अन्त करनेवाला । किन्तु उसमे अच्छी गन्ध नही होती । सच तो यह जान पडता है कि सृष्टिके बारेमे विधाता अनुपम विचारोका धनी होता है, किन्तु किस वस्तुका किस वस्तुके साथ ठीक मेल बैठेगा, इस योजनाके विषयमें उसे मोह हो जाता है । इसीलिए तो उसने कनेरके फूलको खूब सुन्दर बनाया पर उसे अच्छी गन्धसे वञ्चित रखा ॥३१॥ सुन्दरताके नये कीर्तिमान (रिकार्ड) को स्थापित करनेवाले, टेसूके फूलरूपी, वृक्षवीथीरूपी युवतीके होठसे वसन्तके इस सुहावने समयकी शोभा है । जैसे कलापूर्ण विधिसे चढाये गये आबसे तलवारके लोहेकी शोभा होती है ॥३२॥ भौंरोकी अगनाएँ गाना गानेके लिए जब सम्मिलित रूपमे उद्यत हो गयी, और उनका गान

१ अ क ख ग घ 'पञ्चभि कुलकम्' इति नास्ति। २ अ °नितान्ता। ३. अतान्तम्। ४ अ °ष्वलि· जने निकरेषु । ५. = आकर्णितवान् । ६. = उत्पादित । ७ = द्रुमोत्पलम् । ८ = योग्यसयोग प्रति । ९ आ समूह. । १०. घ नाशकरेषु ।

कन्तुना भवदशोकबलेन मृत्युनेव सकलोऽकवलेन ।
ग्रस्यते स्म विरही प्रमदाया संस्मरन्मुहुरकम्प्रमदायाः ॥ ३४ ॥
प्रागतीव मनसा समुदा यस्तस्थिवान्विरहिणीसमुदायः ।
सोऽतिदुःसहमनोभवदूनो माधवे सुखितयाभवदूनः ॥३५॥
कामशोकजलधेरुदितानि संहरालि सततं रुदितानि ।
मेरुभूधरसदृक्षममुक्तं धैर्यमापदसनक्षममुक्तम् ॥३६॥
यत्र भान्ति कुसुमैरमलाभैः शाखिनो जनमनोरमलाभ. ।
यस्तवावधिरकारि वसन्तः प्रयसा निजगुणैरिव सन्त.[1] ॥३७॥

वधूना वनिताना निकरेषु निवहेषु । गायनेषु[2] गायत्सु । जातवत्सु जातेषु सत्सु । पुष्परेणुकृतपासुलताना पुष्परेणुना कुसुमरसेन (रजसा) कृता विहिता पासुलता मलिनत्व यासा तासाम् । सुलताना शोभनव्रततीनाम् । मरुत् वायु । नर्तक· नट । अभूत् अभवत् । परिणाम (रूपकम्) ॥३३॥ कन्तुनेति । अकवलेन ग्रासरहितेन । मृत्युनेव यमेनेव,[3] । भवदशोकबलेन भवद् अशोक एव कङ्केलिवृक्ष एव बल सहायो यस्य तेन । कन्तुना मन्मथेन । अकम्प्रमदाया· अकम्प्र स्थिरो मदो गर्वो यस्या, तस्या. । प्रमदाया कान्ताया । स्मरणार्थत्वाद् वनितामित्यर्थ । 'स्मृत्यर्थ—' इत्यादिना कर्मणि षष्ठी । मुहु पुन । सस्मरन् सध्यायन् । सकल सर्व. । विरही वियोगवान् जन । ग्रस्यते स्म गिल्यते स्म[4] । ग्रसूङ्[5] अदने कर्मणि लट् । उत्प्र ग ॥३४॥ प्रागिति । य विरहिणीसमुदाय विरहिणीना वियोगिनीना समुदाय समवाय । प्राक् पूर्वम् । अतीव अत्यन्तमिव । इव शब्दो वाक्यालङ्कारे । समुदा मुदा सतोषेण सह वर्तते इति समुत् तेन । मनसा चित्तेन । तस्थिवान् तस्थौ इति तस्थिवान् स्थितवान् । स विरहिणीसमुदाय[6] । माधवे मधुरेव माधव. (प्रज्ञादित्वादण्) तस्मिन् वसन्ते । अतिदु सहमनोभवदून. अतिदु.सहेन सोढुमशक्येन मनोभवेन मन्मथेन दून· सतापित: सन् । सुखितया सुखयुक्तत्वेन । ऊन. रहित । अभवत् अभूत् । भू सत्ताया लङ् ॥३५॥ कामेति[7] । आलि सखि । कामशोकजलधे कामेन जात शोक स एव जलधि तस्मात् । सतत सततम् । उदितानि जातानि । रुदितानि रोदनानि । सहर त्यज । मेरुभूधरसदृक्ष मेरुणा मन्दरेण भूधरेण पर्वतेन सदृक्ष समानम् । धैर्य धीरत्वम् । अमुक्तम् अत्यक्त सत् । आपदसनक्षमम् आपदो विपत्तेरसने नाशने क्षम समर्थम् । उक्त भाषितम् ॥३६॥ यत्रेति । [यत्र यस्मिन् वसन्ते] । अमलाभै अमला आभा कान्तिर्येषा तै । जनमनोरमलाभैः

सुनकर साधुओका शमगुण नष्ट होने लगा, तब मलयानिल भी परागसे धूसरित लताओको नचानेके लिए उद्यत हो गया। फूल खिल उठे, भौरे उनपर गुंजार करने लगे, दक्षिण पवन बहने लगा। लतायें हिलने लगी और साधुओके मनमे विकार शुरू होने लगा ॥ ३३ ॥ अशोकका बल पानेवाले कामदेवने समस्त विरहियोको—जो स्थिर गर्व रखनेवाली अपनी प्रियाओकी बार-बार याद कर रहे थे—यमराजकी तरह एक ही साथ निगलना शुरू कर दिया ॥ ३४ ॥ विरहिणियोका जो वर्ग पहले शिशिर ऋतुमे खूब प्रसन्नचित्त रहा, वही वसन्तके आते ही असह्य कामसे सन्तप्त होकर सुखी न रह सका ॥ ३५ ॥ सखि ! कामसन्तापके कारण तेरे शोकसागरसे ये लगातार आंसू बरसाने वाले रुदनरूपी मेघ उठ रहे हैं। इनका सहार कर–लगातार रो मत। अनुभवी लोगोने कहा है—'धीरज न छोडा जाय तो वह मेरु पर्वतके समान अटल होकर विपदाओको दूर करनेमे समर्थ होता है' ॥ ३६ ॥ जिस वसन्त ऋतुको तेरे पतिने परदेश जाते समय आनेकी अवधि कहा था, और जिसमे वृक्ष निर्मल

१ म यस्तवावधिरकारि वसन्तः प्रेयसा निजगुणैरिव सन्त । यत्र भान्ति कुसुमैरमलाभैः शाखिनो जनमनोरमलाभै ॥ २ =गायकेषु। ३ श प्रतौ 'यमेनेव' इति नोपलभ्यते । ४ आ प्रतौ 'गिल्यते स्म' इति नास्ति । ५. आ श ग्रसू । ६ श °समवाय. । ७. श कामिति ।

विप्रयोगकृशदारहितेन चेतसा कठिनतारहितेन ।
उत्सुको नहि विकासमयन्त सोऽतिवर्तितुमलं[1] समयं तम् ॥३८॥
रक्ष तद्वपुरिदं नियमेन मा विधेहि[2] लघुहानि यमेन ।
[3]रस्यसेऽल्पदिवसै सह तेन स त्वदीयविरहं सहते न ॥३९॥
मन्ददीप्तिरसुखावहमाना जीविते शिथिलतां वहमाना ।
दूरदिक्पतिरपोहितमाल्या काचनेति जगदे हितमाल्या ॥४०॥
(पञ्चभिः कुलकम्)[4]

जनाना प्रजाना मनसि मानसे रमस्य(?) क्रीडाया लाभै प्रापणै । अथवा जनाना मनोरमाः प्रीतिकरा लाभा येषा ते । कुसुमै पुष्पै । शाखिन भूरुहा । निजगुणै स्वस्य गुणै । सन्त सज्जना इव । भान्ति विराजन्ते । य. वसन्त. । तव ते । प्रेयसा नायकेन । अवधि अवधिकार । अकारि अक्रियत । डुकृञ् करणे कर्मणि लुङ् । तादृश वसन्तमिति परश्लोकेनान्वीयते । उपमा ॥३७॥ विप्रयोगेति । विप्रयोग-कृशदारहितेन विप्रयोगेन विरहेण कृशाना तनूना दाराणा कलत्राणा हितेन उपकारकेण । कठिनतारहितेन कठिनतया कठिनत्वेन रहितेन । चेतसा चित्तेन । उत्सुक.[5] उद्युक्त । स नायक. । विकास विस्तारम् । अयन्त यान्तम् । त समय तादृश वसन्तम् । अतिवर्तितुम्[6] अतिक्रामितुम् । नाल हि न समर्थो हि ॥३८॥ रक्षेति । तदिद तदेतत् । वपु शरीरम् । नियमेन निश्चयेन । रक्ष पालय । यमेन मृत्युना । लघुहानि लघौ शीघ्रे (लघु शीघ्र) हानिर्यस्य तत् । मा विधेहि मा कुरु । तेन सह नायकेन सह । अल्पदिवसै. कतिपय-दिनै । रस्यसे क्रीडिष्यसि । स नायक । त्वदीयविरह त्वदीय तव सबन्ध[7] विरह वियोगम् । न सहते न क्षमते । षहि मर्षणे लट् ॥३९॥ मन्देति । मन्ददीप्ति मन्दा अल्पा दीप्ति कान्ति र्यस्या सा । असुखावह-माना असुख दु खमावहतीति असुखावहः, (असुखावहो) मानो गर्वो यस्या सा । जीविते जीवने । शिथिलता[8] शीर्णताम् । वहमाना धरमाणा । दूरदिक्पति दूरदिशि विप्रकृष्टदेशे पतिर्यस्या सा । अपो-हितमाल्या अपोहित त्यक्त माल्य यया सा । काचन वनिता । आल्या सख्या । इति प्रोक्तप्रकारेण । हितम्

आभावाले तथा लोगोके मनको प्रसन्न करनेवाले फूलोसे सुशोभित होते हैं । जैसे सत्पुरुष अपने, निर्मल और लोगोके मनमे प्रीति उत्पन्न करनेवाले गुणोसे सुशोभित होते हैं ॥ ३७ ॥ तेरे प्रियतमका हृदय कोमल है, उसमे कठोरता तनिक भी नही है । उसे विरह व्याकुल कृश अगनाओंके हितका स्वय खयाल है, फिर भला तुम्हारे हितका ख्याल नही होगा ? वह यहाँ आनेको उत्सुक है । उस वसन्तके इन विकासकारी दिनोका वह उलघन नही करेगा— अवश्य ही आयगा ॥ ३८ ॥ रक्षाका नियम लेकर तू अपने इस शरीरको बचा ले इसे इतनी जल्दी यमराजके द्वारा हानि पहुँचाने योग्य न बना डाल । तू थोडे ही दिनोमे उसके साथ रमण करेगी । वह तेरे विरहको सहन नही कर सकता ॥ ३९ ॥ ये हितकी बातें एक सहेली-ने अपनी उस विरहिणी सखीसे कही, जिसकी दीप्ति फीकी पड गयी थी, जिसे अपना सम्मान भी दु खदायी जान पडता था, जिसने अपने जीवनमे भी शिथिलता धारण कर ली थी, जिसका पति कही दूर गया हुआ था और जिसने मालाका भी परित्याग कर दिया था ।

१ अ सोऽविलम्बितुमल । २ अ आ इ विधाहि । ३ क ख ग घ म रम्यसे । ४. आ इ क ख ग घ 'पञ्चभि. कुलकम्' इति नोपलभ्यते । ५ = उत्कण्ठित । ६ = अतिवर्तन कर्तुम् । ७. = सबन्धिनं । ८. = शैथिल्यम् ।

दारुणा विरचना भ्रुकुटीनां साम्यमावहति सुभ्रु कुटीनाम् ।
बिभ्रति प्रियतमे तव दास्यं कोपनं किमिति जातवदास्यम् ॥४१॥

का धृतिस्तव रतेन विना मे नोद्यताञ्जलिरहं न विनामे ।
किं वृथैव मयि मानममाने संतनोति भवती नममाने ॥४२॥

कान्तिवारिणि नभोवदनन्ते मग्नमम्बुजनिभं वदनं ते ।
पातुमुत्सुक इव भ्रमरोऽहं जायमानबहुविभ्रमरोहम् ॥४३॥

मन्मनः सुतनु भीमदनेन बाध्यमानमनिशं मदनेन ।
वर्तते भज रुषस्तनिमानं मुञ्च पीवरतरस्तनि मानम् ॥४४॥

उपकारवचनम् । जगदे ऊचे । गद व्यक्ताया वाचि कर्मणि लट् । पञ्चभि. कुलकम् ॥४०॥ दारुणेति । सुभ्रु सु शोभने भ्रुवौ यस्या· तस्या सबोधनम्[१], भो मनोहरभ्रु वनिते । भ्रुकुटीना भ्रूविकाराणाम् । दारुणा निष्ठुरा । विरचना करणम् । कुटीना तृणकुटीराणाम् । साम्य सादृश्यम् । आवहति धरति । तृणकुटीरवच्छ्रोत्रं नश्येत्—इत्यर्थ । तव ते । दास्य दासत्वम् । बिभ्रति धरति । प्रियतमे प्राणनायके, मयि, इत्यध्याहार । आस्य मुखम् । किमिति किं कारणम् । को।न कोपयुक्तम् । जातवत् जातम् । क्तवतु—प्रत्यय. ॥४१॥ का धृतिरिति[२] । तव ते । रतेन सुरतेन । विना ऋते । मे मम । का धृति· क सतोषः । अहं, विनामे प्रणामे । नोद्यताञ्जलि न विहिताञ्जलि र्न वि(ह्रि)भवामि, इति न, अपि तु उद्यताञ्जलिरेव—इत्यर्थ । भवती पूज्या त्वम् । अमाने गर्वरहिते । नममाने नमस्कार कुर्वाणे । मयि नायके । वृथैव व्यर्थमेव । मान गर्वम् । कि कारणम् । सतनोति करोषि(ति) । भवच्छब्दयोगे प्रथमपुरुष ॥४२॥ कान्तीति । नभोवत् गगनवत् । अनन्ते अन्तरहिते । कान्तिवारिणि कान्ति·लावण्यमेव वारि जल तस्मिन् । मग्न निपतितम् । अम्बुजनिभम् अम्बुजस्य कमलस्य निभ समानम् । जायमानबहुविभ्रमरोह जायमान उत्पद्यमानो बहुर्बहुलो विभ्रमस्य भ्रूविकारस्य रोहः स्थानम्, अथवा अङ्कुरप्रादुर्भावो यस्य[३] तत् । तव, वदन मुखम् । अहं, भ्रमर भृङ्ग इव । पातु पान कर्तुम् । उत्सुक उद्युक्त ॥४३॥ मन्मन इति । सुतनु सु शोभना तनुर्यस्या. तस्या सबोधनम्[४], भो मनोहराङ्गि । पीवरतरस्तनि पीवरतरौ अत्यन्तपीवरौ स्तनौ कुचौ यस्या तस्या. सबोधनम्[५], भो. पृथुतरस्तनि । अनेन एतेन । मदनेन मन्मथेन । अनिशम् अनवरतम् । बाध्यमान पीड्यमानम् । मन्मनः मम चित्तम् । भीमत् भीर्भयमस्यास्तीति भीमद् भयसहितम्—इत्यर्थ । वर्तते विद्यते । रुष कोपस्य । तनिमानं तनोः कृशस्य भाव. तनिमा त कृशत्वम्—इत्यर्थ. । भज आश्रय ।

(३६वें से ४०वें पद्य तक सम्बन्ध है) ॥४०॥ प्रिये ! तेरी भौहे सुन्दर हैं, पर इस समय कोपके कारण कुटिलता और कठोरता आ जानेसे ये दारुण हो गयी हैं और इसीलिए लकडीकी कुटियो जैसी हो गयी हैं। प्रियतमने (मैंने) तेरी दासता स्वीकार कर ली है तो फिर तेरा मुख कोपयुक्त क्यो है ? ॥ ४१ ॥ तेरे सम्भोग बिना मुझे कौन-सा सन्तोष है ? तुझे प्रणाम करते समय मे हाथ नही जोडता, यह बात भी नही है। मैं मान छोडकर तेरे सामने नम गया हूँ, तो फिर तू व्यर्थ ही मान क्यो कर रही है ? ॥ ४२ ॥ आकाशकी तरह अनन्त कान्ति रूपी जलमे डूबे हुए, नाना प्रकारके शृगारसे युक्त तुम्हारे कमलसरीखे मुखको मैं भौंरेके समान पीनेके लिए उत्सुक हूँ ॥ ४३ ॥ हे सुन्दर शरीर वाली ! और हे पुष्ट स्तनो वाली ! इस कामदेवके द्वारा निरन्तर सताया गया मेरा मन भयभीत हो रहा है। अत· क्रोधको कम कर, और

---

१ = तत्सबुद्धौ । २ आ श का इति । ३. = यत्र । ४ = तत्संबुद्धौ । ५ = तत्सबुद्धौ ।

काचिदित्यमुदिता दयितेन प्रेम सार्धमकृतोदयि तेन ।
कं वचांसि रसभारचितानि प्रीणयन्ति न बुध रचितानि ॥४५॥
(पञ्चभिः कुलकम्[1])
कंदरास्वनुकृताहिमवन्तं ध्वान्तराशिमचलं हिमवन्तम् ।
भानुराप शशिशुद्धनदाया भाति यो दिशि वसद्धनदायाम् ॥४६॥
लीनषट्पदकुला तिलकाली यद्विकासमगमत्तिलकाली ।
प्राप तेन मनसापमुदारं मानिनी मदनतापमुदारम् ॥४७॥
संनिषेव्य सततं कमलिन्या रागकारि मधु साकमलिन्या ।
यानि चक्रुरलयो ध्वनितानि के निशम्य ययुरध्वनि तानि ॥४८॥

भज सेवायां लोट्[2] । मान गर्वम् । मुञ्च त्यज । मुच्लृ मोक्षणे लोट्[3] ॥४४॥ काचिदिति । दयितेन नायकेन । इत्थम् अनेन प्रकारेण । काचित् एका स्त्री । उदिता भाषिता । तेन नायकेन । सार्धं साकम् । प्रेम स्नेहम् । उदयि उदयोऽस्यास्तीति उदयि, उत्पत्तिपूर्वकम् (वर्धमानमिति यावत्) । अकृत अकरोत् । डुकृञ् करणे लुङ् । तथा हि—रसभारचितानि रसानां शृङ्गारादिनवरसानां भारेण अतिशयेन चितानि पोषितानि । बुधैः विद्वद्भिः । रचितानि निर्मितानि । वचांसि वचनानि । कं पुरुषम् । न प्रीणयन्ति न सन्तोषयन्ति । प्रीञ् तर्पणे लट् । पञ्चभिः कुलकम् ॥४५॥ कन्दरास्विति । यः हिमवान् पर्वतः । शशिशुद्धनदायां शशीव चन्द्र इव शुद्धा निर्मला नदा नद्यो यस्या तस्याम् । वसद्धनदायां वसन् तिष्ठन् धनदः कुबेरो यस्यां तस्याम् । दिशि ककुभि । भाति राजते । तम्—इत्यध्याहारः । कन्दरासु[4] गह्वरेषु अनुकृताहिम् अनुकृता समीकृता अहयः सर्पा येन तम् । ध्वान्तराशिं ध्वान्तानां तमसां राशिं समूहम् । अवन्तं रक्षन्तम् । हिमवन्तं हिमवन्नामधेयम् । अचलं पर्वतम् । भानुः सूर्यः । आप ययौ । आप्लृ व्याप्तौ लिट् । उत्तरायणोऽभूत्—इति भावः ॥४६॥ लीनेति । लीनषट्पदकुला लीनं स्थगितं षट्पदानां कुलं समूहो यस्यां सा । तिलकाली तिल इव काली कृष्णवर्णा । 'कालशबल—' इत्यादिना ङी । तिलकाली तिलकानां तिलकवृक्षाणामाली पङ्क्तिः । यत् यस्मात् । विकासं विकसनम् । अगमत् अगात् । गम्लृ गतौ लुङ् । 'सर्तिशास्ति—' इत्यादिना अङ्प्रत्ययः । तेन कारणेन । मानिनी कान्ता । अपमुदा अपगता व्यपगता मुद् यस्य तेन । मनसा मानसेन । उदारं महान्तम् । मदनतापं मदनेन कामेन जनित(त) संतापम् । अरम् अत्यर्थम् । आप जगाम । आप्लृ व्याप्तौ लिट् ॥४७॥ संनिषेव्येति[5] । अलयः भ्रमराः । अलिन्या भृङ्ग्या । साकं सह । कमलिन्याः

गर्वको छोड ॥ ४४ ॥ किसी युवतीसे उसके पतिने जब यों कहा तो उसने उसके (पतिके) साथ खूब ही प्रेम किया, जो उत्तरोत्तर बढता गया । बुद्धिमान् पुरुषोंके द्वारा कहे गये सरस वचन किसे नही प्रसन्न कर देते हैं ? (यहाँ भी पाँच श्लोकोका सम्बन्ध है) ॥ ४५ ॥ अपनी गुफाओमे नागके समान काले अन्धकारकी रक्षा करनेवाले उस हिमालय पर्वतको सूर्यने प्राप्त कर लिया—उत्तरायण हो गया, जो चन्द्रमा सरीखी शुभ्र और निर्मल नद व नदियोको बहानेवाली कुबेरके निवासकी दिशा—उत्तरमे सुशोभित है ॥ ४६ ॥ तिलक नामके वृक्षोकी पक्ति खिल उठी, उसके ऊपर चारो ओरसे भौंरोके झुण्ड निश्चल होकर बैठ गये । फलत तिलक वृक्षोकी आवली (पक्ति) तिलोके समान काली हो गयी । उसके इस विकाससे मानवती नायिकाके मनकी प्रसन्नता लुप्त हो गयी, और उसे कामजन्य सन्ताप भी बहुत अधिक हुआ ॥ ४७ ॥ भौंरोने भौरियोके साथ कमलिनीके, कामरागको बढानेवाले रसको लगातार

१ म प्रतौ 'पञ्चभि कुलकम्' इत्युपलभ्यते नान्यासु प्रतिषु । २ आ लिट् श लेट् । ३ आ लिङ् श लेट् । ४. = गुहासु । ५ श स समिति ।

शीतला इति विभाव्य जनेन पातिताः ससलिलव्यजनेन ।
को न जातविरहोऽतनुतापः क्वाथिताम्बुसदृशोऽतनुतापः ॥४९॥
वीक्ष्य जातरुडिवासमहानि पद्मषण्डमविकासमहानि ।
तिग्मगुर्विहितवानहिमानि भास्वतां न हृदयं नहि मानि ॥५०॥
इत्थ मधौ मधुकरीमुखरीकृताशे व्याजृम्भिते मकरकेतुनिसर्गबन्धौ ।
भूप प्रविश्य मुदितः सहसा निशान्तं विस्रब्धमित्यभिदधेऽङ्कगतां स देवीम् ॥५१॥

नलिन्या । रागकारि प्रीतिकारि । मधु पुष्परसम् । सनिपेव्य निपीय । सततम् अनवरतम् । यानि ध्वनितानि यान् ध्वनीन् । चक्रु विदधु । तानि ध्वनितानि । निशम्य श्रुत्वा । अध्वनि मार्गे । के पुरुषा । ययु जग्मु. । न केऽपि—इत्यर्थ । या प्रापणे लिट् ॥४८॥ शीतला इति । ससलिलव्यजनेन ससलिलेन जलसहितेन[1] व्यजनेन तालवृन्तेन । जनेन परिवारजनेन । शीतला इति शीतगुणयुक्ता इति । विभाव्य निश्चित्य । पातिताः सिक्ता । आपः (अप) सलिलानि । जातविरह जात. समुत्पन्नो विरहो वियोगो यस्य स । अतनुताप. अतनुर्बहलः तापो यस्य स, काममतापयुक्तो वा । क को वा पुरुष । क्वाथिताम्बुसदृश. क्वाथितस्य सतप्तस्य (सताप प्रापितस्य) जलस्य सदृश समाना. । न अतनुत न करोति स्म । तनूञ् विस्तारे लङ् ॥४९॥ वीक्ष्येति । तिग्मगु तिग्मा तीक्ष्णा गाव. किरणा यस्य स, सूर्यः । अविकास विकासरहितम् । असमहानि असमा असदृशा हानिर्नाशो यस्य तत्, प्रागृतुगुणयुतम्—इति यावत् । पद्मषण्ड पद्मानां कमलानां षण्डं[2] समूहम् । वीक्ष्य दृष्ट्वा । जातरुडिव जाता उत्पन्ना रुट् कोपो यस्य स इव । 'रुट्क्रुधौ स्त्रियो'[3] इत्यमरः । अहानि दिवसानि । अहिमानि उष्ण(ता) सहितानि । विहितवान् कृतवान् । तथा हि—भास्वता भास. सन्त्येषा ते भास्वन्त , तेषा तेजस्विनाम् । हृदय चित्तम् । मानि नहि अभिमानयुक्त न भवतीति नहि, अपि तु मानयुक्तमेव ॥५०॥ इत्थमिति । मधुकरीमुखरीकृताशे मधुकरीभिर्भृङ्गवधूभिर्मुखरीकृता वाचालिता आशा दिशो[4] यस्मिन् तस्मिन् । मकरकेतुनिसर्गबन्धौ मकरकेतोर्मन्मथस्य निसर्गेण सहजेन बन्धौ मित्रे । मधौ वसन्ते । इत्थम् उक्तप्रकारेण । व्याजृम्भिते सति व्यावृद्धे[5] सति । मुदित संतुष्ट । स भूप अजितसेनचक्रवर्ती । सहसा स्वेच्छया । निशान्तम् अन्त पुरम् । प्रविश्य प्रवेशन कृत्वा । अङ्कगताम् उत्सङ्गगताम् । देवीं शशिप्रभादेवीम् । विश्रब्ध विश्वस्त यथा तथा । इति वक्ष्यमाणप्रकारेण । अभिदधे ऊचे ।

पीकर जो झकार की ध्वनि की, उसे सुनकर ऐसे कौनसे धीर-वीर थे, जो उस मार्गमे आगे कदम बढा सके हो ? ॥ ४८ ॥ परिवारके लोगोने शीतल समझकर जिस जलके छीटे देकर ताडके पखोंको विरहियोके ऊपर झलना शुरू किया, वही जल एक-एक बिन्दुके रूपमे जब उनके सन्तप्त शरीरपर गिरा, तब उसे उन विरहियोमे-से किस तीव्र सन्तापवाले विरहीने खौलाये गये जलके समान नही कर दिया ? ॥ ४९ ॥ शिशिर ऋतुमे कमलोका विकास रुक गया था, और उनको इतनी हानि हुई थी, जितनी हानि कभी किसीकी नही हुई होगी, मानो इसी विचारसे क्रुद्ध होकर सूर्यने हिमको दूर कर दिया, और दिनोमे उष्णता भर दी । तेजस्वियोका मन मानयुक्त नही होता, यह बात नही ॥ ५० ॥ जिसने भौरियोके शब्दने सभी दिशाओको मुखरित कर दिया है और कामदेव जिसका स्वभावत. मित्र है, उस वसन्त ऋतुके पूर्ण विकासको प्राप्त कर लेनेपर अजितसेन बडा प्रसन्न हुआ । वह सहसा अन्त पुरमे प्रविष्ट होकर अपने पास आकर बैठी हुई रानी शशिप्रभासे शान्तिपूर्वक यो बोला—॥ ५१ ॥

---

१ आ जलरहितेन वा जलसहितेन । २. = 'पद्मादिषण्डे षण्डोऽस्त्री' इति विश्वलो० । ३. आ वा स्त्रियाम् । ४. अ प्रतौ 'दिशो' इति नोपलभ्यते । ५ आ प्रवृद्धे ।

पश्य प्रिये परभृतध्वनितच्छलेन[1] मामेष दर्शयितुमाह्वयतीव चैत्रः ।
प्रादुर्भवत्तिलकपत्रविशेषशोभां सीमन्तिनीमिव पुरोपवनस्य लक्ष्मीम् ॥५२॥
संभावयामि तदहं तमनङ्गबन्धुं गत्वा वने मलयमारुतनृत्तशाखे ।
तत्र त्वमप्यवनताङ्गि तिरोहितानां नेत्रोत्सवं कुरु गता वनदेवतानाम् ॥५३॥
ह्रीतो विहाय मम लोचनहारि नृत्तं गन्तुं शिखी सुमुखि तत्र यदि व्यवस्येत् ।
कार्यस्त्वया स्मरनिवासनितम्बचुम्बी चीनांशुकेन पिहितो निजकेशपाशः ॥५४॥

डुधाञ् धारणे च लिट् ॥५१॥ पश्येति । प्रिये भो कान्ते । प्रादुर्भवत्तिलकपत्रविशेष[2]शोभा प्रादुर्भवतामुत्पद्यमानाना तिलकाना तिलकवृक्षाणा पत्रै छदै[3] विशेषा[4] बह्वी शोभा, पक्षे प्रादुर्भवता तिलकपत्रेण मकरिकापत्रेण[5] विशेषा अधिका शोभा यस्या, ताम् । सीमन्तिनीमिव कामिनीमिव । पुरोपवनस्य पुरोद्यानस्य । लक्ष्मीं शोभाम् । दर्शयितुम् आलोकयितुम् । परभृतध्वनितच्छलेन परभृतस्य कोकिलस्य ध्वनितमिति ध्वनिरिति[6] छलेन व्याजेन । एष अयम् । चैत्र[7] । माम्, आह्वयतीव आकारयतीव । पश्य वीक्षस्व । दृश् वीक्षणे लोट्[8] ॥५२॥ संभावयामीति । अवनताङ्गि अवनतमपन्नतमङ्ग यस्या तस्या सबोधनम्[9] भो नम्राङ्गि । तत् तस्मात्कारणात् । अह, मलयमारुतनृत्तशाखे मलयमारुतेन दक्षिणवायुना नृत्ता[10] शाखा यस्मिन्, तस्मिन् । वने उद्याने । गत्वा प्राप्य । त वसन्तम् । अनङ्गबन्धु मन्मथमित्रम् । [त वसन्तम्] । संभावयामि सत्करोमि । त्वमपि, तत्र वने । गता याता सती । तिरोहिताना व्यवहितानाम् । वनदेवताना वनदेवीनाम् । नेत्रोत्सव नयनोत्सवम् । कुरु विधेहि । डुकृञ् करणे लोट्[11] ॥५३॥ ह्रीत इति । सुमुखि भो मनोहरमुखि । तत्र वने । शिखी मयूर. । ह्रीत लज्जित । मम मे । लोचनहारि लोचनयोर्नयनयो हारि मनोहरम् । नृत्त नर्तनम् । विहाय त्यक्त्वा । यदि, गन्तु गमनाय । व्यवस्येत् उद्योग कुर्यात् । वि अवपूर्व षो अन्तकर्मणि लिङ् । (तत्) त्वया, स्मरनिवासनितम्बचुम्बी स्मरस्य कामस्य निवासमावास नितम्ब चुम्बति स्पृशतीत्येव शील तथोक्त । निजकेशपाश निजस्य स्वस्य केशपाशो धम्मिल्ल । चीनांशुकेन

प्रिये ! इस समय पुरके उपवनकी शोभा सौभाग्यवती नायिका सरीखी हो गयी है। जिस प्रकार नायिका तिलक (सुहागबिन्दु) और पत्र-रचनासे सुशोभित होती हैं, उसी प्रकार उपवनकी शोभा तिलक वृक्षोंके अभी-अभी उत्पन्न हुए नये-नये पत्तोसे है। इसी शोभाको दिखलानेके लिए मानो चैत्रमास कोकिलके शब्दके बहानेसे मुझे बुला रहा है ॥ ५२ ॥ उपवनमे मलय-पवनके इशारेपर टहनियाँ नर्तकीकी भाँति नृत्य कर रही हैं—हिल रही हैं। मैं वहाँ जाकर कामदेवके मित्र ऋतुराज वसन्तका सत्कार करूँ। नम्र शरीरवाली प्रिये ! तुम भी चलो और वहाँ ओटमे खडी हुई—अदृश्य वनदेवियोकी आँखोको उत्सव उत्पन्न कर दो ॥ ५३ ॥ हे सुमुखि ! वहाँ मेरी दृष्टिको आकृष्ट करने वाले नृत्यको छोडकर मयूर यदि लज्जित होकर भागनेका प्रयत्न करे तो तुम कामदेवके निवास स्थान स्वरूप नितम्ब तक लटकने वाले अपने

---

१. आ इ परभृता ध्वनित° । २ एष टीकाश्रय पाठः प्रतिषु तु विशेषस्य स्थाने 'विचित्र' इत्यस्ति । ३ = प्रादुर्भवद्भि तिलकपत्रै तिलकवृक्षच्छदै । ४ = विचित्रा । ५ श प्रतौ 'मकरिकापत्रेण' इति नोपलभ्यते । ६ = ध्वनितेन ध्वनि°, तस्य । ७ = चैत्रमास । ८ आ लिट् श लेट् । ९. = तत्सबुद्धौ । १० = नृत्तयुता । ११ आ लिङ् श लेट् ।

माधुर्यमिच्छुरतिशायि परिग्रहीतुं चूताङ्कुरग्रसनजातकषायकण्ठः ।
मूकीभवन्परभृतां निवहोऽपि नूनमाकर्णयिष्यति तवानतगात्रि वाणीम् ॥५५॥

तत्र त्वदीयचरणाम्बुजताड्यमानौ द्वौ यास्यतः सुवदने सदृशीमवस्थाम् ।
सद्यो वहन्मुकुलजालमशोकशाखी रोमाञ्चकञ्चुकितमूर्तिरहं द्वितीयः ॥५६॥

गत्या निसर्गपरिमन्थरया भ्रमन्तीं त्वां संनिरीक्ष्य निवसद्वनदीर्घिकासु ।
हंसीकुलं न हरिणाक्षि जनिष्यते न त्वच्छिष्यभावगमनस्पृहयालु[1] मन्ये ॥५७॥

कौशेयवस्त्रेण । पिहित आच्छादितः । कार्यं विधेय. ॥५४॥ माधुर्यमिति । आनतगात्रि विनताङ्गि । अतिशायि अतिशयशोलम् । माधुर्यं मधुरत्वम् । परिग्रहीतु परिग्रहणाय । इच्छु इच्छन् । 'सन्भिक्षा—' इत्यादिना उ प्रत्यय । चूताङ्कुरग्रसनजातकपायकण्ठ च्यूतस्य माकन्दस्य अङ्कुरस्य कलिकाया. ग्रसनेन सेवनेन जात. सजात कषाय शुद्धता वा[2] यस्यासौ च्यूताङ्कुरग्रसनजातकषाय. स कण्ठो यस्यासाविति पुन. र्वस[3] (?) । 'कषायो रसभेदे स्याद्गन्धरागे विलेपने । निर्यासे च कषायोऽत्र सुरभौ लोहितेऽन्यवत्[4] ॥' 'कटुतिक्तकषायास्तु सुगन्धस्याभिधायका ।' इत्यभिधानात् । परभृता कोकिलानाम् । निवहोऽपि समूह (अपि) । मूकीभवन् प्रागमूक इदानी मूको भवतीति तथोक्त । तव ते । वाणीं वचनम् । नून निश्चयेन । आकर्णयिष्यति श्रावयिष्यति (श्रोष्यति) ।' छिद्र कर्णभेदे लृट् ॥५५॥ तत्रेति । सुवदने सु शोभन वदन यस्याः तस्या. सबोधनम्[5] सुमुखि । तत्र वने । त्वदीयचरणाम्बुजताड्यमानौ त्वदीयाभ्या तव सबन्धिभ्या चरणाम्बुजाभ्या पादारविन्दाभ्या ताड्यमानौ आहन्यमानौ । द्वौ, सद्य तदैव । सदृशीं समानाम् । अवस्था परिणतिम् । यास्यत गमिष्यत । द्वौ कौ, इत्युक्ते कथ्यते—मुकुलजात मुकुलाना कुड्मलाना जात समूहम् । वहन् धरन् । अशोकशाखी अशोकश्चासौ शाखी च तथोक्त, एक । रोमाञ्चकञ्चुकितमूर्ति रोमाञ्चेन रोमहर्षेण कञ्चुकिता कवचिता मूर्ति र्यस्य स । अह, द्वितीय । 'द्वित्रेस्तीयद्रेश्च ऋश्' इति तीयत्-प्रत्यय । भवामि, इत्यध्याहार्यम् ॥५६॥ गत्येति । हरिणाक्षि हरिणस्य (अक्षिणी) इव अक्षिणी यस्या तस्या सबोधनम्[6] भो एणाक्षि । वनदीर्घिकासु वनस्य दीर्घिकासु सरोवरेषु निवसत् विद्यमानम् । हसीकुल हसवधूना कुल यूथम् । निसर्गपरिमन्थरया निसर्गेण स्वभावेन मन्थरया मन्दया गत्या गमनेन । भ्रमन्तीं चलन्तीम् । त्वा भवतीम् । सनिरीक्ष्य सविलोक्य । त्वच्छिष्यभावगमनस्पृहयालु तव ते शिष्यभाव छात्रत्व गमने प्रापणे स्पृहयालु वाञ्छायुक्तम् अथवा तव शिष्यभावमुपगमन वाञ्छत् । न जनिष्यते न भविष्यति (इति) न, किन्तु भविष्यत्येव ।

बालोंको चीनी रेशमी चादरसे ढक लेना ॥ ५४ ॥ हे नम्र शरीरवाली ! वहाँ आम्रमंजरी खानेसे कोकिलोका कण्ठ सुरीला हो गया है। फिर भी सर्वश्रेष्ठ मधुरताको प्राप्त करनेकी इच्छासे उनका झुण्ड निश्चय ही मौन रहकर तुम्हारे वचन सुनेगा ॥ ५५ ॥ हे सुन्दर मुखवाली प्रिये ! वहाँ तुम्हारे चरण कमलोके आघातसे दो, एक सरीखी अवस्थाको प्राप्त करेंगे—पहला अभी-अभी उत्पन्न हुई कलियोको धारण करनेवाला अशोक वृक्ष और दूसरा मैं, जिसके सारे शरीरमे रोमाच-ही-रोमाच दृष्टिगोचर होगे ॥ ५६ ॥ हे मृगलोचने ! मेरा खयाल है वहाँके सरोवरोमे रहनेवाला हँसियोका झुण्ड तुम्हे स्वाभाविक मन्दगतिसे घूमती हुई देखकर

---

१ क ख ग व म गमने स्पृहयालु । २ श शुद्धवाक् । ३ आ इति पुगर्भस । ४ आ ॰न्यदक् ।
५. = तत्सबुद्धौ । ६. = तत्सबुद्धौ ।

हस्तेन सुन्दरि मुहुर्विनिवारितोऽपि भृङ्गस्तवाधरदले नवविद्रुमाभे ।
धावन्नशोकनवपल्लवशङ्किचेताः स्मेरं करिष्यति न कस्य मुखं वनान्ते ॥५८॥
पर्यन्तजाततरुजालनिरुध्यमानभास्वत्करेष्वपि वनान्तलतागृहेषु ।
त्वद्वक्त्रचन्द्ररुचिभिः प्रतिहन्यमानो मुग्धाक्षि नः परिभविष्यति नान्धकारः ॥५९॥
दृष्ट्योर्मदालिषु लतासु शरीरयष्टेरूर्वोर्विचित्रकदलीष्वधरस्य बिम्बे ।
संवाहिताङ्घ्रियुगला स्वसखीजनेन[1] सादृश्यमिन्दुवदने विहरेक्षमाणा ॥६०॥

मन्ये जाने । मनि ज्ञाने लट् । उत्प्रेक्षा ॥५७॥ हस्तेनेति[2] । सुन्दरि रमणि । नवविद्रुमाभे नवस्य विद्रुमस्य प्रवालस्याभे समाने[3] । तव ते । अधरदले अधर एव दल पल्लव, तस्मिन् । रूपकम् । अशोकनवपल्लव-शङ्किचेता अशोकस्य कङ्केलिवृक्षस्य नव प्रत्यग्र पल्लव इति शङ्कि शङ्कायुक्त चेतो यस्य स । भृङ्ग षट्पद । हस्तेन पाणिना । मुहुः पुन । निवारितोऽपि निराकृतोऽपि धावन् वगेन गच्छन् सन् । 'सर्तेर्धौ वेगे' इति सृ गतौ इति धातो वेगार्थे धावादेशः । वनान्ते वनमध्ये । कस्य पुरुषस्य । मुख वदनम् । स्मेर स्मितम् (सस्मितम्) । न करिष्यति न विधास्यति । डुकृञ् करणे लृट् ॥५८॥ पर्यन्तेति । मुग्धाक्षि मुग्धे मनोहरेऽक्षिणी यस्या, तस्या [4]सबोधनम्, भो मनोहरनयने । पर्यन्तजाततरुजालनिरुध्यमानभास्वत्करेषु पर्यन्ते समीपे जातानामुत्पन्नाना तरूणा वृक्षाणा जालेन समूहेन निरुध्यमाना आव्रियमाणा[5] भास्वत सूर्यस्य करा किरणा येषु तेषु । वनान्तलतागृहेषु वनस्यान्ते मध्ये विद्यमानाभिर्लताभिर्वल्लरीभिर्निर्मितानि गृहाणि तेष्वपि । त्वद्वक्त्रचन्द्ररुचिभि तव ते वक्त्र मुख तदेव चन्द्र सोम, तस्य मरीचिभि कान्तिभि । रूपकम् । परिहन्यमान-निराक्रियमाण । अन्धकार ध्वान्तम् । नो परिभविष्यति न पराजयिष्यते, इति न, किं तु परिभविष्यत्येव । न अस्मान् । परिभविष्यति अवघोरयिष्यति, इति न । त्वन्मुखचन्द्रे सति तत्रान्धकारस्य मनागपि सभावना नास्ति, इति भाव ॥५९॥ दृष्ट्योरिति[6] । इन्दुवदने इन्दुरिव वदन मुख यस्या तस्या सबोधनम्[7], भो चन्द्रमुखि । उपमा । मदालिषु मदेन युक्तेषु अलिषु भृङ्गेषु । दृष्ट्यो नयनयो । शरीरयष्टे, लतासु वल्लरीषु । विचित्र-कदलीषु विचित्रासु आश्चर्यभूतासु कदलीषु रम्भासु, ऊर्वो । बिम्बे बिम्बफले । अधरस्य रदनच्छदस्य । सादृश्य साम्यम् । ईक्षमाणा आलोकमाना । स्वसखीजनेन निजालिजनेन[8] । सवाहिताङ्घ्रियुगला सवाहित मर्दितमङ्घ्र्यो पादयोर्युगल यस्या सा (त्वम्) । विहर विहार कुरु । हृञ् हरणे लेट् (लोट्) । उपमा

तुम्हारी शिष्यता स्वीकार करनेके लिए लालायित हो उठेगा ॥ ५७ ॥ हे सुन्दरि ! हाथसे बार-बार हटाया गया भी भौरा नवीन कोपलकी आभा वाले तुम्हारे होठपर अशोककी कोपलके भ्रमसे दौडकर उपवनमे किसके मुखको हासयुक्त नही कर देगा ? ॥ ५८ ॥ हे सुन्दर आँखो वाली ! वहाँ लतामण्डप बने हुए हैं, उनके चारो ओर घनी वृक्षावली लगी हुई है, जिससे सूर्य की किरणें बाहर ही रोक दी जाती हैं—अन्दर प्रवेश नही कर पाती । अतः वहाँ अन्धकार छाया रहता है । फिर भी तुम्हारे मुखचन्द्रकी कान्तिसे वह नष्ट कर दिया जायगा । हम लोगोको बाधा नही पहुँचा सकेगा ॥ ५९ ॥ हे चन्द्रवदने ! वहाँपर तुम अपनी आँखोकी समानता मतवाले भौंरोमे, शरीरकी समानता लताओमे, ऊरुओकी समानता विचित्र कदली वृक्षोमे, होठकी समानता कुन्दरूमे देखती हुई विहार करना । थकान होनेपर तुम्हारी

---

१ अ 'युगलासु । सखीजनेन । २ श हस्तेति । ३ = नवविद्रुमवदाभा यस्य तस्मिन्, विद्रुमवर्णे—इत्यर्थ । ४. = तत्सबुद्धौ । ५ आ आह्रियमाणा । ६ एष टीकानुग. पाठ, प्रतिषु तु 'दृष्टे.' इत्येव समुपलभ्यते । ७ = तत्सबुद्धौ । ८ श निजालिजनेन' इति नास्ति ।

क्षणमिति मधुराभिर्भूपतिर्भारतीभिः स रहसि रमयित्वा वल्लभां वद्धभावाम्।
निजनगरनिवेशे[1] लोकमानन्दयन्तीं वनविहरणयात्राघोषणामादिदेश ॥६१॥
दिङ्नागान्प्रतिदन्तिशङ्किमनसः श्च्योतत्कटान्कोपय-
न्नम्भ पूर्णपयोदरेकिहृदयानुत्कण्ठयन्केकिनः।
नागानुत्फणयंश्चमत्कृतिभृतो भूभृत्तटांश्चालय-
न्व्योम व्याप[2] मृदङ्गभूरुदयवान्प्रस्थानशंसी ध्वनि.॥६२॥

॥ इति श्रीवीरनन्दिकृतावुदयाङ्के चन्द्रप्रभचरिते महाकाव्येऽष्टम सर्गः ॥८॥

॥६०॥ क्षणमिति। स. भूपति अजितसेनचक्रवर्ती। इति उक्तप्रकारेण। क्षणम् अल्पकालपर्यन्तम्। मधुराभिः मनोहराभि। भारतीभिः वचनै। वद्धभावा वद्धो रचितो भावश्चित्तविकारो यस्या., ताम्। वल्लभा प्राणकान्ताम्, शशिप्रभाम् इति यावत्। रहसि एकान्ते। रमयित्वा क्रीडयित्वा। निजनगरनिवेशे निजनगरस्य स्वपुरस्य निवेशे मध्ये। लोक जनम्। आनन्दयन्तीं सतोपयन्तीम्। वनविहरणयात्राघोषणा वनस्य विहरणस्य[3] क्रीडाया [यात्राया] निर्याणस्य घोपणाम्। आदिदेश आजज्ञे। दिशि अतिसर्जने लिट् ॥६१॥ दिङ्नागानिति। [श्-] च्योतत्कटान् [श्] च्योतन्त कटा येपा तान् स्रवत्कपोलान्। प्रतिदन्तिशङ्किमनस. प्रतिदन्तिन इति प्रतिकूलगजा इति शङ्कि सन्देहयुक्त मनो येपा तान्। दिङ्नागान् दिग्गजान्। कोपयन् क्रोधयन्। अम्भ पूर्णपयोदरेकिहृदयान् अम्भसा सलिलेन पूर्ण पयोदो मेघ इति शङ्कि हृदय चित्तं येपा तान्। केकिन मयूरान्। उत्कण्ठयन् सतोषयन्। चमत्कृतिभृत चमत्कृति चमत्कार भृतो धरत (बिभ्रतीति भृतः धरन्त तान्)। नागान् सर्पान्। उत्फणयन् उद्गतफणान् कुर्वन्। भूभृत्तटान् भूभृता पर्वताना तटान् सानून्। स्फालयन् पादेन प्रहरन्। प्रस्थानशसी प्रस्थानस्य प्रयाणस्य शसी सूची। ध्वनि. ध्वान। मृदङ्गभूः पटहोद्भव। उदयवान्[4] प्रादुर्भावियुक्त.। व्योम गगनम्। व्याप व्याप्नोति स्म। आप्लृ व्याप्तौ लिट्। अतिशय ॥६२॥

इति श्रीवीरनन्दिकृतावुदयाङ्के चन्द्रप्रभचरिते महाकाव्ये तद्व्याख्याने च
विद्वन्मनोवल्लभाख्येऽष्टमः सर्ग.[5] ॥८॥

सखियाँ पैर दबा देंगी ॥ ६० ॥ स्थिर विचारवाली रानी शशिप्रभाको इस प्रकारके मधुर वचनोसे थोडी देर एकान्त स्थानमे आनन्द देकर चक्रवर्ती अजितसेनने अपने नगरके अन्दर सभी लोगोंको आनन्द देनेवाली वनविहारकी यात्राकी सूचना देनेके निमित्तसे घोषणाका आदेश दिया ॥ ६१ ॥ प्रस्थानसूचक मृदग-शब्द बहुत तेज था। वह पूरे आकाशमे गूँज उठा। उसे सुनकर मदजल बहानेवाले दिग्गजोको दूसरे हाथियोके शब्दका भ्रम हो गया, जिससे वे क्रुद्ध हो उठे, मयूरोको सजल मेघोके गर्जनकी आशका उत्पन्न हो गयी, फलतः वे ग्रीवा उठाकर ऊपरकी ओर देखने लगे, नाग आश्चर्यमे पड गये और फन उठाकर इधर-उधर ताकने लगे तथा पहाडोके शिखर हिलने लगे ॥ ६२ ॥

इस तरह श्रीवीरनन्दिविरचित उदयाक चन्द्रप्रभचरित महाकाव्यमें अष्टम सर्ग समाप्त हुआ ॥ ८ ॥

---

१. अ °निवेश। २ अ व्योमव्यायिमृदङ्गभू°। ३. = विहारस्य। ४ = वर्धमान.। ५ आ श चैत्रवर्णनो नामाष्टम. सर्ग।

[९. नवमः सर्गः]

मधुविनिहितविभ्रमाभिरामां मदकलकोकिलनादिनीं नरेन्द्रः ।
परिजनपरिवारितो वनान्तश्रियमबलामिव वीक्षितुं प्रतस्थे ॥१॥
ललितघनतमालका मनोज्ञद्विजसुभगास्तिलकाहितोरुशोभाः ।
स्तनजघनभरालसं प्रचेलुस्तुलितवनावलिविभ्रमा रमण्यः ॥२॥

संसारसिन्धुपतितप्रतिबद्धजीवानुद्धृत्य नित्यपदश्रीमधितिष्ठति स्म
धर्मं प्रकाशयति तं जिनधर्मनाथ तीर्थंकरो जयति सर्वविनेयजन्तो. ॥

मध्विति । परिजनपरिवारित परिजनैः सेवकजनै[2] परिवारित परिवृत । नरेन्द्रः नराणामिन्द्रश्चक्री । मधुविनिहितविभ्रमाभिरामा मधुना वसन्तेन मद्येन च विनिहितेन कृतन विभ्रमेण शोभया अभिरामा विराजमानाम्, पक्षे विभ्रमेण भ्रान्त्या अभिरामा । मनोहराम् । मदकलकोकिलनादिनीं मदेन कल कोकिलस्य नादोऽस्या अस्तीति मदकलकोकिलनादिनी, ताम् । 'मदकलः स्यान्मदे भे मदेनाव्यक्त[3]वाचि च' इत्यभिधानात् । अबलामिव स्त्रियमिव । वनान्तश्रिय वनस्यान्तस्य मध्यस्य श्रिय शोभाम् । वीक्षितु वीक्षणाय । प्रतस्थे प्रययो । ष्ठा गतिनिवृत्तो लिट् । श्लेष ॥१॥ ललितेति ।[4] ललित[5]घनतमालका ललिता[6] मनोहरा घनतमा अलका कुन्तला यासा ता, पक्षे ललिता[7] मनोहरा घना निरन्तरा तमाला तमालवृक्षा यासा ता । मनोज्ञद्विजसुभगा मनोज्ञैर्मनोहरैर्द्विजैर्दन्तै. सुभगा, पक्षे मनोज्ञद्विजै[8] (मनोज्ञैर्द्विजै) पक्षिभि सुभगा । 'दन्तविप्राण्डजा द्विजा' इत्यमर. । तिलकाहितोरुशोभा तिलकै कस्तूर्यादितिलकैराहिता कृता उरु (उर्वी) महती शोभा यासा ता, पक्षे तिलकवृक्षै । तुलितवनावलिविभ्रमा तुलिता समानीकृता वनानामावलिरिव पङ्क्तिरिव विभ्रमा[9] मनोहरा । रमण्यः वनिता । स्तनजघनभरालस स्तनजघनयो स्तननितम्बयो-

---

इसके पश्चात् वनकी शोभा देखनेके लिए राजा अजितसेनने अपने स्थानसे प्रस्थान कर दिया । इस अवसरपर वे चारो ओरसे अपने पूरे परिवारसे घिरे हुए थे । वनकी जिस शोभाको देखनेके लिए वे जा रहे थे, वह युवतीके समान थी । युवती मद्यपान कर लेनेपर विलाससे मनोज्ञ हो जाती है और मद्यके नशेमे कोकिलकी भाँति अव्यक्त, किन्तु मधुर शब्दोमे बोलने लगती है । इसी तरह वनकी सुषमा भी वसन्तकी छटासे दर्शकोको रमानेवाली हो जाती है तथा मतवाले कोकिलोके शब्दोसे आकर्षक ॥ १ ॥ उस यात्रामे स्तन और नितम्बके बोझसे जो स्त्रियाँ अलसायी हुई सी, चली जा रही थी, उनकी शोभा वन पक्तिके समान थी । वनोकी पक्तिमे सुन्दर एव सघन तमाल वृक्ष होते हैं, वह मनोज्ञ पक्षियोसे सुहावनी होती है और तिलक वृक्षोसे उसकी श्रीवृद्धि होती है । इसी तरह उन स्त्रियोके केश सुन्दर और अत्यधिक सघन थे, वे सुन्दर दाँतोसे बडी सुहावनी थी और सुहाग-बिन्दुओसे उनकी शोभा

---

१. आ पद्यमिदं नास्ति । २ श 'सेवकजनै' इति नास्ति । ३ आ मदे व्यक्त॰ श मदे वाव्यक्त॰ । ४ श अलितेति । ५ श अलित॰ । ६ श अलिता । ७ श अलिताः । ८ आ मनोज्ञा द्विजे । ९ = विभ्रमा शोभा यासि, ता॰ ।

प्रणदितकलकाञ्चिनूपुरोत्थं[1] ध्वनिमनुबध्नति राजहंसयूथे ।
सदृशगतिकुतूहलेन दृष्टिर्मुहुरपतद्वनिताजने च यूनाम् ॥३॥
[2]सुललितगमनो न राजहंसः कलभपतिर्न च मन्थरप्रयात. ।
अलसगतिषु वामलोचनानां गुरुरजनिष्ट निजो नितम्बभारः ॥ ४ ॥
गगनमुभयतः प्रपूर्यमाणं हरिणदृशा चटुलैः कटाक्षपातैः ।
पवनविधुतनीलनीरजौघव्यतिकरिणः सरसो बभार लक्ष्मीम् ॥ ५ ॥

भरेण भारेणालस यथा भवति तथा। प्रचेलु प्रययु । चल कम्पने लिट् ॥२॥ प्रणदितेति । प्रणदितकलकाञ्चिनूपुरोत्थ प्रणदितैर्मनोहरध्वनितै कलैर्मनोहरै काञ्चिनूपुरै काञ्चिदामपादकटकै उत्थ जातम् । ध्वनि शब्दम् । अनुबध्नति अनुयाति । राजहंसयूथे राजहसाना यूथे समूहे । वनिताजने[3] वनिता एव जन. तस्मिन्, च । तरुणाना (यूनाम्) । दृष्टि नयनम् । सदृशगतिकुतूहलेन सदृशगतौ समानगमने कुतूहलेन कौतुकेन । मुहु' पुन पुनः[4] । अपतत् । अपप्तत् । पत्लृ गतौ लुट् ॥३॥ सुललितेति । वामलोचनाना कामिनीनाम् । निजः स्वकीय । नितम्बभारः नितम्बस्य भार । सुललितगमन सुललित सुरुचिर गमन यस्य स. । तथापि राजहस हसपक्षी । नाजनिष्ट नाभवत् । मन्थरप्रयात मन्दगमन., सन्नपि । कलभपति करिशावकपति. । न च नाजनिष्ट । तत', अलसगतिषु मन्दगतिषु गमनेषु । गुरु उपदेशक. । अजनिष्ट बभूव[5] । जनैङ् प्रादुर्भावे लुङ् ॥४॥ गगनमिति । हरिणदृशा हरिणस्य (दृशौ) इव दृशौ नयने यासा तासाम्, नारीणाम्–इत्यर्थ । चटुलै चचलै.[6] । कटाक्षपातै कटाक्षस्यापाङ्गदर्शनस्य पातैर्विन्यसै । उभयत: उभयपार्श्वत । प्रपूर्यमाण सपूर्णं क्रियमाणम् । (भ्रियमाणम्) । गगनम् आकाशम् । पवनविधुतनीलनीरजौघव्यतिकरिण पवनेन वायुना विधुतस्य[7] (कम्पितस्य) नीलाना कृष्णाना नीरजाना नीलोत्पलानामिति यावत्, ओघस्य समूहस्य व्यतिकरिणो व्यतिकर' सभ्रमोऽस्त्यस्येति तथोक्त, तस्य । 'व्यतिकर. स्याद् व्यसनव्यतिषङ्गयो' इति विश्व । सरस सरोवरस्य । लक्ष्मी शोभाम् । बभार धरति स्म ।

और भी अधिक बढ़ गयी थी ॥ २ ॥ यात्रामे सम्मिलित होनेवाली सभी स्त्रियोकी कमरमे बजनेवाली करधनी और पैरोमे नपूर थे। चलते समय उन दोनोकी ध्वनि सुनकर राजहसोका झुण्ड इधर-उधरसे आ-आकर उनके पीछे-पीछे चलने लगा। उन स्त्रियो और हसोकी बिलकुल एक सरीखी चाल देखकर युवकोको बडा कौतूहल हुआ, अत उनकी दृष्टि स्त्रियो और हसोकी ओर बार-बार जा रही थी ॥ ३ ॥ राजहस उतना सुन्दर गमन नही कर पाता और न श्रेष्ठ कलभ भी उतनी मन्दगतिमे चल सकता है। अतः स्त्रियोको सुन्दर एव मन्द गतिका उपदेश देनेवाला गुरु उनके नितम्बका भार था, न कि राजहस या कलभ ॥ ४ ॥ हिरणोके समान सुन्दर नेत्रोवाली स्त्रियोके चचल कटाक्षोसे दोनो ओरसे व्याप्त होकर आकाश उस सरोवरके समान हो गया, जिसमे वायुसे कम्पित होकर नील कमलोका समूह लहरा रहा

---

१ आ इ 'काञ्ची°' । २ अ स ललित । ३ =वनितानां जनो वर्ग तस्मिश्च । ४. न 'पुन' इति नोपलभ्यते । ५ =राजहस. मराल । सुललितगमन सुललितमतिमनोहर गमन यस्य स । न नास्ति । कलभपति. च त्रिंशद्वर्षककरिशावकेशोऽपि । मन्थरप्रयात मन्थर मन्द प्रयात गमन यस्य स. । न न वर्तते । अतो वामलोचनाना कामिनीनाम् । अलसगतिषु मन्दगतिषु । निज स्वकीय एव । नितम्बभार वृहन्नितम्बः । गुरु शिक्षक । अजनिष्ट समजनि । नितम्बिनीना यादृशी गतिरस्ति तादृशी राजहंसे कलभे च नावलोक्यते । अत एव वामलोचनागतिशिक्षणे तन्नितम्ब एव गुरुर्न राजहंसो न च कलभ इति निगदितार्थ । व्यतिरेकालङ्कार ॥४॥ ६ स चंचलै. । ७. स विधूतस्य ।

ललिततिलकमण्डनानि मुग्धे रचयितुमेष वृथा तव प्रयासः ।
मुखकमलमलं करोति यत्ते पतदलिनीकुलमेव पद्ममोहात् ॥६॥
विरचयसि यमादरेण हारं तमपि तवाहमवैमि शुद्धभारम् ।
कमलमुखि पयोधरान्तराले श्रमजलबिन्दुविभूषिते व्रजन्त्याः ॥७॥
श्रवणतटविलम्बि संविधत्ते नयनयुगं न किमेतदीयशोभाम् ।
वरतनु विफलक्रियं[1] विधातुं यदसितमुत्पलमुद्यतासि कर्णे ॥ ८ ॥
चिरयसि परमेव निक्षिपन्ती रसमतिसान्द्रमलक्तकस्य कान्ते ।
ननु किसलयभासि रागबन्धस्तव पदपद्मतले निसर्गसिद्धः ॥ ९ ॥

टुभृञ् धारणपोषणयो लिट्। उत्प्रेक्षा (निदर्शना) ॥५॥ ललितेति । मुग्धे सुन्दरि । 'मुग्ध सुन्दरमूढयो' इत्यभिधानात् । ललिततिलकमण्डनानि ललितानि मनोहराणि तिलकान्येव मण्डनानि यद्वा उपलक्षणात् तिलक-प्रभृतिमण्डनानि तथोक्तानि । विरचयितु [रचयितु] कर्तुम् । तव ते । एष अयम् । प्रयास प्रयत्न । वृथा व्यर्थ । यत् यस्मात् । पद्ममोहात् पद्मम्—इति मोहाद् भ्रान्ते । पतदलिनोकुलमेव पतन्तीनामलिनीना भृङ्गीणा कुलमेव समूह एव । ते तव । मुखकमल वदनपङ्कजम् । अलकरोति मण्डयति । डुकृञ् करणे लट् । रूपकम् ॥६॥ विरचयसीति । कमलमुखि कमलमिव पद्ममिव मुख यस्या तस्या सबोधनम्[3] । य हार हारयष्टिम् । आदरेण प्रीत्या । विरचयसि सधारयसि । रच प्रतियत्ने लट् । तमपि हारमपि । अहम् व्रजन्त्याः गच्छन्त्या । श्रमजलबिन्दुभूषिते श्रमजलस्य स्वेदसलिलस्य विन्दुभिर्विप्रुड्भिर्भूषिते मण्डिते । पयोधरान्तराले पयोधरयोः स्तनयोरन्तराले मध्ये । तव ते । शुद्धभार[4] तूर्णो भारमिति । अवैमि जानामि । इण् गतो लट् । उत्प्रेक्षा । ७॥ श्रवणेति । वरतनु वरा मनोहरा तनुरङ्ग यस्याः तस्या सबोधनम्, भो मनोहराङ्गि । विफलक्रिय विफला-निष्फला क्रिया यस्मिन् कर्मणि तत्० । यत् असित कृष्णम् उत्पल नोलोत्पलम्—इति यावत् । कर्णे श्रोत्रे । विधातु कर्तुम् । उद्यता उद्युक्ता । असि भवसि । अस भुवि लट् । एतदोयशोभाम् एतदोयस्य नोलोत्पल-सबन्धस्य शोभा विलासम् । श्रवणतटविलम्बि श्रवणयो कर्णयोस्तट मूल विलम्बि[5] आश्रयशीलम् । नयनयुग नयनयोर्नेत्रयोर्युग[6] युग्मम् । न सविधत्ते कि न सधरति[7] कि, किन्तु सविधत्ते एव । सामान्यम् ॥८॥ चिरयसीति । कान्ते भो ललने । अलक्तकस्य यावकस्य[8] । अतिसान्द्रम् अतिघनम् । रस द्रवम् । निक्षिपन्ती स्थापयन्ती । परमेव अत्यन्तमुत्कृष्टमेव । चिरयसि चिर करोषि आलस्य करोषि—इत्यर्थ । किसलयभासि[9] किसलयमिव भासि कान्तियुक्ते । ते तव । पदपद्मतले [10]पदमेवपद्मतल रक्तसरोरुह तस्मिन् । रागबन्ध

हो ॥ ५ ॥ हे सुन्दरी ! सुन्दर तिलक आदि लगाकर शृंगार करनेका तेरा यह प्रयास व्यर्थ है, क्योकि कमलके भ्रमसे आया हुआ भौरियोका झुण्ड ही तेरे मुख-कमलको अलकृत कर रहा है ॥ ६ ॥ हे कमलमुखो, जिस हारको तू बडे शौकसे पहन रही है, मैं उसे केवल, तेरा बोझ ही समझता हूँ, जब कि चलनेसे तेरे स्तनोके बीचका भाग पसीनेके बिन्दुओसे भूषित, भूषित नही, विभूषित है—हारसे भी कही अधिक सुन्दर प्रतीत हो रहा है ॥ ७ ॥ हे सुन्दर शरीर-वाली ! कानो तक फैले हुए नेत्रोसे क्या तेरे इन (कानो) की शोभा नही है, जो तू नील-कमलोको व्यर्थ ही कानोके ऊपर धारण करनेके लिए उद्यत हो रही है ॥ ८ ॥ हे प्रिये ! खूब गाढ़ा महावर लगाकर तू केवल विलम्ब ही कर रही है (न कि पैरो का शृंगार), क्योकि नयी कोपलो सरोखो कान्तिको धारण करने वाले तेरे चरण-कमलोंके तलवोमे निश्चय ही

१ आ इ विपुलक्रि° । २ आ टु डु भृञ् भरणे लिट्, श टु डु भृञ् धारणपोषणयोर्लिट् । ३ = तत्संबुद्धौ । ४ = केवलभारमिति । 'शुद्ध केवलपूतयो.' इत्यनकार्थसग्रह । ५. = विलम्बते समाश्रयतीत्येवं शीलम् । ६ आ युगल । ७ = विदधाति । ८ आ युवकस्य । ९ = किसलयवद् मा. कान्तिर्यस्य तस्मिन् । १०. श पदावेव ।

लघु जिगमिषुणेति काचिदूचे स्ववपुरलंकरणाकुला प्रियेण ।
प्रतिपदमवगच्छता तदीय जघनमहाभरविघ्नितं[1] प्रयातम् ॥ १० ॥
सकृदबुधतया कृतेऽपराधे भवति ततो विनिवृत्तिरेव दण्ड ।
तदहमपि न तं पुनर्विधास्ये सुतनु[2] तवेति स वल्लभो ब्रवीति ॥ ११ ॥
अपि च सुवदने नरो न दोषाद्विरमति शिक्षयते न यावदन्य ।
स च कुसुमशरेण शिक्षितस्त्वद्विरहसखेन निनीषुणा विनाशम् ॥ १२॥
न च सखि सुसहस्त्वयापि तावत्प्रियविरह' क्षयहेतुरङ्गयष्टेः ।
कथयति हि तवोष्ठबिम्बमुष्णश्वसितविरूक्षितमान्तरङ्गमाधिम्[3] ॥ १३ ॥

रागस्यारुणस्य[4] बन्ध सबन्ध । निसर्गसिद्ध स्वभावसिद्धः । ननु खलु ॥९॥ लघ्विति । स्ववपुरलकरणाकुला स्ववपुष स्वशरीरस्यालकारणेऽलङ्कारे (मण्डने) आकुला सक्ता । काचित् एका स्त्री । प्रतिपद पद पद प्रति चरणनिक्षेपण चरणनिक्षेपण प्रति । जघनमहाभरविघ्नितं जघनस्य नितम्बस्य महाभरेण भारेण विघ्नित॰ मन्तरितम् । तदीय तस्या इद तदीयम् । प्रयात गमनम् । अवगच्छता जानता । लघु जिगमिषुणा लघु शीघ्रं जिगमिषुणा[5] गन्तुमिच्छुना । प्रियेण दयितेन । इति वक्ष्यमाण (उक्त-) प्रकारेण । ऊचे उच्यते स्म । पञ्चभिः कुलकम्[6] ॥१०॥ सकृदिति । सतनु भो मनोहराङ्गि । अबुधतया अज्ञानतया । सकृत् एकवारम् । अपरावे दोषे । कृते विहिते । तत तस्मात् । विनिवृत्तिरेव निराकृतिरेव । दण्ड.[7] अपराध (?) भवति । भू सत्ताया लट् । तस्मात्, अहमपि, तम् अपराधम् । पुनः पश्चात् । न विधास्ये न करिष्ये । स , तव ते । वल्लभ॰ प्राणनायकः । इति एवम् । ब्रवीति वदति ॥११॥ अपीति[8] । सुवदने सुभगमुखि । अपि च विशेषोऽस्ति (अथ च) । अन्यः, नरः पुरुष । यावत् यत् (यावत्) पर्यन्तम् । न शिक्षयते शिक्षा न करोति । शिक्षि[9] । विद्योपादाने ण्यन्ताल्लट्[10] । तावत्—इत्यध्याहार । दोषात् अपराधात् । न विरमति नापसरति । 'न पयोड् वे रम ' इति तङ् न भवति । विनाश विनाशनम्[11] । निनीषुणा नेतुमिच्छुना । त्वद्विरहसखेन[12] तव ते विरहस्य वियोगस्य सखेन (?) सहायेन । कुसुमशरेण पुष्पबाणेन । स च पुरुष । शिक्षित ॥१२॥ न चेति । सखि भो वयस्ये । अङ्गयष्टे शरीरयष्टे. । क्षयहेतुः नाशकारणम् । प्रियविरह. प्रियस्य दयितस्य विरहो वियोग ।

स्वाभाविक लालिमा बनी हुयी है ॥ ९ ॥ शीघ्र ही जानेके लिए इच्छुक नायकने इस तरह अपनी पत्नीसे कहा, जो अपने शरीरका शृङ्गार करनेमे व्यग्र थी, क्यो कि वह पहलेसे ही उसके नितम्बके भारी भारसे गमनमे पग-पगपर आनेवाली बाधाको जो जानता था । (छठे श्लोकसे यहाँ तक सम्बन्ध है) ॥ १० ॥ हे सुन्दर शरीरवाली ! तेरा पति यो कहता है कि भूलसे एकबार अपराध कर लेनेपर उससे निवृत्त होना ही दण्ड है । अत. मैं भी अब कभी उस अपराधको नही करूँगा, जो मुझसे भूलवश एक बार हो गया है ॥ ११ ॥ हे सुन्दर मुखवाली । और एक बात यह भी तो है कि मनुष्य किसी अपराधसे तभी तक निवृत्त नही होता, जबतक कि उसे कोई शिक्षा नही दे देता–समझा नही देता । विरहावस्थामे तुम्हारी मदद करनेवाले और अपराधीको विनाशकी ओर ले जानेकी इच्छा रखनेवाले कामदेवने उसे (तेरे पतिको) खूब शिक्षा दे दी है ॥ १२ ॥ हे सखि । प्रियका विरह शरीरके विनाशका कारण है, अत॰ तेरे लिए भी वह (प्रिय विरह) आसानीसे सहने योग्य

---

१ अ जनमनहाभविघ्नित । २. आ इ सुतनो । ३ म आ इ °तमङ्गरङ्गमाधिम् । ४. = रागस्य आरुण्यस्य । ५ = गन्तुमिच्छुर्जिगमिषु , तेन । ६ आ इ 'कुलकम्' इति नास्ति । ७ =दमनोपायः । ८ श अपीति । ९ आ शिक्षा । १० आ लुट्, श लृट् । ११. आ नाशनम् । १२ तव विरहो वियोग॰ स एव सखा मित्र यस्य, तेन ।

त्यज मम विरहोऽधुनेव पश्चादपि न रुजाकर इत्यपि स्वमानम् ।
नहि भवति यथा स्थिर क्रियादावधिकृतनिर्वहणे तथैव चेतः ॥ १४ ॥
इति हितमधुरैरिवाहिमन्त्रैरपहृतमानविषा सखीवचोभिः ।
दयितमनुजगाम मन्दमन्द निहितपदा किल नेच्छतीव काचित् ॥ १५ ॥
(कुलकम्[१])

स्मरपरवशबुद्धिरसपृष्ठप्रगमितपाणिधृतप्रियाकुचाग्र ।
गजपतिरिव मन्थरेण कश्चित्समुपजगाम शनै. पदक्रमेण ॥ १६ ॥

त्वयापि[२] । तावत्[३] तत्पर्यन्तम् । सुसह सुखेन सह । स च[४] । तव ते । आन्तरङ्गम् अन्तरङ्गभवम् । आधि पीडाम् । उष्णश्वसितविरूक्षितम् उष्ण[५]श्वसितेन श्वासेन विरूक्षित परुषितम् । ओष्ठबिम्बम्[६] ओष्ठोऽधर स एव बिम्ब बिम्बफलम् कथयति हि वदति । कथ वाक्यप्रबन्धे लट् । अनुमिति ॥१३॥ त्यजेति । मम मे । विरह वियोग. । अधुनेव इदानीमिव । 'सदैतर्ह्यधुनेदानीं सद्य ' इति साधु । पश्चादपि परस्मिन्नपि[७] (समये) । रुजाकर पीडाकर. । न भवति, इत्यपि, स्वमान स्वस्य मान गर्वम् । त्यज जहि । त्यज हानौ लोट्[८] । चेत चित्तम् । क्रियादौ क्रियाया कार्यस्यादौ प्रारम्भे । यथा, स्थिर दृढम् । तथैव[९] । अधिकृतनिर्वहणे अधिकृतस्य प्रारब्धस्य निर्वहणे[१०] सपूर्णकरणे । न भवति हि नास्ति हि ॥१४॥ इतीति । इति एवम् । हितमधुरै. हितैर्हितभूतैर्मधुरैर्मनोहरै । अहिमन्त्रैरिव विषापहारमन्त्रैरिव । सखीवचोभि सख्या आल्या वचोभिर्वचनै । अपहृतमानविषा अपहृत निराकृत मान एव गर्व एव विष यस्या सा । नेच्छतीव न वाञ्छतीव । मन्द मन्द शनै शनैः । 'वीप्सायाम्' (इति) द्वि । निहितपदा[११] निहितौ निक्षिप्तौ पदौ यया सा । काचित् अन्या वनिता । दयित वल्लभेन सह (वल्लभम्) । अनुजगाम अनुयाति स्म । गम्लृ गतौ लिट् । उपमा – (रूपकमुत्प्रेक्षा च) । पञ्चभि कुलकम्[१२] ॥१५॥ स्मरेति । स्मरपरवशबुद्धि स्मरेण मन्मथेन परवशा पराधीना बुद्धिर्यस्य स । असपृष्ठप्रगमितपाणिधृतप्रियाकुचाग्र असेन भुजशिरसा पृष्ठे चरमतनौ[१३] प्रगमितेन प्रापितेन पाणिना हस्तेन धृत प्रियाया दयिताया कुच ग्र यस्य[१४] स । गजपतिरिव गन्धहस्तीव । कश्चित्[१५] एकनायक. । मन्थरेण मन्देन । पदक्रमेण पदविन्यासेन । शनै , समुपजगाम [१६]समुपयाति स्म ।

नही है, क्योंकि तेरा होठ, जो गरम श्वासवायुसे रूखा पड गया है, और जिसपर पपडी पड गयी है, तेरी मानसिक व्याधिको बतला रहा है ॥ १३ ॥ जैसे इस समय मुझे प्रियका विरह पीडा नही दे रहा है, इसी तरह आगे भी नही देगा, यह सोच कर भी तू मान मत कर–मानको छोड दे, क्योंकि किसी भी कार्यके प्रारम्भमे मन जैसा स्थिर होता है, वैसा उसके अन्त तक नही रहता ॥ १४ ॥ इस तरह हितकर, मधुर एव सर्पमन्त्रके समान सखीके वचनोसे किसी मानवती नायिकाका मान विषकी तरह शान्त हो गया । फलतः वह अपने पतिके पीछे-पीछे धीरे-धीरे पैर रखकर चलने लगी, जिससे उस समय वह ऐसी जान पडती थी मानो जाना नही चाहती हो ॥१५॥ एक कामी—जिसकी बुद्धि कामदेवके वशमे थी—अपनी प्रियाके कन्धे और पीठके ऊपरसे बगलमे डाले हुए हाथसे उसके स्तनके अगले भागको पकडकर गजराजकी तरह

---

१ आ द्व 'कुलकम्' इति नास्ति । २ = भवत्यापि । ३ = वाक्यालङ्कारे । ४ = विरह । ५ आ उष्णस्य । ६ = ओष्ठो बिम्बमिवेत्योष्ठबिम्बम् । ७ श 'परस्मिन्नपि' इति नोपलभ्यते । ८ श लेट् । ९ = तेनैव प्रकारेण । १० = निर्वाहे । ११ = निहिते निक्षिप्ते पदे यया सा । १२ श 'पञ्चभिः कुलकम्' इति नोपलभ्यते । १३ श गतौ । १४ = येन । १५ श कश्चिदेव । १६. आ समनु° ।

कृतमनसिजवेगमूरुयुग्मं पथिजपरिश्रमनोदनापदेशात् ।
मुहुरलसगतेः[1] स्पृशन्प्रियायाः समुपययावपरोऽल्पकेऽपि मार्गे ॥ १७ ॥
इति कृतविविधप्रकारचेष्टा मनसिशयाकुलचेतसः[2] सभार्याः ।
विविशुरुपवनं पुरः प्रयातक्षितिपतिसेवितकृत्रिमाद्रि पौराः ॥ १८ ॥
तरुविटप[3]शिखावसक्तहस्ताश्चिरमनुपात्तनिमेषनेत्रयुग्मा ।
फलकुसुमसमृद्धिमीक्षमाणा हरिणदृशो वनदेवता इवाभुः ॥ १९ ॥
सति निजकरजारुणांशुभिन्ने जरठपलाशचये महीरुहाणाम् ।
समजनि वनिताजनस्य हेतुर्मृदिमगुणो नवपल्लवावबोधे ॥ २० ॥

गम्लृ गतौ लिट् । उपमा ॥१६॥ कृतेति । अपरः अन्यो नायक । पथिजपरिश्रमनोदनापदेशात् पथिजस्य मार्गजातस्य परिश्रमस्य नोदनस्य निराकरणस्यापदेशाद् व्याजात् । अलसगते अलसा मन्दा गतिर्गमन यस्याः तस्या । प्रियाया दयिताया । कृतमनसिजवेग कृतो विहितो मनसिजो[4] मनसि जातो वेग शीघ्र यथा तथा । ऊरुयुग्मम् ऊर्वोर्युग्म युगलम् । मुहु भूय । स्पृशन् स्पर्शन कुर्वन् । अल्पके समीपे । मार्गेऽपि सत्यपि । समुपययौ समुपजगाम । या प्रापणे लिट् ॥१७॥ इतीति । इति एवम् । कृतविविधप्रकारचेष्टा. कृता विविधप्रकारा नानाप्रकारा चेष्टा व्यापारा यै , ते । मनसिशयाकुलचेतस. मनसिशयेन कामेनाकुल व्याकुलित[5] चेतश्चित्त येषा ते । सभार्याः जायाजनसहिता. । पौरा पुरे भवा पौरा पुरजना । पुर अग्रे । प्रयातक्षितिपतिसेवितकृत्रिमाद्रि प्रयातेन गतेन क्षितिपतिना भूमिपतिना सेवित आश्रित कृत्रिमाद्रि कृतकःशैलो यस्मिन् तत् । उपवन क्रीडावनम् । विविशु प्रविष्टा ॥१८॥ तरुविटपेति । तरुविटपशिखावसक्तहस्ता. तरूणा वृक्षाणा विटपाना[6] शिखानामग्रेऽवसक्ता न्यस्ता हस्ता यासा (याभिः) ता । चिर[7] मन्दम् । अनुपात्तनिमेषनेत्रयुग्मा अनुपात्तोऽस्वीकृतो निमेषो निमीलन यस्य तत्तथोक्त नेत्रयोर्नयनयोर्युग्म तथोक्तम्, अनुपात्तनिमेष नेत्रयुग्म यासा ता. । फलकुसुमसमृद्धि फलाना कुसुमाना पुष्पाणा (च) समृद्धि प्रवृद्धिम् । ईक्षमाणा विलोकमाना । हरिणदृश हरिणस्य (दृशौ) इव दृशौ यासा ता. । वनदेवता इव वनस्य देवता इव देववनिता इव । आभु. रेजु । भा दीप्तौ लङ्[8] ॥१९॥ सतीति । महीरुहाणा वृक्षाणाम् । जरठपलाशचये जरठाना पुराणाना पलाशाना पत्राणा चये समूहे । निजकरजारुणांशुभिन्ने निजाना करजाना नखानामरुणैर्लोहितैरंशुभिर्भिन्ने मिश्रिते सति । वनिताजनस्य[9] वनिता एव जन , तस्य । रूपकम् (?) । नव पल्लवावबोधे नवा नूतना पल्लवाः किसलयानि—इत्यवबोधे विज्ञाने । मृदिमगुणः मृदु (ता) गुण । हेतु कारणम् । समजनि अजायत । जनैङ् प्रादुर्भावे लुङ् । 'दीप्जूरजन्–'

धीरे-धीरे आगे बढ रहा था ॥१६॥ दूसरा कामी मन्द गतिसे चलती हुई प्रियाके ऊरुओ—घुटनेके ऊपरी भागोको, मार्गकी थकावटको दूर करनेके बहानेसे सुहराकर काम-विकारके वेगको बढाता हुआ, वहुत सकरे रास्तेसे भी आनन्द पूर्वक चला जा रहा था ॥१७॥ इस प्रकारकी और भी अनेक चेष्टाओको करनेवाले सपत्नीक पुरवासियोने—जिनके मन कामदेवसे व्याकुल थे—नगरके उस उपवनमे प्रवेश किया, जिसके कृत्रिम पर्वत पर चक्रवर्ती अजितसेन पहले ही पहुँच चुका था ॥१८॥ उपवनमे पहुँचकर मृगसरीखे नेत्रोवाली स्त्रियाँ वृक्षोकी शाखाओको पकडकर उनके फलो और फूलोकी समृद्धिको निर्निमेप-अपलक दृष्टिसे देखने लगी । उस समय वे ऐसी जान पडती थी मानो वनदेवियाँ हो ॥१९॥ वृक्षोके पुराने पत्तोके समूहको स्त्रियोने अपने नखोको लाल कान्तिसे बिलकुल ही भिन्न बना दिया—पीलेसे लाल कर दिया, और फिर

---

१ आ इ °रलसगति । २. अ मनसिज व्याकुल° । ३ म तटविटप° । ४ =कामजो° । ५ =व्याकुल । ६ = शाखानाम् । ७. = चिरात् । ८. श लिट् । ९.=वनिताना जनो वर्ग., तस्य ।

प्रगमितमरविन्दलोचनायाः प्रणयवता श्रवणावतंसभावम् ।
[1]स्वयमतिविहितादरेण शोकं व्यतरदशोकमपि प्रतीपपत्न्याः ॥ २१ ॥
कुसुमकिसलयं विचेतुकामां विटपिनि सत्यपि नम्रनम्रशाखे ।
तरुमनयत तुङ्गमेव भर्ता भुजयुगमूलदिदृक्षया मृगाक्षीम् ॥ २२ ॥
तिलकमिति यदत्र पूर्वमासीद्भुवि विदितं खलु नाममात्रकेण ।
कुवलयनयनाभिरुत्तमाङ्गे निहितमवाप यथार्थतां तदानीम् ॥ २३ ॥
वपुषि कनकभासि चम्पकानां सुदति न ते परभागमेति माला ।
स्तनतटमिति संस्पृशन्प्रियाया हृदि रमणो बकुलस्रजं बबन्ध ॥ २४ ॥

इत्यादिना जि । 'जेः' इति तस्य लुक् । हेतु ॥२०॥ प्रगमितमिति । स्वयम्, अतिविहितादरेण अतिविहितेनातिक्रमेण विहितेन कृतेनादरेण प्रीत्या । प्रणयवता स्नेहवता पुरुषेण[2] अरविन्दलोचनाया अरविन्दे कमले इव लोचने यस्या तस्या । श्रवणावतंसभाव श्रवणयोः कर्णयोरवतंसयो कर्णपूरयोर्भाव स्वरूपम्[3] । प्रगमित प्रापितम् । अशोकमपि कङ्केलिपुष्पमपि । प्रतीपपत्न्या सपत्न्या । शोक दु खम् । व्यतरत् करोति स्म । तॄ प्लवनतरणयोर्लङ् । पर्यायोक्तिः ॥२१॥ कुसुमेति । भर्ता वल्लभ । कुसुमकिसलयं पुष्पपल्लवम् । 'शेषोऽप्राणी' इति द्वन्द्वैकत्वम् । विचेतुकामा छेत्तुकामाम् । 'तुमो मनस्कामे' इति तुमो मकारस्य कामे परे लुक् । मृगाक्षीं कुरङ्गाक्षीम् । नम्रनम्रशाखे[4] नम्रनम्रेऽत्यन्त नम्रे शाखे शाखायुक्ते । विटपिनि वृक्षे, सत्यपि । भुजयुगमूलदिदृक्षया भुजयो बाह्वोर्युग युग्म तस्य मूलस्य दिदृक्षया द्रष्टुमिच्छया । तुङ्गमेव उन्नतमेव । तरु वृक्षम् । अनयत् प्रापयत् । णीञ् प्रापणे लङ् । द्विकर्मक ॥२२॥ तिलकमिति । अत्र भुवि भूमौ । यत् पूर्वं प्राक् । तिलकमिति तिलकपुष्पमिति । नाममात्रेण सञ्ज्ञामात्रेण । विदित प्रसिद्धम् । आसीत् खलु अभवत् खलु स्फुटम् । कुवलयनयनाभि कुवलयमिव नीलोत्पलवन्नयने यासा ताभि । उत्तमाङ्गे मस्तके । निहित धृतम् । तदानीं तस्मिन् काले । यथार्थता[5] सत्यरूपसञ्ज्ञात्वम्[6] । अवाप ययौ । आप्लृ व्याप्तौ लिट् ॥२३॥ वपुषीति । सुदति सु शोभना दन्ता अस्या इति (सुदती तत्सम्बुद्धौ) मनोहरदन्तयुक्ते । 'वयसि दन्तस्य दतृ' इति दन्तस्य दत्रादेश (दतृ-आदेश) । ऋदित्वात् 'नृदुगि—' इत्यादिना ङी । ते तव । कनकभासि कनकस्येव भा कान्तिर्यस्य तस्मिन् । सुवर्णच्छाये-इत्यर्थ । वपुषि शरीरे । चम्पकाना हेमपुष्पकाणाम् । माला माल्यम् । परभाग स्ववर्णस्य सपूर्णत्वम्-अतिशयम्-। 'परभागो गुणोत्कर्ष' इत्यभिधानात् । नैति न याति । इति एवम् ।

वे उन्ही पुराने पत्तोको नये पत्तोके रूपमे समझने लगी । इसका कारण उन्हीका भोलापन था ॥२०॥ किसी कमललोचना नायिकाके स्नेही पतिने बडे आदरसे जो फूल उनके कानमे पहनाया था, वह स्वय अशोक-अशोक वृक्षका फूल था अथ च शोक रहित था पर सौतको शोक दे रहा था । उसे देखते ही सौतके चित्तमे शोक उत्पन्न हो गया ॥२१॥ फूलो और पत्तियोको चुननेकी इच्छा रखनेवाली एक मृगनयनीको उसका पति, अत्यन्त नीची शाखाओवाले वृक्षके समीपमे होनेपर भी, उसके बाहुके मूल भागको देखनेकी इच्छासे खूब ऊँचे वृक्षके पास ले गया ॥२२॥ इस भूमि पर पहले जो फूल केवल 'तिलक' इस नामसे ही प्रसिद्ध था, वही जब नील कमल सरीखे नेत्रोवाली नायिकाओंके द्वारा मस्तक पर रख लिया गया, तब वह यथार्थ 'तिलक' हो गया । पहले वह केवल संज्ञासे ही तिलक था, पर अब अर्थसे भी तिलक हो गया है ॥२३॥ हे सुन्दर दाँतोवाली ! तेरे गोरे रंगके शरीर पर चम्पेकी माला फब नही रही है, यह कहकर उसके पतिने स्तनोका स्पर्श करते हुए उसके सीने पर

---

१ आ इ स्वयमिति । २ =पत्या-इति यावत् । ३ = कर्णपूरत्वमित्यर्थ । ४. = नम्रनम्रा अत्यन्त नम्रा. शाखा यस्य तस्मिन् । ५. = अन्वर्थताम् । ६. आ °सञ्ज्ञताम् ।

स्फुटमिह कमनीयमन्यथा वा न किमपि भावकृतस्त्वयं विभागः ।
समजनि यदशोकतः पलाशं प्रियमवतंसितमीश्वरेण वध्वाः ॥ २५ ॥
ऋतुजनितरुचिर्वधूसमूहैरपचितपुष्पचयश्च यस्तरूणाम् ।
मुदित इव परार्थयात्मलक्ष्म्या पवनधुतैर्नवपल्लवैर्ननर्त ॥ २६ ॥
इति वनविहृतिप्रसङ्गखिन्नं निखिलमवेत्य जनं स्वमप्यधीशः ।
सरसि शुचिजले ममज्ज सज्जीकृतजलकेलिपरिच्छदप्रपञ्चे ॥ २७ ॥

प्रियाया दयिताया । स्तनतटं[1] स्तनप्रदेशम् । सस्पृशन् स्पर्शं कुर्वन् । रमण नायक । हृदि हृदये । बकुलस्रज बकुलपुष्पमालाम् । बबन्ध बध्नाति स्म ॥२४॥ स्फुटमिति । ईश्वरेण नायकेन । अशोकत कङ्केलिपुष्पात् । यत् पलाश किंशुकपुष्पम् । वध्वाः वनिताया अवतसित कर्णाभरणीकृतम् । (तत्) प्रियं प्रीतम् । समजनि समजायत । जनैङ्[2] प्रादुर्भावे लुङ् । इह भुवि । किमपि, स्फुट व्यक्तम् । कमनीय मनोहरम् । अन्यथा वा न । कमनीयाकमनीयविभाग अय विभाग अतिशय तु । भावकृतः सकल्पकृत. ॥२५॥ ऋरिवति । ऋतुजनितरुचिः ऋतौ कालविशेषे जनिता चासौ रुचि . शोभा च तयोक्ता । वधूसमूहै वधूना वनिताना समूहैर्निवहै. । अपचितपुष्पचय अपचितोऽपनीतः पुष्पाणा चयः समूहो यस्य स । तरूणा महीरुहाणाम् । चय समूह । परार्थया परेषामन्येषामर्थया प्रयोजनया । आत्मलक्ष्म्या आत्मनः स्वस्य लक्ष्म्या संपदा । मुदित इव सतुष्ट इव । पवनधुतै पवनेन मारुतेन धुतै कम्पितैः । नवपल्लवै नवै प्रत्यग्रैः पल्लवैः किसलयैः । ननर्त नृत्यति स्म । नृतै[3] गात्रविक्षेपे लिट् । उत्प्रेक्षा ॥२६॥ इतीति । अधीश. चक्रवर्ती । इति एवम् । वनविहृतिप्रसङ्गखिन्न वनस्य विहृते. क्रीडाया प्रसङ्गेन सबन्धेन[4] खिन्नमायस्तम्[5] । निखिलं समस्तम् । जन लोकम् । स्वमपि आत्मानमपि[6] । अवेत्य ज्ञात्वा । शुचिजले शुचि निर्मल जल यस्य तस्मिन् । सज्जीकृतजलकेलिपरिच्छदप्रपञ्चे सज्जीकृत सन्नद्धीकृतो जलकेल्या जलक्रीडायाः परिच्छदाना परिकराणा प्रपञ्चो निचयो यस्य (यत्र) तस्मिन् । सरसि सरोवरे । ममज्ज स्नाति स्म । डुमस्ज[7] शुद्धौ । लिट् ॥२७॥

मौलसिरीकी माला पहना दी ॥२४॥ निश्चय ही इस ससारमे कोई भी चीज न तो सुन्दर है और न असुन्दर; क्योकि सुन्दर और असुन्दरका यह विभाग मानवके मनोभावो पर निर्भर है । एक नायकने अपनी नायिकाके कानसे अशोकका फूल निकालकर उसके स्थानमे ढाकका फूल पहना दिया, जो उसे अशोकके फूलसे कही अधिक प्रिय लगा । अथवा एक नायकने स्वयं अपने हाथसे अपनी नायिकाके कानमे ढाकका फूल पहना दिया, जो उसे अशोकके फूलसे भी अधिक अच्छा लगा । अशोकका फूल सुन्दर और ढाकका फूल असुन्दर समझा जाता है । पर पति अपने हाथसे स्नेहपूर्वक यदि टेसू-ढाकका भी फूल पहना दे, तो उसका प्रिय होना ही उचित है ॥२५॥ जिनमे वसन्त ऋतुने शोभा उत्पन्न कर दी थी और जिनकी पुष्पराशिको नायिकाओके वर्गने चुन लिया था, उन वृक्षोके हवासे हिलते हुए पत्तोको देखकर ऐसा जान पडता था मानो वे अपनी परोपकारिणी लक्ष्मीके निमित्तसे खुशीके मारे नाच रहे हो ॥२६॥ इस तरह वन विहारके प्रसङ्गसे सारे पुरवासियोको, अपने परिवारके लोगोको और स्वय अपने को थका हुआ जानकर अजितसेन चक्रवर्तीने, जिसके लिए जल क्रीडाके योग्य नाना प्रकारकी

---

१ = स्तनाग्रम् । २. आ जनी । ३. आ नृती । ४. श अधिकाचरणेन । ५. श श्रान्तम । ६. श स्वकीयमपि । ७ आ डुमज्ज्ञा ।

हृषिततनुरुहाश्चिरेण भीरुप्रकृतितयाम्भसि नाभिमात्रकेऽपि ।
प्रियकरधृतपाणयो रमण्यः प्रविविशुराहितमन्दमन्दपादाः ॥ २८ ॥
तदखिलमपि वारि निक्षिपन्त्यः कठिनपयोधरपीडनैः पुरस्तात् ।
पृथुतरनिजकुम्भनुन्नतोया वनकरिणीरनुचक्रुरब्जनेत्राः ॥ २९ ॥
जलमकलुषमन्तरानुबध्नन्युवतिमुखप्रतिमां पयोजबुद्ध्या ।
श्रममफलमवाप मत्तभृङ्गो न खलु हितं मदमूढधीरवैति ॥ ३० ॥
सरलनवमृणालनालबाहुश्चपलशिलीमुखलोचना कृशाङ्गी ।
निजतनुमनुकुर्वती कयाचित्सरभसमम्बुजिनी समालिलिङ्गे ॥ ३१ ॥

हृषितेति । हृषिततनुरुहाः हृषिता संतुष्टा तनुरुहा रोमाणि यासां ताः । चिरेण कालविलम्बनेन । भीरुप्रकृतितया भीरोर्भयशीलस्य प्रकृतितया स्वभावत्तया । नाभिमात्रकेऽपि नाभिः प्रमाणमस्य नाभिमात्रकं तस्मिन् । 'तदस्य प्रमाणान्मात्रट्' इति मात्रट् प्रत्ययः । अम्भसि सलिले । प्रियकरधृतपाणयः प्रियाणां दयितानां करैर्हस्तैर्धृता भृताः पाणयो हस्ता यासां ताः । रमण्यः वनिताः । आहितमन्दमन्दपादाः आहितौ निक्षिप्तौ मन्दौ पादौ यासां[1] ताः, सत्यः । प्रविविशुः अगतेः । विश प्रवेशने लिट् । जातिः ॥२८॥ तदिति । कठिनपयोधरपीडनैः कठिनानां कर्कशानां पयोधराणां स्तनानां पीडनैर्घातनैः (आघातैः) तदखिलमपि तत्सर्वमपि । वारि जलम् । पुरस्तात् अग्रे । निक्षिपन्त्यः सेचयन्त्यः । अब्जनेत्राः अब्जं कमलं तदिव नेत्रं यासां ताः । पृथुतरनिजकुम्भनुन्नतोयाः पृथुतरैर्महत्तरैर्निजकुम्भैः स्वकीयकुम्भस्थलैर्नुन्नं[2] निरसितं तोयं जलं यासां[3] ताः । वनकरिणीः वने विद्यमानाः करिणीः करेणुकाः । अनुचक्रुः अनुकुर्वन्ति स्म । डुकृञ् करणे लिट् । उत्प्रेक्षा ॥२९॥ जलमिति । अकलुषं निर्मलम् । जलं सलिलम् । अन्तः [अन्तरा] मध्ये । युवतिमुखप्रतिमां युवत्या वनिताया मुखस्य वदनस्य प्रतिमां प्रतिबिम्बम् । पयोजबुद्ध्या पयोजमिति कमलमिति बुद्ध्या । अनुबध्नन् अनुपतन् अनुचरन्[4] वा । मत्तभृङ्गः मत्तभ्रमरः । अफलं निष्फलम् । श्रमं प्रयासम् । अवाप याति स्म । आप्लृ व्याप्तौ लिट् । भ्रान्तिमान् । मदमूढधीः मदेन गर्वेण मूढा मुग्धा धीर्बुद्धिर्यस्य सः । हितं हितकार्यम् । नावैति खलु न जानाति खलु । इण् गतौ लट् । अर्थान्तरन्यासः ॥३०॥ सरलेति । सरलनवमृणालनालबाहुः सरलम् ऋजु नवं प्रत्यग्रं मृणालस्य बिसस्य नालमेव बाहुः (पक्षे) नालवद् बाहुर्यस्याः सा । चपलशिलीमुखलोचना चपलश्चञ्चलः शिलीमुख इव (एव) लोचने यस्याः सा, (पक्षे) भ्रमरलोचना वा । कृशाङ्गी तन्वङ्गी । निजतनुं स्वशरीरम् । अनुकुर्वतीं[5] स्वीकुर्वतीं अम्बुजिनीं[6] कमलषण्डम् । कयाचित् स्त्रिया । सरभसं सम्भ्रमयुक्तं यथा

सामग्री सजा दी गई है—पवित्र जलवाले जलाशयमे स्नान किया ॥२७॥ भीरु स्वभाव होनेसे स्त्रियोंके रोंगटे खडे हो गये । फलत वे अपने अपने पतिके हाथोमे अपने हाथ देकर, नाभि तक गहरे जलाशयके जलमे भी बहुत देरके बाद धीरे-धीरे पैर रखती हुई उतरी ॥२८॥ जिनके लोचन कमलोके समान थे, उन स्त्रियोने अपने कठोर स्तनोके आघातसे जलाशयके सारे जलको आगेकी ओर ठेल दिया । अत. वे उस समय अपने विशालगण्डस्थलोकी टक्कर लगाकर जलाशयके जलको आगेकी ओर ठेलनेवाली हथिनियोका अनुकरण कर रही थी ॥२९॥ निर्मल जलमे युवतीके मुखके प्रतिबिम्बको कमल समझकर एक मतवाला भौरा उसके ऊपर मँडराने लगा, किन्तु उसे अपने परिश्रमका फल नही मिला—परिश्रम निष्फल ही हुआ । जिसकी बुद्धि मदसे विकृत हो गई है, वह निश्चय ही अपने हितको नही जान पाता ॥३०॥ सीधे नवीन कमलदण्डरूपी बाहुको धारण करनेवाली, चञ्चल भ्रमररूपी नेत्रोसे युक्त, पतली और इसीलिए अपने शरीरका अनुकरण करनेवाली कमलिनीको किसी नायिकाने सखीके भ्रमसे

१ = यासाम् । २ = निरस्तम् । ३ = यासाम् । ४ श अनुचुम्बन् । ५ = विडम्बयन्ती । ६. = कमलिनी ।

अपहृतवसना वधूस्तरङ्गैः पृथुनि नितम्बतटे निविष्टदृष्टिम् ।
प्रियतममवलोक्य जातलज्जा कलुषयति स्म जलं विलोडनाभिः ॥ ३२ ॥
पयसि समवतीर्य नाभिदघ्ने विलुलितकेशकलापबन्धनायाः ।
समजनि रभसोत्कटं तरन्त्याः स्तनयुगमेव तरण्डकं तरुण्याः ॥ ३३ ॥
जनभयपरिविद्रुतेऽपि पत्यौ युवतिघनस्तनबिम्बमोहितायाः ।
सलिलगतविमुग्धकोकवध्वा विरहभवव्यथया न संबभूवे ॥ ३४ ॥
इयमिह पुलिने निसर्गरम्ये चकिततया स्थिरतामनश्नुवाना ।
गतिमिव परिशिक्षितुं त्वदीयां सुतनु करोति गता गतानि हंसी ॥ ३५ ॥

तया । समालिलिङ्गे आलिङ्गिता । लिगु गतौ कर्मणि लिट् । श्लेषोपमा ॥३१॥ अपहृतेति । तरङ्गैः ऊर्मिभिः । अपहृतवसना अपहृतमपनीतं वसनं यस्याः सा । वधूः काचिद्वनिता । मृदुनि[1] कोमले । नितम्बतटे नितम्बप्रदेशे । निविष्टदृष्टिं निविष्टे स्थापिते दृष्टी लोचने यस्य तम् । प्रियतमं वल्लभम् । अवलोक्य वीक्ष्य । जातलज्जा जातव्रीडा । विलोडनाभिः विलोडनैः । जलं सलिलम् । कलुषयति स्म कलुषमकरोत् ॥३२॥ पयसीति । नाभिदघ्ने नाभिमात्रे—नाभिमात्रमस्य[2] नाभिदघ्नम्, तस्मिन् । 'वोर्ध्वं दघ्नङ्द्वयसट्' इति प्रमाणे दघ्नट्-प्रत्ययः । पयसि जले । समवतीर्य प्रविश्य । विलुलितकेशकलापबन्धनायाः विलुलितं शिथिलितं केशकलापस्य केशपाशस्य बन्धनं ग्रन्थिका यस्याः तस्याः । रभसोत्कटं रभसस्य सम्भ्रमस्योत्कटमाधिक्यं यस्मिन् कर्मणि तत्० । तरन्त्याः प्लवमानायाः । तरुण्याः युवत्याः । स्तनयुगमेव कुचयुगलमेव । तरण्डकं[3] तुम्बिगण्डिकाद्वयम् । समजनि समजायत । जनैङ्[4] प्रादुर्भावे लुङ् । 'दीपजनबुध—' इत्यादिना चिण्-प्रत्ययः । 'चिणो लुक्' इति तस्य लुक् । रूपकम् ॥३३॥ जनेति । पत्यौ पुरुषपक्षिणि । जनभयपरिविद्रुतेऽपि [जनभयात्] पलायमानेऽपि सति । युवतिघनस्तनबिम्बमोहितायाः युवत्याः वनितायाः घनयोः कठिनयोः स्तनयोर्बिम्बे प्रदेशे चक्रवाक इति मोहितः (मोहो) भ्रान्तिर्[5]यस्याः, तस्याः । सलिलगतविमुग्धकोकवध्वाः सलिलं गतायाः विमुग्धायाः मनोहरायाः कोकवध्वाश्चक्रवाकवनितायाः । विरहभवव्यथया विरहेण वियोगेन भवया जातया व्यथया पीडया । न संबभूवे न जज्ञे स्म । जनैङ् प्रादुर्भावे, भावे लिट्[6] । भ्रान्तिमान्[7] ॥३४॥ इयमिति । सुतनु भो मनोहरगात्रे[8] । इह अस्मिन् । निसर्गरम्ये निसर्गेण स्वभावेन रम्ये मनोहरे । पुलिने सैकते । चकिततया भीतियुक्ततया । स्थिरतां स्थिरत्वम् । अनश्नुवाना अप्राप्नुवती । इयम् एषा । हंसी हंसवधूः । त्वदीयां तव संबन्धिनीम् । गतिं गमनम् । परिशिक्षितुमिव[9] अभ्यासं कर्तुमिव । गतागतानि गमनागमनानि । करोति विदधाति । डुकृञ्

अपने गले लगा लिया—आलिङ्गन कर लिया ॥३१॥ किसी नायिकाके अधोवस्त्रको तरङ्गोंने छीन लिया, जिससे उसके विशाल निर्वस्त्र नितम्ब पर उसके पतिने अपनी दृष्टि गडा दी। उसे ऐसा करते देखकर नायिकाने लज्जित होकर (जब और कुछ उपाय नहीं सूझा) जलका विलोडन करके उसे मैलाकर दिया ॥३२॥ नाभि तक गहरे जलमें उतर कर कोई युवती बड़ी तेजीसे तैरने लगी। उसके केशपाशका बन्धन खुल गया और केशपाश बिखरकर जलमें लहराने लगा। इस अवसर पर उसके दोनों स्तन डोंगीसे बँधी हुई दो तुम्बियोंका काम कर रहे थे ॥३३॥ लोगोंके भयसे पतिके भाग जाने पर भी जलमें स्थित एक भोली-भाली चकवीको—जिसे किसी युवतीके कठोर स्तनमण्डलमें चकवे (अपने पति) का भ्रम हो गया था—विरहकी व्यथा नहीं हुई ॥३४॥ हे सुन्दर शरीरवाली ! यहाँ इस स्वभावतः सुन्दर तटपर भयभीत हो जानेसे एक जगह स्थिर न रहनेवाली यह हंसी ऐसी जान पड़ती मानो तुम्हारी

१. एष टीकाकृदभिमतः पाठः, प्रतिषु तु 'पृथुनि' इत्येव समुपलभ्यते। २. = नाभिः प्रमाणं यस्य तत्। ३. आ कुम्भे। ४. आ जनी। ५. आ भ्रान्तिः। ६. आ 'जनैङ् प्रादुर्भावे,भावे लिट्' इति नोपलभ्यते। ७. आ स्वाधिकाः। ८. स °गात्रि। ९. = परिशीलयितुमिव।

अयमपि मधुरस्वरोऽभिसर्पन्मधु मधुपः परिहृत्य पद्मिनीजम् ।
अहमिव परिपातुमाननं ते सुमुखि निसर्गसुगन्धि वाञ्छतीव ॥ ३६ ॥
अयमनभिमुखीं सुकेशि कोकः समनुनयन्बहुचाटुभिः स्वजायाम् ।
प्रकुपितदयिताप्रसादहेतूनुपदिशतीव ममापि चाटुकारान् ॥ ३७ ॥
इयमपि शफरी समुत्पतन्ती गगनमितः सलिलादनेकवारान्[1] ।
ध्रुवमपहृतविभ्रमा भवत्या नयनयुगेन नताङ्गि पूत्करोति ॥ ३८ ॥
इदमिदमिति दर्शयन्नशेषं सलिलनिवासिमनोज्ञसत्त्ववृत्तम् ।
अरमयत युवा चकोरनेत्रा सरसि तदंसविलम्बिवामबाहुः[2] ॥ ३९ ॥

करणे लट् । उपमा[3] ॥३५॥ अयमिति । सुमुखि मनोहरवदने । पद्मनीज[4] कमलषण्डजनितम् । मधु पुष्परसम् । परिहृत्य हित्वा । मधुरस्वर मनोहरस्वरयुक्त । अभिसर्पन् अभिमुखमागच्छन् । अयमपि एषोऽपि । मधुप भ्रमर । ते तव । निसर्गसुगन्धि सहजगन्धयुक्तम् । आनन मुखम् । अहमिव परिपातु परिपानाय । वाञ्छतीव इच्छतीव, भाति–इत्यभिप्राय । उत्प्रेक्षा ॥३६॥ अयमिति । सुकेशि सु शोभना केशा यस्या तस्या सबोधनम्[5] । अनभिमुखीं विमुखीम् । स्वजाया स्वभार्याम् । बहुचाटुभि बहुभिर्बहुलैश्चाटुभि. प्रियवचनै । समनुनयन् प्रतिबोधयन् । अयम् एष । कोकः चक्रवाक । प्रकुपितवनिताप्रसादहेतून् प्रकुपितायाः[6] कोप कृतायाः दयिताया भार्यायाः प्रसादस्य सतोषस्य हेतून् कारणानि । चाटुकारान् प्रियवचनानि । ममापि । उपदिशतीव उपदेश करोतीव । दिशि[7] अतिसर्जने लिट् । उत्प्रेक्षा ॥३७॥ इयमिति । नताङ्गि विनम्रगात्रि 'असहनञ्—' इत्यादिना ङी । इत अस्मात् । सलिलात्[8] सरस । अनेकवारम् असकृत् । गगनम् आकाशम् । समुत्पतन्ती समुद्गच्छन्ती[9] । इयमपि एषापि । शफरी मत्स्यी[10] । भवत्या तव । नयनयुगेन नेत्रयुगलेन । अपहृतविभ्रमा अपहृत. स्वीकृतो विभ्रम. शोभा यस्या सा । पूत्करोति पूत्कार करोति[11] । ध्रुव निश्चय । उत्प्रेक्षा ॥३८। इदमिति । तदंसविलम्बिवामबाहु तस्या[12] नायकया अंसे भुजशिरसि विलम्बी अवलम्बी[13] वामबाहुर्यस्य स । युवा तरुण । सरसि सरोवरे । अशेष सकलम् । सलिलनिवासि जलनिवासि । मनोज्ञसत्त्ववृत्त[14] मनोज्ञाना मनोहराणा सत्त्वाना जीवाना वृत्त वर्तनम् । [इदमिदमिति] इदमेतत् [इति] । 'वीप्सायाम्' (इति) द्विः । दर्शयन्[15] वीक्षमाण. । चकोरनेत्रा चकोर इव नेत्रे यस्या ताम् । अर भृशम् । अयत अगच्छत् । अय गतौ लङ् । (अरमयत रमय.मास—इति वा) । कुलकम् ॥३९॥

गति (चाल) सीखनेके लिए बार-बार आ-जाकर अभ्यास कर रही हो ॥३५॥ कमलिनीके रसको छोडकर इसी ओर आता हुआ यह मधुरस्वरवाला भौरा भी, हे सुन्दर मुखवाली प्रिये ! तेरे स्वाभाविक सुगन्धिसे युक्त मुखको, जान पडता है मेरे ही समान पीना चाहता है ॥३६॥ हे सुन्दरबालोवाली ! अपनी विमुख-अप्रसन्न पत्नीको बहुत सी मीठी बातोसे समझाता हुआ यह चकवा, लगता है मुझे भी, क्रुद्ध प्रियाको प्रसन्न करनेवाली चिकनी-चुपडी बातोका उपदेश दे रहा है ॥३७॥ हे नम्र शरीरवाली ! यह मछली भी सरोवरके इस जलसे बार-बार ऊपर आकाशकी ओर उछल रही है । जान पडता है तुमने अपनी आँखोसे इसकी शोभा छीन ली है, जिससे यह पूत्कार कर रही है ॥३८॥ सरोवरमे अपनी चकोरलोचना प्रियाको एक युवकने—जो उसके गलेमे अपना बायाँ हाथ डाले हुए था—'यह देखो, यह देखो' ऐसा कहकर जलमे रहनेवाले सभी सुन्दर जन्तुओकी विशेषताएँ दिखलाकर प्रसन्न किया ॥३९॥

१ अ आ इ °नेकवारम् । २ आ इ 'कुलकम्' इत्यपि समुपलभ्यते । ३ = उत्प्रेक्षा । ४ = कमलिनीसमुद्भसम् । ५ = तत्सबुद्धो । ६ = प्रकोपवत्या । ७ आ दिश । ८ = सर –सलिलादित्यर्थ । ९ आ समनुपाता । १० श मत्सी । ११ आ फूत्करोति फूत्क.र करोति । १२. = नायिकाया । १३ = विलम्बते इत्येव शाल । १४ = सलिलनिवासिमनोज्ञसत्त्ववृत्त सलिलनिवासिना मनोज्ञसत्त्वाना मनोहरप्राणिना वृत्त चेष्टितम् । १५ = प्रदर्शयन् ।

मुखमसदृशविभ्रमैर्विदित्वा सुभगतनोररविन्दमध्यगायाः ।
सरसिजमिदमित्युपेत्य शाठ्यादविदिततत्त्व इवापरश्चुचुम्ब ॥ ४० ॥
सरसिजरजसारुणे सपत्न्याः स्तनयुगले नखशङ्कया कृतेर्ष्या ।
किमपि न दयितं जगाद काचित्परमवधीत्परिभङ्गुरैः कटाक्षैः ॥ ४१ ॥
निजमधुरविलासशोभितानां सलिलविहारजुषां विलासिनीनाम् ।
वदनशशिजिताम्बुजानुमम्लौ दरमलिना[2] नु मृणालिनी जनौघैः ॥ ४२ ॥
अधरदलगतं निधाय रागं स्ववपुषि यावकसंभृतं वधूनाम् ।
विदधति हृदयं स रागमासां विनिमयवृत्तिमशिश्रियञ्जलानि ॥ ४३ ॥

मुखमिति । अरविन्दमध्यगाया[3] अरविन्दस्य कमलपुष्पस्य मध्यगाया मध्य गतायाः । सुभगतनोः मनोहराङ्ग्याः । असदृशविभ्रमैः असदृशैरसमानैर्विभ्रमैः[4] शोभाभिः । मुखं वदनम् । विदित्वा ज्ञात्वा । इदम् एतत् । सरसिज सरसि (सी) रुहम्, इति, उपेत्य समीपं गत्वा । अविदिततत्त्व इव अविदितं तत्त्वं स्वरूपं येन स (इव) । अपरः कश्चित् पुरुषः । शाठ्यात् शठत्वात् । चुचुम्ब चुम्बति स्म । चुबु[5] वक्त्रसंयोगे लिट् ॥४०॥ सरसीति । सपत्न्या प्रतिकूलस्त्रिया. । स्तनयुगले स्तनयोः कुचयोर्युगले युग्मे । सरसिजरजसा सरसिजस्य कमलस्य रजसा पांसुना[6] । अरुणे लोहिते सति । नखशङ्कया नख. कररुह इति शङ्कया सन्देहेन । कृतेर्ष्या कृतासूया । काचित् वनिता । दयितं पुरुषम् । [न] किमपि यत्किमपि (न किञ्चिदपि) । जगाद ब्रवीति स्म । (किन्तु) परिभङ्गुरैः वक्रैः । कटाक्षैः अपाङ्गदर्शनैः । परम् अधिकम् । अवधीत् बाधयति स्म । हन् हिंसागत्योर्लुङ्[7] । उल्लेख. (?) ॥४१॥ निजेति ।[8] मृणालिनी कमलिनी । सलिलविहारजुषां[9] सलिलस्य जलस्य विहारं क्रीडां जुषां सेवमानानाम् । निजमधुरविलासशोभितानां निजानां[10] मधुरेण मनोहरेण विलासेन[11] विनोदेन शोभितानां विराजितानाम् । विलासिनीनां वनितानाम् । वदनशशिजिताम्बुजा वदनानि मुखान्येव शशिनश्चन्द्रा. तैर्जितानि पराजितान्यम्बुजानि सरसिजानि यस्याः सा, सती । मम्लौ म्लायतिस्म । म्लै गात्रविनामे लिट् । नु किम् । जनौघैः जनसमूहैः । दरम् ईषत् । मलिता मलिना । नु किम् । संशय ॥४२॥ [12]अधरेति । वधूनां वनितानाम् । अधरदलगतम् अधरः ओष्ठः स एव दलं पल्लवं तद्गतम् । यावकसंभृतं यावकेन संभृतं संधृतम् । रागम्[13] अरुणम् । स्ववपुषि निजगात्रे । निधाय स्थापयित्वा । आसाम् एतासां नारीणाम् । हृदयं चित्तम् । सरागं रागेण सहितम् । विदधति कुर्वन्ति । जलानि सलिलानि । विनिमयवृत्तिं विनिमया ग्रहणप्रतिग्रहणरूपा वृत्तिं वर्तनाम् । अशिश्रियन् भजन्ति स्म । सरोजलानि स्वयं स्त्रीणां

दूसरे युवकने कमलोके बीचमे खडी हुई अपनी सुन्दर शरीरवाली प्रियाके मुखको, उसके असाधारण विलासोसे जानकर भी अनजानके समान निकट जाकर कमल बतलाते हुए धूर्तता पूर्वक चूम लिया ॥४०॥ स्नान करते समय एक नायिकाका स्तनयुगल कमलकी परागसे लाल हो गया, जिससे उसकी सौतको नखक्षतकी शङ्का हो गई। फलत उसके हृदयमे ईर्ष्या उत्पन्न हो गई, पर उसने पतिसे कहा कुछ भी नहो, केवल कुटिल कटाक्ष बाणोसे उसके ऊपर प्रहार किया ॥४१॥ एक कमलिनीको म्लान देखकर दर्शक अपने मनमे यह सोचने लगे कि अत्यन्त सुन्दर विलाससे अलकृत जलक्रीडा करनेवाली विलासिनियोके मुखचन्द्रसे अपने कमलोका पराभव देखकर यह कमलिनी मुरझा गई है या स्नान करनेवाले पुरुष वर्गके द्वारा मसली जानेसे ? ॥४२॥ जलाशयके जलने नायिकाओके अधर और पैरोके माहुरका राग-लाल रग लेकर

१ अ साक्षाद् । २. अ आ इ क ख ग घ दरमलिता । ३. = अरविन्दानां कमलानां मध्यं मध्यभागं गच्छतीति अरविन्दमध्यगा, तस्याः । ४ = विलासैः । ५ आ चुबि । ६ श पांसुना । ७ श वध हिंसायां लुङ् । ८ श नीचेति । ९ = सलिलविहारं जुषन्ते सेवन्ते याः ताः, तासाम् । १०. = निजेन । ११. = विभ्रमेण । १२. श अधिकेति । १३. = आरुण्यम् ।

अयमपि मधुरस्वरोऽभिसर्पन्मधु मधुपः परिहृत्य पद्मिनीजम् ।
अहमिव परिपातुमाननं ते सुमुखि निसर्गसुगन्धि वाञ्छतीव ॥ ३६ ॥
अयमनभिमुखीं सुकेशि कोकः समनुनयन्बहुचाटुभिः स्वजायाम् ।
प्रकुपितदयिताप्रसादहेतूनुपदिशतीव ममापि चाटुकारान् ॥ ३७ ॥
इयमपि शफरी समुत्पतन्ती गगनमितः सलिलादनेकवारान्[1] ।
ध्रुवमपहृतविभ्रमा भवत्या नयनयुगेन नताङ्गि पूत्करोति ॥ ३८ ॥
इदमिदमिति दर्शयन्नशेषं सलिलनिवासिमनोज्ञसत्त्ववृत्तम् ।
अरमयत युवा चकोरनेत्रा सरसि तदंसविलम्बिवामबाहुः[2] ॥ ३९ ॥

करणे लट् । उपमा[3] ॥३५॥ अयमिति । सुमुखि मनोहरवदने । पद्मनीज[4] कमलषण्डजनितम् । मधु पुष्परसम् । परिहृत्य हित्वा । मधुरस्वर मनोहरस्वरयुक्त । अभिसर्पन् अभिमुखमागच्छन् । अयमपि एषोऽपि । मधुप भ्रमर । ते तव । निसर्गसुगन्धि सहजगन्धयुक्तम् । आनन मुखम् । अहमिव परिपातु परिपानाय । वाञ्छतीव इच्छतीव, भाति–इत्यभिप्राय । उत्प्रेक्षा ॥३६॥ अयमिति । सुकेशि सु शोभना केशा यस्या तस्या सबोधनम्[5] । अनभिमुखीं विमुखीम् । स्वजाया स्वभार्याम् । बहुचाटुभि बहुभिर्बहुलैश्चाटुभि. प्रियवचनै । समनुनयन् प्रतिबोधयन् । अयम् एष· । कोकः चक्रवाक । प्रकुपितवनिताप्रसादहेतून् प्रकुपितायाः[6] कोप कृताया दयिताया भार्याया प्रसादस्य सतोषस्य हेतून् कारणानि । चाटुकारान् प्रियवचनानि । ममापि । उपदिशतीव उपदेश करोतीव । दिशि[7] अतिसर्जने लिट् । उत्प्रेक्षा ॥३७॥ इयमिति । नताङ्गि विनम्रगात्रि 'असहनञ्—' इत्यादिना ङी । इत अस्मात् । सलिलात्[8] सरस । अनेकवारम् असकृत् । गगनम् आकाशम् । समुत्पतन्ती समुद्गच्छन्ती[9] । इयमपि एषापि । शफरी मत्स्यी[10] । भवत्या तव । नयनयुगेन नेत्रयुगलेन । अपहृतविभ्रमा अपहृतः स्वीकृतो विभ्रमः शोभा यस्या सा । पूत्करोति पूत्कार करोति[11] । ध्रुव निश्चय । उत्प्रेक्षा ॥३८। इदमिति । तदसविलम्बिवामबाहु तस्या[12] नायकया असे भुजशिरसि विलम्बी अवलम्बी[13] वामबाहुर्यस्य स । युवा तरुण । सरसि सरोवरे । अशेष सकलम् । सलिलनिवासि जलनिवासि । मनोज्ञसत्त्ववृत्त[14] मनोज्ञाना मनोहराणा सत्त्वाना जीवाना वृत्त वर्तनम् । [इदमिदमिति] इदमेतत् [इति] । 'वीप्सायाम्' (इति) द्वि· । दर्शयन्[15] वीक्षमाण. । चकोरनेत्रा चकोर इव नेत्रे यस्या ताम् । अर भृशम् । अयत अगच्छत् । अय गतौ लङ् । (अरमयत रमय.मास—इति वा) । कुलकम् ॥३९॥

गति (चाल) सीखनेके लिए बार-बार आ-जाकर अभ्यास कर रही हो ॥३५॥ कमलिनीके रसको छोडकर इसी ओर आता हुआ यह मधुरस्वरवाला भौंरा भी, हे सुन्दर मुखवाली प्रिये ! तेरे स्वाभाविक सुगन्धिसे युक्त मुखको, जान पडता है मेरे ही समान पीना चाहता है ॥३६॥ हे सुन्दरबालोवाली ! अपनी विमुख-अप्रसन्न पत्नीको बहुत-सी मीठी बातोंसे समझाता हुआ यह चकवा, लगता है मुझे भी, क्रुद्ध प्रियाको प्रसन्न करनेवाली चिकनी-चुपडी बातोंका उपदेश दे रहा है ॥३७॥ हे नम्र शरीरवाली ! यह मछली भी सरोवरके इस जलसे बार-बार ऊपर आकाशकी ओर उछल रही है । जान पडता है तुमने अपनी आँखोंसे इसकी शोभा छीन ली है, जिससे यह पूत्कार कर रही है ॥३८॥ सरोवरमे अपनी चकोरलोचना प्रियाको एक युवकने—जो उसके गलेमे अपना बायाँ हाथ डाले हुए था—'यह देखो, यह देखो' ऐसा कहकर जलमे रहनेवाले सभी सुन्दर जन्तुओंकी विशेषताएँ दिखलाकर प्रसन्न किया ॥३९॥

१ अ आ इ °नेकवारम् । २ आ इ 'कुलकम्' इत्यपि समुपलभ्यते । ३ = उत्प्रेक्षा । ४ = कमलिनीसमुद्भसम् । ५ = तरसवुद्धो । ६ = प्रकोपवत्या । ७ आ दिश । ८ = सर –सलिलादित्यर्थ । ९ आ समनुपाता । १० श मत्सी । ११ आ फूत्करोति फूत्क.र करोति । १२ = नायिकाया । १३ = विश्रब्ध इत्येवं शाळ. । १४ = सलिलनिवासिमनोज्ञसत्त्ववृत्तं सलिलनिवासिना मनोज्ञसत्त्वाना मनोहरप्राणिना वृत्त चेष्टितम् । १५ = प्रदर्शयन् ।

मुखमसदृशविभ्रमैर्विदित्वा सुभगतनोररविन्दमध्यगायाः ।
सरसिजमिदमित्युपेत्य 'शाठ्याद[1]विदिततत्त्व इवापरश्चुचुम्ब ॥ ४० ॥
सरसिजरजसारुणे सपत्न्याः स्तनयुगले नखशङ्कया कृतेर्ष्या ।
किमपि न दयितं जगाद काचित्परमवधीत्परिभङ्गुरैः कटाक्षैः ॥ ४१ ॥
निजमधुरविलासशोभितानां सलिलविहारजुषां विलासिनीनाम् ।
वदनशशिजिताम्बुजानुमम्लौ दरमलिना[2] नु मृणालिनी जनौघैः ॥ ४२ ॥
अधरदलगतं निधाय रागं स्ववपुषि यावकसंभृतं वधूनाम् ।
विदधति हृदयं स रागमासां विनिमयवृत्तिमशिश्रियञ्जलानि ॥ ४३ ॥

मुखमिति । अरविन्दमध्यगाया[3] अरविन्दस्य कमलपुष्पस्य मध्यगाया मध्य गतायाः । सुभगतनो मनोहराङ्ग्याः । असदृशविभ्रमैः असदृशैरसमानैर्विभ्रमैः[4] शोभाभिः । मुख वदनम् । विदित्वा ज्ञात्वा । इदम् एतत् । सरसिज सरसि (सी) रुहम्, इति, उपेत्य समीप गत्वा । अविदिततत्त्व इव अविदित तत्त्व स्वरूपं येन स (इव) । अपर कश्चित् पुरुष । शाठ्यात् शठत्वात् । चुचुम्ब चुम्बति स्म । चुबु[5] वक्त्रसयोगे लिट् ॥४०॥ सरसीति । सपत्न्या प्रतिकूलस्त्रिया. । स्तनयुगले स्तनयो कुचयोर्युगले युग्मे । सरसिजरजसा सरसिजस्य कमलस्य रजसा पासुना[6] । अरुणे लोहिते सति । नखशङ्कया नख कररुह इति शङ्कया सन्देहेन । कृतेर्ष्या कृतासूया । काचित् वनिता । दयित पुरुषम् । [न] किमपि यत्किमपि (न किञ्चिदपि) । जगाद ब्रवीति स्म । (किन्तु) परिभङ्गुरै. वक्रै । कटाक्षै अपाङ्गदर्शनै. । परम् अधिकम् । अवधीत् बाधयति स्म । हन् हिंसागत्योर्लुङ्[7] । उल्लेख (?) ॥४१॥ निजेति ।[8] मृणालिनी कमलिनी । सलिलविहारजुषा[9] सलिलस्य जलस्य विहार क्रीडा जुषा सेवमानानाम् । निजमधुरविलासशोभिताना निजाना[10] मधुरेण मनोहरेण विलासेन[11] विनोदेन शोभिताना विराजितानाम् । विलासिनीना वनितानाम् । वदनशशिजिताम्बुजा वदनानि मुखान्येव शशिनश्चन्द्रा. तैर्जितानि पराजितान्यम्बुजानि सरसिजानि यस्या सा, सती । मम्लौ म्लायतिस्म । म्लै गात्रविनामे लिट् । नु किम् । जनौघैः जनसमूहैः । दरम् ईषत् । मलिता मलिना । नु किम् । सशय ॥४२॥ [12]अधरेति । वधूना वनितानाम् । अधरदलगतम् अधर ओष्ठ स एव दल पल्लव तद्गतम् । यावकसभृत यावकेन सभृत सधृतम् । रागम्[13] अरुणम् । स्ववपुषि निजगात्रे । निधाय स्थापयित्वा । आसाम् एतासा नारीणाम् । हृदय चित्तम् । सराग रागेण सहितम् । विदधति कुर्वन्ति । जलानि सलिलानि । विनिमयवृत्ति विनिमया ग्रहणप्रतिग्रहणरूपा वृत्ति वर्तनाम् । अशिश्रियन् भजन्ति स्म । सरोजलानि स्वय स्त्रीणा

दूसरे युवकने कमलोके बीचमे खडी हुई अपनी सुन्दर शरीरवाली प्रियाके मुखको, उसके असाधारण विलासोसे जानकर भी अनजानके समान निकट जाकर कमल बतलाते हुए धूर्तता पूर्वक चूम लिया ॥४०॥ स्नान करते समय एक नायिकाका स्तनयुगल कमलकी परागसे लाल हो गया, जिससे उसकी सौतको नखक्षतकी शङ्का हो गई। फलत. उसके हृदयमे ईर्ष्या उत्पन्न हो गई, पर उसने पतिसे कहा कुछ भी नही, केवल कुटिल कटाक्ष बाणोसे उसके ऊपर प्रहार किया ॥४१॥ एक कमलिनीको म्लान देखकर दर्शक अपने मनमे यह सोचने लगे कि अत्यन्त सुन्दर विलाससे अलकृत जलक्रीडा करनेवाली विलासिनियोंके मुखचन्द्रसे अपने कमलोका पराभव देखकर यह कमलिनी मुरझा गई है या स्नान करनेवाले पुरुष वर्गके द्वारा मसली जानेसे ? ॥४२॥ जलाशयके जलने नायिकाओंके अधर और पैरोंके माहुरका राग-लाल रंग लेकर

१ अ साक्षाद॰ । २. अ भा इ क ख ग घ दरमलिता । ३. = अरविन्दाना कमलाना मध्य मध्यभाग गच्छतीति अरविन्दमध्यगा, तस्या. । ४ = विलासै । ५. भा चुबि । ६ श पासुना । ७ श वध हिंसायां लुङ् । ८ श नोचेति । ९ = सलिलविहारं जुषन्ते सेवन्ते याः ताः, तासाम् । १०. = निजेन । ११. = विभ्रमेण । १२ श अविकेति । १३ = आस्यम् ।

कठिनकुचविचूर्णितोऽप्यपप्तद्धृदि मुहुरूर्मिचयो[1] विलासिनीनाम् ।
व्रजति खलु बुधोऽपि विभ्रमोहं युवतिषु कैव कथा जलात्मकानाम् ॥ ४४ ॥
कृतदयितविवञ्चना मुहूर्तं यदकृत वारिणि मज्जनं मृगाक्षी ।
स्फुटमजनि तदङ्गरागगन्धादुपरि परिभ्रमतालिनीकुलेन ॥ ४५ ॥
व्रजति मम जलक्रिया समाप्तिं वरतनु तावक एव कान्तितोये ।
किमपरमधिकं जलैर्विगाढैरिति दयिता दृढमालिलिङ्ग कश्चित् ॥ ४६ ॥
मुखमिदमरविन्दसुन्दरं नः प्रकृतिभवं मुषितं न पङ्कजिन्या ।
इति पयसि चिरं निमज्य नार्यो ददुरिव दिव्यविशुद्धिमीश्वराय ॥४७॥

यावकराग गृहीत्वा तासा पुन मनोनुराग ददति[2] स्म—इत्यर्थ ॥४३॥ कठिनेति । ऊर्मिचय ऊर्मीणा तरङ्गाणा चय समूह । विलासिनीना सुन्दरीणाम् । कठिनकुचविचूर्णित. कठिनै कर्कशै कुचै स्तनैर्विचूर्णितः पेषित[4] अपि । मुहु पुन । हृदि हृदये । अपप्तत् पतित स्म । पत्लृ[5] गतौ लुङ् । 'सर्तिशास्ति—' इत्यादिना अङ् । 'श्वयत्य—' इत्यादिना पमागम । युवतिषु तरुणीषु । बुधोऽपि[6] प्राज्ञोऽपि । विभ्रमोहं भ्रान्तिम् । व्रजति खलु गच्छति खलु । जडात्मकानाम् अज्ञानरूपाणाम्, पक्षे जलस्वरूपाणाम् । कैव कथा कैव वार्त्ता ॥४४॥ कृतेति । यत् । कृतदयितविवञ्चना कृत दयितस्य विवञ्चन यस्या[7] सा । मृगाक्षी कुरङ्गाक्षी । तत् (?) । वारिणि जले । मुहूर्तं[8] घटिकाद्वयपर्यन्तम् । मज्जन स्नानम् । अकृत अकरोत् । डुकृञ् करणे लुङ् । तदा तत्समये । तदङ्गगन्धात् तस्या मृगाक्ष्या अङ्गस्य शरीरस्य गन्धात् परिमलात् । उपरि ऊर्ध्वभागे । परिभ्रमता पर्यटता । अलिनीकुलेन अलिनीना भ्रमरीणा कुलेन सन्दोहेन । स्फुटं व्यक्तम् । अजनि अजायत । जनैङ्[9] प्रादुर्भावे लुङ् । अनुमिति ॥४५॥ व्रजतीति । वरतनु भो मनोहरगात्रि । तावक एव तवैव तावक तस्मिन् तावक एव । 'युष्मदस्मद्—' इत्यादिना अञ् । तद्योगे एकत्वे तवक इत्यादेश । कान्तितोये कान्तिर्देहकान्ति सैव तोय तस्मिन् । रूपकम् । मम मे । जलक्रिया जलक्रीडा । समाप्ति[10] सपूर्णम् । व्रजति गच्छति । व्रज गतौ लट् । विगाढै[11] प्रयातै । जलै उदकै । अपरम् अन्यत् । अधिक किम् ? यद् भवति—इत्यध्याहार. । इति, कश्चित् नायक । दयिता वनिताम् । दृढ गाढम् । आलिलिङ्ग आलिङ्गति स्म । लिगु गतौ लिट् । ४६॥ मुखमिति । न अस्माकम् । अरविन्दसुन्दरम् अरविन्दमिव कमलमिव सुन्दर रुचिरम् । इदम् एतत् । मुख वदनम् । प्रकृतिभव प्रकृत्या स्वभावेन भव जातम् । पङ्कजिन्याः

(स्वय लाल होकर) और उनके हृदयमे राग–अनुराग उत्पन्न करके विनिमय–अदल बदलके व्यवहारका पालन किया ॥४३॥ नायिकाओके कठोर स्तनोंके आघातसे चूर-चूर होकर भी जलके तरङ्ग बार-बार उन्ही (नायिकाओ) के हृदय पर जा गिरते थे । ठीक है, जब बुधजन भी युवतियोंके मोहमे पड जाते हैं तो जडो (जल) की क्या बात है ॥४४॥ एक मृगनयनीने अपने पतिको धोखा देकर थोडी देर जलमे डुबकी साध ली । उसका पति उसे इधर-उधर खोजने लगा । इतनेमे नायिकाके लेपकी सुगन्धि पाकर उसके ऊपर (जहाँ वह डुबकी साधकर बैठी हुई थी) भौंरियोका झुण्ड मँडराने लगा, जिससे उसका स्पष्ट ही पता लग गया ॥४५॥ हे सुन्दर शरीर वाली प्रिये ! तुम्हारे कान्तिके जलमे ही मेरी जलक्रीडा समाप्त हो जाती है, फिर जलाशयके जलमे अवगाहन करनेसे और अधिक क्या हो सकता है ? यह कहकर किसी नायकने अपनी नायिकासे गाढ आलिङ्गन कर लिया ॥४६॥ 'हमारा यह कमल जैसा सुन्दर मुख स्वाभाविक है, कमलिनीसे चुराया हुआ नही है' यह कहकर स्त्रियाँ जलमे बहुत देर तक डुबकी

१ म °मिचयो° । २ श ददति । ३ ऊर्मिणा । ४ आ घोषित । ५ श पत । ६ श बुद्धोऽपि । ७ = यया । ८ = स्वल्पकाल यावत् । ९ आ जनी । १० = सपूर्णताम् । ११ = कृतप्रवेशै ।

विचकृपुरलकान्विलासिनीनामधिरुरुहुर्जघनान्युरांसि जघ्नुः ।
अनवरतनिपातिनस्तरङ्गा निपुणमिवाभ्यसितुं भुजङ्गवृत्तम्[1] ॥४८॥
मदनरस[2]मिवातिरिच्यमानं मुखगतवारिपदेन विक्षिपन्ती ।
प्रियतममभि काचिदावभासे स्मितरुचिराजितमुग्धवक्त्रचन्द्रा ॥४९॥
निपतति कुचमण्डले रमण्याः प्रियरचितः सलिलाञ्जलिर्न यावत् ।
हृदयमभिषिषेच तावदेव प्रतियुवतेर्नयनाम्बुनः प्रवाहः ॥५०॥
सितकुसुमचयैश्च्युतैः कबर्या वियदिव तारकितं बभौ यदम्भः ।
समजनि मृगमुग्धलोचनाया वदनसरोरुहमेव तत्र चन्द्रः ॥५१॥

कमलिन्या । न मुषिता. न लुण्ठताः [न मुषित नापहृतम्] । इति एवम् । नार्य वनिता । पयसि जले । चिर, निमज्य[3] स्नात्वा । ईश्वराय प्रियतमाय । दिव्यशुद्धि कोशपान शपथम् । ददुरिव ददति स्मेव । डुदाञ् दाने लिट् । भ्रान्ति । उत्प्रेक्षा ।।४७।। विचकृपुरिति । अनवरतनिपातिन अनवरत सतत निपातिन निपतनशीला । तरङ्गा ऊर्मय. । निपुण प्रौढम् । भुजङ्गवृत्त भुजङ्गाना विटाना वृत्त वर्तनम्[4] । अभ्यसितुम्[इव] अभ्यासं कर्तुमिव । विलासिनीना वनितानाम् । अलकान् चूर्णकुन्तलान् । विचकृपु आकृष्टि[5]चक्रु । कृष विलेखने लिट् । जघनानि नितम्बानि[6] । अधिरुरुहु आरु(रो)हन्ति स्म । रुह बीजजन्मनि[7] लिट् । उरासि वक्षांसि । जघ्नु घ्नन्ति स्म । हन हिंसागत्यो[8] लिट् । उत्प्रेक्षा ।।४८।। मदनरसमिति । मुखगतवारिपदेन मुख वक्त्र गतम् इत वारि सलिलम् इति पदेन व्याजेन]। अतिरिच्यमान वर्धमानम्[9]। मदनरस मदनस्य मन्मथस्य रस शृगाररसम्—इत्यर्थ. । प्रियतममभि प्रियतम दयितस्याभिमुखम् । 'भागिनि प्रतिपर्यनुभि' इति द्वितीया । विक्षिपन्तीव वमन्तीव । स्मितरुचिराजितमुग्धवक्त्रचन्द्रा स्मितस्य ईषद्धसनस्य रुच्या कान्त्या राजित विभासित मुग्ध मनोहर वक्त्र मुखमेव चन्द्रो यस्याः सा । रूपकम् । काचित् एका नारी । आबभासे । भासृ दीप्तौ लिट् । उत्प्रेक्षा ।।४९।। निपततीति । प्रियरचित प्रियेण दयितेन रचित कृत. सलिलाञ्जलि सलिलस्य जलस्याञ्जलि. । यावत् यावत्पर्यन्तम् । रमण्या तरुण्याः । कुचमण्डले कुचयोस्तनयो र्मण्डले प्रदेशे । न निपतति न निष्पतति[10] । तावदेव[11] तावन्मात्रमेव । प्रतियुवते. सपत्न्याः । नयनाम्बुन नेत्रोदकस्य । प्रवाहः निर्झर. । हृदय चित्तम् । अभिषिषेच । षिचृञ्[12] सेचने लिट् ।।५०।। सितेति । कबर्या केशदेशा त् । च्युतै. पतितै । सितकुसुमचयै सिताना श्वेताना कुसुमाना चयै. समुदायै । तारकित तारकाः सजाता अस्मिन्निति । 'सञ्जाततारकादिभ्य इत' इति इत[13]—प्रत्यय. । वियदिव गगनमिव । यद् अम्भ सलिलम् । बभौ रराज । भा दीप्तौ लिट् । तत्र जले । मृगमुग्धलोचनाया मृगस्येव मुग्धे मनोहरे लोचने नयने यस्या तस्या· । वदन-

लगाकर मानो दिव्य परोक्षाके द्वारा अपने पतिको आत्मशुद्धिका परिचय दे रही थी ॥४७॥ लगातार ऊपर गिरनेवाले तरंग मानो विटवृत्तिका चतुराईसे अभ्यास करनेके लिए स्त्रियोके बाल खीच रहे थे, जघन प्रदेशके ऊपर चढ रहे थे और छातीसे टकरा रहे थे ॥४८॥ एक नायिका—जिसका मुखचन्द्र मुसकानकी चाँदनीसे सुशोभित था—अपने पतिके सामने कुरलेके बहानेसे मानो अन्दर न समा सकनेवाले शृङ्गाररसको बाहर निकाल रही थी ॥४९॥ नायक अपनी एक नायिकाके स्तनोपर अपनी अञ्जलिका जल डालनेको ही था, इतनेमें उसकी दूसरी नायिकाने देख लिया । फलत. अञ्जलिके जल गिरनेसे पहले ही दूसरी नायिकाकी आँखोसे आँसुओका प्रवाह बहने लगा, जिससे उसका हृदय भीग गया ॥५०॥ एक नायिकाके केशपाशसे गिरे हुए सफेद फूलोसे सरोवरका जो जल, ताराओसे व्याप्त आकाशकी भाँति सुशोभित हो

१ आ इ म वृत्तिम् । २ अ मदनशर । ३ = ब्रुडित्वा । ४ = चेष्टित व्यवहार वा । ५ श आकृष्टम् । ६ = नितम्बान् । ७ आ रुह बीजजन्मनि प्रादुर्भावे । ८ श हन हिंसायां गतौ च । ९ श वर्तमानम् । १० श निक्षिपति । ११ = तावत्पर्यन्तमेव । १२ आ षिचू सेचने । १३ आ इतच् ।

उदककणचितैर्नितम्बिनीनां नयनयुगैः सरसश्च कृष्णपद्मैः।
समुपहितमतिभ्रमा बभूवुः क्वचिदपि न स्थितिशालिनो द्विरेफाः ॥५२॥
क्षणमरुणितलोचना रमण्यः सलिलविहारमपास्य जातखेदाः।
ममुरुपरि निपत्य कौतुकिन्यो निजजघनैरलघूनि सैकतानि ॥५३॥
अयमुदकहतो व्यथिष्यते त्वां यदि विदधे न मुखानिलेन सेकम्।
इति कृतकृतकश्चिरं सदन्तव्रणमधरं दयितः पपौ प्रियायाः ॥५४॥
अनिमिषकुलसंकुले विशद्भिः पयसि निजप्रतिमानिभेन नेत्रैः।
ध्रुवमभिलषितो विलासिनीनां चलशफरीकुलविभ्रमापहारः ॥५५॥

सरोरुहमेव वदनं मुखं तदेव सरोरुहं कमलं तदेव। चन्द्रः सोमः। समजनि अजायत। जनैङ् प्रादुर्भावे लुङ्। रूपकम् ॥५१॥ उदकेति। उदककणचितैः उदकस्य जलस्य कणैर्बिन्दुभिश्चितैः[2] युक्तैः। नितम्बिनीनां मानिनीनाम्। नयनयुगैः नयनानां लोचनानां युगैः युगलैः। सरसः सरोवरस्य। कृष्णपद्मैः नीलोत्पलैश्च। समुपहितमतिभ्रमाः समुपहितः कृतो मतेर्बुद्धेर्भ्रमो भ्रान्तिर्येषां ते। द्विरेफाः भ्रमराः। क्वचिदपि कस्मिंश्चित् [अपि] प्रदेशे। स्थितिशालिनः[3] स्थित्या शालिनः। न बभूवुः न भवन्ति स्म। भ्रान्तिमदलङ्कारः ॥५२॥ क्षणमिति। क्षणं क्षणपर्यन्तम्। 'कालाध्वनोर्व्याप्तौ' इति द्वितीया। अरुणितलोचनाः अरुणिते लोहिते लोचने नयने यासां ताः। रमण्यः वनिताः। जातखेदाः जातायासाः। सलिलविहारं जलक्रीडाम्। अपास्य त्यक्त्वा। कौतुकिन्यः कौतूहलिन्यः सत्यः। निजजघनैः[4] निजानां जघनैः। अलघूनि महान्ति। सैकतानि पुलिनानि। उपरि अग्रे। निपत्य स्थित्वा। ममुः प्रमान्ति स्म ॥५३॥ अयमिति। मुखानिलेन मुखस्यानिलेन वायुना। सेकं सेचनम्। यदि न विदधे न करोति (मि) स्म। उदकहतः उदकेन सलिलेन हतो बाधितः पीडितः। अयम् अधरः। त्वां व्यथिष्यते[5] बाधिष्यते। व्यथ[6] ताडने लृट्। इति एवम्। कृतकृतकः कृतः कृतको येन सः, कृतकपट इत्यर्थः। दयितः नायकः। सदन्तव्रणं दन्तैर्जातं व्रणं (दन्तव्रणं, दन्तव्रणो वा) तेन सह वर्तते इति सदन्तव्रणः, तम्। अधरम् ओष्ठम्। प्रियायाः भार्यायाः। चिरं पपौ पिबति स्म ॥५४॥ अनिमिषेति। अनिमिषकुलसंकुले अनिमिषाणां मत्स्यानां कुलेन निवहेन संकुले संकीर्णे। पयसि सलिले। निजप्रतिमानिभेन निजानां प्रतिमा इति निभेन व्याजेन। विशद्भिः गच्छद्भिः। विलासिनीनां सीमन्तिनीनाम्। नेत्रैः नयनैः। चलशफरीकुलविभ्रमापहारः चलानां चलन्तीनां शफरीणां मत्स्यवनितानां कुलस्य समूहस्य विभ्रमस्यापहारः परिहारः। ध्रुवं निश्चयम्। अभिलषितः वाञ्छितः।

रहा था, उसमे मृगनयनीका मुख ही चन्द्रमाकी छवि दे रहा था ॥५१॥ नायिकाओके पानीकी बिन्दुओसे व्याप्त नेत्रो और सरोवरके नीले कमलोमे भौंरोको बुद्धिभ्रम हो गया, जिससे वे कही भी स्थित नही हो सके—कभी नेत्रोकी ओर तो कभी नीलकमलोकी ओर दौडते ही रहे ॥५२॥ कुछ स्त्रियाँ जब थक गईं और उनकी आँखें लाल हो गईं, तब वे जलक्रीडा बन्द करके थोडी देरको बडे-बडे रेतीले प्रदेशोके ऊपर चढकर जा बैठी। अपने नितम्बोसे उन प्रदेशोको वे मापने लगी, तो उन्हे बडा कौतूहल होने लगा, यह जानकर कि वे प्रदेश ठीक उनके नितम्बोके मापके हैं ॥५३॥ 'यदि मैं अपने मुखकी वायु (फूंक) से सेक न करूँ तो दन्तक्षतसे घायल, तेरा यह अधर पानी पडनेसे तुझीको दु खी कर देगा, यह छल भरी बात बनाकर किसी नायकने काफी समय तक अपनी प्रियाके अधरका पान किया ॥५४॥ मछलियोसे व्याप्त जलमे परछाईके बहाने प्रवेश करनेवाले स्त्रियोंके नेत्रोने मानो चञ्चल मछलियोकी

१ म उपहितमतिविभ्रमा। २ = व्याप्तैः। ३ = स्थिरा। ४ = स्वजघनैः। ५ श व्यथिष्यते। ६. श व्यथ।

घनजवनगताः करेण लीलाकमलमुदूढ[1]शिलीमुखं वहन्त्यः ।
श्रियमनुविदधुर्नरेन्द्रजाया जलकणमण्डितपीनपाण्डुगण्डाः ॥५६॥
निजभुजयुगलैरुदस्य जाया जघनभरेण पदे पदे स्खलन्तीः ।
कृतमुदमुदतारयंस्तदीयस्तनपरिमर्शनलोलुपा युवानः ॥५७॥
कुवलयनयनाभिरस्यमानान्यनुपुलिनं सरसानि रागवन्ति ।
मुमुचुरिव शुचाश्रुणः प्रवाहं स्रवणपदेन पुरातनांशुकानि ॥५८॥

उत्प्रेक्षा (अपह्नुतिश्च) ॥५५॥ वनेति । वनजवनगता वनजाना जलजाना वन षण्ड गता याता । 'प्रस्रवणप्रवासनिवासवारिकान्तारेषु वनम्' इति नानार्थकोशे । उदूढशिलीमुखम् उदूढ सधृत. शिलीमुखो भ्रमरो यस्मिन् तत् । 'अलिबाणौ शिलीमुखौ' इत्यमरः । लीलाकमल लीलार्थं धृत कमल तथोक्तम् । करेण पाणिना । वहन्त्य धरन्त्यः । जलकणमण्डितपीनपाण्डुगण्डा जलस्योदकस्य कणै बिन्दुभिर्मण्डितौ पीनौ महान्तौ पाण्डू शुभ्रौ कपोलौ यासा ता । नरेन्द्रजाया नरेन्द्रस्य चक्रवर्तिनो जाया वनिता । श्रिय लक्ष्मीं देवीम् । अनुविदधु अनुकुर्वन्ति स्म । उपमा ॥५६॥ निजेति । जघनभरेण जघनाना भरो भार , तेन । पदे पदे पदविन्यासे पदविन्यासे । वीप्सायां द्वि· । स्खलन्ती·, जाया रमणी । निजभुजयुगलै निजाना भुजाना बाहूना युगलै युग्मै । उदस्य उद्धृत्य । तदीयस्तनपरिमर्शनलोलुपा तदीयाना तासा सबन्धिना[2] स्तनाना कुचाना परिमर्शने स्पर्शने । लोलुपा. लम्पटाः । युवान तरुणा । कृतमुद कृता मुदो यस्मिन् कर्मणि तत् (तथा) । उदतारयन् उत्तारयन्ति स्म । तॄ प्लवनतरणयो णिजन्ताल्लङ् ॥५७॥ कुवलयेति । कुवलयनयनाभि· कुवलयमिव उत्पलमिव नयने नेत्रे यासा ताभि । अनुपुलिन पुलिनस्यानु अनुपुलिन तस्मिन् अनु· पुलिनम् । 'सप्तम्या ' इति वाम् । अस्यमानानि मुच्यमानानि । सरसानि[3] सार्द्राणि रागवन्ति अरुणवर्ण-युक्तानि । पुरातनांशुकानि पुरातनानि पूर्वं धृतानि अंशुकानि वस्त्राणि । स्रवणपदेन स्रवणस्य स्यन्दनस्य पदेन व्याजेन । शुचा शोकेन । अश्रुण नेत्राम्बुन । प्रवाह निर्झरम् । मुमुचुरिव मुञ्चन्तिस्मेव । उत्प्रेक्षा

शोभा चुरानेका सङ्कल्प कर लिया था ॥५५॥ चक्रवर्ती अजितसेनकी रानियाँ कमलोके वनमे खडी हुई थी, उनके हाथोमे कमल थे—जिनके ऊपर भौंरे बैठे हुए थे, उनके भरे हुए कपोल जल-बिन्दुओसे अलकृत थे । अतः उस समय वे लक्ष्मीका अनुकरण कर रही थी ॥५६॥ नितम्बके बोझसे जो युवतियाँ पग-पग पर फिसल रही थी उन्हे उनके स्तनोके स्पर्शके लोभी पतियोने अपने बाहुओसे उठाकर प्रसन्नता पूर्वक घाटके ऊपर पहुँचा दिया ॥५७॥ नील कमल सरीखे नेत्रोवाली स्त्रियोने गीले (रसिक) रगीन (अनुरागयुक्त) जिन पुराने कपडोको किनारे पर उतार दिया, उनसे पानी निकल रहा था । अत एव ऐसा जान पडता था मानो वे

---

१ अ °मरूढ° । २ श सबन्धाना । ३. = आर्द्राणि ।

विश्रान्त्यर्थं समनुसरति प्रस्थमम्भोधराध्व-
भ्रान्त्युद्भूतश्रम इव रवौ पश्चिमस्याचलस्य।
गत्वा भूपः[1] पुरमुदयवांस्त्यक्ततोयावगाह-
श्चक्रे कृत्स्नं सह परिजनैरन्नपानादिकृत्यम् ॥५९॥

॥ इति श्रीवीरनन्दिकृतावुदयाङ्के चन्द्रप्रभचरिते महाकाव्ये नवमः सर्गः ॥९॥

॥५८॥ विश्रान्त्यर्थमिति[2]। रवौ सूर्ये। अम्भोधराध्वभ्रान्त्युद्भूतश्रम इव अम्भोधराध्वनो गगनस्य भ्रान्त्या भ्रमणेनोद्भूत उत्पन्न श्रमो यस्य तस्मिन्निव। पश्चिमस्य अपरदिक्स्थस्य पर्वतस्य। प्रस्थ सानुम्[3]। विश्रान्त्यर्थं विश्रमार्थम्। समनुसरति समनुगच्छति सति। त्यक्ततोयावगाह त्यक्तो मुक्तस्तोयस्य जलस्या वगाह क्रीडा येन स। उदयवान् ऐश्वर्यवान्। भूपः चक्रवर्ती। पुर नगरीम्। गत्वा एत्य। परिजनै भृत्यजनै। सह साकम्। अन्नपानादि भोजनपानादि। कृत्स्न सकलम्। कृत्य कार्यम्। चक्रे करोति स्म। उत्प्रेक्षा ॥५९॥

इति वीरनन्दिकृतावुदयाङ्के चन्द्रप्रभचरिते महाकाव्ये तद्व्याख्याने च विद्वन्मनोवल्लभाख्ये नवमः सर्ग ॥ ९ ॥

शोकके कारण आँसू बहा रहे हो ॥५८॥ आकाशमे भ्रमण करनेसे सूर्य मानो थककर विश्राम करनेके लिए अस्ताचलके शिखरकी ओर चल दिया। यह देखकर चक्रवर्ती अजितसेन जो उत्तरोत्तर प्रगति कर रहा था—जलक्रीडा बन्द करके पुरकी ओर चला गया। वहाँ जाकर उसने अपने परिवारके लोगोके साथ भोजन आदि सभी आवश्यक कार्य किये ॥५९॥

इस प्रकार महाकवि वीरनन्दि विरचित उदयाङ्क चन्द्रप्रभ चरित महाकाव्यमें नवा सर्ग समाप्त हुआ ॥९॥

---

१ क ख ग घ म भूय.। २ आ विश्रान्ति इति, श विश्रान्तीति। ३ आ स्थानम्।

[१०. दशमः सर्गः]

इतरेषु जनेषु का कथा न सुरेष्वप्युदया निरत्ययाः ।
इति सूचयितुं शरीरिणां रविरस्ताद्रिमथाधिशिश्रिये[1] ॥१॥
प्रियसङ्गसमुत्सुकाङ्गनानयनप्रान्तशरैरिव क्षतः ।
तनुमावहति स्म भानुमानरुणाम्भोरुहभारसंनिभाम्[2] ॥२॥
दिवसाधिपवल्लभागमे वरुणाशा परिलोहितानना ।
स्वयमेव समेत्य कुङ्कुमैः कृतचर्चेव रराज संध्यया ॥३॥
परकृत्यविधौ समुद्यतः पुरुषः कृच्छ्रगतोऽपि पूज्यते ।
शिरसास्तमयेऽप्यदीधरद्यदशीतद्युतिमस्तभूधरः ॥४॥

इतरेष्विति । अथ जलक्रीडानन्तरम् । सुरेष्वपि देवेष्वपि । उदया अभ्युदया । निरत्ययाः निर्बाधाः । न भवन्ति । इतरेषु अन्येषु । जनेषु लोकेषु । का कथा का वार्ता । रवि सूर्यः । शरीरिणा जीवानाम् । इति परमार्थवचनम् । सूचयितुं दर्शयितुम् (इव) । अस्ताद्रि पश्चिमाद्रिम् । अधिशिश्रिये अधिश्रयति स्म । उत्प्रेक्षा ॥१॥ प्रियेति । प्रियसङ्गसमुत्सुकाङ्गनानयनप्रान्तशरैः प्रियाणा दयिताना सङ्गे सयोगे समुत्सुकाना-मुद्युक्तानामङ्गनाना नयनाना नेत्राणा प्रान्ता अपाङ्गास्त एव शरा बाणा, तैः । क्षत इव घातित इव । भानुमान् सूर्यः । अरुणाम्भोरुहभारसंनिभाम् अरुणाम्भोरुहाणा रक्तसरोरुहाणा भारस्य समूहस्य सनिभा समानाम् । तनुं गात्रम् । आवहति स्म धरति स्म । वह[3] प्रापणे लट् । उत्प्रेक्षा ॥२। दिवसेति । वरुणाशा वरुणा पश्चिमा दिक् सैवाशा स्त्री । रूपकम् । दिवसाधिपवल्लभागमे दिवसाधिप· सूर्य स एव वल्लभो नायक. तस्यागमे[4] आगमन, तस्मिन् । परिलोहितानना परिलोहितमरुणमानन मुख यस्या सा । स्वयमेव, समेत्य प्राप्य । कुङ्कुमैः काश्मीरजै । कृतचर्चा इव कृता चर्चा स्नान लेपन वा यस्या.[5] सा इव । सन्ध्यया सन्ध्यारागेण । रराज भाति स्म । राजृ[6] दीप्तौ लिट् । उत्प्रेक्षा[7] ॥३॥ परेति । यत्, अस्तभूधर अस्ताचलः । अशीतद्युतिम् अशीता उष्णा द्युतय. कान्तयो यस्य तम्, सूर्यम्—इत्यर्थ । अस्तमयेऽपि अस्तमान (मन) काले, पक्षे नाशसमयेऽपि । शिरसा मस्तकेन । अदीधरत् धरति स्म । धृञ् धारणे णिजन्ताल्लुङ् । परकृत्यविधौ परेषामन्येषा कृत्यस्य प्रयोजनस्य विधौ करणे । समुद्यतः समुद्युक्त । पुरुष. पुमान् । कृच्छ्रगतोऽपि कृच्छ्र कष्ट गतोऽपि प्राप्तोऽपि, पक्षे विगतपुण्योऽपि । पूज्यते हि महीयते हि । अर्थान्तरन्यास ॥४॥

इसके पश्चात्—'जब देवोका भी अभ्युदय निर्बाध नही है, तो और लोगो की बात ही क्या है' मानो यह सूचना, समस्त प्राणियोको देनेके लिए सूर्यने अस्ताचलका आश्रय लिया ॥१॥ अपने-अपने पतिके समागमके लिए उत्सुक नायिकाओके कटाक्ष-बाणोने मानो सूर्यको घायल कर दिया, फलतः उसका शरीर रक्त कमलोके समूहकी भाँति बिलकुल लाल हो गया ॥२॥ सूर्य रूपी नायकके आते ही पश्चिम दिशा रूपी नायिकाका मुख (अगला भाग) लाल हो गया। इतनेमे संध्या (उसकी सखी) आ गयी। उससे वह ऐसी प्रतीत होने लगी मानो उसके शरीरपर कुकुमका लेप कर दिया गया हो ॥३॥ जो पुरुष दूसरोंके उपकारके लिए उद्यत रहता है, वह आपद्ग्रस्त होनेपर भी पूज्य होता है दूसरोके द्वारा सन्मानित होता है। मानो इसीलिए

१ अ °थाविशिश्रिये । २. अ °रुहवारसंनिभाम् । ३. आ वह, श वहि । ४. आ °गमे । ५. = यया । ६ आ राज् । ७. आ 'उत्प्रेक्षा' इति नास्ति ।

मयि पश्यति माभिभूयतां तमसेदं मलिनात्मना जगत् ।
इति तर्कयतेव मण्डलं दिनभर्त्रान्तरधीयतात्मनः ।५।।

बलवान्विधिरेव देहिनां न सहाया न मतिर्न पौरुषम् ।
तमसा स तथा प्रतापवान्दिननाथोऽपि यदभ्यभूयत ।।६।।

विषये गुणवद्भिर्वर्जिते गुणहीनाः प्रभवन्ति का गतिः ।
गगनं हि तमोभिरावृतं मलिनैरस्तमिते दिनाधिपे ।।७।।

कृतदीप्तरवैर्विहङ्गमैर्निजनीडाभिमुखैः समाकुला. ।
वियुता इव पद्मबन्धुना प्रविलापं विदधुर्दिगङ्गनाः ।।८।।

मयीति । मयि पश्यति सति वीक्षमाणे[1] सति । इदम् एतत् । जगत् विष्टपम् । मलिनात्मना मलिनो मलीमस आत्मा स्वरूप यस्य तेन । तमसा अन्धकारेण । माभिभूयता तिरस्कारो मा क्रियताम्[2] । भू सत्तायां कर्मणि लोट्[3] । इति एवम् । तर्कयतेव विचारयतेव । दिनभर्त्रा सूर्येण । आत्मन. स्वस्य । मण्डल बिम्बम् । अन्तरधीयत व्यवधीयते स्म । डुधाञ् धारणे च[4] कर्मणि लङ् । उत्प्रेक्षा ।५।। बलवानिति । तथा तेन प्रकारेण । प्रतापवानपि प्रतापयुक्तोऽपि । स दिननाथ सूर्य । यत् यस्मात्कारणात् । तमसा तिमिरेण । अभ्यभूयत तिरस्क्रियते स्म । (तत्) देहिना जीवानाम् । विधिरेव कर्मैव । बलवान् बलवत् (सबलः) । सहाया बलवन्तो न भवन्ति । मति बुद्धि । न, बलवती न भवति । अर्थान्तरन्यासः ।।६।। विषय इति । दिनाधिपे सूर्ये । अस्तमिते अस्त गते सति । मलिनै मलीमसै । 'मलादीमसश्च' इति ईमस[5]—प्रत्यय । तमोभि तिमिरै । गगन हि आकाश हि । आवृत व्याप्तम् । गुणवद्भिर्वर्जिते[6] गुणवद्भिर्गुणयुक्तै पुरुषैर्विवर्जिते रहिते । विषये देशे । गुणहीना गुणैर्हीना रहिता । प्रभवन्ति समर्था भवन्ति । का गति. गति. का ? गुणवद्रहितेऽपि देशे गुणहीनाना स्थित्यभावे तेषा गति का[8] इत्यर्थः ।।७।। कृतेति । कृतदीप्तरवै कृता विहिता दीप्ता तारा रवा स्वरा यै, तै । निजनीडाभिमुखै. निजाना स्वेषां नीडाना कुलायानामभिमुखैरभिमुख गच्छद्भि । विहङ्गमै पक्षिभि । समाकुला व्याप्ता । दिगङ्गना[9] दिक्षु ककुप्सु विद्यमाना अङ्गना कन्यकाः । पद्मबन्धुना पद्मस्य कमलस्य बन्धुर्बान्धवः, तेन, सूर्येण—इत्यर्थ । वियुता. विरहिताः ।

अस्ताचलने डूबते समय भी सूर्यको अपने मस्तक (शिखर) पर धारण किया ।।४।। मेरे देखते हुए—मेरी दृष्टिके सामने, यह जगत् मलिन (कृष्णवर्ण, पापी) अन्धकारसे अभिभूत न हो, मानो यह सोचकर सूर्यने अपने मण्डलको छिपा लिया—सूर्य डूब गया ।।५।। जब प्रतापी सूर्य भी अन्धकारके द्वारा अभिभूत-तिरस्कृत कर दिया गया, तब तो यही कहना चाहिए कि प्राणियोका भाग्य ही बलवान है, न कि सहायक, बुद्धि और पुरुषार्थ ।।६।। जिस देशमे गुणवान् नही रहते, उसमे निर्गुणोकी प्रभुता हो जाती है । इसका उपाय ही क्या है ? इसीलिए न, सूर्यके अस्त होते ही मलिन अन्धकारने आकाशको घेर लिया ।।७।। जोर-जोरसे शब्द करते हुए पक्षी अपने-अपने घोसलोको ओर जाने लगे, तो सभी दिशाएँ उनसे व्याप्त होकर ऐसी प्रतीत

---

१ आ वीक्ष्यमाणे । २ = न तिरस्क्रियताम् । ३ श लेट् । ४, आ 'च' नास्ति । ५ आ इन ।
६ एष टीकाश्रय पाठ, प्रतिषुतु 'गुणवृद्धिर्वर्जिते' इत्येव वर्तते । ७ = उपाय । ८ = क्व इति यावत् ।
९ = दिश एवाङ्गना दिगङ्गना ।

ककुभो मलिनात्मनाखिलं तमसा व्याप्तमवेत्य विष्टपम्।
ययुरस्तमुपागते रवाविव विध्वंसभयाददृश्यताम्॥९॥
अवभास्य जगद्गृहं करै रविदीपे विरतिं गते तमः।
प्रसरद्ददृशे शनैः शनैरिव तत्कज्जलमम्बरे जनैः॥१०॥
तमसाखिलमेव कुर्वता निजसङ्गेन जगन्मलीमसम्।
इति देहवतां स्फुटीकृतं गुणदोषाः सदसत्प्रसङ्गजाः॥११॥
विनिवृत्तनिजाह्निकक्रियं विगतालोकमुपात्तसंभ्रमम्।
परिवृत्तिमगादिवाखिलं भुवनं संतमसावगुण्ठितम्॥१२॥

प्रविलाप प्रलापम्। विदधुरिव चक्रुरिव। भान्ति स्म। डुधाञ् धारणे च लिट्। उत्प्रेक्षा ॥८॥ ककुभ इति। रवौ सूर्ये। अस्तं परोक्षम्। उपागते याते सति। मलिनात्मना मलिनो मलीमस आत्मा यस्य, तेन। तमसा तिमिरेण। व्याप्तम् आवृतम्। अखिलं निखिलम्। विष्टपं भुवनम्। अवेत्य ज्ञात्वा। ककुभः दिशः। विध्वंसभयादिव विध्वंसाद् नाशाज्जातभयादिव भीतेरिव। अदृश्यता नयनविषयाभावम्। ययुः यान्ति स्म। या प्रापणे लिट्। उत्प्रेक्षा ॥९॥ अवभास्येति। रविदीपे रविरेव दीपः प्रदीपः, तस्मिन्। करैः किरणैः। जगद्गृहं जगदेव गृहं मन्दिरम्। अवभास्य प्रकाशनं कृत्वा। विरतिं विरामम्। गते याते सति। अम्बरे गगने। शनैः शनैः मन्दं मन्दम्। प्रसरत् व्याप्नुवत्। तमः तमिस्रम्। जनैः लोकैः। तत्कज्जलमिव तस्य रविदीपस्य कज्जलमिव मषिकेव। ददृशे दृश्यते स्म। दृशृ प्रेक्षणे लिट्। उत्प्रेक्षारूपकयोः सङ्करः ॥१०॥ तमसेति। निजसङ्गेन निजस्य सङ्गेन संसर्गेण। अखिलमेव निखिलमेव। जगत् भुवनम्। मलीमसं मलम् (मलो) अस्य अस्तीति मलीमसं पुनस्तत्। 'मलादीमसश्च' इति ईमस—प्रत्ययः। कुर्वता विदधता। तमसा तिमिरेण। देहवतां देहः शरीरमस्त्येषामिति देहवन्तः, तेषाम्, संसारिणाम्—इत्यर्थः। 卐 गुणदोषाः गुणाश्च दोषाश्च तथोक्ताः। सदसत्प्रसङ्गजाः सतां सत्पुरुषाणामसतां दुर्जनानां प्रसङ्गजाः संसर्गेण जाताः। इति एवम्। स्फुटीकृतं प्रागस्फुटमिदानीं स्फुटं क्रियते स्म स्फुटीकृतं व्यक्तीकृतम्—इत्यर्थः 卐। दृष्टान्तः (?) ॥११॥ विनिवृत्तेति। विनिवृत्तनिजाह्निकक्रियं विनिवृत्ता निरस्ता निजस्य स्वस्याह्निका दिवसे प्रवर्तमाना क्रिया व्यापारो यस्य तत्। विगतालोकं विगतो रहित आलोको यस्य तत्। उपात्तसंभ्रमम् उपात्तः स्वीकृतः संभ्रमोऽनवस्थितिः भयं वा येन तत्। 'संवेगभयादरेषु संभ्रमः' इति नानार्थकोशे। संतमसावगुण्ठितं संतमसेन समन्तात् विद्यमानेन तमसा अवगुण्ठितमाच्छादितम्, (पक्षे) अज्ञानान्धकारेणावगुण्ठितम्। अखिलं निखिलम्। भुवनं विष्टपम्। परिवृत्तिं व्यस्तवृत्तिम्, पक्षे उन्मत्तवृत्तिं तिरस्कारं वा। अगादिव अयादिव। इण् गतौ लुङ्।

होने लगीं मानो सूर्य (पति) से वियुक्त होकर वे विलाप कर रही हों ॥८॥ सूर्यके अस्त होते ही मलिन अन्धकारने सारे संसारको घेर लिया, यह देखकर सभी दिशाएँ मानो विध्वंसके भयसे अदृश्य हो गईं ॥९॥ जगत् रूपी घरको प्रकाशित करके सूर्य रूपी दीपकके अस्त होते ही लोगों-ने आकाशमें धीरे-धीरे उसके कज्जल सरीखे प्रतीत होनेवाले अन्धकारको फैलते देखा ॥१०॥ अपने संसर्गसे सारे संसारको मलिन करते हुए अन्धकारने, समस्त प्राणियोंके सामने इस बात-को स्पष्ट कर दिया कि गुण और दोष, क्रमशः अच्छे और बुरे संसर्गसे हुआ करते हैं ॥११॥ अन्धकारका आवरण या पर्दा पड़ जानेसे सारा संसार बिल्कुल बदल-सा गया। उसने दिनमें होनेवाली सारी क्रियाएँ छोड़ दीं, उसका प्रकाश समाप्त हो गया और उसे भय भी उत्पन्न हो गया। फलतः वह पागल सरीखा जान पड़ने लगा। पागल दैनिक क्रियाओंसे निवृत्त रहता है

न जहाति पुमान्कृतज्ञतामसुभङ्गेऽपि निसर्गनिर्मलः ।
रविणा गमितः समुन्नतिं सह तेनास्तमियाय वासरः ॥१३॥
गुणवान्समुपैति सेव्यतां गुणहीनादपरज्यते जनः ।
दिवसापगमे मलीमसं कमलं पश्य समुज्झितं श्रिया ॥१४॥
ककुभां विवरेषु तारका विहतध्वान्तलवाश्चकासिरे ।
गलिता इव मित्रविप्लवे गगनस्योग्रशुचोऽश्रुबिन्दवः ॥१५॥
गलिताश्रुभिरार्तनिःस्वनैर्बहलध्वान्तमषीमलीमसैः ।
विरहानलधूमधूसरैरिव चक्राह्वयुगैर्व्ययुज्यत ॥१६॥

'गैरयो' इति गादेश । उत्प्रेक्षा ॥१२॥ नेति । रविणा सूर्येण । समुन्नतिं महोन्नतिम् । गमित प्रापित । वासरः दिवस । तेन सूर्येण । सह साकम् । अस्त नाशम् । इयाय जगाम[1] । इण् गतौ लिट् । निसर्गनिर्मल. निसर्गेण स्वभावेन निर्मलो मलरहितः। पुमान् पुरुष । असुभङ्गेऽपि असूना प्राणाना भङ्गेऽपि नाशेऽपि । कृतज्ञताम् उपकार-स्मरणत्वम्[2] । न जहाति न त्यजति । ओहाक् त्यागे लट् । अर्थान्तरन्यास ॥१३॥ गुणवानिति । गुणवान् गुणसहित । जन लोक । सेव्यता पूज्यताम् । समुपैति सयाति । गुणहीनात् गुणैर्हीनाद् रहितात् । अपरज्यते[3] अपसरति । रञ्जु[4] रागे लट् । लोके गुणवान् जनो गुणवन्तमाश्रित्य पूज्यतामुपयाति, स एव गुणहीनमाश्रित्य स्वगुणान् त्यजते (ति) इत्यभिप्राय । दिवसामपगमे दिवसस्य दिनस्य । अपगमे नाशे । मलीमस मलसयुक्तम् । श्रिया शोभया । समुज्झित रहितम्[5] । कमल नलिनम् । पश्य विलोकय । दृश्[6] प्रेक्षणे लोट्[7] । 'पा घ्रा—' इत्यादिना पश्यादेश । दृष्टान्तः ॥१४। ककुभामिति । ककुभा दिशाम्। विवरेषु भागेषु । विहतध्वान्तलवा विहता निरस्ता ध्वान्तस्य तमसो लवा कणा यासा[8] ता तथोक्ता । तारका नक्षत्राणि । मित्रविप्लवे मित्रस्य सूर्यस्य विप्लवे नाशे, मित्रस्य सुहृदो विप्लवे नाशे च । श्लेष । गगनस्य आकाशस्य। उग्र-शुचा उग्रया तीव्रया शुचा शोकेन । अश्रुबिन्दव अश्रुणो नयनोदकस्य बिन्दव. कणा । गलिता इव च्युता इव । चकासिरे[9] । कास[10] दीप्तौ लिट् । उत्प्रेक्षा ॥१५॥ गलितेति । गलिताश्रुभि गलित स्रवितमश्रु नेत्रोदकं येषा ते । आर्तनि.स्वनै. आर्त शोकेन युक्तो नि स्वनो येषा ते । बहलध्वान्तमषीमलीमसैः बहल गाढ ध्वान्तं तमस्तदेव मषी[11] तया मलीमसानि मलिनानि ते. । चक्राह्वयुगले चक्राह्वाना चक्रवाकाना युगलैर्द्वन्द्वैः । विरहानलधूमधूसरै [इव] विरहो वियोगः स एवानलोऽग्निस्तस्य धूमेन धूसरा विवर्णा तैरिव । व्ययुज्यत ।

उसे कुछ ज्ञान नही रहता और उसे भ्रम हुआ करता है ॥१२। जो मनुष्य स्वभावतः निर्मल होता है—जिसका दिल साफ होता है—वह प्राण निकलनेकी नौबत आनेपर भी कृतज्ञताको नही छोडता। मानो यही सोचकर, सूर्यके द्वारा समुन्नत किया गया दिन, सूर्यके साथ ही अस्त हो गया ॥१३॥ गुणी मनुष्य पूज्य होता है, पर जब वह गुणहीन हो जाता है, तब लोग उससे विरक्त हो जाते हैं। कमलको देखो, दिन अस्त होनेपर ज्यो ही वह मलिन होने लगता है, त्योही लक्ष्मी उसे छोड देती है ॥१४॥ दिशाओके बीच-बीचमे अन्धकारको कुछ-कुछ दूर करने वाली ताराएँ ऐसी जान पडती थी, मानो मित्र (सूर्य, सखा) के अस्त (नष्ट) होनेपर अत्यधिक शोक करनेवाले आकाशको अश्रु-बिन्दुएँ टपक रही हो ॥१५॥ चक्रवाक पक्षियोंके जोडे दु खी हो गये—उनकी आंखोंसे आंसू टपकने लगे, उनके मुखसे दु:खभरे शब्द निकलने लगे और वे अन्धकार रूपी काली स्याहीसे मैले होकर ऐसे जान पडने लगे मानो विरहाग्निके धुएँसे मटमैले

१ श अस्तमियाय नाशमियाय प्राप । २ श स्मरत्वम् । ३ =अपरक्तो भवति । ४. श रञ्ज । ५ श अपयतम् । ६ आ दृशिर् । ७. श लेट् । ८ =यासि । ९ श चकाशिरे । १०. श काश । ११ =मषति हिनस्त्योज्ज्वल्यमिति मषी ।

विसरन्बिस[1]तन्तुनिर्मलो विबभासेऽथ नभः पयोनिधौ ।
निकरो रजनीपते रुचामिव मुक्ताफलरोचिषा चयः ॥१७॥
प्रसृतालकतुल्यलाञ्छनद्युतिरद्र्यन्तरितार्धमण्डल. ।
व्रजति स्म ललाटपट्टतां क्षणमात्रं वलभिद्दिशः शशी ॥१८॥
विदधत्तिमिरं तिरोहितं करजालैर्गगनान्तगामिभिः ।
अभवद्रजनीकरः क्रमादुदयाद्रीन्द्रशिर. शिखामणिः ॥१९॥
उदयाद्रिशिरः श्रितः शशी शशमन्तर्गतमाजिघांसुना ।
तमसा शबरेण सायकैरिव विद्धोधिजगाम रक्तताम् ॥२०॥

युजृन्[2] योगे भावे लङ् । उत्प्रेक्षा ॥१६॥ विसरन्निति । अथ सूर्यास्तमया (ना) नन्तरम् । बिसतन्तुनिर्मलः बिसस्य[3] कमलस्य तन्तुरिव निर्मल शुभ्र । विसरन् प्रसरन् । रजनीपते' निशाकरस्य । रुचा कान्तीनाम् । निकर, नभ पयोनिधौ समुद्रे[4] । मुक्ताफलरोचिषा मुक्ताफलाना मुक्तामणीना रोचिषा कान्तीनाम् । चय इव निवह इव । विबभासे भासते स्म । भासृ[5] दीप्तौ लिट् । उत्प्रेक्षा ॥१७ । प्रसृतेति । प्रसृतालकतुल्यलाञ्छन-द्युति प्रसृतस्य विसृतस्यालकस्य चूर्णकुन्तलस्य तुल्या समाना लाञ्छनस्य द्युति कान्ति र्यस्य स । अद्र्यन्तरिता-र्धमण्डल अद्रिणा पूर्वपर्वतेनान्तरित व्यवहित मण्डलस्य बिम्बस्यार्धम् अर्धमण्डल यस्य स । शशी चन्द्र । क्षणमात्र क्षणपर्यन्तमेव । वलभिद्दिश. वलभिद इन्द्रस्य दिश । ललाटपट्टता ललाटस्य पट्टता[6] प्रदेशत्वम् । व्रजति स्म गच्छति स्म । व्रज गतौ लट् । उत्प्रेक्षा ॥१८॥ विदधदिति । गगनान्तगामिभि गगनस्याकाशस्यान्तमव-सान गामिभि[7] गमनशीलैः । करजालै कराणा किरणाना जालैः समूहै' । तिमिर तमः । तिरोहित व्यव-हितम् । विदधत् कुर्वन् । रजनीकर निशाकर । क्रमात्[8] परिपाटचा । उदयाद्रीन्द्रशिर शिखामणि. उदया-द्रीन्द्रस्य उदयपर्वतेन्द्रस्य शिरसो मस्तकस्य शिखामणिश्चूडामणि । अभवत् अभूत् । भू सत्ताया लङ् । उपमा ॥१९॥ उदयेति । उदयाद्रिशिर श्रित उदयाद्रेरुदयपर्वतस्य शिर' शिखर श्रित आश्रित । शशी चन्द्र । अन्तर्गतम् अन्तर्मध्य गत यातम् । शश[9] शशमृगम् । आजिघांसुना हन्तुमिच्छुना । तमसा तिमिरेण । शबरेण व्याधेन । सायकैः बाणैः । विद्ध [इव] वेधित इव । रक्तता लोहितत्वम् । निजगाम [अधिजगाम] ययौ ।

हो गये हो । फिर वे विछुड गये ॥१६॥ इसके पश्चात् सभी ओर फैलनेवाला, कमलदण्डके तन्तुओके समान निर्मल, चन्द्रमाकी किरणोका समूह सुशोभित होने लगा, जो ऐसा जान पडता था मानो आकाशरूपी समुद्रमे मोतियोकी किरणोका समूह हो ॥१७॥ चन्द्रमा दृष्टिगोचर होने लगा । उसका आधा भाग उदयाचलकी ओटमे छिपा हुआ था, और आधा उसके ऊपर देख पडता था, जो थोडी देर तक इन्द्रकी दिशा (पूर्व) रूपी नायिकाके ललाटकी छविको धारण कर रहा था, और उसमे काला धब्बा विखरे केशपाशकी सुषमाको व्यक्त कर रहा था ॥१८॥ आकाशमे सभी ओर जानेवाली किरणोसे अन्धकारको दूर करता हुआ चन्द्रमा धीरे-धीरे उदयाचलके सिर—शिखरपर, पूरा-का-पूरा पहुँच गया, और वहाँ वह उसका चूडामणि बन गया ॥१९॥ चन्द्रमा उदयाचलके शिखरपर पहुँच गया । वहाँ वह बिल्कुल रक्तवर्ण हो गया, जिससे ऐसा प्रतीत होता था मानो अन्धकार रूपी भीलने उसके भीतर स्थित खरगोशको मारनेके लिए जो बाण मारे थे, उनसे वह स्वय घायल हो गया हो, और घावसे निकलनेवाले

---

१ आ विवशन्बि° । २ आ युजिर् । ३ = कमलदण्डस्य मृणालस्य । ४ = आकाशसमुद्रे । ४ श भासृज् । ५. = फलकत्वम् । ६. = गच्छन्तीत्येन ... ानि, तैः । ७ = क्रमत. । ८ = 'शशस्तु मृदुलोमक.' इति हैमः । १० आ जगाम ।

घनवीथिरथं क्षपापतावधिरूढे धृतधामधन्वनि ।
उपभुक्तनिशं तमो भयात्परदारग्रहजादिवाद्रवत् ॥२१॥
विगलत्तिमिरावगुण्ठनामुडुघर्मोदकबिन्दुसंभृताम् ।
ददृशु शिशिरांशुसंगमे सुरतस्थामिव शर्वरीं जनाः ॥२२॥
भवतीह विनापि हेतुना घटना कस्यचिदेव केनचित् ।
विकसद्भिरिति स्फुटाकृतं कुमुदैरेव निशाकरोदये ॥२३॥
प्रविकासिनि यन्न्यलीयत भ्रमरीणा[1] कुमुदानने कुलम् ।
तिलकं तदभूत्प्रसाधनं कुमुदिन्यास्तुहिनांशुसंगमे ॥२४॥

गम्लृ गतौ लिट् । उत्प्रेक्षा ॥२०॥ घनेति । धृतधामधन्वनि[2] धामैव किरण (णा) एव धनु तथोक्तम्, धृत भृत च तद् धामधनुश्च तथोक्तम्, धृतधामधनुरस्यास्तीति धृतधामधन्वा तस्मिन् क्षमापतौ निशापतौ, चन्द्रे—इत्यर्थ । घनवीथिरथ घनस्य मेघस्य वीथि , गगनम्–इति भाव , घनवीथिरेव रथ , तम् । रूपकम् । अधिरूढे सति । उपभुक्तनिशम् उपभुक्तानुभूता निशा रात्रिर्येन तत् । तम तिमिरम् । परदारग्रहजात् परदाराणा परस्त्रीणा ग्रहजाद् ग्रहणेन जातात् । भयादिव भीतेरिव । अद्रवत् अधावत् । द्रु गतौ[3] लङ् । उत्प्रेक्षा ॥२१॥ विगलदिति । शिशिरांशुसङ्गमे शिशिरांशोश्चन्द्रस्य सङ्गमे ससर्गे[4] । विगलत्तिमिरावगुण्ठना विगलद् विगच्छत् तिमिरमेव तम एवावगुण्ठन वस्त्र यस्याः ताम् । उडुघर्मोदकबिन्दुसभृताम्[5] उडूनि नक्षत्राणि तान्येव घर्मस्य स्वेदस्योदक जल तस्य बिन्दवस्तान् सबिभर्ति स्म उडुघर्मोदकसभृता, ताम् शर्वरीं रात्रिम् । जनाः लोका । सुरतस्थामिव निधुवनस्थामिव । ददृशु पश्यन्ति स्म । दृशृ[6] प्रेक्षणे लिट् । उत्प्रेक्षा ॥२२॥ भवतीति । इह जगति । हेतुना विनापि कारणन विनापि । कस्यचिदेव[7] वस्तुन एव । केनचित् वस्तुना साकम्[8] । घटना सम्बन्ध । भवति जायते । निशाकरोदये निशाकरस्य चन्द्रस्योदये । विकसद्भि[9] । कुमुदैरेव कैरवैरेव[10] । इति एवम् । स्फुटीकृत व्यक्तीकृतम्[11] । कुमुदै सह सबन्ध कुमुदाना विकसनेनैव व्यक्तीकृत इत्यर्थ । अनुमिति ॥२३॥ प्रविकासिनीति । प्रविकासिनि विका (क) सनशीले । कुमुदानने कुमुदमेवानन तथोक्त, तस्मिन् । भ्रमरीणा[12] मधुकरीणाम् । कुल समूह । न्यलीयत्[13] न्यपतत् । लीङ् श्लेषणे कर्मणि लट् । तुहिनांशुसङ्गमे तुहिनांशोश्चन्द्रस्य सङ्गमे ससर्गे । कुमुदिन्या[14] कुमुदषण्डस्य कुमुदिनी-जाति (ते), स्त्रिया इति ध्वनि । तत् भ्रमरीकुलम्[15] । तिलक तिलकम्—इति नाम । प्रसाधनम्

रक्तसे रजित हो गया हो ॥२०॥ अपना प्रकाश या प्रभाव रूपी धनुष (और किरण रूपी बाण) लेकर ज्यो ही रात्रिका पति-चन्द्रमा आकाश रूपी रथपर सवार हुआ, त्यो ही रात्रिका उपभोग करनेवाला अन्धकार मानो परनारी भोगनेके भयसे भाग गया—चन्द्रोदय होते ही अन्धकार नष्ट हो गया ॥२१॥ चन्द्रमाका सगम होते ही रात्रि रूपी नायिकाका अन्धकार रूपी घूँघट उतर गया और उसके ऊपर नक्षत्र रूपी पसीनेके बिन्दु दृष्टिगोचर होने लगे। अतएव दर्शकोंको वह ऐसी प्रतीत हो रही थी मानो वह सुरतमे निरत हो ॥२२॥ चन्द्रोदय होनेपर केवल रात्रि विकासी कमल ही विकसित हुए (न कि दिनमे खिसकनेवाले कमल), जिन्होने मानो यह स्पष्ट बतला दिया कि इस ससारमे किसीका किसीके साथ बिना किसी कारणके भी (स्वाभाविक) सम्बन्ध होता है ॥२३॥ विकसित कुमुद रूपी (कुमुदिनीके) मुखपर जो भौंरोका झुण्ड जा बैठा,

---

१ क ख ग घ म भ्रमराणा। २ =धृत धामैव धनुर्येन, तस्मिन्। ३ श द्रु सु(स्रु) गतौ। ४ श 'ससर्गे' इति नोपलभ्यते। ५ =उडून्येव घर्मोदबिन्दव तै सभृता व्याप्ताम्। ६ आ दृशिर्। ७ =कस्यचिद्वस्तुन एव। ८ आ 'साकम्' इति नास्ति। ९ =स्फुटद्भि। १० श कुमुदैरिव कैरवैरिव। ११ श 'व्यक्तीकृतम्' इति नोपलभ्यते। १२ आ भ्रमराणा। १३ श व्यलीयत्। १४. =कुमुद्वत्याः। १५ अ भ्रमर।

अपहन्ति नरो निसर्गजानपि दोषान्गुणवन्तमाश्रितः ।
नभसा हि हिमांशुसंगमादपनीतं मलिनत्वमात्मनः ॥२५॥

उदितेन पयोधिरिन्दुना परमां कोटिमनीयतोन्नतेः ।
महतां हि परोपकारिता सहजा नाद्यतनी मनागपि ॥२६॥

विकसत्कुमुदाकरं सरः प्रकटोडुप्रकरं नभःस्थलम् ।
द्वयमाप परस्परोपमां करजाले शशिनः प्रसर्पति ॥२७॥

रजनी तमसान्त्यजातिना परिमृष्टा घनवर्त्मवर्त्मनि ।
प्रविधातुमिवात्मशोधनं निममज्जेन्दुमहोमहाह्रदे ॥२८॥

अलङ्कार । अभूत् अभवत् । भू सत्तायां लुङ् । उत्प्रेक्षा ॥२४॥ अपहन्तीत्यादि । हिमांशुसङ्गमात् हिमांशोश्चन्द्रस्य सङ्गमात् संसर्गात् । नभसा गगनेन । आत्मनः स्वस्य । मलिनत्वं मलीमसत्वम् । अपनीतं निराकृतम् । गुणवन्तं गुणिनं पुरुषम् । आश्रितः समुपयातः । नरः पुरुषः । निसर्गजान् स्वभावजनितान् । दोषानपि पापान्यपि । अपहन्ति नाशयति । हन हिंसागत्योः कर्तरि लट् । अर्थान्तरन्यासः ॥२५॥ उदितेनेति । उदितेन उदेति स्म उदितः, तेन उदयं गतेन । इन्दुना सोमेन । पयोधिः समुद्रः । उन्नतेः महत्त्वस्य । परमाम् उत्कृष्टाम् । कोटिं भागम् । अनीयत[2] अयायत[3] । णीञ् प्रापणे कर्मणि लङ् । 'दुहि याचि—' इत्यादिना द्विकर्मकः । महतां सताम् । परोपकारिता परेषां सर्वेषामुपकारितामुपकारित्वम् । सहजा निसर्गजनिता । हि मनागपि ईषदपि । न अद्यतनी अद्यभवा न । 'सायम्—' इत्यादिना तनट् । 'टिड्ढाणञ्—' इत्यादिना ङीप्[4] । अर्थान्तरन्यासः ॥२६॥ विकसदिति । शशिनः चन्द्रस्य । करजाले कराणां किरणानां जाले समूहे । प्रसर्पति प्रसरति सति । विकसत्कुमुदाकरं विकसन् कुमुदानां कुवलयानाम्[5]आकरो निवहो यस्मिन् तत् । सरः सरोवरः । प्रकटोडुप्रकरं प्रकटः प्रादुर्भवन् उडूनां नक्षत्राणां प्रकरो निवहो यस्मिन् तत् । नभस्तलं नभसः आकाशस्य तलं प्रदेशः । द्वयं सरोवरनभस्तलयोर्द्वयम् । परस्परोपमाम् अन्योन्योपमाम् । आप याति स्म । आप्लृ व्याप्तौ लिट् । उपमा ॥२७॥ रजनीति । घनवर्त्मवर्त्मनि घनवर्त्मैव गगनमेव वर्त्म मार्गः, तस्मिन्, आकाशमार्गे—इत्यर्थः । तमसा तिमिरेण । अन्त्यजातिना चाण्डालेन[6] । परिमृष्टा परिस्पृष्टा । रजनी रात्रिः स्त्री । आत्मशोधनम् आत्मनः स्वस्य शोधनं शुद्धिम् । प्रविधातुमिव कर्तुमिव । इन्दुमहोमहाह्रदे इन्दोश्चन्द्रस्य महः कान्तिः तदेव महति ह्रदे (महाह्रदः, तस्मिन्) सरोवरे । निममज्ज स्नाति स्म । टुमस्जो[7] शुद्धौ लिट् । रूपकं परिणामो

वह कुमुदिनी रूपी नायिकाका चन्द्रमाके समागमके समय तिलक बन गया ॥२४॥ 'गुणवान्‌का आश्रय पानेवाला पुरुष अपने स्वाभाविक दोषोंको भी छोड देता है' यह बिलकुल सच है, क्योंकि आकाशने चन्द्रमाका संसर्ग पाकर अपनी स्वाभाविक मलिनताको छोड़ दिया ॥२५॥ चन्द्रमाने उदित होकर समुद्रको उन्नतिकी चरम सीमामें पहुँचा दिया । इसका एकमात्र कारण है महान् पुरुषोंकी स्वाभाविक परोपकार करनेकी प्रवृत्ति, जो अंशतः भी आजकी नहीं मानी जा सकती ॥२६॥ चन्द्रमाकी किरणोंके फैलनेपर सरोवर—जिसमें कुमुदोंका समूह खिल उठा और आकाश—जिसमें नक्षत्र मण्डल प्रकट हो गया, ये दोनों बिलकुल एक सरीखे हो गये ॥२७॥ चन्द्रोदयके पहले अन्धकार रूपी चण्डालके द्वारा रात्रि रूपी स्त्री आकाशमार्गमें छू ली गई थी, मानो इसीलिए अपनेको शुद्ध करनेके लिए उसने चन्द्रमाके प्रकाश रूपी बहुत बड़े जलाशयमें

---

१. क ख ग घ म प्रविवेशेन्दु । २. = नीत । ३. आ अयास्ययत । ४. आ ङीप् । ५. श कमलानाम् । ६. आ चण्डालेन । ७. आ टुमज्जा ।

तिमिरेभमदुर्न हिंसितुं शशिसिंहाय गुहाश्रितं नगाः।
शरणागतरक्षणं सतां नहि जातु व्यभिचारमेष्यति ॥२९॥
विबभावधिरोहदम्बरे विधुबिम्बं क्षणमुद्गमारुणम्।
जनयद्धरिदिग्वधूजपाकुसुमापीडवितर्कमङ्गिनाम् ॥३०॥
समभूत्सुखिचक्रवाकयोर्मिथुनं संगमहृष्टमह्नि यत्।
निशि तद्विरहार्तिविह्वलं धिगिमां दग्धविधेर्विडम्बनाम् ॥३१॥
यदधु' प्रियकोपधूपिते हृदि मानग्रहशल्यमङ्गनाः।
विधुरुद्धरति स्म दुर्धरं करसंदंशकताडनेन तत् ॥३२॥

वा (उत्प्रेक्षा) ॥२८॥ तिमिरेभेति[1]। नगा पर्वता । गुहाश्रितं गुहा गह्वरमाश्रित[2] सेवितम्। तिमिरेभ तिमिरमेवेभ करी तम्। शशिसिहाय शश्येव सिंहो मृगेन्द्र तस्मै। हिंसितु हन्तुम्। नादु न ददति स्म। डुदाञ् दाने लुङ्। शरणागतरक्षण शरण रक्षणमागताना रक्षण पालनम्। सता सत्पुरुषाणाम्। जातु एकवारमपि। व्यभिचार व्यत्ययम्। नेष्यति हि न यास्यति हि। इण् गतौ लृट्। अर्थान्तरन्यास ॥२९॥ विबभाविति। क्षण क्षणपर्यन्तम्। उद्गमारुणम् उद्गमे उदयेऽरुण लोहितम्। अम्बरे गगने। अधिरोहत् आरोहत्। विधुबिम्ब विधोश्चन्द्रस्य बिम्ब मण्डलम्। अङ्गिना जनानाम्। हरिदिग्वधूजपाकुसुमापीडवितर्कं हरिदिगेव इन्द्रदिगेव वधूर्वनिता तस्या जपाकुसुमेन जपापुष्पेण रचित आपीड शेखर इति वितर्कमाशङ्काम्। जनयत् उत्पादयत् सत्। विबभौ भाति स्म। भा दीप्तौ लिट्। सशय ॥३०॥ समभूदिति। सङ्गमहृष्ट सङ्गमेन ससर्गेण हृष्ट सतुष्टम्। यत्, चक्रवाकयो. कोकपक्षिणो। मिथुन द्वन्द्वम्। अह्नि दिवसे। सुखि सुखयुक्तम्। समभूत् समभवत्। भू सत्ताया लुङ्। तत्, निशि निशायाम्। विरहार्तिविह्वल विरहस्य वियोगस्यार्त्या पीडया विह्वल[3] मूर्च्छितम्। अभूत्। दग्धविधे[4] धूर्तपापस्य। इमाम् एनाम्। विडम्बना तिरस्कृतिम्[5]। धिक्। 'हा धिक् समया' इत्यादिना द्वितीया ॥३१॥ यदिति। अङ्गना वनिता.। प्रियकोपधूपिते प्रिये नायके विद्यमानेन कोपेन धूपिते सतापिते। हृदि हृदये। यत्, मानग्रहशल्य मानस्य गर्वस्य ग्रह एव स्वीकार[6] एव शल्य शङ्कुम्। अधु धरन्ति स्म। विधु चन्द्र। दुर्धर धर्तुमशक्यम्। तत्[7], करसदंशकताडनेन कर एव किरण एव सदशकस्य (सदश. कङ्कमुख तस्य। सदश्यते तप्तहेमादि येन स सदश.।) तप्तलोहग्राहकस्य

प्रवेश किया ॥२८॥ पर्वतोने अपनी गुफाकी शरण आये अन्धकार रूपी हाथीको मारनेके लिए चन्द्रमा रूपी सिंहके हवाले नही किया, क्योकि शरणागतकी रक्षा करना सज्जनोका व्रत है, जो कभी अन्यथा नही हो सकता—चन्द्रमाने गुफाओके अन्धकारको छोडकर बाहरके अन्धकारको हटा दिया ॥२९॥ उदयकालीन लाल चन्द्रमा, जब आकाशमें चढ रहा था, बडा ही सुन्दर प्रतीत हो रहा था। उस समय वह दर्शकोंके मनमे यह तर्क उत्पन्नकर रहा था कि यह (चन्द्रमा) इन्द्रकी दिशारूपी नायिकाका कही जपापुष्पका शिरोभूषण तो नही है ॥३०॥ चकवा-चकवीका जो जोडा दिनमे एक साथ रहनेसे सुखी रहा, वही रातमे एक दूसरेके विरहसे बेचैन हो उठा। निठुर विधाताकी इस विडम्बनाको धिक्कार है ॥३१॥ पतिके ऊपर उत्पन्न हुए क्रोधकी अग्निसे सन्तप्त अपने हृदयमे मानवती (रूठकर वैठी हुई) नायिकाओने जिस मानके कांटे या कीलको ठोक लिया था, वह रात्रिके समय दुर्धर हो गया, पर उसे चन्द्रमाने अपनी

१ आ श तिमिरेति। २. = प्राप्तम्। ३ = व्याकुलम्। ४. = निष्ठुरदैवस्य। ५. आ तिरस्क्रियाम्। ६. आ 'स्वीकार एव' इति नोपलभ्यते। ७ श 'तत्' इति नास्ति।

हिमरश्मिकरापसारिते तिमिरे काण्डपटस्फुटोपमे ।
रुरुचेऽम्बरकुट्टिमस्थितैः[1] सितपुष्पप्रकरैरिव ग्रहैः ॥३३॥
रजनीपतिना प्रतर्जितं करकुन्तैर्भुवनान्तवर्ति यत् ।
प्रविवेश वियोगिनीमनःस्विव मूर्च्छाकृतकेन तत्तमः ॥३४॥
क्षणदानिलभासुरीभवद्विरहाग्निज्वलितेन चेतसा ।
वनिताभिरचिन्ति चित्तभूशरशाणाकृति[2] चन्द्रमण्डलम् ॥३५॥
शिशिरांशुकराभिमर्शनाद्रजसाविर्भवता समन्ततः ।
मकरन्दमयेन निर्बभाविव निर्यत्पुलका कुमुद्वती ॥३६॥

ताडनेन । उद्धरति स्म उद्धृतवान् । रूपकम् ॥३२॥ हिमेति । काण्डपटस्फुटोपमे काण्डपटेन जवनिकापटेन स्फुट व्यक्तमुपमा[3] समान यस्य तस्मिन् । तिमिरे तमसि । हिमरश्मिकरापसारिते हिमरश्मेश्चन्द्रस्य करेण किरणेन[4] अपसारिते निवारिते । अम्बरकुट्टिमस्थितैः अम्बरमेवाकाशमेव कुट्टिमम् अङ्गण, तस्मिन् स्थितैः । सितपुष्पप्रकरैरिव सितानां शुभ्राणां पुष्पाणां कुसुमानां प्रकरैरिव समूहैरिव । ग्रहैः नक्षत्रैः । रुरुचे दिदीपे । रुचि[5] दीप्तौ भावे लिट् । उत्प्रेक्षा ॥३३॥ रजनीति । भुवनान्तवर्ति[6] भुवनस्यान्ते मध्ये वर्ति वर्तमानम् । रजनीपतिना सोमेन । करकुन्तैः करा एव कुन्ताः कुन्तायुधानि, तैः । प्रतर्जित भर्त्सितम् । यत् तम तिमिरम् । तत्, मूर्च्छाकृतकेन मूर्च्छा इति कृतकेन व्याजेन । वियोगिनीमनःसु वियोगिनीनां विरहिणीनां[7] मनःसु चित्तेषु । प्रविवेश इव अन्तर्गत (तम्) इव । विश प्रवेशने लिट् । उत्प्रेक्षा ॥३४॥ क्षणदेति । क्षणदानिलभासुरीभवद्विरहाग्निज्वलितेन क्षणदैव रात्रिरेवानिलो वायु तेन भासुरीभवत प्रकाशनीभवत[8] अग्ने वह्नेर्ज्वलितेन सतापितेन (क्षणदा रात्रि. तस्या अनिलो वायु स्तेन भासुरीभवन् प्रज्वलन् विरहाग्निर्वियोगानलस्तेन ज्वलितेन सधुक्षितेन) । चेतसा चित्तेन । वनिताभि सुन्दरीभि । चन्द्रमण्डल चन्द्रस्य मण्डल विम्बम् । चित्तभूशरशाणाकृति चित्तभुवो मन्मथस्य शरस्य बाणस्य शाणस्य आकृति र्यस्य तत् । इति, अचिन्ति चिन्त्यते स्म । चितै सज्ञाने कर्मणि लुङ् । उत्प्रेक्षा । ३५॥ शिशिरेति । शिशिरांशुकराभिमर्शनात् शिशिरांशोश्चन्द्रस्य कराणां किरणानामभिमर्शनात् स्पर्शनात् । मकरन्दमयेन पुष्परसमयेन । समन्तत परित आविर्भवता प्रकटीभवता । रजसा धूल्या । कुमुद्वती कुमुदिनी । निर्यत्पुलकेव निर्यन् निर्गच्छन् पुलको यस्या सा इव । निर्बभौ भाति स्म ।

किरणोकी संसीसे पकड़कर निकाल दिया ॥३२॥ चन्द्रमाने अपने कर (किरण, हाथ) से पर्दे सरीखे अन्धकारको हटा दिया तो आकाश रूपी फर्श या रगमचपर स्थित नक्षत्र (पुष्प शशिकी भाँति सुशोभित होने लगे ॥३३॥ चन्द्रमाने अपनी किरणोके भालोसे जगत्के अन्दरके जिस अन्धकारका तर्जन किया, वह मूर्च्छाके बहाने विरहिणियोके हृदयमे जा घुसा ॥३४॥ रात्रिकी वायुसे विरहाग्नि प्रज्वलित हो उठी और उससे विरहिणियोका हृदय जलने लगा। इस अवसर पर विरहिणियोने चन्द्रमण्डलको कामदेवके बाणोको तेज करनेवाले शाण (सान) के आकारमे देखा—चन्द्रमा उन्हे सान-सा प्रतीत हुआ ॥३५॥ चन्द्रमाकी किरणो (अथ च हाथो) के स्पर्शसे कुमुदिनीके चारो ओरसे सरस पराग निकलने लगा, जिससे वह ऐसी जान पडने लगी मानो

---

१ क ख ग घ म कुट्टिम स्थितैः । २. अ °शिरसाणीकृत° । ३ =साम्यम् । ४. =हस्तेनेति ध्वन्यर्थ । ५. आ रुच । ६. =भुवनस्यान्ते मध्ये वर्तत इति भुवनान्तर्वर्ति । ७ श विरहिणां । ८. श प्रकाशिनी° ।

रजनीपतिबिम्बदर्शनात्प्रियसङ्गत्वरमाणचेतसाम् ।
परिवृद्धिमियाय योषितां हृदये कामपि रागसागरः॥३७॥
सुहृदर्थपरैर्महात्मभिर्न पुनः स्वार्थपरैरुदीयते ।
यदभूद्रजनीकरोदय परिवृद्ध्यै स्मरशक्तिसंपद ॥३८॥
बभुरौषधयः समन्ततः शिखरे भूमिभृतां ज्वलच्छिखाः ।
क्षणदाङ्गनयेव दीपिका हरिणाङ्काभिगमे प्रदीपिताः ॥३९॥
निजधामविवृद्धिकारिणी न परं चन्द्रमसा विभावरी ।
कुमुदिन्यपि भासिता सतां निरपेक्षा हि परोपकारिता ॥४०॥
परिणामिनि यामिनीमुखे हरिणाङ्के च कठोरतेजसि ।
जगृहेऽथ विविक्तमास्पदं रतये रागिभिरङ्गनासखैः ॥४१॥

भा दीप्तौ लिट् । उत्प्रेक्षा ॥३६॥ रजनीति[1] । रजनीपतिबिम्बदर्शनात् रजनीपतेश्चन्द्रस्य बिम्बस्य मण्डलस्य दर्शनात् विलोकनात् । प्रियसङ्गत्वरमाणचेतसा प्रियस्य धवस्य[2] सङ्गमे संसर्गे त्वरमाणमुत्सुकं चेतो यासां तासाम् । योषितां वनितानाम् । हृदये चेतसि । रागसागरः रागः एव सागरः समुद्रः । कामपि[3] परिवृद्धिं प्रवृद्धिम् । इयाय याति स्म । इण् गतौ लिट् । रूपकम् ॥३७॥ सुहृदिति । महात्मभिः महापुरुषैः । सुहृदर्थपरैः सुहृदो मित्रस्यार्थे प्रयोजने परैः तत्परैः । उदीयते ऐश्वर्यं प्राप्यते । स्वार्थपरैः स्वप्रयोजनतत्परैः । पुनः पश्चात् । न नोदीयते । यत् यस्मात् । रजनीकरोदयः रजनीकरस्य चन्द्रस्योदयः । स्मरशक्तिसंपदः स्मरस्य मन्मथस्य शक्तेः सामर्थ्यस्य सम्पदः संपत्तेः । परिवृद्ध्यै परिवर्धनाय । अभूत् अभवत् । भू सत्तायां लुङ् ॥३८॥ बभुरिति । भूमिभृतां पर्वतानाम् । शिखरे शृङ्गे । समन्ततः सर्वतः । ज्वलच्छिखाः ज्वलन्ती शिखा यासां ताः । औषधयः काष्ठज्योतिषः । हरिणाङ्काभिगमे हरिणाङ्कस्य चन्द्रस्याभिगमे[4] आगमे । क्षणदाङ्गनया क्षणदैव रात्रिरेवाङ्गना स्त्री तया । प्रदीपिताः[5] प्रज्वलिताः । दीपिका इव प्रदीपा इव । बभुः भान्ति स्म । भा दीप्तौ लिट् । उत्प्रेक्षा ॥३९॥ निजेति । चन्द्रमसा चन्द्रेण । परं केवलम् । निजधामविवृद्धिकारिणी निजधाम्नः स्वकिरणस्य[6] विवृद्धिः प्रवृद्धिं करोतीत्येवं शीला तथोक्ता । विभावरी रात्रिः । न भासिता न प्रकाशिता । किन्तु, कुमुदिन्यपि[7] कुवलयषण्डमपि भासिता–इत्यर्थः । सतां सत्पुरुषाणाम् । परोपकारिता परोपकारित्वम् । निरपेक्षा हि अपेक्षारहिता हि । अर्थान्तरन्यासः ॥४०॥ परिणामिनीति । यामिनीमुखे यामिन्या रात्रेर्मुखे प्रारम्भे । परिणामिनि परिपाकवति । हरिणाङ्केऽपि चन्द्रेऽपि । कठोरतेजसि कठोरं सम्पूर्णं तेजः किरणो यस्य तस्मिन्, सति । अथ अनन्तरम् । अङ्गनासखैः[8] अङ्गना एव वनिता एव सख्यो येषां तैः 'राजन् सखे' इति अट् ।

उसे रोमाच हो रहा हो ॥३६॥ जो नायिकाएँ प्रिय समागमके लिए भीतरसे उतावली हो रही थी, उनके हृदयमे, चन्द्रबिम्बको देखते ही रागका सागर उमड पडा । उस समय उसमे जो वृद्धि हुई, वह अनिर्वचनीय है ॥३७॥ महात्मा अपने मित्रोके उपकारके लिए अवतरित होते हैं, न कि अपने स्वार्थको सिद्ध करनेके लिए । इसीलिए चन्द्रमाका उदय कामदेवकी शक्तिरूपी सम्पत्तिके बढानेके लिए हुआ ॥३८॥ पर्वतोकी चोटियोपर चारो ओर जडी बूटियाँ जगमगाने लगी, उनसे लौ निकलने लगी । अतएव ऐसा प्रतीत होने लगा मानो चन्द्रमाके शुभागमनके अवसरपर उसकी रात्रिरूपी प्रियाने छोटे-छोटे दीपक जला कर रख दिये हो ॥३९॥ चन्द्रमाने अपने प्रकाशको बढानेवाली न केवल रात्रिको, वरन् कुमुदिनीको भी सुशोभित कर दिया । सज्जनोकी परोपकारकी प्रवृत्ति निश्चय ही निःस्वार्थ होती है ॥४०॥ रात्रिका पहला भाग जब समाप्त होने-

१ श रजनीपतीति । २ = पत्युः । ३ = अनिर्वचनीयाम् । ४ = समागमे । ५. = प्रज्वालिता प्रबोधिता वा । ६ = स्वकिरणाना । ७ = कुमुद्वत्यपि । ८ = अङ्गनाना सखायोऽङ्गनासखा, तै ।

विरहे तनुतामतीव ये दधुरङ्गावयवा नतभ्रुवाम् ।
प्रियसंगमजन्मभिर्ययुः पुलकैस्ते पुनरेव पीनताम् ॥४२॥
हठकारिणि यावदङ्गनाः प्रतिकूलं क्षणमाचरन्प्रिये ।
निजशासनभङ्गसेर्ष्यधीरिव तावद्धनुराददे[1] स्मरः ॥४३॥
नवसंगमजन्मना ह्रिया नतमूर्ध्नामरविन्दचक्षुषाम् ।
भयमिश्रमपीयताधरो हठवृत्त्युन्नमिताननैः प्रियैः ॥४४॥
पतिरङ्गनया न्यपेधि यत्परिरम्भेऽधरपीडनेऽपि वा ।
विपरीततया मनोभुवस्तदभूद्रागविवृद्धयेऽखिलम् ॥४५॥
हतदृक्प्रसरा निरन्तरस्तनभारेण ददर्श[6] नाङ्गना ।
वसनं च्युतमप्यधः पतत्प्रियदृष्ट्यान्वमिमीत केवलम् ॥४६॥

रागिभि कामिभि । रतये क्रीडायै । विविक्त प्रच्छन्नम् । आस्पद स्थानम् । जगृहे स्वीक्रियते स्म । ग्रह[2] उपादाने कर्मणि लिट् ॥४१॥ विरह इति । नतभ्रुवा नते भ्रुवौ यासा तासा नारीणाम् । ये अङ्गावयवा शरीरावयवा । विरहे वियोगे । अतीव अत्यन्तम् । इव शब्दो वाक्यालङ्कारे । तनुता कृशत्वम् । दधु. धरन्ति स्म । प्रियसङ्गमजन्मभि प्रियाणा नायकाना सङ्गमे सयोगे जन्मभिर्जातै पुलकै रोमाञ्चै । ते अङ्गावयवा । पुनरेव पश्चादेव । पीनता स्थूलत्वम् । ययु यान्ति स्म । या प्रापणे लिट् ॥४२॥ हठकारिणीति । अङ्गना वनिता. । हठकारिणि बलात्कारिणि सति । प्रिये नायके । क्षण क्षणपर्यन्तम् । प्रतिकूल प्रतीपम्[3] । यावत् यावत्पर्यन्तम् । आचरन् आचरन्ति स्म । चर गतौ लङ् । तावत् स्मर मन्मथ । निजशासनभङ्गसेर्ष्यधीरिव निजस्य स्वस्य शासनस्याज्ञाया भङ्गेन नाशेन सेर्ष्या सकोपा धी र्यस्य स इव । धनु चापम् । आददे आददौ[4] ॥४३॥ नवेति । नवसङ्गमजन्मना नवेन नूतनेन सङ्गमेन[5] जन्मना जातया । ह्रिया लज्जया । नतमूर्ध्नां नता मूर्धानो[6] यासा तासाम् । अरविन्दचक्षुषाम् अरविन्दमिव चक्षुषी यासा तासाम् । अधर ओष्ठः । हठवृत्त्युन्नमिताननै हठवृत्त्या बलात्कारवृत्त्या उन्नमितमुद्गत मुख येषा[7] तै । प्रियै. प्राणनायकै । भयमिश्र भयसहित यथा भवति तथा । अपीयत पीयते स्म । पा पाने कर्मणि लङ् ॥४४॥ पतिरिति । पति नायकः । परिरम्भे आलिङ्गने । अधरपीडनेऽपि वा अधरस्य ओष्ठस्य पीडने बाधने.पि वा । अङ्गनया वनितया । यत् यत्कार्यम् । न्यपेधि तिरस्क्रियते स्म । मनोभुव कामस्य । विपरीततया विपरीतत्वेन । तत् तत्कार्यम् । अखिल सकलम् । रागविवृद्धये रागस्य विवृद्धये प्रवृद्धये । अभूत् अभवत् । भू सत्तायां लुङ् ॥४५॥ हतेति । निरन्तरस्तनभारेण निरन्तरेण निबिडेन स्तनभारेण स्तनातिशयेन । हतदृक्प्रसरा हत सवृतो दृशो प्रसरो

को हुआ और चन्द्रमाका पूर्ण प्रकाश फैल गया, तब रागी युवक अपनी-अपनी प्रियाओके साथ एकान्त स्थानमे चले गये ॥४१॥ कामदेवके धनुपकी भाँति नम्र भौ वाली युवतियोके जो अग विरहके समय अत्यन्त कृश हो गये थे, वे प्रियके समागमसे उत्पन्न हुए रोमाचोसे पुन पुष्ट हो गये ॥४२॥ पतिके हठ करनेपर ज्योही युवतियोने न, न, न, कहकर प्रतिकूल व्यवहार किया त्यो ही कामदेवको मानो अपने शासनकी अवहेलना करनेसे उनके प्रति ईर्ष्या उत्पन्न हो गई, फलत उसने तत्काल ही अपना धनुप उठा लिया ॥४३॥ प्रथम समागमके समय युवतियोने—जिनके नेत्र कमल सरीखे थे—लज्जावश अपने सिर झुका लिये, तब उनके पतियोने बलात् उनका मुख ऊपर उठाकर अधर पान कर लिया ॥४४॥ पतिको आलिगन अथवा अधरपानमे प्रवृत्त होते देख उसकी नायिकाने जो न, न, न कहकर निषेध किया, कामदेव उसके खिलाफ था। फलत· वह सारा निषेध अनुरागको बढानेके लिए हुआ ॥४५॥ सघन स्तनोका व्यवधान पड जानेमे नायिकाको

१. भ क श ग घ म °रादधे । २. श ग्रहि । ३ आ प्रतिपथम् । ४ श आदधे दधौ । ५. = जन्म यस्याः सा तया । ६. श नतं. मुर्धा । ७. = यै ।

सहसापहृताधरांशुकः किल यावज्जघनं कुतूहली ।
परिपश्यति तावदङ्गना[1] प्रियमासञ्जयति स्म चुम्बने[2] ॥४७॥
करताडनमास्यचुम्बनं परिरम्भो दशनच्छदग्रहः ।
विविधेति विलासिना क्रिया मदनाग्नेरभवद्घृताहुतिः ॥४८॥
हृदये हरिणीदृशां प्रियप्रथमालिङ्गनगाढपीडिते ।
पुलकैः प्रमदाङ्कुरैरिवानवकाशे पदमादधे बहिः ॥४९॥
अनुरागपरापि बिभ्रती ह्रियमासन्नगते सखीजने ।
मुखचुम्बनलोलुपं प्रियं परिरम्भेण वधूरजीगमत् ॥५०॥

यया[3] सा । अङ्गना वनिता । च्युतं[4] श्लथम्[5] अपि । वसन वस्त्रम् । न ददर्श न पश्यति स्म । दृशिं[6] प्रेक्षणे लिट्[7] । केवल परम् । अथ पत्युरिप्रयदृष्ट्या अथ पतन्त्या प्रियस्य नायकस्य दृष्ट्या[8] नयनेन । अन्वमिमीत अनुमिमीते स्म । मा माने लिट् । अनुमित्यलङ्कार ॥४६॥ सहसेति । सहसा शीघ्रम् । 'सहसा झटिति ध्रुवम् (द्रुतम्)' । अपहृताधरांशुकः अपहृत निवारितमधरमन्तरीयमंशुक वस्त्र यस्य[9] सः । कुतूहली कौतुकी । यावत् यावत्पर्यन्तम् । जघन नितम्बम् । परिपश्यति परितो वीक्षते । दृशिं[10] प्रेक्षणे लट् । तावत्, अङ्गना वनिता । चुम्बने वक्त्रसंयोजने । आसञ्जयति[11] स्म किल सबन्धयति स्म किल । षञ्ज[12] सङ्गे णिजन्ताल्लट् ॥४७॥ करताडनमिति । करताडन करस्य हस्तस्य ताडन हननम् । आस्यचुम्बनम् आस्यस्य मुखस्य चुम्बन वक्त्रसंयोजनम् । परिरम्भ आलिङ्गनम् । दशनच्छदग्रह दशनच्छदस्य ओष्ठस्य ग्रहो ग्रहणम् । इति एवम् । विलासिना कामुकानाम्[13] । विविधा नानाप्रकारा । क्रिया कृत्या (नि) । मदनाग्ने मदन एव मन्मथ एवाग्निस्तस्य । रूपकम् । घृताहुति घृतस्याहुति सर्पिर्धारा । अभवत् अभूत् । लङ् ॥४८॥ हृदय इति । हरिणीदृशा हरिण्या (दृशौ) इव दृशौ नेत्रे यासा तासाम् । प्रियप्रथमालिङ्गनगाढपीडिते प्रियस्य नायकस्य प्रथमेन पौरस्त्येनालिङ्गनेन परिरम्भणेन पीडिते बाधिते । हृदये हृदयप्रदेशे । अनवकाशे स्थातुमनवकाशैरवकाशरहिते । प्रमदाङ्कुरैरिव प्रमदस्य सन्तोषस्याङ्कुरैरिव । पुलकैः रोमाञ्चै । बहिः, पद स्थानम् आदधे जगृहे । डुधाञ् धारणे[14] कर्मणि लिट् । उत्प्रेक्षा ॥४९ । अनुरागेति । वधू वनिता । अनुरागपरापि अनुरागे प्रीतौ परापि तत्परापि । सखीजने[15] सखा एव जन (सखीना जनो वर्ग) तस्मिन् रूपकम् (?) । आसन्नगते आसन्न समीप गते याते सति । ह्रिय लज्जाम् । बिभ्रती धरन्ती । मुखचुम्बन-

दृष्टिका प्रसार रुक गया । इस कारण वह नीचे गिरे हुए अपने अधोवस्त्रको न देख सकी, पर पतिकी दृष्टिसे—जो बार बार उसी ओर लगी हुई थी—उसने केवल अनुमान कर लिया—'मेरा अधोवस्त्र नीचे गिर गया है, क्योकि ये बार-बार नीचेकी ओर घूर-घूरकर देख रहे हैं ।' ।४६॥ एकाएक अधोवस्त्र खीचकर एक रसिक ज्यो ही अपनी प्रियाके जघनको देखनेको उद्यत हुआ, त्यो ही उसकी प्रियाने उसे (अपने प्रियको) चुम्बनमे विलमा लिया ॥४७॥ हाथसे थपथपाना, मुख चुम्बन करना, आलिंगन करना और अधर पान करना आदि अनेक प्रकारकी विलासियोकी चेष्टाएँ कामाग्निको प्रज्वलित करनेके लिए घी की आहुति का काम करने लगी ॥४८॥ मृगनयनियोका हृदय, प्रथम आलिंगनके अवसरपर उनके पतियोके द्वारा जब खूब जोरसे दबा दिया गया, तब उन्हे रोमाच हो आया, जो ऐसा जान पडता था मानो सन्तोषके अकुर भीतर स्थान न मिलनेसे बाहर फूट निकले हो ॥४९॥ पतिसे अनुराग होनेपर

१ अ °दङ्गना । २ अ °सञ्जनयन्ति चुम्बने । ३ = यस्या । ४ = पतितम् । ५ श श्लथितम् । ६ दृशिर् । ७ श 'लिट्' इति नास्ति । ८ = अवलोकनेन । ९ = येन । १० आ दृशिर् । ११ = कलयति स्म वा । १२ आ सञ्ज । १३ श विलासिनीना कामिनीनाम् । १४ श डुदाञ् दाने । १५ = सखीना जनो वर्ग तस्मिन् ।

विरहश्वसितोष्णनीरसाधरबिम्बा वनिता समीयुषे ।
न ददौ क्षणमास्यचुम्बनं दयितायान्यकथाप्रवर्तिनी ।।५१।।
बहुशः प्रणिपत्य बोधिता प्रियवाग्भिः प्रणयेन मानिनी ।
स्मरकातरमात्मवल्लभं परिरेभे श्लथबाहुबन्धनम् ।।५२।।
परिरम्भभवो वधूवपुःपरिपुष्टिं विदधद्विलासिनाम् ।
बहुल पुलकोद्गमोऽगमत्सचिवत्वं दृढनीविमोक्षणे ।।५३।।
परिरम्भिणि जीवितेश्वरे विगलत्स्वेदपदेन संतत. ।
सुदृशां हृदयेष्वसंभवन्निव शृङ्गाररसो विनिर्ययौ ।।५४।।

लोलुप मुखचुम्बने मुखसयोजने लोलुप लम्पटम् । प्रिय नायकम् । परिरम्भेण आलिङ्गनेम । अजीगमत् गमयति स्म[२] । गम्लृ गतौ णिजन्ताल्लुङ् । 'णे —' इति णि लुक्[३] । 'क श्रि—' इत्यादिना ङः[४] । तस्मिन् परे 'द्विर्वातु —' इति द्वि ।।५०।। विरहेति । विरहश्वसितोष्णनीरसाधरबिम्बा विरहेण वियोगेन जातेन श्वसितस्य श्वासानिलस्योष्णेन तापेन नीरस रसरहितमधरस्योष्ठस्य बिम्ब प्रदेशो यस्या सा । वनिता रमणी । समीयुषे सम् समोपम् इयाय इति समीयिवान् तस्मै, समीप गताय इत्यर्थः । दयिताय नायकाय । अन्यकथाप्रवर्तिनी अन्यकथायाम् इतरप्रसङ्गे प्रवर्तिनी प्रवर्तमाना सती । आस्यचुम्बन मुखचुम्बनम् । क्षण क्षणपर्यन्तम् । न ददौ न ददाति स्म । डुदाञ् दाने लिट् ।।५१।। बहुश इति । प्रणयेन स्नेहेन । बहुशः बहुलम् । प्रणिपत्य प्रणम्य । प्रियवाग्भि प्रियाभि[५] प्रिययुक्ताभिर्वाग्भिर्वचनै । बोधिता विज्ञापिता । मानिनी वनिता । स्मरकातर स्मरे कामकेल्या कातर तत्परम्[६] । आत्मवल्लभ स्वनायकम् । अश्लथबाहुबन्धनम् अश्लथ दृढ बाहुबन्धन भुजबन्धो यथा भवति तथा । परिरेभे आलिलिङ्ग । रभि[७] राभस्ये लिट् ।।५२।। परिरम्भेति । परिरम्भभव परिरम्भे आलिङ्गने भव उत्पन्न । वधूवपु परिपुष्टि वध्वा स्त्रियो वपुष शरीरस्य परिपुष्टि[८] तुष्टिम् । विदधत् कुर्वन् । बहुल बहु । पुलकोद्गम पुलकस्य रोमाञ्चस्य उद्गम उदय । दृढनीविमोक्षणे[९] दृढस्य गाढस्य विमोक्षणे विमोचने[१०] । विलासिना कामुकानाम्[११] । सचिवत्व सहायत्वम् । अगमत् अगच्छत् । गम्लृ गतौ लुङ् । लृदित्वादङ्[१२] ।।५३।। परिरम्भिणीति । जीवितेश्वरे प्राणनायके । परिरम्भिणि आलिङ्गनशीले सति[१३] । सतत व्याप्त । सुदृशा सु शोभने[१४] दृशौ यासा तासाम्, स्त्रीणाम्—इत्यर्थः । हृदयेषु

भी एक नायिका, सखीको निकट आती देख लज्जित हो गई । अतः उसने मुख चुम्बनके लिए लालायित अपने पतिको केवल आलिंगनसे ही सन्तुष्ट करके टाल दिया ।।५०।। विरहसे निकलनेवाली श्वासकी गर्मीसे एक नायिकाका होठ नीरस हो गया–सूख गया, अत निकट आये हुए पतिको उसने कुछ क्षणो तक अपना मुख नही चूमने दिया । उस समय उसने और-और बातें छेड दी और उन्हीमे अपने पतिको उलझा लिया ।।५१।। एक नायकने बार-बार प्रणाम करके अपनी मानवती पत्नीको खूब स्नेह पूर्वक मीठे शब्दोमे समझाया, जिससे उसने अपने काम पीडित पतिको बाहुओसे बाँधकर गले लगा लिया–गाढ आलिगन किया ।।५२।। पतिके आलिंगनमे नायिकाओको अत्यधिक रोमाच हो आया, जिसने उनके शरीरको पुष्टकर दिया और उनके विलासी पतियोको उनके नाडोकी दृढ गाँठ खोलनेमे सहायता दी ।।।।५३।। पतिके

१. अ सविधत्व । २ =विलम्बयति स्म । ३ आ चिणो । ४ आ कल श्रित्यादिना ज. । ५ =मधुराभि । ६ =कातरतान्वितं । ६ आ 'तत्परम्' इति नास्ति । ७ श रभ् । ८ =पीनताम् । ९. आ श दृढविमोक्षणे । १०.=दृढा गाढा या नीविर्वस्त्रग्रन्थि तस्या विमोक्षणे विमोचन । ११. श विलासिनीना कामुकीनाम् । १२ श इदित्वादङ् । १३ आ 'आलिङ्गनशीले सति' इति नोपलभ्यत । १४. आ शोभनी ।

दयितामतिपीवरस्तनीं परिरब्धुं दृढबन्धमक्षमः ।
स्पृहयालुरभूत्समाकुलो भुजदैर्घ्यातिशयाय कश्चन ॥५५॥
प्रियचाटुषु कोविदोऽपरो दधतीं मानकषायमङ्गनाम् ।
परिसान्त्व्य[1] रसैस्तदोष्ठजै[2]र्मदनाग्निं मनसि व्यदिध्यपत् ॥५६॥
अदयं दयितेन पातितैरपि काठिन्यगुणेन योषिताम् ।
नवकुङ्कुमकेसरैरिवोपरि तस्थे स्तनयोर्नखक्षतैः ॥५७॥
करताडनमोष्ठखण्डनं नखपातप्रसरः कचग्रहः ।
अजनीष्टजनेऽपि कामिना चरितं वाममहो मनोभुवः ॥५८॥

हृदयप्रदेशेषु । असंभवन् स्थानमलभमान । शृङ्गाररस शृङ्गार एव रस सलिलरूप । विगलत्स्वेदपदेन विगलन्[3] द्रवन् स्वेद इति घम (-जलम्) इति पदेन व्याजेन । विनिर्ययाविव निर्गच्छति स्मेव । या प्रापणे लिट् । रूपकमुत्प्रेक्षा (कैतवापह्नुतिश्च) ॥५४॥ दयितामिति । अतिपीवरस्तनीम् अतिपीवरौ अत्यन्तं स्थूलौ स्तनौ कुचौ यस्याः, ताम् । दयिता वल्लभाम् । दृढबन्ध दृढो गाढो बन्धो बन्धन यस्मिन् कर्मणि वत् । परिरब्धु परिरम्भणाय, आलिङ्गनाय—इत्यर्थ । अक्षम शक्तिरहित । कश्चन पुरुष । भुजदैर्ध्यातिशयाय भुजयोर्बाह्वोर्दैर्घ्यस्य दीर्घत्वस्य अतिशयाय अतिशय[4] । स्पृहयालु वाञ्छाशील सन् । 'स्पृहि-' इत्यादिना शीलार्थे आलु-प्रत्यय । 'स्पृहे र्वा' इति कर्मणि चतुर्थी । समाकुल[5] व्याकुल (-ता) सहित । अभूत् अभवत् । भू सत्तायां लुङ् ॥५५॥ प्रियचाटुषु । प्रियवचनेषु । कोविद प्रवीण । कोऽपि कश्चन । मानकषाय मानस्य गर्वस्य कषाय परिणामम् । दधतीं धरन्तीम् । अङ्गना वनिताम् । परिसान्त्व्य[6] शमयित्वा । तदोष्ठजै तस्या वनिताया ओष्ठजैरधररसजातै । रसै सलिलै मनसि मानसे । मदनाग्नि कामाग्निम् । व्यदिध्यपत् शमयति स्म । ध्यै[7] चिन्तायां णिजन्ताल्लुङ् ॥५६॥ अदयमिति[8] । काठिन्यगुणेन काठिन्य गुणो यस्य तेन । दयितेन नायकेन । अदय कृपारहित यथा तथा । योषिता स्त्रीणाम् । स्तनयो कुचयो । उपतस्थे क्षिप्यते स्म । पातितै अङ्कितै । नखक्षतै नखाना क्षतैर्घातैरपि । नवकुङ्कुमकेसरैरिव नवस्य नूतनस्य कुङ्कुमस्य काश्मीरजस्य केसरैरिव किञ्जल्कैरिव । उत्प्रेक्षा ॥५७॥ करेति । करताडन हस्तताडनम् । ओष्ठखण्डनम् अधरखण्डनम् । नखपातप्रसरः नखाना कररुहाणा पाताना प्रसर समूह । कचग्रह कचाना केशाना ग्रह आकर्षणम् । कामिना कामुकानाम् । जने अपि लोके अपि (इष्टजने अपि प्रियजने अपि, प्रियावर्गे अपि—

आलिंगन करनेपर नायिकाओको पसीना आने लगा, और वह बहकर चारो ओर फैल गया, जिससे ऐसा जान पडता था मानो शृंगाररस, उनके हृदयमे समा नही सकनेसे बहते हुए पसीनेके बहाने बाहर निकल आया हो ॥५४॥ अपनी अत्यन्त पीन स्तनोवाली घरवालीको बाहुओमे लपेटकर गाढ आलिंगन करनेमे असमर्थ कोई नायक व्याकुल होकर पर्याप्त मात्रामे अपनी बाहुओकी लम्बाई प्राप्त करनेके लिए लालायित हो उठा ॥५५॥ प्रिय वचनोकी रचना करनेमे कुशल दूसरे नायकने अपनी मानवती पत्नीको समझा-बुझाकर शान्त किया, फिर उसके अधरके रस (अथ च जल) से अपने मनकी कामाग्निको शान्त किया ॥५६॥ नायिकाओके स्तनोपर उनके पतियोने निर्दयतापूर्वक जो नखक्षत किये, वे उन (स्तनो) की कठोरताके कारण काश्मीरी केसरकी भांति उन (स्तनो) के ऊपर ही रह गये, अन्दर प्रवेश नही कर सके ॥५७॥ कामी पुरुषोने अपने प्रिय वर्ग (स्त्री वर्ग) मे भी करताडन, दन्तक्षत, नखक्षत

१ श परिशाम्य । २ क ख ग घ रसै प्रदोषजै । ३ = स्रवन् । ४ = लब्धुमिति शेष । ५. = व्याकुल । ६ श परिशान्त्व । ७ श ध्यै स्मृ । ८ आ ण्यन्ताल्लुङ् । ९ = अदयमिति । दयितेन । अदय निर्दय यथा स्यात् तथा । पातितैरपि अङ्कितैरपि । नखक्षतै नखव्रणै । योषिता तरुणीनाम् । स्तनयो कुचयो । काठिन्यगुणेन कठोरतया । नवकुङ्कुमकेसरैरिव अभिनवकुङ्कुमकिञ्जल्कैरिव । उपर्येव बहिरेव । उपतस्थे स्थीयते स्म ॥५७॥

त्रुटिताप्यतिमात्रसंस्तवान्मणिमालेव गुणैर्विलासिनाम् ।
रमणीमणितैर्मनोहरैः सुरतेच्छा पुनरेव संदधे ॥५९॥
सुभगाकृतिसीत्कृतं कलक्वणितं चाटुमनोहर वचः ।
दयितासुरतेषु शृण्वता बहु मेने त्रिदिवो न कामिना ॥६०॥
इति वृद्धिमिते रतोत्सवे रमयित्वा क्षितिपः शशिप्रभाम् ।
सुखनिद्रमशेत कोमले शयने तद्भुजपाशवेष्टितः ॥६१॥
प्रक्षुभ्य क्षणमथ मङ्गलैकहेतौ विश्रान्ति समुपगते प्रभाततूर्ये ।
यामिन्या विरतिमिति प्रविश्य सूता भूभर्तुः सपदि निवेदयांबभूवुः ॥६२॥

इत्यर्थ)। अजनिष्ट अजायत। जनैङ् प्रादुर्भावे लुङ्। मनोभुव मन्मथस्य। चरित चरित्रम्। वाममहो[2] मनोहरमहो (अहो वामम् अहो मनोहरम्) वक्र वा। 'वामे (मो) वक्रे मनोहरे' इत्यमर[3]। अर्थान्तरन्यास ॥५८॥ त्रुटितेति। अतिमात्रसस्तवात् अतिमात्र सस्तवात् परिचयात्। बहुलानु[4]भवात्–इत्यर्थः। 'सस्तव स्यात् परिचय.' इत्यमर। मणिमालेव मणीना रत्नाना मालेव माल्यमिव। त्रुटितापि[5] छेदिता अपि। विलासिना कामुकानाम्। सुरतेच्छा निधुवनेच्छा। मनोहरै रुचिरै। रमणीमणितै रमणीना वनिताना मणितैर्गलरवै। 'मणित रतिकूजितम्' इत्यमरः। गुणै तन्तुभि। पुनरेव पश्चादेव। सदधे सघटिता ध्रियते स्म वा। सुरतेच्छात्रुटितापि गुणैर्मणिमालेव महिलामणितै पुन सघटिता, भूयोऽपि सुरतेच्छाऽजायत[6]—इत्यर्थः। उत्प्रेक्षा ॥५९॥ सुभगेति। दयितासुरतेषु[7] दयितासु नायिकासु सुरतेषु निधुवनेषु। सुभगाकृति मनोहराकारयुक्तम्। सीत्कृत सीत्कारम्। कलक्वणितम् अव्यक्तमनोहररवम्। चाटुमनोहर चाटुभि प्रियवचनैर्मनोहरम्। वच वचनम्। श्रुत्वा आकर्ण्य। कामिना कामुकेन। त्रिदिव स्वर्ग। बहु महदिति। न मेने न मन्यते स्म। बुधि मनि ज्ञाने कर्मणि लिट्। जाति ॥६०॥ इतीति। रतोत्सवे, इति एवम्। वृद्धि प्रवृद्धिम्। इते गते सति। क्षितिप अजितसेनचक्रवर्ती। शशिप्रभा शशिप्रभादेवीम्। रमयित्वा क्रीडयित्वा। कोमले मृदुले। शयने शय्यायाम्। तद्भुजपाशवेष्टितः तस्या. शशिप्रभाया भुज एव बाहुरेव पाशो रज्जुस्तेन वेष्टित। सुखनिद्र सुखेन सतोषेण युक्ता निद्रा यस्मिन् कर्मणि तत्०, इति क्रियाविशेषणम्। अशेत अनिद्रायत। शीङ् स्वप्ने लङ् ॥६१॥ प्रक्षुभ्येति। अथ निद्रानन्तरम्। मङ्गलैकहेतौ मङ्गलस्य एकहेतौ मुख्यकारणे। प्रभाततूर्ये प्रभातस्य विभातस्य तूर्ये वाद्यविशेषे। क्षण क्षणपर्यन्तम्। प्रक्षुभ्य घोषयित्वा[8]। विश्रान्ति विश्रामम्। समुपगते समुपयाते। सूता मङ्गलपाठका.। 'क्षत्रियाद् ब्राह्मणीजोऽपि सूत· पारदवन्दिनो' इत्यभिधानात्। प्रविश्य गत्वा। भूभर्तु चक्रिण। यामिन्या रात्रे। विरति विरामम्। निवेदयाबभूवु

और कचग्रह (बाल पकडना) आदि चेष्टाएँ की। ओह कामदेवका चरित बिलकुल विपरीत है ! ॥५८॥ जिस प्रकार अधिक उपयोगमे आनेसे टूटी हुई मणियोकी माला डोरेसे पुन: जुड जाती है उसी प्रकार प्रचुर मात्रामे अनुभव कर लेनेसे विलासियोकी सभोगकी टूटी हुई (पूरी हुई) भी इच्छा नायिकाओके मुखसे निकले 'सी, सी, सी,' शब्दोको सुनते ही पुन जुड गई–उत्पन्न हो गई ॥५९॥ नायिकाओके साथ सम्भोग करते समय उनके अत्यन्त सुन्दर सीत्कारको, उनके गहनोके शब्दोको, और प्रिय और मनोहर वचनोको सुनकर कामियोने स्वर्गको भी मामूली या तुच्छ समझा ॥६०॥ इस प्रकार रतोत्सवके बढनेपर चक्रवर्ती राजा अजितसेनने अपनी प्रिया शशिप्रभाके साथ सभोग किया फिर कोमल सेजपर उसकी बाहोसे वेष्टित होकर आरामसे सो गया ॥६१॥ इसके पश्चात् प्रभात होते ही मागलीक बाजे थोडी देर बजकर बन्द हो गये, फिर स्तुति पाठकोने शीघ्र ही अन्दर प्रवेश करके राजाको रात्रिके समाप्त

१ आ इ °समवात्। २ = अहो वामम् अहो मनोहरम्। ३. = इति धनञ्जय। ४ आ बहुनु°। ५. = छिन्ना। ६. श °जायदिव। ७. = दयिताना नायिकाना सुरतेषु। ८. श घोषित्वा।

यात्येषा नृवर विभावरी विकीर्णं संवृत्यांशुकमिव धाम तारकाणाम् ।
चन्द्रेऽस्तं जिगमिषति त्वदाननेन्दुं शोभायै जगत इव प्रबोधयन्ती ॥६३॥
सिन्दूरद्युतिरिव पूर्वदिक्पुरन्ध्र्याः सीमन्तान्तरविसृता विभाति सन्ध्या ।
मुञ्चोर्वीप्रिय शयनं तव स्मितेन व्यामिश्रां दधतु रुचिं विभातदीपाः ॥६४॥
एतच्च प्रविकसदम्बुजाभिमुख्यं गच्छद्भिर्भ्रमरगणैर्विमुच्यमानम् ।
ब्रह्माण्डप्रसृतभवद्यशोजितश्रि संकोचं कुमुदवनं शुचेव धत्ते ॥६५॥
पिङ्गत्वादिव विरहानलप्रलिप्तमौत्सुक्यात्सरसि मिलद्रथाङ्गयुग्मम् ।
वक्षोजद्वयमिव नाथ कुङ्कुमाक्तं कामिन्यास्तव हृदयस्थले विभाति ॥६६॥

विज्ञापयामासु । विद ज्ञाने णिजन्ताल्लिट् ॥६२॥ यातीति । नृवर नृणां [नृवर नृणां] वर श्रेष्ठ । चन्द्रे सोमे । अस्तम् अस्तपर्वतम् । जिगमिषति गन्तुमिच्छति सति । त्वदाननेन्दु तव ते आननमेवेन्दुश्चन्द्र, तम् । रूपकम् । जगत लोकस्य । शोभायै शोभानिमित्तम् । प्रबोधयन्तीव निवेदयन्तीव । एषा इयम् । विभावरी निशा स्त्री[1] । विकीर्णं विस्तीर्णं । तारकाणां नक्षत्राणाम् । धाम कान्तिम् । अंशुकमिव वसनमिव । संवृत्य संकोचयित्वा । याति गच्छति । या प्रापणे लट् । उत्प्रेक्षा ।६३॥ सिन्दूरेति । उर्वीप्रिय भूपते[2] । पूर्वदिक्पुरन्ध्र्या पूर्व दिगेव पुरन्ध्री नारी, तस्या । रूपकम् । सीमन्तान्तरविसृता सीमन्तस्य केशमध्यपद्धतेरन्तरे मध्ये विसृता वितता । सिन्दूरद्युतिरिव सिन्दूरस्य[3] चूर्णविशेषस्य[4] द्युतिरिव कान्तिरिव । सन्ध्या[5] प्रभात । विभाति विराजते । भा दीप्तौ लट् । तव शयनं शय्यातलम् । मुञ्च त्यज । मुञ्लृ मोक्षणे लोट्[6] । तव ते । स्मितेन मन्दस्मितेन । व्यामिश्रां मिलिताम् । रुचिं कान्तिम् । विभातदीपा प्रदीपा. । दधतु धरन्तु । डुधाञ् धारणे लोट्[7] । उत्प्रेक्षा ॥६४॥ एतदिति । प्रविकसदम्बुजाभिमुख्य प्रविकसतोऽम्बुजस्य कमलस्याभिमुख्यम्[8] । गच्छद्भि सर्पद्भि । भ्रमरगणै भ्रमराणां मधुकराणां गणै समूहै । विमुच्यमानं त्यज्यमानम् । ब्रह्माण्डप्रसृतभवद्यशोजितश्रि ब्रह्माण्डेषु लोकेषु लोकरूढिप्रयोग, प्रसृतेन व्याप्तेन भवतस्तव यशसा कीर्त्या जिता विजिता श्री शोभा यस्य तत् । एतत् इदम् । कुमुदवन कुवलयवनम् । शुचेव शोकेनेव । संकोच[9] मुकुलितम् । (मुकुलितावस्थाम्) । धत्ते धरति । उत्प्रेक्षा ॥६५॥ पिङ्गत्वादिति । नाथ भो नाथ । पिङ्गत्वात् हेमवर्णत्वात् । विरहानलप्रलिप्तम् [इव] विरह एव वियोग एवानलो वह्निस्तेन प्रलिप्तं प्रलिप्तमिव । औत्सुक्यात्, सरसि सरोवरे । मिलद्रथाङ्गयुग्मं मिलत्[10] संयोजत्[11] रथाङ्गानां चक्रवाकानां[12] युग्मं युगलम् । तव ते ।

होनेकी सूचना इस प्रकार दी ॥६२॥ राजन् ! आप सब राजाओमे श्रेष्ठ हैं अब चन्द्रमा अस्त होना चाहता है, अत जगत्‌की शोभा बढ़ानेके लिए आपके मुखरूपी चन्द्रमाको जगाती हुई-सी यह रात्रि ताराओकी कान्तिरूपी फैले हुए वस्त्रको लपेटकर जा रही है ॥६३॥ राजन् प्रभातकी सन्ध्या ऐसी जान पडती है मानो पूर्वदिशा रूपी सौभाग्यवती नायिकाकी मांगमे भरी हुई सिन्दूरकी द्युति हो । अब आप सेज छोडिये । ये प्रभातके दीपक आपकी मुसकानसे मिली हुई कान्तिको धारण करें ॥६४॥ राजन सारे ब्रह्माण्डमे फैले हुए आपके यशने जिसकी श्री-शोभा जीत ली है और भौरोके झुण्ड जिसे छोड-छोडकर विकसित कमलोंकी ओर चले जा रहे हैं, वह (पराजित और अपमानित) कुमुदवन मानो शोकके कारण सकुचित हो रहा हो ॥६५॥ राजन् ! सरोवरमे चक्रवाक और चक्रवाकी का युगल बडो उत्सुकतासे मिल रहा है । पीले

---

१ आ निशा स्त्री' इत्यस्य स्थाने 'रात्रि ' इति समुपलभ्यते । २ श भूमिपते । ३ = नागसंभवस्य । सिन्दूर नागसंभवम्' इत्यमर । ४ आ चूर्णविक्षेपस्य । ५ = प्रभातम्, प्रगेतना सन्ध्या इति यावत् । ६ श लेट् । ७ श धारणे च लेट् । ८ = सामीप्यम् । ९ = मुकुलितावस्थाम् । १० = संयोगं भजत् । ११. आ संयोजयत् । १२ श चक्रवाकाणां ।

घर्मांशोरुदयमहीध्ररुद्धमूर्तेः कुन्ताग्रैरिव किरणाङ्कुरैः प्रणुन्नम् ।
सश्लिष्यद्वनगिरिगह्वरेषु वृत्तिं ध्वान्तं त्वद्विषदनुशीलतां दधाति ॥६७॥
प्रत्यूषोद्भवहिमबिन्दुभिः पतद्भिर्मुक्ताभैरवनिरुहाः[1] परिष्कृताङ्गाः ।
रत्युत्थश्रमसलिलो भवानिवैते लक्ष्यन्ते तरुणलतावधूपगूढाः ॥६८॥
गच्छन्ती क्षितितलरोपितैकपादा शय्यास्थं यदतिरसेन चुम्बतीशम् ।
पाथेयं धरणिपते वधूर्ध्रुवं तद्गृह्णीते गुरुविरहाध्वलङ्घनाय ॥६९॥

कामिन्या वनिताया । हृदयस्थले हृदयस्य स्थले प्रदेशे । कुङ्कुमाक्त कुङ्कुमेन काश्मीरजेनाक्त रक्तम् । वक्षोजद्वयमिव वक्षोजयोस्तनयोर्द्वयमिव द्वन्द्वमिव । विभाति भासते । उत्प्रेक्षा ॥६६॥ धर्मांशोरिति । उदयमहीध्ररुद्धमूर्ते उदयेन उदयनाम्ना महीध्रेण पर्वतेन रुद्धा आवृता मूर्तिरवयवो यस्य तस्य । घर्मांशो सूर्यस्य । कुन्ताग्रैरिव कुन्तानामायुधविशेषाणामग्रैरिव । किरणाङ्कुरैः किरणाना मयूखानामङ्कुरै । प्रणुन्न विद्धम् । वनगिरिगह्वरेषु वनेषु गिरिषु गह्वरेषु गुहासु । सश्लिष्यत्[2] सवन्धयत् ध्वान्तम् अन्धतमसम् । त्वद्विषदनुशीलता तव ते द्विषता शत्रूणामनुशीलता सादृश्यम् (यत्र ताम्) । वृत्ति वर्तनम् । दधाति धरति । डुधाञ् धारणे च लट् । उत्प्रेक्षा (उपमा) ॥६७॥ प्रत्यूषेति । पतद्भि आपतद्भि । मुक्ताभै. मौक्तिकसमानै । प्रत्यूषोद्भवहिमबिन्दुभि प्रत्यूषे प्रभाते उद्भवस्योत्पद्यमानस्य हिमस्य बिन्दुभिः । परिष्कृताङ्गा परिष्कृतमलङ्कृतमङ्ग येषा ते । तरुणलतावधूपगूढा तरुणा[3] कोमला लता एव वल्लर्य एव वध्व स्त्रिय, ताभिगूढा आलिङ्गिता । एते इमे । अवनिरुहा. वृक्षा । रत्युत्थश्रमसलिल. रतौ सभोगे उत्थमुत्पन्नं श्रमाज्जात सलिल यस्य स. । भवानिव त्वमिव । लक्ष्यन्ते दृश्यन्ते । लक्षे[4] दर्शनाङ्कनयोर्लट् उत्प्रेक्षा ॥६८॥ गच्छन्तीति । धरणिपते भूमिपते । क्षितितलरोपितैकपादा क्षितितले भूतले रोपितः क्षिप्त (एक) पादो यस्या[5] सा । वधू वनिता । शय्यास्थ शयनस्थम् । ईश प्रभुम् । यत् यस्मात् । अतिरसेन अतिप्रीत्या । चुम्बति[6] चुबि वक्त्रसयोगे लट् । तत् गुरुविरहाध्वलङ्घनाय गुरुर्महान् विरह एव वियोग एव अध्वा मार्गस्तस्य लङ्घनाय गमनाय । पाथेय मार्गहितम् । गृह्णीते स्वीकरोति । ध्रुव[7] निश्चयम् ।

होनेसे दोनो—चकवा और चकवी, ऐसे जान पडते हैं मानो विरहकी अग्निसे लिप्त हो । राजन् ! सरोवरमे दोनोकी वही शोभा है जो आपके सीनेपर आपकी नायिकाके काश्मीरी केसरसे लिप्त स्तनोकी होती है ॥६६॥ राजन् ! इस समय सूर्य उदयाचलको ओटमे है । उसको भालोकी नौक सरीखी किरणोसे घायल हुआ अन्धकार सघन वनो और पर्वतोकी गुफाओमे घुसकर आपके शत्रुओका अनुसरणकर रहा है ॥६७ । राजन् ! ये वृक्ष इस समय आप सरीखे लग रहे हैं । आप लताओके समान छरहरे वदनकी युवतियोसे आलिगन करते हैं, ये छरहरे वदनकी युवतियोके समान नवीन लताओसे आलिगन कर रहे हैं । आप सभोगके परिश्रमके कारण मोतियो जैसी पसीनेकी विन्दुओसे सुशोभित होने लगते हैं तो ये भी प्रभातकी वेलामे गिरनेवाली मोतियो सरीखी ओसकी बिन्दुओसे विभूषित हो रहे हैं ॥६८॥ राजन् ! शयनागारसे बाहर जानेवाली एक नायिका अपने एक पैरको नीचे (और एक को सेजके ऊपर) रखकर, सेजपर लेटे हुए पतिका जो खूब ही स्नेहसे चुम्बनकर रही है सो ऐसा जान पडता है मानो वह

---

१ अ क ख ग घ °रवनिरुह । २. = सवन्ध भजत् । ३ = नूतना. । 'तरुण कुठजपुष्पे स्यादेरण्डे यूनि नूतन ।' इत्यनेकार्थसग्रह । ४ श लक्षि । ५ = यया । ६ = चुम्बन करोति । ७ = निश्चितम् ।

खिन्नं ते वपुरनपायिनामुनैव[1] भारेणोन्नतिजयिनः कुचद्वयस्य ।
मुञ्चेम सुतनु वृथैव रोषभारं नो किंचित्फलमतिभग्नपीडनेन ॥७०॥
नत्वाहं विरहभयाद्भणामि यस्माद्दुष्टापि त्वमसि हृदि स्थिता सदा मे ।
किं त्वम्भोजमुखि तवैव देहतापी कोपोऽयं नियतममङ्गलावसानः[2] ॥७१॥
कालुष्यं त्यज भज तुङ्गमार्द्रभावं कः कोपः प्रणयिनि चक्रवाकवृत्तौ ।
इत्येव निजविरुतैर्निशान्तशंसी वक्ति त्वामिव मुहुरेष ताम्रचूडः ॥७२॥
काठिन्यं तव हृदये स्तनद्वयस्य सांनिध्यान्न खलु सुकेशि कल्पयामि ।
किं जातु त्यजति महामृतस्य वृत्तौ माधुर्यं विषवनमध्यसंप्रसूतः ॥७३॥

रूपकम् (उत्प्रेक्षा च) ॥६९॥ खिन्नमिति । इतः परं कश्चिन्नायको [3]नायकीं प्रति वक्ति । वक्ष्यमाणपद्यैः कुलकम् । सुतनु शोभनगात्रि । अनपायिना विगमरहितेन । अमुनैव एतेनैव । उन्नतिजयिन [4] उन्नतिं जयिन पूज्यस्य—इत्यर्थः । कुचद्वयस्य वक्षोजयुगलस्य । भारेण, ते तव । वपुः शरीरम् । खिन्नं पीडितम् । (अतः) वृथैव फलरहितमेव । इमम् एनम् । रोषभारं रोषस्य कोपस्य भारमतिशयम् । मुञ्च त्यज । मुच्लृँ[5] मोक्षणे लट्[6] । अतिभग्नपीडनेन अतिभग्नस्यातिपीडितस्य पीडनेन बाधनेन । किंचित् फलं किंचित्प्रयोजनम् । नो न भवति ॥७०॥ नत्वेति । अम्भोजमुखि अम्भोजमिव कमलमिव मुखं यस्याः तस्याः सम्बोधनम्[7] । विरहभयात्[8] विरहाद् वियोगाद् भयात् । त्वा त्वाम् । 'त्वामौ द्वितीयायाः' इति त्वा—आदेशः । अहम्, न भणामि न वदामि भण शब्दे लट् । यस्मात् कारणात् । त्वम्, दुष्टापि विलोक्यापि । सदा अनवरतम् । मे मम । हृदि हृदये । स्थिता, असि भवसि । अस भुवि लट् । किन्तु विशेषोऽस्ति । अमङ्गलावसानः अमङ्गलमेव मङ्गलाभाव एवावसानं यस्य सः । अयम् एष । कोपः क्रुध् । नियतं निश्चयेन । तवैव भवत्या एव । देहतापी देहस्य गात्रस्य तापी संतापकारी । भवति । उपमा ॥७१॥ कालुष्यमिति । कालुष्यं[9] क्लेशम् । त्यज मुञ्च; त्यज हानौ लोट्[10] । तुङ्गम् उन्नतम् । आर्द्रभावम् आर्द्रत्वम् । भज आश्रय । चक्रवाकवृत्तौ चक्रवाकस्य रथाङ्गपक्षिणो वृत्तिरिव वर्तनमिव वृत्तिर्यस्य तस्मिन् । वृत्ति—इत्यर्थः (?) । प्रणयिनि नायके । कोपः क्रोधः । कः न कोऽपीत्यर्थः । इत्येव प्रोक्तप्रकारेण । निजविरुतैः निजस्य स्वस्य विरुतैः ध्वनिभिः । निशान्तशंसी निशान्तस्य प्रभातकालस्य शंसी प्रशंसाशीलः, सूचक इत्यर्थः । एष अयम् । ताम्रचूडः ताम्रा लोहितवर्णा चूडा शिखा यस्य सः, कुक्कुट इत्यर्थः । मुहुः[11] पुनः । त्वामिव भवतीमिव । वक्ति ब्रवीति । वच परिभाषणे लट् । उपमा, उत्प्रेक्षा ॥७२॥ काठिन्यमिति । सुकेशि सु शोभनाः केशाः शिरोरुहा यस्यास्तस्याः सम्बोधनम्[12] 'असहनञ्—' इत्यादिना ङी । स्तनद्वयस्य स्तनयोः कुचयोर्द्वयस्य युगलस्य । सांनिध्यात् सामीप्यात्, संसर्गात्—इत्यर्थः । तव ते । हृदये उरसि । काठिन्यं कठिनत्वम् । न खलु कल्पयामि न संकल्प

महान् विरहके मार्गको तय करनेके लिए कलेवा ले रही हो ॥६९॥ हे सुन्दर शरीरवाली ! तेरा शरीर अत्यन्त उन्नत स्तनोंके कभी विलग न होनेवाले इस भारसे पीडित है अतः व्यर्थके इस रोषके बोझको छोड दे । अत्यन्त पीडितको पीडा देनेसे कुछ फल भी तो नही मिलता ॥७०॥ हे कमलके समान मुख वाली ! मैं विरहके भयसे तुझसे नही कह रहा हूँ, क्योंकि तू मानके दोषसे दूषित होकर भी सदा मेरे हृदयमे बसी रहती है । किन्तु इस लिए कह रहा हूँ कि अन्तमे अमगल करनेवाला यह कोप निश्चयसे तेरे ही शरीरको सन्ताप देगा ॥७१॥ प्रभातकी सूचना देनेवाला यह मुर्गा अपने शब्दोमे मानो तुमसे बार-बार यह कह रहा है कि चित्तकी कलुषताको छोडो और श्रेष्ठ कोमलताको धारण करो । चकवेकी भाँति स्नेह करनेवाले घरवालेपर कोप कैसा ? ॥७२॥ हे सुन्दरबालो वाली ! मैं निश्चय ही यह कल्पना नही कर सकता कि स्तनोंके

१ म भारेणान्न° । २ अ °वसानम् । ३ = नायिकां । ४ = उन्नत्या जयतीत्येवं शील, तस्य । ५ आ मुच्ल । ६ श लेट् । ७ = तत्सबुद्धौ । ८ = वियोगभयात् । ९ = कलुषताम् । १० श लेट् । ११ = पुनः पुनः । १२ = तत्सबुद्धौ ।

कोऽपीत्थं प्रणयरुषा विवृत्य सुप्तां प्रेमान्धः प्रियवचसानुनीय कान्ताम् ।
संपूर्णाधिगतलतोपमानभावामालिङ्गन्नखपदपल्लवैर्विधत्ते ॥७४॥
सप्तीनां रुचिरनवातपप्लुतानामज्ञात्वातिशयमरञ्जितेतरेभ्यः ।
तिग्मांशोर्विदधति वाजिभूषकास्ते[1] प्रौढत्वे करकृतकुङ्कुमाः[2] प्रतीक्षाम् ॥७५॥
शक्नोतीक्षितुमधरीकृतप्रतापी भूपालो न खलु ममोपरि प्रयातम् ।
रोचिष्मानिति भवतोभयादिवायमाकाशप्रणयि शनैः करोति विम्बम् ॥७६॥

यामि । विषवनमध्यसप्रसूत विषाणा विषवृक्षाणा वनस्य काननस्य मध्ये सप्रसूत सजात । महामृतस्य महामृतरूपस्य । वृक्ष महीरुह । माधुर्यं स्वादुत्वम् । जातु सकृत् । त्यजति किं मुञ्चति किम् । न त्यजति—इत्यर्थ. । अर्थान्तरन्यास ॥७३॥ कोऽपीत्थमिति[3] । प्रेमान्ध प्रेम्णा प्रीत्या अन्धो मूढ । कोऽपि कश्चिन्नायक । प्रणयरुषा प्रणयेन स्नेहेन जातया रुषा कोपेन[4] । विवृत्य पराङ्मुखी भूत्वा । सुप्ता निद्रायिताम् । कान्ता वनिताम् । इत्यम् अनेन प्रकारेण । प्रियवचसा प्रियवचनेन । अनुनीय सतर्प्य । आलिङ्गन् आश्लिष्यन् । नखपदपल्लवैः नखाना करुहाणा[5] पदा एव क्षता एव पल्लवा. किसलयानि, तैः । सपूर्णाधिगतलतोपमानभावा[6] सपूर्णं गताया याताया लताया वल्लर्या उपमानः समानो भावो यस्या ताम् । विधत्ते करोति । डुधाञ् धारणे[7] लट् । कुलकम् ॥७४॥ सप्तीनामिति । रुचिरनवातपप्लुताना रुचिरेण मनोहरेणातपेन[8] उद्योतेन प्लुताना[9] मग्नानाम् । सप्तीना तुरङ्गमाणाम्[10] । अरञ्जितेतरेभ्य अरञ्जितेभ्य कुङ्कुमालङ्कारशून्येभ्य इतरेभ्य कुङ्कुमालङ्कारिभ्य-[11] स्तुरगेभ्य । अतिशय भेदम् । अज्ञात्वा अबुध्वा । ते, प्रौढत्वे तीक्ष्णत्वे । करकृतकुङ्कुमाः करे हस्ते कृतं कुङ्कुम यै. ते । वाजिभूषका·[12] वाजिनस्तुरङ्गान् (भूषयन्तीति वाजि-)भूषका अलङ्कारका । तिग्माशो सूर्यस्य । प्रतीक्षा[13] वाञ्छाम् । विदधति कुर्वन्ति । बालातपेन व्याप्तान् सूर्यतुरगान् कुङ्कुमरञ्जितेतरान् ज्ञात्वा रञ्जितानपि रज्यन्ति[14] इत्यर्थ[15] । भ्रान्तिमान् ॥७५॥ शक्नोतीति । अधरीकृतप्रतापभूपाल.[16] अधरीकृता

ससर्गसे तुम्हारे हृदयमे कठोरता आ गई है । विषवनके बीचमे उत्पन्न हुआ अमृत वृक्ष क्या कभी अपनी मधुरताको छोड सकता है ? ॥७३॥ किसी रागान्ध नायकने ऐसे प्रिय वचन सुना कर, प्रणयक्रोपसे विमुख होकर सोई हुई अपनी नायिकाको अनुकूल बना लिया । फिर आलिंगन करते हुए उसने उसे नखक्षतोके पल्लवोसे अलकृत करके पूर्णतया लताको समता पाने योग्य बना दिया । वह छरहरे शरीरसे पहले अशतः लताके समान थी, अब नखक्षत रूपी पल्लवोसे अलकृत होकर पूरी तौरसे लताके समान हो गई । नखक्षतोने पल्लवोकी कमीको दूरकर दिया ॥७४॥ राजन् ! घोडोका शृंगार करनेवाले लोग, घोडोको केशर लगा रहे थे । इतनेमे बाल सूर्यकी सुन्दर अरुण आभाके पडते ही सभी घोडे अरुण वर्णके हो गये । तब उन घोड़ोका पहचानना कठिन हो गया, जिन्हे केशर नही लगाई गई थी; क्योकि जिन्हे केशर लगाई जा चुकी थी; उनसे उन घोडोका अन्तर ही ज्ञात नही हो सका, जिन्हे केशर नही लगाई गई थी । ऐसी स्थितिमे शृंगार करनेवाले लोग हाथमे केशर लेकर सूर्यके प्रौढ होनेकी प्रतीक्षा करने लगे ॥७५॥ प्रतापी राजाओके छक्के छुडानेवाला राजा (अजितसेन) निश्चय ही

१. क ख ग घ म °भूषकास्ते । २. आ इ °कुङ्कुमे । ३. आ श क इति । ४ = प्रणयकोपेन । ५ = पदानि चिह्नान्येव क्षतान्येव । ६. = सपूर्णोऽधिगतो लताया उपमानभाव· साम्य यया सा, ताम् । ७. श धारणे च लट् । ८. = प्रभातारुणिम्ना । ९. = व्याप्तानाम् । १०. आ तुरगाणाम् । ११. श °रेभ्य. । १२ श सूता. । १३. = प्रतिपालनाम् १४. = रञ्जयन्ति । १५. = प्रभातारुणिम्ना प्रभावितानश्वान् रञ्जितान् ज्ञात्वा न रञ्जयन्ति वाजिभूषका. । परं करकृतकुङ्कुमा सन्त· ते तिग्माशो प्रौढत्व प्रतीक्षन्ते । १६. एष टीकाश्रयः पाठ. प्रतिषु तु 'अधरीकृतप्रतापिभूपाल' इत्येव समुपलभ्यते ।

वन्दिभ्यो ललितपदक्रमाभिरामां संशृण्वन्निति दयितोपमां स वाणीम् ।
[1]निःस्पन्दोच्छ्वसदुदरप्रसुप्तभृङ्गैरम्भोजैः सममभजन्नृपः प्रबोधम् ॥७७॥

अथ कथमप्यपास्य दयिताभुजपाशमसा-
वरुणरुचा प्रसाधयति पूर्वदिशं तपने ।
रतिकलहप्रसङ्गगलितोज्ज्वलहारमणि-
प्रकरचितं पयोनिधिमिव व्यमुचच्छयनम्[2] ॥७८॥

निराकृता प्रतापिनः तेजस्विनो भूपाला राजानो येन स । मम मे । उपरि प्रयातम् ऊर्ध्वं प्रयात[3]मागतम् । ईक्षितु विलोकितुम् । न खलु शक्नोति न समर्थो भवति । इति मत्वा । मवत तव । भयादिव भीतेरिव । अयम् एष । रोचिष्मान् सूर्यः । विम्ब मण्डलम् । आकाशप्रणयि आकाशे गगने प्रणयि प्रसरणयुक्तम् । 'प्रणय प्रेम्णि विस्रम्भे याच्ञा प्रसरयोरपि ।' इति विश्व. । शनै. मन्दम् । करोति विदधाति । उत्प्रेक्षा ॥७६॥ वन्दिभ्य इति । वन्दिभ्य मङ्गलपाठकेभ्य । ललितपदक्रमाभिरामा ललिताना मनोहराणा पदाना तिङ्सुवन्त-(सुप्तिङन्त-) रूपाणा क्रमेण परिपाटचा अभिरामा मनोहराम्, पक्षे, ललितेन मृदुलेन पदक्रमेण पादन्यासेनाभिरामाम् । दयितोपमा भार्योपमाम् । इति उक्तप्रकाराम् । वाणीं वचनम् । संशृण्वन् आकर्णयन् । स नृप चक्री । निष्पन्दोच्छ्वसदुदरप्रसुप्तभृङ्गै. निष्पन्दाश्चलनरहिता उच्छ्वसन्त उच्छ्वास कुर्वन्त उदरे अन्त प्रसुप्ता भृङ्गा मधुकरा येषा तै । अम्भोजै कमलै । सम साकम् । प्रबोध जागरम्, पक्षे विकसनम् । अभजत् आश्रयत् । भज[4] सेवाया लङ् । सहोक्ति ॥७७॥ अथेति । अथ जागरणानन्तरम् । तपने सूर्ये । अरुणरुचा अरुणया लोहितया रुचा कान्त्या । पूर्वदिशम् इन्द्रदिशम् । प्रसाधयति सति भूषयति सति । असौ चक्रवर्ती । दयिताभुजपाश दयिताया शशिप्रभाया भुज एव पाश, तम् । कथमपि येन केनापि (प्रकारेण) । अपास्य त्यक्त्वा । रतिकलहप्रसङ्गगलितोज्ज्वलहारमणिप्रकरचित रतिकलहस्य प्रणयकलहस्य प्रसङ्गेन गलितस्य पतितस्योज्ज्वलहारस्य प्रज्वल (प्रोज्ज्वल) हारस्य मणीना मौक्तिकाना प्रकरेण समूहेन चित[5] विततम् । पयोनिधिमिव समुद्रमिव । शयन शय्याम् । व्यमुचत्[6] । मुच्लृ मोक्षणे लुङ्[7] । 'सतिशास्ति—' इत्यादिना

अपने ऊपरसे मेरा जाना देख नही सकेगा, मानो यही सोचकर सूर्य आपके डरसे अपने बिम्बको धीरे-धीरे आकाशमे चढा रहा है ॥७६॥ मगलपाठ करनेवालोसे नायिकाके समान सुन्दर पदविन्यास (सुबन्त तिङन्त पदोका विन्यास, पैरोका विन्यास) से मनको रमानेवाली वाणी सुनता हुआ राजा अजितसेन, कमलोके—जिनके अन्दर निश्चेष्ट, धीरे-धीरे श्वास लेनेवाले भौंरे सोए हुए थे—साथ-ही-साथ प्रबुद्ध हो गया । कमल खिल उठे और राजा जाग उठा । ॥७७॥ सूर्य अपनी अरुण आभासे अभी पूर्व दिशाके शृगार करनेमे ही लगा हुआ था, किन्तु राजा अजितसेनने जागते ही जिस किसी तरह अपनी प्रियाके बाहुपाशसे निकलकर सेज छोड दी, जो रतिकलहके प्रसगसे गिरे हुए हारके मणियोसे व्याप्त होकर रत्नाकरको भाँति दृष्टिगोचर

---

१ क ख ग घ म नि स्पन्दो° । २ अ आ इ °मुञ्चच्छयनम् । ३ =गमनम् । ४. श भजि । ५. = व्याप्तम् । ६ =मुमोच । ७. आ लङ् ।

द्वाराग्रग्रथितामलारुणमणिज्योतिर्भिरुत्सर्पिभि-
र्भिन्नाङ्गावयवः स्वभावमहता दीप्तो वपुस्तेजसा ।
घर्मांशोरुदयाचलेन्द्रशिखरादभ्युज्जिहासोः[1] श्रियं
भेजे भूमिपतिः स वासभवनान्निर्यञ्जनानन्दितः ॥७९॥

इति श्रीवीरनन्दिकृतावुदयाङ्के चन्द्रप्रभचरिते महाकाव्ये दशमः सर्गः ॥१०॥

अङ् । उपमा ॥७८॥ द्वारेति । उत्सर्पिभिः व्यापनशीलैः[2] । द्वाराग्रग्रथितामलारुणमणिज्योतिर्भिः द्वारस्याग्रं पुरोभागः तत्र ग्रथितानां[3] स्थापितानाम् अमलानां निर्मलानामरुणमणीनां पद्मरागमणीनां ज्योतिर्भिः किरणैः । भिन्नाङ्गावयवः भिन्नो [4]विमिश्रितोऽङ्गस्य गात्रस्यावयवो यस्य सः । स्वभावमहता स्वभावेन[5] स्वरूपेण महता पृथुलेन । वपुस्तेजसा वपुषः शरीरस्य तेजसा कान्त्या । दीप्तः देदीप्यमानः । जगन्नन्दिनः[6] जगतो लोकस्य नन्दिनो मनोहरात् (जगत् लोकं नन्दयतीत्येवं शीलम्, तस्मात्, मनोहरात्—इत्यर्थः) । वासभवनात् गर्भागारात् । निर्यन् निर्गच्छन् । स भूमिपतिः सार्वभौमः । उदयाचलेन्द्रशिखरात् उदयाचलेन्द्रस्योदयपर्वतस्य शिखरात् शृङ्गात् । अभ्युज्जिहासोः उदितुमिच्छोः । घर्मांशोः सूर्यस्य । श्रियं सम्पदम् । भेजे भजति स्म । भज[7] सेवायां लिट् ॥७९॥

इति वीरनन्दिकृतावुदयाङ्के चन्द्रप्रभचरिते महाकाव्ये तद्व्याख्याने च
विद्वन्मनोवल्लभाख्ये दशमः[8] सर्गः ॥१०॥

हो रही थी ॥७८॥ दरवाजेके अगले भागमें निर्मल पद्मरागमणि जड़े हुए थे, उनकी ऊपर फैलनेवाली प्रभासे राजा अजितसेनके शरीरके सारे अवयव बदल गये—लाल हो गये और वह स्वयं भी अपने स्वाभाविक अत्यधिक तेजसे देदीप्यमान हो रहा था अतएव लोगोंको आनन्द प्रदान करनेवाले अपने निवासके भवनसे निकलते समय अजितसेन उदयाचलके शिखरसे उदित होनेवाले सूर्यकी सुषमाको प्राप्तकर रहा था ॥७९॥

इस प्रकार महाकवि वीरनन्दि विरचित उदयाङ्क चन्द्रप्रभचरित
महाकाव्यमें दसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥१०॥

---

१. क ख ग घ म °दभ्युद्ययासो । २ आ 'शीलैः' इति नास्ति । ३. = खचितानाम् । ४ श 'वि' नास्ति । ५. = प्रकृत्या । ६ एष टीकाकृदभिमतः पाठः प्रतिषु तु 'जनानन्दितः' इत्येव समुपलभ्यते । ७. श भजि । ८ आ श चन्द्रोदयसूर्योदयवर्णनो नाम दशमः सर्गः ।

[११. एकादशः सर्गः]

अथ प्रवृद्धे दिवसे विशांपतिर्विधाय स स्नानपुरःसराः क्रिया ।
गृहीतवस्त्राभरणोऽधिशिश्रिये[1] सभागृहं कल्पितसिंहविष्टरम् ॥१॥
तमेत्य सर्वावसरव्यवस्थितं प्रधानदौवारिकसूचितागमाः ।
महीतलाश्लिष्टशिखेन मौलिना नृपाः प्रणेमुः प्रणतैकवत्सलम् ॥२॥
ततः प्रतीहारकृतप्रवेशने यथायथं सभ्यजने व्यवस्थिते ।
विलोकयामास स सेवयागतं सभाजिरे राजगजं प्रजापतिः ॥३॥

श्रीमन्नतामरनरेन्द्रकिरीटकोटीमाणिक्यसचयविलासमरीचिकाभि ।
आलीढपादयुगल जिनकुन्थुनाथ नित्य नमामि जिनराजविनूतपादम् ॥[2]

अथेति । अथ सूर्योदयानन्तरम् । दिवसे दिने । प्रवृद्धे सति एधिते सति[3] । स विशापति. नरपति । स्नानपुरस्सरा स्नानमेव पुरस्सर पूर्वं यासा ता. । क्रिया कार्याणि । विधाय कृत्वा । गृहीतवस्त्राभरण गृहीतानि स्वीकृतानि[4] वस्त्राभरणानि येन स. । कल्पितसिंहविष्टर कल्पित विरचित सिंहविष्टर सिंहासन यस्मिन् तत् । सभागृहम् आस्थानमण्डपम् । अधि[5]शिश्रिये आश्रयति[6] स्म । श्रिञ्[7] सेवाया लिट् ॥१॥ तमिति । प्रधानदौवारिकसूचितागमा प्रधानेन मुख्येन दौवारिकेन सूचितो विज्ञापित आगम आगमन येषा ते । नृपा भूमिपा । प्रणतैकवत्सल प्रणतेषु विनतेषु एको मुख्यो वत्सल[8] प्रीतिर्यस्य तम् । सर्वावसरव्यवस्थित सर्वासा प्रजानामवसरे[9] व्यवस्थित स्थितम् । त चक्रवर्तिनम् । एत्य आगत्य । महीतलाश्लिष्टशिखेन महीतले भूतले आश्लिष्टा सस्पृष्टा[10] शिखा अग्रभागो यस्य तेन । मौलिना मुकुटेन । प्रणेमु प्रणमन्ति स्म । णम[11] प्रह्वत्वे शब्दे लिट् ॥२॥ तत इति । तत पश्चात् । प्रतीहार[12]कृतप्रवेशने प्रतीहारेण दौवारिकेण कृत प्रवेशनमन्तर्गमन यस्य तस्मिन् । सभ्यजने सभ्ये सभायोग्ये जने लोके । यथायथ मर्यादामनतिक्रम्य । व्यवस्थिते सति स्थिते सति । स प्रजापति चक्रवर्ती । सेवया सेवानिमित्तम् । आगतम् आयातम् । राजगज गन्ध-

इसके पश्चात् दिन चढते ही राजा अजितसेनने स्नान आदि क्रियाओंसे निवृत्त होकर वस्त्र और आभूषणोको धारण किया । फिर वह सभा-भवनमे पहुँचा, जहाँ सिंहासन रखा हुआ था ॥१॥ वह आम सभाका भवन था । वहाँ सबको आनेका और बोलनेका भी अवसर दिया जाता था । इसीलिए उसका नाम सर्वावसर रखा गया था । चक्रवर्ती उस सभामे जाकर सिंहासनपर बैठ गया । फिर प्रमुख द्वारपालके द्वारा अपनी सूचना अन्दर भेजकर आगन्तुक राजाओंने विनम्र व्यक्तियोके एकमात्र स्नेही अजितसेनके पास जाकर उन्हे मस्तक नवाकर प्रणाम किया । प्रणाम करते समय उनके मुकुटका ऊपरी भाग भूमिका स्पर्श कर रहा था ॥२॥ इसके पश्चात् द्वारपालकी सूचनाके अनुसार सभासदोने प्रवेश किया, और वे वहाँ अपने-अपने योग्य स्थानपर बैठ गये । जब सभी लोग वहाँकी व्यवस्थाके अनुसार बैठ गये, राजा

१ क ख ग घ °विशिश्रिये । २ आ इदं पद्य नोपलभ्यते । ३ आ 'एधिते सति' इति नास्ति । ४ = परिधारितानि । ५ श 'अधि' इति नास्ति । ६. श आश्रयते । ७. श श्रिञ् । ८. = स्निग्ध । 'स्निग्धस्तु वत्सल' वत्सोऽस्त्यस्य, वत्सल, सिध्मादित्वाद्ल । इति हैम । ९ = अवसरोऽस्ति यस्मिन्, तस्मिन्, सर्वास्वित्यर्थ । १०. आ सश्लिष्टा । ११. आ णमु । १२ आ श प्रतिहार° ।

अनल्पसत्त्वं गुरुवंशशालिनं प्रलम्बहस्तं स्वमिवावलोक्य तम् ।
मतङ्गजं क्रीडयितुं कुतूहलादचूचुदद्वीरनरान्नराधिपः ॥४॥
तदाज्ञयैकः समुपेत्य धोरधीर्जघान मुष्ट्या घनपीवरे करे ।
तमेति[1] यावत्स जवेन पृष्ठतस्तुतोद तावद्भृशमारयापरः ॥५॥
निवृत्य[2] यावत्किल पृष्ठवर्तिनं प्रतिप्रधावत्यतिकोपपीडितः ।
निपत्य तावन्निजलाघवात्परश्चकार पार्श्वे घनलोष्टताडनम् ॥६॥

हस्तिनम् । सभाजिरे सभाया आस्थानस्याजिरेऽङ्गणे । 'अङ्गण चत्वराजिरे' इत्यमर. । विलोकयामास वीक्षा चक्रे ॥३॥ अनल्पेति । नराधिप भूमिपालः । अनल्पसत्त्वम् अनल्प महत् सत्त्व सामर्थ्यं यस्य तम् । गुरुवंशशालिन गुरुणा महता वंशेन पृष्ठास्थ्ना[3] (पृष्ठास्थिना-इत्यर्थ) शालिन[4] शोभिनम्, पक्षे महाकुलेन भासिनम् । 'वेणौ वर्गे कुले[5] वंश. पृष्ठस्यावयवेऽपि च ।' इत्यभिधानात् । प्रलम्बहस्त प्रलम्बो दीर्घो हस्त शुण्डादण्डो यस्य तम्, पक्षे हस्त. पाणि र्यस्य तम् । स्वमिव आत्मानमिव । त मतङ्गज मदगजम् । अवलोक्य वीक्ष्य । क्रीडयितुं क्रीडनाय । कुतूहलात् कुतुकात् । वीरपुरुषान् । अचूचुदत् अप्रेरयत् । चुद प्रेरणे लुङ्[6] ॥४॥ तदाज्ञयेति । तदाज्ञया तस्याजितसेनस्याज्ञया अनुज्ञया । धोरधो धीरा धीर (-त्व) गुणयुक्ता धीर्बुद्धि-र्यस्य सः । एक. शूरभटः । समुपेत्य समीप गत्वा । घनपीवरे घने कठिने[7] पीवरे स्थूले । करे शुण्डादण्डे । मुष्ट्या वज्रमुष्ट्या । जघान[8] हन्ति स्म । हन हिंसागत्योर्लिट् । स गज । जवेन शीघ्रम् । त पुरुषम् । यावत् यावत्पर्यन्तम् । एति आयाति । तावत्, अपर अन्यो भट । पृष्ठत. पश्चाद्भागे । आरया आरा-दण्डेन[9] । भृशम् अत्यन्तम् । तुतोद बबाध । तुद[10] व्यथने लिट् ॥५॥ निवृत्येति[11] । अतिकोपपीडित[12] अतिकोपेनाधिकक्रोधेन पीडित.[13] प्रकाशित[14] सन् । निवृत्य वलित्वा । पृष्ठवर्तिन पश्चाद्भागवर्तिनम् । पुरुष प्रति, यावत् किल, प्रधावति लघु पलायते[15] । सृ गतौ लट् । 'सर्ते र्धौ वेगे' इति धाव आदेश । तावत्, पर अन्यः । पुरुष, निजलाघवात् निजस्य स्वस्य लाघवात् लघुत्वात् । निपत्य समीपे गत्वा । पार्श्वे दक्ष (दक्षिण) पार्श्वे[16] । घनलोष्टताडन घनेन कठिनेन लोष्टेन ताडन हननम् । चकार करोति स्म ।

अजितसेनने अपनी सेवाके निमित्तसे सभाके आँगनमे आये हुए एक गजराजको देखा ॥३॥ वह गजराज अजितसेन सरीखा था। अजितसेनमे बहुत अधिक बल था, वह महान् वशमे जन्मा था और उसके बाहु लम्बे थे। इसी प्रकार गजराज बहुत बलवान् था; वह उभरी हुई रीढकी हड्डीसे विभूषित था और उसकी सूँड खूब लम्बी थी। उसे अपने ही समान देखकर अजितसेनने कौतुकवश कुछ वीर पुरुषोको उसके क्रीडा करनेके लिए प्रेरित किया ॥४॥ राजाकी आज्ञा पाकर एक धीर बुद्धिवाले वीर पुरुषने पास जाकर उसकी कठोर और पुष्ट सूँडपर मुक्केका प्रहार किया। हाथी बडे वेगसे जबतक मुक्का मारनेवालेपर झपटने ही वाला था, इतनेमे ही दूसरे वीरने उसे पीछेसे चमडा काटनेका औजार चुभा दिया, जिससे उसे बडी व्यथा हुई ॥५॥ फिर क्या था, उसका क्रोध भडक उठा। फलत वह जबतक मुड-कर पीछेसे प्रहार करनेवालेकी ओर लपकनेको ही था कि तीसरे पुरुषने बड़ी फुर्तीसे कुछ आगे

---

१. अ तमेव । २ अ आ निर्वृत्य । ३. आ 'पृष्ठास्थ्नो' इति नोपलभ्यते । ४ = शालते शोभते इत्येवं शील, तम् । ५. श वणिकुले । ६. श लड् । ७. आ 'कठिने' इति नोपलभ्यते । ८. = तताड । ९. श आरया आरादण्डेन । = 'आरा चर्मप्रभेदिका' इति हैम. । १० श तुदि । ११. श वृत्येति । १२. आ दापितः । १३. आ दीपित । १४ = 'प्रताडित.' इति भवेत् । १५. आ पलायति, श पलायेते । १६. आ पार्श्वे चक्रिणः पार्श्वे ।

विनीयमानो नृपशासनेन तैः कृतक्रियैरित्थमसौ मतङ्गज ।
प्रधावितु कंचिदशक्तमुद्धतः करेण जग्राह पुरः प्रसारिणा ॥७॥
ग्रहागतं त मदमूढमानसो जनस्य हाहेति रवेण पश्यत ।
तथा समास्फालयति स्म भूतले यथा स सर्वावयवैर्व्ययुज्यत ॥८॥
विलोक्य तं शारदमेघवत्क्षणाद्विलीनमङ्गेन च जीवितेन च ।
कृपाङ्गनालिङ्गिततुङ्गमानसो जगाम निर्वेदमिति क्षितीश्वर ॥९॥
अहो नराणां भवगर्तवर्तिनामशाश्वतीं पश्यत जीवितस्थितिम् ।
ययातिदूरेण जिताः स्वचापलात्तडिद्विलासाः शरदम्बुदैः समम् ॥१०॥

डुकृञ् करणे लिट् ॥६॥ विनीयमान इति । नृपशासनेन[1] नृपस्य चक्रिण. शासनेनाज्ञया । कृतक्रियै कृता विहिता क्रिया अभ्यासो यै, तै । तै भटै । इत्थम् अनेन प्रकारेण । विनीयमान वीक्ष्यमाण (शिक्ष्यमाण)। उद्धत प्रवृद्धकोप । असौ मतङ्गज मदगज । प्रधावितु पलायितुम् । अशक्त सामर्थ्यरहितम् । कञ्चित् कञ्चित्पुरुषम् । पुर प्रसारिणा पुर अग्रभागे प्रसारिणा प्रसरणशीलेन । करेण शुण्डादण्डेन । जग्राह गृह्णाति स्म । गृहि[2] उपादाने लिट् । ७॥ ग्रहेति । मदमूढमान सः मदेन मूढ मोहित मानस यस्य स । स मदगज । हाहेति हा हा इति । रवेण ध्वनिना । पश्यत वीक्षमाणस्य । जनस्य लोकस्य हा हा इति पश्य। वीक्षमाणस्य हा हा इति ध्वनि कुर्वन्त पश्यन्त जनमनादृत्य उदासीन कृत्वा (उपेक्ष्य) इत्यभिप्राय । 'षष्ठी चानादरे' इति षष्ठी । ग्रहागत ग्रह वशम् (ग्रहणम्) आगतम् आयातम् । 'ग्रहे ग्राहो वश' इत्यमर । (ग्रह सूर्यादिनिर्बन्धोपरागेषु रणोद्यमे । ग्रहणे पूतनादौ च सैंहिकेयेऽप्यनुग्रहे । विश्वलोचनकोश) । तं पुरुषम् । यथा सर्वावयवै सर्वै अवयवै । व्ययुज्यत व्यभिद्यत । युजृम्[3] योगे कर्मणि लङ् । तथा, भूतले महीतले । समास्फ लयति स्म । आघातयति स्म । स्फल[4] लट् । दृष्टान्त (?) ॥८॥ विलोक्येति । शारदमेघवत् शारद शरदि शरत्काले भवो जात मेघवत् वारिवाहवत् (शरदि भव शारद स चासौ मेघो वारिवाह तद्वत्) । अङ्गेन च शरीरेण । जीवितेन च जीवनेन । क्षणात् अल्पकालात् । विलीन नष्टम् । त पुरुषम् । विलोक्य वीक्ष्य । कृपाङ्गनालिङ्गिततुङ्गमानस कृपैव कारुण्यमेवाङ्गना वनिता तयालिङ्गितमाश्लिष्ट तुङ्गमुन्नत[5] मानस चित्त यस्य स । रूपकम् । क्षितीश्वर. सार्वभौम । इति वक्ष्यमाणप्रकारेण । निर्वेद वैराग्यम् । जगाम ययौ । गम्लृ गतौ लिट् ॥९॥ अहो इति । यया ससारस्थित्या । स्वचापलात् । निजचाञ्चल्यात् । शरदम्बुदै शरद

बढकर उसकी बगलमे कठोर लोढेका प्रहारकर दिया ॥६॥ इस तरह राजाके आदेशसे अभ्यास करनेवाले वीरोके द्वारा उस हाथीको युद्धकी शिक्षा दी जा रही थी । इतनेमे, सयोगकी बात है, उस उद्धृत हाथीके सामने एक ऐसा मनुष्य आ गया, जो दौडनेमे असमर्थ था । फिर क्या था, हाथीने आगे सूड फैलाकर उसे पकड लिया ॥७॥ लोगोमे हाहाकार मच गया । उनके देखते देखते हाथीने—जो बिलकुल मदान्ध था—पकडमे आये हुए उस मनुष्यको जमीनपर ऐसे ढगसे दे पटका कि उसके हाथ, पैर आदि सारे अङ्ग टूट-टूटकर अलग जा गिरे ॥८॥ शरत्कालके मेघकी तरह उसे क्षणभरमे ही शरीर और जीवनके साथ विलीन (मरते) होते देखकर कृपा रूपी अङ्गनाने राजा अजितसेनके उन्नत हृदयसे आलिङ्गन कर लिया—उस पुरुषको मृत्युके मुखमे जाते देखकर अजितसेनको दया आ गयी । फिर उसे वैराग्य हो गया । उस समय उसके मनमे इस प्रकारके वैराग्यके विचार उत्पन्न हुए ॥९॥ यह ससार बहुत बडे गड्ढेके समान है । ओह इसमे पडे हुए मनुष्योकी क्षणभङ्गुर जीवनकी अवस्थाको तो देखो !, जिसने अत्यन्त दूर

१. 'नृपशासनेन' इति टीकाकृत्सम्मतः पाठ, प्रतिषु तु 'नृपशासनान्नरै' इत्येव पाठो दृश्येत । २. आ ग्रह । ३ आ युजिर् । ४. आ स्फ लट् । ५. श तुङ्गम् उच्चम् ।

गदेन मुक्तोऽशनिना कटाद्यते तदुज्झितः शस्त्रविषाग्निकण्टकैः ।
अनेकमृत्यूद्भवसंकटे नरः कियद्वराकश्चिरमेष जीवतु ॥११॥
वपुर्धनं यौवनमायुरन्यदप्यशाश्वतं सर्वमिदं शरीरिणाम् ।
तथाप्ययं शाश्वतमेव मन्यते जन प्रमोहः खलु कोऽप्ययं महान् ॥१२॥
इदं करोम्यद्य परुद्दिनेष्विदं परार्यदश्च प्रविधेयमित्ययम् ।
अनेककर्तव्यशताकुलः पुमान्न मृत्युमासन्नमपीक्षितुं क्षमः ॥१३॥

शरत्कालस्याम्बुदैर्वारिवाहैः । सम साकम् । तडिद्विलासा तडित सौदामिन्या विलासा शोभाः । अतिदूरेण भृशं दूरेण विप्रकृष्टेन (नितान्तम्-इत्यर्थ) । जिता. अभिभूताः । भवगर्तवर्तिना भव ससार. स एव गर्तोऽवट. तस्मिन् वर्तिना विद्यमानानाम् । नाराणा मनुष्याणाम् । अशाश्वतीम् अनित्याम् । जीवितस्थिति जीवनस्थितिम् । पश्यत वीक्षध्वम् । दृशृ[3] प्रेक्षणे लोट्[6] । शरन्मेघेभ्योऽपि विद्युद्विलासेभ्योऽपि (च) भवस्थितिरत्यन्तमनित्या[4] इति भाव ॥१०॥ गदेनेति । गदेन रोगेण । मुक्त त्यक्त । अशनिना अशनिपातेन । कट क्ष्यते बाध्यते[5] कटाक्ष इति सुव्वातो कर्मणि लट् । तदुज्झित. ताभ्या रोगाशनिभ्यामुज्झितो रहित । शस्त्रविषाग्निकण्टकैः शस्त्रेण आयुधेन विषेण गरलेन अग्निना वह्निना कण्टकै इव (कण्टकै क्षुद्रशत्रुभिश्च) । अनेकमृत्यूद्भवसकटे अनेकैर्बहुभि मृत्यूद्भवै मरणोत्पत्तिभि (मरणोत्पत्तिहेतुभि —इति यावत्) सकटे विपत्तियुक्ते (व्याप्ते वा) । ससारे । वराक (दीन), वराको नामवर्जित ' इत्यभिधानात् । क दीन । एष अयम् । नर. मनुष्य । कियत् कियत्पर्यन्तम् । 'यत्तदेत किम ' इति घतुः । किमिदम कीश्' इति कि आदेशः । चिर स्थिरम् । जीवतु प्राणान् धारयतु । चिरजीवन नास्ति—इत्यभिप्राय ॥११॥ वपुरिति । शरीरिणा प्राणिनाम् । वपु शरीरम् । धन द्रव्यम् । यौवन तारुण्यम् । आयु आयुष्यम् । अन्यदपि धान्याद्यपि । इदम् एतत् । सर्वं सकलम् । अशाश्वतम् अनित्यरूप भवति । तथापि अशाश्वतमपि । अयम् एषः जन लोक. । शाश्वतमेव नित्यमिति । मन्यते बुध्यते । [7]मनि ज्ञाने लट् । अयम् एष । कोऽपि कश्चित् । महान् बलवान् । मोह खलु अज्ञान खलु ॥१२॥ इदमिति । अद्य इदानीम् । इदम् एतत् । करोमि विदधामि । डुकृञ् करणे लट् । परुद्दिने तु आगामिदिवसे[8] । इदम् एतत् करोमि । परारि प्रागामिदिने[9] (परश्व) 'परुत्परारि—' इति निपातनम् (वस्तुतस्तु पूर्वस्मिन् सवत्सरे परुत्, पूर्वतरे सवत्सरे परारि—इति व्याख्या भवेत्, किन्तु ग्रन्थकृता स्वय 'परुद्दिने' इति लिखितम्, अतो व्याख्याकृतापि तदनुसार व्याख्या कृता । मन्ये वीरनन्दिना लक्षणया 'परुद्दिने' इति व्यलेखि ।) अद' इदम् । प्रविधय करणीयम् । इति (इत्यम्) । अनेककर्त्तव्यशताकुल

रहकर भी शरत्कालके मेघोको और उनके साथ चपलाके विलासको भी अपनी चपलतासे पराजितकर दिया है—मानवका जीवन, शरत्कालीन मेघो और विजुलीके विलाससे भी कही अधिक अस्थिर है ॥१०॥ यह मनुष्य यदि रोगसे बच जाता है तो वज्र या बिजुलीका शिकार हो जाता है, और यदि किसी तरह रोग, वज्र या विजुलीसे बच भी गया तो शस्त्र, विष, अग्नि और क्षुद्र शत्रुओके रहते नाना तरहके मौतके कारणोका संकट हर समय बना ही रहता है। ऐसी अवस्थामें बेचारा यह मनुष्य जी भी कितना सकता है ? ॥११॥ मनुष्योका यह शरीर, धन, यौवन, आयु एव और भी संसारकी सभी वस्तुएँ विनश्वर हैं । तो भी यह मनुष्य इन सभी वस्तुओको अनिश्वर ही मानता है । निश्चय ही यह एक बडा भारी अद्भुत अज्ञान है ॥१२॥ यह काम आज करता हूँ, यह कल करूँगा और फिर यह परसो करने योग्य है, अत परसो करूँगा, इस तरह नाना प्रकारके सैकडो कार्योमे व्यस्त होकर यह मनुष्य निकटमे आयी हुई

---

१ क ख ग घ म जावति । २. आ इ °पीक्षित । ३. आ दृशिर् । ४ श लट् । ५ आ °तानित्या° । ६. श 'बाध्यते' इत नोपलभ्यते । ७. श बुधि मनि । ८. आ °दिने । ९. श प्रागादिदिने ।

बिभेति पापान्न सतामसंमतान्न मन्यते दुर्गतिदुःखमुद्धतम् ।
विलोभ्यमानो विषयामिषाशया करोत्यकर्तव्यशतानि मानवः ॥१४॥
मदान्धकान्तानयनान्तचञ्चलाः सदा सहन्ते न सहासितुं श्रियः ।
ज्वलज्जरावज्रहविर्भुजो जये कियच्चिरं स्थास्यति यौवनं वनम् ॥१५॥
[1]क्रियावसाने विरसैर्मुखप्रियैः स्वयं विहास्यैर्विषयैर्विनाशिभिः ।
विलेख्यते कालमरीचिमालिनः करैर्हतं हा हिमसंनिभं वपुः ॥१६॥

अनेकेषा कर्तव्याना कार्याणा शतेन बहुना (बाहुल्येन) आकुलो व्याकुल । अयम् एष । पुमान् पुरुष । आसन्नमपि समीपमागतमपि । मृत्यु मरणम् । ईक्षितु वीक्षणाय । न क्षम न समर्थो भवति ॥१३॥ बिभेतीति । विषयामिषाशया विषयाणा पञ्चेन्द्रियगोचरणामामिषस्य स्त्रीकारस्याशया[2] अभिलाषेण । विलोभ्यमान विमुच्य (ह्य) मान । मानव मनुष्य. । सता सत्पुरुषाणाम् । असमतात् अनभ्युपगमात् । पापात् दुरितात् । न बिभेति भय न याति । त्रिभी भये लट् । उद्धत प्रवृद्धम् । दुर्गतिदु ख दुर्गतीना नरकादिदुर्गतीना दु ख कष्टम् । न मन्यते न जानाति । बुधि मनि ज्ञाने लट् । अकर्तव्यशतानि अकर्तव्याना शतानि अनेकानि (नाना अकर्तव्यानि–इत्यर्थ) । करोति विदधाति । आक्षेप. (?) ॥१४॥ मदेति । मदान्धकान्तानयनान्तचञ्चला मदेन अन्ध (अन्धाना) कान्ताना वनिताना नयनाना नेत्राणाम् अन्त इव अवसानम् (कटाक्ष–) इव चञ्चला भृश चलनरूपा । श्रिय सम्पद । सदा सर्वदा । सह साकम् । आसितु[3] स्थातुम् । न सहन्ते समर्था न भवन्ति । ज्वलज्जरावज्र हविर्भुज ज्वलन् जरैव वार्द्धक्यमेव वज्रहविर्भुज (वज्रहविर्भुक् वज्राग्नि, तस्य) । जये विजये सति (जय विषये, जयाय–इत्यर्थ) । यौवन तारुण्यम् । वन काननम् । कियच्चिर कियत् स्थिरम् (कियन्त काल तावत्) । स्थास्यति । उपमा ॥१५॥ क्रियेति । मुखप्रियै मुखे प्रथमे (अनुभवादौ) प्रियै प्रीतिरूपै (आपातमधुरै) । क्रियावसाने क्रियाया अनुभवस्यावसाने पर्यन्ते । विरसैः (विरसै) अप्रियै । विनाशिभि विनाशशीलै । विषयै पञ्चेन्द्रियविषयै । स्वयम् अहम् (स्वत एव) । विहास्यै विरहिष्यै (विहास्यै त्याज्यैः) । हिमसन्निभ हिमस्य सन्निभ समानम् । वपु शरीरम् । कालमरीचिमालिन काल एव यम एव मरीचिमाली सूर्यरूप[4] तस्य । रूपकम् । करै किरणै । हत

भी मृत्युको देखनेके लिए असमर्थ रहा करता है—(करिष्यामि करिष्यामि करिष्यामीति चिन्तया । मरिष्यामि मरिष्यामि मरिष्यामीति विस्मृतम्) ॥१३॥ यह मनुष्य, सन्त पुरुषोंके द्वारा निषिद्ध पापसे नही डरता और नरक आदि खोटी गतियोंके बडे-बडे असह्य दु खोको नही मानता, किन्तु पाँच इन्द्रियोंके विषयके लोभमे फँसकर सैकडो ऐसे-ऐसे काम करता रहता है, जो कभी नही करने चाहिएँ ॥१४॥ लक्ष्मी मतवाली नायिकाके कटाक्षोकी भाँति चचल है । यह किसीके साथ सदा नही रह सकती । बुढापा प्रज्वलित वज्राग्निके समान है । जब मनुष्य उसके चगुलमे फँस जाता है, तब यौवन रूपी वन उसके सामने कितनी देर टिका रह सकता है ?—जिस प्रकार वज्राग्निके प्रज्वलित होते ही सारा जगल भस्म हो जाता है, इसी प्रकार जराके आते ही यौवन नष्ट हो जाता है ॥१५॥ इन्द्रियोके विषय प्रारम्भमे प्रिय, भोगनेके पश्चात् अप्रिय और विनश्वर हैं । ये स्वय ही मुझे छोड देंगे । यह शरीर बर्फके समान है । जिस प्रकार बर्फ सूर्यकी किरणोसे पिघलकर नष्ट हो जाता है । इसी प्रकार शरीर भी कालके

---

१ अ करावसानेविरसै । २. आ °स्य वाञ्छया अभि° । ३. श आसितु । ४ आ मरीचिमालिन सूर्यस्य ।

शनैर्विहास्यन्ति गतश्रियं न मां न बान्धवा बद्धधनर्द्धिबुद्धयः ।
फलप्रसूनप्रलये हि कोकिला भवन्ति चूतावनिजं जिहासवः ॥१७॥
प्रपित्सु संपक्वफलोपमान्वितं जगत्यहो जीवितमत्र जीविनाम् ।
विलीयमाना निचयाः क्षणक्षयाः शुभाशुभं [1]नंष्टुमनीश्वरं परम् ॥१८॥
कषायसारेन्धनबद्धपद्धतिर्भवाग्निरुत्तुङ्गतरः समुत्थितः ।
न शान्तिमायाति भृशं परिज्वलन्न यद्ययं ज्ञानजलैर्निषिच्यते ॥१९॥
दुरात्मकादेव भवाद् भयंकराद् भवन्त्यनर्था वधबन्धनादयः ।
न ते स्युरुत्खाततलः स चेद् भवेदहेतुकाः क्वापि न कार्यसंपदः ॥२०॥

नष्ट सत् । विलेस्यते[2] जीर्ण[3] (जीर्णत्वम्) नेष्यते । [हा हन्त] । लीङ्-श्लेषणे ॥१६॥ शनैरिति । बद्धधनर्द्धिबुद्धय धन द्रव्य तच्च ऋद्धिरैश्वर्यं सा च बुद्धिर्धिषणा सा च तथोक्ता., बद्धाः कृता धनर्धिवृद्धयो येषा (यैः) ते । बान्धवा ज्ञातय[4] । गतश्रिय गता रहिता (नष्टा) श्री. सम्पद् यस्य तम्, ऐश्वर्यरहितम् इत्यर्थ. । मा मा । शनै. मन्द मन्दम् । न विहास्यन्ति न त्यजन्ति (इति) न[5], किन्तु त्यजन्त्येव । द्वौ नञौ प्रकृतमर्थं द्योतयत । फलप्रसूनप्रलये फलाना पक्वाना प्रसूनाना कुसुमाना[6] प्रलये रहिते (अवसाने) सति । कोकिलाः पिका । चूतावनिजम् आम्रवृक्षम् । जिहासव त्यक्तुमिच्छव । भवन्ति हि । अर्थान्तरन्यास (प्रतिवस्तूपमा) ॥१७॥ प्रपित्स्विति । अत्र जगति लोके । जीवाना प्राणिनाम् । जीवित जीवनम् । प्रपित्सुसंपक्वफलोपमान्वित प्रपित्सूना पतनशीलाना सम्पक्वाना सपूर्णपरिणताना फलानामुपमयान्वित युक्तम् । स्यात् । विलीयमाना आश्र (श्रि) यमाणा । निचया परिग्रहा । क्षणक्षया. क्षणेऽल्पकाले क्षयो नाशो येषा ते । स्यु. । शुभाशुभ पुण्यपापकर्म । नष्टु[7] नाशनाय । पर केवलम् । अनीश्वर स्यात् असमर्थं स्यात् । जाति' ॥१८॥ कषायेति । कषायसारेन्धनबद्धपद्धति कषाया क्रोधादयस्त एव साराणि बलिष्ठानि इन्धनानि काष्ठानि तैर्बद्धा पद्धति मर्गो यस्य स । उत्तुङ्गतरः उन्नततर । समुत्थित: उत्पन्न । परिज्वलन् परितो ज्वलन् । अयम् एष । भवाग्नि ससाराग्नि । ज्ञानजलै ज्ञानान्येव जलानि तै । यदि न निषिच्यते सेचन न करिष्यते (नोक्ष्यते) । भृशम् अत्यन्तम् । शान्ति शमम् । न आयाति नागच्छति । या प्रापणे लट् । रूपकम् ॥१९॥ दुरात्मेति । दुरात्मकात् दुष्टस्वभावयुक्तात् । भयकरात् भीतिकरात् ।

सम्पर्कसे घुल-घुलकर नष्ट हो जाता है ॥१६॥ धन-सम्पत्तिके इच्छुक बन्धु लोग लक्ष्मीके चले जानेपर धीरे-धीरे मुझे नही छोड देंगे, यह बात नही हैं—जब तक मेरे पास धन है तभी तक बन्धु-बान्धव साथ देंगे, पर जब धन चला जायगा, मैं निर्धन हो जाऊँगा, तब धीरे-धीरे सभी लोग किनाराकसी करने लगेंगे। जब फल-फूल विलीन हो जाते हैं, तब कोकिल आमके पेडको छोड देनेके लिए उत्सुक हो जाते हैं ॥१७॥ जगत्मे जीवोका जीवन गिरनेवाले पके फलके समान है। ओह यह कितने खेदकी बात है! सचित चेतन और अचेतन परिग्रह भी क्षणभंगुर है। केवल शुभ और अशुभ कर्म ही ऐसे हैं, जो बिना फल दिये नष्ट नही हो सकते ॥१८॥ क्रोध आदि कषाय रूपी ठोस ईंधनसे जिसका चारो ओरका मार्ग तैयार कर दिया गया है, जो ऊपर उठकर बहुत ऊँचाई तक पहुँच गया है और जो खूब प्रज्वलित हो रहा है, इसके ऊपर यदि ज्ञान जलका सिचन न किया जाये तो वह ससार रूपी ‍ग्नि कभी शान्त ही न हो ॥१९॥ यह ससार दुष्ट स्वभाववाला है, और भयकर है। इसीसे वध और बन्धन आदि अनर्थ हुआ करते हैं। यदि ससारका मूल आधार (राग) उखाड दिया जाय तो वध बन्धन

१ क ख ग घ नष्टु° । २ श विलेष्यते । ३ आ भिन्न । ४ श जातय । ५ श नेति न । ६ श 'कुसुमाना' इति नास्ति । ७ श नष्टु ।

नरो विवध्येत सरागतां गतो न कर्मभिस्तद्विपरीतभावनः।
निरन्तरं मुञ्चति वारि वारिदे विगाहितुं धूलिरलं हि नाम्बरम् ॥२१॥
चराचरे नास्ति जगत्यभोजि यन्न जन्तुभिर्जन्मपयोधिमध्यगैः।
किमेष लोको विषयान्धलोचनः पराङ्मुखो नश्यति मोक्षसाधनात् ॥२२॥
दुरन्तभोगाभिमुखां निवर्तयेन्न शेमुषीं यः सुखलेशलोभितः।
कथं करिष्यत्युपरूढिमागतामिमां स जन्मव्रतति विनाशिनीम् ॥२३॥

भवादेव ससारादेव। अनर्था अपायरूपाः। वधबन्धनादय वधस्ताडन बन्धो बन्धन तौ आदौ (आदी) येषा ते। स ससार'। उत्खाततळ. उत्खात तल यस्य स भवेच्चेत् यदि स्यात्। भू सत्ताया लिङ्[2]। ते वधबन्धनादय। न स्यु. न भवेयु। क्वापि कुत्रापि। कार्यसपद कार्यसमृद्धय (कार्याणीत्यर्थ)। अहेतुका कारणरहिता। न स्यु। अस भुवि लिङ्[3]। अर्थान्तरन्यास ॥२०॥ नर इति। सरागताम् अभिलाषवत्त्वम्। गत यात'। नर मनुष्य। कर्मभि' शुभाशुभभेदकर्मभि'। विवध्येत नह्येत। वधि बन्धने कर्मणि लिङ्। तद्विपरीतभावनः तस्मात् सरागपरिणामाद् विपरीता विरागरूपा भावना यस्य स। न[4] कर्मभि—(ज्ञानावरणादिकर्मभि.) न बध्येत। वारिधे समुद्रस्य [वारिदे मेघे] वारि जले (जलम्)। निरन्तर निविडम्। मुञ्चति सति त्यजति सति। धूलि रज। अम्बरम् आकाशम्। विगाहितु लङ्घितुम्। नाल समर्थं न भवति हि। अर्थान्तरन्यास ॥२१॥ चरेति। चराचरे चरा जङ्गमा अचरा स्थावरा यस्मिन् तस्मिन्। जगति लोके। जन्मपयोधिमध्यगै. जन्मैव पयोधि समुद्र' तस्य मध्यगैर्मध्य गतै। जन्तुभि प्राणिभि। यत् वस्तु। न अभोजि नाभुज्यत[5]। भुज पालनाभ्यवहारयो कर्मणि लुङ्। तद् वस्तु। नास्ति न विद्यते। विषयान्धलोचन विषयैरन्धे लोचने यस्य स। एष अयम्। लोक जन। मोक्षसाधनात् मोक्षस्य साधनाद् रत्नत्रयात्। पराङ्मुख. सन् विमुख सन्। कि किंकारणम्। नश्यति। आक्षेप (?) ॥२२॥ दुरन्वेति। य सुखलेशलोभितः (सुखलेशे) अल्पे-स्तोके सुखे लोभित प्रीत.[6] (मोहित)। 'पोटा-युवति—' इत्यादिना समास'। दुरन्तभोगाभिमुखात्[7] दुरन्तेपु दु खावसानेपु भोगेपु पञ्चेन्द्रियभोगेपु अभिमुखाद् आसजनात् (दुरन्तभोगाभिमुखा दुरन्तेपु दुष्परिणामेपु भोगेपु पञ्चेन्द्रियविषयेपु अभिमुखा-मासक्ताम्)। शेमुषीं बुद्धिम्। न निवर्तयेत् न निराकुर्यात्[8]। स जीव। उपरूढिं प्रवृद्धिम्। आगताम् आयाताम्। इमाम् एताम्। जन्मव्रतति[9] जन्म ससार तदेव व्रततिर्लता[10] ताम्। विनाशिनीं विनाश-

आदि भी नही होगे। विना कारणके कार्य कही भी नही होता ॥२०॥ रागी मनुष्यको ही कर्म-बन्धन हो सकता है, पर जिसकी भावना रागसे रहित-वीतराग है, उसे कर्म-बन्धन नही हो सकता। यदि मेघ लगातार पानी बरसाता रहे, तो आकाशमे धूलि नही उड सकती ॥२१॥ इस जगम और स्थावर जगत्मे ऐसी कोई वस्तु नही, जिसे ससार समुद्रके बीचमे पडे हुए जीवोने न भोगा हो। जब भोगने योग्य वस्तु नही रही तो फिर क्या कारण है जो मनुष्य विषयोमे अन्धा हो रहा है और सम्यग्दर्शन आदि मुक्तिके साधनोसे पराङ्मुख होकर दु खी हो रहा है ॥२२॥ जो जरासे विषयसुखके लोभमे फँसकर अन्तमे दु ख देनेवाले भोगोकी ओर जाती हुई अपनी बुद्धिको नही लौटाता, वह खूब बढनेवाली ससार-रूपी लताको कैसे नष्ट कर

१ क ख ग म रूपयति। २ श लेट्। ३ श लेट्। ४ आ स। ५ श न भुज्यते। ६ श 'प्रीत' इति नास्ति। ७ एव टीकाकृदभिमत पाठ, प्रतिपु तु 'दुरन्तभोगाभिमुखा' इत्येव पाठो दृश्यते। ८.=न निवारयेत्। ९. आ प्रतित। १० आ प्रतवि।

मनुष्यजन्मेदमवाप्य दुर्लभं क्षयात्कथंचिन्मलिनस्य कर्मणः।
भवाम्बुराशौ पुनरापदां पदे पतन्ति ते ये न हिते विजाग्रति ॥२४॥
यदीदमागन्तुकदुःखकारणं प्रशस्यते संसृतिसौख्यमज्ञकैः।
तदा प्रशंसापदमेतदप्यहो विषान्वितस्यास्तु गुडस्य भक्षणम् ॥२५॥
निहत्य नूनं शमखड्गधारया निबन्धकानद्य कषायविद्विषः।
वरीतुमिच्छोर्मम सिद्धिकामिनीं निबन्द्धुमीष्टे[1] जगतीह कः पर ॥२६॥
समुद्धतान्पापरिपून्हनिष्यतो वशं स्वकर्मप्रकृतीश्च नेष्यतः।
तपोवनं प्राप्तवतोऽप्यखण्डितं तदेव राज्यं मम सिद्धिभागिनः ॥२७॥

युक्ताम्। कथ केन प्रकारेण। करिष्यति विधास्यति। डुकृञ् करणे लृट्। रूपकम् ॥२३॥ मनुष्येति। कथचित् केनचित् प्रकारेण। मलिनस्य मलीमसस्य कष्टरूपस्य[2] इत्यर्थः। कर्मण शुभाशुभरूपस्य[3]। क्षयात् नाशात्। दुर्लभ दुष्प्रापम्। इद मनुष्यजन्म मनुष्यभवम्। अवाप्य लब्ध्वा। ये पुरुषा। हिते मोक्षकारणे। न विजाग्रति[4] न विजागरिणो भवन्ति। ते पुरुषा। पुनः पश्चात्। आपदाम् आपत्तीनाम्। पदे स्थाने। भवाम्बुराशौ भव एव ससार एव अम्बुराशि समुद्र, तस्मिन्। पतन्ति मज्जन्ति। पत्लृ गतौ लट्। रूपकम् ॥२४॥ यदिति। आगन्तुकदु.खकारणम् आगन्तुकस्य भविष्यतो दु खस्य कारण निमित्तम्। ससृतिसौख्य ससृते. ससारस्य सौख्य सुखम्। अज्ञै अज्ञानिजनै। यदि प्रशस्यस्ते प्रस्तूयते। तदा तर्हि। प्रशसापद प्रशसाया. पद स्थानम्। एतदपि इदम् (अपि स्यात्)—। विषान्वितस्य विषेण गरलेन अन्वितस्य युक्तस्य। गुडस्य[5] शर्कराया। भक्षण सेवनम्। अहो। (सविषस्य गुडस्य भक्षणमिव ससृतिसुख न प्रशस्यते—इति भाव)। आक्षेप (?) ॥२५॥ निहत्येति। विबन्धकान् प्रतिबन्धकान्। कषायविद्विष. कषाया एव क्रोधमानादय एव विद्विष शत्रव, तान्। शमखड्गधारया शम एव रागद्वेषनिवृत्तिपरिणाम एव खड्गधारा प्रहरणधारा तया। नून निश्चयेन। निहत्य सभिद्य[6]। अद्य इदानीम्। सिद्धिकामिनी सिद्धिरेव मोक्ष एव कामिनी वनिता ताम्। वरीतु परिणेतुम्। इच्छो[7] वाञ्छितस्य। मम मे। इह जगति अस्मिन् लोके। निबन्द्धु निरोद्धुम्। परः अन्य। क को वा। ईष्टे समर्थो भवति, न कोऽपि इत्यर्थ.। रूपकम् ॥२६॥ समुद्धतानिति। समुद्धतान् गर्वितान्। पापरिपून् पापान्येव रिपव. शत्रव, तान्। हनिष्यत[8] हिंसिष्यत। स्वकर्मप्रकृतीः स्वस्यात्मन

सकेगा ? ॥२३॥ अशुभ कर्मके क्षयसे, बडी कठिनाईसे इस दुर्लभ मनुष्य जन्मको पाकर जो लोग अपने हितकी ओर जागरूक नही रहते, वे आपत्तियोंके घर स्वरूप ससार सागरमे फिर जा गिरते हैं ॥२४॥ यह सासारिक सुख भावी दु खोका कारण है, फिर भी मूर्ख लोग यदि इसकी प्रशंसा करें, तो विष मिले हुए गुडका भक्षण भी प्रशसनोय होना चाहिए ॥२५॥ अब मै क्रोधादि कषाय रूपी रोडा अटकानेवाले शत्रुओंको निश्चय ही शमता रूपी खड्गकी धारासे नष्ट करके मुक्ति-कान्ताका वरण करना चाहता हूँ। इस ससारमे फिर अन्य कौन शत्रु है, जो मुझे रोक सके ? ॥२६॥ जिस प्रकार मै यहाँ रहकर उद्दण्ड शत्रुओको मारता रहा, अपने कर्मचारियो और प्रजाजनोको अपने अधीन रखता रहा और मन, वचन और दैवी सिद्धिको प्राप्त करता रहा। इस तरह अखण्ड साम्राज्यका स्वामी रहा। इसी तरह तपोवनमे जाकर भी मै अखण्ड साम्राज्यका स्वामो बना रहूँगा। वहाँ जाकर मै उद्धत पाप रूपी शत्रुओका हनन करूँगा—सभी पापोका परित्याग कर दूँगा। चचल मन वचन और कायकी प्रकृतिको अपने वशमे

१. आ इ विवन्धु°। २ = कष्टकरस्य। ३ = अष्टविधकर्मण.। ४ = दत्तावधाना न भविन्त। ५ = गुडति रक्षतीति गुड —इक्षुरसक्वाथ, तस्य। 'गुड इक्षुरसक्वाथ' इति हैम.। ६. आ सछिद्य। ७. = वाञ्छकस्य। ८ = नाशयतो निवारयतो वा।

त्वमेव भोगामिषलोभ्यलोकयः कदर्थनीश्चित्त चिरं चतुर्गतीः ।
प्रशान्तिमायाहि ममाधुनापि कं[1] करिष्यसि क्लेशमतः पर परम् ॥२८॥
विवेकिनो जन्मविपत्तिभीरवो निरापदा संपदि बद्धचेतसः ।
अपीन्द्रियानीकजये यदीशते न मद्विधाः सिद्धिवधूरभर्तृका: ॥२९॥
निवर्तितात्मा विषयेभ्य इत्यसौ पुनर्भविष्यद्भवभारभीलुकः ।
चकार चित्तं चतुरस्तपोवने हितान्न योऽपैति स एव पण्डितः ॥३०॥

कर्मणा मनोवाक्कायव्यापाराणा प्रकृती· स्वभावान्, पक्षे चतुरङ्गसेनामात्यादिप्रकृतीश्च । वशम्[2] अधीनम् । नेष्यत यास्यत । तपोवन प्राप्तवतो गतवतोऽपि । सिद्धिभागिन. सिद्धिमात्मोपलब्धि भागिन आश्रयशीलस्य । मम मे । तदेव, अखण्डित[4] निष्कण्टकम् । राज्यम्[5] । रूपकम् ॥२७॥ त्वमिति[6] । चित्त भो मानस । भोगामिषलोभि भोगेषु पञ्चेन्द्रियविषयेषु आमिषेण आसक्त्या लोभि वाञ्छासहितम् । कदर्थिनो. कद् कुत्सितोऽर्थ प्रयोजनमस्त्यासामिति तथोक्ता । ' ··· '— इत्यादिना समास: । 'को कदचि' इति कुशब्दस्य कद्[7] आदेश । चतुर्गती चतस्रश्च ता गतयश्च ता· । चिर बहुकालपर्यन्तम् । [त्वम्] अवलोकय अदर्शय । अत एव तस्मात् कारणात् । पर परम् उत्कृष्टम् । 'वीप्सायाम्' इति[8] द्वि । कं क्लेश[9] श्रमम् । करिष्यसि विधास्यसि । अधुनापि इदानीमपि । प्रशान्तिम् उपशमम् । आयाहि आगच्छ । या प्रापणे लोट्[10] ॥२८॥ विवेकिन इति । जन्मविपत्तिभीरव जन्म जनन विपत्तिर्मरण ताभ्या भीरव —बिभ्यतीत्येवशीला भयशीला -इत्यर्थ 'भ्य क्रु—' इत्यादिना क्रु-प्रत्यय । विवेकिनः हेयोपादेयविवेकयुक्ता । निरापदाम् । आपद्रहिताना सिद्धानाम्—इत्यर्थ[11] । सपदि सपत्तौ । बद्धचेतस· बद्ध सबद्ध चेतश्चित्त येषा ते । मद्विधा. मम सदृश । इन्द्रियानीकजये इन्द्रियाणा पञ्चेन्द्रियाणामनीकस्य जयेऽपि विजयेऽपि । नेशते समर्था न भवन्ति । (तत्) सिद्धिवधू । मोक्षवनिता । अभर्तृका पतिरहिता भवति । मम समान (ना) सत्पुरुषा इन्द्रियजये कृतयत्ना न भवन्ति चेद् मोक्षस्य गन्तारो न सन्ति तस्मान्मोक्षवनितायाः पतिरहितत्वम्— इत्यर्थ ॥२९॥ निवर्तितेति । विषयेभ्य पञ्चेन्द्रियविषयेभ्य । इति एव प्रकारेण । निवर्तितात्मा निवर्तितो निवारित आत्मा स्वरूप यस्य स. । चतुर प्रौढ. । असौ जीव । पुन पश्चात् । भविष्यद्भवभारभीलुक भविष्यत एष्यतो भवस्य ससारस्य भाराद् भीलुको बिभेतीत्येवशील । 'भ्य क्रु—' इत्यादिना क्लुक-प्रत्यय । तपोवने तपोऽनुष्ठाने । चित्त मानसम् । चकार करोति स्म । य पुरुष । हितात् सन्मार्गात् । नापैति

करूँगा । ज्ञानावरणादि कर्मोंकी प्रकृतियोको अपने अधीन बनाऊँगा । आत्माके शुद्ध स्वरूपकी सिद्धि प्राप्त करूँगा । इस प्रकार घरकी तरह तपोवन भी मुझे सुखदायी सिद्ध होगा ॥२७॥ रे मन ! भोगोकी आसक्तिमे फँसकर तूने दु ख देनेवाली चारो गतियोको चिरकाल तक देखा है । तू अब भी शान्त हो जा । मेरे लिए इससे भी बढकर और कौन सा क्लेश उत्पन्न करेगा ? ॥२८॥ हेय और उपादेयको जाननेवाले, जन्म और जरासे डरनेवाले और हृदयसे मुक्त जीवोंकी रत्नत्रय रूप सम्पत्तिको चाहनेवाले मुझ जैसे लोग भी यदि इन्द्रियोकी सेनाको जीतनेमे समर्थ नही होसकते तो कहना चाहिए कि मुक्ति कन्या कुवारी ही रह जायगी ॥२९॥ इस तरह अजितसेनका मन विषयोसे विमुख हो गया और उसे भावी जन्मपरम्परा बोझ मालूम पडने लगी । फलतः वह उससे डरने लगा । फिर उस चतुर चक्रवर्तीने तपोवन जानेका विचार कर लिया । यह उसने ठीक ही किया, क्योकि जो हितके मार्गसे दूर नही भागता वही पण्डित

---

१ आ इ किं । २. = अधीनताम् । ३ = नयत । ४ = सकलम् । ५ = सपत्स्यते, इतिशेष । ६. श तमिति । ७. श 'कद्' इति नास्ति । ८ श 'इति' इति नोपलभ्यते । ९. = पीडाम् । १० श लिट् । ११. श 'सिद्धानाम्—इत्यर्थ·' इति नास्ति ।

विहर्तुमत्रावसरे समागतं महीपतिर्भूरिगुणं गुणप्रभम् ।
सवृन्दमज्ञानतमस्तमोरिपुं मुनीन्द्रमुद्यानचरादबुद्ध सः ॥३१॥
निशम्य तस्यागमनं स पावनं[1] शिवंकरोद्यानमुपेत्य तस्थुषः ।
मुदाभ्युदस्थादचिरेण विष्टरात्कृती कृतार्थोऽहमिति ब्रुवन्वचः ॥३२॥
जनेन पौरेण वृतः पुरादसौ निरित्य[2] तद्धाम जगाम भूमतिः ।
प्रचालयन्धर्मकथां समं नृपैः समन्वितैः[3] संसृतिदुःखभीरुभिः ॥३३॥
गतस्य तस्योपवने[4] वनेचरो निदर्शयामास समुत्कचेतसः ।
विविक्तमत्यन्तमजन्तुकं शुचि महामुनेराश्रममाश्रितं श्रिया ॥३४॥

नापयाति । स एव, पण्डित विवेको । अर्थान्तरन्यासः ॥३०॥ विहर्तुमिति । अत्र अस्मिन् । समये वैराग्य-भावनाप्रस्तावे । स. महीपति चक्रवर्ती । विहर्तुं विहारार्थम् । समागत समायातम् । भूरिगुण भूरयो बहुला गुणा यस्य तम् । सवृन्द वृन्देन मुनिसन्दोहेन सह वर्तते इति सवृन्द, तम् । अज्ञानतमस्तमोरिपुम् अज्ञानमेव तमस्तिमिर तस्य तमोरिपु सूर्यम् । गुणप्रभ गुणै. प्रभातीति गुणप्रभ., त गुणप्रभनामधेयम् । मुनीन्द्र मुनिपतिम् । उद्यानचरात् उद्याने चरतीत्युद्यानचर, तस्मात्, वनपालकात्-इत्यर्थ. । अबुद्ध अबुध्यत । बुधि मनि ज्ञाने लुङ् । जाति ॥३१॥ निशम्येति । शिवकरोद्यान शिवकरम् इति (नामकम्) उद्यानम् । उपेत्य आगत्य । तस्थुषः अध्युषत । तस्थौ इति तस्थिवान् तस्य तस्थुष । 'लिट क्वसुकानो' इति क्वसु । तस्य गुणप्रभस्य । महामुनेः महामुनीशस्य । आगमनम् आयानम् । निशम्य श्रुत्वा । अह कृतार्थ· कृत सपूर्णोऽर्थ. प्रयोजन यस्य स कृतकृत्य इत्यर्थ । इति एवम् । वच वचनम् । ब्रुवन् भाषमाण । मुदा सतोषेण । अचिरेण शीघ्रम् । विष्टरात् सिंहासनात् । अभ्युदस्थात् अभ्युदतिष्ठत् । ष्ठा गतिनिवृत्तौ लुङ् ॥३२॥ जनेनेति । पौरेण पुरे भवेन[5] । जनेन लोकेन । वृत· परिवेष्टित. । असौ भूपति अजितसेनचक्री । पुरात् नगरात् । निरित्य[6] निर्गत्य । धर्मकथा धर्मस्य रत्नत्रयात्मकधर्मस्य कथा प्रसङ्गम् । प्रचालयन् विस्तारयन् प्रवर्तयन् वा । शमान्वितै. शमेन मध्यस्थपरिणामेनान्वितैर्युक्तै । ससृतिदु खभीरुभि. ससृते ससाराज्जाताद् दु खात् कष्टाद् भीरुभिर्भयशीलै । नृपै भूपतिभि । सम साकम् । तद्धाम तस्य मुनेर्धाम स्थानम् । जगाम गच्छ तिस्म । गम्लृ गतौ लिट् ॥३३॥ गतस्येति । उपवने आरामे । गतस्य यातस्य । समुत्कचेतस समुत्क समुत्सुक चेतश्चित्त यस्य तस्य । तस्य चक्रिण । वन (ने) चरः वनपालक । विविक्तम् एकान्तम् । अजन्तुक निर्जन्तुकम् । शुचि पवित्रम् । अत्यन्त नितान्तम् । श्रिया शोभया । आश्रित सेवितम् । महामुने गुणप्रभ-

कहलाता है ॥३०॥ इसी अवसरपर राजा अजितसेनको वनपालसे पता लगा कि विहार करनेके लिए एक महा गुणी और अज्ञान अन्धकारको मिटानेके लिए सूर्यकी बराबरी करनेवाले आचार्य गुणप्रभ अपने सघके साथ उद्यानमे पधारे हैं ॥३१॥ शिवंकर नामक उद्यानमे, पधारकर वही ठहरनेवाले मुनि राजगुणप्रभके पुनीत आगमनके शुभ समाचार सुनकर बुद्धिमान राजा अजितसेन 'मैं कृतकृत्य हो गया' ये वचन बोलता हुआ बड़ी प्रसन्नतासे तुरन्त ही अपने आसनसे उठकर खडा हो गया ॥३२॥ पुरवासियोसे घिरा हुआ राजा अजितसेन अपने नगरसे निकलकर शान्त परिणामवाले और सासारिक दु खोसे डरनेवाले राजाओके साथ धर्मचर्चा करता हुआ शिवकर नामक उद्यानमे पहुँचा, जहाँ मुनिराज पधारे हुए थे ॥३३॥ तपोवनमे पहुँचकर राजाका मन मुनिराजके दर्शनोके लिए और भी अधिक उत्सुक हो उठा । तब मालीने उसे मुनिराजके आश्रमके दर्शन कराये, जो एकान्त, जीव-जन्तुओसे रहित, पवित्र और प्राकृ-

१ आ द तस्यागमन महामुनेः । २. आ इ निरीत्य । ३. आ इ शमान्वितै. । ४ क ख ग घ म °वने महोपति.° । ५. आ 'पुरे भवेन' इति नास्ति । ६. श निरीत्य ।

गृहीतयोगं तपसा कृशीकृतं ददर्श कंचिन्मुनिमातपस्थितम् ।
दिवाकरांशुप्रकरैकलक्ष्यतां [1]प्रयातमुन्मूलितमोहविद्विषम् ॥३५॥
प्रभावनायां जिनवर्त्मनो रतं विशुद्धसिद्धान्तपयोधिपारगम् ।
समुद्यतं धर्मकथाप्रवर्तने यतिं धरित्रीपतिरैक्षतापरम् ॥३६॥
नयप्रमाणांशुभिरुज्ज्वलात्मभिः प्रवादिखद्योतचयं पराभवम् ।
नयन्तमुद्द्योतितलोकमैक्षत प्रजापतिः कंचन साधुभास्करम् ॥३७॥
त्रिकालमध्यस्थमनन्यगोचरं परोक्षवस्तूपदिशन्तमञ्जसा ।
स्वमार्गमाहात्म्यनिदर्शनोद्यतं व्यलोकतान्यं स नृपस्तपोधनम् ॥३८॥

मुनीन्द्रस्य । आश्रम स्थानम् । निदर्शयामास दर्शयतिस्म । दृशृ[2] प्रेक्षणे णिजन्ताल्लिट् ॥३४॥ गृहीतेति । [गृहीतयोग] गृहीत प्रशस्तो योगो ध्यान यस्य (येन) तम् । तपसा बाह्याभ्यन्तररूपतपसा । कृशीकृत प्रागकृश इदानीं कृश· क्रियते स्म कृशीकृतः, त सूक्ष्मीकृतम् । 'कर्मकर्तृभ्याम्—' इत्यादिना च्वि । 'च्वौ चानव्ययस्य—' इति ईकार । आतपस्थितम् आतपे आतपयोगे स्थितम् । दिवाकरांशुप्रकरैकलक्ष्यता 卐 दिवा[3] दिवस करोतीति दिवाकर । 'दिवा [-विभा-] निशा—' इत्यादिना दिवा शब्दात् परात् करोते प—(ट–) प्रत्यय , दिवाकरस्य सूर्यस्यांशूना किरणानां प्रकरस्य निवहस्य एका मुख्यरूपा लक्ष्यता卐 लक्ष्यत्वम् । प्रयात गतम्[4] । उन्मूलितमोहविद्विषम् उन्मूलित समूलमुद्धृतो मोह एव विद्विट् शत्रुर्येन तम् । कंचिन्मुनिम् एक मुनीशम् । ददर्श पश्यति स्म । दृशृ[5] प्रेक्षणे लिट् । जाति ॥३५॥ प्रभावनायामिति । जिनवर्त्मन जिनमार्गस्य । प्रभावनाया प्रवर्धने[6] । रत तत्परम् । विशुद्धसिद्धान्तपयोधिपारग विशुद्धो निर्मल. सिद्धान्त परमागम स एव पयोधि समुद्र तस्य पारग पारदृश्वानम् । धर्मकथाप्रवर्तने धर्मस्य रत्नत्रयात्मकस्य कथाया. प्रबन्धस्य प्रवर्तने करणे । समुद्यत सप्रयत्नम् । अपरम् अन्यम् । यतिं मुनिम् । धरित्रीपति भूमिपति । ऐक्षत ददर्श । ईक्ष दर्शने लङ् । रूपकम् ॥३६॥ नयेति । उज्ज्वलात्मभि निर्मलस्वरूपैं । नयप्रमाणांशुभि नया नैगमादय प्रमाणे प्रत्यक्षपरोक्षे तान्येवांशव किरणाः तैः । प्रवादिखद्योतचय प्रवादिनो मिथ्यवादिनस्त एव खद्योता ज्योतिरिङ्गणा-स्तेषा चय समूहम् । पराभव तिरस्कारम् । नयन्त प्रापयन्तम् । उद्योतितलोकम् उद्योतित प्रकाशितो लोको येन तम् । कचन एकम् । साधुभास्कर साधुर्मुनि स एव भास्कर. सूर्य , तम् । प्रजापति. जनपति । ऐक्षत अपश्यत् । श्लेषो रूपकञ्च ॥३७॥ त्रिकालेति । त्रिकालमध्यस्थ त्रयाणा भूतभविष्यद्वर्तमानरूपाणा कालाना समयाना मध्यस्थ मध्ये वर्तमानम् । अनन्यगोचरम् अन्येषामज्ञानिनामगोचरमविषयम् । परोक्षवस्तु परोक्ष-

तिक शोभासे युक्त था ॥३४॥ वहाँ अजितसेनने किसी मुनिको आतप योगमे स्थित देखा, जो ध्यानमग्न थे, तपस्यासे कृशकाय थे, जिनके ऊपर सूर्यकी किरणे पड रही थी—जो धूपमे बैठे हुए थे और जिन्होने मोह रूपी शत्रुको मूलसे नष्टकर दिया था—जो निर्मोह थे ॥३५॥ राजा अजितसेनने एक अन्य साधुको जिन मार्गकी प्रभावनामे तत्पर देखा, जो निर्मल आगम रूपी समुद्रके पारगामी थे और धार्मिक चर्चा चलानेके लिए सदा तैयार रहा करते थे ॥३६॥ चक्रवर्ती अजितसेनने किसी साधुको सूर्यकी बराबरी करते देखा—जिस प्रकार सूर्य अपनी उज्ज्वल किरणोसे जुगुनुओको हतप्रभ कर देता है और समस्त लोकको प्रकाशितकर देता है, इसी प्रकार वे मुनिराज नैगम आदि नय और प्रत्यक्ष आदि प्रमाण रूपी उज्ज्वल किरणोसे अन्यवादी रूपी जुगुनुओको परास्त करके सारे ससारको ज्ञानका प्रकाश देकर आलोकित कर रहे थे ॥३७॥ अजितसेनने अन्य साधुको त्रिकालवर्ती, दूसरोंके द्वारा अज्ञात तथा परोक्ष

१. अ क ख ग म प्रयान्त । २ आ दृशिर् । ३ श स्वस्तिकान्तर्गतः पाठो नोपलभ्यते । ४, श 'प्रयात गतम्' इति नास्ति । ५. आ दृशिर् । ६ श प्रवर्धमाने ।

अनेकचेष्टैरिति पर्युपासितं तपस्विवृन्दैरविनिन्द्यवृत्तिभिः ।
नरेश्वरस्तं प्रणिपत्य योगिनामधीश्वरं स्तोतुमिति प्रचक्रमे ॥३९॥
मनस्विभिर्नाथ भवान्भवान्तकृद्विचिन्त्यते यः क्षणमात्मवेदिभिः ।
व्रजन्ति तेऽप्यात्तशुभाः कृतार्थतां कृतार्थ दृष्टे त्वयि का विचारणा ॥४०॥
जगन्महामोहतमःपटावृतं कुदृष्टिसेवापरिवृद्धविभ्रमम् ।
कथं विबुध्येत तवांशुमालिनो न संचरेयुर्यदि वाङ्मरीचयः ॥४१॥

मतीन्द्रिय वस्तु पदार्थम् । अञ्जसा साकल्येन[1] यथास्वरूपेण (यथास्वरूप) वा । उपदिशन्त निरूपयन्तम् । स्वमार्गमाहात्म्यनिदर्शनोद्यत स्वस्य मार्गस्य वर्त्मन[2] माहात्म्यस्य सामर्थ्यस्य[3] निदर्शने प्रकाशने उद्यतमुद्युक्तम् । अन्य पुनरेकम् । तपोधन तप एव धन यस्य तम् । स. नृप चक्रवर्ती । व्यलोकत ऐक्षत । लोकृङ्[4] दर्शने लङ् । रूपकम् ॥३८॥ अनेकेति । इति उक्तप्रकारेण । अनेकचेष्टै.[5] अनेकै· स्वाध्यायादिभिश्चेष्टैर्व्यापारै. । अनिन्द्यवृत्तिभि अनिन्द्या स्तुत्या वृत्तिर्वर्तन येषा तै. । तपस्विवृन्दै तपस्विना मुनीना वृन्दै. समूहै । पर्युपासित पूजितम् । योगिना मुनीनाम् । अधीश्वरम् अधिपतिम् । त गुणप्रभमुनीश्वरम् । प्रणिपत्य प्रणम्य । नरेश्वर नरनाथ. । स्तोतु स्तुति कर्तुम् । इति वक्ष्यमाणप्रकारेण । प्रचक्रमे प्रारभते स्म । क्रमू पादविक्षेपे लिट् । 'प्रोपाभ्या समर्थाभ्याम्' इति तङ् । अतिशय[6] (?) ॥३९॥ मनस्वीति । कृतार्थ कृतो निष्पन्नोऽर्थ प्रयोजन यस्य तत्सबोधन (तत्सबुद्धो) भो निष्पन्नप्रयोजन (कृतकृत्य इति यावत्) । नाथ स्वामिन् । भवान्तकृत् भवस्य ससारस्यान्तोऽवसान त करोतीति तथोक्त· । भवान् पूज्यस्त्वम् । मनस्विभि. सम्यग्ज्ञानिभिः । आत्मवेदिभि. स्वरूपज्ञै । यै पुरुषै । क्षण स्वल्पकालपर्यन्तम् । विचिन्त्यते ध्यायते[7] (ध्याय्यते) इत्यर्थः । भवच्छब्दप्रयोगे प्रथमपुरुषः । तेऽपि पुरुषा[8] । अपि शब्दोऽनिर्धारणार्थः । आत्तशुभा आत्त स्वीकृतं शुभ पुण्य यैस्ते स्वीकृतपुण्या भूत्वा । कृतार्थता निष्पन्नप्रयोजनत्वम् । व्रजन्ति गच्छन्ति । व्रज गतौ लट् । त्वयि भवति । दृष्टे विलोकिते सति । का विचारणा को वा विचारोऽस्ति—इत्यर्थ[9] । तव स्मरणमात्रेण सर्वे कृतपुण्या भवन्ति, त्वद्दर्शनेन तु[10] शुभा[11] भूरिपुण्या भवन्ति—इत्यभिप्राय ॥४०॥ जगदिति । महामोहतम पटावृत महान् मोहोऽज्ञान स एव तमासि तेषा पटो निवह तेनावृत्तमारुद्धम् । कुदृष्टिसेवापरिवृद्धविभ्रम कुदृष्टीना मिथ्यादृष्टीना सेवया आश्रयेण परिवृद्ध प्रवृद्धो विभ्रमो भ्रान्तिर्यस्य तत् । जगत् लोक (क·) । अशुमालिनः सूर्यस्य । तव ते । वाङ्मरीचयः वाच एव

पदार्थोंका वास्तविक उपदेश देते, एव साधु मार्गके महत्त्वको प्रकट करनेमें तत्पर रहते देखा ॥३८॥ इस प्रकारकी प्रशस्त चेष्टाओंसे युक्त और श्लाघ्य वृत्तिवाले मुनि सङ्घसे पूजित उन गुणप्रभ नामके योगिराट्-आचार्यको प्रणाम करके राजा अजितसेनने उनकी स्तुति इस प्रकारसे शुरू की—॥३९॥ हे नाथ, जो आत्मज्ञानी मनस्वी भव परम्पराको नष्ट करनेवाले आपका क्षण-भर भी ध्यान कर लेते हैं, वे भी शुभ परिणामोंको प्राप्त करके कृतकृत्य हो जाते हैं, फिर हे कृतकृत्य ! आपके दर्शन कर लेने पर तो विचार ही क्या करना है ? क्षण-भर ध्यान करनेवाले भी जब कृतकृत्य हो जाते हैं, तो साक्षात् दर्शन करनेवालोंकी कृतकृत्यताका होना तो सुतरा सिद्ध है । इसमें विचार करनेकी क्या आवश्यकता है ? ॥४०॥ जिसके ऊपर महामोहके अन्धकारका पर्दा पडा हुआ है और जिसे मिथ्यादृष्टियोंकी सेवा करनेमें भ्रम बढ गया है, वह जगत्, बोधको कैसे प्राप्त करता, यदि आप सरीखे मुनि-सूर्यकी वाणी रूपी किरणोंका

---

१. श सामर्थ्येन । २. श वर्तनस्य । ३ आ 'सामर्थ्यस्य' इति नास्ति । ४. आ लोकृ । ५.= अनेका नाना चेष्टा व्यापारा येषा तै. । ६. आ 'अतिशय' इति नास्ति । ७ आ ध्ययते । ८ श पुरुषाः । ९. श विचार को वा, विचारणा नास्ति—इत्यर्थ. । १० श 'तु' इति नास्ति । ११. आ 'शुभा' इति नास्ति ।

निराश्रयाणां पततामधोगतावसि त्वमालम्बनमीश देहिनाम् ।
त्वमेव सोपानपथः स्थिराश्रयो[1] विमुक्तिसौधाग्रभुवं यियासताम् ॥४२॥
स्वभावजैः क्षान्तिदयादमादिभिः परिस्फुटत्कुन्दसमानकान्तिभिः ।
प्रकाशितं विश्वममेयतां गतैस्त्वया गुणैश्चन्द्रमसा च रश्मिभिः ॥४३॥
जगत्यमुष्मिन्दिवसाधिपोपम त्वदीयवाग्भासुररश्मिभासिते ।
न मार्गशुद्धिर्हतकैरलम्भि यैर्न तैर्न घूकायितमत्र जन्तुभिः ॥४४॥
विभिन्दतो हार्दमनेकजन्मजं तमस्तवाशेषजगद्गुरोर्नयैः ।
विलोकितं वक्त्रमपूर्वभास्वतो वृथैव तेषां बत जन्म जन्मिनाम् ॥४५॥

वचनान्येव मरीचयः कान्तय । यदि न सचरेयु न व्याप्नुयु । चर गतिभक्षणयोर्लिङ्[2] । कथ केन प्रकारेण । विबुध्येत जानीयात् । बुधि मनि ज्ञाने लिङ्[3] ॥४१॥ निराश्रयाणामिति । ईश भो स्वामिन् । अधोगतौ नरकगतौ । पतता निमज्जताम् । निराश्रयाणा निराधाराणाम् । देहिना जीवानाम् । त्व प्रलम्बनम् [त्वम् आलम्बनम्] आधार. । असि भवसि । अस भुवि लट् । विमुक्तिसौधाग्रभुवं विमुक्तिर्मोक्ष. स एव सौधो मन्दिर तस्याग्रभुवमग्रभूमिम् । यियासता यातुमिच्छताम् । स्थिराश्रय. स्थिराधार । सोपानपथ सोपानस्यारोहणस्य पन्था मार्ग । 'ऋक्पू पथ्यपोऽत्' इति अत्[4]—प्रत्यय । त्वमेव भवानेव । रूपकम् ॥४२॥ स्वभावेति । स्वभावजै निसर्गजै । परिस्फुटत्कुन्दसमानकान्तिभि परिस्फुटतो विकसत कुन्दस्य कुन्दपुष्पस्य समाना सदृशी कान्तिर्द्युतिर्येषा तै. । अमेयता सख्यारहितत्वम् । गतै यातै । क्षान्तिदयादमादिभि क्षान्तिश्च दया च दमश्च तथोक्ता. त एव आदयो (आदौ) येषा तै । गुणै । त्वया भवता । रश्मिभि किरणै । चन्द्रमसा चन्द्रेण च । विश्व सर्वम् । प्रकाशित विभासितम् । तुल्ययोगिता ॥४३॥ जगतीति[5] । दिवसाधिपोपम दिवसाधिपस्य सूर्यस्योपम समान (उपमा साम्य यस्य तत्सबुद्धौ हे दिवसाधिपोपम हे सूर्यसमान) । त्वदीयवाग्भासुररश्मिभासिते त्वदीयाया तव सबन्धाया[6] वाचो वचनस्य भासुरेण प्रकाशनशीलेन रश्मिना भासिते प्रकाशिते (त्वदीयवाग्भिरेव भासुररश्मिभिर्भासिते) । जगति लोके । हतकैः निकृष्टै । यै, मार्गशुद्धिः मार्गस्य रत्नत्रयात्मकस्य शुद्धिर्नैर्मल्यम् । न अलम्भि न लभ (म्य) ते स्म[7] । डुलभिष् प्राप्तौ लुङ् । तै जन्तुभि. प्राणिभि । अत्र अस्मिन् त्वयि । न घूकायित, न घूकवदाचरितम् (इति) न, किन्त्वाचरितमेव । उपमा ॥४४॥ विभिन्दत इति । अनेकजन्मजम् अनेकजन्मजातम् । हार्दं हृदयसभवम् । तम तिमिरम् । विभिन्दत छिन्दतः[8] । अशेषजगद्गुरो अशेषस्य सकलस्य जगतो लोकस्य गुरो श्रेष्ठस्य ।

सञ्चार न हुआ होता तो ॥४१॥ हे ईश ! किसीका आश्रय न मिलनेसे अधोगतिमे गिरनेवाले प्राणियोको तुम ही आश्रय हो और मुक्ति महलके ऊपरी सिरे तक पहुँचनेकी अभिलाषा करनेवालोको तुम ही मजबूत सोपानमार्ग-सीढी हो ॥४२॥ मुनिवर ! आपने अपने स्वाभाविक, विकसित होनेवाले कुन्दपुष्पके समान निर्मल, तथा अगणित क्षमा, दया और दम आदि गुणोंसे पूरे विश्वको प्रकाशित किया है और चन्द्रमाने अपनी स्वाभाविक, विकसित होनेवाले कुन्द पुष्पके समान शुभ्र एव अगणित किरणोसे समूचे विश्वको प्रकाशित किया है ॥४३॥ हे मुनीन्द्र ! आप सूर्यके समान हैं। आपने अपनी वाणी रूपी देदीप्यमान किरणोंसे इस जगत्को प्रकाशित कर दिया है, किन्तु फिर भी जिन अभागे प्राणियोने-रत्नत्रय रूप मार्गकी निर्मलता नही प्राप्तकी, उन्होने उल्लूका-सा आचरण नही किया, यह बात नही है ॥४४॥ हे आचार्यवर्य ! जीवोंके हृदयमे भरे हुए अनेक जन्मोंके पाप या अज्ञानके अन्धकारको नष्ट करनेवाले,

१ अ म स्थिरश्रियो°, क ख ग स्थिरा श्रियो° । २ श लेट् । ३ श लेट् । ४ श अ-प्रत्यय । ५ आ जगदिति । ६ = तव सबन्धिन्या । ७ = नालभि । ८. आ भिन्दत ।

अपायमुक्तां पदवीं परे न यां चिरादपि प्रापयितुं परिक्षमाः ।
त्वदाश्रयस्तामचिरेण लम्भयन्करोति नश्चेतसि नाथ विस्मयम् ॥४६॥
कषायनाम्नां विजयेन वैरिणामनश्वरश्रीप्रतिबन्धकारिणाम् ।
तवेश यः प्रादुरभून्महोदयो भवादृशामेव गिरां स गोचरः ॥४७॥
स्तुतिं विधायेति मुनेर्मनोहरां पुरो निषण्णे विनयेन भूपतौ ।
सविग्रहप्रश्रयपुञ्जशङ्किनां निपेतुरक्षीणि समं तपोभृताम् ॥४८॥
प्रवृत्तसभाषणयोर्मिथस्तयोरुदंशुदन्तद्युतिदीपिताशयोः ।
धृतैकचन्द्रद्युजिगीषया स्वयं मही तदा द्वीन्दुरिव व्यजायत ॥४९॥

अपूर्वभास्वत. अपूर्वस्य नूतनस्य भास्वत. सूर्यस्य । तव ते । वक्त्र मुखम् । यै न विलोकित न निरीक्षितम् । तेषा जन्मिना जीवानाम् । जन्म जीवनम् । वृथैव निष्फलमेव । वत हन्त । उपमा (व्यतिरेक:) ॥४५॥ अपायेति । अथ अनन्तरम् । परे अन्ये । अपायमुक्ताम् अपायेन बाधया मुक्ता रहिताम्[1] । या पदवीं स्थानम्[2] । चिरादपि बहुकालादपि । प्रापयितु[3] यापयितुम् । परिक्षमा. समर्था । न-न भवन्ति । त्वदाश्रय.[4] त्वदाश्रययुक्त । ता पदवीम् । अचिरेण शीघ्रम् । लम्भयन्[5] प्राप्नुवन् । न अस्माकम् । चेतसि चित्ते । विस्मयम् आश्चर्यम् । करोति विदधाति । डुकृञ् करणे लट् ॥४६॥ कषायेति । ईश भो नाथ । कषायनाम्ना कषाय इति नाम येषा तेषाम् । अनश्वरश्रीप्रतिबन्धकारिणाम् अनश्वरश्रियो मोक्षसम्पद प्रतिबन्ध[6] प्रतिकूल कुर्वन्तीति प्रतिबन्धकारिण , तेषाम् । वैरिणा शत्रूणाम् । विजयेन जयेन । तव ते । य महोदय अभ्युदय । प्रादुरभूत् प्रकटोऽभवत् । भू सत्ताया लुङ् । स , भवादृशामेव भवानिव प्रदृश्यन्ते ते भवादृश , तेषामेव, त्वादृशामेव—इत्यर्थ. । 'त्यदादि—' इत्यादिना भवच्छब्दाद् दृशे क्विन्[7] । 'आद्यद्—' इत्यादिना दीर्घ । गिरा वाचाम् । गोचर' विषयो भवति । अतिशय. ॥४७॥ स्तुतिमिति । इति उक्तप्रकारेण । मुने गुणप्रभ-मुने । मनोहरा मनोहररूपाम् । स्तुति स्तोत्रम् । विधाय विरचय्य । विनयेन ज्ञानादिविनयेन । पुर अग्रे । निषण्णे उपविष्टे । भूपतौ क्षितिपतौ । सविग्रहप्रश्रयपुञ्जशङ्किना विग्रहेण देहेन सह विद्यमानाना प्रश्रयाणा[8] विनयाना पुञ्ज इति राशिरिति शङ्किना शङ्कायुक्तानाम् । तपोभृता यतीनाम् । अक्षीणि नयने । सम युगपत् । निपेतु.[9] विक्षिपतु । पत्लृ गतौ लिट् । सहोक्ति ॥४८॥ प्रवृत्तेति । उदशुदन्तद्युतिदीपिताशयो

सारे संसारको धर्मोपदेश देनेवाले और इसीलिए अपूर्व सूर्यके रूपमे प्रकट होनेवाले आपके मुखका जिन्होने दर्शन नही किया, उन जीवोका जन्म व्यर्थ ही है । यह बडे ही खेदकी बात है ! ॥४५॥ हे नाथ ! सारी बाधाओसे रहित एव नित्य जिस मुक्तिपदवीको अन्य लोग चिरकालमे भी प्राप्त नही करा सकते, उसीको तुम्हारा आश्रय शीघ्र ही प्राप्त करवाकर हमारे मनमे आश्चर्य उत्पन्न कर रहा है ॥४६॥ मुक्ति लक्ष्मीकी प्राप्तिमे बाधा डालनेवाले क्रोध, मान, माया और लोभ नामक शत्रुओको जीत लेनेसे हे नाथ ! जो आपका महान् अभ्युदय प्रकट हुआ है, वह आप सरीखे महामुनियोकी वाणीका विषय है—आप सरीखे विशिष्ट ज्ञानी मुनि ही उसका वर्णन कर सकते हैं ॥४७॥ इस तरह गुणप्रभ मुनिकी स्तुति—जो सबके मनको हरनेवाली थी—करके राजा अजितसेन उनके आगे विनय पूर्वक बैठ गया । उसे मूर्तिमान् विनय या विनयकी मूर्तिके रूपमे देखनेवाले मुनियोकी दृष्टि एक ही साथ आकृष्ट हुई—सभी मुनि उसे एक ही साथ देखने लगे ॥४८॥ मुनिराज गुणप्रभ और राजा अजितसेनका

१. = निरपाया, नित्यामिति यावत् । २ = मुक्तिम् । ३ = लम्भयितुम् । ४. = त्वदालम्बनम् । ५. = प्रापयन् । ६ = प्रातिकूल्यम् । ७ आ. क्विप् । ८. श °यानाम् । ९. = पतितानि ।

महीभुजस्तस्य सतां प्रणायकः स धर्मवृद्धिं परिपुष्य पावनीम् ।
विलोकिताशेषमुखेन्दुरस्पृहो गुणानुरागाद् गिरमित्युपाददे ॥५०॥
निमित्तभावेन मदस्य भूयसो निसर्गतः पार्थिवता व्यवस्थिता ।
महानुभावे पुनरत्र सान्यथा प्रवर्तते पश्यत पश्यताद्भुतम् ॥५१॥
नयेन नृणां विभवेन नाकिनां गतस्पृहाणां विनयेन योगिनाम् ।
महीभुजामेष निजेन तेजसा तनोति चित्ते सततं चमत्कृतिम् ॥५२॥

रदनानाम् उद्गता बहिः (ऊर्ध्वं) गता प्रसारं किरणा येषां तथा रदनानां दन्तानां शुभ्रया कान्त्या दीधित्या[१] प्रकाशिता आशा दिशा ययो. तयो.। तयो. मुनिपतिभूपत्यो.। मिथः परस्परम्। प्रवृत्तसमालापनयो प्रवृत्तं[२] कृतं समालापनं ययो तयो गतो[३]। पूर्णैकचन्द्रद्युजिगीषया पूर्णः सम्पूर्ण एकश्चन्द्रो यस्या (यथा) सा द्यौरिव, पूर्णैकचन्द्रा द्यौः आकाशं तस्या जिगीषया जेतुमिच्छया, एकचन्द्रोपेताकाशं जेतुमिच्छया—इत्यर्थः। जि[४] अभिभवे अस्य सन्-प्रत्यये 'अ निद् गति' इति स्त्रियां। पृथ्वी[५] पृथ्व्या कृतवती कारयितुमिव.। मही भूमिः। तदा तस्मिन् समये। द्वीन्दुरिव चन्द्रद्वयसहितेव। व्यधायत समभवत्। जनी[६] प्रादुर्भावे लङ्। इवार्थोऽत्र ॥४९॥ महीभुज इति। सतां सत्पुरुषाणाम्। प्रणायकः प्रभुः। विलोकिताशेषमुखेन्दुः विलोकिता यालिता अशेषाणां सर्वेषां मुखानि चन्द्रा इवेव चन्द्रा येन सः। अस्पृहः वाञ्छारहितः। सः गुणप्रभमुनीशः। तस्य महीभुजः अजितसेनचक्रिणः। पावनीं पवित्राम्। धर्मवृद्धिं धर्मवृद्धिरस्तु—इत्याशिषम्। [परिपुष्य] संपुष्य निष्पाद्य। गुणानुरागात् गुणप्रीत्या। इति वक्ष्यमाणप्रकारेण। गिरं वाचम्। उपाददे उवाच। डुदाञ् दाने लिट्। कर्तरि ॥५०॥ निमित्तेति। निसर्गतः स्वभावतः। भूयसः बहुलस्य। मदस्य गर्वस्य। निमित्तभावेन कारणस्वरूपेण। पार्थिवता भूमिपतित्वम्। व्यवस्थिता[७] विशिष्टा। अत्र चक्रेश्वरे। महानुभावे[८] महासामर्थ्येन युक्ते। त्वयि, पुनः पश्चात्। सा पार्थिवता। अन्यथा मदनिमित्ताभावेन[९]। प्रवर्तते विवर्तते। वृतु[१०] वर्तने लट्। (इति) अद्भुतम् आश्चर्यम्। पश्यत पश्यत वीक्षध्वं वीक्षध्वम्[११]। 'वीप्सायाम्' इति[१२] द्विः ॥५१॥ नयेति। एष अजितसेनचक्री। नृणां मनुष्याणाम्। चित्ते मनसि। नयेन नयगुणेन। नाकिनां देवानाम्। विभवेन ऐश्वर्येण। गतस्पृहाणां वाञ्छारहितानाम्। योगिनां मुनीनाम्। विनयेन विनयगुणेन। महीभुजां भूमिपतीनाम्।

आपसमे वार्तालाप होने लगा। इस अवसरपर दोनोंके दांतोकी शुभ्र कान्तिसे सारी दिशाएँ प्रकाशित हो उठी, जिससे ऐसा प्रतीत होने लगा, मानो केवल एक ही चन्द्रमाको धारण करनेवाले आकाशको जीतनेकी इच्छासे पृथ्वीने उस समय दो चन्द्रमा धारण कर लिये हों ॥४९॥ गुणप्रभ समस्त मुनियोंके नायक थे। वे निस्पृह थे। उन्होंने सभीके चेहरोंकी ओर दृष्टिपात किया, और राजा अजितसेनको 'धर्मवृद्धिरस्तु'—'धर्मकी वृद्धि हो' कहकर आशीर्वाद दिया। फिर उसके गुणोंके प्रति अनुराग होनेसे उन्होने ये वचन कहे—॥५०॥ राजा होना स्वभावसे ही बहुत भारी मदका कारण है, यह बात बहुत पहलेसे ही निश्चित है। फिर भी इस प्रभावशाली चक्रवर्तीमे यह मदवाली बात बिलकुल विपरीत है—चक्रवर्ती होनेपर भी इसे (अजितसेनको) तनिक भी अहङ्कार नही है। देखो, देखो, यह कितने आश्चर्यकी बात है। ॥५१॥ यह अपनी नीतिसे मनुष्योंके, विभूतिसे देवोंके, विनयसे निस्पृह योगियोंके और प्रतापसे राजाओंके चित्तमे निरन्तर चमत्कार उत्पन्न कर रहा है—इसकी नीति, विभूति, विनय और प्रतापको देखकर क्या मनुष्य, क्या देव, क्या योगी और क्या राजे-महराजे सभीको आश्चर्य

१ आ द्युतिना कान्तिना (?)। २ = याम्याम। ३ = प्रारब्धम्। ४. श जि चि। ५ आ जनी। ६ श लिङ्। ७ = निश्चिता। ८ = महाप्रभावे। ९ श 'मद' इति नास्ति। १० आ वृतु वर्तने लट्। ११ आ 'वीक्षध्वम्' इति नास्ति। १२. आ 'इति' नोपलभ्यते।

तुलाव्यतीतो[1] विनयः क्व चेदृशः क्व सार्वभौमी प्रभुतेयमीदृशी ।
निषेव्यते सर्वगुणो गुणैरयं परस्परप्रीतिमुपागतैरिव ॥५३॥
न तादृशी स्वे विभवे न बान्धवे न चापि संसारसुखे मनोहरे ।
यथास्य चिन्ता परलोकसाधने हितानुबन्ध्याचरितं महात्मनाम् ॥५४॥
वदन्तमेवं तमुवाच भूपतिः समासतः प्रश्रयनम्रमस्तकः ।
यियासतस्तावकमेव धाम मे त्वदागमः पूर्वकृतैः कृतः शुभैः ॥५५॥
पदातिसार्था[2] विभवाश्च बान्धवा भवन्ति पाते शरणं न दुर्गतौ ।
समाकलय्येति मम प्रवर्तते त्वदीयसेवास्पृहमेव मानसम् ॥५६॥

निजेन स्वकीयेन । तेजसा प्रभावेण । सततम् अनवरतम् । चमत्कृतिम् आश्चर्यम् । तनोति करोति । तनूञ्[3] विस्तारे लट् । चित्ते—इति प्रत्येकमभिसबध्यते । दीपक (कम्) ।।५२।। तुलामिति[4] । तुलाव्यतीतः तुलया उपमया व्यतीतोऽतीत । ईदृश एतादृश । 'त्यदादि—' इत्यादिना क्वि । विनय विनयगुण । क्व च कुत्र च । सार्वभौमी सार्वभौमस्य चक्रिण सबन्धिनी, तथोक्ता । 'पृथिवी सर्वभूमिभ्यामञ' इति अञ्-प्रत्यय । इयम् एषा । ईदृशी एतादृशी । प्रभुता विभुत्वम् । क्व कुत्र । सर्वगुण निखलगुणवान् । अयम् एष । गुणै विनयादिगुणै । परस्परप्रीतिम् अन्योन्यप्रीतिम् । उपागतैरिव आयातैरिव । निषेव्यते आराध्यते । षेवृञ्[5] सेवने कर्मणि लट् । उत्प्रेक्षा ।।५३।। नेति । अस्य चक्रिण । परलोकसाधने परलोकस्य उत्तरगते साधने । यथा चिन्ता बुद्धि । तादृशी तादृग्रूपा । स्वे स्वकीये । विभवे सपदि । न-न भवति । बान्धवे बन्धुजनेऽपि, न । मनोहरे मनोहररूपे । ससारसुखे सासारिकसुखेऽपि च, न । न—इति प्रत्येकमभिसबध्यते । दीपकः (कम्) । महात्मना महापुरुषाणाम् । आचरितम् आचरणम् । हितानुबन्धि हितानुसारि हि । अर्थान्तरन्यासः ।।५४।। वदन्तमिति । एवम् उक्तप्रकारेण । वदन्त ब्रुवन्तम् । त मुनिपतिम् । प्रश्रयनम्रमस्तक प्रश्रयेण विनयेन नम्रो नमनशीलो मस्तको यस्य स । भूपति चक्रवर्ती । समासत सक्षेपात् । उवाच ब्रवीति स्म । ब्रूञ् व्यक्तायां वाचि लिट् । तावक त्वदीयम् । 'युष्मदस्मदोऽञ् खञो—' इत्यादिना अञ्, तद्योगे तवकादेश । धामैव स्थानमेव । यियासत गन्तुमिच्छो । मे मम । त्वदागम तवागमनम् । पूर्वकृतै प्राग्जन्मकृतै । शुभै पुण्यै । कृत । अनुमिति ।।५५।। पदातीति । दुर्गतौ नरकादिदुर्गतौ । पाते पतने । पदातिसार्था पदातीना भटाना सार्था समूहा । विभवाश्च सम्पदश्च । बान्धवाश्च

हो रहा है ।।५२।। कहाँ ऐसी अनुपम नम्रता और कहाँ सारे भूमण्डलकी ऐसी प्रभुता—ऐसी नम्रता और ऐसी प्रभुता किसी एक व्यक्तिमे नही हो सकती, केवल यही एक ऐसा व्यक्ति है, जिसमे परस्पर विरोधी ये दोनो गुण—नम्रता और प्रभुता दृष्टि-गोचर हो रहे हैं । इन गुणोकी तरह इसमे और भी सभी गुण हैं, जिनको देखनेसे ऐसा प्रतीत होता है मानो सभी गुणोमे एक दूसरेके प्रति प्रीति उत्पन्न हो जानेसे वे मिलकर इसकी सेवा करने लगे हो । ।।५३।। अजितसेनको परलोक साधनेकी जैसी चिन्ता रहा करती थी, वैसी अपने वैभव, बन्धु-बान्धव और मनोहर सासारिक सुखकी नही रहती थी । ठीक है, महात्माओका आचरण हितका अनुसरण करनेवाला होता है ।।५४।। इस प्रकार कहते हुए गुणप्रभसे राजा अजितसेन विनयसे सिर नवा कर सक्षेपमे यो बोला—मैं आपहीके स्थानमे—जहाँ इससे पहले आप थे—आना चाहता था, किन्तु मेरे पूर्वजन्मके शुभकर्मके उदयसे आप स्वय यहीपर पधार गये हैं।।५५।। नरक आदि खोटी गतियोमे गिरते समय सैनिक, वैभव और वन्धु-बान्धव रक्षा नही कर सकते, यह सोच करके

---

१. क ख ग घ म तुलाव्यतो° । २ अ क ख ग घ म पदातिपूर्वा । ३. आ तनु । ४. आ श तुलेति । ५ आ षेवृ, श षोवृञ ।

प्रसीद नस्तत्त्वदात्मदीक्षया यतः प्रसादो भवतः कियानपि ।
शुभं तनोत्याशु निहन्ति चाशुभं करोति किं वा न सतामनुग्रहः ॥५७॥
निवेदितान्तःकरणस्य भूभुजः परीक्षितुं साहसिकस्य साहसम् ।
तदीयवाञ्छाविनिवर्तनोचितं पतिर्मुनीनां पुनरित्यवोचत ॥५८॥
तपो वपुर्भिः कठिनैः सुदुष्करं यदर्जितं साधुजनेन मादृशा ।
कथं सहेरन्सुकुमारमूर्तयो भवादृशाः कुङ्कुमलेपलालिताः ॥५९॥
दयावतो धर्मधनस्य धीमतामनिन्द्यवृत्तस्य परार्थसंपदः ।
चरित्रमेतद् गृहमेधिनोऽपि ते तपोनुनामात्त्वणान्न भिद्यते ॥६०॥

जन्मवत्स्य । शरणं रक्षकम् । न भवति न यति । नु सम्प्रति अद्य । इति एवम् । ममाकस्य विनाशं । मम मे । मानसं चित्तम् । त्वदीयदीक्षावाञ्छयैव (तवाप्य दीक्षां स्वीकर्तुमिच्छयैव (मदीया वाञ्छा यस्य तत्, मदीयदीक्षाभिलाषि—इत्यर्थः)। लालसं विद्य ॥५६॥ प्रसीदेति । अतः अस्मात् कारणात् । वरद भो दयाधर । त्वदात्मदीक्षया[2] अस्माकमात्मनो (आत्मदीक्षया स्वदीक्षया, साधुदीक्षया—इत्यर्थः)। नः अस्माकम् । प्रसीद प्रसन्नो भव । यतः, भवतः तव । प्रसादः कारुण्यम्[3] । कियानपि स्वल्पोऽपि । 'यत्तदेतद् किम्' इति वतुप्-प्रत्यय । 'किमिदम्भ्यां वो घः' इति किम् आदेशः[4] । आशु शीघ्रम् । शुभं पुण्यम् । तनोति करोति । तनु[5] विस्तारे लट् । अशुभं पापम् । हन्ति निहन्ति । हन् हिंसागत्योः लट् । सतां सत्पुरुषाणाम् । अनुग्रह कारुण्यम् । किं वा किमिदम् । न करोति न विदधाति । अर्थान्तरन्यासः ॥५७॥ निवेदितेति । निवेदितान्तःकरणस्य निवेदितं विज्ञापितमन्तःकरणं यस्य[6] तस्य । साहसिकस्य सधैर्यस्य । भूभुजः भूमिपतेः । साहसं सामर्थ्यम् । परीक्षितुं परीक्षणाय । मुनीनां योगिनाम् । पतिः स्वामी । तदीयवाञ्छाविनिवर्तनोचितं तदीयाया भूपसम्बन्धिन्या वाञ्छाया दीक्षास्वीकाराभिलाषस्य[7] निवर्तने निराकरणे उचितं योग्यम् । वचनम्[8] । पुनः पश्चात् । इति वक्ष्यमाणप्रकारेण । अवोचत् अब्रवीत् । ब्रूञ् व्यक्तायां वाचि लुङ् । 'अस्ति ब्रुवो र्भूवचौ' इति वच-आदेशः ॥५८॥ तप इति । यत्, कठिनैः कर्कशैः । वपुर्भिः शरीरैः । सुदुष्करं कर्तुमशक्यम् । तपः बाह्याभ्यन्तररूपम् । मादृशा मम सदृशेन । साधुजनेन साधुरेव जनस्तेन मुनिजनेन । अर्जितं कृतम् । सुकुमारमूर्तयः सुकुमारा कोमला मूर्तिः शरीरं येषां ते, मृदुशरीरा इत्यर्थः । कुङ्कुमलेपलालिताः कुङ्कुमस्य काश्मीरजस्य लेपेन विलेपनेन लालिता विराजिताः । भवादृशाः त्वादृशाः । 'त्यदादि—' इत्यादिना क्विप्-प्रत्ययः । कथं केन प्रकारेण । सहेरन् सहन्ताम्[9] । षहि मर्षणे लिङ् । विषमालङ्कारः ॥५९॥ दयेति । दयावतः कारुण्यवतः । धर्मधनस्य धर्म एव धनं यस्य तस्य । धीमतां बुद्धिमद्भिः । अनिन्द्यवृत्तस्य सत्पुरुषाचरितस्य ।

मेरा मन अब केवल आपकी सेवाके लिए ही लालायित है॥५६॥ इसलिए हे मनोरथको पूरा करनेवाले मुनिराज मुझपर प्रसन्न होइये, और मुझे जिनदीक्षा प्रदान कीजिए, क्योंकि आपका थोड़ा-सा भी प्रसाद कल्याणको बढ़ानेवाला और अकल्याणको नष्ट करनेवाला है। सन्त पुरुषोंका अनुग्रह क्या नहीं कर देता है ? ॥५७॥ इस तरह अपने मनोभावको व्यक्त करनेवाले साहसी राजा अजितसेनके साहसकी परीक्षा करनेके उद्देश्यसे मुनिराज गुणप्रभ उसकी इच्छाको बदलने-के लिए उचित रीतिसे पुन यों कहने लगे—॥५८॥ राजन् ! मुझ सरीखे साधुवर्गने कठोर शरीरसे जिस घोर और कठिन तपका अर्जन किया है, उसे तुम सरीखे सुकुमार एवं काश्मीरी केशरका शृङ्गार करनेवाले लोग कैसे सहन कर सकते हैं ? ॥५९॥ राजन् ! तुम दयालु हो,

१. क ख ग घ म मदर्पित । २. एष टीकाकृदभिमत पाठ प्रतिषु तु 'आत्मदीक्षया' इत्येव पाठो दृश्यते । ३ श प्रसादतः कारुण्यात् । ४ आ किरादेश , श केरादेश. । ५ आ तनु । ६ =येन । ७. श दीक्षास्वित्यभि° । ८. = इतिशेष । ९ श 'सह्यासु.' इति नास्ति ।

बहुप्रकारा यदि न स्युरङ्गिनामनिष्टयोगादिकृता दुराधयः ।
जिनेन्द्रचन्द्राचरित सुदुःसहं सहेत कः सत्यमिदं महाव्रतम् ॥६४॥
विचित्रदुःखा भवमृत्युसंततिः प्रलीयते चेद् गृहमेधिनामपि ।
भवादृशामेकविवेकचक्षुषां[1] भवेद्वृथा तर्हि तपःपरिश्रम. ॥६५॥
इति ब्रुवन्तं तमुदारचेष्टित जिनेन्द्रदीक्षानिहितैकमानसम् ।
विनिश्चितैकान्ततदीयनिश्चयो विशामधीशं मुनिरन्वमन्यत ॥६६॥
ततः स तेनानुमतो महीपतिर्वितीर्य राज्यं जितशत्रुसूनवे ।
तपोऽग्रहीत्संयमभारभूषणं विमुक्तये मुक्तपरिग्रहग्रह ॥६७॥

बह्विति । अङ्गिना जीवानाम् । अनिष्टयोगादिकृता अनिष्टस्याहितकण्टकादेर्योगादिना सबन्धादिना, आदिशब्देन वियोगादिर्गृह्यते, कृता विहिता । बहुप्रकारा नानाप्रकारा । दुराधयः दुष्टपीडा । यदि न स्यु न भवेयु । जिनेन्द्रचन्द्राचरित जिनेन्द्रचन्द्रेणाचरित प्रवृत्तम् । सुदुस्सह सोढुमशक्यम् । सत्य सत्यरूपम् । इदम् एतत् । महाव्रत[2] पञ्चमहाव्रतादिकम्[3] । क. को वा । सहेत क्षमेत, न कोऽपि—इत्यर्थ । ससारे सुख वर्तते चेत्, जिनेन्द्रपादाचरित कृच्छ्रं तपश्चरणं मुनय किंनिमित्तमाचरन्ति—इत्यर्थ. । अनुमिति । ६४॥ विचित्रेति । विचित्रदु खा विचित्र दु ख यस्या सा । भवमृत्युसन्तति भवाना जननाना मृत्यूना मरणाना सन्तति[4] समूह । गृहमेधिनामपि गृहस्थानामपि । प्रलीयते चेत् विनश्यति चेत् । लीङ् श्लेषणे लट्[5] । तर्हि, एकविवेकचक्षुषाम् एको मुख्यो विवेक एव चक्षु येषा तेषाम् । भवादृशा युष्मादृशाम् । तप.परिश्रम तपस तपश्चर्याया परिश्रम प्रयास । वृथा निष्फल । भवेत् स्यात् । भू सत्ताया लिङ्[6] ॥६५॥ इतीति । विनिश्चितैकान्ततदीयनिश्चय विनिश्चितो निर्णीत एकान्तो[7] दृढस्तदीयस्तस्य सबन्धी निश्चयो निर्णयो येन स । मुनिः यति.[8] । इति उक्तप्रकारेण । ब्रुवन्त भाषमाणम् । उदारचेष्टितम् उदार महच्चेष्टित व्यापारो यस्य तम् । जिनेन्द्रदीक्षानिहितैकमानस जिनेन्द्रस्य जिनेश्वरस्य दीक्षाया तप.स्वीकारे निहित स्थापितमेक मुख्य मानस चित्त यस्य[9] तम् । विशा महताम् । अधीश प्रभुम् । अन्वमन्यत अनुमन्यते स्म । मनि[10] ज्ञाने लङ् । अनुमिति ॥६६॥ तत इति । तत पश्चात् । तेन मुनीन्द्रेण । अनुमत. समत । स महीपतिः भूमिपति ं जितशत्रुसूनवे[11] जितशत्रुरिति सूनवे पुत्राय । राज्य भूपतित्वम् । वितीर्य दत्वा मुक्तपरिग्रहग्रह. मुक्तस्त्यक्त परिग्रह एव ग्रहो येन स । सयमभारभूषण सयमस्येन्द्रियनिग्रहस्य भार एवातिशय एव भूषणमलकारो यस्य

मरणके घोर दु खोको छोडकर और कुछ नही है ॥६३॥ यदि जीवोको इष्ट वियोग और अनिष्ट सयोग आदिके निमित्तसे होनेवाली नाना प्रकारकी बुरी-बुरी मानसिक व्यथाएँ न होती तो जिनेन्द्र भगवान्ने जिसका स्वय प्रयोग किया है, उस दुर्धर और सत्य महाव्रतको कौन पालता ? ससार सुखमय होता तो सचमुच ही कोई महाव्रत पालन करनेका कष्ट न उठाता ॥६४॥ विचित्र दु ख देनेवाली जन्म और मरणकी परम्परा यदि गृहस्थोको भी नष्ट हो जाय तो आप सरीखे परम विवेकियोके तपश्चरणका परिश्रम व्यर्थ ही चला जाय ॥६५॥ अजितसेनकी चेष्टाओमे उदारताका पुट रहता था और उसका मन केवल जिनदीक्षाकी ओर ही लगा हुआ था । उसके मुँहसे उक्त बातें सुनकर मुनिराजने उसके दृढ निश्चयको निश्चित रूपमे जान लिया । इसके पश्चात् गुणप्रभने उसे जिनदीक्षाकी अनुमति दे दी ॥६६॥ इसके पश्चात् अजितसेनने मुनिराज गुणप्रभसे जिनदीक्षाको स्वीकृति पाते ही अपने जितशत्रु नामके

१ क ख ग घ म °दृशामेव विवे° । २ आ 'महाव्रत' इति नास्ति । ३ श °व्रताधिकम् । ४ =परम्परा । ५ आ श लिङ् । ६ आ 'लट्' इति नास्ति । ७ श लेट् । ८. श यतो । ९ =येन । १०. आ मनु । ११ = जितशत्रुसज्ञकाय सुताय ।

तपश्चरन्घोरमघोरमानसः स्थिरैकपर्यङ्कृतस्थितिर्बहिः ।
निनाय निस्त्रिंशहिमानिलाहतो निशा धृतिप्रावरणः स हैमनीः ॥६८॥
विभीषणोल्काशतपातदुःसहे घनागमे घोरघनान्धकारिणि ।
स वारिधारा मुसलाकृतीः कृती क्षपासु सेहे तरुमूलमास्थितः ॥६९॥
तपेऽभिसूर्यं प्रतिमाव्यवस्थित[1] स तप्तसूचीसदृशै रवेः करैः ।
न तुद्यमानोऽपि चचाल योगतः स्थिरा हि सन्तः करणीयवस्तुनि ॥७०॥
मनो दधद्द्वादशसु प्रतिक्षणं स भावनासु ध्रुवमध्रुवादिषु ।
क्षुदादिभिः क्षुण्णमदो[2] न बाधितुं परीषहैर्जातुचिदप्यशक्यत ॥७१॥

तत् । तप तपश्चरणम् । विमुक्तये मोक्षाय । अग्रहीत् गृह्णाति स्म । ग्रही[3] उपादाने लुङ् । रूपकम् ॥६७॥ तप इति । घोर भयकरम् । तप तपश्चरणम् । चरन् आचरन् । अघोरमानस अघोर सप्तभयरहित मानस मनो यस्य स । बहि बाह्यप्रदेशे । स्थिरैकपर्यङ्कृतस्थिति. स्थिरेण दृढेन एकेन पर्यङ्केन पर्यङ्कासनेन कृता विहिता स्थिति[4] स्थान यस्य[5] सः । निस्त्रिंशहिमानिलाहतः निस्त्रिंशेन तीक्ष्णेन हिमेन शीतलेनानिलेन वायुनाहतः पीडित । धृतिप्रावरण धृतिर्धैर्यं सैव प्रावरण वस्त्र यस्य स । स चक्री । हैमनी हेमन्तर्तो सर्बान्धिनी । हेमन्तशब्दाद् अणि, 'लुक्तोऽणि' इति तलोपे सति हैमन इति भवति, तस्मात् 'टिड्ढण्— इत्यादिना ङी', हैमनी इति भवति । निशा रात्रीः निनाय नयतिस्म । णीञ् प्रापणे लिट् ॥६८॥ विभीषणेति । विभीषणोल्काशतपातदुस्सहे विभीषणाना[7] भयकराणामुल्कानामशनीना शतस्यानेकस्य पातेन पतनेन दु सहे सोढुमशक्ये । घोरघनान्धकारिणि घोरेण भयकरेण घनेन निरन्तरेण अन्धकारेण युक्ते । घनागमे वर्षाकाले । कृती पुण्यवान् । तरुमूल वृक्षमूले । आस्थित[8] । 'शीङ् स्थासो[9]' इत्यादिना आधारे द्वितीया । स. चक्री । क्षपासु निशासु । मुसलाकृतो मुसलाकारा । वारिधाराः जलधारा । सेहे सहते स्म । षहि[10] मर्षणे लिट् । जाति ॥६९॥ तप इति । तपे ग्रीष्मकाले । अभिसूर्यं सूर्याभिमुखम् । प्रतिमाव्यवस्थितः प्रतिमया प्रतिमायोगेन व्यवस्थित आस्थितः[11] । स अजितसेनमुनि । तप्तसूचीसदृशै तप्ताया संतप्ताया सूच्याः सदृशै समानै । करै किरणै । तुद्यमानोऽपि पीड्यमानोऽपि । योगत. योगात् । न चचाल न चलति स्म । चल कम्पने लिट् । सन्त सत्पुरुषा । करणीयवस्तुनि करणीये कर्तुं योग्ये वस्तुनि प्रयोगे । स्थिरा हि निश्चला हि । अर्थान्तरन्यास. ।७० । मन इति । अध्रुवादिषु अनित्यादिषु । द्वादशसु द्वादशविधेषु

पुत्रको राज्य सौप दिया, समस्त परिग्रहका परित्याग कर दिया और फिर सयमके प्रकर्षसे सुशोभित होनेवाले तपको ग्रहण किया ॥६७॥ चक्रवर्ती अजितसेनने जिनदीक्षा लेकर घोर तप तपना शुरू कर दिया। उनके मनमे सात भयोमे-से कोई एक भी नही था। वे नगरके बाहर खुले मैदानमे स्थिरतासे पर्यङ्कासन लगाकर बैठे हुए थे। उन्होने धैर्यका ओढना ओढकर तेज बर्फीली वायुके आघातको सहते हुए हेमन्तकी रातें बितायी ॥६८॥ भयङ्कर सैकडो उल्कापातोसे असह्य और घोर अन्धकारसे घिरे हुए वर्षाकालमे वे पुण्यवान् चक्रवर्ती मुनि वृक्षके नीचे बैठकर मूसलाधार वर्षा सहते थे ॥६९॥ वे अजितसेन मुनि ग्रीष्मऋतुमे सूर्यके सामने प्रतिमायोग लगाकर खडे हो जाया करते थे। गरमकी गई सुइयोके समान प्रतीत होनेवाली सूर्यकी किरणोसे पीडित किये जानेपर भी वे योगसे विचलित नही होते थे। सन्त पुरुष निश्चय ही अपने कर्तव्य-मार्गसे कभी डिगते नही ॥७०॥ मुनि अजितसेन अपने मनको

---

१ अ आ इ °सूर्यं प्रतिमा, क ख ग घ म °सूर्यं प्रतिम व्य° । २ आ इ क्षुण्णमयो°, क ख ग घ क्षुन्नमना° । ३. आ ग्रह । ४. = अवस्थान । ५ = येन । ६. आ ङीपि । ७ श 'विभीषणाना' इति नास्ति । ८ आ आश्रित । ९. आ 'अधिशीङ्स्थासा कर्म' अष्टाध्यायी १।४।४६ । १०. आ षह । ११. आ आसितः ।

इत्थं विधाय विविधं स तपस्तपश्रीव्यालिङ्गितः परिणतोज्ज्वलधर्मलेश्यः।
ध्यायन्गुरून्गुणगुरून् हृदयेन पञ्च प्राणान्समाधिमरणेन मुनिर्मुमोच ॥७२॥
प्राप्याच्युत सपदि कल्पमथाच्युतेन्द्रो भूत्वाप्सरोजनमनोनयनाभिरामः।
सम्यक्त्वरत्नरुचिरोऽनुभवन्स तस्थौ दिव्यं सुखं द्व्यधिकविंशतिसागरायुः ॥७३॥
च्युत्वा ततो विगलितायुरसाविहाभूस्त्वं रत्नसंचयपुरे नृप पद्मनाभः।
पुत्रो जगद्विजयिनः कनकप्रभस्य माता च ते जनमनोज्ञ सुवर्णमाला ॥७४॥

(धासु)। भावनासु अनुप्रेक्षासु। ध्रुव निश्चयेन। प्रतिक्षण[2] क्षण प्रति। मनः मानसम्। दधत् धरन्[3]। क्षुण्णमद क्षुण्णश्चूर्णीकृतो मदो येन स। स मुनि। 'क्षुदादिभि क्षुत्प्रमुखै। परीषहै[4], जातुचिदपि[6] सकृदपि। बाधितु पीडितुम्। न अशक्यत न शक्योऽभूत्। शक्लृ शक्तो कर्मणि लङ् ॥७१॥ इत्थमिति। इत्थम् अनेन प्रकारेण। विविध नानाप्रकारम्। तप तपश्चरणम्। विधाय कृत्वा। तपश्रीव्यालिङ्गित तप श्रिया तपोलक्ष्म्या आलिङ्गित सश्लिष्ट। परिणतोज्ज्वलधर्मलेश्य. परिणता परिणाम गता उज्ज्वला. प्र(प्रो)ज्ज्वला धर्मा उत्तमक्षमादयो लेश्या पीतादयो[7] यस्य सः। गुणगुरून् 'गुणैर्महत[8]। पञ्च पञ्च-सङ्ख्यान् गुरून् परमेष्ठिन। हृदये चित्ते। ध्यायन् चिन्तयन्। स मुनि अजितसेनमुनि[9]। समाधिमरणेन समाधिना प्रशस्तध्यानेन युक्तेन मरणेन निधनेन। प्राणान् असून्। मुमोच तत्याज। मुच्लृ मोक्षणे लिट्। ज्ञाति ॥७२॥ प्राप्येति। अथ मरणानन्तरम्। अच्युतनामधेयम्। कल्प स्वर्गम्। सपदि शीघ्रम्। प्राप्य गत्वा। अच्युतेन्द्र अच्युताभिख्येन्द्र। भूत्वा जनित्वा। अप्सरोजनमनोनयनाभिराम. अप्सरस एव जना लोका (अप्सरसा जना वर्गा.) तेषा मनसा मानसाना नयनामभिरामो (प्रियो) भासमान। सम्यक्त्वरत्नरुचिर. सम्यक्त्वमेव श्रद्धानमेव रत्न तेन रुचिरो मनोहर। द्व्यधिकविंशतिसागरायु द्वाभ्यामधिकविंशत्या विंशति-प्रमाणै सागरै सागरोपमै प्रमितमायुर्यस्य स। स अच्युतेन्द्र दिव्य स्वर्गजम्। सुख सौख्यम्[10]। अनुभवन् निर्विशन्। तस्थौ आशावभूव। ष्ठा गतिनिवृत्तौ लिट् ॥७३॥ च्युत्वेति। नृप भो भूपते। विगलितायु विगतायु। असौ अच्युतेन्द्र.। तत. अच्युतकल्पात्। च्युत्वा आगत्य। इह अत्र। रत्नसञ्चयपुरे रत्नसञ्चय-

हुए सदा निश्चय ही अनित्य आदि बारह भावनाओमे लगाये रहते थे—उनके मनमे रह-रह-कर जगत् अनित्य है, अशरण है—इत्यादि भाव उत्पन्न होते थे। गृहस्थ अवस्थामे जिस तरह पूर्ण सफल रहे, उसी तरह वे साधु अवस्थामे भी पूर्ण सफल हुए, फिर भी उन्हे अहङ्कार नही था—उन्हे अपने तपका मद नही था। भूख, प्यास आदिकी परीषहे उन्हे कभी तनिक भी बाधा नही पहुँचा सकी ॥७१॥ इस प्रकार अजितसेन मुनिने अनेक प्रकारका तप किया, जिससे उनके ऊपर तपोजनित शोभा दृष्टिगोचर होने लगी—और उनके क्षमा आदि दस धर्मों और शुभ लेश्याओमे निखार आ गया। गुणोमे महान् पाँच परमेष्ठियोका हृदयसे ध्यान करते हुए उन्होने समाधिमरण पूर्वक प्राणोका त्याग किया ॥७२॥ इसके पश्चात् वे शीघ्र ही अच्युत नामक सोलहवें स्वर्गमे जाकर अच्युतेन्द्र-अच्युत स्वर्गके इन्द्र हुए। वे वहाँ अप्सराओके वर्गको अत्यन्त प्रिय थे, इन्हे देखकर अप्सराओका मन प्रसन्न हो जाता था और उनके नेत्र भी उसीमे रम जाया करते थे। वे सम्यग्दर्शन रूपी रत्नसे सुन्दर थे—सम्यग्दृष्टि थे। बाईस सागर तक उन्होने वहाँका दिव्य सुख भोगा ॥७३॥ आयु समाप्त होनेपर तुम अच्युत स्वर्गसे च्युत होकर रत्न सञ्चयपुरमे लोकविजेता राजा

१ म भूत्वा सरोजनयनो°। २ = क्षण क्षण प्रति, सर्वदैव—इत्यर्थ.। ३. श धरत्। ४. 'क्षुज्जाठराग्निजा पीडा' इति हैम। ५ आ परिषहै। ६ श 'अपि' नास्ति। ७ आ हितादयो°। ८. श 'गुणै.' इति पद नास्ति। ९ श 'सेन' इति नास्ति। १०. श शातम्।

जन्मावलीमिति यथावदसौ निगद्य तूष्णीमभून्मुनिपतिर्मुनिवन्द्यपादः।
राजापि पूर्वभवकीर्तनहृष्टरोमा बद्धाञ्जलिर्यतिवृषं[1] पुनरित्युवाच ॥७५॥

जन्मान्तराणि भगवन्भवतः प्रसादाज्ज्ञातानि संशयमुपैति तथापि चेतः।
तत्प्रत्ययं कमपि नाथ कुरुष्व येन निःसंशया भवति धीर्मम संशयाना ॥७६॥

तद्भारतीमिति निशम्य जगाद भूपं संदेहपङ्कमपहस्तयितुं मुनीन्द्रः।
यूथं त्वदीयनगरे दशमेऽह्नि हित्वा दन्ती मदान्धमतिरेष्यति कश्चिदेक ॥७७॥

नामनगरे। जगद्विजयिन लोकविजयिनः। कनकप्रभस्य कनकप्रभभूपस्य। पद्मनाभ. पद्मनाभ इति पुत्र तनय। अभू. अभव। भू सत्ताया लुङ्। ते तव। जनमनोज्ञसुवर्णमाला जनाना लोकाना मनोज्ञा मनोहर-रूपा सा चासौ सुवर्णमाला च तयोक्ता (जनमनोज्ञ इति पद्मनाभस्य सबोधनमपि भवितुमर्हति)। माता च जनन्यपि। चशब्दः समुच्चयार्थ, अभूत्—इत्यर्थ। ७४॥ जन्मावलीमिति। मुनिवन्द्यपाद मुनिभिर्वन्द्यौ पादौ चरणौ यस्य स.। असौ मुनिपति श्रीधरमुनीन्द्र। इति उक्तप्रकारेण। जन्मावलि भवावलिम्। यथावत् सत्यरूपम् (यथा स्यात्तथा)। निगद्य निरूप्य। तूष्णीं जोषम्। अभूत् अभवत्। पूर्वभवकीर्तन-हृष्टरोमा पूर्वभवाना जन्मान्तराणा कीर्तनेन भाषणेन सतुष्ट रोम रोमाञ्चो यस्य स। राजापि पद्मनाभोऽपि। बद्धाञ्जलि. सन् रचिताञ्जलिर्भूत्वा। यतिवृष यतीना मुनीना वृष श्रेष्ठम्। पुन पश्चात्। उवाच ब्रवीति स्म। ब्रूञ् व्यक्ताया वाचि लिट् ॥७५॥ जन्मेति। भगवन् भो महात्मन्। भवत पूज्यस्य तव। प्रसादात् कृपाया। जन्मान्तराणि भवान्तराणि। ज्ञातानि अवबुद्धानि। तथापि, चेत मम चित्तम्। सशय सदेहम्। उपैति प्राप्नोति। नाथ भो स्वामिन्। सशयाना सशयं कुर्वाणा। मम मे। धीः बुद्धि। येन केन (?) प्रत्ययेन। नि सशया सदेहरहिता। भवति जायते। कमपि, तत्प्रयय स चासौ प्रत्ययश्च तत्प्रत्यय, तं, विश्वासम्—इत्यर्थ। कुरुष्व विधेहि। डुकृञ् करणे लोट्[2] ॥७६॥ तदिति। मुनीन्द्र मुनिपति। इति एवम्। तद्भारती तस्य भूपस्य भारती वाचम्। निशम्य श्रुत्वा। सदेहपङ्क[3] सशय एव मलम्। अपहस्तयितु निवारयितुम्। भूयः पश्चात्। जगाद उवाच। गद व्यक्ताया वाचि। मदान्धमति मदेन कर्णकपोलादि-मदेनान्धा मतिर्यस्य स। कश्चित् एक। दन्ती भद्रगज। यूथ गजसमूहम्। हित्वा त्यक्त्वा। दशमे अह्नि दिवसे। त्वदीयनगरे त्वदीये[4] तव सबन्धे नगरे पुरे। एष्यति आगमिष्यति। इण् गतौ लृट्। जाति.

कनकप्रभके यहाँ उनकी रानी सुवर्णमालाकी कुक्षिसे पद्मनाभ नामक राजकुमार हुए हो। राजकुमार! तुम प्रजाजनको अत्यन्त प्रिय हो ॥७४॥ इस प्रकारसे पद्मनाभके पिछले भवोकी परम्पराको ठीक-ठीक बतलाकर श्रीधर मुनिराज—जो समस्त मुनियोके द्वारा वन्दनीय थे—मौन हो गये। पूर्व जन्मोकी चर्चा सुनकर पद्मनाभको रोमाञ्च हो आया। उसने हाथ जोड़-कर मुनिराजसे पुन यो कहा—॥७५॥ भगवन्! आपकी कृपासे मैंने अपने पिछले भवोको जान लिया हे, फिर भी मेरा मन संशयमे पडा हुआ है। अतः मुझे कोई विश्वास जनक बात बतलाइये, जिससे मेरी सशय-बुद्धि, सशय रहित हो जाय ॥७६॥ पद्मनाभके ये वचन सुनकर श्रीधर मुनिने उसके सशयके मैलको दूर हटानेके लिये यो कहा— आजसे दसवें दिन एक मदो-

१ क ख ग घ म °मुनिवृष। २ श लेट्। ३ = सन्देह संशय. स एव पङ्को मल, तम्। ४. = भवदीये।

तत्प्रत्ययात्स्वयमिदं नचिरेण राजन्निश्चेष्यसि त्वमखिलं वचनं मदुक्तम् ।
प्रत्यक्षमन्यदथवा जगति प्रमाणं संवादकं मतिमतां सकलं प्रमाणम् ॥७८॥
प्रह्लादिनेति वचसा वदतां वरस्य निर्धूय संशयमलं विरतस्य साधोः ।
पादौ प्रणम्य शिरसा व्रतभूषिताङ्गः प्रत्याययौ निजपुरं प्रति पद्मनाभः ॥७९॥
आकस्मिकोद्गतबृहत्परचक्रशङ्कात्रस्यज्जनोक्तकिमिदंध्वनिपूर्यमाणः ।
तस्मिन्मुनीन्द्रकथितेऽथ दिने तुरंगानुत्कर्णयन्कलकलोऽतिमहान्बभूव ॥८०॥
किं किं किमेतदुपयाहि विलोकयेति संभ्रमरि क्षितिभुजि त्वरितं प्रगत्य ।
कश्चिन्निवृत्य पुनरित्यवदद्वचस्वी निर्णीतलोकविषयाकुलतानिमित्त ॥८१॥

॥७७॥ तदिति । राजन् भूप । तत्प्रत्ययात् तद्विश्वासात् । मदुक्त मया उक्त प्रोक्तम्[1] । इद तु एतत् तु [इदम् एतत्]। अखिल सकलम् । वचन वच । त्व स्वयमेव[2] त्वयैव । अचिरेण शीघ्रम् । निश्चेष्यसि निर्णयं करिष्यसि । चिञ् चयने लृट् । अथ[3] । जगति लोके । प्रत्यक्ष विशदरूपम् । अन्यद्वा परोक्षरूप वा । प्रमाण ज्ञानम् । मतिमता बुद्धिमताम् । सवादक सत् विषयाव्यभिचारं सत् । सकल[4] सर्वम् । प्रमाण सत्यरुप स्यात् । जाति· ।७८॥ प्रह्लादिनेति । प्रह्लादिना सतोपकरणशीलेन । वचसा वचनेन । सशयमल सदेहमलम् । निर्धूय निराकृत्य । विरतस्य महाव्रतयुक्तस्य । वदता वरस्य वदता वाग्मिना[5] वरस्य श्रेष्ठस्य । साधो मुनिपस्य । पादौ चरणौ । [शिरसा प्रणम्य]। व्रतविभूषिताङ्ग· अणुगुणादिव्रतेन भूषितमलकृत-मङ्गमवयवो यस्य स । पद्मनाभ पद्मनाभभूप । 'नाभेर्नाम्नि' इत्यदन्त । शिरसा मस्तकेन । प्रणम्य नमस्कृत्य । निजपुर स्वराजधानीम् । प्रति, प्रत्याययौ प्रत्याजगाम । या प्रापणे लिट् ॥७९॥ आकस्मिकेति[6] । अथ आगमनानन्तरम्[7] । मुनीन्द्रकथिते मुनीन्द्रेण श्रीधराचार्येण कथिते प्रोक्ते । तस्मिन् दशमे । दिने दिवसे । आकस्मिकोद्गतबृहत्परचक्रशङ्कात्रस्यज्जनोक्तकिमिदध्वनिपूर्यमाण आकस्मिकेन अकारणेन उद्गतस्तथोक्त·, परेषा शत्रूणा चक्र सेना तदिति शङ्का सदेहस्तया त्रस्यन्तो बिभ्यन्तस्ते च ते जनाश्च, त्रस्यज्जनैरुक्तस्तथोक्त, किमिदम् इति ध्वनिस्तथोक्त, आकस्मिकोद्गतेन बृहत्परचक्रशङ्कात्रस्यज्जनोक्तकिमिदमिति ध्वनिना पूर्यमाणो [8]व्याप्यमानस्तथोक्त । तुरङ्गान् अश्वान् । उत्कर्णयन् उद्गतकर्णान् कुर्वन् । अतिमहान् अत्यन्त महान् । कलकलः[9] कलकल इति ध्वनि. । बभूव भवति स्म । जाति. ॥८०॥ किमिति । एतत् इदम् । किं किं किम् । 'सम्भ्रमेऽसकृत्' इति असकृत्प्रयोगः । उपयाहि गच्छ । विलोकय इति वीक्षस्व इति । क्षिति·

न्मत्त हाथी अपने झुण्डको छोडकर तुम्हारे नगरकी ओर आयगा ॥७७॥ राजन् ! उस हाथी-को देखकर तुम्हे विश्वास हो जायगा, फिर तुम स्वयं शीघ्र ही मेरी कही सारी बातोकी सचाई-का निश्चय कर लोगे । क्योंकि प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष सभी प्रमाणोका प्रामाण्य(सचाई) तभी सिद्ध होता है, जब वे विद्वानोको दोष रहित दृष्टिगोचर होते हैं ॥७८॥ श्रीधर मुनि, श्रेष्ठ वक्ता थे । उन्होंने उक्त आह्लादजनक बात कहकर राजा पद्मनाभका सशयका मैल दूर कर दिया । जब वे उत्तर दे चुके, तब व्रतोंसे विभूषित—व्रती पद्मनाभ उनके चरणोमे प्रणाम करके अपने पुरकी ओर चला गया ॥७९॥ अपनी राजधानीमे पहुँचनेपर मुनिराजके कथनानुसार दसवें दिन बहुत भारी कोलाहल हुआ, जिससे घोडें चौंक उठे, और उनके कान खडे हो गये । कोलाहलमे, अचानक ही बहुत बडे शत्रुओके गिरोहके आक्रमणकी शकासे डरे हुये लोगोकी 'यह क्या है ? यह क्या है ?' यह ध्वनि मिली हुई थी—॥८०॥ 'क्या, क्या, क्या

१ आ श मयोक्त मया प्रोक्तम् । २ = त्वं स्वत एव । ३. = अथवा । ४ श 'सकल' इति नास्ति । ५. श वङ्मिना । ६. श आकस्मीति । ७ श गमनानन्तरम् । ८. श व्याप्त° । ९. = कोलाहल इति यावत् । 'कोलाहल कलकल ' इति हैम ।

कोऽपि क्षरत्करटभित्तिरुपेत्य देव दन्ती कुतोऽपि सुरदन्तिसमानसत्त्वः ।
हन्त्युद्धतः सकलमेव पुराद्बहिःस्थं लोकं त्वदीयभुजरक्षितमारटन्तम् ॥८२॥
निष्क्रामति प्रविशति प्रकटोऽथ वा यः सर्वः स तत्करपराहतिचूर्णिताङ्गः ।
दिग्भ्यो बलिर्भवति किं बहुना जनानां संहारकाल इव स द्विपरूपधारी ॥८३॥
इत्यागमं करटिनो मुनिसूचितस्य श्रुत्वा जहर्ष हृदयेऽधिपतिर्धरित्र्याः ।
भेजे विषादमपि किंचिदुदारबुद्धिर्दुःसाध्यतां[1] परिमृशन्मनसा तदीयाम् ॥८४॥

भुजि राज्ञि । त्वरित शीघ्रम् । सप्रष्टरि[2] सति सम्शृण्वति सति । वचस्वी वचोहर । कश्चित् एक । प्रगत्य[3] एत्य । निर्णीतलोकविषयाकुलतानिमित्त. लोको जन स एव विषयो यस्या सा तथोक्ता, सा चासावाकुलता च तथोक्ता, तस्या निमित्त तथोक्त, निर्णीत निश्चित लोलविषयाकुलतानिमित्त येन स । पुनः पश्चात् । निवृत्य आगत्य । इति एवम् । अवदत् वदति स्म । वद व्यक्तिाया वाचि लङ् । सशय (?) ॥८१॥ क इति । देव भो स्वामिन् । क्षरत्करटभित्तिभि[4] (त्ति.) द्रवत्कपोलप्रदेशै (शः) । सुरदन्तिसमानसत्त्व. सुरदन्तिन ऐरावतस्य समान सदृश सत्त्व सामर्थ्यं यस्य स. । उद्धत गर्वित । कोऽपि[5] एक· । दन्ती गज । कुतोऽपि[6] कस्मादपि । उपेत्य आगत्य । त्वदीयभुजरक्षितं त्वदीयेन[7] तव सबन्धेन । भुजेन बाहुना । रक्षित पालितम् । आरटन्तम् आक्रोशन्तम् । पुरात् नगरात् । बहिस्थ वाह्यस्थितम् । सकलमेव सर्वमेव । लोक जनम् । हन्ति हिनस्ति । हन् हिंसागत्योर्लट् । जाति ॥८२॥ निष्क्रामतीति । यः जनः । प्रकट प्रकटो भूत्वा । निष्क्रामति निर्गच्छति । अथवा प्रविशति[8] अन्तर्गच्छति । स सर्व जन । तत्करपराहतिचूर्णिताङ्ग तस्य गजस्य करस्य शुण्डाया. पराहत्या आहत्या चूर्णित पेपित[9]मङ्ग गात्र यस्य स, सन् । दिग्भ्य अष्टदिशाभ्य.[10] । बलि, भवति जायेत । जातिः । बहुना बहूनोक्तेन । किं किं प्रयोजनम् । जनाना लोकानाम् । स गज । द्विपरूपधारी द्विपस्य गजस्य रूपधारी वेषधारी । संहारकाल इव प्रलयकाल इव भवति । उत्प्रेक्षा ॥८३॥ इतीति । उदारबुद्धिः उदारा बुद्धिर्यस्य स । धरित्र्या भूमेः । अधिपति प्रभु । मुनिसूचितस्य मुनिनिरूपितस्य । करटिन· दन्तिन । आगमम् आगमनम् । इति एवम् । श्रुत्वा आकर्ण्य । हृदये चित्ते । जहर्ष तुतोष । हृषू[11] अलीके[12] लिट् । तदीयां गजसंबन्धिनीम् । दुःसाध्यता साधयितुमशक्यताम् । मनसा

है यह, जाओ देखो' राजाके यह पूछने या कहने पर कोई दूत वहाँसे शीघ्र ही निकल करके और लोगोंकी आकुलताके कारणको ठीक-ठीक जान करके वापस लौट आया और पद्मप्रभसे यों कहने लगा—॥८१॥ राजन् ! कहींसे एक हाथी आ धमका है । उसके गण्डस्थलसे मद-जल बह रहा है । वह एरावतके समान बलवान् है और है उद्धत । वह आपकी बाहुओंसे सुरक्षित, नगरके बाहर स्थित सभी लोगोंको मारे डालता है, इसीलिए वे सब 'त्राहि-त्राहि'— 'बचाओ' 'बचाओ' की रट लगा रहे हैं—चिल्ला रहे हैं ॥८२॥ कोई निकल रहा हो, कोई प्रवेश कर रहा हो या कोई और भी किसी रूपमे प्रकट होता देख पड रहा हो तो वे सब-के-सब उसकी सूडकी प्रहारसे चूर-चूर होकर दिशाओंकी बलि होते जा रहे हैं । बहुत कहनेसे क्या लाभ ? सक्षेपमे इतना समझ लीजिये कि मनुष्योंके लिए वह हाथीका रूप धारक करके आया हुआ प्रलयकाल ही जान पडता है ॥८३॥ उदार बुद्धि-वाला राजा पद्मनाभ इस तरह हाथीके—जिसकी सूचना श्रीधर मुनि नौ दिन पहले ही दे

---

१. आ इ दुःसाधना । २ =पृच्छके । ३ = गत्वा । ४ श °कटभित्तिभि । ५. = कश्चित् । ६. कुतश्चिदपि प्रदेशात् । ७. = भवदीयेन । ८ श अप्रविशति । ९. श पीडित° । १०. आ °दिशात् । ११. आ हृप् । १२. 'अलीकमानन्द' इति काशकृत्स्नधातुपाठीयकन्नडटोका (पृ० ६१) ।

तस्मान्न दुष्टकरिणो यदि पौरलोकं रक्षामि तन्मम वृथा क्षितिपालशब्दः ।
सचिन्तयन्निति स बाहुबलाद्वितीयो[1] निर्गत्य तस्य बलिनोऽभिमुखीबभूव ॥८५॥
बद्ध्वा दृढं परिकरं विनिवार्य दूरे सामन्तलोकमिभमाजुहुवे तमेकः ।
सोऽप्युन्नमय्य करमुन्नतपूर्वकायस्तत्संमुखं प्रचुररोषवशादधावत् ।।८६।।
तस्यायतः[2] करिवधूज्झितमूत्रसिक्तं चिक्षेप वस्त्रमभिवक्त्रमसौ करेणोः ।
यावत्स शक्तिमुपगच्छति तत्र तावत्पार्श्वे निपत्य लकुटेन जवाज्जघान ॥८७॥
यावत्पुनः स वलतेऽभिमुखं जवेन तावद्बभूव वसुधापतिरन्यपार्श्वे ।
तत्रापि वाहयति यावदसौ निवृत्य[3] हस्तं तलेन निरियाय स तावदीशः ॥८८॥

चित्तेन । परिमृशन् विचारयन् । किञ्चित् ईषत् । विषादमपि खेदमपि । भेजे भजति स्म । भज सेवाया लिट् । अनुमिति (?) ॥८४॥ तस्मादिति । यदि तस्मात्[4] दुष्टकरिण दुष्टगजात् । त पौरलोक पौरजनम् । न रक्षामि न पालयामि चेत् । मम [तद् मम] मे । क्षितिपालशब्द क्षितिपाल इति शब्द । वृथा इति निष्फलम् इति । सचिन्तयन विचारयन् । बाहुबलाद्वितीय बाहुबलेन भुजबलेन अद्वितीय उपमारहित । स पद्मनाभः । निर्गत्य निर्याय । बलिन शक्तिमत । तस्य दन्तिन । अभिमुखीबभूव प्रागनभिमुख इदानी-मभिमुखो बभूव, इति ॥८५॥ बद्ध्वेति । परिकरम्[5] अङ्कुशाद्युपकरण परिवार वा । दृढ गाढम् । बद्ध्वा । दूरे विप्रकृष्टे । सामन्तलोकं राजलोकम् । विनिवार्य निरुध्य । एक असहायो राजा । तमिभ त गजम् । आजुहुवे आकारयति स्म । ह्वेञ् स्पर्द्धाया (शब्दे च) लिट् । उन्नतपूर्वकाय उन्नत. पूर्वकायो यस्य स सोऽपि गजोऽपि । कर शुण्डादण्डम् । उन्नमय्य उद्धृत्य । प्रचुररोषवशात् प्रचुरस्य प्रकृष्टस्य रोषस्य कोपस्य वशात् । तत्समुख तस्य भूपस्य (समुखम्) अभिमुखम् । अधावत् धावतिस्म । सृ गतौ लङ् । 'सर्तेर्धौ वेगे' इति धावादेश । जाति ॥८६॥ तस्येति । असौ राजा । आयत आगच्छत । तस्य कारेणो 'करेणुरिभ्यां स्त्री नेभे' इत्यमर , गजस्य । करिवधूज्झितमूत्रसिक्त करिणो गजस्य वध्वा वनिताया उज्झितेन मूत्रेण सिक्त सेचितम् । वस्त्र चेलम् । अभिवक्त्र वक्त्रस्योपरि । 'लक्षणेनाभि—' इत्यादिना अव्ययीभाव । चिक्षेप निक्षिप्तवान् । क्षिप प्रेरणे लिट् । स गज । तत्र वस्त्रे । सक्तिम् आसक्तिम् । यावत्, उपगच्छति उपयाति तावत्, जवात् शीघ्रम् । पार्श्वे पार्श्वभागे । निपत्य आगत्य । लगुडेन दण्डेन । जघान ताडयतिस्म । हन हिंसागत्योर्लिट् ॥८७॥ यावदिति । स गज । पुन पश्चात्[6] । अभिमुख स्वस्याभिमुखम् । वलते आवर्तते । वलि वल्लि सवरणे लट् । 卐तावत् तावन्मात्रे । वसुधाधिप पद्मनाभ । जवेन शीघ्रम् । अन्यपार्श्वे अन्यस्मिन्

चुके थे—आनेके समाचार सुनकर मन-ही-मन प्रसन्न हुआ, और अपने मनसे यह सोचकर कि उसे वशमे करना कठिन है, कुछ खिन्न भी हुआ ॥८४॥ यदि मैं उस दुष्ट हाथीसे अपने पुरवासी लोगोको नही बचाता, तो मेरा 'क्षितिपाल' शब्द व्यर्थ है । इस तरह सोचता हुआ वह राजा पद्मनाभ—जो बाहुबलमे बेजोड था—राजमहलसे निकलकर उस बलवान् हाथीके सामने जा पहुँचा ॥८५॥ खूब मजबूतीसे कमर कसकर और सामन्त लोगोको दूर हटाकर अकेले पद्मनाभने ही उस हाथीको ललकारा । वह भी अपनी सूडको ऊपर उठाकर तथा अगले भागको कुछ ऊपर उठाकर बडे रोषसे उसके सामने दौडा ॥८६॥ दौडकर सामने आते हुए उस हाथीके मुखपर पद्मनाभने हथिनीकी पेशाबसे सिञ्चित कपडा फेक दिया । उधर वह उस कपडेमे आसक्त होता है इधर पद्मनाभ शीघ्र ही उसकी बगलमे जाकर डण्डेका प्रहार कर देता है ॥८७॥ जब-तक पुन वह सामने आनेको हुआ, तब-तक पद्मनाभ शीघ्र ही

१ अ क ख ग घ म °बलद्वि° । २ अ °भ्रन । ३ आ इ क ख ग घ म विवृत्य । ४ श यस्मात् । ५. =कटि वा । ६. आ पुन पश्चात्' इति नास्ति ।

पश्चात्पुरोऽप्युभयतश्च गजाधिपस्य बभ्राम तस्य स तथा निजलाघवेन ।
सर्वैर्यथा परिधिसौधतलाधिरूढैः सर्वासु दिक्षु युगपद्ददृशे जनौघैः ॥८९॥
निःस्पन्दं गजमिति संविधाय तस्य स्कन्धेऽसौ विधृतसृणिः समारुरोह ।
तुष्टानाममरनिवहेन लोलभृङ्गैः पुष्पौघैर्दिवि दिविजैर्विकीर्यमाणः ॥९०॥
अनुपमबलवीर्यं संमुखीभूय सर्वैः करिपतिमरुधैर्यैर्यं सुरैरप्यसाध्यः ।

यस्मा[1]त्केलिमसाद्युवास[2] विदधल्लब्धोदयः सद्वने
तस्मात्तं वनकेलिरित्यवितथं नाम्ना [3]प्रघोष्यामुना ।
प्राविक्षत्क्षितिपो महेन महता चञ्चत्पताकं पुरं
शृण्वन्पौरजनै प्रहृष्टहृदयैरुद्गीयमानं यशः ॥९२॥

इति श्रीवीरनन्दिकृतावुदयाङ्के चन्द्रप्रभचरिते महाकाव्ये एकादश. सर्ग ॥११॥

■

नास्ति हि । अर्थान्तरन्यास ॥९१॥ यस्मादिति । लब्धोदय प्राप्तसामर्थ्य असौ पद्मनाभः । यस्मात् कारणात् । सद्वने समीचीनारण्ये । केलि क्रीडाम् । विदधत् कुर्वन् । उवास वसति स्म । वस निवासे लिट् । तस्मात्, त गजम् । वनकेलि इति वनक्रीडा इति (?) । अवितथ सत्य यथा तथा । अमुना एतेन । नाम्ना नामधेयेन । [प्रघोष्य घोषयित्वा] प्रहृष्टहृदयै सतुष्टचित्तै । पौरजनै पुरजनैः । उद्गीयमान प्रस्तूयमानम् । यश कीर्तिम् । शृण्वन् आकर्णयन् । क्षितिप पद्मनाभ । महता पटुना[4] । महेन उत्सवेन । चञ्चत्पताक चञ्चन्त्यो भासमाना पताका वैजयन्त्यो यस्य[5] तत । पुर रत्नसचयपुरम् । प्राविक्षत् प्रविशति स्म । विश प्रवेशने लुङ् ॥९२॥

इति श्रीवीरनन्दिकृतावुदयाङ्के चन्द्रप्रभचरिते महाकाव्ये तद्व्याख्याने[6] च
विद्वन्मनोवल्लभाख्ये[7] एकादशः सर्ग ॥११॥

■

नही है ॥९१॥ हाथीको वशमे करके पद्मनाभ चूँकि सुन्दर वनमे क्रीडा करने लगा और फिर वही पर ठहर भी गया, इसलिए उसने हाथीका 'वनकेलि' यह सार्थक नाम घोषित कर दिया । इसके उपरान्त उसने राजधानीमे प्रवेश किया, जहाँ बडा भारी उत्सव मनाया जा रहा था, पताकाएँ फहरा रही थी और पुरवासी लोग प्रसन्न चित्त होकर पद्मनाभका यशोगान कर रहे थे ॥९२॥

इस प्रकार महाकवि वीरनन्दि विरचित उदयाङ्क चन्द्रप्रभ चरित महाकाव्यमें
ग्यारहवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥११।

■

---

१ अ तस्मात् । २ अ °लिमसाधुना स° । ३ क ख ग घ म प्रघोष्या° । ४ आ पृथुना । ५. = यस्मिन् । ६ श तद्व्याख्यायां । ७. श °वल्लभाख्यायाम् ।

[१२. द्वादशः सर्गः]

अथ कश्चिदुपेत्य शासनान्निजभर्तुर्विदितः सभागतम् ।
तमिलाधिपतिं कुशाग्रधीरिदमूचे वचनं वचोहरः ॥१॥
रविणेव निजेन तेजसा कठिनांस्तापयता महीभृतः ।
विहिताः सह मित्रबान्धवै रिपवो येन महापदाश्रिताः ॥२॥
परया प्रभुशक्तिसंपदा परिरक्षन्सकलां वसुंधराम् [2]
नयति प्रथितं यथार्थतां पृथिवीपाल इति स्वनाम यः ॥३॥
नयविक्रमशक्तिशोभितो मतिमान्यो द्वितयेन[1] मानदः ।
प्रणतेषु ददाति नाभवद्दयतिना तद्विपरीतवृत्तिषु ॥४॥

अथेति । अथ गजवशीकरणानन्तरम् । कुशाग्रधी. कुशस्य दर्भस्याग्रमिव धीर्बुद्धिर्यस्य सः, तीक्ष्ण-बुद्धि. —इत्यर्थः । विदितः प्रतीतः । कश्चित् एक. । वचोहर दूत । निजभर्तु स्वस्य स्वामिन । शासनात् आज्ञाया । सभागतम् आस्थानगतम् । तम् इलाधिपतिं पद्मनाभमहीपतिम् । उपेत्य गत्वा । इदम् एतत् । वचन भाषणम् (वच) । ऊचे जगाद । ब्रूञ् व्यक्तायां वाचि लिट् । वैताली (वियोगिनी) वृत्तम् ॥१॥ रविणेति । रविणेव सूर्येणेव । निजेन स्वकीयेन । तेजसा प्रतापेन । कठिनान् कर्कशान् । महीभृत क्षिति-पतीन्, (पक्षे) पर्वतान् । तापयता सतापयता, पीडयता—इत्यर्थः । येन राज्ञा । रिपव शत्रवः । मित्र-बान्धवै मित्रबन्धुभि । सह साकम् । महापदाश्रिता. महापद महास्थानम्, वैरिपक्षे महाविपदम् आश्रिता । विहिता कृता । श्लेष. ॥२॥ परयेति[2] । परया प्रकृष्टया । प्रभुशक्तिसपदा प्रभुशक्ते सपदा समृद्धया[3] । सकला समस्ताम् । वसुन्धरा भूमिम् । परिरक्षन् पालयन् । य राजा । प्रथितं प्रसिद्धम् । [4]पृथिवीपाल इति स्वनाम स्वस्य नामधेयम् । यथार्थता सत्यार्थयुक्तत्वम् । नयति प्रापयति । णीञ् प्रापणे लट् ॥३॥ नयेति । नयविक्रमशक्तिशोभित नयेन नीत्या विक्रमेण पराक्रमेण शक्तिभि- त्रिशक्तिभि शोभितो विराजित । यः राजा । प्रणतेषु विनतेषु । ददातिना दानक्रियया । तद्विपरीतवृत्तिषु तस्य प्रणमनस्य विपरीता प्रणमनर-

इसके पश्चात् एक दिनकी बात है राजा पद्मनाभ अपनी सभामे बैठा हुआ था, इतने-मे प्रवेशकी स्वीकृति लेकर उसके पास एक कुशाग्रबुद्धि दूत आया, जो अपने स्वामी पृथिवी-पालके आदेशके अनुसार यों कहने लगा—॥१॥ राजन् ! पृथिवीपाल राजा सूर्यके समान है । जिस प्रकार सूर्य अपने तेजसे कठोर पहाडोको तपाकर अपने स्नेही कमल-बन्धुओको लक्ष्मी-का स्थान बना देता है और कुमुद आदि शत्रुओको विपत्तिमे डाल देता है—सकुचित कर देता है । इसी प्रकार हमारा पृथिवीपाल राजा अपने प्रतापसे कठोर और घमण्डी राजाओको सन्ताप देता है, मित्रो और बन्धुओको उन्नत पद प्रदान करता है और शत्रुओको बडी विपदाओमे गिरा देता है ॥२॥ राजन् ! उत्कृष्ट प्रभुशक्ति अर्थात् सेना और कोषकी समृद्धिसे सारी पृथिवीका पालन करके हमारा राजा अपने पृथिवीपाल इस प्रसिद्ध नामको सार्थक कर रहा है । (पृथिवी पालयतीति पृथिवीपाल·—जो पृथिवीका पालन करें, उसे पृथिवीपाल कहते हैं) ॥३॥ राजा पृथिवीपाल नीति, पराक्रम, प्रभुशक्ति, मन्त्रशक्ति और उत्साह शक्तिसे सुशोभित है, बुद्धिमान्

१. आ द °शोभिताद्वितयो यो° । २. आ परेति । ३. आ सवृद्धया । ४. श पृ° । ।

परिरभ्य दृढं स मत्प्रभुर्मयि संक्रामितवाक्यपद्धतिः ।
वदतीति भवन्तमक्षतप्रणयं दूतमुखा हि पार्थिवाः ॥५॥
महतामतिदूरवर्तिनोऽप्यनुरागं जनयन्ति ते गुणाः ।
शरदभ्रनिभा गभस्तयः कुमुदानामिव कौमुदीपतेः ॥६॥
तव कीर्तिभिरेव सर्वदिग्विततामिर्विनयैकवृत्तिता ।
सुमनोभिरिवानुमीयते फलसंपन्महती महातरोः ॥७॥

हिता वृत्तिर्वर्तनं येषां तेषु । द्यतिना खण्डनक्रियया । दो अवखण्डने । तद्द्वितये द्वयवयवे । प्रणते प्रणतजने । द्वितयेन द्वयवयवेन । मानदः मानं पूजां ददातीति मानदः पूजादायकः । मानमहङ्कारं द्यति खण्डयतीति मानदो गर्वखण्डनः । प्रणतपक्षे पूजादायकः, तत्र डुदाञ् दाने, तद्विपरीतपक्षे गर्वखण्डनः, तत्र दो अवखण्डने । अभवत् अभूत् । भू सत्तायां लङ् । श्लेषः ॥४॥ परिरभ्येति[1] । मयि, संक्रामितवाक्यपद्धतिः संक्रामिता स्थापिता वाक्यस्य पदसमुदायस्य पद्धतिर्धोरणी येन सः । मत्प्रभुः मम मे[2] प्रभुः स्वामी । अक्षतप्रणयम् अक्षतोऽखण्डितः प्रणयः प्रीतिर्यस्मिन् कर्मणि तत्० । भवन्तं पूज्यं त्वाम् । परिरभ्य आलिङ्ग्य । इति वक्ष्यमाणप्रकारेण[3] । वदति ब्रवीति । पार्थिवाः राजानः । दूतमुखाः हि दूता एव मुखं वदनं येषां ते तथोक्ताः । अर्थान्तरन्यासः ॥५॥ महतामिति । अतिदूरवर्तिनोऽपि अतिदूरं वर्तते इत्येवं शीलः (अतिदूरवर्ती) तस्य । [ते तव] । शरदभ्रनिभाः शरदः शरत्कालस्याभ्रस्य मेघस्य निभाः समाः । ते तव । गुणाः, कौमुदीपतेः कौमुद्याः ज्योत्स्नायाः पतेः (पत्युः) चन्द्रस्य । गभस्तयः किरणाः । कुमुदानामिव कुवलयानामिव । महतां सत्पुरुषाणाम् । अनुरागं प्रीतिम् । जनयन्ति उत्पादयन्ति । उत्प्रेक्षा (उपमा) ॥६ । तवेति । सर्वदिग्वितताभिः सर्वा दिशः (सर्वासु दिक्षु) वितताभिर्व्याप्ताभिः । तव ते । कीर्तिभिरेव यशोभिरेव[4] । विनयैकवृत्तिता विनय एव एका वृत्तिर्यस्याः तस्या भावो विनयमुख्यवृत्तित्वम् । महातरोः महावृक्षस्य । महती, फलसंपत् फलसंपत्तिः । सुमनो-

---

है और दो प्रकारसे मानद है—(१) नम्र व्यक्तियोंको मान देनेसे (२) और घमण्डियोंके मान-का दलन करनेसे । (मानं ददातीति मानदः—जो विनम्र व्यक्तियोंको सम्मान प्रदान करे उसे मानद कहते हैं और 'मानं द्यति खण्डयतीति मानदः—जो मानियोंके मानका भञ्जन करे, उसे भी मानद कहते हैं) ॥४॥ मेरा स्वामी पृथिवीपाल आपसे आलिङ्गन करके अत्यन्त स्नेह-पूर्वक मेरे द्वारा यों कह रहा है । आपके पास भेजते समय उसने मुझसे वे बातें कही थीं, जो मैं आपसे इस समय कह रहा हूँ । मैं उसका दूत जो ठहरा । और दूत ही तो राजाओंके मुख होते हैं । (बुद्धिशस्त्रः प्रकृत्यङ्गः घनसंवृतिकञ्चुकः । चारेक्षणो दूतमुखः पुरुषः कोऽपि पार्थिवः ॥ राजा अद्भुत पुरुष है, जिसका शस्त्र बुद्धि है, जिसका शरीर प्रजा है, जिसका कवच मन्त्रगुप्ति है, जिसके नेत्र गुप्तचर हैं और जिसका मुख दूत हैं ।) ॥५॥ राजन् ! आपके गुण शरद् ऋतुके मेघोंके समान उज्ज्वल हैं, और वे स्वयं दूर रहकर भी महान् पुरुषों-को अनुराग उत्पन्न कर रहे हैं । जैसे शरद् ऋतुके मेघोंकी भाँति शुभ्र, चन्द्रमाकी किरणें कुमुदोंको अनुराग उत्पन्न कर देती हैं ॥६॥ जिस प्रकार फूलोंसे महान् वृक्षकी महती फल सम्पत्तिका अनुमान लगा जाता है, इसी प्रकार सभी दिशाओंमें फैली हुई कीर्तिसे ही तुम्हारे

---

१. आ परिरभ्येति । २. श न मम । ३. श °स्वरूपेण । ४ श 'यशोभिरेव' इति नास्ति ।

विधिना द्रवरूपताम्बुधेर्विहिता मूलत एव शान्तये ।
तव धैर्यजितेन लज्जया द्रवता नाभिभवो यदीक्षितः ॥८॥
विवृणोति मनोगतामियं नयवृत्तिर्भवतः सुशीलताम्[1] ।
अनुकूलतया प्रकाश्यते[2] निजनेतुः करिणो हि भद्रता ॥९॥
गुणवानपि स त्वमीदृशो मदनिश्चेतनधीरिवेक्ष्यसे[3] ।
कियतापि पुरातनं क्रमं यदतिक्रम्य विचेष्टसेऽन्यथा ॥१०॥
प्रणमन्ति मदन्वयोद्भवं तव वंश्या इति पूर्वजस्थितिः ।
करिणेव मदश्चुतार्गला[4] भवता सा सकलापि लङ्घिता ॥११॥

भिरिव पुष्पैरिव । अनुमीयते अनुमान क्रियते । माङ्[5] माने कर्मणि लट् । अनुमिति' ॥७॥ विधिनेति । यदि । अम्बुधे समुद्रस्य । विधिना ब्रह्मणा । मूलत एव सृष्टिकाले एव, प्रथमत एव वा । शान्तये तिरस्कारजनितशोकविच्छित्तये । द्रवरूपता प्रस्रवरूपत्वम् । विहिता कृता । (तत् तस्माद्धेतो) । तव ते । धैर्यजितेन धीरत्वेन विजितेन । तिरस्कारजनितस्वेदलक्षणहेतुकेन । लज्जया व्रीडया[6] । द्रवता प्रस्रवता । समुद्रेण, अभिभव. तिरस्कार । न ईक्षित. न लोकित. । उत्प्रेक्षा ॥८॥ विवृणोतीति । भवत. तव । इयम् एषा । नयवृत्ति नीतिसहितवर्तना । मनोगता (ता) चित्तगता (ताम्) । सुशीलता प्रशस्तस्वभावयुक्तत्वम् । अनुकूलतया अनुकूलत्वेन । विवृणोति व्यक्तीकरोति । निजनेतु स्वस्य प्रभो । अनुकूलतया, करिणः गजस्य । भद्रता भद्रजातित्वम् । प्रकाश्यते प्रशस्यते । अनुमिति ॥९॥ गुणवानिति । यत् यस्म त्कारणात् । पुरातन पूर्वकालभवम् । क्रम परिपाटीम् । अतिक्रम्य[7] अतिक्रमण कृत्वा । कियतापि अल्पकार्येणापि । अन्यथा अन्यप्रकारेण । विचेष्टसे वर्तसे । (अत एव) । ईदृश. एतादृश. । गुणवानपि गुणयुक्तोऽपि । स त्व भवान् । मदनिश्चेतनधीरिव मदेन ऐश्वर्यादिमदेन निश्चेतना मूढा बुद्धिर्यस्य स इव । ईक्ष्यसे दृश्यसे । ईक्ष दर्शने कर्मणि लट् ॥ उपमा ॥१०॥ प्रणमन्तीति । तव ते । वश्या. वशे भवा वश्या । मदन्वयोद्भव मम मे अन्वये[8] सन्ताने उद्भवम् उत्पन्नम् । प्रणमन्ति नमस्कुर्वन्ति । णम प्रह्वत्वे शब्दे[9] लट् । इति एवम् । [पूर्वजस्थिति.] पूर्वजा प्राग्जाता स्थितिर्मर्यादा । मदश्चुता मद श्चोततीति क्षरतीति मदश्चुत् तेन । करिणा गजेन । अर्गलेव निगल (ड) इव । भवता त्वया । सकलापि सर्वापि । सा स्थिति, लङ्घिता[10] उद्गता

विनय व्यवहारका अनुमान लग रहा है ॥७॥ समुद्रको शान्त रखनेके लिए ब्रह्माने सृष्टिके प्रारम्भसे ही उसे द्रव रूपमे रचा । मानो इसीलिए धीरतामे आपसे पराजित होनेपर भी वह पानी-पानी होकर रह गया, अपमानका खयाल करके आग-बबूला नही हुआ ॥८॥ आपका नैतिक व्यवहार आपके हृदयकी सुशीलताको प्रकाशित करता है । जैसे अपने स्वामीके प्रति अनुकूल व्यवहार करनेसे निश्चय ही हाथीकी भद्रता-भद्रजाति प्रकाशित हो जाती है । हाथीके व्यवहारसे उसकी भद्रताका पता चल जाता है, इसी प्रकार आपके न्याय्य व्यवहारसे आपकी सुशीलताका स्पष्ट आभास हो जाता है ॥९॥ आप गुणी हैं, फिर भी कुछ दिनोमे आप ऐसे मदान्ध-से देख पडते है कि अपनी पुरानी परिपाटोको ताकमे रखकर और अपने प्राचीन वंश-की मर्यादाका उल्लङ्घन करके विपरीत चेष्टा करने लगे हैं ॥१०॥ आपके वंशज हमारे वंशजो-को प्रणाम करते आ रहे हैं, यह पुरानी परिपाटी है, जिसे आपने बिलकुल ही तोड दिया है ।

---

१. आ इ सुशीतलताम् । २ क ख ग घ म प्रकाशते । ३. आ इ °रिवेक्षसे । ४. आ इ मदच्युतार्गला, म मदस्रुतार्गला । ५. श माञ् । ६. श पीडया । ७. = उल्लङ्घ्य । ८ = वंशे । ९ आ णमु प्रह्वत्वे शब्दे च । १० = अतिक्रान्ता ।

करिणो मदमूढचेतसः परिपश्यन्स्वयमेव बन्धनम् ।
भजते मदवृत्तिमात्मवान्क इवानात्महितप्रवर्तिनीम् ॥१२॥
मदमूढमतिर्हिताहितं न हि जात्यन्ध इवावलोकते[1] ।
परिपश्यति सोऽथवा धिया न मदान्धस्तु धिया न चक्षुषा ॥१३॥
षडमी रिपवः शरीरजा नयविद्भिर्गदिता मदादयः ।
निजचेतसि यः पुरैव तान्नृपतिः शास्ति स शास्ति मेदिनीम् ॥१४॥
क्षमते निजमेव रक्षितुं रिपुषड्वर्गहतं मनो न यः ।
परिभूतिभयादिवात्मनस्तमपास्यापसरन्ति सम्पदः ॥१५॥

(अतिक्रान्ता) । उपमा ॥११॥ करिण इति । मदमूढचेतसः मदेन मूढमज्ञानं चेतश्चित्तं यस्य तस्य । करिणः गजस्य । बन्धनं स्वयमेव, परिपश्यन् विलोकमानः । अनात्महितप्रवर्तिनीम् अनात्महिता स्वस्याहिता प्रवर्तिनी प्रवर्तनाम् । मदवृत्तिं मदेनाहङ्कारेण युक्ता वृत्तिं वर्तनाम् । आत्मवान् बुद्धिमान् । क इव को वा । इव शब्दो वाक्यालङ्कारे । भजते आश्रयते । भज सेवायां[2] लट् । आक्षेपः ॥१२॥ मदेति । मदमूढमतिः मदेन गर्वेण मूढा मुग्धा मतिर्बुद्धिर्यस्य सः । जात्यन्ध[3] इव जनुषान्ध इव । हिताहितम् इष्टानिष्टम् । न हि अवलोकते न वीक्षते । लोकृञ् दर्शने लट् । अथवा जात्यन्धः, धिया बुद्ध्या । परिपश्यति पर्यालोकते । दृशृ[4] प्रेक्षणे लट् । मदान्धस्तु मदेनान्धस्तु । धिया च न पश्यति, चक्षुषा च नयनेन च न पश्यति । उपमा । व्यतिरेकः ॥१३॥ षडिति । नयविद्भिः नयं नीतिशास्त्रं विदन्तीति नयविदः, तैः । शरीरजा अन्तरङ्गभवाः । मदादयः मदप्रभृतयः । 'कामक्रोधलोभमानमदहर्षाः क्षितीशानामन्तरङ्गोऽरिषड्वर्गः'—इति नीतिवाक्यामृते । अमी इमे । षड् रिपवः शत्रवः । गदिताः प्रोक्ताः । यः नृपतिः भूपतिः । पुरैव प्रागेव । निजचेतसि स्वस्य मानसे । तान् शरीरजरिपून् । शास्ति निगृह्णाति । सः भूपः । मेदिनीं भूमिम् । शास्ति रक्षति । शास[5] अनुशिष्टौ लट् ॥१४॥ क्षमत इति । यः राजा रिपुषड्वर्गहतं[6] रिपूणां शत्रूणां षण्णां वर्गः समूहः तेन हृतं[7] बाधितम् । निजमेव स्वकीयमेव । मनः चित्तम् । रक्षितुं रक्षणाय । न क्षमते समर्थो न भवति । क्षमूषि[8] सहने लट् । तं राजानम् । सम्पदः सम्पत्तयः । आत्मनः स्वस्य । परिभूतिभयादिव परिभूतेस्तिरस्कारस्य भयादिव भीतेरिव ।

जैसे मदमाता हाथी अर्गला (आगर) को तोड देता है ॥११॥ मदान्ध हाथीके बन्धनको स्वयं देखकर भी कौन ऐसा बुद्धिमान् होगा, जो अपने लिए अहित करनेवाली मदान्ध वृत्तिको अपनावे ॥१२॥ जिसकी बुद्धि मदसे विकृत हो जाती है, उसे जन्मान्ध पुरुषकी भाँति अपना हित और अहित नही सूझता । यो मदान्ध और जन्मान्ध बिल्कुल एक सरीखे हैं, किन्तु जन्मान्ध पुरुष अपनी बुद्धि (हियेकी आँख) से सभी ओर देख लेता है—आगा-पीछा सोच लेता है, पर मदान्ध न हियेकी आँखसे देख सकता है, और न ऊपरी आँखसे । अतः मदान्ध जन्मान्धसे भी गया-बीता है । १३॥ नीतिशास्त्रके जाननेवाले विद्वानोने इन मद आदि छः—(मद, मान, काम, क्रोध, लोभ और हर्ष) को अन्तरंग शत्रु कहा है । जो राजा पहलेसे ही अपने मनमे इन छहो पर शासन कर लेता है, वही पृथिवीका शासन करता है ॥१४॥ जो राजा अपने ही मनको इन छह शत्रुओंके आक्रमणसे नही बचा सकता, उसकी लक्ष्मी मानो अपने

---

१ अ °लोकति । २ आ 'भज सेवायां' इति नास्ति । ३ =जन्मान्ध इव । ४. आ दृशिर् । ५ आ शासु । ६ आ श °हृत । ७ आ श हृत । ८. आ क्षमूष् ।

शठता भवतोऽङ्कुशक्रिया द्विरदेनेव मयावधीरिता ।
चिरकालमियं[1] त्वयाधुना विहितो योऽपनयः स दुःसहः ॥१६॥

वनकेलिरिति द्विपाधिपः स्वयमागत्य तवाविशत्पुरम् ।
स धृतो भवतेति सत्वरैर्मम निश्चित्य चरैर्निवेदितम् ॥१७॥

स्वयमेव किल प्रहेष्यसि द्विरदं तं ननु नष्टवस्तु मे ।
स पुनर्भवतात्मसात्कृतो मदपेक्षारहितेन वारणः ॥१८॥

इति ते विनिवेदितं मया कुरु जानासि यदात्मशान्तये ।
हितमज्ञजनो हि शिष्यते न भवान्नीतिसमुद्रपारगः ॥१९॥

अपास्य मुक्त्वा । अपसरन्ति निर्गच्छन्ति । सृ गतौ लट् । आक्षेप (उत्प्रेक्षा) ॥१५॥ शठतेति । भवत तव । शठता दुर्जनता । द्विरदेन गजेन । अङ्कुशक्रिया इव सृणिव्यापार इव । मया, चिरकाल[2] अवधीरिता[3] क्षान्ति कृता । य अयम् । अपनय. दुर्नय । अधुना इदानीम् । त्वया भवता । विहित कृत । स अपनयः । दुःसह सोढुमशक्य । अभवत् ॥१६॥ वनेति । वनकेलिरिति वनकेलिनामधेय. । द्विपाधिप गजपतिः । स्वयम् आगत्य एत्य । तव भवत । पुर नगरम् । अविशत् अगच्छत् । सः द्विपाधिप. । भवता त्वया । धृत. स्वीकृत. । इति एवम् । सत्वरैः शीघ्रगमनयुक्तै । चरै. दूतैः । निश्चित्य निर्णीय । मम मे । निवेदितं[4] नियोजितम् ॥१७॥ स्वयमिति । तं द्विरद त गजपतिम् । स्वयमेव[5] त्वमेव । प्रहेष्यसि किल प्रहेषयन् भविष्यसि किल । नष्टवस्तु[6], मे मम । ननु[7] निश्चय. । पुन पश्चात् । सः वारण वनकेलिः इति गजपति. । मदपेक्षारहितेन मम मे अपेक्षया वाञ्छया सहितेन । भवता त्वया । आत्मसात्कृतः स्वाधीन (न) कृत. । प्रागनात्माधीन इदानीमात्माधीनः क्रियते स्म आत्मसात्कृत । 'व्याप्तौ सात्' इति सात्-प्रत्यय ॥१८॥ इतीति । मया, इति एवम् । ते भवत । विनिवेदित विज्ञापितम् । यद् आत्मशान्तये आत्मन स्वस्य शान्तये हितनिमित्तम् । जानासि बुध्यसे[8] । ज्ञा अवबोधने लट् । तत्कार्यं कुरु विधेहि । डुकृञ् करणे लोट् । अज्ञजनो हि मूढलोकोको हि । हित शिष्यते शिक्ष्यते । शासु[9] अनुशिष्टौ कर्मणि लट् । नीतिसमुद्रपारग नीतिरेव

अपमानके भयसे उसे छोडकर चली जाती है ॥१५॥ जैसे हाथी अंकुशकी चुभनको चिरकाल सहता है, वैसे मैंने तुम्हारी धूर्तता बहुत समय तक सही, और उसकी ओर उपेक्षा की, किन्तु अभी-अभी तुमने जो अन्याय किया है, वह मेरे लिए असह्य है ॥२६॥ क्या अन्याय किया ? सुनिये, हमारा 'वनकेलि' नामका एक गजराज स्वय वहाँ पहुँच कर तुम्हारे नगरमे घुस गया, उसे तुमने पकड लिया है । इस बातको निश्चित रूपसे जानकर हमारे गुप्तचरोने शीघ्र ही हमे खबर दी है ॥१७॥ मैं सोचता था कि तुम मेरी खोई हुई चीजको अर्थात् उस हाथीको स्वय मेरे पास भेज दोगे, किन्तु मेरी उपेक्षा करके तुमने उसे अपना बना लिया है ॥१८॥ बस, मैंने तुमसे इतना निवेदन कर दिया है, अब जो तुम्हारी शान्तिके लिए हो—जिससे तुम्हे शान्ति हो, सो करो । हितकी शिक्षा मूर्खको दी जाती है । आपको हितकी शिक्षा कैसे दो जा सकती है ? क्योकि आप तो नीतिशास्त्रके—जो समुद्रकी भाँति अपार है—पारगामी

---

१. आ इ °मयं । २ = बहुकालपर्यन्तम् । ३ = उपेक्षिता । ४ = कथितम् । ५. = स्वत एव । ६. आ श नष्टेन वस्तु । ७. = निश्चयेन । ८. श बुध्यसि । ९. आ शासु ।

तदवेत्य वचः प्रभोरिदं भव नम्रोऽर्पय तं मतङ्गजम् ।
न भवन्ति हि जातुचिन्नदा जलधौ तिष्ठति रत्नभाजनम् ॥२०॥
अपरानपि यच्छति द्विपानमुनैकेन विभुः प्रसादितः ।
परिकुप्यति चेत्स दारुणो न तवायं भविता न चापरे ॥२१॥
प्रविहाय जिगीषुतामिमां भव गत्वा प्रभुपादवत्सलः ।
अधिकं तव लाभमिच्छतो ननु तन्मूलमपि प्रणङ्क्षयति[1] ॥२२॥

समुद्रो जलधि तस्य पारग. तीर गतवान् । भवान्, न शिष्यते ॥१९॥ तदिति । तत् तस्मात्कारणात् । प्रभो स्वामिन. । इदम् एतत् । वच वचनम् । अवेत्य ज्ञात्वा । नम्र विनयशीलः । 'नम्कम्य—' इत्यादिना शीलार्थे र-प्रत्यय । भव स्या । भू सत्ताया लोट्[2] । त मतङ्गज वनकेलिनामधेय गजम् । अर्पय देहि । ऋ प्रापणे णिजन्ताल्लोट्[3] । 'ह्लोल्वी—' इत्यादिना पक—आगम । जलधौ समुद्रे । तिष्ठति सति विद्यमाने सति । जातुचिदपि एकवारमपि । नदा नद्य । रत्नभाजन रत्नाना भाजनम् आधार.[4] । न भवन्ति हि । अर्थान्तरन्यास ॥२०॥ अपरानिति । अमुना एतेन । एकेन गजेन । प्रसादित सतोषित. । विभु पृथिवीपालः । अपरान् अन्यान् । द्विपानपि गजानपि । यच्छति ददाति । दाण् दाने लट् । 'पाघ्रा—' इत्यादिना दाण्[5] धातोर्यच्छ-आदेश । स. विभु । दारुण सन् भयकर सन् । परिकुप्यति[6] चेत् कोपयति चेत् । कुप क्रोधे लट् । अय गज । तव ते । भविता[7] भविष्यन् । न अपरे अन्ये । गजाश्च न न भवितार.—इत्यर्थ । आक्षेप (विषमालङ्कार.) ॥२१॥ प्रविहायेति । इमाम् एताम् । जिगीषुता जेतुमिच्छुत्वम्[8] । प्रविहाय विमुच्य । गत्वा प्राप्य । प्रभुपादवत्सल प्रभो पादयोश्चरणयोर्वत्सलो वात्सल्ययुक्त । भव भवे । भू सत्ताया लोट्[9] । अधिक बहुलम् । लाभमिच्छत[10] वाञ्छत । तव ते । तन्मूलमपि तस्य लाभस्य मूलमपि, लाभाय दीयमानराज्यादिरपि[11]—इत्यर्थ । प्रणङ्क्षयति[12] नाशमेष्यति । ननु निश्चयेन । नश्[13]

हैं ॥१९॥ राजन् ! यह मेरे स्वामी पृथिवीपाल राजाका सन्देश है । इसे समझकर जो उचित हो, कीजिये । यदि मेरी सलाह उचित हो तो आप नम्र हो जाइये और वह हाथी वापिस कर दीजिये । क्योंकि समुद्रके रहते हुए नद कभी रत्नोका पात्र नही हो सकता । समुद्र ही तो रत्नाकर कहलाता है । इसी तरह उत्तम गजरत्नका पात्र केवल पृथिवीपाल हो सकता है । 'रत्नहारी हि पार्थिव ' यह उक्ति पृथिवीपालके लिए है ॥२०॥ यदि इस एक अकेले वनकेलि हाथीको वापिस करके तुमने पृथिवीपालको प्रसन्न कर लिया, तो वह तुम्हे और भी हाथी प्रदान करेगा । यदि तुम हाथी वापिस नही करोगे, तो वह भीषण रूप धारण कर लेगा, फिर तुम्हारे पास न यह वनकेलि रहेगा, और न अन्य हाथी भी, जो इस समय तुम्हारे पास हैं ॥२१॥ जीतनेकी इस इच्छाको छोडो और पृथिवीपालके पास जाकर उसके चरणोमे अपना वात्सल्य प्रकट करो । यदि तुम अधिक लाभके लोभमे पडोगे, तो निश्चय ही तुम्हारा मूल (राज्य) भी

१. अ प्रणेङ्क्ष्यति । २ श लेट् । ३ श लिट् । ४ आ आधारभूतम् आविष्टलिङ्गम् । ५ आ दाणो° । ६ =क्रुध्यति चेत् । ७. =भविष्यति । ८ श °मिच्छत्वम् । ९ श लेट् । १० श °मिच्छो । ११ आ लोभया धिया मानराज्यादित्यर्थ । १२ आ प्रणस्यति । १३. श णश् ।

क्षमते विनयातिलङ्घनं स यथा ते गदितास्मि ते तथा।
ननु[1] तत्र भवत्यसंशयं मम वाक्येन पयोऽपि गोरस ॥२३॥
हितमिच्छसि चेदकैतवां कुरु मद्वाचमथ प्रियप्रिय[2]।
रहसि व्रज तिष्ठ भाषयञ्जय जीवेति गिरः स्वयोषितः ॥२४॥
इति भाषिण[3] एव भारतीं रिपुदूतस्य सगर्वमाक्षिपन्।
[4]नरनाथदृशा कटाक्षितो युवराजो गिरमित्युदाहरत् ॥२५॥
विनयप्रशमकभूषणं परमन्यायसमर्थनोद्यतम्।
प्रविहाय भवन्तमीदृशं वचनं वक्तुमुपक्रमेत कः ॥२६॥

अदर्शने लृट्। 'नश्मस्—' इत्यादिना नम्[5]-आगम ॥२२॥ क्षमत इति। स. प्रभु.। ते तव। विनयातिलङ्घन विनयातिक्रमम्। यथा येन प्रकारेण। क्षमते सहते। क्षमोषि[6] सहने लट्। तथा तेन प्रकारेण। त विभुम्। गदितास्मि भणिष्यामि। गद व्यक्तायां वाचि लुट्, उत्तमपुरुषैकवचनम्। विनयातिलङ्घन न क्षमेत[7] इत्यर्थ.। तत्र पृथिवीपाले भूपे। मम मे। वाक्येन वचनेन। पयोऽपि जलमपि। गोरस क्षीरम्। असशय निश्चयेन[8]। भवति जायते। अतिशय ॥२३॥ हितमिति। प्रियप्रिय प्रियेषु प्रिय भो मित्र, अत्यन्त मित्र[9]—इत्यर्थ। हित स्वस्य हितम्। इच्छसि चेत् वाञ्छसि चेत्। इमाम् एताम्। मद्वाच मम मे वाचं वचनम्। अकैतवा सत्यरूपाम्। कुरु विधेहि। डुकृञ् करणे लोट्[10]। स्वयोषित. स्वस्य योषितो वनिता। जय जीव इति, गिर' वचनानि। भाषयन् उच्चारयन्। रहसि निशायाम् (एकान्ते)। व्रज गच्छ। तिष्ठ ॥२४॥ इतीति। इति उक्तप्रकारेण। भाषिण. एव भाषणशीलस्यैव। रिपुदूतस्य शत्रोर्दूतस्य वचोहरस्य। सगर्व गर्वयुक्त। यथा तथा। भारती वचनम्। आक्षिपन् निवारयन्। नरनाथदृशा नरनाथस्य पद्मनाभस्य। दृशा नयनेन। कटाक्षित[11] कटाक्षेण दर्शित। युवराज सुवर्णनाभकुमार.। इति वक्ष्यमाणप्रकारेण। गिर भारतीम्। उदाहरत् अब्रवीत्। हृञ् हरणे लङ् ॥२५॥ विनयेति। विनयप्रशमैकभाषण[12] विनयप्रशमो एकभाषणे एकवचनं यस्य तम्, अन्यत्र विगतनयप्रशमैकभाषणम्। परमन्यायसमर्थनोद्यत परमश्चासौ न्यायश्च परमन्यायस्तस्य समर्थने साधने उद्यतमुद्युक्तम्, अन्यत्र पर केवलमन्यायसमर्थनोद्यतम्। भवन्त

नष्ट हो जायेगा—'लाभमिच्छतो मूलच्छेदः' यह उक्ति चरितार्थ होगी ॥२२॥ मैं पृथिवीपाल भूपालसे तुम्हारे बारेमे ऐसे ढगसे बात करूँगा, जिससे वह तुम्हारे इस विनयके उल्लघनको क्षमा कर देगा। यह निश्चित है कि मेरे कहनेसे वह पानीको भी दूध मान लेगा ॥२३॥ हे प्रियवर! यदि तुम अपना हित चाहते हो तो मेरे निश्छल वचनका पालन करो, और अपनी स्त्रियोसे 'जय हो महाराजकी, जियो महाराज' यह कहलवाते हुए जाओ और एकान्तमे पृथिवीपालसे मिलो ॥२४॥ इतना सुनकर पद्मनाभने युवराज सुवर्णनाभको ज्योही आँखका इशारा किया त्योही उसने, उक्त प्रकारसे बडे घमण्डसे बोलनेवाले पृथिवीपालके दूतको टोककर यो उत्तर दिया—॥२५॥ हे दूत! विनय और शान्तिपूर्वक बोलनेवाले और उत्कृष्ट न्यायका समर्थन करनेके लिए तैयार रहनेवाले तुम्हे छोडकर ऐसे वचन और कौन कह सकता है? (यह प्रशसा परक अर्थ हुआ) हे दूत! नीति और शान्ति रहित भाषण करनेवाले और सरासर अन्यायका समर्थन करनेके लिए तैयार रहनेवाले तुम्हे छोड़कर ऐसे वचन कहनेके

१ आ इ खलु तत्र। २ अ मथाप्रियाप्रिय, आ इ म मिमा प्रियाप्रियः, क ख ग घ °मथ प्रियप्रिय'। ३. इ भाषण एव। ४ आ इ पृथुवोप°। ५ आ 'नश्च भ्रश्च' इत्यादिना नुमागमः। ६ आ क्षमूष्। ७. = लङ्घन क्षमेत। ८. आ निश्चयम्। ९ आ °न्त प्रिय°। १०. म लेट्। ११. = कृतसकेत इत्यर्थः। १२. एष टीका पाठ. प्रतिषु तु 'भूषण' इत्येव पाठ. समुपलभ्यते।

सचिवरधुना भवद्विधैः परमेधोद्यमयोग्यतान्वितैः ।
सहितस्य कथं भवेत्प्रभोस्तव भूतिः प्रचुरा न मन्दिरे ॥२७॥
विनयैकरतिर्महागुणः सकलेऽस्मिन्भुवने स गण्यते ।
नृपतिः प्रविनिन्दितं सतामुचितं तस्य[1] विधातुमीदृशम् ॥२८॥
यदि भाग्यवशेन वारणो गृहमस्माकमयं व्यगाहत[2] ।
इयतैव किमक्षमा प्रभोः परवृद्धिष्वसतां हि मत्सरः ॥२९॥

त्वाम् । प्रविहाय विमुच्य । ईदृशम् एतादृशम् । वचन भाषणम् । वक्तु निगदितुम् । क. को वा । उपक्रमेत प्रारभेत । क्रमू पादविक्षेपे लङ् । 'प्रोपाभ्या समर्थाभ्याम्' इति तङ् । श्लेष ॥२६॥ सचिवैरिति । परमेधोद्यमयोग्यतान्वितैः परा उत्कृष्टा मेधा धारणाबुद्धि , परा चासौ मेधा च तस्या उद्यम उद्योग तस्य योग्यतया योग्यत्वेनान्वितैर्युक्तै , अन्यत्र पर केवलम् एधोद्यम इन्धनानामुद्यम उद्योग तेन अन्वितै । भवद्विधै भवादृशै । सचिवै दूतै । अधुना इदानीम् । सहितस्य युक्तस्य । तव ते । प्रभो पृथिवीपालस्य । मन्दिरे गृहे । भूति सपत्, अन्यत्र भस्म । प्रचुरा बहुला । कथ[3] केन । न भवेत् न स्यात् । लिङ्[4] । श्लेषः ॥२७॥ विनयेति । अस्मिन् एतस्मिन् । सकले निखिले । भुवने लोके । विनयैकरति विनये एका मुख्या रति. प्रीतिर्यस्य स', अन्यत्र विगतनयैकप्रीति । महागुण महन्तो गुणा यस्य स , अन्यत्र महान्तो अगुणा दोषा यस्य सः । स नृपति भूपति. । गण्यते[5] सख्याक्रियते । गण सख्याने कर्मणि लट् । सता सत्पुरुषै । प्रविनिन्दितं[6] प्रकुत्सितम् । 'वा नाकस्य—' इत्यादिना कर्मणि[7] षष्ठी । ईदृशम् एतादृश कार्यम् । विधातु कर्तुम् । उचितम् । श्लेष ॥२८॥ यदीति[8] । यदि भाग्यवशेन[9] भाग्यस्य दैवस्य वशेन अधीनेन । अयम् एष । वारण. गजपति. । अस्माक गृह मन्दिरम् । व्यगाहत प्रविशति स्म । गाहौङ्[10] विलोडने लङ् । इयतैव एतावतैव । प्रभो. भवत स्वामिनः । अक्षमा [किं] मात्सर्यं किम् । असता दुर्जनानाम् । परवृद्धिषु[11] परेषामन्येषा वृद्धिषु[12] सपत्तिषु ।

लिए और कौन उपक्रम (प्रारम्भ) कर सकता है ? (यह निन्दापरक अर्थ हुआ) ॥२६॥ हे दूत ! दूसरोकी बुद्धिको प्रेरणा देनेकी योग्यतावाले आप सरीखे सलाहकारोसे युक्त पृथिवीपालके महलमे इस समय प्रचुर सम्पत्ति क्यो न हो ? (यह स्तुतिपरक अर्थ है) हे दूत ! केवल ईंधन ले आनेकी योग्यता रखनेवाले तुम्हारे सरीखे नौकरोसे युक्त तुम्हारे स्वामी पृथिवीपालके घरमे इस समय भस्म क्यो न हो ? (यह निन्दा परक अर्थ है) ॥२७॥ 'वह राजा पृथिवीपाल विनयमे अत्यन्त आसक्त और महान् गुणी है', इस रूपमे उसकी इस संसारमे गणना की जाती है । सज्जनोके द्वारा श्लाघ्य समझे जानेवाले, ऐसे काम करना उसके लिए उचित है । (यह स्तुतिपरक अर्थ है) इस ससारमे सभी जगह पृथिवीपालकी गणना अन्यायमे आसक्त और महान् दुर्गुणोके रूपमे की जाती है । अत' सज्जनोके द्वारा निन्दनीय, ऐसे काम करना, उसके लिए उचित है । (यह निन्दापरक अर्थ है) ॥२८॥ यदि भाग्यवश यह हाथी हमारे घरमे घुस आया, तो इतने मात्रसे तुम्हारे प्रभुजी महाराज आपेसे बाहर क्यो हो रहे हैं ? सच तो यह है कि दूसरोकी वृद्धि होनेपर दुर्जनोको डाह हुआ करती

---

१ अ यस्य । २. क ख ग विगाहत । ३. = केन प्रकारेण । ४. ग लेङ् । ५. = गणनाविषयीक्रियते । ६. श 'प्र' नास्ति । ७ आ करणार्थे । ८ आ यदिति । ९ = दैवात् । १०. आ गाहृ । ११. आ परमर्धिषु । १२. आ ऋद्धिषु ।

इह तावददातुमिच्छतां निजमस्माकमयं किलाक्रम. ।
परवस्तु जिगीषतां पुनर्भवतामेष किमुच्यते क्रमः ॥३०॥

वचनं क खलूपयुज्यते प्रभुरस्मि क्रमतोऽहमित्यदः ।
ननु खड्गबलेन भुज्यते वसुधा न क्रमसंप्रकाशनैः ॥३१॥

करिणीपतिरन्यदेव[1] वा कृतपुण्यं समुपैति वस्तु यत् ।
बलिना तदपास्यते बलान्नहि लोके क्वचिदीदृश क्रमः ॥३२॥

अथ सप्रणयेन याचते करिणीनाथमनाथवत्सलः ।
इति ते विनिवेदितं मयेत्यभिधत्ते[2] भयदर्शि किं वचः[3] ॥३३॥

मत्सर· मात्सर्यं हि । अर्थान्तिरन्यास ॥२९॥ इहेति । इह अस्मिन् जगति । तावत् प्रथमम् । निजं स्वकीयं वस्तु । अदातुम् अदानाय । इच्छता वाञ्छताम् । अस्माकम्, अयम् एष । अक्रम किल अन्याय किल । पुनः पश्चात् । परवस्तु अन्यदीयं वस्तु । जिघृक्षता गृहीतुमिच्छताम् । भवता युष्माकम् । एष अयम् । क्रम 'न्याय' इति उच्यते निगद्यते किम् ॥३०॥ वचनमिति । अह क्रमत वशक्रमात् । प्रभु राज्याधिपतिः । अस्मि भवामि । अस भुवि लट् । [इति] अद· एतत् । वचन भाषणम् । क्व कुत्र । खलु स्फुटम् । उपयुज्यते प्रयुज्यते । वसुधा भूमि । खड्गबलेन शस्त्रबलेन । भुज्यते अनुभूयते । भुज पालनाभ्यवहारयो कर्मणि लट् । क्रमसप्रकाशनै. क्रमस्य[4] परिपाटया सप्रकाशनै प्रकटनै[5] । [ननु निश्चयेन] । न भुज्यते[6] ननु निश्चयम् । अर्थान्तिरन्यास ॥३१॥ करिणीति । करिणीपतिः गजपति । अन्यदेव वा गजादन्यत् अमूल्यरत्नादि वा । यत् वस्तु । कृतपुण्य कृत पुण्य सुकृत येन तम् । पुरुष समुपैति सप्राप्नोति । इण् गतौ लट् । तत् वस्तु । बलिना सामर्थ्यवता पुरुषेण । बलात्[7] सामर्थ्यात् । अपास्यते आकृष्यते गृह्यते[8] वा । असू[9] क्षेपणे कर्मणि लट् । ईदृश एतादृशः । क्रम परिपाटी, मम गजो मदीय -इति क्रम । लोके जगति । क्वचित् नहि नास्ति हि ॥३२॥ अथेति । अथ अथवा । अनाथवत्सल अनाथेषु दीनजनेषु वत्सल प्रीतिमान् । स[10] पृथिवीपाल[11] । करिणीनाथ गजपतिम् । प्रणयेन विनयेन । याचते प्रार्थ्यते । याचृ[12] याचने लट् । इति एवम् । ते तव । मया विनिवेदित ज्ञापितम्—इत्युक्ते (इत्युक्तम्) । भयदर्शि भयप्रकाशि । वच: वचनम् ।

है ॥२९॥ हम अपनी वस्तु आपको नही देना चाहते, इसे आप हमारा अन्याय कहते हैं, तो फिर पराई (हमारी) वस्तुको जो आप स्वय हडप लेना चाहते हैं, उसे क्या आपका न्याय कहा जायेगा ? ॥३०॥ 'मैं पीढी-दर-पीढीसे साम्राज्यका स्वामी हूँ' यह कहना कहाँ उपयोगी है ? निश्चय ही तलवारके बलपर पृथिवीका भोग किया जाता है, न कि वश परम्पराका राग अलापनेसे ॥३१॥ गजराज या और भी कोई वस्तु, जो पुण्यवान् पुरुषको प्राप्त हो, उसे कोई तीसमारखाँ बलात् छीन ले, ऐसा न्याय या ऐसी परिपाटी इस दुनियामे कही भी नही है ॥३२॥ और, यदि वह दीनानाथ (दीन, अनाथ) विनय पूर्वक हमसे हाथीकी याचना करना चाहता है, तो 'मैंने तुमसे निवेदन कर दिया' (६ से १९वें श्लोक तक) ये डर दिख-

---

१ इ °रन्यदेव । २ आ इ °वत्से । ३ आ इ तं वच । ४. वशस्य । ५ आ प्रकटक्रियाभि· । ६ =नानुभूयते । ७. =हठात् । ८ आ दृश्यते । ९. आ असु । १० श 'स' इति नास्ति । ११. आ पृथ्वीपा° । १२. आ याचृ ।

किमु तस्य न सन्ति वारणा बहवोऽन्ये परपक्षवारणाः ।
अमुना स पदेन मन्दधीर्ध्रुवमस्मानभियोक्तुमिच्छति ॥३४॥
बलवानहमित्यहंक्रिया नहि सर्वत्र भवेत्प्रशान्तये ।
अधिकक्रमतैव मृत्यवे ननु सिंहस्य घनं लिलङ्घिषोः ॥३५॥
बलगर्वितयैव निष्फलं प्रविधित्सुर्महतामतिक्रमम् ।
स्वयमेव खलः स भोत्स्यते[1] कटुनो यन्मधुरस्य चान्तरम् ॥३६॥
शयितस्य हरेः प्रबोधनामिति कुर्वन्तमुपेत्य मत्प्रभुः ।
सहसैव हिनस्ति किं न तं यदि न स्यात्क्षमया निवारितः ॥३७॥
अभियुज्य निहन्ति यो रिपूनभियुक्तः स पुनर्विशेषतः ।
ज्वलितुं स्वयमुत्सुकः शिखी[2] सुतरां मारुतसंप्रधुक्षितः ॥३८॥

(किम्) अभिधत्ते (किं) वदति । डुधाञ् धारणे च लट् । किं किं निमित्तम् ॥३३॥ किमितिति[3] । तव भूपते । परपक्षवारणा परेषां पक्षस्य सेनाया वारणा तिरस्कर्तारः । 'कृतकामुकस्य—' इत्यादिना कर्मणि षष्ठी । अन्ये केचित् । बहव बहुलाः । वारणाः गजा. । न सन्ति न विद्यन्ते । अस भुवि लट् । किमु किम् । मन्दधी मन्दबुद्धिः । स तव भूप । अमुना एतेन । पदेन व्याजेन । अस्मान्, अभियोक्तु योद्धुम् । इच्छति वाञ्छति । ध्रुव निश्चयेन ॥३४॥ बलवानिति । अह बलवान् सामर्थ्यवान् इति । अहंक्रिया अहंकार । सर्वत्र सर्वप्रदेशेषु कार्येषु वा । प्रशान्तये सुखाय । न भवेद्धि न स्याद्धि [नहि भवेत् नहि स्यात्] । भू सत्तायां लिङ्[4] । घनं मेघम् । लिलङ्घिषो लङ्घितुमिच्छो । सिंहस्य कण्ठीरवस्य । अधिकक्रमता अधिकमत्यन्त क्रमता पादविक्षेपतैव । मृत्यवे मरणाय[5] । ननु । अर्थान्तरन्यास ॥ ३५ ॥ बलेति । बलगर्वितयैव बलेन सामर्थ्येन गर्वितयैव गर्वयुक्ततयैव । महता महापुरुषाणाम् । निष्फल प्रयोजनरहित यथा तथा । अतिक्रम लङ्घनम् । प्रविधित्सु कर्तुमिच्छु । स खल दुर्जन । कटुन कटुवस्तुन. । मधुरस्य मधुरवस्तुनश्च । यत् अन्तर तारतम्यम्, अस्ति । (तत्) स्वयमेव भोत्स्यते[6] ज्ञास्यते । बुधि मनि ज्ञाने लृट् । 'बशो भष्—' इत्यादिना भषादेशः । आक्षेप ॥३६॥ शयितस्येति । इति एवम् । शयितस्य सुप्तस्य । हरे. सिंहस्य । प्रबोधना[7] जागरणम् । कुर्वन्त विदधतम् । त[8] पुरुषम् । समुपेत्य समीप गत्वा । मत्प्रभु स्वामी क्षमया [9]शान्त्या । निवारितः निरुद्ध । यदि न स्यात् न भवेत्, तर्हि । सहसैव शीघ्रमेव । न हिनस्ति किं न हन्ति किम्[10], अपितु हन्त्येव ॥३७॥ अभियुज्येति । य भूप । रिपून् शत्रून् । अभियुज्य अभिषेणयित्वा, शत्रून् प्रति सेनया सह अभिगम्य—इत्यर्थ । निहन्ति हिनस्ति । हन हिंसागत्योर्लट् । सः

लानेवाले धमकी भरे वचन क्यों कहता है ? ॥३३॥ क्या उसके पास शत्रुओंकी सेनाका वारण करनेवाले (परेषा शत्रूणा पक्ष वारयन्तीति परपक्षवारणाः) और बहुतेरे हाथी नहीं हैं, जो वह नादान इस बहाने हमसे युद्ध करना चाहता है ॥३४॥ 'मैं बलवान् हूँ' यह अहंकार सभी जगह सुखदायी नहीं हो सकता। मेघको लाँघनेकी इच्छा करनेवाले सिंहकी ऊँची छलांग ही उसकी मृत्युके लिए हो जाती है ॥३५॥ केवल बलके घमण्डसे बड़ोंके ऊपर निष्प्रयोजन आक्रमण करनेका इरादा करनेवाला वह दुर्जन पृथिवीपाल अपने आप कड़ुए और मीठेका फर्क जान जायेगा ॥३६॥ यदि क्षमाने न रोक लिया होता तो इस तरह सोए हुए सिंहको जगानेवाले पृथिवीपाल को, मेरे प्रभु–पिता पद्मनाभ, सहसा चढ़ाई करके क्या मार न डालते ? ॥३७॥ जो झूठा अभियोग लगाकर अथवा आक्रमण करके शत्रुओंको मारनेको उद्यत होता है, वह

१ आ द्द भोत्स्यते, म मोक्ष्यते । २. अ शखी । ३. आ किमिति । ४ श लेट् । ५ = भवतीति शेष । ६. श बोत्स्यते । ७ श प्रचोदना । ८ =पृथिवीपालम् । ९ आ शील्या । १० श 'न हन्ति किम्' इति नोपलभ्यते ।

क्षयवान्विजिगीष्यते परैर्व्यसनी दैवविवर्जितोऽथवा ।
कलिता वद तत्र के वयं प्रसभं त्वत्प्रभुणा जिगीषता ॥३९॥
भवति प्रियमिष्टसाधकं महति क्षुद्रजने हठक्रिया ।
इति किं न स वेत्ति मूढधीरथवा को विभवैः सचेतनः[1] ॥४०॥
न भवान्किमवैति यद्बलात्कुरुते राज्यमसावकण्टकम् ।
प्रहरन्ति न सांख्यपूरुषं ननु तं मत्प्रभुशङ्कयारयः ॥४१॥

राजा । पुन पश्चात् । अभियुक्त· अन्येन गृहीत. । विशेषत· विशेषात्, निहन्ति । शिखी वह्नि. । स्वयं ज्वलितुं दीपितुम् । उत्सुक उद्युक्त । मारुतसंप्रधुक्षित मारुतेन वायुना सप्रधुक्षित प्रवर्धित । सुतराम् अत्यन्त ज्वलति—इत्यर्थः । अर्थान्तरन्यास. ॥३८॥ क्षयवानिति । क्षयवान् नाशवान् । अथवा, व्यसनी कामक्रोधादिदोषवान् । दैवविवर्जित दैवेन पुण्येन विवर्जितो रहित । पर शत्रु । विजिगीष्यते जेतुमिष्यते । प्रसभं हठात् । जिगोषता जेतुमिच्छता । त्वत्प्रभुणा स्वामिना । तत्र त्रये । वय के कलिता गणिता निश्चिता वा । वद ब्रूहि । वद व्यक्तायां वाचि लोट्[2] । आक्षेप· ॥३९॥ भवतीति । महति स्वस्मादधिके । प्रिय प्रीति· । इष्टसाधकम् इष्टस्य अभीष्टस्य साधकम् । भवति जायते । क्षुद्रजने स्वस्माद्धीने[3] । हठक्रिया बलात्कार· (इष्टसाधिका) भवति । मूढधी· मूढा मन्दा धीर्मतिर्यस्य स । स राजा । इति किं न वेत्ति किं न जानाति । अथवा तथापि[4] विभवै सद्भि चेतनः चैतन्ययुक्तः क को वा वेत्ति । विद ज्ञाने लट् अर्थान्तरन्यास ॥४०॥ नेति । यद्बलात् यस्य पद्मनाभस्य बलात् सामर्थ्यात् असौ पृथ्वीपाल । राज्यं राज्ञो भाव: कृत्यं वा राज्य, देशाधिपत्यम् । अकण्टक न विद्यते कण्टको यस्मिन् कर्मणि तत् शत्रुरहित यथा तथा—इत्यर्थः । भवान् त्वम् । नावैति न जानाति किम् । भवच्छब्दप्रयोगे प्रथमपुरुष । सांख्यपूरुष सांख्येनाङ्गीकृतः पुरुष·, जडात्मा—इत्यर्थ । अकिंचित्कर त[5] पृथिवीपालम् । मत्प्रभुशङ्कया मम मे प्रभु. स्वामी तस्य शङ्का[6]

विशेष रूपसे अभियुक्त या आक्रान्त होकर स्वयं मारा जाता है—जो दूसरेको मारना चाहता है, वह स्वय दूसरेके द्वारा मारा जाता है । अग्नि जलनेके लिए स्वय उत्सुक रहता है, फिर वायुसे खूब प्रज्वलित होकर तो और भी अधिक जल उठता है । पद्मनाभ अग्निके समान हैं । पृथिवीपाल उन्हे छेड़ेगा तो स्वयं मारा जायेगा ॥३८॥ जो राजा क्षीण हो, दुर्व्यसनोमे फँसा हुआ हो अथवा भाग्यहीन हो, उसे दूसरे जीत लेना चाहते हैं । तुम्हारा स्वामी पृथिवीपाल हमे जीतना चाहता है, तो तुम हमे यह ता बताओ कि उसने हमे उन तीनोमे-से क्या समझ रखा है—क्षयवान्, दुर्व्यसनी या हतभाग्य ? ॥३९॥ 'महान् पुरुषके साथ किया गया प्रिय व्यवहार और क्षुद्र व्यक्तिके साथ किया गया बलात्कार इष्टको सिद्ध करनेवाला होता है' इस बातको क्या वह मूर्ख पृथिवीपाल नही जानता ? अथवा वैभव होनेसे कौन चेतना (बुद्धि) युक्त रह पाता है ?—वैभवके मदसे चेतना (बुद्धि) विकृत हो जाती है, जिससे विवेक लुप्त हो जाया करता है ॥४०॥ जिनके बलके भरोसे पृथिवीपाल निष्कण्टक राज्य कर रहा है, उन्हे क्या आप नही जानते ? न जानते हो तो सुनो, निश्चय ही मेरे पिताजीके भयसे ही शत्रु लोग उस जड और अकिंचित्कर पृथ्वीपालके ऊपर प्रहार नही

---

१ अ कुचेतन । २. श लेट् । ३. श स्वात्माधीने । ४. श तथा हि । ५. श पृथ्वी° । ६.=भीति ।

इति तस्य निशम्य भारतीं रिपुदूतः परिवृद्धमत्सरः ।
न्यगदीद्गुरुगर्वगद्गदामभिसर्पन्गिरमग्रतोऽग्रतः ॥४२॥
स्वहितं स्वधियैव बुध्यते पुरुषः सत्युदये सुकर्मणः ।
अविधेयविधिर्न बुध्यते स्वधिया नापि परेण बोधित. ॥४३॥
न निमित्तमिहोपदेशको न च शास्त्रं न च साधुसंगतिः ।
कुशलाकुशला च जायते[1] धिषणा दैववशेन देहिनाम् ॥४४॥
अवभाति निजं स पौरुषं कथयन्निर्वहते तथैव य. ।
निजविक्रमगर्विणो रणे हसनीया बहवो मयेक्षिता. ॥४५॥

सहाय तया । अरय शत्रव न प्रहरन्ति न घ्नन्ति । हृञ् हरणे लट् । आक्षेप. ॥४१॥ इतीति । इति उक्तप्रकारेण । तस्य सुवर्णनाभस्य । भारतीं वचनम् । निशम्य श्रुत्वा । परिवृद्धमत्सर परिवृद्ध प्रवृद्धो मत्सरो यस्य स । रिपुदूत शत्रुवचोहर । अग्रतोऽग्रत अग्रे अग्रे । वीप्सायां द्वि । अभिसर्पन् गच्छन् । गुरुगर्वगद्गदा गुरुणा महता गर्वेणाहंकारेण गद्गदा स्खलन्तीम् । गिर वचनम् । न्यगदीत् अभाषत । गद व्यक्तायां वाचि लुङ्[2] ॥४२॥ स्वहितमिति । पुरुष पुमान् । सुकर्मण पुण्यस्य । उदये फलदानपरिणतौ, सति । स्वहित स्वस्य हितम् । स्वधियैव स्वस्य धियैव बुद्धयैव । बुध्यते जानाति । बुधि मति ज्ञाने लट् । अविधेयविधिः अविधेय प्रतिकूलो विधि [3]कर्म[3] यस्य स, शुभकर्मरहित —इत्यर्थ । स्वधिया स्वबुद्धया । न बुध्यते न जानाति । परेण अन्येन । बोधितोऽपि ज्ञापितोऽपि । न न बुध्यते । आक्षेप ॥४३॥ नेति । इह[4] अविधेयबुद्धया (?) । उपदेशक गुरु । न [निमित्तम्] (कारणम्) नास्ति । शास्त्र नीत्यादि-शास्त्रम् । न च[5]नास्ति (निमित्त नास्ति) । साधुसगति साधूना सज्जनाना सगति ससर्गश्च । न नास्ति[5] देहिना जीवानाम् । कुशला [अकुशला] च प्रशस्ता (अप्रशस्ता) च । धिषणा बुद्धि । दैववशेन पुण्या-पुण्यवशेन । जायते उत्पद्यते । जनैङ् प्रादुर्भावे लट् । अर्थान्तरन्यास ॥४४॥ अवभातीति । य. पुरुष । निज स्वकीयम् । पौरुष सामर्थ्यादिकम् । कथयन् ब्रुवन् । तथैव [6]प्रोक्तप्रकारेणैव । निर्वहते सपूर्णयति[7] । वह प्रापणे लट् । स. पुरुष । अवभाति अवभासते । भा दीप्तौ लट् । निजविक्रमगर्विणः निजाना स्वेषा विक्रमेण पराक्रमेण गर्विणोऽहकारिण । बहव प्रचुरा । रणे सग्रामे हसनीया. हसितु योग्या. । मया ईक्षिता

करते—उसके निष्कण्टक राज्यका एकमात्र श्रेय पद्मनाभको है ॥४१॥ राजकुमार सुवर्णनाभके इन वचनोको (२६वें श्लोकसे ४१वें श्लोक तक) सुनकर शत्रु-पृथिवीपालके दूतका पारा चढ़ गया—वह क्रुद्ध हो उठा। फिर आगे-आगे बढकर अखर्व गर्व भरी बातें गद्गद होकर यो सुनाने लगा —॥४२॥ शुभकर्मका उदय होनेपर पुरुष अपनी बुद्धिसे ही अपना हित जान लेता है, किन्तु जिसका भाग्य प्रतिकूल हो, वह पुरुष न अपनी बुद्धिसे अपना हित जान पाता है, और न दूसरेके समझाने पर। हे सुवर्णनाभ ! पृथिवीपालका भाग्य अनुकूल है, अत वह अपने आप अपना हित समझता है, पर तुम्हारा भाग्य प्रतिकूल है, अत तुम अपने आप अपना हित नही समझे और न मेरे समझाने पर भी ॥४३॥ शुभ कर्मोके उदयसे प्राणियोकी अच्छी बुद्धि और अशुभ कर्मोके उदयसे बुरी बुद्धि होती है—बुद्धिकी कुशलता और अकुशलता दैवके अधीन है। बुद्धिकी कुशलता और अकुशलतामे उपदेशक निमित्त नही है, शास्त्र निमित्त नही है, और सत्सगति भी निमित्त नही है ॥४४॥ वह मनुष्य शोभा पाता है, जो अपने पुरुषार्थके

१ अ °ला प्रजायते । २ आ लङ् । ३. आ स्वस्तिकान्तर्गत पाठो नोपलभ्यते । ४ = स्वहितावबोधने । ५ = निमित्त नास्तीत्यर्थः । ६ आ 'प्रोक्त' इति नास्ति । ७. = संपूरयति ।

प्रविचिन्त्यमुदेतुमिच्छता प्रथमं स्वस्य परस्य चान्तरम् ।
[1]अविमृश्य कृतो हि विक्रमः[2] शरभस्येव विपाकदारुणः ॥४६॥
अधमेन समेन वाधिकामधिगच्छन्निजभाग्यसंपदम्[3] ।
मतिमान्विदधातु विग्रहं बलवद्भिः सह कोऽस्य विग्रहः ॥४७॥
बहुभिः परिवारितोऽखिलं हतबुद्धिर्जितमेव पश्यति ।
अवगच्छति नेदमुद्गते गुरुकार्ये मम नात्र कश्चन ॥४८॥
स्वयमैक्षि यतो नदारयात्पतनं स्तब्धवतस्तटीतरोः ।
अभवत्खलु तेन संमतः प्रणिपातो विदुषां बलाधिके ॥४९॥

विलोकिता । आक्षेप. ॥४५॥ प्रविचिन्त्येति । उदेतुम् अभ्युदय प्राप्तुम् । इच्छता वाञ्छता पुरुषेण । प्रथम पूर्वम् । स्वस्य आत्मन. । परस्य अन्यस्य च । अन्तर तारतम्यम् । प्रविचिन्त्यम् आलोच्यम् । अविमृश्य अविचार्य । कृतः विहित । विक्रम पराक्रम शरभस्येव सिंहादेरिव (सिंहारेरिव[4]) । विपाकदारुणः विपाकेऽवसाने दारुणो भयकरो हि । उपमा ।४६॥ अधमेनेति । अधिका प्रचुराम् । निजभाग्यसपदं निजस्य स्वस्य भाग्यस्य सपद सपत्तिम् । अधिगच्छन् जानन् । मतिमान्[5] बुद्धिमान् । अधमेन हीनेन । समेन समानेन वा पुरुषेण । विग्रहं कलहम्, सग्रामम् । विदधातु करोतु । बलवद्भि सामर्थ्ययुक्तैः पुरुषैः । सह साकम् । अस्य पुरुषस्य । विग्रह सग्रामः । क को वा, न कोऽपि—इत्यर्थ ॥४७॥बहुभिरिति । बहुभि अनेकैः । परिवारितः वेष्टित । हतबुद्धि हता दुष्टा बुद्धिर्यस्य सः । अखिल सकलम् । जितमेव विजितमेव । इति पश्यति वीक्षते । दृशू[6] प्रेक्षणे लट् । गुरुकार्ये महति कार्ये । उद्गते सति । मम मे । अत्र बहुषु भृत्यादिषु । कश्चन एकोऽपि वा । इद 'कार्यम्' इति, नावगच्छति न जानाति[7] । गम्लृ गतौ लट् । आक्षेप ॥४८॥ स्वयमिति[8] । यत यस्मात् । नदारयात्[9] नद्या प्रवाहात् स्तब्धवत गर्वयुक्तस्य । तटीतरो तट्या तीरे विद्यमानस्य तरोर्वृक्षस्य । पतन भञ्जनम् । इव (?)[स्वयम्] । ऐक्षि[10] ऐक्षत । ईक्षि[11] दर्शने लुङ् । तेन कारणेन । बलाधिके सामर्थ्याधिके प्रणिपात[12] नमस्कार । विदुषा विद्वज्जनै । 'वा नाकस्य' इत्यादिना

बारेमे जैसा कहता है वैसा ही निर्वाह करके दिखा भी देता है। अपने पराक्रम की डीग मारनेवाले बहुतसे पुरुषोको मैंने सग्राममे परिहास योग्य होते देखा है ॥४५॥ अभ्युदय पानेकी इच्छा रखनेवालेको आक्रमण करनेसे पहले अपना और अपने शत्रुका—जिसपर आक्रमण करना है—अन्तर सोच लेना चाहिए; क्योकि बिना विचारे किया गया पराक्रम अष्टापदके पराक्रमकी भाँति अन्तमे भयानक होता है, यहाँ तक कि प्राणोंसे भी हाथ धोना पडता है। (इसका स्पष्टीकरण प्रथम सर्गके ५१वें श्लोकको हिन्दी टीकामे देखिये।) ॥४६॥ अपने भाग्यकी सम्पत्तिको औरोसे कही अधिक जानकर बुद्धिमान् पुरुष अपनेसे हीन या बराबरीवालेके साथ युद्ध करे। बलवान्के साथ निर्बलका युद्ध कैसा ?—'मूलस्य नाशो बलवद्विरोधः' ॥४७॥ बुद्धिहीन राजा बहुतसे ऐरो-गैरो नत्थूखैरोसे चारो ओरसे घिरा रहकर सारे विश्वको अपनेसे जीता हुआ समझता है, किन्तु वह, यह नही समझता कि किसी बडे कामके आ पडनेपर इनमेसे कोई एक भी पास नही फटकेगा ॥४८॥ चूँकि विद्वानोने स्वय, तटपर अकडकर खडे पेडको नदीके वेगसे गिरते देखा है, इसलिए उन (विद्वानो) का

१. अ प्रविमृश्य, म परिमृश्य । २. म न हि क्रम. । ३ अ °सपदाम् । ४ ='शरभ: कुञ्जरारातिरुत्पादकोऽष्टपादपि ।' इति हैम । ५ श 'मतिमान्' इति नास्ति । ६ आ दृशिर् । ७. श 'न जानाति' इति नोपलभ्यते । ८. श 'स्वयमिति' इति नास्ति । ९. =नदीवेगात् । १०. =दृष्ट. । ११. आ ईक्ष, श इक्ष । १२. =नमनम् ।

बहुसत्त्वयुतौ स्थिराशयावविलङ्घ्यौ यदि नाम तावुभौ ।
महदेव तथापि दूरतो नदभर्तुश्च नदस्य चान्तरम् ॥५०॥
प्रियवादपरेषु विश्वसीत्कुभटेष्वेषु वृथैव मा भवान् ।
परिवारितमप्यगैर्नगं क्षुभितः प्लावयितुं क्षमोऽम्बुधिः ॥५१॥
स्वयमेतदुदाहृत मया प्रधने तत्प्रकटं[1] भविष्यति ।
स्फुटतामुपयाति कस्यचिद्रसभेदो नहि जिह्वया विना ॥५२॥
अहितस्य हितोपदेशनैरथवा किं मम कुर्वभीप्सितम् ।
प्रतिकूलजने ह्युपेक्षणं[2] हितशिक्षानुगतैकवृत्तिषु ॥५३॥

करणे पष्ठो । समत अङ्गीकृत । नाभवत् नाभून् [अभवत् अभूत] । भू सत्ताया लुङ् ॥४९॥ बह्विति । बहुसत्त्वयुतौ वहुना प्रचुरेण सत्त्वेन युतौ युक्तौ, अन्यत्र बहुप्राणियुतौ । स्थिराशयौ दृढबुद्धियुतौ, पक्षे दृढहृदौ । अविलङ्घ्यौ लङ्घयितुमशक्यौ । तावुभौ नाम नामानौ (?) । नाम समानार्थेऽव्ययम् । यदि । तथापि तर्हि । नदभर्तुश्च सागरस्य । नदस्य नद्याश्च । अन्तर तारतम्यम् । दूरत अत्यन्तम् । महदेव पृथुलमेव भवति ॥५०॥ प्रियेति । प्रियवादपरेषु[3] प्रियेषु इच्छानुकूलेषु वादेषु वचनेषु परेषु तत्परेषु एषु एतेषु । कुभटेषु कुत्सितभृत्येषु । भगवान् त्वम् । वृथैव निष्फलमेव । मा विश्वसीत् विश्वास मा कार्षी । अनश्वस प्राणने लुङ् । अगै वृक्षै । परिवारित परिवेष्टितम् । नग पर्वतमपि । क्षुभित सचलित । अम्बुधि समुद्र. । प्लावयितु मज्जयितुम्[4] । क्षम समर्थ, भवति । अर्थान्तरन्यास ॥५१॥ स्वयमिति । मया, उदाहृत प्रोक्तम् । (यत्) एतत् इदम्, वचनम् । प्रधने सग्रामे । स्वयमेव, तत् वचनम् । प्रकट व्यक्तम्, भविष्यति । जिह्वया रसनया । विना ऋते । रसभेद. रसाना षड्रसाना भेदोऽन्तरम् । कस्यचित् पुरुषस्य । स्फुटता व्यक्तताम् । नोपयाति हि न प्राप्नोति हि (नहि उपयाति न प्राप्नोति) । जिह्वया रसभेद प्रकटतामायाति तथा सग्रामे मद्वचन प्रकट भविष्यति—इत्यर्थ । अर्थान्तरन्यासः ॥५२॥ अहितस्येति । अहितस्य शत्रो—विपरीतवर्तनायुक्तपुरुषस्य-इत्यर्थ । हितोपदेशनै हितस्य उपकारकस्य उपदेशनैर्वचनै । मम मे । किं प्रयोजनम् । अभीप्सितम् अभीष्टम् । कुरु विधेहि । डुकृञ् करणे लोट्[5] । अथवा तथा हि[6] । प्रतिकूलजने अहितजने ।

यह सर्वसम्मत सिद्धान्त है कि बलवान्के आगे झुक जाना चाहिए ॥४९॥ यो बहुत जल-जन्तुओसे युक्त होनेके नाते, स्थिर आधार युक्त होनेके कारण और लाघने योग्य न होनेकी वजहसे समुद्र और नद ये दोनो भले ही एक सरीखे हो, फिर भी दोनोमे महान् भेद होता है । इसी तरह पृथिवीपाल और पद्मनाभ ये दोनो ही बहुत बली हैं, स्थिरचित्त हैं और हैं अनाक्रमणीय, फिर भी दोनोमे बहुत अधिक अन्तर है, जो मामूली नही कहा जा सकता—एक बडा है, दूसरा छोटा, एक स्वामी है, दूसरा सेवक और एक शरण देनेवाला है तो दूसरा शरणार्थी ॥५०॥ सुवर्णनाभ ! इस प्रकारकी मीठी-मीठी बातें करनेवाले इन गेहेनर्दी सैनिकोका व्यर्थ विश्वास न करो । सभी ओरसे वृक्षोसे घिरे हुए भी पहाडको, क्षुब्ध समुद्र आप्लावित कर सकता है—डुबो सकता है ॥५१॥ मैंने जो यह कहा है, वह युद्धमे अपने-आप, आपको स्पष्ट हो जायेगा । जीभके बिना किसीको भी रसोका अन्तर स्पष्टतया ज्ञात नही हो सकता ॥५२॥ अथवा जिसे अपने हितका स्वय खयाल नही, उसे हितका उपदेश देनेसे मुझे क्या लाभ ? तुम्हारी जो इच्छा हो, करो । जो समझाया जाये उससे विपरीत काम करनेवालोके प्रति उपेक्षा करना ही उचित है । हितकी

१ अ क ख ग घ त्वत्प्रकट । २. क ख ग घ हितशिष्या° । ३ = चाटुकारेषु । ४. श 'मज्जयितुम्' इति नास्ति । ५ श लेट् । ६ श्रा तथापि ।

ससुतः समुपेत्य [1]तत्सभाक्षितिमभ्यर्चय मुक्तमत्सरः ।
प्रणतिं गमितैः शिरोम्बुजै रणभूमीमथवा गलच्युतैः ॥५४॥
क्षुभितामिति तस्य भाषितैर्युवराजप्रमुखामसौ सभाम् ।
परवागनुवादिनोऽस्य कः खलु दोषः प्रभुरित्यवारयत् ॥५५॥
व्रज योग्यगृहासनादिकं[2] व्यवहारोचितमस्य कारय ।
अभिधाय नियुक्तमित्यसावुदतिष्ठत्प्रविसर्जिताखिलः ॥५६॥
अथ मन्त्रगृहे स मन्त्रवित्सममाहूय समस्तमन्त्रिणः ।
युवराजसमन्वितोऽभ्यधादिति वाचं वचने विचक्षणः ॥५७॥

उपेक्षण हि औदासीन्य हि । अनुगतैकवृत्तिषु अनुगता अनुकूल (ता) गता एका मुख्या वृत्तिर्वर्तन येषु तेषु अनुकूलगतजनेषु—इत्यर्थ । हितशिक्षा हितोपदेश, सफल —इत्यर्थ ॥५३॥ ससुत इति । मुक्तमत्सरः त्यक्तमत्सर । ससुत सुतेन सहित त्वम् । तत्सभाक्षिति ता[3] सभाया आस्थानस्य क्षिति भूमिम् । समुपेत्य प्राप्य । प्रणति प्रणमनम् । गमितैः प्रापितै. । शिरोऽम्बुजै शिरास्येवाम्बुजानि तै । अभ्यर्चय पूजय । अथवा गलच्युतै. गलेभ्यश्च्युतै पतितै शिरोऽम्बुजैः रणभूमि रणस्य संग्रामस्य भूमिम् । अभ्यर्चय पूजय । अर्चि पूजाया ण्यन्ताल्लिट् । दीपक (कम्) ॥५४॥ क्षुभितामिति । इति उक्तप्रकारेण । तस्य दूतस्य । भाषितै वचनै. क्षुभिता[4] कोपिताम् । युवराजप्रमुखा युवराज एव प्रमुखो यस्या ताम् । सभाम् आस्थानम् । असौ प्रभु पद्मनाभ । परवागनुवादिन. परस्य शत्रोर्वाचं वचनमनुवादनशीलस्य (अनुवदतीत्येवशील , तस्य-परोक्तिमनुवदत.-इत्यर्थः) अस्य दूतस्य । कः खलु स्फुट, दोष. । इति एवम् । अवारयत् निवारयतिस्म । वृञ् वरणे लङ् । रूपकम् ॥५५॥ व्रजेति । व्रज गच्छ । व्यवहारोचित व्यवहारस्योचित योग्यम् । योग्यगृहासनादिक योग्ये गृहासने आदी[5] यस्य तत् । अस्य दूतस्य । कारय विधापय । डुकृञ् करणे णिजन्ताल्लोट् । इति एवम् । नियुक्त नियोगिपुरुषम्[6] । अभिधाय निगद्य । प्रविसर्जिताखिल प्रविसर्जिताः प्रहिता अखिला येन स । असौ पद्मनाभ । उदतिष्ठत् उत्तिष्ठतिस्म । ष्ठा गतिनिवृत्तौ लुङ्[7] ॥५६॥ अथेति । अथ उत्थानानन्तरम् । मन्त्रवित् मन्त्रालोचनवेदी । युवराजसमन्वित युवराजेन समन्वितो युक्त । वचने भाषणे । विचक्षण. प्रौढ । स. पद्मनाभ । समस्तमन्त्रिण. समस्तान् सर्वान् मन्त्रिणः सचिवान् । सम युगपत् । मन्त्रगृहे मन्त्रशालायाम् । आहूय[8] आह्वान कृत्वा । इति वक्ष्यमाणप्रकारेण । वाच वचनम् । अभ्यधात् अब्रवीत् ।

शिक्षा उन्हे दी जानी चाहिए, जो केवल अनुकूल व्यवहार कर सकते हो—जो शिक्षा दी जाय, उसे मान सकते हो ॥५३॥ अब डाह करना छोडो और अपने राजकुमारको साथ लिवाकर पृथिवीपालकी सभामे जाकर उस (सभा) की भूमिकी अपने विनम्र मस्तकरूपी कमलोसे पूजा करो, अथवा धडसे विलग हुए अपने मुण्डरूपी कमलोसे सग्रामभूमिकी अर्चना करना ॥५४॥ दूतके इस कथनसे सारी सभा—जिसमे युवराज सुवर्णनाभ प्रमुख था—क्षुब्ध हो उठी, किन्तु राजा पद्मनाभने उसे यह समझा-बुझाकर प्रतीकार करनेसे रोक लिया कि, यह दूसरे की कही हुई बातको उसी रूपमे दूसरी बार कह रहा है, इसमे इसका क्या अपराध ? ॥५५॥ फिर एक अधिकारीको पासमे बुलाकर पद्मनाभने कहा कि जाओ व्यवहारके अनुकूल इस दूतका ठहरने और भोजन आदिका योग्य प्रबन्ध करवा दो । इसके उपरान्त सभी सभासदोको बिदा करके वह अपने सिंहासनसे उठकर खड़ा हो गया ॥५६॥ इसके पश्चात् मन्त्रणाके मर्मको समझनेवाले राजा पद्मनाभने मन्त्रशालामे सभी मन्त्रियोको आमन्त्रित करके युवराजके साथ प्रवेश किया ।

१. अ क ख ग घ म तत्सभा क्षिति° । २. अ °गृहाशना° । ३. = तस्य । ४. = कुपिताम् । ५. = आदौ । ६ श नियोगहारिणम् । ७. आ लङ् । ८. = आकार्य ।

वयमप्यगमाम कौशलं नयमार्ग यदयं भवद्गुणः ।
अवभासयतेऽखिलं जगद्दिवसोयं महिमा[1] रवेरसौ ॥५८॥

परिवर्धयति[2] स्वकौशले. कुशलं शास्त्यवति प्रमादतः ।
जननी जनिकेव[3] तत्फलं कुरुते नः सकलं भवन्मतिः ॥५९॥

अपि मेरुसमे समुद्गते मम का व्याकुलता प्रयोजने ।
अभिजाग्रति यस्य सर्वतो गुरव कार्यविधौ भवद्विधाः ॥६०॥

द्विरदानिव मद्विधान्सदा मदमूढान्स्खलतः पदे पदे ।
अपथाद्विनिवर्तयेत को गुरवश्चेन्न भवेयुरङ्कुशाः ॥६१॥

डुधाञ् धारणे च लुङ् ॥५७॥ वयमिति । वयमपि, नयमार्गे नयस्य नीतेर्मार्गे शास्त्रे । कौशल नैपुण्यम् । अगमाम अगच्छाम । गम्लृ[4] गतौ लुङ् । यत् यस्मात् । अयम् एप । भवद्गुण भवद्भ्यो युष्मत्[5] जातो गुण. । दिवस दिनम् । अखिल निखिलम् । जगत् लोकम् । अवभासयते प्रकाशयते । भसृञ्[6] दीप्तौ लट् । अयम् इति यत् । असौ स । रवे सूर्यस्य । महिमा सामर्थ्यम् ॥५८॥ परिवर्धयतीति । जननी माता । स्वकौशले स्वस्य नैपुण्ये । परिवर्धयति पर्येधयति । वृधूङ्[7] वृद्धौ लट् । कुशल क्षेमम् । शास्ति शिक्षते[8] । शास् अनुशिष्टौ लट् । प्रमादतः अपायत । अवति रक्षति । अव रक्षणादिषु लट् । प्रमाद परिहृत्य रक्षति—इत्यर्थ । भवन्मति भवता युष्माक मतिर्बुद्धि । जनिकै(के)व मातेव । सकल समस्तम् । तत्फल तत्प्रयोजनम् । न कुरुते न विदधाति । डुकृञ् करणे लट् ॥५९॥ अपीति । यस्य मम । कार्यविधौ कार्यस्य प्रयोजनस्य विधौ करणे । भवद्विधा भवता युष्माक विधाः सदृशा । गुरव गुणाढ्या । सर्वत सर्वकार्ये । अभिजाग्रति जागरण कुर्वन्ति । मम मे । मेरुसमे महामेरुसमे । प्रयोजने कार्ये । समुद्गतेऽपि सभवेऽपि, आगतेऽपि वा । व्याकुलता[9] आध्यानता । न कापि—इत्यर्थ ॥६०॥ द्विरदानिति । पदे पदे[10] चरणविक्षेपण(स्य)स्थाने स्थाने । 'वीप्सायाम्' इति द्वि । स्खलत स्खलन कुर्वत । सदा सर्वदा । मदमूढान् मदेन मूढानन्धान् । द्विरदानिव गजानिव । मद्विधान् मम सदृशान् । गुरव. गुणाढ्या । अङ्कुशाः सृणय , न भवेयुश्चेत् । अपथात् दुर्मार्गात् । क को वा । विनि-

---

राजा बोलनेमे बहुत चतुर था । उसने यो कहना शुरू किया—॥५७॥ हे मन्त्रिमण्डल ! हम भी जो नीति-शास्त्रके दाव-पेंच जानने लगे हैं, यह आपका प्रसाद है । दिन, पूरे संसारको प्रकाशित करता है, यह सूर्यकी ही तो महिमा है ॥५८॥ जिस तरह जन्म देनेवाली माँ अपने पुत्रको पाल पोसकर बडा करती है, उसे होशियार बनानेके लिए होशियारीसे शिक्षा देती है और असावधानीसे दूर रखती है । इसी तरह आपकी बुद्धि हमको आगे बढाती है, कुशलता सिखलाती है और प्रमादसे बचाया करती है—इस तरह माँका पूरा काम करती है ॥५९॥ प्रत्येक कार्यकी विधि बतलानेके लिए जिसके यहाँ हर काममे आप सरीखे नीतिज्ञ हमेशा जागरूक रहते हैं, उसे मेरु जैसे बडेसे-बडे कामके आ पडनेपर भी व्याकुलता कैसे हो सकती है ? ॥६०॥ मदान्ध हाथियोकी भाँति पग-पगपर हमेशा गिरनेवाले (भूल करनेवाले) हम लोगोको गुरुजन

---

१ आ ह यद् महिमा । २. अ °र्धयते । ३. अ आ इ जनिकैव । ४ आ गम । ५ आ युष्मभ्यम् । ६ श भासृङ् । ७ आ वृधु । ८ =शिक्षयते । ९ =विहस्तता । 'विहस्तव्याकुलौ व्यग्रे' इति हैम । १०. =प्रतिपदम् ।

क्रमतेऽरिपु मत्पराक्रमो भवतामेव धिया पुरस्कृत ।
नहि धामघनोऽप्यसारथिर्नभसः पारमुपैति भास्करः ॥६२॥
स्वयमेव भवद्भिराहितश्रुतिभिः किं न सभागतैः श्रुतम् ।
निजदूतमुखेन निष्ठुरं मयि यत्तेन शठेन भाषितम् ॥६३॥
परुषं मम श्रृण्वतस्तथा सहसा क्षोभमुपव्रजन्मनः ।
किममन्त्रि गृहं तदीयमित्यपवादेन जनस्य वारितम् ॥६४॥
भजते गदवन्न विक्रियामुदयन्नेव रिपुश्चिकित्सितः ।
इति वक्रमति स कैतवाद्द्रुत[1]मस्मानभिहन्तुमीहते ॥६५॥
अत एव च दण्डवर्जितः सदुपायोस्ति न तस्य सिद्धये ।
वदतास्ति[3] स चेत्प्रकृष्यते मतिरासर्वविदो हि देहिनाम् ॥६६॥

वर्तयेत् निवारयेत । उपमा ॥६१॥ क्रमत इति । भवतामेव युष्माकमेव । धिया बुद्ध्या । पुरस्कृतः अग्रे कृत । मत्पराक्रमः मम मे पराक्रम सामर्थ्यम् (अरिपु) शत्रुपु । क्रमते आक्रमते वर्तते वा । धामघनोऽपि धामैव किरण एव घनं यस्य सः अपि । असारथि सारथिरहित । भास्कर: सूर्य । नभस. गगनस्य । पारं गमनम् । न हि उपैति नोपयाति हि । अर्थान्तरन्यास ॥६२॥ स्वयमिति । निजदूतमुखेन निजस्य स्वस्य दूतस्य वचोहरस्य मुखेन । शठेन धूर्तेन । तेन [4]पृथिवीपालेन । मयि, यत् निष्ठुर कर्कशम् । भाषितं प्रोक्तम् । आहितश्रुतिभि आहिता' सनद्धा श्रुतय कर्णा येषा ते । सभागते., भवद्भि युष्माभि. । स्वयमेव न श्रुतं न आकर्णित किम् । ६३॥ परुषमिति । परुष निष्ठुर वचनम् । श्रृण्वत. आकर्णयत । मम मे । तदा तत्समये । सहसा शीघ्रम् । क्षोभ सचलम्[5] । उपव्रजत् उपगच्छत् । मन चित्तम् । तदीय पद्मनाभसबन्धि । गृह मन्दिरम् । अमन्त्रि मन्त्रिरहित किम् । इति जनस्य लोकस्य । अपवादेन निन्दया । वारित निवारितम् । मनो वारितम्—इत्यभिप्राय ॥६४॥ भजत इति । गदवत् व्याधिरिव । उदयस्ये[न्ने]व अभ्युदय प्राप्तुवन् एव । चिकित्सितः प्रतिकार श्रितः । रिपु शत्रु । विक्रिया विपरीतक्रियाम् । न भजते नाश्रयते । इति एवम् । विक्रमति[6] ऋजु(ता)रहितबुद्धि' । स. [7]पृथिवीपालः । कैतवात् गजव्याजात् कपटाद्वा । द्रुत शीघ्रम् । अस्मान्, अभिहन्तु मारयितुम् । ईहते प्रवर्तते । उपमा । ६५'। अत इति । अत एव एतस्मात्कारणादेव । तस्य [8]पृथिवीपालस्य । सिद्धये जयाय । दण्डवर्जित दण्डोपायेन वर्जितो रहितः । सदुपायः प्रशस्तोपाय. ।

(आप लोग) अकुश न बने रहते, तो उन्मार्गसे कौन बचाता ? ॥६१॥ आप ही सबकी बुद्धिका सहयोग पाकर हमारा पराक्रम आगे बढकर शत्रुओंके छक्के छुडा देता है । सूर्य अत्यन्त तेजस्वी होकर भी सारथीके विना आकाशका पार नही पाता ॥६२॥ उस धूर्त पृथिवीपालने दूतके मुखसे निष्ठुरता-भरी जो बातें मुझसे कही, उन्हें आप सबने—जो सभामे बैठे हुए थे—क्या स्वय कान लगाकर नही सुना ? ॥६३॥ उसकी निष्ठुरताभरी बातें सुनकर मेरा मन उसी समय सहसा क्षुब्ध हो उठा, पर मैंने अपने क्षुब्ध मनको यह सोचकर शान्त कर लिया, कि यदि दूतको मार डाला तो जगत्मे यह अपवाद फैल जायेगा कि पद्मनाभके घरमे कोई समझदार सलाहकार नही रहा ॥६४॥ 'रोगकी तरह शत्रुका भी यदि प्रारम्भमे ही प्रतीकार कर दिया जाये तो वह शान्त हो जाता है' यह सोचकर पृथिवीपाल– जिसकी बुद्धिमे कूट-कूटकर कपट भरा हुआ है—हाथीका बहाना बनाकर हमे मारना चाहता है ॥६५॥ अतएव मेरे खयालसे उसे जीतनेके लिए दण्डके सिवा और कोई अच्छा उपाय नही है । यदि है तो आपलोग वत-

१ आ ध्रुवमस्मानभि° । २ म °पायोऽस्मि । ३ म °तास्मि । ४. श पृथ्वी° । ५. आ चञ्चलम् । ६. =कुटिल बुद्धि' । ७ श पृथ्वी° । ८. श पृथ्वी° ।

अभिधाय गिरं ससौष्ठवामिति[1] तूष्णीं नृपताववस्थिते।
न्यगदीदिति नीतिमद्वचः पुरुभूतिः पुरुभूतिकारणम्[2] ॥६७॥
अभवाम भवत्प्रसादतो वयमृद्धेश्च मतेश्च भाजनम्।
अतएव भुवि त्वमेव नो गुरुरीशः सुहृदेकबान्धवः ॥६८॥
नव कार्यविदोऽभिजल्पितुं[3] पुरतो दृष्टपरम्परस्य च।
नयशास्त्रलवैकलिप्तधीः परिजिह्वेति कथं न मादृशः ॥६९॥
नहि कार्यविपश्चितः[4] पुरो निगदन्राजति शास्त्रपण्डितः।
सकलं पुरुषस्य लक्षण ननु संदिग्धमलक्ष्यवेदिनः[5] ॥७०॥

नास्ति न विद्यते। दण्डसाध्य—इत्यर्थ। स दण्डोपाय विनाऽन्योपाय[6]। अस्ति चेत् वर्तते चेत्। वद ब्रूत। वद व्यक्तायां वाचि लोट्[7]। आसर्वविद सर्वज्ञपर्यन्तम्। देहिना जीवानाम्। मति बुद्धि। प्रकृष्यते हि अतिशय्यते हि। कृष विलेखने कर्मणि लट् ॥६६॥ अभिधायेति। इति एवम्। ससौष्ठवां शोभायुक्ताम्। गिर वाणीम्। अभिधाय निगद्य। नृपतौ भूपतौ। तूष्णीं जोषम्। अवस्थिते सति स्थिते सति[8]। पुरुभूति[9] [10]पुरुभूतिनामधेयो मन्त्री। पुरुभूतिकारण पुरोर्महत्या भूतेः ऐश्वर्यस्य कारण निमित्तम्[11]। नीतिमद्वच नीतिमद् नीतियुक्तं वचो वचनम्। इति वक्ष्यमाणप्रकारेण। न्यगदीत् अवोचत्। गद व्यक्तायां वाचि लुङ्[12] ॥६७॥ अभवामेति। भवत्प्रसादत भवता युष्माक प्रसादत कारुण्यात्। वयम्, ऋद्धे च ऐश्वर्यस्य च। मते च बुद्धेश्च। भाजन पात्रम्। अभवाम अभूम[13]। भू सत्तायां लुङ्। अत एव एतस्मादेव। भुवि भूमौ। त्वमेव भवानेव। नः अस्माकम्। 'पदाद्वाक्यस्य' इत्यादिना अस्मद षष्ठीबहुवचनस्य नसादेश। गुरु उपाध्याय। ईश प्रभु। सुहृत् मित्रम्। एकबान्धवः मुख्यबन्धु। भवसि—इत्यध्याहार. ॥६८॥ नवेति। कार्यविद. प्रयोजनवेदिन। दृष्टपरम्परस्य दृष्टा परम्परा पूर्वक्रमो यस्य[14] तस्य। तव भवत। पुरत पुरस्तात्। अभिजल्पितुम् अभिमुखं वक्तुम्। नयशास्त्रलवैकलिप्तधी नयस्य नीते शास्त्रस्य लवैकेन लेशमात्रेण लिप्ता गर्विता धीर्बुद्धिर्यस्य सः। मादृश मम समान। कथ[15] केन। न परिजिह्रेति लज्जितो न भवति, किन्तु जिह्रेत्येव ॥६९॥ नेति। कार्यविपश्चित कार्यस्य[16] प्रयोजनस्य विपश्चित वेदिन। पुर अग्रे। निगदन् ब्रुवन्। शास्त्रपण्डित शास्त्रे नीत्यादिशास्त्रे पण्डित निपुण। [नहि] राजति [न]

लाइये, क्योकि सबकी बुद्धि एक-सी नही होती, निगोदिया जीवसे लेकर सर्वज्ञ तक समस्त प्राणियोकी बुद्धिमे तारतम्य देखा जाता है ॥६६॥ इस तरह (५८ वें श्लोकसे ६६ वें श्लोक तक) सुन्दर शब्दोमे अपना वक्तव्य देकर राजा पद्मनाभ चुप हो गया। फिर पुरुभूति नामके मन्त्रीने वैभवको उत्पन्न करनेवाले नीतिसे युक्त वचन कहे—॥६७॥ राजन्! आपके प्रसादसे हम सब ऋद्धि और बुद्धिके पात्र बने हैं। अतएव इस भूतलपर आप हम सभीके गुरु, स्वामी, मित्र और एकमात्र बन्धु हैं ॥६८॥ राजन्! आप समस्त कार्योंके जानकार हैं और सारी परम्पराओको देख चुके हैं। अतएव नीतिशास्त्रके बहुत थोडे ज्ञानका भी गर्व करनेवाला मुझ सरीखा व्यक्ति आपके सामने लज्जित क्यो नही होगा? ॥६९॥ कार्यके अनुभवी विद्वान्के सामने बोलनेवाला कोरा शास्त्रका पण्डित, जिसे कार्यका अनुभव नही है, केवल शास्त्रकी पंक्तियाँ आती हैं, शोभा नही पाता है। लक्ष्यको न जाननेवाले पुरुषका सारा शास्त्र निश्चय ही

१. म स सौष्ठवा°। २. अ पुरभूति, पुरभूतिकारणम्। ३ अ इ °पि जल्पितु। ४. आ इ °विपश्चितु। ५. म °लक्षवेदिन। ६. श भिन्नोपाय। ७. श छेद्। ८ श 'स्थिते सति' इति नास्ति। ९. श मरुभूति। १० श मरुभूति°। ११. श 'निमित्तम्' इति नास्ति। १२. आ लङ्। १३ आ 'अभूम' इति नास्ति। १४. = येन। १५. = केन प्रकारेण। १६ = कर्तव्यस्य।

अधिकारपदे [1]स्थितैस्तथाप्यनुशिष्यः प्रभुरात्मशक्तितः।
तुषराशिकणक्रमाद्भवेदपि बालाद्विरलं सुभाषितम् ॥७१॥
पुरुषेण जिगीषुणा सदाप्यवलम्ब्यौ नयविक्रमद्रुमौ।
नहि तावपहाय विद्यते फलसिद्धेरपरं निबन्धनम् ॥७२॥
नयविक्रमयोर्नयो बली नयहीनस्य वृथा पराक्रमः।
प्रविदारितमत्तकुञ्जरः शबरेणापि निहन्यते हरिः ॥७३॥
बलवानपि जायते रिपुः सुखसाध्यः खलु नीतिवर्तिनाम्।
मदमन्थरमप्युपायतो ननु बध्नन्ति गजं वनेचराः ॥७४॥

विभाति। राजृ दीप्तौ लट्। अलक्ष्यवेदिन अलक्ष्यं वेत्तीत्येवशीलोऽलक्ष्यवेदी तस्य—लक्ष्यपरिज्ञानरहितस्य। पुरुषस्य नरस्य। सकल समस्तम्। सविघ्न सदेहयुक्तम्[2]। ननु[3] निश्चयम्। अर्थान्तरन्यास ॥७०॥ अधिकारेति। तथापि,-अधिकारपदस्थितै. अधिकारे श्रेष्ठे पदे स्थाने स्थितैर्नियोजितै। आत्मशक्तित आत्मना स्वेषा शक्तित सामर्थ्यात्। प्रभु स्वामी। अनुशिष्य [6] शिक्षितु योग्य.। तुषराशिकणक्रमात् तुषाणा धान्यत्वचा राशौ पुञ्जे स्थिततण्डुलकणस्य क्रमात् न्यायात्। बालात् अज्ञानिनः सकाशादपि। सुभाषित प्रशस्तवचन महता पुर स्वल्प भवति—इत्यर्थः। भवेत्। लिङ्। अर्थान्तरन्यास ॥७१॥ पुरुषेणेति। जिगीषुणा जेतुमिच्छुना। पुरुषेण राजपुरुषेण[4]। नयविक्रमद्रुमौ नयो नीतिर्विक्रम पराक्रम, नयश्च विक्रमश्च तथोक्तौ, नयविक्रमावेव द्रुमौ वृक्षौ। रूपकम्। सदापि सर्वकालेऽपि। अवलम्ब्यौ अवलम्बयितुं योग्यौ। तौ नयविक्रमद्रुमौ। अपहाय विमुच्य। फलसिद्धे. कार्यसिद्धे, पक्वसिद्धे [6]—इति ध्वनि·। अपरम् अन्यत्। निबन्धन कारणम्। नहि नास्ति हि। वृक्षमपहाय फलसिद्धिर्नास्ति—इत्युक्तिलेश। अर्थान्तरन्यास ॥७२। नयेति। नयविक्रमयो नीतिविक्रमयोर्मध्ये। नयः नीतिगुण.। बली बलवान्। नयहीनस्य नयगुणरहितस्य। पराक्रम विक्रम.। वृथा निष्फल (लो) भवति। प्रविदारितमत्तकुञ्जर प्रविदारिता विदलिता मत्तकुञ्जरा मत्तमतङ्गजा येन स। हरि सिंहः। शबरेणापि व्याधेनापि। निहन्यते निर्हिस्यते। हन हिंसागत्यो कर्मणि लट्। नयहीनस्य केवल(—पराक्रमवत) कार्यसिद्धिर्न भवति—इत्यर्थ। अर्थान्तरन्यास ॥७३॥ बलवानिति। बलवानपि पराक्रमवानपि। रिपुः शत्रु। नीतिवर्तिना नीतौ वर्तिनां विद्यमानानाम्। सुखसाध्यः[7] सुखेन सुलभेन साध्यः जायते उत्पद्यते। खलु स्फुटम्। मदमन्थरमपि मदेन मन्थरो मन्दगामी, तमपि। गज करिणम्। वनेचरा

सन्देहसे भरा रहता है। लक्ष्यको जानने पर हीलक्षणका ज्ञान सन्देहमुक्त होता है। उदाहरण न जाननेवाले वैयाकरणका व्याकरण-सम्बन्धी ज्ञान भ्रमसे भरा हुआ रहता है ॥७०॥ तो भी उच्च पदोपर नियुक्त अधिकारियोके द्वारा अपनी शक्तिके अनुसार राजाको शिक्षा दी ही जानी चाहिए। जिस प्रकार खोजनेपर भूसेकी ढेरीमे चावलके कुछ कण मिल जाते हैं, इसी तरह बालक अथवा अल्पज्ञानीमे भी कभी-कभी थोडी-सी अच्छी बात सुननेको मिल जाती है ॥७१॥ विजयके अभिलाषी पुरुषको हमेशा नय-नीति और पराक्रमके वृक्षोका आश्रय लेते रहना चाहिए; क्योकि इन दोनोको छोड देनेपर फल (कार्य) की सिद्धिका और कोई साधन नही है ॥७२॥ नय और विक्रम इन दोनोमे नय बलवान् है। नयहीनका पराक्रम निष्फल होता है। जो पराक्रमी (नीतिमान् नही) सिंह मदमाते हाथियोको चीर डालता है, वह एक शिकारीके द्वारा भी मारा जाता है ॥७३॥ बलवान्से-बलवान् भी पराक्रमी शत्रु नीति मार्गपर चलनेवालोके लिए आसानीसे जीतने योग्य होता है। भील या

१. अ आ इ °पदस्थि°। २. श °हप्राप्तम्। ३. = निश्चयेन। ४ आ °शिक्ष्यः। ५ आ 'राजपुरुषेण' इति नास्ति। ६ — [illegible] कार्यसिद्धि. पक्वसिद्धि.। ७. = अनायाससाध्य।

[1]नयमार्गममुञ्चत स्वयं विघटेतापि यदि प्रयोजनम् ।
पुरुषस्य न तत्र दूषणं स समस्तोऽपि विधे. पराभवः ॥७५॥
नयशास्त्रनिदर्शितेन यः सततं संचरते न वर्त्मना ।
शिशुवत्स कुबुद्धिरुल्मुकं स्वयमाकर्षति कृच्छ्रमात्मनः ॥७६॥
त्वमतः प्रथमो विवेकिनां सहसा दण्डमरौ प्रयुङ्क्ष्व मा ।
स हि शाम्यति साममात्रतः पृथिवीपालनृपोऽभिमानवान् ॥७७॥
अभिमानधनो हि विक्रियां व्रजति प्रत्युत दण्डदर्शनैः ।
प्रशमं न तु याति जातुचित्परिनिर्वाति किमग्निरग्निना ॥७८॥

शबरा । उपायत उपायात् । बध्नन्ति बन्धन कुर्वन्ति । ननु निश्चयम् । अर्थान्तरन्यास ॥७४॥ नयेति । नयमार्ग नीतिशास्त्रम् । अमुञ्चत अत्यजत पुरुषस्य । यदि प्रयोजन कार्यम् । स्वय विघटेत[2] अपि वियोजयेत् । घटिष्[3] चेष्टाया लिङ् । तत्र कार्याभावे । पुरुषस्य नरस्य । दूषण[4] निन्दा । न न भवति । स समस्तोऽपि सकलोऽपि । विधे पापकर्मण । पराभवः तिरस्कारः । नयशास्त्रमार्गेण विहितकार्यस्य विघ्ने कर्मणोऽपराधो न तु पुरुषस्य—इत्यभिप्राय । 'स दैवस्यापराधो न मन्त्रिणा यत्सुघटितमपि कार्यं न घटते ।' इति नीतिवाक्यामृते ॥७५॥ नयेति । यः पुरुष. । नयशास्त्रदर्शितेन नयशास्त्रेण नीतिशास्त्रेण दर्शितेन[5] दृष्टान्तविहितेन । वर्त्मना मार्गेण । सततम् अनवरतम् । न संचरते न प्रवर्तते । कुबुद्धि कुत्सितबुद्धियुक्त । स. पुरुष । आत्मन स्वस्य । कृच्छ्र कष्टम् । उल्मुकम् अलातम् । शिशुवत् बालकवत । स्वयम्, आकर्षति आकर्षण करोति । उपमा (निदर्शनालङ्कार) ॥७६॥ त्वमिति । अत' कारणात् । विवेकिना सम्यग्ज्ञानिनाम् । प्रथम मुख्य । त्व भवान् । सहसा शीघ्रम् । अरौ शत्रौ । दण्डं दण्डोपायम् । मा प्रयुङ्क्ष्व मा प्रयोजय । युजृल्[6] योगे । अभिमानवान्[7] अभिमानयुक्त । स हि 'पृथिवीपालनृप '[8]पृथिवीपालभूपति[9][10] । प्रियपूर्वं वच (?) । साममात्रत सामोपायमात्रादेव । शाम्यति उपशम प्राप्नोति । शम् दम् उपशमने ॥७७॥ अभिमानेति । प्रत्युत न चेत्—साधुवचो न प्रयुक्त चेद्—इत्यर्थ । अभिमानधन अभिमान एव धन यस्य स. । दण्डदर्शने दण्डप्रयोगे । विक्रिया विकारम् । व्रजति गच्छति । व्रज गतौ लट् । प्रशमम् उपशमम् । न तु याति न गच्छति । जातुचित् सकृदपि । अग्नि. वह्निः । अग्निना वह्निना । परिनिर्वाति किं नश्यति

शिकारी लोग अपने उपायसे मदमाते हाथीको भी बाँध लेते हैं ॥७४॥ नीति मार्गको न छोडनेवाले पुरुषका यदि कोई काम बिगड भी जाये तो उसमे उस पुरुषका कोई दोष नही । वह तो सारा-का-सारा विधिका विधान है, जो उस पुरुषका विनाश करनेवाला है । 'विधि-विधान कभी-टलता नहीं' ॥७५॥ जो पुरुष सदा नीतिशास्त्रके द्वारा दिखलाये गये मार्गसे नही चलता, वह दुर्बुद्धि छोटे बच्चेकी तरह स्वय ही काष्ठको जलती हुई लकडीको अपनी ओर खीचने लगता है । जिस प्रकार अबोध शिशु जलती लकडीको खीचकर दु ख उठाता है, उसी प्रकार नीतिसे न चलनेवाला पुरुष भी अपने-आप संकटमे डालनेवाले कामको हाथमे ले लेता है ॥७६॥ राजन् ! आप विवेकी पुरुषोमे प्रमुख हैं, अत शत्रुके ऊपर सहसा दण्डका प्रयोग नही कीजिये । राजा पृथिवीपाल बडा अभिमानी है । फलत वह केवल प्रिय वचनोसे शान्त हो जायेगा । यदि गुड देनेसे काम बन जाये तो ईंट मारनेकी क्या आवश्यकता ॥७७॥ अभिमानी पुरुष दण्ड दिखलानेसे दण्डनीतिका प्रयोग करनेसे कभी शान्त नही हो सकता, उल्टा भडक ही उठता है । क्या

१. क ख ग घ ननु मार्ग° । २ =विनश्येत् । ३ आ घट । ४ =दोष । ५ =उपदिष्टेन । ६ आ युजिर् । ७ श 'अभिमानवान्' इति नास्ति । ८. श पृथ्वी° । ९ श पृथ्वी° । १०. आ °नृपतिः ।

प्रथमं द्विषि साम बुद्धिमानथ भेदादि युनक्ति सिद्धये ।
गुरुदण्डनिपीडना रिपोरियमन्त्या हि विवेकिनां क्रिया ॥७९॥
प्रभु दोषशतं प्रमार्जितुं पुरुषस्यैकमपि प्रियं वचः ।
पयसैव जनस्य वल्लभा ननु वज्रादिमुचः पयोमुचः ॥८०॥
धनहानिरुपप्रदानतो बलहानिर्नियमेन दण्डतः ।
अयशः कपटीति भेदतो बहुभद्रं नहि सामतः परम् ॥८१॥
प्रणिगद्य नयान्वितं वचः पुरुभूताविति मौनमास्थिते ।
युवराडथ पौरुषाश्रयामिति सासूयमुदाहरद्गिरम् ॥८२॥

किम् । वा गतिगन्धनयोलट् । अर्थान्तरन्यास ॥७८॥ प्रथममिति । बुद्धिमान् धीमान् । रिपो शत्रो. । सिद्धये[1] कार्यसिद्धये । प्रथम पूर्वम् । द्विषि शत्रौ । साम सामोपायम् । युनक्ति प्रयोजयति । अथ पश्चात् । भेदादि जयनिमित्त भेदाद्युपाय. प्रयोक्तव्य । इयम् एषा । गुरुदण्डपीडना गुरुणा महता दण्डेन पीडना बाधना । विवेकिना सम्यग्ज्ञानिनाम् । अन्त्या अवसानवर्तिनी । क्रिया[2] हि विधेया हि ॥७९॥ प्रभ्विति । पुरुषस्य नरस्य । एकमपि, प्रिय प्रीतिभूतम् । वच. वचनम् । दोषशत दोषाणामपराधाना शतमेकम् । प्रमार्जितु निवारयितुम् । प्रभु समर्थम् । 卐 [3]वज्रादिमुच वज्रादीन् मुञ्चन्तीति卐तथोक्ता । पयोमुच मेघा । पयसैव जलेनैव । जनस्य लोकस्य । वल्लभा प्रीतिकरा ननु ॥८० । धनहानिरिति । उपप्रदानत. दानोपायात् धनहानि द्रव्यनाश । दण्डत दण्डोपायात् । नियमेन निश्चयेन । बलहानि चतुरङ्गबलहानि । भेदत भेदोपायात् । कपटी—इति कपटयुक्त इति । अयश अपकीर्ति । सामत. सामोपायत । परम् अन्यत् । बहुभद्रं प्रचुरमङ्गलरूपम् । न हि नास्ति हि ॥८१॥ प्रणिगद्येति । पुरुभूतौ पुरुभूतनामधेयमन्त्रिणि । इति उक्तप्रकारेण । नयान्वित नीतियुक्तम् । वच. वचनम् । प्रणिगद्य उक्त्वा । मौन तूष्णीम् । आस्थिते आसिते सति । अथ[4] पुरुभूतिप्रोक्तानन्तरम् । युवराट् सुवर्णनाभकुमार. । पौरुषाश्रया पराक्रमयुक्ताम् । गिर वाणीम् । नासूय[5] दोषरहित (सासूयम् असूयासहित) यथा तथा । इति वक्ष्यमाणप्रकारेण । उदाहरत् अवोचत् ।

अग्नि अग्निसे बुझ सकती है ? ॥७८॥ बुद्धिमान् राजा अपनी सिद्धिके लिए शत्रुके साथ पहले साम-मधुर वचनोका प्रयोग करता है, सुलह करता है । यदि सामसे सफलता न मिले तो भेदका प्रयोग करता है—शत्रुके पक्षके लोगोमे फूट डालता है अथवा उसे दान देता है । साम, भेद और दान इन तीनो ही उपायोसे जब सफलताकी आशा न हो, तब दण्ड नीतिका प्रयोग करता है । दण्डसे शत्रुको पीडा देना—उसपर चढाई कर देना, यह विवेकियोका अन्तिम उपाय है ॥७९॥ मनुष्यका केवल एक ही प्रिय वचन सैकडो दोषोका निवारण करनेमे समर्थ होता है । केवल जल बरसानेके कारण ही मेघ—जो वज्र आदि भी गिरा देते हैं—लोगोको प्यारे होते हैं ॥८०॥ दानसे धनकी हानि होती है, दण्डसे निश्चय ही सेनाका विनाश होता है और भेदसे 'यह कपटी है' इस प्रकारका अपयश फैलता है । अतएव सामसे बढकर और कोई अत्यधिक मगलकारी उपाय नही है—दान, दण्ड और भेद इन तीन उपायोसे हानि ही होती है और सामसे लाभ ही होता है, अत सामसे उत्कृष्ट मगलकारी कोई उपाय नही है ॥८१॥ इस प्रकार नीतिमय वचन सुनाकर—वक्तव्य देकर पुरुभूति मन्त्री चुप हो गया । इसके उपरान्त युवराज सुवर्णनाभ पराक्रमकी भावनासे भरे हुए—जोशीले और असूयासे भरे हुए शब्दोमे यो बोला—

---

१. = वशीकरणाय । २. = विधि । ३. आ स्वस्तिकान्तर्गत पाठो नास्ति । ४ = पुरुभूतिनिगदनानन्तरम् । ५ एष टीकाश्रय. पाठो मूलप्रतिषु तु सर्वासु 'सासूय' इत्येव समुपलभ्यते ।

पठितव्यमिहान्यथा स्थितं करणीयप्रतिपत्तिरन्यथा।
नहि पृष्ठभरे नियुज्यते[1] हलसंभावितयोग्यतः पशुः ॥८३॥
अनिरूपितकृत्ययानया ह्रियते कः खलु कूर्चशोभया।
ननु बीजपदे व्यवस्थितं फलमन्यः पदवाक्यडम्बरः ॥८४॥
परवृद्धिनिबद्धमत्सरे विफलद्वेषिणि साम कीदृशम्।
सुतरां स भवेत्खरः प्रियैरविभाव्यप्रकृतिर्हि दुर्जनः ॥८५॥

हृञ् हरणे लङ् ॥८२॥ पठितव्यमिति। इह कार्ये। पठितव्यं वक्तव्यम्। अन्यथा अन्येन प्रकारेण स्थितम्। करणीयप्रतिपत्तिः करणीयस्य कार्यस्य प्रतिपत्तिः परिज्ञानम्[2]। अन्यथा अन्यप्रकारेण। हलसंभावितयोग्यतः हले लाङ्गले संभाविता सत्कृता योग्यता यस्य सः। पशुः अनड्वान्। पृष्ठभरे पृष्ठभारे[3]। न नियुज्यते हि न संबध्यते हि। युजृ् योगे कर्मणि लट्। अर्थान्तरन्यासः ॥८३॥ अनिरूपितेति। अनिरूपितकृत्यया अनिरूपितमभाषितं कृत्यं कार्यं यया तया। कूर्चशोभया कूर्च इव क्षीरविकार इव (?) शोभया मनोहरत्वयुक्तया-मृदुना च—इत्यर्थः। अनया एतया, वाचा। कः को वा। खलु स्फुटम्। आह्रियते[4] उदाह्रियते। हृञ् हरणे कर्मणि लट्। फलं निष्पत्तिः। बीजपदे बीजस्य कारणस्य पदे[5] शब्दे। व्यवस्थितम् आश्रितम्। अन्यः फलाभावः पदवाक्यडम्बरः पदानां तिङन्तसुबन्तरूपाणां वाक्यानां पदसमुदायानामाडम्बरः संभ्रमः। ननु निश्चयम्। अर्थान्तरन्यासः ॥८४॥ परवृद्धीति। परवृद्धिनिबद्धमत्सरे परेषामन्येषां वृद्धौ संपत्तौ निबद्धः कृतो मत्सरः ईर्ष्या येन तस्मिन्। विफलद्वेषिणि विफलं वृथा[6] द्वेषिणि द्वेषयुक्ते। साम सामोपायः। कीदृशं किमिव दृश्यत इति तथोक्तम्। सः पृथिवीपालः[7]। प्रियैः[8] इष्टवचनैः। सुतरां भृशम्। खरः क्रूरः। भवेत् स्यात्। लिङ्[9]। दुर्जनः दुष्टजनः। [अविभाव्यप्रकृतिः] अविभाव्या विभावितुमयोग्या प्रकृतिर्यस्य सः। तथा हि (?) विपरीतस्वरूपयुक्त—इत्यर्थः। 'सतां हि प्रह्वता शान्त्यै खलानां दर्पकारणम्।' इति यावत्।

॥८२॥ प्रस्तुत विषयमे पढ लेना और बात है, तथा कर्तव्यका निश्चय करना कुछ और। राजनैतिक पोथा पढ लेने या पढ़कर सुना देनेमे कर्त्तव्यका निश्चय नही होता। इसके लिए अनुभव चाहिए। हल खीचनेकी योग्यता रखनेवाला बैल लादने या सवारीके काममे नही लगाया जा सकता ॥८३॥ कर्त्तव्यका निश्चय न करनेवाली कोरी दाढी और मूछको शोभासे कौन आकृष्ट हो सकता है ? कोई भी वक्ता—जिसकी दाढी खूब लम्बी हैं, व्यक्तित्व प्रभावक है और जो खूब डीग मारता है—प्रस्तुत विषयपर प्रकाश डाले बिना श्रोताओपर प्रभाव नही डाल सकता। फल निश्चय ही अपने बीजसे ही उत्पन्न होता है, फिर भी यदि बीजके बिना भी फल उत्पन्न होनेको बात कही जाये तो वह कोरा वागाडम्बर है—बकवास है। कार्य अपने कारणसे उत्पन्न होता है, बिना कारणके भी कार्यकी उत्पत्तिका वर्णन करना, बकवास नही तो और क्या है ? ॥८४॥ दूसरोकी वृद्धि देखकर डाह करनेवाले और व्यर्थ ही द्वेष करनेवालेके साथ साम कैसा ? प्रिय वचन कहनेसे—सामका प्रयोग करनेसे वह पृथिवीपाल और भी भडक उठेगा। दुर्जनकी प्रकृति अपरिवर्तनीय होती है, वह नम्र व्यवहारसे शान्त नही किया जा सकता—

१ °भरेण युज्यते। २. आ परिज्ञा। ३. श 'पृष्ठभारे' इति नास्ति, आ पृष्ठभारे पृष्टमरे। ४. = आकृष्यते। ५ = स्थाने। ६. श 'वृथा' इति नास्ति। ७ आ वृद्धिपाल, श पृथ्वीपाल.। ८ = मिष्टवचनैः। ९ श लेट्।

विषये खलु संनियोजितः सदुपायः फलवान्न चान्यथा ।
नहि वज्रधरायुधोचिते क्रमते ग्रावणि लौहमायुधम् ॥८६॥
मदभाजि परापमाननाप्रवणे[1] दण्डमुशन्ति सूरय ।
उपयाति सुखेन[2] वश्यतां किमनडवानपनाथनासिकः ॥८७॥
पुरुषस्तपनीयवद्गुरुर्न परैर्यावदसौ विगाह्यते[3] ।
तुलितस्तु स एव तत्क्षणात्तृणराशौ निपतत्यसंशयम् ।८८॥
शिवहेतुरुदाहृता क्षमा व्रतिनामेव न मेदिनीभुजाम् ।
बहुना ननु विप्रकृष्यते पदवी संसृतिमुक्तिधर्मिणोः ॥८९॥

अर्थान्तरन्यास ॥८५॥ विषय इति । विषये योग्ये । सनियोजित प्रयोजितः । समुदायः सामोपाय.[4] । फलवान् सफल । खलु । अन्यथा अन्येन प्रकारेण, अविषये इत्यर्थ । न च—प्रयुक्तोपाय फलवान् न भवतीत्यर्थ । वज्रधरायुधोचिते वज्रधरस्य देवेन्द्रस्य आयुधस्य वज्रस्य उचिते योग्ये, वज्रेण भेत्तु योग्ये इत्यर्थः । ग्रावणि[5] पर्वते । 'ग्रावाणौ शैलपाषाणौ[6]' इत्यमरः । लौह[7] लोहनिर्मितम् । आयुध प्रहरणम् । न क्रमते हि समर्थं न भवति हि । अर्थान्तरन्यास ।८६॥ मदभाजीति । मदभाजि गर्वयुक्ते । परापमाननाप्रवणे परेषामपमाननार्यामुदासीनकरणे प्रवणे समर्थे । सूरय नीतिविद· । दण्ड दण्डोपायम् । उशन्ति वदन्ति । वश कान्तौ लट् । अपनायनासिक अपनाथा अच्छिद्रिता नासिका घोणा यस्य स । अनड्वान् सौरभेयः । सुखेन अनायासेन[9] । वश्यताम् अधीनताम् । उपयाति प्राप्नोति किम् ? नोपयातीत्यर्थ । अर्थान्तरन्यास ॥८७॥ पुरुष इति । पुरुप नर । परै अन्यपुरुषै । यावत् यावत् पर्यन्तम् । न विगाह्यते[10] नापहीयते[11] । गाहौङ्[12] विलोडने कर्मणि लट् । असौ पुरुषः । (तावत्) तपनीयवत् सुवर्णवत् । गुरु[13] भारभूतो भवति । अन्यैः साकं यावत् पर्यन्त नोपमितस्तावत्पर्यन्तं तुलारोपणरहितसुवर्णवत् गुरुगुणयुक्तो भवतीत्यर्थ । तुलितश्चेत् उपमितश्चेत् । स एव पुरुषस्तु । तत्क्षणात् स्वल्पकालादेव । तृणराशौ तृणाना राशौ पुञ्जे । असंशय निस्संदेहम् । निपतति लघुत्व प्राप्नोतीत्यर्थ. । उपमा आक्षेपश्च ॥८८॥ शिवहेतुरिति । व्रतिनामेव तपस्विनामेव । क्षमा उत्तमक्षमा । शिवहेतु शिवस्य मोक्षस्य हेतु कारणमिति । उदाहृता निगदिता । मेदिनीभुजा भूपतीनाम् । न नोदाहृता । ससृतिमुक्तिधर्मिणो ससृत समारस्य मुक्तेर्मोक्षस्य धर्मिणो. धर्मयुक्तयोः । पदवी

'सता हि प्रह्वता शान्त्यै खलाना दर्पकारणम्' ॥८५॥ साम उपाय तभी सफल होता है, जब उसका प्रयोग उसके योग्य पुरुषके साथ किया जाता है, अन्यथा नही—अयोग्य पुरुषके साथ सामका प्रयोग सफल नही होता । वज्रसे तोडने योग्य पहाडपर लोहेका हथियार या औजार काम नही दे सकता ॥८६॥ अहकारी और दूसरोको अपमानित करनेमे तत्पर रहनेवाले पुरुषके साथ दण्डका प्रयोग करना चाहिए, यह राजनीतिज्ञ विद्वान् कहते हैं । बिना नथा बैल क्या सुखसे वशमे किया जा सकता है ? बैलकी नाकमे रस्सी पिरो दी जाती है तभी वह वशमे आता है ॥८७॥ जबतक दूसरोके द्वारा विरोधीकी तहका पता नही लगा लिया जाता–थाह नही ली जाती तब तक वह सोनेकी तरह भारी जान पडता है । किन्तु बादमे तौलनेपर वही विरोधी तत्काल निश्चय ही तृण पुजमे जा गिरता है—बिलकुल हलका हो जाता है ॥८८॥ क्षमा कल्याण या मुक्तिका कारण बतलाई गयी है, किन्तु किनकी क्षमा ? व्रतियो की, न कि राजाओकी । मंसार और मुक्तिके पथिकोका मार्ग बिलकुल अलग-अलग है—एकके मार्गसे

१ म °मानता° । २. अ मुखेन । ३. क ख ग घ म निगृह्यते । ४ श समोपायः । ५. आ ग्राविण । ६ आ °लपर्वतो । ७ आ 'लौंह' इत्यस्य स्थाने पताह' इत्युपलभ्यते । ८. = तिरस्करणे । ९ आ निरायासेन । १० = नाक्रम्यते । ११. आ नोपहीयते । १२. आ ग्राह् । १३. = गौरवान्वित. ।

अभिवाञ्छति पादसङ्गमप्यखिलः कर्तुमतिग्मदीधितेः ।
तपनं न दृशापि वीक्षितुं महिमा नन्वखिल. स तेजसः[१] ॥९०॥
कृपणस्य परानुवर्तनै सततार्तस्य धिगस्तु जीवितम् ।
अनुनीय पर निजोचितैर्ललनैर्जीवति[२] किं न मण्डलः ॥९१॥
अनुगच्छति[३] यः शठं प्रियैः प्रविहायोचितमात्मसौष्ठवम् ।
स निजा विवृणोत्यसारतामपवृष्टिर्निनदन्निवाम्बुदः ॥९२॥
मृत एव विलीन एव वा वरमप्राप्तभव. पुरैव च ।
न पुमान्परिभूतिजीवितः सहते कः खलु मानखण्डनम्[४] ॥९३॥

मार्ग । [बहुना] विप्रकृष्यते दूरीक्रियते । कृषो[५] विलेखने कर्मणि लट् । ननु निश्चयम् ॥८९॥ अभिवाञ्छतीति । अतिग्मदीधिते- चन्द्रस्य । पादसग पादस्य किरणस्य पादेन सगम् इति ध्वन्यते[६] । अखिलोऽपि सकलोऽपि । कर्तुं विधातुम् । वाञ्छति इच्छति । वाछ इच्छाया लट् । तपन सूर्यम् । दृशापि नेत्रेणापि । वीक्षितु द्रष्टुम् । न न वाञ्छति । स अखिल सकलः । तेजस प्रतापस्य । महिमा[७] सामर्थ्यम् । ननु निश्चय[८] (निश्चयेन) । अर्थान्तरन्यास ॥९०॥ कृपणस्येति । परानुवर्तनै[९] परेषामन्येषामनुकूलवर्तनैरनुसारवृत्तिभि । सततार्तस्य सततमनवरतमार्तस्य[१०] पतितस्य कृपणस्य दीनस्य । जीवितं जीवनम् । धिगस्तु विनिन्दितमस्तु । मण्डल सारमेय· । 'मण्डलो रात्रिजागर' इत्यभिधानात् । निजोचितै निजस्य स्वस्योचितैर्योग्यै । ललनैः लाङ्गूलचालनादिदैन्यै । परम् अन्यम् । अनुनीय संतोषयित्वा । न जीवति किं प्राणधारण न करोति किम् ? किन्तु करोत्येव । अर्थान्तरन्यास ॥९१॥ अनुगच्छतीति । य पुरुष । उचित योग्यम् । आत्मसौष्ठवम् आत्मन स्वस्य सौष्ठव महत्त्वम् । प्रविहाय विमुच्य । शठ दुर्जनम् । प्रियै प्रियवचनादिभि । अनुगच्छति[११] अनुकूल याति । गम्लृ गतौ लट् । स पुरुष । निनदन् ध्वनन् । अपवृष्टि अपगता रहिता वृष्टिवर्षं यस्य स । अम्बुद इव मेघ इव । निजा स्वकीयाम् । असारता निस्सारत्वम् । विवृणोति व्यक्तीकरोति । वृञ् वरणे लट् । उपमा ॥९२॥ मृत इति । मृत एव त्यक्तप्राण एव । विलीन एव प्रच्छन्न एव । पुरैव च प्रागेव च । अप्राप्तभवो वा अलब्धमनुष्यभवो वा । वरम् उत्कृष्टम् । परिभूतजीवित परिभूत पराभव गत जीवित जीवन येन[१२] स । पुमान् पुरुष. । [न] वर न भवति । मानखण्डना मानस्याभिमानस्य खण्डना

दूसरेका मार्ग दूर है । उत्तम क्षमा गृहस्थोके लिए नही, साधुओंके लिए उपयोगी है ॥८९॥ सारा ससार चन्द्रमाकी किरणोका (पैरोका भी) सम्पर्क चाहता है, पर सूर्यको वह आँख उठाकर भी नही देखना चाहता । यह सब तेजकी महिमा है ॥९०॥ दूसरोकी खुशामद करनेवाले और इसीलिए हमेशा परेशान रहनेवाले दीन-हीन पुरुषके जीवनको धिक्कार है । क्या एक कुत्ता अपने योग्य व्यवहार—पूछ हिलाना, पीछे पीछे चलना और पैरोमे गिरना आदि—स दूसरेको खुश करके पेट नही भर लेता ? ॥९१॥ जो पुरुष अपने योग्य गौरवको खोकरके खुशामदसे किसी धूर्तको प्रसन्न करना चाहता है और उसके पीछे-पीछे लगा फिरता है, वह वृष्टि न न करके गरजनेवाले मेघकी भाँति अपनी असारताको प्रकट करता है ॥९२॥ पुरुषको अपमानित होकर जीवन बिताना उचित नही । अपमानित जीवनसे उसका मर जाना ही अच्छा है, माँके पेटमे विलीन हो जाना—गर्भस्राव हो जाना अच्छा है अथवा गर्भमे न आना भी उत्तम है ।

१ आ इ °खिलस्य तेजस । २ म °ललितै° । ३ अ ननु गच्छति । ४ अ °दण्डनम्, आ इ °खण्डनाम् । ५ आ कृष । ६ आ दृश्यते । ७ = महत्त्वम् । ८ आ 'ननु निश्चय' इति नोपलभ्यते । ९. = परेषामन्येषामनुवर्तनैरनुवृत्तिभि । १०. = पीडितस्य । ११. = अनुसरति । १२ = यस्य ।

रहितः सहजेन तेजसा पशुवत्कैन बलान्न वाह्यते ।
महतामत एव वल्लभा ननु वृत्तिर्मृगराजसेविता ॥९४॥
अवगाच्च्युतनीति मा भवानिदमेकान्तत एव मद्वचः ।
अहमीश यतो ब्रवीम्यदः सकलं कालबलव्यपेक्षया ॥९५॥
स्वयमेव न वेत्ति किं प्रभुः स यथा क्षीणबलो बलाहवे ।
ससुहृद्व्यसनश्च वर्तते विगृहीतं कुलजैर्महाबलैः ॥९६॥
अभियातुमतः प्रयुज्यते भवतो वृद्धिमतः क्षये स्थितः ।
प्रभवेत्खलु भाग्यसंपदा सहितः स्थानगतोऽप्यरातिषु ॥९७॥

भञ्जनाम् । कः को वा । खलु स्फुटम् । सहते क्षमते । षहि मर्षणे लट् । अर्थान्तरन्यासः ॥९३॥ रहित इति । सहजेन निसर्गजेन । तेजसा प्रतापेन । रहितः विरहितः । पशुवत् बलीवर्द इव । बल पराक्रमः (बलात् हठात्) । न बाध्यते न पीड्यते । वाह्यते इति वा पाठः । अतएव एतस्मात् कारणादेव । मृगराजसेविता मृगराजेन सिंहेन सेविता आश्रिता । वृत्तिः वर्तनम् । महता महापुरुषाणाम् । वल्लभा प्रिया । ननु निश्चयम्[2] । प्रतापयुक्तप्रवृत्तिरेव न बाध्यते (वाह्यते वा) इत्यभिप्रायः । अर्थान्तरन्यासः ॥९४॥ अवेति । ईश भो स्वामिन् । इदम् एतत् । मद्वचः मम मे वचो वचनम् । एकान्ततः सर्वथा । च्युतनीति च्युतानीतिर्येन (यस्य) तत् । 'क्ता' इति च्युतशब्दस्य पूर्वनिपातः । भवान् त्वम् । मा अवगात्[3] मा जानीष्व । इण् गतौ लुङ् । 'गैत्यो' इति गादेशः । अहं यतः यस्मात् । कालबलव्यपेक्षया[4] कालबलयोर्व्यपेक्षया आश्रयेण । अदः एतत् । सकलं सर्वम् । ब्रवीमि निगदामि । ब्रूञ् व्यक्तायां वाचि लट् ॥९५॥ स्वयमिति । यथा येन प्रकारेण । सः पृथ्वीपालः[5] । बलाहवे बलस्य बलराजस्य[6] हवे संग्रामे । क्षीणबलः क्षीणं नष्टं बलं चतुरङ्गबलं यस्य सः । [महाबलैः प्रबलैः] कुलजैः दायादैः सह । महाबले महाबलराजे (?) । विगृहीते संग्रामे विहिते सति [विगृहीतः सन्] । ससुहृद्व्यसनश्च सुहृदो मित्रस्य व्यसनं विपत् तेन सह वर्तते इति तथोक्तः । वर्तते तिष्ठति । वृतूङ्[7] वर्तने लट् । इति प्रभुः पद्मनाभ । स्वयमेव न वेत्ति किं न जानाति किम् ? ॥९६॥ अभियातुमिति । अतः एतत्कारणात् । वृद्धिमतः कोशदण्डाधिक्यलक्षणवृद्धियुक्तस्य । भवतः तव । क्षये क्षीणस्थाने । कोशदण्डादीनां[8] हीयमानत्वं क्षयः । स्थितः प्रवृत्तः पृथिवीपालः[9] । अभियातुम्

अपमानको कौन सह सकता है ? ॥९३॥ जो पुरुष तेज रहित होता है, वह पशु सरीखा हो जाता है । पशुकी तरह उसपर कौन जबरन सवार नहीं हो जाता ? पशुकी ही भाँति उसे कौन नहीं बलात् जोत लेता है ? इसीलिए तो महान् पुरुषोंको सिंहवृत्ति प्यारी होती है ॥९४॥ राजन् ! आप मेरे कथनको सर्वथा नीति रहित नहीं समझ लीजियेगा । क्योंकि यह सब मैं समय और शक्तिको समझ कर कह रहा हूँ ॥९५॥ राजन् ! क्या आप स्वयं यह नहीं जानते कि बल नामक राजाके साथ संग्राम छिड जानेसे पृथिवीपालका सैन्यबल क्षीण हो गया है । यों पृथिवीपाल बडा बलवान् है, पर अपने कुलके लोगोंसे भी उसका संघर्ष चल रहा है, अतः उसके ऊपर मित्र-संकट भी छाया हुआ है । इस समय पृथिवीपालकी स्थिति क्या घर और क्या बाहर दोनों ही जगह गिरी हुई है ॥९६॥ राजन् ! इस समय आप कोष और सैन्यकी दृष्टिसे सम्पन्न हैं और पृथिवीपाल विपन्न । वह कोष और सैन्यकी दृष्टिसे बहुत ही गिरी हुई—क्षयकी अवस्थामें है, अतएव आपको

१. आ इ °हीते कुलजे महाबले । २ = निश्चयेन । ३ आ मा ज्ञासिष्ट । ४ आ 'कालबलव्यपेक्षया' इति नास्ति । ५ = पृथिवीपालः । ६. आ 'बलराजस्य' इति नास्ति । ७. आ वृत् । ८ आ °दण्डादिना । ९. श स पृथ्वीपाल. ।

अवधार्य सुवर्णनाभजामिति वाणीं करणीयपेशलाम् ।
भवभूतिरुदाहरद्वचः प्रभुणा स्निग्धदृशावलोकितः ॥९८॥
निखिले विधिवद्विवेचिते युवराजेन विधेयवस्तुनि ।
अपरोऽत्र यदाह सोऽखिलः प्रतिशब्दः शुकशारिकादिवत् ॥९९॥
विशदामसमुज्झितान्वयां नयसारामविहीनसौष्ठवाम् ।
गिरमेष कदाचिदीदृशीमभिदध्यादथवा बृहस्पतिः ॥१००॥
न तथाप्यनुवर्तनामहं सहसास्य प्रविधातुमुत्सहे ।
न विमुह्यतु मद्विधः कथं गहने कृत्यविधौ विधेरपि ॥१०१॥

अभिगन्तुम् । युज्यते योग्यो भवति । भाग्यसंपदा भाग्येन संपदा च । सहितः युक्तः । स्थानगतोऽपि कोश-दण्डादीनां साम्यं स्थानं[1] गतोऽपि प्राप्तोऽपि । अरातिषु शत्रुषु । प्रभवेत् खलु समर्थो भवेत् खलु । लिङ् ॥९७॥ अवधार्येति । सुवर्णनाभजां सुवर्णनाभेन जनिताम् । करणीयपेशलां करणीये कार्ये पेशलां मनोहराम् । इति उक्तरूपाम् । वाणीं वाचम् । अवधार्य निर्णीय । प्रभुणा पद्मनाभेन । स्निग्धदृशा स्निग्धया प्रीतियुक्तया दृशा[2] नयनेन । अवलोकितः वीक्षितः । भवभूतिः भवभूतिनामा मन्त्री । वचः वचनम् । उदाहरत् अवोचत् । हृञ् हरणे लङ् ॥९८॥ निखिल इति । युवराजेन युवा चासौ राजा च युवराजस्तेन, सुवर्णनाभेन । निखिले सकले । विधेयवस्तुनि विधातुं कर्तुं योग्यं विधेयं तस्मिन् वस्तुनि । विधिवत्[3] नीतिशास्त्रोक्तविधिरिव । विवेचिते विचारिते सति । अत्र अस्मिन् कार्ये । अपरः अन्यः । यत् वचनम् । आह ब्रवीति । ब्रूञ् व्यक्तायां वाचि लट् । 'ब्रुवस्तिप्पञ्चत —' इति तिपो णशादेशः,[4] ब्रुव आह इत्यादेशश्च[5] । स अखिलः सकलः । शुकसारिकादिवत् शुकसारिकादिपक्षिण इव । प्रतिशब्दः प्रतिध्वनिः । भवतीत्यध्याहारः ॥९९॥ विशदामिति । एषः अयं युवराजः । कदाचित् एकस्मिन् समये । विशदां व्यक्तरूपाम् । असमुज्झितान्वयां असमुज्झितो-ऽत्यक्तोऽन्वयः पूर्वक्रमो यस्याः[6] ताम् । नयसारां नये नीतिशास्त्रे सारामुत्कृष्टाम् । अविहीनसौष्ठवाम् अविहीन-मत्यक्तं वा सौष्ठवं माधुर्यं यस्याः[7] ताम् । ईदृशीम् एतादृशीम् । गिरं वाणीम् । अभिदध्यात् ब्रूयात् । डुधाञ् धारणे लिङ् । अथवा बृहस्पतिः सुरगुरुः । [कदाचित् संभवतः] अभिदध्यात् । युवराजो बृहस्पति-समान इत्यर्थः । अतिशयः ॥१००॥ नेति । विधेः अपि ब्रह्मणोऽपि । गहने विषमे[8] । कृत्यविधौ कृत्यस्य कार्यस्य विधौ करणे । मद्विधः मम सदृशः । कथं केन प्रकारेण । न विमुह्यतु भ्रान्तो न भवतु । तथापि

चढ़ाई करनेके लिए प्रेरित किया जा रहा है। भाग्य सम्पत्तिसे युक्त राजा शत्रुओंपर विजय पानेमें समर्थ होता है, भले ही वह कोष और सैन्यकी दृष्टिसे उनके समान हो। क्योंकि अदृष्ट जिसका साथ देता है, वही विजयी होता है ॥९७॥ इस तरहकी सुवर्णनाभकी प्रस्तुत कर्तव्यकी विचारधारासे मन हरनेवाली वाणी सुनकर पद्मनाभने प्रीतिसे सनी हुई दृष्टिसे भवभूति नामक अपने मन्त्रीको देखा। उसके अवलोकनसे बोलनेका संकेत पाकर वह (भवभूति मन्त्री) यों बोला—॥९८॥ युवराजके द्वारा सारे प्रस्तुत कार्यके बारेमें नीतिशास्त्रके अनुकूल जो विवेचन किया गया है, वह हृदय ग्राह्य है। अब इस विषयमें यदि और कोई बोलेगा, तो निश्चय ही वह तोते-मैनेकी भाँति युवराजके वक्तव्यको केवल दुहरा भर देगा—प्रत्युच्चारण या प्रतिध्वनि मात्र कर देगा ॥९९॥ स्पष्ट, क्रमबद्ध, नीतियुक्त और मधुर, इस प्रस्तुत वक्तव्यको युवराज सुवर्णनाभ ही दे सकता था, अथवा अब ऐसे वक्तव्यको शायद बृहस्पति दे दे, और तो किसीमें ऐसी योग्यता नहीं देख पड़ती ॥१००॥ तो भी मैं इसे शीघ्र ही स्वीकार नहीं कर सकता;

---

१ आ साम्यलक्षणस्थानं । २ = दृष्ट्या । ३. = नीतिशास्त्रानुसारम् । ४ आ णादेशः । ५. श 'च' नोपलभ्यते । ६. = यया । ७. = यया । ८. आ विषये ।

सुविचार्य करोति बुद्धिमानथवा नारभते प्रयोजनम् ।
रभसात्करणं हि कर्मणां पशुधर्मः स कथं नु मानुषे ॥१०२॥

प्रविचेष्टितमेवमेव चेदुभयोरप्यविवेकपूर्वकम् ।
पशुमानुषयोस्तदा भवेत्किमृते शृङ्गयुगाद्विभेदकम् ॥१०३॥

युवराण्मतमस्तु किं तु नः प्रतिपाल्यः समयः कियानपि ।
विदितारिबला प्रयुञ्जते ननु षाड्गुण्यमुदारबुद्धयः ॥१०४॥

सकलं प्रविगाह्य तं चरै रिपुसर्वस्वमुपेत्य सर्वतः ।
स्वपरप्रविभागवेदने स्वयमस्तूद्यतधीर्भवानपि ॥१०५॥

अहम् अस्य कार्यस्य । अनुवर्तनाम् अङ्गीकारम् । सहसा शीघ्रम् । प्रविधातु कर्तुम् । न उत्सहे उद्युक्तो न भवामि । षहि मर्षणे । अहकारपरिहार ।.१०१॥ सुविचार्येति । बुद्धिमान् सम्यग्ज्ञानी । प्रयोजन कार्यम् । विचार्य परीक्ष्य । करोति विदधाति । अथवा तथा नो चेत् । न आरभते नोपक्रमते । रभि राभस्ये लट् । कर्मणा कार्याणाम् । रभसात् शीघ्रम् । करण विधानम् । हि[1] पशुधर्म मूढधर्म । स[2] मानुषे मनुष्ये । कथं नु कथ भवेत् ? ॥१०२॥ प्रविचेष्टितमिति । अविवेकपूर्वकम् अविवेकपूर्वकमेव । विचेष्टित व्यापृतम् । चेत्, तदा तर्हि । पशुमानुषयोः पशुमनुष्ययो. उभयोरपि । शृङ्गयुगात् शृङ्गयोर्विषाणयोर्युगाद् युगलात् । ऋते विना । विभेदक[3] भेद । [किं] भवेत् (किं) स्यात् ? । लिङ् । आक्षेप. ।।१०३।। युवराडिति । न अस्माकम् । युवराड्मत[4] युवराज सुवर्णनाभस्य मतं[5] समतम् । अस्तु भवतु । अस भुवि लोट् । किन्तु विशेषोऽस्ति । कियानपि स्वल्पोऽपि[6] । 'यत्तिद किम ' इति घतु-प्रत्यय· । 'किमिदमः कीश्' इति किरादेश । समयः काल । प्रतिपाल्य. रक्षणीय । विदितारिबला विदित ज्ञातमरीणा शत्रूणा बल[7] स्वरूप यैस्ते । उदारबुद्धय उदारा महती बुद्धिर्येषा ते । षाड्गुण्य सन्ध्यादिषाड्गुण्यम् । प्रयुञ्जते प्रयोगं कुर्वन्ति । युजृन् योगे लट्[8] । अर्थान्तरन्यास ।।१०४।। सकलमिति । सकल निखिलम् । रिपुसर्वस्व रिपूणा शत्रूणा सर्वस्व सर्वस्वरूपम् । चरैर्गूढचरै । सर्वत[9] सर्वस्मात् । उपेत्य ज्ञात्वा (गत्वा) । प्रविगाह्यता ज्ञायताम् । गाहौङ् विलोडने लोट्[10] । स्वपरप्रविभागवेदने स्वस्य परेषामन्येषा प्रविभागस्य वेदने । भवानपि त्वमपि । स्वयम् उद्यतधी

क्योकि जो काम विधाताके लिए भी कठिन है, उसमे मुझ सरीखेको भला श्रम क्यो नही होगा ? ॥१०१॥ बुद्धिमान् मनुष्य खूब आगा-पीछा सोचकर कार्य प्रारम्भ करता है, या फिर प्रारम्भ ही नही करता, क्योंकि सहसा कार्य प्रारम्भ कर देना पशुओंका धर्म है, वह मनुष्यमें कैसे पाया जा सकता है ? ॥१०२॥ यदि पशु और मनुष्य दोनोकी ही चेष्टाएँ अविवेक पूर्वक—बिना सोचे-समझे हो, तो दो सीगोंके सिवा, दोनोमे भेद बतानेवाला चिन्ह कौन-सा होगा ? ॥१०३॥ युवराजका मत हम सबको मान्य हो, किन्तु अभी कुछ समय प्रतीक्षा करनी चाहिए। शत्रुओके बलका पता लगा , बुद्धिमान् पुरुष निश्चय ही छह गुणो—सन्धि, विग्रह, यान, आसन, सश्रय और द्वैधीभाव—का प्रयोग करते हैं ॥१०४॥ पहले सभी ओरसे जासूसोको भेजकर, पृथिवीपालके सर्वस्वका ठीक-ठीक पता लगा लेना चाहिए। आप भी अपनी और

---

१. =निश्चयेन । २. =धर्मः । ३. =भेदकारि । ४ आ °राण्मत । ५. =अभिमतम् । ६. आ स्वल्पमपि । ७ =सामर्थ्यम् । ८. आ लङ् । ९. =परित । १० श लेट् ।

तरसोभयवेतनैर्वशीक्रियतां भृत्यगणो यथोचितम् ।
कृतकग्रथितैश्च शासनैः[1] परिदूष्या रिपुसामवायिकाः ॥१०६॥
विनिवेद्यमिदं प्रयोजनं सकल भीमरथस्य रंहसा ।
स न तिष्ठति लेखदर्शनात्समदुःखोऽस्ति सुहृन्न तादृशः ॥१०७॥
तनयः स तनोति यः कुलं स सुहृद्यो व्यसनेऽनुवर्तते ।
स नृपः परिपाति यः प्रजां स कविर्यस्य वचो न नीरसम् ॥१०८॥
तमनन्यसमानतेजसं समनुप्राप्य सहायमूर्जितम् ।
सवितेव घनात्यये भवान्भविता भासुरधामदुःसहः ॥१०९॥

प्रयतबुद्धि । अस्तु भवतु । लोट् ॥१०५॥ तरसेति । कृत्यगण कृत्याना कार्याणा (भृत्यगण. भृत्याना शत्रुकिङ्कराणा) गणः समूह । तरसा शीघ्रम् । उभयवेतनै. उभयेषा शत्रुप्रतिशत्रूणा वेतनै.[2] सेवकै. । यथोचितं यथायोग्यम् । वशीक्रियता वशो विधीयताम् । वश विधेये[3] कर्मणि लोट् । कृतकग्रथितै कृतकेन कपटेन ग्रथितै रचितैः । शासनैश्च लेखनैश्च । रिपुसामवायिकाः रिपो. शत्रो सामवायिका सामन्तादय । परिदूष्या. याञ्चितु[4] (?) योग्या स्यु ॥१०६॥ विनिवेद्यमिति । इदम् एतत् । सकल निखिलम् । प्रयोजन कार्यम् । रंहसा[5] शीघ्रम् । भीमरथस्य भीमरथराजस्य । विनिवेद्य निवेदितव्यम् । समदु ख सम समान दु खं कष्ट यस्य स । स भीमरथ । लेखस्य लेखनपत्रस्य । दर्शनात् आलोकनात्[6] । न तिष्ठति नास्ति[7] । लट् । तादृश भीमरथस्य समः । सुहृत् मित्रम । नास्ति न विद्यते । लट् । उपमा (?) ॥१०७॥ तनय इति । य पुरुष । कुल वंशम् । तनोति विस्तारयति । स तनय पुत्र । य व्यसने दु खे । अनुवर्तते अनुतिष्ठति[8] । स सुहृत् सखा । य प्रजा सर्वजनान् । प्रतिपाति[9] प्रतिपालयति । स नृप. नरपति । यस्य पुरुषस्य । वच वचनम् । नीरस शृङ्गारादिरहितम् । न-न भवति । स कवि कवीश्वर । भवतीत्यध्याहार ॥१०८॥ तमिति । अनन्यसमानतेजस न विद्यतेऽन्येषा समान सदृश तेज प्रतापो यस्य तम् । ऊर्जित[10] प्रसिद्धम् । त भीमरथम् । सहाय मित्रम् । समनुप्राप्य सप्राप्य[11] संलभ्य । घनात्ययं शरत्कालम् । प्राप्य, सवितेव सूर्य इव । भवान् त्वम् । भासुरधामदुस्सह भासुरेण[12] मनोहरेण धाम्ना प्रतापेन, पक्षे किरणेन दुस्सह सोढुमशक्य । भविता

पृथिवीपालकी स्थितिका अन्तर जाननेके लिए प्रयत्नशील रहिये ॥१०५॥ पृथिवीपालके यहाँसे जितना वेतन मिलता हो, उतना अपनी ओरसे भी देकर, उसके समस्त कर्मचारियोको योग्य रीतिसे शीघ्र ही अपने वशमे कर लीजिये, और जाली लेख या आज्ञापत्र भेजकर शत्रुकी पार्टीमे सम्मिलित माण्डलीक राजाओ एव अन्य विशिष्ट व्यक्तियोको अभियोग लगवा दीजिये, ताकि फूट पड जाये ॥१०६॥ भीमरथको शीघ्र ही अपना सारा प्रयोजन पत्र-द्वारा सूचित कर दीजिये । आपका पत्र देखकर वह अपने घर बैठा नही रहेगा—यहाँ अवश्य ही आयेगा । आपके सुख-दु खको अपना ही सुख-दु ख समझनेवाला, उस सरीखा आपका कोई मित्र नही है ॥१०७॥ तनय-पुत्र वही है, जो कुलका विस्तार करे, मित्र वही है, जो आपत्तिमे अनुगमन करे; राजा वही है, जो प्रजाकी रक्षा करे और कवि वही है, जिसके वचन नीरस न हो ॥१०८॥ अनुपम तेजको धारण करनेवाले और बलशाली उस भीमरथको अपना सहायक पाकर आप शरद ऋतुके सूर्यके समान इतने तेजस्वी हो जायेंगे कि आपका तेज शत्रुओको असह्य हो

---

१. इ शासनै । २ =द्विगुणितवेतनवद्भिः । ३. श 'वश विधेये' इति नास्ति । ४. आ याचितुम् । ५. आ सहसा । ६. श लोकनात् । ७ =नास्ते । ८ आ आनुकूल्येनानुतिष्ठति । ९ एष टीकाश्रय पाठ, प्रतिषु तु 'परिपाति' इत्येव दृश्यते । १० =प्रबलम् । ११ आ 'सप्राप्य' इति नास्ति । १२ =प्रदीप्तेन ।

करिणं प्रदिशामि निश्चितं समरं वाहनि मासपूरणे।
भवतेऽहमिति प्रहीयतां रिपुदूतो वचनैर्द्वयाश्रयैः[1] ॥११०॥
हितमित[2]वचनानि मन्त्रिमुख्यादिति सकलाभिमतान्यसौ निशम्य।
अनलसमतिरर्थतोऽनुतस्थौ गुरुवचनं[3] ह्युदयैषिणामलङ्घ्यम् ॥१११॥

इति श्रीवीरनन्दिकृतावुदयाङ्के चन्द्रप्रभचरिते महाकाव्ये द्वादशः सर्गः ॥१२॥

भविष्यति। भू सत्तायां लुट्। भवच्छब्दप्रयोगे प्रथमपुरुषः। उपमा ॥१०९॥ करिणमिति। अहं भवते तुभ्यम्। मासपूरणे मासस्य पूरणे सपूर्णकरणे। अहनि दिने। निश्चितं निर्णीतम्। करिणं गजपतिम्। प्रदिशामि प्रयच्छामि। दिश अतिसर्जने लट्। 'वर्त्स्यति फलकारणे' इति भविष्यदर्थे लट्। समरं वा संग्रामं वा। प्रदिशामि। इति एवम्। द्वयाश्रयैः द्वयमवलम्बनमाश्रयो येषां तैः। वचनैः वचोभिः। रिपुदूतः रिपोः शत्रोर्दूतो वचोहरः। प्रहीयतां प्रेष्यताम्। हि गतिवृद्धयोः कर्मणि लोट्[4] ॥११०॥ हितेति। असौ पद्मनाभः। मन्त्रिमुख्यात् मन्त्रिश्रेष्ठभवभूतेः। सकलानि मतानि सकलैः सर्वैरभिमतानि समतानि[5]। हितमितवचनानि मितानि च तानि वचनानि च तथोक्तानि, हितानि च तानि मितवचनानि च तथोक्तानि। इति एवम्। निशम्य श्रुत्वा। अनलसमतिः सन् अनलसा आलस्यरहिता मतिर्बुद्धिर्यस्य सः। अर्थतः परमार्थतः। अनुतस्थौ अङ्गीकरोति स्म। ष्ठा गतिनिवृत्तौ लिट्। उदयैषिणाम् ऐश्वर्यं वाञ्छद्भिः। 'वा नाकस्य–' इत्यादिना करणार्थे[6] षष्ठी। गुरुवचनं गुरोः श्रेष्ठस्य। वचनं भाषितम्। अलङ्घ्यं हि नोल्लङ्घनीयं हि[7]। अर्थान्तरन्यासः ॥१११॥

इति श्रीवीरनन्दिकृतावुदयाङ्के चन्द्रप्रभचरिते महाकाव्ये तद्व्याख्याने च
विद्वन्मनोवल्लभाख्ये द्वादशः सर्गः ॥१२॥

जायेगा ॥१०९॥ 'आजसे तीसवें दिन निश्चय ही मैं आपको हाथी दूँगा, या फिर युद्ध करूँगा', यह अनिश्चित उत्तर देकर पृथिवीपालके दूतको विदा कर दीजिये ॥११०॥ इस प्रकार मुख्य-मन्त्री भवभूतिसे सर्वसम्मत, हितकारी और परिमित इन वचनोंको सुनकर पद्मनाभने—जिसे नाममात्रको भी आलस नहीं था—वास्तविक रूपमें स्वीकार कर लिया। ठीक है, ऐश्वर्य चाहनेवालोंको गुरुजनोंके वचन अनुल्लङ्घनीय होते हैं ॥१११॥

इस प्रकार महाकवि वीरनन्दि विरचित उदयाङ्क चन्द्रप्रभ चरित महाकाव्यमें
बारहवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥१२॥

■

---

१ अ द्वयाश्रितैः। २ म हितमिति। ३. म हृदयैषिणा°। ४. श लेट्। ५ श 'समतानि' इति नास्ति। ६. श करणेऽर्थे। ७. श 'हि' नास्ति।

[१३. त्रयोदशः सर्गः]

अथ स विक्रमवान्नयभूषणो मिलितभीमरथप्रमुखः प्रभुः ।
निरगमत्प्रतिशत्रु जिगीषया प्रशमितप्रकृतिव्यसनो नृप ॥१॥

सकललोकमनोरममुल्लसत्कुमुदपाण्डु विकासितदिङ्मुखम् ।
पथि रराज धृतं धरणीपतेः स्वयशसा सममातपवारणम् ॥२॥

जलदवीथिविशालमुरः प्रभोः पृथुलहारलतामणिभिर्बभौ ।
मुखसरोजमुपासितुमागतैरुडुगणैरिव जातशशिभ्रमः ॥३॥

अथेति । अथ मन्त्रालोचनानन्तरम् । विक्रमवान् पराक्रमयुक्त. । नयभूषण नय एव नीतिरेव भूषणं यस्य स । मिलितभीमरथप्रमुखप्रभु मिलिता युक्ता भीमरथप्रमुखा प्रभवो राजानो यस्य[1] स । प्रशमितप्रकृतिव्यसन प्रशमितमुपशमित प्रकृतीनाममात्याद्याना[2] व्यसन दु ख येन स । 'अमात्याश्च स्वपौराश्च[3] सद्भि प्रकृतय स्मृता' । स नृप पद्मनाभनृपति । जिगीषया जेतुमिच्छया । जि ज्यो[4] अभिभवे लिट् । 'जेर्लिट् सनि' इति कवर्गादेशः । प्रतिशत्रु शत्रोरभिमुख प्रतिशत्रु[5] । निरगमत् निर्गच्छति स्म । रूपकम् ॥१॥ सकलेति । सकललोकमनोरम सकलाना सर्वेषा लोकाना जनाना मनोरम मनोहरम् । उल्लसत्कुसुमपाण्डु[6] उल्लसद् विकसत् कुसुममिव पाण्डु शुभ्रम् । उपमा । विकासित[7]दिङ्मुख विकासितानि प्रकाशितानि दिशा ककुभा मुखानि वदनानि येन तत् । स्वयशसा स्वस्य आत्मनो यशसा कीर्त्या । समं समानम् । धरणीपते पद्मनाभस्य । धृत भृतम् । आतपवारणम् आतपत्रम् । पथि मार्गे । रराज भाति स्म । राजृ दीप्तौ लिट् । उपमा ॥२॥ जलदेति । प्रभो पद्मनाभस्य । जलदवीथिविशाल जलदवीथिवद् गगनवद् विशाल विस्तीर्णम् । उर वक्ष । जातशशिभ्रमं जात उत्पन्न. शशीति चन्द्र इति भ्रमो भ्रान्तिर्येषा तं । भ्रान्तिमान् । मुखसरोज[8] मुखमेव सरोज कमल तत् । रूपकम् । उपासितुम् आराधितुम् । आगतै आयातै । उडुगणै उडूनां नक्षत्राणा गणैरिव समूहैरिव । पृथुलहारलतामणिभि पृथुलैर्हारलताया हारयष्टेर्मणिभि । बभौ रराज ।

इसके पश्चात् पराक्रमी एव नीतिनिपुण राजा पद्मनाभने पहले अपने मन्त्रियो और पुरवासियोके कष्टोका निवारण किया, फिर भीमरथ आदि अनेक मित्र राजाओको अपने साथ लिवाकर विजयकी अभिलाषासे पृथिवीपालके नगरकी ओर प्रयाण कर दिया ॥१॥ पद्मनाभके ऊपर छत्र लगा हुआ था । उसे उनके भृत्य पकडे हुए थे । उसका सफेद रंग कुमुदसे मिलता-जुलता था । वह उसके यशकी भाँति शुभ्र था और सभी ओर दृष्टिगोचर हो रहा था । मार्गमे वह सभी लोगोंके मनको हर रहा था ॥२॥ पद्मनाभका वक्षस्थल आकाशकी भाँति विशाल था । वह हारके बडे-बडे मणियोसे ऐसा प्रतीत हो रहा था, मानो पद्मनाभके मुखमे चन्द्रमाका भ्रम हो जानेसे उसकी उपासना करनेके लिए आये हुए नक्षत्रगणसे व्याप्त हो गया हो ॥३॥

---

१. = येन । २ श °ममात्याना । ३ श पौराश्च । ४ श ज्रो । ५. श 'शत्रोरभिमुख प्रतिशत्रु' इति नास्ति । ६ एप टीकाश्रय पाठ प्रतिषु तु '°कुमुदपाण्डु' इत्येव दृश्यते । ७ अयमपि टीकाश्रयः पाठ प्रतिषु तु 'विभाषित°' इति समुपलभ्यते । ८ = मुख सरोजमिवेति मुखसरोज, तत् । उपमा ।

प्रसृतया बभतुर्वरकुण्डलग्रथितवारिजरागमणित्विषा ।
सरसगैरिकपङ्कपरिष्कृतौ करिकराविव भूमिभुजो भुजौ ॥४॥
मुकुटरत्नचयेन परस्परव्यतिकरोल्लसितामलरोचिषा ।
जलदकाल इवेन्द्रधनुःश्रियं प्रविततान महीपतिरम्बरे ॥५॥
परिभवत्यरिनिर्जयनिर्गतो निखिलमाण्डलिकाननतानयम् ॥
इति भयेन तदीयभुजद्वयं शशिरवी इव भेजतुरङ्गदे ॥६॥
शिखिगलाकृतिना रशनाश्मनो रुचिचयेन निरन्तरपूरितम् ।
क्षितिपतेरखिलां यमुनाह्रदश्रियमलुम्पत नाभिसरोवरम् (रः) ॥७॥

भा दीप्तौ लिट् । उपमा[1] । पद्मनाभस्यालंकरणम् ॥३॥ प्रसृतयेति । प्रसृतया विस्तृतया । वरकुण्डलग्रथितवारिजरागमणित्विषा वरयो[2]र्महतो. कुण्डलयो कर्णवेष्टनयो· ग्रथिताना कीलिताना वारिजरागमणीना पद्मरागमणीना त्विषा कान्त्या । सरसगैरिकरागपरिष्कृतौ सरसस्यार्द्रतायुक्तस्य गैरिकस्य मन शिलाया पङ्केन कर्दमेन परिष्कृतावलङ्कृतौ । 'संपर्युपात्कृञ —' इत्यादिना सडागम । करिकराविव गजशुण्डादण्डाविव । भूमिभुज. पद्मनाभस्य । भुजौ बाहू । बभतु रेजतु । भा दीप्तौ लिट् । उत्प्रेक्षा ॥४॥ मकुटेति । सः महीपतिः पद्मनाभभूप । परस्परव्यतिकरोल्लसितामलरोचिषा परस्परमन्योन्य व्यतिकरेण मिश्रणेनोल्लसित विलसितममल रोचि कान्तिर्यस्य तेन । मकुट[3]रत्नचयेन मकुटे[4] किरीटे विद्यमानाना रत्नाना चयेन समूहेन । जलदकाल इव वर्षाकाल इव । अम्बरे गगने । इन्द्रधनुष सुरचापस्य श्रियं शोभाम् । वितताव वितनोति स्म । तनूञ्[5]विस्तारे लिट् । उत्प्रेक्षा[6] ॥५॥ परिभवतीति । अरिनिर्जयनिर्गत अरेः शत्रोर्निर्जयाय निर्गतो निर्यात । अय पद्मनाभ । अनतान् नमनविमुखान् । निखिलमाण्डलिकान् निखिलान् सकलान् माण्डलिकान् [7]देशाधिपतीन् । परिभवति तिरस्करोति । भू सत्ताया लट् । इति[8] भयेन भीत्या । शशिरवी इव सूर्याचन्द्रमसाविव । तदीयभुजद्वयं तदीय तस्य संबन्ध[9] भुजयोर्द्वयम् । अङ्गदे केयूरे । भेजतु भजत. स्म । भजि[10] सेवाया लिट् । चन्द्रसूर्ययोरपि मण्डलवत्त्वात् तावस्याश्रितावित्यर्थ । उपमा[11] ॥६॥ शिखीति । रशनाश्मन.[12] रशनाया काञ्च्या कीलितस्याश्मनो हरिन्मणेः । शिखिगलाकृतिना शिखिनो मयूरस्य गल इव कण्ठ इवाकृति·

पद्मनाभके कानोमे जो कुण्डल थे, उनमे पद्मराग मणियोसे अपूर्व सुषमा उत्पन्न हो गयी थी। उनकी लाल प्रभाके पडनेसे उसके दोनो भुज हाथीकी उन सूडोके समान सुशोभित हो रहे थे, जिनपर अभी-अभी गेरूका लेप किया गया हो ॥४॥ जिस तरह वर्षा ऋतुका समय आकाशमे इन्द्रधनुषकी शोभा उत्पन्न कर देता है, उसी प्रकार पद्मनाभने अपने मुकुटमे जडी हुई रत्नराशिकी परस्परमे मिलकर फैलनेवाली किरणोकी प्रभासे आकाशमे इन्द्रधनुष सरीखी शोभा उत्पन्न कर दी थी ॥५॥ पद्मनाभ शत्रुओपर विजय पानेके लिए निकला है। यह नमन न करनेवाले सभी माण्डलीक राजाओका तिरस्कार करेगा, इस भयके कारण मानो चन्द्र और सूर्य अङ्गदके रूपमे उसके दोनो बाहुओंके आभूषण बनकर सेवा करने लगे। अपने-अपने मण्डलो—देशोकी रक्षा करनेवाले अविनीत राजा अपमानित होने लगेंगे, तो हम दोनों भी तो मण्डल-वर्त्तुलाकार वाले हैं और राजाको नमन भी नही करते, अत हम दोनोका भी अपमान होगा, मानो यही सोचकर सूर्य और चन्द्र केयूरका रूप लेकर उसके भुजाओकी सेवामे उपस्थित हो गये ॥६॥ पद्मनाभको कमरमे करधनी शोभा बढा रही थी। उसमे लगे हुए वैडूर्यमणियो-

१. = उत्प्रेक्षा । २ = श्रेष्ठयो । ३ आ मुकुट° । ४. आ मुकुटे । ५. आ तनु । ६ उपमा निदर्शना च । ७. श दिशाधि° । ८ श इतीति । ९ सबन्धि । १० आ भज । ११ = उत्प्रेक्षा । १२ एष टीकाश्रय. पाठः प्रतिषु तु °श्मना' इत्येव समवलोक्यते ।

गुरुमताभिरतामलमानसं विहितदिव्यशरीरपरिग्रहम् ।
त्रिदिवनाथमिव त्रिदिवौकसस्तमवनीपतयो नृपमन्वयुः ॥८॥
तुरगवारकठोरकरद्वयीधृतकुशागुणपीडितकंधरैः ।
पथि भयापसरच्छिशुसंकुले स्खलितवेगमगामि तुरंगमैः ॥९॥
तुरगियत्ननिरुद्धमहारयैर्हरिभिरुत्पतितैर्जलदोन्मुखम्[1] ।
गगननीरनिधिर्निखिलस्तदा समजनीव तरङ्गितविग्रहः ॥१०॥

राकारो[2] यस्य तेन । रुचिचयेन रुचीना कान्तीना चयेन समूहेन । निरन्तरपूरित निरवकाश पूरित व्याप्तम् । क्षितिपते पद्मनाभस्य । नाभिसरोवर[3] नाभिरेव सरोवरम् । रूपकम् । अखिला सकलाम् । यमुनाह्लदश्रिय यमुनाया यमुनानद्या ह्लदस्यागाधजलस्य[4] । श्रिय शोभाम् । अलुम्पत निराकुरुत । लुप्लृञ् छेदने लङ् । उत्प्रेक्षा ॥७॥ गुरुमतेति । [5]गुरुमताभिरतामलमानस गुरुणा हितोपदेशकेन बृहस्पतिना वा मतमभिमतमभिरत मनोहर निर्मल मानस चित्त यस्य तम् । विहितदिव्यशरीरपरिग्रह विहित कृतो दिव्य शरीर गात्र तदेव परिग्रह परिकरो यस्य तम् । त नृप पद्मनाभभूपतिम् । दिवौकस. सुरा । त्रिदिवनाथमिव स्वर्गनाथमिव देवेन्द्रमिवेत्यर्थः । अवनीपतय भूमिपतय । अन्वयु अनुजग्मु । या प्रापणे लङ् । उपमा ॥८॥ तुरगेति । तुरगवारकठोरकरद्वयीधृतकुशागुणपीडितकन्धरै तुरगवाराणामश्वारोहाणा[6] कठोरयो. कर्कशयो करयोर्हस्तयोर्द्वय्या द्वयेन धृतेन भृतेन [7]कुशागुणेन वल्गारज्जुना (रज्ज्वा) पीडिता बाधिता कन्धरा येषा तै । तुरङ्गमै अश्वै । भयापसरच्छिशुसकुले भयाद् भीतेरपसरद्भिरितस्ततो गच्छद्भि शिशुभिर्बालकै सकुले सकीर्णे । पथि मार्गे । स्खलितवेग स्खलितो रुद्धो वेग. शैघ्र्य यस्मिन् कर्मणि तत्० । अगामि अगम्यत् । गम्लृ गतौ भावे[8] लुङ् ॥९॥ तुरगीति । तुरगियत्ननिरुद्धमहारयै[9] तुरगिणामश्वारोहाणा यत्नेन प्रयत्नेन निवारितो रयो वेग [10]शीघ्र [रयो] येषा तै । जलदोन्मुख जलदस्य मेघस्योन्मुखमभिमुखम् । उत्पतितै दुर्लङ्घितै[11] (उद्गतै) उड्डीनैर्वा[12] । हरिभि. वाजिभि. । तदा गमनसमये ।

की किरणोसे—जिनका रग मयूरके गलेके रगसे विलकुल मिलता-जुलता था—सभी ओरसे व्याप्त होकर उसकी नाभि, यमुनाके कुण्डकी–जिसमे कालिय नाग रहा करता था—सारी छविको छीन रही थी ॥७॥ जिस प्रकार बृहस्पतिके द्वारा दी गयी शिक्षामे निर्मल मनको लगानेवाले और दिव्य शरीरको धारण करनेवाले इन्द्रके पीछे देव लोग चला करते हैं, उसी प्रकार गुरुजनोके अभिमत नीतिमार्गमे स्वच्छ हृदयको लगानेवाले—स्वच्छ हृदयसे गुरुजनोकी शिक्षा माननेवाले और अत्यन्त सुन्दर शरीरवाले राजा पद्मनाभके पीछे-पीछे अन्य राजे-महाराजे चल रहे थे—अनुगमन कर रहे थे ॥८॥ भयसे इधर-उधर भागते हुए छोटे-छोटे बच्चोसे घिरे हुए मार्गमे घुडसवारोने अपने कठोर हाथोसे घोडोकी रासोकी रस्सियोको खूब जोरसे खीच लिया, जिससे वे अपनी गर्दन टेढी किये हुए, और उसकी पीडाका अनुभव करते हुए धीरे-धीरे चलने लगे ॥९॥ घुडसवारोने ज्योही बडे यत्नसे घोडोकी तीव्र गतिको रोका, त्यो ही वे मेघोकी

---

१ म °न्मुखे । २ = वर्णो° । ३ निखिलासु प्रतिषु 'नाभिसरोरुहम्' इत्येव पाठो वर्तते । ४ = द्रहस्येति यावत् । 'द्रहोऽगाधजलो ह्लद' इति हैम । ५ = गुरुमताभिरतामलमानस गुरोर्मन्त्रिण, पक्षे बृहस्पतेर्मतेऽभिरत निरतममल निर्मल मानस हृदय यस्य तम् । विहितदिव्यशरीरपरिग्रह विहित कृतो दिव्यस्य सुन्दरस्य, पक्षे वैक्रियिकस्य शरीरस्य परिग्रह स्वीकारो येन तम्, अतिरुचिरशरीरधारिणमिति यावत् । ६ आ °रोहकाणा । ७ = 'कुशा वल्गा कुश जले' अनेकार्थ० । ८ आ कर्मणि । ९ एष टीकाश्रय पाठो मूलप्रतिषु तु °'जवै' इत्येव दृश्यते । १० = जवो° । ११ आ उल्लङ्घितै । १२ श 'उड्डीनैर्वा' इति नास्ति ।

चलितवद्भिरजीयत वाजिभिस्त्वरितमभ्यधिकेन निजौजसा ।
कृतपदैर्निखिलेऽपि महीतले यदनिलः किमिवात्र महाद्भुतम् ॥११॥

निरवधि प्रसृतैर्वसुधातले नृपबलैर्महिमा मम खण्डितः ।
इति नभस्त्रपयेव तिरोभवद्रजसि वाजिखुराहतिबृंहिते ॥१२॥

सतडिदाभरणाः प्रवितन्वते धृतजला जलदा दिवि यां श्रियम् ।
स्फुरितरत्नकुथैरलिकोमलैः प्रचलितैर्भुवि सा विदधे गजैः ॥१३॥

निखिल सकल । गगननीरनिधि गगनमेवाकाशमेव नीरनिधि समुद्र । तरङ्गितविग्रह तरङ्गित सजात-तरङ्गयुक्तो (तरङ्गो) विग्रहो गात्र यस्य स, इव । समजनि जन्यते स्म । जनैङ् प्रादुर्भावे लुङ् । उत्प्रेक्षा ॥१०। चलितेति । निखिले सकले । महीतले भूतलेऽपि । कृतपदै कृत पद चरण येषा तै., स्थानमिति ध्वनि । चलितवद्भिः चलनयुक्तै । वाजिभि अश्वै । अभ्यधिकेन बहुलेन । निजौजसा निजस्यात्मन ओजसा सामर्थ्येन । त्वरित शीघ्रम् । कृतम् (?) । अनिलः वायु । न विद्यते इला भूमिर्यस्य (सोऽ-) अनिलः । इलारहित इति ध्वनि । अजीयत जीयते स्म । जी ज्यो अभिभवे[2] कर्मणि लट् । यदत्र[3] निजस्थानोकृत-निखिलमहीतलैरिलारहितस्य जये न किमप्याश्चर्यमिति छलार्थ[4] । महाद्भुत महदाश्चर्यम् । किमिव किम् ? इवशब्दो वाक्यालङ्कारे ॥११॥ निरवधीति । वसुधातले वसुधाया भूमेस्तले प्रदेशे । निरवधि अपरिमितम्[5] । प्रसृतै विस्तृतै । नृपबलै नृपस्य पद्मनाभस्य बलैश्चतुरङ्गबलैः । मम मे । महिमा[6] सामर्थ्यम् । खण्डित निराकृत । इति एवम् । त्रपयेव लज्जयेव । नभ गगनम् । वाजिखुराहतिबृंहिते वाजिना तुरगाणा खुराणामाहत्या[7] पीडया बृंहिते प्रवृद्धे । रजसि धूल्याम् । तिरोभवत् व्यदधात् । लङ् । उत्प्रेक्षा ॥१२॥ सतडिदिति । सतडिदाभरणा तडिदेव विद्युदेवाभरण भूषण तेन सहिता । धृतजला धृत जल यैस्ते धृतजला । जलदा मेघा । दिवि नभसि । या श्रिय या शोभाम् । प्रवितन्वते विस्तार कुर्वन्ति । स्फुरित-रत्नकुथै. स्फुरितैर्भासितै रत्नकुथै रत्नकम्बलै । 'परिस्तोम कुथो द्वयो' इत्यमर । 'कुथ स्यात्करिकम्बलः' इति वा । अलिकोमलै. अलिभिर्भ्रमरै कोमलै सदृशै । प्रचलितैः निर्गतै । गजै करिभि । भुवि भूमौ ।

ओर—ऊपर उछलने लगे, जिससे सारा आकाश-समुद्र तरंगोसे युक्त-सा दृष्टिगोचर होने लगा ॥१०॥ वेगसे चलनेवाले घोडोने सारे भूतलपर अपने पैर जमा लिये (अधिकार कर लिया)। ऐसी स्थितिमे उन्होंने अपने सर्वाधिक बलसे अनिल-वायु (न विद्यते इला भूमिर्यस्य सोऽनिल'—जिसके पास भूमि न हो) को जीत लिया, इसमे क्या आश्चर्य है ? ॥११॥ 'भूतलपर जिधर-देखो-उधर पद्मनाभकी चतुरगिणी सेना फैल गयी है। किसी भी ओर सेनाका ओर-छोर नही देख पडता । इससे तो मेरी महिमा ही नष्ट हो गयी है– मेरा महत्त्व खण्डित हो गया है। अभीतक तो मै अकेला ही ओर-छोर रहित (अनन्त) था, अब यह सेना भी मेरी बराबरी कर रही है। इससे तो मेरी नाक-सी कट गयी है' मानो यह सोचकर आकाश शर्मिन्दा होकर घोडोकी टापोके प्रहारसे ऊपर उडकर सभी ओर बढनेवाली धूलमे छिप गया ॥१२॥ बिजली रूपी आभूषणको धारण करनेवाले सजल बादल आकाशमे जो शोभा उत्पन्न करते हैं, उसी शोभाको चमचमाते रत्नोसे जडी हुई झूलको धारण करनेवाले और भौरोके समान काले,

---

१ =यै । २ आ जी जयेऽभिभवे च । ३. श यस्त्वत्र । ४ आ दलार्थः । ५ श अप्रमितम् । ६ =महत्त्वम् । ७ =आघातेन ।

पथिषु हस्तिपकाहतडिण्डिमध्वनितनष्टजनेषु यदृच्छया।
कुपितधीर[1]विवर्तितदृष्टिभिः पदमदीयत मत्तमतङ्गजैः ॥१४॥
नृपतिरेकक एव कुलं द्विषां क्षपयितुं क्षम एष किमत्र वः।
जगुरितीव रवैर्बल[2] दन्तिनां श्रितमदार्द्रकटा मधुलिड्गणाः ॥१५॥
यमवनीशगमावसरे मदं जगृहिरे करिणो जयशंसिनः।
रजसि तेन तुरङ्गखुरोत्थिते प्रशमिते ददृशुः पदवीं जनाः ॥१६॥
खुरनिपातविदारितभूमिभिः प्रजविभिस्तुरगैर्विषमीकृते।
पथि परिस्खलनेन समुच्चलच्चरणया चलितं रथकड्यया ॥१७॥

सा शोभा। विदधे क्रियते स्म। डुधाञ् धारणे च कर्मणि लिट्। उत्प्रेक्षा परिवृत्तिर्वा ॥१३॥ पथिष्विति। हस्तिपकाहतडिण्डिमध्वनितनष्टजनेषु हस्तिपकैराधोरणैराहतस्य वादितस्य डिण्डिमस्य डिण्डिमवाद्यस्य ध्वनितेन रवेण नष्टा निवारिता जना येषु तेषु। पथिषु मार्गेषु। कुपितधीरविवर्तितदृष्टिभिः कुपिते क्रुद्धे धीर भयरहित यथा तथा विवर्तिते दृष्टी नयने येषा तैः। मत्तमतङ्गजैः मत्तवारणैः। यदृच्छया स्वेच्छया। पद चरणन्यास। अधीयत न्यक्षिप्यत। कर्मणि लङ् ॥१४॥ नृपतिरिति। एष अयम्। एक एव एकक। नृपति नरपति[4]। द्विषा शत्रूणाम्। कुल वशम्। क्षपयितुं नाशयितुम्। क्षम. समर्थः। व युष्माकम्। 'पदाद्वाक्यस्य—' इत्यादिना युष्मच्छब्दवहुवचनस्य वसादेश। अत्रकार्ये किमिति? अतीव[5] अत्यन्तम्। इव शब्दो वाक्यालङ्कारे। बलदन्तिना बलयुक्तगजाना चतुरङ्गबलगजाना वा। श्रितमदार्द्रकटा श्रित आश्रितो मदेन मदजलेनार्द्र कटो गजगण्डो येषा (यैः) ते। मधुलिड्गणा मधुलिहा भ्रमराणा गणाः समूहा.। [रवै]। जगुः ऊचुः। गै शब्दे लिट्। उत्प्रेक्षा ॥१५॥ यमिति। जयशसिन. जयसूचिन। करिण गजा। अवनीशगमावसरे अवनीशस्य भूमिपतेर्गमस्य गमनस्यावसरे प्रस्तावे। य मद मदजलम्। जगृहिरे स्वीकुर्वन्ति स्म। ग्रही उपादाने लिट्। तुरङ्गखुरोत्थिते तुरङ्गाणामश्वाना खुरै खुरपुटैरुत्थिते समुत्पन्ने[6]। रजसि रेणौ। तेन मदजलेन। प्रशमिते उपशमिते सति[7]। जना लोका। पदवीं मार्गम्। ददृशु पश्यन्ति स्म। दृशृ प्रेक्षणे लिट्। पर्यायोक्ति (?) ॥१६॥ खुरेति। खुरनिपातविदारितभूमिभि खुराणा खुरपुटाना निपातेन घातेन विदारिता विभेदिता भूमिर्येषा[8] तैः। प्रजविभिः वेगवद्भिः। तुरगै अश्वै.। विषमीकृते निम्नोन्नतीकृते। पथि मार्गे। परिस्खलनेन स्खलनक्रियया। समुच्चलच्चरणया समुच्चलत् प्रस्खलत् चरण[9] पादो यस्याः-

चलते हुए हाथियोने पृथिवीपर उत्पन्न कर दिया ॥१३॥ हाथियोपर महावत डिण्डिम बजा रहे थे, उनकी आवाज सुनते ही लोग रास्तोसे अलग हट गये। फिर खाली रास्तोसे मदमाते हाथी अपनी क्रुद्ध एवं निर्भय दृष्टि इधर-उधर डालते हुए स्वच्छन्दतापूर्वक चले जा रहे थे ॥१४॥ सेनामे जो हाथी चल रहे थे, उनके गण्डस्थलोपर भौंरोके झुण्ड बैठे हुए थे, उनके मुखसे 'गुन गुन' शब्द निकल रहा था, जिससे ऐसा प्रतीत हो रहा था मानो वे उन (हाथियो) से यह कह रहे हो कि यह राजा पद्मनाभ अकेला ही शत्रुओके वशका ध्वस करनेके लिए समर्थ है, फिर आपका यहाँ–सेनामे क्या काम? ॥१५॥ पद्मनाभके जानेके अवसरपर विजयको सूचना देनेवाले हाथी जो मदजल बहा रहे थे, उससे घोड़ोकी टापोसे उडायी गयी धूलि शान्त हो गयी। फिर लोगोको रास्ता दीख पडने लगा। ॥१६॥ वेगसे चलनेवाले घोडोने अपनी टापोके प्रहारसे जमीनको खोदकर नीचा-ऊँचा कर दिया, जिससे रास्ता विषम हो गया। उसमे दचक लगनेसे रथोका समूह उछलता हुआ जा

१ अ °वीर°। २ अ आ इ रवैर्वल°। ३. आ इ जगहिरे। ४. श 'नरपति' पदं नोपलभ्यते। ५. एष टीकाश्रय पाठ प्रतिषु तु 'इतीव' इत्येव दृश्यते। ६ = समुत्पितते। ७. श पथि। ८ = यैः। ९. = चक्र।

न सहते करपातमयं नृपो विजयवानपरस्य महीतले ।
रविरितीव रथध्वजचीवरैरविरलैर्विदधेऽन्तरितं वपुः ॥१८॥
नृपपराक्रमबीजविवप्सुभि रिव रथैर्यदकृष्यत भूतलम् ।
मदपयोभिरपूर्यत तन्मधुव्रतकुलाकुलगण्डतलैर्गजैः ॥१९॥
चलितशैलचयेन गरीयसा बलभरेण निपीडितदेहया ।
बधिरिताखिलदिग्रथमण्डलध्वनिपदैरिव निःस्वनितं भुवा ॥२०॥
कतिपयानि न यावदयु पदान्यनुचरै रभसेन विनिर्गता ।
कतिपयैः पथि तावदुपेत्य तान्भटगणा नृपतीन्परिवव्रिरे ॥२१॥

तया । रथकड्यया रथसमूहेन । 'गोरथवातात् त्रकड्योलम्' इति समूहे कड्य[2]-प्रत्यय । चलित प्रयातम् ॥१७॥ नेति । विजयवान् विजययुक्त. । अय नृपति एष नरपति । महीतले भूतले । अपरस्य अन्यस्य । करपात करस्य सिद्धायस्य किरणस्य च पात पतनम् । न सहते न क्षमते । षहि मर्षणे लट् । इति एवमिव (इतीव इति हेतोरिव) । रवि सूर्य. । अविरलै बहुलैः । रथध्वजचीवरै रथाना स्यन्दनाना पताकाना चीवरैर्वस्त्रैः । वपु अवयवम् । व्यवहितम् अन्तरितम् । विदधे करोति स्म । डुधाञ् धारणे च लिट् । उत्प्रेक्षा ॥१८॥ नृपेति । नृपपराक्रमबीजविवप्सुभि. नृपस्य नरपतेः पराक्रम[3] एव प्रताप एव बीजस्य विवप्सुभिर्वप्तुमिच्छुभि । वररथै परमरथै । यद् भूतल भूमितलम् । अकृष्यत अलिख्यत[4] । कृष विलेखने कर्मणि लट् । मधुव्रतकुलाकुलगण्डतलै मधुव्रताना भ्रमराणा कुलेन समूहेनाकुल सकीर्णं गण्डतल कपोलप्रदेशो येषा तै । गजैः करिभि । मदपयोभि मदजलै । अपूर्यत अजृम्भ्यत[5] । पॄ पालनपूरणयो कर्मणि[6] लङ् । पर्यायोक्ति. (?) ॥१९॥ चलितेति । चलितशैलचयेन चलित कम्पित शैलाना पर्वताना चयो येन तेन । गरीयसा गुरुतरेण । 'प्रियस्थिर—' इत्यादिना गुरुशब्दस्य ईयसि परे गरादेश । बलभरेण बलस्य सेनाया भरेण भारेण । निपीडितदेहया निपीडितो बाधितो देहोऽवयवो यस्यास्तया । भुवा भूम्या । बधिरिताखिलदिग्रथमण्डलध्वनिपदै. बधिरिता अखिलदिश समस्तककुभो यैस्ते तथोक्ता , बधिरिताखिलदिशश्च ते रथाश्च तेषा मण्डल समूहस्तस्य ध्वनिरिति पदै.[7] व्याजे । स्वनितमिव ध्वनितमिव ॥ उत्प्रेक्षा ॥२०॥ कतीति । कतिपयै कैश्चित् । अनुचरै भटैः । यावत् यावत् पर्यन्तम् । कतिपयानि कियन्ति । पदानि चरणनिक्षेपणानि । न अयु न जग्मु । या प्रापणे लिट् । तावत् तावत्पर्यन्तम् । पथि मार्गे । रभसेन शीघ्रम् । विनिर्गता निर्याता । भटगणा भृत्यसमूहा. । तान् नृपतीन् भूपतीन् । उपेत्य प्राप्य । परिवव्रिरे

रहा था ॥१७॥ यह विजयी राजा इस भूतलपर किसी दूसरेके टैक्स (हस्तक्षेप, किरणोका पड़ना) सहन नही कर सकता । मानो यही सोचकर सूर्यने रथोके सघन ध्वजपटोमे अपनेको छिपा लिया ॥१८॥ मानो राजाके पराक्रमके बीज बोनेकी कामनासे रथोने जिस भूतलको जोत डाला, उसे उन हाथियोने अपने मदजलसे खूब सीचकर तर कर दिया, जिनके गण्डस्थलोंपर भौरोके झुण्ड बैठे हुए थे ॥१९॥ समस्त पहाडोको कम्पित करनेवाली बडी-भारी सेनाके बोझसे दबकर पृथिवीके शरीरमे पीड़ा उत्पन्न हो गयी, मानो इसीलिए वह समस्त दिशाओको बहरा कर देनेवाली रथसमुदायकी आवाजके बहानेसे चिल्ला रही थी ॥२०॥ राजा लोग अपने थोडे-से नोकरोके साथ निकलकर जबतक कुछ ही कदम आगे नही पहुँच पाये थे तबतक बडे वेगसे और भी नोकरोने पास पहुँच कर उन्हे चारो ओरसे घेर लिया—बीचमे राजा चल रहे थे और

१ क ख ग घ 'विविप्सुभि' । २. श कट्य' । ३. = पराक्रमः प्रतापस्तस्य बीजानि । ४ श विलिख्यत । ५ श 'अजृम्भ्यत' पाठ ... । ६ श 'कर्मणि' इति पद नास्ति । ७. = ध्वनि. शब्दस्तत्पदे ।

परिहितायसकञ्चुकमेचकं पिहितभूमि पदातिकदम्बकम् ।
नरपतेररुचच्छरणागतं तिमिरशत्रुभयादिव तामसम् ॥२२॥
कृतसमुन्नतवंशपरिग्रहा गुणविशेषविभूषितविग्रहा ।
कुलवधूरिव मुष्टिगता मुदं व्यधित योधजनस्य धनुर्लता ॥२३॥
घनघटासदृशीषु कृतासना गजवधूष्ववरोधपुरंध्रयः ।
विपुलकान्तिपरिप्लुतविग्रहा विदधिरे श्रियमाचिररोचिषीम् ॥२४॥
तदखिल पुटभेदनमुद्भटैः स्फुटविवाभदात्तकुतूहलैः ।
न निरितैर्यदवेक्षितुमीश्वरं दशतयीष्वपि दिक्षु जनैर्ममे ॥२५॥

आवृण्वन्ति स्म । वृञ् वरणे लिट् । समाहितम् ॥२१॥ परिहितेति । परिहितायसकञ्चुकमेचक परिहितेन परिधृतेन आयसेन अयसा निर्मितेन कञ्चुकेन तनुत्राणेन मेचक नीलम् । पिहितभूमि पिहिता आच्छादिता भूमिर्येन तत् । नरपते पद्मनाभस्य । पदातिकदम्बक पदातीना पदगामिना कदम्बक निकुरम्बकम् । तिमिरशत्रुभयात् तिमिरशत्रो सूर्यस्य भयाद् भीते. । शरणागत रक्षणार्थमागतम् । तामसं तिमिराणा समूह इव । अरुचत् अभात् । रुचि दीप्तौ लुङ् । 'द्युद्भ्यो लुङ्' इति विप्[1] ॥ उत्प्रेक्षा ॥२२॥ कृतेति । कृतसमुन्नतवंशपरिग्रहा कृतसमुन्नतस्य[2] विहित उच्छ्रितस्य वशस्य वेणो, पक्षे विशिष्टगोत्रस्य परिग्रह. स्वीकारो यस्या [3] सा । गुणविशेपविभूषितविग्रहा गुणेन मौर्व्या, पक्षे पातिव्रत्यादिगुणेन विशेष भूषितो विग्रहो यस्या. सा । मुष्टिगता मुष्टि हस्तमुष्टि, पक्षे अधीन[4] गता । धनुर्लता[4] धनुपश्चापस्य लता यष्टि. । कुलवधूरिव कुलस्त्रीव । योधजनस्य योध एव भट एव जनस्तस्य । रूपकम् (?) । मुद सतोषम् । व्यधित अकरोत् । डुधाञ् धारणे च लङ् । श्लेषोपमा ॥२३॥ घनेति । घनघटासदृशीषु घनाना मेघाना[5] घटाया समूहस्य सदृशीषु समानासु । गजवधूषु करेणुषु । कृतासनाः कृतं विहितमासन याभिस्ता । विपुलकान्तिपरिप्लुतविग्रहा. विपुलया महत्या कान्त्या किरणेन परिप्लुत[7] उत्तीर्णो विग्रहो यासा ता । अवरोधपुरध्रय अवरोधस्यान्त पुरस्य पुरध्रय. स्त्रिय । आचिररोचिषीम् अचिररोचिषो विद्युत सबन्धिनीम् । श्रिय शोभाम् । विदधिरे धरन्ति स्म । डुधाञ् धारणे च लिट् । सामान्यालङ्कार (निदर्शनालङ्कार) ॥२४॥ तदिति । उद्भटै अधिकै । बट भट परिभाषणे । आत्तकुतूहलै आत्त स्वीकृत कुतूहल यैस्तै । ईश्वर प्रभुम् । अवेक्षितुं

उनके चारो ओर नौकर चाकर एव अगरक्षक गण ॥२१॥ पयादोंके समुदायने सारी पृथिवी घेर ली थी, सभी पयादे लोहेका कवच पहने हुए थे और इसीलिए वे बिलकुल काले देख पडते थे । उन्हे देखकर ऐसा जान पडता था मानो सूर्यके भयसे सारा अन्धकार शरणागतके रूपमें पद्मनाभके पास चला आया हो ॥२२॥ जिस प्रकार उन्नत वशमे उत्पन्न होनेवाली, पातिव्रत्य आदि गुणोंसे अपनेको भूषित करनेवाली और आज्ञाकारिणी कुलीन स्त्री अपने पतिको आनन्द देती है, इसी प्रकार श्रेष्ठ बांससे बनी हुई, चढी हुई प्रत्यचा-डोरीसे सुशोभित और मुट्ठीमे स्थित धनुर्यष्टि सिपाहीवर्गको सन्तोष दे रही थी ॥२३॥ मेघोकी घटा सरीखी काली हथिनियोपर अत्यधिक कान्ति युक्त शरीर धारण करनेवाली रानियाँ बैठी हुई थी, जो बिजलीकी शोभाको उत्पन्न कर रही थी । वर्षा कालीन काली घनघटा जिस तरह बिजुलीसे सुशोभित होती है, उसी तरह हथिनियोकी पक्ति रानियोसे सुशोभित हो रही थी ॥२४॥ राजा पद्मनाभको देखनेके लिए लोग—जिन्हे कुतूहल उत्पन्न हो रहा था—अपने-अपने घरोंसे निकल पडे ।

---

१ आ तिप् । २ =कृतो विहित समुन्नतस्य । ३ =यया । ४ =अधीनता । ५ =धनुर्वल्लरी । ६ श 'मेघाना' पदं नोपलभ्यते । ७ =व्याप्तः ।

परिचिते बहुशोऽप्यवनीश्वरे कमलिनीकुसुमैरिव भास्करे ।
विचकसे नयनैः पुरयोषितां न रमणीयमपोहति कौतुकम् ॥२६॥
जनरवात्त्रसतो निपतन्त्यधस्तरलवेगसरादवरोधिका ।
युवजनं विदधे गलदम्बरप्रकटितावयवा सकुतूहलम् ॥२७॥
कृतकटुस्वरमायतकंधरं सपदि भाण्डमपास्य पलायितः ।
करिभयात्कटके समपूपुषन्नट इवाधिकहास्यरसं मयः ॥२८॥
पथि वृषैः करिसूत्कृतिविद्रुतैर्मृदितधूर्द्वितये शकटे सति ।
विपुललाभकृते वणिजोऽटतो घृतघटैर्मनसा सह पुस्फुटे ॥२९॥

वोक्षितुम् । निरिते[1] निर्गते । जने प्रजाभि । दशतयीष्वपि दशावयवा यासा ता इति दशतय्य तासु । 'अवयवात्तयट्' इति तयट्-प्रत्यय: । दिक्षु दिशासु । न ममे न माति स्म । माङ् माने लिट् । तद् अखिल सकलम् । पुटभेदन पत्तनम् । स्फुटदिव विभिन्नमिव । अभवत् अभूत् । लङ् । उपमा (उत्प्रेक्षा) ॥२५॥ परिचित इति । बहुश बहुवारान् । परिचितेऽपि अभ्यस्तेऽपि वोक्षितेऽपि वा । अवनीश्वरे भूमिपतौ । पुरयोषिता नगरस्त्रीणाम् । नयनै. नेत्रैः । विचकसे विकस्यते स्म । कस गतौ भावे लिट् । भास्करे सूर्ये । कमलिनीकुसुमैरिव कमलिन्या· पद्मिन्या कुसुमैः पुष्पैरिव । रमणीय मनोहरम् । कौतुकम् आश्चर्यम् । नापोहति न त्यजति । ओहृ[2] त्यागे लट् । अतिशय (उपमा, अर्थान्तरन्यासश्च) ॥२६॥ जनेति । जनरवात् जनाना रवात् कोलाहलात् । त्रसत विभ्यत । तरलवेगसरात् तरलाच्चञ्चलात् । वेगसरात् खरभेदात् । अध भूभागे । निपतन्ती स्खलन्ती । अवरोधिका अन्तःपुरस्त्रीजन । गलदम्बरप्रकटितावयवा गलता[3] शिथिलयता अम्बरेण वस्त्रेण प्रकटितोऽवयवः स्तनाद्यवयवो[4] यस्या सा । युवजन[5] यौवनजनम् । सकुतूहलं सोत्सुकम् । विदधे चकार । लिट् । २७॥ कृतेति । कटके सेनायाम् । करिभयात् गजभयात् । कृतकटुस्वर कृतो विहित कटुस्वरो यस्मिन् कर्मणि तत्०। आयतकन्धरम् आयता कन्धरा कण्ठो यस्मिन् कर्मणि तत्०। सपदि शीघ्रम्। भाण्डं भारम् । अपास्य त्यक्त्वा । पलायित विद्रुत. । मय उष्ट्र । नट इव नर्तक इव । अधिकहास्यरस बहुलहास्यरसम् । समपूपुषत् अवर्धयत् । पुष पुष्टौ णिजन्ताल्लुङ् ॥२८॥ पथीति । पथि मार्गे । करिफूत्कृतविद्रुतै[6] करिणो गजस्य फूत्कृतेन फूत्कारध्वनिना विद्रुतै पलायितै. । वृषैः अनड्भि । शकटे, [7]मथितधूर्द्वितये मथिताया

उनकी सख्या इतनी अधिक थी कि वे दसो दिशाओमे भी नही समा रहे थे । इतने दर्शनार्थी कहांसे आ गये, लगता था मानो नगर फट पडा हो ॥२५॥ यो राजा पद्मनाभ चिरपरिचित था, उसे बहुत वार देखा भी था, पर विजयके लिए जाते समय उसे देखकर नगरकी स्त्रियोके नेत्र खिल उठे । जैसे चिरपरिचित सूर्यको देखते ही कमल खिल उठते हैं । सच तो यह है कि सुन्दर वस्तु कभी आश्चर्य उत्पन्न किये विना नही रह सकती ॥२६॥ लोगोके शब्द-कोलाहलसे एक चंचल खच्चर डर गया और उसके ऊपर बैठी हुई, अन्त पुरमे काम करनेवाली एक युवती गिरनेकी स्थितिमे पहुँच गयी, उसके वस्त्र इधर-उधर हो गये, स्तन आदि अवयव दृष्टिगोचर होने लगे, तथा मनचले युवकोके मनमे कौतुक उत्पन्न हो गया ॥२७॥ हाथीको देखते ही एक ऊंट डर गया । फलत कानोको उद्वेजना उत्पन्न करनेवाले स्वरमे चिल्लाता हुआ, अपनी गर्दनको लम्बी करता हुआ बोझ पटककर ऐसे ढगसे भागा कि छावनीमे उसने एक नटकी भांति हास्य रसकी खूब ही पुष्टि की—उसे देखनेवाले लोग ठहाका मारकर हँसने लगे ॥२८॥ हाथीकी सूडसे

१. एष टीकाश्रय पाठ, प्रतिषु तु सर्वासु 'निरते' इत्येव समुपलभ्यते । २ श ऊहि तर्के । ३. = पतता । ४. आ 'स्तनाद्यवयवो' इति नास्ति । ५. = तरुणवर्गम् । ६ 'फूत्कृत' इति टीकायामेव दृश्यते, प्रतिषु तु सर्वास्वपि 'सूत्कृति' इति वर्तते । ७ मथित' इत्यपि पाठष्टीकाश्रय एव, प्रतिषु तु 'मृदित' इति दृश्यते ।

अविदितागमवारणभीभवत्पतनभग्नबृहद्दधिपात्रया ।
निववृते क्षणशोचितनाशया नृपपथात्किल वल्लवयोषिता ॥३०॥
गुरुभरग्रहकुब्जितविग्रहैश्चिरतराच्चलितैरपि चक्रिरे ।
कटकिनः प्रथमं कृतनिर्गमाः सपदि वैवधिकैरनुयायिनः ॥३१॥
नृपवधूजनयानवितानकैरलघुभिः कटकं निचितान्तरम् ।
तमवलोक्य जनैर्न न सस्मरे[२] प्रचुरपोतचितः सरितां पतिः ॥३२॥

भग्नाया धुरो यानमुखस्य द्वितये भागद्वये सति । विपुललाभकृते विपुलाय महते लाभाय (विपुललाभस्य) कृते, लाभनिमित्तम् । कृते इत्यव्ययम् । अटत गच्छत. । वणिज वाणिजस्य । मनसा सह मानसेन साकम् । घृतघटं घृतस्य घटः कलशं । पुस्फुटे स्फुटयते स्म[3] । स्फुट विभेदने भावे लिट् । चित्तेन सह घृतघटैर्भिन्नमित्यथ । सहोक्ति ॥२९॥ अविदितेति । अविदितागमवारणभीभवत्पतनभग्नबृहद्दधिपात्रया अविदित[४] आगम[५] आगमन यस्य तस्माद् वारणाज्जातेन भयेन (जातया भिया) भवता जायमानेन पतनेन भग्न विभिन्न बृहद् महद् दधिपात्रं यस्यास्तया । क्षणशोचितनाशया क्षणं स्वल्पकाल शोचित[६] शोकितो नाशो यस्या[७] तया । वल्लवयोषिता वल्लवया गोपालया[८] योषिता स्त्रिया, वल्लवस्य योषिता वा । नृपपथात् राजमार्गात् । विववृते[९] किल आव्रियते स्म । वृञ् वरणे कर्मणि लिट् ॥३०॥ गुरुभरेति । गुरुभरग्रहकुब्जितविग्रहै गुरोर्महतो भारस्य ग्रहेण स्वीकारेण कुब्जितो ह्रस्वीकृतो विग्रह शरीर येषा तै. । चिरतरात् चिरकालात्[१०] । चलितै आगतै । वैवधिकै भारवाहै, कावडिकैर्वा । अपि प्रथम पूर्वम् (अपि) । कृतनिर्गमा कृतो विहितो निर्गमो निर्याण येषा[११] ते । कटकिन सेनानायका । सपदि शीघ्रम् । अनुयायिनः पश्चाद्गामिन । चक्रिरे चक्रु । डुकृञ् करणे लिट् ॥३१॥ नृपेति । अलघुभि. महद्भि । नृपवधूजनयानवितानकै नृपस्य राज्ञो वध्व एव स्त्रिय एव जना (वधूना जनाः समूहा) तेषा यानाना शिबिकाना वितानकै समूहैः । निचितान्तर निचित परिपूर्णमन्तर मध्य[१२] यस्य तम् । त कटक सेनाम् । अवलोक्य वीक्ष्य । जनै लोकैः प्रचुरपोतचित

निकले हुए 'फू' शब्दको सुनकर बैल घबराकर ऐसे ढगसे भागे कि गाडीके धुरेके दोनो अगले भाग टूट गये, और गाडीमें रखे हुए घीके घडे, खूब मुनाफेकी इच्छासे सेनाके साथ गमन करनेवाले व्यापारीके हृदयके साथ फूट गये ॥२९॥ दहीसे भरे हुए बहुत बडे घडेको अपने सिरपर रखकर एक ग्वालिन सडकसे चली जा रही थी, इतनेमे अचानक एक हाथी सामनेसे आ गया, उसे देखकर वह घबरा उठी और उसका घडा नीचे गिरकर फूट गया । बेचारी थोडी देर तक वही खडी-खडी दहीके विनाशके बारेमे शोक करती रही, फिर वहांसे लौटकर अपने घर चली गयी ॥३०॥ कुछ भार ढोनेवाले पुरुष अपने कन्धोपर अत्यधिक बोझिल बहगी—कांवर रखकर चले जा रहे थे । भारी भारके कारण उसके शरीर कुबडेकी भांति आगेकी ओर झुके जा रहे थे, फिर भी उन्होने उन सेनापतियोको पीछे कर दिया, जो बहुत पहले ही प्रस्थान कर चुके थे । कुली लोगोने बहुत पीछे प्रस्थान किया था, पर तेज चलनेके कारण वे सेनापतियोसे भी आगे निकल गये ॥३१॥ जिन शिविकाओमे रानियां बैठी थी, वे बहुत बडी-बडी थी, उनसे सेनाका मध्य भाग घिरा हुआ था । इस अवसरपर सेनाको देखकर लोगोको प्रचुर जहाजोंसे घिरे हुए समुद्रका स्मरण नही हो आया, यह बात नही थी—अर्थात् अवश्य ही स्मरण हो आया ।

१ अ क ख ग घ म °गतवारण° । २ म न स सस्मरे । ३ म 'स्फुटयते स्म' इति नास्ति । ४ आ अविदितमज्ञातमागम । ५ एष टीकाश्रयः पाठः, प्रतिषु 'आगतम्' इति दृश्यते । ६ =चिन्तित । ७. =यया । ८ =गोपालिकया । ९. 'विववृते' इति टीकाश्रयस्य पाठस्य स्थाने मूलप्रतिषु 'निववृते' इति पाठ समुपलभ्यते । १० =अतिविलम्बत इति यावत् । ११ यै । १२. म 'मध्यं' इति नास्ति ।

सरभसैर्नरनाथविनिर्गमं क्षितिभुजां प्रतिपालयतां बलैः ।
रुरुचिरे निचिता पुरवीथयो गुरुतरङ्गचयैरिव निम्नगा ॥३३॥
तुरगरोहकराग्रसमुत्पतत्तरलतुङ्गतुरङ्गतरङ्गया ।
बहुमुखैर्जलधेरिव वेलया क्षुभितया प्रसृतं नृपसेनया ॥३४॥
पटहजेन पटुध्वनिना मुहुर्मुहुरिवाह्वयता प्रतिनिःस्वनैः ।
क्षितिपतीश्वरनिर्गमशंसिना सकलसैनिकसद्मसु बभ्रमे ॥३५॥
अधिकमेधितया मुदितैर्जनैः स हृतदृष्टिमनाः पुरशोभया ।
क्षितिपतिः सहसैव सविस्मयो रथमलोकत शालतले निजम् ॥३६॥

प्रचुरैर्बहुलैः पोतै[3]र्नौभिः चितो युतः । सरितां नदीनाम् । पतिः समुद्रः । न सस्मरे न स्मर्यते स्मेति न । द्वौ नञौ प्रकृतमर्थं द्योतयतः । उत्प्रेक्षा ॥३२॥ सरेति[4] । नरनाथविनिर्गमं नरनाथस्य भूपतेः विनिर्गमं निर्याणम् । प्रतिपालयतां[5] वाञ्छताम् । क्षितिभुजां भूपानाम् । सरभसैः सतोषयुतैः[6] । बलैः सेनाभिः । निचिताः[7] युक्ताः । पुरवीथयः पुरस्य नगरस्य वीथयो रथ्याः । गुरुतरङ्गचयैः[8] गुरुणां महतां तरङ्गाणां कल्लोलानां चयैः[9] समूहैः । निम्नगा नद्य इव । रुरुचिरे भान्ति स्म । उपमा ॥३३॥ तुरगेति । तुरगरोहकराग्रसमुत्पतत्तरलतुङ्गतुरङ्गतरङ्गया तुरगरोहाणामश्वारोहाणां कराग्रस्य हस्ताग्रस्य सञ्ज्ञया समुत्पतन्तो नृत्यन्तस्तरलाश्चञ्चलास्तुङ्गा उन्नतास्तुरङ्गा अश्वाः त एव तरङ्गा ऊर्मयो यस्यां तया । नृपसेनया नृपस्य नरपतेः सेनया सैन्येन । क्षुभितया सचलितया । जलधेः समुद्रस्य । वेलया[10] तीरेण इव । बहुमुखैः नानामुखैरित्यर्थः । प्रसृतं प्रयातम् । उपमा ॥३४॥ पटहेति । मुहुर्मुहुः भूयोभूयः । आह्वयता आकारयतेव । क्षितिपतीश्वरनिर्गमशंसिना क्षितिपतीनां भूभुजामीश्वरस्य पद्मनाभस्य निर्गमस्य निगमनस्य शंसिना[11] द्योतिना । पटहजेन भेरिजनितेन । पटुध्वनिना पटुना व्यक्तेन ध्वनिना निस्वनेन । प्रतिस्वनैः प्रतिध्वनिभिः । सकलसैनिकसद्मसु सकलानां निखिलानां सैनिकानां[12] सेनानायकानां सद्मसु सदनेषु । बभ्रमे व्याप्यते स्म । चलने कर्मणि लिट् ॥३५॥ अधिकमिति । मुदितैः सतुष्टैः । जनैः लोकैः । अधिकम् अत्यन्तम् । एधितया[13] वर्धितया । पुरशोभया पुरस्य पत्तनस्य शोभया श्रिया । हृतदृष्टिमनाः हृते आहृते दृष्टिमनसी नयनमानसे यस्याः सा (यस्य सः) तथोक्तः । सविस्मयः आश्चर्ययुतः । स क्षितिपतिः पद्मनाभः । सालतले सालस्य

शिविकाएँ जहाजों सरीखी थीं और सेना समुद्र जैसी । अतः स्मरण होना स्वाभाविक था ॥३२॥ राजा पद्मनाभके निकलनेकी प्रतीक्षा करनेवाले राजाओंकी प्रसन्न सेनाएँ जिन मार्गोंमें खड़ी हुई थीं, वे मार्ग बड़ी-बड़ी तरङ्गोंसे युक्त नदियों सरीखे सुशोभित हो रहे थे । मार्ग नदियोंके समान थे और सेनाएँ तरंगोंके समान ॥३३॥ सवारोंके हाथके इशारेपर नाचनेवाले घोड़े पद्मनाभकी जिस सेनामें उत्ताल तरंगोंकी भाँति दृष्टिगोचर हो रहे थे वह समुद्रके ज्वार-भाटेकी तरह अनेक ओरसे आगेकी ओर बढ़ चली ॥३४॥ राजाके विजय-प्रस्थानकी सूचना देनेवाला भेरीका खूब ज़ोरका शब्द सभी ओरसे प्रतिध्वनित हो रहा था । सभी सैनिकोंके घरोंमें भी उसकी प्रतिध्वनि बार-बार पहुँच रही थी, जिससे ऐसा जान पड़ता था मानो वह उन्हें (सैनिकोंको) राजाके साथ बाहर जानेका निमन्त्रण दे रही हो ॥३५॥ प्रस्थानके समय नागरिकोंने प्रसन्नतापूर्वक पुरकी खूब सजावट की थी । राजाका मन और नयन उस सजावटकी ओर इतने आकृष्ट हो गये थे कि उसे अपने गमनका बिलकुल ध्यान ही नहीं रहा । जब अपने

१ म °विनिगमे । २ न मुद्रः° । ३ =यानपात्रैः । ४ आ नरेति । ५ =प्रतीक्षताम् । ६ श सततोषयुतैः । ७ =व्याप्ताः । ८ आ श °निचयैः । ९. आ श निचयैः । १०. = 'अब्ध्यम्बुविकृतौ वेला' इत्यमरकोषानुसारं चन्द्रोदयप्रवृद्धजलराशिनेव—इति स्यात् । ११. =सूचकेन । १२ =योधानां । १३ श वर्धितया ।

कृतपरस्परवाजिविघट्टना नमितवारणरोहशिरोधरा।
व्यधित तिर्यगुपाहितकेतना निरयणं पुरगोपुरतश्चमूः ॥३७॥
विधुतपङ्करुहो मधुपायिनामिव रवैर्विदधत्परिभाषणम्।
वसुमतीदयितं परिरभ्य तं सुहृदिवासुखयत्परिखानिलः ॥३८॥
विकसिताम्बुरुहाणि सरोवराण्यकलुषाश्च पयोनिधियोषितः।
पथि विलोकयतः स्पृहणीयया क्षितिभुजोऽजनि शारदयात्रया ॥३९॥
हृदयहृद्वयसो विमलाम्बराः पृथुसमुन्नतपाण्डुपयोधराः।
नरवरेण पुनः पुनरादराद्ददृशिरे दयितासदृशो दिशः ॥४०॥

प्राकारस्य तले मूले। निज स्वकीयम्। रथ चक्रयानम्। सहसैव शीघ्रमेव। अलोकत पश्यति स्म। लोकृ दर्शने लङ् ॥३६॥ कृतेति। कृतपरस्परवाजिविघट्टना कृत विहित परस्पर वाजिनामश्वाना विघट्टन समर्दन यस्या सा। नमितवारणरोहशिरोधरा नमित प्रणतो वारणरोहाणा हस्तिपकाना शिरोधर कन्धरो[3] यस्या सा। तिर्यगुपाहितकेतना तिर्यक् तिर्यग्रूपेणोपाहितानि धृतानि केतनानि ध्वजा यस्या सा। चमूः सेना। पुरगोपुरत पुरस्य नगरस्य गोपुरतो गोपुरात्, पुरद्वारादित्यर्थ। निरयण निस्सरणम्। व्यधित करोति स्म। लुङ् ॥३७॥ विधुतेति। विधुतपङ्करुह· विधुतानि कम्पितानि पङ्करुहाणि[4] कमलानि येन स। मधुपायिना भ्रमराणाम्। रवै ध्वनिभि। परिभाषण सभाषणम्। विदधत् कुर्वन्निव। परिखानिलः परिखाया खातिकाया अनिलो वायु। वसुमतीदयित भूमिवल्लभम्। त पद्मनाभम्। परिरभ्य आलिङ्ग्य। सुहृदिव मित्रवत्। असुखयत्[5] सुखमकरोत्। 'सुखदु·खतत्क्रियायां लङ्'। उत्प्रेक्षा (उपमा) ॥३८॥ विकसितेति। विकसिताम्बुरुहाणि विकसितान्यम्बुरुहाणि येपु तानि। सरोवराणि[6]। अकलुषा न विद्यते कलुष कल्मषो[7] यासा ता.। पयोनिधियोषित पयोनिधे समुद्रस्य योषित स्त्रियश्च (नदी)। पथि मार्गे। विलोकयत वीक्षमाणस्य। क्षितिभुज भूमिपते। शारदयात्रया शारदया शरत्कालसबन्धिन्या यात्रया प्रयाणेन। स्पृहणीयया अभिलषितु योग्यया। अजनि। जनैड प्रादुर्भावे लुङ् ॥३९॥ हृदयेति। हृदयहृद्वयस हृदयहृतो मनोहरा वयस[8] पक्षिणो यासा ताः, पक्षे हृदयहृन्ति मनोहराणि वयासि यौवनानि यासा ता। विमलाम्बरा विमलं निर्मलमम्बरमाकाशं यासा ता·, पक्षे विमलान्यम्बराणि वस्त्राणि यासा ता। पृथुसमुन्नतपाण्डुपयोधरा· पृथव· पीना समुन्नताः प्रांशव पाण्डव शुभ्रा पयोधरा मेघा यासा ता, पक्षे पृथू समुन्नतो पाण्डू धवलो पयोधरो स्तनौ यासा ता।

रथको सहसा चहारदीवारीके बाहरकी ढालू जमीनमे जाते देखा तो उसे बडा आश्चर्य हुआ ॥३६॥ नगरके फाटकसे सेना निकलनेका दृश्य दर्शनीय था। एक ही साथ अनेक घोड़ोंके निकलनेसे, वे (घोडे) आपसमे टकरा रहे थे, जो लोग हाथियोपर बैठे हुए थे, उन्हे अपनी गर्दन नवानी पडी, और ध्वज कुछ तिरछे करने पडे—इस तरहसे नगरके फाटकसे सेना बाहर निकली ॥३७॥ कमलोको हिलानेवाले (सुगन्धित) परिखाके वायुने पद्मनाभसे आलिंगन करके, और भौंरोके शब्दोमे उससे कुशल-क्षेमकी बातें करके उसे एक मित्रकी तरह सुखी किया ॥३८॥ खिले हुए कमलोसे अलकृत तालाबो और निर्मल जलवाली नदियोको देखकर राजा पद्मनाभको शरदृतुकी यह यात्रा बडी सुहावनी प्रतीत हुई ॥३९॥ नायिकाओकी समानता करनेवाली सभी दिशाओको राजा पद्मनाभने बार-बार आदरसे देखा। नायिकाएँ मन हरनेवाले यौवनसे युक्त होती हैं, स्वच्छ वस्त्रोको धारण करनेवाली होती हैं, और बडे-बडे उन्नत एव गोरे पयोधरोको सुषमाका आश्रय होती हैं। इसी तरह शरदृतुकी दिशाएँ मनोहर

१. °घट्टनानमित°। २ म सरोरुहाण्य°। ३. = शिरोधरा कन्धरा। ४ श पङ्के°। ५ = सुखयति स्म। ६. = सरोवरान्। ७ = कलुष कल्मष यासु। ८ = वय शब्दस्य पुस्त्व मृग्यम्।

रुचिररल्लकराजितविग्रहैर्विहितसंभ्रमगोष्ठमहत्तरैः ।
पथि पुरो दधिसर्पिरुपायनान्युपहितानि विलोक्य स पिप्रिये ॥४१॥

कुचभरादसहां शुकवारणे कलमगोपवधूमवलोकयन् ।
स्मितमुखः समचिन्तयदित्यसौ क्वचिदतीव गुणोऽप्यगुणायते ॥४२॥

बृहदलाबुकगौरववामनां वृतिमुपर्युपरि प्रसृतैः पपे ।
सतृषितैरिव गोकुलयोपितां विपुलकान्तिजलो नयनैर्नृपः ॥४३॥

दयितासदृशः दयिताभिर्वनिताभिः सदृशः समानाः । दिशः ककुभः । नरवरेण नृपतिना । पुनः पुनः भूयो भूयः । ददृशिरे वीक्ष्यन्ते स्म । कर्मणि लिट् । श्लेषोपमा (पूर्णोपमा वा) ॥४०॥ रुचिरेति । रुचिररल्लकराजितविग्रहैः रुचिरैर्मनोहरैः रल्लकैः[1] कम्बलैः राजितो विभासितो विग्रहो देहो येषां तैः । विहितसंभ्रमगोष्ठमहत्तरैः विहितः कृतः संभ्रमो येषां[2] ते तथोक्ताः, गोष्ठस्य गोस्थानस्य महत्तरा गोपालाः, विहितसंभ्रमाश्च ते गोष्ठमहत्तराश्च तैः । पथि मार्गे । पुरः अग्रे । उपहितानि आनीतानि । दधिसर्पिरुपायनानि दधिसर्पिषोरुपायनान्युपग्राह्याणि[3] सः राजा । विलोक्य वीक्ष्य । पिप्रिये प्रीणाति स्म । प्रीञ् कान्तितर्पणयोः । लिट् ॥४१॥ कुचेति । कुचभरात् कुचयोर्भराद् भारात् । शुकवारणे शुकानां कीराणां वारणे निराकरणे । असहाम् असमर्थाम् । कलम[गोप]वधूं[4] कलमस्य शालिक्षेत्रस्य [गोप]वधूं स्त्रियम्[5] । अवलोकयन् वीक्षमाणः । स्मितमुखः स्मितमीषद्धसितं मुखं यस्य सः । असौ राजा । इति एवम् । अचिन्तयत् चिन्तयति स्म । चितैं संज्ञाने । लङ् । अतीव अत्यन्तम् । इव शब्दो वाक्यालङ्कारे । गुणोऽपि परमगुणोऽपि । क्वचित्[6] एकस्मिन् । अगुणायते अगुण इवाचरति, दोषायते इत्यर्थः । गुण इति आचारार्थे क्यङ्-प्रत्ययः । अर्थान्तरन्यासः ॥४२॥ बृहदिति । बृहदलाबुकगौरववामनां बृहतो महतोऽलाबुकस्य तुम्बीफलस्य गौरवेण गुरुत्वेन वामनां कुब्जाम् । वृतिम् आवरणम् । उपर्युपरि अग्रेऽग्रे । वीप्सायां द्विः । प्रसृतैः विस्तृतैः । गोकुलयोषितां गोकुलानां गोपालानां योषितां स्त्रीणाम् । तृषितैरिव पिपासितैरिव । नयनैः नेत्रैः । विपुलकान्तिजलः विपुला रुन्द्रा कान्तिः शरीरकान्तिः सैव जलं यस्य सः । स नृपः पद्मनाभः । पपे पीयते स्म । पा पाने कर्मणि लिट् । उपमातिशयश्च

हंस आदि पक्षियोंसे युक्त होती हैं, निर्मल आकाशको धारण करनेवाली होती हैं एवं विस्तृत, उन्नत तथा शुभ्र मेघोंसे विभूषित होती हैं ॥४०॥ राजाके दर्शन करनेके लिए गोशालाओंके प्रमुख अहीर बड़े आदरसे पद्मनाभके सामने उपस्थित हुए। वे सभी कम्बल ओढ़े हुए थे। उन्होंने राजाको उपहारमें दही और घी समर्पित किया। मार्गमें सामने उपस्थित हुई इन उपहारकी वस्तुओंको देखकर वह बहुत प्रसन्न हुआ। यात्राके समय दही देखना शकुन जो समझा जाता है ॥४१॥ एक धानके खेतमें बार-बार तोते आ रहे थे, उन्हें उस खेतकी रखवाली भगाना चाहती थी, किन्तु स्तनोंके बोझसे वह विवश थी—दौड़ दौड़कर भगा नहीं पा रही थी। यह देखकर राजा मुसकराने लगा और मन-ही-मन यह सोचने लगा कि कहीं-कहीं-पर श्रेष्ठ गुण भी दोष बन जाता है ॥४२॥ बड़ी-बड़ी लौकियोंके बोझसे जो बाड़ी झुकती जा रही थी, उसीकी ओटमें खड़ी हुई ग्वालिनोंकी आँखें मानो प्यासी थीं, अतएव बाड़ीके ऊपरसे निकालकर उन्होंने (आँखोंने) अत्यधिक कान्तिजलसे सम्पन्न राजा पद्मनाभको पी लिया—

---

१. = 'रल्लकः कम्बले स्मृतः' अनेका० ३।८५। २. = ये। ३. 'उपायनमुपग्राह्यमुपहारस्तथोपदा'। इत्यमरः। ४. आ कलमकासवधू। ५. = कृषीवलबालामित्यर्थः। ६. = कुत्रचित्।

फलितसस्यसमूहनिरन्तरास्वतिमनोरमलाङ्गलराजिषु ।
क्षितिषु गौरिव गौर्जगतीभुजश्चिरतरं विचचार निरङ्कुशा ॥५१॥
जनमनःशयने शयितं मनोभवमिव प्रतिबोधयता कृतः ।
समदहंसकुलेन कलध्वनिर्नृपतिनावहितश्रुति शुश्रुवे ॥५२॥
परिमितैर्गमनैः कुथवाहिनीं पथि सुविश्रमयन्गजवाहिनीम् ।
जलधिधीरजला जलवाहिनीं वसुमतीपतिराप स वाहिनीम् ॥५३॥
विविधभङ्गतरङ्गशिरःस्थितैस्तुहिननिर्मलफेनकदम्बकैः ।
वसुमतीव विराजति या शरद्घनघनाघनरुद्धमहीधरा ॥५४॥
समवगाढवतां वनदन्तिनां कटतटाद्गलितस्य मदाम्भसः ।
उपरि संचरतामलिना कुलैः सतिलकाभरणेव विभाति या ॥५५॥

फलितेति । फलितसस्यसमूहनिरन्तरासु फलितानां फलभरितानां सस्यानां समूहेन निचयेन निरन्तरासु संकीर्णासु । अतिमनोरमलाङ्गलराजिषु अतिमनोरमा अत्यन्तं मनोहरा लाङ्गलानां हलानां राजयो रेखा यासु तासु । क्षितिषु क्षेत्रेषु । गौरिव धेनुरिव । जगतीभुजः भूभुजः । गौः दृष्टिः । निरङ्कुशा निर्बाधा । चिरम्[2] अनेकक्षणम् । विचचार[3] वर्तते स्म । उपमा । ५१ ॥ जनेति । जनमनःशयने जनानां लोकानां मन एव चित्तमेव शयनं पर्यङ्कः (ङ्कं) तस्मिन् । शयितं सुप्तम् । मनोभुवं मन्मथम् । प्रतिबोधयता इव जागरयता इव[4] । समदहंसकुलेन समदानां हर्षयुक्तानां हंसानां मरालानां कुलेन यूथेन । कृतः विरचितः । कलध्वनिः मनोहरध्वनिः । नृपतिना पद्मनाभेन । अवहितश्रुति अवहिते सन्नद्धे श्रुती कर्णौ यस्मिन् कर्मणि तत्० । शुश्रुवे श्रूयते स्म । श्रु श्रवणे कर्मणि लिट् । उपमा (उत्प्रेक्षा) ॥५२॥ परिमितैरिति । पथिषु मार्गेषु । कुथवाहिनीं कुथं रत्नकम्बलं वहतीत्येवंशीला कुथवाहिनी ताम् । 'कुथः स्यात् करिकम्बलः' इत्यभिधानात् । गजवाहिनीं गजानां वाहिनी सेना ताम् । गजवाहिनीमित्युपलक्षणम् । सर्वामपि सेनामित्यर्थः । विश्रमयन् विश्रान्तिं नयन् । परिमितैः कतिपयैः । गमनैः प्रयाणैः । सः वसुमतीपतिः भूमिपतिः । जलधिधीरजलां जलधिरिव समुद्रवद् धीरं प्रवृद्धं जलं यस्याः सा ताम् । जलवाहिनीं जलवाहिनीनामधेयाम् । वाहिनीं नदीम् । आप ययौ । आप्लृ व्याप्तौ लिट् । जातिः (यमकम्) ॥५३॥ विविधेति । विविधभङ्गतरङ्गशिरःस्थितैः[6] विविधैर्नानाप्रकारैर्भङ्गैर्वक्रयुतैः (विविधभङ्गानां नैकविधरचनानां) तरङ्गाणां कल्लोलानां शिरस्यग्रे स्थितैः । तुहिननिर्मलफेनकदम्बकैः तुहिनमिव निर्मलानां शुभ्राणां फेनानां डिण्डीराणां[7] कदम्बकैर्निकुरम्बकैः । या नदी । शरद्घनघनाघनरुद्धमहीधरा शरदः शरत्कालस्य घनैः सान्द्रैर्घनाघनैर्मेघैः रुद्धा आवृता महीधराः पर्वता यस्याः सा । वसुमतीव भूमिरिव । विराजति भाति । लट् । उपमा ॥५४॥ समेति । समवगाढवतां मज्जताम् । वनदन्तिनां वनगजानाम् । कटतटात् कपोलप्रदेशात् । गलितस्य प्रसृतस्य । मदाम्भसः मदजलस्य ।

चावल आदिके दानोसे भरे हुए धान आदि अनाज, जिन खेतोमे लगातार लगे हुए थे, उनमे राजाकी दृष्टि बहुत देर तक एक गायकी भाँति स्वच्छन्द-विचरण कर रही थी ॥५१॥ लोगोकी चित्त-शय्यापर सोये हुए कामदेवको जगानेवालेके समान प्रतीत होनेवाले मतवाले हसो-के झुण्डने जो मधुर ध्वनि की, उसे राजाने कान लगाकर बडे चावसे सुना ॥५२॥ मार्गमे बहुत थोडे पडाव डालकर झूलसे विभूषित हाथियोकी सेनाको विश्राम कराता हुआ राजा पद्मनाभ समुद्रके समान गम्भीर नीरसे भरी हुई जलवाहिनी नामकी नदीके पास जा पहुँचा ॥५३॥ उसकी छोटी-बडी अनेक प्रकारकी तरगोके ऊपर बर्फकी तरह शुभ्र फेन लहरा रहा था, अत

१ क ख ग घ म सरिद्घनं । २ = बहुकालं यावत् । ३ = सचरति स्म । ४ श जागरता इव । ५ = गभीरं । ६ = विविधभङ्गानां नैकविधरचनानां तरङ्गाणां कल्लोलानां शिरस्यग्रभागे स्थितैः । ७ आ दिन्दिराणां ।

कृतपरस्परकेलिभिरुच्छलन्मधुरगीतरवानुगनिःस्वनैः।
उभयकूलगतैः पततां कुलैर्निजविनोदकरैरिव भाति या ॥५६॥
तटगतामलनीलशिलातलोल्लसितदीधितिरञ्जितनीरया।
पतितया सततायनवर्त्मनः[2] प्रतिमयेव विभाति मही यया ॥५७॥
मकरसूत्कृतदूरसमुच्चलत्सलिलबिन्दुभिरिन्दुमणिप्रभैः।
सततमम्बुधराध्वनि तारकाकुलकृता क्रियतेऽभिरुचिर्यया ॥५८॥

उपरि अग्रे। सचरता भ्रमताम्। अलिना मधुकराणाम्। कुलैः समूहै। या जलवाहिनी नदी। सतिलकाभरणेव तिलकमेवाभरण भूषणं तेन युतेव। विभाति विराजते। भा दीप्तौ लट्। उत्प्रेक्षा ॥५५॥ कृतेति। कृतपरस्परकेलिभि कृता विहिता परस्परकेलिरन्योन्यविलासो येषा[3] तैः। उच्चरन्मधुरगीतरवानुगनिस्वनैः उच्चरत पठतो मधुरस्य मनोहरस्य गीतस्य गानस्य रव ध्वनिमनुगोऽनुगतो निस्वनो रवो येषा तै। उभयकूलगतै उभय कूल तट गतैर्यातै। पतता पक्षिणाम्। कुलैः यूथै। या नदी। निजविनोदकरैरिव[4] स्वस्य परिहासैरिव। भाति विराजते[5] लट्। उत्प्रेक्षा ॥५६॥ तटेति। तटगतामलनीलशिलातलोल्लसितदीधितिरञ्जितनीरया तट तीर गताया अमलाया निर्मलाया नीलशिलाया इन्द्रनीलशिलायास्तलस्य प्रदेशसस्योल्लसितया विराजितया दीधित्या कान्त्या रञ्जितं राग गत नीर जल यस्या (यस्या) तया। यया जलवाहिनीनद्या। पतितया निराधारेण च्युतया। सततायनवर्त्मन सतत सततमयन गमन यस्य स तथोक्त., वायुरित्यर्थः, तस्य वर्त्मनो मार्गस्याकाशस्येत्यर्थ। प्रतिमयेव प्रतिबिम्बेनेव। मही भूमिः। विभाति विराजते। लट्। उत्प्रेक्षा ॥५७॥ मकरेति। इन्दुमणिप्रभै. इन्दुमणेश्चन्द्रकान्तस्य प्रभेव प्रभा येषा तै। उपमा। मकरफूत्कृतैर्दूरसमुच्चल[7]त्सलिलबिन्दुभि मकराणा[8] जलचरविशेषाणा फूत्कृतेन दूर समुच्चलद्भिरितस्ततश्चलद्भिः[9] सलिलस्य जलस्य बिन्दुभिः पृषद्भि। सततम् अनवरतम्। अम्बुधराध्वनि आकाशे। तारकाकुलकृता तारकाणा नक्षत्राणा कुलेन समूहेन कृता विहिता। अभिरुचि शोभा। यया नद्या। क्रियते विधीयते। कर्मणि

वह (नदी) उस पहाड़ी भूमिकी भाँति सुशोभित हो रही थी जहाँ छोटे-बडे सभी पहाडोंके शिखरोपर शरदकालके मेघ छाये हुए हो ॥५४॥ उस नदीमे जहाँ जगली हाथी डुबकी साध रहे थे, वहाँ जलकी सतहपर उनके गण्डस्थलोसे निकला हुआ मदजल बह रहा था, उसके ऊपर भौंरोके झुण्ड मँडरा रहे थे, उनसे वह नदी ऐसी सुशोभित हो रही थी मानो तिलकका शृगार किये हुए हो ॥५५॥ उस जलवाहिनी नदीके दोनो तटोपर पक्षियोके झुण्ड बैठे हुए थे। वे। वे आपसमे क्रीड़ा कर रहे थे और मधुर गानकी भाँति शब्द कर रहे थे, अतः उनकी परिस्थितिसे वह ऐसी जान पडती थी मानो मनोरजन करनेवाले अभिनेताओ—नाटकके पात्रोसे युक्त हो ॥५६॥ उसके घाटोपर निर्मल नीले रगकी शिलाएँ जडी हुई थी—उनकी किरणोसे उसका जल रगीन—सफेदसे नीला हो गया था, अत उस नदीके कारण पृथ्वी ऐसी जान पड़ती थी मानो आकाशकी छायासे युक्त हो। नील शिलाओकी किरणोके पडनेसे पूरी नदी नीली होकर आकाशकी छाया-सी जान पडती थी ॥५७॥ उस नदीमे मगर बहुत थे। उनके मुखसे निकले हुए सूत्कारसे जलकी बूँदें—जो चन्द्रकान्तमणिकी प्रभाकी भाँति शुभ्र थी—बहुत ऊँचाई तक उछलकर आकाशमे सदा ताराओकी शोभा फैलाया करती थी।

१ आ इ °भिरुच्चलन्म°। २ अ आ इ °यतवर्त्मन। ३. = यै। ४ = स्वमनोरञ्जनकारिभिरुपलक्षितेव। ५ श विराजति। ६. अस्य टीकाश्रयस्य पाठस्य स्थाने मूलप्रतिषु °सूत्कृत° इति दृश्यते। ७. °समुच्चलत्° इति टीकायामेव वर्तते, मूलप्रतिषु 'समुच्छलत्' इति समवलोक्यते। ८. = नक्राणा। ९. श 'इतस्ततश्चलद्भि.' इति पाठो नोपलभ्यते।

पुलिनभूमिषु यत्र तटद्रुमव्यवहितांशुमदंशुषु मारुतः ।
सुरतजश्रमवारिकणान्पिबन्नमयते मिथुनानि नभःसदाम् ॥५९॥
घनतरैरुपरञ्जितवारिभिः सुरभिताखिलदिग्विवराम्बरैः[१] ।
परिमलैरुपरिस्थितखेचरीसलिलकेलिमधो विवृणोति या ॥६०॥
दानाम्भोभिर्भूरिभिर्वारणानां श्रान्त्युद्भूतैर्वाजिनां वक्त्रफेनैः ।
चक्रे पुष्यत्स्रोतसं[२] तुल्यनामप्रीत्येवासौ[३] वाहिनी वाहिनीं ताम् ॥६१॥

लट् । अतिशय ॥५८॥ पुलिनेति । यत्र नद्याम् । तटद्रुमव्यवहितांशुमदंशुषु तटस्य तीरस्य द्रुमैर्वृक्षैर्व्यवहिता अन्तरिता अंशुमतः सूर्यस्यांशवो मयूखा यासु तासु । पुलिनभूमिषु सिकतापुञ्जभूमिषु । मारुतः वायुः । सुरतजश्रमवारिकणान् सुरतजस्य निधुवनजनितस्य श्रमवारिणस्स्वेदजलस्य कणान् लवान् । पिबन्[४] पानं कुर्वन् सन् । नभःसदाम् अमराणां विद्याधराणां वा । मिथुनानि युगलानि । रमयते सन्तोषयति स्म । रमि क्रीडायां णिजन्ताल्लट् ॥५९॥ घनतरैरिति । घनतरैः बहुलैः । उपरञ्जितवारिभिः उपरञ्जितं क्रीडानिमित्त-मागत[खेचर]स्त्रीजनस्तनगलितकुङ्कुमादिना रागं गतं । वारिभिः सलिलं । सुरभिताखिलदिग्विवराम्बरैः सुरभितानि परिमलितान्यखिलानि सकलानि दिशां विवराण्यम्बरमाकाशं येषां[५] तैः । परिमलैः सुरभिभिः । या नदी । उपरिस्थितखेचरीसलिलकेलिम् उपरिस्थितानामुपरिष्टात् स्थितानां खेचरीणां देवीनां विद्याधराणां (वा) सलिलकेलिं जलक्रीडाम् । अधः अधोभागे । विवृणोति व्यक्तीकरोति ॥६०॥ दानेति । वारणानां गजानाम् । भूरिभिः प्रचुरैः । दानाम्भोभिः मदजलैः । श्रान्त्युद्भूतैः श्रान्त्या श्रमेणोद्भूतैः[६] प्रवृद्धैः । वाजिनाम् अश्वानाम् । वक्त्रफेनैः वक्त्राणां मुखानां फेनैः डिण्डीरैः[७] । असौ इयम् । वाहिनी सेना । तां वाहिनीं नदीम् । तुल्यनामप्रीत्येव तुल्ये समाने नाम्नि प्रीत्येव स्नेहेनेव । पुष्यत्स्रोतसं पुष्यत्प्रवृद्धं स्रोतः प्रवाहो यस्यास्ताम् ।

इसका एक मात्र श्रेय उस नदीको था ॥५८॥ उस नदीके तटपर घनी वृक्षावली थी, उसके कारण सूर्यकी किरणें उसीमे उलझ जाया करती थी, नीचे नही पहुँच पाती थीं। उसी वृक्षावलीके नीचे जलसे निकले हुए शीतल प्रदेशोमे देव-देवियोंके युगल सम्भोगका सुख भोगते थे। सुरतके परिश्रमसे निकली हुई पसीनेकी बिन्दुओको पीकर वायु उन्हे आनन्द पहुँचाता था ॥५९॥ उस नदीमे विद्याधरोकी स्त्रियाँ जलक्रीडा करने आया करती थी। उनके फूलोके आभूषणोकी परागसे नदीका जल गाढा हो जाता था, अगरागके घुलनेसे रगीन हो जाता था, तथा उनके मुख-कमलकी सुगन्धिसे सभी दिशाओका मध्यभाग या सारा-का-सारा वायुमण्डल सुवासित हो उठता था। उस नदीका बहाव जिस ओर था, उस ओर नहानेवाले जलकी घनता व बदले हुए रंगको देखकर तथा उस ओरसे आनेवाली सुगन्धिको सूँघकर ऊपर-की ओर विद्याधारियोकी जलक्रीडाका अनुमान कर लेते थे। जल और वायुमण्डलका परिवर्तन ही उन्हे ऊपरकी ओर विद्याधारियोकी जलक्रीडाकी सूचना दे दिया करता था ॥६०॥ राजाकी वाहिनी-सेनाने मानो अपने नामकी समानतासे उत्पन्न हुई प्रीतिके कारण उस वाहिनी-नदीके प्रवाहको अपने हाथियोके अत्यधिक मदजलसे एव श्रमवश घोडोंके मुखसे उत्पन्न हुए फेनसे पुष्ट

१ क ख ग घ म °दिग्वलयान्तरैः । २. आ इ पुष्यच्छ्रोतसं । ३ क ख ग घ म तुल्यनाम-प्रीत्येवासौ । ४.= शोषयन् । ५. = यैः । ६. = सजातैः । ७. आ दिन्दिरैः ।

संसर्पत्तटगतकर्कटां समीनामुन्मज्जन्मकरविराजमानमध्याम् ।
तीर्त्वा तामुदयसमन्वितो जगाम क्षोणीभृत्सरितमिवाम्बुवाहवीथीम् ॥६२॥

इति श्रीवीरनन्दिकृतावुदयाङ्के चन्द्रप्रभचरिते महाकाव्ये त्रयोदशः सर्गः ॥१३॥

चक्रे चकार । डुकृञ् करणे लिट् । उपमा ॥६१॥ संसर्पदिति । संसर्पत्तटकर्कटा संसर्पन्तस्तटगतास्तीरगताः कर्कटाः कुलीरा यस्यास्ताम्, पक्षे कर्कट[1]राशियुक्ताम् । समीना मीनैर्मत्स्यैर्युक्ताम्, पक्षे मीनराशियुताम् । उन्मज्जन्मकरविराजमानमध्याम् उन्मज्जद्भिरुत्तरद्भिर्मकरै[2]र्जलचरविशेषैः विराजमानं मध्यं यस्याः ताम्, पक्षे (मकरराशिसहिताम्) । तस्य (?) अम्बुवाहवीथीमिव गगनमिव । तां सरितं जलवाहिनीं नदीम् । उदयसमन्वितः उदयेन[3] सपदा समन्वितो युक्तः[4] । क्षोणीभृत्[5] पद्मनाभ । तीर्त्वा उत्तीर्य । जगाम ययौ । गम्लृ गतौ लिट् । श्लेषोपमा ॥६२॥

इति श्रीवीरनन्दिकृतावुदयाङ्के चन्द्रप्रभचरिते महाकाव्ये तद्व्याख्याने च
विद्वन्मनोवल्लभाख्ये त्रयोदशः सर्गः ॥१३॥

कर दिया—बढा दिया ॥६१॥ वह नदी आकाश सरीखी थी । जिस तरह आकाशमे कर्कराशि, मीनराशि और मकरराशि होती है, उसी तरह उस नदीके तटपर कर्क–केंकडे रेंग रहे थे, उसके जलमे मत्स्य–मछलियाँ थी और उसके मध्यभागमे मकर-मगर निवास करते थे । अभ्युदयशाली राजा पद्मनाभ उसे पार करके आगे चला गया ॥६२॥

इस प्रकार महाकवि वीरनन्दि विरचित उदयाक चन्द्रप्रभ चरित महाकाव्यमें तेरहवाँ
सर्ग समाप्त हुआ ॥ १३ ॥

---

१. =कर्कराशियुताम् । २ =नक्रैः । ३. =अभ्युदयेन । ४. आ समन्वित. सहित. । ५ आ क्ष्माभृत् ।

[१४. चतुर्दशः सर्गः]

मणिप्रभाभिर्मणिकूटमद्रिं सदीप्रमुच्चैर्दृषदं ददर्श।
च्युतं दिवोऽन्योन्यविघट्टनेन तडित्त्वतां वारिमुचामिवौघम् ॥१॥
विचित्ररत्नैः कटकैः स्वकीयैरिवाद्वितीयां वहतो विभूषाम्।
निशाकरो यस्य निशासु शोभां करोति चूडामणिमात्रजन्याम् ॥२॥
पर्यन्तचर्यः कनकोज्ज्वलासु यन्मेखलासूच्चतरासु ताराः।
परिस्फुरद्दीधितिभासुराणां कुर्वन्ति कृत्यं मणिकिङ्किणीनाम् ॥३॥

मणीति। मणिप्रभाभिः मणीनां रत्नानां प्रभाभिः। दीप्रं देदीप्यमानम्। 'नम्कम्पजस्क—' इत्यादिना शीले र-प्रत्ययः। उच्चैर्दृषदम्[2] उच्चैरुन्नतं दृषण्डं वृक्षकदम्बकं यस्य तम्। मणिकूटं मणिकूटनामधेयम्। अद्रिं पर्वतम्। अन्योन्यविघट्टनेन अन्योन्यं परस्परं विघट्टनेन समर्दनेन[3]। दिवः आकाशात्। च्युतं पतितम्। तडित्त्वतां विद्युत्वताम्। 'त्त मत्वर्थे' इति पदत्वाभावान्न जस्त्वम्। वारिमुचां मेघानाम्। ओघमिव समूहमिव। स राजा। ददर्श पश्यति स्म। लिट् ॥१॥ विचित्रेति। स्वकीयैः[4] स्वसबन्धैः। विचित्ररत्नैः विचित्रैर्नानाविधैः रत्नैर्मणिभिर्युतैः। कटकैरिव वलयैरिव स्थितैः। कटकैः नितम्बैरित्यर्थः। अद्वितीयां सादृश्यरहिताम्। विभूषाम् अलंकारम्। वहतः धरतः। यस्य पर्वतस्य। निशासु रात्रिषु। निशाकरः चन्द्रः। चूडामणिमात्रजन्यां चूडामणिमात्रेण शिरोरत्नमात्रेण जन्यामुत्पन्नाम्। शोभां[5] करोति विदधाति। लट्। चन्द्रश्चूडामणिरिवाभाति, इत्यर्थः। उत्प्रेक्षा ॥२॥ पर्यन्तेति। कनकोज्ज्वलासु कनकेन सुवर्णधातुना[6] उज्ज्वलासु प्रकाशमानासु। उच्चतरासु[7] अत्युन्नतासु। यन्मेखलासु यस्य मेखलासु सानुषु काञ्चीधामसु[8]। पर्यन्तचर्यः पर्यन्ते समन्ततः (चरन्तीति) चर्यः सचर्यः[9]। ताराः नक्षत्राणि। परिस्फुरद्दीधितिभासुराणां परिस्फुरन्त्या प्रज्वलन्त्या दीधित्या कान्त्या भासुराणां प्रकाशनशीलानाम्। 'भजभास—' इत्यादिना घुर—प्रत्ययः। मणि-

इसके पश्चात् राजा पद्मनाभने आगे बढते ही मणिकूट नामक पर्वतको देखा। उसके ऊपर खूब ऊँचे-ऊँचे प्रस्तरखण्ड-चट्टानें थे, और वह मणियोकी प्रभासे देदीप्यमान हो रहा था। अतएव वह ऐसा जान पडता था मानो आपसमे टकराकर आकाशसे गिरा हुआ, बिजली सहित मेघोका समूह हो ॥१॥ वह नाना प्रकारके रत्नोंसे जडे हुए कडोंके समान शोभाको धारण करनेवाले अपने विचित्र रत्नमय मध्यभागके प्रदेशोंसे अद्वितीय सुषमाको प्राप्त कर रहा था। जिस प्रकार कडे मनुष्यको मण्डित करते हैं उसी प्रकार मध्यभाग उसकी शोभाको बढा रहे थे। मध्यभाग (कटक) ही उसके कडे थे। अब केवल चूडामणिकी कमी रह गयी थी, जिसे रात्रिके समय चन्द्रमाने पूरा कर दिया जो उसके सबसे उन्नत शिखरपर चूडामणि सरीखा जान पड़ता था ॥२॥ उस पर्वतकी, अत्यन्त उन्नत और स्वर्णमय होनेसे उज्ज्वल मेखलाओ-मध्यभागके प्रदेशो (करधनी) मे चारो ओर घूमनेवाली ताराएँ चमाचमाती हुई किरणोसे देदीप्यमान मणिजडित छोटी-छोटी घण्टियोका काम कर रही थी। उसके मध्यभाग (मेखला) करधनी सरीखे थे और उन्हीके आस-पास घूमनेवाली ताराएँ छोटी घण्टियो सरीखी। उसके मध्यभाग

१. अ आ इ सदीप्र°। २ '°दृषण्ड' टीकायां '°दृषद' च मूलप्रतिषु वर्तते। ३ श 'समर्दनेन' इति नास्ति। ४. = स्वसंबन्धिभिः, आत्मीयैः—इत्यर्थः। ५. = छविम्। ६. श 'कनकेन स्वर्णधातुना' इति नास्ति। ७. आ उच्चतरा, श उज्ज्वलतारासु। ८ श °दामसु। ९ = सञ्चारिण्य.।

प्रभावतो लब्धमहर्द्धिकस्य प्रभावतो योगिजनस्य यस्मिन् ।
नरो गतो रम्यविशालशृङ्गे न रोगतो गच्छति कोऽपि पीडाम् ॥७॥
नितम्बवाप्यः खचराङ्गनानामधः प्रवर्षेष्वपि वारिदेषु ।
विच्छिन्दते यत्र न तोयकेलिं परिस्रवन्निर्झरपूर्यमाणाः ॥८॥
परिस्रुतानीन्दुमणिप्रतानात्पयांसि पीयूषवदापिबन्तः ।
नित्यप्रसूताभिनवप्रवाला भजन्ति यत्राजरतां द्रुमौघाः ॥९॥
महौषधीगन्धगतप्रभावान्निर्वीर्यकृष्णाहिषु चन्दनानाम् ।
वनेष्वनाशङ्कितशेमुषीकाः क्रीडन्ति कान्तैः सह यत्र कान्ताः ॥१०॥

देवानाम् । प्रियत्व सतोपत्वम् । व्रजन्ति गच्छन्ति । व्रज गतौ लट्[४] ॥६॥ प्रभेति । प्रभावतः दीप्तिमत कान्तियुक्तस्य । लब्धमहर्धिकस्य लब्धा प्राप्ता महत्य ऋद्धयो महौषध्यादयो यस्य[५] तस्य । योगिजनस्य मुनिजनस्य । प्रभावतः सामर्थ्यतः । यस्मिन् गिरौ । रम्यविशालशृङ्गे रम्ये मनोहरे विशाले विस्तीर्णे शृङ्गे शिखरे । गत॰ यात । कोऽपि कश्चिदपि । नर पुरुष । रोगत व्याधे सकाशात् । पीडा बाधाम् । न गच्छति न प्राप्नोति । गम्लृ गतौ लट् । यमकम् ॥७॥ नितम्बेति । यत्र गिरौ । वारिदेषु मेघेषु । अध - प्रवर्षेषु[अपि] अधः अधोभागे प्रवर्ष[६]वृष्टिर्येषा तेषु अपि । परिस्रवन्निर्झरपूर्यमाणा परिस्रवता परितो धावता निर्झरेण प्रवाहेण पूर्यमाणा[७] सपूर्णं गम्यमानाः । नितम्बवाप्य. नितम्बे[८] तटे विद्यमाना वाप्यो दीर्घिका । खचराङ्गनाना विद्याधरवनितानाम् । तोयकेलि जलकेलिम् । न विच्छिन्दते अभावं न कुर्वते । छिदृर् द्वैधीकरणे लट् ॥८॥ परीति । यत्र गिरौ । इन्दुमणिप्रतानात् इन्दुमणीना चन्द्रकान्ताना प्रतानात् निकरात् । परिस्रुतानि परिस्यन्दितानि । पयासि जलानि । पीयूषवत् सुधारसवत् । आपिबन्त. पानं कुर्वन्त । नित्यप्रसूताभिनवप्रवाला नित्यमनवरत प्रसुता[९] जिता[१०] अभिनवाः प्रत्यग्रा प्रवाला[११] येषा ते । द्रुमौघा द्रुमाणा वृक्षाणामोघा समूहा । अजरतां नवीनताम्[१२] । भजन्ति श्रयन्ते[१३] । अतिशय ॥९॥ महौषधीति । यत्र गिरौ । महौषधीगन्धगतप्रभावात् महौषधीना महामूलिकौषधीना गन्धगताद् वासगतात् प्रभावात् सामर्थ्यात् । निर्वीर्यकृष्णाहिषु निर्वीर्या निर्गतविषसामर्थ्या कृष्णाहय कालोरगा येषा[१४] तेषु । चन्दनाना श्रीगन्धानाम् । वनेषु काननेषु । अनाशङ्कितशेमुषीका अनाशङ्किता॰ सशयरहिता शेमुषी यासा ता । कान्ता वनिता । कान्तै सह निजदयितै सह । क्रीडन्ति खेलन्ति । क्रीडृ विहारे लट् ।

प्यारे लगते थे ॥६॥ रमणीय विशाल शिखरोवाले उस पहाड़पर गया हुआ कोई भी मनुष्य, बडी-बडो ऋद्धियोके धारक प्रभा सम्पन्न योगियोंके प्रभावसे रोगसे पीडित नही होता था— स्वस्थ हो जाता था ॥७॥ वह पहाड बहुत ऊँचा था । जल बरसानेवाले मेघ उनके मध्यभाग तक भी नही पहुँच पाते थे, मध्यभागके नीचे ही वे जल बरसाया करते थे । उसके मध्यभागमे अनेक वापिकाएँ थी, जो सभी ओर वहनेवाले झरनोसे भरी रहती थी, और इसीलिए वे वहाँ विचरनेवाली विद्याधरियोकी जलक्रीडामे कभी विच्छेद नही होने देती थी—विद्याधरियाँ उनमे नित्य जलक्रीडा किया करती थी ॥८॥ उस पर्वतपर चन्द्रकान्त मणियोंके समूहसे अमृतके समान जल बहता रहता था, उसे पीनेवाले वृक्षोके समुदायोमे सदा नयी-नयी पत्तियाँ उत्पन्न हुआ करती थी । फलत वे वृक्ष हमेशा नवीन ही बने रहते थे, कभी पुराने नही होते थे ॥९॥ वहाँ चन्दनके वनोमे जहरीले काले नाग थे, पर वे सभी उत्कृष्ट जडी-बूटियोके प्रभावसे निर्वीर्य-विष

१ अ क ख ग घ म प्रवर्षिष्वपि । २ म वनेषु नि शङ्कित॰ । ३. श सतोषम् । ४ आ लिट् । ५. =येन । ६ श प्रवर्षो॰ । ७ =संपूर्णता नीयमाना । ८ मध्यभागे । ९ =जनिता । १०. आ जीता । ११. =पल्लवा । १२. आ नवीनताम् । १३ श श्रयन्ति । १४. =येषु । १५. श क्रीड ।

शिलातले यस्य घनायमाने घनायमाने कमनीयभावम् ।
विराजते देहविभासुराणां विभासुराणामचिरांशुदेश्या ॥११॥
गन्तुं पतङ्गोपलवह्नितप्तादपारयन्त्य सहसा प्रदेशात् ।
द्विषन्ति यस्मिन्निजमेव तुङ्गं तुरङ्गवक्त्राः कुचकुम्भभारम् ॥१२॥
समुद्गतैर्ग्रावतले पतित्वा जडीकृतो निर्झरवारिपूरैः ।
न तापितायोमयपिण्डतुल्यस्तपेऽपि यत्रोत्तपते पतङ्गः ॥१३॥
प्रभञ्जनः खेचरसुन्दरीणां रतिश्रमापोहकृतोपकारः ।
यस्मिन्सुगन्धीक्रियते तदास्यश्वासैरिव प्रत्युपकर्तुकामैः ॥१४॥

महौषधिसामर्थ्येन सर्पाणा विषरहितत्वात्तत्र क्रीडता स्त्रीपुरुषाणा कालोरगदशभय नास्तीत्यर्थ· ॥१०॥ शिलेति । कमनीयभावं कमनीयस्य मनोहरस्य भाव स्वरूपम् । अयमाने[2] गच्छति[3] । घनायमाने मेघायमाने । यस्य पर्वतस्य । शिलातले शिलाप्रदेशे । घना गुर्वी । अचिरांशुदेश्या अचिरांशोर्विद्युतो देश्या समाना । विभासुराणा विशेषेण भासनशीलानाम् । सुराणाम्[4] । देहविभा देहस्य शरीरस्य विभा कान्तिः । विराजते भाति । राजृ दीप्तौ लट् । उपमा[5] ॥११॥ गन्तुमिति । यस्मिन् गिरौ । पतङ्गोपलवह्नितप्तात् पतङ्गोपले सूर्यकान्तशिलायामुत्पन्नेन वह्निनाग्निना तप्तात् सतप्तात् । प्रदेशात् स्थलात् । सहसा शीघ्रम् । गन्तु यातुम् । अपारयन्त्य असमर्था । तुरङ्गवक्त्राः किन्नरवनिता· । तुङ्गम् उन्नतम् । निजमेव स्वकीयमेव । कुचकुम्भभारं स्तनकुम्भाना कुचकलशाना भारम् । द्विषन्ति[6] कुप्यन्ति[7] । रूपकम् ॥१२॥ समुद्गतैरिति । यत्र गिरौ । तापितायोमयपिण्डतुल्य· तापितेनायोमयेन लोहमयेन पिण्डेन गोलकेन तुल्य समान । पतङ्ग सूर्यः । ग्रावतले शिलातले । पतित्वा निपत्य । समुद्गतैः[8] प्रसृतैः[9] । निर्झरवारिपूरै निर्झरस्य प्रवाहस्य वारीणा पूरै । जडीकृत शीतीकृतः सन् । तपेऽपि ग्रीष्मकालेऽपि । नोत्तपते न संतपते । तप सतापे लट् ॥१३॥ प्रभञ्जन इति । यस्मिन् गिरौ । खेचरसुन्दरीणा विद्याधरस्त्रीणाम् । रतिश्रमापोहकृतोपकार रत्या कामकेल्या जातस्य श्रमस्यापोहेन विनाशेन कृत उपकारो यस्य[10] स । प्रभञ्जनः वायु । प्रत्युपकर्तुकामै [इव] प्रत्युपकार कर्तुकामै कर्तुमिच्छुभिरिव । तदास्यश्वासै तासा विद्याधरस्त्री-

---

रहित हो गये थे । इसलिए वहाँपर स्त्रियाँ निर्भय होकर अपने पतियोके साथ क्रीडा किया करती थी ॥१०॥ उस पर्वतकी मेघ सरीखी सुन्दर शिलापर देदीप्यमान देवोके शरीरकी घनी-प्रभा बिजुलीकी भाँति सुशोभित होती थी ॥११॥ उस पर्वतपर गन्धर्वोंकी अंगनाएँ–जिनके मुख अश्व सरीखे थे—सूर्यकान्त मणियोकी अग्निसे सन्तप्त प्रदेशसे सहसा भाग जानेमे असमर्थ होकर अपने ही अत्यधिक, स्तन-कलशोके बोझसे द्वेष करने लगती थी ॥१२॥ उस पर्वतपर अनेक झरने बह रहे थे । उनके जलका पूर चट्टानोके ऊपर गिरकर आकाशमे बहुत ऊँचाई तक उछल जाता था, उससे, तप्त लोह पिण्ड सरीखा सूर्यमण्डल बिलकुल ठण्डा हो जाया करता था, अत· ग्रीष्म ऋतुमे भी वह नही तपता था—उष्ण नही हो पाता था ॥१३॥ उस पर्वतपर विद्याधरियोकी रतिक्रियाकी थकानको मिटाकर वायुने उनका उपकार किया, तो उन्होने भी मानो प्रत्युपकारकी कामनासे उसे अपनी श्वासवायुसे सुवासित कर दिया ॥१४॥ वह पर्वत बड़ी तेजीसे बढनेवाली और सभी ओर फैलनेवाली लताओका अक्षय स्थान था । सघन वृक्षा-

---

१. म तटेऽपि । २. श आयमाने । ३ =नीयमाने । ४. =देवानाम् । ५ =यमक च । ६ =निन्दन्ति । ७. आ कुप्यन्ति । ८ – [illegible] । ९. श प्रस्तुतै । १०· =येन ।

कान्तैर्विचित्रोज्ज्वलचन्द्रकान्तै रूढैर्लतानां निवहैः प्ररूढैः ।
यस्य द्युतिः केकिभिरक्षयस्य तेने तटे शाखितिरोहितेने[1] ॥१५॥
मध्वासवापानमनोज्ञगानाः[2] समुन्नयन्तो मनसो विकारम् ।
सकोपकान्तानुनयेषु यूनां साहायकं यत्र भजन्ति भृङ्गाः ॥१६॥
श्रुत्वा घनध्याननिभं नटन्तः शिखण्डिनो[3] निर्झरवारिनादम् ।
कुर्वन्ति यत्सानुगतं सुरौघं दिव्याङ्गनानृत्यविधौ वितृष्णम् ॥१७॥
गुहोदरे ध्येयहिमे हिमर्तुं निदाघमव्यन्त्रिषु गह्वरेषु ।
सानुष्वधोगामिघनेषु वर्षाः सुखेन यस्मिन्गमयन्ति सिद्धाः ॥१८॥

णामास्याना श्वासैः । सुगन्धीक्रियते परिमलीक्रियते । अतिशय[4] ॥१४॥ कान्तैरिति । कान्तैं कमनीयैः । विचित्रोज्ज्वलचन्द्रकान्तैः विचित्रं नानाविधमुज्ज्वल (रूप) येषां ते तथोक्ताः, विचित्रोज्ज्वलाश्चन्द्रका मेचका अन्ते येषां तैः । केकिभि मयूरैः । रूढैः आरूढैः । प्ररूढै प्रवृद्धैः । लताना वल्लरीणाम् । निवहैः समूहैः । अक्षयस्य अविनाशस्य । यस्य गिरेः । द्युति कान्ति । शाखितिरोहितेने शाखिभिर्वृक्षैस्तिरोहित आच्छादित इन सूर्यो यस्मिन् तस्मिन् । तटे सानौ । तेने वस्तीर्यतेस्म । तनूल् विस्तारे लट् । यमकम् ॥१५॥ मध्विति[5] । यत्र गिरौ । मध्वासवागानमनोज्ञगानाः मद्योगुडपुष्पवृक्षस्यासवस्य पुष्परसस्य[6] आपावेन पानगोष्ठिकया मनोज्ञ मञ्जुल गान येषां ते । मनस चित्तस्य । विकारं[7] पल्लटम् । समुन्नयन्त वर्धयन्तः । भृङ्गा मधुकरा । यूनां तरुणानाम् । सकोपकान्तानुनयेषु सकोपाना कोपसहिताना कान्ताना स्त्रीणामनुनयेष्वाश्वासनेषु । साहायक[8] सहायत्वम् । व्रजन्ति गच्छन्ति । लट् । भृङ्गध्वनिश्रवणे स्त्रीणा भोगकाक्षा जायते, इत्यर्थ । समाहित. ॥१६॥ श्रुत्वेति । घनध्याननिभ घनस्य मेघस्य ध्वानस्य ध्वनेर्निभ सदृशम् । निर्झरवारिनाद निर्झरस्य प्रवाहस्य वारिणो जलस्य नाद ध्वनिम् । श्रुत्वा आकर्ण्य । नटन्त. नृत्यन्त । शिखण्डिन मयूरा । यत्सानुगत यस्य गिरे सानुगत तटयातम् । सुरौघ सुराणा देवानामोघ समूहम् । दिव्याङ्गनानृत्यविधौ दिव्याङ्गनाना देवस्त्रीणा नृत्यविधौ नटनकरणे । वितृष्ण काक्षारहितम् । कुर्वन्ति विदधति । लट्[9] । अत्रैव नर्तनासक्त कुर्वन्ति, इत्यर्थ । अतिशय ॥१७॥ गुहोदर इति । यस्मिन् गिरौ । सिद्धा देवविशेषा । ध्येयहिमे ध्यातु योग्य हिम[10] शीतल यस्मिन् तस्मिन् । प्रत्यक्षप्रमेय हिम नास्ति, इत्यर्थ । गुहोदरे गुहाया गह्वरस्योदरे मध्ये । हिमर्तुं हेमन्तर्तुम् । सुखेन[11] निरायासेन । गमयन्ति यापयन्ति[12] । गम्लृ गतौ णिजन्ताल्लट् । अव्यन्त्रिषु

वलीसे सूर्य तिरोहित हो जानेसे उसके तटोपर अन्धकार छाया रहता था । पर उन अन्धकारमय तटोपर सुन्दर, वृक्षोपर चढे हुए और अद्भुत स्वच्छ चन्द्राकृतियोंसे-जो पखोमे बनी हुई थी—युक्त मयूरोंके द्वारा प्रकाश कर दिया जाता था ॥१५॥ उस पर्वतपर पुष्परस रूपी आसवका पान कर लेनेसे सुस्वर गान करनेवाले और मनके विकारको बढ़ानेवाले भौंरे, रूठी हुई नायिकाओको मनानेमे युवकोको सहायता पहुँचा रहे थे ॥१६॥ उस पर्वतपर मेघध्वनिके समान जल-प्रपातके शब्दको सुनकर नाचनेवाले मयूर तटो या शिखरोपर बैठे हुए देववृन्दको देवियोंके नृत्य देखनेकी तृष्णासे मुक्त कर देते थे—मयूरोका नृत्य देखकर उन्हे देवियोका नृत्य देखनेकी उत्सुकता नही रहती थी ॥१७॥ उस पर्वतपर रहनेवाले देवलोग हिमके प्रभावसे सर्वथा मुक्त गुफाओमे और फुहारेसे युक्त गुफाओमे क्रमशः हेमन्त और ग्रीष्मऋतुको सुखसे

१ म °तिरोहितेन । २ आ इ °मनोज्ञरागाः । ३ अ आ क ख ग घ म निर्भर° । ४ = उत्प्रेक्षा, अन्योन्यालङ्कारश्च । ५. आ मध्वेति । ६ = मधु पुष्परस तद्रूपस्यावसस्य मद्यस्य । ७ = विकृतिम् । ८ श सहायक । ९. आ लङ् । १० = शैत्यं । ११ = सुखपूर्वकम् । १२ श 'यापयन्ति' इति नास्ति ।

जयन्रुचा निस्तमसौ समुत्कः शीतेतरांशू तमसौ समुत्कः ।
द्रष्टुं चमून्या जगदेकपाली बलेन साक्षाज्जगदे कपाली ॥१९॥
निषेव्यविवरो वरोऽविविधनिर्झरालंकृतः
सदन्ति चमरोऽमरौपहितमाधवीमण्डपः ।
विकासिकमलोऽमलोपलविचित्रभाभासुरो
न विस्मयमयं नगः प्रविदधाति कस्येक्षितः ॥२०॥

अपा जलाना यन्त्रिपु[1] यन्त्रयुक्तेषु । गह्वरेषु गुहासु । निदाघ ग्रीष्मम् । अघोगामिघनेषु अघो अघोभागे गामिनो गमनशीला घना मेघा येषु तेपु । सानुपु[2] तटेपु । वर्षा प्रावृट्कालान् । गमयन्तीति प्रत्येकमभिसबध्यते । दीपकम् ॥१८॥ जयन्निति । निस्तमसौ निर्गत तमो ययोस्तौ । शीतेतराशू शीत शीतल इतर उष्ण' शीतेतरौ अशू किरणौ ययोस्तौ—चन्द्रसूर्यौ । रुचा कान्त्या । जयन् निर्जयन् । त रत्नकूटगिरिम् । द्रष्टु वीक्षणाय । समुत्क.[3] सतुष्ट । समुत्क. समुन्नत क मस्तक यस्य स. । बलेन सामर्थ्येन । साक्षात् प्रत्यक्षम् । कपाली रुद्र । जगदेकपाली जगतो भुवनस्य एकपाली मुख्यपालक । असौ राजा । चमून्या सेनानायकेन । जगदे भाष्यते । यमकम् ॥१९॥ निषेव्येति । निषेव्यविवर निषेव्यमाश्रयणीय विवर गह्वर यस्य सः । वर प्रशस्त । विविधनिर्झरालकृतः विविधैर्नानाप्रकारै. प्रवाहैरलङ्कृतो भूपितः । सदन्तिचमर. दन्तिभिर्गजैश्चमरैश्चमरमृगैश्च युक्त. । अमरोपहितमाधवीमण्डप अमरैर्देवैरुपहित आश्रितो माधवीना[4] यूथिकालताना मण्डपो यस्य स । विकासिकमल.-विकासीनि विकसनशीलानि कमलान्यम्बुरुहाणि यस्मिन् सः । अमलोपलविचित्रभाभासुर. अमलाना निर्मलानामुपलाना शिलातलाना विचित्रया बहुविधया भया कान्त्या भासुरो दीप्र' । ईक्षित दृष्ट । अयं नगः मणिकूटगिरि. । कस्य पुरुषस्य । विस्मयम् आश्चर्यम् । न प्रविद-

---

बिताया करते थे । तथा वर्षाऋतुको वे उन शिखरोपर आरामसे बिताते थे, जहाँ मेघ पहुँच ही नही सकते थे, उनसे बहुत नीचे रह जाते थे । क्या सर्दी, क्या गर्मी और क्या बरसात तीनो ही मौसमोमे देवलोग वहाँ सुख पूर्वक रहते थे । वहाँकी उष्ण गुफाओमे हिमका कभी कोई असर नही पहुँच पाता था । हाँ, वहाँ रहनेवाले देव उसका स्मरण अवश्य कर लेते थे, कि प्रवासके अवसरपर अमुक स्थान देखा था, जहाँ अत्यधिक हिमपात हो रहा था । इसी तरह अन्य स्थानोपर ग्रीष्म और वर्षामे वह सुख नही मिल सकता, जो मणिकूट पर्वतके निवासियोंको अनायास ही प्राप्त हो रहा था । वह पर्वत सभी ऋतुओमे सुखद था । इसीलिए वहाँ देवलोग भी निवास करते थे ॥१८॥ राजा पद्मनाभने अपने देहकी कान्तिसे चन्द्रमाको और दीप्तिसे सूर्यको मात कर दिया था, जो अन्धकारसे सर्वथा मुक्त थे । पद्मनाभ सारे जगत्का एक मात्र रक्षक था और बलमे तो साक्षात् शकर । उसे पर्वतकी विशेषताओके देखनेसे बडा हर्ष हुआ और उत्सुकता भी । पर्वत देखनेके लिए उसे उत्सुक जानकर सेनापतिने यो कहना प्रारम्भ किया—॥१९॥ इसकी गुफाएँ रहने योग्य हैं, यह अनेक प्रकारके झरनोसे सुशोभित है, इसपर कही हाथी घूम रहे हैं तो कही चमरी मृग विचर रहे हैं, इसके माधवीलताके मण्डपोमे देवलोग भी आकर ठहर जाते हैं, इसपर कमल खिले हुए हैं; निर्मल मणियो और शिलाओकी अनोखी प्रभासे यह सभी ओरसे प्रकाशित है; अतएव निश्चय ही यह सभी पर्वतोसे श्रेष्ठ है । इसे देखकर किसे आश्चर्य नही होगा ? इसे देखकर तो ब्रह्मदेव (कस्य-ब्रह्मदेवस्य) को भी अचरज होगा

---

१. = यन्त्राणि सन्ति येषु, तेपु । २. = शिखरेपु । ३. = समुत्सुक । ४ = माधवीलताना ।

तुहिनपाण्डुरतीरजसैकतां कमलजेन गतां रजसैकताम् ।
वहति सिन्धुमयं सरसामलंकृतदिशा च चयं सरसामलम् ॥२१॥
सुरयुवतिजनस्य सानुभाजो वदनसरोरुहमण्डनोद्यतस्य ।
विगलिततिमिरासु संप्रसर्पन्भवति निशास्विह दर्पणो मृगाङ्कः ॥२२॥
न महीरुहा परिहृता कुसुमैर्मणिदीपकैर्विरहिता न गुहाः ।
न नितम्बभूः सुरजनैर्विकला न सरः समुज्झितमिहाम्बुरुहैः ॥२३॥
इह गगनचरैः कन्दरागोचरैः सुरभिशुचिपटैः कामिनीलम्पटैः ।
अवसितसुरतैः सानुसेवारतैः समधुकररुतः सेव्यते मारुतः ॥२४॥

घाति न करोति । लट् । यमकम् ॥२०॥ तुहिनेति । तुहिनपाण्डुरतीरजसैकतां तुहिनमिव पाण्डुरं शुभ्रं तीरजं कूलजनितं सैकतं सिकतामयं[२] यस्यास्ताम् । कमलजेन तामरसजेन । रजसा परागेण साकम् । एकताम् अभेदत्वम् । गतां याताम् । सरसां जलसहितां स्वादुरसवतीं वा । सिन्धुं नदीम् । 'देशे नदविशेषेऽब्धौ सिन्धुर्ना सरिति स्त्रियाम्' इत्यमरः । अलंकृतदिशाम् अलंकृता भूषिता दिशो येषां[३] तेषाम् । सरसां सरोवराणाम् । चयं च समूहं च । अलं भृशम् । वहति धरति । वहि प्रापणे लट् । दीपकम्[४] ॥२१॥ सुरेति । इह गिरौ । सानुभाजः सानु[५] तटं भाजः (सानु तटं भजते इति सानुभाक्, तस्य) आश्रितस्य । वदनसरोरुहमण्डनोद्यतस्य वदनमेव मुखमेव सरोरुहं कमलं तस्य मण्डने भूषणे उद्यतस्योद्युक्तस्य । सुरयुवतिजनस्य[६] सुरयुवतिरेव जनस्तस्य । विगलिततिमिरासु विगलितं तिमिरं यासां तासु । निशासु[७] रात्रिषु । संसर्पन् गच्छन् । मृगाङ्कः चन्द्रः । दर्पणः मुकुरः । भवति[८] । लट् । रूपकम् ॥२२॥ नेति । इह गिरौ । कुसुमैः पुष्पैः । परिहृता रहिता । महीरुहा वृक्षाः । न न सन्ति । मणिदीपकैः रत्नदीपकैः । विरहिताः शून्याः । गुहाः गह्वराणि । न न सन्ति । सुरजनैः[९] सुरा एव जना लोकाः तैः । विकला हीना । नितम्बभूः[१०] सानुप्रदेशः । [न] न भवन्ति (भवति) । अम्बुरुहैः सरोरुहैः । समुज्झितं त्यक्तम् । सरः सरोवरं[११] । [न] न भवति ॥२३॥ इहेति । इह गिरौ । कन्दरागोचरैः कन्दरस्य गह्वरस्यागोचरैरविषयैः, कृतसुरताः सन्तः कन्दरान्निर्गताः[१२] इत्यर्थः । 'दरी तु कन्दरो वा स्त्री' इत्यमरः । सुरभिशुचिपटैः सुरभिः परिमलः शुचिर्निर्मलः पटो येषां तैः । कामिनीलम्पटैः कामिनीषु वनितासु लम्पटैरत्यासक्तैः । अवसितसुरतैः अवसितं सपूर्णं सुरतं येषां तैः । सानुसेवारतैः सानोर्नितम्बस्य सेवायामाश्रयणे रतैः प्रीतैः । गगनचरैः विद्याधरैः । समधुकररुतः मधुकराणां भ्रमराणां रुतेन ध्वनिना युतः । मारुतः वायुः । सेव्यते भुज्यते । षेवृङ् सेवने

॥२०॥ जिनके किनारोकी बालू बर्फकी भाँति शुभ्र है और जिनका मधुर जल कमलोकी पराग-के साथ एक रूप हो चुका है, न केवल उन नदियोको ही इसने जन्म दिया है, बल्कि सारी दिशाओकी शोभा बढानेवाले जलाशयोको भी जन्म देकर यह उन्हे अपनी गोदमे लिए हुए है। ॥२१॥ शुक्लपक्षकी रातोमे इस पर्वतके शिखरोपर देवागनाएँ ज्यो ही अपने मुखका शृंगार करने बैठती थी, त्यो ही सामनेसे आया हुआ चन्द्रमा दर्पणकी कमीको पूरा कर देता है ॥२२॥ यहांके वृक्ष पुष्प रहित, गुफाएँ मणिदीपोसे रहित, मध्यभागकी भूमि देवोसे रहित और सरोवर कमलोसे रहित नही हैं—यहांके वृक्ष सदा फूलोंसे अलकृत रहते हैं, गुफाओमे मणिदीप जगमगाया करते हैं, मध्यभागके रम्य प्रदेशोमे देवलोग विराजमान रहते हैं और सरोवरोमे कमल लहलहाते रहते हैं ॥२३॥ यहाँपर स्त्रीलम्पट विद्याधर लोग सम्भोगके उपरान्त सुगन्धित और पवित्र वस्त्र पहनकर गुफाओसे बाहर निकलते ही शिखरोपर टहलने लगते हैं, और फिर

१ म° नपाण्डर° । २. = 'सैकतं सिकतामयम्' इत्यमरः । ३. = यैः । ४ = यमकम् । ५ श सानु । ६. = सुर- युवतीनां जनो वर्गस्तस्य । ७ = वलक्षपक्षक्षपासु । ८. = जायते । ९ = सुराणां देवानां जना वर्गाः, तैः । १० = मध्यभाग । ११. श सरोवर । १२ = कृतसुरतैः सद्भिः कन्दरान्निर्गतैः ।

अलिनीनिकुरुम्बचुम्बिताग्रैः शिखरेऽस्य स्थलपुण्डरीकखण्डैः ।
भवतीव विकासशालिभिर्द्यौरुदितानेकसलाञ्छनेन्दुबिम्बा ॥२५॥
विध्यातेऽप्यनिलवशेन मङ्गलार्थे दीपानामिह निकरे लतागृहेषु ।
वीक्षन्ते गगनचरा महौषधीनामुद्द्योतै रतिषु वधूमुखाम्बुजानि ॥२६॥
मत्वानुपप्लवशिखानिह रत्नदीपान्गत्यन्तरव्यपगमात्पिदधत्करेण ।
नेत्रे नितम्बगतवस्त्रहृतां प्रियाणां प्रीत्यै भवत्यधिगुहं खचराङ्गनौघः ॥२७॥
बिम्बितपुष्पगुच्छनिचितव्रततिषु निपतन्नस्य तडिल्लतानुकरणक्षमरुचिषु गिरेः ।
काञ्चनमेदिनीषु जनयति धिषणां नीलदलोपहारविषयां मधुकरनिकरः ॥२८॥

कर्मणि लट् । यमकम् ॥२४॥ अलिनीति । अस्य गिरेः । शिखरे शृङ्गे । अलिनीनिकुरम्बचुम्बिताग्रैः अलिनीनां भ्रमरवनितानां निकुरम्बेण समूहेन चुम्बितमालिङ्गितमग्रं येषां तैः । विकासशालिभिः विकासेन विकसनेन शालिभिः शोभिभिः । स्थलपुण्डरीकषण्डैः स्थलपुण्डरीकाणां स्थलपद्मानां षण्डैः कदम्बकैः । द्यौः गगनम् । उदितानेकसलाञ्छनेन्दुबिम्बा[1] उदितं समुद्भूतमनेकेन बहुलेन लाञ्छनेन युक्तमिन्दुबिम्बं यस्याः सा इव । भवति । उत्प्रेक्षा ॥२५॥ विध्यात इति । इह गिरौ । गगनचरा विद्याधराः । लतागृहेषु[2] लतासदनेषु । मङ्गलार्थे मङ्गलनिमित्ते मङ्गलमेवार्थं प्रयोजनं यस्य (तस्मिन्) । दीपानां प्रदीपानाम् । निकरे समूहे । अनिलवशेन अनिलस्य वायोर्वशेन । विध्यातेऽपि विनष्टेऽपि । रतिषु रतिक्रीडासु । वधूमुखाम्बुजानि वधूनां वनितानां मुखान्येवाम्बुजानि सरोजानि । महौषधीनां काष्ठज्योतिरादीनाम् । उद्योतैः प्रकाशैः । वीक्षन्ते विलोकयन्ते । ईक्षि दर्शने लट् । सामान्यालङ्कारः ॥२६॥ मत्वेति । इह गिरौ । रत्नदीपान् अनुपप्लवशिखान् अनुपप्लवा निर्बाधा शिखा ज्वाला येषां तान् । इति मत्वा बुध्वा । गत्यन्तराभावात् गत्यन्तरस्योपायान्तरस्य व्यपगमादभावात् । नितम्बगतवस्त्रहृतां नितम्बगतस्य कटिगतस्य वस्त्रस्य दुकूलस्य हृतामपहारिणाम् । प्रियाणां दयितानाम् । नेत्रे नयने । करेण हस्तेन । पिदधन्[3] पिनह्यन् । खचराङ्गनौघः खचराङ्गनानामोघः समूहः । अधिगुहं गुहास्वधिकृत्याधिगुहम्, गुहास्वित्यर्थः । प्रीत्यै प्रीतिनिमित्तम् । भवति । लट् ॥२७॥ बिम्बितेति[4] । अस्य गिरेः । बिम्बितपुष्पगुच्छनिचितव्रततिषु बिम्बिताः पुष्पाणां गुच्छैर्मञ्जरीभिर्निचिता निरन्तरिता व्रतत्यो लता यासु[5] तासु । तडिल्लतानुकरणक्षमरुचिषु तडिल्लताया विद्युल्लताया अनुकरणे क्षमा समर्था रुचिर्यासां तासु । काञ्चनमेदिनीषु सुवर्णमयभूमिषु । निपतन्

भौंरोका मधुर संगीत सुनते हुए वायु सेवन करते हैं ॥२४॥ इस पहाडके शिखरोपर सफेद स्थल कमल खिले हुए हैं और उनके ऊपर भौरियोंके झुण्ड बैठे हुए हैं । उन्हे देखकर ऐसा प्रतीत होता है मानो आकाश, लाञ्छन सहित अनेक (पूर्णमासीके) चन्द्रमण्डलो अलकृत हो ॥२५॥ विद्याधर युवक विवाहके बाद यहाँ आया करते हैं । उनके प्रथम मिलनकी मंगलवेलामे यहाँके लतामण्डपोमे मंगल दीप जलाये जाते हैं, हवाके झोंकेसे वे कभी बुझ भी जायें तो भी रतिक्रीड़ाके अवसरपर विद्याधर युवक अपनी नववधूका मुखकमल जडी-बूटियोके प्रकाशसे देख लेते हैं । ॥२६॥ यहाँकी गुफाओमे सम्भोगके अवसरपर विद्याधर लोग ज्यो ही अपनी प्रियाओके नितम्बसे वस्त्र हटाते हैं, त्यो ही वे शर्मिन्दा होकर रत्नद्वीपोको बुझानेका प्रयत्न करती हैं । पर जब वे नही बुझते, तब वे और उपाय न रहनेसे अपने हाथसे पतिके नेत्रोको मूद लेती हैं । यह देखकर वे अपने मन-ही-मन बडे प्रसन्न होते हैं ॥२७॥ इस पर्वतकी बिजुलीके समान चकाचौध उत्पन्न करनेवाली स्वर्णभूमिमे, जहाँ फूलोके गुच्छोसे लदी हुई लताएँ प्रतिबिम्बित हो रही हैं, वहाँ

१ = उदितान्येकानि सलाञ्छनानीन्दुबिम्बानि यस्या सा । २ = निकुञ्जेषु । ३ = आच्छादयन् । ४. आ भीतेति । ५. श यासा ।

तटगतासितरत्नविनिःसृतैरविरलैः परितो निकरे रुचाम् ।
इह कदाचन मेचकितत्विषो निजरुचिं न भजन्ति शरद्घनाः ॥२९॥

मानोन्माद्व्यपनयचतुराश्चैत्रारम्भे विदधति मधुराः ।
यूनामस्मिन्घटितयुवतयो दूतीकृत्यं परभृतरुतयः ॥३०॥

ध्वनन्नितम्बावनि तारमन्ते गीत्वा प्रियाणां वनिता रमन्ते ।
इहादृतैर्हेममही नभोगैर्निषेव्यते काममहीनभोगैः ॥३१॥

विनमन् । मधुकरनिकर मधुकराणा भ्रमराणा निकरो निवह । नोलदलोपहारविषया नोलदलैरिन्द्र-नीलमणिभि कृत उपहारो रङ्गवल्ली स एव विषयो गोचरो यस्यास्ताम् । धिषणा बुद्धिम् । सततम्[1] अनवरतम् । जनयति उत्पादयति । जनैड् प्रादुर्भावे लट् । भ्रान्तिमान् ॥२८॥ तटेति । इह गिरौ । परित समन्तात् । तटगतासितरत्नविनि सृतं. तट सानुं गतै[2]रसितैर्नीलै रत्नैर्मणिभिर्विनि.-सृतैर्निर्गतै. । रुचा कान्तीनाम् । निकरे समूहे । मेचकितत्विषः मेचकिता[3] श्यामा त्विट् कान्तिर्येषा ते । शरद्घना शरत्कालमेघा । कदाचन कस्मिंश्चित् (अपि) समये । निजरुचि स्वकीयकान्तिम्, शुभ्र-कान्तिमित्यर्थ । न भजन्ति नाश्रयन्ति । भज सेवायाम् । लट् । सामान्यालङ्कार[4] ॥२९॥ मानेति[5] । अस्मिन् गिरौ । चैत्रारम्भे चैत्रस्यारम्भे प्रारम्भे । मानोन्मादव्यपनयचतुरा. मानेन गर्वेण जातोन्मादस्य चित्त-विकारस्य व्यपनये[6] चतुरा प्रौढा । मधुरा श्रवणप्रिया । घटितयुवतय ;घटिता[7] प्रेरिता. युवतयो वनिता येषा[8] ते । परभृतरुतय परभृताना कोकिलाना रुतयो ध्वनय । यूना तरुणानाम् । दूतीकृत्यं दूत्या कृत्य कार्यम् । विदधति कुर्वन्ति । उत्प्रेक्षा (?) ॥३०॥ ध्वनन्निति । इह गिरौ । वनिता कामिन्य । प्रियाणा दयितानाम् । अन्ते समोपे । ध्वनन्नितम्बावनि ध्वनन्ती नितम्बस्य प्रस्थस्यावनिर्भूमि र्यस्मिन् कर्मणि तत्० । तारम् उच्चै स्वरम् । गीत्वा ध्वनित्वा । रमन्ते[9] क्रीडन्ते । रमि क्रीडाया लट् । आदृतै प्रीतियुक्तै । अहीनभोगै अहीनै सपूर्णैर्भोगैर्भोगद्रव्यसहितै । नभोगै विद्याधरै । हेममही स्वर्णमयभूमिः । काम यथेष्टम् । निषेव्यते

भौंरे (साक्षात् फूलोंके,गुच्छोंके धोखेमे आकर) आ-आकर मडराने लगते हैं, और अपने मडरानेके प्रदेशमे दर्शकोको नीलमणियोसे पूरे गये चौकका भ्रम उत्पन्न कर देते हैं ॥२८॥ इस पर्वतके तटोपर यत्र-तत्र-सर्वत्र नील मणियोकी अपूर्व सुषमा बनी रहती है । उन मणियोकी सघन किरणें सभी ओर फैली रहती हैं । उनसे शरदऋतुके शुभ्र मेघ बिलकुल काले या नीले हो जाते हैं । इस तरह वे यहाँ पर अपनी स्वाभाविक (शुभ्र) कान्तिको कभी भी नहीं प्राप्त कर पाते हैं ॥२९॥ इस पर्वतपर चैत्रमासमे मानवती युवतियोके मान जन्य उन्मादको दूर करनेसे चतुर, मधुर और बिछुडी हुई तरुण नायिकाओको उनके पतियोसे मिला देनेवाली कोकिलकी बोली युवकोंके लिए दूतीका काम देती है ॥३०॥ यहाँपर सगीतज्ञ नायिकाएँ अपने-अपने पतियोंके निकट, इसकी पूरी मध्यभागकी भूमिमे गूँज उत्पन्न करनेवाले ढंगसे तारस्वरमे गाना गाकर मनोविनोद करती हैं, और समादृत विद्याधर लोग—जो उत्कृष्ट भोग गामग्री साथमे लाये हैं—

---

१ 'सतत' मूलग्रन्थे नास्ति । २ श गतैराश्रितै । ३ =श्यामीकृता । ४. = तद्गुणालङ्कारः । ५ आ मन इति । ६ =दूरीकरणे । ७. =सयोजिता । ८ =याभिस्ता । ९. = क्रीडन्ति ।

व्योम्ना यानः पत्रिणोऽत्र प्रविष्टं रत्नक्षोण्यां वन्यमार्जारपोतः ।
बिम्बं लौल्येनानुबध्नन्न धत्ते[1] दिव्यस्त्रीणां गन्तुमन्यत्र दृष्टिम्[2] ॥३२॥
अयं मुनिघनोऽघनोदनसहः सहस्तिचमरोऽमरोचिततटः ।
सुराद्रिसदृशो दृशोऽम्बरसदां सदाञ्चितविभो विभो रमयते ॥३३॥
नीलोपलोल्लसितलोलमरीचिजालसान्द्रीकृतान्धतमसेष्विव गह्वरेषु ।
क्रीडातिरोहिततनूर्युवतीः[6] पतीनां तच्छ्वाससङ्गसुरभिर्विवृणोति वायुः ॥३४॥

आश्रियते[3] । लट् । यमकम् ॥३१॥ व्योम्नेति । अत्र गिरौ । रत्नक्षोण्या रत्नमयभूम्याम् । व्योम्ना गगनेन । आयातः गच्छतः । पत्रिणः पक्षिणः । प्रविष्टं[4] प्रतीताम्बरम् । बिम्बं प्रतिबिम्बम् । लौल्येन लाम्पट्येन । अनुबध्नन् आकर्षन् । वन्यमार्जारपोतः वन्यस्य वने जातस्य मार्जारस्य बिडालस्य पोतः शिशुः । दिव्यस्त्रीणां देववनितानाम् । दृष्टिं नयनम् । अन्यत्र अन्यप्रदेशे । गन्तुं गमनाय । न धत्ते[5] न धरति (न दत्ते न ददाति) । डुधाञ् धारणे च लट् । भ्रान्तिः ॥३२॥ अयमिति । विभो भो पद्मनाभ । मुनिघनः मुनिभिर्यतिभिः घनः सान्द्रः । अघनोदनसहः अघस्य पातकस्य नोदने निराकरणे सहः समर्थः । सहस्तिचमरः हस्तिभिर्दन्तिभिश्चमरैश्चमरमृगैश्च युक्तः । अमरोचिततटः अमराणां देवानामुचितं योग्यं तटं सानुर्यस्य सः । आरचितविभः आरचिता (अञ्चितविभः अञ्चिता) प्रशस्ता विभा कान्तिः शोभा वा यस्य सः । सुराद्रिसदृशः सुराद्रेर्मेरोः सदृशः समानः । अयं गिरिः । अम्बरसदां सुराणाम् । दृशः नयनानि । सदा अनवरतम् । रमयते क्रीडयति । रमि क्रीडायाम् । णिजन्ताल्लट् । यमकम् ॥३३॥ नीलेति । इह गिरौ । नीलोपलोल्लसितलोलमरीचिजालसान्द्रीकृतान्धतमसेषु नीलोपलस्येन्द्रनीलस्योल्लसितानां भासितानां लोलानां चञ्चलानां मरीचीनां कान्तीनां जालेन कदम्बेन सान्द्रीकृतं निरन्तरीकृतमन्धतमसं येषां[7] तेषु । गह्वरेषु दरीषु । क्रीडातिरोहिततनूः क्रीडया विलासेन तिरोहिता व्यवहिता तनुः गात्रं यासां ताः । युवतीः तरुणीः । तच्छ्वाससङ्गसुरभिः तासां युवतीनां श्वासस्योच्छ्वासस्य सङ्गेन संसर्गेण सुरभिः परिमलसहितः । वायुः मारुतः । पतीनां दयितानाम् । 'स्त्रियोऽत्र

यहांकी स्वर्णमयी भूमिका भरपूर उपयोग करते हैं ॥३१॥ यहां पर रत्नजटित भूमिमें, आकाशमार्गसे धीरे-धीरे जाते हुए एक पक्षीकी परछाई देखकर, जंगली बिलावका बच्चा बड़ी तृष्णासे उसे पकड़नेके लिए बार-बार प्रयत्न कर रहा है, और अपनी इस चेष्टासे आकृष्ट की गयी देवांगनाओंकी दृष्टिको अन्यत्र नहीं जाने देता है—वे और कुछ न देखकर उसीकी ओर घूर-घूरकर देख रही हैं ॥३२॥ राजन् ! वीतराग मुनियोंसे व्याप्त होनेके कारण यह पर्वत भव्यजीवोंके पापोंको नष्ट करनेमें समर्थ है। यहां हाथी और चमरी मृगोंकी बहुलता है। इसके तट देवोंके विहार करने योग्य हैं। यहां सदा प्रकाश रहता है। अतएव यह सुमेरु सरीखा है, और इसीलिए यहां देवी-देवताओंकी दृष्टि रम जाती है ॥३३॥ नीलमणियोंसे निकली हुई चञ्चल किरणोंसे जब यहांकी गुफाओंमें अन्धकार और भी अधिक गाढ हो जाता है, तब युवतियां अपने पतियोंसे आंख बचाकर उनके भीतर जा छिपती हैं। उनके पतियोंको जब खोजने पर भी उनके शरीर नहीं दिखाई देते, तब उनकी श्वास वायु ही उनके छिपनेकी सूचना देती है—

१. अ क ख ग घ धत्ते । २ क ख ग घ म दृष्टे । ३ श आश्रीयते । ४ =पतित प्रवेश गत वा । ५. 'धत्ते' इति टीकाधमस्य पाठस्य स्थाने प्रतिषु 'दत्ते' इत्येव दृश्यते । ६ =साधुभि. । ७ =येषु ।

तीरेष्वेताः कुसुमितवानीरालीरालीनालीरनिलरयोद्‌धूतान्ताः ।
तान्ता घर्मैरविरतमूलापाताः पातीहायं प्रस्रुतनदीनीरौघः ॥३५॥
घातिनिर्मथनलब्धकेवला योगिनोऽत्र परिनिर्विवासवः ।
कुर्वते प्रतरपूरणादिभिः कर्मणां समबलत्वमायुषा ॥३६॥
शिखरमणिशिलाना शाखिशाखान्तरालैः प्रसृतरविकराणामुल्लसन्‌रोचिरोघः ।
तडिदनुकृतिकारी शङ्किताम्भोदकालान्मदयितुमलमस्मिन्नीलकण्ठानकाले ॥३७॥

वर्तन्ते' इति विवृणोति विवरण करोति । वृञ् वरणे लट् । ग्नियोऽत्र वर्तन्ते इति अनुमिति. ॥३४॥ तीरेष्विति । इह गिरौ । आलीनाली आलीनाः पतिता अलयो भ्रमरा यासां[1] ता । अनिलरयोद्‌धूतान्ताः अनिलस्य वायो रयेण वेगेन उद्धूत.[2] अन्ता[3] मध्यप्रदेशो यासा ता. । तान्ता म्लानाः । तमु ग्लानौ । एता. इमा । अविरत-मूलापाता· अविरत निरन्तर मूलं बुध्नमापाताेरागमनशीला । कुसुमितवानीराली. कुसुमिता. पुष्पिता वानीराणा वञ्जुलानामालीः सहती । अयम् एषः । प्रसृतनदीनीरौघ प्रसृतः प्रस्यन्दितो नदीनामापगानां नीराणा जलानामोघ प्रवाहः । पाति रक्षति । पा रक्षणे लट् । यमकम् ॥३५॥ घातीति । अत्र गिरौ । घातिनिर्मथनलब्धकेवला घातीना घातिकर्मणां निर्मथनेन विनाशेन लब्धा प्राप्ताः केवला नवकेवललब्धयो येषा[4] ते । योगिन मुनय । परिनिर्विवासव सकलकर्माणि विनाशयितुमिच्छव । प्रतरपूरणादिभिः प्रतरपूरणे आदौ येषा ते, प्रतरपूरणप्रमुखसमुद्‌घातैरित्यर्थ. । आयुषा आयु.कर्मणा । कर्मणा नामाद्यघातिकर्मणाम् । समबलत्व समानशक्तित्वम् । कुर्वते विदधति । लट् । स्वभाव ॥३६॥ शिखरेति । अस्मिन् गिरौ । शाखि-शाखान्तरालै शाखिना तरूणा शाखानां शिखानामन्तरालैर्मध्यै । प्रसृतरविकराणा प्रसृत[5] प्रस्यन्दितो रवे· सूर्यस्य कर किरणो येषां तेषाम्[6] । शिखरमणिशिलाना शिखरे शृङ्गे विद्यमानाना मणिशिलानाम् । उल्लसन् भासमान । रोचिरोघ. रोचिषा किरणानामोघ समूह । तडिदनुकृतिकारी तडिता विद्युतामनु [कृति] कारी सन् अनुकरणकारी सन् । अकाले असमये । शङ्किताम्भोदकालान् शङ्कित आशङ्कितोऽम्भोदस्य मेघस्य कालो

श्वासवायुसे वे उनके छिपनेका सङ्केत पाकर उन्हे खोज लेते हैं ॥३४॥ राजन् ! जरा इधर भी देखिये, तटो पर यहाँ विकसित वेतके पेड़ खडे हुए हैं । इनमे भौंरे छिपकर बैठे हुए हैं । इन्हे हवा हिला रही है । ये तेज धूपसे मुरझाये हुए हैं । ऐसी स्थितिमे ये जडसे उखड जाते, किन्तु फैला हुआ यह नदियोका प्रवाह इन्हे बचाये रहता है—इनकी रक्षा किया करता है ॥३५॥ राजन् ! यहाँ पर निर्वाणके अभिलाषी मुनियोने चार घातिया (ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय) कर्मोंको नष्ट करके केवलज्ञान प्राप्त कर लिया है । अब ये प्रतर और पूरण आदि समुद्घातोके द्वारा वेदनीय, नाम और गोत्र इन तीन अघातिया कर्मोको आयु कर्मकी स्थितिके बराबर कर रहे हैं ॥३६॥ इन पर्वतके शिखरो पर मणिमय शिलाएँ पाई जाती हैं । वृक्ष-शाखाओके बीचसे सूर्य-किरणोके पडनेपर उनसे विजुलीकी भाति प्रतीत होनेवाली चमचमाती हुई ज्योति निकल पडती है, और वह असमयमे ही मयूरोको वर्षाकालका धोखा उत्पन्न करके उन्हे उन्माद उत्पन्न करनेके लिए खूब अच्छी तरह समर्थ हो जाती है ॥३७॥

१ =यासु । २ =कम्पित । ३. =ऊर्ध्वप्रदेश । ४ =यै । ५ =प्रसारं गत । ६ =यासु तासाम् ।

तटरुहकुटजावनीरुहाणामतिमहतीषु शिखासु सक्तबिम्बः ।
जनयति रजनीषु तारकाणामिह कुसुमस्तबकश्रियं समूहः ॥३८॥
निकरैं रुचां तिमिरहानिकरैरमितैं रवेर्वियदपारमितैः ।
विहतैः स्फुरन्मणिरुचाविह तैं रजनीष्विव ग्रहपतेरजनि ॥३९॥
निष्क्रान्तैः शिखरचयान्निरन्तरालैरालीढाः सरसिजरागरश्मिजालैः ।
श्रीमत्तां दधति दिशो दशाप्यमुष्मिन्नीरक्तैरिव[1] वसनैः परिष्कृताङ्गाः ॥४०॥
सेनापतेरिति वचो ललितैकवर्णमाकर्ण्य भूमिपतिरप्रतिवार्यवीर्यः ।
तस्मिन्नुदीर्णमणिरोचिषि शैलराजे रन्तुं कियन्त्यपि दिनानि बबन्ध बुद्धिम् ॥४१॥

यैस्तान् । नीलकण्ठान् मयूरान् । मदयितुं सतोषयितुम् । अलं शक्तः ॥३७॥ तटेति । इह गिरौ । रजनीषु रात्रिषु । तटरुहकुटजावनीरुहाणां तटरुहाणां सानुभवानां कुटजावनीरुहाणां कुटजभूरुहाणाम् । अतिमहतीषु अत्युन्नतासु । शिखासु अग्रभागेषु । सक्तबिम्बः सक्तं सबद्धं बिम्बं मण्डलं यस्य सः । तारकाणां नक्षत्राणाम् । समूहः निवहः । कुसुमस्तबकश्रियं कुसुमानां पुष्पाणां स्तबकस्य[2] मञ्जर्या श्रियं शोभाम् । जनयति उत्पादयति । उत्प्रेक्षा[3] ॥३८॥ निकरैरिति । इह गिरौ । तिमिरहानिकरैः तिमिरस्यान्धकारस्य हानिकरैर्नाशकारिभिः । अपारम् अनन्तम् । वियत् आकाशम् । इतैः गतैः । स्फुरन्मणिरुचौ स्फुरन्त्या प्रज्वलन्त्या मणीनां रत्नानां रुचौ कान्त्याम् । विहतैः बाधितैः प्रतिहतैर्वा । रवेः सूर्यस्य । रुचां किरणानाम् । निकरैः समूहैः । रजनीषु रात्रिषु । ग्रहपतेः चन्द्रस्य । तैः इव किरणैर्यथा तथा । अजनि अजायत । जनैङ् प्रादुर्भावे लुङ् । उपमा ॥३९॥ निष्क्रान्तैरिति । अमुष्मिन् गिरौ । शिखरचयात् शिखराणां कूटानां चयात् निवहात् । निष्क्रान्तैः निर्गतैः । निरन्तरालैः निरन्तरैः । सरसिजरागरश्मिजालैः सरसिजरागाणां पद्मरागमणीनां रश्मीनां किरणानां जालैर्निकरैः । आलीढाः व्याप्ताः । दश अपि दशसंख्या अपि । दिशः ककुभः । नीरक्तैः नितरां रक्तैररुणवर्णैरित्यर्थः । वसनैः वस्त्रैः । परिष्कृताङ्गा इव परिष्कृतमलङ्कृतमङ्गं गात्रं यासां ता इव । श्रीमत्तां शोभावत्त्वम्[4] । दधति धरन्ति । डुधाञ् धारणे च लट् । उत्प्रेक्षा ॥४०॥ सेनापतेरिति । अप्रतिवार्यवीर्यः अप्रतिवार्यं निवारयितुमशक्यं वीर्यं प्रतापो यस्य सः । भूमिपतिः पद्मनाभः । सेनापतेः सेनान्याः । ललितैकवर्णं ललितो मनोहर एको मुख्यो वर्णो वर्णनं यस्य (ललिता मनोहरा एके मुख्या वर्णा अक्षराणि यस्मिन्) तत् । वचः वचनम् । इति एवम् । आकर्ण्य श्रुत्वा । उदीर्णमणिरोचिषि उदीर्णं व्याप्तं मणीनां रत्नानां रोचिः कान्तिर्यस्य[5] तस्मिन् । शैलराजे मणिकूटपर्वते । कियन्त्यपि कतिपयान्यपि । दिनानि दिनपर्यन्तम् । रन्तुं

इस पर्वतके तटवर्ती कुटजवृक्षोंका बहुत लम्बी-लम्बी ऊपरी शिखाओं-चोटियों पर रात्रिके समय लगा हुआ तारा-मण्डल, फूलोंके गुच्छोंकी शोभाको उत्पन्न कर देता है ॥३८॥ यहाँ दिनमें खूब चमचमानेवाले मणियोंका तीव्र प्रकाश रहता है । अतः असीम आकाशकी सीमाओंमें फैलकर सूर्यकी जो किरणें अन्धकारको मिटा देती हैं, वे यहाँ आकर हतप्रभ हो जाती हैं, फलतः रात्रिके समय चन्द्रकिरणोंकी जैसी शोभा होती है, वैसी शोभा फैलाने लगती हैं—दिनमें सूर्य चन्द्रसरीखा हो जाता है, और उसकी किरणें चन्द्रमाकी किरणोंकी भाँति मन्दप्रकाश फैलाया करती हैं ॥३९॥ राजन् ! इधर भी दृष्टिपात कीजिए, यहाँ शिखरोंके समूहसे निकली हुई पद्मराग मणियोंकी किरणोंने सभी ओर लगातार फैलकर दसों दिशाओंको रंग दिया है—लाल कर दिया है, अतः वे ऐसी सुशोभित हो रही हैं, मानो लाल रंगके वस्त्र पहने हों ॥४०॥ सेनापतिके इन सुन्दर वर्णोंवाले वचनोंको सुनकर अप्रतिहत शक्तिवाले राजा पद्मनाभने मणियोंकी जगमगाती ज्योतिसे प्रकाशमान उस मणिकूट नामक पर्वतपर कुछ दिन ठहरकर क्रीडा

---

१ अ॰ नारक्तैरिव । २ = गुच्छकस्य । ३. = निदर्शना । ४ आ शोभित्वम् । ५. = यस्मिन् ।

संपश्यता कुसुमवासितदिग्विभागा राजीर्गिरेरनुतटं विविधद्रुमाणाम् ।
मध्याह्नवर्तिनि रवावुदितश्रमेण प्रापे नृपेण पृतनाविनिवेशदेशः ॥४२॥
घर्मोदबिन्दुभिरुपाहितभूरिशोभा गण्डस्थलीः पथि विलोकयतः प्रियाणाम् ।
बाधाकरोऽपि शिशिरेतररश्मिरासीत्तस्यावनीतलभुजोऽभिमतस्तदानीम् ॥४३॥
द्राघीयसीरविरलं रचिता वणिग्भिरग्रे गतैः पटमयापणराजितान्ताः ।
[1]पश्यन्क्रयाकुलजना क्षितिपोऽट्टवीथीरुत्तुङ्गतोरणमियाय निजं निवासम् ॥४४॥

कौतुकम् । बुद्धिं मतिम् । चकार चकार । बन्ध बन्धने लिट् ॥४१॥ संपश्यतेति । गिरेः पर्वतस्य । अनुतटं तटस्य समीपम् अनुतटम् । 'समीपे' इति समासः । विविधद्रुमाणां विविधानां नानाविधानां द्रुमाणां तरूणाम् । कुसुमवासितदिग्विभागाः कुसुमैः पुष्पैर्वासितः परिमलीकृतो दिशां ककुभां विभागो याभि[2]स्ताः । राजीः श्रेणीः । संपश्यता वीक्षमाणेन । रवौ सूर्ये । मध्याह्नवर्तिनि मध्याह्ने (ह्ने) मध्याह्नकाले वर्तिनि सति । उदितश्रमेण उदित उत्पन्नः श्रमः परिश्रमो यस्य तेन । नृपेण पद्मनाभेन । पृतनानिवेशदेशः पृतनायाः सेनायाः विनिवेशस्य निवसनस्य[3] देशः स्थानम् । प्रापे[4] प्राप्यतेस्म । आप्लृ व्याप्तौ कर्मणि लिट्[4] ॥४२॥ घर्मोदेति । घर्मोदबिन्दुभिः घर्मोदस्य स्वेदोदकस्य बिन्दुभिः कणैः । उपाहितभूरिशोभाः[5] उपाहिता स्वीकृता भूयसी बह्वी शोभा याभिस्ताः । प्रियाणां स्त्रीणाम् । गण्डस्थलीः कपोलप्रदेशान् । पथि मार्गे । विलोकयतः पश्यतः । तस्य राज्ञः । शिशिरेतररश्मिः सूर्यः । शिशिरस्य[7] इतर उष्णो रश्मिः किरणो यस्य सः । बाधाकरोऽपि पीडाकरोऽपि । अभिमत इष्टः । आसीत् अभवत् । अस भुवि लङ् । घर्मोदबिन्दुकलित-नारीवदनदर्शनेन जातशीतस्पर्शानुभवकरणात् सूर्यस्येष्टत्वमिति भावः ॥४३॥ द्राघीयेति । अग्रे पुरः । गतैः यातैः । वणिग्भिः वाणिजैः । अविरलं निरन्तरं यथा तथा । रचिता निर्मिता । द्राघीयसीः दीर्घतराः । 'प्रिय स्थिर—' इत्यादिना दीर्घशब्दस्य ईयसुन्-प्रत्यये द्राघ इत्यादेशः । पटमयापणराजितान्ताः पटमयैर्वस्त्रनिर्मितै-रापणैर्विपणिभिः राजितो भासितो मध्यप्रदेशो यासां ताः । क्रयाकुलजनाः क्रये वस्तुग्रहणे आकुला संकीर्णा जना यासु ताः । अट्टवीथीः[8] पण्यवीथिकाः । पश्यन् वीक्षमाणः । क्षितिपः राजा । उत्तुङ्गतोरणम् उत्तुङ्ग-मुन्नतं तोरणं बहिर्द्वारं यस्य तम् । निजं स्वकीयम् । निवासम् आलयम् । इयाय जगाम । इण् गतौ लिट् ।

करनेका विचार किया ॥४१॥ फिर राजा पद्मनाभ पर्वतकी सुषमा देखनेके लिए चल पडा। उस पर्वतके सभी तटोपर नाना प्रकारके वृक्षोकी पंक्तियाँ लगी हुई थी, जिन्होने अपने फूलोकी खुशबूसे सारी दिशाओंके अन्तरालको सुगन्धित कर दिया था। उनकी छवि देखते-देखते मध्याह्न हो गया। सूर्य आकाशके ठीक मध्यमे पहुँच गया। राजाको थकानका भी अनुभव होने लगा। तब वह अपनी सेनाको ठहराने योग्य स्थानमे जा पहुँचा ॥४२॥ यो दोपहरका सूर्य सन्ताप देकर सबको पीडा देनेवाला होता है, किन्तु उनने पसीनेकी बूँदोसे रानियोंके कपोलोंको बहुत अधिक सुशोभित कर दिया था। उन्हे देखकर पद्मनाभका चित्त प्रसन्न हो रहा था, और इसीलिए उसे उस समय सबको बाधा देनेवाला भी सूर्य प्रिय लग रहा था ॥४३॥ व्यापारियोने पहले पहुँचकर बडे-बडे बाजारोकी रचना कर ली थी, जो पास-पासमे कपडे तानकर बनाई गई दूकानोसे दर्शनीय थी। सभी बाजारोमे ग्राहकोकी भीड लगी हुई थी। सभी बजारोको देखता हुआ राजा पद्मनाभ अपने निवासके लिए बनाये गये उस भवनमे जा पहुँचा, जिसके आगे बहुत

१ अ आ इ पश्यन् क्रिया॰ । २ =याभिः । ३ श 'निवसनस्य' इति नास्ति । ४ आ श प्रापि । ५ आ लुङ् । ६ =उपाहिता विहिता भूरिशोभा याभिस्ताः । ७ =शिशिराद् । ८ =हट्टवीथिकाः । 'अट्टौ हट्टाट्टालकयो' अनेका॰ २।८१ ।

यान्तीभिरात्मनिलयाय तुरङ्गिणीभिः सामन्तसंहतिभिरीशविसर्जिताभिः ।
वेलाभिरुद्धततरङ्गविभङ्गुराभिरक्षुभ्यदम्बुधिरिव ध्वजिनीनिवेशः ॥४५॥

राजाधिराजवसतेर्हयमन्दुराया' पण्याङ्गनापरिषदो विपणिव्रजस्य ।
पर्याकलय्य परितो विनिवेशदेश स्वावासभूमिरनुवासिजनेन जज्ञे ॥४६॥

वेश्यागणा' परिचितानुपचारहेतोरध्वश्रमातुरतनूननुपालयन्तः ।
द्वारस्थिताः पटमयस्वनिवासपङ्क्तेर्वास्तव्यवद्ददृशिरे पृतनाजनेन ॥४७॥

प्राप्तश्चिराद्गुरुपरिश्रमखिन्नजङ्घ. पर्यूहितुं[1] निजनिवासपदान्यशक्त ।
बभ्राम मुग्धधिषणः परितः स्ववर्ग्यव्याहारनादनिहितश्रवणो जनौघ ॥४८॥

जाति ॥४४॥ यान्तीभिरिति । ईशविसर्जिताभि ईशेन राज्ञा विसर्जिताभि. प्रहिताभि । आत्मनिलयाय स्वगृहाय । यान्तीभि गच्छन्तीभि । तुरङ्गिणीभि' अश्वयुक्ताभि । सामन्तसहतिभि सामन्ताना राज्ञा संहतिभि. समूहै. । ध्वजिनीनिवेशः ध्वजिन्या सेनाया निवेशो निवासस्थानम् । उद्धततरङ्गविभङ्गुराभि उद्धतै. प्रवृद्धैस्तरङ्गै कल्लोलैर्विभङ्गुराभिर्वक्राभि. । वेलाभिः[2] जलविकारै । अम्बुधिरिव समुद्र इव । अक्षुभ्यत् क्षुभ्यतिस्म ॥४५॥ राजेति । राजाधिराजवसतेः राज्ञामधिराजाना वा वसतेर्मन्दिरस्य । हयमन्दुराणा हयाना वाजिना मन्दुराणा शालानाम् । पण्याङ्गनापरिषदः पण्याङ्गनाना गणिकाना परिषद समूहस्य । विपणिव्रजस्य[3] विपणीना पण्यवीथीना व्रजस्य समूहस्य । विनिवेशदेश निवासप्रदेशम् । परित समन्तात् । पर्याकलय्य[4] । अनुयायिजनेन पश्चादागतेन जनेन प्रजया । स्वावासभूमि स्वस्यात्मन आवासभूमिर्निवासभू । जज्ञे ज्ञायते स्म । ज्ञा अवबोधने कर्मणि लिट् ॥४६॥ वेश्येति । अध्वश्रमातुरतनून् अध्वश्रमः मार्गश्रमाद् आतुरा पीडिता तनु शरीर येषा तान् । परिचितान् परिचययुक्तान् । उपचारहेतो उपचारस्य[5] विनयस्य हेतो निमित्तम् । अनुपालयन्त वीक्षमाणा । पटमयस्वनिवासपङ्क्ते पटमयाना वस्त्रमयाना स्वनिवासाना निजनिलयाना पङ्क्ते श्रेण्याः । द्वारस्थिताः[6] द्वारेषु स्थिता आसिता. । वेश्यागणा वेश्याना गणिकाना गणा' समूहा । पृतनाजनेन पृतनाया सेनाया जनेन । वास्तव्यवत् प्राक् स्थिता इव । ददृशिरे वीक्ष्यन्ते स्म । दृशृ वीक्षणे[8] कर्मणि लिट् । उपमा ॥४७॥ प्राप्त इति[9] । उरुपरिश्रमखिन्नजङ्घ. उरुणा महता परिश्रमेणायासेन खिन्ने बाधिते जङ्घे यस्य सः । चिरात् कालविलम्बात् । प्राप्त. आयात । निजनिवासपदानि निजस्य स्वस्य निवासस्या-

बड़ा दरवाजा-प्रवेश द्वार बनाया गया था ॥४४॥ राजा पद्मनाभको ठहराकर और फिर उनसे विदा लेकर सभी सामन्त घोडोपर सवार होकर अपने-अपने ठहरनेके स्थानमे चले गये । सामन्तोके उछलते हुए घोडोसे पडाव ऐसा सुशोभित हो रहा था, जैसे समुद्र, उत्ताल तरङ्गोवाले ज्वार-भाटेसे सुशोभित होता है ॥४५॥ राजाधिराज पद्मनाभ एव अन्य सामन्तोके निवास भवनोको, घुडसालको, और गणिकाओके गण तथा बाजारोके स्थानोको सभी ओरसे देखकर पीछे आने वाले प्रजाके लोगोने यह जान लिया कि हम सभीके ठहरनेका यही स्थान है ॥४६॥ मार्गके परिश्रमसे थके-मादे पूर्व परिचित लोगोकी परिचर्या करनेके लिए उनकी प्रतीक्षा करनेवाला जो गणिकाओका गण अपने-अपने तम्बुओकी अगली पंक्तिमे खडा हुआ था, उसे सैनिकोने वहाँका निवासी समझा ॥४७॥ कुछ और लोग, जो सबसे पीछे आये थे, और अत्यधिक परिश्रमसे जिनकी जघाएँ भर आई थी—बहुत ही अधिक थक चुकी थी, वे अपने डेरोका स्थान खोजने-

१ अ आ इ पर्योहितु । २. श 'वेलाभि' इति नोपलभ्यते । ३ एष टीकाश्रय. पाठ', प्रतिषु तु 'विपणिध्वजस्य' इत्येवावलोक्यते । ४. =समवलोक्य । ५ =परिचर्याया । ६. टीकाया 'द्वारस्थिता' मूलप्रतिषु च 'द्वारि स्थिता.' इति दृश्यते । ७. =तत्रत्या । ८ आ दृशिर् प्रेक्षणे । ९ आ श प्राप्तेति ।

प्रत्यग्रपाकचिततं सुरभीकृताशमाघ्राय चित्तहरमिड्डुरिकादिगन्धम् ।
पर्याकुलं कटकिभिः समुपव्रजद्भिः क्षुत्क्षामकुक्षिभिरजायत धाम कन्द्वाः ॥४९॥
शैलानिलः शिथिलकम्पितदेवदारुरच्छाच्छनिर्झरपयःकणसङ्गशीतः ।
मार्गश्रमव्ययपटुः पटमण्डपस्थैर्निद्रालसैर्वसुमतीपतिभिः सिषेवे ॥५०॥
प्रस्वेदफेनलवविच्छुरिताङ्गरेखैरुत्तीर्णपल्ययनभूरिभरैस्तुरङ्गैः ।
भूवेल्लनाय परितः परिवर्तमानैरावर्तजालमिव बभौ शिबिराम्बुराशिः ॥५१॥

पाकस्य पचनस्य स्थानानि । पर्याहितुं[6] विचारयितुम् । अक्षमाः असमर्थाः । मुग्धधिषणा मुग्धा मूढा धिषणा बुद्धिर्यस्य सः । स्ववर्ग्यजनाह्वाननादनिहितश्रवणः स्ववर्ग्याणां स्वपक्षीयजनानां आह्वानस्य वचनस्य नादे ध्वनौ निहिते न्यस्ते श्रवणे येन सः । जनौघः जनानां लोकानामोघः समूहः । परितः समन्तात् । बभ्राम भ्रमति स्म । भ्रमु चलने लिट् । जातिः ॥४८॥ प्रत्यग्रेति । प्रत्यग्रपाकचिततं प्रत्यग्रेण नूतनेन पाकेन[7] चितं विस्तृतम् । सुरभीकृताशं सुरभीकृता परिमलीकृता आशा दिशो येन तम् । चित्तहरं[8] मनःप्रीतम् । इड्डुरिका[9]दिगन्धम् इड्डुरिका[10]दीनां भक्ष्यभेदानां गन्धं परिमलम् । आघ्राय उपादाय । पर्याकुलं व्याकुलम् । समुपव्रजद्भिः समुपगच्छद्भिः । क्षुत्क्षामकुक्षिभिः क्षुधा क्षामं कृशं कुक्षिरुदरं येषां तैः । कटकिभिः सैनाजनैः । कन्द्वाः[11] पाक्याः[12] । धाम स्थानम् । [पर्याकुलम्[13]] अजायत अभवत् । लङ् । जातिः ॥४९॥ शैलेति । शिथिलकम्पितदेवदारुः शिथिलं मन्दं कम्पितो[14] दवचलितो देवदारुर्देवदारुवृक्षो यस्य[15] सः । अच्छाच्छनिर्झरपयःकणसङ्गशीतः अच्छाच्छस्यात्यन्तनिर्मलस्य निर्झरस्य प्रवाहस्य पयसो जलस्य कणानां लेशानां सङ्गेन संसर्गेण शीतः शीतलः । मार्गश्रमव्ययपटुः मार्गजातस्य श्रमस्यायासस्य व्यये विनाशे पटुः समर्थः । शैलानिलः शैलस्यानिलो वायुः । पटमण्डपस्थैः[16] दूष्यस्थितैः । निद्रालसैः[17] निद्रायामलसैर्लम्पटैः । वसुमतीपतिभिः भूमिपालैः । सिषेवे भज्यते स्म । षेवृङ् सेवने कर्मणि लिट् । जातिः ॥५०॥ प्रस्वेदेति । प्रस्वेदफेनलवविच्छुरिताङ्गरेखैः प्रस्वेदस्य[18] घर्मस्य फेनस्य डिण्डीरस्य लवैः कणैर्विच्छुरिता अङ्गस्य[19] अवयवस्य रेखा शोभा येषां तैः । उत्तीर्णपल्ययनभूरिभरैः उत्तीर्णोऽवरोहितः पल्ययनस्य पर्याणस्य भूरिर्बहुलो भरो[20] येषां तैः । भूवेल्लनाय भुवि भूमौ वेल्लनाय विलोठनाय । परितः समन्तात् । परिवर्तमानैः परिभ्रमद्भिः । तुरङ्गैः अश्वैः । शिबिराम्बुराशि

मे असमर्थ थे । अतएव वे भोले-भाले लोग अपने वर्गके लोगोंकी पुकारकी आवाज सुननेकी प्रतीक्षामें इधर-उधर चक्कर काटने लगे ॥४८॥ भोजनालयमें ताजा पक्का भोजन बन रहा था । पूरियों एवं और-और पकवानोंकी मनोहर खुशबूको—जिसने सारी दिशाओंको सुगन्धित कर दिया था—सूँघकर अत्यन्त भूखे सैनिक बड़ी तेजीसे आगे बढ़े, और उनके पहुँचते ही हलवाइयोंका सारा-का-सारा स्थान घिर गया ॥४९॥ निद्रासे अलसाये हुए राजाओंने अपने-अपने तम्बुओंमें मणिकूट पर्वतकी उस वायुका सेवन किया, जो धीरे-धीरे देवदार वृक्षोंको हिला रही थी अर्थात् उनके स्पर्शसे सुगन्धित थी, अत्यन्त स्वच्छ झरनोंकी जल विन्दुओंसे ठण्डी थी और इसीलिए रास्तेकी थकानको दूर करनेमें समर्थ भी ॥५०॥ घोड़ोंके शरीरमें पसीने पर लगी हुई फेनकी छोटी-छोटी विन्दुओंसे अपूर्व शोभा उत्पन्न हो गई थी । उनके ऊपरसे जीन

---

१ अ मिण्डरिका°, आ °मिड्वरिका°, इ °सिड्वरिका° । २. म °रजायत । ३ अ आ इ क ख ग घ कण्ड्वा । ४ म °मण्डलस्थै° । ५ श पर्याहितु । ६ श प्रत्यग्रवात° । ७ श वातेन । ८ =मनोहरम् । ९. आ इन्दुरिका° । १० आ इन्दुरिका° । ११ आ कुन्द्वा, श कण्ड्वा । १२ आ भर्जा° । १३ =क्षुब्ध व्याप्त वा । १४ =विघुत । १५ =येन । १६. आ °मण्डल° । १७ =निद्रया अलसैः सालसैः । १८. =घर्मजलस्य । १९. =शरीरस्य रेखाः पङ्क्तयः । २० =भारो ।

अन्योन्यदर्शनसमुच्चरितेन[1] भूयः संमूर्च्छताद्रिविवरे हयहेषितेन ।
सेनाचरैर्बधिरितश्रुतिभिर्मुहूर्तं मूकैरिव प्रकृतवस्तुकथासु तस्थे ॥५२॥
मध्येजलं प्रकटचञ्चलपृष्ठभागे पानाय सप्तिनिकरे परितोऽवतीर्णे ।
संचारिताद्रिसदृशैः सलिलाशयानां प्राचुर्यवद्भिरिव वीचिचयैर्बभूवे ॥५३॥
पीताम्भसः श्रमलवानिव वारिबिन्दुव्याजेन वाजिनिवहाः स्नपिताः क्षरन्तः ।
संयेमिरे युगपदेव समापतन्तः क्षिप्तोलपास्वथ[3] कथंचन मन्दुरासु ॥५४॥

शिविरमेवाम्बुराशिः समुद्र । रूपकम् । आवर्तवानिव[4] रोमावर्तयुक्त इव । बभौ भाति स्म । लिट् । उत्प्रेक्षा ॥५१॥ अन्योन्येति । भूय भृशम्[5] । अन्योन्यदर्शनसमुच्चरितेन[6] अन्योन्यदर्शनेन परस्परदर्शनेन समुच्चरितेन समुद्भूतेन । अद्रिविवरे अद्रे. पर्वतस्य विवरे गुहायाम् । समूर्च्छता प्रतिध्वनिं कुर्वता । हयहेषितेन हयानां तुरगाणां[7] हेषितेन रवेण । बधिरितश्रुतिभिः बधिरिते श्रुती कर्णौ येषां तैः । सेनाचरैः ध्वजिनीचरैः[8] । प्रकृतवस्तुकथासु प्रकृतस्य प्रस्तुतस्य वस्तुन कार्यस्य कथासु कथनेषु । मुहूर्तं[9] मुहूर्तपर्यन्तम् मूकैरिव अभाषणैरिव । तस्थे आस्यते स्म । ष्ठा गतिनिवृत्तौ भावे लिट् । उपमा (उत्प्रेक्षा) ॥५२॥ मध्ये जलमिति । [मध्ये जल] जलस्य मध्य मध्येजल तस्मिन्, जलमध्ये, इत्यर्थः । 'पारे मध्येऽन्तष्षष्ठ्या' इति साधु. । प्रकटचञ्चलपृष्ठभागे प्रकटो व्यक्त चञ्चल. पृष्ठभागो यस्य तस्मिन् । सप्तिनिकरे सप्ति (प्ती) नामश्वाना निकरे निवहे । पानाय पाननिमित्तम् । परित समन्तात् । अवतीर्णे[10] सति याते[11] सति । संचारिमाद्रिसदृशैः संचारिम्णा[12] चलनयुक्तानाम् । अद्रीणा पर्वताना सदृशैः समानैः प्राचुर्यवद्भिः बाहुल्यसहितैः । सलिलाशयाना जलाशयानाम् । वीचिचयैरिव वीचीना तरङ्गाणा चयैरिव निकरैरिव । बभूवे भूयते स्म । भावे लिट् । उपमा[13] ॥५३॥ पीतेति । अथ वाजिना जलपानगमनानन्तरम्[14] । पीताम्भस पीत सेवितमम्भो यैस्ते । स्नपिता. मज्जिता.[15] । युगपदेव सकृदेव । समापतन्त[16] लङ्घयन्त वारिबिन्दुव्याजेन[17] वारिणो जलस्य बिन्दुरिति कण इति व्याजेन । श्रमलवान् श्रमलेशान् क्षरन्त इव विमुञ्चन्त इव । वाजिनिवहा वाजिनामश्वाना निवहा·

तथा और जो भी बोझ था, उतार लिया गया और पृथवी पर लोट लगवानेके लिए उन्हे गोल दायरोमे घुमाया जा रहा था । उनसे पडाव रूपी समुद्र ऐसा जान पडता था मानो वह बड़ी-बडी भँवरोसे युक्त हो ॥५१॥ एक दूसरेको देखकर घोडे हिनहिनाने लगे । पहाडकी गुफाओमे प्रतिध्वनित होनेसे उनकी हिनहिनाहटकी आवाज और भी अधिक बढ गई । फलत सेनामे सञ्चार करनेवाले लोगोके कान बहरे हो गये, अत: वे अपनी प्रारम्भकी गई चर्चाओमे कुछ समय तक, मूक-से होकर चुप-चाप वैठकर रह गये—उन्होने आपसकी चर्चा बन्द कर दी ॥५२॥ पानी पीनेके लिए घोड़ोका झुण्ड, जब चारो ओरसे जलाशयोमे उतरकर उनके बीच तक पहुँच गया, तब उनकी चञ्चल पीठ स्पष्ट ही दृष्टिगोचर हो रही थी । उनकी पीठकी चञ्चलताके कारण उन जलशयोमे बडी-बडी लहरें प्रचुर मात्रामे उत्पन्न हो गईं, जो जङ्गम पहाडियो सरीखी प्रतीत हो रही थी ॥५३॥ जल पीनेके बाद नहलाये गये घोडे जब जलाशयोंसे निकलकर बाहर आ गये, तब उनके शरीरसे जल-बिन्दु टपक रहे थे, जो पसीनेके बिन्दुओ सरीखे जान पडते थे । फिर वे एक ही साथ घुडसालोमे घुसने लगे ।

१ क ख ग घ म °मुच्छलितेन । २. आ इ सचारिता° । ३. आ इ °लवास्त्रथ, क ख ग घ म °पलास्वथ । ४. ='स्यादावर्तोऽम्भसा भ्रम' इत्यमरवचनादत्राम्भसा भ्रम इव—इति स्यात् । ५. आ 'भूय. भृशम्' इति नास्ति । ६ मूलप्रतिषु तु '°समुच्छलितेन' इत्येव वर्तते । ७. श तुरङ्गाणा । ८ आ ध्वजनीभि । ९ = स्वल्पकाल यावत् । १० = प्रविष्टे । ११ आ सयाते १२ = जङ्गमानाम् । १३ = उत्प्रेक्षा च । १४ आ जलपानानन्तरम् । १५. श मार्जिता । १६. = समुत्तरन्तः । १७. = वारिणो जलस्य विन्दुना कणाना व्याजेन च्छलेन ।

तोयावगाहचलितैरलिनीलदेहैरुत्सारितध्वजकुथाभरणास्त्रभारैः[1] ।
कल्पान्तमारुतपरिक्षुभितैरिवाद्रिराजैः[2] रराज वसुधा वरवारणेन्द्रैः ॥५५॥
यानि द्विपेन्द्रनिवहो निजपुष्कराणि संजाततुष्टिरुदमीमिलदम्बुमग्नः ।
तान्येव सैनिकविलुण्ठितवारिजेषु रक्ताम्बुजश्रियमधुः सलिलाशयेषु ॥५६॥
कुर्वन्ति यामनुकृताचलतुङ्गशृङ्गाः संध्यारुणाभ्रनिवहा नभसस्तटेषु ।
सा श्रीर्ह्रदेषु सरितां विदधे विशद्भिः सिन्दूररागरुचिरावयवैर्गजेन्द्रैः ॥५७॥

समूहा । क्षिप्तोलपासु[3] क्षिप्ता स्थापिता उलपाः तृणादयो यासु तासु । मन्दुरासु वाजिशालासु । कथंचन कथमपि । बबन्धिरे बध्यन्ते स्म । बन्ध उपरमे कर्मणि लट् । उपमा[4] ॥५४॥ तोयेति । तोयावगाहचलितैः तोयस्य जलस्यावगाहाय प्रवेशाय चलितैर्यातैः । अलिनीलदेहैः अलय इव नीलाः कृष्णा देहाः शरीराणि येषां तैः । उत्सारितध्वजकुथाभरणास्त्रभारैः उत्सारिता अवरोहिताः[5] ध्वजाः पताकाः कुथाः करिकम्बला आभरणान्यलङ्कारा अस्त्राणि दन्तपट्टास्तेषां भारो येषां तैः । वरवारणेन्द्रैः वरैरुत्तमैर्वारणेन्द्रैर्गजेन्द्रैः । कल्पान्तमारुतपरिक्षुभितैः कल्पान्तस्य युगावसानस्य मारुतेन संवर्तकवायुना परिक्षुभितैश्चलितैः । अद्रिराजैरिव अद्रीणां पर्वतानां राजभिरिव । वसुधा भूमिः । रराज बभौ । लिट् । उत्प्रेक्षा ॥५५॥ यानीति । अम्बुमग्नः अम्बुनि जले मग्नो लीनः । संजाततुष्टिः संजाता संभूता तुष्टिर्यस्य[6] सः । द्विपेन्द्रनिवहः द्विपेन्द्राणां निवहो निकरः । यानि निजपुष्कराणि स्वहस्ताग्राणि । उदमीमिलत् उदघोपरत्[7] । मिल निमेषणे णिजन्ताल्लुङ् । तान्येव निजपुष्कराण्येव । सैनिकविलुण्ठितवारिजेषु सैनिकैः सेनाचरैर्विलुण्ठितानि लुञ्चितानि[8] वारिजानि कमलानि येषु[9] तेषु । सलिलाशयेषु जलाधारेषु । रक्ताम्बुजश्रियं रक्तानामरुणानामम्बुजानां कमलानां श्रियं शोभाम् । अधुः धरन्ति स्म । डुधाञ् धारणे च[10] लुङ् ।।५६।। कुर्वन्तीति । अनुकृताचलतुङ्गशृङ्गाः अनुकृतानि दृष्टान्तीकृतानि अचलानां पर्वतानाम् इव तुङ्गान्युन्नतानि शिखराणि येषां[11] ते । सन्ध्यारुणाभ्रनभसः सन्धायां सन्ध्याकालेऽरुणं लोहितमभ्रं मेघा यस्य तस्य (सन्ध्यारुणाभ्रनिवहाः सन्ध्यायाः सन्ध्याकालस्यारुणानां ताम्रवर्णानामरुणवर्णानां वाऽभ्राणां मेघानां निवहाः समूहाः)। नभसः आकाशस्य । तटेषु प्रदेशेषु । या शोभाम् । कुर्वन्ति विदधति । लट् । सरितां नदीनाम् । ह्रदेषु अगाधजलेषु । विशद्भिः गच्छद्भिः । सिन्दूररागरुचिरावयवैः

वहाँ उनके बाँधनेके लिए पहलेसे ही बड़े-बडे पत्थर डाल दिये गये थे, उनसे वे बड़ी कठिनाईसे बाँध दिये गये ॥५४॥ ध्वजाएँ, झूल, आभूषण और अस्त्र—इन सबका बोझ उतारकर जब भौंरोंके समान काले शरीरवाले श्रेष्ठ हाथी जलमें प्रवेश करनेके लिए चले तब उनसे व्याप्त हुई पृथ्वी ऐसी जान पड़ती थी मानो वह प्रलयकालकी वायुकी प्रेरणासे लुढकने-वाले पहाड़ोंसे घिर गई हो ॥५५॥ जलाशयोंके जलमें प्रवेश करके हाथियोंके झुण्डने डुबकी साध ली। इससे उन्हें बड़ा सन्तोष हुआ। इस अवसरपर उन्होंने अपनी-अपनी सूँडके जिन अगले भागोंको जलके ऊपर (श्वास लेनेके लिए) कर रखा था, उन्होंने सैनिकोंके द्वारा जला-शयोंके तोड़े गये कमलोंके स्थानमें नवीन लाल कमलोंकी शोभा उत्पन्न कर दी ॥५६॥ पहाड़ोंके उन्नत शिखरोंका अनुकरण करनेवाले सन्ध्याकालीन लाल बादल आकाशके ओर-छोरके भागोंमें जो शोभा फैलाते हैं, उसी शोभाको सिंदूरसे रंगे हुए सुन्दर अवयवोंको धारण करनेवाले गज-

१. क ख ग घ म °गाहचकितै । २. क ख ग घ म °द्रिकूटै° । ३ आ क्षिप्तोपलासु । 'उलपस्तु गुल्मिनीतृणभेदयो' अनेका० ३।४६९ । ४. =कैतवापह्नुतिश्च । ५. आ 'उत्सारिता अवरोहिता' इति नास्ति । ६ श तुष्टि पुष्टिर्यस्य । ७. आ 'उदघोपरत' इति नास्ति । ८ =अपह्नुतानि । ९ =येषां । १०. आ धारणपोषणयो । ११ =यै ।

जज्ञे पयः प्रविशतः सुतरं यदेव भूभृत्सरित्सु पृतनाकरिणां कुलस्य ।
गण्डस्थलप्रविगलन्मदपूरपूर्णमासीत्तदेव सुदुरुत्तरमुत्तितीर्षोः ॥५८॥
कृत्वा क्षणं जनकुतूहलकारि युद्धं दर्पोद्धुरै[1]र्जलगजैर्जितकाशिनस्ते ।
जग्मुः सलीलमदमन्दपदं करेणुपाश्चात्यभागनिहितात्मकराः करीन्द्राः ॥५९॥
वन्येभगण्डकषणाहितदानगन्धे नीतस्तरौ नियमनाय करी नियन्त्रा ।
रोषाद् बभञ्ज निजतापनुदोऽस्य शाखा न श्रेयसे खलु भवत्यपदेऽपि कोपः ॥६०॥

सिन्दूररागेण वर्णेन रुचिरो मनोहरोऽवयवो येषा तै. । गजेन्द्रै. द्विपेन्द्रैः । सा श्री सा शोभा । विदधे क्रियते स्म । कर्मणि लट् ॥५७ । जज्ञे इति । यदेव । भूभृत्सरित्सु भूभृतो गिरे सरित्सु नदीषु । पय सलिलम् । प्रविशत गच्छतः । पृतनाकरिणा पृतनाया सेनाया करिणा गजानाम् । कुलस्य निकरस्य । सुतर सुखेन तरणयोग्यम् । जज्ञे जायते स्म । जनैङ्[2] प्रादुर्भावे लिट् । तदेव[3] । गण्डस्थलप्रविगलन्मदपूरपूर्णं गण्डस्थलात् कपोलप्रदेशात् प्रविगलत प्रस्रवतो मदस्य मदजलस्य पूरेण प्रवाहेण पूर्णं परिपूर्णम् । उत्तितीर्षो. उत्तर्तुमिच्छोः । सुदुरुत्तर कष्टेनोत्तरणयोग्यम् । आसीत् । अस भुवि लङ् ॥५८॥ कृत्वेति । दर्पोद्धुरैः दर्पेण गर्वेणोद्धुरै प्रवृद्धैः । जलगजै जले समुद्भूत (तै) गजै । जनकुतूहलकारि जनाना सेनाजनाना कुतूहलकारि आश्चर्यकारि । युद्ध योधनम् । क्षणं स्वल्पकालपर्यन्तम् । कृत्वा विधाय । जितकाशिन जितमानिनो जितसग्रामिणो वा । करेणुपाश्चात्यभागनिहितात्मकरा करेणूना करिणीना पाश्चात्ये पश्चाद्भवे भागे निहिता स्थापिता आत्मना स्वेषा करा येषा[4] ते । करीन्द्रा. गजेन्द्राः । सलीलमदमन्दपद सलील विलासयुक्त मदेन मदजलेन मन्दमलस पद यस्मिन् कर्मणि तत्० । जग्मु ययु । लिट् । जाति ॥५९॥ वन्येभेति । वन्येभगण्डकषणाहितदानगन्धे वन्याना वनेभवानामिभाना गजाना गण्डाना कपोलाना कषणेन कर्षणेनाहित. सबद्धो दानस्य मदजलस्य गन्धो यस्मिन् तस्मिन् । तरौ वृक्षे । नियन्त्रा हस्तिपकेन । नियमनाय बन्धाय । नीत प्रापित । करी गजः । निजतापनुद. निजस्यात्मनस्तापस्य नुदो विनाशकस्य । अस्य तरोः । शाखा शिखा[5] । रोषात् कोपात् । बभञ्ज भञ्जन करोतिस्म । भजो[6] अवमर्दने लिट् । अपदेऽपि अस्थानेऽपि । कोप क्रोध । श्रेयसे सुखाय ।

राजोने उन सरोवरोंके किनारोपर उत्पन्न कर दिया, जिनके अगाध जलमे वे प्रवेश कर रहे थे ॥५७॥ पहाडी नदियोमे प्रवेश करनेवाले सेनाके हाथियोंके झुण्डको उन (नदियो) का जो जल आसानीसे तैरने योग्य था, वही उन (हाथियो) के गण्डस्थलोसे बहे हुए मदजलके प्रवाहसे पूर्ण होकर (बाढ जैसी अवस्थाको पाकर), लौटनेकी इच्छा करनेवाले हाथियोके उसी झुण्डको आसानीसे तैरने योग्य नही रहा ॥५८॥ दर्पमे चूर रहनेवाले उद्धत जलहस्तियो-के साथ, थोडी देर, सैनिकोको कौतूहलजनक युद्ध करके विजयका गर्व करनेवाले वे गजराज हथिनियोंके पिछले भागोपर अपनी-अपनी सूड रखकर विलासपूर्ण मन्दगतिसे अपने स्थानकी ओर चल पडे ॥५९॥ जङ्गली हाथीने अपना गण्डस्थल जिस पेडसे घिसा था और अपने मद-जलकी गन्धसे सुगन्धित कर दिया था, उसीसे बांधनेके लिए महावत एक हाथीको लिवाकर ज्योही पहुँचा, त्योही उसने क्रुद्ध होकर अपने सन्तापको मिटानेवाले उसी पेडकी सारी शाखाओ-को तोड डाला । बादमे उसे स्वय गर्मी सहनी पडी । सच है अयोग्य स्थानमे भी किया गया

---

१ क ख ग घ म दर्पोद्धतै° । २ आ जनी । ३ =पय' । ४. =यै । ५. श शिफा । ६. आ भंज ।

आनीलनीरदनिभैः प्रविशाललवंशैर्नागैः प्रवृत्तमदनिर्झरवारिपूरैः ।
रेजे समुन्नतमहीरुहमूलबद्धैस्तैर्जङ्गमैरिव निजावयवैर्गिरीन्द्रः ॥६१॥
यत्सल्लकीकिसलयं रुचये रुचिज्ञा ग्रासान्तरेषु ददिरे खलु हस्तिपालाः ।
तत्प्रत्युताहितवनस्मृति वारणेन्द्रं सावज्ञमेव कवलग्रहणे चकार ॥६२॥
उत्तीर्णभारलघवः परितो महोक्षाः पीताम्भसः श्रमभिदां नगनिम्नगानाम् ।
कूलानि बभ्रमुरुदाररवाः खनन्त शान्त्यै भवत्युपकृतं क्व खलप्रियेषु ॥६३॥

न भवति खलु । अर्थान्तरन्यासः ॥६०॥ आनीलेति । आनीलनीरदनिभैः आनीलानामासमन्तान्नीलानां कृष्णानां नीरदानां मेघानां निभैः समानैः । प्रविशालवंशैः प्रविशाला विस्तीर्णा वंशाः पृष्ठास्थीनि[4], (पक्षे) वेणवश्च येषां तैः । प्रवृत्तमदनिर्झरवारिपूरैः प्रवृत्तः स्थितो मदस्य (मदजलस्य, पक्षे) निर्झरस्य प्रवाहस्य वारिणो जलस्य पूरः प्रवाहो येषां तैः । समुन्नतमहीरुहमूलबद्धैः समुन्नतानामत्युत्सेधानां महीरुहाणां वृक्षाणां मूलेषु[5] पक्षे बुध्नेषु बद्धैर्नियोजितैः । तैः नागैः गजैः । जङ्गमैः गमनयुक्तैः । निजावयवैः (इव) स्वशरीरैरिव । गिरीन्द्रः मणिकूटः । रेजे बभौ । राजृ दीप्तौ लिट् । श्लेषोपमा ॥६१॥ यदिति । रुचिज्ञाः[6] हस्तिपालाः गजरक्षकाः । यत् सल्लकीकिसलयं यत् सल्लक्या गजभक्ष्यायाः किसलयं पल्लवम् । रुचये[7] स्वादुनिमित्तम् । ग्रासान्तरेषु ग्रासस्य कवलस्यान्तरेषु मध्येषु । ददिरे यच्छन्ति स्म । डुदाञ् दाने लिट् । खलु[8] । तत्[9] प्रत्युपाहित-वनस्मृति प्रत्युपाहिता आनीता वनस्यारण्यस्य स्मृतिर्यस्य[10] तत्, सत् । वारणेन्द्रं गजेन्द्रम्[11] । कवलग्रहणे कवलस्य ग्रासस्य ग्रहणे स्वीकारे । सावज्ञमेव उदासीनमेव । चकार करोति स्म । लिट् ॥६२॥ उत्तीर्णेति । उत्तीर्णभारलघवः उत्तीर्णेनावतीर्णेन भारेण लघवो लघु (लाघव–) युक्ताः । पीताम्भसः पीतमम्भो जलं येषां[12] ते । उदाररवाः उदारो महान् रवो रावो येषां ते । श्रमभिदां श्रमविनाशकारिणीनाम् । नगनिम्नगानां नगस्य निम्नगानामापगानाम् । कूलानि तीराणि । खनन्तः खननं कुर्वन्तः । महोक्षाः[13] महावृषभाः । परितः समन्तात् । बभ्रमुः भ्रमन्ति स्म । लिट् । खलप्रियेषु खले पिण्याके पक्षे दुर्जनेषु प्रियेषु प्रीतेषु । उपकृतं[14]

क्रोध कल्याणकारी नहीं होता ॥६०॥ धीरे-धीरे सभी हाथी पेड़ोंके स्कन्धोंसे बाँध दिये गये । वे मणिकूट पर्वतके जङ्गम अङ्गोंकी भाँति सुशोभित हो रहे थे । पर्वतके अङ्ग मेघोंके समान होते हैं, बडे-बडे बाँसोंसे युक्त होते हैं, बहते हुए झरनोंसे युक्त होते हैं और उन्नत वृक्षोंकी जडोंसे घिरे हुए होते हैं । इसी प्रकार वे सभी हाथी काले बादलोंकी भाँति काले रंगके थे, उनकी रीढ उभरी हुई थी, उनके गण्डस्थलोंसे मदजलके झरने बह रहे थे और उन्नत वृक्षोंके नीचे उनके स्कन्धोंसे बँधे हुए थे ॥६१॥ हाथियोंकी रुचिको जाननेवाले महावतोंने, उन (हाथियों) की रुचि बढानेके लिए भोजनके ग्रासोंके बीच-बीचमें जो सल्लकी वृक्षकी नई-नई कोपलें दीं, उन्होंने हाथियोंको जङ्गलोंकी स्मृति दिला दी और रुचि बढानेके स्थानमें उल्टी अरुचि बढा दी तथा उन्हें कवल गृहण करनेमें उदासीन कर दिया ॥६२॥ सेनाका बहुत-सा सामान बडे-बडे बैलोंकी पीठपर लदा हुआ था । मणिकूटके पडावपर ज्योंही उनकी पीठसे बोझिल सामान उतारा गया त्योंही उन्हें हल्केपनका अनुभव होने लगा । वे बहुत थके हुए थे और थे खूब प्यासे । अतः थोडी देर बाद उन्होंने थकान मिटानेवाली पहाडी नदियोंका पानी पिया । फिर वे डकारते हुए और उन नदियोंके किनारोंको सींगों और अगले पैरोंसे खोदते हुए चारों

---

१ क ख ग घ म सुविशाल° । २ आ इ ददिरे । ३. आ इ वारणेन्द्र । ४ आ पृष्ठास्थीनि । ५. = अधोभागेषु । ६ = रुचि गजरुचिं जानन्तीति रुचिज्ञा । ७ = रुचिवर्धनाय । ८ = निश्चयेन । ९ = किसलयम् । १०. = येन । ११ श 'गजेन्द्रम्' इति पद नास्ति । १२ = यै । १३. आ महाक्षाः । १४. = उपकार. ।

छायासु यत्क्षितिरुहां तृणतोयतृप्तै रोमन्थतत्परमुखैर्वृषभैर्बभूवे ।
तन्नूनमध्वजपरिश्रम एव तेन व्याजेन तैरलसनेत्रयुगैश्चचर्वे ॥६४॥
विच्छिन्नकर्णसुखकृन्निजकाकलीकमश्रावि किंनरगणैः कटु कन्दरस्थैः ।
भारावतारसमये रसितं मयानां रम्यं कुतूहलकरं न यथा ह्यपूर्वम् ॥६५॥
क्षुद्रेतरक्षितिरुहां करभैः प्रवालजाले भृशायतशिरोधिभिरश्यमाने ।
क्षीरापदेशमगलत्प्रमदाश्रु नूनं युक्तः परार्थघटने महतां प्रमोदः ॥६६॥

कृतहितम् । शान्त्यै उपशमाय । क्व भवति कुत्र भवति ? अर्थान्तरन्यासः ॥६३॥ छायास्विति । क्षितिरुहां वृक्षाणाम् । छायासु अनातपेषु । तृणतोयतृप्तैः तृणतोयाभ्यां तृणोदकाभ्यां तृप्तैः[3] प्रीतैः । रोमन्थतत्परमुखैः रोमन्थे चर्वितचर्वणे तत्पर[4] प्रोत मुख येषां तै. । वृषभैः अनड्वाद्भिः । बभूवे भूयते स्म । इति भावे लिट् । इति[5] यत् तत् । अलसनेत्रयुगैः अलसमालस्ययुक्तं नेत्रयुगं येषां तैः । तैः वृषभैः । तेन रोमन्थेन । व्याजेन छद्मना । अध्वपरिश्रम इव मार्गश्रम इव । चचर्वे भक्ष्यते स्म । चर्व अदने कर्मणि लिट् । नूनं[6] निश्चयम् । अपह्नुतिः ॥६४॥ विच्छिन्नेति । भारावतारसमये भारस्यावतारस्यावरोहणस्य समये काले । मयानाम्[7] उष्ट्राणाम् । कटु निष्ठुरम् । रसितं ध्वनिः । कन्दरस्थैः गह्वरस्थितैः । किंनरगणैः किंनराणां देवभेदानां गणैर्निकरैः । विच्छिन्नकर्णसुखकृन्निजकाकलीकं विच्छिन्नयोः स्थापितयोः (विच्छिन्ना अवरुद्धा) कर्णयोः श्रोत्रयोः सुखकृतानन्दकरी निजाना स्वेषां काकली यस्मिन् कर्मणि तत्० । अश्रावि श्रूयते स्म । श्रु श्रवणे कर्मणि लुङ् । अपूर्वं नवीनम् । यथा हि कुतूहलकरम् आश्चर्यकरम् । तथा हि रम्यं मनोहरं वस्तु न—कुतूहलकरं न भवति, अपूर्वं वस्तु यथा कुतूहलकरं तथा रम्यं वस्तु कुतूहलकरं न भवतीत्यर्थः । अत्र तु यो (किं-) नराणां निजकाकलीध्वनी रम्योऽपि अपूर्णन पूर्वस्मिन् मतत्वात् (?) (सोऽपूर्वो न, पूर्वस्मिन्नपि समये श्रुतत्वात्) । मयानां ध्वनिरपूर्वं प्रागश्रुतत्वात् । अत एव मधुर[8]मपि स्वकीयं तं हित्वा स एव श्रुत इत्यभिप्रायः । अर्थान्तरन्यासः ॥६५॥ क्षुद्रेति । क्षुद्रेतरक्षितिरुहां क्षुद्राणाम् (क्षुद्रेभ्य) इतरे महान्तस्तेषां क्षितिरुहां वृक्षाणाम् । प्रवालजाले प्रवालानां पल्लवानां जाले समूहे । भृशायतशिरोधिभिः भृशमत्यन्तमायतः (ता) शिरोधिः कन्धरो (रा) येषां तैः । करभैः उष्ट्रैः । अश्यमाने भक्ष्यमाणे सति । क्षीरापदेशं[9] क्षीरमित्यपदेशं व्यपदेशयुक्तम् । प्रमदाश्रु आनन्दवाष्पं । अगलत् अस्रवत् । गल विमोचने लङ् । नूनं महतां महापुरुषाणाम् । परार्थघटने परेषामन्येषामर्थस्य प्रयोजनस्य घटने संपादने । प्रमोदः संतोषः । युक्तः योग्यः । अर्थान्तरन्यास

ओर विचरने लगे । क्या खल (खली) जनोसे प्रेम करनेवालोके साथ किया गया उपकार कही उन्हे शान्त करनेवाला हो सकता है ? ॥६३॥ घास-पानीसे तृप्त होकर वे बैल वृक्षोकी छायामे बैठकर एवं आलस भरे नेत्रोको बन्द करके रौंथ-पागुर करने लगे । यह देखकर ऐसा जान पडता था मानो वे रोथके बहाने मार्गके परिश्रमका चर्वण कर रहे हो ॥६४॥ बोझ उतारते समय ऊँटोंने जो कर्ण कटु शब्द किया, उसे गुफाओमे बैठे हुए गन्धर्वोके गणने अपने सङ्गीतको, कानोको सुख देनेवाली मधुर ध्वनिको बन्द करके सुना । सच तो यह है कि सुन्दर वस्तु वैसा कौतूहल उत्पन्न नही करती जैसा अपूर्व वस्तु करती है । ऊँटोका सङ्गीत गन्धर्वोको बिलकुल नया था, अतः उसे उन्होने अपना सङ्गीत बन्द करके सुना ॥६५॥ ऊँटोने अपनी गर्दनको खूब लम्बा करके जब बड़े-बड़े पेडोंकी नई-नई पत्तियोको खाना शुरू किया, तब उनसे दूध झरने लगा, दूध क्या झरने लगा, उसके बहानेसे निश्चय ही उनके हर्षाश्रु बहने लगे । परो-

---

१. आ इ देशमगमत् । २ अ ०... ० । ३. = सन्तुष्टै । ४. = तत्पर । ५. आ 'इति' नास्ति । ६ = निश्चयेन । ७. श मयूनाम् । ८ श मधुरमपि । ९ = क्षीरापदेशं यथा स्यात्तथा ।

चन्द्राकारस्थलममलिनोत्तुङ्गडिण्डीरपिण्ड-
श्चञ्चद्वाजिव्रजमविरतोद्भ्रान्तकल्लोलमालः।
सर्पन्मत्तद्विपमभिसरन्नक्रचक्रो जयेत्तं
स्कन्धावारं यदि कथमपि स्यादपारः पयोधिः॥६७॥
इति तत्र गिरौ निविष्टसैन्यं चरचक्रादवगम्य पद्मनाभम्।
स्वबलेन समं समेत्य कोपात्पृथिवीपालनृपोऽन्तिके बभूव॥६८॥
तयोर्द्वयोरपि नृपयोः प्रतापिनोर्विलोकितुं बलमिव जातकौतुका।
समाययौ सपदि शशाङ्कभूषणा विभावरी विकसिततारकेक्षणा॥६९॥

॥६६॥ चन्द्रेति। अमलिनोत्तुङ्गडिण्डीरपिण्डः अमलिनः (न.) निर्मलः (ल.) उत्तुङ्गानामुन्नतानां डिण्डीराणां फेनानां पिण्डः (ण्ड.) यस्य सः। अविरतोद्भ्रान्तकल्लोलमालः अविरतमनवरतमुद्भ्रान्ता ऊर्ध्वं गता कल्लोलानां तरङ्गाणां माला यस्य सः। अभिसरन्नक्रचक्रः अभिसरत् लुठत्[1] नक्राणां[2] जलचरविशेषाणां चक्रं यस्य सः। पयोधिः समुद्रः। चन्द्राकारस्थूलं चन्द्रवदाकारं शुभ्राकारं स्थूलं पटमण्डपो यस्य तम्। 'दूष्यं स्थूलं पटकुटी' इति वैजयन्ती। चञ्चद्वाजिव्रजं चञ्चन् भ्राजमानो वाजिनामश्वानां व्रजः समूहो यस्य तम्। सर्पन्मत्तद्विपं सर्पन्तस्सञ्चरन्तो मत्तद्विपा मदगजा[3] यस्मिन् तम्। तं स्कन्धावारं[4] पटूणं। यदि कथमपि[5] केन प्रकारेणापि। जयेत् विजयेत्। जि ज्यो[6] अभिभवे। लिङ्[7]। तर्हि अपारः स्यात्। यथासङ्ख्यम् ॥६७॥ इतीति। इति एवम्। निविष्टसैन्यं निविष्टसेनम्[8]। पद्मनाभं पद्मनाभभूपम्। चरचक्रात् चराणां[9] भृत्यानां चक्राद् मुखात्। अवगम्य ज्ञात्वा। पृथिवीपालनृपः[10] पृथिवीपालभूपः। स्वबलेन स्वसेनया। समं साकम्। कोपात् क्रोधात्। समेत्य आगत्य। अन्तिके पद्मनाभस्य सेना[11] समीपे। बभूव भवति स्म ॥६८॥ तयोरिति। प्रतापिनोः प्रतापयुक्तयोः। तयोः द्वयोः अपि पद्मनाभपृथिवीपालभूपयोः। बलं चतुरङ्गसैन्यम्। विलोकितुं वीक्षणाय इव। जातकौतुका जाताश्चर्या। शशाङ्कभूषणा शशाङ्कश्चन्द्र एव भूषणमाभरणं यस्याः सा। विकसिततारकेक्षणा विकसिता उदिता तारका नक्षत्राणि ता एव ईक्षणे नयने यस्याः सा। विभावरी रात्रिः।

पकार करते समय बडोंको प्रमोद मनाना ही उचित है ॥६६॥ इस पडाव और समुद्रमें अद्भुत साम्य है। पडावमें चन्द्रमाके आकारके गोल और शुभ्र तम्बू तने हुए हैं, समुद्रमें निर्मल तथा उन्नत फेनराशि होती है। पडावमें चञ्चल घोडे हैं, समुद्रमें लगातार उठने और घूमनेवाली बडी-बडी लहरें होती हैं। पडावमें मदमाते हाथी हैं, समुद्रमें इधर-उधर घूमनेवाले बडे-बडे मगर-घडियालोंके झुण्ड होते हैं। इतनी समानता होनेपर भी यदि समुद्र किसी प्रकारसे पडाव-को जीत ले तो उसे अपार माना जा सकता है ॥६७॥ इस तरह उस मणिकूट पर्वतपर पद्मनाभ अपनी चतुरङ्गिणी सेनाके साथ ठहरा हुआ है, यह समाचार अपने गुप्तचरसे जानकर राजा पृथिवीपाल बडे क्रोधसे सेनाके साथ उसके निकट आ पहुँचा ॥६८॥ उन दोनों प्रतापी नरेशोंके बलको देखनेके लिए मानो कौतूहल वश रात्रि—जो चन्द्रमारूपी मण्डनसे मण्डित है और जिसके चमचमाते हुए तारारूपी नेत्र खुले हैं—आ गई, अर्थात् रात्रि हो गई ॥६९॥

१ =इतस्ततो गच्छत्। २. =मकराणां। ३ आ मतङ्गजा। ४. =शिबिरम्। ५ =केनापि प्रकारेण। ६. आ 'ज्यो' इति नास्ति। ७ श लेङ्। ८ आ प्रसृष्टसेनम्। ९ =गुप्तचराणाम्। १० श 'पृथिवीपालनृप' इति नास्ति। ११ =सेनायाः।

तस्यां रात्र्यां श्रुतपरबलः संविधाय स्वसैन्ये
किंचित्कृत्वा सह निजभटैर्भाविसङ्ग्रामचर्चाम्।
श्रित्वा शय्यां शयनभवने भासुरां पद्मनाभ-
स्तस्थौ[1] धीरः समदवनितालिङ्गनाद्यैर्विनोदैः ॥७०॥
भुवनभवनदीपीभूतबिम्बे नियत्या
गतिमुदयविरुद्धां नीयमाने मृगाङ्के।
मुकुलिततनुतारालोचना लोकयन्ती
विरहमिव तदीयं सा विलिल्ये त्रियामा ॥७१॥

॥इति श्रीवीरनन्दिकृतावुदयाङ्के चन्द्रप्रभचरिते महाकाव्ये चतुर्दशः सर्गः ॥१४॥

सपदि शीघ्रम्। समाययौ आजगाम। लिट्। रूपकम् ॥६९॥ तस्यामिति। धीरः धैर्ययुक्तः। पद्मनाभः पद्मनामनृपः। तस्यां रात्रौ। श्रुतपरबलः श्रुतमाकर्णितं परबलं शत्रुसैन्यं येन सः। स्वसैन्ये रक्षां रक्षणम्। संविधाय कृत्वा। भाविसङ्ग्रामचर्चां भविष्यतः सङ्ग्रामस्य चर्चां विचारम्। निजभटैः स्वयोधृभिः। सह साकम्। किंचित् अल्पकालपर्यन्तम्। कृत्वा विधाय। शयनभवने शयनस्य भवने गृहे। भासुरां भासनशीलाम्। शय्याम्[2] आसिकां[3]। श्रित्वा प्राप्य। समदवनितालिङ्गनाद्यैः समदानां सतोष[4]सहितानां वनितानां नारीणामालिङ्गनाद्यैः परिरम्भणाद्यैः। विनोदैः विलासैः। तस्थौ आसां चक्रे। लिट् ॥७०॥ भुवनेति। भुवनभवनदीपीभूतबिम्बे भुवनं जगत् तदेव भवनं गृहं तस्य दीपीभूतं बिम्बं मण्डलं यस्य तस्मिन्। मृगाङ्के चन्द्रे। उदयविरुद्धाम् उदयस्योत्पत्तेर्विरुद्धां प्रतिकूलाम्। गतिम् अस्तमयम्। नियत्या दैववशेन नीयमाने गम्यमाने। मुकुलिततनुतारालोचना मुकुलिता पिहिता तनुः स्वरूपं यासां ताः मुकलिततनवः तारास्तारकाः, ता एव लोचने नयने यस्याः सा। सा त्रियामा निशाङ्गना। तदीयं चन्द्रसंबन्धिनम्। विरहं वियोगम्। लोकयन्तीव[5] वीक्षमाणेव। विलिल्ये विलीना, विलयं गतेत्यर्थः। लीङ्[6] श्लेषणे। लिट्। उत्प्रेक्षा ॥७१॥

इति श्रीवीरनन्दिकृतावुदयाङ्के चन्द्रप्रभचरिते महाकाव्ये तद्व्याख्याने च
विद्वन्मनोवल्लभाख्ये चतुर्दशः सर्गः[7] ॥१४॥

उसी रात्रिमे धीर-वीर राजा पद्मनाभने शत्रु-सेनाके आनेके समाचार सुनकर और उसकी शक्ति-का पूरा पता लगाकर अपनी सेनामे रक्षाका प्रबन्ध किया, एवं कुछ समय तक अपने सैनिकोके साथ भावि युद्धके बारेमे विचार-विमर्श किया। इसके पश्चात् शयनागारमे रत्नोसे जगमगाती हुई सेजपर जाकर, अपनी सगर्व (पद्मनाभकी वीरतापर गर्व करनेवाली) रानियोसे आलिङ्गन आदि विनोद करके लेट गया ॥७०॥ संसार रूपी घरमे जिसका बिम्ब दीपक स्वरूप है उस चन्द्रमाको नियति (अदृष्ट) जब उदयसे विपरीत (अस्त) अवस्थामे ले जाने लगी, तब रात्रिने अपनी कायाको समेट लिया और ताराल्पी नेत्रोको मूँद लिया, और फिर चन्द्रमा (पति) के विरहको देखकर ही मानो वह विलीन हो गई ॥७१॥

इस प्रकार महाकवि वीरनन्दि विरचित उदयाङ्क चन्द्रप्रभ चरित महाकाव्यमें
चौदहवॉ सर्ग समाप्त हुआ ॥१४॥

---

१. आ इ तस्थे। २ = पल्यङ्कम्। ३ आ 'आसिका' इति नास्ति। ४. आ सताप°। ५. एष टीकाश्रय पाठ, प्रतिषु तु 'लोचयन्ती' इत्यव समवलोक्यते। ६. श लिङ्। ७. आ सर्गः समाप्तः।

[१५. पञ्चदशः सर्गः]

द्वयेषामप्यथ प्रातः स्थावरेतरभूभृताम् ।
उदस्थात्कटकक्षोभी सनाहपटहध्वनिः ॥१॥
तस्मिन्नम्बुदगम्भीरे दिगन्तरविसर्पिणि ।
प्रकम्प भूरपि प्रापदास्ता रिपुपताकिनी ॥२॥
मदो मदोद्धताकारैर्दिक्कुञ्जरकुलैरपि ।
तत्यजे त्रस्तचेतोभिरिरिकीटेषु का कथा ॥३॥
भटानां भाविसङ्ग्रामभवदुत्साहशालिनाम् ।
मनास्यानशिरे हर्षैर्वपूषि पुलकोद्गमैः ॥४॥

द्वयेति । अथ [२]रात्रिविगमानन्तरम् । प्रातः विभाते । द्वयेषाम् [आप] द्वावयवौ येषां तेषाम् । स्थावरेतरभूभृतां स्थावराश्चेतरे च जङ्गमाश्च ते च ते भूभृतश्च स्थावरेतरभूभृतः. तेषां स्थावरेतरभूभृताम्—पर्वतानामितरभूभृतां राज्ञामपि । कटकक्षोभी कटकानि तटानि, पक्षे कटकः सेना[3] क्षोभी सचलनशीलः । सनाहपटहध्वनिः सनाहस्य संग्रामसूचकस्य पटहस्य भेर्या ध्वनिः शब्दः । उदस्थात् व्याप्नोति स्म । लुङ् । श्लेषः[४] ॥१॥ तस्मिन्निति । अम्बुदगम्भीरे अम्बुदवद् गम्भीरः[५] यस्य तस्मिन् । [तस्मिन्] पटहध्वनौ[६] । दिगन्तरविसर्पिणि दिगन्तराणि दिग्विवराणि[७] विसर्पिणि व्यापिनि सति । भूरपि भूमिरपि । प्रकम्पः[८] चवलम् । प्रापत् प्राप्नोति स्म । आप्लृ व्याप्तौ लुङ् । 'सर्ति शास्ति—' इत्यादिना अङ्[९]—प्रत्ययः । रिपुपताकिनी रिपूणां शत्रूणां पताकिनी सेना । आस्तां तिष्ठतु । अतिशयः[१०] ॥२॥ मद इति । मदोद्धताकारैः मदेनोद्धत आकारो येषां तैः । त्रस्तचेतोभिः त्रस्तं भीतं चेतो मानसं येषां तैः । दिक्कुञ्जरकुलैरपि दिक्षु दिशासु विद्यमाना कुञ्जराणां[११] कुलैर्निवहैरपि । मदः गर्वः । तत्यजे त्यज्यते स्म । त्यज हानौ कर्मणि लिट् । रिपुकीटेषु रिपव एव [१२]कीटास्तेषु । का कथा का वार्ता ॥३॥ भटानामिति । भाविसंग्रामभवदुत्साहशालिनां भाविना भविष्यता संग्रामेण रणेन भवता जायमानेनोत्साहरसेन शालिना संपन्नानाम् । भटानां योद्धृणाम् । हर्षैः संतोषैः । मनांसि मानसानि । पुलकोद्गमैः पुलकानां रोमाञ्चानामुद्गमैरुत्पादैः । वपूंषि शरीराणि । आन-

---

इसके पश्चात् प्रभात होते ही युद्धकी भेरी बज उठी । उसकी ध्वनिने स्थावर भूभृत्—मणिकूट पर्वत और जङ्गम भूभृत्—पद्मनाभ, इन दोनोके कटक (मध्यभाग और छावनी) मे क्षोभ उत्पन्न कर दिया ॥१॥ मेघगर्जनके समान गम्भीर उस ध्वनिके दिग्दिगन्तव्यापी होनेपर पृथ्वी भी काप उठी फिर शत्रुसेनाके कम्पनके बारेमे तो कहना ही क्या है ? ॥२॥ भेरीकी आवाज सुनकर मदोद्धत दिग्गजोके कुलका दिल दहल उठा और उसने मद छोड दिया—उसका मदजल सूख गया तथा घमण्ड चूर हो गया फिर क्षुद्र शत्रुकीटोकी तो बात ही क्या है ? ॥३॥ होनेवाले युद्धके उत्साहसे युक्त सैनिकोके मन हर्षसे और शरीर रोमाञ्चसे व्याप्त हो

---

१ 'त्र्यम्बुधिग॰' । २ श अर्धरात्रि॰ । ३. = क्षोभयतीत्येव शीलः । ४ श 'श्लेष' इति नास्ति । ५ = गाम्भीर्यं । ६ श 'पटहध्वनौ' इति नास्ति । ७ = विसर्पतीत्येव शीलस्तस्मिन् । ८. = चाञ्चल्यम् । ९ आ लङ् । १० = अर्थापत्तिश्च ११ = दिग्गजानां । १२ आ 'कीटा क्रमयः' इति समुपलभ्यते, परमितोऽग्रे 'तेषु' इति पदं नोपलभ्यते ।

हृष्यदङ्गतया सद्यः स्फुटत्पूर्वरणव्रणैः ।
वीरैर्वीररसाविष्टैः संनद्धुमुपचक्रमे ॥५॥
कश्चित्तनुच्छदं योग्यं समरे समरेखकम् ।
देहे हृष्यत्यपर्याप्त नामुञ्चन्ना[1]मुचत्पुनः ॥६॥
तव संनहनं नाथ लघुभूतमिवाधुना ।
इत्यूचे स्वकरस्पर्शात्पुष्टाङ्गः कोऽपि कान्तया ॥७॥
शृङ्गारद्विगुणीभूतैरमाति पुलकैस्तनौ ।
सनाहेऽन्यस्य चतुरा क्षणमन्तर्दधे प्रिया ॥८॥

शिरे[2] व्याप्नुवन्ति स्म । आप्लृ व्याप्तौ लिट् । 'नक् च—' इत्यादिना नगागम ॥४॥ हृष्यदिति । हृष्यदङ्गतया हृष्यत् सतुष्यदङ्गं यस्य तस्य भाव तया । सद्य [3]तत्क्षणम् । स्फुटत्पूर्वरणव्रणै स्फुटद् भिनत् पूर्वेण रणेन सजात व्रण येषा तै । वीररसाविष्टै. वीररसेनाविष्टै[4] प्रविष्टै । वीरै[5] वीरपुरुषै । सनद्धु सनह्नाय[6] । उपचक्रमे प्रारम्यते स्म । क्रमू पादविक्षेपे कर्मणि लिट् ॥५॥ कश्चिदिति । कश्चित् एक. । ना पुरुष. । हृष्यति हर्षं गते । देहे शरीरे । अपर्याप्तम्[7] अगृहीतम् । समरेखक समा समाना रेखा यस्य तत्, चतुरस्रमिति भाव. । समरे सग्रामे । योग्यम् उचितम् इति । तनुच्छद कवचम् । अमुञ्चत् अत्यजत् । पुन. पश्चात् । ना अन्य. पुरुष । आमुचत् धरति स्म । मुच्लृम्[8] मोक्षणे लुङ् । कश्चिद्वीर कवच त्यक्तवान् कश्चिद् भीरु[9]र्धरतिस्मेत्यर्थः । पर्यायोक्ति. ॥६॥ तवेति[10] । स्वकरस्पर्शात् स्वस्या. कान्ताया करस्य हस्तस्य स्पर्शात् । पुष्टाङ्गः[11] तुष्टाङ्ग । कोऽपि कश्चित् । कान्तया वनितया साकम् (?) । इति वक्ष्यमाणप्रकारेण । ऊचे उच्यते स्म । ब्रूञ् व्यक्तायां वाचि कर्मणि लिट् । 'अस्ति ब्रुवो र्भूवचौ' इति वचादेश । नाथ भो नाथ । तव ते । सहनन कवचम् । अधुना इदानीम् । लघुभूतमिव अल्पीभूतमिव[12] । राजतीति शेप । उपमा[13] ॥७॥ शृङ्गारेति । अन्यस्य परस्य । शृङ्गाराद्द्विगुणीभूतै शृङ्गारेण शृङ्गाररसेन द्विगुणीभूतै[14]र्द्विगुणजातै । पुलकै रोमाञ्चै । तनौ शरीरे । सनाहे[15] सनहने । अमाति अप्रमाणे (ते) सति । चतुरा प्रौढा । प्रिया कान्ता ।

गये ॥४॥ युद्धकी खुशीमे योद्धा अपने शरीरमे फूले नही समा रहे थे । उनके पिछले युद्धोके घाव फूट कर बह रहे थे, किन्तु वे वीर, वीररसके आवेशमे थे, अतएव युद्धकी तैयारी करनेमे लग गये ॥५॥ एक पुरुषने सङ्ग्रामके हर्षसे शरीर फूल जानेपर छोटे पडनेवाले कवचको—जो उसीको रेखाओके मापसे बनाया गया था, और युद्धमे जिसका पहनना उचित था—छोड दिया । फिर उसे दूसरे पुरुषने पहन लिया ॥६॥ 'नाथ ! आपका शरीर इस समय (इस बडे कवचकी दृष्टिसे) कुछ छोटा-सा प्रतीत हो रहा है,' यह कहते-कहते प्रियाने ज्यो ही अपने हाथसे उसके शरीरका स्पर्श किया त्यो ही वह (नवयुवक-पति) खूब हृष्ट-पुष्ट हो गया ॥७॥ अन्य नवयुवकके शरीरमे शृङ्गारसे रोमाञ्च दूने हो गये और कवच छोटा पड गया । यह देखकर उसकी चतुर पत्नी कुछ क्षणोको उसकी आंखोसे ओझल हो गई—अन्यत्र जाकर छिप

---

१ आ इ नामुचन्ना° । २ =व्याप्तानि । ३ आ श तत्क्षणे । ४ =युक्तै । ५ आ धोरै. । ६ श सनाहनाय । ७ = लघुता गतम् । ८ आ मुच्लृ । ९ आ वीर. । १० श तदेति । ११. =पीनाङ्ग । १२. आ लघ्वीभूत° । १३. =अतिशयोक्तिः । १४. = द्विगुणता गतै । १५ = कवचे ।

रिपुरोषारुणीभूतच्छविच्छुरितकण्टकैः[1]।
रेजे संध्याघनाकारैर्भीषितारिघटैर्भटैः ॥९॥
भूरिभैरवधीरायाः रुष्टैः प्रतिगजश्रुतेः[2]।
भूरिभैरवधीराया समदानैः स्वपाणिना ॥१०॥
पुण्यैः कवचितस्यास्य किं कृत्यमपरं मया।
इतीव नृपतेरङ्गे संनाहोऽनिष्ठयाविशत् ॥११॥
जयलक्ष्मीपरिष्वङ्गव्यवायेन ममामुना[3]।
किमित्यासीद् युवेशस्य संनाहे नातिगौरवम्[4] ॥१२॥

क्षणम् अल्पकालपर्यन्तम्। अन्तर्दधे व्यवहिता। डुधाञ् धारणे च[5] लिट् ॥८॥ रिप्विति। रिपुरोषारुणीभूतच्छविच्छुरितकङ्कटै[6] रिपुषु शत्रुषु जातेन रोषेण कोपेनारुणीभूतया लोहितया छव्या कान्त्या च्छुरित कङ्कट कवचो[7] येषा तैः। सध्याघनाकारैः सध्याया मध्याकालस्य घनस्य मेघस्याकार इवाकारो येषा तैः। भीषितारिघटैः भीषिता[8] विभीषिता[9] अरीणा शत्रूणा घट (घटा) समूहो यैस्तैः। भटैः योद्धृभि। रेजे। लिट्। उपमा ॥९॥ भूरिति। भूरिभैरवधीराया भूर्या बहुलाया भैरव्या भयकराया धीरायाः[10] स्थिराया[11]। प्रतिगजश्रुते प्रतिगजाना प्रतिकूलकरिणा श्रुतेर्ध्वने सकाशात्। रुष्टैः कुपितैः। इराया[12] सुरायाः। समदानैः सम समान दान मदजल येषा तैः। इभैः करिभिः। [स्वपाणिना स्वकरेण। भूः पृथिवी]। अवधि[13] ताडयते स्म। हन हिंसागत्यो कर्मणि लुङ्। यमकम्[14] ॥१०॥ पुण्यैरिति। पुण्यैः शुभ[15] कर्मभि। कवचितस्य आच्छादितस्य। अस्य राज्ञ.। मया[16]। अपरम् अन्यत्। कृत्य कार्यम्। किं वर्तते ?। इतीव[17] एवमिव। नृपते. पद्मनाभस्य। अङ्गे देहे। सनाह कवचादिसनाह। अनिष्ठया[18] अनिष्ठावस्थया। अविशत् विशति स्म। विश प्रवेशने लङ् ॥११॥ जयेति। जयलक्ष्मीपरिष्वङ्गव्यवायेन[19] जयलक्ष्म्या परिष्वङ्गेनालिङ्गनेन व्यवायेन व्यवहितेन। अमुना[20] अनेन सह। मम मे। किं प्रयोजनम् ? इति। युवेशस्य सुवर्णनाभस्य। सनाहे[21] सनाहकरणे। अतिगौरवम् अतिमहत्त्वम्। नासीत् नाभूत्। अस भुवि लङ्[22]। आक्षेप. (?) ॥१२॥

गयी ॥८॥ शत्रुओंके प्रति रोष होनेसे सैनिकोंके नेत्र लाल हो गये और उनकी लाल कान्तिसे उनके कवच भी लाल हो गये। अतएव वे सन्ध्याकालीन मेघोंके समान हो गये। उन्हे देखकर शत्रुमण्डल भयभीत हो गया। उस समय उनकी शोभा देखते ही बनती थी ॥९॥ शत्रुओंके हाथियोंकी बहुत भयावनी और गम्भीर चिंघाड सुनकर (गन्धकी दृष्टिसे) मद्यके समान मदजल बहानेवाले, पद्मनाभके हाथियोंने अपनी सूंडसे पृथिवीका ताडन शुरू कर दिया ॥१०॥ 'राजा पद्मनाभ पहलेसे ही पुण्यका कवच पहने हुए है—मुझे जो काम करना चाहिए, उसे पुण्य पहले-से ही कर रहा है, अब इससे अधिक इसका और क्या काम है, जो मुझे करना चाहिए', मानो यही सोचकर निष्ठा न रहनेपर भी कवचने पद्मनाभके शरीरमे प्रवेश किया—पद्मनाभने कवच पहना ॥११॥ 'जयलक्ष्मीके आलिङ्गनमे व्यवधान डालनेवाले इस कवचसे मुझे क्या काम है', मानो यह सोचकर युवराज सुवर्णनाभको कवच पहननेके विषयमे विशेष महत्त्व प्रतीत नही हुआ

१ अ सध्यायना°। २ इ °गजश्रुतै। ३. आ इ ममाधुना। ४ अ °गौरव। ५ आ 'च' नास्ति। ६ एष टीकाश्रय पाठ, प्रतिषु च मूलासु 'कण्टकै' इत्येव समुपलभ्यते। ७ श च्छुरित कङ्कट कवच। ८ श भीषितो विभाषितो°। ९. आ 'विभीषिता' इति नास्ति। १०. = गभीराया.। ११ आ शुद्धाया। १२. 'इरा भूवाक्सुराप्सु स्यात्' इत्यमर। १३ = ताडिता। १४. आ 'यमकम्' इति नास्ति। १५ आ सुखक°। १६ = सनाहेन। १७ = अस्माद्धेतोरिव। १८ = अनास्थया। १९ = जयलक्ष्म्या. परिष्वङ्ग आलिङ्गने व्यवायेन व्यवधानेन। 'व्यवायस्तु मैथुनव्यवधानयोः' अनेका० ३।५३३। २०. = सनाहेन। २१ = कवचे। २२. आ लुङ्।

तेजो मूर्तमिवात्मीयं सुदुर्भेदमरातिभिः ।
बभौ भीमरथो बिभ्रत्कवचं विकचाननः ॥१३॥
अभूद्भैमरथेरङ्गे समरोत्कर्षशालिनः ।
द्वितीय इव संनाहो घनकण्टकितच्छवौ ॥१४॥
दीनानाथकृतोत्सर्गः स जयश्रीसमुत्सुकान् ।
प्रसादैः पूजयामास सामन्तान् रणदीक्षितान् ॥१५॥
भीमं भासुरवासोभिः सुभीमं मणिकङ्कणैः ।
मकुटेन महासेन सेनं मौक्तिकमालया ॥१६॥

तेज इति । आत्मीय स्वकीयम् । 'दोश्छ.' इति छ-प्रत्यय । मूर्त साकारमिव । तेज[1] प्रताप:[2] (पम्) । अरातिभिः शत्रुभिः । सुदुर्भेद सुदु खेन महता कष्टेन भेद भेद्यम् । कवच तनुत्रम् । बिभ्रत् धरत् । विकचानन. विकच विकसितमानन मुख यस्य स । भीमरथ भीमरथभूपति । बभौ रराज । लिट् । उपमा[3] ॥१३॥ अभूदिति । समरोत्कर्षशालिन सामरस्य सग्रामस्योत्कर्षेण शालिन[4] सपन्नस्य । भैमरथे भीमरथस्यापत्य भैमरथिस्तस्य । 'अत इञ्' इति इञ्-प्रत्यय । भीमरथपुत्रस्य[5] महीधराख्यस्य । घनकण्टकितच्छवौ घना सान्द्रा कण्टकिता[6] रोमाञ्चयुक्ता छविः कान्तिर्यस्य तस्मिन् । अङ्गे शरीरे । सनाह संनहनम् । द्वितीय इव अपर इव । अभूत् । उपमा[7] ॥१४॥ दीनेति । दीनानाथकृतोत्सर्ग दीनेभ्यो दरिद्रेभ्योऽनाथेभ्यश्च[8] कृतो विहित उत्सर्गस्त्यागो येन स· । स पद्मनाभ । जयश्रीसमुत्सुकान् जयश्रिया जयलक्ष्म्या समुत्सुकान् आसक्तान् । रणदीक्षितान् रणदीक्षायुक्तान् । सामन्तान् भूपतीन् । प्रसादै वस्त्रादिसत्कारै[9] । पूजयामास सत्करोति स्म ॥१५॥ भीममिति । भासुरवासोभि भासुरैर्भासमानशीलैर्वासोभिर्वस्त्रै । भीम भीमराजम् । मणिकङ्कणै. मणिभिर्निर्मितै. कङ्कणै करभूषणै । सुभीम सुभीमराजम् । मकुटेन[10] किरीटेन । महासेनं महासेनराजम् । मौक्तिकमालया मौक्तिकैर्मुक्ताफलैर्निर्मितया मालया माल्येन ।

॥१२॥ अपने प्रतापकी मूर्ति सरीखे प्रतीत होनेवाले, शत्रुओंके द्वारा दुर्भेद्य कवचको धारण करके भीमरथका चेहरा खिल उठा और उस समय वह बडा सुन्दर मालूम पड रहा था ॥१३॥ युद्धकलाके उत्कर्षसे विभूषित भैमरथी—(राजा भीमरथके पुत्र) के सघन रोमाञ्चसे युक्त शरीरमे कवच ऐसा जाना पडता था मानो दूसरा हो । रोमाञ्च पहले कवचकी भाँति सुशोभित हो रहे थे और लौह कवच उसके ऊपर पहने हुए दूसरे कवचकी भाँति प्रतीत हो रहा था ॥१४॥ पद्मनाभने दीन और अनाथोको दान दिया तथा विजयलक्ष्मीको पानेके लिए उत्सुक, सङ्ग्रामकी दीक्षा लेनेवाले सामन्तोको उपहार देकर सम्मानित किया—॥१५॥ भीमको चमचमाते वस्त्र, सुभीमको मणिकङ्कण, महासेनको मुकुट, सेनको मोतियोकी माला, चित्राङ्गको चूडामणि, परंतपको लम्बी माला, कण्ठको कण्ठी, सुकुण्डलको कुण्डल, भीमरथको अमूल्य मणि और महीरथको मनोहर हार—इस तरह अपने सुन्दर आभूषण उपहारमे देकर चतुर पद्मनाभने

---

१. = आत्मीय मूर्तं तेज इव । २. आ श तेजः प्रतापः । मूर्तं साकारमिव । आत्मीय स्वकीयम् । ३ उत्प्रेक्षा । ४ = शोभिनः । ५. आ भीमरथस्य पुत्रस्य । ६. श घना सग्रामकण्टकिता । ७. = उत्प्रेक्षा । ८. आ 'च' नास्ति । ९ श° दिप्रसादसत्कारै· । १० 'मुकुटेन' इति पाठ सर्वासु प्रतिषु ।

चूडारत्नेन चित्राङ्गं प्रालम्बेन परंतपम् ।
रत्नकण्ठिकया कण्ठं कुण्डलाभ्यां सुकुण्डलम् ॥१७॥
अनर्घमणिना भीमरथं हारेण हारिणा ।
महीरथं स्वाभरणैश्चतुरः सच्चकार सः ॥१८॥ (कुलकम् ।)[1]
अन्योऽपि यस्य यो योग्यः सन्नाहस्तुरगो[2] रथः ।
वारणो वा विशेषज्ञस्तत्सादकृत तं नृपः ॥१९॥
सेना सेना यती बद्धराजिराजिसमुत्सुका ।
चक्रे चक्रेषुखड्गास्त्रसारा सारातिसाध्वसम् ॥२०॥
सज्जीकृतं महामात्रै रोपितास्त्रं पुरोधसा ।
वनकेलिमथारुह्य निरगादभिशत्रु सः ॥२१॥
रथिना युवराजेन सोऽनुसस्रे नराधिपः ।
ऐरावतसमारूढो रविणेव सुराधिपः ॥२२॥

सेन सेनराजम्[3] ॥१६॥ चूडेति । चूडारत्नेन चूडामणिना । चित्राङ्ग चित्राङ्गराजम् । प्रालम्बेन सुवर्णमययज्ञोपवीतेन । परतप परतपराजम् । रत्नकण्ठिकया रत्नकण्ठाभरणेन । कण्ठ कण्ठराजम् । कुण्डलाभ्या कर्णवेष्टनाभ्याम् । सुकुण्डल सुकुण्डलराजम्[4] ॥१७॥ अनर्घेति । अनर्घमणिना अनर्घेणामूल्येन मणिना रत्नेन युक्तेन । हारिणा मन प्रीतिकारिणा, हारेण । भीमरथ भीमरथराजम् । स्वाभरणै[5] अनर्घाभरणै । महीरथ महीरथराजम् । चतुर प्रौढ । सः पद्मनाभ । सच्चकार सत्करोति स्म । दीपकम् ॥१८॥ अन्य इति । अन्योऽपि परोऽपि । य । सन्नाह तनुत्रादि । तुरग अश्व । रथ स्यन्दनः । वारणः गज. । यस्य राज्ञ । योग्य उचित । तम् । विशेषज्ञ सकलज्ञ । नृप पद्मनाभ । तत्सात् तेषामधीनम् । अकृत अविधात्[6] (व्यधात्) । लुङ् ॥१९॥ सेनेति । सेना इनेन स्वामिना सह वर्तते इति सेना । यती गच्छती[7] । बद्धराजि बद्धा रचिता राजि पङ्क्ति[8] । आजिसमुत्सुका आजौ सग्रामे समुत्सुका आसक्ता । चक्रेषु खड्गास्त्रसारा चक्रेण चक्रायुधेन इषुणा बाणेन खड्गेन अस्त्रेण[9] मन्त्रायुधेन च सारा उत्कृष्टा । [सा] सेना चमू । अरातिसाध्वसम् अरातीना शत्रूणा साध्वसं भयम् । चक्रे चकार । लिट् । यमकम् ॥२०॥ सज्जीति[10] । अथ अनन्तरम् । स पद्मनाभ । महामात्रै हस्तिशिक्षकै । सज्जीकृत सन्नद्धीकृतम् । पुरोधसा पुरोहितेन । रोपितास्त्र रोपित पूरितं (रोपितानि पूरितानि अस्त्राणि यस्मिन् तम्) । वनकेलि वनकेलिनामगजम् । आरुह्य । अभिशत्रु शत्रोरभिमुखम् । निरगात् निर्जगाम । इण् गतौ लुङ् । जाति ॥२१॥ रथिनेति । स. नराधिप पद्मनाभ । ऐरावतसमारूढ ऐरावत देवगज समारूढ[11] । सुराधिप सुराणा देवानामधिप इन्द्र । रविणेव सूर्येणेव ।

सब राजाओंका सत्कार किया ॥१६–१८॥ कवच, घोडा, हाथी तथा रथ आदि और भी जो पदार्थ जिसके योग्य था, उसे विशेषताके पारखी राजा पद्मनाभने, उसीके अधीन कर दिया ॥१९॥ चक्र, बाण, खड्ग आदि अस्त्र-शस्त्रोसे सुसज्जित, युद्धके लिए उत्सुक, स्वामी सहित, और पक्तिवद्ध होकर आगेकी ओर जाती हुई, पद्मनाभकी उस सेनाने शत्रुओको भय उत्पन्न कर दिया ॥२०॥ इसके बाद जिसे महावतोने सजाया और जिसके ऊपर पुरोहितने अस्त्र रख दिये, उस वनकेलि नामक हाथीपर सवार होकर राजा पद्मनाभ शत्रुकी ओर चल दिया ॥२१॥ युवराज सुवर्णनाभने रथपर सवार होकर राजा पद्मनाभका अनुगमन किया— आगे राजा चला जा रहा था और उसके पीछे युवराज। जैसे ऐरावतपर चढे हुए इन्द्रका

१ क ख ग घ 'कुलकम्' नोपलभ्यते । २ म स वाहस्तुरगो° । ३ = सच्चकार । ४. = सच्चकार । ५ = स्वकीयैराभरणै । ६ आ अवीरात् । ७ = गच्छन्ती । ८ = यया सा । ९ = अस्त्रायुधेन । १० आ श सज्जेति । ११. श आरूढ ।

नगोत्तुङ्गं समारुह्य नागेन्द्रं रणविग्रहम् ।
तमन्वगाद्भीमरथः प्रताप इव पूषणम् ॥२३॥
परिज्वलन्महास्त्रौघं रथं सारथिसज्जितम् ।
मनोरथमिवास्थाय निर्जगाम महीरथः ॥२४॥
परितः परिवव्रुस्तमन्येऽप्येत्य नराधिपाः ।
चतुरङ्गबलोपेताश्चतुरम्बुधिविश्रुताः ॥२५॥
प्रयाणतूर्यनिर्घोषसंमिलत्सर्वसैनिका[२] ।
सासीद्बह्वादिसंख्येव व्यक्तेयत्ता न वाहिनी ॥२६॥
विसस्वान शिवा तस्य वामतः शिवशंसिनी ।
तामेव दिशमाश्रित्य ररास मृदु रासभः ॥२७॥

रथिना रथारूढेन । युवराजेन सुवर्णनाभेन । अनुसस्रे[3] अनुगम्यतेस्म । उपमा ॥२२॥ नगेति[४] । भीमरथः भीमरथराज । नगोत्तुङ्गं नग इव पर्वत इवोत्तुङ्गमुन्नतम् । रणविग्रहं रणविग्रहनामधेयम् । नागेन्द्र[५] गजेन्द्रम् । समारुह्य । पूषण सूर्यम् । प्रताप इव तेज इव । तं युवराजम् । अन्वगात् अनुगच्छतिस्म । उपमा ॥२३॥ परीति । परिज्वलन्महास्त्रौघ परिज्वलन् प्रज्वलन् महास्त्राणा महामन्त्रायुधानामोघो यस्मिन् तम् । सारथिसज्जितं सारथिना सज्जित संनद्धम् । मनोरथमिव[६] मन.सतोषमिव । रथ स्यन्दनम् । आस्थाय आरुह्य । महीरथ महीरथराज[७] । निर्जगाम निरगात् ॥२४॥ परित इति । चतुरम्बुधिविश्रुता चतुरम्बुधीन चतुःसमुद्रपर्यन्त विश्रुता· प्रसिद्धा । चतुरङ्गबलोपेता चतुरङ्गेण चतुरवयवेन बलेन सेनया उपेता युक्ताः । अन्ये [अपि] परेऽपि । नराधिपा भूमिपाः । एत्य गत्वा । तं पद्मनाभम् । परितः समन्तात् । परिवव्रुः परिवृण्वन्ति स्म । वृञ् वरणे लिट् ॥२५। प्रयाणेति । प्रयाणतूर्यनिर्घोषसमिलत्सर्वसैनिका प्रयाणस्य निर्याणस्य तूर्यस्य वाद्यविशेषस्य निर्घोषेण रवेण समिलन्तो राशीभवन्तः सर्वे निखिला सैनिका भटा यस्यां सा । सा वाहिनी सेना । बह्वादिसख्येव बह्वादिरेव सख्या सेव । आदिशब्देन यूथगण इत्यादि । [व्यक्तेयत्ता] व्यक्ता स्पष्टा इयत्ता एतत्प्रमाणता यस्या. सा । न भवति । उपमा ॥२६॥ विवस्वानेति[८] । तस्य पद्मनाभस्य । वामतः वामभागत· । शिवशसिनी शिवस्य शुभस्य[९] शसिनी सूचिनी[१०] । शिवा शृगाली[११] । विसस्वान[१२] निनाद । स्वन शब्दे लिट् । तामेव वामरूपामेव । दिश दिशाम् । आश्रित्य आगत्य । रासभः खरः । मृदु मृदुलं यथा तथा ।

सूर्य (जो रथपर सवार रहता है) अनुगमन करता है ॥२२॥ पहाडके समान उन्नत रणविग्रह नामक गजराजपर चढकर भीमरथने युवराजका अनुगमन किया । जैसे प्रताप सूर्यका अनुगमन करता है ॥२३॥ चमचमाते हुए बडे-बडे अस्त्रोंके समूहसे युक्त, सारथीके द्वारा सजाये गये और मनोरथके समान प्रतीत होनेवाले रथके ऊपर बैठकर राजा महीरथ, भीमरथके पीछे-पीछे चलने लगा ॥२४॥ चारो समुद्रो तक प्रसिद्ध और भी राजे-महाराजे चतुरङ्गिणी सेनाओको अपने साथ लिवाकर आ गये और पद्मनाभके आगे-पीछे और दाएँ-बाएँ भागोमे—इस तरह उसे चारो ओरसे घेरकर चलने लगे ॥२५॥ प्रयाणके समय रणभेरीका शब्द सुनते ही सभी सैनिक सेनामे आकर सम्मिलित हो गये । उस समय वह सेना बहु आदि सख्याके समान स्पष्ट प्रमाणसे युक्त नही थी—अगणित थी ॥२६॥ जाते समय पद्मनाभकी बाईं ओर मङ्गलकी सूचना देनेवाली शृगाली शब्द करने लगी और उसी दिशामे अर्थात् बाईं ओर ही एक गदहा कोमल

---

१ क ख ग घ प्रयाणे तूय° । २. म °सैनिका । ३. = अनुसृत । ४. श नग इति । ५. श नगेन्द्रं । ६. = मनोऽभिलाषमिव । ७. श महीरथनामधेय । ८. आ श विवस्वान इति । ९. आ सुखस्य । १०. श सूचनो । ११. आ श शृगालः । १२. श विसस्वने ।

भारद्वाजः कुतोऽप्येत्य परीयाय प्रदक्षिणम् ।
क्षीरिणं वृक्षमारुह्य ववाशे वल्गु वायसः ॥२८॥
सहसैव समुद्भिद्य सुस्रुवे करिणां कटः ।
भेजे कोऽपि महोत्साहो रोमाञ्चकवचैर्भटैः ॥२९॥
इष्टैरिष्टार्थपिशुनैः परितोषितसैनिकैः ।
शकुनैरेभिरन्यैश्च स व्यक्तविज[1]योऽभवत्[2] ॥३०॥
इत्युत्थितं समाकर्ण्य[3] पद्मनाभं सराजकः[4] ।
संनह्य पृथिवीपालोऽप्यमर्षादभिनिर्ययौ ॥३१॥
दक्षिणं गणयामास नाशिवं स शिवारवम्[5] ।
क्षुतं न पौनःपुनिकं न मार्गमहिखण्डितम् ३२॥

रराश निनाद । रस पुश शब्दे लिट् ॥२७॥ भारद्वाज इति । भारद्वाज. खञ्जरीटपक्षी । कुतोऽपि[6] कस्मादपि । एत्य आगत्य । प्रदक्षिणं प्रदक्षिणावर्तम्[7] । परीयाय[8] जगाम । इण गतौ लिट् । क्षीरेण युक्तम् । वृक्ष भूरुहम् । आरुह्य आस्थाय । वायस बलिभुक् । वल्गु मधुरम् । ववाशे दध्वान । वाशि शब्दे लिट् ॥२८॥ सहसेति । करिणां गजानाम् । कटे कपोलप्रदेशे । सहसैव वेगेनैव । समुद्भिद्य सविदार्य[9] । सुस्रुवे दुद्रुवे । द्रु स्रु गतौ भावे लिट् । रोमाञ्चकवचैः रोमाञ्चो रोमहर्षण स एव कवचो येषा तैः । भटैः योद्धृभिः । कोऽपि[10] कश्चिदपि । महोत्साह महासंभ्रम । भेजे शिश्रिये । श्रिञ् सेवायां कर्मणि लिट् ॥२९॥ इष्टैरिति । इष्टार्थपिशुनैः इष्टस्याभीष्टस्यार्थस्य प्रयोजनस्य पिशुनैः सूचकैः । परितोषितसैनिकैः परितोषिता सतोषिता. सैनिका यैस्तैः[11] । इष्टैः अभिप्रेतैः । एभिः एतैः । अन्यैश्च अपरैश्च । शकुनैः एभ्यतसू[12] चकनिमित्तैः । व्यक्तविजय. व्यक्तो व्यक्तीभूतो विजयो[13] यस्य स । अभवत् अभूत् । भू सत्तायां लङ् । बनुमिति ॥३०॥ इतीति । इति एवम् । उत्थित निर्गतम् । [त] पद्मनाभं पद्मनाभभूपतिम् । आकर्ण्य[14] श्रुत्वा । सराजकः राजकेन राज्ञा समूहेन सह वर्तत इति तथोक्तः-राजसमूहयुक्त । पृथिवीपालोऽपि पृथिवीपालभूपोऽपि । सनह्य[15] सज्जीकृत्य । अमर्षात् कोपात् । अभिनिर्ययौ[16] अभिनिर्जगाम । या प्रापणे लिट् । जाति ॥३१॥ दक्षिणमिति । स पृथिवीपाल[17] । दक्षिण दक्षिणभाग गतम् । अशिवम्[18] अमङ्गलम् । शिवारव शिवायाः शृगालस्य (शृगाल्या) रव ध्वनिम् । न गणयामास न गणयति स्म । गण संख्याने लिट् । पौनःपुनिकं

शब्दोमे बोलने लगा ॥२७॥ भारद्वाज-खञ्जरीट पक्षी कहीसे भी आकर पद्मनाभकी परिक्रमा करके चला गया और कौआ दूध बहानेवाले किसी वट आदि वृक्षपर बैठकर सुन्दर ढगसे बोलने लगा ॥२८॥ हाथियोके गण्डस्थल सहसा फूट पडे और उनसे मदजल झरने लगा । सैनिकोको रोमाञ्च हो आया और उन्हे अद्‌भुत् महान् उत्साहका अनुभव होने लगा ॥२९॥ इष्ट अर्थकी सूचना देनेवाले और इसीलिए सैनिकोको सन्तुष्ट करनेवाले इन इष्ट शकुनोंसे तथा इन सरीखे और-और भी शकुनोंसे पद्मनाभकी विजय स्पष्ट हो गई ॥३०॥ इस प्रकार राजा पद्मनाभको युद्धके लिए निकला हुआ सुनकर पृथिवीपाल भी अपने पक्षके राजवर्गके साथ युद्धकी तैयारी करके बडे क्रोधसे निकल पडा ॥३१॥ पृथिवीपालके प्रयाण करते समय दाईं ओर शृगालीका अमङ्गलकारी शब्द होने लगा, बार-बार छीकें आने लगी, सांप रास्ता काट गया; कँटीले पेडो-

१. क ख ग घ व्यक्तव्यजयो°, म वक्तव्यजयो° । २. अ °जयोऽभजत् । ३ अ क ख ग घ म तमाकर्ण्य । ४ आ इ सराजकम् । ५ क ख ग घ म शिवारुतम् । ६. = कुतश्चनापि । ७ श प्रदक्षिणप्रदेशेन । ८ = परिक्रम्य जगाम । ९ आ सविधार्य १० = अद्भुतोऽपूर्वो वा । ११ आ येषा तैः । १२ आ एतत्सू° । १३ = विशिष्टो जय । १४ श समाकर्ण्य । १५. = सज्जीभूय । १६ आ 'अभि' नास्ति । १७ श पृथ्वीपाल । १८ आ अशुभम् ।

न कण्टकद्रुमस्थस्य काकस्य परुषं रवम्[1]।
न वाजिपुच्छज्वलनं न चार्तरुदितस्वरम्[2] ॥३३॥
न प्रातिकूल्यमत्यन्तं मनःपवनगोचरम्।
नासृक्प्रवर्षमाकाशे[3] क्रोधान्तरितचेतनः ॥३४॥
क्षयानिलचलत्पूर्वपश्चिमार्णवतुल्ययोः।
तयोर्बभूव संघट्टः सैन्ययोरुभयोरपि ॥३५॥
अन्योन्यालोकनोद्भूतत्वरांस्तुरगसंभवः।
पांसुर्निवारयामास कृपयेव क्षणं भटान् ॥३६॥
माद्यद्दन्तिमदोत्सेकच्छन्न[4]पांसौ रणाजिरे।
वल्गत्यन्योन्यमुद्दिश्य रराज भटसंहतिः ॥३७॥

पुनः पुन भूयो भूय प्रवर्तमानम्। क्षुत[5] न। अहिखण्डितम् अहिना सर्पेण खण्डित निवारितम्। मार्गं पन्थानम्। न गणयामासेति प्रत्येकमभिसबन्धः। दीपकम्[6] ॥३२॥ नेति। कण्टकद्रुमस्थस्य कण्टके कण्टकयुक्ते द्रुमे वृक्षे स्थितस्य। काकस्य[7] वायसस्य। परुषं निष्ठुरम्। रव ध्वनिम्। न गणयामास। वाजिपुच्छज्वलन वाजिनामश्वाना पुच्छाना वालधीनां ज्वलनं[8] संतापम्। न। आर्तरुदितस्वरम् आर्तेन दु खेन रुदितस्य रोदनस्य स्वर ध्वनिम्। न च गणयामास। अयमपि दीपकः[9] ॥३३॥ 卐नेति[10]। क्रोधान्तरितचेतन. क्रोधेन कोपेनान्तरित व्यवहितं चेतनं (अन्तरिता व्यवहिता चेतना) बुद्धिर्यस्य स.। मन.पवनगोचरं मनोवाय्वोर्विषयम्। अत्यन्तं भृशम्। प्रातिकूल्य प्रतिकूलत्वम्। न गणयामास। 卐। आकाशे गगने। असृक्प्रवर्षम् असृजो रक्तस्य प्रवर्षं वृष्टिम्। न गणयामास। त्रिभि. कुलकम्[11] ॥ ॥३४॥ क्षयेति। क्षयानिलचलत्पूर्वपश्चिमार्णवतुल्ययो.। क्षयस्य प्रलयकालस्यानिलेन वायुना चलतोः[12] सचलतो पर्वपश्चिमयो. पूर्वापरयोरर्णवयोः समुद्रयोस्तुल्ययोः समानयोः। तयोरुभयोरपि द्वयोरपि। सैन्ययोः सेनयोः। सघट्ट[13] सबन्ध·। बभूव भवतिस्म। लिट्। अतिशय.[14] ॥३५॥ अन्योन्येति। अन्योन्यालोकनोद्भूतत्वरान् अन्योन्यस्य परस्परस्यालोकनेन दर्शनेन उद्भूत[15] उत्पन्नः त्वर. शीघ्र येषा तान्। भटान् योद्धन्। तुरगसभव तुरगै अश्वैः संभव. संजातः। पांसुः रजः। कृपयेव कारुण्येनेव। क्षणम् अल्पकालपर्यन्तम्। निवारयामास निवारयति स्म। वृञ् वरणे लिट्। उत्प्रेक्षा ॥३६॥ माद्यदिति। माद्यद्दन्तिमदोत्सेकच्छन्न[16]पांसौ माद्यता मदयुक्तानां दन्तिना गजाना मदस्य मदजलस्योत्सेकेन छन्नो लीन. पांसू रजो[17] यस्य तस्मिन्। रणाजिरे

पर कौओका परुष स्वर सुनाई देने लगा; घोडोकी पूंछोमें आग लग गयी; दुखियोके रोनेका दुःखभरा स्वर होने लगा; मनमे प्रतिकूल विचार आने लगे; प्रतिकूल वायु बहने लगी और आकाशमें लहू बरसने लगा, पर चेतनापर क्रोधका असर आ जानेसे उसने अपशकुनोपर कोई ध्यान ही नही दिया ॥३२-३४॥ प्रलयकालीन वायुसे क्षुब्ध हुए पूर्व और पश्चिम समुद्रो सरीखे दोनो सेनाओंके दलोका आपसमे खूब जोरका संघर्ष शुरू हो गया ॥३५॥ एक-दूसरेको देखकर सैनिक आपसमे प्रहार करनेके लिए उतावले हो उठे, किन्तु घोड़ोकी टापोके प्रहारसे उत्पन्न हुई धूलिने मानो दयाके कारण उन्हे कुछ क्षणो तक रोक लिया ॥३६॥ मदमाते हाथियोके मदजलके छिड़कावसे धूलि शान्त हो जानेपर रणाङ्गणमे एक-दूसरेको लक्ष्य करके आगे बढ़नेवाला

१. अ स्वरम्। २ क ख ग घ म °रुदित खरम्। ३ अ °र्षमकरोत्। ४. अ आ इ °कसन्न°। ५ = क्षव। ६. = तुल्ययोगिता। ७. श 'काकस्य' इति पद नास्ति। ८ = दहनम्। ९ = दीपकम्। १०. आ स्वस्तिकान्तर्गत पाठो नास्ति। ११. मूलप्रतिपु 'त्रिभि. कुलकम्' इति नास्ति। १२ = क्षुब्धयो। १३. = सघर्ष। १४ = उपमा। १५. = उद्भूता समुत्पन्ना त्वरा शीघ्रता। १६ श °त्सेकसन्न°। १७. श सन्नो लीन· पांसुर्धूलिः।

हेषासक्तहये गर्जद्गजे प्रध्वनदानके ।
तस्मिन्बलद्वये शब्दमयमासीदिवाखिलम् ॥३८॥
रैरोरा रैररैरेरी रोरो रोरुररैररि- ।
रुरूरूरुरुरूरुरोराराधीररुरोररम् ॥३९॥
तुरङ्गिणां पदातीनां रथिनां गजरोहिणाम् ।
यस्य येन समा कक्षा स तमाह्वास्त वीतभीः ॥४०॥
युद्धमार्गविदो योद्धुमारभन्त महाभटाः ।
प्राणैरस्थास्नुभिः स्थास्नुयशःक्रेतुमभीप्सवः ॥४१॥

रणस्याजिरे[3]ऽङ्गणे । अन्योन्यं परस्परम् । उद्दिश्य उद्देश्य कृत्वा । [वल्गती गच्छन्ती] भटसंहतिः भटाना योद्‌धृणा संहति समूह । रराज बभौ । लिट् ॥३७॥ हेषेति । हेषासक्तहये हेषाया तुरगध्वनौ आसक्ता प्रीता हयास्तुरङ्गमा यस्मिन् तस्मिन् । गर्जद्गजे गर्जन्तो ध्वनन्तो गजा यस्मिन् तस्मिन् । प्रध्वनदानके प्रध्वनन्तो ध्वनन्त आनका पटहा यस्य[4] तस्मिन् । तस्मिन् बलद्वये बलयो सेनयोर्द्वये सति । अखिल सकलम् । शब्दमयमिव शब्दस्वरूपमिव । आसीत् अभवत् । अस भुवि लङ् । उपमा (?) उत्प्रेक्षा च[5] ॥३८॥ रैर इति । रैरोरा रै (रा) द्रव्यम्, राय राति[6] ददातीति रैरम्, रैरम् उरो हृदय यस्य स रैरोरा , द्रव्यदानहृदय — त्यागशील इत्यर्थ । रैररैरेरि राय द्रव्य रातीति रैरो धनदाता, रैरो धनद. कुबेर इत्यभिप्राय , रैरश्चासौ रैरश्च रैररैरो धनदधनद इत्यर्थ, तमीरयति क्षिपति परिभवतीति रैररैरेरि —धनदजिदित्यर्थः, वित्तदायककुबेरतिरस्करणशील इत्यर्थ । रोरु भृश ध्वनन् । उरूरुरु उरुश्च उरुश्च उरूरू स्थूलस्थूलौ उरू उरू यस्य स उरूरुरु, अत्यन्तपीवरोरुरित्यर्थ । रोरो रोरवीति रोरु तस्य रोरो , शब्दयत. (शब्दं कुर्वत) । रु गतावित्यस्य औणादिक उ-प्रत्यय , भृशं ध्वनत इत्यर्थ । उरूरुरो अतिमहदूरुयुतस्य । उरो महत । अरे शत्रो । अरि. शत्रु । अरीरै अरा (आरा) धारा विद्यते एषामित्यरीणि, चक्राणीत्यर्थ , अरीणामीरा क्षेपा तै:, चक्रक्षेपैरित्यर्थः । अरम् अत्यन्तम् । आर ढौकते स्म । ऋ गतौ[7] लिट् । एकव्यञ्जनचित्रमिदम् ॥३९॥ तुरङ्गिणामिति । तुरङ्गिणाम् अश्वारोहाणाम् । पदातीना पादचारिणाम् । रथिना रथारूढानाम् । गजारोहिणा गजारूढानाम् । यस्य पुरुषस्य । येन पुरुषेण । कक्षा सामर्थ्यम् । समा[8] समानम् । वीतभी वीता रहिता भीर्भीति र्यस्य स । स॰ पुरुष । त पुरुषम् । आह्वास्त आह्वयति स्म । ह्वय स्पर्धायाम् । लङ्[9] ॥४०॥ युद्धेति । युद्धमार्गविद युद्धस्य सग्रामस्य मार्गं विदन्तीति तथोक्ता. । अस्थास्नुभि अस्थिरै । 'ग्लाज्यिस्थश्च क्स्नु.' इति स्नु-प्रत्यय । प्राणै असुभि॰ । स्थास्नु स्थिररूपम् । यश: कीर्तिम् । क्रेतु स्वीकाराय । अभीप्सव[10] अभिलिप्सव । महाभटा महायोद्धारः । योद्धु योधनाय ।

सैनिकोका समूह सुशोभित हो रहा था ॥३७॥ दोनो सेनाओमे घोडे हिनहिना रहे थे, हाथी चिंघाड रहे थे और रणभेरियाँ बज रही थी । अतएव सारा विश्व केवल शब्दमय-सा प्रतीत होने लगा ॥३८॥ हृदयसे धन प्रदान करनेवाले, धन देनेवाले कुबेरको भी मात करनेवाले, सिंहनाद करनेवाले और स्थूल ऊरुओवाले एक योद्धाने, सिंहनाद करनेवाले और मोटे ऊरुओवाले एक महायोद्धाके ऊपर चक्रका वार किया और वह उसके निकट जा पहुँचा ॥३९॥ कुछ योद्धा घोडो-पर सवार थे, कुछ हाथियोपर और कुछ रथोपर । इनके अतिरिक्त पयादे भी थे । किन्तु जो जिसके जोडका था, उसने उसे निर्भय होकर ललकारा ॥४०॥ अस्थिर प्राण देकर स्थिर यशके क्रय (खरीद) को चाहनेवाले युद्धकलामे कुशल महान् योद्धाओने युद्ध प्रारम्भ कर दिया ॥४१॥

१ अ धीरधी । २. क ख ग घ म °यशश्चेतु । ३. = रण एवाजिर तस्मिन् । ४. = यस्मिन् । ५ आ उपमोत्प्रेक्षा चेति नास्ति । ६ श रातीति । ७. आ रु गतौ । ८ = तुल्या । ९ आ आह्वयते स्म । ह्वेञ् स्पर्धाया लुङ् । १०. श अभीप्सव ।

स्वामिप्रसादमासीद्यो मुखराग प्रतीच्छताम् ।
तेषामासीत्स[1] एवारिशरजालं प्रतीच्छताम् ॥४२॥
निजेषुरचितस्फारमण्डपोत्सारितातपाः ।
तत्र नाज्ञासिषुर्योधाः प्रहरन्तः परिश्रमम् ॥४३॥
स्वामिसमानयोग्यं यद्यत्स्वसंभावनोचितम् ।
यच्चाम्नायसमं तत्ते स्मारंस्मारं डुढौकिरे ॥४४॥
शस्त्रप्रहारैर्गुरुभिः समुदा येन यो जितः ।
तेनामर्षात्पुन सोऽस्त्रसमु[2]दायेन योजित. ॥४५॥
कस्याप्यश्वगतस्येभकुम्भं निर्भिन्दतोऽसिना ।
ततः पतन्त्यभा[3]त्पुष्पवृष्टिवन्मौक्तिकावलिः ॥४६॥

आरभन्त उपक्रमते[4] स्म । रभि[5] राभस्ये ॥४१॥ स्वामीति । स्वामिप्रसाद स्वामिन. प्रभो [6]प्रसादमादरम् । प्रतीच्छता वाञ्छताम् । यो मुखराग मुखे वदने रागो हर्ष. सतोष, पक्षे मुखे रागो रुधिरेणारुणता[7] । आसीत् अभवत् । लङ् । अरिशरजालम् अरे शत्रो शराणा बाणाना जाल समूहम् । प्रतीक्षताम् अङ्गीकुर्वताम् । तेषा भटानाम् । स एव मुखराग एव । अभूत् । लुङ् । यमकम् ॥४२॥ निजेष्विति । तत्र सग्रामे । निजेषुरचित-स्फारमण्डपोत्सारितातपा. निजाना स्वेषामिषुभिर्बाणै रचितेन निर्मितेन स्फारेण महता मण्डपेनोत्सारितो निवारित आतपो येषा ते । प्रहरन्त. युद्ध कुर्वाणा॰ । योधा भटा॰ । परिश्रमम् आयासम् । न आज्ञासिषुः न जानन्ति स्म । ज्ञा अवबोधने लुङ् ॥४३॥ स्वामीति । स्वामिसम्मानयोग्य स्वामिन. प्रभो सम्मानस्य सत्कारस्य योग्यम् । स्वसभावनोचित स्वेषा सभावनस्य सामर्थ्यस्योचितं योग्यम् । यद् यत् । (तत् तत्) सर्वम् । ते भटा स्मार स्मार स्मृत्वा स्मृत्वा । 'भृशाभीक्ष्ण्ये णमुल्' इति णमुल्–प्रत्यय डुढौकिरे ययुः । ढौकृ‌ गतौ लिट् ॥४४॥ शस्त्रेति । गुरुभि महद्भि. । शस्त्रप्रहारैः शस्त्राणामायुधाना प्रहारैर्घातै । समुदा सन्तोषयुक्तेन । येन भटेन । य भट । जितः पराजित । तेन पराजितभटेन । अमर्षात् क्रोधात् । पुनः पश्चात् स. विजयी भटः । अस्त्रसमुदायेन अस्त्राणामायुधाना समुदायेन निकरेण । योजित.[8] सवन्धितः[9] ॥४५॥ कस्येति । असिना खड्गेन । इभकुम्भम् इभस्य गजस्य कुम्भ कुम्भस्थलम् । निर्भिन्दत[10] विदलत. । अश्वगतस्य[11] अश्व वाजिन गतस्य यातस्य । कस्यापि कस्यचिद्भटस्य । तत. इभकुम्भात् । पतन्ती च्यवन्ती । मौक्तिकावलि. मौक्तिकाना मुक्ताफलानामावलि. सह्तति. । पुष्पवृष्टिवत् पुष्पाणा कुसुमाना वृष्टिवत् वर्षमिव ।

युद्ध क्षेत्रमे उतरनेसे पहले अपने स्वामीके प्रसादको ग्रहण करते समय योद्धाओंके चेहरोपर जो लालिमा और अनुराग था, युद्धक्षेत्रमे उतरनेपर शत्रुओंके बाणोको सहते समय भी उनके चेहरोपर वही लालिमा और अनुराग छाया हुआ था ॥४२॥ योद्धाओंने अपने बाणोंसे (आकाशमे) बहुत बड़ा मण्डप बनाकर धूपको दूर कर दिया था, इसलिए उन्हे प्रहार करनेपर भी आयास नही जान पड़ता था ॥४३॥ जो अपने स्वामीके सम्मानके, अपनी शक्तिके और अपनी परम्पराके योग्य था, उसे बारम्बार स्मरण करते हुए सैनिक आगे चले जा रहे थे ॥४४॥ एक योद्धाने शस्त्रोंके असह्य प्रहारोसे जिस विरोधीको जीत लिया था और खुशी मनाई थी, उसने पुनः क्रुद्ध होकर उसे (जिसने जीत लिया था) अस्त्रोंके समूहने पूर दिया ॥४५॥ अपने खड्गसे हाथीके गण्डस्थल-का विदारण करनेवाले किसी अश्वारोहीके ऊपर उस विदीर्ण गण्डस्थलसे गिरनेवाली गजमुक्ताओं-

१. म °मभूत् उ° । २ क ख ग प म सोऽस्त्रसमु° । ३. आ द परन्त्यभा° । ४. = उपक्रमन्ते । ५. आ रम । ६. – प्रसन्नताम् । ७. श °रक्तता । ८. = वेष्टितः । ९. आ संयोजित. । १०. = विदार-यत. । ११. = अश्वारूढस्य ।

योधाः शस्त्रक्षताः पेतुर्भूरितापा रणाशयाः ।
भूतैर्बुभुक्षितैर्युद्धभूरिता पारणाशया ॥४७॥
भग्ने चापे गुणे छिन्ने रिक्तीभूते च बाणधौ ।
कस्याप्यासीद् द्विषा दीर्घं दण्डादण्डि कचाकचि ॥४८॥
धीरधीरारिरुधिरैरुरुधाराधरैररम् ।
धरा धराधराधारा रुरुधेऽधोऽधराधरा ॥४९॥
ये तत्र जज्ञिरेऽस्राणां प्रगुञ्जन्निनदा नदाः ।
तेष्वासन्मूलनिर्लूना[1] करिणां मकराः कराः ॥५०॥

अभात् राजते[1] स्म । लङ् । उपमा[2] (उत्प्रेक्षा) ॥४६॥ योधा इति । रणाशयाः रणे संग्रामे आशयो योद्धुमभिप्रायो येषां ते । शस्त्रक्षताः शस्त्रेण खड्गेन क्षता हताः । भूरितापाः भूरि[3] बहुलः तापो येषां ते । योधा भटाः । पेतुः पतन्ति स्म । पत्लृ गतौ लिट् । बुभुक्षितैः भोक्तुं वाञ्छद्भिः[4] । भूतैः राक्षसैः । पारणाशया पारणाया भोजनं आशया वाञ्छया । युद्धभूः युद्धस्य रणस्य भूर्भूमिः । इता प्राप्ता । यमकम् ॥४७॥ [5]भग्न इति । चापे कोदण्डे । भग्ने वधिते । गुणे ज्यायाम् । छिन्ने त्रुटिते । बाणधौ इषुधौ । रिक्तीभूते शून्ये जाते च । कस्यापि भटस्य । द्विषा शत्रुणा । दीर्घं चिरम् । दण्डादण्डि दण्डाश्च दण्डाश्च परस्परस्य प्रहरण (यस्मिन्) युद्धे तद्दण्डादण्डि । 'मिथो ग्रहणे प्रहरणे च सरूप युद्धेऽव्ययीभाव.' इति समास. । कचाकचि कचाश्च कचाश्च परस्परस्य ग्रहण यस्मिन् युद्धे तत् कचाकचि । आसीत् अभवत् । लङ्[6] ॥४८॥ धीरेति । उरुधाराधरैः उर्वीं महतीं धारां प्रवाह धरन्तीत्युरुधाराधरास्तैः । धीरधीरारिरुधिरैः धीराणा धीरा धीरधीराः ते च तेऽरयश्च धीरधीरारय. तेषां रुधिरैः रक्तैः । धराधराधारा धराधराणां पर्वतानामाधाराऽधिकरणम्[7] । अधोऽधः [अध] अधोभागे[8] । 'सामीप्ये—' इत्यादिना द्वि. (?) । अधराधरा भृश निम्नरूपा । धरा भूमि । अरम् अत्यन्तम् । रुरुधे रुध्यते स्म । रुधृ् आवरणे कर्मणि लिट् । द्व्यक्षरचित्रम् ॥४९॥ [9]ये इति । तत्र रणभूमौ । अस्राणां रक्तानाम् । प्रगुञ्जन्निनदा प्रगुञ्जन्नव्यक्तो निनदो ध्वनिर्येषां ते । ये केचित् । नदा नद्य । जज्ञिरे जायन्ते स्म । जनैङ् प्रादुर्भावे लिट् । तेषां नदानाम् (तेषु नदेषु) । मूलनिर्लूना मूलात्[10] प्रथमात् निर्लूना खण्डिताः । करिणा गजानाम् । कराः शुण्डादण्डा । मकरा. जलचरविशेषा । आसन् अभूवन् । अस भुवि लङ् । यमकम्

की झड़ी पुष्पवृष्टि सरीखी प्रतीत हो रही थी ॥४६॥ रणकी इच्छासे कुछ योद्धा ज्योंही आगे बढ़े त्योंही वे शत्रुओंके शस्त्रोंसे घायल होकर अत्यधिक सन्तापका अनुभव करते हुए युद्ध भूमिमें गिर गये, और फिर पारणा करनेकी इच्छासे भूखे भूतोंने उसे घेर लिया ॥४७॥ एक धनुर्धारी योद्धा दूसरे धनुर्धारी योद्धासे लड रहा था, किन्तु जब उसका धनुष टूट गया, प्रत्यञ्चा कट गयी और तर्कस (तूणीर, जिसमे बाण रखे जाते हैं) खाली हो गया, तब उसने लाठी लेकर प्रतिपक्षीसे युद्ध किया, और जब लाठी भी टूट गयी तब वह उसके बालोको पकडकर लड़ा ॥४८॥ पर्वतोंका आश्रय पाकर रहनेवाली पृथिवी, नीचेकी ओर जिधर खूब ढालू थी, अत्यन्त धीर योद्धाओंके बडे-बडे, रुधिरके मेघोंके द्वारा लबालब भर दी गयी ॥४९॥ उस युद्धभूमिमे अव्यक्त शब्द करनेवाली रुधिरकी बडी-बडी नदियाँ बहने लगी । उनमे जड़से कटकर गिरी हुई

---

१. श आभात् राजति । २ आ 'उपमा' इति नास्ति । ३. श भूरि । ४ आ वाञ्छितै । ५. श भग्ने इति । ६ आ लुङ् । ७. आ धारा निलय । = धराधरा पर्वता एवाधारोऽवष्टम्भो यस्या सा । ८ आ अधोभागेऽधोभागे । ९ श ये । १०. = मूलभागत ।

कश्चिदालोहनिर्मग्नैः प्रत्यङ्गं पूरितः शरैः ।
बभावभ्यरि निष्कम्पः सप्ररोह इव द्रुमः ॥५१॥
केन तत्रसुरालोकं गतेन प्रेतवर्तिना ।
के न तत्र सुरा लोकं त्यक्त्वा स्वं कौतुकागताः ॥५२॥
जज्ञे मांसोपदंशासृगासवोन्मत्तचेतसाम् ।
डाकिनीनां नटन्तीनां कबन्धैर्नाट्यसूरिभिः ॥५३॥
निरन्तरनिपातीषुजालप्रच्छन्नमूर्तिना ।
भयादिव कुतोऽप्यासीद्भानुनापि पलायितम् ॥५४॥
योधानामायुधच्छिन्नैर्विरेजे रणरङ्गभूः ।
शिरोभिः शतपत्त्रौघैरिव व्योमसरश्च्युतैः ॥५५॥

॥५०॥ कश्चिदिति । प्रत्यङ्गम् अङ्गमङ्ग प्रति [2]प्रत्यङ्गम्, प्रत्यवयवमिति यावत् । आलोहनिर्मग्नै आलोह लोहशलाकापर्यन्त निर्मग्नै प्रविष्टै । शरैः बाणै । पूरित व्याप्तः। कश्चित् एको भट. । सप्ररोहः प्ररोहै. सहित. । द्रुम इव वृक्ष इव । अभ्यरि अरे शत्रोरभिमुखम्[3] । निष्कम्प निश्चलः। बभौ भातिस्म । उत्प्रेक्षा ॥५१॥ केनेति । स्वं स्वकीयम् । लोक जगत् । त्यक्त्वा विमुच्य । कौतुकागता कौतुकेन कुतूहलेन आगता आयाताः । के सुरा. के देवा. । तत्र रणे । आलोक दर्शनपदम् । गतेन यातेन । प्रेतवर्तिना प्रेते प्रेतभूमौ वर्तिना वर्तनशीलेन । केन मस्तकेन । 'क वारिणि च मूर्धनि च' । न तत्रसु. न विभ्यति स्म । [4]त्रसै उद्वेजने लिट् । यमकम् ॥५२॥ जज्ञ[5] इति । मासीपदशासृगासवोन्मत्तचेतसा मासमेवोपदशो यस्य तन्मासोपदश (तत्) च तत् असृग्रक्त च (तदेव) आसवो मद्य तेनोन्मत्तमुन्मादयुक्तं चेतो यासा तासाम् । नटन्तीना नृत्यन्तीनाम् । डाकिनीना पिशाचभेदानाम् । मध्ये । कबन्धै. शवैः । 'कबन्धोऽस्त्री क्रियायुक्तमपमूर्धकलेवरम्' इत्यमरः । नाट्यसूरिभिः नाट्यस्य[6] नाटकस्य सूरिभिराचार्यै । जज्ञे जायते स्म । जनैङ् प्रादुर्भावे लिट् । उत्प्रेक्षा (रूपकम्) ॥५३॥ निरन्तरेति । निरन्तरनिपातीषुजालप्रच्छन्नमूर्तिना निरन्तर निरवकाश निपातिनां निपततामिषूणा बाणाना जालेन समूहेन प्रच्छन्ना व्यवहिता मूर्तिर्यस्य तेन । भानुनापि सूर्येणापि । कुतोऽपि कस्मादपि । भयात् भीतेः । पलायितमिव विद्रुतमिव । उत्प्रेक्षा ॥५४॥ योधानामिति । आयुधच्छिन्नै आयुधै शस्त्रैश्छिन्नै छेदितैः । योधाना भटानाम् । शिरोभि मस्तकैः । रणरङ्गभूः रणस्य संग्रामस्य रङ्गस्य भूर्भूमि । व्योमसरश्च्युतैः卐

हाथियोकी सूडें मगर सरीखी प्रतीत हो रही थी ॥५०॥ किसी वीर योद्धाके अङ्ग-अङ्गमें बाण प्रविष्ट हो गये थे—बाणोंके नुकीले अगले भाग-जो लोहेके थे—अन्दर घँसे हुए थे और शेष भाग बाहर निकले हुए थे, फिर भी वह शत्रुके सामने निष्कम्प होकर खडा हुआ था। उस समय वह ऐसा जान पड़ता था मानो अङ्कुरित वृक्ष खड़ा हो ॥५१॥ रण देखनेके कौतूहलसे अपना लोक छोड़कर वहाँ (रण भूमिमे) आये हुए वे कौनसे देव थे, जो धड़से अलग हुए, मृत योद्धाके सिरको देखकर न डर गये हो ? ॥५२॥ मासरूपी जायकेदार खाद्यवस्तु और रुधिर रूपी मद्यका सेवन करनेसे डाकिनियोको उन्माद हो गया, उनके चित्त भ्रान्त हो गये और इसीलिए वे नाचने लगी। उन्हींके साथ धड़ भी नाच रहे थे, जो उन्हे नृत्यकी शिक्षा देनेवाले नाट्याचार्य सरीखे जान पडते थे ॥५३॥ निरन्तर गिरनेवाले बाणोके जालसे सूर्य तिरोहित हो गया—दृष्टिसे ओझल हो गया। अतएव ऐसा प्रतीत होता था मानो वह डरके कारण कही भाग गया हो ॥५४॥ आयुधोसे कटकर गिरे हुए योद्धाओंके सिरोंसे रणभूमिरूपी रङ्गमञ्च

१ अ आ इ सप्रारोह° । २. आ 'अङ्गमङ्ग प्रति प्रत्यङ्गम्' इति नोपलभ्यते । ३. श °मुखः । ४. आ त्रस्ये । ५. श जज्ञे । ६. = नृत्यस्य ।

येनैकोऽपि जितः श्लाघ्यः स्वामिनामा न ना नृता ।
बभूव तस्य न कृता स्वामिना माननानृता ॥५६॥
न पपात रणे तावद्वीरश्छिन्नेऽपि[1] मूर्धनि ।
तत्कालोद्गीर्णखड्गेन रिपुर्यावन्न पातितः ॥५७॥
पाणिभिर्गलितास्त्रौघाश्चरणैश्छिन्नपाणयः ।
छिन्नाङ्घ्रयो दुर्वचनैः प्रजह्रुः शौर्यशालिनः ॥५८॥
दन्तिनो दन्तिभिर्भिन्नाः पत्तयः पत्तिसादिताः ।
पेतू रथा रथिच्छिन्नास्तुरगास्तुरगिक्षताः ॥५९॥

व्योमैव गगनमेव सरः सरोवरः (र) तस्माच्च्युतैः [2]पतितैः卐। शतपत्रौघैरिव शतपत्राणां कमलानामोघैः समूहैरिव । विरेजे रराज । राजृ[3] दीप्तौ । लिट् । उत्प्रेक्षा ॥५५॥ येनेति । येन भटेन । श्लाघ्यः सस्तुत्य[4] । स्वामिनामा स्वामीति नाम यस्य स, महानित्यर्थः । कोऽपि[5] (एकोऽपि) ना पुमान् । न जितः न पराजितः । तस्य भटस्य नृता पुरुषत्वम् । न बभूव न भवति स्म । स्वामिना प्रभुणा [तस्य] मानना पूजना । अनृता असत्या । [न] कृता (न) विहिता । येन भटेन प्रतिभटो नजितस्तस्य पुरुषत्व व्यर्थमेव, जितश्चेत्सार्थकं भवति, इत्यर्थः । यमकम् ॥५६॥ नेति । धीरः[6] धैर्यवान् । मूर्धनि मस्तके । छिन्नेऽपि । तत्कालोद्गीर्णखड्गेन तत्काले शिरश्छेदनकाले उद्गीर्णेनोद्धृतेन खड्गेनायुधेन । रिपुः शत्रुः । यावत् यावत्पर्यन्तम् । न पातितः न घातितः । तावत् तावत् पर्यन्तम् । रणे सग्रामे । न पपात न च्यवति[7] स्म । पत्लृ गतौ लिट् । वीरपुरुषः परभटाननिहत्य स्वयं न पततीत्यर्थः ॥५७॥ पाणिभिरिति । गलितास्त्रौघाः गलिता रिक्ता अस्त्राणामायुधानामोघाः समूहा येषा ते । शौर्यशालिनः शौर्येण शूरत्वेन शालिनः सपक्षाः । पाणिभिः हस्तैः । छिन्नपाणयः छिन्ना खण्डिता पाणयो येषां ते । चरणैः पादैः । छिन्नाङ्घ्रयः छिन्ना भिन्नाः[8] अङ्घ्रयः पादा येषा ते । दुर्वचनैः दुष्टवचनैः । [9]प्रजह्रुः युयुधिरे । हृञ्[10] हरणे लिट् ॥५८॥ दन्तिन इति । दन्तिभिः करिभिः । भिन्ना छिन्ना । दन्तिनः करिणः । पत्तिसादिताः पत्तिभिः पदातिभिः सादिताः विदारिताः । पदातयः 卐 पः[11] (पा) दचारिभटाः रथिच्छिन्नाः रथिभिः रथारोहैश्छिन्ना भिन्नाः । रथाः स्पन्दनाः तुरगिक्षताः तुरगिभिः अश्वारोहैः क्षताः हताः । तुरगाः

ऐसा प्रतीत हो रहा था मानो उसके ऊपर आकाशरूपी सरोवरसे टूटकर कमलोंकी राशि गिर पड़ी हो ॥५५॥ जिस योद्धाने युद्धभूमिमे किसी एक भी श्लाघ्य 'स्वामी' कहे जानेवाले महान् प्रतिपक्षीको नही जीता, उसकी मर्दानगी (पुंस्त्व) झूठी पड़ गयी । फलतः उसके स्वामीने भी उसका सम्मान नही किया ॥५६॥ रणमे सिर कट जानेपर भी एक वीर तब तक भूमिपर नही गिरा, जब तक कि उसने तत्काल ही म्यानसे निकाली हुई तलवारसे शत्रुको गिरा नही दिया ॥५७॥ शूरवीर लोग अस्त्रोंके समाप्त होनेपर हाथोंसे प्रहार करने लगे, हाथोंके कट जानेपर पैरोंसे प्रहार करने लगे और फिर पैरोंके भी कट जानेपर दुर्वचनो अर्थात् गालियोंका प्रहार करने लगे ॥५८॥ द्वन्द्व युद्धमे हाथियोंके द्वारा घायल किये गये हाथी, घुड़सवारोंके द्वारा घायल किये गये घोड़े, रथारोहियोंके द्वारा तोड़े गये रथ और पयादोंके द्वारा मारे गये

---

१. आ इ क ख ग घ म 'धीरश्छिन्ने°' । २. आ स्वस्तिकान्तर्गतः पाठो नास्ति । ३ आ राजृ । ४. आ स्तुत्य । ५. 'कोऽपि' इति टीकाकृदभिमतः पाठः, प्रतिषु तु सर्वास्वपि 'एकोऽपि'—'येनैकोऽपि' इति समुपलभ्यते । ६ 'धीर' इति टीकायां मूलप्रतिषु तु 'वीरः' इत्येव पाठः समुपलब्धः । ७ = च्यवते । ८. आ भग्ना । ९ श प्रजगृहुः । १० आ हृ । ११. आ स्वस्तिकान्तर्गतः पाठो नोपलभ्यते ।

क्वचित्पतितपत्त्यश्वं क्वचिद्भग्नमहारथम् ।
क्वचिद्भिन्नेभमासीत्तद् दुःसंचारं रणाजिरम् ॥६०॥
भङ्गं गृह्णत्यथात्मीये सैन्येऽरिशरजर्जरे ।
पृथिवीपालसेनानीरुत्तस्थौ चन्द्रशेखरः ॥६१॥
भद्राः[1] किं प्रपलायध्वं मार्गोऽयमुचितो न वः ।
दैवादुपस्थिते कृच्छ्रे शूराणां विक्रमः क्रमः[2] ॥६२॥
संभ्रमं मा वृथा कुढ्वं रूढे रणधुरां[3] मयि ।
अदृष्टपूर्वं भवतां ननु पृष्ठ[4]मरातिभिः ॥६३॥

अश्वाः । पेतुः पतन्ति स्म । पत्लृ गतौ लिट् । दीपकम् ॥५९॥ क्वचिदिति[5] । क्वचित् कस्मिंश्चित्प्रदेशे । पतितपत्त्यश्वं पतिता निपतिता पत्तयः पदातयः अश्वाः तुरगा यस्मिन् तत् । क्वचित् प्रदेशे । भिन्नेभं भिन्नाः खण्डिता इभा गजा यस्मिन् तत् । रणाजिरं रणस्य सग्रामस्याजिरमङ्गणम् । दुःसंचारं संचरितुमशक्यम् । आसीत् अभूत् । अस भुवि लङ् ॥६०॥ भङ्गमिति । अथ वीरभटयुद्धानन्तरम् । अरिशरजर्जरे अरीणां शत्रूणां शरैर्बाणैर्जर्जरे[7] ग्लाने । आत्मीये स्वकीये । सैन्ये सेनायाम् । भङ्गं पराजयम् । गृह्णति सति याते सति । पृथिवीपालसेनानीः पृथिवीपालस्य सेनानीः सेनापतिः । चन्द्रशेखरः चन्द्रशेखरनामधेयः । उत्तस्थौ आगतः ॥६१॥ भद्रा इति । भद्राः भो मङ्गलपुरुषाः । [किं] किंनिमित्तम् ? प्रपलायध्वं धावत । अय[8] गतौ । लोट्[9] । 'रो लोऽयौ'[10] इति प्रर[11] शब्दस्य र ल । अयम् एष । मार्गः । वः युष्माकम् । 'पदाद्वाक्यस्य—' इत्यादिना युष्मच्छब्दस्य षष्ठीबहुवचनस्य वसादेशः । उचितो न योग्यो न भवति । दैवात् विधिवशात् । शूराणां वीरपुरुषाणाम् । कृच्छ्रे कष्टे । उपस्थिते[12] सति समीप गते सति[13] । विक्रमः पराक्रमः । क्रमः परिपाटी । अर्थान्तरन्यासः ॥६२॥ संभ्रममिति । मयि । रणधुरां रणस्य सग्रामस्य धुरां भारम् । रूढे वहति[14] सति । वृथा मुधा । संभ्रमं[15] संचलनम् । मा कुढ्वं मा कुरुध्वम् । डुकृञ् करणे लुङ् । भवतां युष्माकम् । पृष्ठं पृष्ठभागः । आरातिभिः शत्रुभिः । अदृष्टपूर्वं ननु दृष्टपूर्वं न भवति खलु । प्राक् पलायिता न भवत इत्यर्थः ॥६३॥

पयादे रणक्षेत्रमे गिरने लगे ॥५९॥ रणाङ्गणमे कही पयादे पडे हुए थे, कही घोडे तड़प रहे थे, कही घायल हाथी छटपटा रहे थे और कही टूटे हुए बडे-बड़े रथोका अम्बार लगा हुआ था । अतएव वहाँ सचार करना कठिन हो गया ॥६०॥ शत्रुओके बाणोसे जर्जर होकर अपनी सेना ज्योही हिम्मत हारकर पराजय मानने और भागनेके लिए तैयार हुई, त्योही पृथिवीपालका सेनापति चन्द्रशेखर उठकर सामने आ गया ॥६१॥ और यो कहने लगा—'हे भद्र पुरुषो ! क्यों भाग रहे हो ? यह भागनेका मार्ग तुम्हारे लिए उचित नही है । भाग्यवश सङ्कट उपस्थित हो जानेपर पराक्रम दिखलाना शूरवीरोकी परिपाटी है ॥६२॥ सङ्ग्रामका भार मैं संभालता हूँ । आप लोग व्यर्थ ही मत घबराओ । निश्चय ही आप लोगोंकी पीठको शत्रुओने आज तक नही देखा—आप लोग पहले कभी भी पीठ दिखलाकर सङ्ग्राम भूमिसे नही भागे ॥६३॥

---

१. अ क ख ग घ म भटाः । २ क ख ग घ म विक्रमक्रम । ३. आ इ रणधुरं । ४. अ दृष्टम° । ५ आ अस्य श्लोकस्य व्याख्यापूर्णा समवलोक्यते । ६. आ °जर्झरे । ७. आ °जर्झरे । ८ आ अय पय । ९ म लेट् । १०. श 'रो लोऽयौ' इति नास्ति । ११ आ पर श° । १२ = समायाते । १३. आ 'समीपे गते सति' इति नास्ति । १४. आ 'वहति' इति नास्ति । १५ श सभ्रम. ।

प्राणैरस्थास्नुभिः स्थास्नु यशश्चेदधिगम्यते ।
क्रियते स्वामिकार्यं च ना पुष्येद्[1] मरणं रणे ॥६४॥
इति संधीरयन्नात्मसैन्यं रणपराङ्मुखम् ।
डुढौके चण्डदोर्दण्डकृष्टकोदण्डदारुण. ॥६५॥
शरपञ्जरसंछन्न[2]समस्तगगनोदरः ।
चकार क्षणमात्रेण स शत्रुकुलमाकुलम् ॥६६॥
तं रथस्थं रथारूढः स्वर्भानुरिव भास्करम् ।
भीमः कटाक्षयामास पद्मनाभचमूपति·[3] ॥६७॥
तयोर्बभूव तुमुलं रणधूर्धरयो रणम्[4] ।
व्योमव्यापीषुसंपातैर्दूरमुत्सारितामरम् ॥६८॥

प्राणैरिति । चेत् यदि । अस्थास्नुभि (वि-) शरारुभिः । प्राणै असुभि । स्थास्नु स्थिररूपम् । यश· कीर्ति । अधिगम्यते लभ्यते । गम्लृ गतौ कर्मणि लट् । स्वामिकार्यं च स्वामिनः प्रभो कार्यं सेवन [च] क्रियते विधीयते । कर्मणि लट् । रणे सग्रामे । ना भटपुरुष मरण प्राणत्यागम् । पुष्येत् प्रवर्धयेत् । पुष पुष्टौ कर्मणि लिङ् । भटो रणे मरण शोभावह मन्यत इत्यर्थः । अर्थान्तरन्यासः ॥६४॥ इतीति । रणपराङ्मुख रणस्य सग्रामस्य[5] पराड्मुख विमुखम् । आत्मसैन्यम् आत्मनो निजस्य सैन्य सेनाम् । इति उक्तप्रकारेण । सधीरयन् धैर्ययुक्त कुर्वन् । चण्डदोर्दण्डकृष्टकोदण्डदारुण चण्डेनोग्रेण दोर्दण्डेन भुजदण्डेन कृष्टेनाकृष्टेन कोदण्डेन चापेन दारुणो भयंकर । डुढौके रुरुधे । ढौकृन् गतौ लिट् । जाति. ॥६५॥ शरेति । शरपञ्जरसछन्नसमस्तगगनोदर शराणां बाणाना पञ्जरेण सछन्न गगनस्याकाशस्योदर मध्यप्रदेशो यस्य[6] स । चन्द्रशेखर क्षणमात्रेण अल्पकालमात्रेण । शत्रुकुल रिपुकुलम् । आकुल चिन्ताक्रान्तम् । चकार विदधौ[7] । लिट् । जाति ॥६६॥ तमिति । रथारुढ रथ स्यन्दनमारूढः । भीम भीमनामधेय । पद्मनाभचमूपति पद्मनाभस्य राज्ञ चमूपतिः सेनापति । रथस्थं रथे स्थितम् । त चन्द्रशेखरम् । भास्कर सूर्यम् । स्वर्भानुरिव राहुग्रह इव । कटाक्षयामास अपाङ्गेन वीक्षा[8] चकार । उपमा ॥६७॥ तयोरिति । रणधूर्धरयो रणस्य सग्रामस्य धुर भार धरयोर्धरतो· । तयोः भीमचन्द्रशेखरयोः । व्योमव्यापीषुसपातै. व्योम गगन व्यापिना सकिरतामिषूणा बाणाना सपातैर्विमोचनै. । दूरं विप्रकृष्टम् । उत्सारितामरम् उत्सारिता निवारिता अमरा देवा यस्मिन् (यस्मात्) तत् । तुमुल परस्पर-

यदि अस्थिर प्राणोसे स्थिर यश मिल जाता है और साथमे अपने स्वामीका काम भी हो जाता है, तो सङ्ग्राममे मर जाना बुरा नही—कोई घाटेका सौदा नहीं है । एक योग्य सैनिक ऐसे मरणका अवश्य ही समर्थन करेगा ॥६४॥ अपनी, रण विमुख सेनाको इस तरह ढाढस बंधाता हुआ सेनापति चन्द्रशेखर आगे बढ़ा, और उसने अपने प्रचण्ड भुजोंसे धनुष खींचना शुरू कर दिया । इस समय वह बडा ही भयङ्कर दिखलाई पड रहा था ॥६५॥ सेनापति चन्द्रशेखरने आकाशके मध्यभागको बाणोंके पञ्जरमे बन्द कर दिया—आकाशके मध्यमे चन्द्रशेखरके बाण-ही-बाण दृष्टिगोचर हो रहे थे । बाणोंसे खाली आकाश किसी ओर भी दृष्टिगोचर नही हो रहा था । उसने क्षणभरमे शत्रुओके समुदायको व्याकुल कर दिया ॥६६॥ रथपर बैठे हुए सेनापति चन्द्रशेखरको पद्मनाभके सेनापति भीमने—जो रथके ऊपर आरूढ़ था—वक्रदृष्टिसे देखा । जैसे राहु सूर्यको देखता है ॥६७॥ युद्धकलामे कुशल भीम और चन्द्रशेखर सेनापतिमे घोर सङ्ग्राम

१. 'पुष्येत्' इति टीकानुसारी पाठ, प्रतिषु तु 'नाकृत्यं मरण रणे' इति दृश्यते । २. क ख ग °संछिन्न° । ३ म 'त्रिभि कुलकम्' । ४. अ °दुर्धरयो रणम् । ५ = रणात् संग्रामात् । ६ = येन । ७. = विदधे । ८. श ईक्षा ।

परस्परास्त्रसंघट्टप्रोच्छलद्धुतभुक्छिखम् ।
तीक्ष्णरोपपरिक्षेपखण्डितान्योन्यकेतनम् ॥६९॥
प्रध्वनद्धनुरारावरोषितक्षीबकुञ्जरम् ।
प्रहारविगलद्रक्तधारारचितदुर्दिनम् ॥७०॥
रन्ध्रं प्राप्यार्धचन्द्रेण ततो भीमस्य भासुरम् ।
किरीटं पातयामास सचिह्नं शशिशेखरः ॥७१॥
भीमेनापि हतः शक्त्या क्रोधादरिरुरःस्थले ।
निपपात वमन्नस्रं[1] सह स्वामिजयाशया ॥७२॥
पुरः पतितमालोक्य तं प्रतापमिव प्रभोः ।
केतुः केतुरिवोत्तस्थौ त्रासयन्नखिलं जनम् ॥७३॥

सघट्टनरूपम् । रण (रण.) सग्राम । बभूव भवति स्म । लिट् ॥६८॥ परस्परेति । परस्परास्त्रसघट्टप्रोच्छलद्धुतभुक्शिखं परस्परस्यान्योन्यस्य अस्त्राणा सघट्टनेन[2] स्पर्द्धेन प्रोच्छलन्ती उद्गच्छन्ती हुतभुजो अग्नेः शिखा ज्वाला यस्मिन् तत् । तीक्ष्णरोपपरिक्षेपखण्डितान्योन्यकेतन तीक्ष्णरोपाणा बाणाना परिक्षेपेण विकिरणेन खण्डितानि छिन्नानि अन्योन्यस्य केतकानि[3] ध्वजानि यस्मिन् (तत्) ॥६९॥ प्रध्वनदिति । प्रध्वनद्धनुरारावरोषितक्षीबकुञ्जर प्रध्वनता ध्वनिं कुर्वता धनुषा चापानामारावेण शब्देन रोषिता कोपिताः क्षीबा मत्ता कुञ्जरा गजा यस्मिन् तत् । प्रहारविगलद्रक्तधारान्तरितदुर्दिनं[4] प्रहारेण प्रहरणेन विगलन्त्या प्रस्रवन्त्या रक्तस्यासृजो धारया प्रवाहेणान्तरित व्यवहितं दुर्दिन मेघच्छन्नदिन यस्मिन्[5] तत् । त्रिभि कुलकम् (विशेषकम्) ॥७०॥ रन्ध्रमिति । तत. पश्चात् । शशिशेखर. चन्द्रशेखर । रन्ध्रं समयम् । प्राप्य लब्ध्वा । अर्धचन्द्रेण[6] अर्धचन्द्राकारेण बाणेन । भीमस्य पद्मनाभसेनापते. । भासुरं देदीप्यमानम् । किरीट मकुटम् । सचिह्नं ध्वजसहितम्[7] । 'ध्वज पताका केतुश्च चिह्न यद्वैजयन्त्यपि' । पातयामास अपनिनाय । पत्लृ गतौ णिजन्ताल्लिट् ॥७१॥ भीमेनेति । भीमेनापि पद्मनाभस्य सेनापतिनापि । क्रोधात् कोपात् । उर स्थले वक्ष.स्थले । शक्त्या शक्त्यायुधेन । हतः हिंसित॰ । अरि शत्रु । स्वामिजयाशया स्वामिनोर्विभोर्जयस्य विजयस्याशया वाञ्छया । सह साकम् । अस्र रक्तम् । वमन् उद्गिरन् । निपपात पतति स्म । लिट् । सहोक्तिः[8] ॥७२॥ पुर इति । प्रभो. स्वामिन । प्रतापमिव सामर्थ्यमिव । पुर अग्रे । पतित तं चन्द्रशेखरम् । आलोक्य वीक्ष्य । केतुरिव धूमकेतुवत् । केतु केतुराज । निखिल[9] सकलम् । जन लोकम् । त्रासयन् तर्जयन् । उत्तस्थौ उत्तिष्ठति स्म ।

छिड़ गया । दोनोके आकाशव्यापी बाणोके गिरनेसे देव लोग वहाँसे बहुत दूर हट गये ॥६८॥ परस्परके अस्त्रोंके टकरानेसे अग्निकी ज्वाला निकल पड़ी । तीखे बाणोके प्रहारसे दोनोने एक दूसरेके झण्डे काट डाले ॥६९॥ दोनोंके धनुषोंके शब्द सुनकर मदोन्मत्त हाथी क्रुद्ध हो उठे, और अस्त्रोके प्रहारसे रुधिरकी धारा बहने लगी, उसने वर्षाकालीन दिनको—जिसमे खूब मेघ घुमड रहे हो—मात कर दिया ॥७०॥ चन्द्रशेखरने अवसर पाकर अर्धचन्द्राकार बाणसे भीमका चिह्न सहित देदीप्यमान मुकुट गिरा दिया ॥७१॥ भीमने भी क्रुद्ध होकर चन्द्रशेखरके सीनेपर शक्ति नामक आयुधका प्रहार किया, जिससे उसके मुखसे खून आने लगा, और फिर वह अपने स्वामीकी विजयकी आशाके साथ नीचे गिर गया ॥७२॥ राजा पृथिवीपालके प्रतापके समान प्रतीत होनेवाले चन्द्रशेखरको सामने गिरा हुआ देखकर केतु

१ म वमन्नस्त्रं । २ = संघर्षणेन । ३ = ध्वजा । ४. एष टीकाश्रय पाठ, प्रतिपु तु °रचितदुर्दिनम् इत्येव दृश्यते । ५ = येन । ६. श °चन्द्रिणा । ७ आ ध्वजसहित यथा । ८ श उपमा ।
९. एष टीकाश्रयः पाठ. प्रतिपु तु 'अखिलं' इति समुपलभ्यते ।

स क्रुद्धेन सुभीमेन स्फुरद्दर्पमहाविष ।
तार्क्ष्येणाशीविष इव निर्विषीकृत्य तर्जित. ॥७४॥

रथस्थेन समुत्तस्थे भग्ने केतौ सुकेतुना ।
पुरः प्रदर्शितात्मीयमरुच्चञ्चलकेतुना ॥७५॥

तं महास्त्रैर्महासेनश्चकार शतशर्करम् ।
दुर्धरै.प्रलयाम्भोदो[1] वज्रैरिव महीधरम् ॥७६॥

वीक्ष्य तार्क्ष्यमिव छिन्नपक्षं तं पतितं रणे ।
विरोचन इवासह्यधामाधावद्विरोचनः ॥७७॥

त गजस्थं गजारूढ. सेनः सेना[2] समन्वित. ।
संमुखैर्विमुखं बाणैर्विदधे पुरुविक्रमः[3] ॥७८॥

लिट् । उपमा ॥७३॥ स इति[4] । स्फुरद्दर्पमहविष' स्फुरन् प्रज्वलन् दर्प इव (एव) महत् पृथुल विष गरल यस्य स । स केतुराज. । क्रुद्धेन[5] कोपितेन । भीमेन पद्मनाभस्य सेनान्या । रूपकम् । तार्क्ष्येण गरुडेन । आशीविष इव सर्पवत् । निर्विषीकृत्य सामर्थ्यरहित कृत्वा । तर्जित त्यक्त । उपमा ॥७४॥ रथेति । केतौ केतुराजे । भग्ने[6] भङ्ग याते सति । पुरः अग्रे । प्रदर्शितात्मीयमरुच्चञ्चलकेतुना प्रदर्शिता. प्रकाशिता आत्मीया स्वकीया मरुता वायुना चञ्चला कम्पमाना केतव पताका यस्य तेन । रथस्थेन रथे आस्थितेन[7] । सुकेतुना सुकेतुराजेन । समुत्तस्थे समुत्थीयते स्म ॥७५॥ तमिति । प्रलयाम्भोद प्रलयस्य प्रलयकालस्याम्भोदो मेघ । दुर्धरै दुर्वारै । वज्रै अशनिभि । महीधरमिव पर्वतमिव । महासेन महासेनराज । महास्त्रै. महाशस्त्रै । त सुकेतुम् । शतशर्कर शतखण्ड शतचूर्णं वा । चकार करोति स्म । उपमा ॥७६॥ वीक्ष्येति । छिन्नपक्ष छिन्नो भिन्न. पक्ष पतत्र यस्य तम् । तार्क्ष्यमिव गरुडमिव । रणे सग्रामे । पतित च्युतम् । त सुकेतुम् । वीक्ष्य दृष्ट्वा । विरोचन इव सूर्य इव । असह्यधामा असह्य सोढुमशक्य धाम तेजो यस्य स' । विरोचन विरोचनराज । अधावत् वेगेनागच्छत् । सृ गतौ लङ् । उपमा ॥७७॥ तमिति । गजारूढ गज करिणमारूढ । पुरुविक्रम पुरुर्महान् विक्रम पराक्रमो यस्य स । सेन पद्मनाभपक्षसेनराज । सेनासमन्वित[8] सेनया समन्वित सहितम् । गजस्थ गजारूढम् । त विरोचनराजम् । समुखै अभिमुखै । बाणै शरै । विमुख

ग्रह सरीखा केतु नामक राजा सभी प्रतिपक्षी लोगोको भयभीत करता हुआ लडनेके लिए खडा हो गया ॥७३॥ जहरीले नागको भाँति केतुका घमण्ड रूपी तीव्र विष बढता जा रहा था, पर भीमने गरुड़की तरह क्रुद्ध होकर विष उतार दिया और उसे निर्जीव-सा कर दिया ॥७४॥ केतुके पराजित हो जानेपर सुकेतु सामने आया, वह रथपर सवार था और उसके द्वारा प्रदर्शित झण्डा हवासे लहरा रहा था ॥७५॥ उसे महासेनने अपने बडे-बडे अस्त्रोसे सौ टूक कर डाला । जिस तरह प्रलयकालीन मेघ दुर्वार वज्रोको बरसाकर पहाडको सौ टूक कर देता है—चूर-चूर कर देता है ॥७६॥ कटे पखोवाले गरुडकी भाँति उस सुकेतुको रणमे गिरा हुआ देखकर सूर्यकी तरह असह्य तेजको धारण करनेवाला विरोचन बडे वेगसे सामने आया ॥७७॥ वह हाथीपर सवार था, अत अत्यन्त पराक्रमी सेन राजाने भी—जिसके साथ सेना भी थी—हाथीपर चढकर उसे

---

१. म दुर्धरप्रलयाम्भोद° । २. इ सेन सेना° । ३ अ गुरुविक्रम । ४ श 'सक्रुद्धेन ' इत्यादि पद्यस्य व्याख्या नोपलभ्यते । ५ =कुपितेन । ६. =पराजिते । ७. =रथारूढेन । ८ एष टीकाश्रय' पाठ., प्रतिपु तु '°समन्वित ' इत्येव दृश्यते ।

धनुर्महारथेनाथ दुधुवे धैर्यशालिना ।
स्वपक्षव्यसनालोकसमुद्दीपितचेतसा ॥७९॥
नग्नश्रावितनामासौ बद्धभ्रुकुटिभीषणः ।
ववर्ष शरधाराभिरभि शत्रुपताकिनीम् ॥८०॥
क्वासौ भीमरथो यस्य बलेन किल जेष्यति ।
पद्मनाभो नटत्क्रूरकबन्धामरिवाहिनीम् ॥८१॥
गर्वगद्गदमित्युक्त्वा चिह्नोद्देशेन संमुखम् ।
धावन्प्रत्यवतस्थेऽरिः शरैर्भीमरथेन सः ॥८२॥
चिरमक्षतदेहौ तौ शरैरप्राप्तखण्डितैः ।
युयुधाते महावीरौ विस्मितामरवीक्षितौ ॥८३॥

पराङ्मुखम् । विदधे चक्रे । लिट् ॥७८॥ धनुरिति । अथ विरोचनवैमुख्यानन्तरम्[1] । स्वपक्षव्यसनालोकसमुद्दीपितचेतसा स्वस्य आत्मनः पक्षस्य व्यसनस्य आलोकेन[2] वीक्षणेनोद्दीपित कोपित चेतश्चित्त यस्य तेन । धैर्यशालिना धैर्येण धीरत्वेन शालिना सपन्नेन । महारथेन महारथराजेन । धनुः चाप[3] । दुधुवे धूयते स्म[4] । धूञ्[5] कम्पने कर्मणि लिट् ॥७९॥ नग्नेति । नग्नश्रावितनामा नग्नै स्तुतिपाठकै श्रावितमाकर्णित (श्रुतिविषयता नीत) नाम यस्य स । बद्धभ्रुकुटिभीषणः बद्धया रचितया भ्रुकुट्या भ्रूभङ्गेन भीषणो भयङ्कर. । असौ महारथः । शत्रुपताकिनी रिपुसेनाम् । अभि अभिमुखम् । शरधाराभि शराणा बाणाना धाराभिः प्रवाहै. । ववर्ष वर्षति स्म । वृष(षू) सेचने लिट् ॥८०॥ क्वेति । यस्य राज्ञा । बलेन सहायेन । पद्मनाभभूपः । नटत्क्रूरकबन्धा नटन् नृत्यन् क्रूरो निष्ठुर कबन्ध शवो यस्या ताम् । अरिवाहिनीम् अरेः शत्रोर्वाहिनी सेनाम् । जेष्यति परिभविष्यति किल । असौ एष । भीमरथ. भीमरथनामा । क्व कुत्र वर्तते ? ॥८१॥ गर्वेति । गर्वगद्गद गर्वेणाहङ्कारेण गद्गदोऽव्यक्तवचन यस्मिन्कर्मणि तत्० । इति एवम् । उक्त्वा निगद्य । चिह्नोद्देशेन चिह्नेन लक्षणेन उद्देशेन वचनेन । समुखम् अभिमुखम् । धावन् वेगेनागच्छन् । स । अरिः शत्रु । भीमरथेन भीमरथराजेन । शरै बाणैः । प्रत्यवतस्थे निरुध्यते स्म । ष्ठा[6] गतिनिवृत्तौ कर्मणि

सम्मुख बाणोसे विमुख कर दिया ॥७८॥ विरोचनके पराङ्मुख होते ही महारथने—जो धैर्यसे विभूषित था और जिसे अपने पक्षपर आये हुए सङ्कटको देखकर क्रोध उत्पन्न हो गया था—धनुष उठा लिया, और उसे हिलाना शुरू कर दिया ॥७९॥ लोगोने उसका नाम स्तुति पाठकोसे सुना । भ्रकुटि टेढी कर लेनेसे वह बड़ा भयङ्कर दिख रहा था । उसने शत्रु सेनापर बाण बरसाना प्रारम्भ किया ॥८०॥ 'पद्मनाभ, जिसके बलसे शत्रुओंकी सेनाको—जिसमे धड़ नाच रहे हैं—जीतेगा वह भीमरथ कहाँ है ?' ॥८१॥ गर्वसे गद्गद होकर यो कहते ही महारथ भीमरथके चिह्नको लक्ष्यकर उसकी ओर दौडा, पर भीमरथने अपने बाणोसे उसे बीच ही मे रोक दिया ॥८२॥ वे दोनो ही बड़े वीर थे, और थे धनुर्विद्यामे प्रवीण । दोनो एक दूसरेके ऊपर बाण बरसा रहे थे, किन्तु बीचमे ही काट दिये जानेसे, वे किसीको भी नही लग पाते थे । अतः दोनो बहुत देर तक लडते रहे, पर घायल नही हुए । देव लोग भी उन्हें

---

१. आ °विमुखान° । २. श व्यसनस्यास्वर्धनपत्तेरालोकेन । ३. = चापः । ४. श दुदुवे दूयते स्म । ५. दुल् । ६. श स्था ।

ककुप्पर्यन्तविश्रान्ततद्बाणभयविह्वलम् ।
नूनं व्योम तदा ह्यासीन्मुक्तमूर्तिपरिग्रहम् ॥८४॥
वीराभि[1]लाषात्सर्पन्ती समीपमुभयोर्मुहुः ।
गतागतपरिक्लेशं न जयश्रीरजीगणत् ॥८५॥
मन्त्रेणेव ततः शत्रोः शङ्कुना मूर्ध्नि ताडितः ।
मूर्च्छां भीमरथो भीमभुजंगम इवागमत् ॥८६॥
क्षणं प्रतीक्षते यावत्क्षात्रध[2]र्माश्रयादरिः ।
उत्तस्थौ दशनैस्तावत्स दशन्दशनच्छदम् ॥८७॥

लिट् ॥८२॥ चिरमिति । अग्रासखण्डितै अग्रासैरनालग्नै खण्डितैश्छिन्नैः । शरै बाणैः । चिर बहुकाल-पर्यन्तम् । अक्षतदेहौ अक्षतौ अबाधितौ देहौ ययोस्तौ । महावीरौ महाविक्रान्तौ । विस्मितामरवीक्षितौ विस्मितैराश्चर्ययुक्तैरमरैर्देवैर्वीक्षितौ दृष्टौ । तौ महारथभीमरथौ । युयुधाते युध्येते स्म । युधि सम्प्रहारे लिट् ॥८३॥ ककुबिति । ककुप्पर्यन्तविश्रान्ततद्बाणभयविह्वल ककुभां दशदिशां पर्यन्तेऽवसाने विश्रान्तैः पतितैस्तयो-र्महारथभीमरथयोर्बाणैः शरैर्जातेन भयेन विह्वल मूर्च्छितम् । व्योम गगनम् । तदाद्य [तदा हि] ततः प्रभृति । मुक्तदेहपरिग्रहं मुक्तस्त्यक्तो देहस्य शरीरस्य परिग्रहो[3] यस्य[4] तत् । आसीत् अभूत् । लङ् । नून निश्चयोऽयम् । अनुमिति[5] ॥८४॥ वीरेति । वीराभिलाषात् वीरस्य शूरस्याभिलाषाद् वाञ्छायाः सकाशात् । उभयोः महारथभीमरथयोः । समीपम् अन्तिकम् । मुहु[6] पश्चात् । सर्पन्ती गच्छन्ती । जयश्रीः जयलक्ष्मीः । गतागतपरिक्लेश गतागताभ्यां गमनागमनाभ्यां जात परिक्लेश श्रमम् । नाजीगणत्[7] सख्या न करोति स्म । गण संख्याने लुङ् ॥८५॥ मन्त्रेणेति । तत पश्चात् । मन्त्रेणेव मन्त्रप्रयोगेणेव । शत्रो रिपो । शङ्कुना शङ्कुनाम्नायुधेन । मूर्ध्नि मस्तके । ताडित[8] प्रहारित । भीमरथ भीमरथराज । भीमभुजङ्गम इव भीमो भयङ्करः स चासौ भुजङ्गमश्च सर्पश्च तथोक्तः स इव । मूर्च्छां[9] विह्वल । अगमत् अगच्छत् । लुङ् । उपमा ॥८६॥ क्षणमिति । अरि महारथ । क्षात्रधर्माश्रयात् क्षात्रस्य[10] क्षत्रसबन्धस्य धर्मस्य स्वभावस्याश्रयाधाश्र-यणात् । यावत् यावत्पर्यन्तम् । क्षण स्वकल्पकालपर्यन्तम् । प्रतीक्षते[11] विलोकते । [तावत्] तावदेव । दशनै दन्तै । दशनच्छदम् ओष्ठम् । दशन् पीडयन् । स. भीमरथ । उत्तस्थौ उत्तिष्ठति स्म । लिट् ।

आश्चर्यसे देख रहे थे ॥८३॥ इसके पश्चात् दोनोका युद्ध और भी उग्र हो गया । दोनोंके बाण दिशाओंके अन्त तक पहुँचने लगे, जिससे उस समय आकाश भी भयभीत हो गया । मानो इसीलिए उसने मूर्तिका परिग्रह छोड दिया—आमूर्तिक हो गया ॥८४॥ दोनोंकी बराबरीकी जोड़ी थी, अतः कभी एक की विजय होती थी तो कभी दूसरेकी । दोनोमे जो भी वीर निकलेगा, उसे पानेकी अभिलाषासे विजयलक्ष्मी बार-बार दोनोंके पास आ-जा रही थी उसने जाने-आनेके बहुत भारी क्लेशकी कोई पर्वाह नही की । वीरवरके वरणकी कामना जो थी ॥८५॥ जिस प्रकार मन्त्रसे कीलित सर्प, चाहे कितना ही भयङ्कर क्यो न हो, मूर्च्छित हो जाता है । इसी प्रकार महारथके बाणकी नोक सिरमे धँस जानेसे भीमरथ—जो जहरीले काले नागकी भाँति भयङ्कर था—मूर्छित हो गया ॥८६॥ भीमरथके बेहोश हो जाने-पर महारथने क्षत्रिय धर्मका पालन करनेके लिए प्रहार बन्द कर दिया, और थोडी देर तक

१ अ वीरोऽभि° २ आ इ क्षत्त्रधर्मा° ॥ ३. आ भवानि परिग्रहो°, श भवः परिग्रहो° । ४ =येन । ५. =उत्प्रेक्षा । ६ =पुन पुन. । ७. =न गणयामास । ८ =ताडन प्रापित. । ९ =विह्वलताम् । १०. =क्षत्रसबन्धिन. । ११. प्रतिपालयति ।

क्रोधस्तदङ्गे यः पूर्वं मनाक्सुप्त इव स्थितः ।
गाढारातिप्रहारेण स प्रबुद्धः[1] क्षणादभूत् ॥८८॥
स रोषाद्द्विगुणोत्साहो दन्तिना प्रेर्य दन्तिनम् ।
प्रतीच्छन्सुरसूनौघं[2] जीवग्राहं तमग्रहीत् ॥८९॥
ततः पितुर्ग्रहामर्षा[3]त्समुत्तेजितसारथिः ।
रथी सूर्यरथोऽधावद्धीरध्वनि धुनन्धनुः[4] ॥९०॥
समापतन्त[5]मालोक्य पितुः श्रान्तस्य संमुखम् ।
महीरथस्तमाक्रास्त दत्त्वा स्वरथमन्तरा ॥९१॥
प्रहृत्य च चिरं चञ्चच्चारुचामीकरच्छवौ ।
निचखान तदीयोरःस्थलस्थाले[6] शिलीमुखम् ॥९२॥

समाहितः ॥८७॥ 卐 क्रोध इति । तदङ्गे तस्य भीमरथस्याङ्गे शरीरे । पूर्वं प्राक् । मनाक् ईषत् । सुप्त इव । स्थितः आसितः । यः क्रोधः कोपः[7] 卐 । गाढारातिप्रहारेण गाढेन दृढेनारातेः शत्रोः प्रहारेण ताडनेन । सः क्रोधः । क्षणात् शीघ्रात्[8] । प्रबुद्धः[9] जागरितः । अभूत् । लुङ् ॥८८॥ स इति । रोषाद्द्विगुणोत्साहः रोषेण कोपेन द्विगुणो[10] द्विगुणयुक्तः उत्साहो वीररसो यस्य सः । सः भीमरथः । दन्तिना गजेन । दन्तिनं गजम् । प्रेर्य प्रेरयित्वा । सुरसूनौघं सुरैर्देवैः कृतं सूनौघं पुष्पवृष्टिम् । प्रतीच्छन् अङ्गीकुर्वन् । तं महारथम् । जीवग्राहं[11] गृहीतपुरुषम् । अग्रहीत्[12] । ग्रह[13] उपादाने लुङ् । 'कृञ् ग्रहोऽकृतजीवात्' इति णम्-प्रत्ययः ॥८९॥ तत इति । ततः पश्चात् । पितुः जनकस्य । ग्रहामर्षात् ग्रहाद् ग्रहणाज्जाताद् अमर्षात् कोपात् । समुत्तेजितसारथिः[14] समुत्तेजितः प्रेरितः सारथिः सूतो येन सः । रथी[15] रथयुक्तः । सूर्यरथः[16] सूर्यस्य रथनामा महारथपुत्रः । धीरध्वनि धीरो गम्भीरो ध्वनिर्यथा तथा । धनुः चापम् । धुनन् कम्पयन् । अधावत् शीघ्रमगच्छत् । जातिः ॥९०॥ समेति[17] । श्रान्तस्य आयासं गतस्य । पितुः जनकस्य । संमुखम् अभिमुखम् । समापतन्तम् आगच्छन्तम् । तं सूर्यरथम् । 卐 समालोक्य [आलोक्य[18]] वीक्ष्य । महीरथः महीरथराजः । स्वरथं निजस्यन्दनम् । अन्तरा भीमरथसूर्यरथयोर्मध्ये । दत्त्वा नीत्वा[19] 卐 । आक्रास्त आक्रमयति स्म । क्रमु (ञ्) स्पर्धायां लङ्[20] ॥९१॥ प्रहृत्येति चिरं बहुवेलापर्यन्तम् । प्रहृत्य युद्धं कृत्वा ।

उसकी प्रतीक्षा करता रहा । इतनेमें ही वह होठ चबाता हुआ उठ बैठा ॥८७॥ उसके शरीरमें जो क्रोध पहले सोया हुआ-सा पड़ा था, वह शत्रुके तीव्र प्रहारसे शीघ्र ही जाग उठा ॥८८॥ क्रोधके कारण भीमरथका उत्साह दूना हो गया । फिर उसने अपने हाथीसे महारथके हाथीको पीछे हटवा दिया । यह देखकर देवोंने पुष्पवृष्टि की । बस, फिर क्या था, उसने पुष्पवृष्टि स्वीकार करते हुए महारथको जीतेजी ही पकड़ लिया ॥८९॥ इसके बाद पिताके पकड़े जानेपर सूर्यरथने—जो रथपर सवार था—अपने सारथीको रथ हाँकनेकी आज्ञा दी, और धनुषकी ध्वनि करता हुआ, बड़े वेगसे आगे बढ़ा ॥९०॥ अपने पिताको पस्त देखकर सूर्यरथ उसकी सहायता-के लिए चला आ रहा था, पर उसके रास्तेमें रथ खड़ा करके महीरथने उसे अपने साथ युद्ध करनेके लिए ललकारा ॥९१॥ बहुत देर तक प्रहार करके महीरथने सूर्यरथके चमचमाते हुए

सप्रहारं तमादाय सारथिर्ववले बले।
सुरमुक्तानि[1] पुष्पाणि पेतुर्माहीरथे रथे ॥९३॥
ततः कलकलारावबधिरीकृतदिङ्मुखम्।
डुढौके धर्मपालेन पृथिवीपालसूनुना ॥९४॥
वपुः कोपारुणं बिभ्रद्धृतदिव्यशरासनः।
सवर्षञ्शरधाराभिर्घनः सांध्य इवाबभौ ॥९५॥
संभूयाभिमुखीभूतं बलिनस्तस्य राजकम्।
शरवर्षैर्घनस्येव संचुकोच गवां कुलम् ॥९६॥

चञ्चच्चामीकरच्छवौ चञ्चतो देदीप्यमानस्य चारोर्मनोहरस्य चामीकरस्येव सुवर्णस्येव छवि. कान्तिर्यस्य तस्मिन्। तदीयोर स्थलस्थाले तदीयस्य[2] सूर्यरथसबन्धस्य उरसो वक्षस स्थलमेव प्रदेश एव स्थाल भाजन तस्मिन्। शिलीमुखं बाणम्। निचखान चिक्षेप। खनृञ् अवदारणे[3] लिट्। रूपकम् ॥९२॥ सेति। सारथि क्षत्ता। सप्रहार क्षतेन युक्तम्। तं सूर्यरथम्। आदाय उद्धृत्य। बले सेनायाम्। बावले (ववले) पुनराजगाम। वलि सवरणे लिट्। सुरमुक्तानि सुरैर्देवैर्मुक्तानि वर्षितानि[4] पुष्पाणि कुसुमानि। माहीरथे[5] महीरथसबन्धे। रथे स्यन्दने। पेतु पतन्ति स्म। पत्लृ गतौ लिट् ॥९३॥ तत इति। तत पश्चात्। पृथिवीपालसूनुना पृथिवीपालस्य सूनुना कुमारेण। धर्मपालेन धर्मपालनामयुतेन। कलकलारावबधिरीकृतदिङ्मुख कलकलेन कलकलरूपेण आरावेण शब्देन बधिरीकृतमेडीकृत दिशा मुख यस्मिन् कर्मणि तत्०। डुढौके ढुढौके रुरुधे। ढौकृ गतौ कर्मणि लिट्। जाति ॥९४॥ वपुरिति। कोपारुण कोपेन रोषेणारुणं लोहितवर्णयुतम्। वपु शरीरम्। बिभ्रत् धरन्। धृतदिव्यशरासन धृत दिव्य दिव्यरूप शरासन धनुर्येन स। सः धर्मपालः। शरधाराभिः शराणां बाणाना धाराभि. पङ्क्तिभि., जलधाराभिश्च। 'शर वन घन तोय नीरं जीवनमम्बिषम्[6]।' वर्षन्[7] सेचयन्। सान्ध्य सन्ध्याया भव। घन इव मेघ इव। आवभौ भातिस्म। भा दीप्तौ लिट्। उपमा[8] ॥९५॥ सभूयेति। घनस्य मेघस्य। शराणा जलानाम्। वर्षे। गवा धेनूनाम्। कुलं यूथमिव। बलिन पराक्रमयुतस्य। तस्य धर्मपालस्य। शरवर्षै· शराणा बाणाना वर्षे। सभूय मिलित्वा। अभिमुखीभूत संमुखमायातम्-

---

स्वर्णके समान कान्ति धारण करनेवाले वक्षस्थलरूपी थालमे एक बाण ठोक दिया ॥९२॥ घायल हुए सूर्यरथको लेकर सारथी उसकी सेनामे चला गया, और इधर महीरथके रथपर देवोने पुष्प वृष्टि की ॥९३॥ इसके उपरान्त 'कल-कल' शब्दसे सारी दिशाओको बहरा बनाता हुआ, पृथिवीपालका पुत्र धर्मपाल सामने आया ॥९४॥ जिस प्रकार इन्द्रधनुषको धारण करनेवाला संध्याकालीन लाल मेघ जल बरसाकर सुशोभित होता है। उसी प्रकार क्रोधके कारण लाल शरीर वाला, सुन्दर धनुषको धारण करनेवाला और बाणोकी बरसा करनेवाला धर्मपाल सुशोभित हो रहा था ॥९५॥ राजाओका सङ्कुटित वर्ग बलवान् धर्मपालका मुकावला करनेके लिए सामने आया, किन्तु उसकी बाण वर्षाके सामने टिक न सका, चुपकेसे भाग गया। जैसे मेघसे जल गिरनेपर गायोका झुण्ड सिकुडकर इधर-उधर भाग जाता

---

१. अ मरमुक्तानि। २. = तत्सबन्धिन.। ३. आ अवधारणे। ४. = वृष्टानि। श 'वर्षितानि' इति पद नास्ति। ५ = महीरथसबन्धिनि। ६ 'शर वन कुश नीर तोय जीवनमम्बिषम्' इति धनञ्जयः। ७ = विकिरन्, पक्षे सिञ्चन्। ८. = उत्प्रेक्षा।

कृत्स्नमायासितं दृष्ट्वा सामन्तकुलमाकुलम् ।
सुवर्णनाभोऽभिमुखीबभूव रिपुघस्मरः ॥९७॥
तं वाहितरथं वीक्ष्य धर्मपालो ज्वलन्क्रुधा ।
विव्याधैनं वचोबाणैरधिक्षेपविषोक्षितैः ॥९८॥
अपसर्प प्रयाहीतः किं पुरो धृष्ट तिष्ठसि ।
भवद्विधे न मद्बाहुः प्रहर्तुमयमिच्छति ॥९९॥
नूनमिच्छति नो जेतुं भवतैव भवत्पिता ।
त्वन्मतेनान्यथा कस्मात्करोत्यसमविग्रहम् ॥१००॥
कस्त्वं भीमरथः को वा कियन्मात्रः स ते पिता ।
संभूय मेऽग्रतः सर्वे यदि शक्नुथ तिष्ठथ ॥१०१॥

राजकं राज्ञां समूहः । सचुकोच स्वगति स्म । कुच संकोचने लिट् । श्लेषोपमा ॥९६॥ कृत्स्नमिति । आयासितं संजातप्रयासम्[1] । 'तदस्य संजातं तारकादिभ्य इतच्' इति इतच्[2]-प्रत्ययः । आकुलं व्याकुलत्वयुतम् । कृत्स्नं सकलम् । सामन्तकुलं सामन्तानां राज्ञां कुलं निवहम् । दृष्ट्वा विलोक्य । रिपुघस्मरः रिपूणां शत्रूणां घस्मरो विनाशकः । 'भक्षको घस्मरोऽद्मरः' इति । तस्य । सुवर्णनाभो युवराजः । अभिमुखीबभूव संमुखो भवति स्म । प्रागनभिमुख इदानीमभिमुखो बभूवेति तद्योक्तः ॥९७॥ तमिति । क्रुधा कोपेन । ज्वलन् प्रज्वलन् । धर्मपालः पृथिवीपाल-पुत्रः । वाहितरथं वाहितः[3] आरूढो रथो येन तम् । एनं सुवर्णनाभम् । वीक्ष्य दृष्ट्वा । अधिक्षेपविषोक्षितैः अधिक्षेप एव तिरस्कार एव विषं तेन उक्षितैः संसिक्तैः[4] । वचोबाणैर्वचांस्येव बाणास्तैः । इति वक्ष्यमाणप्रकारेण । विव्याध विध्यति स्म । व्यधोष्[5] भयचलनयोः (व्यध ताडने) लिट् ॥९८॥ अपेति । धृष्ट[6] भो धूर्त । अपसर्प अपसर । इतः एतस्मात्प्रदेशात् । प्रयाहि गच्छ । या प्रापणे लोट्[7] । पुरः अग्रे । किं किं निमित्तम् । तिष्ठसि वर्तसे । अयम् एष । मद्बाहुः मम बाहुर्भुजः । भवद्विधे भवतस्तव विधे सदृशे । प्रहर्तुं प्रहरणाय । नेच्छति न वाञ्छति । इषु इच्छायां लट् । 'इषुगमियमां छः' इति छादेशः ॥९९॥ नूनमिति । भवतैव त्वयैव । भवत्पिता भवतस्तव पिता जनकः । नः अस्मान् । जेतुं जयनाय । इच्छति वाञ्छति । नूनं[8] निश्चयम् । अन्यथा नो चेत् । असमविग्रहम् असमेन समान (ता) रहितेन, बलिनेत्यर्थः[9] । विग्रहं संग्रामम् । त्वन्मतेन[10] तवानुमतेन । कस्मात् कारणात् । करोति विदधाति । लट् । अनुमितिः ॥१००॥ क इति । त्वं भवान् । कः कियान् । भीमरथः को वा कियान् । सः । ते तव । पिता जनकः । कियन्मात्रः कियत्प्रमाणः । यदि शक्नुथ समर्था भवन्ति चेत्[11] । सर्वे यूयम् । संभूय मिलित्वा । मे मम । अग्रतः अग्रे । तिष्ठथ[12] आध्वम्[13] ।

नीचोचितां समाकर्ण्य तदीयामिति भारतीम् ।
जगाद युवराडित्थं धनुर्ज्यामास्पृशन्मुहुः ॥१०२॥
किमेभिरधमालापैर्मातुश्चापलसूचनैः ।
अस्ति कोऽप्यभिमानश्चेड्ढौकस्वालं विलम्बनैः ॥१०३॥
गदितुं युज्यतेऽस्माकं न भवद्भाषितं वचः ।
तुलयन्ति महान्तो हि नात्मानमधमैः समम्[2] ॥१०४॥
स्वैरेव दुर्नयैः पापाः पच्यन्ते येन दुर्जनाः ।
विभाषमाणान्सुजनस्तेन तानवमन्यते[3] ॥१०५॥
इत्यालापैर्युवेशस्य मानवानपमानित ।
अलक्ष्यमोक्षसंधानान् स रोषादमुचच्छरान् ॥१०६॥

आक्षेप ॥१०१॥ नीचेति । नीचोचिता नीचस्य निकृष्टस्योचिता विहिताम् । तदीया[4] धर्मपालसबन्धाम् । इति एवम् । भारतीं वचनम् । समाकर्ण्य श्रुत्वा । धनुर्ज्या धनुषश्चापस्य ज्या मौर्वीम् । आस्पृशन्[5] झङ्कार कुर्वन् । युवराट् सुवर्णनाभ । मुहु पश्चात् । जगाद अब्रवीत् । गद व्यक्ताया वाचि लिट् ॥१०२॥ किमिति । मातु जनन्या । चापलसूचनै चापलस्य[6] चञ्चलस्य सूचनैर्दर्शयमानै.[7] । एभि एतै । अधमालापै अधमै-निकृष्टैरालापैर्वचनैः । किं किं प्रयोजनम् । कोऽपि कश्चिदपि । अभिमान गर्वः । अस्ति चेत् वर्तते चेत् । ढौकस्व आगच्छ । लोट्[8] । विलम्बनै कालक्षेपै । अल पर्याप्तम् ॥१०३॥ गदितुमिति । भवद्भाषित भवता त्वया भाषितमुक्तम् । वच वचनम् । अस्माकम् । गदितु वक्तुम् । न युज्यते न प्रयुज्यते । महान्त महापुरुषा । अधमै नीचै । सम सह[9] । आत्मान स्वम् । न तुलयन्ति[10] नोपमयन्ति । तुलाम् इति सुब्धातु । अर्थान्तरन्यास ॥१०४॥ स्वैरिति । येन कारणेन । पापा[11] धूर्ता । दुर्जना खला । स्वै स्वकीयै । दुर्नयैः दुर्नीतिभिरेव । पच्यन्ते दह्यन्ते । डुपचोष् पाके कर्मणि लट् । तेन कारणेन । विभाषमाणान् विरुद्ध जल्पतः । तान् दुर्जनान् । सुजनः सत्पुरुष. । अवमन्यते[12] उदासीन करोति । १०५॥ इतीति । युवेशस्य सुवर्णनाभस्य । इति एव प्रकारैः । आलापै वचनैः । अपमानित.[13] भञ्जितः । मानवान् अभिमानवान् । स धर्मपाल । अलक्ष्यमोक्षसधानान् अलक्ष्ये लक्षयितुमयोग्ये मोक्षो मोचन सधान स्वीकरण च येषा तान्[14] । शरान् बाणान् ।

सब मिलकर के भी मेरे आगे टिक सकते हो तो ठहरो (अभी मजा चखाते हैं) ॥१०१॥ नीच पुरुषके योग्य उसके इन वचनोको सुनकर युवराज सुवर्णनाभ अपने धनुषकी डोरीका बार-बार स्पर्श करता हुआ यो बोला—॥१०२॥ मा की चपलताको सूचित करनेवाले इन नीच मनुष्योंके योग्य वचनोंसे क्या लाभ ? यदि शक्तिका अभिमान है तो आओ, अब विलम्ब न करो ॥१०३॥ आपने जो वचन कहे हैं, वे हमारे कहने योग्य नही हैं । क्योकि महान् पुरुष अपनेको नीचों-जैसा नही बनाना चाहते ॥१०४॥ चूँकि पापी दुर्जन लोग अपनी ही दुर्नीतिसे जला करते हैं, इसलिए यद्वा-तद्वा बोलनेवाले उन लोगोकी सज्जन लोग उपेक्षा कर दिया करते हैं ॥१०५॥ युवराज सुवर्णनाभके इन वचनोसे अपमानित होकर अहकारी धर्मपालने रोषपूर्वक दनादन बाण मारना शुरूकर दिया । वह इतनी शीघ्रतासे बाण बरसा रहा था, कि दर्शकोंको उनके

१ आ इ क ख ग घ म °मामृशन् । २ अ सह । ३. इ °वमान्यते । ४ =धर्मपालसबन्धिनीम् । ५. आ आमृषन् । ६ =चपलताया । ७ श दर्शमानै । ८. श लेट् । ९ श 'सह' इति नास्ति । १०. =न समीकुर्वन्ति । ११ =पापिन । १२ =अवजानाति समुपेक्षते वा । १३ =अवज्ञात । १४. श त एषा तान् ।

अर्धमार्गगतामेव तदीयामिषुसंहतिम् ।
सोऽप्यच्छिनदविच्छिन्नै रोपै रोपितकार्मुकः ॥१०७॥
शिलीमुखक्षये प्रासैः कुन्तैः प्रासपरिक्षये ।
कुन्तक्षयेऽसिभिर्वीरो तावकम्पौ[1] प्रजह्रतुः ॥१०८॥
द्वावप्यतुलसामर्थ्यौ द्वावप्यस्त्रकृतश्रमौ ।
न जानीमो जयः क्वेति समशेत बलद्वयम् ॥१०९॥
चिरयुद्धपरिश्रान्तः प्रहृत्य स ततोऽसिना ।
दध्रे सुवर्णनाभेन पृथिवीपालनन्दनः[2] ॥११०॥
बन्दिभिः स्तूयमानस्तं वन्दीकृत्य[3] सुदुर्जयम् ।
हर्षास्राविलनेत्रस्य[4] निनाय पितुरन्तिकम् ॥१११॥

रोषात् कोपात् । अमुचत् अमुञ्चत् । मुच्लृञ् मोक्षणे लुङ् ॥१०६॥ अर्धेति । रोपितकार्मुकः रोपितमारोपित कार्मुकं[5] चापं येन स । सोऽपि सुवर्णनाभोऽपि । अर्धमार्गगताम् अर्धमार्गमायातमेव । तदीया धर्मपालसंबन्धिनीम् । इषुसहतिम् इषूणा बाणाना सहतिं सन्दोहम् । अविच्छिन्नै. निरन्तरै । रोपैः बाणैः । अच्छिनत् अखण्डयत् । छिदृॅ्र्‌ विदारणे लङ् ॥१०७। शिलीमुखेति । अकम्पौ चलनरहितौ । तौ युवराजधर्मपालौ । वीरौ शूरौ । शिलीमुखक्षये शिलीमुखाना बाणाना क्षये नाशे सति । प्रासै यष्टयायुधै । प्रासपरिक्षये सति प्रासाना परिक्षये सति । कुन्तैः कोणै । कुन्तक्षये सति कुन्ताना क्षये नाशे सति । असिभि खड्गैः । प्रजह्रतुः युयुधाते । हृञ् हरणे लिट् ॥१०८॥ द्वाविति । द्वावपि युवराजधर्मपालावपि । अतुलसामर्थ्यौ अतुलमुपमारहित सामर्थ्यं ययोस्तौ । द्वावपि उभावपि । अस्त्रकृतश्रमौ अस्त्रेषु आयुधेषु कृतो विहित श्रमोऽभ्यासो ययो[6] तौ । जय विजय. । क्वेति कस्मिन्निति । न जानीम न बुद्ध्यामहे । ज्ञा अवबोधने लट् । बलद्वय सैन्यद्वयम् । समशेत अशङ्कत[7] । शीङ् स्वप्ने लङ् । सशय' ॥१०९॥ चिरेति । तत' पश्चात् । चिरयुद्धपरिश्रान्त चिरं बहुसमयपर्यन्त युद्धे सग्रामे[8] परिश्रान्त आयस्त । स पृथिवीपालनन्दन धर्मपाल । असिना खड्गेन । प्रहृत्य प्रहरण कृत्वा । सुवर्णनाभेन[9] युवराजेन । दध्रे बिभ्रे[10] । धृञ् धरणे कर्मणि लट् ॥११०॥ वन्दिभिरिति । बन्दिभिः स्तुतिपाठकै । स्तूयमानः प्रशस्यमानः । सुदुर्जय जेतुमशक्यम् । त धर्मपालम् । बन्दीकृत्य[11] बन्धन[12] विधाय । हर्षास्राविलनेत्रस्य हर्षादानन्दाज् जातास्रेण बाष्पोदकेन[13] आविले[14] आर्द्रिते नेत्रे नयने यस्य तस्य । पितुः पद्मनाभस्य । अन्तिक समीपम् । निनाय नयति स्म । नीङ् (णीञ्) प्रापणे लिट् । जातिः ॥१११॥

छोडने और रखनेका कुछ पता ही नही पड रहा था ॥१०६॥ सुवर्णनाभने भी धनुष चढ़ा लिया और लगातार बाणोकी बरसा करके धर्मपालके बाणोकी परम्पराको बीचमे ही काट डाला ॥१०७॥ बाणोके समाप्त होनेपर प्रासोसे, और प्रासोके समाप्त होनेपर भालोसे, और भालोंके भी समाप्त हो जानेपर तलवारोसे, वे दोनो वीर निर्भय होकर एक दूसरेपर प्रहार करते रहे ॥१०८॥ 'दोनो अनुपम सामर्थ्यसे युक्त हैं, और दोनोने ही अस्त्रविद्यामे परिश्रम किया है । अत' न जाने दोनोमे कौन जीतेगा, ? इस प्रकार दोनो ही सेनाएँ सन्देहमे पड गयी ॥१०९॥ बहुत देर तक युद्ध करनेसे पृथिवीपालका पुत्र धर्मपाल थक गया, तब उसने तलवारका वार किया, पर उससे बचकर सुवर्णनाभने धर्मपालको पकड लिया ॥११०॥ अजेय धर्मपालको बन्दी बनाकर सुवर्णनाभ, जिसकी स्तुति स्तुति पाठककर रहे थे, अपने पिताके पास ले गये । पुत्रकी

---

१. म सावकम्पौ । २ अ °पालस्य नन्दन । ३. आ इ वन्धीकृत्य । ४. अ हर्षाश्रावि° । ५. = चाप. । ६. = याभ्या । ७. आ आशकत, श अशङ्कतं । ८ = युद्धेन सग्रामेण । ९ श सुवर्णराजेन । १०. = बभ्रे । ११. श वन्धीकृत्य । १२ = वन्दिन । १३. आ हर्षोदकेन । १४ श 'आविले' इति नास्ति ।

परंतपस्तडिद्वक्त्रं चित्राङ्गः सिंहविक्रमम् ।
विजिग्ये वरुणं कण्ठश्चन्द्रकीर्तिं सुकुण्डलः[२] ॥११२॥
अन्येऽपि रिपुपक्षस्था राजानो ये डुढौकिरे ।
ते पद्मनाभसामन्तैः कृता भग्नमनोरथाः ॥११३॥
अत्रान्तरे क्रुधाधावत्स्वयमेव महाबलः ।
पृथिवीपालभूपालः करालीकृतलोचनः ॥११४॥
तमसाधारणैश्चिह्नैः प्रत्यभिज्ञाय मन्त्रिणः ।
पद्मनाभमिति स्थित्वा कर्णमूले व्यजिज्ञपन् ॥११५॥
देव कोऽप्ययमत्यन्तममानुषबलः खलः ।
श्रूयते[3] पृथिवीपालः समस्तकपटालयः ॥११६॥

परमिति । परतप[४] राजा । तडिद्वक्त्र[५] तडिद्वक्त्रराजम् । चित्राङ्ग चित्राङ्गनामा राजा । सिंहविक्रमनामानम् । कण्ठः कण्ठसज्ञः । चन्द्रकीर्ति चन्द्रकीर्तिनामानम् । सुकुण्डल सुकुण्डलाख्य. । विजिग्ये जयति स्म । जि च्वि अभिभवे लिट् । 'जे लिट् सनि' इति कवर्गादेशः । यथासख्यालङ्कार ॥११२॥ अन्य इति । रिपुपक्षस्था रिपो शत्रो पक्षस्थाः सहाये तिष्ठन्त । अन्येऽपि शेषा अपि ये केचित् । राजान भूपा । डुढौकिरे[६] युयुधिरे । लिट् । ते सर्वे । पद्मनाभसामन्तैः पद्मनाभपक्षस्थभूपैः । भग्नमनोरथा भग्नोऽवमर्दितो मनोरथो जयाभिलाषो येषा ते । कृता विहिता ॥११३॥ अत्रेति । अत्रान्तरे अत्रावसरे । महाबल महद् बल शौर्यं यस्य स । करालीकृतलोचन करालीकृते भयंकर विहिते[७] लोचने नयने यस्य स. । पृथिवीपालभूपालः पृथिवीपालभूपः । स्वयमेव असहाय एव । क्रुधा कोपेन । अधावत्[८] शीघ्रमगच्छत् । जाति ॥११४॥ तमिति । मन्त्रिण सचिवाः । असाधारणैः असामान्यै । चिह्नैः पताकादिचिह्नै । त पृथिवीपालम् । प्रत्यभिज्ञाय विज्ञाय[९] । कर्णमूले तस्य श्रोत्रसमीपे । स्थित्वा आसित्वा । पद्मनाभ[१०] पद्मनाभभूपतिम् । इति वक्ष्यमाणप्रकारेण । व्यजिज्ञपन् विज्ञापयन्ति स्म[११] ॥११५॥ देवेति । देव भो स्वामिन् । अत्यन्तम् अधिकम् । अमानुषबल अमानुष[१२] देवसबन्ध बल सामर्थ्यं यस्य सः । खल. धूर्तः । कोपी कोपवान् । अयम् एष. । समस्तकपटालय. समस्ताना सर्वेषा कपटाना व्याजानामालयो निलय इति । पृथिवीपाल पृथिवीपालनृप ।

विजयसे उस समय उसकी आँखोसे हर्षाश्रु प्रवाहित हो रहे थे । ॥१११॥ परन्तपने तडिद्वक्त्रको, चित्रांगदने सिंहविक्रमको, कण्ठने वरुणको और सुकुण्डल राजाने राजा–चन्द्रकीर्तिको जीत लिया ॥११२॥ शत्रुपक्षके और भी जो राजे लडनेके लिए सामने आये, पद्मनाभके सामन्तोंने उनकी आशाओंपर पानी फेर दिया—उन्हे पराजित कर दिया और उनके मनोरथको भग्न कर दिया ॥११३॥ इस अवसरपर महाबली पृथिवीपाल स्वयं लडनेके लिए दौडता हुआ आया । उसकी आँखें क्रोधके कारण बडी भयकर दिख रही थी ॥११४॥ असाधारण चिह्नोंसे उसे पहचानकर—मन्त्रियोने पद्मनाभके निकट जाकर उसके कानमे यो निवेदन किया—॥११५॥ हे राजन् ! यह पृथिवीपाल बडा क्रोधी है, अत्यधिक देवबलसे सम्पन्न है, धूर्त है और सभी प्रकारके

१ अ कन्तुश्च[ं] । २. क ख ग घ सकुण्डल । ३ क ख ग घ म स्तूयते । ४ =परतपनामा । ५ टीकाकृता पूर्वं 'तडिद्वक्त्र' तत 'परतप' पद व्याख्यातम् । ६ =सयुगे समायाता । ७ = भयकरे विहिते । ८ =त्वरितमायात । ९. आ विज्ञाय इति नास्ति । १०. आ 'पद्मनाभ' इति नास्ति । ११. श तस्य व्यजिज्ञपत् विज्ञापयति स्म । १२ =दिव्य ।

तदस्मिन्नप्रमत्तेन प्रहर्तुं स्वयमुत्थिते ।
योद्धव्यं स्वामिना नायमवज्ञाविषयो रिपुः ॥११७॥
इति मन्त्रिगिरं कृत्वा हृदये दयितामिव ।
बभूव संमुखं शत्रो. सज्जीकृतशरासन ॥११८॥
पादरक्ष[1]समूहेन परिवारितकुञ्जरौ ।
तावभीयतुरन्योन्यमनन्यसमविक्रमौ ॥११९॥
उभावुभयमायोद्धुं निषिध्य बलमुद्यतम् ।
दर्पादेकाकिनावेव प्रारेभाते महाहवम् ॥१२०॥
शिलीमुखशतैश्छन्नास्तयोस्तिर्यग्विसर्पिभिः ।
अदृश्यन्त दिगाभोगाः पतदुल्कोत्करा इव ॥१२१॥

श्रूयते आकर्ण्यते । श्रु श्रवणे कर्मणि लिट् । जाति ॥११६॥ तदिति । तदस्मिन् तदेतस्मिन् पृथिवीपाले । प्रहर्तुं प्रहरणाय । स्वय स्वस्मिन् । उपस्थिते आयाते सति । अप्रमत्तेन प्रमादरहितेन । स्वामिना त्वया । योद्धव्यं युद्ध कर्तव्यम् । अयम् एष. । रिपुः शत्रुः । अवज्ञाविषय. अवज्ञाया[2] उदासीनस्य विषयो गोचर. । न भवति ॥११७॥ इतीति[3] । इति एवम् । मन्त्रिगिर मन्त्रिणा सचिवाना गिर वाणीम् । दयितामिव वनितामिव । हृदये चित्ते । कृत्वा विधाय । सज्जीकृतशरासन सज्जीकृत सनद्धीकृत शरासन चाप येन सः । शत्रोः रिपो. । संमुखः अभिमुख । बभूव भवति स्म । लिट् ॥११८॥ पादेति । पादरक्षसमूहेन पादाना गजपादाना रक्षाणा रक्षकाणा भटाना समूहेन निकरेण । परिवारितकुञ्जरौ परिवारितौ परिवृतौ गजौ ययोस्तौ । अनन्यसमविक्रम. अनन्यसम[4] अन्यसमान रहितो असाधारणेति विक्रम. पराक्रमो[5] ययोस्तौ । तौ पद्मनाभपृथिवीपालौ । अन्योन्य परस्परम् । अभीयतु अभिजग्मतु ॥११९॥ उभाविति । उभौ द्वौ भूपालौ । आयोद्धुम् आसमन्ताद् योधनाय । उद्यतम् उद्युक्तम् । उभय द्वयम् । बलं सेनाम् । निषिध्य निवार्य । दर्पात् गर्वात् । एकाकिनावेव असहायावेव[6] । 'एकादाकिंश्चासहाये' इति आकिन्-प्रत्यय. । महाहवं महायुद्धम् । प्रारेभाते उपचक्रमाते । रभि राभस्ये लिट् । प्रथमपुरुषद्विवचनम् ॥१२०॥ शिलीमुखेति । तिर्यग्विसर्पिभि. तिर्यग्रूपेण गच्छद्भिः । तयो. भूपयो. । शिलीमुखशतै. शिलीमुखाना बाणाना शतैरनेकै. । छन्ना. व्याप्ता. । दिगाभोगा. दिशा ककुभामाभोगाः समूहा । पतदुल्कोत्करा इव पतन् उल्कानामुत्कर. समूहो येषा[7] त इव ।

कपटोका घर है—पूरा चार सौ बीस है, ऐसा सुना जाता है—॥११६॥ यह स्वयं आपके ऊपर प्रहार करनेके लिए—आपसे लड़नेके लिए उपस्थित हुआ है । अतः इसके साथ आपको बडी सावधानीसे युद्ध करना चाहिए ? यह शत्रु उपेक्षा करने योग्य नहीं है ॥११७॥ इस प्रकारकी मन्त्रियोकी वाणीको, जो प्रियाके समान प्यारी थी, हृदयमे रखकर, एवं धनुषको सजाकर पद्मनाभ शत्रुके सामने जा पहुँचा ॥११८॥ असाधारण पराक्रमको धारण करनेवाले वे दोनो आमने-सामने आ गये । दोनो हाथियोपर सवार थे, और दोनोंके हाथियोके पैरोंके पास बहुतसे रक्षक खडे हुए थे ॥११९॥ यो दोनोकी सेनाएँ युद्ध करनेके लिए तैयार थी, पर उन्हे रोककर दोनो राजोने—जिन्हे अपने पराक्रमपर गर्व था—अकेले ही घोर सग्राम शुरू कर दिया ॥१२०॥ दोनोंके तिरछी गतिसे फैलनेवाले सैकडो बाणोने सारी दिशाओके मध्यभागको भर दिया । उस समय वह ऐसा दृष्टिगोचर हो रहा था मानो गिरती हुई उल्काओंके समूहसे घिर

१ अ पादरक्षा° । २, = औदासीन्यस्य । ३. टीकाया पद्यमिद पूर्वं व्याख्यात तदनन्तरं तदस्मिन्नित्यादि (११७) । ४ = अन्येन समोऽन्यसमो नान्यसमोऽनन्यसमोऽसाधारण इत्यर्थः । ५. श पराक्रम. यकि. । ६. श एकाकिनावेवासहायावेव । ७. = येषु ।

तच्छस्त्रकौशलालोकविनिश्चलविलोचनम् ।
भुवि भूमिभुजा सैन्यं तस्थौ दिवि दिवौकसाम् ॥१२२॥
चलनैर्वलनैः स्थानैर्वल्गनैर्मर्मवञ्चनैः ।
तयोरभूद्धनुर्युद्धं दृप्तदोर्दण्डचण्डयोः ॥१२३॥
यान्यानमुञ्चतारातिरनिष्ठितशरः शरान् ।
रोपैरर्धागतानेव पद्मनाभो लुलाव तान् ॥१२४॥
शिलीमुखैरजय्योऽयं धनुर्वेदविशारदः ।
इति मत्वाक्षिपत्प्रासान्स प्रयासविवर्जित ॥१२५॥
खण्डयामास तानर्धचन्द्रैश्चन्द्रोज्ज्वलाननः ।
गुरुः सुवर्णनाभस्य सुवर्णाचलनिश्चल ॥१२६॥

अदृश्यन्त अवेक्ष्यन्त[1] । दृश्[2] प्रेक्षणे कर्मणि लङ्[3] । उपमा[4] [उत्प्रेक्षा] ॥१२१॥ तदिति । तच्छस्त्रकौशलालोकविनिश्चलविलोचन तयो पद्मनाभपृथिवीपालयोः शास्त्राणा बाणाना कौशलस्य[5] प्रौढत्वस्य आलोके वीक्षणे निश्चले निष्पन्दे विलोचने नयने यस्य तत् । भूमिभुजा भूपानाम् । सैन्यं सेना । भुवि भूमौ । तस्थौ तिष्ठति स्म । लिट् । दिवौकसा देवानाम् । सैन्यम् । दिवि गगने । तस्थौ । दीपकम् ॥१२२॥ चलनैरिति । दृप्तदोर्दण्डचण्डयो दृप्ताभ्या गर्विताभ्या दोर्दण्डाभ्या भुजदण्डाभ्या चण्डयोर्बलिष्ठयो । तयो भूपयो । चलनै स्थानान्तरगमनै[6] । वलनै पर्यटनै । स्थानै स्थितिक्रियाभि । वलनै [वल्गनै] लङ्घनक्रियाभि । मर्मवञ्चनै मर्मणो मर्मस्थानस्य वञ्चनै प्रतारणै । धनुर्युद्ध चापयुद्धम् । अभूत् अभवत् । लुङ् । जाति ॥१२३॥ यानिति । अनिष्ठितशरा अनिष्ठिता अक्षया शरा बाणा यस्य स । अराति शत्रु । यात् यान् कास्कान् । शरान् बाणान् । अमुञ्चत अमुचत् । लङ् । अर्धगतानेव[7] अर्धगतपर्यन्तम् आगतानेव । तान् शरान् । पद्मनाभ पद्मनाभभूपति । रोपै बाणै । लुलाव छिनत्ति स्म ॥१२४। शिलीमुखैरिति । धनुर्वेदविशारद धनुर्वेदे धनुर्विद्याया विशारदो निपुण । अय पद्मनाभ । शिलीमुखै शरै । अजय्यः जेतुमशक्य । 'क्षय्यजय्यौ शक्तौ' इति साधु । इति एव मत्वा प्रयासविवर्जित प्रयासेन श्रमेण विवर्जितो रहितः । स पृथिवीपाल । प्रासान् कुन्तान् । अक्षिपत्[8] प्रेरितवान् । क्षिप प्रेरणे लङ् ॥१२५॥ खण्डयामासेति । चन्द्रोज्ज्वलानन चन्द्रवदुज्ज्वल भासमानमानन मुख यस्य स । सुवर्णाचलनिश्चल सुवर्णाचल इव महामेरुवद् निश्चलो निष्कम्प । सुवर्णनाभस्य युवराजस्य । गुरु पिता पद्मनाभ । तान् कुन्तान् । अर्धचन्द्रै अर्धचन्द्राकारबाणै । खण्डयामास खण्डयति स्म । खडुङ् मन्थे णिजन्तााल्लिट् । उपमा ॥१२६॥

गया हो ॥१२१॥ उनके शस्त्रकौशलको देखकर पृथ्वीपर राजाओका सैन्य और आकाशमे देवोका वृन्द अपलक दृष्टि होकर खडा था ॥१२२॥ सगर्व भुजबलसे युक्त और क्रुद्ध दोनो राजाओका धनुर्युद्ध हुआ, जो, स्थान बदलने, मुडने, एक स्थानपर खडे रहने, लाँघने और मर्म स्थल की सुरक्षाके लिए एक-दूसरेको छकानेकी दृष्टिसे दर्शनीय था ॥१२३॥ पृथिवीपालके बाण जहाँ तक पहुँचना चाहिए वहाँ तक नही पहुँच रहे थे; क्योकि वह जिन बाणोको छोडता था वे आधे मार्ग तक ज्यो ही पहुँचते थे त्यो ही पद्मनाभ उन्हे अपने बाणोंसे काट डालता था ॥१२४॥ 'यह पद्मनाभ धनुर्विद्यामे प्रवीण है, अत बाणोंसे जीतने योग्य नही है।' यह सोचकर पृथिवीपालने उसके ऊपर भाले फेकना शुरू कर दिया। इससे वह उस प्रयाससे मुक्त हो गया, जो प्रत्यञ्चा खीचनेमे करना पड रहा था ॥१२५॥ सुवर्णनाभके पिता पद्मनाभने, जो सुमेरु

१. आ आवेक्ष्यन्त । २ आ दृशिर् । ३ आ लिट् । ४ आ 'उपमा' इति नोपलभ्यते । ५ = नैपुण्यस्य । ६. श ग्रामान्तरग° । ७ = अर्धमार्गपर्यन्तम् । ८. = चिक्षेप ।

स चक्राणि विचिक्षेप क्षेपेण रहितो रुषा।
तानि सौवर्णमालश्च चूर्णयामास मुद्गरैः ॥१२७॥
शक्तिं शक्तित्रयाक्रान्तविष्टपो विससर्ज सः।
गदाभिघातैस्तां वन्ध्यां व्यधाद्रत्नपुराधिपः[1] ॥१२८॥
परशुं वाहयामास कृत्वासन्नं स दन्तिनम्।
वनकेलिवरेणासौ[2] वज्रमुष्ट्या कणीकृतः। १२९॥
ततो मुमुक्षतः शङ्कुं तस्य सोमप्रभाप्रियः।
चञ्चच्चक्रेण चिच्छेद कदलीकन्दवच्छिरः ॥१३०॥
विद्रुते विद्विषां सैन्ये विलोक्य पतनं प्रभोः।
रणं संशोधयामास वनकेलिशिरः स्पृशन् ॥१३१॥

स इति। क्षेपेण कालविलम्बेन। रहित विरहित[3]। स पृथिवीपालः। रुषा कोपेन। चक्राणि चक्रायुधानि। विचिक्षेप क्षिपति स्म। सौवर्णमाल सुवर्णमालाया अपत्य[4] पद्मनाभश्च। मुद्गरै अयोदण्डै। चूर्णयामास विषयामास (?)। लिट् ॥१२७॥ शक्तिमिति। शक्तित्रयाक्रान्तविष्टप शक्तीना प्रभुशक्त्यादीना त्रयेणाक्रान्तं व्याप्त विष्टप जगद् यस्य[5] स। स. पृथिवीपाल.। शक्तिं शक्त्यायुधम्। विससर्ज चिक्षेप। सृज विसर्गे लिट्। रत्नपुराधिप रत्नपुरस्याधिप[6] पद्मनाभ। गदाभिघातै दण्डाघातैः। ता शक्तिम्। वन्ध्या निष्फलाम्। व्यधात् अकरोत्। डुधाञ् धारणे च लुङ् ॥१२८। परशुमिति। स पृथिवीपाल.। दन्तिन गजम्। आसन्नं समीपम्। कृत्वा विधाय। परशुं वाहयामास आनयामास[7]। वहि प्रापणे णिजन्ताल्लिट्। असौ परशु'। वनकेलिवरेण वनकेलिगजस्य वरेण प्रभुणा पद्मनाभेन। वज्रमुष्ट्या[8] वज्रमुष्ट्यायुधेन। कणीकृतः चूर्णीकृतः ॥१२९॥ तत इति। तत' पश्चात्। शङ्कु शल्यायुधम्। मुमुक्षतः मोक्तुमिच्छो। तस्य पृथिवीपालस्य। शिर मस्तकम्। सोमप्रभाप्रिय. सोमप्रभाया देव्याः प्रियो दयित, पद्मनाभः। चञ्चच्चक्रेण चञ्चता प्रज्वलता चक्रेण चक्रायुधेन। कदलीकन्दवत् कदल्या रम्भाया कन्दवद् मूलवत्। चिच्छेद छिनत्ति स्म। छिदृर्[9] विदारणे लिट् ॥१३०॥ विद्रुत इति। प्रभो स्वामिन। पतन मरणम्। विलोक्य वीक्ष्य। विद्विषा शत्रूणाम्। सैन्ये सेनायाम्। विद्रुते पलायिते सति। वनकेलिशिर वनकेलिगजस्य शिरोमस्तकम्। स्पृशन् आस्फालयन्।

पर्वतके समान निष्कम्प था और जिसका चेहरा पूर्णचन्द्रके समान निर्मल था, अर्धचन्द्राकार बाणोसे पृथिवीपालके भालोको काट डाला—॥१२६॥ फिर पृथिवीपालने क्रुद्ध होकर शीघ्र ही चक्र फेकना शुरू कर दिया, जिन्हे सुवर्णमालाके पुत्र पद्मनाभने मुद्गरोसे चूर-चूर कर डाला ॥१२७॥ फिर पृथिवीपालने—जिसकी प्रभु, मन्त्र और उत्साह इन तीन शक्तियोकी चर्चा सारे संसारमे होती थी—शक्ति नामक आयुध चलाना शुरू कर दिया, किन्तु उसे भी रत्नपुरके स्वामी पद्मनाभने गदाके प्रहारसे निष्फल कर दिया ॥१२८॥ पृथिवीपालने अपने हाथीको पासमे ले जा करके पद्मनाभके ऊपर परशुका प्रहार किया, जिसे वनकेलि नामक हाथीके स्वामी—पद्मनाभने वज्रमुष्टि नामक अस्त्रसे चूर-चूरकर डाला ॥१२९॥ इसके उपरान्त पृथिवीपाल शकु नामक अस्त्र छोडना ही चाहता था, पर सोमप्रभाके पति पद्मनाभने सिरको अपने चमकदार चक्रसे केलेकी जडकी तरह काट डाला ॥१३०॥ अपने स्वामी पृथिवीपालका पतन देखकर शत्रुओकी सेना भाग गयी। फिर पद्मनाभने वनकेलिका सिर थपथपाते हुए युद्धभूमिका संशोधन-निरीक्षण

१ क ख ग घ म °त्नसुराधिप। २. अ क ख ग घ म °केलिघरेणासौ, द नवकेलिवरेणासौ। ३ श 'विरहित' इति नोपलभ्यते। ४ =पुमान्। ५ =येन। ६ आ रत्नसुराधिप रत्नसुरस्याधिप.। ७. आ आनयति स्म। ८. आ 'वज्रमुष्ट्या' इति पद नास्ति। ९. आ छिदिर्।

युद्धमूर्ध्नि शवीभूतान्बन्धूनुच्चित्य बान्धवाः ।
संस्कारं प्रापयामासुरिन्धनीकृतसायकाः ॥१३२॥
अथ केनचिदानीय सेवकेन कृतं पुरः ।
पश्यन्क्षिति शिरः शत्रोर्निर्वेदमगमन्नृपः ॥१३३॥
धिक्कष्टमीदृशं कर्म करोति कथमीरितः ।
लक्ष्म्या कुलटया लोकः क्षणरक्तविरक्तया ॥१३४॥
विपत्संपदि जागर्ति जरा जागर्ति यौवने ।
मृत्युरायुषि जागर्ति वियोगः प्रियसंगमे ॥१३५॥

पद्मनाभ । रण संग्रामम् । [स] शोधयामास शोधयति स्म[1] । शुधि शौचे लिट् ॥१३१॥ युद्धेति । युद्धमूर्ध्नि युद्धस्य मूर्ध्नि अग्रे । शवीभूतान्[2] विगतप्राणान् । बन्धून् बान्धवान् । इन्धनीकृतसायका· इन्धनीकृता काष्ठीकृता सायका येषा[3] ते । बान्धवा. । उच्चित्य[4] राशीकृत्य[5] । संस्कार[6] दहनम् । प्रापयामासु यापयन्ति स्म । आप्लृ व्याप्तौ लिट् ॥१३२॥ अथेति । अथ दहनानन्तरम् । केनचित् एकेन । सेवकेन भृत्येन । आनीय आदाय । पुर अग्रे । कृत विहितम् । रिपो पृथिवीपालस्य । शिर मस्तकम् । पश्यन् वीक्षमाण· । नृप पद्मनाभ । इति वक्ष्यमाणप्रकारेण । निर्वेद वैराग्यम् । अगमत् गच्छति । गम्लृ गतौ लुङ् ॥१३३॥ धिगिति । क्षणरक्तविरक्तया[7] क्षणमल्पकाल रक्त प्रीतो विरक्तो विगतप्रीतिर्यस्या तया । कुलटया पुश्चल्या । लक्ष्म्या[8] सपदा । ईरित प्रेरित । लोक जन । ईदृशम् एतादृशम् । कष्ट कृच्छ्रम् । कर्म व्यापारम् । कथं केन प्रकारेण । करोति विदधाति । लट् । धिक्[9] ॥१३४॥ विपदिति । सपदि सपत्तौ । विपत् विपत्ति । जागर्ति प्राप्नोति, सपद् विपदवसाना–इत्यर्थ । यौवने सति तारुण्ये सति । जरा वार्धक्यम् । जागर्ति प्राप्नोति । आयुषि सति । मृत्यु· मरणम् । जागर्ति । प्रियसङ्गमे प्रियाणा मित्राणा सङ्गमे सति । विगम

किया ॥१३१॥ युद्धभूमिके अगले भागमे मारे गये बन्धुओंको खोजकर उनके बन्धु–बान्धवोंने बाणोंकी चिता तैयार करके उनका अग्नि संस्कार किया ॥१३२॥ इसके बाद किसी सेवकने पृथिवीपालका कटा हुआ सिर लाकर राजा पद्मनाभके आगे रख दिया, जिसे देखते-देखते उसे इस प्रकार वैराग्य उत्पन्न हो गया–॥१३३॥ लक्ष्मी पूरी वेश्या है जो क्षणभर ही राग दिखलाकर विरक्त हो जाती है। इसी लक्ष्मी रूपी कुलटासे प्रेरित होकर लोग कैसे ऐसे खोटे-खोटे कर्म कर डालते हैं ? ओह धिक्कार है ! ऐसी बातोंके बारेमें सोचते ही खेद होने लगता है ॥१३४॥ सम्पत्ति होनेपर विपत्ति उस (सम्पत्ति) का स्थान पानेके लिए जागरूक रहती है, यौवन आनेपर बुढापा उसे नष्ट करनेकी ताकमे रहता है, आयु या जीवन प्राप्त होनेपर मृत्यु उसे घातनेके लिए सावधान रहती है और इष्ट समागम होनेपर उसका वियोग जागरण करता है। सम्पत्तिके बादमे विपत्ति, यौवनके बादमें बुढापा, जीवनके बादमे मरण और प्रियके समागमके

---

१. आ बोधयामास बोधयति स्म। बुधि धातोर्लिट् । २ आ यातान् । ३. = यै· । ४. श उच्छित्य । =बन्धूनन्विष्य । ५. आ दूरीकृत्य । ६. =दाहसंस्कारम् । ७. = क्षण स्वल्पकाल रक्ता पश्चाद्विरक्ता तया ८. एष टीकाश्रय पाठ प्रतिषु तु 'लक्ष्मीकुलटया' इति समुपलभ्यते । ९ आ श दिक् ।

नावियोगः सुहृत्सङ्गो न जन्मामृत्युदूषितम् ।
यौवनं नाजराग्रस्तं श्रीर्नापदकटाक्षिता ॥१३६॥
रक्षायै प्रजया दत्तं षष्ठांशं वेतनोपमम् ।
गृह्णन्भृतकवन्मूढो राजाहमिति मन्यते ॥१३७॥
क्रोधादिभिरयं जीवः कषायैः कलुषीकृतः ।
तत्किंचित्कुरुते कर्म यत्स्वस्यापि भयावहम्[1] ॥१३८॥
भ्रातॄन्हन्ति पितॄन्हन्ति हन्ति बन्धून्[2] निरागसः ।
हन्त्यात्मानमपि क्रोधाद्धिक्क्रोधमविचारकम्[3] ॥१३९॥
हन्ता यथाहमस्यात्र परत्रैष तथैव मे ।
संसारे हि विवर्तन्ते बलवीर्यविभूतयः ॥१४०॥

वियोग.। जागर्ति। यथासख्यम् ॥१३५॥ नेति। अवियोग· वियोगरहित। सुहृत्सङ्ग सुहृदा मित्राणां सङ्ग सयोग·। न नास्ति। अमृत्युदूपित मृत्युना मरणेनादूषित दूषणरहितम्। जन्म[4] जाति.। न नास्ति। अजराग्रस्त जरया वार्धक्येनाग्रस्त रहितम्। योवन तारुण्यम्। न नास्ति। आपदकटाक्षिता आपदा विपत्या अकटाक्षिता अविलोकिता। श्री सपत्। न नास्ति ॥१३६॥ रक्षायै इति। रक्षायै पालनाय। प्रजया जनेन। दत्तम् अर्पितम्। वेतनोपम भृत्यदेयसमम्। षष्ठांशं षष्ठम् अश भागम्। भृतकवत् कर्मकरवत्। गृह्णन् स्वीकुर्वन्। मूढ अज्ञ। अह राजा इति प्रभु इति। मन्यते बुध्यते। बुधि मनि ज्ञाने लट्। आक्षेप (?)। १३७॥ क्रोधेति। क्रोधादिभि क्रोधप्रमुखै.। कषायै[5] चतुष्कषायै। कलुषीकृत कल्मषीकृतः[6]। अयम् एष·। जीव प्राणी। यत्। किंचित् ईषत्। कर्म कार्यम्। स्वस्य [अपि] आत्मनोऽपि। भयावह[7] भय कुर्वत्। तत्[8] कार्यं। कुरुते विधत्ते। लट् ॥१३८॥ भ्रातॄनिति। क्रोधात् कोपात्। निरागस निरपराधान्। भ्रातॄन् सहोदरान्। हन्ति हिनस्ति। हन हिंसागत्योर्लट्। पितॄन् जनकान्। हन्ति हिनस्ति। बन्धून् बन्धुजनान्। हन्ति। आत्मानमपि स्वमपि[9]। हन्ति। अविचारक विचारशून्यम्। क्रोध क्रोधपरिणामम्। धिक्। 'हा धिक् समया—' इत्यादिना द्वितीया। आक्षेप. (?) ॥१३९॥ हन्तेति। अत्र इह लोके। अह यथा येन प्रकारेण। अस्य एतस्य। हन्ता हिंसक। 'कृतकामुकस्य—' इत्यादिना कर्मणि षष्ठी। तथैव तेन प्रकारेणैव। परत्र परलोके। एषः अयम्। मे मम। हन्ता भविष्यति। ससारे[10] जन्मनि। बलवीर्यविभूतय बलम् औपाधिकशक्तिः तच्च,

बादमे उसका वियोग निश्चित है ॥१३५॥ वियोग रहित इष्ट सयोग, मरण रहित जन्म, बुढापा रहित यौवन और विपत्ति रहित सम्पत्ति नही हो सकती। सयोगके पीछे वियोग, जन्मके पीछे मृत्यु, यौवनके पीछे बुढापा और सम्पत्तिके पीछे विपत्ति निश्चित है ॥१३६॥ रक्षणके लिए प्रजाके द्वारा वेतनके समान उपजका जो छठा भाग (टैक्स) दिया जाता है, उसे नौकर की भाति ग्रहण करनेवाला मूर्ख पुरुष अपनेको राजा मानता है ॥१३७॥ क्रोध आदि चार कषायोसे कलुष किया गया यह जीव कुछ ऐसे कर्म कर डालता है, जो स्वय उसे भी भयावह होते हैं ॥१३८॥ क्रोधके आवेशमे आकर यह पुरुष अपने निरपराध भाई, पिता और बन्धुओको भी मार डालता है। और तो और स्वय अपनेको भी मार डालता है— आत्मघात कर बैठता है। धिक्कार है ऐसे क्रोधको, जो विचारोका दिवालिया होता है ॥१३९॥ जैसे यहाँ मैं इसका जीवन नष्ट कर रहा हूँ—इसे जानसे मार रहा हूँ, उसी प्रकारसे परलोकमे यह भी मेरे जीवनको नष्ट करेगा—जानसे मार डालेगा। इस जन्ममे मैं इसका हन्ता हूँ तो

१. आ जयावहम्। २ क ख ग घ म बन्धूनपि निरागसः। ३ क ख ग घ म °मविचारक·। ४ = उत्पत्ति। ५ = क्रोधमानमायालोभैं। ६ श 'कल्मषीकृत' इति नास्ति। ७ = भयकारि। ८. = कर्म। ९. श स्वयमपि। १० = ससृतौ।

भोगान्धिग्धिग्धनं धिग्धिग्धिग्धिगिन्द्रियजं सुखम् ।
धिग्धिक्परोपघातेन यदन्यदपि जायते ॥१४१॥
हा कथं वञ्चितः पापः पापैरिन्द्रियगोचरैः ।
विज्ञाताखिलसंसारदुरवस्थितिरप्यहम् ॥१४२॥
न परं बन्धनं प्रेम्णो न विषं विषयात्परम् ।
न कोपादपरः शत्रुर्न दुःखं जन्मनः परम् ॥१४३॥
तस्मात्करोमि तत्किंचिन्नृजन्मनि सुदुर्लभे ।
छिनद्मि कर्मणा येन गतागतपरिश्रमम्[1] ॥१४४॥
दौस्थित्यमिति संचित्य संसारस्य नरेश्वरः ।
वितीर्य युवराजाय राज्यं सपुरवाहनम् ॥१४५॥

वीर्यं स्वाभाविकशक्ति तच्च, विभूति ऐश्वर्यं सा च, तथोक्ता । विवर्तन्ते विपर्ययमस्ति । वृतुङ् वर्तने लट् ॥१४०॥ भोगानिति । भोगान् विषयानुभवान् धिग् धिक् । धनं द्रव्य धिग् धिक् । दह दह (?) । इन्द्रियजम् इन्द्रियैः पञ्चेन्द्रियैर्जनितम् । सुखं सातम् । धिग् धिक् । परोपघातेन परेषामन्येषामुपघातेन पीडया । यद् यत् किंचित् । अन्यदपि अपरमपि । जायते सभवति । तत् । धिग् धिक् । वीप्साया द्विः ॥१४१॥ हा इति । पाप· पापिष्ठ । अहम् विज्ञाताखिलससारदुरवस्थितिरपि विज्ञाता विदिता अखिला निखिला संसारस्य दुरवस्थितिर्दुरवस्था येन सः । पापै. कष्टैः । इन्द्रियाणा गोचरैर्विषयै । कथं केन प्रकारेण । वञ्चित. प्रतारित । हा कष्टम् । आक्षेप (?) ॥१४२॥ नेति । प्रेम्णः प्रीते । परम् अन्यत् । बन्धनम् आसञ्जनम् । न नास्ति, प्रेमैव पर बन्धनमित्यर्थः । विषयात्[2] पञ्चेन्द्रियात् । परम् अन्यत् । विष गरलम् । न नास्ति । कोपात् क्रोधात् । अपर् अन्य । शत्रु रिपुः । न नास्ति । जन्मन जननात् सकाशात् । परम् अन्यत् । दुःखम् । न नास्ति ॥१४३॥ तस्मादिति । तस्मात् कारणात् । येन[3] कर्मणा रत्नत्रयाचरणेन । गतागतपरिश्रमं गतागतेन चतुर्गतीना गमनागमनेन जात परिश्रमं संतापम् । छिनद्मि भिनद्मि । छिदृर्[4] विदारणे लट् । अतिदुर्लभे लब्धुमशक्ये । नृजन्मनि मनुष्यभवे । तत् रत्नत्रयम् । किंचित् ईषत् । करोमि विदधामि । लट् ॥१४४॥ दौस्थित्यमिति । नरेश्वरः नराणामीश्वर. । स्वामी पद्मनाभ. । संसारस्य चतुर्गतिरूपस्य । दौस्थित्य कष्टवर्तनत्वम् । इति एवम् । संचिन्त्य[5] सभाव्य । सपुरवाहनं पुरेण रत्नसंचयपुरेण वाहनैर्गजादि-

---

अगले जन्ममे यह मेरा हन्ता होगा । क्योंकि बल, वीर्य और विभूति ये सब इस संसारमे बदलते-बदलते रहते हैं—ये किसी भी एक व्यक्तिके साथ हमेशा नही रहते ॥१४०॥ भोगोको धिक्कार है, धनको धिक्कार है, इन्द्रियोंसे उत्पन्न होनेवाले सुखको धिक्कार है, धिक्कार है और दूसरोंको मारकर जो और भी सुख होता है उसे भी बार-बार धिक्कार है ॥१४१॥ सारे संसारकी दुरवस्थाको जानकर भी हाय मैं इन कष्टदायी इन्द्रियोंके विषयोंसे कैसे ठग लिया गया हूँ ॥१४२॥ प्रेमसे बढकर कोई बन्धन नही, विषयसे बढकर कोई विष नही, क्रोधसे बढ़कर कोई शत्रु नहीं और जन्मसे बढकर कोई दुःख नही—सबसे बडा बन्धन प्रेम है, सबसे बडा विष विषय है, सबसे बड़ा शत्रु क्रोध है और सबसे बडा दुःख जन्म है ॥१४३॥ इसलिए इस दुर्लभ मनुष्य जन्ममे कुछ वह कर्म भी करलूँ, जिससे चारो गतियो या चौरासी लाख योनियोमे बार-बार आने-जानेके परिश्रमसे बच सकूँ ॥१४४॥ इस तरह संसारकी दुर्दशाका विचार करके राजा

---

१ म निभि कुलकम् (विशेषकम्) इत्यधिक पाठ समुपलभ्यते । २. = पञ्चेन्द्रियगोचरात् । ३. श 'येन' इति नास्ति । ४. आ दृर् । ५ = विभाव्य ।

आज्ञां सुवर्णनाभस्य कुर्वंस्तिष्ठ पितुः पदे ।
शान्तयि[1]त्वेति शोकार्तं पृथिवीपालनन्दनम् ॥१४६॥
[2]पादानतानवज्ञाय सामन्तान्सह सूनुना ।
स श्रीधरमुनेरन्ते शिश्रिये श्रमणश्रियम् ॥१४७॥
ज्ञानर्द्धावुपजातायां सहैव व्रतरोपणैः ।
दीक्षासमय एवास्य शिक्षासमयतां ययौ ॥१४८॥
द्वादशाङ्गश्रुताधारो द्वादशादित्यभासुरः ।
प्रत्यहं बृंहयामास स द्वादशविधं[3] तपः ॥१४९॥
विधिभिर्विविधाकारैः सिंहनिष्क्रीडितादिभिः ।
कर्मणा सह तस्यासीत्तनुस्तनुरतन्द्रिणः ॥१५०॥

वाहनैः सहितम् । राज्य स्वामित्वम् । युवराजाय सुवर्णनाभाय । वितीर्य दत्वा ॥१४५॥ आज्ञामिति । सुवर्णनाभस्य युवराजस्य । आज्ञाम् अनुज्ञाम् । कुर्वन् सन्[4] । पितु जनकस्य पृथिवीपालस्य । पदे स्थाने । तिष्ठ प्रवर्तस्व । इति एवम् । शोकार्तं शोकेन दुःखेनार्तं पीडितम् । पृथिवीपालनन्दन पृथिवीपालस्य नन्दनं तनयम् । शान्तयित्वा[5] सतर्पयित्वा ॥१४६॥ पादेति । सूनुना तनयेन सुवर्णनाभेन । सह साकम् । पादानतान् पादयोश्चरणयोरानतान् । सामन्तान् राज्ञः । अनुज्ञाय[6] समत कारयित्वा । स पद्मनाभः । श्रीधरमुने श्रीधराचार्यस्य । अन्ते समीपे । श्रमणश्रिय तपोलक्ष्मीम् । शिश्रिये सिषेवे । श्रिञ्[7] । सेवाया लिट् । त्रिभिर्विशेषकम्[8] ॥१४७॥ ज्ञानर्धाविति[9] । व्रतरोपणै व्रताना पञ्चमहाव्रताना रोपणै स्वीकारै । सहैव साकमेव । ज्ञानर्द्धौ बुद्धयर्द्धौ । उपजाताया सत्या सजाताया सत्याम् । अस्य पद्मनाभमुने । दीक्षासमय एव दीक्षाकाल एव । शिक्षासमयता शिक्षाकालत्वम् । ययौ जगाम । या प्रापणे । सहोक्ति ॥१४८॥ द्वादशेति । द्वादशाङ्गश्रुताधार द्वादशाङ्गस्य द्वादशावयवस्य श्रुतस्याधार आश्रयभूतः । द्वादशादित्यभासुर द्वादशादित्यवद् द्वादशसूर्यवद् भासुरो देदीप्यमान । सद्वादशविध[10] द्वादशविधैर्द्वादशभेदै सहितम् । तप । प्रत्यहं प्रतिदिनम् । बृंहयामास वर्धयामास[11] । बृह[12] वृद्धौ लिट्[13] ॥१४९॥ विधिभिरिति। सिंहवि (निष्) क्रीडितादिभिः सिंहवि (निष्) क्रीडितविधानमादिर्येषा तै । विविधाकारै विविधा अनेके आकारा भेदा येषा तैः । विधिभिः तपोभि । अतन्द्रिणः आलस्यवर्जितस्य । तस्य पद्मनाभमुने । तनु शरीरम् । कर्मणा दुरितेन । सह साकम् ।

पद्मनाभने युवराज सुवर्णनाभको पुर और वाहन सहित राज्य देकर—। 'युवराज सुवर्णनाभकी आज्ञाका पालन करते हुए तुम अपने पिताके पदपर बैठे रहो' इन शब्दोमे पृथिवीपालके शोकाकुल पुत्र धर्मपालको शान्त करके—। और सुवर्णनाभके साथ अपने चरणोमे झुके हुए समस्त सामन्तोको घर जानेकी अनुमति देकर श्रीधर मुनिके निकट जिनदीक्षा ले ली ॥१४५॥१४६॥-१४७॥ पञ्च महाव्रत ग्रहण करनेके साथ ही ज्ञान ऋद्धि उत्पन्न हो जानेसे पद्मनाभको दीक्षाका समय ही शिक्षाका समय हुआ ॥१४८॥ द्वादशाग श्रुतको जाननेवाले और बारह सूर्यो के समान तेजको धारण करनेवाले पद्मनाभने प्रतिदिन बारह प्रकारके तपको बढाना प्रारम्भ कर दिया ॥१४९॥ सिंह निष्क्रीडित आदि व्रतोकी अनेक प्रकारकी विधियोसे पद्मनाभका—जिसे प्रमाद

---

१ म सान्त्वयि° । २. क ख ग घ म पदान° । ३ अ °शमिदं । ४. = पालयन् सन् । ५ आ सान्त्वयित्वा । ६. = आज्ञाप्य । ७. आ श श्रीञ् । ८ आ श कुलकम् । ९. श 'ज्ञानार्द्धावुप°' इत्यादिपद्यस्य व्याख्या नोपलभ्यते । १०. = स पद्मनाभ । द्वादशविध द्वादश विधा प्रकारा यस्य तत्, द्वादशप्रकारकमित्यर्थ । ११. श 'वर्धयामास' इति नास्ति । १२. श बृह । १३ आ 'लिट्' इति नास्ति ।

त्रयोदशविधं तस्य चारित्रं चरतश्चिरम् ।
तीर्थकृत्कारणानीति समपद्यन्त षोडश ॥१५१॥
सम्यग्दर्शनसंशुद्धिः शङ्कादिपरिवर्जिता[1] ।
सधर्मिणि गुरौ वृद्धे श्रुते च विनयोऽधिकः ॥१५२॥
व्रतेष्वहिंसाप्रभृतिष्वतिचारविपर्ययः ।
तदङ्गेषु च शीलेषु क्रोधसंत्यजनादिषु ॥१५३॥
ज्ञानोपयोगः सततमुपधानादिपूर्वकः ।
संवेगो घोरसंसारदुःखभीरुत्वलक्षणः ॥१५४॥
त्यागश्चाभयदानादिप्रविभेदसमन्वितः ।
तपश्चागूढसामर्थ्यं शरीरक्लेशलक्षणम् ॥१५५॥

तनु कृशा । आसीत् अभवत् । लङ् । सहोक्ति ॥१५०॥ त्रयोदशेति । त्रयोदशविध त्रिभिरधिका दश त्रयोदश, 'द्वाष्टात्रय—' इति त्रय-आदेशः, त्रयोदश विधा भेदा यस्य तत् । चारित्रम् आचारम् । चिरं बहुकालपर्यन्तम् । चरत आचरत । तस्य पद्मनाभमुने । षोडश षड्भिरधिका दश षोडश । 'एकादश—' इत्यादिना षोडश इति साधु । तीर्थकृत तीर्थकरनामकर्मणः । कारणानि हेतव[2] । इति वक्ष्यमाणप्रकारेण । समपद्यन्त समभवन् । पदि[3] गतौ लङ् ॥१५१॥ सम्यगिति । शङ्कादिपरिवर्जिता शङ्कादिभि शङ्कादिदर्शनदोषै परिवर्जिता रहिता । सम्यग्दर्शनसशुद्धि सम्यग्दर्शनस्य सशुद्धि । दर्शनविशुद्धिरिति भावना । सधर्मिणि समानो धर्मो यस्य तस्मिन् । 'स. समानस्य धर्मादिषु च' इति समानस्य स-इत्यादेश. । 'धर्मादन् द्वि पदात्' इति अन्नन्त[4] । गुरौ विद्यागुरौ शिक्षागुरौ च । वृद्धे ज्ञानादिगुणै प्रवृद्धे[5] । श्रुते च परमागमे च । अधिक, बहुल: । विनय विनयगुण । विनयसपन्नतेति भावना । जाति ॥१५२॥ व्रतेष्विति । अहिंसाप्रभृतिषु अहिंसा अप्राणिवध प्रभृति मुख्य[6] येषा तेषु । व्रतेषु पञ्चमहाव्रतेषु । क्रोधसत्यजनादिषु क्रोधस्य कोपस्य सत्यजन विसर्जनं तदादि येषा (तेषु), उत्तमक्षमादिषु—इति भाव. । तदङ्गेषु तेषा व्रतानामङ्गेषु कारणेषु च । शीलेषु शीलव्रतेषु । अतिचारविपर्यय अतिचारस्य वधाद्यतिक्रमस्य विपर्ययोऽभाव.। शीलव्रतेष्वनतिचारभावना॥१५३॥ ज्ञानेति । सततम् अनवरतम् । उपदा (धा)[7]नादिपूर्वक, उपदा (धा) नादि नियमपुर.सर विद्यास्वीकारादि, स एव पूर्वो यस्य स । ज्ञानोपयोग ज्ञानस्यागमज्ञानस्योपयोगोऽभ्यास, अभीक्ष्णज्ञानोपयोगभावना । घोरससारदु खभीरुत्वलक्षण घोरात्संसाराज्जाते दु खे (जाताद् दु खाद्) भीरुत्व भयत्व तदेव लक्षण यस्य सः सवेग., सवेगभावना ॥१५४॥ त्याग इति। अभयदानादिप्रविभेदसमन्वित अभयस्य दानमादिर्येषा तेषा प्रविभे-

---

नहीं था—शरीर, कर्मोंके साथ-ही-साथ क्षीण होने लगा ॥१५०॥ चिरकाल तक तेरह प्रकारके चारित्रको पालन करनेवाले पद्मनाभने दर्शन विशुद्धि आदि सोलह कारण भावनाओंको—जो तीर्थंकर पद दिलानेमे कारण हैं—माना शुरू कर दिया ॥१५१॥ (१) शका आदि पच्चीस दोषोंसे रहित सम्यग्दर्शनकी विशुद्धि, दर्शनविशुद्धि कहलाती है (२) सधर्मा, गुरु, वृद्ध और परमागमके विषयमे अधिक विनय करना विनयसम्पन्नता कहलाती है ॥१५२॥ (३) अहिंसा आदि व्रतो और क्रोध आदिके परित्याग रूप शीलोमे—जो व्रतोके अंग हैं—अतिचार नहीं लगने देना शीलव्रतानतिचार है ॥१५३॥ (४) निरन्तर नियम पूर्वक ज्ञानाभ्यास करना अभीक्ष्णज्ञानोपयोग है। (५) संसारके घोर दु खोंसे डरना संवेग है ॥१५४॥ (६) अभयदान आदि अनेक

---

१ क ख ग घ °वर्जित । २ आ हेतु । ३ आ पद । ४ आ 'धर्मादनिच् केवलात्' इत्यन्नन्त । ५ श 'ज्ञानादिगुणैः प्रवृद्धे' इति नोपलभ्यते । ६ श मुख्यो । ७. = शास्त्राभ्यासायोपवासादिको यो विधि. पूर्वमारभ्यते स 'उपधानम्'—इत्युच्यते ।

समाधिस्तपसो विघ्ने कुतश्चित्समुपस्थिते ।
गुणिनां दुःखसंपाते वैयावृत्त्यसमुद्यमः[1] ॥१५६॥
भक्तियोगोऽर्हदाचार्येष्वनुरागैकलक्षणः ।
बहुश्रुतेषु चाशेषशास्त्रार्थग्रन्थभेदिषु ॥१५७॥
श्रुते च द्वादशाङ्गादिबहुभेदसमन्विते ।
षण्णामवश्यकार्याणां क्रियाणामपरिच्युतिः ॥१५८॥

देन विशेषेण[3] समन्वितः । त्यागश्च, शक्तितस्त्यागभावना । अगूढसामर्थ्यम्[4] अगूढमव्यवहितं सामर्थ्यं यस्मिन्[5] तत् । शरीरक्लेशलक्षणं शरीरस्य कायस्य क्लेशो निग्रह एव लक्षणं स्वरूपं यस्य तत् । तपश्च, शक्तितस्तपोभावना ॥१५५॥ समाधिरिति । तपसः अनशनादितपश्चरणस्य । कुतश्चित् । कस्मादपि (?) विघ्ने[6] अन्तराये । समुपस्थिते सति समागते सति । समाधिः[7], साधुसमाधिभावना । गुणिनां सद्गुणयुक्तसाधूनाम् । दुःखसंपाते दुःखस्य संपाते समागमे सति । वैयावृत्त्यसमुद्यमः वैयावृत्त्यस्य करचरणादिसंवाहनादिरूपस्य उद्योगः, वैयावृत्त्यकरणभावना ॥१५६॥ भक्तीति । अर्हदाचार्येषु अर्हत्सु अर्हत्परमेष्ठिषु, आचार्येषु च आचार्यपरमेष्ठिषु च । अशेषशास्त्रार्थग्रन्थभेदिषु[9] (ग्रन्थिभेदिषु) अशेषस्य समस्तस्य शास्त्रस्य आगमस्य अर्थस्य ग्रन्थभेदेषु ग्रन्थभेदयुक्तेषु-(ग्रन्थिभेदिषु मर्मस्थलोद्घाटकेषु) । बहुश्रुतेषु[10] च उपाध्यायपरमेष्ठिषु च । अनुरागैकलक्षणः अनुराग एव प्रीतिरेव एकं मुख्यं लक्षणं स्वरूपं यस्य सः । भक्तियोगः, अर्हदाचार्यबहुश्रुतभक्तिभावना ॥१५७॥ श्रुत इति । द्वादशाङ्गादिबहुभेदसमन्विते द्वादशाङ्गादिभिः[11] द्वादशाङ्गचतुर्दशपूर्वादिभिर्बहुभेदैरनेकविकल्पैः समन्विते संयुक्ते । श्रुते च परमागमे च । [12]भक्तियोगः, प्रवचनभक्तिभावना । अवश्यकार्याणाम् अवश्यं नियमेन कार्याणां[13] करणीयानाम् । षण्णां षट्संख्यानाम् । क्रियाणां प्रतिक्रमणादिक्रियाणाम् । अपरिच्युतिः अपरित्यागः । षडावश्यका-

---

प्रकारका विधिपूर्वक यथा शक्ति दान करना शक्तितस्त्याग है । (७) सामर्थ्यको न छिपाकर—यथाशक्ति कायक्लेश सहना शक्तितस्तप है ॥१५५॥ (८) साधुके तपमें कहींसे विघ्न उपस्थित होनेपर उसे दूर करना साधुसमाधि है । (९) गुणी पुरुषोंके ऊपर दुःख आ पड़नेपर उसे दूर करनेके लिए उनकी सेवा-शुश्रूषाका उद्यम करना—वैयावृत्त्य है ॥१५६॥ (१०–१३) अरिहंतों, आचार्यों, समस्त परमागमके अर्थसे सम्बन्ध रखनेवाले सभी ग्रन्थोंकी ग्रन्थियाँ खोलनेवाले बहुश्रुत विद्वानों अर्थात् उपाध्याय परमेष्ठियों और बारह अंग आदि नाना भेदोंवाले श्रुत—प्रवचनके विषयमें अनुराग रखना अर्हद्भक्ति, आचार्यभक्ति, बहुश्रुतभक्ति और प्रवचनभक्ति है । (१४) छह आवश्यक क्रियाओंका यथा समय करना, उनका परित्याग नहीं करना

---

१. क ख ग घ °समुद्यत । २ आ ङ °ग्रन्थिभेदिषु, म ग्रन्थवेदिषु । ३ =प्रविभागेन । ४. एष टीकाश्रयः पाठ., प्रतिषु तु 'अगूढसामर्थ्यशरीरक्लेशलक्षणम्' इति समस्तमेकपदमुपलभ्यते । ५. =यस्मिन् । ६. आ चारित्र्ययानघे । ७. =तत्प्रशमनम् । ८. श करचरणयो. संवाह° । ९. एष टीकाश्रय पाठ', प्रतिषु तु क्वचिद् '°ग्रन्थिभेदिषु' क्वचिद् '°ग्रन्थवेदिषु' क्वचिच्च '°ग्रन्थभेदिषु' पाठः समुपलभ्यते । १०. आ बहुव्रतेषु । ११. श तस्य द्वाद° । १२. श तस्य भक्ति° । १३ श 'अवश्य नियमेन कार्याणां' इति नोपलभ्यते ।

मार्गप्रभावनाज्ञानतपःप्रभृतिकारणैः।
तथा दर्शनवात्सल्यं सधर्मस्नेहलक्षणम् ॥१५९॥
इति शिवसुखसिद्ध्यै भावयन्षोडशैता
रहितसकलसङ्गो भावना शुद्धभावः।
परहितकरचर्यायद्धबुद्धिर्बबन्ध
व्रतनियमसमृद्धस्तीर्थकृन्नामकर्म ॥१६०॥
संन्यस्य सङ्गमखिलं निरवद्यवृत्ति-
राराध्य दृक्चरणबोधतपांस्यपांसुः।
त्यक्त्वा तपोभरतनुं स्वतनुं स धीरो
भेजे सुरालयमनुत्तरवैजयन्तम् ॥१६१॥

परिहाणिभावना ॥१५८॥ मार्गेति। ज्ञानतपःप्रभृतिकारणैः ज्ञानतपसी प्रभृती[3] मुख्ये येषां तैः। कारणैः हेतुभिः। मार्गभावना जिनधर्मप्राकट्यकरणं मार्गप्रभावना। तथा तेन प्रकारेण। सद्ध(ध)र्मस्नेहलक्षणं सधर्मिणि चतुःसङ्घे स्नेह एव प्रीतिरेव लक्षणं स्वरूपं यस्य तत्। दर्शनवात्सल्यं दर्शने वात्सल्यम्। प्रवचनवात्सल्यभावना ॥१५९॥ इतीति। इति उक्तप्रकारेण। एताः इमाः। षोडश षोडशसङ्ख्याकाः[4]। भावनाः। शिवसुखसिद्ध्यै शिवसुखस्य मोक्षसुखस्य सिद्ध्यै साधनाय। भावयन् ध्यायन्। रहितसकलसङ्गः रहितस्त्यक्तः सकलो निखिलः सङ्गः परिग्रहो येन सः। शुद्धभावः शुद्धो निर्मलो भावश्चित्तं यस्य सः। परहितकरचर्याबद्धबुद्धिः परेषामन्येषां हितकरे[5] मोक्षकरणे चर्ये प्रवर्तने आबद्धा विहिता बुद्धिर्यस्य सः। वराकान्[6] इत्येवं भावनापरः इत्यर्थः (?)। व्रतनियमसमृद्धः व्रतैरहिंसादिव्रतैर्नियमैरनशनादिव्रतैः समृद्धः संपूर्णः सन्। तीर्थकृन्नामकर्म तीर्थकरत्वनामकर्म[7]। बबन्ध बध्नाति स्म ॥१६०॥ सन्यस्येति। निरवद्यवृत्तिः निरवद्या निर्दोषा वृत्तिर्यस्य सः। अपांसुः न विद्यते पांसुः पापं यस्य सः। धीरः धैर्ययुक्तः। सः पद्मनाभमुनिः। अखिलं सकलम्। सङ्गं परिग्रहम्। सन्यस्य त्यक्त्वा। दृक्चरण[8]बोधतपांसि दृग् दर्शनं सा च, चरणं चरित्रं तच्च, बोधो ज्ञानं स च, तपश्च तथोक्तानि। आराध्य आराधनां कृत्वा। तपोभरतनुं तपोभरेणातिशयेन तनुं कृशाम्। स्वतनुं स्वस्य तनुं शरीरम्। त्यक्त्वा विमुच्य। अनुत्तरमनुत्तरनामानं वैजयन्तं वैजयन्तविमानम्।

आवश्यकापरिहाणि है ॥१५७॥१५८॥ (१५) ज्ञान और तप आदि कारणोंसे सन्मार्गकी प्रभावना करना मार्गप्रभावना है। (१६) तथा सधर्मासे स्नेह करना, उसे देखते ही निःस्वार्थ प्रेम—वात्सल्य प्रकट करना प्रवचन वात्सल्य है। ॥१५९॥ इन सोलह भावनाओंको मोक्षसुखकी सिद्धिके लिए भाते हुए समस्त परिग्रहके त्यागी, शुद्ध परिणामी, परोपकार करनेवाली चर्यामे बुद्धि लगानेवाले और व्रत तथा नियमोसे समृद्ध पद्मनाभने तीर्थंकर प्रकृतिका—जो नाम कर्मके भेदोमे परिगणित है—बन्ध कर लिया ॥१६०॥ मुनि पद्मनाभकी वृत्ति निर्दोष थी। वे स्वयं निष्पाप थे और थे धीर। उन्होने समस्त परिग्रहका परित्याग करके, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र और तपकी आराधना की। फिर अन्तमे तपस्याके प्रकर्षसे कृश हुए अपने शरीरको छोडकर वे अनुत्तर वैजयन्त नामक स्वर्गमे चले गये।—सोलह स्वर्ग, नव ग्रैवेयक और नव अनुदिशोके ऊपर पाँच अनुत्तर विमान हैं, वैजयन्त उन्हीमेसे एक है, जिसे पद्मनाभने प्राप्त

---

१ अ क ख ग घ म सद्धर्म°। २. इ भावना। ३. श प्रभृति। ४ श षोडशसंख्या। ५ श हित-करणे। ६ आ बद्धदेयुवराकान्। ७. श 'तीर्थकरत्वनामकर्म' इति नास्ति। ८. एष टीकाश्रय पाठ, प्रतिषु तु 'दृक्करण°' इत्येव दृश्यते।

फुल्लन्मल्लीकुसुमसदृशामोदमामोदिताशं
रत्नज्योत्स्नारुचिरमचिराद्देहमासाद्य सद्यः।
दिव्यैः पुण्योदयपरिणतैस्तत्र भूत्वाहमिन्द्रो
रेमे भोगैस्त्रयसमधिकत्रिंशदब्धिप्रमायुः ॥१६२॥

इति श्रीवीरनन्दिकृतावुदयाङ्के चन्द्रप्रभचरिते महाकाव्ये पञ्चदशः सर्गः ॥१५॥

सुरालय स्वर्गम्। भेजे भजति स्म ॥१६१॥ फुल्लन्निति। फुल्लन्मल्लीकुसुमसदृशामोदं फुल्लन्तीना विकसन्तीना मल्लीना मल्लिकाना कुसुमाना पुष्पाणा सदृश. समान आमोद परिमलो यस्य तम्। आमोदिताशम् आमोदिताः परिमलिता आशा यस्य (येन) तम्। रत्नज्योत्स्नारुचिर रत्नानां ज्योत्स्नया आह्लादनाकारकिरणेन रुचिर मनोहरम्। देह शरीरम्। अचिर शीघ्रम्। आसाद्य लब्ध्वा। तत्र वैजयन्ते। त्रयसमधिकत्रिंशदब्धिप्रमायु त्रयेण समधिकाना त्रिंशतोऽब्धीना सागराणा प्रमा प्रमाणमायुर्जीवित यस्य स.। अहमिन्द्र अहमिन्द्राख्य। सद्य. तदैव। भूत्वा समुत्पद्य। पुण्योदयपरिणतै पुण्याना प्रशस्तकर्मणामुदयेन परिणतैर्जातैः। दिव्यै. दिवि भवै.[1]। भोगै सुखै। रेमे रमते स्म। रमि[2] क्रीडाया लिट् ॥१६२॥

इति श्री वीरनन्दिकृतावुदयाङ्के चन्द्रप्रभचरिते महाकाव्ये तद्व्याख्याने च
विद्वन्मनोवल्लभाख्ये पञ्चदश. सर्गः ॥१५॥

किया ॥१६१॥ वहाँपर पद्मनाभने शीघ्र ही (अन्तर्मुहूर्तमें ही) दिव्य शरीर प्राप्त कर लिया, जो विकसित मल्लीलताके फूलके समान सुगन्धित था और इसीलिए सारी दिशाओंको सुगन्धित करनेवाला था, तथा रत्नोंकी प्रभासे अत्यन्त ही सुन्दर था। वहाँपर पद्मनाभ अहमिन्द्र हुआ; उसकी आयु तेतीस सागर प्रमाण थी। वह पुण्य कर्मके ऊपरसे प्राप्त हुए दिव्य भोगोंको भोगकर आनन्द करने लगा ॥१६२॥

इस प्रकार महाकवि वीरनन्दि विरचित उदयांक चन्द्रप्रभ चरित महाकाव्यमें
पन्द्रहवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥१५॥

---

१. आ देव्यैः देवीभवैः। २. आ रम्।

[१६. षोडशः सर्गः]

लक्ष्मीवानिह भरते सरोजखण्डैरुद्दण्डैरथ विधुदीधितिप्रकाशैः ।
स्वैश्चिह्नैरिव परितो विराजमानो देशानामधिपतिरस्ति पूर्वदेशः ॥१॥
भारेण स्तनकलशद्वयस्य यस्मिन्नुत्थातुं मुहुरसहा विदग्धगोप्यः ।
गीतेन स्फुटकलमाग्रमञ्जरीणां लुण्ठाकं हरिणगणं विमोहयन्ति ॥२॥
चीत्कारारवबधिरीकृताखिलाशैर्यत्राह्वामिव विदधद्भिरिक्षुयन्त्रैः
व्याकृष्टाः सरसरसामृतं पिबन्तः पान्थौघा न पथि परिश्रमं विदन्ति ॥३॥

श्रीमत्कामुद्रविजयक्षितिपालपुत्र नानाविनोदविनतोद्धुरपान्थजन्यम् ।
प्रद्युम्नजं वरधनु पतित(पतित)जिनेन्द्र नेमीश्वर प्रतिनवे(जे)हृत्सुरराजाद्यम् ॥

लक्ष्मीवानिति । अथ अनुत्तरगमनानन्तरम् । इह जम्बूद्वीपे । भरते भरतक्षेत्रे । विधुदीधितिप्रकाशैः विधोश्चन्द्रस्य दीधितिरिव प्रकाशः कान्तिर्येषां तैः । उद्दण्डैः उन्नतैः । सरोजखण्डैः सरोजानां कमलानां षण्डैः समूहैः । स्वैः स्वकीयैः । चिह्नैरिव छत्रादिभिरिव । परितः समन्तात् । विराजमानः भासमानः । लक्ष्मीवान् शोभावान् । देशानां जनपदानाम् । अधिपतिः प्रभुः । पूर्वदेशः पूर्वं इति देशः अस्ति वर्तते । लट्[1] । उत्प्रेक्षा ॥१॥ भारेणेति । यस्मिन् देशे । स्तनकलशद्वयस्य[2] स्तनावेव कलशौ तयोर्द्वयं तस्य । भारेण । मुहुः[3] पश्चात् । उत्थातुम् उत्थानाय । असहा असमर्थाः । विदग्धगोप्यः विदग्धाः प्रौढाः गोप्यो गोपस्त्रियः । स्फुटकलमाग्रमञ्जरीणां स्फुटकलमानां स्फुटानां परिणतानां शालिशस्यानामग्रे विद्यमानानां मञ्जरीणां स्तबकानाम् । लुण्ठाकम्[4] अपहरन्तम् । हरिणगणं हरिणानां गणं समूहम्[5] । गीतेन गानेन । विमोहयन्ति परवशं कुर्वन्ति । मुहुः वैचित्र्ये लट् । अतिशयः ॥२॥ चीत्कारेति । यत्र[6] पूर्वदेशे । चीत्कारारवबधिरीकृताखिलाशैः चीत्कारेण चीत्काररूपेणारवेण बधिरीकृता अखिला निखिला आशा दिशो यैस्तैः[7] ते । आह्वाम् आह्वानम् । विदधद्भिरिव कुर्वद्भिरिव । इक्षुयन्त्रैः । व्याकृष्टाः आकारिताः । सरसरसामृतं सरसो माधुर्ययुक्तो रस इक्षुरसः स एवामृतं तत् । पिबन्तः पानं कुर्वन्तः । पान्थौघाः पान्थानां पथिकानामोघाः समूहाः । 'नित्यं ण पन्थश्च' इति णप्रत्ययः पन्थादेशश्च । पथि मार्गे । परिश्रमं श्रमम् । विदन्ति न जानन्ति[9] । विद ज्ञाने लट् । उत्प्रेक्षा ॥३॥

इसके उपरान्त—इसी जम्बूद्वीपके भरतक्षेत्रमे एक पूर्वदेश है, जो शोभा और लक्ष्मीसे सम्पन्न है और सभी देशोका राजा है। उन्नत मृणालवाले एव चन्द्रमाको किरणोंके समान सफेद कमलोसे वह ऐसा जान पडता है मानो सभी ओरसे अपने राजचिह्नो—छत्र आदिसे सुशोभित हो ॥१॥ जिस देशमे कृषीवलोकी कुशल महिलाएँ स्तनकलशोंके भारके कारण बार-बार उठनेमे असमर्थ हैं। अतः वे अपने खेतोमे विकसित धानकी बालियोको उजाडनेके लिए आनेवाले हरिणोके झुण्डको गानसे मोह लेती हैं। फलतः वह मूर्छित-सा होकर खडा रह जाता है—उजाड नही करता ॥२॥ जिस देशमे 'चो' 'चो' शब्दसे सारी दिशाओको बधिर करनेवाले इक्षुयन्त्र—कोल्हू अपने शब्दसे ऐसे जान पडते हैं मानो रसपान करनेके लिए पथिकोंके समूहको बुला रहे हो। उनके शब्दसे आकृष्ट हुए राहगीर मधुर इक्षुरसरूपी अमृतका पान करके मार्गमे थकानका अनुभव नही करते—रस पीते ही उनकी थकान पच जाती है ॥३॥

१ श 'लट्' इति नास्ति। २ आ श °द्वयेन। ३ =पुनः पुनः। ४ आ शालसस्या°। ५. आ 'लुण्ठाकम्' इति नास्ति, श प्रतौ 'लुण्ठन्तम्' इत्यस्ति। ६ श 'समूह' इति नोपलभ्यते। ७ आ 'यत्र' इति नास्ति। ८. =यै.। ९ श 'न जानन्ति' इति नास्ति।

संतापप्रसरमुषः समाश्रितानां तुङ्गत्वे सति फलसंपदा नमन्तः ।
सच्छायाः सरसतया सदैव यत्र सादृश्यं दधति महीरुहा महद्भिः ॥४॥
नीरन्ध्रैर्विपुलफलैरकृष्टपच्यैः संपन्नं सुरकुरुवत्समस्तसस्यैः ।
न स्प्रष्टुं यमलमवग्रहा ग्रहोत्था निर्दोषं नरमिव दुर्जनापवादाः ॥५॥
संगीतध्वनिमुखरैर्विराजमाना प्रासादैः शशधरबिम्बचुम्बनोत्कैः ।
तत्रास्ति त्रिदशपुरीव राजधानी विख्याता त्रिजगति चन्द्रपुर्यभिख्या ॥६॥
विस्तीर्णोन्नतशिखरावलीकराग्रैरुत्तम्भामिव विदधन्निराश्रयस्य ।
कारुण्यात्पवनपथस्य भाति यस्यां प्राकारो ध्वजरमणीयगोपुराग्रः ॥७॥

संतापेति । यत्र[2] देशे । समाश्रितानाम् आश्रितजनानाम् । संतापप्रसरमुषः संतापस्य प्रसरं प्रचारं[3] मुष्णन्तीति तथोक्ताः । तुङ्गत्वे औन्नत्ये सति । फलसंपदा फलानां संपदा समृद्ध्या । नमन्तः विनताः । सच्छायाः अनातपेन युक्ताः, (पक्षे) कान्त्या युक्ताः । 'छाया स्यादातपाभावे सत्कान्त्युत्कोचकान्तिषु । प्रतिबिम्बेऽर्ककान्तायां तथा पङ्क्तौ च पालने ॥' सरसतया जलयुक्ततया, (पक्षे) पक्षिराजयुक्ततया । सदैव सर्वदैव । महद्भिः सत्पुरुषैः । सादृश्यं समानत्वम् । दधति धरन्ति । लट् । श्लेषोपमा ॥४॥ नीरन्ध्रैरिति । नीरन्ध्रैः निरन्तरैः । विपुलफलैः विपुलानि सान्द्राणि फलानि येषां तैः । अकृष्टपच्यैः[4] अकृष्टपच्यं येषां तैः । समस्तसस्यैः समस्तैः सर्वैः सस्यैः । सुरकुरुवत् देवकुरुनामोत्तमभोगभूमिवत् । संपन्नं समृद्धम् । यं पूर्वदेशम् । ग्रहोत्थाः ग्रहैरादित्यादिनवग्रहैरुत्थाः उत्पन्नाः । अवग्रहाः दुर्भिक्षाणि । निर्दोषं पापरहितम् । नरं लोकम् । दुर्जनापवादाः दुर्जनैर्विहिताः अपवादाः निन्दाः । इव । स्प्रष्टुं स्पर्शनाय । नालं न समर्था भवन्ति । 'शक्तार्थ-वषड्—' इत्यादिना अलं शब्दयोगे चतुर्थी । उपमा ॥५॥ संगीतेति । तत्र देशे । संगीतध्वनिमुखरैः संगीतस्य ध्वनिना रवेण मुखरैर्वाचालैः । शशधरबिम्बचुम्बनोत्कैः शशधरस्य चन्द्रस्य बिम्बस्य मण्डलस्य चुम्बने स्पर्शने उत्कैरुत्सुकैः । प्रासादैः हर्म्यैः । विराजमाना भासमाना । त्रिदशपुरीव त्रिदशानां देवानां पुरीव पुरमिव । [त्रि] जगति लोके [लोकत्रये] । विख्याता प्रसिद्धा । चन्द्रपुर्यभिख्या चन्द्रपुरी इत्यभिख्या नामधेयं यस्याः सा । राजधानी पुरी । अस्ति वर्तते । उपमा ॥६॥ विस्तीर्णेति । यस्यां चन्द्रपुर्याम् । ध्वजरमणीयगोपुराग्रः ध्वजैः पताकाभिः रमणीयः मनोहरः गोपुराणां (पुर-) द्वाराणामग्रमूर्ध्वभागो यस्य सः । प्राकारः सालः ।

काचाद्रिप्रतिमविलोलवोचिनाम्भःखातेनापरिमितकुक्षिणा निजेन ।
या शोभां वहति समन्तत परीता तद्रत्नान्यभिलपता पयोधिनेव ।।८।।
यत्रोर्वीरुहनिचयः परं वियोगी सर्पादिः समजनि केवलं विलापी ।
वैरस्यं परमतिपीडितेक्षुदण्डे सग्रामे परमभवद् गदाभिघातः ।।९।।
पातालोदरमिव सेवित सहस्रैर्नागानां हृदयमिवोरु सज्जनानाम् ।
शाक्यानां मतमिव यत्र भूमिकाभिर्वह्वीभिः स्थितमवभाति राजवेश्म ।।१०।।

विस्तीर्णोन्नतशिखरावलीकराग्रै विस्तीर्णाना विशालानामुन्नताना प्राशूना शिखराणामावल्य एव श्रेणय एव (कराग्राणि तै) कराग्रैर्हस्ताग्रै । निराश्रयस्य निर्गताधारस्य । पवनपथस्य गगनस्य । कारुण्यात् दयाया । उत्तम्भा हस्ताधारम्[1] । विदधन्निव कुर्वन्निव । भाति विराजते । भा दीप्तौ लट् । उत्प्रेक्षा ।।७।। काचेति । काचाद्रिप्रतिमविलोलवीचिना काचाद्रेरञ्जनपर्वतस्य प्रतिमा समाना विलोलाश्चञ्चला वीचयस्तरङ्गा यस्मिन् तेन । अपरिमितकुक्षिणा अपरिमितोऽप्रमित कुक्षिरुदर यस्य तेन । निजेन स्वकोयेन । अम्भ खातेन अम्भसो जलस्य खातेन खातिकया । तद्रत्नानि तस्य पुरस्य रत्नानि मणीन् । अभिलपता वाञ्छता । पयोधिनेव समुद्रेणेव । समन्तत परित । परीता परिवृता । या पुरी । शोभा मनोहरत्वम् । वहति धरति । वहि[2] प्रापणे लट् । उत्प्रेक्षा ।।८।। यत्रेति । यत्र चन्द्रपुर्याम् । परं केवलम् । उर्वीरुहनिचय उर्वीरुहाणा वृक्षाणा निचय. समूह । वियोगी वीना पक्षिणा योगी सवन्धी । जनो[3] वियोगी न । केवल परम् । सर्पादि भुजङ्गादि । विलापी बिलमाप्नोतीति विलापी । विलापी[4]न विप्रलापकारी न । समजनि समजायत[5] । जनैङ्[6] प्रादुर्भावे लुङ् । वैरस्य विरसत्वम् । पर केवलम् । अतिपीडितेक्षुदण्डे अतिपीडिते यन्त्रेणातिमर्दिते इक्षूणा रसालाना दण्डे यष्टौ समजनि[7] । पर केवलम् । सग्रामे रणे । गदाभिघात गदया दण्डेनाभिघात । गदाभिघात[8] गदैर्व्याधिभिरभिघातो बाधा । न अभवत् । परिसख्या ।।९।। पातालेति । यत्र पुर्याम् । पातालोदरमिव पातालस्याधोभागस्योदरमिव मध्यप्रदेश इव[9] । नागाना नागदेवतानाम्, (पक्षे) गजानाम् । सहस्रै अनेकै ।

दिशाओमे चार बडे-बडे दरवाजे—फाटक बने हुए हैं, जिनके ऊपर लहराते हुए झण्डोसे अपूर्व सुषमा छायी रहती है । वह प्राकार अपने विशाल और उन्नत-शिखररूपी हाथोसे आकाशका स्पर्श करता है जिससे ऐसा प्रतीत होता है मानो वह करुणावश, निराश्रय आकाशको हस्ताव-लम्बन देकर थामे हुए हो ।।७।। राजधानीके चारो ओर परिखा बनी हुई है । उसमे अगाध जल भरा हुआ है । उसमे जो चचल लहरें उत्पन्न होती हैं वे अजनगिरि सरीखी प्रतीत होती हैं । उस परिखासे वह राजधानी ऐसी जान पडती है मानो उसके रत्नोको पानेकी अभिलाषासे समुद्रने उसे सभी ओरसे घेर लिया हो । परिखासे राजधानीको अपूर्व शोभा है ।।८।। वहाँपर केवल वृक्षोका समूह हो वियोगी अर्थात् पक्षियोके सम्पर्कसे युक्त है, किन्तु और कोई भी वियोगी—विरही नही है । वहाँपर केवल सर्प आदि जन्तु हो विलापी हैं—बिलोके निवासी हैं, और कोई भी विलापी—विलाप करनेवाले नही हैं । वहाँ विरसता या नीरसता केवल अच्छी तरह कोल्हूमे पेरे गये गन्नोमे पायी जाती है, और किसी भी मनुष्यमे नीरसता नहीं पायी जाती । तथा वहाँपर केवल संग्राममे ही गदाका प्रहार होता है, और किसीके भी ऊपर रोगका आक्रमण नही होता ।।९।। वहाँका राजमहल देखते ही बनता है । जिस प्रकार पातालका मध्यभाग हजारो नागकुमार जातिके देवोसे युक्त है, उसी प्रकार वह (राजमहल) हजारो

१ आ हस्तधारम् । २ आ वह । ३ = तत्रत्य कश्चन मानव । ४ = तत्रत्य कश्चिदपि । ५ श जायते स्म । ६ आ जनी । ७ = पर तत्रत्ये कस्मिश्चिदपि पुसि वैरस्य न समजनि । ८ = 'पर तत्र' इत्युपरिष्टाद् योज्यम् । ९ श मध्यमिव ।

प्रख्यातः प्रशमरतः प्रतापराशिस्तत्रासीदवनिपतिर्महादिसेनः ।
यः क्रान्ताखिलभुवनैर्गुणैरुदारैरिक्ष्वाको कुलममलैरलंचकार ॥११॥
कुन्देन्दुद्युतिनिकरावदातयान्यान्न्यक्कुर्वञ्जगति महीभृतः स्वकीर्त्या ।
कल्याणप्रकृतितया न केवलं य. स्थैर्येणाप्यनुविदधे सुराचलेन्द्रम् ॥१२॥
लावण्यं भृशमदधादभूदगाधो रत्नानामपि परमालयो बहूनाम् ।
अन्वेतुं तदपि शशाक यं महेच्छं[6] नाम्भोधिः प्रलयपराकृतव्यवस्थ. ॥१३॥

सेवितम् आश्रितम् । सज्जनाना सत्पुरुषाणाम् । हृदयमिव चित्तमिव । उरु महत् । शाक्याना बौद्धानाम् । मतमिव समय इव । बह्वीभि बहुलाभि. । भूमिकाभि माध्यमिक— सौत्रान्तिक-वैभाषिक— योगाचारादिमत-भेदै., (पक्षे) तलै । स्थितम् । राजवेश्म राजसदनम् । [अव–] भाति विराजते । लट् । उपमा[2] ॥१०॥ प्रख्यात इति । तत्र पुर्याम् । य' । क्रान्ताखिलभुवनै क्रान्त व्याप्तमखिल सकल भुवन लोको यैस्तै । उदारै महद्भि । अमलै निर्मलै । गुणै माधुर्यादिभि । इक्ष्वाकोः इक्षून् आकायत[3] इति इक्ष्वाकु , त-य पुरुदेवस्य[4] । कुल वशम् । अलचकार बुभूष । (स) । प्रशमरत प्रशमे नयगुणे रत प्रीत । प्रतापराशि प्रतापाना तेजसा राशिः पुञ्ज । महादिसेन महासेन इति[5] । अवनिपति भूमिपति । आसीत् अभवत् । लङ् । अतिशय ॥११॥ कुन्देति । कुन्देन्दुद्युतिनिकरावदातया कुन्देन्दोर्माघ्यचन्द्रयोर्द्युतीना निकर इव निचय इवाव-दातया शुभ्रया । स्वकोर्त्या स्वास्यात्मन कीर्त्या यशसा । अन्यान् शेषान् । महीभृत. भूपान्[6], पक्षे पर्वताश्च । जगति लोके । न्यक्कुर्वन् तिरस्कुर्वन् । य भूप । न केवल न परम् । कल्याणप्रकृतितया कल्याणस्य भद्रस्य, पक्षे सुवर्णस्य प्रकृतितया[7] स्वभावतया । स्थैर्येणापि धैर्येणापि, पक्षे स्थिरत्वेनापि । सुराचलेन्द्र महामेरुम् । अनुविदधे अनुकरोति स्म । डुधाञ् धारणे च लिट् । श्लेषोपमा ॥१२॥ लावण्यमिति । भृशम् अत्यन्तम् । लावण्यं शरीरकान्तिम्, लवणत्वमिति ध्वनि । अदधात् धरति स्म । अगाध अतलस्पर्श । बहूना बहुला-नाम् । रत्नानामपि मणीनामपि । परमालय प्रकृष्टनिलय । अभूत् अभवत् । तदपि तथापि । प्रलयपराकृत-व्यवस्थ प्रलयेन प्रलयकालेन पराकृता निराकृता व्यवस्था मर्यादा यस्य स । अम्भोधि समुद्र । महेच्छ महती पृथुला इच्छा चित्तं यस्य तम् । य भूपम् । अन्वेतु सदृशो भवितुम् । न शशाक समर्थो न बभूव ।

हाथियोसे युक्त है । जिस तरह सज्जनोका हृदय विशाल होता है, उसी प्रकार वह भी विशाल है । जैसे बौद्धोंके मतमे अनेक भेद-प्रभेद हैं वैसे ही उसमे अनेक खण्ड हैं ॥१०॥ वहाँ महासेन नामक राजा राज्य करता था । वह शान्तिप्रेमी और प्रतापका पुंज था । वह सारे भूमण्डलमे विख्यात था । उसने समस्त ससारमे फैले हुए अपने महान् निर्मल गुणोसे इक्ष्वाकु वशको सुशोभित किया था ॥११॥ उसने कुन्दपुष्प और चन्द्रकिरणोकी राशिके समान शुभ्र, अपनी कीर्तिसे इस भूतलपर अन्य सभी राजाओ (पर्वतो) को मात कर दिया था, तथा न केवल भद्र (स्वर्ण) प्रकृतिके कारण, वरन् स्थिरताके कारण भी सुमेरुपर्वतको अपने समान बना लिया था ॥१२॥ महासेनके शरीरपर मोती सरीखी आभा अत्यधिक मात्रामे थी । वह गम्भीर था, बहुतसे रत्नोका आश्रय स्थान था और अत्यन्त उदारचेता था । यो समुद्र भी लावण्य— खारेपनसे युक्त होता है, खूब गहरा होता है और होता है अगणित रत्नोका आकर, किन्तु फिर भी वह प्रलयकालमे अपनी मर्यादाको छोड़ देता है, जब कि महासेन बडेसे बडे सकटके अवसरपर भी अपनी मर्यादाको नही बदलता रहा, अत. समुद्र उसकी बराबरी नही कर

---

१ अ महोच्छ । २. आ अस्य नवमश्लोकस्य व्याख्यापूर्णैव वर्तते । ३. आ आनायत । ४. श मरुदेवस्य । ५. श महाधिसेन. महाधिसेन इति । ६. आ भूपालान् । ७ आ प्रकृतिकतया ।

शौर्यं नातिशयि समुज्झितं नयेन न क्षान्त्या रहितमुदारया प्रभुत्वम् ।
यस्यासीद्विनयविनाकृता न विद्या वित्तं नानवरतदानभोगहीनम् ॥१४॥
तस्योर्वीवलयविशेषकस्य राज्ञः पर्याप्तानुगुणवर्णनेयतैव ।
संसारार्णवमथनस्य भव्यभानोर्यद् भेजे सकलजगद्गुरोर्गुरुत्वम् ॥१५॥
तस्य श्रीरिव कमलालयादुपेता पातालादिव परिनिर्गताहिकन्या ।
पुष्पेषो रतिरिव लक्ष्मणेति जाया सर्वान्तःपुरपरमेश्वरी बभूव ॥१६॥
सच्छाया विपुलतरोर्महालतेव मेघानामिव पदवी सतारतारा ।
चापश्रीरिव वरवंशलब्धजन्मा या रेजे सुकविकथेव चारुवर्णा ॥१७॥

निषेधोपमा ॥१३॥ शौर्यमिति । यस्य भूपस्य । अतिशयि अतिशयोपेतम् । शौर्यं[2] सामर्थ्यम् । नयेन नयगुणेन । न समुज्झितं विरहितं न भवति । तस्य प्रभुत्वं स्वामित्वम् । उदारया महत्या । क्षान्त्या क्षमया । रहितं समुज्झितं न । विद्या शास्त्रपरिज्ञानम् । विनयविनाकृता विनयेन विनयगुणेन विनाकृता अभावविहिता । नासीत् नाभवत् । वित्तं द्रव्यम् । अनवरतदानभोगहीनम् अनवरतं सततं दानभोगाभ्यां त्यागानुभवाभ्यां हीनं रहितम् । न स्यात्, सर्वं सार्थकमेव भवतीत्यर्थः ॥१४॥ तस्येति । यत् यस्मात् कारणात् । संसारार्णवस्य संसारसमुद्रस्य मन्थनस्य प्रमर्दनस्य । भव्यभानोः भव्यानां विनेयजनानां[3] भानोः सूर्यस्य, सन्मार्गप्रकाशकस्येत्यर्थः । सकलजगद्गुरोः स्वामिनः । गुरुत्वं पितृत्वम्[4] । भेजे भजतिस्म । लिट् । उर्वीवलयविशेषकस्य उर्व्या भूमेर्वलयस्य मण्डलस्य विशेषकस्य तिलकस्य । तस्य महासेनस्य । राज्ञः भूपस्य । गुणवर्णना गुणानां वर्णना कीर्तना । इयतैव एतावत्प्रमाणेनैव । पर्याप्ता सपूर्णा । ननु[5] निश्चयम् ॥१५॥ तस्येति । कमलालयात् कमलमेवालयं तस्मात् । उपेता आगता । श्रीरिव लक्ष्मीरिव । पातालात् अधोभुवनात् । परिनिर्गता आयाता । अहिकन्येव नागकन्येव । पुष्पेषोः कामस्य । रतिरिव रतिदेवीव । तस्य महासेनभूपस्य । सर्वान्तःपुरपरमेश्वरी सर्वस्याखिलस्यान्तःपुरस्य निशान्तस्य परमेश्वरी स्वामिनी । लक्ष्मणा इति लक्ष्मणादेवी इति । जाया प्राणवल्लभा । बभूव भवति स्म । भू सत्तायां लिट् । उपमा (उत्प्रेक्षा) ॥१६॥ सच्छायेति । विपुलतरोः विपुलस्य महतस्तरोर्वृक्षस्य । महालतेव[6] वल्लरीव[7] । सच्छाया कान्तियुक्ता, (पक्षे) अनातपसहिता । मेघानां जलधराणाम् । पदवीव वीथीव, गगनमिवेत्यर्थः । सुतारतारा सुतारा महत्यस्तारा मौक्तिका, पक्षे तारा नक्षत्राणि यस्यां सा । चापश्रीरिव चापस्य धनुषः श्रीरिव शोभेव । वरवंशलब्धजन्मा वरे श्रेष्ठे वंशे,

सका ॥१३॥ उसका सर्वोत्कृष्ट पराक्रम नीतिसे रहित नहीं था, प्रभुता उत्तम क्षमासे रहित नहीं थी, विद्या विनयसे रहित नहीं थी और धन कभी भी दान और भोगसे हीन नहीं था ॥१४॥ राजा महासेन सारे भूमण्डलका तिलक था। निश्चय ही उसके गुणोंका वर्णन इतना ही पर्याप्त है कि वह संसारसमुद्रके मथन करनेवाले, भव्यजीवोंको सन्मार्ग प्रदर्शन करनेके लिए सूर्यकी समता करनेवाले और सारे संसारके गुरु बननेवाले भगवान् चन्द्रप्रभका गुरु-पिता था ॥१५। उसकी लक्ष्मणा नामकी पट्टरानी थी, जो सभी रानियोंमें प्रमुख थी, और जो ऐसी प्रतीत होती थी मानो कमलरूपी आलयको छोड़कर आयी हुई लक्ष्मी हो, पातालसे निकलकर आयी हुई नागकन्या हो या कामदेवके पाससे आयी हुई रति (कामदेवकी पत्नी) हो ॥१६॥ जिस प्रकार विशाल वृक्षकी बहुत बड़ी शाखा अच्छी छायासे युक्त होती है उसी प्रकार पट्टरानी लक्ष्मणा अच्छी छाया-कान्तिसे युक्त थी, जिस तरह आकाश चमकती हुई ताराओंसे युक्त होता है उसी तरह वह चमचमाते निर्मल मोतियोंमें भूषित थी, जैसे धनुषकी सुषमा श्रेष्ठ

१ अ क ख ग घ म °महातरोर्ल°। २ = पराक्रम । ३ आ विनयजनानां, श विनीयजनानां । ४ श वेतृत्वम् । ५. = निश्चयेन । ६. = महाशाखेव । ७. श 'वल्लरीव' इति नोपलभ्यते ।

लोलत्वं नयनयुगे न चित्तवृत्तौ मन्दत्वं गतिषु न सज्जनोपचारे[1]।
कार्कश्यं कुचयुगले न वाचि यस्या भङ्गोऽभूदलकचये न चापि शीले ॥१८॥
सौभाग्यं क्वचिदितरत्र रूपमात्रं क्वापि स्याद्विनयगुणोऽपरत्र शीलम्।
यस्यां तत्समुदितमेव सर्वमासीत्प्रायेण प्रभवति तादृशी न सृष्टिः[2] ॥१९॥
सर्वेषामपि तमसां छिदः[3] पुरस्ता[4]त्तीर्थस्य क्षतरजसोऽष्टमस्य कर्ता।
यद्गर्भं गुणनिधिरात्मनाधिशिश्ये कस्तस्या गुणगणनां विधातुमीशः ॥२०॥

गोत्रे, पक्षे वेणौ लब्ध प्राप्त जन्म जनन यस्या[4] सा। सुकविकथेव सुकवेः महाकवीश्वरस्य कथेव वाणीव। चारुवर्णा चारुर्मनोहरो वर्ण कान्तिः, पक्षे वर्णोऽक्षर यस्याः सा। या देवी। रेजे भाति स्म। लिट्। श्लेषोपमा ॥१७॥ लोलत्वमिति। यस्याः लक्ष्मणायाः। नयनयुगे नयनयोर्नेत्रयोर्युगे युगले। लोलत्व चञ्चलत्वम्। चित्तवृत्तौ चित्तस्य मनसो वृत्तौ वर्तने। न नाभूत्। मन्दत्वम् आलस्यम्। गतिषु गमनेषु। सज्जनोपकारे सज्जनाना सत्पुरुषाणामुपचारे सत्कारे। न। कार्कश्य कठिनत्वम्। कुचयुगले स्तनयुगले। वाचि वचने। न। भङ्ग कौटिल्यम्। अलकचये अलकाना चूर्णकुन्तलाना चये समूहे। शीले सदाचारे। न चाप्यभूत् नाभवत्। परिसंख्या ॥१८॥ सौभाग्यमिति। क्वचित् कस्याचित् स्त्रियाम्। सौभाग्यम्[6] आदेयमूर्तित्वम्। इतरत्र अन्यस्याम्। रूपमात्र सौन्दर्यमात्रम्। क्वापि[7] कस्यामपि स्त्रियाम्। विनयगुण विनयरूपो गुण। अपरत्र अपरस्या वनितायाम्। शील सदाचार। स्यात् भवेत्। यस्या लक्ष्मणायाम्। तत्सर्वं तत्सकलम्। समुदितमेव युगपदेव। आसीत् अभवत्। तादृशी तद्रूपा। सृष्टिः स्त्रीसृष्टि। प्रायेण बहुलेन[8]। न प्रभवति ॥१९॥ सर्वेषामिति। पुरस्तात् अग्रे। सर्वेषामपि सकलजनानामपि। तमसाम् अज्ञानानाम्। छिद नाशयत.। क्षतरजस. क्षत विनष्ट रज· पाप यस्य[9] तस्य। अष्टमस्य अष्टाना पूरणस्य। 'नो मट्' इति मट्—प्रत्ययः। तीर्थस्य परमागमस्य। कर्ता प्रभु·। गुणनिधिः गुणानामनन्तज्ञानादीना निधिर्निधानम्। यद्गर्भं यस्या लक्ष्मणाया गर्भमुदरम्। आत्मना स्वयमेव। अधिशिश्ये प्रेरितवान्। 'शीङ्स्थासोऽधेराधार.' इति आधारे कर्म। तस्या· लक्ष्मणाया। गुणगणाना गुणाना पातिव्रत्यादीना गुणाना गणना सख्याम्। विधातु कर्तुम्। क.

बांससे उत्पन्न होती है वैसे वह श्रेष्ठ वशमे उत्पन्न हुई थी और जिस प्रकारसे अच्छे कविकी कथा सुन्दर वर्णोंसे युक्त होती है उसी प्रकारसे वह भी सुन्दर वर्ण रगसे युक्त थी। वह सभी दृष्टिसे सुन्दर थी। उसकी निराली शोभा थी ॥१७॥ उसके नेत्र युगलमे चचलता थी, न कि मनोवृत्तिमे, उसकी चाल सालस-धीमी थी, किन्तु उसे सत्पुरुषोके उपकार करनेमे आलस नहीं था; उसके स्तनयुगलमे कठोरता थी न कि वचनोमे और उसके केशपाशमे घुँघरालापन था किन्तु उसका शील कभी स्वप्नमे भी भंग नही होता था ॥१८॥ किसी स्त्रीमे केवल सौभाग्य, किसीमे केवल रूप, किसीमे केवल विनय गुण, तो किसीमे केवल शील ही पाया जाता है, किन्तु पट्टरानी लक्ष्मणामे क्या सौभाग्य, क्या रूप, क्या विनय और क्या शील—ये सभी गुण एक ही साथ प्रकट हो गये थे। ऐसी स्त्रियोकी सृष्टि प्रायः नही होती, होती भी है तो बहुत ही कम ॥१९॥ आगे जाकर सभी प्रकारके अज्ञानको मिटानेवाले, और पापोको नष्ट करनेवाले अष्टम तीर्थके प्रवर्त्तक अत्यधिक गुणवान् भगवान् चन्द्रप्रभ जिसके गर्भमे अवतरित होगे उसके

---

१ आ इ क ख ग घ म 'पकारे। २. आ इ दृष्टि.। ३ म तमसा स्थिति। ४. क ख ग घ म परस्तात्तीं। ५ =यया। ६ =सुभगता। ७. श 'अपि' नास्ति। ८ =बहुलम्। ९. =येन।

तां क्षोणीमिव चतुरर्णवावसानामायातां तनुमनुकृत्य मानवीयाम् ।
प्राप्योर्वीपतिरखिलेन्द्रियार्थसारामात्मानं स कलयति[1]स्म सार्वभौमम् ॥२१॥
व्यासक्तस्तदधरपल्लवे स राज्यश्रीचिन्तामपि शिथिलीचकार भूप. ।
प्रायेण स्थिरमतयोऽपि विप्रमोहं नीयन्ते मदनफलैरिवेन्द्रियार्थैं ॥२२॥
निर्मग्नं विषयसुखाम्बुधावगाधे तं मन्दोद्यममवधार्य राजकार्ये ।
स्वातन्त्र्य ययुरखिलानि मण्डलानि मन्दत्वं भवति न कस्य वाभिभूत्यै ॥२३॥
व्युत्थान सचिवमुखान्निशम्य राज्ञां राजेन्द्रो निजमभिनिन्द्य च प्रमादम् ।
निर्जेतुं स दश दिशोऽन्यदा प्रतस्थे सामन्तैः परिकलित.[2] सहस्रसख्यैः ॥२४॥

को वा । ईश समर्थ । अतिशय ॥२०॥ तामिति । स उर्वीपति' महासेनभूपति । मानवीया मनुष्यसबन्धिनीम् । तनु शरीरम् । अनुकृत्य धृत्वेत्यर्थ । आयता विशालाम् [आयाता] (समागताम्) । चतुरर्णवावसाना चत्वारोऽर्णवा समुद्रा चतुरर्णवास्त एवावसाना अवधयो यस्या ताम् । क्षोणीमित्र भूमिमिव[3] । अखिलेन्द्रियार्थसाराम् अखिलाना निखिलानामिन्द्रियाणा पञ्चेन्द्रियाणामर्थाना विषयाणा सारा सारभूताम् । ता लक्ष्मणाम् । प्राप्य लब्ध्वा । आत्मान स्वम् । सार्वभौम चक्रवर्तिनम् । कलयतिस्म मन्यते स्म । कल सख्याने लट् । उत्प्रेक्षा ॥२१॥ व्यासक्त इति । तदधरपल्लवे तस्या लक्ष्मणाया अधर एव ओष्ठ एव पल्लवः किसलय तस्मिन् । व्यासक्त आसक्त । भूप महासेनभूप. । राज्यश्रीचिन्तामपि राज्यस्य श्रिय सपदश्चिन्तामाध्यानमपि । शिथिलीचकार प्रागशिथिला इदानी शिथिला (शिथिला ता) चकार । लिट् । तथा हि । स्थिरमतयोऽपि स्थिरया स्थिररूपया मत्या बुद्ध्या युक्ता अपि । मदनफलैरिव[4] इन्द्रियार्थैरिव, पञ्चेन्द्रियविषयै । प्रायेण तावत् बाहुल्येन । विप्रमोह भ्रान्तिम् । नीयन्ते प्राप्नुवन्ति । णीञ् प्रापणे लट् । अर्थान्तरन्यास ॥२२॥ निर्मग्नमिति । अगाधे अतलस्पर्शे । विषयसुखाम्बुधौ विषयाणा पञ्चेन्द्रियाणा[5] सुखमेवाम्बुधि समुद्र तस्मिन् । निर्मग्न प्रविष्टम् । राजकार्ये राज्ञा भूपाना कार्ये दुष्टनिग्रहादिकार्ये कृत्ये । मन्दोद्यमम् अल्पोद्योगम् । त महासेनम् । अवधार्य निश्चित्य । अखिलानि सर्वाणि । मण्डलानि[6] भूवलयानि । स्वातन्त्र्य स्वाधीनत्वम् । ययु यान्ति स्म । सकलदेशाधिपा स्वाधीना बभूवु इत्यर्थ । मन्दत्वम् अलसत्वम् । कस्य वा पुरुषस्य । अभिभूत्यै तिरस्करणाय । न भवति किन्तु[7] भवत्येव । अर्थान्तरन्यास ॥२३॥ व्युत्थानमिति । राजेन्द्र राजश्रेष्ठ । स महासेन । सचिवमुखात् मन्त्रिवदनात्[8] । राज्ञा सामन्तभूपानाम् । व्युत्थान विरोधाचरणम्[9] । निशम्य श्रुत्वा । निज स्वकीयम् । प्रमाद[10] मतिविभ्रमम् । अभिनिन्द्य च

गुणोकी गणना भला कौन कर सकता है ? ॥२०॥ पट्टरानी लक्ष्मणा ऐसी जान पडती थी मानो वह मानव देह धारण करके उपस्थित हुई, चारो समुद्रोसे वेष्टित विशाल भूमि हो । वह सभी इन्द्रियोके विषयोका सार थी । उसे पाकर महासेनने अपनेको सार्वभौम-चक्रवर्ती माना ॥२१॥ लक्ष्मणके अधरपल्लवमे आसक्त होकर राजा महासेनने राज्यलक्ष्मीकी चिन्ताको भी कम कर दिया । सच तो यह है कि जिनकी बुद्धि स्थिर है वे भी धतूरेके फल सरीखे पचेन्द्रियोके विषयोसे मोहित कर दिये जाते हैं ॥२२॥ महासेन विषयसुखके अगाध समुद्रमें मग्न रहने लगा और उसने राजकीय कार्यमे ढील डाल दी । यह जानकर सारी छोटी-बडी रियासतें—जो अधीन रही—स्वतन्त्र हो गयी ! आलस किसके अपमानके लिए नही होता ? ॥२३॥ अपने मन्त्रियोके मुखसे, अनेक अधीन राजाओके सिर उठानेके समाचार सुनकर राजाधिराज

१. आ इ कलयते । २ क ख ग घ म परिकरित । ३ श 'भूमिमिव' इति नास्ति । ४ =धतूरफलैरिव । ५ =पञ्चेन्द्रियसबन्धिना । ६ =सामन्ताना राज्यभूभागा । ७ =सर्वेषामपि । ८ श °वचनात् । ९. आ 'विरोधाचरणम्' इति पद नोपलभ्यते । १० =अनवधानताम् ।

प्राक्प्राचीं[1] दिशमुपसृत्य धूतधन्वा कृत्वाथ स्वशरशरव्यमङ्गराजम् ।
कारुण्यात्प्रणतिपरे रराज राज्यं तत्सूनौ विदधदुपायनीकृतेभे ॥२५॥
प्रोद्दामद्विरदरदप्रभेदनिर्यद्योधासृक्प्लुतरथचक्रचक्रवाले ।
तेनाजौ प्रविदधिरे कलिङ्गभर्तुः कामिन्यो वलयविहीयमानहस्ताः ॥२६॥
पादाब्जद्वितयशिलीमुखायमानं स्वग्रीवानिहितकुठारमेकवीर[2] ।
पञ्चालाधिपतिमसौ व्ययुङ्क्त रत्नैर्न प्राणैः प्रणतकृपालवो महान्तः ॥२७॥

निन्दयित्वा । सहस्रसख्यै अनेकैः । सामन्तै[3] राजभि । परिकलित. युक्त सन । दशदिश दशककुभ । निर्जेतु विजयनिमित्तम् । अन्यदा अन्यस्मिन् काले । प्रतस्थे निर्जगाम । ष्ठा गतिनिवृत्तौ लिट् ॥२४॥ प्रागिति । धूतधन्वा धूत कम्पित धन्व[4] येन स । स महासेन । प्राक् प्रथमम् । प्राची पूर्वाम् । दिश ककुभम् । उपसृत्य गत्वा । अङ्गराजम् अङ्गदेशराजम् । स्वशरशरव्य स्वस्य शरस्य बाणस्य शरव्य लक्ष्यम् । कृत्वा विधाय । प्रणतिपरे प्रणतौ प्रणमने परे तत्परे । उपायनीकृतेभे उपायनीकृता उपग्राह्य (ह्याः) विहिता गजा येन तस्मिन् । तत्सूनौ तस्याङ्गराजस्य सूनौ पुत्रे । राज्य प्रभुत्वम् । विदधत् कुर्वन् सन् । रराज भाति स्म । लिट् ॥२५॥ प्रोद्दामेति । तेन राज्ञा । प्रोद्दामद्विरदप्रभेदनिर्यद्योधासृक्प्लुतरथचक्रचक्रवाले प्रोद्दाम्ना द्विरदाना गजाना रदाना दन्ताना प्रभेदेन विदारणेन निर्यता निर्गच्छता योधाना भटानामसृजा रक्तेन प्लुतान्याद्रितानि रथाना स्यन्दनाना चक्राणि रथाङ्गानि[5] चक्रवाले[6] मण्डले यस्य तस्मिन् । आजौ सग्रामे । कलिङ्गभर्त्तुः कलिङ्गस्य कलिङ्गदेशस्य भर्तु राज्ञ । कामिन्य वनिता । वलयविहीयमानहस्ता वलयै कङ्कणैर्विहीयमाना विमुच्यमाना हस्ता पाणयो यासा ता । प्रविदधिरे प्रचक्रिरे । डुधाञ् धारणे च कर्मणि लिट् ॥२६॥ पादाब्जेति । एकवीर. एकशूर । असौ महासेन । पादाब्जद्वितयशिलीमुखायमान पादाब्जयोः पादारविन्दयोर्द्वितये द्वये शिलीमुखायमान[7] शिलीमुख इव भ्रमर इवाचर्यमाणम् । स्वग्रीवानिहितकुठार स्वस्यात्मनो ग्रीवाया कण्ठे निहित. स्थापित कुठारः परशुर्येन तम् । पाञ्चालाधिपतिं पाञ्चालस्य पाञ्चालदेशस्याधिपतिं पतिम् । रत्नै मणिभि. । व्ययुङ्क्त रहितमकरोत् । युजृन् योगे लङ् । प्राणै असुभि. । न न व्ययुङ्क्त । पादाब्जविनतत्वात् तेनोपायनीकृत रत्नमेव गृहीतवान् प्राणापहार न कृतवानित्यर्थ । तथा हि । महान्तः सत्पुरुषा । प्रणतकृपालव प्रणताना विनताना-

महासेनने अपने प्रमादकी निन्दा की, और फिर वह हजारो सामन्तोसे युक्त होकर दस दिशाओको जीतनेके लिए निकल पडा ॥२४॥ इसके पश्चात् वह सबसे पहले पूर्व दिशामे गया । उसके हाथमे धनुष था । उसने प्रथमत· अगदेश (जहाँ आज जिला हजारीबाग है) के राजाको अपने बाणका लक्ष्य बनाया । यह देखकर उस (अगदेशके राजा) का राजकुमार, महासेनके चरणोमे झुक गया और उसे उसने उपहारमें हाथी प्रदान किये । महासेनको दया आ गयी । फलतः उसने अगदेशका राज्य वहाँके राजकुमारको दे दिया । इसीमे उसकी शोभा थी ॥२५॥ मदमाते दुर्दम हाथियोके दाँतोके प्रहारसे घायल हुए सैनिकोके रक्तसे सग्रामभूमि तर हो गयी और उसमे रथोके पहिये सन गये । ऐसे घोर सग्राममे महासेनने कलिंग (उडीसा) नरेशकी रानियोके हाथोको चूडियोसे मुक्त कर दिया—नरेशको मारकर उन्हे विधवा बना दिया ॥२६॥ पाचाल देशका राजा अपने गलेमे कुठार लटकाकर—दीनतापूर्वक महासेनके निकट गया, और उसके चरणकमलोमे भौरेकी भाँति लीन हो गया—उसकी शरण ले ली । महासेनने उसे शरणागत मानकर जीवित छोड दिया, तथा उसके द्वारा उपहारमे दिये गये

१. अ क ख ग घ म प्राक्पूर्वी । २ आ इ °वीर । ३. श 'सामन्तै' इति नास्ति । ४ आ धनुः । ५ = तेषा चक्रवाल मण्डलं यस्मिन् । ६. आ मध्ये । ७. = भ्रमरायमाण ।

संछन्नाखिलककुभो घनानिवोढ्रान्निर्धूय[1] आयुधजनिताचिरांशुशोभान् ।
चेदीशं द्रुममिव निघ्नतः समूलं तस्यासीन्मरुदनुकारकारि वीर्यम् ॥२८॥
संप्राप्तस्तटभुवि पूर्ववारिराशेरुद्वेलः क्षितितलपालिनो बलौघः ।
प्रोत्खात[2]द्विपदवनीरुहप्रतानो जज्ञेऽसावपरपयोधिसंगमाभः ॥२९॥
कल्लोलोच्चलितविदीर्णशुक्तिमुक्तां ते मुक्तावलिमनुवेलमिन्दुगौरीम् ।
गच्छन्तीमिव रिपुकीर्तिमब्धिपारं गृह्णन्तः क्षितिपतिसैनिका विरेजुः ॥३०॥

मुपरि कृपालवो दयायुक्ता हि । 'कृपाहृदयादालु' इति आलु-प्रत्ययः । अर्थान्तरन्यासः ॥२७॥ सञ्छन्नेति । घनानिव मेघानिव । सछन्नाखिलककुभः सछन्ना आच्छादिता अखिला सकला ककुभो दिशो यैस्तान् । आयुधजनिताशुशोभान् आयुधेन खड्गेन जनितेन जातेन अंशुना किरणेन शोभा येषां तान् । औढ्रान् औढ्रदेशभूपान् । निर्धूय कम्पयित्वा । चेदीशं चेदिदेशाधिपतिम् । द्रुममिव वृक्षमिव । समूलं मूलसहितम् । निघ्नतः विनाशयतः । तस्य महासेनस्य । वीर्यं सामर्थ्यम् । मरुदनुकारकारि मरुतो वायोरनुकार[3] समानं करोतीत्येवं शीलम् । आसीत् अभूत् । लङ् । उपमा ॥२८॥ सम्प्राप्त इति । पूर्ववारिराशि (शे) पूर्वसमुद्र (पूर्वसमुद्रस्य) । तटभुवि तीरभूमौ । सम्प्राप्तः सगतः । उद्वेलः वेलां मर्यादामुद्गतः । प्रोत्खातद्विपदवनीरुहप्रतानः प्रोत्खात द्विषद एव अरातय एव अवनीरुहा वृक्षाः तेषां प्रतानः समूहो येन सः । असौ अयम् । क्षितितलपालिनः क्षितितलं भूतलं पालिनो रक्षकस्य महासेनस्य । बलौघः बलानां सैन्यानामोघः समूहः । अपरपयोधिसङ्गमाभः अपरस्य पश्चिमस्य पयोधेः समुद्रस्य सङ्गमस्य संसर्गस्याभः[4] सदृशः । पश्चिमसमुद्रः पूर्वसमुद्रस्पृष्ट इव सेनानिवहो जात इत्यभिप्रायः । जज्ञे जायते स्म । लिट् । उपमा ॥२९॥ कल्लोलेति । अनुवेलं वेलायास्तटस्य समीपे । 'समीपे' इत्यमुना अव्ययीभावः । गच्छन्तीं यान्तीम् । इन्दुगौरीम् इन्दुरिव चन्द्र इव गौरीं शुभ्राम् । कल्लोलोच्चलित-[5]विदीर्णशुक्तिमुक्तां कल्लोलानां महातरङ्गाणामुच्चलितेनोर्ध्वचलनेन विदीर्णाभिर्भिन्नाभिः शुक्तिभिर्मुक्तां पतिताम् । मुक्तावलिं मुक्तानां मौक्तिकानामावलिं पङ्क्तिम् । रिपुकीर्तिमिव रिपूणां शत्रूणां कीर्तिमिव । अब्धिपारं समुद्रतीरे[6] । गृह्णन्तः । क्षितिपतिसैनिकाः क्षितिपतेर्महासेनस्य सैनिकाः सेनाचराः । रेजुः भान्ति-

रत्नोंको स्वीकार कर लिया । महान् पुरुष, विनम्र व्यक्तियोंपर दया रखते हैं ॥२७॥ उढ्रदेशके राजे मेघोंके समान थे । जिस प्रकार मेघ सभी दिशाओंको आच्छादित कर देते हैं, उसी प्रकार-से उढ्रदेशके राजे सारी दिशाओंको आच्छादित कर रहे थे—सभी दिशाओंमें छाये हुए थे । मेघोंको बिजली सुशोभित करती है, तो उन राजोंको आयुधरूपी बिजली सुशोभित कर रही थी । उन सभीको कम्पित करके महासेनने—जिसका पराक्रम वायु सरीखा था—चेदिदेशके नरेशको वृक्षकी तरह मूलसे उखाड दिया ॥२८॥ समस्त भूतलके पालन करनेवाले राजा महासेनकी चारों सेनाओंका समूह—जो सीमातीत था, तथा जिसने शत्रुरूपी वृक्षोंके मण्डलको उखाड डाला था—पूर्व समुद्रके तटपर पहुँच कर ऐसा जान पडा मानो दूसरा (पश्चिम) समुद्र पूर्व समुद्रसे जा मिला हो ॥२९॥ उत्ताल तरंगोंसे उछलकर फूटी हुई सीपोंसे जो मोती निकल पडे थे, उनकी पंक्ति—जो चन्द्रमाके समान सफेद थी—पूर्व समुद्रके तटपर बिखरी पडी थी, उसे महासेनके जो सैनिक ग्रहण कर रहे थे, वे ऐसे जान पडते थे मानो वहाँसे दूसरे

१ आ इ °निवोद्ग्रान्निर्धूया, म °निवोग्राग्निर्धूया° । २ अ प्रोत्खात° । ३ =अनुकरण । ४ = आभेवाभा यस्य स, तत्सदृश इत्यर्थ । ५ एष टीकाश्रयः पाठ, प्रतिषु तु निखिलास्वपि °च्छलित° इत्येव दृश्यते । ६. =समुद्रतीर ।

ते पीत्वा प्रहरणधारिणामरीणामायुर्भिः सह शुचिनालिकेरनीरम् ।
वेलान्तर्वणविवरेषु तस्य योधाः कक्कोलानिलविहतश्रमा ववल्गुः ॥३१॥
स स्तम्भं जयककुदं निपूदितारिर्वेलाद्रेः शिरसि निखानयांबभूव ।
भ्रान्ताखिलककुभः स्वकीयकीर्तेर्विश्रान्त्यास्पदमिव नाकमारुरुक्षो ॥३२॥
भूभर्तुर्दिशमभिदक्षिणां यियासो सैन्योत्थैरथ पथि सैकतै रजोभिः ।
कुर्वद्भिः सितमुडुवर्त्म तस्य कार्ष्ण्यं शत्रूणामिव समवायतानेनेषु ॥३३॥
तत्रासौ समुपगत. समुद्यतासिरान्ध्रीणां रणविनिपातितप्रियाणाम् ।
सपूर्णं तुलितकलङ्कगण्डभित्ति व्यालम्बालकमकृताननेन्दुबिम्बम् ॥३४॥

स्म । लिट् । उत्प्रेक्षा ॥३०॥ त इति । तस्य भूपस्य । ते योधा ते भटा । प्रहरणधारिणा खड्गधारिणाम । अरीणा शत्रूणाम् । आयुर्भिः आयुष्यै । सह । शुचि निर्मलम् । नालिकेरनीर नालिकेरस्य नीरमुदकम् । पीत्वा पान कृत्वा । वेलान्तर्वणविवरेषु वेलायास्तटस्यान्तर्वणाना समीपवनाना विवरेषु मध्येषु । 'प्राग्रेऽन्त —' इत्यादिना वनशब्दस्य णत्वम् । कक्कोलानिलविहतश्रमा कक्कोलात् कक्कोल[3]नामगन्धवृक्षवनादागतेनानिलेन वायुना विहतो निराकृत श्रम आयासो येषा ते । भूत्वा । ववलु (ववल्गु) चलन्ति स्म । वल्गु चलने लिट् । सहोक्ति ॥३१॥ स इति । निपूदितारि निपूदिता हिंसिता अरयो रिपवो येन स । स महासेन । प्रभ्रान्ताखिलककुभः प्रभ्रान्ताः प्रचलिता अखिला सकला ककुभो दिशो यया तस्या । नाक स्वर्गम् । आरुरुक्षो आरोढुमिच्छो । स्वकीयकीर्तेः स्वसम्बन्धिन्या कीर्तेयशम । विश्रान्त्यास्पदमिव विश्रान्त्या विश्रमस्यास्पदमिव प्रदेशवत्[4] । जयककुद जयस्य ककुद चिह्नम् । 'प्राधान्ये राजलिङ्गे च वृषाङ्गे ककुदोऽस्त्रियाम्' इत्यमर । स्तम्भ निश्चलस्तम्भम् । वेलाद्रेः वेलापर्वतस्य । शिरसि अग्रे । निखानया बभूव स्थापयति स्म । खनु अवदारणे[5] णिजन्तात्लिट् उत्प्रेक्षा ॥३२॥ भूभर्तुरिति । अथ जयस्तम्भस्थापनानन्तरम् । पथि मार्गे । दक्षिणाम् अवाचीम् । दिशम् अभि दिश प्रति । 'वीप्स्य—' इत्यादिना अभि-योगे द्वित या । यियासो यातुमिच्छो । भूभर्तु भूमिपते । सैन्योत्थै सैन्येन सेनया उत्थै समुद्भूतैः । उडुवर्त्म गगनम् । सित धवलम् । कुर्वद्भि विदधद्भि[6] । सैकतै शुभ्रमिलितै. (शुभ्रसिकतायुतै) । रजोभि रेणुभि । तस्य गगनस्य । कार्ष्ण्य कृष्णत्वम् । यथा तथा क्रियाविशेषणम् । शत्रूणा रिपूणाम् । आननेषु मुखेषु । समवायत इव समवलियन इव । उत्प्रेक्षा ॥३३॥ तत्रेति । तत्र दिशि । समुपगत आगतः । समुद्यतासि समुद्यत उत्खातोऽसि खड्गो येन स । असौ

तटपर जानेवाली, शत्रुओकी कीर्तिको पकड रहे हो ॥३०॥ महासेनके सैनिकोने युद्धमे सशस्त्र शत्रुओको आयुको नरियलके शुद्ध और शुभ्र जलके साथ पोकर पूर्व समुद्रतटके निकटवर्ती वनोंके बीचमे सैर करना शुरू कर दिया। वहाँ ककोल वृक्षोके स्पर्शसे सुख देनेवाली वायुका सेवन करनेसे उनकी थकान दूर हो गयो ॥३१॥ शत्रुओपर विजय पानेवाले राजा महासेनने पूर्व समुद्र-तटके निकटवर्ती पर्वतके शिखरपर विजयका चिह्न स्वरूप एक स्तम्भ स्थापित कर दिया, जो ऐसा जान पडता था मानो सभी दिशाओमे परिभ्रमण करके स्वर्ग जानेके लिए उत्सुक हुई, उसकी कीर्तिका विश्राम करनेका स्थान हो ॥३२॥ इसके पश्चात् महासेनके मनमे दक्षिण दिशाकी ओर जानेकी इच्छा उत्पन्न हुई अत. ज्यो ही वह आगे बढा त्यो ही मार्गमे धूलि उडने लगी, जिसमे बालूके सफेद कण मिले हुए थे। उसने आकाशको सफेद कर दिया। इस अवसर-पर आकाशकी कालिमा बिलकुल ही अदृश्य हो गयी, अत ऐसा प्रतीत हो रहा था मानो उसकी कालिमा महासेनके शत्रुओके मुखपर पोत दी गयी है ॥३३॥ दक्षिणमे पहुँचने ही

१. म कक्कोला° । २ अ आ द रन्ध्रीणा । ३. श कक्कोल° । ४. = प्रदेशमिव । ५ आ म अवधारणे । ६ श 'विदधद्भि' इति पद नास्ति ।

यत्काचेष्विव भृशमन्यपार्थिवेषु न व्यक्तिं व्यपगतधामसु प्रपेदे।
कर्णाटेष्वजनि परिस्फुटं तदीयं तद्भानोरिव तपनोपलेषु तेजः ॥३५॥
सामन्तोपचितचमूपयुक्ततोया रिक्तत्वं ययुरचिरेण याः सरस्यः।
तास्तत्र द्रमिलवधूवियोगजाश्रुस्रोतोभिः स पुनरपूरयत्प्रवृद्धैः ॥३६॥
घर्षद्भिर्मलयगिरौ[१] महागजानां ग्रैवेयैरकृषत चन्दनेषु येऽङ्काः ।
तस्योर्वीतलतिलकायमानकीर्तेस्तेऽपाचीप्रविजयसाक्षिणो बभूवुः ॥३७॥

महासेनः। रणविनिपातितप्रियाणां रणे संग्रामे विनिपातिता निहिंसिताः प्रियाः प्राणकान्ता यासां तासाम्। आन्ध्रीणां तेलुगु'देशस्त्रीणाम्। सपूर्णं परिपूर्णम्। आननेन्दुबिम्बम् आननं मुखं तदेवेन्दुबिम्बं चन्द्रमण्डलम्। तुलितकलङ्कगण्डभित्तिव्यालम्बालकं तुलितः सदृशीकृतः[३] कलङ्को यैस्ते तुलितकलङ्काः गण्डभित्तौ गण्डप्रदेशे व्यालम्बाः लम्बमानाः अलकाश्चूर्णकुन्तला यस्य तत्। अकृत अकार्षीत्। डुकृञ् करणे लुङ्। तस्य दुःखेन मुक्तकेशं कृतवानित्यर्थः। रूपकम् ॥३४॥ यदिति। यत् तेजः। काचेष्विव काचमणिष्विव। व्यपगतधामसु व्यपगतमपनीतं धाम कान्तिः प्रतापो येषां तेषु। अन्यपार्थिवेषु शत्रुभूपालेषु[४]। भृशम् अत्यन्तम्। व्यक्तिं[५]। प्रादुर्भूतिम्। न प्रपेदे न जगाम। पदि गतौ लिट्। तदीयं तेषां सवन्धि। तत् तेजः कान्तिः प्रतापः। तपनोपलेषु सूर्यकान्तशिलासु। भानोरिव सूर्यस्य तेज इव। कर्णाटेषु कर्णाटभूपेषु। परिस्फुटं व्यक्तम्। अजनि अभूत्। लुङ्। उपमा ॥३५॥ सामन्त इति। सामन्तोपचितचमूपयुक्ततोयाः सामन्तैः राजभिरुपचितया चम्वा सेनया उपभुक्तं तोयं जलं यासां ताः। याः सरस्यः सरोवराः। अचिरेण शीघ्रम्। रिक्तत्वं जलशून्यत्वम्। ययुः यान्ति स्म। तत्र देशे। प्रवृद्धैः अधिकैः। द्रविड[६]वधूवियोगजाश्रुस्रोतोभिः द्रविडस्य[७] द्रविड[८]देशस्य वध्वा वनितानां वियोगजानां दुःखजनितानामश्रूणां नयनोदकानां स्रोतोभिः प्रवाहैः। पुनः पश्चात्। अपूरयत् पूरयति स्म[९]। पूर आप्यायने णिजन्ताल्लङ्। परिवृत्तिः ॥३६॥ घर्षद्भिरिति। मलयगिरौ मलयपर्वते। चन्दनेषु गन्धसारेषु। महागजानां महाकरिणाम्। घर्षद्भिः मर्दयद्भिः। ग्रैवेयैः कण्ठबन्ध (र) ज्जुभिः। ये अङ्काः यानि चिह्नानि। अकृषत अकुरुत। लुङ्। उर्वीतलतिलकायमानकीर्तेः उर्वीतलस्य भूतलस्य तिलकायमाना कीर्तिर्यस्य तस्य। तस्य भूपस्य। काः (ते)। अपाचीप्रविजयसाक्षिणः अपाच्या दक्षिणदिशः प्रविजयस्य

महासेनने नंगी तलवार लेकर संग्राममें आन्ध्रदेशकी स्त्रियोंके—जिनके पति युद्धमें मार दिये गये थे—बिखरे हुए केशोंसे युक्त मुखको पूर्णमासीके सकलंक चन्द्रमण्डलके समान बना दिया ॥३४॥ काच सरीखे निस्तेज अन्य राजाओंमें महासेनका जो तेज व्यक्त नहीं हुआ था, वह कर्णाटक देशके तेजस्वी राजाओंमें खूब ही व्यक्त हुआ, जैसे सूर्यका तेज सूर्यकान्त मणियोंमें व्यक्त होता है ॥३५॥ इसके पश्चात् महासेन द्रविड देशमें पहुँचा। वहाँपर उसके सामन्तोंकी भारी सेनाओंने जिन जलाशयोंके जलका उपयोग किया वे खाली हो गये, पर महासेनने युद्धभूमिमें मुकाबला करनेके लिए आये हुए वीरोंको अमरलोकका यात्री बनाकर उनकी स्त्रियोंके नेत्रोंसे उमडे हुए अश्रुप्रवाहको प्रवाहित करके उन (रिक्त जलाशयों) को फिरसे भर दिया ॥३६॥ मलय पर्वतपर महासेनके बडे-बडे हाथियोंने अपनी ग्रीवा रगडकर उसमें बँधी हुई जंजीरोंके संघर्षणसे चन्दनके वृक्षोंमें जो चिह्न बना दिये थे वे उस (महासेन) के—जिसकी कीर्ति

१ अ मलयगिरिमं°। २. आ कलिङ्ग°। ३. आ सदृशीकृत। ४. श 'शत्रुभूपालेषु' इति नास्ति। ५ = अभिव्यक्ति। ६ श द्रविल°। ७ श द्रविलस्य। ८ श द्राविड°। ९ श अपूरयन् पूरयन्ति स्म।

पण्यस्त्रीमिव समुपात्तपत्रपूगैस्तैर्भुक्त्वा मलयजभूषितामपाचीम् ।
संसर्पत्परिमलकुङ्कुमाभिरामा[1] तद्योधैर्द्रुतमकटाक्षि पश्चिमाशा ॥३८॥
भूपाले विजितसमस्तदक्षिणाशे यत्राभूत्प्रतिहतशक्तिरन्तकोऽपि ।
कस्तत्र त्वमिति मरुच्चलैः प्रचक्रे तच्चिह्नैरिव वरुणापसारसञ्ज्ञा[2] ॥३९॥
लाटीनां कठिनबृहत्पयोधराग्रसंघट्टप्रतिहतिजर्जरे पुरैव ।
लाटीये हृदयतटे पतंस्तदीयः शस्त्रौघः परमजनिष्ट कीर्तिभागी ॥४०॥

जयस्य साक्षिण साक्रोशयुता: (?) । बभूवु भवन्ति स्म लिट् ॥३७॥ पण्यस्त्रीमिति । समुपात्तपत्रपूगैः समुपात्त स्वीकृत पत्राणा वाहनाना पूगो निवहो यैस्तै, पक्षे[3] पत्रसहतियुतै । 'पत्र वाहनपर्णयो' इत्यमरः । 'पूग· क्रमुकवृन्दयो' इत्यमर । तद्योधै· तस्य महासेनस्य योधैर्भटै । पण्यस्त्रीमिव वेश्या (वेश) स्त्रीमिव । मलयजभूषिता मलयजेन श्रीगन्धेन भूषितामलङ्कृताम् । अपाची[4] दक्षिणाशाम् । भुक्त्वा अनुभूय । ससर्पत्परिमलकुङ्कुमाभिरामा ससर्पता विसर्पता परिमलेन सुरभिणा युक्तेन कुङ्कुमेन काश्मीरजेनाभिरामा मनोहरा । पश्चिमाशा प्रतीची । द्रुत शीघ्रम् । अकटाक्षि[5] कटाक्षमकार्षीत् । कटाक्ष इत्यस्य सुब्धातो लुंङ् । श्लेषोपमा[6] ॥३८॥ भूपाल इति । यत्र यस्मिन् । भूपाले महासेने । विजितसमस्तदक्षिणाशे विजिता जिता समस्ता दक्षिणा आशा येन तस्मिन् सति । अन्तकोऽपि यमोऽपि । प्रतिहतशक्ति प्रतिहता नष्टा शक्ति सामर्थ्यं यस्य स । अभूत् अभवत् । लुङ् । तत्र महासेनमहाराजे । त्वं भवान् । क कियान् । इति एवम् । मरुच्चलै मरुता वायुना चलैश्चलनयुक्तैः । तच्चिह्नै· तस्य राज्ञश्चिह्नै पताकाभि[7] । वरुणापसारसज्ञा वरुणस्य पश्चिमदिक्पालस्यापसारस्यापसारणस्य सज्ञा सूचना । चक्रे क्रियते स्म । कर्मणि लिट् । उत्प्रेक्षा ॥३९॥ लाटीना[8]मिति । पुरैव प्रागेव । लाटीना लाटदेशवनितानाम् । कठिनबृहत्पयोधराग्रसघट्टप्रतिहत (ति) जर्जरे कठिनस्य कर्कशस्य बृहतो महत पयोधरस्याग्रस्याग्रभागस्य[10] सघट्टेन मर्दनेन प्रतिहतेन जर्जरे शिथिले । लाटीये[11] ल(ला)टदेशराजाना सबन्धे[12] । हृदयतटे हृदयप्रदेशे । पतन् निपतन् । तदीय. तस्य राज्ञ सबन्ध[13] । शस्त्रौघ शस्त्राणामायुधानामोघः । कीर्तिभागी कीर्तिभाक् । परम् उत्कृष्टम् । अजनिष्ट जायते

पृथ्वीपर तिलकको भांति सुशोभित है—दक्षिण दिशाकी विजयके साक्षी थे ॥३७॥ महासेनके सैनिक विलासियोके समान थे । जिस प्रकार विलासी पुरुष चन्दन आदिसे भूषित एक वेश्याको भोगकर और आवभगतमे उससे ताम्बूल तथा सुपाडी स्वीकार करके सुगन्धित कुकुम आदिसे सुन्दर प्रतीत होनेवाली अन्य वेश्याकी ओर कटाक्ष विक्षेप करते हैं, उसी प्रकार चन्दन-वृक्षोसे विभूषित दक्षिण दिशाका निरीक्षण करके और वहांके वाहनोके समुदाय या पान सुपाडीको स्वीकार करके महासेनके सैनिकोने पश्चिम दिशाकी ओर दृष्टि डाली, जो सुगन्धि फैलानेवाली कुकुमसे मनोज्ञ थी ॥३८॥ 'जिस राजा महासेनके द्वारा सारी दक्षिण दिशा जीत लेनेपर यमराजकी शक्ति भी शिथिल हो गयी, उसके सामने तुम्हारी क्या हस्ती है' मानो यह कहकर हवासे हिलते हुए महासेनके झण्डे, चमर और छत्र आदि राजचिह्नोने वरुणको भाग जानेके लिए इशारा कर दिया ॥३९॥ लाट (गुजरात) नरेशका हृदय वहांकी नायिकाओके कठोर और बडे-बडे स्तनोकी नोकके सघर्षणसे आहत होकर पहलेसे ही जर्जर था, अतः उस (हृदय) पर गिरकर महासेनके शस्त्रोका समूह केवल यशका भागी हुआ, उसे परिश्रम तनिक-सा भी

१. अ °भिरामा । २. म वरुणोपसारसज्ञ । ३. = समुपात्त पत्र ताम्बूल पूग क्रमुकश्च यैस्तै । ४. आ अवाची । ५ = दृष्टा । ६. आ श्लेषोपमा' इति नास्ति । ७. श पताकादिभि । ८ आ लाजिना[°] । ९ आ लाजिना । १० = [illegible] सघर्षणस्य प्रतिहति प्रतिघात, तया । ११ आ लाजीये । १२ = सबन्धिनि । १३. = सबन्धी ।

तत्तेजो विहितविपक्षकक्षदाहं लेशेनाप्यजनि न वाडवाविहीनम्[1] ।
गम्भीरे स्थितिमति सत्त्वभाजि सिन्धुनाथेऽपि ज्वलितुमलं यतो बभूव ॥४१॥
दर्पान्धान्झटिति हठेन पारसीकान्वैतस्या विनतरिपुर्विनीय वृत्त्या ।
तैर्दत्तां बहुविधरत्नगर्भदण्डव्याजेनादित गुरुदक्षिणामिवासौ ॥४२॥
भूभर्तुः कुसुमशरानुकारिकान्तेः सपर्कं समुपगता करेण सद्यः ।
सा वल्गत्तुरगखुरोत्थरेणुरूपान्रोमाञ्चानमुचदिवोच्चकैः प्रतीची ॥४३॥
सम्प्राप्तैरतटमपराम्बुधेर्वलेभैः संरम्भादभिपततो निहत्य मुक्तान् ।
वेलान्तोच्छिन्नतरुपूदलस्वयत्स स्वख्यातिस्मृतिकरणक्षमाञ्जलेभान् ॥४४॥

स्म । लुङ् ॥४०॥ तदिति । यत यस्मात्कारणात् । गम्भीरे गभीरे । स्थितिमति[3] मर्यादावति । सत्त्वभाजि सामर्थ्याश्रिते, (पक्षे) प्राण्याश्रिते । सिन्धुनाथेऽपि समुद्रे सिन्धुदेशराजेऽपि । ज्वलितु प्रज्वलितुम् । अलं बभूव समर्थं भवति स्म । विहितविपक्षकक्षदाहं विहित कृत विपक्ष एव[4] शत्रुपक्ष[5] एव वन तस्य दाहो यन तत् । तत्तेज तस्य राज्ञ तेज प्रताप । लेशेनापि अल्पनापि । वाडवाविहीन वाडवया वाडवानलाद् विहीन रहितम । नाजनि नाजायत । लुङ् । वाडवानलादधिक भवति स्मेत्यर्थ ॥४१॥ दर्पेति । विनतरिपु. विनता रिपवो यस्य स । असौ महासेन । दर्पान्धान् दर्पण गर्वेणान्धान् । पारसीकान् पारसीकदेशाधिपान् । वैतस्या वेतसस्येव वैतसी तया, स्पर्द्धया (?) इत्यर्थः । वृत्त्या वर्तनेन । हठेन बलात्कारेण । झटिति शीघ्रम् । विनीय[7] शिक्षा कृत्वा । भुजरूपेण प्रवृद्धानेधितान् वेतसान् तृणविशेषान् गृहीत्वा प्रह्वीकरणमिव विनम्रान् चकारेति तात्पर्यम् । तैः पारसीकैः । दत्ता वितीर्णाम् । तस्मात् तस्य भुवा गुरुदक्षिणामिव देयविद् एतस्य तत् स्त्रोमिव (?) बहुविधरत्नगर्भदण्डव्याजेन बहुविधानि नानाप्रकाराणि रत्नान्येव गर्भेऽन्तर्भागे यस्य स चासौ दण्डश्च प्रसभ इति व्याजेन । अदित अगृहीत् । डुदाञ् दाने लुङ्[8] । उपमा ॥४२॥ भूभर्तुरिति । कुसुमशरानुकारिकान्ते कुसुमशर मन्मथम्[9] अनुकारिणी सदृशकारिणी[10] कान्ति लावण्य यस्य तस्य । भूभर्तु महासेनस्य । करेण सिद्धायेन[11], (पक्षे) हस्तेन । सद्य तदानीमेव । सपर्क सङ्गम् । समुपगता समुपयाता । सा प्रतीची पश्चिमाशाङ्गना । उच्चकै उच्चै । वल्गत्तुरगखुरोत्थरेणुरूपान् वल्गता चलता तुरगाणा वाजिना खुरै शफैरुत्था रेणवो धूल्य त एव रूप स्वरूप येषा तान् । रोमाञ्चान् रोमहर्षणानि । अमुचदिव अमोचयदिव । मुच्लृ मोक्षणे लुङ् । उत्प्रेक्षा ॥४३॥ सम्प्राप्तैरिति । अपराम्बुधे पश्चिमसमुद्रस्य । तट तीरम् ।

नहीं करना पड़ा ॥४०॥ शत्रुरूपी जंगलको जलानेवाला, महासेनका प्रताप वाडवाग्निसे तनिक भी कम नहीं था, क्योंकि जिस तरह वाडवाग्नि गहरे, सीमाका पालन करनेवाले और जलजन्तुओंसे व्याप्त समुद्रमें जला करती है, उसी तरह महासेनका प्रताप गम्भीर, कुलकी मर्यादा पालनेवाले और सामर्थ्यशाली, सिन्धुनरेश रूपी बहुत बड़े समुद्रमें भी जलनेके लिए समर्थ सिद्ध हुआ ॥४१॥ शत्रुओंका सिर नीचा करनेवाले राजा महासेनने दर्पान्ध पारसीक नरेशोंका बलपूर्वक वेतका भाँति विनम्र रहनकी शिक्षा देकर उनके द्वारा अनेक प्रकारके रत्नोंके साथ समर्पित सनाक उपहारको लेनेके बहाने मानो गुरुदक्षिणा स्वीकार की ॥४२॥ कामदेव सरीखी कान्तिको धारण करनेवाले राजा महासेनके हाथ (टैक्स) के सम्पर्कको पाकर पश्चिम दिशाने शीघ्र ही, चलते हुए घोड़ोंकी टापोंसे उड़ी हुई धूलिके रूपमें मानो प्रचुर मात्रामें रोमांचोंको धारण किया ॥४३॥ महासेनने पश्चिम समुद्रके तटपर पहुँचे हुए अपने हाथियोंके— जो सेनामें शामिल

१ स वाडवाद्विहीनम् । २ आ स्वाख्याति° । ३ आ स्थानवति । ४ श 'विपक्ष एव' इति नास्ति । ५ श 'पक्ष' इति नास्ति । ६ = 'विदुलो वेतस शीतो वानीरो वञ्जुलो रथ ।' इति हैम । ७.= शिक्षयित्वा । ८ श लुङ् इति नास्ति । ९ = अनुकरोतीति । १० = तत्सादृश्यकारिणी । ११ श 'सिद्धायेन' इति नास्ति ।

तत्राशामभिचलिते कुबेरगुप्तां सध्वान्तं[1] तुरगखुरोत्थितै. परागे[2] ।
व्योमासीद्बलभरपीड्यमानमूर्ध्नामुच्छ्वासैरिव फणिनां रसातलोत्थैः ॥४५॥
प्राप्तस्योत्तरदिशमेति तीव्रभावं तिग्माशोरपि न विना क्रमेण तेज. ।
व्याक्षेपक्षणमनपेक्ष्य सद्य एव स त्वासीदरिजनदुःसहप्रतापः ॥४६॥
तस्योर्वीवलयभुजः समस्तदिक्कैः सामन्तैः समुपगतैः प्रबृंहितेभ्यः[4] ।
सैन्येभ्यः परिददतावकाशदेशं स्वानन्त्य प्रकटितमुत्तरापथेन ॥४७॥

सप्राप्तै. समागतै । बलेभै मेनागजै सह । सरम्भात् क्रोधात् । अभिपतत गच्छत. । निहत्य हत्वा । मुक्तान् त्यक्तान्, पूर्वं हत्वा पश्चान्मुक्तान् इत्यर्थ । स्वख्यातिस्मृतिकरणक्षमान् स्वस्यात्मन ख्याते. कीर्तेः स्मृतिकरणे स्मरणविधाने क्षमान् समर्थान् । जलेभान् नीरगजान् । स राजा । वेलान्तोच्छ्रिततरुषु वेलायास्तटस्यान्ते समीपे विद्यमानेषूच्छ्रितेषून्नतेषु वृक्षेषु । अलम्बयत् वन्धयति स्म । अवुभ् अवस्रसने णिजन्ताल्लङ् ॥४४॥ तत्रेते । तत्र राज्ञि । कुबेरगुप्ता कुबेरेण[5] राजराजेन गुप्ता रक्षिताम् । आशा दिशम् । उत्तरदिशमित्यर्थ. । अभिचलिते प्रयाते । वलभरपीड्यमानमूर्ध्नां बलस्य सेनाया भरेण भारेण पीड्यमानो बाध्यमानो मूर्धा मस्तको[6] येषा तेषाम् । फणिना नागानाम । रसातलोत्थै रसातले पाताले[7] उत्थै सजातै । उच्छ्वासैरिव ऊर्ध्वश्वासैरिव । तुरगखुरोत्थै तुरागणा तुरङ्गाणा खुरै खुरपुटैरुत्थैरुत्पन्नै । परागै रजोभि । व्योम गगनम् । सध्वान्त तमोयुक्तम् । आसीत् अभूत् । अतिशय ॥४५॥ प्राप्तस्येति । उत्तरदिशम् उत्तराशाम् । प्राप्तस्य गतस्य । तिग्माशोरपि सूर्यस्यापि । तेज. प्रताप । क्रमेण विना क्रम विना । तीव्रभाव तीक्ष्णत्वम् । न न भवति [न एति] (न गच्छति) । स. तु राजा । अरिजयनदु सहप्रताप अरीणा शत्रूणा जयनेन विजयेन दु सह सोढुमशक्य प्रतापो यस्य स (अरिजनदु सहप्रताप अरिजनाना दु सह प्रतापो यस्य स) । व्याक्षेपण तिरस्करणम् (व्याक्षेपो विलम्बस्तस्य क्षण स्वल्पमपि समयम्) । अनपेक्ष्य (अपेक्षा न विधाय, तत्प्रतीक्षा न विधायेत्यर्थ.) । सद्य एव तदानीमेव आसीत्[8] । लङ् ॥४६॥ तस्येति । उर्वीवलयभुज उर्व्या भुवो वलय मण्डल भुजो[9] भुञ्जत । तस्य महासेनस्य । समस्तदिक्कैः समस्तासु दिशासु विद्यमानै । समुपगतै. समायातै । सामन्तै राजभि । प्रवृंहितेभ्य प्रवर्धितेभ्य. । सैन्येभ्य सैनिकेभ्य । अवकाशदेशम् अवकाशेन अवगाहनेन युक्त देश प्रदेशम् । परिददता परियच्छता । उत्तरापथेन उत्तरश्चासौ पन्थाश्चोत्तरापथस्तेनोत्तर-

थे—ऊपर रोपसे झपटनेवाले समुद्री हाथियोको मारकर छोड दिया, फिर समुद्रके तटवर्ती वृक्षोके ऊपर उन्हे अपनी कीर्तिके स्मारकके रूपमे बँधवा दिया ॥४४॥ इसके पश्चात् महासेनने उत्तर दिशाकी ओर प्रस्थान किया । उस समय सारा आकाश, उसकी सेनाके घोडोकी टापोसे उडी हुई धूलिसे ढँक गया । अत. वह ऐसा जान पडता था मानो सेनाके बोझसे पातालके जिन नागोके सिर अत्यन्त पीडित हो रहे थे, उनकी श्वास वायुसे व्याप्त हो गया हो ॥४५॥ उत्तर दिशाको प्राप्त (उत्तरायण) हुए सूर्यका भी तेज क्रमके बिना तीव्र नही होता, पर उत्तर दिशामे पहुँचते ही, महासेनका प्रताप अविलम्ब ही उसके शत्रुओको असह्य हो उठा ॥४६॥ भूमण्डलका पालन करनेवाले राजा महासेनकी सेनाएँ सभी दिशाओसे आये हुए सामन्तोसे खूब ही बढ गयी थी, उन्हे भरपूर अवकाश देकर उत्तरापथ (उत्तर प्रदेश) ने तो जैसे

१ क ख ग घ म सछन्न । २ क ख ग घ म रजोभि । ३. अ एव तस्यासीद[°] । ४ अ प्रवृद्धितेभ्य । ५. आ श गुप्ता रक्षिताम्, उत्तरदिशमित्यर्थ । दिशम् आशाम् । ६ आ मस्तक । ७. श पाञ्चा (ता)ललोके । ८ = अरिजनदु सहप्रताप आसीदित्यर्थ । ९ = भुनक्तीति भुक्, तस्य, पालयत इत्यर्थ. ।

तत्रेन्दूपलशकलोज्ज्वलैः समन्तात्सर्पद्भिर्नभसि करेणुशीकरौघैः ।
कौबेर्या इव निजनायकाभिभूतिशङ्किन्याः प्रविगलदश्रुभिश्चकाशे ॥४८॥
हृत्वापि द्रविणमसावभोगवृद्धं टक्कानां वधकरणोद्यतासिरासीत् ।
नाज्ञासीत्तदपहृतेर्विधानमात्रादेवामूनस्वयमसुभिर्विमुक्तदेहान् ॥४९॥
काश्मीरप्रभविषु भूमिभृत्सु वज्रीभूयासौ पृथुकटकान्वितेषु भूप ।
कौरीणामभिनवयौवनोद्धतानां लावण्यश्रियमतनिष्ट शोचनीयाम् ॥५०॥
कापोताङ्गरुहविधूसरः समन्ताद्यः पांसुर्नभसि ससर्प[3] तच्चमूत्थः ।
संत्रासोदयपरिकम्पमानपक्षे संजज्ञे सशमशके स एव धूमः ॥५१॥

देहेन । स्वानन्त्यं निजनिरवधित्वम् । प्रकटितं प्रकटीकृतम् ॥४७॥ तत्रेति । तत्र नभसि गगने । समन्तात् परितः । सर्पद्भिः निर्गच्छद्भिः । इन्दूपलशकलोज्ज्वलैः इन्दूपलानां चन्द्रकान्तशिलानां शकलानि[4] खण्डानीव उज्ज्वलैः । करेणुशीकरौघैः करेणूनां करिणीनां शीकराणां जलकणानामोघैः समूहैः । निजनायकाभिभूतिशङ्किन्याः निजनायकस्य स्वनायकस्य,[5] कुबेरस्याभिभूतौ तिरस्कारे शङ्किन्याः सन्देहिन्याः । कौबेर्याः कुबेरदिगङ्गनायाः । प्रविगलदश्रुभिः [इव] प्रविगलद्भिः प्रस्रवद्भिरश्रुभिर्नयनोदकैरिव । चकाशे बभासे । काशि दीप्तौ भावे लिट् । उत्प्रेक्षा ॥४८॥ हृत्वेति । असौ राजा । अभोगवृद्धम् अभोगेनाननुभवेन वृद्धं प्रवृद्धम् । टक्कानां टक्कदेशस्य (टक्कानां टक्कदेशस्य) राज्ञाम् । द्रविणं द्रव्यम् । हृत्वापि स्वीकृत्यापि । वधकरणोद्यतासिः वधस्य हिंसाया करणे विधाने उद्यतः उद्धृतोऽसिः खड्गो येन सः । आसीत् अभूत् । लङ् । तदपहृतेः तस्य द्रव्यस्यापहृतेरपहरणस्य । विधानमात्रात् करणमात्रादेव । अमून् टक्कान् (टक्कान्) असुभिः प्राणैः । सम सह । [स्वयं स्वतः] विमुक्तदेहान्[6] विमुक्तो देहो यैस्तान् । नाज्ञासीत् न जानाति स्म ॥४९॥ काश्मीरेति । असौ भूपः महासेनः । काश्मीरप्रभविषु काश्मीरे काश्मीरदेशे प्रभविषु जातेषु । पृथुकटकान्वितेषु पृथुभिर्महद्भिः कटकैर्वलयैः, (पक्षे) सानुभिः[7] अन्वितेषु युतेषु । भूमिभृत्सु राजसु, पर्वतेष्विति ध्वन्यते । वज्रीभूय[8] वज्रायुधयुतो भूत्वा । अभिनवयौवनोद्धतानाम् अभिनवेन नूतनेन यौवनेनोद्धतानां गर्वितानाम्[9] । कौरीणां कौरदेशस्त्रीणाम् । लावण्यश्रियं लावण्यस्य देहकान्तेः श्रियं शोभाम् । शोचनीयां[10] दुःखितुं योग्याम् । अतनिष्ट करोति स्म । तनूञ्[11] विस्तारे लुङ्[12] । श्लेषः ॥५०॥ कापोतेति । कापोताङ्गरुहविधूसरः कापोत[13] पारावतसबन्धम्

अपनी अनन्तता ही प्रकट कर दी ॥४७॥ हाथी और हथिनियोंकी सूँडसे निकले हुए, चन्द्रकान्तमणिके टुकडों सरीखे शुभ्र जलकण सभी ओरसे आकाशमें उड रहे थे, जिन्हें देखकर ऐसा जान पडता था मानो अपने स्वामी (कुबेर) के तिरस्कारकी आशंका करनेवाली उस (कुबेर) की दिशा (उत्तर दिशा) रूपी नायिकाके आँसू टपक रहे हों ॥४८॥ टक्क नामसे विख्यात देशके निवासियोंके उपभोग न करनेसे बढे हुए धनको छीनकर भी महासेनने उन्हें मारनेके लिए तलवार उठा ली । उस समय उसे यह खयाल नहीं रहा कि उनका धन छीनने मात्रसे ही उनके प्राण निकल गये हैं ॥४९॥ काश्मीरी राजाओं (पर्वतों) पर—जो बड़ी-बडी छावनियों (चोटियों) से युक्त थे—वज्र बनकर राजा महासेनने नव यौवनसे उद्धत कीरदेशकी अंगनाओंके सौन्दर्यको (उन्हें विधवा बनाकर) शोकका विषय बना दिया ॥५०॥ महासेनकी सेनाकी कबूतरके रोमोंके समान मटमैली जो धूलि सभी ओरसे उडकर आकाशमें

१ अ °वृद्धटक्कानां वधरक्षणोद्य° । २ अ क ख ग घ म °मजनिष्ट । ३ अ समर्प । ४ = खण्डानि तद्वत् । ५ = कुबेरस्याभिभूतिं तिरस्कृतिं शङ्कत इति शङ्किनी, तस्याः । ६ श वियुक्तदेहान् वियुक्तो विमुक्तो देहो यैस्तान् । ७ = मध्यभागैः । ८ = वज्ररूपतामेत्य । ९ श 'गर्वितानाम्' इति नास्ति । १० = शोकार्हाम् । ११. आ तनु । १२. श 'लुङ्' इति नास्ति । १३ = पारावतसबन्धि ।

प्रागेव प्रमुदितधीर्जिनावतारादूत्नानाममुचदहिद्विषा प्रयुक्तः ।
कोट्यर्धं प्रतिदिवसं त्रिकोटियुक्तं षण्मासानथ धनदस्तदीयगेहे ॥५५॥
अष्टौ च त्रिदशपतेर्निदेशवाक्यात्तस्यान्तःपुरमुपगम्य दिक्कुमार्यः ।
व्यानम्राः स्वमभिनिवेद्य लक्ष्मणायाः कर्तव्यं व्यधिषत गर्भशोधनादि ॥५६॥
सौधोत्सङ्गे तुङ्गपल्यङ्कसुप्ता कल्याणाङ्गी यामिनी पश्चिमार्धे ।
चिह्नीभूताञ्जैनजन्मानुमाने स्वप्नानेतान्साथ देवी ददर्श ॥५७॥
शैलेन्द्राभं शुभ्रमैन्द्रं गजेन्द्रं दर्पोद्रेकोद्रेकमाणं गवेन्द्रम् ।
नागेन्द्रौघं द्रावयन्तं मृगेन्द्रं लक्ष्मीं हस्तन्यस्तलीलारविन्दाम् ॥५८॥

कम् ॥५४॥ प्रागिति । अथ दिग्विजयानन्तरम् । प्रमुदितधी प्रमुदिता सतुष्टा धीश्चित्त यस्य सः । अहिद्विषा देवेन्द्रेण । प्रयुक्त प्रेरित । धनद कुवेर । जिनावतारात् जिनस्य चन्द्रनाथस्यावतारात् गर्भावतरणात् । प्रागेव पूर्वमेव । रत्नाना मणीनाम् । त्रिकोटियुक्त त्रिसृभि कोटिभिर्युक्त युतम् । कोटयर्धं कोटया अर्धं दलम् । तदीयगेहे तदीये[1] तत्सवन्धे गेहे सदने । षण्मासान् षण्मासपय-तम् । प्रतिदिवस[2] दिन प्रति । अमुचत् ववर्ष । लुङ् ॥५५॥ अष्टाविति । त्रिदशपते देवेन्द्रस्य । निदेशवाक्यात् निदेशस्याज्ञाया वाक्याद् वचनात् । अष्टौ च अष्टसख्याप्रमिता । दिक्कुमार्य । तस्य राज्ञ । अन्त पुरम् अवरोधम् । उपगम्य प्राप्य । लक्ष्मणाया लक्ष्मणादेव्या । व्यानम्रा विनमनशीला सत्य । स्वम्[3] आत्मन अभिनिवेद्य विज्ञाप्य । गर्भशोधनादि गर्भस्य शोधनादि । कर्तव्य कार्यम् । व्यधिषत कुर्वन्ति स्म । डुधाञ् धारणे च ॥५६॥ सौधेति । अथ गर्भशोधनानन्तरम् । सौधोत्सङ्गे सौधस्य प्रासादस्योत्सङ्गे ऽग्रे[4] (मध्ये) । तुङ्गपल्यङ्कसुप्ता तुङ्गे उन्नते पल्यङ्के मञ्चके सुप्ता शयिता । कल्याणाङ्गी कल्याण मनोहरमङ्ग यस्या सा । 'असहनञ्—' इत्यादिना ङी-प्रत्यय । सा देवी लक्ष्मणा देवी । यामिनीपश्चिमार्धे यामिन्या रात्रे पश्चिमार्धेऽवसाने । जैनजन्मानुमाने जैनस्य[4] जिनसबन्धस्य जन्मनो जननस्यानुमानेऽनुमितौ । चिह्नीभूतान्[6] लक्ष्मीभूतान् । एतान् इमान् । स्वप्नान् । ददर्श वीक्षा चक्रे । दृशृ[7] प्रेक्षणे लिट ॥५७॥ शैलेति । शैलेन्द्राभ शैलेन्द्रस्य गिरीन्द्रस्य आभ[8] सदृशम् । ऐन्द्रम्[9] इन्द्रसबन्धम् । गजेन्द्र हस्तीन्द्रम् । शैलेन्द्राभम्—इत्यौन्नत्येन मेरुसदृशो न वर्णेन । शुभ्रमिति विशेषणस्य दत्तत्वात्, मेरो (च) सुवर्णवर्णत्वात् । दर्पोद्रेकात् दर्पस्य गर्वस्योद्रेकादुत्कर्षात् । रेकमाण ध्वनन्तम् । गवेन्द्र वृषभम् । नागेन्द्रौघ नागेन्द्राणा गजेन्द्राणामोघ समूहम् । द्रावयन्त धावयन्तम् । मृगेन्द्र कण्ठीरवम् । हस्तन्यस्तलीलारविन्दा हस्ते पाणौ न्यस्त लीलायै विलासार्थमरविन्द

हुए चिरकाल तक साम्राज्यके सुखका अनुभव किया ॥५४॥ दिग्विजयके बाद महासेनके घर चन्द्रप्रभके गर्भावतारके पहले लगातार छह मास तक (तीनो सन्ध्याओमे) प्रतिदिन साढे तीन करोड रत्नोकी वर्षा, कुबेरने, इन्द्रकी प्रेरणासे प्रसन्नतापूर्वक की ॥५५॥ इन्द्रकी आज्ञासे आठो दिक्कुमारियोने महासेनके अन्त पुरमे जाकर एव नम्रतापूर्वक अपने आनेका अभिप्राय बतलाकर लक्ष्मणाके गर्भ-शोधन आदि कर्त्तव्यको पूर्ण किया ॥५६॥ इसके उपरान्त लक्ष्मणाने—जो राजमहलके मध्यमे ऊँची सेजपर सोयी हुई थी और जिसका शरीर समस्त लोकके लिए कल्याणकारी था (तीर्थंकरको जन्म देनेसे)—रात्रिके पिछले भागमे इन (सोलह) स्वप्नोको देखा, जो जिन भगवान् (चन्द्रप्रभ) के जन्मका अनुमान लगानेमे सहायक थे ॥५७॥ सुमेरुके समान उन्नत, इन्द्रके शुभ्र गजराज—ऐरावतको, दर्पके प्रकर्षसे डकारते हुए श्रेष्ठ बैलको, गजराजोके झुण्डको भगाते हुए सिंहको और उस लक्ष्मीको, जिसके हाथमे लीला कमल स्थित था, (देखा) ॥५८॥

१ =तत्सबन्धिनि । २ =प्रतिदिनम् । ३ =आत्मानम् । ४ =मध्ये । ५ =जिनसबन्धिन । ६ =लक्ष्मभूतान् । ७ आ दृशिर् । ८ =आभेवाभा यस्य त । ९ =इन्द्रसबन्धिनम् ।

मालायुग्मं प्रान्तविभ्रान्तभृङ्गं सान्द्रज्योत्स्नं पार्वणं शीतभानुम् ।
भानुं भासा भासिताशान्तरालं मीनद्वन्द्वं क्रीडदन्योन्यरक्तम् ॥५९॥
कुम्भावम्भोजावृतावम्बुपूर्णौ शुभ्राम्भोजोद्भासितोयं तटाकम्[1] ।
वीचीचक्रैश्चुम्बिताकाशमब्धिं सिंहव्यूढं विष्टरं शैलतुङ्गम् ॥६०॥
दिव्यं दिव्यैः[2] सेव्यमानं विमानं नागावासं नागकन्याभिरामम् ।
सर्पत्तेजोमण्डलं रत्नराशिं धूमत्यागादुज्ज्वलं धूमकेतुम् ॥६१॥ (कुलकम्)
स्वप्नानेतान्भूरिकल्याणहेतून्गत्वा प्रातः[3] प्रीतिविस्तारिताक्षी ।
सा भूभर्तुः सूचयामास देवी चक्रे तेनापीति सा तत्फलज्ञा ॥६२॥

कमलं यस्या ताम् । लक्ष्मीं श्रीदेवीम् ॥५८॥ मालेति । प्रान्तविभ्रान्तभृङ्गं प्रान्ते समीपे विभ्रान्ताश्चलिता[4] भृङ्गा मधुकरा यस्य तत् । मालायुग्मं मालयोर्दाम्नोर्युग्मं युगलम् । सान्द्रज्योत्स्नं सान्द्रा घना ज्योत्स्ना चन्द्रिका यस्य तम् । पार्वणं पौर्णमास्या भवम्[5] । शीतभानुं चन्द्रम् । भासा कान्त्या । भासिताशान्तरालं भासितं प्रकाशितमाशानां दिशामन्तरालमभ्यन्तरं यस्य[6] तम् । भानुं सूर्यम् । क्रीडत् विहरत् । अन्योन्यरक्तम् अन्योन्य परस्पर रक्त प्रीतियुक्तम् । मीनद्वन्द्वं मीनयोर्मत्स्ययोर्द्वन्द्व युगलम् ॥५९॥ कुम्भाविति । अम्भोजावृतौ अम्भोजैः कमलैरावृतौ परिवृतौ । अम्बुपूर्णौ अम्बुना सलिलेन पूर्णौ उम्भितौ[7] । कुम्भौ मङ्गलकलशौ । शुभ्राम्भोजोद्भासितोय शुभ्रैः श्वेतैरम्भोजैः सरसिजैरुद्भासि विलसत् तोयं जलं यस्मिन् तम् । तटाकं सरोवरम् । वीचिचक्रैः वीचीना तरङ्गाणा चक्रैः समूहैः । चुम्बिताकाश चुम्बितं स्पृष्टमाकाश गगन यस्य[8] तम् । अब्धि समुद्रम् । सिंहव्यूढ सिंहैः कण्ठीरवैर्व्यूढ धृतम्[9] । शैलतुङ्ग शैलवत् पर्वतवत् तुङ्गमुन्नतम् । विष्टरं सिंहासनम् ॥६०॥ दिव्यमिति । दिव्य दिवि स्वर्गे भवम् । दिव्यैः देवैः । सेव्यमान श्रयमाणम् । विमानं व्योमयानम् । नागकन्याभिरामं नागकन्याभिर्नागवनिताभिरभिरामं मनोहरम् । नागावास नागाना नागकुमाराणामावासं भवनम् । सर्पत्तेजोमण्डल सर्पन्[10] स्रवन् तेजसा कान्तीना मण्डल यस्य तम् । रत्नराशिं रत्नाना मणीनां राशिं निकरम् । धूमत्यागात् धूमस्य त्यागादभावात् । उज्ज्वल प्रज्वलम् । धूमकेतुम् अग्निम् । ददर्श इति प्रत्येकमभिसबन्ध । पञ्चभि कुलकम् । दीपकम् ॥६१॥ स्वप्नानिति । भूरिकल्याणहेतून् भूरिणो बहुलस्य कल्याणस्य हेतून् कारणानि । एतान् इमान् । स्वप्नान् । प्रात विभाते । गत्वा प्राप्य । प्रीतिविस्फारिताक्षी प्रीत्या सतोषेण विस्फारिते उद्घाटिते अक्षिणी नयने यस्या. सा । सा देवी लक्ष्मणा देवी । भूभर्तु महासेनराजस्य । सूचयामास विज्ञापयामास । सूच पैशून्ये लिट् । तेनापि । इति वक्ष्यमाणप्रकारेण । सा

दो मालाओको, जिनके आसपास भौंरे गुजार कर रहे थे; सघन ज्योत्स्नासे युक्त पूर्णमासीके चन्द्रमाको, अपने प्रकाशसे सारी दिशाओको प्रकाशित करते हुए सूर्यको और एक दूसरेसे अनुराग करनेवाले किलोल करते हुए मीन युगलको (देखा) ॥५९॥ कमलोसे ढंके हुए और जलसे भरे हुए दो मंगलकलशोको, जलमे लहलहाते हुए सफेद कमलोंसे अलकृत सरोवरको, आकाशको छूनेवाली उत्ताल तरंगोंसे युक्त समुद्रको और सिंहोपर आश्रित सिंहासनको, जो पहाड़के समाव उन्नत था, (देखा)॥६०॥ देवोंसे सेवित दिव्य विमानको, नागकन्याओसे सुन्दर नागभवनको, फैलाते हुए तेजोमण्डलसे युक्त रत्नराशिको और धूमरहित होनेसे उज्ज्वल अग्निको (देखा) ॥६१॥ अत्यधिक कल्याणके कारण-स्वरूप इन स्वप्नोके बारेमे लक्ष्मणाने—जिसके नेत्र प्रीतिसे विकसित हो रहे थे—प्रभात होते ही अपने पति राजा महासेनको सूचना दी, और फिर महासेनने

---

१. अ क ख ग घ म तडागम् । २. अ क ख ग घ म देवै. । ३. अ प्रीता । ४ श चञ्चलिता । ५. श पार्वणं पौर्णवम् । ६ = येन । ७ श 'उम्भितौ' इति नास्ति । ८. = येन । ९. आ 'धृतम्' इति नास्ति । १०. = उद्गच्छन् ।

ब्रूते नागस्ते त्रिलोकैकमुख्यं कल्याणास्ये सूनुमुक्षा गभीरम् ।
सिंह सिंहोदारदुर्लङ्घ्यवीर्यं लक्ष्मीर्देवेन्द्राभिषेकैकयोग्यम् ।।६३।।
दामद्वन्द्वात्सुभ्रु सोऽनन्तकीर्तिर्भावी चन्द्रात्तृप्तिहेतुः प्रजानाम् ।
मोहध्वान्तध्वंसकस्तिग्मभासा[1] पाठीनाभ्यां सर्वशोकैर्विमुक्तः ।।६४।।
कुम्भालोकाल्लक्षणैः[2] पूर्णदेहस्तृष्णावह्निच्छित्सरोवीक्षणेन ।
पाथोनाथात्केवलज्ञानभागी लब्धा सिद्धेर्धाम सिंहासनेन[3] ।।६५।।
स्वर्गादेता देवि देवालयेन नागावासाद्धर्मतीर्थस्य कर्ता ।
क्रीडाशैलो रत्नपुञ्जाद्गुणानां धक्ष्यत्युग्रं वह्निना कर्मकक्षम् ।।६६।।

देवी । तत्फलज्ञा तेषां स्वप्नानां फलज्ञाना । चक्रे क्रियते स्म । कर्मणि लिट् ।।६२।। ब्रूत इति । नाग गज । त सूनु पुत्रम् । त्रिलोकैकमुख्य त्रयाणां लोकानामेकमसहाय मुख्य श्रेष्ठम् । कल्याणाङ्ग[4] कल्याण मनोहरमङ्ग शरीर यस्य तम् । ब्रूते वक्ति । उक्षा वृषभ । गभीर गम्भीरम् । सिंह कण्ठीरव । सिंहोदारदुर्लङ्घ्यवीर्य सिंह इवोदार[5] महित दुर्लङ्घ्य लङ्घितुमशक्य वीर्य पराक्रमो यस्य तम् । लक्ष्मी श्रीदेवी । देवेन्द्राभिषेकैकयोग्य देवेन्द्रैर्विहितस्याभिषेकस्यैक मुख्य योग्यम्।।६३।। दामेति । सुभ्रु ! सुशोभने भ्रुवौ यस्यास्तस्या संबोधन भो मनोहरभ्रूसहिते ! दामद्वन्द्वात् दाम्नोर्मालयोर्द्वन्द्वाद् युग्मात् । भावी भविष्यन् । स पुत्र । अनन्तकीर्ति अनन्तयशा । चन्द्रात् सोमात् । प्रजानां जनानाम् । तृप्तिहेतु । तिग्मभासा सूर्येण । मोहध्वान्तध्वंसक मोह एव ध्वान्त तस्य ध्वसक । पाठीनाभ्या मीनाभ्याम् । सर्वशोकै सर्वदु खै । विमुक्त रहित ।।६४।। कुम्भेति । कुम्भालोकात् कुम्भयो कलशयोरालोकाद् दर्शनात् । लक्षणै हलकुलिशादिचिह्नै । पूर्णदेह सपूर्णशरीर[6] । सरोवीक्षणेन सरस सरोवरस्य वीक्षणेन दर्शनेन । तृष्णावह्निच्छित् तृष्णैव वाञ्छैव वह्निरग्निस्त छिनत्तीति तथोक्त । पाथोनाथात्[7] जलधिदर्शनात् । केवलज्ञानभागी पञ्चमज्ञानभाजन (नम्) । सिंहासनेन हरिपीठदर्शनेन । सिद्धे मोक्षस्य । धाम स्थानम् । लब्धा लप्स्यते । डुलभिष्[8] प्राप्तौ लुट् ।।६५।। स्वर्गादिति । देवि भो देवि ! देवालयेन देवविमानदर्शनेन । स्वर्गात् त्रिदिवात् । एता एष्यति । नागावासात् नागभवनदर्शनात् । धर्मतीर्थस्य परमागमस्य । कर्ता स्वामी । रत्नपुञ्जात् रत्नराशिदर्शनात् । गुणानां सम्यक्त्वादिगुणानाम् । क्रीडाशैल लीलापर्वत । वह्निना अग्निदर्शनेन । उग्र क्रूरम् । कर्मकक्ष कर्मकाननम् । धक्ष्यति भस्मयिष्यति ।

भी लक्ष्मणाको उनके फलका ज्ञान कराया—।।६२।। हे कल्याणमुखी ! ऐरावत हाथी तेरे पुत्रको तीनो लोकोमे मुख्य बतला रहा है, बैल उसे गम्भीर, सिंह महान् और दुर्लङ्घ्य पराक्रमका धारी और लक्ष्मी इन्द्रोंके द्वारा अभिषेक करने योग्य सूचित कर रही है ।।६३।। हे सुन्दर भ्रुकुटि वाली देवी ! दो मालाओके देखनेसे वह अनन्तकीर्तिको धारण करनेवाला होगा, चन्द्रमा देखनेसे प्रजाकी तृप्तिका हेतु, सूर्य देखनेसे मोहरूपी अन्धकारको मिटानेवाला और मछलियोकी जोडीको देखनेसे सभी प्रकारके शोकसे मुक्त होगा ।।६४।। कलश देखनेमे उसके दिव्य देहमे शुभ लक्षण होगे, सरोवर देखनेसे तृष्णारूपी अग्निको शान्त करनेवाला होगा, समुद्र देखनेसे केवलज्ञानी होगा और स्वर्ण-सिंहासनके देखनेसे मुक्तिको पानेवाला होगा ।।६५।। देवि ! देवो-का विमान देखनेसे वह स्वर्गसे अवतरित होगा, नागभवन देखनेसे धर्मतीर्थका प्रवर्तक होगा, रत्नोकी राशि देखनेसे समस्त गुणोका क्रीडा-पर्वत होगा और अग्नि देखनेसे उग्र कर्मोंके

१ क ख ग घ म °तिग्मभास । २ क ख ग घ म °लक्ष्मणै° । ३ क ख ग घ म सिद्धेर्हैमसिंहा° । ४ 'कल्याणाङ्ग' इति टीकाश्रय पाठः, प्रतिषु तु निखिलास्वपि 'कल्याणास्ये' इति समुपलभ्यते । कल्याण मनोहरमास्य मुख यस्यास्तत्संबुद्धौ हे कल्याणास्ये शुभवदने । ५. = महत् । ६. आ °र्णदेह । ७. एष टीकाश्रय पाठ प्रतिषु तु 'यादोनाथात्' इत्येव समुपलभ्यते । सानुप्रास टीकापाठ साधीयानित्यत्र न काचन सशीति । ८ श डुलभष् ।

फलं स्वप्नावल्याः सकलमिति निश्चित्य दयिता-
द्दधाना रोमाञ्चं प्रकटमपरं कञ्चुकमिव ।
प्रमोदं सा भेजे कमपि वचनानामविषयं
मुदे केषां न स्यादभिलषितसंप्राप्तिरथवा ॥६७॥
अथाहमिन्द्रः स ततोऽवतीर्य स्वायुःक्षयेऽनुत्तरवैजयन्तात् ।
कुक्षौ प्रशस्तेऽहनि लक्ष्मणाया विवेश शुक्ताविव वारिबिन्दुः ॥६८॥
तस्मिन्गर्भावतारं कृतवति भुवनक्षोभसंपादिपुण्ये
सर्वाटोपेन गत्वा क्षितिपतिभवने सासुरेन्द्राः सुरेन्द्राः ।
कृत्वा कल्याणमुच्चैर्हतपटुपटहा वेणुवीणाभिरामं
नृत्यन्तः स्वं निवासं कृतजिनजननीपादपूजाः प्रजग्मुः ॥६९॥

लृट् ॥६६॥ फलमिति । स्वप्नावल्या स्वप्नामावल्याः समूहस्य । सकलं समस्तम् । फलम् । दयितात् प्राणनायकात् । इति उक्तप्रकारेण । निश्चित्य निर्णीय । प्रकटं व्यक्तम् । अपरम् अन्यत् । कञ्चुकमिव कूर्पासमिव । रोमाञ्चं लोमहर्षणम् । दधाना धरन्ती । सा लक्ष्मणा देवी वचनाना वाचाम् । अविषयम् अगोचरम् । कमपि कंचित् । प्रमोद संतोषम् । भेजे भजते स्म । भजि[1] सेवाया लिट् । अथवा तथा हि । अभिलषितसप्राप्ति. अभिलषितस्य समीहितस्य सप्राप्ति[2]र्लब्धि । केषा जनानाम् । मुदे संतोषाय । न स्यात् न भवेत् । अस भुवि लिङ् । अर्थान्तरन्यास ॥६७॥ अथेति । अथ स्वप्नदर्शनान्तरम् । स अहमिन्द्र पद्मनाभचराहमिन्द्रः । स्वायु क्षये स्वस्यायुषः जीवितस्य क्षये[3] परिक्षीणे सति । अनुत्तरवैजयन्तात् । अवतीर्य आगत्य। प्रशस्ते शुभे । अहनि दिने। लक्ष्मणायाः लक्ष्मणादेव्याः। कुक्षौ गर्भे । शुक्तौ शुक्तिपुटे[4] । वारिबिन्दुरिव स्वातिजलबिन्दुवत् । विवेश प्रविष्टः। विश प्रवेशने लिट् । उपमा[5] ॥६८॥ तस्मिन्निति । भुवनक्षोभसपादिपुण्ये भुवनेषु[6] त्रिलोकेषु[7] क्षोभ सभ्रम[8] सपादि समुद्भावि पुण्यं शुभकर्म यस्य तस्मिन् । तस्मिन् अहमिन्द्रे । गर्भावतार गर्भावतरणम् । कृतवति सति विहितवति सति[9] । सासुरेन्द्रा. असुरेन्द्रैः सहिताः । सुरेन्द्राः देवेन्द्रा । सर्वाटोपेन सभ्रमेण । क्षितिपतिभवने क्षितिपतेर्महासेनस्य भवने सदने। गत्वा. याता.। कल्याण गर्भावतरणकल्याणम् । कृत्वा विधाय । उच्चैः अधिकम् । हतपटुपटहाः हता ताडिताः पटव स्पष्टा. पटहा दुन्दुभयो यैस्ते । वेणुवीणाभिरामं वेणुवीणाभ्यामभिराम मनोहरं यथा भवति तथा । नृत्यन्त. नटन्तः । कृतजिनजननीपादपूजा कृता विहिता

जगलको जलानेवाला होगा ॥६६॥ इस तरह अपने पतिसे सभी स्वप्नोके फलको निश्चित करके लक्ष्मणाके शरीरपर रोमांच प्रकट हो गये, जिन्हे देखनेसे ऐसा जान पड़ता था मानो उसने दूसरा ब्लाऊज पहन लिया हो । उस समय उसे अनिर्वचनीय आनन्द हुआ । इष्टकी प्राप्ति भला किसके हर्षके लिए नही होती ? ॥६७॥ इसके पश्चात् आयुके समाप्त होते ही उस अहमिन्द्रने वैजयन्त नामक अनुत्तर विमानसे अवतरित होकर शुभ दिनमें लक्ष्मणाके गर्भमे प्रवेश किया, जैसे जल-बिन्दु सीपमे प्रवेश करता है ॥६८॥ अहमिन्द्रका पुण्य सारे संसारमे प्रसन्नताकी लहर उत्पन्न करनेवाला था । अतः उसने लक्ष्मणाके गर्भमे ज्यो ही अवरण किया त्यो ही देवेन्द्र—जिनके साथ असुरेन्द्र भी थे—बडी धूमधामके साथ राजा महासेनके घर पहुँचे, और गाजे-बाजेके साथ उन्होने गर्भ-कल्याणका उत्सव मनाया, एव बाँसुरी और वीणाकी तानकी

१. आ भज । २ आ अखिलक्षितसप्राप्तिः अखिलस्य क्षितस्य समीहितस्य सप्राप्ति' । ३. = परिक्षये । ४ आ शुक्तिषु । ५ आ उपमानन्तर 'तस्य तत् तस्मिन् तस्य' इत्यधिक पाठः समुपलभ्यते । ६. = त्रिपु लोकेपु । ७. = त्रिलोके लोकत्रये वा । ८ आ सपादयति समुद्भावयीतत्येत्र भूतम् । ९. श 'विहितवति सति' इति नोपलभ्यते ।

श्रीह्रीधृत्यादिभिः स्वान्वपुषि वरगुणान्कान्तिलज्जादिरूपा-
न्देवीभिस्तन्वतीभिः सततमनुपमप्रीतिभिः सेव्यमाना।
पश्यन्ती रत्नवृष्टिं स्वयमुदयवर्ती प्रत्यहं स्वर्गिमुक्तां
मासान्गर्भप्रभावान्नव नलिनमुखी सा सुखेनैव निन्ये ॥७०॥

इति श्रीवीरनन्दिकृतावुदयाङ्के चन्द्रप्रभचरिते महाकाव्ये षोडशः सर्गः ॥१६॥

जिनस्य जिनेशस्य जनन्या मातु पादयोश्चरणयोः पूजा यैस्ते। स्वं स्वकीयम्। निवासं स्वर्गावासम्। प्रजग्मु प्रययु। गम्लृ गतौ लिट् ॥६९॥ श्रीति। कान्तिलज्जादिरूपान् कान्तिलज्जे आदौ येषां तानि तथोक्तानि कान्तिलज्जा-दीन्येव रूपाणि स्वरूपाणि येषा ते[2]। स्वान् स्वकीयान्। वरगुणान् प्रकृष्टगुणान्। वपुषि शरीरे। तन्वतीभिः कुर्वतीभि[3]। अनुपमप्रीतिभि अनुपमा सादृश्यरहिता प्रीति प्रेम यासा ताभिः। श्रीह्रीधृत्यादिभिः श्रीह्रीधृतय आदयो[4] यासा ताभि। देवीभि. देवस्त्रीभिः। सततम् अनवरतम्। सेव्यमाना आराध्यमाना। उदयवर्ती सपत्तियुक्ताम्। प्रत्यह् प्रतिदिनम्। स्वर्गिमुक्ता स्वर्गिभिर्देवैर्मुक्ता वृष्टाम्। रत्नवृष्टिं रत्नाना मणीना वृष्टिं वर्षणम्। स्वय, पश्यन्ती वीक्षमाणा। नलिनमुखी नलिनमिव कमलमिव मुख वदन यस्या सा। सा[5] लक्ष्मणा देवी। गर्भप्रभावात् गर्भस्य जिनबालकस्य प्रभावात् सामर्थ्यात्। 'कुक्षिभ्रूणार्भका गर्भाः' इत्यमर। नव नवसख्याकान्। मासान् सुखेनैव। निन्ये[6] नयति स्म। णीञ् प्रापणे लिट्[7] ॥७०॥

इति श्रीवीरनन्दिकृतावुदयाङ्के चन्द्रप्रभचरिते महाकाव्ये तद्व्याख्याने च
विद्वन्मनोवल्लभाख्ये षोडश. सर्ग ॥१६॥

सुन्दरताके साथ नृत्य किया, फिर लक्ष्मणाके चरणोकी अर्चना करके वे अपने निवास-स्थानको चले गये ॥६९॥ कान्ति और लज्जा आदि श्रेष्ठ गुणोको—जो उनकी प्रशस्त आकृतिपर छाये हुए थे—विकसित करनेवाली तथा अनुपम प्रीति करनेवाली श्री, ह्री और धृति आदि देवियाँ लक्ष्मणाकी निरन्तर सेवा करने लगी। उस अभ्युदयशालिनी कमलमुखी लक्ष्मणाने देवोंके द्वारा प्रतिदिन की जानेवाली रत्न-वृष्टिको—जो गर्भके प्रभावके से नौ मास तक हुई थी—देखते हुए सुख-पूर्वक समय बिताया ॥७०॥

इस प्रकार महाकवि वीरनन्दि विरचित उदयाङ्क चन्द्रप्रभचरित महाकाव्यमें
सोलहवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥१६॥

---

१. = आदौ। २. = ताम्। ३. श 'कुर्वतीभि' इति नास्ति। = कुर्वतं भिः—कुर्वन्तीभिः।
४ = आदौ। ५ श 'सा' इति नास्ति। ६. श 'निन्ये' इति नास्ति। ७. श 'लिट्' इति नास्ति।

[१७. सप्तदशः सर्गः]

अथ सा प्रसूतिसमयेन जिनमिव दिदृक्षुणेरिता।
पौषमलिनदशमीक्षयजां तिथिमाप्य सुन्दरमजीजनत्सुतम् ॥१॥
ककुभः प्रसेदुरजनिष्ट निखिलममलं नभस्तलम्।
तस्य जननसमये[1] पवन. सुरभिर्ववौ सुरभयन्दिगङ्गनाः ॥२॥
वियतः पतद्भिरतिहृष्टहृदयसुरवृन्दवर्षितैः।
दिव्यकुसुमनिकरैररुचत्क्षितिमण्डलं भ्रमरबद्धमण्डलैः ॥३॥
मणिघण्टिका सदसि रेणुरकरहति कल्पवासिनाम्।
ज्योतिरमरसदने सहसा प्रजगर्जुरूर्जितरवं[2] गजारयः ॥४॥

काशीपुराधिपमहीपतिविश्वसेनप्रीतात्मजो मरकतद्युतिभासुराङ्गः।
ध्यानात् पुनर्न च चचाल महोपसर्गे श्रीपार्श्वनाथजिनपो जगदेकनाथः ॥१॥

अथेति। अथ गर्भावतरणानन्तरम्। जिन जिनेश्वरम्। दिदृक्षुणेव द्रष्टुमिच्छुनेव। प्रसूतिसमयेन प्रसूते. प्रसवस्य समयेन कालेन। ईरिता प्रेरिता। सा लक्ष्मणा देवी। पौषमलिनदशमीक्षयजा पौषस्य पौषमासस्य मलिनस्य कृष्णपक्षस्य दशम्या दशमीतिथे· क्षयजा क्षयेन जातामेकादशीमित्यर्थ। तिथि दिनम्। आप्य लब्ध्वा। सुन्दर मनोहरम्। सुत तनयम्। अजीजनत् जनयति स्म। जनैङ् प्रादुर्भावे लङ्। उद्गतावृत्तम् ॥१॥ ककुभ इति। तस्य जिनबालकस्य। जननसमये जन्मन समये काले। ककुभ. दिशः। प्रसेदु· निर्मला बभूवुः। निखिलं सकलम्[3]। नभस्तल गगनतलम्। अमलं विमलम्। अजनिष्ट जायते स्म। लुङ्। दिगङ्गना. दिश एव अङ्गना वनिताः। सुरभयन् परिमलयन्। सुरभि· परिमलयुत.। पवन वायु। ववौ वाति स्म। वा गतिगन्धनयो। लिट्। अतिशयः ॥२॥ वियत इति। अतिहृष्टहृदयसुरवृन्दवर्षितै अतिहृष्टेनात्यन्त सतुष्टेन हृदयेन चित्तेन युतेन सुराणा देवाना वृन्देन समूहेन वर्षितैरेधैतै। वियत. अकाशात्। पतद्भि· वर्षद्भि·। भ्रमरबद्धमण्डलै भ्रमरैर्मधुकरैर्बद्धं रचितं मण्डल वलय येषा[4] तैः। दिव्यकुसुमनिकरै दिव्याना स्वर्गजाताना कुसुमाना निकरैर्वृन्दै.। क्षितिमण्डल भूमण्डलम्। अरुचत् भाति स्म। रुचि दीप्तौ। 'द्युद्भ्यो लुङ.' इति तङ्[5]। अतिशय ॥३॥ मणीति। कल्पवासिना कल्पवासिदेवानाम्। सदसि सभायाम्। मणिघण्टिका मणिभिर्निर्मिता घण्टिकाः। अकरहति कराहतिं विना यथा तथा। रेणु ध्वनन्ति स्म। रण शब्दे लिट्। ज्योतिरमरसदने ज्योतिष्कदेवाना सदने निवासे। गजारय. गजाना करिणामरय शत्रव, सिंहा इत्यर्थ। ऊर्जितरवम् उच्चै.स्वर यथा तथा। सहसा शीघ्रम्। प्रगर्जु ध्वनन्ति स्म। गर्ज क्षिर्ज[6] शब्दे

गर्भावतारके पश्चात् प्रसूतिका समय मानो अष्टम तीर्थङ्कर चन्द्रप्रभ जिनेन्द्रके दर्शनोंके लिए लालायित था, अतः उस (प्रसूति समय) की प्रेरणासे महारानी लक्ष्मणाने पौषकृष्ण एकादशी-के दिन सुन्दर पुत्रको जन्म दिया ॥१॥ पुत्रके जन्मके शुभ अवसरपर सभी दिशाएँ स्वच्छ हो गयी, सारा नभस्तल निर्मल हो गया और दिशारूपी अङ्गनाओको सुवासित करता हुआ सुगन्धित पवन बहने लगा ॥२॥ देवोका वृन्द हृदयसे प्रसन्न होकर दिव्य पुष्पोकी वर्षा करने लगा। वे पुष्प अत्यन्त सुगन्धित थे, अतः ज्यो ही वे आकाशसे गिरने लगे त्यो ही उनपर भौंरोके झुण्ड मडराने लगे, उनके सयोगसे भूमण्डलकी जो शोभा उत्पन्न हुई, वह देखते ही बनती थी ॥३॥ कल्पवासी देवोकी सभामे मणिर-चित घण्टियाँ बिना हाथ लगाये ही बजने लगी और ज्योतिषी देवोके आवास स्थानोमे एकाएक खूब जोर-जोरसे सिंह गर्जन करने

१. आ इ जन्मसमये। २. अ गर्जितरवं। ३. श 'सकलम्' इति नास्ति। ४. = येषु। ५ आ तिप्, श ठिप्। ६ आ पिर्ज।

प्रणनाद भावनगृहेषु जलदपटुशङ्खसंहतिः ।
व्यन्तरसुरभवनेष्वहताः पटहाः[1] प्रतिध्वनिमुचः[2] प्रदध्वनुः ॥५॥
इति हेतुभिः प्रचलितैश्च समसमयमात्मविष्टरैः ।
ज्ञातजिनपतिभवा परितो गगनं प्रपूर्य विबुधाः प्रतस्थिरे ॥६॥
प्रचलत्सुरासुरकिरीटकिरणनिकुरम्बरञ्जिताः ।
मण्डनमिव जगृहुः ककुभोऽप्यथवा न कस्य जिनजन्म वृद्धये[3] ॥७॥
अधुना व्यनक्ति जिन एव [4]भुवनमिदमत्र किं मया
कृत्यमिति सुरविमानचयैस्त्रपयेव भानुरभवत्तिरोहितः ॥८॥

लिट् ॥४॥ प्रणनेति[5] । भावनगृहेषु भवनामरसबन्धिषु गृहेषु भवनेषु । शङ्खसहतिः शङ्खाना सहतिः समूहः । जलदपटु जलदवद् मेघवत् पटु व्यक्तं यथा तथा । प्रणनाद दध्वान । णद शब्दे लिट् । व्यन्तरसुरभवनेषु व्यन्तरसुराणा भवनेषु गृहेषु । अहता अताडिता । प्रतिध्वनिमुच प्रतिध्वनिं मुञ्चन्तीति तथोक्ताः । पटहाः दुन्दुभय । प्रदध्वनु[6] रुरवु[7] । ध्वन शब्दे लिट् ॥५॥ इतीति । इति हेतुभि. इत्येव हेतुभि. । समसमय सम समान समय कालो यस्मिन् कर्मणि तत्० । प्रचलितै. कम्पितैः । आत्मविष्टरै [च] आत्मना स्वेषा विष्टरैः-रासनैश्च । ज्ञातजिनपतिभवा ज्ञातो विदितो जिनपतेर्भवो जन्म यैस्ते । विबुधा देवाः । परित सर्वतः । गगनम् आकाशम् । प्रपूर्य व्याप्य । प्रतस्थिरे निर्जग्मु । ष्ठा गति निवृत्तौ[8] । अनुमिति ॥६॥ प्रचलदिति । प्रचलत्सुरासुरकिरीटकिरणनिकुरम्बरञ्जिता. प्रचलता सुरासुराणा सुरासुरदेवाना किरीटाना निकुरम्बेण निकरेण रञ्जिता उपरञ्जिता । ककुभोऽपि दिशोऽपि । मण्डनम् अलकरणम् । जगृहुरिव स्वीचक्रुरिव । अथवा तथाहि । जिनजन्म जिनस्यार्हतो जन्म जननम् । कस्य पुरुषस्य । वृद्धये समृद्धये[9] । [न] न भवति । अर्थान्तरन्यास[10] ॥७॥ अधुनेति । अधुना इदानीम् । अत्र जिनजन्मनि । इदम् एतत् । भुवन जगत् । जिन एव जिनेश्वर एव । व्यनक्ति व्यक्तीकरोति, प्रकाशयतीत्पर्थ । मया किं कृत्य करणीयम् । इति, त्रपयेव लज्जयेव । सुरविमानचयैः सुराणा देवाना विमानाना व्योमयानाना चयैः समूहैः । भानुः सूर्य । तिरोहित व्यवहित ।

लगे—सिंहनाद होने लगा ॥४॥ भवनवासी देवोके घरोमे मेघोकी भाँति गम्भीर शख समूहकी ध्वनि सुनाई पडने लगी और व्यन्तर देवोकी निवास भूमिमे बिना बजाये ही दुन्दुभि बाजे बजने लगे तथा सभी ओर उनकी प्रतिध्वनि गूँजने लगी ॥५॥ इन कारणोंसे एव एक ही साथ अपने-अपने आसनके कम्पित होनेसे सभी देवोको जिन भगवान्के जन्मका पता चल गया । फलतः उन्होने अपने-अपने स्थानसे चन्द्रपुरीको, जहाँ जिन भगवान्का जन्म हुआ था, प्रस्थान कर दिया । जाते समय उन्होने आकाशको सभी ओरसे व्याप्त कर दिया ॥६॥ क्या सुर और क्या असुर सभी बडे वेगसे आगे बढ रहे थे । उनके मुकुटोकी किरणोंके समूहसे सारी दिशाएँ रग बिरगी हो गयी, अत ऐसा जान पडता था मानो उन्होने आभूषण पहन लिये हो । भला जिन भगवान्का जन्म किसकी वृद्धिके लिए नही होगा ? ॥७॥ 'इस समय जिनभगवान् ही सारे ससारको प्रकाशित कर रहे हैं, अब यहाँ मेरा क्या काम' ? यह सोचकर मानो लज्जाके कारण

१ आ इ °भवनेषु पटहा । २ अ °ध्वनिमुद । ३. अ वृधाय । ४ आ इ भवन° । ५. आ प्रणतीति । ६ = ध्वनिं चक्रु । ७. आ रुराव । ८ = लिट् । ९ श 'समृद्धये' इति नोपलभ्यते । १० = उत्प्रेक्षा ।

सुरपङ्क्तिरानृपतिगेहमरचदमरालयात्तता ।
अन्तरमकलयता द्युभुवोरिव मानरज्जुरुद्धृतारि वेधसा ॥९॥
स चतुर्विधोऽपि नृपसद्म विविधमणिरत्नभासुरः ।
प्राप भुग्नसकलभूमितलो जलराशिवत्सुरगणः सवासवः ॥१०॥
अथ मायया जनितमात्मतनुकृतिरूपमर्भकम् ।
मातुरुरसि विनिवेश्य शची जिनमुज्जहार गुरुभक्तिभाविता ॥११॥
तमुदीक्ष्य भासुरमशीतरुचिमिव शचीसमाहृतम् ।
पद्मवनमिव विकासमगाद्युगपत्सहस्रमपि चक्षुषां हरेः ॥१२॥

सुरबृंहिते जयजयेति भुवनमभिसर्पति ध्वनौ ।
हस्तधृतवपुषमात्मगजं तमरोपयत्प्रथमकल्पनायकः ॥१३॥
इतरे च तं परमभक्तिभरनतकिरीटकोटयः ।
भेजुरमरपतयोऽन्तगता विधृतातपत्रकलशाब्दचामराः ॥१४॥
सुरयोषितो विविधधूपबलिकुसुमरुद्धपाणयः ।
मङ्गलमुखरमुखाम्बुरुहाः करिणीगताः समुपतस्थिरेऽग्रतः ॥१५॥
चलितेऽभिमेरु सुरनाथनिवहपरिवारिते जने ।
नेदुरथ विबुधहस्तहताः परितः प्रयाणपरिशंसिभेरिकाः[1] ॥१६॥

अगात् अयात् । इण् गतौ लुङ् ।[2] उपमा ॥१२॥ सुरेति । सुरबृंहिते सुरैर्देवैः बृंहिते प्रवर्धिते । जय जयेति ध्वनौ शब्दे[3] । भुवनं जगत् । अभिसर्पति व्याप्नुवति । प्रथमकल्पनायकः प्रथमस्य कल्पस्य सौधर्मकल्पस्य । नायकः प्रभुः । हस्तधृतवपुषं[4] हस्तेन पाणिना धृतं भृतं वपुः शरीरं यस्य तम् । तं जिनशिशुम् । आत्मगजम् आत्मनः स्वस्य गजमैरावतम् । अरोपयत् अवाहयत् । रुह बीजजन्मनि णिजन्ताल्लङ् 'रुहः पः' इति पकारादेशः ॥१३॥ इतरे इति । परमभक्तिभरनतकिरीटकोटयः परमाया महत्या भक्त्या भरेण भारेण नताः किरीटानां कोटयः समूहा येषां ते । अन्तगताः अन्तं समीपं गताः । इतरे च शेषाश्च । अमरपतयः अमराणां देवानां पतय इन्द्राः । विधृतातपत्रकलशाब्दचामराः विधृतानि[5] भृतानि आतपवारणभृङ्गारदर्पणचामराणि यैस्ते । तं जिनबालकम् । भेजुः सेवन्तेस्म । भजि[6] सेवायां लिट् ॥१४॥ सुरेति । विविधधूपबलिकुसुमरुद्धपाणयः विविधैर्नानाप्रकारैर्धूपेन कालागरुधूपेन बलिना पूजाद्रव्येण कुसुमेन पुष्पेण च रुद्धा युक्ताः पाणयो हस्ता यासां ताः । मङ्गलमुखरमुखाम्बुरुहाः मङ्गलेन मङ्गलगानेन मुखरं वाचालं मुखमेव वदनमेवाम्बुरुहं कमलं यासां ताः । करिणीगताः करिणीं करेणूं[7] गता आरूढाः । सुरयोषितः सुराणां योषितो वनिताः । अग्रतः पुरस्तात् । समुपतस्थिरे समुपययुः । ष्ठा गतिनिवृत्तौ लिट् । रूपकम् ॥१५॥ चलित इति । सुरनाथनिवहपरिवारिते सुरनाथानां देवेन्द्राणां निवहेन निकायेन परिवारिते परिवृते । जने जिनेशे । अभिमेरु मेरोरभिमुखम् । 'लक्षणेनाभिप्रत्याभिमुख्ये' इति अव्ययीभावः । चलिते याते सति । अथ अनन्तरम् । विबुधहस्तहताः विबुधानां देवानां हस्तैः पाणिभिः हताः ताडिताः । प्रयाणपरिशंसिभेरिकाः प्रयाणं यात्रां[8] परिशंसिन्यः सूचिकाः भेरिकाः दुन्दुभयः । परितः

एक हजार नेत्र, कमलोंके वनकी भाँति विकसित हो उठे ॥१२॥ जिन बालकको देखते ही सभी देवोंके मुखसे जय जयकारकी ध्वनि निकलने लगी और वह खूब ही बढ़ी एवं सारे संसारमें फैलने लगी । इसी ध्वनिके बीचमें सौधर्म स्वर्गके इन्द्रने जिन-बालकको अपने हाथोंमें लेकर अपने हाथीपर चढ़ा लिया ॥१३॥ और अन्य इन्द्र भी जो समीपमें ही खड़े हुए थे, और प्रगाढ़ भक्तिके भारसे जिनके मुकुटोंके शिखर झुके हुए थे, तथा जिनके हाथोंमें छत्र, कलश, दर्पण और चामर थे, जिन बालककी सेवा कर रहे थे ॥१४॥ देवियाँ हथिनियोंपर सवार होकर और अपने-अपने हाथोंमें अनेक प्रकारकी धूप, पूजा सामग्री तथा फूल लेकर मंगलगान करती हुई आगे-आगे चल रही थीं ॥१५॥ भगवान् चन्द्रप्रभ—जो अभी शिशु अवस्थामें थे—सभी ओरसे देवेन्द्रोंसे घिरे हुए थे—उनके चारों ओर देवेन्द्र खड़े हुए थे । ज्योंही उन्होंने सुमेरुकी ओर प्रस्थान किया त्यों ही जिधर देखो उधर देवोंके हाथोंमें स्थित प्रस्थान सूचक भेरियाँ

---

१ अ °तेरिका । २. आ लङ् । ३ श 'शब्दे' इति नास्ति । ४ श 'हस्तधृत वपुषं' इति नोपलभ्यते । ५ = विधृतानि भृतानि । ६. आ भज । ७ श 'करेणूं' इति नास्ति । ८ = परिशंसतीति ।

सुरपेटकैः पटु नटद्भिरतिललितगीतवादितैः[1]।
नृत्तमयमिव तदा सकलं सदिगन्तरं समभवन्नभस्तलम् ॥१७॥
भुवनातिशायिजिनरूपविनिहितविलोचनोत्पलैः।
लङ्घितमपि बुबुधे विबुधैर्न सुराद्रिवर्त्म तदुपात्तविस्मयैः ॥१८॥
अथ ते परीत्य सुरशैलमुरुरुचिरचैत्यमन्दिरम्।
पाण्डुकदृषदि सुरप्रमुखा हरिविष्टरे सुखमतिष्ठपञ्जिनम्[2] ॥१९॥
सुरपङ्क्तिमाशु विरचय्य कृतविततिमापयोम्बुधेः।
चक्रुरमलतरदुग्धघटैरभिषेचनं त्रिदशलोकनायकाः ॥२०॥

समन्तात्। नेदु ध्वनन्ति स्म। णद अव्यक्ते शब्दे लिट् ॥१६॥ सुरेति। अतिललितगीतवादितैः अतिललितमतिमनोहर गीतस्य (गीत गानं) वादितं वादन (च) येषां तैः। पटु नटद्भिः पटु स्फुट नटद्भिर्नृत्यद्भिः। सुरपेटकैः सुराणा पेटकैर्निकरैः। तदा गमनसमये। सदिगन्तर दिगन्तरेण दिग्विवरेण सहितम्। नभस्तलं आकाशप्रदेशम् (श)। नृत्यमयमिव नृत्यस्वरूपमिव। समभवत् समभूत्। लङ्। उपमा[3] ॥१७॥ भुवनेति। भुवनातिशायिजिनरूपविनिहितविलोचनोत्पलैः भुवनस्यातिशायिनि उत्कृष्टे जिनस्य जिनेशस्य रूपे विनिहितानि निक्षिप्तानि लोचनानि नयनानि तान्येवोत्पलानि कुवलयानि येषा तैः। तदुपात्तविस्मयैः तस्मिन् जिने उपात्तः कृतो विस्मयोऽद्भुत[4] येषा तैः। सुराद्रिवर्त्म महामेरुमार्गः। लङ्घितमपि विलङ्घितमपि। विबुधैः सुरैः। न बुबुधे न जज्ञे। बुधि मनि ज्ञाने लिट्। रूपकम् ॥१८॥ अथेति। अथ महामेरुमार्गगमनानन्तरम्। उरुरुचिरचैत्यमन्दिरम् उरूणि महान्ति रुचिराणि मनोहराणि चैत्यमन्दिराणि चैत्यालया यस्मिन् तम्। सुरशैल मेरुपर्वतम्। सुरप्रमुखा सुरा कल्पवासिन प्रमुखा आदयो येषा ते। ते सुरपादयो देवा। परीत्य प्रदक्षिणीकृत्य। पाण्डुकदृषदि पाण्डुकशिलायाम्। हरिविष्टरे सिंहासने। जिन जिनेशम्। सुखं सतोष यथा तथा। 'सुखमा…' इति वैजयन्ती[6]। अतिष्ठपन्[7] अयन्ति स्म लुङ् ॥१९॥ सुरेति। त्रिदशलोकनायका त्रिदशाना देवाना लोकस्य स्वर्गस्य नायका इन्द्रा। आ पयोम्बुधे क्षीरसमुद्रपर्यन्तम्। कृतविततिं कृता विहिता विततिर्विस्तृतिर्यया ताम्। सुरपङ्क्तिं सुराणा देवाना पङ्क्तिं श्रेणिम्[8]। आशु शीघ्रम्। विरचय्य निर्माय। अमलतरदुग्धघटैः अष्टयोजनोदरव्यासैरेकयोजनमुखव्यासैः काञ्चनरजतगारुत्मतादिरत्ननिर्मितैर्निर्मलैर्दुग्धेन क्षीरेण पूर्णघटैः।

बजने लगी ॥१६॥ सभी देव लोग अत्यन्त सुन्दर ढगसे गाना गा रहे थे, बाजे बजा रहे थे और कलापूर्ण नृत्य कर रहे थे, जिससे सारी दिशाएँ और पूरा आकाश उस समय नृत्यमय दृष्टिगोचर हो रहे थे ॥१७॥ जिनेन्द्र भगवान्‌का रूप लोकातिशायी था। सभी देवोंके नेत्र उसे देखनेमे लगे हुए थे और वे उसके बारेमे आश्चर्यका अनुभव कर रहे थे। फलत सुमेरु पर्वतका मार्ग, जिसे वे लांघ चुके थे, उन्हे ज्ञात ही नही हुआ कि कब निकल गया ॥१८॥ इसके पश्चात् उन सभी देवोंने—जिनमे इन्द्र प्रमुख थे—बडे-बडे सुन्दर जिनमन्दिरोसे विभूषित सुमेरु पर्वतकी परिक्रमा की, फिर उन्होने पाण्डुक शिलापर रखे गये सिंहासनपर जिनभगवान्‌को सुख पूर्वक बैठा दिया ॥१९॥ फिर इन्द्रोने सुमेरु पर्वतसे लेकर क्षीरसागर तक देवोंकी खूब लम्बी पंक्ति खडी करके (उनसे मगाये गये) अत्यन्त निर्मल दूधसे भरे हुए कलशोंसे जिन-

१. अ सुरपेटकैः पटुभिरतिगीतललितवादितैः। २. क ख ग घ म °तिष्ठयज्जिनम्। ३. = उत्प्रेक्षा। ४. = आश्चर्य यैः। ५ आ 'महा' इति नास्ति। ६. आ वैजयन्त्याम्। ७. = स्थापयामासु। ८. श श्रेणीम्।

अभिषिच्य तं ललितनृत्यमधुररवगीतवादितैः[1]।
वज्रमयनिशितसूचिकया विविधुर्युगं श्रवणयोः सुरेश्वराः ॥२१॥
मणिकुण्डलाङ्गदकिरीटकटकरशनादिभूषणैः।
दिव्यकुसुमवसनैश्च सुरास्तमभूषयंस्त्रिभुवनैकभूषणम् ॥२२॥
प्रविधाय ते समयमेकममरपतयः कृतोत्सवाः।
चन्द्रसमरुचिरयं भगवानिति चन्द्रपूर्वममुमाह्वयन्प्रभुम् ॥२३॥
अथ भक्तितः प्रथमकल्पपतिरितरवासवान्वितः।
स्तोतुमिति विरचिताञ्जलि[2] तं सहजत्रिबोधसहितं प्रचक्रमे ॥२४॥

अभिषेचनम् अभिषवणम्। चक्रु. विदधु। लिट्। जातिः ॥२०॥ अभीति। सुरेश्वरा देवेन्द्राः। ललितनृत्यमधुररवगीतवादितैः ललितेन मनोहरेण नृत्येन मधुररवयुतेन मधुरध्वनियुक्तेन गीतेन वादितैर्नादितैः। त जिनम्। अभिषिच्य अभिषवण कृत्वा। वज्रमयनिशितसूचिकया वज्रमय्या निशितया क्रूराग्रया। सूचिकया सूच्या। श्रवणयो· कर्णयोः। युग द्वन्द्वम्। विविधु· छिद्र चक्रु.। विध विधाने लिट् ॥२१॥ मणीति। सुरा. देवा। मणिकुण्डलाङ्गदकिरीटकटकरशनादिभूषणैः कुण्डले कर्णवेष्टने च, अङ्गदे केयूरे च, किरीट मकुट च, कटके कङ्कणे च, रशना मेखला च तथोक्ता., ता[3] आदिः येषा तानि तथोक्तानि, तानि च तानि भूषणानि च तथोक्तानि, मणिभी रत्नैर्निर्मितानि कुण्डलाङ्गदकिरीटरशनादिभूषणानि तैः। दिव्यकुसुमवसनैश्च दिव्यैः स्वर्गजै कुसुममयै. पुष्पलिखितैर्वसनैर्दुकूलवस्त्रैः। त्रिभुवनैकभूषण त्रिभुवनस्य त्रिजगत एक मुख्य भूषणमलकारम्। त जिनेशम्। अभूषयन् अलकुर्वन्ति स्म। भूष अलंकारे[4] लङ् ॥२२॥ प्रविधायेति। कृतोत्सवाः[5] विहितसभ्रमयुक्ता। ते अमरपतयः देवेन्द्रा। भगवान् स्वामी। अयम् एष। चन्द्रसमरुचि चन्द्रस्य सोमस्य समा समाना रुचि. कान्तिर्यस्य सः, विधुनिभद्युतियुत इत्यर्थः। इति उक्त्वा। एक मुख्यम्। समय संकेत, संज्ञाम् इति भाव। प्रविधाय कृत्वा। अमुम् एनम्। प्रभु जिनेशम्। चन्द्रपूर्वं चन्द्रशब्दपूर्वयुतम्[6]। प्रभुं चन्द्रप्रभम् इत्यर्थ। आह्वयन् आकारयन्ति स्म। ह्वेञ् स्पर्धायां वाचि लङ् ॥२३॥ अथेति। अथ नामकरणानन्तरम्। इतरवासवान्वित इतरै शेषैर्वासवैरिन्द्रैरन्वित सहित। प्रथमकल्पपति प्रथमकल्पस्य सौधर्मकल्पस्य पति प्रभु, सौधर्मेन्द्र इत्यर्थ.। सहजत्रिबोधसहित सहजैर्निसर्गजै त्रिबोधैर्मतिश्रुतावधिरूपै· सहित तम्। तं जिनम्। भक्तित[7] स्वसामर्थ्यात्। स्तोतु स्तवनाय। विरचिताञ्जलि विरचितोऽञ्जलि-

---

भगवान्का अभिषेक किया ॥२०॥ सुन्दर नृत्य, मधुर गान और बाजोंकी आवाजके साथ उनका अभिषेक करके इन्द्रोंने वज्रकी पैनी सुईसे उनके दोनों कानोंका छेदन किया ॥२१॥ तीनों लोकोंके एकमात्र भूषण स्वरूप भगवान् चन्द्रप्रभको देवोंने मणिमय कुण्डल, बाजूबन्द, मुकुट, कडे, करधनी आदि आभूषणोंसे और दिव्य पुष्पों एव वस्त्रोंसे विभूषित किया ॥२२॥ इस प्रकार उत्सव करके इन्द्रोंने, ये भगवान् चन्द्रमाके समान कान्तिसे युक्त हैं, इस आशयको प्रकट करनेवाला सकेत करके उन्हे 'चन्द्रप्रभ' नामसे पुकारा—उनका नाम 'चन्द्रप्रभ' रखा ॥२३॥ इसके उपरान्त अन्य इन्द्रोंके साथ सौधर्म स्वर्गके इन्द्रने हाथ जोडकर अपनी सामर्थ्यके अनुसार, जन्मसे ही तीन ज्ञानोंके धारी भगवान् चन्द्रप्रभकी स्तुति इस प्रकारसे प्रारम्भ की—॥२४॥

---

१. आ द्द °वादित्रैः। २. अ क ख ग घ °ताञ्जलि। ३ = आदौ। ४ श अलकरणे। ५. = कृतो विहित उत्सव उद्यावो यैस्ते। ६. आ °र्वयुक्तम्। ७ आ शक्तित। = (भक्तित -गुणानुरागत)।

सकलावबोधमकलङ्कमनुपममचिन्त्यवैभवम् ।
जन्मरहितमजरामरणं जितमत्सरं जिनमभिष्टुवेऽष्टमम् ॥२५॥
स्तुतिशक्तिरस्ति न ममेश तदपि हितकाङ्क्षया स्तुवे ।
शक्यमिदमिदमशक्यमिति प्रविचारबाह्यमतयो हि कार्यिणः[1] ॥२६॥
हरिविष्टरस्थितमशेषजननयनहारि ते वपुः ।
कान्तिरुचिरमुदयाद्रिशिरोगतमिन्दुमण्डलमिवावभासते ॥२७॥
जिन यः समाश्रयति[2] मार्गमखिलजनवत्सलस्य ते ।
तस्य न भवभयमस्ति पुनः किमु नौश्रितो[3] जलनिधौ निमज्जति ॥२८॥
तव नाथ यश्चरणयुग्ममविचलितभक्ति सेवते ।
तस्य किमु खलु करोति यमो नहि बाधते तुहिनमग्निसेविनम् ॥२९॥

यस्मिन् कर्मणि तत्० । इति वक्ष्यमाणप्रकारेण । प्रचक्रमे प्रारभे[5] । क्रमू पादविक्षेपे लिट् ॥२४॥ सकलेति । सकलावबोध सकलेन सर्वेणावबोधेन युक्तम् । अकलङ्कं निर्मलम् (कलङ्करहितम्) । अनुपमम् उपमातीतम् । अचिन्त्यवैभवम् अचिन्त्य ध्यातुमशक्यं वैभवं[6] यस्य तम् । जन्मरहितं जननरहितम् । जरामरणरहितम् । जितमत्सरं जितमात्सर्यम् । जिनं जिनेशम् । अष्टमं चन्द्रप्रभम् । अभिष्टुवे[7] अभिनौमि । जातिः ॥२५॥ स्तुतीति । ईश स्वामिन् । मम मे । स्तुतिशक्ति स्तुतौ स्तोत्रकरणे शक्ति सामर्थ्यम् । नास्ति । तदपि तथापि । हितकाक्षया हितस्यानन्तसुखस्य इच्छया [काक्षया] वाञ्छया । स्तुवे स्तौमि । ष्टुञ् स्तुतौ लट् । कार्यिणः कार्ययुता । इद कार्यं शक्यमिद कार्यमशक्यम् । इति एवम् । प्रविचारबाह्यमतयो हि प्रविचारात् परीक्षणाद् बाह्या मतिर्येषा ते । अर्थान्तरन्यास ॥२६॥ हरीति । हरिविष्टरस्थितं हरिविष्टरे[8] सिंहासने स्थितम् । अशेषजननयनहारि अशेषाणा सकलाना जनाना नयनाना हारि मनोहरम् । कान्तिरुचिरं कान्त्या लावण्येन रुचिरं सुन्दरम् । ते भवत । वपु शरीरम् । उदयाद्रिशिरोगतम् उदयाद्रेरुदयपर्वतस्य शिरो अग्रभागं गतं यातम् । इन्दुमण्डलमिव इन्दोश्चन्द्रस्य मण्डलमिव बिम्बमिव । अवभासते विभाति[9] । भासृ[10] दीप्तौ लट् । उपमा ॥२७॥ जिनेति । जिन भो जिनेश । अखिलजनवत्सलस्य अखिलाना जनाना वत्सलस्य प्रीतस्य । ते भवत. । मार्गं रत्नत्रयधर्मम् । य पुरुष । समाश्रयति[11] भजते[12] । श्रिञ् सेवाया लट् । तस्य पुरुषस्य । भवभयं भवात् ससाराज्जातं भयम् । नास्ति । नौ श्रित नावं यानपात्र श्रित आरूढ । पुन. पश्चात् । जलनिधौ समुद्रे । निमज्जति [किमु] ? । टुमस्ज्[13] शुद्धौ लट् । अर्थान्तरन्यास. ॥२८॥ तवेति[14] ।

मैं समस्त ज्ञानोसे युक्त, निष्कलक, अनुपम, अचिन्त्य वैभवमय, जन्म, जरा और मरणसे रहित और मात्सर्यपर विजय पानेवाले अष्टम तीर्थंकर चन्द्रप्रभ जिनेन्द्रकी स्तुति करता हूँ ॥२५॥ हे भगवन् ! मुझमे आपकी स्तुति करनेकी शक्ति नही है, तो भी मै अपने हितकी कामनासे आपकी स्तुति कर रहा हूँ । सच तो यह है कि अपने कामको सिद्ध करनेकी चाह रखनेवाले लोगोकी बुद्धि 'यह शक्य है या अशक्य' इसविचारसे निश्चय ही दूर रहती है ॥२६॥ भगवन् ! सिंहासनपर विराजमान, सारे ससारके नेत्रोको हरण करनेवाला, तुम्हारा कान्तिमय सुन्दर शरीर उदयाचलके शिखरपर स्थित चन्द्रमण्डलकी भांति सुशोभित हो रहा है ॥२७॥ हे जिन ! सबके प्रति वात्सल्य भाव रखनेवाले आपके रत्नत्रय मार्गका जो कोई भी आश्रय लेता है, उसे पुनर्जन्मका भय नही रहता । क्या जहाजपर बैठनेवाला समुद्रमे डूबता है ? ॥२८॥ हे नाथ !

---

१. आ काक्षिण । २ आ इ समाश्रयते । ३. म नौस्थितो । ४. अ °लितातिभक्ति । ५ = प्रारेभे । ६ आ °मशक्यो वैभवो° । ७. – [illegible]मि । ८ श 'हरिविष्टरे' इति नास्ति । ९ श विभासि । १० आ भासृन्, श भासृड् । ११. श °श्रयदे : १२. आ भजति । १३. श टुमस्जि । १४. श अस्य श्लोकस्य व्याख्या नास्ति ।

तव दर्शनं जगदधीश विदधदजरामरं जगत् ।
कस्य न कथय रसायनवद्विदुषामभव्यमपहाय रोचते ॥३०॥
सुखमाश्रिताय जिननाथ वितरसि यदिच्छया विना ।
शक्तिरियमनघ ते सहजा किमु विस्रसा श्रमहरं न चन्दनम् ॥३१॥
स कृती कृतार्थमपि तस्य जगति कलयामि जीवितम् ।
यस्य हृदयसरसि स्फुरति प्रतिवासरं जिन तवाङ्घ्रिपङ्कजम् ॥३२॥
सुरपूज्य यः सततमेव वहति हृदयेन नाम ते ।
मन्त्रकुशलमिव शाकिनिकाः प्रभवन्ति न च्छलयितुं तमापदः ॥३३॥

भो नाथ हे स्वामिन् । तव ते । चरण-युग्म चरणयोर्युग्म तयोक्तम् । अविचलितभक्ति अविचलिता निश्चला भक्तिर्गुणानुरागो यस्मिन् कर्मणि यथा भवति तथा । सेवते । सेवृङ् सेवने । तस्य पुरुषस्य । यम काल । खलु[1] निश्चयम् । किं करोति । डुकृञ् करणे । तुहिन हिमम् । अनिलसेविनम् अनिल (अनल-) सेविनम् आश्रययुक्त पुरुषम् । न बाधते[2] हि न बाध्यते हि ॥२९॥ तवेति । जगदधीश जगता लोकानामधीश स्वामिन् । जगत् लोकम् । अजरामर जरामरणरहितम् । विदधत्[3] । तव भवतः । दर्शनं मतम् । विदुषा बुधानाम् । अभव्यम् अभव्यजीवम् । अपहाय विमुच्य । कस्य जीवस्य । रसायनवत्[4] अमृतवत् । न रोचते[5] न प्रीणयति । रुचि अभिप्रीत्याञ्च लट् । उपमा ॥३० । सुखमिति । जिननाथ भो जिनेश । अनघ पापरहित । ते भवत । आश्रिताय[6] सेविताय । इच्छया विना अभिलाषेण विना । सुखम् आनन्दम् । वितरसि ददासि । तॄ[7] प्लवन-तरणयोर्लट् । इति यत् यस्मात् । इयम् एषा । सहजा स्वाभाविका । शक्ति सामर्थ्यम् । चन्दन श्रीगन्ध[8] । विस्रसा स्वभावेन । श्रमहर परिश्रमवारणम् । न किमु न किम् ? किन्तु श्रमहरमेव । अर्थान्तरन्यास ॥३१॥ स इति । जिन भो जिनेश । यस्य पुरुषस्य । हृदयसरसि हृदयमेव सरस्तस्मिन् । तव भवत । अङ्घ्रिपङ्कजम् अङ्घ्रिरेव पाद एव पङ्कज कमलम् । प्रतिवासर प्रतिदिनम् । स्फुरति शोभते । स्फुर स्फुरणे लट् । स पुरुष. । जगति लोके । कृती पुण्यवान् । तस्य पुरुषस्य । जीवितमपि जीवनमपि । कृतार्थं सपूर्णप्रयोजनम् । कलयामि मन्ये । कल सख्याने लट् ॥३२॥ सुरेति । सुरपूज्य सुरैर्देवैः पूज्य आराधनीय, भो देवाराध्य । य पुरुष । ते भवत, । नाम नामधेयम् । सततमेव अनवरतमेव । हृदयेन चित्तेन । वहति धरति । वहि[8] प्रापणे लट् । त पुरुषम् । शाकिनिका दुष्टग्रहा । मन्त्रकुशलमिव मन्त्रेष्वाकर्पणादिमन्त्रेषु कुशलमिव निपुणमिव । आपद·

जो भी स्थिर भक्तिसे आपके चरणोकी सेवा करता है, यमराज (मृत्यु) उसका क्या कर सकता है ? आग तापनेवालेको जाडा नही सता पाता ॥२९॥ हे जगन्नाथ ! सारे ससारको अजर और अमर कर देनेवाला आपका दर्शन रसायनके समान है । वह अभव्यको छोडकर, बताइये और किस विद्वान्को नही रुचता ? ॥३०॥ भगवन् ! आप रागादि कषायोके विजेता हैं, सबके स्वामी हैं और हैं निष्पाप । आपका जो कोई भी आश्रय लेता है, उसे आप सुख देते हैं, वह भले ही उसे (सुखको) पानेके लिए अपनी इच्छाको व्यक्त न करे । यह आपकी स्वाभाविक शक्ति है । क्या चन्दन स्वभावसे ही थकानको दूर करनेवाला नही होता ? ॥३१॥ हे जिन ! वह पुण्यात्मा है और मैं उसके जीवनको इस जगत्मे कृतकृत्य समझता हूँ, जिसके हृदय रूपी सरोवरमे प्रतिदिन आपके चरण-कमल सुशोभित हुआ करते हैं ॥३२॥ भगवन् ! आपको देव लोग भी पूज्य मानते हैं । जो मनुष्य आपके नामका सदा हृदयसे स्मरण करता है, उसे आपदाएँ छल नही सकती—पीडा नही दे सकतीं । जैसे कुशल मान्त्रिकको शाकिनी-डाकिनी नही छल

१. = निश्चयेन । २. = न पीडयति । ३ = कुर्वत् । ४ = जराव्याधिजिदौषधमिव । ५ = न स्वदते । ६ = आश्रयं प्राप्ताय । ७ श तृ । ८. भा वह ।

मतिमातनोति हरतेऽघमुपनयति सर्वसंपदः।
किं तदधिप विदधाति न यद्भवदङ्घ्रिपङ्करुहसेवनं नृणाम् ॥३४॥
सकलोऽप्यपेक्ष्य किमपीश परहितरत. प्रजायते।
न क्वचिदियमुपलब्धचरी तव निर्व्यपेक्षभुवनोपकारिता ॥३५॥
हरयोऽभिषेकमुपगम्य विधदति शची प्रसाधिका।
वारि वहति निवहो द्युसदामपरस्य कस्य महिमा जिनेदृशः ॥३६॥
पशवोऽपि संनिधिमवाप्य तव जिन भवन्ति भाक्तिकाः।
मानुषतनुरपि यस्तु मतिं त्वयि नातनोतु स पशुः पशोरपि ॥३७॥
भयरोगशोकमरणानि भयभव विचित्रवेदनाः।
तावदभव भजते भवभृत्त्वयि यावदस्य हृदयं न लीयते ॥३८॥

विपत्तय.। छलयितु पीडितुम्। न प्रभवन्ति समर्था न भवन्ति। लट्। उपमा ॥३३॥ मतिमिति। अधिप भो स्वामिन्। भवदङ्घ्रिपङ्करुहसेवनं भवतस्तवाङ्घ्री पादावेव पङ्करुहं कमल तस्य सेवनम्। नृणा मनुष्याणाम्। मतिं बुद्धिम्। आतनोति करोति। अघ पापम्। हरते निराकरोति। सर्वसंपद. सर्वसम्पत्ती.। उपनयति संपादयति। यत् कार्यम्। न विदधाति न करोति। तत् कार्यम्। किमस्ति ? नास्तीत्यर्थः ॥३४॥ सकल इति। ईश भो स्वामिन्। सकलोऽपि सर्वोऽपि जन। किमपि। प्रयोजनम्। अपेक्ष्य उद्दिश्य। परहितरतः परेषामन्येषा हिते उपकारे रत: प्रीत.। प्रजायते सभवति। लट्। तव भवत.। इयम् एषा। निर्व्यपेक्षभुवनोपकारिता निर्व्यपेक्षा अपेक्षारहिता भुवनस्य लोकस्योपकारिता उपकारित्वम्। क्वचित् कुत्रापि। नोपलब्धचरी प्रागुपलब्धा न भवति ॥३५॥ हरय इति। जिन भो जिनेश। हरय इन्द्रा। उपगम्य आगत्य। अभिषेकम् अभिषवणम्। विदधति कुर्वन्ति। शची शची देवी। प्रसाधिका अलंकारिता। द्युसदा देवानाम्। निवहः समूह.। वारि क्षीरोदकम्। वहति धरति। अपरस्य अन्यस्य। कस्य। ईदृश एतादृश। महिमा अस्ति, किन्तु नास्तीत्यर्थं अतिशय ॥३६॥ पशव इति। जिन भो जिनेश। पशवोऽपि तिर्यञ्चोऽपि। तव भवत'। सनिधि समीपम्। अवाप्य लब्ध्वा। भाक्तिकाः भक्तियुक्ता। भवन्ति। लट्। यस्तु पुरुषः। मानुषतनुरपि मानुष्या मनुष्यसबन्धिन्या तन्वा शरीरेण युतोऽपि। त्वयि भवति। मतिं भक्तिबुद्धिम्। नातनोति न करोति। लट्। स पुरुष। पशोरपि तिरश्चोऽपि। पशु पशुजाति। आक्षेप ॥३७॥ भयेति। अभव ससाररहित। अस्य ससारिण। हृदय मानसम्। [यावत्] यावत् पर्यन्तम्। त्वयि भवति। न लीयते

सकती ॥३३॥ हे स्वामिन्! आपके चरण-कमलोकी सेवा-शुश्रूषा मानवोकी बुद्धिको विकसित करती है, पापोको दूर करती है, सारी सम्पदाओको समीपमे ला देती है। फिर और क्या है जिसे वह नही करती ? ॥३४॥ हे ईश! सभी लोग किसी-न-किसी स्वार्थसे दूसरोके हितमे प्रवृत्त होते हैं, पर आपकी यह लोकोपकारकी प्रवृत्ति सर्वथा नि स्वार्थ है। वस्तुत ऐसी प्रवृत्ति इस लोकमे अभी तक कही भी नही पाई गयो ॥३५॥ हे जिन! आपके सिवा और किसकी ऐसी महिमा है जिसका अभिषेक स्वय इन्द्र (स्वर्गसे) आकर करें, इन्द्राणी शृगार करे और देवोका वृन्द जल भरकर लावे ? ॥३६॥ हे जिन! समीपमे आकर पशु भी आपके भक्त हो जाते हैं। पर जो मानव-देहको पाकर भी अपनी बुद्धिको आपकी ओर नही लगाता—आपका भक्त नही बनता वह पशुसे भो वढकर पशु है—पशुसे भो गया बीता है ॥३७॥ हे भगवन्! आप भव परम्परासे मुक्त हैं। जिस संसारी जीवका हृदय जब तक आपमे लीन नहीं रहता,

---

१ क ख ग घ म भवभय। २. एष टीकाश्रय. पाठ, प्रतिषु तु 'नृणाम्' इत्यस्ति। ३. श आदिश्य। ४. = प्रसाधिका अलंकर्त्री। ५. श ईदृक्। ६. = सामीप्यम्। ७. = पशुतोऽपि निकृष्ट इत्यर्थः।

नम इत्यपि त्वयि जिनेन्द्र विनिगदितमक्षरद्वयम् ।
पापमखिलमपहन्ति नृणामपरस्तु वाग्विभव एव वाग्मिनाम् ॥३९॥
इति संप्रधार्य भुवनेश भवति विनुतिः प्रबन्धतः[1] ।
सिद्धनुतिकृतफलेन मया न वितन्यते जिन ततो नमोऽस्तु ते ॥४०॥
तमिति प्रणुत्य गुरुभक्तिभरनततनुः पुरंदरः ।
सोत्सवमनयत चन्द्रपुरीं परिवारितः सुरगणेन नृत्यता ॥४१॥
प्रविधाय तत्र पुनरेव मुदितहृदया महोत्सवम् ।
भेजुरमरनिवहाः स्वभुवं विनिवेद्य तं [2]जनकयोर्जिनार्भकम् ॥४२॥

न संबध्यते । लीङ्[3] श्लेषणे कर्मणि लट्[4] । [तावत्] तावत्पर्यन्तम् । भवभृत् ससारी । भयरोग-शोकमरणानि भीतिरोगदु.खमरणानि । भवभवविचित्रवेदना भवे भवे जन्मजन्मान्तरे दुःखानि, भवे ससारे भवा उत्पन्ना विचित्रा बहुविधा वेदना तीव्रपीडा, इति च । भजते श्रयते । भजि[5] सेवाया लट् ॥३८॥ नम इति । जिनेन्द्र जिननाथ । त्वयि भवति । गदित प्रोक्तम् । 'नमः' इति । अक्षरद्वयमपि वर्णद्वयमपि । नृणा जनानाम् । अखिल सकलम् । पाप दुरितम् । अपहन्ति हिनस्ति । हन हिंसागत्यो लट् । अपरस्तु इतरस्तु । वाग्मिना वाक्चतुराणाम् । वाग्विभव एव वाचो वचनस्य विभव एव रचनैव[6] ॥३९॥ इतीति । भुवनेश लोकेश । इति 'नम.' इत्यक्षरद्वयमपि पापमपहरति, इति सप्रधार्य निश्चित्य । भवति त्वयि । विनुति. स्तोत्रम् । सिद्धनुतिकृतफलेन सिद्धया निष्पन्नया नुत्या स्तुत्या कृत विहित फलं प्रयोजन यस्य तेन । मया । प्रबन्धत विस्तरत । न वितन्यते न क्रियते । कर्मणि लट् । जिन भो जिनेन्द्र तत तस्मात् । ते तुभ्यम् । नम नमनम् । अस्तु भूयात् । लोट्[7] ॥४०॥ तमिति । गुरुभक्तिभरनततनु गुर्व्या महत्या भक्त्या गुणानुरागस्य भरेण भारेण नता विनता तनुर्यस्य स । पुरदर देवेन्द्र । 'पुरदरभगदर' इत्यादिना साधु । त चन्द्रप्रभजिनम् । इति एवम् । प्रणुत्य स्तुत्वा । नृत्यता[8] नर्तयता । सुरगणेन सुराणा देवाना गणेन निकायेन । परिवारित परीत । चन्द्रपुरी चन्द्रपुरम् । सोत्सव सभ्रमसहितं यथा तथा । अनयत प्रापयति स्म । णीञ् प्रापणे लङ् ॥४१॥ प्रविधायेति । तत्र चन्द्रपुर्याम् । मुदितहृदया मुदित सतुष्ट हृदय चित्त येषा ते । अमरनिवहा अमराणा निवहा निकाया । पुनरेव पश्चाद्[9] एव । महोत्सव महासभ्रमम् । प्रविधाय कृत्वा । जनकयो मातृपित्र[10] त जिनार्भक जिनबालकम् । विनिवेद्य विज्ञाप्य । स्वभुव स्वेषा

तभी तक वह भय, रोग, शोक, मरण और भवभवकी विविध वेदनाओंको प्राप्त करता है ॥३८॥ हे जिनेन्द्र ! आपके विषयमे श्रद्धासे कहे गये 'नम' ये दो अक्षर भी, कहनेवाले—नमस्कार करनेवाले मनुष्योके सारे पापोंको नष्ट कर देते हैं। और तो वक्ताओंकी वाणीका केवल वैभव ही है ॥३९॥ 'नमस्कार करने मात्रसे समस्त पाप विलीन हो जाते हैं', यह सोचकर मैं पूर्ण-स्तुतिकृत फलके निमित्तसे विस्तारपूर्वक आपकी स्तुति नही कर रहा हूँ। अतः हे जिन, आपको मेरा नमस्कार हो ॥४०॥ इस प्रकार स्तुति करके इन्द्रने अत्यधिक भक्तिसे विभोर होकर चन्द्रप्रभके सामने अपने शरीरको नवा दिया—साष्टाग नमस्कार किया और फिर वह नृत्य करते हुए देववृन्दके साथ चन्द्रप्रभको उत्सवपूर्वक चन्द्रपुरी लिवा ले गया। चन्द्रपुरी जाते समय इन्द्र बीचमे था और सभी नृत्य करनेवाले देव उसके चारो ओर ॥४१॥ चन्द्रपुरीमे, प्रसन्न मन वाले सभी देवोने फिरसे उत्सव मनाया और फिर वे जिन बालकको उनके माता-

१. क ख ग घ म प्रबन्धता । २ म जनक्यो॑ । ३ आ लिट्, श लीङ् । ४. आ लिट् । ५ श भज । ६. =वागाडम्बर एव । ७ श लेट् । ८. = नटता । ९ = अपि । १०. = जननीजनकयो. ।

[1]स्वकराङ्गुलीर्निजमुखेन विबुधपतियोजितामृताः[2] ।
प्रीतिविकसितमुखः स लिहन्न चकार मातृकुचयोरतिस्पृहाम्[3] ॥४३॥
विदधज्जितस्फटिककान्तिरखिलजनलोचनोत्सवम् ।
वृद्धिमभजत जिनाधिपतिः प्रतिपच्छशाङ्क इव सोऽनुवासरम् ॥४४॥
तमरीरमत्सुरकुमारसमितिरभिगम्य सुन्दरम् ।
पौरजनहृदयहृष्टिकरैः करकन्दुकप्रभृतिभिर्विनोदनैः ॥४५॥
प्रकृतिस्फुटं ग्रहगणस्य गमनमिव चापलं शिशोः ।
क्रीडनमकृत पृथग्जनवत्प्रतिबुद्धबुद्धिरपि यज्जिनेश्वरः[5] ॥४६॥

स्वकीयाना भुवम् आवासम् । भेजु आश्रयन्ति स्म । लिट् ॥४२॥ स्वकरेति । विबुधपतय[6] (?) विबुधाना देवाना पतय इन्द्रा. । जितामृता जितममृत सुधा यासा[7] ता. । स्वकराङगुली. स्वस्यात्मन करस्य हस्तस्याङ्गुली करशाखा. । निजमुखेन स्ववदनेन । लिहन् आस्वादयन् । प्रीतिविकसितमुख प्रीत्या संतोषेण विकसितं मुख वदन यस्य स । मातृकुचयो मातुर्जनन्या कुचयो. स्तनयो. । अतिस्पृहाम् अधिकवाञ्छाम् । न चकार न करोति स्म । लिट् । समासोक्ति (?) ॥४३॥ विदधदिति । जितस्फटिककान्ति जिता विजिता स्फटिकस्य कान्ति शोभा यस्य[8] स । अखिलजनलोचनोत्सवम् अखिलाना सकलाना जनाना लोकाना नयनानामुत्सव संतोषम् । विदधत् कुर्वन् । स जिनाधिपति जिनेश्वर । अनुवासरम् अनुदिनम् । प्रतिपच्छशाङ्क इव प्रतिपद्दिनस्य शशाङ्क इव चन्द्र इव । वृद्धि प्रवृद्धिम् । अभजत आश्रयति स्म । लङ् । उपमा ॥४४॥ तमिति । सुरकुमारसमिति सुरकुमाराणा देवकुमाराणा समिति. समूह । सुन्दर मनोहरम् । तं जिनम् । अभिगम्य अभ्युपेत्य । पौरजनहृदयहृष्टिकरैः पौराणा जनाना लोकाना हृदयस्य मानसस्य हृष्टिकरैः संतोषकरैः । करकन्दुकप्रभृतिभि करकन्दुकः[9] प्रभृतिर्येषा तैः । विनोदैः विलासैः । अरीरमत् रमयति स्म । रमि क्रीडाया णिजन्ताल्लङ् । जाति ॥४५॥ प्रकृतीति । शिशो बालकस्य । चापल चञ्चलत्वम् । ग्रहगणस्य ग्रहाणामष्टाशीतिग्रहाणा गणस्य निवहस्य । गमनमिव गतिरिव । प्रकृतिस्फुट प्रकृत्या स्फुट[10] व्यक्तम् जिनेश्वर. जिननाथ । प्रतिबुद्धबुद्धिरपि प्रतिबुद्धा ज्ञाता बुद्धि सम्यग्ज्ञान[11] यस्य स, विदितसम्यग्ज्ञानयुक्तोऽपि । पृथग्जनवत् अज्ञानिजनवत् । यत् कारणात् । क्रीडन विनोदम् । अकृत करोति स्म ।

पिताको सौंपकर अपने-अपने निवास स्थानमे चले गये ॥४२॥ जिन-बालक चन्द्रप्रभ अपने हाथकी अगुलियोको मुखसे चूसा करते थे, जिनमे इन्द्रोने अमृतका लेप कर दिया था । अतएव उन्हे अपनी मांके दूधकी विशेष चाह नही रहती थी, और उनका मुख प्रीतिसे कमलकी भांति विकसित रहता था ॥४३॥ चन्द्रप्रभकी कान्ति स्फटिक मणिकी कान्तिको मात करनेवाली थी । वे लोगोके नेत्रोको आनन्द प्रदान करते थे । वे प्रतिपत्के चन्द्रमाकी भांति प्रतिदिन क्रमसे वृद्धिगत हो रहे थे । शुक्ल पक्षका चन्द्रमा जिस तरह प्रतिदिन वृद्धिगत होता है उसी तरह चन्द्रप्रभ भी वृद्धिगत हो रहे थे ॥४४॥ जिन-बालक अत्यन्त सुन्दर थे । देव कुमार उनके पास आकर उन्हे गेंद आदिसे नाना प्रकारके मनोरञ्जक खेल खिलाते थे, जिन्हे देखकर पुरवासी लोग मन-ही-मन बड़े प्रसन्न होते थे ॥४५॥ ग्रहचक्रका गमन जिस प्रकार स्वभावत स्पष्ट है इसी प्रकार जिनबालक चन्द्रप्रभका चपल स्वभाव भी स्वभावत स्पष्ट है; क्यो कि वे विशिष्ट बुद्धि-

१. अ °कराङ्गुलीं । २. अ °पतयो जितामृताम् । ३ °रपि स्पृहाम् । ४. म °बद्धबु° । ५. अ °रपि तनुर्जिनेश्वर° । ६ एष टीकाधृत पाठ, प्रतिषु तु सर्वास्वपि 'विबुधपतियोजितामृता.' इत्येव वर्तते । ७. = यासु । ८. = येन । ९ आ °कन्दुका । १०. आ 'प्रकृत्या स्फुट' इति नास्ति । ११. श ज्ञाता बुद्धिर्यस्य ज्ञान ।

विचरन्स कुट्टिममहीषु परिजनकराङ्गुलिश्रितः[1] ।
मन्दनिहितचरणो रुरुचे सरसीषु हंस इव भासुरद्युतिः[2] ॥४७॥
शुशुभे करात्करतलानि सकलसुहृदां स संचरन् ।
दीधितिरुचिरवपुर्वणिजामविबुद्धमूल्य इव वारिधेर्मणिः ॥४८॥
[3]मणिमुद्रिकाकटकहारवसनरसनादिभूषणम् ।
तस्य सुरपतिगिरा धनदः प्रजिघाय सर्वमपि शैशवोचितम् ॥४९॥
स कुमारयोग्यजलकेलिगजतुरगरोहणादिभिः ।
कर्मभिरतिशयितान्यजनैरनयत्कियन्तमपि कालमूर्जितः ॥५०॥

लुङ् । उपमा ॥४६॥ विचरन्निति । परिजनकराङ्गुलिश्रित परिजनाना सेवकजनाना कराणां हस्तानामङ्गुलिं श्रितोऽवलम्बित । मन्दनिहितचरण मन्दं[4] मृदु निहितौ निक्षिप्तौ चरणौ यस्य[5] स । भासुरद्युतिः भासुरा देदीप्यमाना द्युति कान्तिर्यस्य स । कुट्टिममहीषु कुट्टिमैं रत्नकुट्टिमैर्निष्पन्नासु महीषु भूमिषु । विचरन् संचरन् । स जिनबाल । सरसीषु सरोवरेषु । हस इव मराल इव । रुरुचे भाति स्म । रुचि दीप्तौ लिट् । उपमा ॥४७॥ शुशुभ इति । सकलसुहृदा सकलाना सर्वेषां सुहृदा मित्राणाम् । करात् हस्तात् । करतलानि हस्ततलानि । सचरन् गच्छन् । दीधितिरुचिरवपु दीधित्या कान्त्या रुचिर चारु वपु शरीर यस्य स । स जिनबालक । वणिजा विशाम् । अविबुद्धमूल्य अविबुद्धमज्ञातं मूल्य[6] विक्रेय यस्य स । वारिधे समुद्रस्य । मणिरिव रत्नमिव । शुशुभे शोभते स्म । शुभि दीप्तौ लिट् । उपमा ॥४८॥ मणीति[7] । मणिमुद्रिकाकटकहारवसनरशनादिभूषण मणिमुद्रिका रत्नाङ्गुलीयकं कटकं हस्तभूषण हारो मौक्तकमाला वसन क्षौम रसना कटिभूषणमेतानि[8] आदीनि प्रभृतीनि यस्य तद् भूषणमलकरणम् । शैशवोचित शैशवस्य बाल्यस्योचित योग्यम् । सर्वमपि सकलमपि । तस्य जिनबालकस्य । धनद कुबेर सुरपतिगिरा सुराणा देवाना पतिरिन्द्र तस्य गिरा वचनेन । प्रजिघाय प्रेषयति स्म । लिट् ॥४९॥ स इति । ऊर्जित[9] प्रसिद्ध[10] । स जिनबालक अतिशयितान्यजनै अतिशयिता[11] अतिशयीकृता. अन्ये इतरे जना लोका यैस्तै । कुमारयोग्यजलकेलिगजतुरगरोहणादिभि कुमारस्य योग्यान्युचितानि जलकेलिर्हर्जलक्रीडा च गजाना करिणा तुरगाणामश्वानामारोहण [रोहणम् आरोहण] च तयोक्तानि तान्यादीनि येषां तै । कर्मभि कृत्यै । कियन्तमपि किं प्रमाणमस्य

से युक्त होकर भी जन-साधारणकी तरह क्रीडा किया करते थे ॥४६॥ जिनबालक चन्द्रप्रभके चेहरेपर अपूर्व दीप्ति थी । जब वे अपने परिवार या सेवकके हाथकी अंगुलीके सहारे फर्शपर धीरे-धीरे पैर जमाकर घूमते थे तब सरोवरमे धीरे-धीरे तैरनेवाले हसको भाँति सुशोभित होते थे ॥४७॥ जिनबालकके शरीरपर कान्तिकी अपूर्व सुषमा थी । वे महासेनके मित्रोंके हाथोमे बारी-बारीसे संचार करते हुए ऐसे सुशोभित हो रहे थे जैसे जगमगाता हुआ समुद्रका रत्न—जिसका मूल्य नही आँका गया हो—जौहरियोंके हाथोमे बारी-बारीसे पहुँचकर शोभित होता है ॥४८॥ इन्द्रकी आज्ञाके अनुसार कुबेर जिनबालकके लिए उनके बाल्यकालमे पहनने योग्य मणिजटित अँगूठियाँ, कडे, हार, करधनी एवं वस्त्र आदि सभी आभूषण भेजा करता था ॥४९॥ जिनबालक बहुत बलवान् थे । उन्होने अपने बचपनके कुछ कालको जडक्रीडा एव हाथी-घोडोकी सवारी आदिमें विताया । उनकी जल-क्रीडा तथा हाथी-घोडोकी सवारी आदि

१. अ आ इ °ली श्रित । २ म वासरद्युति । ३ इ 'मणि' इति नोपलभ्यते । ४ = शनै शनै । ५ = येन । ६. = अर्घ । ७. श एतच्छ्लोकटीका तु मूले नोपलभ्यते तथापि विरच्य लिख्यते । ८ = आदौ यस्मिन् । ९ श ऊजित । १०. = 'बलवान्' इति स्यात् । ११ = अतिक्रान्ता ।

हरिपीठमास्थितवतोऽथ निखिलनिजपार्थिवान्वितः।
तस्य विरचितविवाहविधेरकरोत्पिता नृपतिपट्टबन्धनम् ॥५१॥
प्रशशास पूज्यवचनस्य स पितुरुपरोधतो महीम्।
मुक्तिसुखविनिहितैकमतेर्नहि तस्य कापि विषयाभिलाषिता ॥५२॥
वसुधामवत्यतुलधाम्नि चतुरुदधिवारिमेखलाम्।
तत्र भृशमभिननन्द जनो जनवृद्धिहेतुरुदयो हि तादृशाम् ॥५३॥
न बभूव कस्यचिदकालमरणमखिलेषु जन्तुषु।
जातुचिदपि न जनाकुलतां व्यदधादवृष्टिरतिवृष्टिरेव वा ॥५४॥

कियान्, तम्। काल समयम्। अनयत्[4] प्रापयत्, णीञ् प्रापणे लङ्। जाति ॥५०॥ हरीति। अथ कुमारावस्थानन्तरम्। निखिलपार्थिवान्वित निखिलै सकलैः पार्थिवै राजभिरन्वितो युक्त। पिता जनक। हरिपीठे[5] सिंहासने आस्थितवत आसितस्य। 'शीङ्स्थासोऽधेराधार.' इति आधारे द्वितीया। विरचितविवाहविधे विरचितो विहितो विवाहस्य पाणिग्रहणस्य विधिर्यस्य। तस्य[6] जिनेशस्य। नृपतिपट्टबन्धनं नृपतीना पट्टबन्धनम्। अकरोत् करोति स्म। लङ् ॥५१॥ प्रशशासेति। पूज्यवचनस्य पूज्यमाराध्यं वचनं यस्य तस्य। पितु जनकस्य। उपरोधत[7] प्रार्थनात्। स. चन्द्रनाथ। महीं भूमिम्। प्रशशास पालयति स्म। शासु अनुशिष्टौ लिट्। मुक्तिसुखविनिहितैकमतेर्मुक्तेर्मोक्षस्य सुखे विनिहिता स्थापिता एका मुख्या मतिर्बुद्धिर्यस्य[8] तस्य। तस्य महासेनराजस्य। कापि कीदृश्यपि। विषयाभिलाषिता विषयलोलुपत्वम्। नहि नास्त्येव[9] ॥५२॥ वसुधेति। अतुलधाम्नि अतुलं निरुपम धाम तेजो यस्य तस्मिन्[10]। तत्र चन्द्रप्रभे[11]। चतुरुदधिवारिमेखला चतुर्णामुदधीना समुद्राणा वारि जलं मेखला काञ्चीदाम यस्यास्ताम्। वसुधा भूमिम्। अवति रक्षति सति। जन. प्रजा। भृशम् अत्यन्तम्। अभिननन्द तुतोष। टुनदु समृद्धौ लिट्। तादृशाम्[12] एतादृशा जिनादीनाम्। उदय. अभ्युदय। जनवृद्धिहेतु जनाना लोकाना वृद्धेरैश्वर्यस्य हेतु कारण हि। अर्थान्तरन्यासः ॥५३॥ नेति। अखिलेषु सकलेषु। जन्तुषु प्राणिषु। अकालमरणम् अपमृत्यु, कदलीघात इत्यर्थ। कस्यचिदपि कस्यापि प्राणिन। न बभूव न भवति स्म। अवृष्टि अवर्षणम्। अतिवृष्टिरेव वा अतिवर्षणमेव वा। जातुचिदपि सकृदपि। जनाकुलता जनाना प्रजानामाकुलता[13] पीडनत्वम्। न व्यदधात् नाकरोत्। लङ्। अति-

कामोमे जो विशेषता थी, वह अन्य लोगोमे नही थी ॥५०॥ बाल्यकाल समाप्त होनेपर राजा महासेनने चन्द्रप्रभका विवाह-संस्कार किया, जिसमे उनके पक्षके सभी राजे सम्मिलित हुए थे। इसके पश्चात् उन्हे सिंहासनपर बैठाकर उनके पिताने उनका पट्टबन्धन किया ॥५१॥ पिताके वचनको वे (आगमकी भाँति) पूज्य समझते थे, अत: उनके अनुरोधसे उन्होने (चन्द्रप्रभने) पृथिवीका शासन किया। किन्तु उनका मन मुक्ति सुखकी ओर लगा हुआ था। फलत: उन्हे किसी भी इन्द्रिय-विषयके सुखकी अभिलाषा नही थी ॥५२॥ राजा चन्द्रप्रभका तेज अनुपम था। चारो समुद्रोकी सीमासे घिरी हुई पृथिवीका जब उन्होने शासन किया, तब प्रजाके लोगोको बहुत ही अधिक आनन्द हुआ, और वे खूब ही समृद्ध हुए; क्योकि सच तो यह है कि ऐसे महान् पुरुषोका उदय लोगोके अभ्युदयको बढानेका कारण होता है ॥५३॥ चन्द्रप्रभके शासनकालमे किसी प्राणीका अकाल मरण नही हुआ और न अवृष्टि—सूखा या अतिवृष्टिने भी कभी

१. अ निखिलजन°। २ म °विवाहविधि°। ३. अ °मति ननन्द। ४ = यापयामास। ५ = हरिपीठ सिंहासनम्। ६. श 'तस्य' इति नास्ति। ७. = आग्रहत। ८. = येन। ९ आ क्वापि कुत्रापि। विषयाभिलाषिता विषयेषु पञ्चेन्द्रियगोचरेषु अभिलाषिता प्रीतिस्त्व न भवति हि। समासोक्ति ॥५२॥ १०. श अतितेजस्विचन्द्रप्रभनृपे। ११. श 'चन्द्रप्रभे' इति नास्ति। १२. = हि यत। तादृशाम्। १३. = व्याकुलताम्।

न समीरण. श्रवणभेदिपरुषरवदारुणो ववौ ।
नास्पदमलभत रोगगणः समपादि नातिहिममुष्णमेव वा ॥५५॥
न विबाधनं जनपदस्य समजनि कदाचिदीतिभिः ।
क्रूरमृगसमुदयोऽप्यभवन्न पुरैव[1] हिंसनविषक्तमानसः ॥५६॥
तमुपायनैः समुपगम्य सदसि परचक्रपार्थिवाः ।
द्वाःस्थकथितनिजनामकुलाः शिरसा प्रणेमुरवनीतलस्पृशा[2] ॥५७॥
रजनीमहश्च स विभज्य विबुधनुतबुद्धिरष्टधा ।
कर्मभिरनयत सर्वजगन्नयमार्गदर्शनपरो यथोचितैः ॥५८॥
तमुपेत्य शक्रवचनेन नरपतिसहस्रमभ्यगम् ।
भेजुरमरवनिता विविधै. प्रतिवासरं ललितगीतनर्तनै. ॥५९॥

शय ॥५४। नेति । श्रवणभेदिपरुषरवदारुण श्रवणौ कर्णौ भेदिना विदारिणा परुषेण[3] कठिनेन रवेण ध्वनिना दारुणो भयकर । अनिल[4] वायु । न ववौ न वाति स्म । रोगगण रोगाणा व्याधीना गण समूह । आस्पदं स्थितिम् । नालभत न प्राप्नोति स्म । डुलभिष् प्राप्तौ लङ् । अतिहिमम् अतिशीतम् । उष्णमेव वा । न समपादि न समुत्पद्यते स्म । पदि गतौ लुङ् ॥५५॥ नेति । जनपदस्य देशस्य । ईतिभि अतिवृष्ट्यादिभि । कदाचित् एकदापि । विबाधन पीडा । न समजनि न जन्यते स्म । कर्मणि लुङ् । पुरैव प्रागेव । हिंसनविषक्त॰ मानस हिंसने हिंसाया विषक्त मानस यस्य स । क्रूरमृगसमुदयोऽपि क्रूराणा मृगाणा समुदयः समूहोऽपि । नाभवत् नाभूत् । लुङ् । ॥५६॥ तमिति । परचक्रपार्थिवा परचक्रस्य परराष्ट्रस्य पार्थिवा भूमिपा । उपायनैः उपग्राह्यै सह । समुपगम्य समागत्य । द्वास्थकथितनिजनामकुला द्वास्थैर्द्वारपालकै कथितानि निजनामानि कुलानि येषा ते । त चन्द्रप्रभम् । अवनीतलस्पृशा अवनीतल भूतल स्पृशतीत्यवनीतलस्पृक् तेन । शिरसा मस्तकेन । प्रणेमु नमन्ति स्म । णम प्रह्वत्वे शब्दे लिट् ॥५७॥ रजनीमिति । विबुधनुतबुद्धिः विबुधैरमरैर्नुता स्तुता बुद्धिर्यस्य स । नयमार्गदर्शनपर नयस्य नीतेर्मार्गस्य शास्त्रस्य दर्शने प्रकाशने परः तत्पर । स जिनेश । रजनी रात्रिम् । अहश्च दिन च । अष्टधा अष्टभि प्रकारै । विभज्य भागं कृत्वा । सर्वजगत् सर्वलोकम् । यथोचितै यथायोग्यै । कर्मभि कृत्यै । अनयत यापयति स्म । णीञ् प्रापणे लङ् ॥५८॥ तमिति । अमरवनिता अमराणा सुराणा वनिता रमण्य' । शक्रवचनेन

प्रजाके किसी मनुष्यको आकुलता उत्पन्न की ॥५४॥ कानोको फोड देनेवाली कठोर आवाजसे दारुण प्रतीत होनेवाली आँधी नही चली, रोगोने स्थान नही पाया (क्योंकि कोई रोगी ही नहीं था) और न कभी अधिक सर्दी या गर्मी ही पडी ॥५५॥ छह ईतियोसे जनपदको कभी कोई पीडा नही हुई तथा क्रूर पशुओंके झुण्डने भी अपने मनसे हिंसाकी पुरातन आसक्ति दूर कर दी ॥५६॥ अन्य राष्ट्रोके राजे-महाराजे अनेक प्रकारके उपहार लेकर, चन्द्रप्रभकी सभामे द्वार-पालोके द्वारा अपने नाम और कुलका परिचय भिजवाकर एव प्रवेशकी अनुमति लेकर पहुँचते रहे और भूतलपर सिर नवाकर उन्हे प्रणाम करते रहे ॥५७॥ क्या देव और क्या विद्वान् सभी चन्द्रप्रभकी वृद्धिकी प्रशसा करते थे। वे जगत्को नीति मार्ग दिखलानेमे तत्पर रहते थे। उन्होने रात और दिनके समयको आठ भागोमे विभक्त कर दिया था, तथा यथायोग्य कार्योंमे संलग्न रहकर वे उस (समय) का सदुपयोग किया करते थे ॥५८॥ इन्द्रकी आज्ञासे देवाङ्गनाएँ

---

१ म पुरे च । २. अ तलम्पृशा । ३. = कठोरेण । ४. मूले 'समीरण' पद वर्तते न तु 'अनिल.' इति ।

कमलप्रभाप्रभृतिदिव्यनिजयुवतिवृन्दवेष्टितः ।
भोगसुखमिति यथाभिमतं चिरमन्वभूत्स जगदेकनायकः ॥६०॥
अपरेद्युरुन्नमितबाहुरधिकजरया निपीडितः ।
तस्य सदसि समुपेत्य शनैः श्रितयष्टिरित्यकृत कोऽपि पूत्कृतिम् ॥६१॥
सुरवृन्दवन्द्य करुणार्द्र शरणगतलोकवत्सल ।
त्रातरखिलजगतां कृपणं भयभीतमस्तभय रक्ष रक्ष माम् ॥६२॥
कथितो निमित्तिपुरुषेण रजनिसमये समेत्य माम् ।
मृत्युरविहतगतिप्रसरस्तव पश्यतोऽद्य जगदीश नेष्यति ॥६३॥

शक्रस्य देवन्द्रस्य वचनेन आज्ञया । [2]सुरपतिसहस्रमध्यग सुराणामिन्द्राणा सहस्रस्य मध्यग मध्य गतम् । त चन्द्रप्रभम् । विविधैः नानाविधै । ललितगीतनर्तनै' ललितैर्मनोहरैर्गीतैर्नर्तनैर्नृत्यैश्च । प्रतिवासर प्रतिदिनम् । भेजु' सिषेविरे । लिट् ॥५९॥ कमलेति । कमलप्रभाप्रभृतिनिजयुवतिवृन्दवेष्टितः कमलप्रभा卐 कमल[प्रभा]देवी, सा प्रभृतिर्मुख्या यासा तासा कमलप्रभाप्रभृतीना दिव्याना मनोहराणा निजस्य स्वस्य युवतीना वनिताना वृन्देन निवहेन वेष्टित. परिवृत । जगदेकनायक. जगता भुवनानामेको मुख्यो नायक स्वामी। सः चन्द्रप्रभ. [3]卐। यथाभिमतम् अभिमतमनतिक्रम्य, वाञ्छामनतिक्रम्येत्यर्थ' । भोगसुख भोगाना विषयाणा सुखम् । इति एवम् । चिरं बहुकालपर्यन्तम् । अन्वभूत् अन्वभवत् । लुङ् । अविशय. ॥६०॥ अपरेद्युरिति । अपरेद्यु.[4] अन्यस्मिन्[5] दिने । 'पूर्वापर—' इत्यादिना एद्युस्-प्रत्ययः । उन्नमितबाहुः उन्नमितौ उद्धृतौ[6] बाहू भुजौ यस्य[7] स. । अधिकजरया अधिकया प्रवृद्धया जरया वार्धक्येन । निपीडितः बाधितः । श्रितयष्टिः आश्रिताधारयष्टि. । तस्य चन्द्रप्रभस्य । सदसि सभायाम् । शनै मन्दम् । समुपेत्य आगत्य । कोऽपि पुरुषः । इति वक्ष्यमाणप्रकारेण । फूत्कृतिं[8] फूत्कारम् । अकृत अकरोत् । लुङ् । जातिः ॥६१॥ सुरेति । सुरवृन्दवन्द्य सुराणाममराणा वृन्देन निकायेन वन्द्य वन्दनीय, भो सुरनिकायपूज्य । करुणार्द्र करुणया कृपया आर्द्र मृदुल । शरणगतलोकवत्सल शरणगतस्य शरणागतस्य लोकस्य जनस्य वत्सल पालक । अखिलजगता निखिललोकानाम् । त्रात रक्षक । अस्तभय अस्त निरस्त भय यस्य[9] तस्य सबोधनम्[10] । कृपण दीनम् । भयभीत भयै. सप्तभयैर्भीत विभीषितम्[11] । माम् । रक्ष रक्ष पालय पालय । रक्ष पालने लोट्[12] । वीप्सायां द्वि. । जाति. ॥६२॥ कथित इति । जगदीश भो जगता लोकानाम् ईश स्वामिन् । अविहतगतिप्रसर' अविहतो बाधारहितो गत्या गमनस्य

हजारो राजो-महाराजोके बीचमे बैठे हुए चन्द्रप्रभके पास जाकर नाना प्रकारके सुन्दर गीतो और नृत्योसे प्रतिदिन उनकी सेवा किया करती थी ॥५९॥ चन्द्रप्रभ सारे जगत्के एकमात्र नायक थे । कमलप्रभा आदि अपनी सुन्दर यौवनवती नायिकाओके वर्गके बीचमे रहकर उन्होने इस प्रकार चिरकाल तक यथेच्छ भोग भोगे ॥६०॥ एक दिनकी बात है । एक पुरुष, जो अत्यधिक वृद्ध था, तथा वृद्धावस्थाके कारण अत्यन्त पीडित था, लाठी टेकता हुआ धीरे-धीरे चन्द्रप्रभकी सभामे पहुँचा, और वहांपर वह अपने दोनो बाहुओको ऊपर उठाकर दुःखभरे शब्दोमे यो चिल्लाने लगा—॥६१॥ भगवन् ! आप देववृन्दके द्वारा वन्दनीय हैं, आपका हृदय दयासे आर्द्र है, आप शरणागतवत्सल हैं, आप जगत्के समस्त प्राणियोके रक्षक हैं और हैं समस्त भयोसे मुक्त, और मै दीन और भयभीत हूँ, अत' मेरी रक्षा कीजिए, मुझे बचाइए ॥६२॥ हे जगदीश एक मिमित्त ज्ञानी पुरुषने समीपमे आकर मुझसे कहा है कि आज रात्रिके समय मृत्यु—

१. श आज्ञावचनेन । २. मूले नरपति' पद वर्तते, अतो नरपतीना नरेन्द्राणा सहस्रस्य मध्य गच्छतीति मध्यग , तम्—इति तद्व्याख्या भवेत् । ३ श स्वस्तिकान्तर्गत पाठो नोपलभ्यते । ४. श 'अपरेद्यु' इति नास्ति । ५ श अपरस्मिन् । ६. श उद्धतौ । ७. = येन । ८ एष टीकाश्रय पाठ, प्रतिषु तु 'पूत्कृतिम्' इति समवलोक्यते । ९ = येन । १० = तत्सबुद्धौ हे अस्तभय । ११. श निभीषितम् । १२. श लेट् ।

क्षमसे ततो यदि न पातुमसि जिन वृथान्तकान्तकः।
वाचमिति समभिधाय सुरः सहसा तिरोहितवपुर्बभूव सः ॥६४॥
वद देव कोऽयमिति सभ्यजनवचनमारुतेरितः।
दृष्टनिखिलभुवनोऽवधिना भगवान्हसन्निति जगाद कारणम् ॥६५॥
मम कर्तुमेष विषयेषु विरतिममराधिपाज्ञया।
धर्मरुचिरिति सुरस्त्रिदिवात्समुपाययौ विकृतवृद्धविग्रहः ॥६६॥
विनिवेद्य सभ्यनिवहस्य कृतपरमविस्मयस्य तत्।
भोगविरतहृदय स भवस्थितिमित्यचिन्तयदचिन्त्यचेष्टितः ॥६७॥

प्रसरो विसरो यस्य सः। मृत्युः यम.। अद्य इदानीम्। रजनि[3]समये रात्रिकाले। समेत्य आगत्य। पश्यत' वीक्षमाणस्य। तव भवत। पश्यन्तं त्वामनादृत्येति यावत्। मा नेष्यति[4] प्रापयिष्यति[5]। णीञ् प्रापणे लृट्। निमित्तपुरुषेण आदेशपुरुषेण। कथित. प्रोक्तोऽहम्। आक्षेप (?) ॥६३॥ क्षमस इति। जिन भो जिनेश। तत तस्माद् यमात्। यदि पातुं मा रक्षितुम्। न क्षमसे न समर्थोऽसि। वृथा[6] मुधा। अन्तकान्तक अन्तकस्य यमस्यान्तको यमः। असि भवसि। अस भुवि लट्। स सुर. देव। इति एवम्। वाच वचनम्। समभिधाय सम्यगुक्त्वा। सहसा शीघ्रम्। तिरोहितवपु तिरोहित व्यवहित वपु शरीर यस्य स। बभूव भवति स्म। आक्षेप' (?) ॥६४॥ वदेति[7]। भो देव। अय क किमभिधान। वद ब्रूहि। इति एवम्। सभ्यजनवचनमारुतेरित सभ्यजनस्य सभ्यलोकस्य वचनमारुतेन भाषणवायुना ईरित प्रेरित। अवधिना अवधिज्ञानेन। दृष्टनिखिलभुवनः दृष्टं ज्ञात निखिल सकल भुवन जगद् येन स.। भगवान् स्वामी चन्द्रप्रभ। हसन् प्रहसन्। इति वक्ष्यमाणप्रकारेण। कारण हेतुम्। जगाद ऊचे। लिट् ॥६५॥ ममेति। विकृतवृद्धविग्रह विकृतो निर्मितो वृद्धस्य स्थविरस्य विग्रहो देहो यस्य[8] स। धर्मरुचिरिति धर्मरुचिनामधेय। एष अयम्। सुर. देवः। अमराधिपाज्ञया अमराधिपस्य देवेन्द्रस्याज्ञयानुज्ञया। मम मे। विषयेषु पञ्चेन्द्रियविषयेषु। विरतिं विरागम्। कर्तुं विधातुम्। त्रिदिवात् स्वर्गात्। समुपाययौ समागच्छत्। या प्रापणे लिट् ।६६। विनिवेद्येति। कृतपरमविस्मयस्य कृतो विहित. परम उत्कृष्टो विस्मयो यस्य[9] तस्य। सभ्यनिवहस्य सभ्याना[10] सामाजिकाना निवहस्य निकरस्य। तत् तदागमनम्। विनिवेद्य ज्ञापयित्वा। भोगविरतहृदय. भोगेषु विषयेषु[11] विरत विरक्त हृदय चित्त यस्य स.। अचिन्त्यचेष्टित अचिन्त्य चेष्टितं व्यापृत यस्य स। स. चन्द्रप्रभ।

जिसे कोई टाल नही सकता—आप (चन्द्रप्रभ) के देखते उठा ले जायगा ॥६३॥ हे जिन! यदि आप उससे मुझे नही बचा सकते तो आप व्यर्थ ही अन्तकके अन्तक अर्थात् अन्तकारि या मृत्युजय कहे जाते हैं। ये वचन कहकर वह देव शीघ्र ही अन्तर्धान हो गया—दृष्टिसे ओझल हो गया ॥६४॥ जिनदेव! यह कौन था? बताइए, इस तरह सभासदोके वचनका रुख देखकर और उससे प्रेरणा पाकर भगवान् चन्द्रप्रभ—जो अवधिज्ञानसे सारे संसारको जानते थे—हसते हुए, उसके आनेके कारणका यो निरूपण करने लगे—॥६५॥ यह देव था। इसका नाम धर्मरुचि था। यह विक्रियाके बलसे बुड्ढेका रूप धारण करके, इन्द्रकी आज्ञा पाकर मुझे पचेन्द्रियोके विषयसे विरक्त करनेके लिए स्वर्गसे यहाँ आया था ॥६६॥ सभी सभासदोसे भगवान् चन्द्रप्रभने जब उसके बारेमे यों निवेदन किया, तो उन्हे बडा आश्चर्य हुआ। इसके पश्चात् चन्द्रप्रभका—जिनकी चेष्टाएँ अचिन्त्य थी—हृदय भोगोसे विरक्त हो गया। फलत वे जगत्-

१ आ इ सुर.। २ आ इ ताम्, म तम्। ३ श रजनी°। ४ आ श नेष्यते। ५ = जन्मान्तरमिति शेष। ६ = तद् वृथा। ७ आ अस्य श्लोकस्य व्याख्या नोपलभ्यते। ८ = येन। ९ = येन। १०. आ समानिवहस्य समाना। ११ = भोगेभ्यो विषयेभ्य.।

धनयौवनप्रभृति सर्वमनुगतमिदं शरीरिणाम् ।
न क्षणमपि भवति स्थितिमन्निजपूर्वजन्मकृतपुण्यसंक्षये ॥६८॥
विषयेषु शत्रुसदृशेषु विविधपरितापहेतुषु ।
सक्तिमविरतमतिः कुरुते हतबुद्धिरेव न तु बोधभासुरः ॥६९॥
विविधासु योनिषु वपूंषि विविधरचनानि धारयन् ।
इन्द्रियसुखलवलुब्धमतिर्नटवत्प्रयाति तनुमान्विडम्बनाम् ॥७०॥
वपुरादधत्प्रविजहच्च विविधमिह यैर्विडम्बितः[1] ।
कर्मभिरहमधुना तपसा क्षपयामि[2] तानि निखिलानि मूलतः ॥७१॥

भवस्थिति भवस्य संसारस्य स्थितिम् । इति वक्ष्यमाणप्रकारेण । अचिन्तयत् चिन्तयति स्म ॥६७॥ धनेति । शरीरिणा संसारिणाम् । अनुगतम् अनुयातम् । धनयौवनप्रभृति धन द्रव्यं यौवनं[3] प्रभृति मुख्यं यस्य[4] तत् । इदम् एतत् । सर्वं समस्तम् । निजपूर्वजन्मकृतपुण्यसंक्षये निजस्य स्वस्य पूर्वस्मिन् जन्मनि कृतस्य विहितस्य पुण्यस्य शुभकर्मण संक्षये नाशे । क्षणमपि अल्पकालपर्यन्तमपि । 'कालाध्वनोर्व्याप्तौ' इति द्वितीया । स्थितिमत् स्थितियुक्तम्[5] । न भवति । लट् । ६८॥ विषयेष्विति । विविधपरितापहेतुषु विविधाना नानाप्रकाराणा परितापानां हेतुषु कारणेषु । शत्रुसदृशेषु शत्रूणा सदृशेषु समानेषु[6] । विषयेषु पञ्चेन्द्रियविषयेषु । अविरतमति अविरता वैराग्यरहिता मतिर्बुद्धिर्यस्य स । हतबुद्धिरि(रे)व सम्यग्ज्ञानशून्य इ(ए)व । सक्तिम् आसक्तिम् । कुरुते करोति । लट् । (न तु) बोधभासुर बोधेन ज्ञानेन भासुरो भासमानः । न तु भवति[7] । उपमा ॥६९॥ विविधास्विति । विविधासु नानाप्रकारासु । योनिषु[8] जन्मसु । विविधरचनानि नानारचनानि सनिवेशसहितानि । वपूंषि शरीराणि । नटवत् नर्तकवत् । धारयन् । इन्द्रियसुखलवलुब्धमतिः इन्द्रियेभ्यः पञ्चेन्द्रियेभ्यो जातस्य सुखस्य लवे[9] स्तोके लुब्धा सक्ता मतिर्बुद्धिर्यस्य स. । तनुमान् संसारिजीव । विडम्बना तिरस्कारं हास्य वा प्रयाति । लट् ॥७०॥ वपुरिति । इह संसारे । विविधं नानाविधम् । वपु. शरीरम् । आददत्[10] स्वीकुर्वन् । प्रविजहत् च त्यजन् । अहम् । यैः कर्मभि. शुभाशुभरूपैः । विडम्बितः तिरस्कृत. । अधुना इदानीम् । निखिलानि सकलानि । तानि कर्माणि । मूलत निःशेषतः । तपसा बाह्याभ्यन्तररूपेण । क्षपयामि

की स्थितिके बारेमे यो सोचने लगे—॥६७॥ संसारी जीवोंको जो ये धन और यौवन आदि सारी वस्तुएँ प्राप्त हैं, वे उनके अपने पूर्वजन्मके पुण्यके नष्ट होते ही नष्ट हो जाती हैं, फिर वे एक क्षण भी नहीं रह सकती ॥६८॥ इन्द्रियोंके विषय शत्रु सरीखे हैं और वे शत्रुओंके समान नाना प्रकारके सन्तापके कारण हैं। इनमे बुद्धिहीन संसारी ही—जिसकी बुद्धिमे कभी विषयसे विरक्तिका विचार भी नही उत्पन्न होता—आसक्त होता है, न कि सम्यग्ज्ञानी ॥६९॥ नाना योनियोमे तरह-तरहके शरीर धारण करके और जरासे इन्द्रियसुखके लोभमे फँसकर यह संसारी जीव नटकी भाँति विडम्बनाको प्राप्त करता है। परिहास या तिरस्कारका पात्र बनता है ॥७०॥ नाना प्रकारके शरीरको धारण करते और छोड़ते हुए मुझे जिन शुभ और अशुभ कर्मोंने तिरस्कृत किया है, उन सबको मैं अब तपस्याके द्वारा मूलसे नष्ट कर डालूँगा ॥७१॥ भगवान्

१ अ विखण्डितः, म विवञ्चित' । २. म क्षिपयामि । ३. = तारुण्यम् । ४. = यस्मिन् । ५. = स्थिरमित्यर्थ । ६. आं समानेषु सदृशेषु । ७. = न कुरुते । ८ = उत्पत्तिस्थानेनु । ९. = लेशे । १०. एष टीकाश्रय पाठ., प्रतिषु तु 'आदधत्' वर्तते ।

इति चिन्तनाकुलमुपेत्य सदसि जगदन्तिकामराः ।
चिन्तितमखिलहितं भवता जिन साधु साध्विति तमभ्यनन्दयन् ॥७२॥
विमलाभिधानशिबिकास्थममरपतिरेत्य सामरः ।
प्रापयदथ[1] सकलर्तुवनं तमुरूत्सवेन कृतदुन्दुभिध्वनिः ॥७३॥
प्रवितीर्य राज्यमवदातचरितवरचन्द्रसूनवे ।
षष्ठयुगभिहितसिद्धनुतिः स तपोऽग्रहीद्दशशतैर्महीभुजाम् ॥७४॥
मणिभाजने समधिरोप्य विबुधपतिरात्मभक्तितः ।
क्षीरजलनिधिजले निदधे[2] दृढपञ्चमुष्टिभिरपाकृतान्कचान् ॥७५॥

नाशयामि । क्षप हिंसाया लट् ॥७१॥ इतीति । इति उक्तप्रकारेण । चिन्तनाकुल चिन्तनया वैराग्ययुतचित्तव्यापारेणाकुल युक्तम् । जगदन्तिकामरा जगदन्तिका लौकान्तिका अमरा देवा । सदसि सभायाम् । उपेत्य आगत्य । जिन भो जिननाथ । भवता त्वया । अखिलहितम् अखिलेभ्यो हितमुपकारम्[3] (र.) । चिन्तित विचारितम् । साधु साधु सम्यक् सम्यक् । 'वीप्सायाम्' इति द्वि । इति एवम् । त जिनेशम् । अभ्यनन्दन् स्तुवन्ति स्म । टुनदु समृद्धौ लङ् ॥७२॥ विमलेति । अथ लौकान्तिकप्रतिबोधनानन्तरम् । सामर देवैं सहित । अमरपति. देवेन्द्रः । एत्य आगत्य । विमलाभिधानशिबिकास्थ 'विमला' इत्यभिधान यस्यास्तस्या शिबिकाया तिष्ठतीति तथोक्तम् । त चन्द्रप्रभम् । कृतदुन्दुभिध्वनि कृतो विहितो दुन्दुभीना देवपटहाना ध्वनिर्यस्मिन् कर्मणि तत्० । उरूत्सवेन[4] महासतोषेण । सकलर्तुवन सकलर्तुकाख्योद्यानम् । प्रापयत् नयति स्म । लङ्[5] ॥७३॥ प्रवितीर्येति । अवदातचरितवरचन्द्रसूनवे अवदातेन निर्मलेन चरितेन चारित्रेण युताय वरचन्द्रसूनवे वरचन्द्राख्यसूनवे पुत्राय । राज्य प्रभुत्वम् । प्रवितीर्य दत्वा । षष्ठयुक् षष्ठेन उपवासद्वयेन युक् युत । अभिहितसिद्धनुति अभिहितोच्चरिता सिद्धस्य नुति स्तोत्र यस्य[6] स । चन्द्रप्रभः । महीभुजा भूपतीना दशशतं सहस्रेण सह । तप बाह्याभ्यन्तररूपम् । अग्रहीत् गृह्णाति स्म । ग्रहि उपादाने लुङ् ॥७४॥ मणीति । विबुधपति विबुधानां पतिरिन्द्र । दृढपञ्चमुष्टिभि दृढाभि पञ्चभिर्मुष्टिभि. । अपाकृतान् उत्पाटितान्[7] । कचान् केशान् । आत्मभक्तित आत्मन स्वस्य भक्तितो गुणानुरागात्[8] । मणिभाजने रत्नमयपात्रे । समधिरोप्य निक्षिप्य । क्षीरजलनिधिजले क्षीरजलनिधे पञ्चमाब्धेर्जले सलिले । निदधे स्थापयति स्म । लिट्

चन्द्रप्रभ इस प्रकारसे चिन्तन करनेमे व्यग्र थे, इतनेमे ही लौकान्तिक देवोने सभामे उनके निकट जाकर और यह कहकर कि 'हे जिन ! आपने सभीके हितके लिए जो विचार किया है वह सुन्दर है, अति सुन्दर है (साधु, साधु), उनका अभिनन्दन किया ॥७२॥ इसके उपरान्त देवोंके साथ इन्द्र आ पहुँचा । उसने चन्द्रप्रभ भगवान्को 'विमला' नामकी शिविका (पालकी) मे बिठाकर दुन्दुभि बाजोकी ध्वनिके साथ बडे उत्सवसे 'सकलर्तु' नामक वनमे पहुँचा दिया ॥७३॥ वहाँपर अपने निर्मलचरित वरचन्द्र नामक पुत्रको राज्य देकर, दो उपवासोका नियम लेकर और सिद्धपरमेष्ठीको नमन करके उन्होने एक हजार मुनियोंके साथ तप करना स्वीकार किया ॥७४॥ इस अवसरपर भगवान् चन्द्रप्रभने पाँच दृढ मुष्टियोमे जिन केशोका लुञ्चन किया, उन्हे इन्द्रने अन्तरङ्गभक्तिसे मणिमय भाजनमे रखकर क्षीर समुद्रमे प्रवाहित कर दिया ॥७५॥ फिर इन्द्र आदि सभी देवोने वहाँपर दीक्षा कल्याणकका महान् उत्सव मनाया, जिसकी सुन्दरता-

---

१ म प्रापदय । २ आ इ निधने । ३ = कल्याणम् । ४ = महोद्यावेन । उद्याव उत्सव । ५ आ लुङ् । ६ = येन । ७ आ उत्पूजितान् । ८ श गुणानुरागेण ।

प्रविधाय तत्र पटुवाद्यनिनदरमणीयमुत्सवम्[1] ।
क्षोभितसकलमहीवलयं प्रययुः पुनः सुरगणा यथायथम् ॥७६॥
अथ सोमदत्तनृवरस्य[2] नलिनपुरपालिनो गृहे ।
पञ्च वसुनिपतनप्रभृतीन्यकृताद्भुतानि स गृहीतपारणः ॥७७॥
प्रशमादिभिः स चतुरोऽपि चतुरमतिरूर्जितैर्गुणैः[6] ।
नाशमनयत कषायरिपून्विहरंस्तपस्विजनयोग्यधामसु ॥७८॥
न परीषहास्तमसहन्त धृतिकवचिनं प्रबाधितुम् ।
क्षुत्तृडवनिशयनप्रमुखा युधि संवृताङ्गमिव शत्रुपत्रिणः ॥७९॥

॥७५॥ प्रविधायेति । तत्र परिनिष्क्रमणकल्याणे । पटुवाद्यनिनदरमणीय पटूना गभीराणा वाद्याना निनदेन रवेण रमणीय मनोहरम् । क्षोभितसकलमहीवलय क्षोभित व्याप्त सकल महीवलय भूमण्डल येन तम् । उत्सव सभ्रमम् । प्रविधाय कृत्वा । सुरगणा. सुराणा देवाना गणा निवहा । यथा तथा [यथायथ[3]] । स्वर्गम् । प्रययु प्रजग्मु । अतिशय ॥७६॥ अथेति । अथ देवगमनानन्तरम् । नलिनपुरपालिन नलिनाख्य-पुररक्षकस्य । सोमदत्तनृपवरस्य (सोमदत्तनृवरस्य) सोमदत्तस्य सोमदत्ताख्यस्य नृप (नृ) वरस्य नरपस्य । गृहे सदने । गृहीतपारण.[4] स्वीकृतपारणायुत । स चन्द्रप्रभमुनिः । वसुनिपतनप्रभृतीनि वसूना रत्नानां निपतन प्रभृतिर्येषा तानि । पञ्च पञ्चसख्यानि । अद्भुतानि आश्चर्याणि । अकृत करोति स्म । लङ्[5] ॥७७॥ प्रशमादिभिरिति । चतुरमति मन पर्ययज्ञानी । स. चन्द्रप्रभमुनि । तपस्विजनयोग्यधामसु तपस्विजनाना मुनिजनाना योग्येषु उचितेषु धामसु स्थानेषु । विहरन् सचरन् । ऊर्जितै समर्थै[6] । प्रशमादिभि प्रशम उत्तमक्षमा[7] आदिर्येषा तै । गुणै । चतुरोऽपि प्रौढोऽपि । कषायरिपून् कषायशत्रून् । नाश विनाशम् । अनयत प्रापयति स्म । णीञ् प्रापणे लङ् ॥७८॥ नेति । क्षुत्तृडवनिशयनप्रमुखा क्षुत् बुभुक्षा तृट् पिपासा अवनिशयन क्षुच्च तृट् च अवनिशयन च तानि प्रमुखानि मुख्यानि येषा ते । परीषहा[8] । धृतिकवचिन धृतिरेव धैर्यमेव[9] कवचिन कवचयुतम् । त चन्द्रप्रभम् । शत्रुपत्रिण. शत्रुणा प्रयोजिता पत्रिणो बाणा. । 'पत्रिणौ शरपक्षिणौ' इत्यमर । युधि सग्रामे । सवृताङ्गमिव सवृत कवचितमङ्ग शरीर यस्य तमिव । प्रबाधितुं

मे सुन्दर बाजोकी ध्वनिने चार चाँद लगा दिये, और जिसने सारे भूमण्डलको प्रभावित कर दिया । इसके बाद वे देव लोग अपने-अपने स्थानमे चले गये ॥७६॥ उपवास समाप्त होने-पर भगवान्ने नलिनपुरके पालन करनेवाले राजा सोमदत्तके घर पारणा की, जिससे उसके यहाँ रत्नवृष्टि आदि पाँच आश्चर्य प्रकट हुए ॥७७॥ यो भगवान् चन्द्रप्रभ स्वभावत चतुर थे फिर भी उन्हे चतुर्थ ज्ञान–मन पर्यय और प्राप्त हो गया । उन्होने क्षमा, मार्दव, आर्जव और शौच इन समृद्ध गुणोसे क्रोध, मान, माया और लोभ इन अभ्यन्तर शत्रुओको नष्ट कर दिया । वे साधुओके योग्य स्थानोंमें विहार किया करते थे ॥७८॥ उन्होने धैर्यरूपी कवच धारण कर लिया था, इसलिए भूख, प्यास और भूमिशयन आदि परीषहे उन्हे बाधा नही पहुँचा सकी । जैसे युद्धमे जो कवच पहने रहता है, उसे शत्रुओके बाण बाधा नही पहुँचा सकते ॥७९॥ आगमोक्त

१. आ इ °निनाद° । २ अ °नृपवरस्य । ३. =यथायोग्यम् । ४ =स्वीकृतपारण । ५. श लुङ् । ६. श 'समर्थ' इति नास्ति । ७. श 'क्षमा' इति नास्ति । ८. =वेदनाविशेषाः । ९ =कवच यस्य तम्, अविपोरमिति यावत् ।

अपरापरैः स समुपेत्य समयगततत्त्वगोचरम् ।
संशयमलमपहस्तयितुं प्रतिवासरं मुनिजनैरसेव्यत ॥८०॥
प्रकृतीर्नयंस्तनुतरत्वमतनुतपसा स कर्मणाम् ।
तत्र पुनरपि जगाम वने समपादि यत्र निजमेव दीक्षणम् ॥८१॥
मुनिभिः स्थितः सह समेत्य तलभुवि स नागशाखिनः ।
ध्यानमतुलमवलम्ब्य सितं हतघातिकर्मरिपुराप केवलम् ॥८२॥
तस्मिन्काले सह परिजनैर्यक्षराजेन गत्वा शक्रादेशात्समवसरणं निर्ममे तस्य भर्तुः ।
जैनादाद्यात्समवसरणाद्योजनार्धार्धहान्या सार्धान्यष्टौ यदनुगदितं योजनान्यागमज्ञैः ॥८३॥

पीडितुम् । नासहन्त समर्था न भवन्ति स्म । उपमा ॥७९॥ अपरेति । स मुनि । समयगततत्त्वगोचरं समयं परमागम गतानि तत्त्वानि जीवादिद्रव्याणि तान्येव गोचरो यस्य तत् । सशयमल[1] सशयमेव मलम् । अपहस्तयितु निराकर्तुम् । अपरापरै. अन्यै. । मुनिजनै. योगिजनै । प्रतिवासर प्रतिदिनम् । असेव्यत आराध्यते स्म । सेवृञ्[2] सेवने कर्मणि लङ् ॥८०॥ प्रकृतीरिति[3] । यत्र सकलर्त्वाख्ये । वने उद्याने । निजमेव स्वकीयमेव । दीक्षण[4] परिनिष्क्रमणम् । समपादि जायते स्म । पदि गतौ लुङ् । कर्मणा[5] पापानाम् । प्रकृती स्वभावान् । अतनुतपसा अतनुना महता तपसा तपश्चरणेन । 卐तनुतरत्वम् अतिकृशत्वम् । नयन् प्रापयन् । स. चन्द्रप्रभमुनि । पनरपि पश्चादपि । तत्र वने[6]卐। जगाम ययौ । लिट् ॥८१॥ मुनिभिरिति । मुनिभि[7] यतिभि । सह साकम् । समेत्य गत्वा । नागशाखिन. नागवृक्षस्य । तलभुवि तलक्षितौ । स्थित आसित· । स मुनि । अतुलम् असदृशम्, सादृश्यरहितमिति भावः । सित शुक्लाख्यम् । ध्यानम्[8] एकाग्रचिन्तनम् । अवलम्ब्य आश्रित्य । हतघातिकर्मरिपु हतो जीवाद् विश्लेषितो घातिकर्माण्येव रिपुर्येन स । केवल नवकेवललब्धिम् । आप ययौ । आप्लृ व्याप्तौ लिट् । रूपकम् ॥८२॥ तस्मिन्निति । आद्यात् प्रथमात् । जैनात् जिनसबन्धिन । समवसरणात् समवसृतेः सकाशात् । योजनार्धार्धहान्या योजनस्यार्धेनार्धेन हान्या हीयमानक्रमेण । सार्धानि अर्धेन दलेन युतानि । अष्टौ अष्टसख्यानि । योजनानीति । आगमज्ञै· परमागमवेदिभि । अनुगदितम् अनूक्तम् । यत् समवसरण वृषभजिनेश्वरसमवसरणम् । द्वादशयोजनप्रमितम् । तत· परमजितादितीर्थंकराणामर्धार्धयोजनेन हीनमित्यर्थ । शक्रादेशात् देवेन्द्राज्ञया । तस्मिन् काले केवलज्ञानोत्पत्तिकाले । परिजनै सह परिवारदेवै साकम् । यक्षराजेन

तत्त्वोंमें उत्पन्न हुए सशयको सर्वथा दूर करनेके लिए और-और मुनि लोग उनके पास प्रतिदिन आने लगे और उनकी आराधना करने लगे ॥८०॥ घोर तपश्चरणके द्वारा कर्मोंको प्रकृतियोंको क्षीण करते हुए वे पुन उसी वनमे जा पहुँचे, जहाँ उन्होने जिनदीक्षा ली थी ॥८१॥ उस 'सकलर्तु' नामक वनमे मुनियोंके साथ पहुँचकर वे नागवृक्षके नीचे आसन लगाकर बैठ गये, और फिर अनुपम शुक्ल ध्यानका अवलम्बन लेकर उन्होने ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय इन घातिया कर्मोंको नष्ट करके केवल ज्ञान प्राप्त किया ॥८२॥ जिस समय केवलज्ञान हुआ, उसी समय इन्द्रके आदेशसे कुबेरने अपने परिजनके साथ भगवान् चन्द्रप्रभके पास जाकर उनके समवसरणकी रचना की । आगमके जाननेवाले विद्वानोने भगवान् चन्द्रप्रभके समवसरणका प्रमाण साढ़े आठ योजन बतलाया है । प्रथम तीर्थङ्कर भगवान् ऋषभ देवके समवसरणका प्रमाण बारह योजन था । उनके बाद अजित आदि तीर्थङ्करोंके समवसरणोका प्रमाण आधा-आधा

१ = संशय एव मलो दोषस्तम् । २ श सेवृङ् । ३ आ श प्रकृतिरिति । ४. = जिनदीक्षा । ५ = ज्ञानावरणादीनाम् । ६. श स्वस्तिकान्तर्गतः पाठो पोपलभ्यते । ७. = साधुभिः । ८ = एकाग्रचिन्तानिरोधनम् ।

धूलीसालो वलयसदृशस्तस्य बभ्राम पार्श्वे
मानस्तम्भाश्चतसृषु महादिक्षु तस्यान्तरस्थाः।
चत्वार्यूर्ध्वं विकचकमलाम्भांसि तेभ्यः सरांसि
तेभ्यश्चोर्ध्वं विविधकुसुमा खातिका वारिपूर्णा[1] ॥८४॥
नानापुष्पा समनि तत पुष्पवाटी विशाला
प्राकारोऽस्या विरचितचतुर्गोपुरोऽभ्यन्तराले।
द्वाराद्द्वारात्परमुभयतो द्वे शुभे नाट्यशाले
चत्वार्यासन्नमरनिचितान्यूर्ध्वमाभ्यां वनानि॥८५॥
चत्वारोऽर्चारुचिरवपुषो यागवृक्षा वनेषु
तिस्रस्तिस्रो मणिमय[2]तटैर्मण्डितास्तेषु वाप्यः।
तत्रैवासन्बहुविधसभामण्डपाः क्रीडशैला
धारायन्त्रैरलिवृ[3]तलतामण्डपैर्भ्राजमानाः॥८६॥

कुवेरेण। गत्वा प्राप्य। तस्य भर्तु. चन्द्रप्रभस्वामिनः। निर्ममे निर्मीयते स्म। माङ् माने कर्मणि लिट् ॥८३॥ धूलीति। तस्य समवसरणस्य। पार्श्वे बाह्ये। वलयसदृश वलयस्य कङ्कणस्य सदृश. समानः, परिधिरूप इत्यर्थं। धूलीसाल धूलीभी रत्नमयरेणुभिरुपलक्षित साल॰ प्राकार। बभ्राम परिवव्रे। भ्रमू चलने लिट्। तस्य धूलीसालस्य। अन्तरस्था. अन्तर्भागे स्थिता। चतसृषु चतु सख्याकासु। महावीथिषु [महादिक्षु[4]] महारथ्यासु। मानस्तम्भा॰। विरेजु। तेभ्य. मानस्तम्भेभ्य। ऊर्ध्वं परम्। विकचकमलाम्भासि विकचै-र्विकसितै कमलै सरसिजैर्युक्तमम्भो जल येषा तानि। चत्वारि। सरासि सरोवरा.। मानस्तम्भस्य तस्य चतुर्दिक्षु चत्वारि सरासि। तेभ्यः सरोवरेभ्य। ऊर्ध्वं पुर। विविधकुसुमा विविधैर्नानाविधै कुसुमैः पुष्पै सहिता। वारिपूर्णा वारिणा जलेन पूर्णा उम्भिता। खातिका परिखा। समजनि ॥८४॥ नानेति। तत उर्ध्वम्। विशाला विस्तीर्णा। नानापुष्पा नाना पुष्पाणि[5] विविधानि पुष्पाणि यस्या सा। पुष्पवाटी पुष्पित-वल्लीभूमि। सम्जनि जायते स्म। अस्या पुष्पवाटचा। अभ्यन्तराले अन्तर्भागे। विरचितचतुर्गोपुर॰ विरचितानि चत्वारि गोपुराणि द्वाराणि यस्य[6] स। प्राकार प्रथमप्राकार द्वाराद्[7] द्वारात् पर तत ऊर्ध्वम्। उभयत उभयपार्श्वे। शुभे शोभायुते। द्वे द्विसख्ये। नाटचशाले नर्तनशाले। आभ्या नाटचशालाभ्याम्। ऊर्ध्वं पुर। अमरनिचितानि अमरै सुरैर्निचितानि निर्मितानि। चत्वारि चतु सख्यानि। वनानि उपवनानि आसन् अभवन्। अस भुवि लङ् ॥८५॥ चत्वार इति। वनेषु चतुर्वनेषु। [8]अर्चारुचिरवपुष. अर्चाभि प्रतिबिम्बै-

---

योजन कम था। इसीलिए आठवें तीर्थङ्कर चन्द्रप्रभका समवसरण ऋषभदेवके समवसरणसे साढे तीन योजन कम था ॥८३॥ समवसरणके चारो ओर वलयाकार–गोल, धूलीसाल—पाँच रंगके रत्नोकी धूलिसे बना हुआ प्राकार (चहारदीवारी) था, उसके अन्दर चारो दिशाओमे चार मानस्तम्भ थे, उनके आगे जलसे लबालब भरी हुई और नाना प्रकारके पुष्पोसे विभूषित परिखा थी ॥८४॥ उसके आगे अनेक प्रकारके फूलोसे अलकृत विशाल फुलवाडी थी, उसका चार दरवाजोसे युक्त प्राकार था, उसके प्रत्येक दरवाजेके अन्दर दोनो भागोमे दो-दो सुन्दर नृत्यशालाएँ थी, उनके आगे चार वन थे, जो देवोसे व्याप्त थे ॥८५॥ उन वनोमे जिनबिम्बोसे

---

१ क ख ग घ म वारिकर्णा। २. म °मयतरै°। ३. क ख ग म °रभिवृतल°। ४. = चतुर्दिक्षु। ५ श नाना पुष्पाणि' इति नास्ति। ६ = यस्मिन्। ७ श 'द्वारात्' इति नास्ति। ८ एप टीकाश्रय: पाठ, प्रतिपु तु 'चात्वारोऽर्वा रुचि°' इत्येव समलोक्यते। अर्वा:-प्रतिमाः।

तेभ्योऽप्यूर्ध्वं मणिमयचतुस्तोरणा वेदिकाभू-
र्यस्या भागे[1] समजनि परे केतुपङ्क्तिर्विचित्रा।
तस्याश्चोर्ध्वं मणिमयचतुर्गोपुरो हेमसालो
रम्यं कल्पद्रुमवनमतोऽभूत्परस्मिन्विभागे ॥८७॥
तस्माज्जज्ञे पुनरपि चतुर्गोपुरा वज्रवेदी[2]
तस्या रेजुर्दश[3] दश पराण्युल्लसत्तोरणानि।
तेषां स्तूपा नव नव बभुर्मध्यदेशेषु सार्चाः[4]
तत्रैवासन्मुनिजनसभामण्डपास्तुङ्गशृङ्गाः ॥८८॥

रुचिराणि मनोहराणि वपूष्यवयवा येषा ते। चत्वार चतु सख्या.। यागवृक्षा यागै[5] पूजाभिर्युता वृक्षा, चैत्यवृक्षा इत्यर्थ। तेषु वनेषु। मणिमयतटै रत्ननिर्मिततटयुतै। मण्डिता भूषिता। त्रिस्र त्रिस्र त्रित्रिसख्या[6]। वाप्य सरासि। तत्रैव वनेष्वेव। धारायन्त्रै जलप्रवाहयन्त्रै·। अलिवृतलतामण्डपै अलिभिर्भ्रमरैवृतैर्व्याप्तै-र्लतामण्डपैर्लतागृहै। भ्राजमाना विराजमाना। बहु[विध] सभामण्डपा बहुविधास्थानमण्डपयुता। क्रीडाशैला क्रीडापर्वता। आसन् अभवन्। लङ् ॥८६॥ तेभ्य इति। तेभ्य वनेभ्योऽपि। ऊर्ध्वं पुर। मणिमयचतुस्तोरणा मणिमयानि रत्नमयानि चत्वारि तोरणानि वन्दनमाला यस्या सा। वेदिकाभू. वेदिकाभूमि·। यस्या. वेदिकाभूमे। अपरे अग्रे। भागे प्रदेशे। विचित्रा करिहरिवृषभादिचिह्नयुक्तत्वान्नानाविधा। केतुपक्ति केतूना ध्वजाना पङ्क्ति राजि.। समजनि समजायत। लङ्। तस्या ध्वजपङ्क्तेश्च। ऊर्ध्वं पुर। मणिमयचतुर्गोपुर मणिमयानि रत्ननिर्मितानि चत्वारि गोपुराणि द्वाराणि यस्य[7] स। हेमसाल हेम्ना कनकेन निर्मित साल प्राकार। अत· हेमसालात्। अपरस्मिन् उत्तरस्मिन्। विभागे प्रदेशे। रम्यं मनोहरम्। कल्पद्रुमवन कल्पद्रुमाणा कल्पवृक्षाणा वनमुद्यानम्। अभूत् अभवत्। लुङ् ॥८७॥ तस्मादिति। तस्मात् कल्पद्रुमवनात्। पुनरपि पश्चादपि। चतुर्गोपुरा चतुर्भिर्गोपुरै सहिता। वज्रवेदी वज्रमयवेदिका। जज्ञे जायते स्म। लिट्। तस्या. वज्रवेदिकाया। पराणि पुरो[8] वर्तमानानि। दशदश दशदशप्रमितानि। उल्लसत्तोरणानि उल्लसन्ति विराजमानानि तोरणानि वन्दनमाला। रेजु भान्ति स्म। राजृ दीप्तौ लिट्। तेषा तोरणानाम्। मध्यदेशेषु अन्तरालदेशेषु। सार्चा. जिनबिम्बसहिता। नव नव स्तूपा। बभु· भान्ति स्म। भा दीप्तौ लिट्। तत्रैव सगीतभूम्याम्। तुङ्गशृङ्गा तुङ्गान्युन्नतानि शृङ्गाणि शिखराणि येषा ते। मुनिजनसभामण्डपा

विराजित चार चैत्यवृक्ष थे, मणिनिर्मित तटोसे युक्त तीन-तीन वापिकाएँ थी, अनेक प्रकारके सभामण्डप थे और ये क्रीडापर्वत, जो जलकी धारा बहानेवाले यन्त्रो तथा भौंरोसे व्याप्त लतामण्डपोसे विभूषित थे ॥८६॥ उन वनोके आगे मणिरचित चार तोरणोंसे विभूषित वेदी थी, उसके श्रेष्ठ मैदानमे विचित्र ध्वजाएँ एक पक्तिमे लगी हुई थी, उस वेदीके आगे मणिमय चार दरवाजोंसे मण्डित स्वर्ण-रचित प्राकार था, इससे आगे एक ओर कल्पवृक्षोका सुन्दर वन था ॥८७॥ उस वनके आगे फिर एक चार गोपुरोसे युक्त वज्रनिर्मित वेदी थी, उसके ऊपर दश-दश जगमगाते हुए तोरण थे, उनके बीच-बीचमे नौ-नौ स्तूप थे, तथा वहीपर उन्नत

---

१. अ आ इ तस्या भा°, म °र्यस्याभोगे। २. क ख ग घ म हेमवेदी। ३ आ इ दशदिशि। ४. एष टीकाश्रय· पाठ, प्रतिषु तु 'सर्वे' इति दृश्यते। ५ श पूजादिभि। ६ आ त्रिसख्या। ७ = यस्मिन्। ८. आ परो।

प्राकारोऽच्छस्फटिकघटितोऽभूत्पुरस्ताच्च तेभ्यः
कोष्ठास्तस्य स्फुरितरुचयो द्वादशान्ते बभूवुः ।
तेभ्यः स्थानं परमनुपमं गन्धकुट्याख्यमासी-
ज्जज्ञे तत्र स्फुरदुरुमणिभ्राजितं सिंहपीठम् ॥८९॥

तस्योपरि स्फुरितभासुररत्नरश्मेः
स प्रातिहार्यपरिभूषितदिव्यमूर्तिः ।
निर्वारवीर्यसुखबोधनिधिर्जिनेन्द्र-
स्तत्त्वोपदेशकथनाभिमुखोबभूव ॥९०॥

तत्राद्या[1] मुनिभिः समं गणधराः कल्पस्त्रिय संयता[2]
ज्योतिर्व्यन्तरभावनामरवधूसंघास्ततो भावनाः ।

मुनिजनाना सभामण्डपा आस्थानमण्डपा' । आसन् अभवन् । लङ् ॥८८॥ प्राकार इति । तेभ्यः स्तूपेभ्यः । पुरस्तात् अग्रे । अच्छस्फटिकघटित अच्छेन निर्मलेन स्फटिकेन घटित कृत । प्राकार साल. । अभूत् अभवत् । लुङ् । तस्य स्फटिकप्राकारस्य । अन्ते । स्फुरितरुचय. स्फुरिता दीप्ता रुचिः कान्तिर्येषा ते । द्वादश द्वाभ्या-मधिका दश । 'द्व्यष्टा—' इत्यादिना द्वा—आदेशः । कोष्ठा। बभूवु कोष्ठा भवन्ति स्म । लिट् । तेभ्यः कोष्ठेभ्य' । पर पर[3] । तत् । अनुपमम् उपमातीतम् । गन्धकुट्याख्य गन्धकुटी आख्या अभिधान यस्य तत्[4] । स्थान प्रदेश । आसीत् अभवत् । लङ्[5] । तत्र गन्धकुट्याम् । स्फुरदुरुमणिभ्राजितं स्फुरद्भि प्रज्वलद्भिरुरुभि-र्मणिभिर्भ्राजित विभासितम् । सिंहपीठ सिंहैरुपलक्षित[6] पीठ सिंहपीठम् । जज्ञे अजायत । लिट् । अतिशय' ॥८९॥ तस्येति । स्फुरितभासुररत्नरश्मे स्फुरित प्रवृद्धो भासुराणा देदीप्यमानाना रत्नाना रश्मि कान्ति-र्यस्य तस्य । तस्य सिंहपीठस्य । उपरि अग्रे । प्रातिहार्यपरिभूषितदिव्यमूर्ति. प्रातिहार्यैरष्टमहाप्रातिहार्यैः परिभूषिता अलंकृता दिव्या परमौदारिकाख्या मूर्तिस्तनुर्यस्य स । [7]निर्वारवीर्यसुखबोधनिधिः निर्वाराणा निवारयितुमशक्याना, वीर्यमनन्तवीर्यं तच्च, सुखमनन्तसुख तच्च, [बोध] बोधन (अनन्त) ज्ञान तच्च, तथोक्ताः तेषा निधि । स जिनेन्द्र जिनेश्वर । तत्त्वोपदेशकथनाभिमुख तत्त्वाना जीवादितत्त्वानामुपदेशस्य प्रतिबोध-नस्य कथने निगदनेऽभिमुख. । बभूव[8] भवति स्म । लिट् । जाति ॥९०॥ तत्रेति । तत्र कोष्ठेषु । मुनिभिः योगिभि[9] । सम साकम् । गणधराः गणाधिपा. । आद्या प्रथमा । कल्पस्त्रियः [10]कल्पवनिता । सयता नर[11]-

---

शिखरोसे युक्त मुनियोके सभामण्डप थे ॥८८॥ उन स्तूपोके आगे स्वच्छ स्फटिक मणिनिर्मित प्राकार था, उसके अन्दर चमकती हुई कान्तिसे युक्त बारह कोठे थे, उनके आगे अनुपम गन्ध-कुटी नामका एक उत्कृष्ट स्थान था; उसमे जगमगाते हुए बड़े-बड़े मणियोसे विभूषित सिंहासन था ॥८९॥ चारों ओर फैलनेवाली, देदीप्यमान रत्नोकी किरणोसे विभूषित, उस सिंहासनके ऊपर वे जिनेन्द्र भगवान् चन्द्रप्रभ विराजमान हुए, जिनको दिव्य मूर्ति आठ प्रातिहार्योंसे विभूषित थी, जो अनन्त ज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्त सुख और अनन्त वीर्यकी निधि थे और तत्त्वोपदेश देनेके लिए सभीके लिए अभिमुख थे ॥९०॥ बारह कोठोमें, क्रमश. मुनिराजोके साथ गणधर, कल्पवासिनी देवियाँ, आर्यिकाएँ, ज्योतिष्क देवियाँ, व्यन्तर देवियाँ, भवनवासिनी

---

१. क ख ग घ म दत्ताद्या° । २ म सज्जिता° । ३. = पुर । ४. श 'गन्धकुटी आख्या अभिधानं यस्त तत्' इति नास्ति, 'गन्धकुट्यभिधानम्' इत्यस्ति । ५. श 'लङ्' इति नास्ति । ६. श सिंहरूप-कल्पितम् । ७. एष टीकाश्रय पाठ , मूलप्रतिषुतु 'निर्वाध०' इत्यस्ति । ८. अयमपि टीकाश्रय. पाठ मूलप्रतिषु तु 'ऽवतस्थे' इति दृश्यते । ९. आ यतिभि । १०. आ स्वर्गव° । ११ श 'नरस्त्रिय ' इति नास्ति ।

वन्या ज्योतिषकल्पजाश्च विबुधाः स्वस्योदयाकाङ्क्षिण-
स्तस्थुर्द्वादशसु प्रदक्षिणममी कोष्ठेषु मर्त्या मृगाः ॥९१॥

इति श्रीवीरनन्दिकृतावुदयाङ्के चन्द्रप्रभचरिते महाकाव्ये सप्तदश. सर्ग ॥१७॥

स्त्रिय' मार्यिका । ज्योतिर्व्यन्तरभावनामरवधूसङ्घाः ज्योतिषा ज्योतिष्काणा व्यन्तराणा वन्याना भावना- नाममराणा देवाना वधूना वनिताना सङ्घा समूहा । तत. परम् । भावना भवनवासिकदेवा । वन्या व्यन्तरदेवा. ज्योतिषकल्पजाः ज्योतिषा ज्योतिष्कदेवा. कल्पजा कल्पवासिकाश्च । विबुधा. देवा । मर्त्याः मनुष्याः । मृगा' सिंहादयो मृगा' । स्वस्य आत्मन । उदय [या] कांक्षिणः उदयमभ्युदय [यमा] काक्षन्तीत्ये- वंशीला । अमी एते । द्वादशसु द्वादशप्रमितेषु । कोष्ठेषु । प्रदक्षिण प्रदक्षिण यथा तथा । तस्थु तिष्ठन्ति स्म । ष्ठा गतिनिवृत्तौ लिट् । यथासख्यालकार. ॥९१॥

इति श्रीवीरनन्दिकृतावुदयाङ्के चन्द्रप्रभचरिते महाकाव्ये तद्व्याख्याने
च विद्वन्मनोवल्लभाख्ये सप्तदश. सर्ग. ॥१७॥

देवियाँ, भवनवासी देव, व्यन्तर देव, ज्योतिष्क देव, कल्पवासी देव, मनुष्य और पशु ये सभी अपने-अपने अभ्युदयकी कामना करनेवाले जीव, भगवान् चन्द्रप्रभके चारो ओर ऐसे ढंगसे बैठे हुए थे जैसे परिक्रमा देते हैं ॥९१॥

इस प्रकार महाकवि वीरनन्दिविरचित उदयाङ्क चन्द्रप्रभ चरित महाकाव्यमें
सत्रहवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥१७॥

[१८. अष्टादशः सर्गः]

सर्वभाषास्वभावेन ध्वनिनाथ जगद्गुरुः ।
जगाद गणिनः प्रश्नादिति तत्त्वं जिनेश्वरः ॥१॥
जीवाजीवास्रवा बन्धसंवरावथ निर्जरा ।
मोक्षश्चेति जिनेन्द्राणां सप्त तत्त्वानि शासने ॥२॥
बन्ध एव प्रविष्टत्वादनुक्ति पुण्यपापयोः ।
तयोः पृथक्त्वपक्षे[1] च पदार्था नव कीर्तिताः ॥३॥
चेतनालक्षणो जीवः कर्ता भोक्ता स्वकर्मणाम् ।
स्थितः शरीरमानेन स्थित्युत्पत्तिव्ययात्मकः ॥४॥

विज्ञाय पीठचलनाज्जिनजन्म जिष्णुरागत्य मातृसदन च शचीसमेत ।
आरोपयन् जिनशिशु करिमस्तकाग्रे मेरु निनाय सुरवर्त्मपथा समोद. ॥

सर्वेति । अथ उपदेशाभिमुखानन्तरम् । जगद्गुरु जगता गुरु. । जिनेश्वरः जिनेन्द्र । गणिन. । प्रश्नात्[2] प्रार्थनायाः । सर्वभाषास्वभावेन सर्वा. समस्ता भाषा एव स्वभावो यस्य तेन । तदुक्तम्—'गम्भीरं मधुरं मनोहरतर दोषव्यपेतं हितं[3], कण्ठोष्ठादिवचोनिमित्तरहित नो वातरोधोद्गतम् । स्पष्टं तत्तदभीष्टवस्तुकथन नि.शेषभाषात्मकं, दूरासन्नसमं समं निरुपम जैन वच. पातु न. ॥' इति । ध्वनिना दिव्यध्वनिना । दात् (?) । तत्त्व जीवादितत्त्वम् । इति वक्ष्यमाणप्रकारेण । जगाद ब्रवीति स्म । लिट् । जातिः ॥ १ ॥ जीवेति । अथ अनन्तरम् । जिनेन्द्राणां जिनेश्वराणाम् । शासने स्याद्वादशासने । जीवाजीवास्रवाः जीवो जीवतत्त्वम्, अजीवतत्त्वम् आस्रवतत्त्व च । बन्धसवरौ बन्धश्च बन्धतत्त्व च सवरश्च संवरतत्त्व च । निर्जरा निर्जरातत्त्व च । मोक्षश्चेति मोक्षतत्त्वमिति । तत्त्वानि सप्तविधानि । भवन्ति ॥ २ ॥ बन्ध इति । पुण्यपापयो पुण्यपदार्थपापपदार्थयो. । बन्ध एव बन्धतत्त्व एव । प्रविष्टत्वात् अन्तर्भूतत्वात् । अनुक्तिः पृथगुच्चारण नास्तीत्यर्थ । तयो. पुण्यपापद्वयो । पृथक्त्वपक्षे च भिन्नत्वपक्षाङ्गीकारे । नव नवसख्या । पदार्था. नवपदार्था इति । कीर्तिता. प्रोक्ता' ॥ ३ ॥ चेतनेति । चेतनालक्षण चेतयति ज्ञाने(न) जानाति दर्शनेन पश्यतीति चेतना, सैव लक्षणमसाधारण स्वरूप यस्य स. । स्वकर्मणा स्वस्य कर्मणा शुभाशुभरूपाणाम् । कर्ता विधाता । भोक्ता कर्मफलाना भोक्ता अनुभविता । शरीरमानेन स्वीकृतदेहप्रमाणेन । स्थित आसितः । स्थित्युत्पत्तिव्ययात्मकः स्थितिर्द्रव्य (ध्रौव्यं) सा च उत्पत्तिर्जनन सा च व्ययो विनाश. स च, तथोक्ताः,

---

इसके पश्चात् जगद्गुरु जिनेश्वर भगवान् चन्द्रप्रभकी स्वभावतः सभी भाषाओमे परिणत होनेवाली दिव्यध्वनि, गणधरके प्रश्नके अनुसार खिरी, जिसमे जीवादि तत्त्वोका इस प्रकारसे निरूपण किया गया था—॥१॥ जिन शासनमे जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये सात तत्त्व बतलाये गये हैं ॥२॥ बन्धमे गर्भित होनेके कारण पुण्य और पापको अलगसे नही कहा गया है। यदि पुण्य और पापको अलग कहा जाय तो नौ पदार्थ हो जाते हैं—जीवादि सात और पुण्य-पाप दो। आगममे नौ पदार्थोंकी भी चर्चा की गई है ॥३॥ जीवका लक्षण चेतना है। वह शुभ एवं अशुभ कर्मोंका कर्त्ता है, अपने किये हुए कर्मोंके फलका भोक्ता है, देह-परिणामी है—जिस देहको वह प्राप्त करता है, उसीके बराबर होकर उसमे

---

१. म पृथक् च पक्षे । २. आ दत्तप्रश्नात् । ३. श 'पेतं तथा ।

भव्याभव्यप्रभेदेन द्विप्रकारोऽप्यसौ पुनः ।
नरकादिगतेर्भेदाच्चतुर्धा भेदमश्नुते ॥५॥
सप्तधा पृथिवीभेदान्नारकोऽपि[1]प्रभिद्यते ।
अधोलोकस्थिताः सप्त पृथिव्यः परिकीर्तिताः ॥६॥
आद्या रत्नप्रभा नाम[2] द्वितीया शर्कराप्रभा ।
सिकतादिप्रभान्या च[3] परा पङ्कप्रभा मता ॥७॥
धूमप्रभा ततो ज्ञेया परा तस्यास्तमःप्रभा ।
महातमःप्रभा चेति तासां नामान्यनुक्रमात्[4] ॥८॥
प्रथमायां पृथिव्यां ये नारकास्तेषु कीर्तिताः ।
उत्सेधः सप्त चापानि त्रयो हस्ताः षडङ्गुलाः ॥९॥
द्विगुणो द्विगुणोऽन्यासु पृथिवीषु यथाक्रमम् ।
द्वितीयादिषु विज्ञेयो यावत्पञ्चधनुःशती[5] ॥१०॥

त एवात्मा स्वरूप यस्य स ॥ ४ ॥ भव्येति । असौ अयम् । जीव. । पुन पश्चात् । भव्याभव्यप्रभेदेन भव्याभव्ययो —रत्नत्रयाविर्भवनयोग्यो भव्य, इतरोऽभव्य तयोर्भेदेन । द्विप्रकारोऽपि द्वौ प्रकारौ यस्य स. । नरकादिगते नरकप्रभृतिगते । भेदात् भेदरूपात् । चतुर्धा । भेद भेदरूपम् । अश्नुते व्याप्नोति । अशोङ् व्याप्तौ लट् ॥ ५ ॥ सप्तधेति । नारकोऽपि नरकगतजीवोऽपि । पृथिवीभेदात् पृथिवीना रत्नप्रभादिसप्त-भूमीना भेदात् । सप्तधा सप्तभि प्रकारै । प्रभिद्यते भेद. क्रियते । अधोलोकस्थिताः अधोलोकेऽधोभुवने स्थिता आश्रिता । पृथिव्य भूमय । सप्तेति सप्तसख्या इति । परिकीर्तिता प्रोक्ता ॥ ६ ॥ आद्येति । आद्या प्रथमा । रत्नप्रभा रत्नप्रभाख्या । नाम निश्चयेन । द्वितीया द्वयो पूरणा । शर्कराप्रभा । अन्या परा तृतीया इत्यर्थ । सिकतादिप्रभा च सिकतैवादौ यस्या सा, सा चासौ प्रभा च तथोक्ता वालुकाप्रभेत्यर्थः । परा चतुर्थी । पङ्कप्रभा पङ्कप्रभेति । मता अङ्गीकृता ॥ ७ ॥ धूमेति । तत पश्चात् । धूमप्रभा पञ्चमी धूमप्रभा । ज्ञेया ज्ञातव्या । तस्या पञ्चम्या सकाशात् । परा अन्या, षष्ठी इत्यर्थ । तम प्रभा । महातमः—प्रभा चेति सप्तमी महातम.प्रभा इति । अनुक्रमात् परिपाट्या. । तासा सप्तमीनाम् (?) । नामानि नाम-धेयानि । भवन्ति ॥ ८ ॥ प्रथमेति । प्रथमायाम् आद्यायाम् । पृथिव्या भूम्याम् । ये नारका नरकगतिपर्याय-जीवा । कीर्तिता प्रोक्ता । तेषु नारकजीवेषु । उत्सेध. देहोन्नति । सप्त । चापानि धनूंषि । त्रय । हस्ता. अरत्नय । षडङ्गुला. षट् च ता अङ्गुलयश्च । 'सङ्ख्याव्ययादङ्गुले.' इति ड-प्रत्यय. ॥ ९ ॥ द्विगुणेति । द्वितीयादिषु द्वितीया आदिर्यासा तासु । अन्यासु पृथिवीषु भूमिषु । यथाक्रम क्रममनतिक्रम्य । तस्य द्विगुण-द्विगुण[7] द्वौ गुणौ यस्य स । विज्ञेय वेदितव्य । यावत् यावत्पर्यन्तम् । पञ्चधनु.शती पञ्चाना धनु शतानां

स्थित हो जाता है और उत्पाद, व्यय, व ध्रौव्यात्मक है ॥४॥ यह भव्य और अभव्यके भेदसे दो प्रकारका है फिर भी नरक आदि चार गतियोके भेदकी अपेक्षासे चार प्रकारका है ॥५॥ नरक गतिके जीव सात भूमियोंके भेदकी दृष्टिसे सात प्रकारके होते हैं। अधोलोकमे सात पृथिवियाँ बतलायी गयी हैं ॥६॥ (१) रत्नप्रभा, (२) शर्करा प्रभा, (३) वालुकाप्रभा, (४) पङ्क प्रभा, (५) धूमप्रभा, (६) तम प्रभा और (७) महातमःप्रभा—ये उन पृथिवियोंके क्रमश. सात नाम हैं ॥७–८॥ पहली पृथिवीमे जो नारकी बतलाये गये हैं, उनके शरीरकी ऊँचाई सात धनुष तीन हाथ छह अगुल है ॥९॥ द्वितीय आदि अन्य पृथिवियोमे नारकियोके शरीरकी ऊँचाई क्रमश दूनी-दूनी जाननी चाहिए। इसी हिसाबसे सातवी पृथिवीके नारकियोंके शरीरकी ऊँचाई

१ अ नरकोऽपि । २ अ नाम्नी । ३ आ इ क ख ग घ °दिप्रभा चान्या । ४ क ख ग घ म °न्यनुक्रमम् । ५ क ख ग घ म °धनु शतीम् । ६ श आशाल् । ७ श तस्य द्विगुण -द्वौ गुणौ यस्य स ।

एकस्त्रयस्ततः सप्त दश सप्तदश क्रमात् ।
द्वाविंशतिस्त्रयस्त्रिंशत्तासु स्यु सागरोपमाः[1] ॥११॥
दशवर्षसहस्राणि जघन्यं प्रथमक्षितौ ।
द्वितीयादौ जघन्यं तत्प्रथमादौ यदुत्तमम् ॥१२॥
त्रिंशन्नरकलक्षाणि प्रथमायां ततः परम् ।
पञ्चविंशतिरुद्दिष्टास्ततः पञ्चदश क्रमात् ॥१३॥
दश त्रीणि ततो हीनं पञ्चभिर्लक्षमीरितम्[2] ।
ततः पञ्चैव नरकाश्चरमायां प्रकीर्तिता ॥१४॥
बह्वारम्भादिसंभूतैः पापैः परवशीकृता ।
तत्र जीवाः प्रपद्यन्ते दुःख भूत्वौपपादिकाः ॥१५॥

समाहार ॥१०॥ एक इति । तासु सप्तभूमिषु । आयु आयुष्यम् । क्रमात् परिपाटया. । एक· सागरोपमः । त्रय· त्रिसागरोपमाः । ततः पश्चात् । सप्तसप्तसागरोपम । दश दशसागरोपमाः । सप्तदश सप्तदशसागरोपमा । द्वाविंशतिः द्वाविंशतिसागरोपमा । त्रयस्त्रिंशत् त्रिभिरधिका त्रिंशत् सागरोपमा । स्युः ॥११॥ दशेति । प्रथमक्षितौ प्रथमायामाद्याया क्षितौ भूमौ । जघन्यं जघन्यायुष्यम् । दश दशप्रमितानि । वर्षसहस्राणि वर्षाणां सवत्सराणा सहस्राणि । भवेत् । प्रथमादौ रत्नप्रभादौ । यत् । उत्तमम् उत्कृष्टायुष्यम् । स्यात् । तत् । द्वितीयादौ शर्कराप्रभादौ । जघन्य हीनायुष्यम् । भवेत् । प्रथमक्षितौ उत्तमायुष्यमेकसागरः, स एव द्वितीयक्षितौ जघन्यायुष्यम् । द्वितीयक्षितौ त्रिसागरोपमम्, तदेव तृतीयक्षितौ जघन्यायुष्य भवेत्, एव सर्वत्र योज्यम् ॥१२॥ त्रिंशदिति । प्रथमाया प्रथमभूमौ । नरकलक्षाणि नरकाणा लक्षाणि दश (शत) सहस्राणि । त्रिंशत् । तत तस्याः । पर पुर । पञ्चविंशति पञ्चविंशतिनरकलक्षाणि । उद्दिष्टाः प्रोक्ता· । [ततः] पञ्चदश पञ्चदशलक्षाणि । क्रमात् क्रमत. ॥१३॥ दशेति । ततः परम् । दश दशलक्षाणि । ततः परम् । त्रीणि त्रिलक्षाणि । पञ्चभि. पञ्चविलै रहितम् । लक्षम् एकलक्षम् । ईरितं निगदितम् । तत परम् । चरमाया सप्तम्या क्षितौ । नरका नरकबिलानि । पञ्चैव । प्रकीर्तिता· निगदिताः ॥१४॥ बह्विति[3] । तत्र नरकेषु । बह्वारम्भादिसभूतै बह्वारम्भादिभिर्बह्वारम्भपरिग्रहहिंसादिभि.[4] समूतै. संजातै. । पापै अशुभकर्मभि । परवशीकृता. परवश गताः । जीवा प्राणिन. । औपपादिका. उपपादेषु

पाँच सौ धनुष है ॥१०॥ उन सातो पृथिवियोमे नारकियोकी आयु क्रमशः एक, तीन, सात, दस, सत्रह, बाईस ओर तैंतीस सागर प्रमाण है ॥११॥ प्रथम पृथिवीमे नारकियोकी जघन्य आयु दस हजार वर्ष है, दूसरी पृथिवीमे जघन्य आयु वही है जो प्रथम पृथिवीमे उत्कृष्ट आयु है। इसी क्रमसे सातवी पृथिवी तकके नारकियोकी जघन्य आयु समझ लेनी चाहिए–पूर्व पृथिवीके नारकियोकी जो उत्कृष्ट आयु है वही उससे अगली पृथिवीके नारकियोकी जघन्य आयु जाननी चाहिए ॥१२॥ पहली पृथिवीमे तीस लाख नरक (नारकियोके बिल), दूसरीमे पच्चीस लाख और तीसरीमे पन्द्रह लाख हैं ॥१३॥ चौथीमे दस लाख, पाँचवीमे तीन लाख, छठीमे पाँच कम एक लाख और अन्तिम अर्थात् सातवीमे केवल पाँच ही हैं ॥१४॥ बहुत आरम्भ और परिग्रह आदिके निमित्तसे किये गये पापोसे विवश होकर जीव उपपाद जन्म धारण करके उन

---

१. क ख ग घ म °रोपमम् । २. इ °मीरित । ३ श बह्वीति । ४. आ °हिंसानन्दादिभि ।

इति नारकभेदेन कृता जोवस्य वर्णना।
तिर्यग्गतिकृतो भेदः सांप्रतं वर्णयिष्यते ॥१६॥
त्रसस्थावरभेदेन तिर्यग्जीवो द्विधा स्मृत ।
तत्र द्वीन्द्रियमारभ्य त्रसः पञ्चेन्द्रियावधि ॥१७॥
स्थावराः कायभेदेन पञ्चधा परिकीर्तिताः।
पृथिवीकायिकाः केचित्केचिदप्कायिका. स्मृताः ॥१८॥
तेज.कायभृतः केचिदपरे वायुकायिकाः।
स्युर्वनस्पतिकायाश्च सर्वेऽप्येकेन्द्रियाः स्मृताः ॥१९॥
सहस्रं मानमुत्कर्षाद्योजनानां प्रकीर्तितम्।
पञ्चेन्द्रियशरीरस्य तदेवैकेन्द्रियेऽधिकम् ॥२०॥
द्वीन्द्रिये द्वादशैव स्युर्योजनानि यथागमम्।
त्रिक्रोशं त्रीन्द्रिये प्रोक्तं योजनं चतुरिन्द्रिये ॥२१॥

जाता[1]। भूत्वा जनित्वा। दुःखक्षेत्रजनितावेदनम्[2]। प्रपद्यन्ते प्राप्नुवन्ति। लट् ॥१५॥ इतीति। इति उक्तप्रकारेण। नारकभेदेन नारकाणा नरकजनितानां जीवाना प्रभेदेन प्रकारेण। जीवस्य जीवतत्त्वस्य। वर्णना कीर्तना। कृता विहिता। साम्प्रतम् इदानीम्। तिर्यग्गतिकृत तिर्यग्गत्या कृतो विहित। भेदः प्रकार। वर्णयिष्यते। वर्ण वर्णनक्रियायां[3] लट् ॥१६॥ त्रसेति[4]। तिर्यग्जीव. तिर्यग्गतिगतजीव त्रसस्थावरभेदेन त्रसजीवस्थावरजीवयोर्भेदेन विकल्पेन। द्विधा। स्मृत ज्ञात[5]। तत्र त्रसस्थावरयोर्मध्ये। द्वीन्द्रिय द्वीन्द्रियजीवम्। आरभ्य प्रारभ्य। पञ्चेन्द्रियावधि पञ्चेन्द्रिय एवावधिरवसानो यस्य स.। त्रस. त्रसजीव इति ज्ञातव्य ॥१७॥ स्थावरा इति। स्थावरा स्थावरजीवा कायभेदेन कायानां देहानां भेदेन विकल्पेन। पञ्चधा पञ्चप्रकारै। परिकीर्तिता परिभाषिता। केचित्। पृथिवीकायिका पृथिवीकायिकजीवा[6]। केचित् एके। अप्कायिका अप्कायिकजीवा। स्मृता ज्ञाता ॥१८॥ तेज इति। केचित् एके। तेजस्कायभृत. तेजोऽग्निः स एव काय. त बिभ्रतीति तेजस्कायिकजीवा.। अपरे केचित्। वायुकायिकाः वातकायिकजीवा.। केचित्। वनस्पतिकायिका वनस्पतिकायिकजीवा। स्यु भवेयुः। सर्वेऽपि एते सर्वेऽपि। एकेन्द्रिया इति एकमिन्द्रिय येषां ते। स्मृता ज्ञाता ॥१९॥ सहस्रमिति। पञ्चेन्द्रियशरीरस्य पञ्चेन्द्रिस्य पञ्चेन्द्रियजीवस्य शरीरस्य देहस्य। उत्कर्षात् उत्कृष्टात्। योजनानाम्। सहस्र दशशतम्। मानम् उत्सेधप्रमाणम्। प्रकीर्तित प्रोक्तम्। तदेव योजनाना सहस्रमेव। एकेन्द्रिये जीवे। अधिकम्[7] उत्कृष्टमिति प्रकीर्तितम् ॥२०॥ द्वीन्द्रिय इति। द्वीन्द्रिये

नरकोमे दुःख उठाते हैं ॥१५॥ इस प्रकार नारकियोंके भेदकी दृष्टिसे जीवोका वर्णन किया। अब तिर्यंगतिकी अपेक्षासे जीवोंके भेदोका वर्णन किया जायगा ॥१६॥ त्रस और स्थावरके भेदसे तिर्यञ्च जीव दो प्रकारके होते हैं। उनमे द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय जीव त्रस कहलाते हैं ॥१७॥ काय भेदकी दृष्टिसे स्थावर जीव पाँच प्रकारके कहे गये हैं— कोई जीव पृथिवीकायिक होते हैं, कोई जलकायिक होते हैं ॥१८॥ कोई तेजस्कायिक होते हैं, कोई वायुकायिक होते हैं और कोई वनस्पतिकायिक होते हैं। ये सभी जीव ऐकेन्द्रिय होते हैं ॥१९॥ पञ्चेन्द्रिय जीवके शरीरकी उत्कृष्ट अवगाहनाका प्रमाण एक हजार योजन है और एकेन्द्रिय जीवको उत्कृष्ट अवगाहनाका प्रमाण कुछ अधिक एक हजार योजन है ॥२०॥ द्वीन्द्रिय जीवके

---

१. श 'जाता' इति नास्ति। २ श क्षेत्रजनितानि। ३. आ वर्णक्रियाया। ४ श त्रसीति। ५ श जात। ६. श °कायिका जीवा। ७ = योजनसहस्रतोऽपि किंचिदधिकम्।

स्पर्शनं रसनं घ्राणं चक्षुः श्रोत्रमितीन्द्रियम् ।
वर्धनीयं क्रमादेतेष्वेकैकं द्वीन्द्रियादिषु ॥२२॥
संवत्सरसहस्राणि द्वाविंशतिरुदाहृतम् ।
पृथिवीकायिकेष्वायुरुत्कर्षेण जिनागमे ॥२३॥
तान्यप्कायिषु[1] सप्त स्युस्त्रीणि मारुतकायिषु ।
वनस्पतौ दशोक्तानि तेजःकायिष्वहस्त्रयम् ॥२४॥
वर्षाणि द्वादशैवायुर्द्वीन्द्रियाणां प्रकीर्तितम् ।
दिनान्येकोनपञ्चाशत्त्रीन्द्रियेषु शरीरिषु ॥२५॥
षण्मासप्रमितं प्रोक्तं चतुरिन्द्रियदेहिषु ।
पञ्चेन्द्रियेषु पूर्वाणां कोटयेका परिकीर्तिता ॥२६॥

द्वीन्द्रियजीवे । यथागमम् आगममनतिक्रम्य । योजनानि । द्वादशैव द्वाभ्यामधिकानि दश द्वादश तान्येव । स्यु॰ भवेयु । अस भुवि लिङ्[2] । त्रीन्द्रिये त्रीन्द्रियजीवे । त्रिक्रोशं त्रयाणा क्रोशानां समाहारः त्रिकोशम् । चतुरिन्द्रिये चतुरिन्द्रियजीवे । योजनम् एकयोजनम् । प्रोक्त निगदितम् ॥२१॥ स्पर्शनमिति । स्पर्शन स्पर्शनमिति । रसन रसनमिति । घ्राण घ्राणमिति । चक्षु चक्षुरिति । श्रोत्र श्रोत्रमिति । इन्द्रिय भवेत् । द्वीन्द्रियादिषु द्वीन्द्रियादि-जीवेषु । एतेषु उल्लेखोक्तेषु । क्रमात् क्रमेण । एकैकम् । वीप्सायां द्वि । वर्धनीयम्[3] ऐधितव्यम् ॥२२॥ सवत्स-रेति । जिनागमे जिनशासने । पृथिवीकायिकेषु पृथिवीकायिकजीवेषु । उत्कर्षेण[4] उत्कृष्टेन । आयु आयुष्यम् । द्वाविंशति द्वाभ्यामधिका विंशतिस्तथोक्ता । सवत्सरसहस्राणि सवत्सराणा सहस्राणि दशशतानि । उदाहृत निगदितम् ॥२३॥ तानीति[5] । अप्कायिषु अप्कायिकेषु । सप्त सप्तवर्षसहस्राणि । मारुतकायिषु वायुकायिकेषु । त्रीणि त्रीणि वर्षसहस्राणि । वनस्पतौ वनस्पतिकायिके । दश दशवर्षसहस्राणि । तेज.कायिषु तेजस्कायिकेषु । अहस्त्रयं त्रीणि रात्रिन्दिवानि । उत्कृष्टा स्थितिरिति शेष ॥२४॥ वर्षेति । द्वीन्द्रियाणा द्वीन्द्रियजीवानाम् । द्वादशैव । वर्षाणि संवत्सरा । आयु आयुष्यम् । प्रकीर्तितं प्रभाषितम् । त्रीन्द्रियेषु त्रीन्द्रिययुतेषु[6] । शरीरिषु प्राणिषु । एकोनपञ्चाशत् एकरहिता पञ्चाशत् । दिनानि दिवसाः । प्रोक्तानि ॥२५॥ षण्मासेति । चतुरिन्द्रियदेहिषु चतुरिन्द्रियेषु देहिषु जीवेषु । षण्मासप्रमित षण्मासैः प्रमितम् । आयु । प्रोक्त निगदितम् ।

शरीरकी उत्कृष्ट अवगाहनाका प्रमाण बारह योजन है, इससे अधिक नही, जैसा कि आगममे प्रतिपादित है। त्रीन्द्रिय जीवोके शरीरकी उत्कृष्ट अवगाहनाका प्रमाण तीन कोश है और चतुरिन्द्रिय जीवके शरीरकी उत्कृष्ट अवगाहनाका प्रमाण एक योजन है ॥२१॥ स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र ये पाँच इन्द्रियाँ हैं, इनमे-से क्रमसे एक-एक इन्द्रिय, द्वीन्द्रिय आदि जीवो-मे बढ़ानी चाहिए। एकेन्द्रिय जीवोमे केवल स्पर्शन इन्द्रिय होती है, द्वीन्द्रिय जीवोमे स्पर्शन और रसना, त्रीन्द्रिय जीवोमे स्पर्शन, रसना और घ्राण, चतुरिन्द्रिय जीवोमे स्पर्शन, रसना, घ्राण और चक्षु तथा पञ्चेन्द्रिय जीवोमे स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र ॥२२॥ पृथिवी-कायिक जीवोकी उत्कृष्ट आयु जिनागममे बाईस हजार वर्षकी बतलायी गयी है ॥२३॥ जलकायिक जीवोकी उत्कृष्ट आयु सात हजार वर्षकी; वायुकायिक जीवोकी उत्कृष्ट आयु तीन हजार वर्षकी, वनस्पतिकायिक जीवोकी उत्कृष्ट आयु दश हजार वर्षकी और तेजस्कायिक जीवोकी उत्कृष्ट आयु केवल तीन दिनकी है ॥२४॥ द्वीन्द्रिय जीवोकी उत्कृष्ट आयु बारह वर्षकी और त्रीन्द्रिय जीवोकी उत्कृष्ट आयु एक कम पचास दिनकी है ॥२५॥ चतुरिन्द्रिय जीवोकी उत्कृष्ट आयु छह

१ म तान्यकायिषु । २. आ लेङ् । ३. आ वर्धमानीयम् । ४. = प्रकर्षेण । ५. आ श अस्य पद्यस्य व्याख्या नोपलभ्यते । ६. श त्रीन्द्रियजीवेषु ।

तिर्यग्गतिप्रभेदस्य[1] क्रमोऽयं संप्रदर्शितः ।
कीर्त्यन्ते सांप्रतं केचिद्भेदा नरगतेरपि ॥२७॥
भोगकर्मभुवो भेदान्मानुषा द्विविधाः स्मृताः ।
देवकुर्वादिभेदेन स्युस्त्रिंशद्भोगभूमयः ॥२८॥
मध्योत्तमजघन्येन ताश्चत्रेधा[2] व्यवस्थिताः ।
षट्सहस्राणि चापानामुत्तमासु नृणां प्रमा ॥२९॥
मध्यमासु च चत्वारि द्वे जघन्यासु कीर्तिते[3] ।
त्रीणि पल्योपमान्यायुर्द्वे चैकं तास्वनुक्रमात् ॥३०॥
मद्याङ्गादिभिदाभिन्नं दशकल्पद्रुमोद्भवम्[4] ।
पात्रदानप्रभावेण[5] भुञ्जते तत्र ते फलम् ॥३१॥

पञ्चेन्द्रियेषु पञ्चेन्द्रियजीवेषु । पूर्वाणा 'पूर्व'—प्रतीवानाम् । वर्षाणाम् । एका कोटिरिति[6] । परिकीर्तिता प्रभाषिता ॥२६॥ तिर्यग्गतीति । तिर्यग्गतिप्रभेदस्य तिरश्चा तिर्यग्जीवाना गते प्रभेदस्य विकल्पस्य । अयम् एषः । क्रम परिपाटी । सप्रदर्शित प्रकीर्तित' । साप्रतम् इदानीम् । नरगतेरपि नराणा मनुष्याणां गतेरपि भवस्यापि । केचित्[7] कियन्त । भावा. विकल्पा । कीर्त्यन्ते प्रदृश्यन्ते । कृ शब्दे कर्मणि लट् ॥२७॥ भोगेति ।[8] मानुषा मनुष्या । भोगकर्मभुव भोगभूश्च भोगभूमिश्च कर्मभूश्च कर्मभूमिश्च तयो । भेदात् विकल्पात् । द्विविधा द्विप्रकारका । स्मृता । देवकुर्वादिभेदेन देवकुरुप्रभृतिभेदेन । भोगभूमय । त्रिंशत् स्युः ॥२८॥ मध्येति । मध्योत्तमजघन्येन मध्येन मध्यमेनोत्तमेनोत्कृष्टेन जघन्येन चरमेण । भेदेन । ताश्च भोगभूमय । त्रेधा त्रिधा—त्रिभि प्रकारै । 'प्रकारे धा'(?) ['एधाच्च'] इति धा-प्रत्यय । व्यवस्थिता निश्चिता । उत्तमासु उत्तमभोग[9]भूमिषु । नृणा मनुष्याणाम् । प्रमा-प्रमाणम् । चापाना धनुषाम् । षट् सहस्राणि कीर्तितानि ॥२९॥ मध्यमेति । मध्यमासु च मध्यमभोगभूमिषु । चत्वारि चतु सहस्राणि । जघन्यासु जघन्यभोगभूमिषु । द्वे द्विसहस्रे । कीर्तिते प्रकाशिते । तासु भोगभूमिषु । अनुक्रमात् आनुपूर्व्यात्[10] । आयु आयुष्यम् । त्रीणि पल्योपमानि त्रिपल्योपमानि । द्वे च द्विपल्योपमे च । एकम् एकपल्योपमम् । कीर्तितम् ॥३०॥ मद्येति । ते भोगभूमिमानवा । तत्र भोगभूमिषु । पात्रदानप्रभावेण पात्राणा दानानां प्रभावेण माहात्म्येन । मद्याङ्गादिभिदा मद्याङ्गादीना भिदा भेदेन । भिन्नदशकल्पद्रुमोद्भव भिन्नैर्विकल्पितैर्दशभि कल्पद्रुमैरुद्भवमुत्पन्नम् । फल

मासकी है और पञ्चेन्द्रिय जीवोकी उत्कृष्ट आयु एक पूर्व कोटी की ॥२६॥ यह तिर्यग्गतिके भेदोका क्रम दिखलाया है, अब मनुष्य गतिके भी कुछ भेदोकी चर्चा की जा रही है॥२७॥ भोगभूमि और कर्मभूमिके भेदसे मनुष्य दो प्रकारके होते हैं। देवकुरु और उत्तरकुरु आदि भेदोकी दृष्टिसे भोगभूमियाँ तीस हैं ॥२८॥ उत्तम, मध्यम और जघन्य इन भेदोकी दृष्टिसे भोगभूमियाँ तीन प्रकारकी हैं। उत्तम भोगभूमिमे मनुष्योकी ऊँचाई छह हजार धनुष है ॥२९॥ मध्यम भोगभूमिमे मनुष्योके शरीरकी ऊँचाई चार हजार धनुष है और जघन्य भोगभूमियोमे मनुष्योंके शरीरकी ऊँचाई दो हजार धनुष हैं ॥३०॥ पात्रदानके प्रभावसे भोगभूमियोमे उत्पन्न हुए जीव

१ म तिर्यगादिप्र° । २ म क्रमात् त्रेधा । ३ अ आ इ कीर्त्यंते । ४ क ख ग घ °कल्प-तरूद्भवम् । ५ अ आ इ प्रभावेन । ६ आ कोटीति । ७. श 'केचित्' इति नास्ति । ८ आ श अस्य श्लोकस्य व्याख्या नोपलभ्यते । ९ श उत्तभोग° । १० श आनुपूर्व्या ।

आर्यम्लेच्छप्रभेदेन द्विविधाः कर्मभूमिजाः ।
भरतादिभिदा पञ्चदश स्युः कर्मभूमयः ॥३२॥
शतानि पञ्च चापानां कर्मभूमिनिवासिनाम् ।
पञ्चविंशतियुक्तानि मानमुत्कृष्टवृत्तितः ॥३३॥
पूर्वकोटिप्रमाणं च तेषामायुः प्रकीर्तितम् ।
वृद्धिह्रासौ विदेहे न भरतैरावतेष्विव ॥३४॥
भरतैरावते वृद्धिह्रासिनी कालभेदतः
उत्सर्पिण्यवसर्पिण्यौ कालभेदावुदाहृतौ ॥३५॥
सागरोपमकोटीनां दश कोट्योऽवसर्पिणी ।
प्रमाणं तावदेवाहुरुत्सर्पिण्याश्च तद्विदः ॥३६॥
सुषमोपपदा[1] प्रोक्ता सुषमा सुषमा ततः ।
दुःषमा सुषमाद्यान्या सुषमान्ता च दुःषमा ॥३७॥

निष्पन्नम् । भुञ्जते अनुभवन्ति । भुज पालनाभ्यवहारयोः लट् ॥३१॥ आर्येति । आर्यम्लेच्छप्रभेदेन आर्याणां म्लेच्छानां प्रभेदेन विकल्पेन । कर्मभूमिजा कर्मभूमिजनिताः । मनुष्याः । द्विविधाः द्वे विधे प्रकारौ येषां ते । भरतादिभिदा भरतादीनां भिदा भेदेन । आदिशब्देनैरावतविदेहयोर्ग्रहणम् । कर्मभूमयः कर्मभुवः । पञ्चदश पञ्चभिरधिका दश । स्युः भवेयुः । लिङ्[2] ॥३२॥ शतानीति । कर्मभूमिनिवासिनां कर्मभूमिषु निवासिनां निवसताम् । उत्कृष्टवृत्तितः[3] उत्कृष्टवर्तनात् । मानं प्रमाणम् । पञ्चविंशतियुक्तानि पञ्चभिरधिकया त्रिंशत्या युक्तानि सहितानि । चापानां धनुषाम् । पञ्चशतानि प्रोक्तानि ॥३३॥ पूर्वेति । तेषां कर्मभूमिजमनुष्याणाम् । आयुः जीवनम् । पूर्वकोटिप्रमाणं पूर्वकोटिरेव प्रमाणं प्रमितिर्यस्य तत् । प्रकीर्तितं निगदितम् । भरतैरावतेष्विव भरतेषु ऐरावतेषु क्षेत्रेषु इव । विदेहे विदेहक्षेत्रे । वृद्धिह्रासौ वृद्धिहानी । न न भवतः ॥३४॥ भरतेति । कालभेदतः कालस्य भेदतो विभागतः[4] । भरतैरावते भरतैरावतक्षेत्रे । वृद्धिह्रासिनी वृद्धिहानिमती । उत्सर्पिण्यवसर्पिण्यौ उत्सर्पिणी चावसर्पिणी च तथोक्ते । कालभेदौ कालविभागौ । उदाहृतौ प्रकीर्तितौ[5] ॥३५॥ सागरेति । सागरोपमकोटीनां सागरोपमानां कोटीनाम् । दशकोट्यः दशकोटिकोट्य इत्यभिप्रायः । अवसर्पिणी भवतीति । तद्विदः कालभेदज्ञाः । उत्सर्पिण्याश्च । तावदेव दशकोटिकोट्य एव । प्रमाणम् । आहुः ब्रुवन्ति । 'ब्रुवस्त्विष्पश्चतः—' इति ज्ञेरसादेशः तद्योगे ब्रुव आह्–इत्यादेशः ॥३६॥ सुषमेति । सुषमोपपदा सुषमैवोपपदं यस्याः सा सुषमा इति । प्रोक्ता निगदिता । सुषमासुषमा—इत्यर्थः । ततः पुनः । अन्या इतरा । सुषमा

वहाँपर मद्याग आदि दस प्रकारके कल्पवृक्षोंसे उत्पन्न हुए भोगोंको भोगते हैं ॥३१॥ आर्य और म्लेच्छके भेदसे, कर्मभूमियोंमें उत्पन्न हुए मनुष्य दो-दो प्रकारके होते हैं। भरत आदिके भेदसे कर्मभूमियाँ पन्द्रह होती हैं ॥३२॥ कर्मभूमियोंमें निवास करनेवाले मनुष्योंके शरीरकी ऊँचाईका उत्कृष्ट प्रमाण पाँच सौ पच्चीस धनुष है ॥३३॥ कर्मभूमिके मनुष्योंकी उत्कृष्ट आयुका प्रमाण एक पूर्व कोटि कहा गया है। भरत और ऐरावत क्षेत्रोंकी तरह विदेह क्षेत्रमें वृद्धि और ह्रास नहीं होते ॥३४॥ कालभेदके कारण भरत और ऐरावतमें वृद्धि और ह्रास होते हैं। उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी ये दो कालके भेद कहे गये हैं ॥३५॥ अवसर्पिणी दस कोडाकोडी सागरकी होती है, और उत्सर्पिणीका प्रमाण भी उतना ही है, जितना अवसर्पिणीका है—दस कोडाकोडी सागर॥३६॥ सुषमा-सुषमा, सुषमा, सुषमा-दुःषमा, दुःषमा-सुषमा, दुःषमा और दुःषमा-दुःषमा—ये छह भेद अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी दोनोंके कहे गये हैं। हाँ, इनके क्रममें अन्तर पड

१ अ आ इ. सुखमोपपदा । २. आ लेड् । ३ = प्रकर्षत. । ४. श विभागेन । ५. श कीर्तितौ ।

पञ्चमी दुःषमा ज्ञेया षष्ठी चात्यन्तदुःषमा ।
प्रत्येकमिति षड्भेदास्तयोरुक्ता द्वयोरपि ॥३८॥

सागरोपमकोटीनां चतस्रः कोटयः स्मृताः ।
पूर्वा तिस्रो द्वितीया च द्वे तृतीया प्रकीर्तिता ॥३९॥

द्वाचत्वारिंशता वर्षसहस्रैः परिवर्जिता[1] ।
एका कोटी च कोटीनां चतुर्थी परिकीर्तिता ॥४०॥

पञ्चमी च सहस्राणि वर्षाणामेकविंशतिः ।
षष्ठी तावत्प्रमाणैव जिनैः कालकलाः स्मृताः ॥४१॥

म्लेच्छाः[2] खण्डप्रभेदेन पञ्चधा परिकीर्तिताः ।
म्लेच्छखण्डा[3] यतः पञ्च कथ्यन्ते कर्मभूमिषु ॥४२॥

सुषमेत्यर्थ । सुषमाद्या सुषमैवाद्ये प्रथमे यस्या सा दुःषमा सुषमादुःषमेत्यर्थ । सुषमान्ता च सुषमैवान्तेऽवसाने यस्या सा दुःषमासुषमेत्यर्थ. ॥३७॥ पञ्चमीति । पञ्चमी पञ्चाना पूरणा । दुःषमा दुःषमेति[4] । ज्ञेया ज्ञातव्या । षष्ठी षण्णा पूरणा षष्ठी । 'षट् कति कतिपयात् थुट्' इति थुट्—प्रत्यय । अत्यन्तदुःषमा अतिदुःषमेत्यर्थ[5] । द्वयो[6] द्विसख्ययो. । तयो उत्सर्पिण्यवसर्पिण्यो । प्रत्येकमपि पृथगपि । षड्भेदा षड्विकल्पा. । उक्ता उदाहृता ॥३८॥ सागरेति[7] । पूर्वा सुषमसुषमा । सागरोपमकोटीना चतस्र कोटय —चतस्र. सागरोपमकोटीकोटय —इत्यर्थ । स्मृता । आगमज्ञैरिति शेष. । द्वितीया सुषमा । तिस्र तिस्र सागरोपमकोटीकोटय । तृतीया च सुषमदुःषमा च । द्वे द्वे सागरोपमकोटीकोटयौ । प्रकीर्तिता प्रतिपादिता ॥३९॥ द्वेति । चतुर्थी चतुर्णां पूरणा चतुर्थी दुःषमासुषमा । द्वाचत्वारिंशता द्वाभ्यामधिकया चत्वारिंशता । वर्षसहस्रैः वर्षाणा सहस्राणि तै । परिवर्जिता रहिता । कोटीना सागरोपमाना कोटीना कोटिसख्यानाम् । एका कोटि एकसागरोपमकोटिकोटिरित्यर्थ[8] । परिकीर्तिता प्रोक्ता ॥४०॥ पञ्चमीति । पञ्चमी पञ्चमी च दुःषमा । वर्षाणा सवत्सराणाम् । एकविंशति. एकाधिका विंशति । सहस्राणि दशशतानि । षष्ठी अतिदुःषमा[9] । तावत्प्रमाणैव तावन्मात्र प्रमाण यस्या सा, एकविंशतिसहस्रवर्षाणीत्यर्थ । जिनै जिनेश्वरै । कालकला कालभेद[10] । स्मृता ज्ञाता[11] ॥४१॥ म्लेच्छा इति । कर्मभूमिषु कर्मयुक्तभूमिषु । यत. यस्मात् । म्लेच्छखण्डा । पञ्च पञ्चसख्या । कथ्यन्ते प्रोच्यन्ते । कथ वाक्यप्रबन्धे लट् । खण्डप्रभेदेन खण्डानां विभागाना प्रभेदेन विकल्पेन

जाता है । ऊपर जो क्रम दिया गया है, वह अवसर्पिणीका हैं, उत्सर्पिणीका इससे विपरीत है—दुःषमा-दुःषमा, दुःषमा, दुःषमा-सुषमा, सुषमा-दुःषमा, सुषमा और सुषमा-सुषमा ॥३७-३८॥ सुषमा-सुषमा, जो सबसे पहली है, चार कोड़ाकोड़ी सागरकी है, दूसरी सुषमा तीन कोडाकोडी सागरकी है, तीसरी सुषमा-दुःषमा दो कोडाकोडी सागरकी है, चौथी दुःषमा-सुषमा बयालीस हजार वर्ष कम कोडाकोडी है, पाँचवी दुःषमा इक्कीस हजार वर्षकी है और छठी दुःषमा-दुःषमा भी इक्कीस हजार वर्षकी है । इस तरह जिन भगवान्‌ने कालकी कलाओंका वर्णन किया है ॥३९–४१॥ चूँकि भरत आदि कर्मभूमियोमे पाँच म्लेच्छ खण्ड होते हैं,

---

१ म परिकीर्तिता । २ म म्लेच्छखण्ड° । ३. क ख ग घ म्लेच्छा खण्डा° । ४ श दुक्षमा दुक्षमेति । ५. श °दुक्षमा अतिदुक्षमा° । = दुःषमादुःषमा—इति यावत् । ६ श 'द्वयो .' इति नोपलभ्यते । ७ आ श अस्य श्लोकस्य व्याख्या नास्ति । ८ श °कोटीत्यर्थः । ९. श °दुःक्षमा । १०. = कालकला. कालभेदाः । ११. = स्मृता ज्ञाता ।

आर्याः षट्कर्मभेदेन षोढा भेदमुपागताः ।
ते गुणस्थानभेदेन स्युश्चतुर्दशधा पुनः ॥४३॥
मिथ्यासासादनदृशौ[1] मिश्राविरतिदर्शनौ ।
प्रदेशविरतस्तस्मात्प्रमत्तविरतस्ततः ॥४४॥
स्यादप्रमत्तविरतस्ततोऽपूर्वक्रियः स्मृतः ।
अनिवृत्तिक्रियस्तस्मात्ततः[2] सूक्ष्मः प्रकीर्तितः ॥४५॥
शान्तक्षीणकषायौ[3] च सयोगः केवली स्मृतः ।
अयोगकेवली चेति गुणस्थानान्यनुक्रमम्[4] ॥४६॥
इति मानुषभेदेन कृता जीवनिरूपणा ।
सांप्रतं देवभेदेन कुर्वे किंचित्प्रपञ्चनम् ॥४७॥
चतुर्णिकायभेदेन स्मृता देवाश्चतुर्विधाः ।
असुराहिकुमाराद्या दशधा तेषु भावनाः ॥४८॥

म्लेच्छा म्लेच्छमानवा । पञ्चधा पञ्चप्रकारैः । परिकीर्तिता परिभाषिता ॥४२॥ आर्या इति । षट्कर्मभेदेन षण्णां कर्मणां कृत्यानां भेदेन विकल्पेन । आर्याः आर्यखण्डजातमनुष्याः । षोढा षड्भिः प्रकारैः । भेदं विकल्पम् । उपागताः । पुनः पश्चात् । गुणस्थानप्रभेदेन गुणस्थानप्रभेदेन गुणस्थानानां प्रभेदेन विभागेन । चतुर्दशधा चतुर्दशप्रकारैः । स्युः भवेयुः । लिङ् ॥४३॥ मिथ्येति । मिथ्यासासादनदृशौ मिथ्यादृष्टिसासादनसम्यग्दृष्टी । मिश्राविरतदर्शनौ मिश्रपरिणाम्यसंयतसम्यग्दृष्टी । तस्मात् । प्रदेशविरतः देशसंयतः । ततः तस्मात् । प्रमत्तविरतः प्रमत्तसंयतः ॥४४॥ स्यादिति । ततः परम् । अप्रमत्तविरतः अप्रमत्तसंयतः । स्यात् भवेत् । अपूर्वक्रियः अपूर्वगुणस्थापकः । स्मृतः ज्ञातः । ततः तस्मात् परम् । अनिवृत्तिक्रियः अनिवृत्तिकरणः । ततः परम् । सूक्ष्मः सूक्ष्मसाम्परायः । प्रकीर्तितः प्रोक्तः ॥४५॥ शान्तेति । शान्तक्षीणकषायौ च उपशान्तकषायक्षीणकषायौ च । सयोगः योगसहितः । केवली सयोगकेवली भगवान्[5] । अयोगकेवली चेति अयोगिभगवान् चेति । अनुक्रमम् अनुक्रमेण । गुणस्थानानि चतुर्दशगुणस्थानभेदाः । स्युः ॥४६॥ इतीति । इति एवम् । मानुषभेदेन मानुषाणां भेदेन विकल्पेन । जीवनिरूपणा जीवस्य जीवतत्त्वस्य निरूपणा । कृता विहिता । सांप्रतम् इदानीम् । देवभेदेन देवानां भेदेन विकल्पेन । किंचित् ईषत् । प्रपञ्चनं विवरणम्[6] । कुर्वे करोमि । लट् ॥४७॥ चतुर्णिकायेति । चतुर्णिकायभेदेन चतुर्णां निकायानां समूहानां भेदेन विकल्पेन । देवाः सुराः । चतुर्विधाः चतुःप्रकाराः । स्मृता ज्ञाताः । तेषु देवेषु । असुराहिकुमाराद्याः असुरकुमारनागकुमारमुख्याः । भावनाः भवनजाताः । दशधा दशभिः प्रकारैः । प्रोक्ताः[7] ॥४८॥

अतः उनके खण्डोंकी दृष्टिसे म्लेच्छ मनुष्य भी पाँच प्रकारके कहे गये हैं ॥४२॥ असि आदि छह कर्मोंकी दृष्टिसे आर्य मनुष्य छह प्रकारके होते हैं, और मिथ्यात्व आदि चौदह गुणस्थानोंके भेदकी दृष्टिसे चौदह प्रकारके ॥४३॥ मिथ्यादृष्टि, सासादन सम्यग्दृष्टि, मिश्र, अविरत सम्यग्दृष्टि, देशविरत, प्रमत्तविरत, अप्रमत्तविरत, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्मसाम्पराय, उपशान्तकषाय, क्षीणकषाय, सयोगकेवली और अयोगकेवली—ये क्रमसे चौदह गुणस्थान होते हैं ॥४४–४६॥ इस प्रकार मनुष्योंके भेदकी दृष्टिसे जीवोंका निरूपण किया, अब देवोंके भेदकी दृष्टिसे कुछ विस्तार पूर्वक जीवोंका निरूपण करते हैं ॥४७॥ निकायोंके भेदकी दृष्टिसे देव चार प्रकारके होते हैं—भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक। इनमेंसे

१. म °विधौ मिश्रा.° । २. म °क्रियास्तस्मात् । ३. म शान्ततीक्ष्ण° । ४. आ इ °नुक्रमात् । ५ आ °केवलिभगवान् । ६. आ विसरणम् । ७. = कथिता. ।

किंनरादिप्रभेदेन व्यन्तराश्चाष्टधा स्मृता. ।
सूर्यचन्द्रादिभेदेन[1] ज्योतिष्काः पंचधा स्मृताः ॥४९॥
वैमानिका द्विधा प्रोक्ता कल्पातीताश्च कल्पजाः ।
सौधर्मादिषु कल्पेषु कल्पजाः परिकीर्तिता[2] ॥५०॥
नवग्रैवेयकादिस्थाः कल्पातीताः प्रवर्णिता ।
सर्वार्थसिद्धिपर्यन्ताः समृद्धावधिचक्षुषः ॥५१॥
तत्रासुरकुमाराणां प्रमाणं पचविंशतिः ।
धनूंषि दश चापानि शेषाणां भवनक्षिताम् ॥५२॥
दशसप्तधनुर्माना व्यन्तरा[3] ज्यौतिषामराः ।
सौधर्मैशानयोर्मानं सप्त हस्ता दिवौकसाम् ॥५३॥
सनत्कुमारमाहेन्द्रकल्पयोः षट् प्रकीर्तिताः ।
ब्रह्मकापिष्ठयो. पञ्च तन्मध्मगतयोरपि ॥५४॥

किंनरेति । व्यन्तराश्च व्यतरामराश्च । किनरादिप्रभेदेन किनरादीना प्रभेदेन विभागेन । अष्टधा अष्टभि. प्रकारै. । स्मृता ज्ञाता । ज्योतिष्का ज्योतिष्कदेवा । सूर्यचन्द्रादिभेदेन सूर्यचन्द्रम.प्रमुखाना भेदेन विकल्पेन । पञ्चधा पञ्चभि प्रकारै । स्मृताः ज्ञाता ॥४९॥ वैमानिका इति । वैमानिका कल्पामरा । कल्पातीताश्च कल्पातीतदेवाश्च । कल्पजा सौधर्मादिकल्पजनिता । द्विधा द्वाभ्या प्रकाराभ्याम्। प्रोक्ता निगदिता । सौधर्मादिषु सौधर्मप्रभृतिषु । कल्पेषु स्वर्गेषु । कल्पजा इति । परिकीर्तिता. प्रोक्ताः ॥५०॥ नवेति । नवग्रैवेयकादिस्था नवग्रैवेयकादिषु विमानेषु[4] स्था. स्थिता । सर्वार्थसिद्धिपर्यन्ता सर्वार्थसिद्धिरेव पर्यन्तोऽवसान येषा ते । समृद्धावधिचक्षुष समृद्ध सपूर्णमवधिरेवावधिज्ञानमेव चक्षुर्येषा ते[5] । कल्पातीता कल्पातीतामरा । प्रकीर्तिता प्रोक्ता ॥५१। तत्रेति । तत्र चतुर्णिकाये । भवनक्षिता भवनवासिनाम् । असुरकुमाराणाम् । पञ्चविंशति पञ्चभिरधिका विंशति। पञ्चविंशति। । धनूंषि चापानि । प्रमाण प्रमिति । शेषाणाम् अवशिष्टानाम् । दश कार्मुकाणि परिकीर्तितानि ॥५२॥ दशेति । व्यन्तरा व्यन्तरदेवा । ज्योतिषामराः ज्योतिष्कदेवा । दशसप्तधनुर्माना दश च सप्त च तथोक्तानि दशसप्तधनूंष्येव मान प्रमाण येषा ते स्यु । सौधर्मैशानयो. प्रथमद्वितीयकल्पयो । दिवौकसा देवानाम् । मान प्रमाणम् । सप्त हस्ता स्यु ॥५३॥ सनत्कुमारेति । सनत्कुमारमाहेन्द्रकल्पयो सनत्कुमारकल्पमाहेन्द्रकल्पयो । षट् षड् हस्ता । प्रकीर्तिताः भाषिता । ब्रह्मकापि-

भवनवासी देव दस प्रकारके होते हैं—असुरकुमार, नागकुमार आदि ॥४८॥ किन्नर आदिके भेदसे व्यन्तर आठ प्रकारके होते हैं, तथा ज्योतिष्क देव सूर्य और चन्द्र आदिके भेदसे पाँच प्रकारके ॥४९॥ वैमानिक देव दो प्रकारके कहे गये हैं—कल्पवासी और कल्पातीत । सौधर्म आदि कल्पोमे रहनेवाले देव कल्पवासी कहे जाते हैं ॥५०॥ नवग्रैवेयक आदिमे स्थित देव कल्पातीत कहलाते हैं, जिनमे प्रथम ग्रैवेयकसे सर्वार्थसिद्धि तकके देव गिने जाते हैं । इन सबका अवधिज्ञान उत्तरोत्तर प्रवल होता है । यही ज्ञान उनका नेत्र है ॥५१॥ भवनवासी देव दस प्रकारके होते हैं । उनमे असुर कुमारोके शरीरकी ऊँचाई पच्चीस धनुष है और शेष नौके शरीरकी ऊँचाई दस धनुष ॥५२॥ व्यन्तरो और ज्योतिष्क देवोके शरीरकी ऊँचाई सत्रह धनुष है । सौधर्म और ऐशान स्वर्गोमे देवोके शरीरकी ऊँचाई सात हाथ (अरत्नि) है ॥५३॥ सनत्कुमार और माहेन्द्र स्वर्गोमे देवोके शरीरकी ऊँचाई छह हाथ (अरत्नि) है । ब्रह्म,

१ अ आ इ क ख ग घ सूर्याचन्द्रा॰ । २. अ क ख ग घ परिवर्णिता । ३ अ आ इ ॰व्यन्तरज्योति॰ । ४. = तिष्ठन्तीति नवग्रैवेयकादिस्था । ५ श ॰येषा तेषाम् ।

चत्वारः शुक्रमारभ्य हस्ताः प्रागानतात्[1] स्मृताः ।
आनते प्राणते चापि त्रयः सार्धाः प्रवर्णिताः ॥५५॥
आरणाच्युतयोर्हस्तास्त्रयः समनुवर्णिताः[2] ।
अधोग्रैवेयकेषूक्तौ त्रिषु द्वावर्धसंयुतौ ॥५६॥
द्वावरत्नी[3] समाम्नातौ मध्यग्रैवेयकत्रये ।
अर्धेन सहितो रत्निरूर्ध्वग्रैवेयकत्रये ॥५७॥
ग्रैवेयकविमानेभ्यः परे हस्तप्रमाः सुराः ।
सागरोपममुत्कर्षादायुर्भवनवासिनाम् ॥५८॥
अधिकं व्यन्तराणां तु पल्योपममुदाहृतम् ।
दशवर्षसहस्राणि जघन्यमुभयेष्वपि ॥५९॥

छयो ब्रह्मकापिष्टकल्पयो । तन्मध्यगतयोरपि तयोर्ब्रह्मकाष्ठिकल्पयोर्मध्यगतौ ब्रह्मोत्तरलान्तवकल्पौ तयोरपि। पञ्च हस्ता इत्यर्थः ॥५४॥ चत्वार इति । शुक्र शुक्रकल्पम् । आरभ्य उपक्रम्य । आनतात् आनतकल्पात् । प्राक् पूर्वम् । चतु कल्पेपु । चत्वार । हस्ता अरत्नय । स्मृता ज्ञाता. । आनते आनतकल्पे । प्राणते प्राणतकल्पे चापि । सार्धा अर्धेन सहिता । त्रय[4] त्रिहस्ता । प्रवर्णिता प्रकीर्तिता[5] ॥५५॥ आरणेति[6] । आरणाच्युतयो[7] आरणाच्युतकल्पयो । त्रयो हस्ता । समनुवर्णिताः परिकीर्तिता । त्रिषु त्रिसख्येपु । अधोग्रैवेयकेपु हेष्टमादि–(?) ग्रैवेयनेषु । अर्धसहितौ दलेन सहितौ । द्वौ हस्तौ । उक्तौ प्रोक्तौ ॥५६॥ द्वाविति । मध्यग्रैवेयकत्रये मध्यग्रैवेयकत्रये मध्यग्रैवेयकाणा त्रये त्रितये । द्वौ च (अ-) रत्नी हस्तौ । समाम्नातौ कथितौ । ऊर्ध्वग्रैवेयकत्रये ऊर्ध्वग्रैवेयकाणामुपरिग्रैवेयकाणा त्रये । अर्धेन दलेन । सहित युत । रत्नि.[8] हस्त । प्रोक्तः ॥५७॥ ग्रैवेयकेति । ग्रैवेयकविमानेभ्य ग्रैवेयकेभ्यो विमानेभ्य' । परे अग्रे । प्रवर्तमाना । सुरा. देवा । हस्तप्रमा हस्त एव प्रमा प्रमाण येपा ते । भवनवासिना भवनवासिदेवानाम् । आयु आयुष्यम् । उत्कर्षात्[9] उत्कृष्टात् । सागरोपम सागरोपमप्रमाणम् ॥५८॥ अधिकमिति[10] । व्यन्तराणा तु व्यन्तरदेवाना तु । अधिकम्[11] उत्कृष्टमायु । पल्योपम पल्योपमप्रमाणम्[12] । (उत्कृष्टमायु) । उदाहृत प्रोक्तम् । उभयेष्वपि व्यन्तरभवन

ब्रह्मोत्तर, लान्तव और कापिष्ठ स्वर्गोंके देवोंके शरीरकी ऊँचाई पांच हाथ (अरत्नि) है ॥५४॥ शुक्र, महाशुक्र, शतार और सहस्रार इन आनतसे पहलेके चार स्वर्गों मे देवोंके शरीरकी ऊँचाई चार हाथ है। आनत और प्राणत स्वर्गोंमे देवोंके शरीरकी ऊँचाई साढे तीन हाथ (अरत्नि) है ॥५५॥ आरण और अच्युत स्वर्गोंमे देवोंके शरीरकी ऊँचाई तीन हाथ है। तीनों अधोग्रैवेयकोमे देवोंके शरीरकी ऊँचाई ढाई अरत्नि कही गई है ॥५६॥ तीनों मध्यम ग्रैवेयकोंमे देवोंके शरीरोंकी ऊँचाई दो अरत्नि मानी गई हैं और तीनों ऊर्ध्व ग्रैवेयकोंमे देवोंके शरीरकी ऊँचाई डेढ अरत्नि कही गई है ॥५७॥ ग्रैवेयकोंसे ऊपरके सभी देवोंके शरीरकी ऊँचाई एक अरत्नि है। भवनवासियोंकी उत्कृष्ट आयु एक सागरोपम है ॥५८॥ व्यन्तर देवोंकी उत्कृष्ट आयु कुछ अधिक एक पल्योपम कही गयी है। भवनवासी और व्यन्तर इन

१ म प्रागानता । २. अ आ इ °नुवर्तिता. । ३ म द्वारवत्नो । ४. =त्रयो हस्ता । ५. आ सार्धा अर्धेन सहितौ द्रौ हस्तौ । उक्तौ प्रोक्तौ । ६. श आरणेत्यादि । ७. आ अस्य श्लोकस्य व्याख्या नास्ति । ८. श रत्नि.' इति नास्ति । ९ प्रकर्पत । १०. आ श 'अधिकमिति' इति नास्ति । ११ =साधिकम् । १२ श कल्पोपम कल्पप्रमाणम् ।

ज्योतिष्काणां[1] तु देवानामधिकं पल्यमीरितम् ।
पल्यस्यैवाष्टमो भागो जघन्येन प्रकीर्तितः ॥६०॥
जिनैः साक्षात्कृताशेषत्रिजगद्वस्तुभिः स्मृतम् ।
द्वौ सागरोपमावायुः सौधर्मैशानकल्पयोः ॥६१॥
सनत्कुमारमाहेन्द्रकल्पयो सप्त कीर्तिताः ।
ब्रह्मब्रह्मोत्तरे कल्पे दशैव परिवर्णिताः ॥६२॥
स्मृता लान्तवकापिष्ठकल्पयोश्च चतुर्दश ।
ततः शुक्रमहाशुक्रकल्पयोः षोडशोदिताः ॥६३॥
अष्टादश शतारे च सहस्रारे च समताः ।
आनते प्राणते चापि विंशतिः समुदीरिताः ॥६४॥
आरणाच्युतकल्पे च द्वाविंशतिरनुस्मृताः ।
एकैकेन ततो वृद्धिर्यावत्त्रिंशत्त्रयाधिका ॥६५॥

वासिषु । जघन्य जघन्यायुष्यम् । दशवर्षसहस्राणि दशाना वर्षाणा सहस्राणि । अनुवर्णितानि ॥५९॥ ज्योतिष्काणामिति । ज्योतिष्काणा च देवाना ज्योतिष्कदेवानाम् । अधिकम्[2] उत्कृष्टायुष्यम् । पल्य पल्यप्रमाणमिति । ईरित प्रोक्तम् । जघन्येन जघन्यरूपेण । पल्यस्यैव पल्यप्रमाणस्य । अष्टम अष्टाना पूरण । भाग अश । प्रकीर्तित प्रोक्त ॥६०॥ जिनैरिति । साक्षात्कृताशेषत्रिजगद्वस्तुभि साक्षात्कृतानि प्रत्यक्षीकृतान्यशेषाणि समस्तानि त्रिजगत्सु भुवनेषु विद्यमानानि वस्तूनि यैस्तै । जिनेश्वरै । सौधर्मैशानकल्पयो प्रथमद्वितीयकल्पयो । आयु आयुष्यम् । द्वौ सागरोपमौ सागरोपमप्रमाणाविति । स्मृत ज्ञातम् ॥६१॥ सनत्कुमारेति । सनत्कुमारमाहेन्द्र—कल्पयो तृतीयकल्पचतुर्थकल्पयो । सप्त सप्तसागरोपमा । कीर्तिता निरूपिता । ब्रह्मब्रह्मोत्तरे पञ्चम (मे) षष्ठे च । कल्पे स्वर्गे दशैव दशसागरोपमा एव । परिवर्णिता ॥६२॥ स्मृता इति । लान्तवकापिष्ठकल्पयोश्च सप्तमकल्पाष्टमकल्पयोश्च । चतुर्दश चतुर्दशसागरोपमा इति । स्मृता ज्ञाता । तत पश्चात् । शुक्रमहाशुक्रकल्पयो नवमदशमकल्पयो । षोडश षोडशसागरोपमा इति । उदीरिता[3] [उदिता] निगदिता ॥६३॥ अष्टेति । शतारे च एकादशे कल्पे च । सहस्रारे च द्वादशकल्पे च अष्टादश अष्टभिरधिका दश तथोक्ता.–अष्टादश सागरोपमा । 'द्व्यष्टानयोऽनशीतौ—' इति द्वा-(अष्टा-) आदेश । समता. अभ्युपगता । आनते आनतकल्पे । प्राणते चापि प्राणतकल्पे चापि । विंशतिः विंशतिसागरोपमा इति । समुदीरिता निरूपिता. ॥६४॥ आरणेति । आरणाच्युतकल्पे च आरणे आरणकल्पे अच्युतकल्पे च अन्त्यकल्पे च । द्वाविंशति द्वाविंशतिसागरोपमा इति । अनुस्मृता सुनिरूपिता । तत परम् । यावत् यावत् पर्यन्तम् । त्रयाधिका त्रयेणाधिका, त्रिभिरधिका इत्यर्थ ।

दोनोकी जघन्य आयु दस हजार वर्षकी है ॥५९॥ ज्योतिष्क देवोकी उत्कृष्ट आयु एक पल्यसे कुछ अधिक कही गयी है और उनकी जघन्य आयु पल्यका आठवां भाग कहा गया है ॥६०॥ तीन लोकोकी सारी वस्तुओका साक्षात्कार करनेवाले भगवान् जिनेन्द्रने सौधर्म और ऐशान स्वर्गोमे देवोकी आयु दो सागरोपम बतलाई है ॥६१॥ सनत्कुमार और माहेन्द्र स्वर्गोमे देवोकी आयु सात सागरोपम कही गयी है तथा ब्रह्म और ब्रह्मोत्तर स्वर्गोमे केवल दस सागरोपम ॥६२॥ लान्तव और कापिष्ठ स्वर्गोमे चौदह सागरोपम तथा शुक्र और महाशुक्र स्वर्गोमे सोलह सागरोपम आयु कही गई है ॥६३॥ शतार और सहस्रारमे अठारह सागरोपम तथा आनत और प्राणतमे बीस सागरोपम आयु है ॥६४॥ आरण और अच्युतमे बाईस सागरोपन आयु है । इस तरह सोलह स्वर्गोंके देवोकी आयुका प्रमाण बतलाया गया है । इन स्वर्गों के ऊपर नौ ग्रैवेयकों,

१ अ ज्योतिषाणां । २. साधिकम् । ३ आ समुदीरिता ।

इति गत्यादिभेदेन कृता जीवनिरूपणा ।
कुर्वे संप्रत्यजीवस्य किंचिद्रूपनिरूपणम् ॥६६॥

धर्माधर्मावथाकाश कालः पुद्गल इत्यपि ।
अजीवः पञ्चधा ज्ञेयो जिनागमविशारदैः ॥६७॥

एतान्येव सजीवानि षड् द्रव्याणि प्रचक्षते ।
कालहीनानि पञ्चास्तिकायास्तान्येव कीर्तिताः ॥६८॥

जलवन्मत्स्ययानस्य तत्र यो गतिकारणम् ।
जीवादीनां पदार्थानां स धर्मः परिवर्णितः ॥६९॥

लोकाकाशमभिव्याप्य[1] संस्थितो मूर्तिवर्जितः ।
नित्यावस्थितिसंयुक्त. सर्वज्ञज्ञानगोचरः ॥७०॥

त्रिशत् त्रिशत्सागरोपमा इति । एकैकेन एकैकसागरोपमेण । वृद्धि प्रवृद्धि । कीर्तिता ॥६५॥ इतीति । इति एवम् । गत्यादिभेदेन गत्यादीना भेदेन विकल्पेन जीवनिरूपणा जीवतत्त्वप्ररूपणा[2] । कृता विहिता । संप्रति इदानीम् । अजीवस्य अजीवतत्त्वस्य । रूपनिरूपण रूपस्य स्वरूपस्य निरूपणमनुवर्णनम् । किंचित् स्तोकम् । कुर्वे ब्रुवे विदधामीति वा ॥६६॥ धर्मेति । अथ अनन्तरम् । अजीव अजीवतत्त्वमिति । धर्माधर्मौ धर्मद्रव्याधर्मद्रव्ये । आकाशम् आकाशद्रव्यम् । काल कालद्रव्यम् । पुद्गल इति पुद्गलद्रव्यमिति । [3]जिनागमविशारदै जिनागमे[4] विशारदै प्रौढै । पञ्चधा पञ्चप्रकारैः । ज्ञेय. वेदितव्य ॥६७॥ एतानीति । सजीवानि जीवतत्त्वसहितानि । एतान्येव धर्माधर्मादीन्येव । षड् द्रव्याणीति । प्रचक्षते ब्रुवते । चक्षि व्यक्तायां वाचि । कालहीनानि कालेन कालद्रव्येण हीनानि रहितान्येव । षड् द्रव्याण्येव । पञ्चास्तिकाया. पञ्चास्तिकाया इति । कीर्तिताः निरूपिता. ॥६८॥ जलवदिति । तत्र षड्द्रव्येषु । मत्स्ययानस्य मत्स्यस्य मीनस्य यानस्य गमनस्य । जलवत् सलिलवत् । य । जीवादीना जीवादिप्रभृतीनाम् । द्रव्याणाम् । स धर्म. धर्मपदार्थ इति । परिवर्णित निरूपित. ॥६९॥ लोकेति । लोकाकाशं लोके वर्तमानमाकाश तथोक्तम् । अभिव्याप्य व्यापयित्वा । संस्थितः आस्थित[5] । मूर्तिवर्जित मूर्त्या वर्जितो रहित । नित्यावस्थितिसयुक्त नित्यया अवस्थित्या संयुक्त सहितः ।

नौ अनुदिशो और पाँच पञ्चोत्तरोमे क्रमशः एक-एक सागरकी आयु बढती जाती है, जो सर्वार्थसिद्धिमे तेतीस सागरोपम तक होती है—पहले ग्रैवेयकमें तेईस सागरकी आयु है, इससे ऊपरके ग्रैवेयकोमें एक-एक सागरकी आयु बढती जाती है। फलत. अन्तिम ग्रैवेयकमे इकतीस सागरकी आयु है। नौ अनुदिशोमे बत्तीस सागरकी आयु है और पांच पञ्चोत्तरोमे तेतीस सागरकी ॥६५॥ इस प्रकार गति आदिके भेदकी दृष्टिसे जीवका निरूपण किया। अब कुछ अजीवके स्वरूपका निरूपण करता हूँ ॥६६॥ जैन आगमके विशारदोके द्वारा जानने योग्य अजीव द्रव्य पाँच प्रकारके हैं—धर्म, अधर्म, आकाश, काल और पुद्गल भी ॥६७॥ इन पांच द्रव्योमे जीव द्रव्यको मिला दिया जाय तो छह द्रव्य हो जाते है, और इनमेसे काल द्रव्य निकाल दिया जाय तो पाँच अस्तिकाय हो जाते हैं ॥६८॥ जिस प्रकार मछलियोके चलनेमे जल सहायक होता है, उसी प्रकार जो जीवो और पुद्गलोको चलनेमे सहायक हो—उनके गमनमे कारण हो, उसे धर्म द्रव्य कहते हैं (इसीको आधुनिक विज्ञान ईथर कहता है) ॥६९॥ धर्म द्रव्य सारे लोकाकाशमे व्याप्त है अमूर्तिक है और है नित्य। अमूर्तिक होनेसे यह इन्द्रिय गोचर नही

---

१. अ °मभिव्याप्य। २ श °तत्त्वरूपणा। ३ श जीवागम°। ४ श जीवागमे। ५. आ आस्थितः।

द्रव्याणां पुद्गलादीनामधर्मः[1] स्थितिकारणम् ।
लोकाभिव्यापकत्वादिधर्मोऽधर्मोऽपि धर्मवत् ॥७१॥
नित्यं व्यापकमाकाशमवगाहैकलक्षणम् ।
चराचराणि भूतानि यत्रासंबाधमासते ॥७२॥
धर्माधर्मैकजीवानामसंख्येयाः प्रकीर्तिताः ।
प्रदेशाः सकलज्ञानैर्व्योमानन्तप्रदेशकम्[2] ॥७३॥
वर्तनालक्षणः कालः स स्वयं परिणामिनाम् ।
परिणामोपकारेण पदार्थानां प्रवर्तते ॥७४॥
क्रियां दिनकरादीनामुदयास्तमयात्मिकाम् ।
प्रविहायापरः कालो नास्तीत्येके प्रचक्षते ॥७५॥

सर्वज्ञज्ञानगोचर सर्वज्ञस्य सर्ववेदिनो ज्ञानस्य केवलज्ञानस्य गोचरो विषय इति प्रोक्त ॥७०॥ द्रव्याणामिति । अधर्म अधर्मद्रव्यम । पुद्गलादीना पुद्गलप्रभृतीनाम् । द्रव्याणा द्रव्यरूपाणाम् । स्थितिकारण स्थिते कारणम् । धर्मवत् धर्मद्रव्यवत् । अधर्मोऽपि अधर्मद्रव्यमपि । लोकाभिव्यापकत्वादिधर्म लोकाभिव्यापकत्वादिधर्मो यस्य स इति । निगदित ॥७१॥ नित्यमिति । यत्र चराचराणि स्थावरजङ्गमानि । भूतानि भूतद्रव्याणि । असबाधम् । आसते तिष्ठन्ति । नित्य स्थिररूपम् । व्यापक व्यापकरूपम् । अवगाहैकलक्षणम् अवगाह एव एक मुख्य लक्षण यस्य तत् । आकाशम् आकाशद्रव्यमिति । प्रकीर्तितम् ॥७२॥ धर्मेति । सकलज्ञानै केवलज्ञानयुतै । धर्माधर्मैकजीवाना धर्मद्रव्यस्याधर्मद्रव्यस्यैकजीवस्य च । असख्येया सख्यातुमयोग्या[3] । प्रदेशा । प्रकीर्तिता निरूपिता । व्योम आकाशम । अनन्तप्रदेशकम् अनन्ता निरवसानाः प्रदेशा यस्य तत् । प्रोक्तम् ॥७३॥ वर्तनेति वर्तनालक्षण वर्तनैव परिणाम एव लक्षणमसाधारणस्वरूप[4] यस्य स । काल॰ कालद्रव्यम् । स्वय परिणामिना स्वयमेव परिणामिना परिणामसहितानाम् । पदार्थाना द्रव्याणाम् । परिणामोपकारेण परिणामस्य परिणमनस्योपकारेणोपग्राहकेण[5] । प्रवर्तते तिष्ठति । वृतुङ्[6] वर्तने लट् ॥७४॥ क्रियामिति । दिनकरादीना सूर्यप्रभृतीनाम् । उदयास्तमयात्मिकाम्[7] । उदयास्तमयावेवात्मा स्वरूप यस्या ताम् । क्रिया कृत्याम् (?) । प्रविहाय परित्यज्य । अपर अन्य । काल कालद्रव्यम् । नास्तीति न विद्यत इति । केचित् । प्रचक्षते ब्रुवन्ति । चक्षि व्यक्तायां

है, सर्वज्ञके ज्ञानका गोचर (विषय) है ॥७०॥ पुद्गल आदि द्रव्योकी स्थितिमे जो द्रव्य कारण है, उसे अधर्म द्रव्य कहते हैं । यह अधर्म द्रव्य भी धर्म द्रव्यकी तरह सारे लोकाकाशमे व्याप्त है, अमूर्तिक है और है नित्य॥७१॥ आकाश नित्य और व्यापक है । जीव आदि समस्त द्रव्योको अवगाहन देना, उसका लक्षण है । उसमे जङ्गम-त्रस और स्थावर सभी जीव बिना किसी बाधाके रहा करते हैं ॥७२॥ सर्वज्ञ भगवानने धर्म, अधर्म और एक जीवके असंख्येय प्रदेश बतलाये हैं । आकाशके अनन्त प्रदेश होते हैं ॥७३॥ वर्त्तना जिसका लक्षण है वह निश्चय काल है । वह स्वय परिणमनशील पदार्थोंके परिणमनमे कारण है । परिणमन कराना उसका उपकार है, जिसके निमित्तसे दूसरोके परिणमन करानेमे प्रवृत्त होता है ॥७४॥ सूर्य आदिकी उदय एव अस्त आदि क्रियाओको छोडकर और कोई काल द्रव्य नही है, यह कुछ लोग कहते

१ क ख ग घ म लोकेऽभि॰ । २ म ॰प्रदर्शकम् । ३ = सख्यातुमशक्या । ४ श ॰रणरूप । ५ = उपग्रहेण । ६ आ वृतुञ् । ७ एष टीकाश्रय पाठ, प्रतिपु तु सर्वास्वपि "॰मयादिकाम्" इत्येव समुपलभ्यते ।

तन्न युक्तं क्रियायां हि लोके काल इति ध्वनिः ।
प्रवृत्तो गौणवृत्त्यैव वाहीक इव गोध्वनिः ॥७६॥
न च मुख्यादृते गौणकल्पना नरसिंहवत् ।
तस्माद् द्रव्यस्वभावोऽन्यो मुख्यः कालोऽस्ति कश्चन[1] ॥७७॥
रूपगन्धरसस्पर्शशब्दवान्[2] पुद्गलः स्मृतः ।
अणुस्कन्धप्रभेदेन द्विस्वभावतया स्थितः ॥७८॥
पृथिव्यादिस्वरूपेण स्थूलसूक्ष्मादिभेदतः ।
छायातपादिरूपेण बहुधा स विभिद्यते ॥७९॥

वाचि लट् ॥७५॥ तदिति । तत् उदयादि[3] । युक्त युक्तियुक्तम् । न न भवति । लोके भुवने । क्रियाया कृत्यायाम् (?) । काल इति कालद्रव्यमिति । ध्वनि. शब्द । वाहके भारवाहके । गोध्वनि गौ इति शब्द इव । गौणवृत्त्यैव गौणवर्तनेनैव[4] । प्रवृत्त स्थित ॥७६॥ नेति[5] । न च मुख्याद् ऋते मुख्य पदार्थं विना । नरसिंहवत् नरसिंह इव । गौणकल्पना गौणस्य कल्पना भवितुमर्हति । यथा असाधारणं पराक्रमगुण दृष्ट्वा नरः सिंहत्वेनोपचर्यते—नरो नरसिंहत्वेन व्यवह्रियते । पर पराक्रमवन्त वास्तविक सिंह विना नरसिंह इति गौण-प्रयोगोऽसंभव एव । तस्मात् तस्मात् कारणात् । द्रव्यस्वभाव. द्रव्यस्वभावोपेत । कश्चन कश्चित् । अन्य क्रियामात्रत्वेन स्वीकृतव्यवहारकालाद् भिन्न । मुख्य काल निश्चयकाल । अस्ति वर्तते । 'कल्यते ज्ञायते निश्चीयते सङ्ख्यायते समयादिभि पर्यायैर्मुख्य कालो निर्णीयते य स काल ।' ॥७७॥ रूपेति । रूपगन्धरस-स्पर्शशब्दवान् रूपेण गन्धेन रसेन स्पर्शेन शब्देन च युक्त । पुद्गलः पुद्गलद्रव्यमिति । स्मृत ज्ञात. । अणु-स्कन्धप्रभेदेन अणूना सूक्ष्माणा स्कन्धाना स्थूलाना प्रभेदेन विकल्पेन । द्विस्वभावतया द्विरूपतया । स्थित प्रवृत्त ॥७८॥ पृथिव्यादीति । स पुद्गल । स्थूलसूक्ष्मादिभेदत स्थूलादीना बादरादीना सूक्ष्मादीना भेदतो विकल्पात् । पृथिव्यादिस्वरूपेण पृथिव्यादीनाम्, आदिशब्देन अप्तेजोवाय्वादीना स्वरूपेण स्वभावेन । छायातपादि-

हैं ॥७५॥ उनका यह कथन ठीक नही, क्योकि उदय आदि क्रियाओके होनेपर लोकमे जो 'काल' व्यवहार होता है, वह गौण रूपसे ही (लक्षणासे ही) प्रवृत्त हुआ है । जैसे वाहीकमे लक्षणासे 'बैल' का व्यवहार होता है । वाहीक—हल चलानेवाला मनुष्य, मनुष्य है और बैल, बैल है, दोनोमे अत्यन्त भेद है, पर बैलमे जो जडता और मन्दता होती है, वही हल चलाने-वालेमे भी यदि हो तो उसे भी लोग गौण रूप (लक्षणा या उपचार) से बैल कह दिया करते हैं । इसी तरह निश्चयकाल एक पृथक् पदार्थ है और सूर्यके उदय आदिकी क्रियाएँ पृथक्, फिर भी इन क्रियाओमे जो 'काल' व्यवहार होता है वह गौण है ॥७६॥ और मुख्यके बिना गौण व्यवहारकी कल्पना ही नही हो सकती । सिंहके बिना मनुष्यमे नरसिंहका व्यवहार नही हो सकता । सिंह पराक्रमी होता है । यदि कोई मनुष्य भी पराक्रमी हो तो उसमे भी 'सिंह' का व्यवहार होने लगता है । अतएव काल नामक कोई मुख्य पदार्थ अवश्य है, जो उदय आदिमे होनेवाले व्यवहार कालसे भिन्न है; क्योंकि उसमे द्रव्यका लक्षण घटित होता है ॥७७॥ जिसमे रूप, रस, गन्ध और स्पर्श हो, उसे पुद्गल कहते हैं, और वह अणु एव स्कन्धके भेदसे दो प्रकारका है । उसमे पूरण और गलनका स्वभाव पाया जाता है, इसीलिए तो वह पुद्गल कह-लाता है, और इसीलिए उसमे अणु और स्कन्ध भेद घटित हो जाते हैं ॥७८॥ स्थूल और सूक्ष्म आदि भेदोकी दृष्टिसे वह पुद्गल पृथिवी आदिके रूपमे या छाया एव आतप आदिके रूप-

१. अ कस्य न । २ म °शब्दवा. । ३. = कथनम् । ४. = लक्षणयैव । ५. आ श अस्य श्लोकस्य व्याख्या नोपलभ्यते ।

शरीरेन्द्रियरूपेण प्राणापानादिपर्ययैः ।
प्राणिनामुपकाराय स सर्वेषां प्रवर्तते ॥८०॥
विभक्तमित्यजीवस्य रूपमागमवर्णितम् ।
संप्रत्यास्रवतत्त्वस्य किंचिद्रूपं निरूप्यते ॥८१॥
कर्मणामागमद्वारमास्रवं संप्रचक्षते ।
स कायवाङ्मनःकर्मयोगत्वेन व्यवस्थितः ॥८२॥
शुभः पुण्यस्य पापस्य विपरीतः प्रकीर्तितः ।
सकषायोऽकषायश्च तस्य द्वौ स्वामिनौ स्मृतौ ॥८३॥
तत्रासादनमात्सर्यगुरुनिह्नवनादयः ।
ज्ञानावृतिदृगावृत्योरास्रवत्वेन वर्णिताः ॥८४॥

रूपेण छायातपादीनाम्, आदिशब्देन उद्योतादीना रूपेण स्वभावेन । बहुधा बहुभि॰ प्रकारैः । विभिद्यते विकल्प्यते । भिदृर् विदारणे कर्मणि लट् ॥७९॥ शरीरेति । सः पुद्गल । शरीरेन्द्रियरूपेण शरीराणा देहानामिन्द्रियाणा च रूपेण स्वरूपेण । प्राणापानादिपर्ययै प्राणापानादिभिरुच्छ्वासनिश्वासादिभि पर्ययै परिणामै । सर्वेषा समस्तानाम् । प्राणिना जीवानाम् । उपकाराय उपकृतये । प्रवर्तते आस्ते । वृतुङ् वर्तने लट् ॥८०॥ विभक्तमिति । आगमवर्णितम् आगमेन जिनागमेन वर्णित प्रोक्तम् । अजीवस्य अजीवद्रव्यस्य । रूप स्वरूपम् । इति उक्तप्रकारेण । विभक्त विभागेन प्रणीतम् । सप्रति इदानीम् । आस्रवतत्त्वस्य आस्रवपदार्थस्य । रूप स्वरूपम् । किञ्चित् ईषत् । निरूप्यते प्रकीर्त्यते । रूप रूपक्रियाया कर्मणि लट् ॥८१॥ कर्मेति[2] । कर्मणा ज्ञानावरणादीनाम् । आगमनद्वारम् आगमनस्य द्वारम् । आस्रवम् । सप्रचक्षते प्रतिपादयन्ति । स आस्रव । कायवाङ्मन॰कर्मयोगत्वेन कायश्च वाक् च मनश्च कायवाङ्मनासि तेषा कर्म कायवाङ्मनस्कर्म, कायवाङ्मनस्कर्मयोगः, तस्य भावः तेन । व्यवस्थित॰ । 'कायवाङ्मनस्कर्म योग' इति वचनात् ॥८२॥ शुभ इति । शुभ प्रशस्तास्रव । पुण्यस्य शुभकर्मास्रवस्य । विपरीत अशुभास्रव । पापस्य अशुभकर्मास्रवस्य । इति प्रकीर्तित प्ररूपितः । स साम्पराय (यि) क जीव । तस्य आस्रवस्य । कषाय क्रोधादि सहित [सकषाय[3]] । अकषाय क्रोधादिरहित इति । [तस्य[4]] । द्वौ द्विसख्यौ । स्वामिनौ कर्तारौ । स्मृतौ ज्ञातौ ॥८३॥ तत्रेति । तत्र आस्रवे । आसादनमात्सर्यगुरुनिह्नवादय आसादन ज्ञानवत्सु विनयाभावः तच्च, मात्सर्यं तेषु मत्सरत्व तच्च, गुरुनिह्नवो गुरुषु महापुरुषेषु निह्नवोऽपलाप स च तथोक्ता आसादनमात्सर्यगुरुनिह्नवा आदयो[5] येषां ते । ज्ञानावृतिदृगावृत्यो ज्ञानावरणदर्शनावरणयोः । आस्रवत्वेन आगमत्वेन । वर्णित निरूपित ॥८४॥

मे नाना प्रकारसे विभक्त हो जाता है ॥७९॥ शरीर, इन्द्रिय और श्वासोच्छ्वास आदिके रूपमे वह पुद्गल सभी प्राणियोके उपकारमे लगा हुआ है ॥८०॥ इस प्रकारसे अजीव तत्त्वके भेदो और उनके स्वरूपका आगमानुमार वर्णन किया, अब थोडा-सा आस्रव तत्त्वका निरूपण किया जा रहा है ॥८१॥ कर्मोके आनेके द्वारको आस्रव कहते हैं, वह मन, वचन और कायकी चचलता (योग) से होता है ॥८२॥ शुभ योग पुण्यास्रवका और अशुभ योग पापास्रवका कारण है । उस आस्रवके स्वामी दो हैं—(१) सकषाय जीव और (२) अकषाय जीव । सकषाय जीवोंके साम्परायिक आस्रव होता है और अकषाय जीवोंके ईर्यापथ आस्रव होता है ॥८३॥ आसादन, मात्सर्य और गुरुका नाम छिपाना आदि, ज्ञानावरण और दर्शनावरणके आस्रवके कारण

---

१. म विरक्त॰ । २. आ श अस्य श्लोकस्य व्याख्या नास्ति । ३. = क्रोधादिकषायसहितः । ४. = आस्रवस्य । ५ = आदौ ।

परिदेवनसंतापशोकाक्रन्दवधादयः ।
असातवेदनीयस्य कर्मणः समनुस्मृताः ॥८५॥
सरागसंयमो दानं शौचं क्षान्त्यनुकम्पने ।
इत्येवमादयो ज्ञेयाः सातवेद्यस्य कर्मणः ॥८६॥
केवलिश्रुतधर्माणां देवस्य च गणस्य च ।
अवर्णवदनं दृष्टिमोहनीयस्य कीर्तितम् ॥८७॥
यः कषायोदयात्तीव्रः परिणामः प्रजायते ।
चारित्रमोहनीयस्य कर्मणः सोऽनुवर्णितः ॥८८॥
नारकस्यायुषो ज्ञेयो बह्वारम्भपरिग्रहः
माया बहुविधाकारा तैर्यग्योनस्य कीर्तिताः ॥८९॥
मानुषस्यावगन्तव्यः स्वल्पारम्भपरिग्रहः ।
सरागसंयमत्वादि दैवस्य परिवर्णितम् ॥९०॥

परिदेवनेति । परिदेवनसंतापशोकाक्रन्दववादय परिदेवन विप्रलापः तच्च, संताप पश्चात्ताप स च, शोको दु ख स च, आक्रन्द आक्रोश· स च, वध प्राण्यपरोपणं स च, तथोक्ता परिदेवनसतापशोकाक्रन्दवधा ते आदयो येषा ते । असातवेदनीयस्य असातवेदनीयाख्यस्य कर्मणः । आस्रवा इति । समनुस्मृता सम्यग्ज्ञाता ॥८५॥ सरागेति । सरागसंयम. सरागो रागसहित सयमश्चारित्रम् । दान लोभाभावः। शौच क्रोधाद्यभाव. । क्षान्त्यनुकम्पने क्षान्ति क्षमा सा च अनुकम्पन प्राणिदया तच्च तथोक्ते । इत्येवमादय एवप्रभृतयः । सातवेद्यस्य सातवेदनीयाख्यस्य कर्मण । आस्रवा । ज्ञेया ॥८६॥ केवलीति । केवलिश्रुतवर्माणा केवली अर्हत्परमेष्ठी श्रुत तत्प्रणीतागमो धर्मो रत्नत्रयस्वरूपः तेषाम् । देवस्य चतुर्णिकायामरसमूहस्य । गणस्य चतुःसङ्घस्य । अवर्णवादनम्[1] अवर्णस्य निन्दाया वादन वचनम् । केवलिन कवलाहारत्वम् । श्रुतस्य हिंसाप्रतिपादनम् । धर्मस्य दयाविलोपनम् । देवस्य[2] ॥८७॥ य इति । कषायोदयात् कषायस्य क्रोधादिस्वभावस्योदयाद् विपाकात् । यः । तीव्र क्रूरः । परिणाम परिणतिः । प्रजायते समुत्पद्यते । जनैङ् प्रादुर्भावे । स परिणाम । चारित्रमोहनीयस्य चारित्रमोहस्य । कर्मण कर्मपरीत[3] पुद्गलस्य । अनुवर्णित आस्रवत्वेन वर्णित ॥८८॥ नारकस्येति । बह्वारम्भपरिग्रह. बहुना बहुत्वेनारम्भेण पापव्यापारेण युक्त परिग्रह । नारकस्य[4] नरकसवन्धस्य । आयुष. आयुष्यस्य । ज्ञेय. आस्रव इति ज्ञातव्य । बहुविधाकारा बहुविधेनाकारेण युक्ता । मायाः मायाकषाया । तैर्यग्योनस्य तिर्यग्जन्मन । कीर्तिता आस्रवत्वेन निरूपिता. ॥८९॥ मानुषस्येति । अ[स्व]ल्पारम्भपरिग्रह· अ[स्व]ल्पेन स्तोकेनारम्भेण युक्त. परिग्रह क्षेत्रादिपरिग्रहः । मानुषस्य मनुष्यायुष्यस्य । अवगन्तव्य आस्रव इत्यवगन्तव्यो ज्ञातव्य. । सरागसयमत्वादि सरागसंयमत्वादि चारित्रत्वादि । दैवस्य देवायुष्यस्य । परिवर्णित प्ररूपितम्

हैं ॥८४॥ परिदेवन, सन्ताप, शोक, आक्रन्दन और वध आदि असातावेदनीय कर्मके आस्रवके कारण हैं ॥८५॥ सराग सयम, दान, शौच-लोभका परित्याग, क्षान्ति-क्षमा और अनुकम्पा आदि सातावेदनीय कर्मके आस्रवके कारण हैं ॥८६॥ केवली, श्रुत, धर्म, देव और सङ्घका अवर्णवाद करना (झूठे दोष लगाना) दर्शन मोहनीय कर्मके आस्रवके कारण हैं ॥८७॥ कषायके उदयसे जो तीव्र परिणाम होता है, वह चारित्रमोहनीय कर्मके आस्रवका कारण है ॥८८॥ बहुत आरम्भ और बहुत परिग्रह नरकायुके आस्रवके कारण हैं। नाना प्रकारकी माया तिर्यग्योनिके आस्रवका कारण है ॥८९॥ थोडा आरम्भ और थोडा परिग्रह मनुष्यायुके आस्रवका

१. एष टीकाश्रय. पाठ , प्रतिषु तु 'अवर्णवदन' इत्येव दृश्यते । २. = मद्यमासोपसेवनाद्याघोषणम् । गणस्य च चतुर्विधसङ्घस्य च शूद्रत्वाशुचित्वाद्याविर्भावनम् । दृष्टिमोहनीयस्य दर्शनमोहनीयस्य । कीर्तितं प्रतिपादितम् । आस्रवहेतुत्वेन—इति शेष । ३. = कर्मपरिणत° । ४. = नरकसबन्धिनः ।

विसंवादनमत्यन्तयोगवक्रत्वमित्यपि ।
नाम्नोऽशुभस्य विज्ञेयं विपरीतं शुभस्य च ॥९१॥
विज्ञेयास्तीर्थकृन्नाम्नो दृक्शुद्धयाद्याश्च षोडश ।
स्वप्रशंसान्यनिन्दादि नीचैर्गोत्रस्य वर्णितम्[1] ॥९२॥
स्वनिन्दान्यप्रशंसादिरुच्चैर्गोत्रस्य गम्यताम्[2] ।
दानादिविघ्नकरणमन्तरायस्य कीर्तितम् ॥९३॥
इत्यास्रवपदार्थस्य तत्त्वं समुपवर्णितम् ।
अधुना बन्धतत्त्वस्य स्वरूपं व्याकरिष्यते ॥९४॥
असम्यग्दर्शनं योगा विरतेश्च[3] विपर्ययः ।
प्रमादाश्च कषायाश्च पञ्च बन्धस्य हेतवः ॥९५॥

॥९०॥ विसवादनमिति । विसवादनम् अन्यथाप्रवर्तनम् । अत्यन्तयोगवक्रत्वम् अत्यन्त योगाना मनोवाक्काय-व्यापाराणा वक्रत्व कौटिल्यम् । इत्यपि एवमपि । अशुभस्य अप्रशस्तस्य । नाम्न नामकर्मण. । विज्ञेयम् आस्र-वणमिति विज्ञेयम् । विपरीतम् । अविसंवादन योगसरलत्व च । शुभस्य प्रशस्तनामकर्मण । आस्रव इति ज्ञेय ॥९१॥ विज्ञेया इति । दृक्शुद्धयाद्याश्च दर्शनशुद्धयादय. । षोडश षोडशभावना । तीर्थकृन्नाम्न तीर्थकृन्नाम-कर्मण । विज्ञेया आस्रवा इति विज्ञेया ज्ञातव्या । स्वप्रशसान्यनिन्दादि स्वस्य आत्मन[4] ॥९२॥ (स्वनिन्देति । स्वनिन्दान्यप्रशसादि. स्वस्यात्मनो निन्दा दोषकीर्तनमन्यस्य प्रशसा गुणकीर्तन च तत्प्रभृति । उच्चैर्गोत्रस्य उच्चगोत्राभिधस्य कर्मण । गम्यताम् आस्रवहेतुत्वेन ज्ञायताम् ।) दानादिविघ्नकरण दानादीनाम् आदिपदेन लाभभोगादिग्रहण,विघ्नकरण विघ्नस्य प्रत्यूहस्य करण विधानम् । अन्तरायस्य अन्तरायकर्मण. । कीर्तित प्ररूपितम् ॥९३॥ इतीति । इति एवम् । आस्रवपदार्थस्य आस्रवस्य पदार्थस्य । तत्त्व स्वरूपम् । समुपवर्णित कीर्तितम् । अधुना इदानीम् । बन्धतत्त्वस्य बन्धपदार्थस्य । स्वरूप लक्षणम् । व्याकरिष्यते व्याख्यास्यते । डुकृञ् करणे लृट् ॥९४॥ असम्यगिति । असम्यग्दर्शन पञ्चविधमिथ्यात्वम् । योगा कायवाङ्मनोयोगा । विरतेश्च चारित्रस्य । विप-र्यय नाश । प्रमादाश्च राजकथादिपञ्चदशप्रमादा । कषायाश्च क्रोधादिचतुष्कषायाश्च । पञ्च पञ्चविधा. ।

कारण है । सरागसयम आदि देवायुके आस्रवके कारण हैं ॥९०॥ विसवाद और योगोकी अत्यधिक वक्रता अशुभनाम कर्मके आस्रवके कारण हैं तथा अविसवाद एवं योगोकी अत्यधिक सरलता शुभनाम कर्मके आस्रवके कारण हैं ॥९१॥ दर्शन विशुद्धि आदि सोलह भावनाएँ तीर्थ-ङ्कर नाम कर्मके आस्रवमे कारण हैं । अपनी प्रशसा, और, औरोकी निन्दा आदि नीचगोत्रके आस्रवके कारण हैं ॥९२॥ अपनी निन्दा और दूसरोकी प्रशसा करना उच्चगोत्रके आस्रवके कारण हैं । दान आदिमे विघ्न करना अन्तराय कर्मके आस्रवमे कारण है ॥९३॥ इस प्रकारसे आस्रवके स्वरूपका निरूपण किया, अब बन्धनामक तत्त्वके स्वरूपका निरूपण किया जा रहा है—॥९४॥ मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ये पाँच बन्धके कारण हैं ॥९५॥

---

१ अ आ इ क ख ग घ कीर्तिता । २ म ॰ वर्णितम् । ३. अ योगो विरतेश्च, म योगाविरतेश्च । ४ = प्रशसा श्लाघा, अन्यस्य परस्य निन्दादि दोषकथनादिकम् । नीचैर्गोत्रस्य नीचगोत्रस्य । वर्णितम् आस्रवहेतुत्वेन कीर्तितम् ।

सकषायतया जन्तोः कर्मयोग्यैर्निरन्तरम् ।
पुद्गलैः सह संबन्धो बन्ध इत्यभिधीयते ॥९६॥

विभेदात्प्रकृतिस्थित्योरनुभागप्रदेशयोः ।
जिनागमनदी[1]स्नातैर्विज्ञेयः स चतुर्विधः ॥९७॥

ज्ञानदृष्ट्यावृती वेद्यं मोहनीयायुषी तथा ।
नामगोत्रान्तरायाश्चेत्यष्टौ प्रकृतयः स्मृताः ॥९८॥

भेदाः पञ्च नव द्वौ च विंशतिश्चाष्टसंयुताः ।
चतुर्द्विचत्वारिंशद् द्वौ पञ्च तासामनुक्रमम् ॥९९॥

ज्ञानावृतिदृगावृत्योर्वेदनीयान्तराययोः ।
सागरोपमकोटीनां कोट्यस्त्रिंशत्परा स्थितिः ॥१००॥

बन्धस्य । हेतव' कारणानि । स्यु भवेयु[2]॥९५ । सकषायेति । जीवस्य ससारिजीवस्य । सकषायतया क्रोधादि-कषाययुक्ततया । कर्मयोग्यै. कर्मणा योग्यैरुचितै । पुद्गलै पुद्गलपरमाणुभि । सह साकम् । निरन्तर सततम् । सवन्ध सयोग । वन्ध इति वन्धपदार्थ इति । अभिधीयते निगद्यते । डुधाञ्[3] धारणे च कर्मणि लट् ॥९६॥ विभेदादिति । जिनागमनदीस्नातै जिनागम एव जिनशासनमेव नदी तरङ्गिणी तस्या स्नातै स्नान कृतै (निष्णातै) मुनीश्वरै. । प्रकृतिस्थित्यो प्रकृतिवन्धस्थितिवन्धयो । अनुभागप्रदेशयो अनुभागवन्धप्रदेश (वन्ध) योश्च । विभेदात् विकल्पात् । स बन्ध । चतुर्विध चत्वारो विधा प्रकारा यस्य स । इति विज्ञेय: वेदितव्य ॥९७ । ज्ञानेति । ज्ञानदृष्ट्यावृती ज्ञानदृष्ट्योर्ज्ञानदर्शनयोरावृती आवरणे । वेद्य वेदनीयम् । मोहनी-यायुषी मोहनीयायुष्यकर्मणी । तथा तेन प्रकारेण । नामगोत्रान्तरायाश्च नामकर्म-गोत्रकर्म-अन्तरायकर्माणि च । इति एवम् । अष्टौ अष्टसख्या । प्रकृतय.[4] प्रकृतय इति । स्मृता. ज्ञाता ॥९८॥ भेदा इति । पञ्च, नव, द्वौ च, अष्टसयुता अष्टभि सयुता सहिता विंशतिश्च, चतुर्द्विचत्वारिंशद्वा[5] (?) चत्वारश्च (द्वि) चत्वारिंशच्च द्वौ च चतुर्द्विचत्वारिंशद्वा (?), पञ्च । तासा प्रकृतीनाम् । अनुक्रमम् । भेदा. विकल्पाः । स्युः । ज्ञानावरणी-यस्य पञ्च भेदा । दर्शनावरणीयस्य नव भेदा । वेदनीयस्य द्वौ भेदौ । मोहनीयस्य अष्टाविंशतिर्भेदा । आयु-ष्यस्य चतुर्भेदा. । नामकर्मण द्वाचत्वारिंशद्भेदा. । गोत्रस्य द्वौ भेदौ । अन्तरायस्य पञ्च भेदा इत्यर्थः ॥९९॥ ज्ञानेति । ज्ञानावृतिदृगावृत्यो ज्ञानावरणीयदर्शनावरणीययो । वेदनीयान्तराययोः वेदनीयकर्मान्तरायकर्मणो. । परा प्रकृष्टा । स्थिति स्थितिवन्धः । सागरोपमकोटीना सागरोपमाणा कोटय तासाम् । त्रिंशत् त्रिंशत्सख्याः

सकषाय होनेके कारण जीवका कर्मयोग्य पुद्गलोसे जो सम्बन्ध होता है, उसे बन्ध कहते हैं ॥९६॥ प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध और प्रदेशबन्धके भेदसे जैन आगमके निष्णात विद्वानोंने बन्ध चार प्रकारका बतलाया है, जो सभीके लिए जानने योग्य है ॥९७॥ ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय—ये आठ प्रकृतिबन्धके भेद हैं ॥९८॥ इन ज्ञानावरण आदि आठो कर्मोंके क्रमसे (१) पाँच, (२) नौ, (३) दो, (४) अट्ठाईस, (५) चार, (६) बयालीस, (७) दो और (८) पाँच भेद हैं—ज्ञानावरणके पाँच, दर्शनावरणके नौ, वेदनीयके दो, मोहनीयके अट्ठाईस, आयुके चार, नामके बयालीस, गोत्रके दो और अन्तरायके पाँच ॥९९॥ ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय और अन्तराय इन चार कर्मोकी

---

१ म नदीस्नातै. । २ श 'भवेयु' इति नास्ति । ३. आ डुदाञ् । ४ श 'प्रकृतय' इति नास्ति । ५ एष टीकाधृत पाठ, प्रतिषु तु 'चत्वारिंशद् द्वौ' इत्येवावलोक्यते ।

सप्ततिर्मोहनीयस्य विंशतिर्नामगोत्रयोः ।
आयुपश्च त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमसंमिताः ॥१०१॥

मुहूर्ता वेदनीयस्य द्वादशैवापरा स्थिति. ।
स्यान्नामगोत्रयोरष्टो शेषाश्चान्तर्मुहूर्तकाः ॥१०२॥

कर्मणां यो विपाकस्तु भवक्षेत्राद्यपेक्षया ।
सोऽनुभागः समाम्नातो जिनैः केवललोचनैः ॥१०३॥

योगभेदादनन्ता ये प्रदेशाः कर्मणः स्थिताः ।
सर्वेष्वात्मप्रदेशेषु स प्रदेश इति स्मृतः ॥१०४॥

एवमेप चतुर्भेदभिन्नो बन्धो निरूपित. ।
संवरस्याधुना रूपं किंचिदुद्योतयिष्यते ॥ १०५ ॥

कोटय[1] प्रयुतप्रमा[2]। स्यु ॥१००॥ सप्ततिरिति । मोहनीयस्य मोहनीयकर्मण. । सतति. सप्ततिकोटि-कोटि-सागरोपमा । नामगोत्रयो नामगोत्रकर्मणो । विंशतिः विंशतिकोटि-कोटिसागरोपमा । आयुपस्तु[3] आयुष्य-कर्मण । सागरोपमप्रमिता[4] सागरोपमै प्रमिता संमिता । त्रयस्त्रिंशत् त्रिभिरधिका त्रिंशत् । 'द्वाष्टत्रय–' इत्यादिना त्रयस्–आदेश ॥१०१॥ मुहूर्ता इति । वेदनीयस्य वेदनीयकर्मण । द्वादशैव द्वाभ्यामधिका दश द्वादशैव । मुहूर्ता मुहूर्तप्रमाणा । अपरा जघन्या । स्थिति स्थितिबन्ध । नामगोत्रयो नामगोत्रकर्मणो । अष्टौ मुहूर्ता । शेषा प्रकृतयस्तु । अन्तर्मुहूर्तका[5] अन्तर्मुहूर्तसहिता ॥१०२॥ कर्मणामिति । भवक्षेत्राद्यपेक्षया भवस्य नरकादीना भवस्य क्षेत्रादीना नरकादिक्षेत्रादीनामपेक्षया विवक्षया, आदिशब्देन कालभावद्रव्याणि ग्राह्याणि । य । कर्मणा ज्ञानावरणादीनाम् । विपाक परिणति । स फलादानपरिणाम । केवललोचनै केवलमेव केवलज्ञानमेव लोचन येषा तै । जिनै जिनेश्वरैरर्हद्भि । अनुभाग[6] अनुभागबन्ध । समाम्नात निरूपितः ॥१०३॥ योगेति । योगभेदात् कायवाङ्मनोयोगानां भेदाद् विकल्पात् । कर्मण. ज्ञानावरणादे । सर्वेषु सकलेषु । आत्मप्रदेषु आत्मनो जीवस्य प्रदेशेषु । ये । अनन्ता अनन्तपरिमाणा । प्रदेशा । स्थिता आश्रिता[7] । स प्रदेश इति प्रदेशबन्ध इति । स्मृत ज्ञात ॥१०४। एवमिति । एव प्रकारेण । चतुर्भेदभिन्न चतुर्भिर्भेदैर्भिन्नो युक्त । एप अयम् । बन्ध बन्धपदार्थ. । निरूपित' प्रकीर्तित. । अधुना इदानीम् । संवरस्य संवरपदार्थस्य । रूप

उत्कृष्ट स्थिति तीस कोटाकोटी सागर प्रमाण है ॥१००॥ मोहनीय कर्मकी उत्कृष्ट स्थिति सत्तर कोडाकोडी सागर प्रमाण है, नाम और गोत्र इन दो कर्मोंकी बीस-बीस कोडा-कोडी सागर प्रमाण है और आयुकर्मकी उत्कृष्ट स्थिति तेतीस सागर प्रमाण है ॥१०१॥ वेदनीय कर्मको जघन्य स्थिति बारह मुहूर्त है, नाम और गोत्र कर्मको जघन्य स्थिति आठ मुहूर्त है और शेष कर्मों की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त है ॥१०२॥ भव और क्षेत्र आदि (द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव) की अपेक्षासे कर्मों के विपाकको अनुभाव बन्ध जानना चाहिए। केवलज्ञानी भगवान् जिनेन्द्रदेवने ऐसा निरूपण किया है ॥१०३॥ योगोकी विशेषताके अनुसार आत्माके सभी प्रदेशोमे प्रति समय जो कर्मोंके अनन्तप्रदेश आकर स्थित होते हैं, इमीको प्रदेशबन्ध कहते हैं ॥१०४॥ इस प्रकार चार भेदोमे विभक्त बन्धका

---

१ श 'कोटयः' इति नास्ति । २ श युतप्रमाः । ३ आ आयुपस्य, मूलप्रतिपु च आयुषश्च । ४. मूलप्रतिपु तु °संमिता । ५ श मुहूर्ता, मुद्रितप्रतौ तु °मुहूर्तकम् । ६ एष टीकाश्रय पाठ, प्रतिपु तु 'अनुभाव' समुपलभ्यते । ७ श 'आसिता' इति नोपलभ्यते ।

आस्रवस्य निरोधो यः संवरः स निगद्यते ।
कर्म संव्रियते येनेत्येवं व्युत्पत्तिसंश्रयात् ॥१०६॥
चारित्रगुप्त्यनुप्रेक्षापरीषहजयादसौ ।
दशलक्षणधर्माच्च समितिभ्यश्च जायते ॥१०७॥
इति सवरतत्त्वस्य रूपं संक्षिप्य कीर्तितम् ।
इदानीं क्रियते किंचिन्निर्जराया निरूपणम् ॥१०८॥
यथाकालकृता काचिदुपक्रमकृतापरा ।
निर्जरा द्विविधा ज्ञेया कर्मक्षपणलक्षणा ॥१०९॥
या कर्मभुक्तिः श्वभ्रादौ सा यथाकालजा स्मृता ।
तपसा निर्जरा या तु सा चोपक्रमनिर्जरा ॥११०॥

स्वरूपम् । किंचित् स्तोकम् । उद्योतयिष्यते प्रकाशयिष्यते । द्युति दीप्तौ णिजन्ताल्लट् ॥१०५॥ आस्रवस्येति । आसूवस्य कर्मणामासूवस्य । य. । निरोधः निवारणम् । सवर इति सवरपदार्थ इति । निगद्यते । गद व्यक्तायां वाचि कर्मणि लट् । अनेन एतेन । कर्म ज्ञानावरणादि । सव्रियते निरुध्यते । इति एव प्रकारेण । व्युत्पत्तिसश्रयात् व्युत्पत्तेर्निरुक्तेः सश्रयात् आश्रयात् ॥१०६॥ चारित्रेति । असौ सवर । चारित्रगुप्त्यनुप्रेक्षापरीषहजयात् चारित्र त्रयोदशविध तच्च, गुप्तिर्यत संसारकारणादात्मनो गोपनं गुप्ति सा च, अनुप्रेक्षा शरीरादीना स्वभावानुचिन्तन-मनुप्रेक्षा सा च. परीषहजयात् परीषहाणा क्षुत्पिपासादीना जयो विजय स च, तथोक्ता॰, तेषा समाहार चारित्रगुप्त्यनुप्रेक्षापरीषहजय तस्मात् । दशलक्षणधर्माच्च दशलक्षणान्यसाधारणस्वरूपाणि यस्य तस्मात् धर्मात् इष्टस्थाने धरणरूपात् । समितिभ्यश्च प्राणिपीडापरिहारपरिणति॰ समिति , पञ्च समितय॰ ताभ्यश्च । जायते समुत्पद्यते । लट् ॥१०७॥ इतीति । इति उक्तप्रकारेण । सवरतत्त्वस्य संवरपदार्थस्य । रूपं स्वरूपम् । संक्षिप्य समस्य । कीर्तित प्रोक्तम् । इदानीम् अधुना । निर्जराया. निर्जरापदार्थस्य । निरूपणम् अनुवर्णनम् । किंचित् ईषत् । क्रियते विधीयते । कर्मणि लट् ॥१०८॥ यथेति । तावत्[1] । यथाकालकृता यथाकालं काल-मनतिक्रम्य कृता विहिता । अपरा अन्या । उपक्रमकृता उपक्रमेण कृता विहिता । कर्मक्षपणलक्षणा कर्मणा ज्ञानावरणादीना क्षपणं विनाश. तदेव लक्षण स्वरूप यस्या सा । निर्जरा निर्जरापदार्थ । द्विविधा द्विप्रकारा-द्वौ विधौ प्रकारौ यस्या सा । ज्ञेया वेदितव्या ॥१०९॥ येति । श्वभ्रादौ नरकादिगत्याम् । कर्मभुक्ति. कर्मणा भुक्तिरनुभवना जायते । या निर्जरा । सा यथाकालजा कालमनतिक्रम्य जनिता इति । स्मृता ज्ञाता । या तु ।

निरूपण किया, अब थोड़ा संवरके स्वरूपपर प्रकाश डाला जा रहा है ॥१०५॥ आसूवके निरोधको संवर कहते हैं । आनेवाले कर्मोंका जिसके द्वारा सवरण हो—निरोध हो, उसे सवर कहते हैं—'कर्म संव्रियते येन स सवरः' यह सवरकी व्युत्पत्ति है । इसी व्युत्पत्तिके आधारपर उक्त अर्थ किया गया है ॥१०६॥ यह सवर, चारित्र, गुप्ति, अनुप्रेक्षा, परीषहजय, दशलक्षण-धर्म और समितियोसे होता है ॥१०७॥ इस प्रकार सक्षेपमे संवरतत्त्वका स्वरूप कहा, अब थोडा निर्जराका निरूपण किया जा रहा है ॥१०८॥ पहले बँधे हुए कर्मोंका अशत. क्षपण होना—झडना निर्जराका लक्षण है, और वह निर्जरा दो प्रकारकी होती है—सविपाक निर्जरा और अविपाक निर्जरा । स्वाभाविक क्रमसे प्रति समय कर्मोका, फल देकर झड़ना सविपाक निर्जरा है । इसीका दूसरा नाम अनुपक्रम निर्जरा या यथाकाल निर्जरा है । तपके द्वारा कर्मों-का उनके उदयके समयके पहले ही झडा देना अविपाक निर्जरा है । इसीका दूसरा नाम उपक्रम निर्जरा है ॥१०९॥ नरक आदि गतियोमे कर्मोंका फल भोगना—अपने समयके अनुसार फल

१. एष टीकाश्रय. पाठ॰, प्रतिषु तु 'काचित्' इत्येवास्ति ।

स्थितं द्वादशभिर्भेदैर्निर्जराकरणं तपः ।
बाह्यमाभ्यन्तरं चेति मूलभेदद्वयान्वितम् ॥१११॥
उपवासावमोदर्यं वृत्तिसंख्या रसोज्झनम्[1] ।
विविक्तवासता[2] कायक्लेशश्चेति बहिर्भवम् ॥११२॥
स्वाध्यायो व्यावृतिर्ध्यानं व्युत्सर्गो विनयस्तथा ।
प्रायश्चित्तमिति ज्ञेयमान्तरं षड्विधं तपः ॥११३॥
स्वाध्यायानशनादीनां व्यक्तत्वादप्रपञ्चनम् ।
क्रियते दुर्विबोधत्वाद्ध्यानस्यैव प्रपञ्चनम् ॥११४॥
आर्तं रौद्रं च धर्मं च शुक्लं चापि चतुर्विधम् ।
ध्यानमाख्यातमर्हद्भिः शुभाशुभगतिप्रदम् ॥११५॥

उपक्रमनिर्जरा उपक्रमेण जाता निर्जरा[3] । स्मृता ॥११०॥ स्थितमिति । निर्जराकारण निर्जरायाः कर्मविनाशस्य कारण हेतु । तप.[4] तपश्चरणम् । द्वादशभि. भेदै विकल्पै । स्थितम् आश्रितम् । बाह्यं बहिर्जातम् । आभ्यन्तर चेति अन्तरङ्गजनित चेति । मूलभेदद्वयान्वित मूलभेदयोर्द्वयेनान्वित सहितम् ॥१११॥ उपवासेति । उपवासावमोदर्यं उपवासोऽनशन स च, अवमोदर्यम् अवम रिक्तमुदर जठर यस्य सोऽवमोदर· तस्य भावोऽवमोदर्यं तच्च तथोक्ते । वृत्तिसख्या । रसोज्झन रसाना क्षीरघृतादीनामुज्झन त्यजनम् । विविक्तवासता विविक्ते एकान्ते वासता स्थितित्वम् । कायक्लेशश्चेति कायक्लेश इति । बहिर्भव बा ह्यम् । तप इति स्मृतम् ॥११२॥ स्वाध्याय इति । स्वाध्याय श्रुताध्ययनम् । व्यापृति:[5] वैयावृत्यम् । ध्यानम् एकाग्रचिन्तानिरोधलक्षणम् । व्युत्सर्ग कायोत्सर्ग । विनय ज्ञानादिविनय. । तथा तेन प्रकारेण । प्रायश्चित्तमिति । आन्तरम् अन्तरङ्गभवम् तप. तपश्चरणम् । षड्विध षट्प्रकारम् । ज्ञेय वेदितव्यम् ॥११३॥ स्वाध्याय इति । स्वाध्यायानशनादीना स्वाध्यायानशने आदी येषा तेषाम् । व्यक्तत्वात् विशदत्वात् । अप्रपञ्चनम् अविवेचनम् । ध्यानस्यैव दुर्विबोधत्वात् ज्ञातुमशक्यत्वात् । प्रपञ्चन विवरणम् । क्रियते विधीयते । कर्मणि लट् ॥११४॥ आर्तमिति । शुभाशुभगतिप्रद शुभगतयशुभगती प्रददातीति शुभाशुभगतिप्रदम् । ध्यानम् । आर्तम् ऋते भवमार्तम् । रौद्र रोदयतीति[6] रुद्र तस्य भावो रौद्रम् । धर्म्यं[7] च धर्मादनपेतम् । शुक्ल चेति शुक्लमिति । चतुर्विध चत्वारो[8] विधा विकल्पा

देकर बद्ध कर्मो का अशत· झड़ जाना यथाकालजा—सविपाक निर्जरा है, और जो तपश्चरणसे कर्मों की निर्जरा होती है वह उपक्रम निर्जरा या अविपाक निर्जरा कहलाती है ॥११०॥ निर्जराका कारण तप है, जो बारह प्रकारका है । तपके मूल भेद दो हैं, बाह्य और आभ्यन्तर ॥१११॥ बाह्य तप छह प्रकारका है—अनशन, अवमौदर्य, वृत्तिपरिसख्यान, रसपरित्याग, विविक्त शयनासन और कायक्लेश ॥११२॥ स्वाध्याय, वैयावृत्ति, ध्यान, व्युत्सर्ग, विनय और प्रायश्चित्त ये छह आभ्यन्तर तप जानने चाहिए ॥११३॥ स्वाध्याय और अनशन आदि किसे कहते हैं; यह स्पष्ट है, अत· इनका विस्तार छोडते हैं । दुर्बोध होनेके कारण केवल ध्यानका ही विस्तार किया जा रहा है ॥११४॥ भगवान् अरिहतने उस ध्यानके चार भेद बतलाये हैं—आर्त्त, रौद्र, धर्म, और शुक्ल । इनमे आर्त्त और रौद्र

---

१ म रसोज्झनम् । २. अ विविक्ता वासना, आ इ विविक्तावासता, म विविक्तवासना । ३. = तपसा तपश्चरणेन । निर्जरा जायते । सा च । ४. श 'तप' इति नोपलभ्यते । ५ एष टीकाश्रय पाठ·, प्रतिषु तु 'व्यावृति' वर्तते । ६. श रोधयतीति । ७. एष टीकाश्रय. पाठ· प्रतिषु तु 'धर्मं च' इति समुपलभ्यते । ८ = चतस्रो ।

अनिष्टसंगमे तस्य वियोगपरिचिन्तनम् ।
विप्रयोगे मनोज्ञस्य समागमविचिन्तनम् ॥११६॥
रोगादिजनितायाश्च वेदनाया मुहुः स्मृतिः ।
निदानं चेति चत्वारो भेदाः पूर्वस्य कीर्तिताः ॥११७॥
रौद्रं हिंसानृतस्तेयविषयप्रतिपालनैः ।
चतुर्भिर्जायमानत्वात्कारणैः स्याच्चतुर्विधम् ॥११८॥
आज्ञा विपाकविचयावपायविचयस्तथा ।
संस्थानविचयश्चेति धर्मध्यानं चतुर्विधम् ॥११९॥
पृथक्त्वादिवितर्कान्तं शुक्लमाद्यमुदीरितम् ।
एकत्वादिवितर्कान्तं द्वितीयमनुगद्यते ॥१२०॥

यस्य तत् । अर्हद्भिः सर्वज्ञैः । आख्यातं प्रोक्तम् ॥११५॥ अनिष्टेति । अनिष्टसङ्गमे अनिष्टस्य सङ्गमे संयोगे सति । तस्य अनिष्टवस्तुन । वियोगपरिचिन्तन वियोगे विगमे परिचिन्तनं स्मरणम् । 卐 मनोज्ञस्य इष्टवस्तुन । विप्रयोगे विरहे सति । समागमनचिन्तन[1] समागमने संप्रापणे चिन्तनं स्मरणम्[2] 卐 ॥११६॥ रागेति । रागादि[3]जनितायाश्च रागादिभी रागद्वेषादिभिर्जनितायाश्च । वेदनाया· पीडाया । मुहुः स्मृतिः विगमचिन्तनम् । निदानं चेति सपदाद्यपेक्षण चेति । पूर्वस्य आर्तध्यानस्य । चत्वारः । भेदाः विकल्पा । कीर्तिताः निरूपिताः ॥११७॥ रौद्रमिति । रौद्र रौद्रध्यानम् । हिंसानृतस्तेयविषयप्रतिपालनैः हिंसा प्रमत्तयोगात् प्राण्यपरोपणं सा च,–अनृतम् असदभिधानं तच्च, स्तेयम् अदत्तादानं तच्च, विषया· पञ्चेन्द्रियगोचराः, तेषा प्रतिपालन तच्च, तथोक्तानि तैः । चतुर्भि· चतु संख्यैः । कारणैः हेतुभिः । जायमानत्वात् उत्पद्यमानत्वात् । चतुर्विध चतुर्विकल्पम् । स्यात् । लिङ्[4] ॥११८॥ आज्ञेति । आज्ञाविपाकवचियौ आज्ञाविचयश्च विपाकविचयश्च तथोक्तौ । अपायविचय । तथा तेन प्रकारेण । सस्थानविचयश्चेति । धर्म्य[5]ध्यानं धर्म्यं च तद्ध्यान च तथोक्तम् । चतुर्विध चत्वारो[6] विधाः प्रकारा[7] यस्य तत् ॥११९॥ पृथक्त्वेति । आद्यं प्रथमम् । शुक्ल शुक्लध्यानम् । पृथक्त्वादिवितर्कान्त पृथक्त्वम् आदौ यस्य तत् पृथक्त्वादि, वितर्कोऽन्ते यस्य तद् वितर्कान्तं, पृथक्त्वादि च तद् वितर्कान्तं च तथोक्तम् । पृथक्त्ववितर्कसञ्ज्ञमित्यर्थ । यद्यपि पृथक्त्ववितर्क विचार इति नाम शुक्लाध्यानस्य तथापि पृथक्त्ववितर्कमित्युच्ये, 'नामैकदेशो नाम्नि प्रवर्तते' इति वचनात् । इत्युदीरितं[8] प्रोक्तम् । एकत्वादिवितर्कान्तम् एकत्वमादौ यस्य तत्, वितर्कोऽन्ते यस्य तत्, एकत्वादिवितर्कान्तं च तथोक्तम् । एकत्ववितर्कविचार-

अशुभगतिके कारण हैं और धर्म और शुक्ल शुभ गति के ॥११५॥ अनिष्ट समागम होनेपर बार-बार यह सोचना कि यह कैसे दूर हो अनिष्ट संयोग नामक आर्त्तध्यान है। इष्ट वियोग होनेपर बार-बार यह सोचना कि उसका समागम कैसे हो इष्ट वियोग नामक आर्त्तध्यान है ॥११६॥ रोगादिजनित वेदनाके होनेपर बार-बार उसीका स्मरण करना वेदना नामक आर्त्तध्यान है। आगामी भोगोकी बार-बार चिन्ता करना निदान नामक आर्त्तध्यान है। इस तरह ये चार पहले आर्त्तध्यान के भेद है ॥११७॥ हिंसा, झूठ, चोरी और विषयोके संरक्षणकी चिन्ता करना रौद्रध्यान है। हिंसानन्दी, मृषानन्दी, चौर्यानन्दी और विषयानन्दी ये चार रौद्रध्यानके भेद हैं। चार कारणोसे उत्पन्न होनेके कारण यह चार प्रकारका होता है ॥११८॥ धर्मध्यान चार प्रकारका है—आज्ञाविचय, विपाकविचय, अपायविचय और संस्थान विचय ॥११९॥ शुक्लध्यान भी चार प्रकारका है—पहला पृथकत्ववितर्क, दूसरा

१. एष टीकाश्रय पाठ प्रतिषु तु निखिलास्वपि 'समागमविचिन्तनम्' इति समुलभ्यते । २. श स्वस्तिकान्तर्गत पाठो नोपलभ्यते । ३ अयमपि टीकाश्रय पाठः, प्रतिषु तु 'रोगादि' दृश्यते । ४. आ लेङ् । ५. एष टीकाश्रय. पाठ, प्रतिषु तु 'धर्म' इत्यस्ति । ६. = चतस्रो । ७. आ विकल्पाः । ८. श इत्युदित ।

अन्यत् सूक्ष्मक्रियापूर्वं प्रतिपात्यन्तमुच्यते ।
चतुर्थं प्रतिपात्यन्तं समुच्छिन्नक्रियादिकम् ॥१२१॥
कथितेति समासेन निर्जरा सनिबन्धना ।
सांप्रतं मोक्षतत्त्वस्य रूपं व्यावर्णयिष्यते[1] ॥१२२॥
कृत्स्नकर्मक्षयो मोक्षो भव्यस्य परिणामिनः ।
ज्ञानदर्शनचारित्रत्रयोपायः प्रकीर्तितः ॥१२३॥
तत्त्वप्रकाशकं ज्ञानं दर्शनं तत्त्वरोचकम् ।
पापारम्भपरित्यागश्चारित्रमिति कथ्यते ॥१२४॥
संसारव्याधिविध्वंसे[2] भाव्यमानमिदं त्रयम् ।
हेतुरेकाङ्गविकलो[3] न हेतुरिव भेषजम् ॥१२५॥

मित्यर्थ । द्वितीय द्वितीयशुक्लध्यानमिति । निगद्यते[4] प्रकीर्त्यते । कर्मणि लट् ॥१२०॥ अन्यदिति । अन्यत् तृतीयम् । सूक्ष्मक्रियापूर्वप्रतिपात्यन्त[5] सूक्ष्मक्रिया पूर्वा प्रथमा यस्य तत् प्रतिपातिशब्दोऽन्ते यस्य तत् तथोक्त सूक्ष्मक्रियापूर्वं च तत् प्रतिपात्यन्त च तथोक्त सूक्ष्मक्रियाप्रतिपातीत्यर्थ । उच्यते निगद्यते । ब्रूञ् व्यक्तायां वाचि कर्मणि लट् । चतुर्थं तुरीयम् । समुच्छिन्नक्रियादिक समुच्छिन्नक्रिया आदौ यस्य तत् तथोक्तम् । प्रतिपात्यन्त प्रतिपातिशब्दोऽन्ते यस्य तत् तथोक्तम् । निरूपितम् ॥१२१॥ कथितेति । सनिबन्धना[6] सकारणा । निर्जरा[7] निर्जरापदार्थ । समासेन सक्षेपेण। इति एवम् । कथिता प्रोक्ता। साप्रतम् इदानीम् । मोक्षतत्त्वस्य मोक्षपदार्थस्य । रूप स्वरूपम् । व्यावर्णयिष्यते परिकीर्त्यते । वर्ण वर्णक्रियाया लृट् ॥१२२॥ कृत्स्नेति । परिणामिन. परिणामयुक्तस्य । भव्यस्य आसन्नभव्यस्य । कृत्स्नकर्मक्षय कृत्स्नाना सकलाना कर्मणा ज्ञानावरणादीना क्षयो विनाश । ज्ञानदर्शनचारित्रत्रयोपाय सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणा त्रयमेवोपायो यस्य स । मोक्ष इति । प्रकीर्तितः निरूपित ॥१२३॥ तत्त्वेति। तत्त्वप्रकाशक तत्त्वाना जीवादिपदार्थाना प्रकाशक प्रतिभासकम् । ज्ञान सम्यग्ज्ञानम् । तत्त्वरोचक तत्त्वेषु रोचक रुचिकरम् । दर्शन सम्यग्दर्शनम् । पापारम्भपरित्याग पापस्य पापरूपस्यारम्भस्य व्यापारस्य परित्याग त्यजनम् । चारित्रमिति सम्यक्चारित्रमिति । कथ्यते निगद्यते । कथ वाक्यप्रबन्धे[8] कर्मणि लट् ॥१२४॥ ससारेति । भाव्यमान निश्चीयमानम् । इदम् एतत् । त्रय सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रत्रयम् । संसारव्याधिविध्वसे[9] ससार एव व्याधिस्तस्य विध्वसे विनाशकरणे । हेतु कारणम् । एकाङ्गविकलम् (ल.)

एकत्ववितर्क, तीसरा सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति और चौथा समुच्छिन्नक्रियाप्रतिपाति (व्युपरत क्रियानिर्वर्ति) ॥१२०॥१२१॥ इस प्रकार संक्षेपमे निर्जराका और उसके कारणोका भी निरूपण किया, अब मोक्षतत्त्वके स्वरूपका निरूपण किया जायगा ॥१२२॥ समस्त कर्मोका क्षय हो जाना मोक्ष कहलाता है, जो परिणामी नित्य (न साख्योकी तरह सर्वथा नित्य और न बौद्धोकी तरह सर्वथा क्षणिक) भव्य जीवके ही सम्भव है। मोक्षका उपाय रत्नत्रय— सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र है ॥१२३॥ जीवादि सात तत्त्वोको प्रकाशित करनेवाला सम्यग्ज्ञान होता है, जीव आदि तत्त्वोमे अभिरुचि उत्पन्न करनेवाला सम्यग्दर्शन होता है और पापमय आरम्भका परित्याग करना सम्यक्चारित्र कहलाता है ॥१२४॥ सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनोकी भावना की जाय तो ये ससाररूपी व्याधिके विध्वसक

१ क ख ग घ सवर्णयिष्यते। २ अ इ क ख ग घ °व्याधिविध्वसि। ३. अ आ इ हेतुरेकान्त° क ख ग घ हेतुरेकाङ्गविकल । ४. मूले 'अनुगद्यते' इत्यस्ति न तु 'निगद्यते' इति । ५ एष टीकाश्रय पाठ', मूले तु 'सूक्ष्मक्रियापूर्वं प्रतिपात्यन्त' इति वर्तते। ६ एष टीकाश्रय पाठ, प्रतिपु तु 'सनिबन्धना' इति समुपलभ्यते। ७ आ 'निर्जरा' इति पद नास्ति। ८. श व्यक्तप्रबन्धे। ९ एष टीकाश्रय पाठ, प्रतिपु तु '°विध्वसि' इत्येवास्ति।

केवलं न यथा ज्ञानं[1] रुचितं समनुष्ठितम् ।
औषधं ध्वंसयेद् व्याधिं तथा तत्त्वं च संसृतिम् ॥१२६॥
यथा सम्यक्परिज्ञातं[2] रुचितं समनुष्ठितम् ।
औषधं ध्वंसयेद् व्याधिं तथा तत्त्वं च संसृतिम् ॥१२७॥
कर्मणां प्रतिपक्षत्वान्मुक्तेर्ज्ञानादि कारणम् ।
ज्ञानादीनां विवृद्ध्या हि रागादिक्षयदर्शनात्[3] ॥१२८॥
रागादेश्च क्षयात्कर्मप्रक्षयो हेत्वभावतः ।
तस्माद्रत्नत्रयं हेतुर्विरोधात्कर्मणां क्षये ॥१२९॥

एकेन त्रयाणा मध्ये एकेनाङ्गेनावयवेन विकलं (लो) विरहितम् (त)। हेतु ससारविध्वसहेतु । न स्यात् । भेषजमिव औषधमिव । एकमूलकाद्यवयवहीन भेषजं व्याधिविध्वसे हेतुर्यथा न स्यात् तथेत्यर्थः ॥१२५॥ केवलमिति । केवल रुचितम्, केवल ज्ञातम्, केवल समनुष्ठितमित्यर्थः । औषध भेषजम् । व्याधिं रोगम् । यथा । न विध्वसयेत् न विनाशयेत् । तथा । तत्त्व च दर्शनादित्रयाणा मध्ये एकैकविकलम् । ससृर्ति ससारम् । न ध्वसयेदिति शेष ॥१२६॥ यथेति । सम्यक्परिज्ञातं सम्यग्विदितम् । रुचित विशस्तम् । समनुष्ठित सम्यक्सेवितम् । औषध भेषजम् । यथा । व्याधि रोगम् । ध्वसयेत् विनाशयेत् । तथा । तत्त्व च । रत्नत्रयमिलितं[4] चेत् । ससृर्ति ससारम् । ध्वसयेत् । ध्वसू अवस्रसने ॥१२७॥ कर्मणामिति । ज्ञानादि सम्यग्ज्ञानादित्रयम् । कर्मणा ज्ञानावरणादीनाम् । प्रतिपक्षत्वात् प्रतिकूलत्वात् । मुक्ते मोक्षस्य । कारण हेतु । भवेत् । कथम् इति चेत् । ज्ञानादीना सम्यग्ज्ञानादीनाम् । विवृद्धया आधिक्येन हि । रागादिक्षयदर्शनात् रागादीना रागद्वेषादीना क्षयस्य नाशस्य वीक्षणात् ॥१२८॥ रागादेरिति । रागादे रागद्वेषादेश्च । क्षयात् नाशात् । कर्म [प्र] क्षय. कर्मणा [प्र] क्षयो नाश । कथमिति चेत् । हेत्वभावतः हेतो· रागादेः कारणस्याभावतोऽसद्भावात् । तस्मात् कारणात् । रत्नत्रयम् । विरोधात् प्रतिपक्षात् । कर्मणा ज्ञानावरणादीनाम् । क्षये विनाशे । हेतु

हो जाते हैं । यदि इन तीनोमे-से किसी एकको भी कमी रह जाय तो ये ससार रूपी व्याधिके विध्वसमे कारण नही हो सकते । जैसे एक दवासे रहित नुस्खा बीमारीको नष्ट करनेमे कारण नही हो सकता ॥१२५॥ जिस प्रकार औषधिकी केवल जानकारी, केवल श्रद्धा या केवल उसके अनुकूल आचरण करना व्याधिको दूर नही कर सकता, उसी प्रकार जीवादि सात तत्त्वोका केवल ज्ञान, केवल श्रद्धा या केवल अनुष्ठान—चारित्र ससाररूपी व्याधिको नष्ट नही कर सकता ॥१२६॥ जैसे दवाका ठीक ज्ञान हो, उसके प्रति विश्वास हो और उसके अनुकूल आचरण (परहेज आदि) हो तो वह व्याधिको नष्ट कर देती है, वैसे ही जीव आदि सात तत्त्वोका ठीक ज्ञान हो, उनके प्रति श्रद्धा हो और हो उनके अनुकूल आचरण तो वे ससाररूपी व्याधिको नष्ट कर देते है ॥१२७॥ सम्यग्ज्ञान आदि, ज्ञानावरण आदि आठ कर्मोके प्रतिकूल होनेसे मुक्तिके कारण है, क्योकि सम्यग्ज्ञान आदिके बढनेसे राग आदि कषायोका क्षय देखा जाता है ॥१२८॥ और राग-द्वेष आदि कषायोके क्षय हो जानेसे समस्त कर्मोका क्षय हो जाता है; क्योकि कारणके अभावमे कार्यका अभाव हो जाता है । कर्मोके बन्धके कारण राग आदि हैं, इसलिए राग आदिके दूर होनेपर कर्मोका क्षय हो जाना स्वाभाविक है । अत. रत्नत्रय (सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र) कर्मोके प्रतिकूल होनेसे उन (कर्मो) के क्षयमे

१. म यथाज्ञानं । २. म °परिज्ञान । ३. म °क्षयदर्शनम् । ४ आ दर्शनादित्रयाणा मध्ये एकैकविकलम् ।

क्षीणकर्मा ततो जीवः स्वदेहाकृतिमुद्वहन्।
ऊर्ध्वं स्वभावतो याति वह्निज्वालाकलापवत् ॥१३०॥
लोकाग्रं प्राप्य तत्रासौ स्थिरतामवलम्बते।
गतिहेतोरभावे न धर्मस्य परतो गतिः ॥१३१॥
इति तत्त्वोपदेशेन प्रह्लाद्य सकलां सभाम्।
भव्यपुण्यसमाकृष्टो व्यहरद्भगवान्भुवि ॥१३२॥
निस्वेदत्वादिभिस्तस्य सहजैर्दशभिर्गुणैः।
बभासे भुवनोद्भासि वपुर्भास्करभासुरम् ॥१३३॥
व्यहरद्यत्र यत्रासौ तत्र तत्र सुभिक्षता।
अजायत जनप्रीत्य योजनानां शतद्वये[1] ॥१३४॥

कारणम्। भवेत् ॥१२९॥ क्षीणेति। तत रत्नत्रयात्। क्षीणकर्मा क्षीणानि कर्माणि यस्य स। जीवः आत्मा। स्वदेहाकृतिं स्वस्यात्मनो देहस्य शरीरस्याकृतिमाकारम्। उद्वहन् धरन्। स्वभावतः स्वरूपत। वह्निज्वालाकलापवत् वह्नेरग्नेर्ज्वालानामर्चिषा कलापवत् समूहवत्। ऊर्ध्वम् अग्रम्। याति। लट् ॥१३०॥ लोकेति। असौ जीव। लोकाग्र जगदग्रम्। प्राप्य गत्वा। तत्र लोकाग्रे। स्थिरता स्थिरत्वम्। अवलम्बते प्रवर्तते। गतिहेतो गतेर्गमनस्य हेतो कारणस्य। धर्मस्य धर्मास्तिकायस्य। अभावे विरहे सति। पर [परत] लोकाग्रात् परत। गति गमन नास्ति ॥१३१॥ इतीति। इति उक्तप्रकारेण। तत्त्वोपदेशेन तत्त्वानामुपदेशेन निरूपणेन। सकला निखिलाम्। सभां समवसरणास्थानम्। प्रह्लाद्य सतोष्य। भव्यपुण्यसमाकृष्ट भव्याना रत्नत्रयाविर्भनयोग्याना पुण्यै शुभकर्मभिराकृष्ट आहूत। भगवान् स्वामी। भुवि भूमौ। व्यहरत् विहरति स्म ॥१३२॥ निस्वेदेति। तस्य चन्द्रप्रभजिनेशस्य। भास्करभासुर भास्कर इव सूर्य इव भासुर देदीप्यमानम्। भुवनोद्भासि भुवने लोके उद्भासि प्रकाशमानम्। वपु. शरीरम्। नि स्वेदत्वादिभि. नि स्वेदत्वमादि[2] येषा तैः। सहजै सहजातै। दशभि दशसख्यै.। गुणै। बभासे बभौ। भा दीप्तौ लिट् ॥१३३॥ व्यहरदिति। असौ चन्द्रप्रभ। यत्र यत्र यस्मिन् यस्मिन् देशे। व्यहरत् विहरति स्म। तत्र तत्र तस्मिन् तस्मिन् देशे। योजनानाम्। शतद्वये शतयोर्द्वय तस्मिन्। सुभिक्षता सुभिक्षत्वम्। जनप्रीत्यै जनानां

कारण है ॥१२९॥ कर्मोंका क्षय करनेवाला जीव अपने शरीरकी आकृतिको धारण करता हुआ, उस स्थानसे, जहाँ कर्मोंका क्षय किया है, अग्नि की ज्वालाकी भाँति स्वभावसे ही ऊपर (लोकके अग्रभागमे) चला जाता है ॥१३०॥ लोकके अग्रभागमे जाकर वह मुक्त जीव वहीं पर स्थिर हो जाता है। धर्मद्रव्यके, जो गतिमे कारण है, अभाव होनेसे मुक्तजीव लोकाग्रसे ऊपर नही जा सकता ॥१३१॥ इस प्रकार जीव आदि सात तत्त्वोके उपदेशसे सारी सभाको प्रसन्न करके भगवान् चन्द्रप्रभने भव्य जीवोंके पुण्यसे आकृष्ट होकर भूमण्डलमे विहार किया ॥१३२॥ उनका सूर्य सरीखा देदीप्यमान शरीर—परमौदारिक दिव्य देह सारे ससारको प्रकाशित कर रहा था, तथा पसीना न आना आदि जन्मसे उत्पन्न हुए दस अतिशयोंसे सुशोभित था ॥१३३॥ भगवान् चन्द्रप्रभने जहाँ-जहाँ विहार किया वहाँ-वहाँ लोगोकी प्रीतिके

---

१ अ आ इ शतद्वय। २ आ मादि।

गगने गमनं तस्य सर्वेषामपि हृष्टये ।
बभूव प्राणिनां प्राणिविरोधेन[1] विवर्जितम् ॥१३५॥
तस्य भुक्त्यु[2]पसर्गाभ्यां मनागपि न पस्पृशे ।
शीतेतरकरस्येव च्छायाविरहितं वपुः ॥१३६॥
चतुराननतारूपमहातिशयशालिनः ।
चतुरा न नता तस्य काभ्युत्थाय स्वयं प्रजा ॥१३७॥
पक्ष्मस्पन्दविनिर्मुक्ते बभतुस्तस्य लोचने ।
नीलोत्पले इवात्यन्तनिर्वातस्थानसंस्थिते ॥१३८॥
सर्वविद्येशिन [3]स्तस्य यथास्थनखमूर्धजम् ।
असाधारणतां तस्य वपुर्वक्तुमिवाभवत् ॥१३९॥

प्रीत्यै प्रीतिनिमित्तम् । अजायत जायते स्म । लङ् ॥१३४॥ गगन इति । तस्य चन्द्रप्रभस्य । प्राणिविरोधन-विवर्जित[4] प्राणिना विरोधनेन वधेन विवर्जित रहितम् । गगने आकाशे । गमनं यानम् । सर्वेषामपि निखि-लानामपि । प्रणिना जीवानाम् । सतोषाय । बभूव भवति स्म । लिट् ॥१३५॥ तस्येति । शीतेतरकरस्येव सूर्यस्येव । छायाविरहित छायया प्रतिबिम्बेन विरहित विहीनम् । तस्य चन्द्रप्रभस्य । वपु शरीरम् । भुक्त्युप-सर्गाभ्या भुक्तेरुपसर्गाच्च । मनागपि स्तोकमपि । न पस्पृशे न स्पृश्यते स्म । स्पृश स्पर्शने कर्मणि लिट् ॥१३६॥ चतुरेति । चतुराननतारूपमहातिशयशालिन चत्वारि आननानि यस्य तस्य भावश्चतुराननता चतुर्मुखता सा च रूपं यस्य स. चतुराननतारूप स चासौ महातिशयश्च चतुराननतारूपमहातिशय. तेन शालते शोभते इति तथोक्त, तस्य । तस्य भगवत । चतुरा प्रौढा । [का] प्रजा जन' । स्वयम् । अभ्युत्थाय गौरव कृत्वा । नता विनता । न भवति । अपितु सर्वा प्रजा विनतैव ।।१३७॥ पक्ष्मेति । पक्ष्मस्पन्दविनिर्मुक्ते पक्ष्मणोर्नयनच्छदयो' स्पन्देन निमीलनादिना विनिर्मुक्ते विरहिते । तस्य जिनेशिन. । लोचने नयने । अत्यन्तनिवातस्थानसस्थिते । अत्यन्त निवाते वातरहिते स्थाने सरोवरप्रदेशे संस्थिते स्थिते । नीलोत्पले इव नीले च ते उपले च ते इव । बभतु भात. स्म । भा दीप्तौ लिट्[5] ॥१३८॥ सर्वेति । सर्वविद्येशिनः सर्वासा विद्यानामीशिन' स्वामिन ।तस्य भगवतः। असाधारणता साधारण (ता) रहितत्वम्। स्वस्य आत्मन.। वपुः शरीरम् वक्तुमिव निगदितुमिव । यथास्थनखमूर्धज यथा तिष्ठन्तीति यथास्था नखा कररूहा मूर्धजा शिरोरुहा यस्य तत् । अभवत् अभूत् । लङ् ॥१३९॥ स इति ।

लिए दो सौ योजन तक सुभिक्ष हो जाता था ॥१३४॥ सभी प्राणियोकी प्रसन्नताके निमित्तसे उनका गमन आकाशमे होता था, तथा उनके गमनसे किसी भी प्राणीकी विराधना नही होती थी ॥१३५॥ उनका शरीर सूर्यमण्डलकी भांति परछाईंसे रहित था, तथा कवलाहार और उपसर्गसे अछूता था ॥१३६॥ उनमे एक ऐसा अतिशय था, जिससे उनका मुख चारो ओर दिखलाई पडता था—उनमे चतुर्मुख होनेकी अतिशय था, उससे उनका रूप देखते ही बनता था । प्रजामे ऐसा कौन सा मनुष्य था जो उन्हे स्वय उठकर नमन नही करता था ? ॥१३७॥ उनके नेत्रोंके पलक झपते नही थे—सदा निर्निमेष रहते थे, अत' वे (नेत्र) जहाँ वायुका संचार बिलकुल भी नही है, उस स्थानमे स्थित सरोवरके नीलकमलोकी भांति सुशोभित होते थे ॥१३८॥ वे समस्त विद्याओके स्वामी थे । मानो उनकी असाधारणताको बतलानेके लिए

---

१. अ प्राणविरो° । २ अ आ द °भक्त्यु° । ३ म °विद्येशितु° । ४. एष टीकापाठ प्रतिषु तु 'प्राणिविरोधेन विवर्जितम्' इति दृश्यते । ५. श 'लिट्' इति नास्ति ।

स घातिक्षयजैरेभिरपरैर्दशभिर्गुणैः ।
रराज रजसा मुक्तो मुक्तिसंगमनोत्सुकः ॥१४०॥
सर्वभाषात्मिका तस्य सर्वसत्त्वावबोधिनी ।
मागधी या बभौ भाषा मैत्री चाखिलगोचरा ॥१४१॥
जज्ञे विहारतस्तस्य सर्वर्तुफलशालिनी ।
कृतरत्न[1]विनिर्माणा भूर्दर्पणतलोपमा ॥१४२॥
पादौ विरेजतुस्तस्य हेमाब्जरुचिपिञ्जरौ ।
जितेन रागमल्लेन भयादिव समाश्रितौ ॥१४३॥
इत्येवमादिभिश्चान्यैः स चतुर्दशभिर्जिनः ।
दिद्युतेऽतिशयैर्देवनिकायपरिकल्पितैः ॥१४४॥

रजसा कर्मणा। मुक्त त्यक्त । मुक्तिसगमनोत्सुक मुक्तेर्मोक्षस्य सगमने सयोजने उत्सुक' तत्पर । स भगवान् । [अ] परै[2] उत्कृष्टै । घातिक्षयजै घातिना[3] घातिकर्मणा क्षयजै दायेण[4] नाशेन जनितै । एभि एतै । दशभि दशसख्यै । गुणै । रराज बभौ । राजृ् दीप्तौ लिट् ॥१४०॥ सर्वेति । सर्वभाषात्मिका सर्वा सकला भाषा एव स्वरूप यस्या. सा । सर्वसत्त्वावबोधिनी सर्वेषा सत्त्वाना प्राणिनामवबोधिनी उपदेशिनी । मागधीया मगध[5]देशसवन्धा । तस्य भगवत. । भाषा दिव्यध्वनि । अखिलगोचरा अखिला[6] एव गोचरो विषयो यस्या सा । मैत्री च मित्रता च ॥१४१। जज्ञ इति । तस्य भगवत । विहारत श्रीविहारात् । सर्वर्तुफलशालिनी सर्वेषाम् ऋतूना फलै शालिनी सपूर्णा । कृतरत्नविनिर्माणा कृत विहित रत्नैर्विनिर्माण यस्या सा । दर्पणतलोपमा दर्पणस्य आदर्शस्य तलस्य प्रदेशस्योपमा[7] समाना । भू भूमि । जज्ञे जायते स्म । जनैङ् प्रादुर्भावे लिट् ॥१४२॥ पादाविति । हेमाब्जरुचिपिञ्जरौ हेमाब्जाना हेमारविन्दाना रुच्या कान्त्या पिञ्जरौ उपरञ्जितौ । तस्य भगवत । पादौ चरणौ । जितेन निराकृतेन । रागमल्लेन राग एव मल्ल तेन । भयात् भीते । समाश्रिताविव सेविताविव । रेजुतु बभतु । लिट् ॥१४३॥ इतीति । इत्येवमादिभि इत्येव प्रमुखै । देवनिकायपरिकल्पितै देवानाममराणा निकायेन समूहेन परिकल्पितैर्निर्मितै । चतुर्दशभि चतुर्निरधिकैर्दशभि अतिशयै । अन्यैश्च शेषैश्च । स जिन चन्द्रप्रभजिनेश[8] । दिद्युते बभासे । द्युति दीप्तौ लिट्

उनका शरीर नखो और केशोकी वृद्धिसे रहित था ॥१३९॥ ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय इन चार घातिया कर्मोंके नष्ट हो जाने से—केवलज्ञान उत्पन्न हो जानेसे प्रकट हुए उक्त दस गुणोसे सुशोभित थे, और वे कर्मरजसे मुक्त होकर मुक्तिके समागमके लिए उत्सुक थे ॥१४०॥ उनकी भाषा अर्धमागधी थी । उसमे यह विशेषता थी कि वह समस्त भाषाओंमे परिणत हो जाती थी और इसीलिए वह समस्त प्राणियोकी समझमे आ जाती थी । समस्त प्राणियोमे परस्पर मित्रता हो गई थी ॥१४१॥ उनके विहार करते समय सभी ऋतुओंके फल-फूल एक ही साथ उत्पन्न हो गये, तथा रत्नजडित पृथिवी, दर्पणतलकी भाँति दृष्टिगोचर होने लगी ॥१४२॥ स्वर्णकमलोकी कान्तिसे प्रभावित होकर उनके दोनो चरण ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो उन (चन्द्रप्रभ) के द्वारा पराजित किया गया राग रूपी मल्ल भयके मारे उनके चरणोकी शरणमे आगया हो । (विहारके समय देव लोग उनके चरणोके नीचे कमल रख देते थे) ॥१४३॥ देव वर्गके द्वारा किये गये इन (श्लोकोमे वर्णित) तथा

१ म कृतरक्त° । २. = सहजातिशयभिन्नै । ३. श घातीनां । ४ श क्षयेन । ५ श मागध° । ६ श अखिलानि । ७ = यस्या सा, तत्समाना-इत्यर्थ । ८ श °जिनेश्वर ।

प्रातिहार्यैश्च सोऽष्टाभिः शुशुभे शुभचेष्टितः ।
छत्त्रत्रयादिभिः सर्वजगदैश्वर्यशंसिभिः ॥१४५॥
नवतिस्त्र्यधिका तस्य सभायां गणिनोऽभवन् ।
द्वे तीक्ष्णतरबुद्धीनां सहस्रे पूर्वधारिणाम् ॥१४६॥
शिक्षकाणामुभे लक्षे चतुर्भिरधिकैः शतैः ।
अवधिज्ञानिनामष्टौ सहस्राणि महाधियाम् ॥१४७॥
दश केवलनेत्राणां सहस्राण्यमलात्मनाम् ।
चतुर्दश सहस्राणि विक्रियर्द्धिमुपेयुषाम् ॥१४८॥
मनः पर्ययिणामष्टसहस्राणि सतेजसाम् ।
सह षड्भिः शतैः सप्त सहस्राणि च वादिनाम् ॥१४९॥
वरुणाद्यार्यिकाणां च विशुद्धतरचेतसाम् ।
अशीतिश्च सहस्राणि लक्षमेकं क्षतैनसाम् ॥१५०॥

॥१४४॥ प्रातिहार्यैरिति । सर्वजगदैश्वर्यशंसिभिः सर्वेषां जगतां भुवनानामैश्वर्यं शंसिभिः सूचकैः[1] । सुरचेष्टितैः सुरैरमरैश्चेष्टितैः निर्मितैः । छत्त्रत्रयादिभिः छत्त्राणामातपवारणानां त्रयं तदेवादिर्येषां तैः । अष्टाभिः अष्टसंख्यैः । प्रातिहार्यैश्च प्रातिहार्याख्यातिशयैश्च । स भगवान् । शुशुभे भाति स्म । शुभि दीप्तौ लिट् ॥१४५॥ नवतिरिति । तस्य चन्द्रप्रभजिनेन्द्रस्य । सभायां समवसरणे । त्र्यधिका त्रिभिरधिका । नवतिः नव वारान् दश । गणिनः गणधराः । अभवता [अभवन्] अभूवन् । लङ् । तीक्ष्णतरबुद्धीनां तीक्ष्णतरा पटुतरा बुद्धिर्धीर्येषां तेषाम् । पूर्वधारिणां पूर्वधराणाम् । द्वे सहस्रे । अभवताम् ॥१४६॥ शिक्षकाणामिति । शिक्षकाणां शिक्षाचार्यमुनीनाम् । चतुर्भिः । अधिकैः । युते शते [शतैर्युते] उभे लक्षे नियुते । अभवन् । महाधियां महती धीर्येषां तेषाम् । अवधिज्ञानिनां तृतीयज्ञानयुतानाम् । अष्टसहस्राणि[2] अष्ट च तानि सहस्राणि च । अभवन् ॥१४७॥ दशेति । अमलात्मनाम् अमलो निर्मल आत्मा येषां तेषाम् केवलनेत्राणां केवलं पञ्चमज्ञानं तदेव नेत्रं येषां तेषाम् । दश दशप्रमितानि । सहस्राणि । अभवन् । विक्रियर्द्धिं विक्रियाम् ऋद्धिम् । उपेयुषां प्राप्तानाम् । चतुर्दश चतुर्भिरधिका दश, चतुर्दशप्रमितानि । सहस्राणि । अभवन् ॥१४८॥ मन इति । सतेजसां प्रभावसहितानाम् । मनःपर्ययिणां चतुर्थज्ञानिनाम् । अष्टौ अष्टप्रमितानि । सहस्राणि । अभवन् । वादिनां महावादिनाम् । षड्भिः षट्प्रमितैः । शतैः । सह साकम् । सप्तसहस्राणि । अभूवन् ॥१४९॥ वरुणेति । क्षतैनसां क्षतं नष्टमेनः पापं यासां तासाम् । विशुद्धतरचेतसां विशुद्धतरं प्रकृष्टनिर्मलं चेतो यासां तासाम् । वरुणाद्यार्यिकाणां वरुणार्यिका आद्या मुख्या यासां तासामार्यिकाणां च । एकं लक्षम्, अशीतिः सहस्राणि च । अभूवन् ॥१५०॥

इन्ही सरीखे और भी, जिनकी कुल संख्या चौदह है, अतिशयोंसे वे सुशोभित हो रहे थे ॥१४४॥ उनकी चेष्टाएँ शुभ थीं। वे सारे जगतके ऐश्वर्यको सूचित करनेवाले छत्त्रत्रय–तीन छत्र आदि आठ प्रतिहार्योंसे सुशोभित थे ॥१४५॥ उनकी सभा (समवसरण) में तेरानवे गणधर थे और दो हजार तीक्ष्ण बुद्धिवाले पूर्वधारी ॥१४६॥ दो लाख चारसौ उपाध्याय तथा आठ हजार तीव्रबुद्धिवाले अवधिज्ञानी थे ॥१४७॥ दस हजार निर्मल आत्मावाले केवली और चौदह हजार विक्रिया-ऋद्धि-धारी साधु थे ॥१४८॥ आठ हजार तेजस्वी मनःपर्ययज्ञानी थे और सात हजार छह सौ वादी (शास्त्रार्थी) मुनि थे ॥१४९॥ एक लाख अस्सी हजार वरुणा आदि आर्यिकाएँ थीं, जिनके समस्त पाप विलीन हो चुके थे, और जिनके हृदय अत्यन्त विशुद्ध हो

---

१ आ सूचयद्भिः । २. एष टीकाश्रयः पाठः प्रतिषु तु 'अष्टौ सहस्राणि' इति समुपलभ्यते ।

श्रावकाणां च लक्षाणि त्रीणि सम्यक्त्वशालिनाम् ।
लक्षाणि पञ्च पूतानां श्राविकाणां[1] व्रतादिभिः ॥१५१॥

इत्थं विहृत्य भगवान्सकलां धरित्री-
मध्यासितो गणधरैर्मुनिवृन्दवन्द्यैः ।
धर्मोपदेशजलवर्धितभव्यसस्यः[2]
समेदशैलशिखरं स समाससाद ॥१५२॥

तत्रासौ परिमुक्तमासविहृतिः पक्षे सिते सप्तमी-
तिथ्यां भाद्रपदे स्थित. प्रतिमया सार्धं मुनीनां गणैः ।
निर्बाधं दशपूर्वलक्षपरिमायुक्तायुषः[3] प्रक्षये[4]
शुक्लध्याननिरस्तकृत्स्नकलुपः सिद्धेः पदं शिश्रिये ॥१५३॥

श्रावकाणामिति । सम्यक्त्वशालिना सम्यक्त्वसपन्नानाम् । श्रावकाणाम् उपासकानाम् । त्रीणि त्रिप्रमितानि । लक्षाणि । अभूवन् । व्रतादिभि व्रनाद्यै । पूताना पवित्राणाम् । श्राविकाणाम् उपासकवनितानाम् । पञ्चलक्षाणि । अभवन् ॥१५१ । इत्थमिति । मुनिवृन्दवन्द्यै । मुनीना वृन्देन निकायेन वन्द्यैराराधनीयै । गणधरै गणनायकै । अध्यासित प्रार्थित (?) । धर्मोपदेशजलवर्धितभव्यसस्य धर्मस्योपदेश एव जल तेन वर्धितानि प्रतिपालितानि भव्य एव विनेयजन एव सस्यानि यस्य[5] स । स चन्द्रप्रभजिनेन्द्र । भगवान् स्वामी । सकला समस्ताम् । धरित्रीं भूमिम् । इत्थम् अनेन प्रकारेण । विहृत्य श्रीविहार विधाय । समेदशैलशिखर समेदशैलस्य समेदपर्वतस्य । शिखरम् अग्रम् । समाससाद समाप । षद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु लिट् ॥१५२॥ तत्रेति । तत्र समेदशिखरे । परिमुक्तमासविहृति मास मासपर्यन्त विहृतिर्मासविहृति । 'कालाध्वनोर्व्याप्तौ' इति द्वितीया, परिमुक्ता मासविहृतिर्येन[6] स । भाद्रपदे भाद्रपदमसे । सिते शुक्ले । पक्षे । सप्तमीतिथ्या सप्तम्या तिथौ । मुनिना यतीनाम् । गणै समूहै । सार्धं साकम् । निर्बाध [7]परबाधारहित यथा तथा । प्रतिमया प्रतिमायोगेन । स्थित आसित । दशपूर्वलक्षपरिमायुक्तायुप[8] दशाना पूर्वाणा लक्षाणा परिमया प्रमाणेन युक्तस्यायुष. । प्रक्षये परिक्षये[9] सति । शुक्लध्याननिरस्तविश्वकलुप शुक्लध्यानेन निरस्तानि निराकृतानि विश्वानि अखिलानि कलुषाणि पापानि यस्य[10] स । असौ । भगवान् । सिद्धे मोक्षस्य । पद स्थानम् ।

गये थे ॥१५०॥ तीन लाख सम्यग्दृष्टि श्रावक और पाच लाख व्रत आदिसे पवित्र श्राविकाएँ थी ॥१५१॥ इस प्रकार भगवान् चन्द्रप्रभ ने—जिनके साथ समस्त मुनियोंके द्वारा वन्दनीय गणधर थे—सारी पृथिवीमे विहार किया और धर्मोपदेश रूपी जलसे भव्य जीव रूपी अनाजको विकसित किया । इसके पश्चात् वे सम्मेदाचल (शिखर जी) के शिखरपर जाकर विराजमान हुए ॥१५२ । वहाँ उन्होने एक मास पर्यन्त विहारका परित्याग करके मुनि-सङ्घके साथ प्रतिमा-योग धारण किया । फिर भाद्रपद शुक्ला सप्तमी (भादो सुदी सातें) को शुक्लध्यानके द्वारा समस्त पापोको नष्टकर सारी बाधाओसे रहित, दस लाख पूर्व प्रमाण आयुके समाप्त होते ही

---

१ म श्रावकाणा । २ म °सस्यसमेद° । ३. म °परिमाणस्यायुष । ४ आ इ °युषः सत्तम– । ५ = येन । ६ श यस्य । ७ श परिवाधा° । ८ श °परिमाणयुक्ता° । ९ श परक्षये । १० = येन ।

संश्लिष्टामथ तस्य भूधरपतेश्चैत्यालयोद्भासिनः
पूते मूर्धनि सार्धकार्मुकशतोत्सेधां तदीयां तनुम् ।
संस्कृत्यागुरुचन्दनप्रभृतिभिः प्राप्तोरुपुण्योदयाः
कल्याणं प्रविधाय पञ्चममगुः स्वं स्वं पदं स्वर्गिणः ॥१५४॥

इति श्रीवीरनन्दिकृतावुदयाङ्के चन्द्रप्रभचरिते महाकाव्येऽष्टादशः सर्गः ॥१८॥

शिश्रिये आश्रयते स्म ॥१५३॥ संश्लिष्टामिति । अथ निर्वाणगमनानन्तरम् । चैत्यालयोद्भासिनः चैत्यालयैरुद्भासिनो देदीप्यमानस्य । तस्य भूधरपतेः तस्य प्रोक्तस्य भूधराणां पर्वतानां पतेः (पत्युः) प्रभोः सम्मेदपर्वतस्य पूते पवित्रे । मूर्धनि शिखरे । संश्लिष्टां सश्रिताम् । सार्धकार्मुकशतोत्सेधां सार्धम् अर्धसहित—पञ्चाशत्सहितं कार्मुकाणां शतमुत्सेधो यस्याः ताम् । तदीयां तस्य सम्बन्धिनीम् । तनुं शरीरम् । अगुरुचन्दनप्रभृतिभिः[1] अगरुः कालागरुः स च चन्दनं च ते प्रभृती येषां तैः । संस्कृत्य दहनं विधाय प्राप्तोरुपुण्योदयाः प्राप्तो लब्ध उरुणा महता पुण्यानां शुभकर्मणामुदयो यैस्ते । स्वर्गिणः देवाः । पञ्चमं परिनिर्वाणाख्यम् । कल्याणं मङ्गलकार्यम् । प्रविधाय । स्वं स्वं स्वकीयं स्वकीयम् । पदं स्थानम् । अगुः ययुः । लुङ्[2] ॥१५४॥

इति श्रीवीरनन्दिकृतावुदयाङ्के चन्द्रप्रभचरिते महाकाव्ये तद्व्याख्याने च विद्वन्मनोवल्लभाख्ये अष्टादशः सर्गः ॥१८॥

समाप्तश्चायं ग्रन्थः ॥

मुक्ति प्राप्त की ॥१५३॥ इसके पश्चात् चैत्यालयोंसे विभूषित उस सम्मेदाचलके पवित्र शिखर पर स्थित भगवान् चन्द्रप्रभके डेढ सौ धनुष ऊँचे शरीरका पुण्यात्मा देवोंने अगुरुचन्दन आदिसे अन्तिम संस्कार किया, फिर वे उनके मोक्षकल्याणके उत्सवको मनाकर अपने-अपने स्थानको चले गये ॥१५४॥

इस प्रकार महाकवि वीरनन्दिकृत उदयाङ्क चन्द्रप्रभ चरित महाकाव्यमें अठारहवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥१८॥

॥ समाप्त ॥

---

१. एष टीकाश्रयः पाठः, प्रतिषु तु 'अगुरु' इत्येव समुपलभ्यते । २ आ लङ् ।

ग्रन्थकर्तुः प्रशस्तिः ।

बभूव भव्याम्बुजपद्मबन्धुः पतिर्मुनीनां गणभृत्समानः ।
सदग्रणीर्देशिगणाग्रगण्यो[1] गुणाकरः श्रीगुणनन्दिनामा ॥१॥
गुणग्रामाम्भोधेः[2] सुकृतवसते[3] र्मित्रमहसा-[4]
मसाध्यं यस्यासीन्न किमपि महीशासितुरिव ।
स तच्छिष्यो ज्येष्ठः[5] शिशिरकरसौम्यः समभव-
त्प्रविख्यातो नाम्ना विबुध[6] गुणनन्दीति भुवने ॥२॥
मुनिजननुतपादः प्रास्तमिथ्याप्रवादः[7]
सकलगुणसमृद्धस्तस्य शिष्यः प्रसिद्धः ।
अभवदभयनन्दी जैनधर्माभिनन्दी
स्वमहिमजितसिन्धुर्भव्यलोकैकबन्धुः ॥३॥
भव्याम्भोजविबोधनोद्यतमते[8] र्भास्वत्समानत्विषः
शिष्यस्तस्य गुणाकरस्य सुधियः श्रीवीरनन्दीत्यभूत् ।
स्वाधीनाखिलवाङ्मयस्य भुवनप्रख्यातकीर्तेः[9] सतां
संसत्सु व्यजयन्त यस्य जयिनो वाचः कुतर्काङ्कुशाः ॥४॥
शब्दार्थसुन्दरं तेन रचितं चारुचेतसा ।
श्रीजिनेन्दुप्रभस्येदं चरितं रचनोज्ज्वलम्[10] ॥५॥

श्री गुणनन्दी नामके आचार्य थे। वे भव्यजीव रूपी कमलोको विकसित करनेके लिए सूर्य थे, समस्त मुनियोके नायक थे गणधरके समान सम्मानित थे, सज्जनोके अग्रसर थे, देशिगण-के मुनियोमे प्रमुख थे और थे गुणोकी खान ॥१॥ एक राजाकी भाँति उनके लिए कोई भी काम कठिन नही था। उनके प्रथम शिष्य विबुध गुणनन्दी थे, जो समस्त गुणोके समुद्र थे, पुण्यके निवास स्थान थे, सूर्य सरीखे तेजस्वी थे, प्रकृत्या चन्द्रमाकी भाँति सौम्य थे और अपने नामसे सारे ससारमे प्रसिद्ध थे ॥२॥ उन (विबुध गुणनन्दी) के शिष्य अभयनन्दी थे, जो समस्त मुनियोके द्वारा पूज्य थे; जिन्होने समस्त मिथ्यावादोका निरसन किया था, जो समस्त गुणोमे समृद्ध थे, जिन्होने जैन धर्मकी वृद्धिकी थी, जिन्होने अपनी गम्भीरताकी महिमासे समुद्रको मातकर दिया था और जो भव्य जीवोके एक मात्र बन्धु थे ॥३॥ उनकी बुद्धि भव्य-जीव रूपी कमलोके विकासके लिए सदा तत्पर रहा करती थी; वे सूर्यके समान तेजस्वी थे, बडे गुणी थे और थे अत्यन्त बुद्धिमान्। उनके शिष्य श्री वीरनन्दी थे, जिन्होने समस्त वाङ्मय को अपने अधीनकर लिया था, जिनकी कीर्ति सारे ससारमे फैली हुई थी, जिनके वचन कुतर्कों-का निवारण करनेवाले थे और इसीलिए जो सत्पुरुषोकी सभामे विजयी होते थे ॥४॥ उन्ही सहृदय वीरनन्दीने यह चन्द्रप्रभचरित लिखा है। यह क्या शब्द और क्या अर्थ दोनो ही दृष्टियो-से सुन्दर, और रचनामे मोतियो जैसा उज्ज्वल है ॥५॥

---

१ अ देशगणी हि गण्यो°। २. अ °ग्रामाम्भोधि। ३. अ सुकृतवसति.। ४ क ख ग घ °मन्त्रमहसा
५ अ क ख ग घ स तस्याद्य शिष्य. शिशिर°। ६ क ख ग घ विश्विधगुण°। ७ क ख ग घ °मिथ्यापवाद
८ अ °नोद्धतमते°। ९ अ °प्रख्यातकीर्ति। १० अ क ख ग घ मौक्तिकोज्ज्वलम्।

[1]यः श्रीवर्मनृपो बभूव विबुधः सौधर्मकल्पे तत-
स्तस्माच्चाजितसेनचक्रभृदभूद्यश्चाच्युतेन्द्रस्ततः।
यश्चाजायत पद्मनाभनृपतिर्यो वैजयन्तेश्वरो
यः स्यात्तीर्थकरः स सप्तमभवे चन्द्रप्रभः पातु नः ॥६॥

इति ग्रन्थकर्तुः प्रशस्तिः।

जो क्रमश (१) राजा श्री वर्मा, (२) प्रथम स्वर्गमे देव, (३) अजितसेन चक्रवर्ती, (४) अच्युतेन्द्र, (५) राजा पद्मनाभ, (६) वैजयन्त विमानमे अहमिन्द्र और फिर (७) चन्द्रप्रभ तीर्थङ्कर हुए, वे भगवान्, चन्द्रप्रभ हम सबकी रक्षा करें ॥६॥

इति ॥

---

१ अ प्रतौ पद्यमिदं नोपलभ्यते, आ—इ प्रतियुगले च सकलापि प्रशस्तिर्नास्ति।

परिशिष्ट

१. पञ्जिका

स्वस्ति श्री सरस्वत्यै श्री श्रुतमुनिमुनये नमः।

प्रणम्य वीरं नृसुरासुरस्तुतं प्रकृष्टबोधं विबुधेष्टसम्मतम्।
करिष्यते संशयधामभञ्जिका मयार्थचन्द्रप्रभकाव्यपञ्जिका ॥१॥

अथ श्री वीरनन्द्याचार्या शिष्याणां हितानुचिन्तनप्रवणमनसः श्रीचन्द्रप्रभस्वामिचरितं[1] महाकाव्यं प्रारब्धुकामास्तदादौ विशिष्टेष्टदेवताभिशंसनार्थमादाविदमभिदधते—श्रियं क्रियादित्यादि। अवयवार्थप्रतिपत्तिपूर्विका समुदायार्थप्रतिपत्तिरिति व्याख्यापद्धतिरतोऽवयवार्थो निरूप्यते। तत्र, अवयवाः—स सचराचरे जगति प्रसिद्धो जिनः। श्रियम् आत्यन्तिकीं लक्ष्मीम्। क्रियात् विधेयात्। जयति कर्मारातीनिति जिनः। उपलक्षणत्वात् सर्वज्ञः। कर्मारातिजये हि सकलज्ञत्वं सुप्रसिद्धमेव। किमभिधानोऽसावग्रजः। अग्रे प्रथमं सकलजिनानां जातोऽग्रजः। कालापेक्षया वाग्रजः। अग्रजग्रहणादनादिपुरुषस्य ब्रह्मणः प्रतीतिरित्येके[2], तन्निरासार्थं जिन इति विशेष्यपदम्। अस्य च विशेषणत्वम्, यतस्तस्य ब्रह्मणोऽनादिसिद्धत्वात् सुविशुद्धत्वप्ररूपणमेव, पुनरवतीर्य कर्मजयाभावात्। यद्यवतीर्यैव कर्माणि जयति तदा सुविशुद्धपरमात्मत्वाभाव इत्यलमतिप्रसङ्गेन। यत्तदोर्नित्यसंबन्धाद् यस्य भगवतः श्रीमदादिजिनस्य। सभा समवसृतिः। बभौ शुशुभे। क्व, सुरागमे देवागमने। यदा ज्ञानमुत्पन्नं तदैव देवा आयाता इति भावः। किंलक्षणा, नटत्सु० नटन्तश्च ते सुरेन्द्राश्च नटत्सुरेन्द्राः तेषां नेत्राणि नटत्सुरेन्द्रनेत्राणि तेषां प्रतिबिम्बानि नटत्सुरेन्द्रनेत्रप्रतिबिम्बानि तैर्लाञ्छिता नटत्सुरेन्द्र० नृत्यद्देवेन्द्रनयनप्र(ति)कृतिचिह्निता। पुनः किंलक्षणा, रत्नमयी रत्नैर्निर्वृत्ता। प्राचुर्यविकारप्राधान्यादिषु मयट्[3]। किंलक्षणेव कृतोपहारेव कृत उपहारः पूजाविशेषो यस्याः सा। विहितरचना। कैर्महोत्पलैः अरविन्दैरिवेति। अथवा महाकाव्यानां सकलसभासु[4] विद्वद्भिरादरणीयत्वात् 卐[5] तदभिमतव्याख्यानेऽग्रजो रामचन्द्रस्तस्यापि भ्रातृचतुष्टयापेक्षयाग्रजत्वात्। जिनः समस्तान् शत्रून् जयतीति जिनः। तस्यापि प्रार्थितवरप्रदातृत्वाद् 卐 इन्द्रादिभिः सभायां पूज्यत्वम्। यो यच्छत्रून् निहन्ति स तैः पूज्यो भवतीति। अथवा बौद्धमतापेक्षया जिनो बुद्धः शेषं तथैव। ननु[6] चाचार्यैरभिमतदेवतानमस्कारः प्रथमं कथं न विहितः, इत्यत्रोच्यते। 'आशीर्नमस्क्रियावस्तुनिर्देशो वापि तन्मुखम्।' इति वचनादाशीर्वचनेऽपीष्टाभिशंसनमेव, तत्र भगवतो गुणातिशयस्य वर्णनात्, तस्य च मङ्गलहेतुत्वात्। किं तन्मङ्गलम्, 'म मलमित्युक्तमुपचारसमाश्रयात्। तद्धि गालयतीत्युक्तं मङ्गलं पण्डितैर्जनैः ॥१॥' अथवा 'मङ्गशब्दोऽयमुद्दिष्टः पुण्यार्थस्याभिधायकः। तल्लातीत्युच्यते सद्भिर्मङ्गलं पण्डितैर्जनैः ॥२॥' तन्मङ्गलं द्विविधं मुख्यमौपचारिकं चेति। 'यथार्हद्गुणस्तोत्रं तन्मुख्यं मङ्गलं मतम्। अमुख्यं तद्गुणौपम्यात्पूर्णकुम्भादि लौकिकम् ॥' इति। सभाख्यानजिनत्वादिगुणप्रकाशनत्वमेव मङ्गलमिदम्। आशीश्च विनेयविबोध्यशिष्याणां निर्विघ्नतः काव्यादिव्युत्पत्तिजननाय स्वस्य च तथैव परिसमाप्त्यादिफलप्रकाशनायेति। तदुक्तम्—'विघ्नाः प्रणश्यन्ति भयं न जातु न क्षुद्रदेवाः परिलङ्घयन्ति। अर्थान् यथेष्टांश्च सदा लभन्ते जिनोत्तमानां परिकीर्तनेन ॥' ॥१॥ अथाष्टमजिनानुस्मरणायाह—स पातु इत्यादि। स जिनः। पातु रक्षतु। कान्, वः युष्मान्। स कः, शशिलाञ्छनः शशी चन्द्रो लाञ्छनं यस्य सः। यत्तदोर्नित्यसंबन्धात्। विदिद्युते चकासे। कैः, अमरैः, न म्रियन्त इत्यमरा देवास्तैः। किंलक्षणैः, विनिमग्नमूर्तिभिः निनिमग्ना मज्जन्ती मूर्तिर्येषां ते विनिमग्नमूर्त-

१. °विरचि°। २. व प्रतीति°। ३. व °न्यादिमयट्। ४. व 'सु' नोपलभ्यते। ५. व स्वस्तिकान्तर्गतः पाठो नास्ति। ६. व वाचा°। ७ व °शस°।

यस्तैर्मज्जत्काये । क्व, प्रभाविताने प्रभाया वितान प्रभावितान तस्मिन् प्रभामण्डले । किं लक्षणे, स्फटिको० स्फटिकोपलस्य प्रभेव प्रभा यस्य तत् तस्मिन् स्फटिकपाषाणसदृशकान्तौ । पुन कथभूतैरिव, दुग्ध० दुग्धपयोधे क्षीरसमुद्रस्य मध्य गच्छन्तीति दुग्धपयोधिमध्यगास्तै क्षीरसमुद्रमध्यस्थितैरिव । प्रभामण्डलक्षीरसमुद्रयोरुपमानो-पमेयभाव ॥२॥ अथ शान्तिजिनमभिष्टौति[2] । अनन्तविज्ञानमित्यादि । य विभु । अनन्तचतुष्टय चत्वारोऽवयवा यस्य तच्चतुष्टयम् अनन्त च तच्चतुष्टय च तत् । 'अवयवे तयट् ।' बिभर्ति दधाति । के [3]तेऽवयवा अनन्त च तद्विज्ञान चानन्तविज्ञान तत् । तथा अनन्त च तद्वीर्य चानन्तवीर्यं तस्य भावोऽनन्त-वीर्यता ताम् । तथा अनन्त च तत् सौख्यत्व चानन्तसौख्यत्व तत् । तथानन्त च तद्दर्शन चानन्तदर्शन तद् इति । अथवानन्त विज्ञान यत्र तदनन्तविज्ञान, तदनन्तचतुष्टयस्य विशेषणत्वाद् बहुव्रीहिरपि सर्वत्र । विज्ञान केवलज्ञानम् । वीर्यं बलम् । सौख्य सम्यक्त्वम् । दर्शन दृष्टिरिति । स प्रसिद्ध । शान्ति भगवान् षोडशतीर्थंकर । न अस्माकम् । भवस्य दु खाना शान्तिरुपशमस्तस्यै ससारदु खोपशमाय । अस्तु भवतु । समुच्चयोऽयम् ॥ ३ ॥ अथान्त्यतीर्थंकर नमस्करोति । अह श्रीवीरनन्दी । वीर नमामि नमस्करोमि । किंलक्षण स्मरणीय परोक्षीभूतम् । कस्या जराजरत्या । अथवा जरैव जरती वृद्धस्त्री तया-स्मरणीय न स्मरणार्होऽस्मरणीयस्तम् । जरा कथयति नन्वेनमीश्वर न स्मरामि मोक्षलक्ष्म्या [4] स्वयवरीभूतोऽय यत इति । अस्वयवर स्वयवर क्रियतेऽनयेति स्वयवरीभूतस्तम् । कस्या अनश्वरश्रिय । अनश्वरा चासौ श्रीश्चानश्वरश्रीस्तस्या मोक्षलक्ष्म्या । पुन किंलक्षण, निरामय निर्गत आमयान्निरामयो निर्व्याधिस्तम् । वीत विशेषेण इत गत भय यस्मात् स त वीतभयम् । भव छिनत्तीति भवच्छित् त ससारच्छेदकम् । नृसुरासुरस्तुतं नरश्च सुराश्चासुराश्च नृसुरासुरास्तै स्तुतस्त मनुजदेवदैत्यनुतमिति । ननु च चत्वार एव तीर्थकरा कथम-भिष्टुता, न सर्वेऽपीति चेद् उच्यतेऽत्रकवेरभिप्राय —बृहत्कथाप्रबन्धस्यास्य काव्यस्य विस्तरभयात् । अथवा उत्सर्पिणीसमयादितीर्थप्रवर्तनाद् आदिजिनस्याभिष्टव, प्रारब्धका-यकथानायकत्वाद् अष्टमस्य, निर्विघ्नत शास्त्रपरिसमाप्ते कारणत्वात् शान्ते, वर्तमानतीर्थस्वामित्वाद् अन्त्यस्येति । तद्दापि (तथापि) शेषाणा नमनाकरणेऽपरीक्षकत्वमिति चेत्, इत्यत्रोच्यते सर्वेऽपि नुता भगवताचार्येण—वीर विशिष्टाम् ईं समवसरणादि-लक्षणा लक्ष्मीम् ईरते इति वीरस्तीर्थंकरसमुदायस्तं नमामि । यत सर्वेषामपि श्री पञ्चकल्याणाभिधा प्राति-हार्यादिलक्षणा समानैव श्रूयते श्रुते, इति । शेष व्याख्यान तथैव[5] । तथा परसमयाभिप्रायेण व्याख्यानकरणे ईश्वर महादेव नमामि तस्यापि जराजरत्या अस्मरणीयत्वात्, अनश्वरश्रिय स्वयवरत्वात्, निरामयत्वात्, वीतभयत्वात्, भवच्छित्त्वात्, वीरत्वात् महाभटत्वात्, नृसुरासुरस्तुतत्वाच्च । तथानश्वरश्रिय अनश्वरा निश्चला या श्रीर्लक्ष्मी पाणिगृहीती तस्या स्वयमात्मना वरीभूत वरमेव लक्ष्मीपतिम्, शेष तथैव । तथा भवच्छिद भव छिनत्तीति० ससारातिक्रान्त ब्रह्माणम् । शेषविशेषणानि पूर्ववदिति ॥ ४ ॥ अथ जिनानभिष्टूय जिनागममनुस्मरति —हितमित्यादि । अह जिनागम जिनप्रवचनम् । शरणं त्राणम् । गतोस्मि प्राप्तो भवामि । कस्मात् ? शरण्यभूतत्वात् । कुत शरणार्हम्, प्रवितीर्णा दत्ता मुक्तिर्येन स तम्, दत्तमुक्तित्वात् । अतएव भव्यजनानामेकबान्धवत्व तस्य । न चेदमसिद्ध भव्यप्राणिबान्धवत्वम्, परमागमस्य हितत्वात् । कुतश्च हितम्, विसवादविवर्जितस्थिति[6]त्वात् । विसवादोऽप्रतिपत्तिस्तेन विवर्जिता स्थितिर्यस्य स तम् । अतएवापरैरेकान्त-वादिभिरभेद्यमजेयमिति हेतुमद्व्याख्यानमिदम् । हेतुरय जातिर्वा ॥ ५ ॥ अथ परगुरुणा प्रतिपादितमागममनु-स्मृत्यापरगुरुभारतीमनुस्मरति—गुणान्वितेत्यादि । पर केवलम् । हारयष्टिर्हारलतैव दुर्लभा दु प्रापा न, किन्तु समन्तभद्रादिभवा भारती च । समन्तभद्रादिभ्यो जाता समन्त० । किंलक्षणा हारलता भारती चेति तुल्यत्व-मुच्यते । गुणैस्तन्तुभिर्दवरकैरन्विता, पक्षे गुणैरौदार्यादिभि । तदुक्तम्—'औदार्यं समता कान्तिरर्थव्यक्ति-प्रसन्नता । समाधि श्लेष ओजोऽथ माधुर्यं सुकुमारता ॥' इति भारतीगुणा । पुन. किंलक्षणा, निर्म० वृत्तानि वर्तुलानि च तानि मौक्तिकानि मुक्ताफलानि च वृत्तमौक्तिकानि, निर्मलानि मलरहितानि वृत्तमौक्तिकानि

---

१ व 'प्रभा' इति नास्ति । २ व °स्तौति । ३. व 'ते' नास्ति । ४. व °लक्ष्म्या । ५. व तथैव व्याख्यातम् । ६ व °स्थित° ।

यस्या सा निर्मलवृत्तमौक्तिका, पक्षे निर्मलानि निरवद्यानि च तानि वृत्तानि पद्यानि च निर्मलवृत्तानि तानि मौक्तिकानीव यस्या सा तथा। विद्यामलानि यथा—'अनर्थक श्रुतिकटु व्याहतार्थमलक्षणम्। स्वसंकेतप्रक्लृप्तार्थमप्रसिद्धमसमतम्॥' इति। पुन किंलक्षणा। नरोत्तमैं पुरुषप्रधानैर्विद्वद्भिश्च। कण्ठविभूषणीकृता अकण्ठविभूषण कण्ठविभूषण क्रियते स्म या सा कण्ठविभूषणीकृता। उभयत्रापि साम्यम्। तुल्ययोग्य (गि) तेयमलंकृति'। अथवेत्थ व्याख्यानकरणे व्यतिरेकश्च। उभयत्र गुणसाम्येऽपि समन्तभद्रस्वामिप्रमुखभवा भारती दुर्लभैव अन्यत्र न प्राप्यते च, पुन हारलता दुर्लभा न, सर्वत्रापि दृश्यमानत्वात्। भारतीदुर्लभत्व च समन्तभद्रादिदुर्लभत्वात्। तदुक्तम्—'विद्वन्मन्यतया सदस्यतितरामुद्दण्डवाग्डम्बराः शृङ्गारादिरसैः प्रमोदजनक व्याख्यानमातन्वते। ये ते च प्रति सद्म सन्ति बहवो व्यामोहविस्तारिणो येभ्यस्तत्परमात्मतत्त्वविषय ज्ञानं तु ते दुर्लभा॥' अन्यच्च 'सुप्रापा स्तनयित्नव शरदि ते साटोपमुत्याय ये प्रत्याश प्रसृताश्चलप्रकृतयो गर्जन्त्यमन्द मुधा। ये प्रागब्दवितान्[1] फलर्द्धिमुदकैर्व्रीहीञ्जयन्तो नवान् सत्क्षेत्राणि पृणन्त्यल जनयितु ते सद्घना दुर्लभा[2]॥' ॥ ६॥ अथो प्रागभ्यस्तगुणदोषयो सुजनदुर्जनयोर्लक्षणमाहुँ[3]—गुणानगृह्णन्नित्यादि। सुजन शिष्ट। गुणान् सौजन्यौदार्यस्थैर्यदाक्षिण्यप्रियहितपूर्वकप्रथमाभिभाषणादीन्। अगृह्णन् अस्वीकुर्वन्। निर्वृतिं सौख्यम्। न प्रयाति न गच्छति। दुर्जन दुष्ट। दोषान् तद्विपरीतान्। अवदन् अकथयन्। निर्वृतिं न प्रयाति। च-अव्ययानामनेकार्थत्वाद् यस्मात्[4]। चिरतनाभ्या० चिरतन पुरातनश्चासावभ्यासो भृशप्रवृत्तिश्च चिरत० स एव निबन्धन चिरतनाभ्यासनि० तेन ईरिता प्रेरिता मतिर्बुद्धि। गुणेषु यश प्रकाशनेषु। दोषेषु अयश सूत्रकेषु। जायते उत्पद्यते। हेतुरयमलकार॥ ७॥ अथ तयोरपि सत्कारमाह—गुणानित्यादि। यथैव प्रशसया श्लाघया। गुणान् सौजन्यादिकान्। उपदिशन् प्ररूपयन्। सुजन शिष्ट। गुरुत्वबुद्धया गुरुत्वमत्या। काव्येषु सदर्थप्ररूपकत्वात् सुजने गुरुत्व वर्तते इति गुरुत्वबुद्धि। नमस्यते नमस्क्रियते। तथैव तेनैव प्रकारेण। प्रणिन्दया प्रगर्हणया। दोषान् दिशत प्रतिपादयत। खलस्यापि दुर्जनस्यापि। गुरुत्वबुद्धचा मया अयमञ्जलि' कृतो विहित। 'तौ युतावञ्जलि पुमान्'। यतो हि दुर्जन काव्येषु दोषान् गृहीत्वा प्रकाशयति तेन कविर्निर्दोषमेव काव्य बध्नातीति दुर्जनोऽपि सन्मतिजनकत्वाद् गुरुरेवेति भाव। तदुक्तम्—'दोषान् काश्चन न प्रवर्तकतया प्रच्छाद्य गच्छत्यय सार्द्धं तैं सहसा भृषे (म्रियेॅ) यदि गुरु पश्चात् करोत्येष किम्। तस्मान् मे न गुरुर्गुरुर्गुरुतरान् कृत्वा लघूश्च स्फुट ब्रूते य सतत समीक्ष्य निपुण सोऽय खल सद्गुरु। तुल्ययोगितेयमुपमा वा॥ ८॥ अथात्मनो गर्वपरिहारमाह—सुदुष्करमित्यादि। गणस्याधिप—ऋष्यर्जिकाश्रावकश्राविका इति गण, अथवा ऋषि-यति-अनगार-मुनयस्तेषा वाधिप, गणधरोऽपि। अपि विशेषे। किं पुनरन्य.। यद् अर्हच्चरितम्। सुदुष्कर दु खेन कर्तुं शक्य दुष्कर, सु अतिशयेन दुष्कर सुदुष्करम्। मनुते जानीते। वाग्देवी सरस्वती अपि। आत्मन स्वस्य यद् भार मनुते। अल्पधी अल्पा धीरस्येत्यल्पधीर्मन्दमति। मह तद्विधित्सु, विधातुमिच्छु। सता महद्बुद्धीनाम्। हास्यता हास्यत्वम्। न यास्यामि (इति) न, अपि तु यास्यामि। उभौ नकारौ प्रकृत गमयत। यथा प्रकृतेऽर्थ[5]। 'मन्द कवियश प्रार्थी गमिष्याम्युपहास्यताम्।' इति। अथवा नु अहो ध्रुव हास्यता न यास्यामीति काकु, पाठान्तरम्। आक्षेप॥ ९॥ अशक्यानुष्ठानेऽपि भक्त्या करणीयत्वमाह—तथापीत्यादि। तथापि तत्करणे हास्यप्रासावपि। सुदु प्रवेशेऽपि सुष्ठु दु.खेन प्रवेशो यत्र स सुदुःप्रवेश तस्मिन्नपि। गुरुसेतु० गुरव एव सेतवस्तैर्वाहितस्तस्मिन् आचार्यपरम्परालिप्रापिते। तस्मिन् प्रसिद्धे। पुराण० पुराणमेव सागरस्तस्मिन् पुराणसमुद्रे। यथात्म० आत्मन शक्तिमनतिक्रम्य यथात्मशक्ति। प्रयतोऽस्मि यत्नवान् भवामि। यूथाधि० यूथस्य सजातीयकुलस्याधिपति स्वामी यूथाधिपति तेन प्रवर्तितो वाहितस्तस्मिन्। पथि मार्गे। पोतक. कलभ। 'पोत पाकोऽर्भको डिम्भ' इति। इव यथा, उपमेये। यथा सुदु प्रवेशेऽपि पुरातनसमुद्रे महासमुद्रे गुरुसे० गुरश्चासौ सेतुश्च गुरुसेतुस्तेन वाहिते प्रचालिते पथि मार्गे यूथाधिपतिना प्रवर्तिते सति पोतकोऽपि यथात्मशक्ति प्रयतो भवति तथा श्रीवीरनाथप्ररूपितेऽपि पुराणसमुद्रे श्रीजिनसेनादिसेतुना प्रयतोऽस्मीति भाव॥ १०॥ अथ कथावतार—अथास्तीत्यादि। अथ अनन्तरम्।

१. ब °चिता°। २ ब दुर्लभा सद्घना। ३ ब °हु। ४ ज च् यस्मात्। ५ ज °र्थ।

शृङ्गेन(ण) शिखरेणोल्लि[खि]त उद्घृष्ट अमराणा देवानामालयो येन स, शिखरोद्घृष्टनाक । द्विपू० द्वयो पूरणो द्विपूरण सचासौ द्वीपश्च द्विपूरणद्वीपस्तत्र गतो द्वितीयद्वीपस्थित । व्योमनि आकाशे । कलमाग्र० कलमाना कलमशालीनामग्राणि कल० तानीव पीता. पिङ्गला (पिङ्गला पीता) तै कलमशालिकडारै । गभस्तिभि घृणिभि । अमेघा मेघरहिताम् । तडिच्छ्रिय तडित श्रीस्तडिच्छ्रीस्ता विद्युच्छोभाम् । सृजन् उत्पादयन् । पूर्वमन्दर पूर्वस्या मन्दर—पूर्वमेरु । अस्ति विद्यते । जात्यलकार ॥ ११ ॥ अथ नवभि' पद्यैर्देशमुपवर्णयति—विभूष्येत्यादि । देश विषय । समस्ति विद्यते । कथभूतो देश ? प्रथितः प्रतीत । कया मङ्गला० मङ्गलावतीति सज्ञया । कथभूतया अर्थयुक्तया अर्थेनाभिधेयेन युक्ता अर्थसहिता तया । पुन कथभूत नाकि० नाकिना देवाना निवास स्वर्गस्तेन सन्निभ सदृश । कया, श्रिया लक्ष्म्या । कस्य आत्मन स्वस्य । पुनरपि कथभूत. । स्थित वर्तमान । क्व, भुवि । किंकृत्वा विभूष्यालकृत्य । क तत्पू० तस्य पूर्वविदेहस्तत्पूर्वविदेहस्तम् । जाति ॥१२॥ भूमय धरित्र्य । हरन्ति मुष्णन्ति । कानि, चेतासि मनासि । कस्य जनस्य लोकस्य । कथभूता, चिता सभृता । कै समानसस्याङ्कुरन्चयै सस्याना धान्यानामङ्कुरा अभिनवप्ररोहा' समानाश्च ते सस्याङ्कुराश्च० समान० तेषा सचया सघातास्तै । कथभूतैर्निरन्तरै सान्द्रै । पुन कथभूतैः शुकाङ्ग० शुकानामङ्गानि शुकाङ्गानि तानीव कोमलानि मृदूनि तै. । पुन कथभूता इव हरिन्मणिव्रा० हरिन्मणीनामश्मगर्भाणा व्रातो निवहस्तेन विनिर्मिता रचिता इव । उपमेयम् ॥ १३ ॥ निशाकराशु इत्यादि । य देश । विभाति शोभते । कै सरोवरै तटाकै । किलक्षणै निशा० निशाकरस्याशवो निशाकराशवस्तेषा प्रकरो निशाकराशुप्रकर स इवाच्छ वारि येषु ते, तै चन्द्रकरनिकरनिर्मलजलै । पुन किलक्षणै विनिद्र० विनिद्राणि च तानि नीलोत्पलानि च विनिद्र० तेषा रश्मयस्तै रञ्जितास्तै । कैरिव खण्डैरिव प्रदेशैरिव । कथभूतै च्युतै पतितै । कस्य, विहायस आकाशस्य, कया, निरालम्बतया निर्गत आलम्बो यस्य स निरालम्बस्तस्य भावो निरालम्बता तया आलम्बरहिततया । उत्प्रेक्षा ॥ १४ ॥ निशासु इत्यादि । जलराशे समुद्रस्य योषितो नद्यो जलराशियोषित । वहन्ति यान्ति । कथभूता, कूल० कूल रोधमु (उ) द्रुजन्ति उद्घर्षयन्तीति कूलमुद्रजा । अलु (क्) क्वचित् । पुन किलक्षणा परिपूरितमन्तर यासा ता परिपूरितान्तरा सभृतमध्या । कै पय प्रवाहै पयसा प्रवाहा पय प्रवाहास्तै जलपूरै । कथभूतै शीताशु० शीताशुमणीना चन्द्रकान्ताना स्थलानि तेभ्यश्च्युतै स्रुतै[1] । कासु निशासु रात्रिषु । केष्वपि निदाघकालेष्वपि उष्णोपगमेष्वपि । क्व, यस्मिन् देशे । अतिशय ॥ १५ ॥ सदायमित्यादि । विपदा आपदा । जातु कदाचित् । न विलोक्यते न निरीक्ष्यते । कोऽसौ, लोक जन । कयेव विहिता० विहिता कृता अभ्यसूया गुणेष्वपि दोषारोपो यया सा तया । कथमिति । इतीति किम् । अय जन सदा सर्वदा । कृताधिवास कृतोऽधिवासो येन स । कया, घन० घनानि च धान्यानि च घन० तेषा सपत् तया । किलक्षणया, अस्म० मम प्रतिपक्षभूता अस्मत्प्रतिपक्षभूता तया मत्सपत्न्या । क्व, यस्मिन् देशे । उत्प्रेक्षा ॥ १६ ॥ विकासवद्भिरित्यादि । यो व्यनक्ति प्रकटयति । किं तत् समस्त० समस्तश्चासौ देशश्च समस्तदेशस्तस्याधिपतिस्तस्य भावस्तत् । कस्य, आत्मन स्वस्य । कै स्थलनीरजाकरै नीरजानामाकरा नीरजाकरा स्थलाना नीरजाकराः स्थलनीर०, तै । किलक्षणै., विकासो विद्यते येषु तेषु ते विकासवन्तस्तै । पुनर० शरदभ्राणीव पाण्डुरा शरदभ्रपाण्डुरास्तै । कैरिव, सितानि च तान्यातपत्राणि च सितात० तै [इव] । किलक्षणै प्रसारितै विस्तारितै । क्व, लोके । उपमा ॥ १७ ॥ समुज्ज्वलाभिरित्यादि । वसुमती वसुन्धरा । यथार्थनामा यथार्थं नाम यस्या सा । अजायत सजाता । कथभूता कृतास्पदा कृत आस्पदो यया (कृत विहितमासादमाश्रयो यस्या) सा विहितावकाशा । काभि' खनिभि आकरै । किलक्षणाभि, जनर्द्धिहेतुभि जनानामृद्धय सपत्तयस्तासा हेतवो यास्ताभि । पुन कथभूताभि समुज्ज्वलाभि विशदाभि । पुनरपि क० कनक सुवर्णमादिर्येषा धातूना ते कनकादयस्तेषा योनय उत्पत्तिस्थानानि यास्ताभि । पुनरपि क० विकासनीभि विकासो विद्यते यासु ता विकासिन्यस्ताभि. । कथ समन्तत सामस्त्येन ॥ १८ ॥ शिखावलीत्यादि । यस्मिन् निगमा ग्रामा । विभान्ति । कै नूतन०

---

१ ब 'स्रुतै' नास्ति ।

नूतनानि नवीनानि च तानि धान्यानि च तेषा राशयस्तैः नवीनधान्यपुञ्जै । कथभूतै. बहिस्थितै बाह्ये पुञ्जितै । पुनरपि कथभूतै शिखावलि० शिखानामावल्य पङ्क्तय. शिखा० ताभि लीढो घनाघनाना मेघानामध्वा यैस्ते तैः शिखरपङ्क्तिस्पृष्टावकाशै । कैरिव कुलमेदिनीधरै कुलपर्वतैरिव । किंविशिष्टैस्तै उपयातैः समागतै । कस्मात् कुतूहलात् कौतुकात् । उपमा ॥ १९ ॥ गतैरित्यादि । य मञ्जुलावतीविषय । भाति चकास्ति । कै ग्रामपुरै ग्रामाश्च पुराणि च ग्रामपुराणि तै । किंलक्षणै , निरन्तरोद्या० निरन्तराणि सान्द्राणि च तानि उद्यानानि च निरन्तरोद्यानानि तेषा वितान मण्डन (ल) तेन राजितानि शोभितानि तै , अथवा उद्यानाना वितानमुद्यानवितान तस्य राजि. उद्यानवितानराजि', निरान्तरा चासौ उद्यानराजिश्च निरन्तरोद्यान० सा सञ्जाता येषु तानि तै । उत्प्रेक्ष्यते कैरिव गतैरिव । वा समासत्ति निकटत्वम् । कया दिदृक्षया द्रष्टुमिच्छया । कासाम् इतरेतरश्रियाम् इतरेतरेषा श्रिय इतरेतरश्रियस्तासा परस्परलक्ष्मीणाम् । कथभूतनाम्, अनन्यत्रभुवा न अन्यत्र भवन्तीत्यनन्यत्रभुवस्तासाम् । एता श्रियोऽस्मास्वेव नान्यात्रेति परस्परदिदृक्षाभिप्राय ॥ २० ॥ देशमुपवर्ण्येदानी नगरमुपर्णयति—वणिक्पथेत्यादि । अथ आनन्तर्ये । तस्मिन् देशे । पुर नगरम् । समस्ति विद्यते । किमभिधं रत्नसचय नाम । किंलक्षणं वणिक्पथ० रत्नाना संचय सजातो रत्नसचय वणिक्पथेषु विपणिपथेषु स्तूपित पुञ्जितो रत्नसंचयो यत्र तत् । तथा यत्पुर विभाति । कै आलानितमत्तवारणै मत्ताश्च ते वारणाश्च मत्तवारणाः क्षीवगजा , आलानिता उत्तम्भिताश्च ते मत्तवारणाश्च आलानि० तै. । च पुन । हर्म्यै धनिनिवासै । किंलक्षणै समत्तवा० सहमत्तवारणैर्वर्तन्ते इति समत्तवारणानि तै प्रग्रीवसहितै । यमकम् ॥ २१ ॥ गभीरनादैरित्यादि । यत्परिखा यस्य खातिका । विराजते विभासते । किंलक्षणा, प्रथीयसी पृथुलतरा । पुन किंलक्षणा, सकुलान्तरा सभृतमध्या । कै पयोधरै जलदै । किंलक्षणै , गम्भीरशब्दै । पुन किंलक्षणै , प्रतिमानिपातिमि प्रतिच्छायावत[1]रितै. । पुनः किं० मन्दसमीर० मन्दश्चासौ समीरणश्च तेन ईरितास्तै अल्पवायुप्रेरितैः । कैरिव जलेभयूथैरिव वारिवारणसङ्घातैर्यथा । उपमा ॥ २२ ॥ परीतशृङ्गैरित्यादि । परिधि प्राकारः । विभाति । कै नक्षत्रगणै तारकानिकरै । किंलक्षणैं , परीतशृङ्गै परीतानि वेष्टितानि शृङ्गाणि यैस्ते परी०, तै । पुन किंलक्षणै , स्फुरति अशूना जालकानि येषा ते, तै , स्फुरदंशुजालकै भास्वत्करनिवहै । कैरिव, प्रदीपप्रकरैरिव प्रदीपाना प्रकरै समूहै प्रद्योपितै प्रकाशितैरिव । किं लक्षणै स्थिरप्रभै नि कम्प्रदीप्तिभिर्मण्यादिजैर्वा । कथ, समन्तत इतस्तत । वत्र, यस्मिन् पुरे । उपमा ॥ २३ ॥ मलीमसमित्यादि । यत्र जनैश्चन्द्रमण्डल विलोक्यते । किंलक्षण, घनाध्वमध्यग घनानामध्वा घनाध्वा तस्य मध्य गच्छतीति घनाध्वमध्यगस्तम्[2] (तत्) । पुन किंलक्षणं मलीमस मलिनम् । केन, भृङ्गनिभेन भ्रमरसदृशेन । लक्ष्मणा चिह्नेन । उत्प्रेक्ष्यते किमिव अभ्र लिहन्तीत्यभ्रलिह शृङ्गाणा कोटयो येषा तानि, तै । गृहै सदनै निघृष्टदेहच्छवीव निघृष्टा उद्धर्षिता देहस्यच्छविर्यस्य तत् ॥ २४ ॥ मदाभमित्यादि । यत्र घनै मेघै । गजभ्रम हस्तिभ्रान्ति । वितन्यते क्रियते । येषा शरीरिणा प्राणिनाम् । कथभूताना गोपुरस्य शृङ्गे वर्तन्ते इति गोपुरशृङ्गवर्तिनस्तेषाम् । कथभूतैर्घनै , मदाभ मदसदृशम् । अम्भ. जलम् । विसृजद्भिश्च (स्र) वद्भि । उल्लसन्ती चासौ तडिल्लता च उल्लसत्तडिल्लता सा अलकरण येषा ते, तै विकसत्क्षणप्रभाभरणै । पुन' किं०, अधोगतै अध स्थितैः ॥ २५ ॥ सुगन्धिनिश्वासेत्यादि । यत्र पुरे । मधुव्रतव्रज मधुकरसमूह । जनैर्विलोक्यते, क इव, राहु सैंहिकेय इव । किं लक्षणो राहु , समापतन् समागच्छन् । कया इन्दुशङ्कया चन्द्रारेकया । क्व, कामिनीमुखे नारीवदने । किंलक्षणे, आपाण्डुनि आ ईषत् पाण्डुरे । केन, मनोभुवा कामेन । पुन कथभूते सुग० शोभनो गन्धो यत्र स सुगन्धि., निःश्वासस्य मरुत् नि श्वासमरुत्, सुगन्धिश्चासौ नि श्वासमरुच्च सुग० तेन मनोहर तस्मिन् सुगन्धोच्छवासवायुमुन्दरो[3] (रे) अत्र मुखचन्द्रयो कान्तिमत्तया समानत्वेऽपि सुगन्धित्वेन काकिनीमुखे विशेष इति भाव ॥ २६ ॥ निपातयन्तीत्यादि । यत्र नवा नवोढा । वधू कामिनी । जीवितेश्वर प्राणनाथम् । गाढ यथा भवति तथा नालिङ्गति नाश्लिष (ष्य)

---

१. वं॰ यावित॰ । २. ब ॰गस्तम् । ३ ब॰ रो ।

ति । कया जनाभिशङ्कया जनेभ्योऽभिशङ्का तया—किमेते जना सन्तीत्यारेकया । कथंभूता नवा वधू, तरले चञ्चले, विलोचने विशिष्टनयने । निपातयन्ती इतस्ततः प्रक्षिपन्ती । कासु निवासभित्तिषु निवासस्य भित्तयो निवासभित्तयस्तासु गृहकुड्येषु । किंलक्षणासु सजीव० सह जीवविचित्रैर्वर्तन्त इति सजीवचित्रास्तासु । जीवचित्राणि पुत्तलिकाविशेषाः । भ्रान्तिमान् ॥ २७ ॥ शशाङ्कान्तेत्यादि । तथा यत्र पयस्ताण्डवं तनोति । किं लक्षणं, विकासि प्रोत्फुल्लयत्तम् । यत्र, अकाण्डे अनवसरे । येषां, शिखण्डिनां मयूराणाम् । किंलक्षणम् पयोदशङ्किनां पयोदाना शङ्का विद्यते येषां ते पयोदशङ्किनस्तेषां जलधरारेकिणाम् । किंलक्षणं तत्पय । पतत् क्षरत् । कस्मात् सौधचयात् । सौधानां चयस्तस्मात् राजसदननिकरात् । किंलक्षणम् शशाङ्ककान्ता० शशाङ्ककान्ताश्च तेऽश्मानश्च शशाङ्क० तन्मया (?) निवृत्ता ऊर्ध्वभूमिका वेदिका यस्य स तस्मात् । क्व, विधूद्गमे चन्द्रोदये । अयमपि भ्रान्तिमान् ॥ २८ ॥ निशागमेत्यादि[२] । तथा यत्र, विधु चन्द्र । कलङ्कलेखया लाञ्छनरेखया । विभज्यते विनिश्चयते । किंलक्षणो विधु, अभिन्नदेश न भिन्नो देशो यस्य सोऽनन्यदेश । कस्मात्, आननाम्बुजात् आननमेवाम्बुजं तस्मात् मुखकमलात् । किंलक्षणात्, अमलगण्डमण्डलात् अमलं गण्डयोर्मण्डलं यत्र तत्तस्मात् निर्मलकपोलबिम्बात् । कस्य, वधूजनस्य । किंलक्षणस्य, सौधशि० सौधानां राजसदनानां शिरांसि शिखराण्यधिरोहतीति० स तस्य । क्व, निशागमे रात्रिप्रारम्भे ॥२९॥ समुल्लसद्भिरित्यादि । तथा यत्पुरं विभाति । कैः, ध्वजांशुकैः । ध्वजानामंशुकानि ध्वजांशु० तैः केतनवसनैः । किंलक्षणैः, समुल्लसद्भिः समुल्लासमूर्ध्वपरिस्पन्दं कुर्वद्भिः । पुनः किंलक्षणैः, शरद० शरदोऽभ्राणि शरदभ्राणि तानीव पाण्डुरा शरद० तैः । निरालम्बविशेषणत्वात् पुल्लिङ्गं । पुनरपि किंलक्षणम्[३], विनिवारि० विशेषेण निवारित आतप औष्ण्यं यैस्तानि तैः । बहुव्रीहावालम्बनत्वात् नपुंसके । कैरिव, निर्मोकलवैरिव निर्मोकस्य लवा निर्मोकलवास्तैः । कञ्चुकलेशैः (इव) । किंलक्षणैर्निर्मोकलवैः, निर्मलैः मलरहितैः । कस्य उष्णगो—उष्णा गावो यस्य स तस्य आदित्यस्य । किंलक्षणस्य सतः । गृहाग्र० गृह्णात्यर्थं पुरुषेणोपार्जितमिति गृहम्, तस्य तेषां वा अग्रभागास्तैरुल्लिखितस्य सौधोपरिप्रदेशे घृष्टस्य इति ॥ ३० ॥ विशालशालोपवनेत्यादि । यस्मिन् जिनालया चैत्यगृहाणि विभान्ति । किंलक्षणा, विशाल० शालश्च उपवनं च शालोपवनं विशाले च ते शालोपवने च विशा० ताभ्यामुपशोभिनः[४] विस्तीर्णप्राकारवाटिकाराजमाना । पुनः किं०, शिर० शिरोभिः समुत्तम्भिता मेघानां पङ्क्तिर्यैस्ते शिखरस्थगित[५]जलधरघटा । पुनरपि किं० [४]सिंह० सिंहैः सनाथा मूर्तिर्येषां ते लेप्यमृगेन्द्राधिष्ठिततनव । के इव, धरणीधरा इव पर्वता यथा । किंलक्षणा पर्वताः, विशाला विस्तीर्णाश्च ते शाला वृक्षविशेषाश्च विशा० तेषामुपवनं तेनोपशोभिन । शेष स्पष्टम् । श्लेषोपमा ॥ ३१ ॥ मदेनेत्यादि । यस्मिन् मदेन मद्येन योग केवलं परं द्विरदेषु गजेषु विलोक्यते, अन्यत्र अवलेपेन योगो न । सोपसर्गता उपसर्गसहितत्वम् केवलं धातुषु भ्वादिषु । निपातनक्रिया साधुत्वं, पक्षे मारणक्रिया । शब्देषु शब्दादिषु[६] । करयो पीडनानि करपीडनानि, पक्षे भागधेयस्य दुःखानि । कुचेषु स्तनेषु । भवन्ति, न जनेषु—इति सर्वत्र सबध्यते । परिसख्यालकार ॥३२॥ द्विजिह्वितेत्यादि । यत्र द्विजिह्वता द्विरसना, पक्षे पिशुनता । परं केवलम् । फणाभृतां फणिनाम् । कुलेषु यूथेषु, न जनेष्विति सर्वत्र सबन्ध । चिन्तापरता चित्तैकाग्रता (वित्तैकाग्रता), पक्षे सचिन्तता । योगिषु ध्यानिषु । दरिद्रता क्षीणत्वं, पक्षे निर्धनत्वम् । नितम्बि[७]नीनां कामिनीनाम् । उदरेषु कटीषु । अवरत्वसभव अधरशब्दवाच्यत्वं, पक्षे हीनजातित्वम् । ओष्ठेषु रदनच्छदेषु । वृत्तद्वयेऽपि परिसख्या ॥ ३३ ॥ विभान्तीत्यादि । यस्मिन् गृहाणि सदनानि विभान्ति । किंलक्षणानि, सर्वतः सामस्त्येन । विविधो० उज्ज्वलाश्च ते उपलाश्च उज्ज्व० विविधाश्च ते उज्ज्वलो० विविधोज्ज्व० तैः प्रणद्धा खचिता भित्तयो येषां तानि । किंलक्षणानीव, लीनानीव तिरोभूतानीव । केषु, दीप्तता कान्तिमत्ता दधत्सु निजेषु स्वेषु धामसु महःसु । कया, पतङ्गसतापभिया पतङ्गस्य भानो सताप परितापस्तस्माद् भी तया । उत्प्रेक्षा ॥ ३४ ॥ स न प्रदेशोऽस्तीत्यादि । यत्र स प्रदेश प्रकृष्टो देशो न, यो जनाकुल जनसभृतो न । असौ जनोऽपि न, यो

---

१ ज पयोदत् । २ = निशागम इत्यादि । ३ ज 'लक्षण' इति नास्ति । ४ ब स्वतिकान्तर्गत पाठो नास्ति । ५ = °स्थापित° । ६ ज सद्य आदिषु । ७ ज नितम्बि° इति नोपलभ्यते ।

धनेश्वर इभ्यो न । तद् धन द्रव्य न, यद् भोगसमन्वितं भोगसहित न । स भोगोऽपि न, य· सततोऽनवरतो न । एकावलीयमलकृतिः ॥ ३५ ॥ विलुसेत्यादि । यत्र सितेतराणि सितानि चेतराणि च यद्वा सितेभ्य इतराणि नीलानि । अम्बुरुहाणि कजानि । लुठन्ति प्रकम्पन्ते । कुतः, तापात् अन्त क्लेशादिव । किंलक्षणानि योषिता कामिनीनाम्, विलोचनोत्पलै विशिष्टनयनकुशेशयै., विलुप्तशोभानि जितकान्तीनि । क्व, दीर्घिकाजले वापीतोये । किलक्षणे, मरुच्चल० मरुता वायुना चलन्त्यो वीचय कल्लोला यत्र तत् तस्मिन् । पुन किं लक्षणे, शीतले । अन्योऽपि य कश्चित् केनापि जितो भवति सोऽपि वायुना शीतले जले लुठति । उपमेयमलकृति (हेतूत्प्रेक्षा) ॥ ३६ ॥ महागुणैरित्यादि । यत् पुरम् । महाजनै गरिष्ठलोकै । अधिष्ठितम् आश्रितम् । प्रतिभाति चकास्ति । किंलक्षणैस्तै, महागुणै महान्तो गुणा सौजन्यौदार्यस्थैर्यप्रभृतयो येषु ते महागुणास्तैरपि । अगुणै गुणरहितै, पक्षे यतो महागुणैरतएवागुणैः, 'सत्त्व रजस्तमश्चेति त्रय प्रोक्ता महागुणा ।' तेभ्य, तमोगुणरहितै, अथवा अस्य कृष्णस्य गुणा इव गुणा येषा तेऽगुणा तै । मदोज्झितै त्यक्तमदै अपि प्रवृ० परिणतप्रकृष्टमदै, पक्षे यतो मदोज्झितैरत एव परिणतदर्पैं, मानिना सदा सतप्तत्वाद्धर्षाभाव एव । प्रकामम् अतिशयेन । निर्भयै भयरहितैरपि । परे शत्रवश्च ते लोकाश्च परलोकास्तेभ्यो भीरुभिर्भीलुकै, पक्षे परलोक प्रेत्यभाव । विरोधालकार ॥ ३७ ॥ स यत्रेत्यादि । यत्र स एव पर दोषो यत्कामिन· कामुका, स्वकान्तानुनयस्य स्वकामिनीचाटुकारस्य, रस रहस्य न जानते नावबुध्यन्ति । क्व सति कूजति कूणति सति । कस्मिन्, पतत्कुले पक्षियूथे । किलक्षणे, वेदिकाना सौधोपरिभूमिकाना शिर-शिखासु शेते इति वेदिकाशिर शिखाशायि तस्मिन् । पुन किलक्षणे मानभञ्जने मान भनक्तीति मानभञ्जन तस्मिन् । कामिन्य खलु सुरतावसरे कूजन्ति स्वचातुर्यात् । तत्र पतत्रिणा कूजनश्रवणात् तासा मानभङ्ग, मानभङ्गे च नीरसत्वमिति भाव ॥ ३८ ॥ अथ पञ्चदशभि· पद्यै राजोपवर्ण्यते । अथाभवदित्यादि । अथ नरेश्वर भूपति· । अभवत् । किलक्षण, भूरिगुणै प्रचुरगुणै । अलकृतः भूषित, । पुन किं०, तस्य पुरस्य रत्नसचयस्य । शासिता रक्षक । तथा य, उवाह दधौ । का, कनकप्रभाभिधा कनकप्रभ इत्यभिधा कनकप्रभाभिधा ताम् । कया, रूढया लोकप्रसिद्धया । कथ तथापि, तथापीति किं, य, केनचिदुपमानेन तुलितद्युतिर्न तुलिता समीकृता द्युतिर्यस्य स तुलि० ॥ ३९ ॥ यशोभिरित्यादि । महौजस महदोजो बल यस्य तस्य । यस्य राज्ञ । विधूपित सतापितमरातीना कुल यैस्तानि । तेजासि महासि । न ममु न समान्ति स्म । क्व, भूतले पृथिव्याम् । किलक्षणे, पूरितमन्तर मध्य यस्य तत् तस्मिन् । कै, यशोभि, किंलक्षणै एणाङ्ककला० एणाङ्कस्य चन्द्रस्य कला एणाङ्ककला ताभिरिव समुज्ज्वलानि एणाङ्क० तैरेणाङ्ककलासमुज्ज्वलै । किं लक्षणैरिव, पुर प्रयातै पुरोगैरिव ॥४०॥ प्रयासमुच्चैरित्यादि । ततो जयश्री पुनश्चिर स्थिरा बभूव । किं कृत्वा, उच्चै कटक यद्भुज यस्य बाहुम् । अधिगम्य सप्राप्य । किलक्षणा, भीतेव त्रस्तेव । कुतो भीता यतो जयश्रो. प्रयासमवाप गतवती । कुत सचारवशात् सचारस्य पर्यटनस्य वशास्तस्मात् । केषु, भूभृता राज्ञा पर्वताना च । गणेषु समूहेषु । किंलक्षणेषु, उच्चै कटकेषु उच्चै. कटका शिबिरा (शिबिराणि) येषा ते तेषु, अथवा उच्चैर्वलयेषु उच्चैर्नितम्बेषु च। अन्यस्यापि उच्चै कटकेषु उच्चैर्नितम्बेषु भूभृता पर्वताना गणेषु भ्रमत प्रयासो भवति तत कुत्रचिदवस्थानमिति श्लेष[1] (?) ॥ ४१ ॥ य. पुरुषोत्तमोऽपि कृष्णोऽपि, पक्षे पुरुषप्रधान । वृषोच्छेद० वृषोच्छेदविधायि चेष्टित यस्य स वृषोच्छेदविधायिचेष्टित—दैत्यध्वसकारिवृत्ति., पक्षे पुण्यघातिचेष्टित, नाभूत्, अथवा वृषोच्छेदविधायिनी चासौ चेष्टा च वृषो० सा सजाता यस्य स तथाविध, नाभूत् नाजनिष्ट । किंलक्षण, अचिन्त्य० महात्मनो भावो माहात्म्यमचिन्त्योऽनवधार्यो माहात्म्यस्य प्रभुत्वस्य गुणो यस्य स. । जनानामाश्रयो जनाश्रय । स्वस्य विक्रमोऽतिशक्तिता स्वविक्रमस्तेनाक्रान्त व्याप्त समस्त विष्टप येन स स्वविक्र० । श्रिया सनाथ लक्ष्म्या सहित ॥ ४२ ॥ कल्पवृक्षेभ्योऽप्याधिक्य यस्य सूच्यते । कल्पोपपदैर्महीरुहै कल्पवृक्षै । नितान्तम् अतिशयेन । विमनस्कवृत्तिता विमनस्का चासौ वृत्तिश्च विम० तस्या भावो विमनस्कवृत्तिता । दधे

१. व विलेष (श्लेष) ।

दध्रे । कया, शुचेव शोकेनेव। किंलक्षणैः सद्भिः, निर्जितैः पराभूतैः। केन, निसर्गजश्चासौ त्यागगुणश्च निसर्ग० तेन निसर्गजत्यागगुणेन । किंलक्षणेन, गरीयसा गरिष्ठेन । कस्य, यस्य । किंल०, परार्था सम्पद् यस्य स तस्य अन्यनिमित्तसम्पत्तेः ॥ ४३ ॥ कुरङ्गलाञ्छनः चन्द्रः । यं जेतुं न शशाक शक्नोति स्म । किंल०, उज्ज्वलः निर्मलम् । कया, प्रदोष० प्रदोषो रजनीमुखं, पक्षे प्रकृष्टदोषाः (षः) तस्य तेषां वा संसर्गिता तया । उभयत्र साम्येऽपि चन्द्रस्य प्रदोषसंसर्गित्वमस्य चोज्ज्वलत्वं 卐 चन्द्रस्य[1] कुरङ्गलाञ्छनत्वमस्य च सदङ्गनिर्लाञ्छनत्वमिति भावः 卐। इति व्यतिरेका[2]लंकारः । किंलक्षणोऽपि सः, कलाभिः समग्रोऽपि सम्पूर्णोऽपि । पुनः किं० जनानभिनन्दतीति जनाभिनन्द्यपि । पुनरपि किं० अभिभूतं विष्टपं यया सा तां तिरस्कृतलोकाम् । श्रियं दधानोऽपि बिभ्राणोऽपि ॥ ४४ ॥ अथ समुच्चयः । यः जगद्विशेषकः चित्रकः । विशेषयामास अलंचकार । किं तत्, कुलम् । केन, विशुद्धवृत्तिना चरित्रेण अनुष्ठानविशेषेण । तथा शरदभ्राणीव विभ्रमो येषां तानि, तैः । यशोभिः आशाः । गुणैः वपुः । श्रवणेन शास्त्राकर्णनेन । शेमुषीं बुद्धिम् ॥ ४५ ॥ विरोधो यथा, तत्परिहारश्च। षण्णां गणः षड्गणः, साधितो वशं नीतः शत्रूणां षड्गणो येन सः । तदुक्तम्—'कामः क्रोधश्च हर्षश्च मानो लोभस्तथा मदः । अन्तरङ्गोऽरिषड्वर्गः क्षितीशानां भवत्ययम् ॥' यः भूरिदानोऽपि कटोद्भेदः, पक्षे वितरण भूरिदानं यस्य स भूरिदानः । मदेन मद्येनात्रलेपेन च । च पुनः । अहीनां सर्पाणामिनस्तस्य संसर्गेण समन्वितोऽपि अजगरसंसर्गसहितोऽपि, पक्षे उत्कृष्टसंयोगसहितोऽपि । द्विजिह्व० द्विजिह्वानां सर्पाणां दुर्जनानां च संसर्गितया समन्वितया । दूषितः कलुषितः । न बभूवेति ॥ ४६ ॥ सर्वं च तद् विष्टपं च सर्व० तत्र प्रतीता प्रथिता कीर्तिर्यस्य स राजा कनकप्रभः । वसुन्धरा वसुमतीम् । गामपि धेनुमपि । करिणीं हस्तिनीं चकार । विरोधोऽयं, तत्परिहारश्च—गां गोशब्दवाच्यां पृथ्वीं वसुमतीं वसु दधानामपि पृथ्वीं, तेजोभिर्दानवतीं चकारेति भावः, करिणीं भागधेयवर्तीं चकारेति । किं कृत्वा, अभिभूय तिरस्कृत्य । कान्, समस्तान् सकलान् । मण्डलिनः मण्डलेशान् । किंलक्षणान्, समुद्धतान् उत्कटान् । कैः, धामभिः तेजोभिः । किंलक्षणैः, अतिदुःसहैः अतिशयेन दुःखेन सोढुं शक्यैः । पुनः किं० निजैः स्वकीयैः । विरोधालंकारः ॥ ४७ ॥ यस्य विभोः स्वामिनः । तेजसा महसा । श्रीः लक्ष्मीः । वधूरिव । व्यतिरेको वा । चपला चञ्चलापि निश्चला । व्यधीयत अक्रियत । अतिशयोऽयम् । केनेव, कञ्चुकिना सौविदल्लेनेव । उपमेयम् । किंलक्षणेन, नितान्तम् अतिशयेन वृद्धेन लोकान्तमासेन, पक्षे परिणतवयसा । कठोरा कर्कशा परोपघातिनी वृत्तिर्वर्तनं यस्य तत्, तेन, पक्षे दाक्षिण्यवर्जितेन । सनीतिना सह नीतिभिर्वर्तत इति सनीतिः, तेन, उभयत्रापि, श्लेषोऽयम् । संकरोऽयमलंकारः ॥ ४८ ॥ स राजा । ईश्वरः रुद्रः, ऐश्वर्ययुक्तश्च । सन् अपि भवन् अपि । असमदृष्टिदूषितो[3] न बभूव । शम्भोः किल विषमदृष्ट्या दूषणं वर्ततेऽस्य चासमा देवताभा सानुगामिनो दृष्टिः श्रद्धानं तया किल महद्दूषणम् (?) । 'दृष्टिः ज्ञानेऽक्ष्णि दर्शने' इत्यमरः । व्यतिरेकोऽयम् । किंलक्षणः, धराश्रयः धराया पृथिव्या आश्रयोऽवष्टम्भः । सततम् अनवरतम् । भूतेः सम्पदो भस्मनश्च संगमो यस्य सः । शशाङ्कवत् कान्तो मनोरमः, शशाङ्केन कान्तश्च, शशाङ्कः कस्य शिरसोऽन्ते ललाटे यस्येति वा । धृतः उद्धृढो नागनायकेन गजेन य सः, धृतो धारितो नागनायकः सर्पराजो येन स च । अधो भवन्तो न्यग्भवन्तो गोपतयः पृथ्वीनाथा यस्य सः, पक्षे अधोभवन् वाहनीभूतो गोपतिर्यस्य सः । अत्र श्लेषोऽपि तेन संकरश्च स्यात् ॥ ४९ ॥ यदीयेत्यादि । अधुनाऽपि साम्प्रतमपि । पयोनिधिः समुद्रः । पूत्कारमिव दीनाक्रन्दनमिव । करोति विदधाति । किंलक्षणः, उदस्तकल्लोलभुजः सन् उदस्ता ऊर्ध्वीकृताः कल्लोला वीचय एव भुजा बाहवो येन सः । पुनः कथंभूतः, लुप्तयशोमहाधनः लुप्तं पराभूतं यश एव महाधनं यस्य सः । केन, यदीय० गाम्भीर्यमेव गुणो गाम्भीर्यगुणः, यदीयश्चासौ गाम्भीर्यगुणश्च यदीय० तेन यद्गाम्भीर्यगुणेन । किंलक्षणेन, निर्मलप्रसिद्धिना निर्मला उज्ज्वला प्रसिद्धिः ख्यातिर्यस्य स तेन । उत्प्रेक्षेयम् ॥ ५० ॥ नरेन्द्रेत्यादि । यस्य राज्ञः । पौरुषं बलम् । अष्टापदवृत्ति अष्टापदस्य वृत्तिरिव वृत्तिर्यस्य तत् । न अजायत नाभूत् । किंलक्षणस्य यस्य, निःशेषितशत्रुसंततेः निःशेषिता निर्मूलिता शत्रूणां रिपूणां संततिर्येन सः, तस्यापि । किंलक्षणस्य सतः, विधिरसतः विकीर्णतः । कानि,

१ य स्वस्तिकान्तर्गतः पाठो नोपलभ्यते । २. ज 'रेको' । ३ व 'भूपि' ।

कार्याणि विधेयानि । किं कृत्वा, विमृश्य विचार्य । कया, धिया बुद्धचा । किंलक्षणया, विशुद्धया निर्मलया । कस्मात्, नरेन्द्र० नरेन्द्राणा विद्याः आन्वीक्षिकी त्रयी वार्ता दण्डनीतिरिति चतस्रो राजविद्या तासामधिगमः परिज्ञान तस्मात् । पौरुषेण अष्टापदतुल्यत्वेऽपि धिया विमृश्यकारित्वाद् व्यतिरेकोऽयम् ।। ५१ ।। रतिप्रदानेनेत्यादि । येन राज्ञा । प्रजा प्रसाधिता अलंकृता । किंलक्षणा, कृतायति· कृता विहिता आयतिर्विस्तारो यया सा कृता० । पुन किं०, गुणानुरा० गुणानामौदार्यादीनामनुराग प्रीति तेनोपनता प्रणता । किंलक्षणेन च येन, रति० रतिरनुरागस्तस्या प्रदान तत्र प्रवीणेन । पुनरपि किंलक्षणेन, कुर्वता । काम् उज्ज्वला, विचित्र० विचित्रा नानाविधाश्च ते वर्णाश्च द्विजादयस्तेषा क्रमवृत्ति सकीर्णताभावस्ताम्, उज्ज्वला निरतिचारा कुर्वता विदधता । केव वधूरिव अङ्गनेव । यया भर्तृगुणानुरागप्रवणा कृतोत्तरकालफला वधू रतिप्रदानचतुरेण विशिष्टकान्तिप्रकृतिवर्तनमुज्ज्वल विदधता रमणेन प्रसाध्यते । इत्युपमा ।। ५२ ।। अतीतसख्यैरित्यादि । यस्मिन् राजनि । गुणै समुदायिता चयत्वम् । अकारि विदधे । किंलक्षणै , अखिलै । पुनरपि किंलक्षणै , अतीतसख्यै अतीता अतिक्रान्ता सख्या यैस्ते, तै । पु०, परिलब्धा कीर्तियैस्ते, तै । पु०, शरदो निशानाथश्चन्द्रस्तस्य मरीचय इव निर्मलास्तै । किंलक्षणैरिव, दोषचमू दोषसेना, रुरुत्सुभि रोद्धुमिच्छद्भिरिव । सेना खलु समुदायाभावे जेतु न शक्यते । सकललोकवर्तिनो ये गुणास्तेऽस्मिन् समुदिता इति भाव ।। ५३ ।। अथ चतुर्भिर्वृत्तै कान्तोपवर्ण्यते पराक्रमेत्यादि । 'अथ' इत्यानन्तर्यार्थे । 'सुवर्णमाला' इति नाम्नी । भामिनी मानिनी । बभूव अजनि । किंलक्षणा, निशा० निशान्तस्य सकलान्तःपुरस्य । नायिका पट्टमहिषी । कस्य नृपस्य । किंलक्षणस्य, पराक्र० पराक्रमेण शक्त्या आक्रान्ता व्याप्ता महीभुजो राजानो येन स तस्य । पुन किंलक्षणस्य, जगल्ल० जगतो ललामा तिलका चासौ लक्ष्मीश्च जग० तया निलयीकृतमास्पदीकृतमुरो वक्षो यस्य स तस्य ।। ५४ ।। यदीयेत्यादि । यदीय यत्सम्बन्धि । शील सद्वृत्तम् । जातुचित् कदाचित् । मलीमसं मलिनम् । नाभूत् । किंलक्षणम्, अविनिन्दित निन्दारहितम् । कथभूतमिव, नितान्तनिर्धौतमिव नितान्तमेकान्तेन निर्धौत प्रक्षालित निता० । 'तीव्रैकान्तनितान्तानि' इत्यमर । केन, कान्तिमयेन कान्त्या निर्वृत्तेन । वारिणा जलेन । किंलक्षणेन, विसारिणा विस्तीर्णेन । पुनरपि०, एणाङ्कस्य चन्द्रस्य मरीचय त्विष इव हारि मनोहर तेन । उपमा । 'यत्राकृतिस्तत्र गुणा वसन्ति प्रायो विरूपासु भवन्ति दोषा ।' इति सूचितम् ।। ५५ ।। वहन्नित्यादि । यत्तनौ यच्छरीरे । न ऊनमनून, 'हीनन्यूनावूनगर्ह्यौ' इत्यमर, अनून च तल्लावण्य च कान्तिमयत्व तेन मय । पयोनिधि समुद्र । विचकास उल्ललास । किंलक्षण , सहासफेन हास एव फेनो डिण्डीर , सह हासफेनेन वर्तत इति सहासफेन । किं कुर्वन्, शशाङ्कस्य चन्द्रस्य । शङ्काम् आरेकाम् । वहन् धारयन् । क्व, वक्त्रपङ्कजे वक्त्रमेव पङ्कज कुवलय तत्र । किंलक्षणे, स्मरापाण्डुकपो० स्मरेण कामेन आपाण्डु ईषत्पाण्डु कपोलयोर्गल्लयोर्मण्डल यत्र तत् तस्मिन् । भ्रान्तिमान् । लावण्यपयोनिध्योर्मुखचन्द्रयोश्चोपमानोपमेयभावो वा । यौवने हि सुष्ठु परिणते मुखं चन्द्रवदाभाति ततश्च तनुरतीव कान्ति दधातीति भाव ।। ५६ ।। भुव इत्यादि । सा मृगेक्षणा हरिणलोचना । तस्य नृपस्य । मन्दिरे गृहे । लक्ष्मी श्री । बभूव । किंलक्षणस्य नृपस्य, पुरुषोत्तमस्य पुरुषप्रधानस्य, कृष्णस्य च । किंलक्षणस्य तस्य, भुव पृथिव्या· समुद्धर्तुं उद्धरणशीलस्य जगद्धारकस्य च । पु०, बलेन पराक्रमेण बलभद्रेण च । अधिष्ठितात्मन समाश्रितस्य । पुन०, सत्यानु० सत्ये तथ्येऽनुरतमेकमद्वितीय चेतो यस्य, सत्याया सत्यभामाया च । श्लेष ।। ५७ ।। अथ पुत्रोत्पत्तिमाह परस्परेत्यादि । स प्रसिद्ध । स्तनन्धय· पुत्र । किंलक्षण , धाम्ना निधि तेजोनिधानम् । कयो तयो । किंलक्षणयो , पर० परस्परम् अन्योन्य स्नेहेन प्रणयेन निबद्ध नियन्त्रितं चेतो मनो याभ्या तौ पर० तयो । येन पद्मनाभता संज्ञया अभिधया न दध्रे नरकद्विषा अर्थेन च । पद्मनाभ किल नरकस्य दैत्यविशेषस्य द्विट्, अयमपि नरकस्य दुर्गतेरित्यन्वर्थता । तुल्ययोगितेयम् ।। ५८ ।। अथ चतुर्भि पद्यै पद्मनाभकुमार उपवर्ण्यते—कलासनाथस्येत्यादि । यस्य पद्मनाभस्य । बाल्येऽपि शैशवेऽपि । विवेकरिक्तता सदसद्विवेचनशून्यत्वम् । न बभूव । किंलक्षणस्य, निःशेषाश्च ते जनाश्च तेष्वनुकम्पायुक्तस्य । 'कृपा दयानुकम्पा स्यात्' इत्यमर । किंलक्षणस्य, हिमद्युतेः चन्द्रस्येव, कला० कलाभिः सनाथस्य सहितस्य । कला शस्त्रधारणाद्या षोडशो भागश्च । हिमेतरा उष्णा

अंशवो यस्य स तस्येव तीव्रं तेजो यस्य स तस्य असह्यमहस । चन्द्रसूर्ययोरिव शान्ततीव्रस्यापि आशुकार्यकरणे सविवेकित्वमिति भाव । प्रतिवस्तूपमा । अथवा चन्द्र सूर्यान्वयिनां क्लेशकारी सूर्यश्च चन्द्रवंशिनाम्, अस्य चोभयसाम्येऽपि क्वचिदनुयायिनि विवेकरिक्तताभावाद् व्यतिरेकश्च ॥ ५९ ॥ समाचरन्नित्यादि । य कृतज्ञ कृतं जानातीति । पलिताङ्कुरं शुक्लकेशैर्विना । वृद्ध स्थविर । बभूव । किंलक्षण, समं० समस्ताश्च ता विद्याश्चान्वीक्षिक्यादयस्तासामधिगम परिज्ञानम् 'आन्वीक्षिक्यामात्मविज्ञान धर्माधर्मौ त्रयोस्थितौ । अर्थानर्थौ तु वार्तायां दण्डनीत्या नयानयौ ॥' इति, तेन प्रवृद्धा धीर्यस्य स । पुन किंलक्षण, समाचरन् अनुभवन् । का., क्रिया । किंलक्षणा, शिशुभाव शैशव तत्र दुष्प्रापा । ता पुन कथभूता, नयमार्गेण नीतिपथेन शालिनीः शोभमाना. । विभावनेयमलङ्कृति ॥ ६० ॥ गलदि (त्रि) त्यादि । यस्य अङ्कुश सृणि, गुरु जनकादि, अभवत् । किंलक्षणस्य, गरीयसा गरिष्ठेन, ओजसा बलेन, युतस्य सहितस्य । पुन किंलक्षणस्य, गलन्मदस्य गलन्मदो यस्य स तस्य—स्रवन्मदस्य, मद सुतरा गत इत्यर्थ । अत एवोन्नतवंशेनोच्चवंशेन शाली शोभमान तस्य । पुनरपि० गृहीत सम्यग्विनयो येन स तस्य आदृतप्रश्रयस्य । पुनर०, सोन्नते सह उन्नत्या औद्धत्येन (उच्छ्रित्या) वर्तत इति सोन्नतिस्तस्य । कस्येव, गजाधिपस्येव । यथा स्रवन्मदस्य, उन्नतपृष्ठशोभिन, सुशिक्षितविनयस्य, उच्चैस्तरस्य च गजेन्द्रस्याङ्कुशो गरिष्ठ स्यादिति । उपमा ॥ ६१ ॥ विभूषितमित्यादि । व्यसनैः व्यस्यन्ति परेहलोकमिति व्यसनानि द्यूतादीनि, तै । किंलक्षणै, प्रमाथिभि प्रचाविभि । यस्य मनो न जह्रे न मुष्टम् । किंलक्षणस्य, मनस्विन पण्डितस्य । पुनरपि०, जिता पराभूता आन्तरा अन्तराश्रिता द्विषो येन सः, तस्य । पुनरपि०, विग्रह शरीरम् दधत । धारयतोऽपि । किंलक्षण विग्रह, विभूषित परिष्कृतम् । कया, यौवनस्य रूपसपत् तया । किंलक्षणया, विकारवत्या विकारसहितया ॥ ६२ ॥ स बह्वित्यादि । स विशामधीश्वर पृथ्वीपति । बहूनि अपत्यानि यस्य सोऽपि । जिष्णुना जयशीलेन । तेनैव सुतेन पुत्रेण । रराज बभासे । अत्रार्थान्तरमुपन्यस्यते—अनेकाश्च (अनेके च) ते शकुन्ता पक्षिणश्च तै संकीर्ण । जलाधारो राजहंसेन विना न विराजते । 'राजहंसास्तु ते चञ्चुचरणैर्लोहितै सिता ।' ॥ ६३ ॥ अथेत्यादि । अथ अनन्तरम् । जातु कदाचित् । स । मेदिन्या पृथ्व्या. पति स्वामी । परिहृष्टा हर्षं प्राप्ता मतिर्यस्य स परिहृष्टमति सन् । निजा चासौ लक्ष्मीश्च तया परिभूषित परिष्कृतम् । पुर नगरम् । विलोकयन् अवलोकयन् । गुरुश्चासौ सौधो राजसदन च, तस्य मस्तके । अवतस्थे स्थित । जाति ॥ ६४ ॥ तदा तस्मिन्नवसरे । तेन कनकप्रभेण । गवा गण गोयूथ । ददृशे लुलोके । कथभूत, समुत्तरन् विनि सरन् । किं कृत्वा, पय पानीय परिपाय पीत्वा । किंलक्षणेन तेन, यदृच्छया स्वेच्छया, दृश दृष्टिं, विनिपातयता इतस्तत प्रचारयता । क्व, आस० अतिशयेनासन्नमासन्नतम तच्च तदेकपल्वलमल्पसरश्च, तस्मिन् । जाति ॥ ६५ ॥ किल इति पुराणोक्तौ । असौ विचक्षण विदग्ध. । तत्र पल्वले । एक जरद्गव जरश्चासौ गौश्च जरद्गौ, त म्रियमाण प्राणांस्त्यजन्तम् । अवेक्ष्य अवलोक्य । तत्क्षणात् । इति वक्ष्यमाणप्रकारेण । निर्वेद वैराग्यम् । जगाम । कथभूत जरद्गव, घनपङ्क० घनश्चासौ पङ्कश्च तत्र निमग्नो ब्रुडित, तम् । पुन०, अक्षम क्षीणगात्रम् ॥ ६६ ॥ क्षणभङ्गुरेत्यादि । भव भजन्तीति भवभाजस्तेषा भवभाजा प्राणिनाम् । जीवित प्राणा । क्षणभ० क्षणेन तत्काल भङ्गुरा विनश्वरा वृत्तिर्वर्तन यस्य तत् क्षणभङ्गुरवृत्ति । इत्यत्र विस्मय अद्भुत न । इह जीविते । अवश्यद्धि[2] पण्डितैरपि प्रमुह्यते । तदेतदीदृशमद्भुत विस्मय ॥ ६७ ॥ क्षणदृष्टेत्यादि । जन लोकः । क्षण० दृष्टाश्च तिरोहिताश्च दृष्टतिरोहिता, क्षणेन दृष्टतिरोहिता क्षणदृष्टतिरोहिता, तै -क्षणदृष्टनष्टै । विषयैः भोग्यै । स्वप्ने इव प्रतार्यते वञ्च्यते । तथापि अय जडबुद्धिर्मन्दमति । तेषु रति रागम्, एति । अनात्मवेदिता जडत्वम् । धिक् ॥ ६८ ॥ प्रहतमित्यादि । एष जन । जन्तु जन्तु प्रतिजीवित मरणेन प्रहत बाधित पश्यति । यौवन तारुण्यम् । जरसा वार्धक्येन, प्रहृत पश्यति । तदपि मन्दमतिरसौ स्वहिते न पश्यति जागर्ति । अहो आश्चर्यम् ॥ ६९ ॥ यदतीतेत्यादि । यत् सुखम् । अतीतम् अतिक्रान्तम् । तत् अतीतमेव ।

१. ब °प्राप्या. । १ ब ज अवश्यद्धि ।

आगामिनि सुखे विनिश्चय. न : तत्क्षणसौख्यमोहित तत्कालसुखेन वञ्चित' पुरुप' । वत इति खेदे । वृथा श्रम समुपैति । अन्तर्दृष्टि परित्यज्य भूतभविष्यत्सुखस्यास्थिरत्वमवलोक्यापि वर्तमानसुखस्य स्थिरत्वमव-बुद्धयनीति खेद ॥ ७० ॥ परिणामेत्यादि । य. पुमान् । सद्य सुखस्य लिप्सया लालसत्वेन । परिणामहिते आगामिसुखकारिणि । पथि मार्गे । न समीहते प्रवर्तते । स शिवात् कल्याणात् । अतिविप्रकृष्यते दूरीक्रियते । विरुद्धसेवया अपथ्यभजनेन ज्वररोगी यथा ॥ ७१ ॥ दहन इत्यादि । त्रयाणा समबलत्वेऽपि कामस्याधिक्यम् ॥ दहन अग्नि । तृणकाष्ठसचयैरपि तृप्येत् । उदधि नदीशतैरपि तृप्येत् । कामसुखै पुमान् न तृप्येत् खलु । अहो कापीय कर्मणो बलवत्ता बलिष्ठत्वम् ॥ ७२ ॥ वपुरित्यादि । वपुरपि शरीरमपि । आयुष क्षये । आन्तरम् अन्त स्थित प्राणिनम् । अतिमात्रम् अतितराम् । त्यजति खलु । अहो । बहिरङ्गै॰ बाह्यस्थितै धनमित्रबान्धवै॰ विग्रहे वियोगेऽत्र विस्मय क', न कोऽपि ॥ ७३ ॥ सुखेत्यादि । इष्टसमागमे इष्टसयोगे । यथा येन प्रकारेण । सुखम् । तथैव तस्य इष्टस्य विरहे वियोगे च । असुखं दु खम् । अतएव सुधिय पण्डिता । सङ्गसु॰ सङ्गस्य सुख सङ्गसुख तत्र एकनि स्पृहा अद्वितीयेहारहिता. सन्त । निर्वृतौ मुक्तौ । सजन्ति सावधाना भवन्ति ॥ ७४ ॥ हितमित्यादि । कश्चन हितमेव मोक्षस्तत्कारणतत्त्व च हित तदेव । न वेत्ति । अन्य पुमान् । खलु शास्त्रोक्तौ । तत्र हिते । सशय सन्देहम् । भजते । पर अन्य । विपरीतरुचि विपरीता अतद्गुणे तद्गुणाभा रुचि श्रद्धा यस्य स' । एवविधैस्त्रिभिरज्ञानतमोभि. अज्ञानान्धकारैः । जगत् भुवनम् । आहत बाधितम् । तदन्यतद्विरुद्धतदभावेषु न प्रवर्तत इति ॥ ७५ ॥ परिणामेत्यादि । जिनवाक्यम् अर्हद्वच' । विहाय त्यक्त्वा । शरीरिणा प्राणिनाम् । परि॰ परिणामस्योदर्ककालस्य सुखम् । न विद्यते । सरुगा हितकार्यौषध पथ्यमिव । यथा पथ्य विहायौषध परिणामहित न । अनात्मज्ञतया जडतया । तत् जिनवाक्यम् । न रोचते ॥ ७६ ॥ यथाविधि विधिमनतिक्रम्य । श्रुत शास्त्रम् । अधिगम्य परिज्ञाय । उत्तमाश्च ते साधवश्च तेषा सगम सपर्कम् । प्रतिपद्य आश्रित्य । इमा प्रसिद्धाम् । भवफल्गुता ससारस्यासारत्वम् । अवयन् जानन् । अहमिव अह यथा । अपर अन्य । क पुमान् प्रमाद्यति, न कोऽपि ॥ ७७ ॥ सुखमित्यादि । मन्दमति जड । आयतिदु खम् उदर्कासुखकरम् । अक्षजम् ऐन्द्रियकम् । सुख भजते बुद्धिमान् न । अत्रर्थान्तरमुपन्यस्यते—' खलु अहो । क अमन्दधी । मधुना दिग्ध प्रलिप्त मुख यस्या सा ताम् । असिधारा खड्गधाराम् । लिलिक्षति लेढुमिच्छति, न कोऽपि ॥ ७८ ॥ असुखैकेत्यादि । य प्रविरक्ता निर्विण्णा मतिर्यस्य स । असुखमेवैकं फल यस्य स तम् । पल्लव किसलयम् । टसिति झटिति । प्रभज्य आमर्द्य । न प्रवर्तते । स पुरुप । श्रेयसि मुक्त्यर्थम् । वञ्चित' विप्रलब्ध । हो विस्मये । निर्विण्णेन झटिति उद्यमो विधेय इति । भाव ॥ ७९ ॥ इतीत्यादि । स चारुचेता चारुमना । इति उक्तप्रकारेण । विषयेभ्यो विरक्त सन् । छन्नया गूढया । मुक्तिदूत्या निर्वृति-सचारिकया । स्वयमात्मना । कर्णजाह श्रवणसमीपम् । एत्य आगत्य । व्याहृत इव आहूत इव । मुनिमार्गे रत्नत्रये । चेतसा मनसा । न्यविशत तस्थौ । उचितमेतत् । हि यस्मात् । मतिभाजा मतिमताम् । काल-लब्धि । वन्ध्या निरर्थिका । न भवति ॥ ८० ॥ प्रपृच्छयेत्यादि । स राजा कनकप्रभ. । अपरेद्यु अन्येद्यु । आत्मनः स्वस्य । उद्यन्ती अतिवर्धमाना श्रीर्यस्य स तम्—उद्यच्छ्रियम् । त प्रसिद्धम् । सुत पुत्रम् । प्रपृच्छय आपृच्छय् । च पुन । विगलन्ति पतन्त्यश्रूणि रोदनबिन्दवो याभ्या ते तदक्षिणी तस्य नेत्रे । प्रमृज्य सविशुद्धे विधाय । अविनिन्दित निन्दारहितम् । श्रीधरं श्रीधराभिधानम् । मुनीन्द्र यतीशम् । समभिवन्द्य प्रणम्य । भूरिभि प्रचुरै । नृपतिभि समम् । तप. तपश्चरणम् । समविशिश्रिये आश्रित ॥ ८१ ॥ गुरुविरहेत्यादि । तदा तस्मिन्नवसरे । पद्मनाभ भूमीश. नरपतिपद राज्यम् । आस्थितोऽपि समाश्रितोऽपि । गुरुविरहभवेन पितृवियोगजनितेन । असुखेन दु खेन । भृशम् अत्यर्थम् । तताम चक्लाम[1] । हि यस्मात् । बान्धवैर्वियुक्ता वियोगिनी । लक्ष्मी । मुदे हर्षाय । नहि भवति ॥ ८२ ॥ विपुलेत्यादि । असौ सुधी । विपुल॰ विशाल-प्रतिभाभि । वृद्धामात्यै प्रौढसचिवै । कृतप्रतिबोधन कृत प्रतिबोधन यस्य स , सन् । कियद्भि परिमितै । दिनै दिवसै. । पितृविरहजं जनकवियोगजनितम् । शोकं, हित्वा । नयनविगलद्बाष्पापूरा नयनाभ्या विगलन्तो

१ ब वक्लाम, ज पक्लाम ।

वाष्पापूरा यस्या' सा ताम् । स्वामिस्ने० स्वामिन' कनकप्रभस्य स्नेहस्तेनाकुलीकृत चेतो यस्या सा ताम् । उभयीम् उभयप्रकाराम् । प्रकृति प्रजाम् । समभाव [य] त् सस्कृतवान् ॥ ८३ ॥ एतस्येत्यादि । अनृजु वक्र । अयमष्टमीमृगाङ्क. अष्टमीचन्द्रः । एतस्य महीपते' । विकट च तल्ललाटपट्टक च तेन । ध्याक्षिप्त. जित । इतीव सजातानतिभि सजाता आनतिर्येपु ते तै. । भूपालै राजभि । नृपासनस्थे सिंहासनस्थिते । तत्र राजनि । कुटिलता वक्रत्वम् । न भेजे । यत्रायमष्टमीमृगाङ्कोऽनेन वक्रतरोऽपि जितस्तत्र के वयमिति वक्रत्व विहाय पदयो पतिता इति भाव ॥ ८४ ॥ तेजोनिधावित्यादि । स पद्मनाभ. भूमिपति । तेजोनिधौ महोवामनि । उदयधाम्नि उदयास्पदे । सुवर्णनाभ० सुवर्णनाभाभिधाने । तनये पुत्रे । युवराजशब्द युवा चासौ राजा च युव० तेन शब्दयते[1] आहूयते युवराजशब्द , तम्—युवराजाभिधानम् । प्रवर्त्य । सोमप्रभा० सोमप्रभाया दशना' सोम० तैर्जात च तत् किण च तेनाङ्कितश्चिह्नित ओष्ठो यस्य स , सन् । भोगान् विषयान् । सदा अनुभवन् निर्विशन् । अत्रास्थित तस्थौ ॥ ८५ ॥

इति चन्द्रप्रभचरिते[2]महाकाव्यपञ्जिकाया प्रथम सर्ग[3] ॥ १ ॥

द्वितीयः सर्गः

आप्तमीमासादिशास्त्रप्रकाश योऽकरोन्मुनि ।
श्रुतादि स मुनिर्जीयाच्छुद्धादिगुणभासिवाक् ॥ १ ॥

आस्थान सद । प्रतीहार द्वारपाल । वनपाल मालाकार । व्यजिज्ञपत् विज्ञापयामास ॥ १ ॥ मनोहरे शब्देन मनोहरनामनि, अर्थेन हृदयहारिणि ॥ २ ॥ पुण्डरीक सिताम्भोजम् ॥ ३ ॥ दारुण भीषणम् । समाहारेण सकरेण ॥४॥ मोक्षस्य मुक्ते सधानमेकाग्रता तत्र चित्त यस्य स , पक्षे मोक्षो वेध्यम् । गुणस्थानानि मार्गणा गत्यादयस्ताभ्या शोभमानेन, पक्षे गुणो मौर्वी मार्गण. शर ॥ ५ ॥ परिनिष्ठित परिकलितम् ॥ ६ ॥ सुवर्णे शोभनाक्षरै कनकैश्च । मुक्ता. छिद्रा मुक्ताफलानि च । कर्णपूरायन्ते कर्णयो. श्रोत्रयो पूरायन्ते कुण्डलायन्ते च ॥ ७ ॥ गणनीयता गणनाविषयता गणेन जनवृन्देन नीयता प्राप्यता च ॥ ८ ॥ पासुसपर्कात् रज ससर्गात् । वासचूर्णेपु सुगन्धिद्रव्येपु ॥ ९ ॥ भास्वान् सूर्य , पक्षे दीप्तिमान् । सेव्यपाद सेव्यरश्मि , पक्षे सेव्यचरण । कुमुद कुवलय, पक्षे भूमुदम् ॥ १० ॥ विवक्षामि वक्तुमिच्छामि ॥ ११ ॥ अनपेक्ष्य अनादृत्य । कोरकान् उद्भेदान् ॥१२॥ विसोढ सहितम् ॥१३॥ मधुगण्डूषान् मद्यकुरलकान् । अनादृत्य अनपेक्ष्य ॥१४॥ तिलक तिलकवृक्ष । व्यकसत् विकासमगमत् ॥ १५ ॥ जातविबोधा समुत्पन्नपरिज्ञाना । अलय भ्रमरा ॥ १६ ॥ शुकै कीरै ॥ १७ ॥ कुड्मल कलिका ॥ १८ ॥ शिखण्डिना मयूराणा ताण्डवस्य नृत्यस्य [आटोप] ताण्डवाटोप नृत्यविस्तारम् ॥ १९ ॥ पलायमानस्य देशत्याग विदधत । बाणावलि शरपङ्क्ति ॥ २० ॥ शुचिसगात् ज्येष्ठसवन्धात्, शुचि निर्मलो वा ज्येष्ठ , सकलजगत्पूज्यत्वात् ॥ २१ ॥ रोमाञ्चकञ्चुकाधानात् रोमहर्षवारबाणधारणात् ॥ २२ ॥ सहज जात्युत्पन्नम् ॥ २३ ॥ मुनिवृत्तान्तशसिनीं यतिवार्ताकथयित्रीम् । उद्वेल उत्कल्लोल ॥ २४ ॥ पारितोषिकै सतोषजनितै. । कृतार्थं कृतकृत्यम् ॥ २५ ॥ घोषयन् उच्चरन् । उदस्थात् उत्तिष्ठति स्म ॥२६॥ लक्ष्यम् अभिन्यासम् ॥ २७ ॥ व्यानशे व्याप्नोति स्म । सकेतिनी सकेतयुक्ता ॥ २८ ॥ पञ्च च षट् च (पञ्च वा षड्वा) पञ्चषा तान् । पत्तीन् पदातीन् । अक्षुभ्यत चुक्षोभ ॥ २९ ॥ चचाल जगाम ॥ ३० ॥ लावण्येन लवणत्वेन सक्रान्तानि प्रतिबिम्बितानि दिदृक्षूणां द्रष्टुमिच्छूना नयनानि यत्र स ॥ ३१ ॥ पिप्रिये तुष्ट ॥ ३२ ॥ विपरिश्रम विगतखेद ॥ ३३ ॥ समादिश्य उपदिश्य आवासय संरक्षय[4] ॥ ३४ ॥ चामरादिपरिच्छदा चामरादिपरिकरोपेताम् ॥ ३५ ॥

---

१. ज शब्दते । २ व 'चरित' इति नास्ति ज 'चरित्र' इत्यस्ति । ३. ब प्रथमसर्गः । ४. ज °क्षय ।

शरत्प्रसन्ने वर्षान्तनिर्मले ॥ ३६ ॥ त्रि परीत्य त्रिः प्रदक्षिणीकृत्य । न्यविक्षत उपविष्टवान् ॥ ३७ ॥ मुकुली-कुर्वन् कोशीविदधत् । शीतगुत्वं चन्द्रत्वम् ॥ ३८ ॥ शोभा कान्तिः ॥ ३९ ॥ शान्ते उपरते । जगाद बभाण ॥ ४० ॥ निरालोके नि प्रकाशे । आलोक इव उद्योत इव ॥ ४१ ॥ स्फुरित प्रतिभासितम् ॥ ४२ ॥ गुरु-प्रत्ययवर्जित गुरुविश्वासरिक्तम् ॥ ४३ ॥ प्राहु. वदन्ति । नास्तिकागम चार्वाकसिद्धान्तम् । मानगोचर. प्रमाणविषय ॥ ४४ ॥ तस्यात्यये जीवाभावे, अजीव. कथ वक्तु युज्यते, जीवाजीवयो सापेक्षत्वात् ॥ ४५ ॥ च पुन. तदत्यये बन्धमोक्षप्रभृतयो जीवधर्मा कथ स्युः ॥ ४६ ॥ उपप्लुत बाधितम् । सवृतम् अप्रसारित वा कल्पितम् (कल्पितं वा) । जीवो नास्ति, अजीवोऽपि नास्ति ततस्तत्त्वमुपप्लुतमेवेति तत्त्वोपप्लववादिनः ॥ ४७ ॥ विसवदन्ते मिथ्या जल्पन्ति ॥ ४८ ॥ केचित् सारूयाः । केचित् मीमासका एव । अन्ये नैयायिका । अन्ये बौद्धा' ॥ ४९ ॥ गहने दु.प्रवेशे, गहने वने ॥ ५० ॥ उच्चार्यो मद्दभिप्रायाम् । विरराम तूष्णी चकार ॥ ५१ ॥ ईश्वरबुद्धय प्रत्यग्रप्रतिभा ॥ ५२ ॥ अस्पृष्टपरदूषण परोपकल्पितदूषणसपर्करहित यथा स्यात् ॥ ५३ ॥ 'जीवो नास्ति' इति चार्वाकैरुपन्यस्यस्ते । प्रसिद्धो धर्मी पक्ष । तत्र चार्वाकाप्रसिद्धस्य जीवस्य पक्षत्वकरणे स्वविडम्बना क कुर्यात् ? प्रसिद्धपक्षस्य हेतुविषयत्वं क्रियते । अथवा जीवो नास्ति अनुपलब्धे — इति भवतानुपलम्भविषयीक्रियमाणो जीव पक्ष प्रत्यक्षेणोपलम्भेन स्वसवेदनलक्षणेनैव निराकृत इति ॥ ५४ ॥ कथमुपलम्भविषयो जीव , इति चेत्, उच्यते—प्रतिजन्तु इत्यादि । प्रतिजन्तु पक्षः, जीव. प्रतिभा-सते इति साध्यो धर्म , स्वसवेदनगोचरत्वात् (इति हेतु) । न चेद स्वसवेदनगोचरत्वम् असिद्ध, सुखदु'खादि-पर्यायैराक्रान्तत्वात् ॥ ५५ ॥ प्रमाणाधीनत्वात् प्रमेयस्य, अत' प्रमाणमेव मीमास्यते । ननु चेद स्वसवेदन-लक्षण प्रमाणम् असिद्धम्, इति चेत्, उच्यते—न चास्वेत्यादि । ज्ञान—स्वसवेदनम्, अस्वविदित भवति वेद्यत्वात् । यद्वेद्य तदस्वविदित यथा कलशादि । न च—न वाच्यम् । यथा प्रदीप स्व प्रकाशयन्नेवार्थं प्रकाशयति तथा ज्ञान स्वं विदन्नेवार्थं वेत्तीति ॥ ५६ ॥ यदि ज्ञान स्व वेत्ति तदा ज्ञेयमेव, न ज्ञानम्, इति चेत्, न, अस्ववेदिनो विषयान्तरसचाराभावात् । अवयवाः—ज्ञानमर्थव्यवसायात्मक स्वव्यवसायात्मकत्वात् । यन्न स्वव्यवसायात्मक न तदर्थं व्यवस्यति । यथा घट । न चेदमसिद्धमर्थव्यवसायात्मकत्व ज्ञानस्य सकलजनानाम-न्योन्यज्ञानाना परस्परपरिज्ञानापेक्षया ज्ञेयत्वात् । अथवा सामान्यमेव व्याख्यानम् । अस्ववेदिन स्वपरिज्ञान-रहितस्य विषयान्तरे चेतनाचेतनान्तरे सचारो न स्यात् । अपरापरबोधस्य अन्योन्यपरिज्ञानस्य वेदनीयस्य ज्ञानजन्यस्य घटनात् ॥ ५७ ॥ तर्हि अनवस्था स्यात्, इति चेत्, अनवस्थाप्यत्रेष्टा । नभस्थलविसर्पिणी अन-वस्थालता च स्यात् भवेत् । तेषु अपरापरबोधेषु यदेवाविदित तदेव पूर्वस्य स्वस्य वेदक न स्यात् ॥ ५८ ॥ ततश्चार्वाक प्राह--विषयविज्ञानं परोक्षमेव, तत्परोक्षत्वे विषयस्यापि परोक्षत्वमेव ॥ ५९ ॥ इति चेत्, परोक्षमपीष्टमेव । परोक्षादपि ज्ञानादर्थाधिगतिरर्थपरिज्ञानमिष्यते । यथा अर्थ परेण विदितस्तथा स्वविदितोऽपि भवेत् । अतः स्याद्वाद[1]मतापेक्षया जीव स्वकीये काये स्वसवेदनप्रत्यक्षात् सिद्ध , परकीये चानुमाना-दिलक्षणात् परोक्षादिति भाव. । तदुक्तम्—'स्वसंवेदनत. सिद्धे निजे वपुषि चेतने । शरीरे परकीयेऽपि स सिद्धयत्यनुमानत ॥ ६० ॥' तस्मात् कारणाद् युक्तित. प्रमाणोपपत्त्या स्ववेदने स्वय वेदने नाम्नि प्रत्यक्षे प्रमाणे सिद्धे व्यवस्थापिते सति । नास्तित्ववादिना चार्वाकतत्त्वोपप्लवाना प्रत्यक्षेण बाधा प्रत्यक्षबाधा कथ न भवेत् । अध्यक्षेण जीवमपह्नुवानाना तेषा प्रत्यक्षमेव जीवव्यवस्थापक भवेदिति भाव. ॥ ६१ ॥ पुन स्याद्वादी चार्वाकमनुसधत्ते । गर्भादिमरणान्ते प्रकृतपर्यायापेक्षे जीवे सिद्धेऽपि तस्य जीवस्य प्रागूर्ध्वं--जन्मन प्राङ् मरणाच्चोर्ध्वं कथ सिद्धिर्यदीति मन्यसे ॥ ६२ ॥ तदेदमुत्तरमाह--तत्रापि जीवे सदकारणवत्त्वेनानादिता, अनन्तता च सिद्धा । वाय्वग्निपृथिवीपयसा यथा । वादिप्रतिवाद्यपेक्षया । व्यवस्थाप्यमानो जीव पक्ष. । अनाद्यनन्तो भवति, सदकारणवत्त्वात्, येषा सद्कारणवत्त्व तेषामनाद्यनन्तत्व यथा वाय्वग्निपृथिवीपयसाम् । सदकारणवाश्चासौ, तस्मादनाद्यनन्त इति ॥६३॥ ननु चाकारणवत्त्वमसिद्ध तस्य, इति न वाच्यम् । अहेतुत्वम् अकारणवत्त्वम् । तस्यासिद्ध न । कस्यापि हेतो. कारणस्य । अयोगत. अघटनात् । ननु च भूतानि हेतव. इति

---

१. ज °दि° ।

चेत्, न तत्प्रत्येकपक्षयोः क्रमेण युगपद्वा भूतानां हेतुत्वं च ॥६४॥ एतदेव विव्रियते—प्रत्येकपक्षे एकैकाद् भूता-ज्जीवोत्पत्तौ जीवानां भूतसंख्या प्रसज्यते। सहपक्षे युगपदेतेभ्यो जीवोत्पत्तौ तेभ्योऽसविन्द्रूपोऽचेतनेभ्यश्चेतनं कथं स्यात् ॥६५॥ कुतः, हि यस्मात् घटपटादिषु कार्येषु सजातीयमुपादानं दृष्टम्, कस्मात्, मृदादीनां हेतूनां कारणानां घटाद्यनुगमेक्षणात् घटादिकार्यानुवर्तनात् ॥ ६६ ॥ स्यान्मतं विजातीयादपि कारणाद्विजातीयकार्यो-त्पत्तिदर्शनाच्छृङ्गादेः शरादिवत् इति। तत्रापि शृङ्गादेः शरादिना व्यभिचारोऽपि न युज्यते। कस्मात्, पुद्ग-लत्वेन पुद्गलत्वजात्या सजातीयत्वसंभवात् ॥६७॥ अथवा यदि विजातिभ्योऽपि भूतेभ्यश्चेतनो जायत एव तदा पयसोऽपि पृथ्वी भवेत्। एवं च तत्त्वचतुष्टयं न—तत्त्वसंकरः स्यात् ॥ ६८ ॥ ननु भूतानां चैतन्योत्पत्तौ सहका-रित्वमेव, इति चेत्, न, उपादानाभावात् भूम्यादिव्यतिरिक्तं भूम्यादि विना अन्यदुपादानं च भवन्मते नास्ति येनोपादानेन सता भूतानां संहतिः समुदायः सहकारिणी कल्प्येत ॥६९। कायें कोऽप्युपादानधर्मो नावलोक्यते, भिन्नलक्षणत्वात्। शरीरे तदवस्थेऽपि जीवे विकृतिदर्शनात् विविधाकृत्यवलोकनात् ॥ ७० ॥ घटादिकारणेषु मृदादिषु। एतत् भिन्नलक्षणत्वम्। नेक्ष्यते च। ततः तस्मात्। अनुमानबाधापि पक्षे बोध्यते। यथा प्रत्यक्षेण पक्षबाधा तथानुमानेनापीति रहस्यम् ॥ ७१ ॥ तस्य जीवस्य। अभावसाधनेऽनुपलम्भादिहेतुरसिद्धः स्वसंवेद-नस्य तद्भावसाधकत्वात् ॥ ७२ ॥ विभिन्नप्रतिभासित्वात् चिदचितोः प्रतिभासभेदात् ॥ ७३ ॥ अत्राहापरः—भवतु नामैवमात्मा प्रत्यक्षादिसिद्धः, स च सर्वथा नित्य एव, इत्येवं ब्रुवन् प्रत्यक्षेण बाधित एव ॥ ७४ ॥ कथं प्रत्यक्षबाधिता ते, यत आत्मा प्रतिप्राणि सततं सुखदुःखादिपर्यायैर्विवर्तमानः स्वसंवेदनात् प्रकाशते ॥ ७५ ॥ ते च सुख-दुःखादिपर्याया जीवात् सर्वथा विभेदिनः, इति चेत्, न भेदे सति 'तस्यामी' इति सम्बन्धानु-पपत्तेः ॥ ७६ ॥ अस्ति समवायलक्षणः सम्बन्ध इति न वाच्यम्, नित्यस्य समवायो न युज्यतेऽनुपकारित्वात्। यतः सर्वापि सम्बन्धसमवस्थितिरुपकाराश्रयैव स्यात् ॥ ७७ ॥ अस्ति नित्यस्योपकारित्वम्, इति चेत्, तस्मादुपकारोऽभिन्नो भिन्नो वा। अभिन्नश्चेत् समो भिन्नश्चेत् सम्बन्धासिद्धिः। उपकारान्तरमपेक्ष्य सम्बन्ध-करणेऽनवस्थिति स्यात् ॥ ७८ ॥ ततो जीवः सुखदुःखादिपर्ययैः स्यात् कथंचिदभिन्नः परिणामित्वात्। तथा च कथं कूटस्थनित्यता ॥ ७९ ॥ एतेन कूटस्थतानिराकरणेन। तस्य आत्मनः। जडताम् अज्ञत्वम्। ब्रुवाणाः नैयायिकविशेषाः। विनिवारिताः प्रतिक्षिप्ताः। चिद्रूपसुखदुःखादिपर्यायैः विवर्ते। ऐक्यसंभवात् परिणा-मित्वेनैक्यघटनात् ॥ ८० ॥ तर्हि आत्मा अकर्ता, इति चेत्, तस्य आत्मनोऽकर्तृतापि न च, बन्धाभावादि-दोषात्। हि—यस्मात्, कुशलाकुशलक्रियाः-मनोज्ञामनोज्ञकार्याणि अकुर्वन् आत्मा कथं बध्येत, न कथमपि ॥ ८१ ॥ एतदेवोच्यते—कापिलः 'आत्मा भोक्ता' इति भुक्तिक्रियायाः स्वयं कर्तृत्वं वदन् तदेवापह्नुवानः किं न जिह्रेति ॥ ८२ ॥ ननु आत्मा न बध्यते, इति चेत्, न, अचेतनस्य प्रधानस्य बन्धादिरप्ययुक्तिकः। चेतनमे (ए) व बध्यत इत्यर्थः। तस्माद् आत्मनोऽकर्तृता पापादपि पापीयसी मता ॥ ८३ ॥ चित्तसंतति-मात्रम् आत्मा, इत्येके। तत्र चित्तसंततिमात्रत्वमपि [अ] युक्तं प्रकल्पितं—स्थापितम्। यतः संतानिव्यतिरेकेण काचित् संततिर्न। पूर्वं संतानी चेत् ततः संततिर्वक्तुं युज्यते ॥ ८४ ॥ संतानिनः सकाशात् संततिर्भिन्ना अभिन्ना वा। यद्यभिन्ना तर्हि तत्समा। भिन्ना चेत्, संतानिनो भिन्ना संततिर्नित्यानित्या वा। अत्रोच्यते व्यतिरेकेऽपि संतानिनः सकाशात् संतानव्यतिरेकेऽपि यदि तस्य नित्यत्वमिष्यते तदा क्षणिकैकान्तवादिनां प्रतिज्ञाहानिदोषः[2] स्यात्। 'सर्वं क्षणिकं सत्त्वात्' इति तेषां प्रतिज्ञा ॥ ८५ ॥ संतानस्य क्षणिकत्वेऽपि यद् दूषणं संतानिपक्षे निक्षिप्यते तत् संतानेऽपि। ततः संतानस्यापि क्षणिकत्वे तस्य क्षणिकत्ववादि (न) सर्वमेव कृतनाशादिकं प्रसज्यते ॥ ८६ ॥ तस्य व्यापकत्वेन कृतनाशादेरभावः, इति चेत्, न, तस्य व्यापकता घटना नोपढौकते, स्वसंविदितरूपस्य तस्य देहाद् बहिरवेदनात् ॥ ८७ ॥ तस्माज्जीवः प्रमाणतोऽनादिनिधनो देहप्रमाणकः स्थितः, कर्ता भोक्ता चिदाकारः सिद्धः ॥ ८८ ॥ येऽप्यजीवादयो भावाः तेऽपि सिद्धाः, तदपेक्ष-त्वात्[1]। तत् तत्त्वम् उपप्लुतं न ॥ ८९ ॥ अपरे मीमांसापक्षपातिनो मीमांसकाः जीवाजीवा [दि] षड्वर्गं प्रतिपद्य अङ्गीकृत्य मोक्षे विप्रतिपद्यन्ते विवदन्ति (न्ते) ॥ ९० ॥ तेषामपि मीमांसकानामनुमानबाधा

१. ज °दि। २. ज °हानिरिति दोषः।

पृष्ठत परिधावति, । यतो मोक्ष कर्मक्षयो निगद्यते, सचानुमानतः सिद्ध' ॥ ९१ ॥ तथा हि[1] क्वचिदपि पुसि पक्ष । कृत्स्नावृतिक्षयोऽस्तीति साध्यो धर्म । तत्कार्यसकलज्ञत्वस्यान्याथानुपपत्ते । आवृतिक्षय कारण सर्वज्ञत्व च कार्यम् ॥ ९२ ॥ ननु च सर्वज्ञ कश्चिद् नास्ति, साधकाभावात्, इति चेत्, कस्यचित् सर्वज्ञत्व-मसिद्ध न, बाधकात्ययात्--बाधकाभावात् । सर्वत्र वस्तुव्यवस्थितिर्बाधकाभावादेव ॥ ९३ ॥ तथाहि—तस्य बाधक तावत् प्रत्यक्ष नोपपद्यते, अक्षजत्वात् । तस्यात्यक्षेऽतीन्द्रिये विधिर्न निषेधन न ॥ ९४ ॥ अनुमानमपि तद्बाधा विधातु क्षम न, यतोऽखिल पुरुषत्वादि तल्लिङ्ग व्यभिचारि दृश्यते ॥ ९५ ॥ कथ तल्लिङ्ग व्यभि-चारि, इति चेत्, यथा हि पुरुषत्वेऽपि कस्यापि वेदार्थज्ञानगोचरोऽतिशयस्तद्वत् कस्यापि सर्वार्थज्ञानगोचरोऽपि ॥ ९६ ॥ यथा देशान्तरे कालान्तरे चाखिलो रासभ शृङ्गी न तथा देशान्तरे कालान्तरे कश्चित् पुमान् सर्वज्ञोऽपि नास्ति [॥ ९७ ॥] इत्याद्युपमान हि युक्त न, इष्टविघातात् । कथमिष्टविघात, इति चेत्, तथाहि—खचरादीना खगमनादिक न स्यात् । यथात्रत्येदानीन्तनपुरुषा खगामिनो न, तथा देशान्तरे कालान्तरे च नैवेतीष्टविघात ॥ ९८ ॥ तस्माद् यस्य सा सकलज्ञता असौ नरविशेष । तथैव खरविशेषश्चेत् विषाणिता च स्यात् ॥ ९९ ॥ तर्हि अर्थापत्ति· सर्वज्ञाभावसाधिका, इति चेत्, न, अर्थापत्तिरपि सर्वज्ञाभावसाधिनी नास्ति, तेन विना सर्वज्ञाभावप्रतिबद्ध कोऽर्थ सम्भवी यस्त सर्वज्ञाभाव प्रकल्पयेत् ॥ १०० ॥ आगमेनापि कर्तृकेनाकर्तृकेन वा सर्वज्ञो न बाध्यते, कर्तृहीनस्य तस्याप्याग [म] स्यात्यन्तमसभवात् ॥ १०१ ॥ अकर्तृक एवागम, कर्तुरस्मरणात्, इति चेत्, कर्तुरभाव कर्तुरस्मरणादिभ्यो न सिद्धयति, अज्ञातकर्तृकैर्वाक्यै-र्व्यभिचारस्य सभवात्--घटनात् ॥ १०२ ॥ पौरुषेयेष्वसभवी कश्चिद्विशेषो पौरुषेये नास्ति । यथा अतीन्द्रियार्थसवादोऽपौरुषेये तथा पौरुषेयेऽपि दृश्यते ॥ १०३ ॥ ततो विवादापन्न शास्त्र सकर्तृक दृष्ट, दृष्टकर्तृकतुल्यत्वात् । यद् दृष्टकर्तृकतुल्य तत् सकर्तृक, यथा अकलङ्कादिशास्त्रम् [॥ १०४ ॥] तस्मादकर्तृक शास्त्र सर्वज्ञबाधक नास्ति, कृतक च । तत् कृतक द्विधा भिन्न सर्वज्ञकर्तृकमसर्वज्ञकर्तृक चेति [॥ १०५ ॥] तावद् असर्वज्ञप्रणीतमतीन्द्रिये प्रमाण न । तु-पुन । सर्वज्ञप्रणीत तस्य प्रत्युत साधकमेव ॥ १०६ ॥ प्रस्तुतस्य प्रमाणपञ्चकाभाव प्रत्यक्षादिनिराकृति ॥ १०७ ॥ अक्षादिवुद्धिवत्—इन्द्रियज्ञान यथा ॥ १०८ ॥ रत्नत्रय-निबन्धन --रत्नत्रय निबन्धन कारण यस्य स· ॥ १०९ ॥ चुम्बकै -चुम्बकपाषाणैरिव । आचकर्ष निष्काषयति स्म ॥ ११० ॥ प्रपद्य अङ्गीकृत्य निश्चित्येत्यर्थ ॥ १११ ॥ आरेभे प्रारब्धा । परा उत्कृष्टा ॥ ११२ ॥ तृतीये पुष्करार्धनामनि । लताभवनै· वल्लीमण्डपै ॥ ११३ ॥ सीतोदा नाम नदी तस्या उत्तरदिक्तटम् ॥ ११४ ॥ बृहदु० दीर्घोर्ध्वदण्डपक्षातपवारणशोभाम् ॥ ११५ ॥ अर्थवतीम् अर्थयुक्ताम् ॥ ११६ ॥ अकृष्टपच्यै लाङ्ग-लाद्यप्रयासपच्यैर्धान्यै पूर्णे । निरीतौ ईतिरहिते । 'अतिवृष्टिरनावृष्टिर्मूषका शलभा शुका । स्वचक्र परचक्र च सप्तैता ईतय स्मृता·।' निरवग्रहे अवृष्टिरहिते ॥ ११७ ॥ कुक्कुटसपात्यै कुक्कुटसपाते वसन्तीति कुक्कुटसपात्यास्तै ॥ ११८ ॥ परलोकक्रियोद्यता प्रेत्यभावक्रियोद्यमिन· ॥ ११९ ॥ अध्वन्याः पथिका ॥ १२० ॥ जिगीषतीव [जेतुमिच्छतीव] ॥ १२१ ॥ कृष्णानि मलिनानि । चरितानि आचरणानि ॥ १२२ ॥ निगमा ग्रामा ॥ १२३ ॥ मज्जत्सी० बुडद्विलासिनीसमूहस्तनविगलत्काश्मीरै· । जलधियोषित नद्य ॥ १२४ ॥ त्रिविष्टप त्रिदशालय इव ॥ १२५ ॥ रत्नोपलमरीचिभि रत्नपाषाणकरै । ज्योतिर्गणविभा नक्षत्रनिकरदीप्ति ॥ १२६ ॥ मिमीते जानीते । शालस० प्राकारान्तरितसूर्यमृगाङ्कोदयम् ॥ १२७ ॥ अकाण्डेऽपि अकालेऽपि ॥ १२८ ॥ वासराधिपति सूर्य· । तुङ्गप्रतोलीशिखरम् उच्चपुरद्वार[2]शिर । ॥ १२९ ॥ तारतारा० मनोहरोडुसमूहे ॥ १३० ॥ उत्तम्भितोडुभि स्थगिततारकै ॥ १३१ ॥ मानेन प्रमाणेनावलेपेन वा । महाभोगा परिपूर्णतासहिता, गरिष्ठभोगाश्च । मत्तवा० पग्रीवराजमाना प्रभिन्नगज-शोभिनश्च । वहुभूमियुता वहुक्षणसहिता· प्रचुरभूमि [-भाज] श्च ॥ १३२ ॥ घनकिञ्जल्क प्रचुरकेसर । हिरण्यखचिता सुवर्णनिर्मिता ॥ १३३ ॥ पातालोपवनारेका पातालवनभ्रान्तिम् ॥ १३४ ॥ काशसकाशा काशो[3] नाम तृणजाति ॥ १३५ ॥ मुग्धस्त्रीणा बालाङ्गनानाम् [॥ १३६ ॥] मज्जत्पु० ब्रुडत्सुचरित्रा-

१. ब पि । २. ब 'द्वार' इति नास्ति । ३. ब 'काशो' इति नोपलभ्यते ।

सयनकचपतदुज्ज्वलमल्लिका । पञ्चभिः कुलकम् ॥ १३७ ॥ तीक्ष्णत्व कर्कशत्वम् । मानसे चेतसि ॥ १३८ ॥ कचेषु केशेषु । विरसत्व रसाभाव [॥ १३९ ॥] विरोध वैर, पक्षिरोधश्च ॥ १४० ॥ [प्राकार०] प्राकार-खातिकाधूलिशाले ॥ १४१ ॥ मानेन प्रस्थादिना, प्रमाणेन वा । प्रमिन्वते प्रमाणविषयीकुर्वते ॥ १४२ ॥ वापी दीर्घिका । वनम् उद्यानम् । आयतन चैत्यम् । सौध राजसदनम् । तडाग कासार । गुरुणा बृहस्पतिना ॥ १४३ ॥

इति चन्द्रप्रभचरितमहाकाव्यपञ्जिकाया द्वितीय. सर्ग. ॥ २ ॥

तृतीयः सर्गः

आप्तमीमांसादिशास्त्रप्रकाश योऽकरोन्मुनि ।
श्रुतादि स मुनिर्जीयाच्छुद्धादिगुणभासिवाक् ॥

तत्र श्रीपुरे । आनन्दविषयीकृतस्वकीयसमस्तबन्धुपङ्कज. । न्यायगभस्तिसमूहनिराकृतदुर्नीतितिमिर । मुकुलीकृतशत्रुवधूमुखचन्द्रश्री । भानुनिभ सूर्योपम ॥१॥ विलङ्घ्यमानमूर्ति अतिक्रम्यमाणतनु । प्रभूष्णु समर्थ. ॥२॥ अनुरागकरै आनन्दविधायक । तन्मात्र० प्रकाशमात्रकार्यकरणसमर्थाय ॥३॥ सपूर्ण. समग्रश्चासौ शारदनिशाकरश्च तेनेव कान्त मनोहर च तत् कीर्तिवल्लीवितान च मण्डल च सपूर्ण० तेन परिवेष्टित विष्टपान्त येन स । व्यसनापनोदात् आपदपसारणात् ॥४॥ व्यस्यन्ति पातयन्तीति व्यसनानि, प्रशान्तानि सकलव्यसनानि यस्मात् स तस्मिन् । बुद्धिमाहात्म्यम् ॥५॥ अद्रिपतिना मेरुणा । हरिणा इन्द्रेण । वशिता जितेन्द्रियता । तुलित प्रमितम् ॥ ६ ॥ पदातिवृषभा भृत्यप्रधाना , पदातयश्च वृषभा बलीवर्दाश्चेति वा । आक्रम्य तिरस्कृत्य ॥ ७ ॥ यत्र क्वचित् यस्मिन्कस्मिंश्चित्पुरुषे । जातनिर्भररुषा उत्पन्नगाढकोपेन ॥ ८ ॥ वरवीरलक्ष्म्या प्रधानशूरश्रिय ॥ ९ ॥ अजलोऽपि नदीनभाव समुद्रत्वम् । वसुमत्या तिलको वृक्षविशेषोऽपि, अशोको वृक्षजाति । कलाधरोऽपि चन्द्रोऽपि दोषाकरो न बभूव । विरोधोऽय, तत्परिहार —अपि निश्चयेन यतोऽजड पण्डितोऽतएव दीनभाव न भेजे । यतश्च वसुमत्या वसुधायास्तिलको ललामभूतोऽत एवाशोक शोकरहित । यतश्च कलाधरोऽतएव दोषाणामसौजन्यादीनामाकरो न बभूव ॥ १० ॥ अर्थसचयनिमित्त द्रव्यसचयकारणम् । इतर काम । व्यपेक्षा परस्पराश्रयम् । विजहु तत्यजु ॥ ११ ॥ अभ्यर्थित प्रार्थित । आलयभूतम् आस्पदम् ॥ १२ ॥ मनाक् ईषत् धामाधिक तेजोऽधिक । तेन सूर्येण चन्द्रेण च ॥ १३ ॥ सरसिजाकरसनिवासिनी कमलवनवासिनी चासौ श्रीश्च तद्वत् कान्तया मनोरमया । अव्यतिरिक्तया अभिन्नया ॥ १४ ॥ लावण्य० सौन्दर्यसपदमलोदके । शरद्विश० शरन्निर्मलचन्द्रकरसित । समुदित चय गत ॥ १५ ॥ उच्चित्य परिज्ञाय । वव्रे[1] वृतवती ॥ १६ ॥ परीतवता वेष्टितवता ॥ १७ ॥ दोषाया रात्रे, दोषाणा दौर्जन्यादीना च । तमसा अन्धकारेण पापेन च प्राभातिकी प्रभातसमयोद्भवा । अम्बुजबान्धवस्य सूर्यस्य । औ[2]षधिपते चन्द्रस्य । परिभूय तिरस्कृत्य ॥ १८ ॥ प्रणयकोप० स्नेहकषायविहितावकाशानि ॥ १९ ॥ अखिलावसर निखिलकृत्यम् । उदश्रुणी नयने यस्या सा स्रवद्रोदकनेत्रा ॥ २० ॥ विभक्तु विभागेनोभयत्र विधातुम् । त्वरमाणवृत्ति 'कथय कथय[3]' इति शीघ्रवर्तन । शोकसमुद्भवस्य शोकोत्पत्ते ॥ २१ ॥ दुर्वारवीर्या दुर्निवारपराक्रमा । प्रसृत विस्तृत । सोढुमशक्यतेजसि ॥ २२ ॥ अप्रभूष्णो. असमर्थात् । प्रणयस्य स्नेहस्य ॥ २३ ॥ त्वदधीनवृत्तौ त्वदायत्तजीवने । त्वत्प्रेमनिघ्नमनसि तव स्नेहपरचेत[4]सि । शाठ्य शठत्वम् ॥ २४ ॥ छन्दो (न्दा) नुवर्तिषु छन्द कारिषु (?) । निशा० अन्त पुरस्त्रीलोकेषु । अशक्नुवत्सु असमर्थेषु ॥ २५ ॥ आपरि० असतोषकारणेषु ॥ २६॥ ह्रीवशात् लज्जावशात् । परेङ्गितज्ञा परचेष्टामवबुद्धयन्ती

---

१ व वव्रेव । २ व ओग° । ३ व ज 'कथय २' । ४ ज° परवशचे° ।

॥ २७ ॥ नियति· विधि· ॥ २८ ॥ अनुभावः प्रभाव । अभ्यरुक्षत् आरुरोह । आढ्य० धनिकुमारान् डिम्भान् ॥ २९॥ विपण्ण[1]० म्लानमुखकमला । कुक्षि जन्म वा ॥ ३० ॥ मद्विधा· मया सदृशा । पुष्पम् आर्तवं पुष्पम् ॥ ३१ ॥ स्त्यानधर्मिणि गर्भाधानवति । कार० निष्कारणकम् । व्यप० सज्ञाभिलाषी ॥ ३२ ॥ चन्द्रोज्झता मृगाङ्करहिताम् ॥ ३३ ॥ उज्झिता रहिताम् ॥ ३४ ॥ न्यपप्तत् पतिवती ॥ ३५ ॥ निशम्य आकर्ण्य ॥ ३६ ॥ शुच शोकस्य ॥ ३७ ॥ कर्म चित्त कर्तव्य दैवमित्यर्थ ॥ ३८ ॥ अलम० मन्दगामिनि । एकान्तत. सर्वथा इति भावमस्या न जानीहि ॥ ३९ ॥ नानावुद्ध्यादिलब्धिसहिताः ॥ ४० ॥ प्रतिविधातुं प्रतिकर्तुम् । कम्रै मनोहरै । करदीकृताश अकरदा. करदीकृता आशा येन स ॥ ४१ ॥ अभ्ययासीत्[2] निर्जगाम ॥ ४२ ॥ नटन्मयूरे । कोमलकूजत्कोकिले ॥ ४३ ॥ तारापथात् अम्बरात् ॥ ४४ ॥ रोमहर्ष-चर्चितशरीर । नमाम अनसीत् ॥ ४५ ॥ निजस्मितेन ईषद्धास्येन ॥ ४६ ॥ सकुचत्कमलप्रतिमो । रश्मिवि० दीप्तिमण्डलेन ॥ ४७ ॥ रजसः पापस्य ॥ ४८ ॥ उन्मूलयति मूलत उत्खनति । उदीरयते उत्पादयति । अतिशयेनाल्पमल्पीय [तस्य] ॥ ४९ ॥ प्रसीद प्रसादं कुरु । परिजानतः अवबुध्यतः । विरति वैराग्यम् ॥ ५० ॥ चेतोगता चेतसि स्थिताम् । अवबुद्धमान· परिजानन् । सूनुवाञ्छा पुत्राभिलाष ॥ ५१ ॥ सा सूनुवाञ्छा । अरिकुलोन्मथनायैकोऽसहायो वीर । विघ० अन्तरायकारणम् ॥ ५२ ॥ अग्रमहिषी पट्टदेवी । पुटभेदने पत्तने । अभिनन्दिता समन्तादवृद्धि नीता सर्ववन्धवो येन स ॥ ५३ ॥ भ्रष्टकायकान्तिम् । ईदृग् गर्भपीडिततनु ॥ ५४ ॥ प्रतिपद्य प्रतीक्ष्य । उद्धृतपुण्यान् ॥ ५५ ॥ अनपत्यम् अपुत्रम् । तस्य निदानस्य ॥ ५६ ॥ पृथुधाम्नि विपुलमहसि । अशेषितो निरस्त कर्मबन्धो येन सः ॥ ५७ ॥ आनन्द्य आह्लाद्य । इष्ट० अभिलषितप्ररूपणेन । धाम स्थानम् ॥ ५८ ॥ पुरा पूर्वमुपचितैः पुष्टि नीतैः पुण्यैर्निबद्ध नियन्त्रितम् । आकलय्य विचार्य । निवबन्ध चकार । नियत निश्चितम् । अङ्ग प्रधान कारणम् ॥ ५९ ॥ प्रक्षोभिता सम्भ्रमिता अखिला समस्ता सुरासुरनागलोका येन तत् । समाससाद आजगाम ॥ ६० ॥ समीहितनिमित्त पुत्रोत्पत्त्यभिलाषकारणम् । जिनबिम्बस्नानस्याध स्नान चक्रे ॥ ६१ ॥ प्रह्लादनम् आनन्दम् ॥ ६२ ॥ आपाण्डुरम् ईषच्छुभ्रम् ॥ ६३ ॥ प्रसृतपाण्डिम प्रसृता (त) पाण्डिमा यत्र । षट्चरण भ्रमर । अनुचकार अनुसरतिस्म ॥ ६४ ॥ सर्प० कुचद्वययो (स्य) या विपाण्डुरता शुभ्रत्व तस्य गुण., सर्पन् प्रसरश्चासौ विपा० गुणश्च तेन ॥ ६५ ॥ अन्त समीपम् ॥ ६६ ॥ नीलोत्पलानि कुवलयानि । प्रथम विजितानि, इदानीं पुण्डरीकै सिताम्भोजै, स्पर्द्धे अभ्ययुपे ॥ ६७ ॥ शिरीष० शिरीषपुष्पकोमलगात्राया ॥ ६८ ॥ भावितीर्थकरम् आगामितीर्थनाथम् ॥ ६९ ॥ अभीषुमति सूर्ये ॥ ७० ॥ मुखर वाचालम् । नरनाथगृहम् ॥ ७१ ॥ निरित्य निर्गत्य । जन्मवता प्राणिनाम् । प्रघोष प्रणाद. ॥ ७२ ॥ निवेदयद्भ्य सूचकेभ्य । अजीगणत् गणयामास ॥ ७३ ॥ रभसेन वेगेन । अन्त मध्यम् । हृदय मन ॥ ७४ ॥ शुभे दिवसे सुवर्णनिर्वृत्ते पुण्ये सर्वज्ञ पूजयित्वा वशवृद्धै यह मङ्गलनिमित्त 'श्रीवर्मा' इति नाम चक्रे ॥ ७५ ॥ परान् शत्रून् । अमिताम् अमर्यादाम् । ननन्द ववर्द्ध ॥ ७६ ॥

इति चन्द्रप्रभचरितमहाकाव्यपञ्जिकायां तृतीय सर्गः ॥ ३ ॥

चतुर्थः सर्गः

आप्तमीमांसादिशास्त्रप्रकाश योऽकरोन्मुनि. ।
स श्रुतादिमुनिर्जीयाच्छब्दादिगुणभासिवाक् ॥

पद्माकरवत् कमलवनवत् । श्लेषोपमा ॥१॥ कलाभि चतुषष्टिभि , षोडश [भागै] इव ॥२॥ उपास्य ससेव्य । विद्या चतुर्दश, उपविद्या तदन्या । प्रचण्ड इन्दुमि(रि)ति पाठान्तरम् ॥३॥ वयसा वेषेण । आक-

१. व विशिन्न ज विषिन्न० । २ व अमुमी ज असुग्रा ।

रोत्य खनिज ॥४॥ अवाप्तु प्राप्तुम् । सदाभियुक्तै अभियुज्यन्ते इत्यभियुक्ता तै सेवापरै. । उप० उपजीवनविषयीकृत ॥५॥ इयेष इच्छति स्म ॥६॥ वदान्यता दानशौण्डताम् । तद्वद्भि' वदान्यतायुक्तै. । परत अन्यत ॥७॥ शूरतर अतिशयेन शूर' । महीय गरीय । द्विपारेः सिंहस्य ॥८॥ स्पर्द्धात् ईर्ष्याविशेषात् ॥९॥ प्रपूरयन् पोषयन् ॥१०॥ खलस्वभावा दुर्जना ॥११॥ अभिभव० तिरष्करणचतुरम् ॥१२॥ आयतनम् आस्पदम् । उत्सेक गर्वम् ॥१३॥ षण्णा वर्ग षड्वर्ग स चासौ रिपुश्च षड्व० निरस्त षड्वर्गरिपुर्येन स । 'काम. क्रोधश्च हर्षश्च मानो लोभस्तथा मद । अन्तरङ्गोऽरिषड्वर्ग क्षितीशाना भवत्ययम्' ॥१४॥ निदेशात् अनुग्रहात् (आज्ञात) । उपयेमे परिणीतवान् ॥१५॥ नियोज्य निवेश्य । धुर्यं धौरेयम् ॥१६॥ वाञ्छयेव कृत सनिधान यै. ॥१७॥ अम्बरत आकाशात् । विषयेषु भोग्येषु । १८॥ अशाश्वत विनश्वरम् । पुत्रकलत्रैर्मोहित ॥१९॥ नगापगा. प्रसिद्धा ॥२०॥ क्षणक्षयिणि क्षणिके । स्थिराभिमान निश्चलमतिम् ॥२१॥ समागमा सयोगा पुत्रमित्रकलत्रादय । ऋच्छति गच्छति ॥२२॥ कृते निमित्तम् ॥२३॥ अव्यपायाम् अविनश्वराम् । वृणुते स्वीकुर्वन्ति । अप पानीयानि ॥२४॥ अणुप्रमाणस्य परमाणुमितस्य । गिरीन्द्रोपम मेरुप्रमितम् ॥२५॥ तालया कृत तालीय, काकस्य तालीय का० (काकागमनमिव तालपतनमिव काकताल, काकतालमिव काकतालीयम्—काकतालसमागमसन्निभमिति यावत्) । क्लेश० कर्मणा विनाशात् ॥२६॥ फल्गुभावम् असारताम् । अपगतराग ॥२७॥ मन्दीभवश्वासौ प्रेम्ण स्नेहस्य रसश्च । युवराजानम् (युवराजम्) ॥२८॥ वात्या वातमण्डली । उपेत्य आगत्य । विहातु त्यक्तुम् ॥२९॥ निजप्र० स्वस्य उद्यमताम् । अवसान प्रान्तम् ॥३० । वयोऽनु० वयसा सह । प्रस्ख० गद्‌गदा भवितुम् ॥३१॥ दु खदावपीडितम् । परिपन्थिना प्रतिकूलेन ॥३२॥ पुरैव पूर्वमेव । अपेतम् उज्झितम् । अवतिष्ठे स्थितोऽहम् ॥३३॥ अपास्तव्यसन परित्यक्तद्यूतादि । अपहस्तित क्षिप्तो निराकृतोऽरिवर्गाणामुदयो येन स ॥३४॥ अभ्युदिते उदय प्राप्ते । चारा गूढपुरुषा चक्षुर्यस्य स । 'गन्धेन गाव पश्यन्ति ब्राह्मणा वेदचक्षुषा । चारै पश्यन्ति राजानश्चक्षुर्भ्यामितरे जना' ॥३५॥ मोद्वेविज उद्वेगविषय मा कृथा । आत्मनीनम् आत्महितम् । निबन्धन कारणम् ॥३६॥ निर्व्यसनस्य अनुपद्रुतस्य । गरीय गरिष्ठम् । व्यसनम् उपद्रव.—आपत्[1] ॥३७॥ विधित्सु कर्तुमिच्छु । एन परिवारम् । कृतज्ञताया कृतकृत्यताया (?) । उद्वेजयते उद्वेगविषय कुरुते ॥३८॥ दोषा दौर्जन्यादय । लोकद्वयम् इहपरलोकम् ॥३९॥ वृद्धानुमत्या मन्त्रिवचनेन । वि० निरालस्य । विनीयमान अनुनीयमान । गुरुणा वृद्धेन ॥४०॥ निगृह्णत बाधयत । वन्दिन स्तुतिपाठका ॥४१॥ सवृतमना । फला० निष्पत्तिनिश्चेयानि । निजस्येहितानि वाञ्छितकार्याणि ॥४२॥ आशा वाञ्छितानि दिशश्च । भूभृत राजान पर्वताश्च । कराणा भागधेयाना, किरणाना च । निर्विबन्ध प्रतिकूलतारहित ॥४३॥ विश्राणयामास ददौ । प्रतीयेष जग्राह ॥ ४४ ॥ श्रीप्रभो नाम मुनिस्तस्य पादमूले । समासदत् प्राप ॥ ४५ ॥ विनिर्ययौ निर्जगाम ॥ ४६ ॥ मौलम् अङ्गरक्षकृतम् आटविक भिल्लशबरादिजनितम् । सामन्तबल क्षत्रियसैन्यम् ॥ ४७ ॥ खरकेशधूसरम् । पर केवलम् । दिशाम् आशानाम् ॥ ४८ ॥ अप्रतिकूल अनुकूल । व्याधूनन प्रकम्पनम् । अन्तर्दधे तिरोहित ॥ ४९ ॥ प्रयाण० विजयसमय । मातङ्ग (ङ्गा) हस्तिन । प्रतान धूलिप्रसर ॥ ५० ॥ मूर्च्छन् व्याप्नुवन् । विवरेषु रन्ध्रेषु ॥ ५१ ॥ प्रत्युद्ययै प्रतिगृहीत ॥ ५२ ॥ निशम्य श्रुत्वा । प्रस्थान विजयप्रयाणम् । महाव्याकुल० व्यग्रचित्तानाम् । इति वक्ष्यमाणप्रकारेण ॥ ५३ ॥ अनपेक्ष्य अवगणय्य ॥ ५४ ॥ भयविह्व० साध्वसविह्वलाङ्गा । शरण्य शरणार्हम् । अपोह्य परित्यज्य ॥ ५५ ॥ शौर्येण शूरत्वेन शौण्डैरुद्धतै । अभ्येत्य आगत्य । पतङ्गाना पक्षिणा वृत्तिम् ॥ ५६ ॥ पत्र वाहनम् । अशेषाणि समस्तानि रत्नानि । उपायनीकृत्य प्राभृतीकृत्य । हिमर्तुवृक्षा यथा प्रालेयोपद्रुता शातिताङ्गा पत्रादिरहिता भवन्ति ॥ ५७ ॥ गृहीत० स्वीकृतद्रव्यविशेषान् कृत्वा । व्ययुङ्क्त अभ्यापयत् ॥ ५८ ॥ उपेयुष समागतान् । अन्वग्रहीत् पितृपदेषु अनुजग्राह । तनूजान् पुत्रान् ॥ ५९ ॥ गता० क्रोध (गर्व) रहितै । दत्तमभय येभ्यस्ते दत्ताभयास्तै । कटक सैन्यम् । यया समुद्र जेतुमिच्छया ॥ ६० ॥ गण्डस्थलामोद कटोद्भेदगन्धि ।

---

१ व अश ।

विक्लेदितम् आर्द्रितम् । उपायनेभैः प्राभृतगजैः ॥ ६१ ॥ शावैः बालैः । पार्वतीयाः पर्वतवासिनः ॥ ६२ ॥ उपदीकृत्य उपायनीकृत्य ॥ ६३ ॥ अङ्गारिणी अङ्गारयुक्ता शत्रूणा चिताभिः चितिभिः । प्रधूमिता धूसरा । या च चकाक्ष अभिलाषमकरोत् । 'यस्या दिशि सूर्य सा शान्ता, अन्ये ज्वलितप्रधूमिते' इति ॥ ६४ ॥ विकिरन् प्रसारयन् । कर भागधेयम् ॥ ६५ ॥ प्रतिकूलिता द्विष्टा आज्ञा येन स ॥ ६६ ॥ समाना मानसहिताम् । अम्भोनि० समुद्रजलपरिधाना ॥ ६७ ॥ भूतधात्री वसुन्धराम् । धात्री दधानाम् । आससाद प्राप ॥ ६८ ॥ प्रत्यागत[1] समाय[2] । श्लेष ॥ ६९ ॥ गोपुरस्य पुरद्वारस्य ॥ ७० ॥ क्ष्मारुहा विटपिन । विरोधीन् कन्धरविशेषान् ॥ ७१ ॥ कल मनोहरम् । निषेदुषी निवसन्ती । हंसावलि हंसपङ्क्ति ॥ ७२ ॥ विनिर्यत् निःसरत् । पाठीनकुल मत्स्ययूथम् ॥ ७३ ॥ गवाक्ष वातायनम् । सभूय एकीभूय । श्लथ० अधोवस्त्रबन्धनदवरकम् ॥ ७४ ॥ पञ्चबाण. काम ॥ ७५ ॥ शशिसम० चन्द्रसमदीप्त्या । विलासै शृङ्गारभेदै । निकृतशत्रु खण्डितारि ॥ ७६ ॥ निर्वेद वैराग्यम् ॥ ७७ ॥ प्रव्रज्य दीक्षित्वा । परमोदय. महर्द्धिक ॥ ७८ ॥

इति चन्द्रप्रभचरितमहाकाव्यपञ्जिकायां चतुर्थ. सर्ग ॥ ४ ॥

पञ्चमः सर्गः

आप्तमीमांसादिशास्त्रप्रकाश योऽकरोन्मुनि. ।
स श्रुतादि[3]मुनिर्जीयाच्छब्दादिगुणभासिवाक् ॥

धातकीखण्डभुवम् ॥ १ ॥ भरतप्रमुखक्षितीश्वरा भरतेश्वरादय । कविवेधसा कविचक्रिणाम् ॥ २ ॥ तरुणी कमनीयकामिनी । स्थल० स्थलकमलिनी । हृदयगमा रुच्या ॥ ३ ॥ यदीयनिगमान्तगताः यद्ग्रामप्रान्तस्थिता ॥ ४ ॥ अस्पृश्यमध्या ॥ ५ ॥ शकुन्ता पक्षिण ॥ ६ ॥ समयोचित (त) यथाभिलिखितं (-मिलषितम्) । सकलर्तुषु षड्ऋतुषु ॥ ७ ॥ सुपयोधरा स्वच्छजलधराः, पक्षे शोभनस्तनधारिण्यः ॥ ८ ॥ नव वय तारुण्यत्वम् । अपमृत्युहत' दुर्मृत्युबाधित' ॥ ९ ॥ निरवग्रहै. निरुपद्रवै', अवृष्टिरहितैरित्यर्थ । सुरकुरु भोगभूमिः ॥ १० ॥ तरुराजय. वृक्षपङ्क्तय. ॥ ११ ॥ तत्र विषये तस्मिन् देशे । प्रचुर० पुण्यैरुपलक्षिता जना पुण्यजना, प्रचुराश्च ते पुण्यजनाश्च प्रचुरपुण्यजना. तै—बहुलपुण्यम (व) द्भि, पक्षे प्रचुरश्रीदै ॥ १२ ॥ अतनुधार मुसलप्रपातम् ॥ १३ ॥ निर्वृतये विध्यापनाय ॥ १४ ॥ विविधासु नानाप्रकारासु ॥ १५ ॥ जिगमिषु गन्तुमिच्छुम् ॥ १६ ॥ विच्छुरित कर्बुरितः ॥ १७ ॥ परिधे प्राकारस्य ॥ १८ ॥ मानसे सरोभेदे । शिशिक्षिषया शिक्षितुमिच्छया ॥ १९ ॥ प्रतोलीशिखरं पुरद्वारशृङ्गम् । सवलित कर्बुरित ॥ २० ॥ भिदा भेद ॥ २१ ॥ त्रिदशा० स्वर्गतिरस्कारिणि ॥ २२ ॥ शक्तीना प्रभावादीनामुपचयेन समूहेनानुगत सहितः । जगति जयो जगज्जयो नयविक्रमाभ्यामर्जितो जगज्जयो येन स ॥ २३ ॥ बिसतन्तु मृणालसूत्रम् । उडुपतिना चन्द्रेण ॥ २४ ॥ अवजेतुम् अवगणयितुम् । पृथु प्रचुरम् ॥ २५ ॥ गुरुता महत्त्वम् ॥ २६ ॥ भुव० जगदतिक्रान्तेन ॥ २७ ॥ येन राज्ञा । दहनेन भस्मीकरणेन । कमनीयतया मनोहरतया ॥ २८ ॥ गृणातीति गुरु । ईष्टे इतीश्वर । नरक दुर्गति, दैत्यभेद च । धन ददातीति धनद, कुबेरश्च । कमलाया आलय, ब्रह्मा च । शिशिरा. शीतला गावो वाण्यो यस्य सः, चन्द्रश्च । बुध्यते इति बुधो धीमान्, रौहिणेयश्च । सुष्ठु गतं ज्ञान यस्य स, बुद्धश्च । सकलैर्देवैर्मयो निर्वृत्त सकलदेवमय ॥ २९ ॥ विववृधे वृद्धि गता ॥ ३० ॥ बाष्पजलै अश्रुतोयै. ॥ ३१ ॥ निजविक्रमेणाहित स्वीकृतो रणैकरसो येन स । प्रधने सग्रामे ॥ ३२ ॥ तिरस्कृतसूर्यतेजसि ॥ ३३ ॥ सह० स्वाभाविकसरलतया, पक्षे भद्रजातितया । वश अन्वय पृष्ठ च । दिक्षु करो यस्य स दिक्करी तस्य, दिक्कुञ्जरस्य च । मद अवलेप ॥ ३४ ॥ परिघा० अर्गलाकारे । भुग्न निम्न शेषशिर.समूहम् [॥ ३५ ॥] योग सहायम् ॥ ३६ ॥ समिते समूहस्य । अजन्यत

१ ब °गता ज °गता । २ ब ज °याता । ३ ब °तादि ।

उत्पादिता ॥ ३७ ॥ अवयवे करचरणादिन्यासे । अमारि अघारि ॥ ३८ ॥ इतवति गतवति । सचन्द्रत्वम् ॥ ३९ ॥ तनुभू पुत्र ॥ ४० ॥ उपचिकाय उपचयं नीतवान् ॥ ४१ ॥ अवयवे बुबुधे । विफल ति प्रयोजनम् ॥ ४२ ॥ वार्तं फल्गु ॥ ४३ ॥ अल० भूषयाचकार ॥ ४४ ॥ लघयन्त लघूकुर्वन्तम् ॥ ४५ ॥ पिदधाति तिरोदधाति–आच्छादयति । गवादेरलोप[1] । 'अपिधानतिरोधानपिधानाच्छादनानि च ।' इत्यमर ॥ ४६ ॥ इत गतम् । सकलतेजस्विनाम् ॥ ४७ ॥ परम् अन्यत् । अलङ्करणं भूषणम् ॥ ४८ ॥ न्यवीविशत् स्थापयामास ॥ ४९ ॥ अधरि० न्यक्कृतदेवताधोशस्थानम् ॥ ५० ॥ नयनाभिराम नेत्रयो सुन्दरम् । दृशोविषय दृष्टिगोचरम् ॥ ५१ ॥ उपायनेनोपग्राह्येना (णा) नुगता अन्वायाता ये मण्डलिनस्तेषाम् । आस्त तस्थौ ॥ ५२ ॥ परिमोह्य विमोह प्राप्य । जहार हृतवान् ॥ ५३ ॥ सुतशून्य पुत्ररहितम् ॥ ५४ ॥ इन्द्रजाल हरिचन्द्रपुरम् (मायाम्) ॥ ५५ ॥ असुसदृश प्राणसमान ॥ ५६ ॥ मुक्त करुणया आर्तरवो यत्र कर्मणि तद् यथा भवति ॥ ५७ ॥ अनलम् असमर्थ ॥ ५८ ॥ ऽभिहितम् उक्तम् ॥ ५९ ॥ अनिबन्धन निष्कारणम् । अकुशलम् अकल्याणम् । उपेक्षसे अवगणयसि ॥ ६० ॥ सहजविनयता ॥ ६१ ॥ क्षत बाधितम् ॥ ६२ ॥ तिमिरावृत्ता अन्धकारवेष्टिता ॥ ६३ ॥ अनुत्सवताम् अकल्याणताम् ॥ ६४ ॥ व्यपहस्तित मुष्टम् ॥ ६५ ॥ तुहिन० चन्द्रसुभगम् ॥ ६६ ॥ विषयत्व गोचरत्वम् ॥ ६७ ॥ दयित प्रियपुत्र ॥ ६८ ॥ दुर्व्यसनम् आपत् ॥ ६९ ॥ धुनीपयस नदीजलस्य ॥ ७० ॥ आधि मानसव्यथाम् । अन्तरयितु प्रच्छादितुम् ॥ ७१ ॥ व्यलोकयत् लुलोके ॥ ७२ ॥ उद्ग्रीवम् ऊर्ध्वमुखम् ॥ ७३ ॥ जवेन वेगेन । जज्ञे अजनिष्ट ॥ ७४ ॥ कृशत्व क्षीणताम् ॥ ७५ ॥ उत्तरीयम् ऊर्ध्ववस्त्रम् ॥ ७६ ॥ उपहिताम् अग्रत समानीताम् । स मुनि ॥ ७७ ॥ अभू० पूर्वं कदाचिदपि न भूतो य ॥ ७८ ॥ खेचरत्वात् गगनगामित्वात् ॥ ७९ ॥ सप्रश्रया सविनयाम् ॥ ८० ॥ अभ्युपेत समागत । मदनुग्रहार्थी ममोपकाराभिलाषुक । अभूमि अगोचर ॥ ८१ ॥ कल्या० श्रेयस्करी ॥ ८२ ॥ समुच्छ्वासि उद्गतम् ॥ ८३ ॥ श्रुति० श्रोत्रसुखजनकम् ॥ ८४ ॥ प्रियविप्रयुक्तम् इष्टवियोगिनम् ॥ ८५ ॥ शतक्रतो इन्द्रस्य ॥ ८६ ॥ साधारणौ समवृत्त्या वर्तमानौ ॥ विगणय्य विचार्य ॥ ८७ ॥ अर्हसि न योग्यो भवसि, अदृष्टोपजनितासु ॥ ८८ ॥ अकुशलम् अकल्याणम् । सयोग्यसे सयोग गमिष्यसि ॥ ८९ ॥ निश्चितार्थां नि सदिग्धाम् ॥ ९० ॥ उग्रतेजस । विश्वस्तमना (नसा) निश्चित-चेतसा ॥ ९१ ॥

इति चन्द्रप्रभचरितमहाकाव्यपञ्जिकाया पञ्चम. सर्ग. ॥ ५ ॥

षष्ठः सर्गः

आप्तमीमांसादिशास्त्रप्रकाशं योऽकरोन्मुनि ।
स श्रुतादिमुनिर्जीयाच्छुद्धादिगुणभासिवाक् ॥

निपपात पतति स्म । उच्छलद्ग्राहसमूहे ॥ १ ॥ अपविद्धेषु अपध्वस्तेषु ॥ २ ॥ पार्ष्णि गुल्फयोर-धोवर्तमान ॥ ३ ॥ कर्बुरयन् चित्रयन् ॥ ४ ॥ पादा रश्मयश्चरणा वा ॥ ५ ॥ मृगराज सिंह ॥ ६ ॥ प्रियका चमूरव ॥ ७ ॥ शबरा भिल्ला । पुण्डरीक व्याघ्र । हिंसिता मारिता । सामजा हस्तिन ॥ ८ ॥ प्रचुरप्रान्त० अमर्यादावसानवल्ली, अथवा प्रचुराणि प्रान्तानि पुष्पाणि यासु ताश्च ता लताश्च । क्रम पदम् ॥ ९ ॥ अपोढ० निवारितशीता । शयु अजगर । प्लवगा वानरा ॥ १० ॥ विनिवार्य निरीक्ष्य । प्रतस्थे प्रचलित ॥ ११ ॥ वश मन्ववाय, पृष्ठ च[3] । सत्त्व पराक्रम । सत्त्वाश्च प्राणिन ॥ १२ ॥ खङ्गिन अनुचरा पादचारिण, गण्डकाश्च । वनपर्यन्तस्य बुभुत्सा ज्ञातुमिच्छा तया ॥ १३ ॥ वर्षाकालोद्भवजल-दश्याम ॥ १४ ॥ प्रतिशब्दितसकलभूधरविवर । त्वरया वेगेन । अविषह्य. सोढुमशक्यं ॥ १५ ॥

---

१ व°देर्लो° । २ अ° नयम् । ३. अ °ष्ठश्च ।

आक्रान्तुं व्याप्तुम् । अनन्यसेव्याम् ॥ १६ ॥ अनवाप्य प्राप्य(?) । शक्तः समर्थः ॥ १७ ॥ धरणीध्रे भूधरे ॥ १८ ॥ विप्रलब्ध वञ्चित । अस० अविचारितम् ॥ १९ ॥ निशम्य आकर्ण्य । मर्मच्छेदिनीम् ॥ २० ॥ भवद्विधे त्वत्सदृशे ॥ २१ ॥ अल पूर्यताम् । समित स्तोकम् ॥ २२ ॥ तरसा वेगेन ॥ २३ ॥ निभृताभि मिलिताभि । तरु० वृक्षसमूहमध्येन, वा वृक्षजालान्तरेण (वृक्षजालान्तरेण वा) । वनदेवताभि अरण्यदेवताभिः वा[1] जलदेवताभि ॥ २४ ॥ करणं गात्रविशेषं । क्रमेण जातो जयो यत्र तत् ॥ २५ ॥ समु० आन्दोल्य ॥ २६ ॥ अभिदधे जगौ ॥ २७ ॥ कृत० कपटसग्रामेण ॥ २८ ॥ कृतिन पुण्यम(व)त ॥ २९ ॥ परनिष्ठ पराधीनम् ॥ ३० ॥ उद्यमेन शोभमानस्य ॥ ३१ ॥ निवेदयामि निरूपयामि । वृत्त चरित्रम् ॥ ३२ ॥ उपेत्य आगत्य ॥ ३३ ॥ निपातित मारित । प्रचुरयोनौ ॥ ३४ ॥ लेशात् लवात् ॥ ३५ ॥ मिष्टाक्षरमनोहराम् ॥ ३६ ॥ उत्तीर्णम् उल्लङ्घितम् ॥ ३७ ॥ पला० नश्यन्तम् ॥ ३८ ॥ उपसृत्य उपगम्य ॥ ३९ ॥ निर्वि० विरक्तचेता । उदन्त वृत्तान्तम् ॥ ४० ॥ धनधान्याग्र्यग्रामाढ्या धनिनश्च ते जनाश्च । शाड्वला (शाद्वला) हरिता ॥ ४१ ॥ उच्चराजगृहशिखरैः ॥ ४२ ॥ यस्यातीव्रो विषह्यश्चासौ करो भागधेयश्च ॥ ४३ ॥ पूरितेच्छा । यथा दिननाथविभा पूरितदिशा । वितीर्णं कामस्य सुखं यया सा । यथा रति कामाय सुखं वितरति ॥ ४४ ॥ ललाम(म) तिलकम् ॥ ४५ ॥ अचिरायुषे आसन्नमृत्यवे ॥ ४६ ॥ निहत्य विजित्य ॥ ४७ ॥ प्रतस्थे प्रययौ ॥ ४८ ॥ परीत वेष्टितम् ॥ ४९ ॥ असत्स्तुतत्वात् अनिवेदितत्वात् । हस्तिसंकीर्णमार्गाम् ॥ ५० ॥ नृपाज्ञाम् । अति० उल्लङ्घ्य । परिगच्छसि ॥ ५१ ॥ प्रवृद्धमत्सर ॥ ५२ ॥ मतङ्गजा. हस्तिन' ॥ ५३ ॥ गरुत्मा गरुडः । मनिण् प्रत्यय.[2] ॥ ५४ ॥ अहि० सूर्यात् ॥ ५५ ॥ शत्रुवनदवाग्निम् । विहितक्षौमश्रीकम् ॥ ५६ ॥ राजगृहम् । भावान् विकारान् ॥ ५७ ॥ बुबुधे ज्ञाता ॥ ५८ ॥ विहितसत्कार ॥ ५९ ॥ निजगाद बभाण । परेङ्गि० अन्यचेष्टितज्ञा ॥ ६० ॥ अनास्था निर्ममत्वम् ॥ ६१ ॥ क्षीणकपोला समाहूते समानीते ॥ ६२ ॥ आन्तरङ्ग मध्यस्थित ॥ ६३ ॥ उदस्यते उद्भ्रस्यते ॥ ६४ ॥ विषम् अमृतपर्यायेण कालकूटम् ॥ ६५ ॥ तस्या शरीरम् ॥ ६६ ॥ प्लुष्यति[3] मर्दयति ॥ ६७ ॥ असा० अनन्यरूपम् । अन्यथा तदभावे ॥ ६८ ॥ प्रवि० कर्तव्यम् । हरिणस्यायते चक्षुषी इव चक्षुषी यस्या' सा । कामस्य ॥ ६९ ॥ उद्यत्पुलक उद्यद्रोमाञ्च. ॥ ७० ॥ आदरपरस्वरूप. ॥ ७१ ॥ ख्यातमहा । अवतस्थे स्थित ॥ ७२ ॥ उत्तम्भित स्थगित ॥ ७३ ॥ निर्मलकञ्चुक । आकाशसर्पस्य ॥ ७४ ॥ रजत० रौप्यनिर्मलतया । निर्मले किल प्रतिबिम्ब भवति ॥ ७५ ॥ खेचरराज्ञ (खेचरराजान्), पक्षे पर्वतान् । विप० विगतसहायान्, पक्षे पक्षरहितान् ॥७६॥ क्षुल्लकं वर्णिनम् ॥ ७७ ॥ प्रति० सपर्याभि । अग्र० प्रतिजग्राह ॥ ७८ ॥ तेन क्षुल्लकेन ॥ ७९ ॥ कामम् अतिशयेन ॥ ८० ॥ प्रियम् इष्ट कर्तुम् । सुधर्माचार्यात् ॥ ८१ ॥ जनान्ते देशे ॥ ८२ ॥ अविश्रमसहिता ॥ ८३ ॥ धन्य. श्रेष्ठ ॥ ८४ ॥ विषसाद विषादं कृतवान् । साध्वसं भयम् ॥ ८५ ॥ मदीयचिन्तया । नि प्रमादमना ॥ ८६ ॥ देश० क्षुल्लकम् । कृत्य करणीयम् । प्रच्छन्नमन्त्र ॥ ८७ ॥ रुरोध रुणद्धिस्म ॥ ८८ ॥ प्रजिघाय प्राहिणोत् । अभि० अभिप्रायम् ॥ ८९ ॥ सार्थसज्ञ ॥ ९० ॥ प्रवितीर्णा दत्ता ॥ ९१ ॥ गुर्वी गरिष्ठा ॥ ९२ ॥ अभिजाति निश्चितजाति (कुलम्) ॥ ९३ ॥ नोढा न परिणीता ॥ ९४ ॥ अभ्यधात् अवदत् । कोविद पण्डितः ॥ ९५ ॥ अभ्येतु अभिगच्छतु ॥ ९६ ॥ अजितसेनाय वराय कुमाराय ॥ ९७ ॥ दुष्टविद्याधरम् ॥ ९८ ॥ रोपित स्थापित दिव्याना देवोपनीताना शस्त्राणा जालं समूहो यत्र ॥ ९९ ॥ सुरो हिरण्य. सारथिर्यस्य । सेनासन्मुखम् ॥ १०० ॥ खरांशुवत् सूर्यवत् । विकलीकृता' । सभूय एकीभूय ॥ १०१ ॥ क्षतात् त्रातीति क्षत्र, न क्षत्रमेतेष्वस्तीति बुद्धया । एकस्योपरि बहूनामागमने क्षात्रवृत्तिर्नास्तीति । पृषत्कं बाणं. ॥ १०२ ॥ असाध्यम् अवश्यम् । तमोबाणम् ॥ १०३ ॥ सुरेण दत्त सुर० सुरदत्त च तद्विसर्जित च ॥ १०४ ॥ विघ्नविना० बाणविशेषेण ॥ १०५ ॥ हतहेतिः[4] क्षतगुण. । उद्यम्य उद्भ्राम्य[5] ॥ १०६ ॥ न हतोद्धृते । उड्डीय नगं विजयार्द्धं गते ॥ १०७ ॥ महाशय. ।

---

१. ज वा कान्तरेण जलं । २ ज मनि णू स्य. । ३. ब पुष्यं । ४. ब 'हतहेति ' इति नास्ति । ५. ब कृतं ।

गुरुणा पुरोधसा, वा गरिष्ठेन (गरिष्ठेन वा) ॥ १०८ ॥ उषित्वा वसित्वा । श्वसुरानुज्ञा गृहीत्वा ॥ १०९ ॥ अध्वा मार्ग । अति० स्तोकं ॥११० ॥ उद्धृतरिपु सद्धृतशत्रुम् । विकसत्कदम्बाकारम् ॥१११॥

इति चन्द्रप्रभचरितमहाकाव्यपञ्जिकाया षष्ठ सर्ग ॥ ६ ॥

सप्तमः सर्गः

आप्तमीमांसादिशास्त्रप्रकाश योऽकरोन्मुनि ।
स श्रुतादिमुनिर्जीयाच्छब्दादिगुणभासिवाक् ॥

पाकशासन इन्द्र । उदपादि उत्पन्नम् ॥ १ ॥ जटिलीकृत कर्बुरीकृतम् । व्यभाव्यत परिज्ञातम् ॥ २ ॥ प्रकाशिताकाशरन्ध्र । दृश्या जिह्वा यस्य ॥ ३ ॥ घर्मवारण छत्रम् ॥ ४ ॥ उपयो० साधनाङ्गेन । विधेयता नियोज्यताम् ॥ ५ ॥ अनल्प० प्रचुराभोगम् ॥ ६ ॥ अद्रिकुलिशादीना भेदिन विघटनम् । वज्रकपाटादीना भेद खलु दण्डादेवेति श्रुति । प्रायकर्मसु बाहुल्यकार्येषु । ऊर्जित गरिष्ठम् । शुभ सत्कर्म ॥ ७ ॥ चक्रिमयप्राप्तकम्पस्य । यस्य वासवेन्द्रस्य ॥ ८ ॥ भास्करादीना स्वामविषयीभवदन्धकारनिरसनकरणे । पटीयसी पटिष्ठा ॥ ९ ॥ प्रावृड्जलधरश्यामलनिकटस्थान्धकारविनाशकरणसमर्थ ॥ १० ॥ छलात् व्याजात् । शैलराट् मेरु ॥ ११ ॥ अप्रतिहतगमनम् । प्रचुरबलयुक्तम् । सिसध (?) । मनोवेगम् । पर्यु० सेवाम् ॥ १२ ॥ अरिभि सोढुमशक्यपराक्रमभयार्ण (न) क । शूरत्वभूमि ॥ १३ ॥ देवै सुरैर्मानवै ठकादिविद्यायुक्तमनुष्यै शुभेतरग्रहैर्दुष्टग्रहै प्रापिता या आपत् तस्या अपहस्तने रोधकरणे समर्थ । देहवान् पुण्यपुञ्ज इव ॥ १४ ॥ कल्प सदृश । चण प्रवीण ॥ १५ ॥ गृहकार्यचतुर । समुच्चयो अजायत ॥ १६ ॥ प्रासिधन् सिद्धयन्ति स्म । सत्कर्ममन्दिरस्य ॥ १७ ॥ उपतस्थिरे उदपादिषत ॥ १८ ॥ व्यशिश्रणत् अदात् ॥ १९ ॥ पिङ्गलो नाम निधि ॥ २० ॥ ईप्सित मनोऽभिलषितम् ॥ २१ ॥ रन्ध्रभेदतो भेर्यादय , नद्धभेदत मुरजादय , निबिडभेदत. तन्त्र्यादय । व्यतीर्यत सकल वाद्यजात दत्तम् ॥ २२ ॥ वस्त्रजातं वसनजातिम् ॥ २३ ॥ तपनीय कनकम् ॥ २४ ॥ शात्रवघ्न शत्रुसघातनाशकम् ॥ २५ ॥ सोपधान सोपबर्हम् । नैपू० नैसर्पनिधिदत्तम् ॥ २६ ॥ चित्ररत्न० किर्मीररत्नज्योतिभि ॥ २७ ॥ [न] उदसिक्त न जगर्व । तादृशी नवनिधिचतुर्दशरत्नलक्षणाम् ॥ २८ ॥ व्यधत्त अकरोत् ॥ २९ ॥ निरवर्तयत् निवर्तयामास ॥ ३० ॥ उच्छ्वसत् उद्गतम् ॥ ३१ ॥ केवल परम्, पुरजनस्त्रीणा मण्डल प्रसन्नतासहितप्रस्फुरत्कनीनिक विशदवस्त्रतया सुन्दर नाभवत् किन्तु ककुभामपि चक्रवाल सप्रसादसविकासोडुक सिर्मलाकाशतया चेतोहर[1] समभवत् ॥ ३२ ॥ भूमिजै मध्यलोकोद्भवै. । दिविजै ऊर्ध्वलोकोद्भवैश्च ॥ ३३ ॥ उदितकेतु उद्गतध्वजम्, उ अहो खण्डितध्वज च ॥ ३४ ॥ द्यौ सुरलोक ॥ ३५ ॥ कोकिलध्वनिमञ्जुनादा ॥ ३७ ॥ वारिणि नियुक्तैर्वारिकै । वारिदै मेघकुमारै ॥ ३७ ॥ तेषा बन्धूना[2] मनोरथपथ साभिप्रायमार्गमतिगच्छतीति तन्मनोरथपथातिगा सा चासौ श्रीश्च तया ॥ ३८ ॥ सहजदीधिति स्वभावकान्ति[3] ॥ ३९ ॥ चन्द्रिका कौमुदीस्पृष्ट० ॥ ४० । सिंहासनस्थितम् । रभसेन वेगेन ॥ ४१ ॥ तत्त्वविषयम् ॥ ४२ ॥ त्वयि सति जगत् सशयविपर्ययाकुल यतस्तिष्ठते (ति) ॥ ४३ ॥ निशम्य आकर्ण्य । अधरस्पन्दरहित यथा भवति तथा ॥ ४४ ॥ सम्यगीक्षणविपर्ययो मिथ्यादर्शन तत्र स्थित । 'मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बन्धहेतव' इति वचनात् ॥ ४५ ॥ लोहकान्तमणि चुम्बकविशेष ॥ ४६ ॥ खल्वाटश्रीफलवत् ॥ ४७ ॥ सचिनोति आदत्ते ॥ ४८ ॥ कर्मबन्धनप्रतिकूलभूतया ॥ ४९ ॥ पापकार्यविरमणलक्षणम् ॥ ५० ॥ सगत मिलित, परस्परसापेक्षमित्यर्थ. ॥ ५१ ॥ उपार्जितक्षपकम् ॥ ५२ ॥ अबुधै अज्ञानिभि सांख्यादिभि । अनुष्ठितै उपयुक्तै ॥ ५३ ॥ त्वरयते

---

१ ब °हर ज °हर । २ ब वधू° । ३ ज °कान्त ।

उत्तालयति ॥ ५४ ॥ प्रहाय त्यक्त्वा ॥ ५५ ॥ उत्कटपुरद्वारम् ॥ ५६ ॥ पुर प्र० अग्रेसरगमने ॥ ५७ ॥ छत्रव्याजेन ॥ ५८ ॥ विकृत्य निर्वृत्य ॥ ५९ ॥ पुर.सरम् अग्रेसरम् ॥ ६० ॥ करभयात् भागधेयभीतेः ॥ ६१ ॥ पतदश्रुनयनाः ॥ ६२ ॥ उपलस्थिरे प्रतिजगृहु. ॥ ६३ ॥ उपचितान् पुष्टान् ॥ ६४ ॥ संनिकृष्ट निकटस्थम् ॥ ६५ ॥ एत्य समागत्य । मागध' साक्षाद् वन्दो ॥ ६६ ॥ पर्युपास्त सेवयामास ॥ ६७ ॥ पूर्वदक्षिणपश्चिमस्थितान् ॥ ६८ ॥ प्रभावोत्साहमन्त्रलक्षणाभि' । पराभूतसूर्यदीप्तेः ॥ ६९ ॥ न्यक्कृतशत्रु-पराक्रम ॥ ७० ॥ द्वात्रिंशत्सहस्रमुनिमस्तकेषु ॥ ७१ ॥ विद्युच्चमत्कृतिषण्णवतिसहस्रमहिलामुखभ्रमर ॥ ७२ ॥ 'मन्दगामी तु मन्थर', चतुष्टयेनाधिकान्यशीतिलक्षाणि मान येषा ते चतुष्ट०, ते च ते करिणश्च चतुष्टया०, मन्थराश्च ते चतुष्टयाधिकाशीतिलक्षकरिणश्च मन्थर०, तेषा दान तस्य कर्दमास्तै ॥ ७३ ॥ अष्टादशकोटिजात्यहयै ॥ ७४ ॥ आचिताः सम्भृता ॥७५॥ सस्यसम्पद धान्यर्द्धिम् ॥ ७६ ॥ ईप्सितम् अभि-लषितम् ॥ ७७ ॥ अधिगम्य प्राप्य । द्यावाभूमी तु रोदसी ॥ ७८ ॥ बहुरत्नखनिभि ॥ ७९ ॥ अखण्डम् अनूनम् । कोदण्ड कार्मुकम् । साभिलाषस्वकीयवन्धुलोकाम् ॥ ८० ॥ विपणिविहिताधिकशोभायाम् ॥ ८१ ॥ गुणवान् तन्तुमान्, गुणयुक्तश्च । अनिष्ट ॥ ८२ ॥ उदग्र० शिथिलितवन्धनम् । अन्तरीय परिधानम् ॥ ८३ ॥ चित्रं मण्डनम् । चित्र चमत्कृतिम् ॥ ८४ ॥ परभाग शोभाम् । अनश्नुवाना अप्राप्नुवती ॥ ८५ ॥ 'यावोऽलक्तो द्रुमामयः' । 'अतिरिक्त समधिके' ॥ ८६ ॥ सहत मिलित । उत्क्षि० ऊर्ध्वं कुर्वती ॥ ८७ ॥ अञ्जित-नयना । सहास्यावलोकिन' । ईश्वरस्मरणहेतुताम् ॥ ८८ ॥ बन्धनरहिततया । रसना कटिमेखला ॥ ८९ ॥ चित्तभ्रशम् । सस्का० चित्तभ्रमः ॥ ९० ॥ विद्युत्कान्ता । विनि० स्थापित० ॥ ९१ ॥ क्षणचतुष्क चतुर्थ-भूमि वा क्षणेन चतुष्क मङ्गलस्त्रीभिर्विरचित स्वस्तिकम् ॥ ९२ ॥ चक्रिणा विसर्जिता ॥ ९३ ॥ निर्विशत् अनुभवन् ॥ ९४ ॥

इति चन्द्रप्रभचरितमहाकाव्यपञ्जिकायां सप्तम सर्ग ॥ ७ ॥

अष्टमः सर्गः

आप्तमीमांसादिशास्त्रप्रकाश योऽकरोन्मुनि. ।
स श्रुतादिमुनिर्जीयाच्छ्रद्धादिगुणभासिवाक् ॥

पदकमलनम्रस्य । लोकसमूहस्य । रक्षके चक्रिणि । पृथ्वी रक्षति सति । भ्रमराणाम् । विहिततन्मकरन्दास्वादनाम् । पङ्क्तिम् । हर्षयन् । वसन्तोऽजनि । ॥ १ ॥ अश्रुसहितै । मनोहरै । यै. नेत्रै. । कान्तास्त्यक्तास्तै. । वियोगिन । वृक्षेषु । भ्रमराणाम् । नूतननूतनोद्भिदलीनाम् । सहति वृन्दम् । अवलोकितुम् । न समर्था बभूवु ॥ २ ॥ अणौ सूक्ष्मे । हे कामनिष्पादिनि । चम्पकमकरन्दे । पतति सति । प्रविश्लिष्ट-मति. । पथिक । देवानाम् । नितम्बिनीमिव । मनोहरध्वनिम् । कामिनीम् । सस्मार । विधुर तु प्रवि-श्लेषे[1] ॥ ३ ॥ अलम् अतिशयेन । पापश्यामल मधुव्रत दधती । नागकेसरवृक्षस्य कलिका कोरक । भर्तृ-शयनीयम् अप्राप्ताना कामिनीना कामपीडा चकार ॥ ४ ॥ नाना मधुपुष्परस भक्षयन्ती कमलसज्ञक पुष्प भक्षयन्ती भ्रमरावलि । स्त्रीजनचित्त मध्ये विभेद । च पुन । इतस्ततः कूजन्त पिका । कामिनीजन-चित्तमभिनत् । अर्थवशाद्विभक्तिपरिणाम इति ॥ ५ ॥ आम्रवृक्ष जातकोशमवलोक्य पञ्चवाणवाणैरत्यर्थं विद्धा का नितम्बिनी भर्त्रा सह प्रेमकरं मैथुन न चकार, अपि तु सर्वापि ॥ ६ ॥ वनभूमीना शीतलो वायुः । चल स्त्रीजन भर्तृस्थाननिमित्तमलमुत्कण्ठयन् । प्रविकसन्ती कमला आस्ये यस्य तत् प्रतिकसत्कमलवदन क[2] किशलय नृत्यरहितं चक्रे, न कमपि ॥ ७ ॥ अये पथिक, स्तवकेन गुच्छेन नम्र. सैरेयकस्तव भवत. केन कारणेन तापकारी न । अतस्त्व नो प्रावस प्रोषितो भव । कोकिलध्वनि पान्थ प्रति, इत्यद., वचन नाभ्यधित

१. व प्रतिषेधे । २. व किं ।

न जगाद, अपि तु जगाद ॥ ८ ॥ भर्तृभिः सह यो मानोऽभवत् तमशक्नुवन् स्त्रीसमूहः कामसहायेन सहकार-मकरन्दकर्बुरेण वायुना प्रत्यवाध्यतापीडितः ॥ ९ ॥ पुष्पविगलत्पुष्परसानुरागिणो मधुव्रता मिष्टा या वाणी-विस्तारयामासु, विसदृशाभिराभिर्गोभिः प्रवासिनः सपूर्णं हृदयस्थं वस्तु प्रयोजनं हालाहलं सबभूवे ॥ १०॥ तानि दिनानि समाश्रित्यानवरततपोनिष्ठानामपि यतीना वसन्तस्य पुष्पेष्वलोकि तेषु मानस मन प्रस्फुरत्काममजायत ॥ ११ ॥ मन्दकम्पितवकुलवनेन वायुना स्पृष्टशरीराणा कामिनीना मर्यादारहितेन मनोहरेण पञ्च-मनादेनोदपादि ॥ १२ ॥ अथ पञ्चभि कुलकम् । भर्त्रा सह काचित् कामिनी रुष्टा । तन्मानापसारणार्थं भर्त्रा काचिद् दूती प्रेषिता वदति हे वयस्ये त्व समागच्छ । तदा सा प्राह—हे सखि, अह, नागमिष्यामि । त्वमाग्रह मा भजस्व । यद् यस्मात् स दयितो माया कपटान् करोति[1] । तस्य वक्तुमनुचितत्वेऽपि प्राणसदृ-क्षायास्तव भवत्या पुरत कथ गोप्यते अन्तर्धीयते । तेन तनु कृशमिदमङ्गक शरीरम् । पुष्टि स्थूलत्व न तनुते ॥ १३ ॥ यत् तस्य मयि ममतापि नास्ति तेन ममेद मानस सतापि तापयुक्तम् । हे सखि, तत् तस्मात् । अनेन तन्नमनेन मम दु खप्रतीकारो मास्तु ॥ १४ ॥ मानकारणमाह–य प्रियोऽपराधकारणेषु दुर्जनेश तेन प्रणयिना सार्द्धं सुखलेश कणोऽपि क. । तद् वय वर श्रेष्ठ महिमान कुर्वन्त,युक्तमेव मान विदधीमहि ॥ १५ ॥ हे सखि, अह दु खितापि प्रिय दयित गन्तु प्राप्तु न यते न प्रयत्नवती भवामि । किमर्थं, धाम्नि गृहवासार्थम् । किलक्षण प्रिय, निय० नियत निश्चितम् इहाभिलाषो यस्य स. । क्व, अप्रि० अनिष्टकरणे । किलक्षणाप्य-हम्, इत्याह अस्य मम वपुष शरीरस्य, किलक्षणस्य विधुरस्य वियुक्तस्य तापहारि सतापनाशक चन्दनजल न, वा विधुश्चन्द्रोऽपि नास्तीति ॥ १६ ॥ इति या अन्यदा वसन्त विहाय आस्त तस्यौ । किलक्षणा, वचनानि वदन्ती वाक्यानि भाषमाणा । का, दूतिका प्रति । क इव महान् दन्ती इव । पुल्लिङ्गोदाहरण मानिन्या मदनिरूपणार्थम्, दन्तिन्या मदाभावात् । माधवो वसन्तस्ता वशेऽकृत व्यधत्त । कस्य प्रियस्य । किलक्षणस्य, मधुरस्य मधु मिष्ट रौतीति मधुरस्तस्य मिष्टभाषिण । पुन किलक्षणस्य, धृता अवलम्बिता कामस्य धुरा येन स तस्य । अथवा महान् दन्ती इव वसन्त शनै. समागत्य प्रियस्य वशे तामकृत ॥ १७ ॥ अथ काचिन् मानिनी वसन्तोद्रेकान् मान विहाय प्रिय गन्तुमुद्यतमना दूती गत्वा प्राह—मच्छुभैर्मम पुण्यैस्तादृशीकं (?) तथाविध पटु कार्यकरणचणा वयस्या सखी अकारि । यस्या मूर्तिर्मुखम् । ग्रहपतेश्चन्द्रस्य मूर्तिरिवोत्सव-करी । कस्य, सज्जनस्य प्रियस्य । त्वा दृष्ट्वैव सज्जन सार्द्रो भविष्यतीति भाव. । किलक्षणस्य, सविकासिनी प्रसरमाणा कला चातुर्यं यस्य तस्य । पुन किलक्षणस्य, सकलस्य समग्रस्य अद्य यावत् मा प्रति न त्रुटित इत्यर्थः । वा त्व सकलस्य सविकासिकलस्य सज्जनस्य स्वसबन्धिन ॥ १८ ॥ हे आलि सखि, तत् तस्माद्, दयित वल्लभ, प्रगम्य गत्वा, त्वम् उचिताभिरभिलषिताभिर्वाग्भिर्निगदेः वदे । अत्रार्थान्तर-मुपन्यस्यते—यत् कार्यं, प्रियमनुकूलमेकवचो[2] येषा ते प्रियैकवचसस्तेषामिष्टभाषिणा, जायते उत्पद्यते, तद् अपरस्याप्रियैकवचसः, किंलक्षणस्य, असाम अप्रेमपर वाक्य तेन परस्य [अ] मिष्टस्य[3] न जायते । अतस्त्वया मिष्टमेव वाच्यमिति ॥ १९ ॥ हे सखि, अनेन कार्येण विधीयमानेन, अह तव सदा किंकरी दासी भवामि । त्व मन्मनो मम चित्त, प्रियतमस्य वल्लभस्यानयनेन, ह्लादय मोदय । किलक्षण मन्मन , सुरत काम व्यवाय कामयते इति सुरतकामि । पुन किलक्षण, सह दाहेन वर्तते इति सदाह दाहयुक्तम् । हे मृगीनयने, अत्र त्व न क्षमा, (इति) न, अपितु क्षमैव । वा मन्मन. प्रियतमानयनेन ह्लादय । अह तव सदा किंकरी न भवामि, अपि तु भवामि । अत्र त्व क्षमा न, अपितु क्षमा असि ॥ २० ॥ हे मानिनि, मधुदिनानि मम मानस तापयन्ति । किलक्षण, तान्त क्लिष्टम् । कथ, नितान्तम् अतिशयेन । तत् त्व दयित मम दयमान दया कुर्वाण विधेहि । किलक्षण दयितं महोदयो मानो यस्य स त गरिष्ठ उ (ष्ठो) दयमानयुक्तम् । कैः सामभि । 'साम प्रेमपरं वाक्य नैदान वैतस्य चार्पणम्' इति वचनात् ॥ २१ ॥ इति काचिद् दूतिका विनयेन जगौ । किलक्षणा, उत्पलयोस्तुला [सहे] सादृश्यासहे नेत्रे यस्या सा । पुन किलक्षणा, रन्तु क्रीडितुमुत्सुकमना उत्कण्ठ-हृदया । केन, नेत्रा भर्त्रा सह । किलक्षणेन विनयेन, येन भावि भविष्यत्काले, दु ख क्लेशो न उद्भवति

१ ब °पटानुकरोतु । २, ब °वचनो । ३ ज निष्टस्य ।

संजायते ॥ २२ ॥ कुलकम् ॥ विरहिणीसतापको वसन्तः पुनरुपवर्ण्यते । *अत्र वसन्ते का कामिनी न विनाश, अपितु सर्वापि* । किंलक्षणा, क्षता विद्धा । कैः सायकैः बाणैः । कस्य, हृद० हृदयभू' काम एव शबरो मार्गलुण्टाकस्तस्य । पुनः किंलक्षणा, सस्मरन्ती स्मरणं कुर्वन्ती । कस्य, वरस्य भर्तुः । किंलक्षणस्य, प्रोषितस्य प्रवासिनः पुनः किंलक्षणस्य, उपमारहितस्य । पुनः किंलक्ष०, मधुमासश्चैत्रो हितो यस्मै—अह मधुमासे आगमिष्यामीति प्रतिज्ञावत ॥ २३ ॥ पुन. किंलक्षणोऽय वसन्त । यत्र बकुलानि, अबलाहसिताना कामिनीहास्याना साम्य सादृश्य प्रापु । कामिनीर्वसन्ते दु खवतीर्दृष्ट्वा हसन्तीवेत्यर्थ. । किंलक्षणाना, नीररिक्तजलवाहा शरद्घनास्तैरिव सिताना श्वेतानाम् । किंलक्षणामि बकुलानि, प्रीणितानि तोषितानि सर्पनरसुराणा कुलानि यैस्तानि । पुनः किं० नितरामतिशयेन प्रोल्लसन्ति विकासवन्ति ॥ २४ ॥ कालिनी भ्रमरिणी, अर नारमत, अपि तु अरमत । क्व, काञ्चनारपुष्पे । किंलक्षणे, द्युतिमतो भावो द्युतिमत्ता तया ह्रेपिता लज्जाविषयीकृता अमला विद्युद् येन तस्मिन् । पुनः किंलक्षणा, मत्ता घूर्म (र्ण) यन्ती । पुन किंलक्षणा, ध्वनिं नाद[1] कुर्वन्ती । कथम्, अतारम् अतारमन्द मन्दम् । पुन किंलक्षणा, सरसा रसवती ॥ २५ ॥ *अथ पञ्चभि' कुलकम् । काचिद् दूती दयितया प्रेषिता रुष्टमपि प्राणनाथ प्रति प्राह ।* हे नयकोविद, शशाङ्कस्य चन्द्रस्य करा. 'ता[2]भवत्प्रणयिनीं विदहन्ति तापयन्ति । च पुन. । मन्मथश्च ता हन्ति । किंलक्षणा ता, पीडिता बाधिताम् । केन, निज च तन्मनश्च निजमनः तच्च तत् कमलं च निजमन कमल तेन । किंलक्षणेन, त्वद्वियोगाद्भव शोकमल यत्र तत् तेन । शशाङ्कस्तु कमल दहति । मन्मथोऽपि वियोगयुक्त मन इति कोविदेन भवता विचार्यमिति भावः ॥ २६ ॥ पुनर्दूती प्राह । त्व यदि ता वल्लभा पाश्वि नासि । अय भवतो गुणः । कथभूता ताम् । शीतेन दग्धा चासौ नलिनी च शीत० तया समो देहो यस्या. सा ताम् । पुन किंलक्षणा, च्युता गता विलासमदयोरीहा अभिलाषो यस्या. सा ताम् । वा अथवा । हे जितमनोभव, एवविधामपि ता जितकामस्त्व यदि न एषि तदा तोय जल देहि । मृताय किल जलाञ्जलिर्दीयते इति भाव ॥ २७ ॥ पुनर्दूती प्राह । हे सखे यो रतिपते कामस्य इषुर्बाण । रजनीषु रात्रिषु सुभ्रवो वामलोचनाया हृदये प्रविश्य स्थैर्यवान् स्थिरतरोऽजनि । यद्येकवार भवान् मानयिष्यति तदा पुनर्नापराधिनो भविष्यतीत्याह । अनेन प्रसिद्धेन तव सगमनेन सपर्केणोद्धृतो निष्कासित स इषु सङ्ग पुन सयोग न व्रजति । अथवा अनेन हृदयेन सङ्ग न व्रजति ॥ २८ ॥ तत् तस्मात् कारणात् हे सुभग सारमयत्व लोहमयत्व सप्रहाय त्यक्त्वा गच्छ त्व दयित रमय । हे मन्मथ० मन्मथस्य कामस्य व्यसन लुनातीति मन्मथव्यसनलावि तद् रहस्य यस्य स तस्य सबोधने कामव्यसनानभिभूतहृदय[3], इन्दुवदना विरहस्य वियोगस्य क्षमा समर्था न ॥ २९ ॥ इति दूतिकोक्त निकामम् अतिशयेन सुश्रुवान् कोऽपि कामुक कोपयुक्ते मनसि तत्क्षणात् तत्काल कामम् अभिलापम् उपययौ । केन परमेण दीर्घमानकलुषोपरमेण, मानमेव(एव) कलुष पापं तस्योपशमेन ॥ ३० ॥ कुलकम् ॥ अथ वसन्तवैभवमुच्यते । कर्णिकार काञ्चनारकुसुम तान्त रिक्तमजनि । किंलक्षणम्, अथवा प्रोषितभर्तृका तस्या जनितमन्त (जनितोऽन्तो—) येन तत् । कस्मात्, चारुगन्धगुणत मनोज्ञपरिमलगुणात् । अत्र कारणमाह । सर्जने उत्पादने । अप्रतिमोहा(हो) असदृशविचारोऽपि विधिस्तस्य कर्णिकारस्य युक्तघटना प्रति मोहो मूढोऽजनि । रूप दत्त परिमल(लो) न दत्तमिति (दत्त इति) विधाता विस्मृत. ॥ ३१ ॥ वृक्षपङ्क्तिकामिन्या ओष्ठेन । मनोहरतोत्कृष्टपारधारकेन(ण) किंशुकेन पलाशपुष्पेण । असौ समयो मधुः । शुशुभे चकासे । असौ खङ्गे सविलास मनोहरम् अयो लोह बिन्दुना जलेन इव ॥ ३२ ॥ शम० । सयमनाशकरेषु भ्रमरिणीसमूहेषु गायनेषु जातवत्सु मरुत् शोभनलताना नर्तकोऽभूत् । कथभूताना, पासुलस्य भाव पासुलता पुष्परेणुभि कृता पासुलता स्थूलता यासा ता तासाम् ॥ ३३ ॥ भवत् सजातम् अशोकेभ्यो बल यस्य स तेन कन्तुना कामेन सकलो विरहो मृत्युना यमेन कवलेन ग्रासेन, अथवा अकवलेन युगपद् एकवारमित्यर्थ , ग्रस्यते स्म । किंलक्षणो विरही, प्रमदाया. सस्मरन् । किंलक्षणाया , अकम्प्रो निश्चलो मदो यस्या. सा तस्या ॥ ३४ ॥ यो विरहिणीसमुदाय' प्राग् वसन्तात् पूर्वमतीव समुदा हर्षेण मनसा तस्थिवान् स माधवेऽतिदु सह-

१. व ध्वनिर्नादम् । २ ब ' ' इति चिह्नान्तर्गत. पाठो नोपलभ्यते । ३ ज °दय ।

वषाशो मनोभवश्च तेन कुलः कदर्थितः मुषितया मुषितेन ऊनो रिक्तोऽनयत् ॥ ३५ ॥ अथ काचिद् दूतिका रुदन्तीं गतभर्तृकां प्रति प्राह । हे आलि कामशोक० कामाग्न्याधो य शोकः स एव जलधिस्तस्मादुदितान्युत्पन्नानि सतत रुदितानि संहर । यतोऽमुत्रम् अस्याः धैर्यं धीरत्वमापदामसनक्षम निराकरणसमर्थमुक्तं भाषितम् । कथंभूतं धैर्यम्, आपदामसन क्षेपण तत्र क्षम समर्थम् ॥ ३६ ॥ तव प्रेयसी यो वसन्तोऽस्थिरकारि स भर्ता तमतिवाहयितुमल नेत्यर्थः । किंलक्षणो वसन्त, यत्र निजगुणैः स्वगुणैः गन्ध इव धारिताः वृक्षा अमलाभिर्निर्मलदीप्तिभिर्जनाना लोकानां मनोरमस्य आभो येभ्यस्तानिति । कुसुमैर्भान्ति ॥ ३७ ॥ त समयं मधुमतिवर्तितुमतिक्रमितुम् उत्सुक । स तव भर्ता अलं समर्थो न । केन हेतुना । किंलक्षणेन वियोगेन कृशा चासौ दाराश्च तस्यं छिन्नेन । पुन किंलक्षणेन, कठिनता स्तब्धता (दया) रहितेन । किंभूतं समयं विकासं प्रकाशनयन्त गच्छन्तम् ॥ ३८ ॥ सुमन ॥ हे आलि वदिद वधूनिधनेन रतः । यमेनातङ्केन लब्धो ह्यानि 'यस्य तत्फलपुष्पाणि'[1] धीघ्रनरत्वं मा विधेहि । रत तेन धनुस्त्वद्वियोगे रस्यते । यत स भर्ता त्वदीयविरहं न सहते ॥ ३९ ॥ आया कायनेति स्थित यथा भवति तथा जगदे । किंलक्षणा कायन, मन्दा दीप्तिर्यस्या सा मन्दशोभि । अमुमावह(हो) मान(नो) यस्या सा अमुमावहमाना । पुन किंलक्षणा, जीविते शिथिलता वहमाना । पुनरपि किंलक्षणा, दूरदिशि वर्तिर्यस्या सा । अपोहितं त्यक्त माल्यं यया सा अपोहितमाल्या ॥ कुलकम् ॥ ४० ॥ कश्चित् कामी कामानलाभितप्तो मानिनीं चाटुभिर्नियप्राह । हे सुभ्रु तव 'भ्रुकुटीना दारुणा कर्कशा विरचना भ्रुकुटीना साम्यमावहति, यद्वा दारुणा काष्ठेन । प्रियतमे मयि दास्यं धारयति सति तवास्य कोपेन कोपयुक्त किमिति'[2] जातवत् ॥ ४१ ॥ तथा हे सुभ्रु तव रतेन व्यवायेन विना मे का धृतिस्तोष । अह तव विनामे प्रतीभावे नोयताञ्जलिनि । भवतो अमाने मयि नममाने पूर्ववत् मान किं तनोति ॥ ४२॥ तथा हे सुभ्रु ननीवदाकाशवदनन्ते कान्तिजले मग्न कमलसदृशम् । जात० उत्पद्यमानानेकविभ्रमरोह ते वदन पातु लेढु सादरमवलोकितुमित्यर्थः । अह भ्रमर इवोत्सुकोऽस्मि ॥ ४३ ॥ हे सुतनु अनेन मदनेनानिश बाध्यमान मन्मनो भीमद् वर्तते । हे पीवरतरस्तनि स्थूलपयोधरे । रुष० क्रोधस्य तनोर्विस्तरिमात कृशत्वम् । त्यज मान मुञ्च ॥ ४४ ॥ इत्थ दयितेन भर्त्रा उदिता भाषिता काचित् तेन सार्द्धम् उदयि उदयोपेत प्रेम स्नेहमकृत । अथार्थान्तरमुपन्यस्यते । बुधैः पण्डितैः रचितानि रसनारेण चितानि संभृतानि वचासि क न प्रीणयन्ति, अपितु सर्वमपि ॥ ४५ ॥ कुलकम् ॥ इत्थं विलसति वसन्ते । भानुर्हिमवन्तमचलमाप । कथभूत, कन्दरासु दरीषु अनुकृताहि सर्पसदृश ध्वान्त तमोनिकायमयन्त रक्षन्तम् । यो हिमवान् धनीव दुग्धा नदा यस्या सा तस्या, वसन् धनदो यस्या सा तस्या दिशि भाति राजते ।.४६ । तत्र वसन्ते लीन षट्पदाना कुल यस्या सा लीन० । तिलैरिव कालो श्यामला तिलकालो तिलपङ्क्तियद्विकासमगमत् तेन गतहर्षेण मनसा मानिनो उदार कामतापमगमत् गतवती ॥ ४७ । तत्र वसन्तेऽलयो भ्रमरा अलिन्या साक सतत रागकारि कमलिन्या मधु पुष्परस निपेव्य यानि ध्वनितानि चक्रु तानि सन्ति (निशम्य) अध्वनि के ययुर्न केऽपीत्यर्थः ॥ ४८ ॥ तत्र जनेन परिवारेण शीतला इति ज्ञात्वा सजलतालवृन्तेन पातिता आपो जलानि जातविरहो निष्पन्नवियोगोऽतनुतापो बहुलक्लेशयुक्त क पुमान् क्वाथिताम्बु० उत्क्वालितजलसमानानि नातनुत, अपि तु उत्पन्नतापो वियोगी तापस्फेटनार्थं परिवारेण व्यजनेन क्षिप्ता आप उत्क्वलितजलसदृशा अकरोदित्यर्थः ॥ ४९ ॥ असमहानि असदृशहानियुक्त पद्मखण्ड कमलवनम् अविकास विकासरहित वीक्ष्य अवलोक्य जातरुडिव उत्पन्नरोष इव तिग्मगु सूर्य । अहानि दिनानि अहिमानि उष्णानि विहितवान् अकरोत् । उचितमेतत् । शाश्वत हृदय मानि नहि, (इति) न, मान्येव ॥ ५० ॥ अलयो भ्रमरा भ्रमरिण्या सार्द्धं रागोत्पादक कमलिन्या पुष्परस सतत निपेव्य यानि शब्दितानि चक्रुस्तानि श्रुत्वा के पथिका अध्वनि पथि ययु, अपि तु न केऽपि । मधुकरी० अलिनीवाचालितदिशि । व्याजृम्भिते विस्फूर्जति । कामसहजबन्धौ । विस्रब्ध सहसा ॥ ५१ ॥ परभृत० कोकिलशब्दितव्याजेन । प्रादुर्भवन्ती तिलकपत्रविशेषशोभा यत्र सा ताम् । सीमन्ति०

१. ज ' ' इति चिह्नान्तर्गत पाठो नोपलभ्यते । २. व ' ' इति चिह्नान्तर्गत पाठो नोपलभ्यते ।

कामिनीव। कथंभूता सीमन्तिनी, प्रादुर्भवन्ती तिलकपत्रैर्विशेषशोभा यस्यां सा ताम् ॥ ५२ ॥ सभावयामि मानयामि ॥ ५३ ॥ ह्रीतो लज्जित । व्यवस्येत् उद्यमेत । स्मरनिवासश्चासौ नितम्बश्च तं चुम्बति स्पृशतीति ॥ ५४ ॥ आनमतगात्रि (आनतगात्रि) अवनताङ्गे ॥ ५५ ॥ मुकुलजाल कोश (ष) कदम्बम् ॥ ५६ ॥ त्वच्छिष्यभावेन गमनस्पृहयालु न जनिष्यते ॥ ५७ ॥ नवप्रवालसनिभे । स्मेरम् ईषद्धास्योपेतम् ॥ ५८ ॥ प्रतिहन्यमानः अभिभूयमान । न. अस्मान् न तिरस्करिष्यति ॥ ५९ ॥ सज्जीकृतपदयुगा ॥६०॥ रहसि एकान्ते । 'वनक्रीडागमनडिण्डिमम् । आदिष्टवान् ॥ ६१ ॥ सजलजलधरशङ्कमनस.[1] ।' व्योम आकाशम् । व्याप्नोति स्म ॥ ६२ ॥

इति चन्द्रप्रभकाव्यपञ्जिकायामष्टमः सर्ग. ॥ ८ ॥

नवमः सर्गः

आप्तमीमांसादिशास्त्रप्रकाश योऽकरोन्मुनि. ।
स श्रुतादिमुनिर्जीयात् प्रवादिगुणभासिवाक् ॥

मधुना वसन्तेन मद्येन च । विभ्रम पक्षिभ्रमणं भ्रूविक्षेपश्च ॥ १ ॥ ललित० निबिडतमक (चू) र्णकुन्तला , पक्षे सान्द्रतमालोपेताः । द्विजा दन्ता पक्षिणश्च । तिलक पुण्ड्रो[2] (ण्ड्र) क वृक्षभेदश्च ॥ २ ॥ काञ्ची कटिमेखला ॥ ३ ॥ अलसगतिपु आलस्यगमनेपु । गुरुः गरिष्ठ , उपाध्यायश्च ॥ ४ ॥ उभयत. । इतस्तत । व्यतिकरिणः मिश्रितस्य ॥ ५ ॥ मुग्धे मानिनि ॥ ६ ॥ पयोधरान्तराले स्तनमध्ये ॥ ७ ॥ विफला क्रया (क्रिया) यस्य तद् विफलक्रियम् ॥ ८ ॥ किसलयभासि पल्लवप्रभम् ॥ ९ ॥ शीघ्र गन्तुमिच्छुना[3] । जघनयोर्महाभरेण विघ्नो जातो यत्र तज्जघन० ॥ १० ॥ अथ पञ्चभि. सवन्ध । सकृत् एकवारम् । अबु० अज्ञानित्वेन । ततो निवर्तनम् ॥ ११ ॥ विरमति निवर्तते । नेतुमिच्छुना निनीपुणा ॥ १२ ॥ शरीरलताया. । क्षयकारणम् । आधि मानस(सी) व्यथाम् ॥ १३ ॥ क्रियादौ कार्यारम्भे चेत' स्थिर यथा तथाङ्गीकृतनिर्वहणे स्थिर न भवति ॥ १४ ॥ निराकृतमानकूटा ॥ १५ ॥ असयोः पृष्ठ तेन प्रगमितौ च पाणी च ताभ्या धृत प्रियाकुचाग्र येन स ॥ १६ ॥ कृत० कृतकामत्वरम् । अपदेशात् व्याजात् ॥ १७ ॥ मनसिशयः काम. । पुरः प्रयाताश्च ते क्षितिपतयश्च पुर.० तै सेवित' कृत्रिमाद्रिर्येन (यंत्र) तत् ॥ १८ ॥ अनङ्गीकृतनयनद्वयसपदा. ॥ १९ ॥ जरठ० पुराणपत्रसमूहे ॥ २० ॥ प्रतीपपत्न्या. सपत्न्या ॥ २१ ॥ विटपिनि वृक्षे । तुङ्गम् उच्चैस्तरम् । भुजयुगमूल कक्षाम् । द्रष्टुमिच्छा दिदृक्षा ॥ २२ ॥ उत्तमाङ्गे शिरसि ॥ २३ ॥ सुदति शोभनदन्ते । परभाग वर्णम् ॥ २४ ॥ कमनीय सुन्दरम् । भावकृतः परिणामजनितः । विभागः सदसद्विभजनम् ॥ २५ ॥ अवचित चुण्टितम् ॥ २६ ॥ ममज्ज ततार । सज्जीकृत विद्यमानीकृतः ॥ २७ ॥ आहिता आरोपिता आस्थापिता. ॥ २८ ॥ नुन्नतोया अपसारितजला ॥ २९ ॥ अकलुष स्वच्छम् । अन्तरा मध्ये । अनुवध्नन् अनुपतन् ॥ ३० ॥ शिलीमुखा भ्रमरा. ॥ ३१ ॥ अपहृतवसना. अपसारितान्तरीया. ॥ ३२ ॥ नाभिदघ्ने नाभिप्रमाणे । तरण्डक प्लव[4] ॥ ३३ ॥ विमुग्धा अनभिज्ञा । सबभूवे सजनितम् ॥ ३४ ॥ अनश्नुवाना अप्राप्नुवती ॥ ३५ ॥ अति(भि) सर्पन् समुखमभिपतन् । मधु पुष्परसम् ॥ ३६ ॥ अनभिमुखीं पराग्मु(ङ् मु) खाम् । समनुनयन् प्रसादयन् । चाटुकारान् प्रियवचनानि ॥ ३७ ॥ शफरी मत्सी ॥ ३८ ॥ असविलम्बि(म्बी) स्कन्धाधारीकृत ॥ ३९ ॥ शाठ्यात् जाड्यात् । अविदिततत्त्व. अपरिज्ञातरहस्य. ॥ ४० ॥ सपत्न्या प्रतिपत्न्या·[5] । अवधीत् तर्जयति स्म । परिभङ्गुरै' सभ्रुकुटिवक्रै' ॥४१॥

---

१. ब ' ' इति चिह्नान्तर्गतः पाठो नोपलभ्यते । २. ब पुण्डरी । ३ ब °च्छता । ४ ब लवः । ५ ब 'प्रतिपत्न्या·' इति नोपलभ्यते ।

अनुमम्लौ म्लानिं गता । दरम् ईषत् ॥ ४२ ॥ विदधति धारयन्ति । विनियवृत्ति क्रयविक्रयशेषं गृहीत्वा वितरणमित्यर्थ ॥ ४३ ॥ जलात्मकानां द्रवरूपाणा, पक्षे जडतायुक्तानाम् ॥ ४४ ॥ शिलीमुखेन भ्रमरेणा-नुकुर्वती अनुविदधती ॥ ४५ ॥ विगाढ़ै: विलोडितैः ॥ ४६ ॥ चिर नि० चिर स्थित्वा ॥ ४७ ॥ विचकृषु आकर्षन्ति स्म । भुजङ्गवृत्ति विटत्वम् ॥ ४८ ॥ अतिरिच्यमानं समधिकम् ॥ ४९ ॥ प्रतियुवते सपत्न्या । ॥ ५० ॥ कबर्या केशबन्धनत. ॥ ५१ ॥ कृष्णपद्मं नीलोत्पलैं ॥ ५२ ॥ ममु समान्तिस्म ॥ ५३ ॥ कृतकृतक जनितकपट ॥ ५४ ॥ चलशफरीतरला मत्सी (?) ॥ ५५ ॥ वनजवन कमलवनम् ॥ ५६ ॥ स्तनपरि० स्तनस्पर्शनसाभिलाषा ॥ ५७ ॥ अनुपुलिनम् अनुतटम् । स्नवणपदेन निश्च्योतनव्याजेन ॥ ५८ ॥ प्रस्थ सानुम् । अम्भोधराध्वा गगनमार्ग । त्यक्तजलक्रीडाविशेष ॥ ५९ ॥

इति चन्द्रप्रभकाव्यपञ्जिकायां नवम. सर्ग. ॥ ९ ॥

दशमः सर्गः

आप्तमीमासादिशास्त्रप्रकाश योऽकरोन्मुनि. ।
स श्रुतादिमुनिर्जीयाच्छुद्धा[1]दिगुणभासिवाक् ॥

उदया तेजोऽभिवृद्धय । निरत्यया निरपाया । अधिशिश्रिये अधिजग्मे ॥ १ ॥ नयनप्रान्ता कटाक्षा ॥ २ ॥ वल्लभ भर्ता ॥ ३ ॥ कृच्छ्रगत कष्टगत, आपद्गतश्च ॥ ४ ॥ अन्तरधीयत अतिरो-धीयत ॥ ५ ॥ विधिरेव दैवमेव ननु सहायादि । अभ्यभूयत तिरस्कृत ॥ ६ ॥ मलिनैं श्यामलैं सपापैश्च ॥ ७ ॥ दीप्तरवैं अवदातशब्दै । नीड कुलाय । प्रविलाप परिदेवनध्वनिम् ॥ ८ ॥ विध्वसभयात् विप्ल-वत्रासात् ॥ ९ ॥ अम्बरे गगने ॥ १० ॥ सदसत्प्रसगजा शुभाशुभससर्गजनिता ॥ ११ ॥ परिवृत्तिम् आह्निकक्रिया । सकाशादन्यथावृत्ति वेष्टनोद्वेष्टनवत् ॥ १२ ॥ कृतज्ञता कृतोपकाराविस्मरणत्वम् । इयाय गत ॥ १३ ॥ अपरज्यते विरक्तो भवति ॥ १४ ॥ विवरेषु मध्येषु । ध्वान्तलवा अन्धकारलेशा ॥ १५ ॥ आर्तनि स्वनैं सकरुणध्वनिभि । बहलं प्रचुरम् । मषी कज्जलम् ॥ १६ ॥ बिसतन्तु मृण(णाल) सूत्रम् ॥ १७ ॥ अलका चूणकुन्तला । बलभिद्दिश पूर्वस्या ॥ १८ ॥ [2]तिरोहित प्रच्छादितम् ॥ १९ ॥ आजिघासुना हन्तुमिच्छुना ॥ २० ॥ घनवीथिरथम् आकाशवाहनम् । परदारग्रहणोत्पन्नात् ॥ २१ ॥ भ्रश्य-दन्धकारप्रावरणम् । सुरतस्था ग्राम्यधर्मवतीम् ॥ २२ ॥ घटना निष्पत्ति । स्फुटीकृत व्यक्तीकृतम् । चन्द्रस्य किल कुवलयै प्रयोजनाभावाद् नि कारणबन्धुत्वम् ॥ २३ ॥ न्यलीयत उपविष्टम् ॥ २४ ॥ अपनीतम् अपाकृतम् ॥ २५ ॥ कोटिं शिखरम् । अद्यभवा अद्यतनी ॥ २६ ॥ प्रसर्पति विस्तृते ॥ २७ ॥ अन्यजातिना चाण्डालेन । परिमृष्टा स्पृष्टा । घनव० आकाशमार्गे ॥ २८ ॥ नगा पर्वता । चन्द्रस्यात्राल्पकालोदयत्व शान्तप्रतापत्व च ॥ २९ ॥ उद्गमारुण कुड्मलरक्तम् । आपीड शेखरम् ॥ ३० ॥ सुखि सुखयुक्तम् । मिथुनं युगलम् ॥ ३१ ॥ उद्धरतिस्म निष्काशयामास ॥ ३२ ॥ काण्डपट यवनिका-प्रच्छादनवस्त्रम् । 'कुट्टि-मोऽस्त्री निबद्धा भू' ॥ ३३ ॥ मूर्च्छाकपटेन 'मूर्च्छा पित्ततम प्राया' इति वचनात् ॥ ३४ ॥ भासुरीभवत् देदीप्यमानम् । अनन्याय (?) । 'वह्निना ज्वालिते तैले घृते वा कुत्रचिद् यथा । शीततोयच्छटापात प्रति-प्रक्षालन भवेत् ॥३५॥ रजसा परागेण—कुसुमरेणुना । निर्यत्पुलका रोमाञ्चवती ॥३६॥ त्वरमाणचेतसाम् उत्तालहृदयानाम् ॥३७॥ स्मरस्य सामर्थ्यसपत्ते । 'चन्द्रासवाभ्यां रमणीजनेभ्य' इति भाषितात् ॥३८॥ क्षत शक्ति सामर्थ्यम् । हरिणाङ्काभिगमे चन्द्रागमने ॥३९॥ विभावर्या रात्रे प्रकाशने सदृशोपयोगः कुमु-

---

१. ज 'द्धा' इति नास्ति । २ ज अतिरो° ।

दिन्या निरपेक्षोपकारः ॥४०॥ परिणामिनि कालवृद्धिगते । विविक्त विजनम् ॥४१॥ पुलकैः रोमाञ्चैः । पीनता स्थूलत्वम् ॥४२॥ प्रतिकूल क्षणं प्रतीक (प) कालविडम्बनम् । शासनम् आज्ञा ॥४३॥ अरविन्दामुकुलितनेत्राणाम् । अस्या रात्रौ किल कमल च मुकुलितम् । उन्नमिताननैः ऊर्ध्वीकृतमुखैः ॥४४॥ विपरीततया कामस्य प्रतिकूलाचरणेन ॥४५॥ अमिमीत अनुमानेन अबुधत्[2] ॥४६॥ चुम्बने वक्त्रसंयोगकरणे । सहसा शीघ्रम् । आसंजयति स्म व्यापारयति स्म परिरम्भमकरोदित्यर्थ ॥४७॥ करताडन करशब्देन करजातैस्ताडनं प्रहृति । परिरम्भः कराभ्यामालिङ्गनम् । दशच्छद. अधरः ॥४८॥ अनवकाशं अवकाश मध्यवसतिमप्राप्नुवद्भिः ॥४९॥ परिरम्भेण गाढालिङ्गनेन । अजीगमत् विलम्बयति स्म ॥५०॥ समीयुषे दीर्घकालगताय ॥५१॥ परिरेभे आलिलिङ्ग ॥५२॥ सचिवत्वं सहायत्वम् ॥५३॥ असंभवन् अवकाशमलभमान ॥५४॥ परिरब्धुम् आश्लिष्टु दृढबन्धहस्ताभ्या सपुटीकरण यथा भवति ॥ ५५ ॥ परिशान्त्य कषायरहिता प्रियवाक्यैर्विधाय । व्यदिध्यपत् विध्यापयतिस्म ॥ ५६ ॥ परितस्थे[3] उपरिस्थितम् ॥ ५७ ॥ वाम प्रतिकूलम् ॥ ५८ ॥ अतिमात्रसस्तवात्[4] गाढालिङ्गनात् पुन पुनः परिचयाद्वा । भणितैः रतिकूजितैः ॥ ५९ ॥ सुरतेषु मैथुनेषु ॥ ६० ॥ रतोत्सवे मैथुनानन्दे ॥ ६१ ॥ प्रक्षुभ्य एकहेलया शब्दयित्वा । क्षण किंचित्कालम् । विश्रान्तिं विरामम् । सूता बन्दिनः ॥ ६२ ॥ विकीर्णं विस्तृतम् ॥ ६३ ॥ केशकलापमध्ये[5] रेखा सीमन्त ॥ ६४ ॥ ब्रह्माण्डप्रसृत सकलजगद्ग्रासम् ॥ ६५ ॥ रथाङ्गयुग्म चक्रवाकयुगलम् । वक्षोजद्वय स्तनयुग्मम् ॥ ६६ ॥ घर्मांशोः सूर्यस्य । प्रणुन्नम् अपसारितम् । वृत्ति पुनरागमनाय वर्तनम् । अनुशीलता[6] भवच्छत्रुभि सादृश्यम् ॥ ६७ ॥ प्रत्यूष. अहर्मुखम् । परिष्कृताङ्गा भूषितशरीरा ॥ ६८ ॥ पाथेय शम्बलम् । गरिष्ठवियोगमार्गगमनाय ॥ ६९ ॥ अनपायिना अनश्वरेण ॥ ७० ॥ नियत निश्चितम् । अमङ्गलं मरणम् ॥ ७१ ॥ निजविरुतैः स्वशब्दैः । निशान्त प्रात । ताम्रचूड समदः कुक्कुट ॥ ७२ ॥ कल्पयामि सहज न विभावयामि ॥ ७३ ॥ विर्मृत्य पराङ्मुखीभूय । अनुनयविषया विधाय ॥ ७४ ॥ सप्तीना हयानाम् । रुचिर सुन्दरम् । प्रतीक्षा 'कालविलम्बम् ॥ ७५ ॥ रोचिष्मान् सूर्य. ॥ ७६ ॥ प्रबोध निद्राक्षयम् ॥ ७७ ॥ तपने सूर्ये ॥ ७८ ॥ अभ्युज्जिहासोः शिखरं त्यक्त्वानन्तर'[7] गन्तुमिच्छो. ॥ ७९ ॥

इति चन्द्रप्रभकाव्यपञ्जिकायां दशम. सर्गः ॥ १० ॥

एकादशः सर्गः

...समासादिशास्त्रप्रकाशं योऽकरोन्मुनिः ।
स श्रुतादिमुनिर्जीयाच्छुद्धादिगुणभासिवाक् ॥
सच्छुद्धादिगुणैर्युक्तस्तपसा निधिरस्तु मे ।
प्रकाशयामास मुनि. सर्वशास्त्राणि स श्रिये[8] ॥

विशा प्रजानाम् । अधिश्रिये अधितस्थौ । कलि (त्वि) त० आरोपितसिंहासनम् ॥ १ ॥ सर्वे च तेऽवसराश्च कार्यविशेषास्तत्साधनार्थं व्यवस्थित सिंहासनारूढ वा स्नानविलेपनाद्यनन्तरं तत्रोपविष्ट वा । प्रधानदौवारिक० प्रधाना[9] विशिष्टाश्च ते द्वारिनियुक्ताश्च तैः सूचितो निवेदित आगम आगमन येषा ते तथा । आश्लिष्टचुम्बितशिखरेण मौलिना किरीटेन ॥ २ ॥ प्रतीहारः द्वारपाल । यथायथ स्वोचितस्थाने । सभाजिरे प्राङ्गणे ॥ ३ ॥ अनल्पसत्त्वं प्रचुरोत्साहबलम् । गुरुवंश० गरिष्ठान्वयशोभमानं, पक्षे पृष्ठास्थि० । प्रलम्बहस्तम् आजानुकर, (पक्षे) लम्बशुण्डादण्डम् । कुतूहलात् कौतुकात् । अचूचुदत् प्रेरयामास । धीरनरान् सुभट-

---

१. ब 'काल' इति नास्ति । २. ... ३. ब 'परितस्थे' इति नास्ति । ४. ब °ससृपात् । ५. ज मध्यं । ६. ब °शीलिता । ७. ब इति चिह्नान्तर्गतः पाठो नोपलभ्यते । ८. ब श्रियै । ९. ब प्रधान ।

पुरुषान् ॥ ४ ॥ समुपेत्य[1] प्राप्य । धीरधी निष्कम्पमना । जघान ताडयामास । घनपीवरे दिलष्टस्थूले । जवेन वेगेन । आरया लोहसूचीविशेषेण ॥ ५ ॥ निवृत्य परिवृत्य । प्रधावति ढौकते । निपत्य प्राप्य । स्थूललोष्टेन घातम् ॥ ६ ॥ विनीयमान. खेद प्राप्यमाण । शाशनदो ज्ञातः (शासनाद् अज्ञातः)[2] । कृत-क्रियं. विहितसमयोचितप्रयासः । प्रधावितु प्रपलायितुम् । उद्यतः सोद्यम ॥ ७ ॥ गृह्रागर्त करान्त पतितम् । समास्फालयतिस्म उच्छाल्य पातयामास । व्ययुज्यत वियुक्तसर्वावयवोऽभूत् ॥ ८ ॥ विलीन विलय प्राप्तम् । निर्वेद वैराग्यम् ॥ ९ ॥ 'भवगर्त० ससाररन्ध्रस्थितानाम् । अशाश्वती विनश्वरीम् ॥ १० ॥ गदेन व्याधिना । अशनिना मेघोत्पातेन । कटाक्ष्यते वक्र निरीक्ष्यते ॥ ११ ॥ शाश्वत ध्रुवम् । प्रमोह मोहनीयोदयाद्भ्रान्ति'[3] ॥ १२ ॥ परह्निे । 'परुत्परार्यैषमोऽब्दे पूर्वे पूर्वतरे यति[4]' । कर्तव्य करणीयम् । आसन्न निकटम् ॥ १३ ॥ असमतात् अनिष्टात् । विलोभ्यमान वञ्च्यमान । आमिप भोज्यविशेष । अकर्तव्य सद्भिर्निषिद्धम् ॥ १४ ॥ नयनान्त (न्त) कटाक्ष । सह्रासितु युगपत्स्थातुम् । वज्रहविर्भुज वज्राग्ने । जये विजृम्भणे[5] ॥ १५ ॥ विलेरुयते विलीयते । कालमरीचिमालिन यमसूर्यस्य ॥ १६ ॥ विहास्यन्ति त्यक्षन्ति । वद्धा गाढीकृता धनर्द्धिपु द्रव्यसपत्तिपु वुद्धिर्यैस्ते । चूतावनिजम् आम्रवृक्षम् । जिहासव त्यक्तुमिच्छव ॥ १७ ॥ प्रपित्सु पतनाकाक्षि । निचया पुत्रादय । नष्टु [नष्टु] गन्तुम् । असमर्थम् ॥ १८ ॥ कपाया क्रोधादय. सारेन्धना-नि दृढकाष्ठानि तैर्वद्धा रचिता पद्धतिश्चतुर्गतिपट्क्तिर्येन स । उत्तुङ्गतर उच्चैःशिख ॥ १९ ॥ दुरात्मकात् दुष्टस्वभावात् । भवात् ससारात् । अनर्था. निष्प्रयोजना. । उत्खातमूल । स भव । अहेतुका कारणरहिता ॥ २० ॥ सरागता विपयैकतानत्वम् । तद्विपरीतेपु वैराग्येपु भावना निरन्तर चिन्तन यस्य स । वारिदे मेघे । अल समर्थः । अम्वरं गगनम् ॥ २१ ॥ चराचरे जङ्गमस्थावरे । अभोजि भुक्तम् । पराङ्मुख पराचीन । मोक्षसाधनात् रत्नत्रयात् ॥ २२ ॥ दुरन्ता· दुरवसाना । शेमुषी वुद्धिम् । लेश कण । उपरूढि प्ररोहम् । ससारवल्लीम् ॥ २३ ॥ मलिनस्य मलीमसस्य । हिते रत्नत्रये । विजाग्रति सावधाना भवन्ति ॥ २४ ॥ आगन्तुकदु ख नारकादि पर्याया । ससारसौख्यम् । यत् यदा । [6]विपयुक्तस्य मिश्रितस्य ॥ २५ ॥ विवन्धकान् प्रतिरोधकान्[7] । वरीतुमिच्छो विधातुमनस । विवन्धु प्रतिरोधु[8] (द्ध) । पर प्रतिकूल ॥ २६ ॥ वर्ग नाशम् । स्वकर्मणा ज्ञानावरणादीना प्रकृती स्वभावान् । सिद्धिभागिन मुक्तिसाधनोद्यतस्य ॥ २७ ॥ कदर्थिनी पीडाविधायिनी । प्रशान्ति भोगोपरतिम् । क्लेश दु खम् । परम् अन्यत् ॥ २८ ॥ विवेकिन चिदचिद्विभाग कृत्वा आत्मध्यानिन । जन्मन ससाराद् [वि-] पत्तयो नारकादिपर्यायास्तेभ्यो भीलुका । निरापदा सिद्धानाम् । अनीक चक्रम् । ईशते प्रोत्सहन्ते ॥ २९ ॥ निवर्तितात्मा व्यावृत्तचेता । चतुर विवेकी । हित मुक्तिस्तत्कारण च ॥ ३० ॥ गुणप्रभसज्ञकम् । सवृन्द ससङ्घम् । मिथ्याज्ञानान्धकारभानुम् । उद्यान-चरात् वनपालात् ॥ ३१ ॥ निशम्य आकर्ण्य । तस्थुप समासीनस्य । अभ्युदस्थात् उत्तस्थौ । कृती पुण्य-वान् । कृतकृत्य ॥ ३२ ॥ निरित्य निर्गत्य । तद्धाम मुनिस्थानम् । सम सार्द्धम् । समन्वितै तन्मयभाव गतै ॥ ३३ ॥ गतस्य प्राप्तस्य । तस्य मुने । अवलोकयामास । क. परमात्मा समुत् परमानन्दैकस्वभाव-स्तत्र चेतो यस्य स तस्य । विविक्त विजनम् । अत्यन्तम् अतिशयेन । स्त्रीपशुक्लीवादिभिरित्यर्थ । अजन्तुक जन्तुभि क्षुद्रजीवै रहितम् । आश्रम स्थानम् । श्रिया तपोजनितशोभया ॥ ३४ ॥ गृहीतयोग स्वीकृतध्यानम् । आतपे सूर्यप्रतापप्रकाशे स्थितम् उद्भीभूतम् । दिवाकरस्य सूर्यस्याशवो मयूखास्तेषा प्रकर ससूहस्तेनैकलक्ष्यताम-तिशयगम्यताम् । उन्मूलित समुत्पाटितो मोहविद्विड् येन स तम् ॥ ३५ ॥ प्रभावनाया जिनमार्गप्रकाशने । समुद्यतम् उद्यमयुक्तम् । ऐक्षत व्यलोकत ॥ ३६ ॥ उज्ज्वलात्मभि निर्मलस्वभावै । प्रवादिन एव खद्योता ज्योतिरिङ्गणास्तेषा चय समूहम् । पराभव पराजयम् । उद्योतितलोक प्रकाशितभुवनम् । लोक्यन्ते जीवादयोऽर्था यस्मिन् स लोकस्त—जीवादिपदार्थान् प्रकाशयन्तमित्यर्थ ॥३७॥ अतीतानागतवर्तमानाना त्रिकालाना मध्यस्थितम् । अनन्यगोचर प्रत्यक्षविषयम् । परोक्षवस्तु सूक्ष्मान्तरितदूरार्थान् सर्वज्ञज्ञानविषयान्

---

१ व °पेत्य । २ व शाशदो । ३ व ' ' इति चिह्नान्तर्गत पाठो नोपलभ्यते । ४ व यदि । ५. व °णेषु । ६ व विप्र° । ७ व इद पर्यायपद नोपलभ्यते । ८ व इदमपि पर्यायपद नास्ति ।

परोक्षेण मतिश्रुतद्वयेनोपदिशन्त प्रकाशयन्तम्। स्वस्य परमात्मनो मार्गो रत्नत्रयं तस्य माहात्म्यमतिशयस्तस्य-निवेदने कथने उद्यतमुद्यमपरम्। व्यलोकत विलोकयामास। अन्यम् अपरम्। तपोधन तपस्विनम् ॥ ३८ ॥ अनेका बहुप्रकाराश्चेष्टास्तपश्चरणक्रिया येषु ते तैः। पर्युपासित सेवितम्। तपस्विना तपोधनाना वृन्दं सहृत्तिभि। अविनिन्द्यवृत्तिभि निरवद्यानुष्ठानै। प्रणिपत्य नमस्कृत्य। इति वक्ष्यमाण प्रकारेण। प्रचक्रमे प्रारेभे ॥ ३९ ॥ मनस्विभि. विदग्धै.। भवान्तकृत् ससारनाशकारो[1]। आत्मवेदिभि. अध्यात्मनिरतै.। आत्तशुभा. प्राप्तपुण्यातिशया। कृतार्थता कृतकृत्यत्वम्। कृता० विहितजीवादिविलोकने भवति। विचारणा चर्चा ॥ ४० ॥ महामोहो गाढमिथ्यात्व स एव तमःपटोऽन्धकारप्रावरण तेनावृत वेष्टितम्। कुदृष्टय षडनायतनानि तेषा सेवयोपासने विकसद्गाढभ्रान्तिम्। वाङ्मरीचय वचनकिरणा. ॥ ४१ ॥ निराश्रयाणाम् आश्रयरहितनाम्। आलम्बनम् अवष्टम्भ.। स्थिराश्रय दृढतर·। यियासता गन्तुमिच्छताम् ॥ ४२ ॥ स्वभावजं सहजोत्पन्नं। विकसत्। कुन्दपुष्पवच्छुभ्रं। अमेयता प्रमाणरहितताम् ॥ ४३ ॥ दिवसा० सूर्यवत्प्रकाशमान। मार्गस्य सम्यग्दर्शनादे. शुद्धिर्निर्मलत्व, पक्षे मार्गस्य पथ शुद्धि.। इष्टस्थानहेतुरहितम्[2] (?) अलम्भि प्राप्ता। घूकायित घूकमिवाचरिम् ॥ ४४ ॥ विभिन्दत अपाकुर्वत.। हार्दं हृदिभवम्। तमः पापान्धकारम्। भास्वत. सूर्यस्य। वक्त्र मुखं किल पूर्वं बहुभिर्दृष्टमर्चादिना सत्कृत च। यतोऽय भगवान् पूर्वं कैरपि न दृष्टस्ततोऽपूर्वभास्वान् ॥ ४५ ॥ अपायमुक्ताम् अविनश्वराम्। पदवी मुक्तिमार्गं रत्नत्रयम्। परे मिथ्यादृश। प्रापयितु लम्भयितुम्। त्वदाश्रय भवदाश्रयणम् ॥ ४६ ॥ मोक्षलक्ष्मीप्रतिरोधविधायिनाम् ॥ ४७ ॥ सशरीरविनयराशिसमारेकिणाम्। अक्षीणि नेत्राणि ॥ ४८ ॥ मिथ परस्परम्। उदशु प्रस्फुरत्किरणा। द्यौः किल धारितैकचन्द्रा, अहं द्विचन्द्रा। आह्लादकरत्वाच्चन्द्रेणोपमानम् ॥ ४९ ॥ विलोकितोऽशेषाणा सभ्याना मुखेन्दुर्येन स। उपाददे उद्गिरति स्म ॥ ५० ॥ पार्थिवता नृपता। कादम्बर्यादिर्वा (?) यथा मदकारणमित्युक्तिलेश। सा पार्थिवता। अन्यथा मार्दवानुरूपा ॥ ५१ ॥ गतस्पृहाणा त्यक्ताकाक्षाणाम् ॥ ५२ ॥ तुलाव्यतीत असमान। सार्वभौमी सर्वस्या भूमेराधिपत्य यस्या सा ॥ ५३ ॥ परलोकसाधने प्रेत्यभावसस्करणे ॥ ५४ ॥ प्रश्रय० विनयनतमूर्द्धा। यियासत गन्तुमिच्छत ॥ ५५ ॥ इति समाकलय्य विचार्य ॥ ५६ ॥ वर वाञ्छित ददातीति वरद। आत्मना स्वीकृता या दीक्षा तया अस्मान् सस्कुरु। अनुग्रह अनुभाव ॥ ५७ ॥ निवेदिता० प्ररूपित-चित्तस्थवस्तुन ॥ ५८ ॥ सुदुष्कर कर्तुमशक्यम् ॥ ५९ ॥ धर्माय धन यस्य स तस्य, पक्षे धर्मो दशधा धनं यस्य। अनिन्द्य निन्दारहित वृत्त वर्तन यस्य, पक्षे वृत्त चारित्रम्। परार्थं परनिमित्त सपद् यस्य, पक्षे पर उत्कृष्टोऽर्थ प्रयोजन मोक्षोद्यमो यस्य ॥ ६० ॥ साधुषु यतिषु रतो विनीत। अत कारणात्। अनुशाधि प्रतिपालय ॥ ६१ ॥ उदीरिताया जल्पितायाम्। अचलान्तराशय निश्चलान्त करण, पक्षे अङ्गीकृतम् ॥ ६२ ॥ शिर.समभ्यर्च्यं शिरसाधार्यम्। अनुशासनं शिक्षाविशेष। जन्मव्यसनानि ससारदु खानि ॥ ६३ ॥ दुराधय. दुष्टा मानसव्यथा। श्रीजिनचन्द्रप्रतिपालितम् ॥ ६४ ॥ भवमृत्युसतति उत्पादमरणसतानम् (न) ॥ ६५ ॥ विनिश्चित परिज्ञात एकान्तेन सर्वथा तदीयस्तस्य राज्ञो निश्चयो हठप्रतिज्ञा येन स. ॥ ६६ ॥ अग्रहीत् जग्राह ॥ ६७ ॥ अघोरमानस शान्तमना। स्थिरा निश्चला एकेनाद्वितीयेन पर्यङ्केनासनविशेषेण कृता विहिता स्थितिरवस्थान येन स। निस्त्रिंशैं प्राणहरैं ॥ ६८ ॥ विभीषण भयानकम् ॥ ६९ ॥ तपे ऊष्मागमे। अभिसूर्यप्रतिम सूर्यबिम्बसन्मुखम् ॥ ७० ॥ भावनासु अनुप्रेक्षासु। ध्रुवं निश्चलम्। क्षुण्णमद. निरहकार· ॥ ७१ ॥ विविध बहुप्रकारम्। परिणता एकीभावेन जाता उज्ज्वला निर्मला निरतिचारा धर्म (में) सत्क्षमादौ लेश्या यस्य स ॥ ७२ ॥ द्वाविंशतिसागरप्रमाणायु ॥ ७३ ॥ विगलितायु सम्यगनुभूत-बद्धायु। जनमनोज्ञ सर्वजनतासुन्दर। बोध्यम् (?) ॥ ७४ ॥ तूष्णीमभूत् मौनवान् जात। बद्धा (द्धो) अञ्जलिर्येन स। यतिवृष मुनिप्रधानम् ॥ ७५ ॥ तत्प्रत्यय तेषा जन्मान्तराणा प्रत्यय विश्वासजनक ज्ञानम्। सशयाना सशय प्राप्तवती ॥ ७६ ॥ निशम्य आकर्णयित्वा। सदेहपङ्क सशयकर्दमम्। अपहस्तितु निराकर्तुम्। मदान्धमतिः मदप्रच्छादितविवेक. ॥ ७७ ॥ तत्प्रत्ययात् स चासौ प्रत्ययश्च तस्मात्। अन्यत् परोक्षम्।

---

१. ज °करी। २. ज °नहेतुताम्। ३. ब °याणकम्।

यन्मतिमता सवादक प्रतीतिजनकं तत्प्रमाणम् ॥ ७८ ॥ प्रह्लादिना आनन्दजनकेन ॥ ७९ ॥ आकस्मिकोद्‌गता अकारणोत्पन्ना चासौ बृहती गरिष्ठा परचक्रशङ्का च तस्यास्थ्यस्यन्तश्च ते जनाश्च तैश्क किमिदमितिध्वनिस्तेन पूर्यमाणो वर्द्धमान ॥ ८० ॥ ववस्वो वाग्मी ॥ ८१ ॥ क्षरत्करटभित्ति उद्भिन्नकपोल. । ऐरावतपराक्रम । आरटन्तम् आक्रन्दन्तम् ॥ ८२ ॥ प्रकट तद्‌दृष्टिपथप्राप्त । सहारकाल प्रलय. ॥ ८३ ॥ करटिन गजस्य ॥ ८४ ॥ बाहुबलद्वितीय भुजबलेन दृढ, अथवा मूलबलम् ॥ ८५ ॥ परिकर तनुत्राणनितम्बपरिधानादिकम् । आजुहुवे आह्वानयति स्म डुढोके वा ॥ ८६ ॥ आयत अभिगच्छत । हस्तिनीमूत्रवासितम् ॥ ८७ ॥ तलेन उदराधोभागेन । निर्गतवान् ॥ ८८ ॥ परिधि' प्राकार । सौधतल राजसदनवेदिका ॥ ८९ ॥ निस्पन्द निश्चलम् । विधृतसृणिः गृहीताङ्कुश ॥ ९० ॥ अनुपमबलवीर्यै असदृशपराक्रमप्रभावै । लीलया हेलया ॥ ९१ ॥ केलि क्रीडाम् । निवास चक्रे । अवितथ सत्यम् । महेन उत्सवेन । उद्‌गीर्यमान (ण) प्रघुष्यमाणम् ॥९२॥

इति चन्द्रप्रभकाव्यपञ्जिकायामेकादश. सर्ग. ॥११॥

द्वादशः सर्गः

जीयाच्छ्रुतमुनिनामा मुनिप सच्छास्त्ररत्ननिकरस्य ।
शिष्यानुरोधबुद्ध्या प्रकाशको योऽत्र सद्‌दृष्टि. ॥

शासनात् अनुरोधात् । निजभर्तु पृथ्वीपालराज्ञ (जस्य) । इलाधिपतिं त पद्मनाभम् । कुशाग्रधी जाग्रत्प्रतिभ. । वचोहर सदेशधारी दूत ॥ १ ॥ कठिनात् कठोरान्, पक्षे स्तब्धान् । महीभृतः पर्वतान् राज्ञश्च । मित्रबान्धवै बन्धूकपुष्पविशेषै । सार्द्धम् । रिपव क्षुद्रा । महापदाश्रिता पर्वतादिगुहास्थिता' कृता., पक्षे रिपव शत्रवो मित्रबान्धवै सार्द्धं महतीं गरिष्ठामापदमाश्रिता' कृता ॥ २ ॥ प्रभुशक्ति. इन्द्रस्येव माहात्म्यसपत् । शक्तयस्तिस्र प्रभावोत्साहमन्त्रजा. ॥ ३ ॥ द्वितयेन द्विधावृत्त्या । मानद म (मा) न पूज्यत्व ददाति यच्छति द्यति खण्डयतीति वा मानद । तद्विपरीतवृत्तिषु अप्रणतेषु ॥ ४ ॥ सक्रामित० नियोजितवचनावलि । इति वक्ष्यमाणम् । अक्षतस्नेहम् । दूता वचोहरा मुखं येषा ते दूतमुखा' । 'गन्धेन गाव' पश्यन्ति ब्राह्मणा वेदचक्षुषा । चारै पश्यन्ति राजानश्चक्षुर्भ्यामितरे जनाः ॥ इति वचनात् ॥ ५ ॥' ते सौजन्यादयो गुणा । 'क्व सरसि वनखण्ड पङ्कजाना क्व सूर्य. क्वच कुमुदवनाना कौमुदीबन्धुरिन्दु । अतिपरिचयबद्धा प्रायश सज्जनाना नहि विचलति मैत्री दूरतोऽपि स्थितानाम् ॥' इति न्याय: ॥ ६ ॥ विनयैकवृत्तिता विशिष्टो नयो विनय प्रश्रयविशेष', तत्र एकवृत्तिता एकतानत्वम् । सुमनोभि प्रसूनैरिव ॥ ७ ॥ लज्जया द्रवता द्रवरूपता गच्छता ॥ ८ ॥ निजनेतुः स्वहस्तिपकस्य ॥ ९ ॥ पुरातन पूर्वजैरनुष्ठितम् । क्रम परिपाटीम् ॥ १० ॥ करिणा हस्तिना ॥ ११ ॥ स्वयमेव । भवानेव । आत्मवान् वशीकृतेन्द्रिय ॥ १२ ॥ जात्यन्ध स्वभावान्ध. । धिया अन्त करणेन ॥ १३ ॥ मदादय.—'काम क्रोधश्च हर्षश्च लोभो मानस्तथा मद । षडमी रिपव प्रोक्ता शरीरस्था हि देहिनाम् ॥' । शास्ति अनुकूलतया विदधाति ॥ १४ ॥ परिभूतिभयात् पराभवसाध्वसात् । अपास्य परित्यज्य । अपसरन्ति अपगच्छन्ति ॥ १५ ॥ शठता मदान्धता । अवधीरिता अवगणिता । दु सह अवधीरयितुमशक्य ॥ १६ ॥ धृत अवरुद्ध' । सत्वरै' सवेगै । चरै गूढपुरुषै ॥ १७ ॥ आत्मसात्कृत स्वीकृतः । मत्त सकाशात् । अपेक्षारहितेन निर्भयेन ॥ १८ ॥ अज्ञजन नीतेरनभिज्ञ ॥ १९ ॥ अपय प्रयच्छ । मतङ्गज सामजम् ॥ २० ॥ प्रसादित प्रसन्नता नीत ॥ २१ ॥ जिगीषुवां जेतुमिच्छुताम् । प्रणश्यति विनश्यति ॥ २२ ॥ अतिलङ्घनम् अतिक्रम ।

१. पर° ।

वाक्येन वचनप्रतीत्या । पयोऽपि जलमपि । गोरस· क्षीरम् ।। २३ ।। अकैतवताम् [अकैतवाम्] अवितथाम् । प्रिया इष्टा प्रिया भार्या यस्य स ।। २४ ।। आक्षिपन् आक्षेपविषया कुर्वन् । कटाक्षितः अक्ष्णा भाषित । उदाहरत् बभाषे ।। २५ ।। विनयप्रशमौ एक भूषण यस्य––वचस· तत्, पक्षे विगतं नयप्रशमैकभूषणं यस्य तत् । परमश्चासौ न्यायश्च तस्य समर्थने पुष्टिदाने उद्यतमुत्कटं, पक्षे पर केवलमन्यायस्य अनीते समर्थनोद्यतम् । उपक्रमेत प्रारभेत ।। २६ ।। परा उत्कटा चासौ मेधा च उद्यमश्च योग्यता च तया सहितै, पक्षे पर केवलम् एधासि काष्ठानि तेषा निक्षेपणे उद्यमयोग्यता (तया) सहितै· । स्तवभूति स्तुतिसपत्, पक्षे तव भवत प्रभोर्मन्दिरे भूतिर्भस्म ।। २७ ।। विशिष्टनयेषु एका रतिर्यस्य स., पक्षे विनष्टा नयैकरतिर्यस्य (स.) । महान् गुणो यस्य, पक्षे महानगुणो यस्य सः । उचितम् इति काकुवचन, पक्षे योग्यमेव ।। २८ ।। अक्षमा तितिक्षा ।। २९ ।। निजं स्वभुजपराक्रमसाधितमात्मीयम् । अक्रमः अयोग्यता ।। ३० ।। क्रमसंप्रकाशनैः अनुक्रमोद्योतनै ।। ३१ ।। कृतपुण्य प्राक्पुण्यपुष्टम् । अपास्यते हठाद् गृह्यते ।। ३२ ।। "अथवा[1] श्लोक्तिप्राधान्यात् इति चेत् भयदर्शिवच किमभिधत्से वदसि अभिधत्ते भवानिति वा पाठ ।। ३३ ।। अभियोक्तुं योद्धुं सन्मुखीकर्तुम् ।। ३४ ।। अधिकक्रमता अत्युल्लङ्घनता । लिलङ्घिषो लङ्घितुमिच्छो. ।। ३५ ।। प्रविधित्सु· कर्तुमिच्छु. । अतिक्रमम् उल्लङ्घनम् ।। ३६ ।। विबोधना विनिद्रताम् ।। ३७ ।। अभियुज्य अभिकण्डूय । अभियुक्तः कटाक्षित । सप्रधुक्षित प्रेरित· ।। ३८ ।। क्षयवान् प्रक्षीणबल । व्यसनी विरोधापद्गत । दैवविवर्जितः शत्रुजये भाग्यरहित ।। ३९ ।। क्षुद्रजने स्वभावतो दुर्जने ।। ४० ।। साख्या सखया गृहीतु शक्या पु [पू] रुपा सामन्ता नरा यस्य स तम् ।। ४१ ।। न्यगदीत् जगाद ।। ४२ ।। अविधेयविधि अप्राञ्जलदैव ।। ४३ ।। निमित्त शकुनादि ।। ४४ ।। निजविक्रम. स्वगृहमान्यपराक्रम ।। ४५ ।। उदेतुं सन्मुखं गन्तुम् । शरभस्य अष्टापदस्य ।। ४६ ।। अधमेन स्वतो न्यूनेन ।। ४७ ।। परिवारित वेष्टित । हतबुद्धिः मतिभ्रष्ट ।। ४८ ।। स्तब्धवतः कठिनस्य । यथा––'स्तब्धमुत्खनति किं न दूरत· पादपं तटरुह नदीरय· । वेतस प्रणमनाद् विवर्तते चाटुरेव कुरुते हि जीवितम् ।।' ।। ४९ ।। बहुसत्त्वयुतौ प्रचुरप्राणियुक्तौ । स्थिराशयौ स्थिरस्य तोयस्य भाजनभूतौ ।। ५० ।। प्रियवादपरेषु इष्टवाक्यवादिषु । कुभटेषु अष्टरणेषु (?) ।। ५१ ।। प्रधने सग्रामे ।। ५२ ।। अभीप्सित हृद्यम् ।। ५३ ।। मुक्तमत्सर त्यक्ताभिमान ।। ५४ ।। असौ पद्मनाभ । अनुवादिन. जल्पितजल्पिन· ।। ५५ ।। उदतिष्ठत् उत्तस्थौ । प्रविसर्जिता अखिलसभ्या येन स ।। ५६ ।। सम युगपत् ।। ५७ ।। अवभासयते प्रकाशयते ।। ५८ ।। कौशलै. चातुर्यप्रयोगै· ।। ५९ ।। अभिजाग्रति सावधाना भवन्ति ।। ६० ।। मदमूढान् मदेन हिताहितापरिज्ञानिन ।। ६१ ।। पुरस्कृतः संस्कृत ।। ६२ ।। आहितश्रुतिभि दत्तश्रवणै । शठेन पिशुनेन ।। ६३ ।। परुषं कठोरम् । उपव्रजत् अनुगच्छत् ।। ६४ ।। उदयन् उद्गच्छन्, उत्पद्यमान एवेत्यर्थ ।। ६५ ।। प्रकृष्यते परिवर्द्धते । आसर्वविदः सर्वज्ञपर्यन्तम् ।। ६६ ।। पुरुभूतिर्नाम मन्त्री । पुरुभूति गरिष्ठसंपत् ।। ६७ ।। ऋद्धे सपत्ते. ।। ६८ ।। लिप्तधीः गर्वितमति. । परिजिह्रेति लज्जति (ते) ।। ६९ ।। अलक्षवेदिन अमर्मज्ञस्य ।। ७० ।। अनुशिष्य अनुजल्प्य ।। ७१ ।। जिगीषुणा जेतुमिच्छुना ।। ७२ ।। शबरेण भिल्लेन । हरि सिंह ।।७३ ।। नीतिवर्तिना नयमार्गस्थितानाम् ।। ७४ ।। विघटेत विनश्येत ।। ७५ ।। उल्मुख प्रज्वलितमङ्गारम् । कृच्छ्रं कष्टम् ।। ७६ ।। प्रथम मुख्य ।। ७७ ।। प्रत्युत विपरीतम् ।। ७८ ।। साम शान्तिनामा नय । 'सामदाने भेददण्डावित्युपायचतुष्टयम् ।' ।। ७९ ।। प्रभुदोषशत गरिष्ठदोषगणम् । पयोमुच मेघा ।। ८० ।। उपप्रदानत सप्रदानात् । भेदत· भेदनयात् ।। ८१ ।। सासूय सेर्ष्यम् ।। ८२ ।। पशु· अनड्वान् ।। ८३ ।। अनिरूपितकृत्यया असदर्शितकार्यया ।। ८४ ।। खर. कठोर । अविभाव्या असभावनीया प्रकृति स्वभावो यस्य ।। ८५ ।। क्रमते सचरते । ग्रावणि शैले ।। ८६ ।। उशन्ति जल्पन्ति । नासादवरकरहित ।। ८७ ।। तपनीयवत् स्वर्णवत् ।। ८८ ।। विप्रकृष्यते दूरतयौरायते (?) ।। ८९ ।। पादसगम, गभस्तिससर्गम् । अतिग्म० चन्द्रस्य ।। ९० ।। कृपणस्य कदर्यस्य–परमुखावलोकिन. ।। ९१ ।। असारता रिक्तताम् । निनदन् सप्रगर्जन् ।। ९२ ।। परिभूतिजीवित अपमानप्राणधारक ।। ९३ ।।

---

१. ज अथ अथवा ।

मृगराजसेविता अभिमानरूपिणी ॥ ९४ ॥ अवगात् अवजानातिस्म । च्युतनीति नीतिरहितम् ॥ ९५ ॥ क्षीणबल क्षयगतकटक, इति बलव्यपेक्षा । सुहृद्व्यसन विरुद्धं यस्येति कालव्यपेक्षा ॥ ९६ ॥ अभियातुम् अभियोद्धुम् । प्रभवेत् जयवान् स्यात् ॥ ९७ ॥ भवभूतिर्नाम मन्त्री ॥ ९८ ॥ प्रतिशब्द भाषितभाषि (ष) णम् ॥ ९९ ॥ असमुज्झितान्वया वशानुरूपाम् । बृहस्पति सुरगुरु ॥ १०० ॥ गहने दुष्प्रवेश्ये ॥ १०१ ॥ रभसा करण वेगेन विधानम् । कर्मणा कार्यव्यापाराणाम् ॥ १०२ ॥ विभेदक भेदजनकम् ॥ १०३ ॥ युवराणमत दण्डोऽस्तु । समय शास्त्रवाक्यम् । षण्णा गुणाना भाव. षाड्गुण्यम् । 'सन्धिविग्रहयानासनद्वैधाश्रयाः षड्गुणा ।' ॥ १०४ ॥ रिपो शत्रोः सर्वस्व रहस्यम् ॥ १०५ ॥ कृतकग्रथितै कपटरचितैः । समवाये भवा. सामवायिका -सभ्या ॥१०६॥ भीमरथस्य नाम्नो मित्रस्य । रहसा वेगेन ॥ १०७ ॥ व्यसवे द्वन्द्वे ॥ १०८ ॥ घनात्यये शरदि ॥ १०९ ॥ समर संग्रामम् । प्रहीयता प्रेष्यताम् । द्वयाश्रितै. उभयनयाश्रितैः ॥ ११० ॥ अनलसमति सोद्यमबुद्धि. ॥ १११ ॥

इति चन्द्रप्रभकाव्यपञ्जिकाया द्वादश. सर्ग. ॥ १२ ॥

त्रयोदशः सर्गः

श्रुतादिमुनिपात् के के न ययु शास्त्रवारिधे ।
यत पार स व पायाद् विपश्चित्सज्जनादय. ॥

निरगमत् निर्जगाम । जिगीषया जेतुमिच्छया । प्रशमितमपसारितं प्रकृतीनामष्टादशप्रजाना व्यसनं परेणोपद्रवजनन येन । जिगु(गी) षुणा किल स्वदेशय त्यक्त्वा परदेशे तत्सन्धौ वा योद्धु गन्तव्यमिति ॥१॥ आतपवारण छत्रम् ॥ २ ॥ जलदवीथि० नभो विशाल विपुलम् । उत्पन्नचन्द्रारेकैं ॥ ३ ॥ प्रसृतया विस्तृतया । वारिजरागमणि पद्मरागमणि ॥ ४ ॥ परस्परमन्योन्य व्यतिकरेणानुप्रवेशेनोल्लसितोद्गतामलरोचिषो निर्मलदीप्तयो यस्य स ॥ ५ ॥ परिभवति तिरस्कुरुते । माण्डलिकान् राज्ञो मण्डलाकारोपेतांश्च । अङ्गदे वलये ॥ ६ ॥ शिखिगलाकृतिना मयूरकण्ठनीलाकारेण । रशनाश्मना कटिमेखलानीलरत्नानाम् ॥ ७ ॥ गुरूणा मन्त्रिणा मते पर्यालोचनेऽभिरतममल निर्व्यसन मानस स्वान्त यस्य० गुरुर्बृहस्पते(ति)श्च ॥ ८ ॥ तुरङ्गमैं शीघ्रगामिघोटकैः ॥ ९ ॥ तुरगिभिरश्ववारैर्यत्नेन प्रयासेन निरुद्धो महावेगो येषा ते तैं । हरिभि घोटकैं ॥ १० ॥ निजौजसा स्वरहसा । अनिल· वायु ॥ ११ ॥ निरवधिप्रसृतैं अमर्याद विस्तृतैं । बलं कटकं । बृंहिते वृद्धि गते ॥ १२ ॥ प्रवितन्वते विस्तारयन्ति । विकसद्रत्नकम्बलं ॥ १३ ॥ डिण्डिम जयध्वनिवादित्रम् । ध्वनित स्वनितम् । विवर्तिता व्यापरिता ॥ १४ ॥ हे गजा ! व युष्मान् (क) बलदन्तिना शिबिरगजानाम् । मधुलिङ्गणा भ्रमरकुलानि ॥ १५ ॥ जगृह्रिरे परिमुञ्चिरे । धातूनामनेकार्थं ॥ १६ ॥ प्रजविभि वेगिभि । विषमीकृते स्थपुटीकृते । रथकडयया रथव्रजेन ॥ १७ ॥ अपरस्य मण्डलिन. । चीवरैं वस्त्रखण्डे । अन्तरित गूढम् ॥ १८ ॥ विवप्मुभिर्वातुम् (वप्तुम्) इच्छुभि । मधुव्रताना कुल भ्रमरसमूहस्तेनाकुल (ल) व्यग्र (ग्र) कपोल (लः) येषा ते, तै. ॥ १९ ॥ बलभरेण शिबिरप्राग्भारेण । मण्डलानि चक्राणि ॥ २० ॥ भटगणा सामन्तनिकरा ॥ २१ ॥ परिहित परिधानीकृतमायसकञ्चुक लोहसन्नाहस्तेन मेचक श्यामलम् । पदातिकदम्बक पत्तिसमूह । तिमिरशत्रु सूर्य । तामस ध्वान्तम् ॥ २२ ॥ वंशो वेणु, अन्वयश्च । मुष्टिगता हस्ततलस्थिता, मौनस्थिता च । गुण मौर्वी, कुलवधूगुणा -'अभ्युत्थानमुपागते गृहपतौ सभाषणे नम्रता,, तत्पादार्पितदृष्टिरासनविधौ स्मेरा सपत्नीष्वपि । [सुप्ते तत्र शयीत तत्प्रथमतो जह्याच्च शय्यामिति प्राच्यैं पुत्रि: निवेदितः कुलवधूसिद्धान्तधर्मागम. ॥]' ॥ २३ ॥ अवरोधपुरन्ध्र्य अन्त पुरसुचरित्रा । अ (आ) चिररोचिषौं विद्युल्लतोद्भवाम् ॥ २४ ॥ पुटभेदनं पत्तनम् । निरतैः निश्चित सावधानैं ॥ २५ ॥ परिचिते अवलोकिते । रमणीय सुन्दरम् । अपोहति उज्झति ॥ २६ ॥ अवरोधिका

विलासिनी । गलदम्बरं प्रस्खलद्वस्त्रम् ॥ २७ ॥ मय करभ ॥ २८ ॥ वृषैः वलीवर्दैं ॥ २९ ॥ वल्लव० गोपालकामिन्या ॥ ३० ॥ वैवधिकै. भारवाहिभि ॥ ३१ ॥ पोत प्रवहणम् ॥ ३२ ॥ सरभसै सवेगै । प्रतिपालयताम् अन्वेषयताम् ॥ ३३ ॥ तुङ्गतरङ्गा , उच्चैरश्वा । आह्वयता आकारयि (य)ता । प्रतिनि स्वनै प्रतिशब्दै ॥ ३४ ॥ एधितया समृद्धया ॥ ३६ ॥ शिरोधरा कन्धरा । व्यधित अकृत (त) ॥ ३७ ॥ मधु-पायिना भ्रमराणाम् । वसुमतीदयित राजानम् ॥ ३८ ॥ शारदयात्रया शरत्कालगमनेन ॥ ३९ ॥ हृदयहृतो (?) वयासि पक्षिणो यासु ता., पक्षे वयः प्रथमयौवनम् । अम्बर गगन, वस्त्र च । पयोधरा मेघा स्तनाश्च ॥४०॥ गोष्ठमहत्तरै गोपालप्रभुभि उपहितानि आनीतानि ॥ ४१ ॥ असहाम् असमर्थाम् । शुकाना कीराणाम् ॥ ४२ ॥ बृहन्त (न्तः) स्थूलाश्च ते (ता) अलाबुकास्तुम्बकाश्च बृहदलाबुकास्तेषा (तासा) गौरवेण भारेण वामना मनिम्नाम् (निम्नाम्) । वृत्ति वाडिम् ॥ ४३ ॥ समीहिताम् अभिलषिताम् । सज्जनगोचरा । सज्जना किल फलसपद प्राप्य नम्रा भवन्ति ॥ ४४ ॥ अवजानतीम् आदरमकुर्वाणाम् । कैतव छद्म ॥ ४५ ॥ शशिकराङ्कुरवत् निर्गमवत् (?) निर्मला गावो भूमयो गोमण्डलानि वा येषु ते तान्, पक्षे गावो वावो येषा बुधाना ते । सीमा बहिर्भूमिविशेष , मर्यादा गाम्भीर्यं च ॥ ४६ ॥ कोक चक्रवाकम् ॥ ४७ ॥ मथिध्वनि मन्था (न्य) न शब्द । भुजङ्गद्विषा मयूराणाम् ॥ ४८ ॥ कुरङ्गकुल मृगयूथम् ॥ ४९ ॥ 'राजहंसास्तु ते चञ्चुचरणैर्लोहितै सिता ।' ॥ ५० ॥ गौः दृष्टि ॥ ५१ ॥ अवहितश्रुति सावधान यथा भवति तथा ॥ ५२ ॥ कुथवाहिनीं 'कुथ स्यात्करिकम्बलः' वाहिनीं नदीम् ॥ ५३ ॥ घनाघना. मेघा. ॥ ५४ ॥ समवगाढवता मज्जताम् । कटतटात् कपोलमूलात् ॥ ५५ ॥ पतता पक्षिणाम् ॥ ५६ ॥ सततायनो वायुस्तस्य वर्त्म गगनम् । प्रतिमया प्रतिच्छायया ॥ ५७ ॥ अम्बुधराणा मेघानामध्वनि मार्गे विहायसि ॥ ५८ ॥ अशुमदशुपु प्रच्छादितसूर्यकरासु । नभ सदा खेचराणाम् ॥ ५९ ॥ उपरञ्जितवारिभि सस्कृतजलै ॥ ६० ॥ वारणाना गजानाम् ॥ ६१ ॥ अम्बुवाहवीथीम् अन्तरिक्षम् ॥ ६२ ॥

इति चन्द्रप्रभकाव्यपञ्जिकाया त्रयोदश सर्ग ॥ १३ ॥

चतुर्दशः सर्गः

श्रुतादिमुनिपस्यास्य किं वर्ण्यन्ते वचोंऽशव. ।
बहुशोऽस्तानि भव्यानामज्ञानतिमिराणि यै. ॥

मणिकूट नाम पर्वतम् । उच्चैर्दृषद स्थूलोपलम् । तडित्वता विद्युत्सहितानाम् ॥ १ ॥ कटैः [कटकैं] नितम्बैः । अद्वितीयाम् अनन्यसभाविनीम् । चूडामणि शिरोरत्नम् ॥२॥ किङ्किणीना क्षुद्रघण्टिकानाम् ॥ ३ ॥ तपान्त. मेघकाल. तस्य लक्ष्मो शोभा ॥ ४ ॥ गगनेचराणा नभ सदाम् ॥ ५ ॥ सवितु सूर्यस्य ॥ ६ ॥ प्रभावत तपसा दीप्यमानस्य । प्रभावत माहात्म्यात् । नर. पुमान् । गत प्राप्त । रोगत व्याधेः ॥ ७ ॥ नितम्ब कटक । खचरा विद्याधरा. ॥ ८ ॥ इन्दुमणि० चन्द्रकान्तमणिप्रणालात् । अ [भि] नवोद्भिदा ॥ ९ ॥ अनाश० नि शङ्कमतय । कान्तै भर्तृभि. । कान्ता कामिन्य ॥ १० ॥ घना निविडा अयमाने नीयमाने । घनागमाने मेघकल्पे । कमनीयभाव सुन्दरत्वम् । देहविभा कायकान्ति । सुराणा देवानाम् । विभासुराणा देदीप्यमानानाम् । अचिराशुदेश्या विद्युत्तुल्या ॥ ११ ॥ पतङ्गोपल सूर्यकान्तपाषाण । अपार-यन्त्य अशक्नुवन्त्य. । द्विषन्ति निदन्ति । तुरङ्गवक्त्रा किन्नर्य ॥ १२ ॥ ग्रावतले पाषाणोपरि । जडीकृत शीतो विहत । तपेऽपि ग्रीष्मेऽपि । पतङ्ग सूर्य ॥ १३ ॥ श्रमापोह श्रमापनयनम् । प्रत्युपकर्तुकामै प्रत्युप-करणाभिलाषिभि ॥ १४ ॥ कान्तै मनोहरै. । विचित्रा. बहुविधा । प्ररूढै प्ररोहता गतै । शाखिभि वृक्षैः । तिरोहित प्रच्छादित इनो रवि येन स ॥ १५ ॥ मधु पुष्परस । समुन्नयन्त उत्पादयन्त । भृङ्गा भ्रमराः ॥ १६ ॥ घनध्वान० मेघननादसदृशम् । यत्सानुगतं यच्छिखरस्थितम् । वितृष्णं विमनस्कम् ॥१७॥ ध्येयहिमे

चिन्त्यशीते । अब्यन्त्रिषु जलयन्त्रयुक्तेषु । सिद्धा देवविशेषा ॥ १८ ॥ निस्तमसौ निरस्तान्धकारौ । समुत्क सहर्ष । समुत्क उत्कण्ठ (सुतरामुत्कण्ठित.) । चमून्या सेनापतिना । जगतो लोकस्य एकोऽद्वितीय पालो रक्षक । जगदे बभाषे । कपाली ईश्वर ॥ १९ ॥ निषेव्यविवर ससेव्यकन्दर । वर श्रेष्ठ । निर्झर जलप्रवाह । सहदन्तिभिर्गजैश्चमरै सुरभिभिश्च य । अमरै देवैरुपहित उपरुद्धो माधवीना लतानां मण्डपो यत्र स । विकासीनि विकस्वराणि कमलानि पङ्कजानि यत्र । अमलोपलाना निर्मलपाषाणाना विचित्राभिर्भाभिर्भासुर. । नग. पर्वत. । ईक्षित अवलोकित. ॥२०॥ पाण्डुर. विशदः । सैकता सिकतामयीं । रजसा परागेण । एकता मिश्रताम् । सरसा सजलाम् । अलकृतदिशा विभूषितककुभाम् । सरसा सरोवरणाम् ॥ २१ ॥ सानुभाज. प्रस्थस्थितस्य । सप्रसर्पन् अभिगच्छन् ॥ २२ ॥ महीरुहा वृक्षा । विरहिता उज्झिता । सुरजने. देवलोके । विकला. रहिता । अम्बुरुहे कमले ॥ २३ ॥ कन्दरागोचरै दरीषु स्थितै । सुगन्ध-(न्धि-) निर्मलवस्त्रै । अवसितसुरतै. सेवितकामै । मारुत वायु ॥ २४ ॥ निकुरम्ब कदम्बकम् । स्थलपुण्डरीकखण्डै स्थलकमलवनै । विकासशालिभि प्रकाशशोभमानै । द्यौ . गगनम् । उचितानि योग्यानि रुचितानि वा कान्तिमन्तीनि अनेकानि प्रचुराणि सलाञ्छनेन्दुबिम्बानि यस्याम् ॥ २५ ॥ रतिषु मैथुनेषु ॥ २६ ॥ गत्यन्तरव्यपगमात् उपायान्तराभावात् । पिदधत् आच्छादयत् । अधोवस्त्रापहारिणाम् । अधिगुह गुहासु मध्ये ॥ २७ ॥ विम्बिता पुष्पगुच्छै पुष्पस्तवकैर्निचिता सभृता व्रततयो वल्लर्यो यासु, विद्युल्लतानुसरणसमर्थकान्तिषु । काञ्चन० सुवर्णतटीषु । धिषणा भ्रान्तिमतिम् । नीलदलोपहारविषया नीलोत्पलविस्तारगोचराम् ॥ २८ ॥ मेचक [असित] रत्नानि श्यामरत्नानि । परित इतस्तत । मेचकितत्विष श्यामलितकान्तय । शरद्घना शरन्मेघा ॥ २९ ॥ मानोन्मादस्य व्यपनयेऽपसारणे चतुरा प्रौढा । घटितयुवतय योजिताङ्गना ॥ ३० ॥ गर्जितनितम्बभूतलम् । तारम् उच्चै । अन्ते समीपे । प्रियाणा भर्तृणाम् । आदृतै आदरयुक्तै. । हेममही सुवर्णभूमि । नभोगै गगनचारिभि । अहीनभोगै अधिकसुखिभि ॥ ३१ ॥ यातु [यात] गच्छमानस्य । प्रविष्ट विम्बितम् । रत्नभूमौ । वन्य वने भवो वन्य । पोत अर्भक । लौल्येन अतिगृद्धया ॥ ३२ ॥ मुनिघन मुनिभिर्यतिभिर्घनो निविड । अघाना पापाना नोदने स्फेटने सह. समर्थ. । हस्तिचमरै सहित । अमरोचिततट देवयोग्यनितम्ब -मेरुसंनिभ । अम्बरसदा घुसदाम् । अञ्चिता पुष्टिं गता विभा दीप्तिर्यस्य ॥ ३३ ॥ नीलोपला श्यामदृषद । सान्द्रीकृत घनीकृतम् । क्रीडा० रमणप्रच्छादितगात्रा । तासा युवतीना श्वासो मुखवायु तस्य सगेन सुरभि सुगन्ध (न्धि) । विवृणोति विस्पष्टयति ॥ ३४ ॥ कुसुमितवानीराली पुष्पितवानीराणा वेतसविशेषाणामालीस्तती । 'शीतवानीरवञ्जुला' इत्यमरः । आलीनाली उपविष्टभ्रमरा । वायुवेगचलितप्रान्ता । तान्ता दूना । घर्मे आतपे. । अविरतमूलपाती. अनवरततटोद्धर्पक । प्रसृत विस्तृत । नद्या नीरौघो जलसमूह ॥ ३५ ॥ घातो (ति) ना चतुर्णां कर्मणा निर्मथनेन नाशकरणेन लब्ध प्राप्त केवलं ज्ञानातिशयो यैस्ते । परिनिर्विवासव मोक्तुमिच्छव । समबलत्व समानत्वम् ॥ ३६ ॥ शिखरे स्थिताना मणिशिलानाम् । शाखिना वृक्षाणा शाखानामन्तरालैर्मध्ये । प्रसृता व्यापृता रविकरा येषु । उल्लसन् प्रकाशमानो यो रोचिषा दीप्तीनामोघ समूह । तडित विद्युत । अनुकृतिम् अनुकरण करोति तडि० । शङ्कित आरेकितोऽम्भोदकालो जलदसमयो यैस्ते । मदयितुम् उत्कोचयितुम् (?) । अल समर्थ । नीलकण्ठान् मयूरान् ॥ ३७ ॥ तटरुहा तटस्था । अतिमहतीषु प्रोच्चासु । कुसुमस्तबक. पुष्पगुच्छ ॥ ३८ ॥ निकरै समूहै । रुचा दीप्तीनाम् । तिमिरसघातस्य नाशकरै । अमितै प्रचुरै । वियत् गगनम् । अपारम् अमर्यादम् । इतै प्राप्तै । विहितै मूर्च्छितै । स्फुरन्मणिरुचौ स्फुरता [मणीना] रुचयो दीप्तयो यत्र । इह पर्वते । रजनिषु रात्रिषु । ग्रहपते चन्द्रस्य यथा ॥ ३९ ॥ निष्क्रान्तै नि सृतै । शिखरचयात् कूटसमूहात् । निरन्तरालै सान्द्रै । आलीढा आलिङ्गिता । सरसिजरागा पद्मरागमणयस्तेषा किरणसमूहैः । श्रीमत्ता दीप्यमानत्व लक्ष्मीमत्त्व वा । दधति धारयन्ति । नीरक्तं निश्चितमरुणं । वसनैः वस्त्रै । परिष्कृताङ्गा. भूषितावयवा ॥ ४० ॥ एकवर्णम् एकादृशम् (?) । अप्रतिवार्यवीर्यः अनिवार्यपराक्रम । उदीर्ण० उद्गतमणिदीप्ती ॥ ४१ ॥ राजी वीथी । उदितश्रमेण उत्पन्नखेदेन । पृतनाया सेनाया विनिवेशस्य अवस्थिते स्थानम् ॥ ४२ ॥ उपाहितभूरिशोभा स्वीकृतप्रचुरकान्ती. । प्रियाणा कमनीय-

कामिनीनाम् । शिशिरेतररश्मि सूर्य ॥ ४३ ॥ द्रोघीयसी' दीर्घतरा' । अविरल सान्द्रम् । पटमयापणाना हट्टाना राजिभि श्रेणिभिस्तता' (श्रेणिभि शोभिताम्ता) । परस्परव्यतिकरोपेता. । वीथीः आपणपङ्क्ती. ॥ ४४ ॥ अक्षुभ्यत् चुक्षोभ ॥ ४५ ॥ राजाविराजवसते पद्मनाभमहीशनिवासस्य । मन्दुराया वाजिशालाया' । पण्याङ्गनापरिषदः वेश्यासमायाः । विपणि' पण्यवीथिका । पर्याकलय्य विचार्य ॥ ४६ ॥ परिचितान् पूर्वमनुभूतान् । अनुपालयन्त उपासयन्त. । वास्तव्यवत् स्वनिवासे यथा ॥ ४७ ॥ उरुपरिश्रमेण खिन्ने खेद प्राप्ते अङ्के यस्य । पर्यूहितुं वितर्कितुम् । स्ववर्गे भव स्ववर्ग्य' तस्य व्याहारे[1] उक्ते नादे शब्दे दत्तकर्ण ॥ ४८ ॥ तत्कालीनपाकेन विस्तृतम् । इङ्गुरिकादिपरिमलम् । अजायत ज्ञानम् ॥ ४९ ॥ शिथिल मन्द मन्द यथा भवति । अच्छाच्छम् अत्यन्तनिर्मलम् । श्रमव्यये अपनोदे चतुरः ॥ ५० ॥ उत्तीर्ण अपसारित पल्ययनस्य भूरिभारो येषा ते । भुवि वेल्लनाय लोठ (लुण्ठ) नाय । 'आवर्तस्त्वम्भसा भ्रम' शिबिराम्बुराशि. कटकजलधि । ॥ ५१ ॥ समूर्च्छंता प्रतिनादमुत्पादयता ॥ ५२ ॥ सप्तिनिकरे घोटकसमूहे । सलिलाशयानाम् अगाधजलाना ह्रदानाम् । कल्लोलनिकरे ॥ ५३ ॥ सयेमिरे सयमिता परिबद्धा. । क्षिप्तोलपासु प्रसारितदूर्वासु । वाजिशालासु । कथचन महता कष्टेन ॥ ५४ ॥ तोयावगाहचलितै प्रस्थितै । नीलदेहै. श्यामतनुभि । उत्सारित दूरीकृत । अद्रिकूटैः पर्वतशिखरैः ॥ ५५ ॥ पुष्कराणि करिहस्ताग्राणि । उदमीमिलत् प्रकाशयत् ॥ ५६ ॥ अनुकृतान्याचलाना तुङ्गशृङ्गाणि यै' । रुचिरावयवैः मनोहरगात्रै' ॥ ५७ ॥ भूभृत्सरित्सु पर्वतनदीषु । गण्डस्थलेभ्य' कपोलमूलेभ्य प्रविगलन् प्रच्योतमानश्चासौ मदपूरश्च तेन पूर्णम् । उत्तितीर्षो उत्तीर्तुं (उत्तर्तुं) मिच्छोः ॥ ५८ ॥ जितकाशिना शुभ्रा गजा । सलीलं लीलायुक्तम् । मदेन मन्द मन्द यथा भवति । करेणुपाश्चात्यभाग हस्तिनीपृष्ठतलम्[2] ॥ ५९ ॥ वन्येभाना वनगजाना गण्डकषणं कपोलोद्घर्षणं तस्मात् स्वीकृतदानपरिमले । नियमनाय नियन्त्रणाय । नियन्त्रा हस्तिपकेन । अपदेऽपि अस्थानेऽपि ॥ ६० ॥ श्यामलमेघसदृशै । प्रविशालवंशै विस्तीर्णपृष्ठभागैः । नागै. गजै. ॥ ६१ ॥ रुचये ग्रासप्रीत्यै । प्रत्युत पुनरेवाहिता उत्पादिता वनस्मृति स्मरणं येन तत् । सावज्ञम् अनादरसहितम् ॥ ६२ ॥ महोक्षाः अनड्वाह. । श्रमच्छेदकानाम् । कूलानि रोधासि । खल' पिण्याको दुर्जनश्च ॥ ६३ ॥ क्षितिरुहा वृक्षाणाम् । बभूवे तस्थे । अलसमीलितनेत्रयुगलै. ॥ ६४ ॥ विच्छिन्न० प्रच्छादितकर्णसुखकारिस्वका [क] लोकम् । 'काकली तु कले सूक्ष्मे' इत्यमरः । मयानाम् उष्ट्राणाम् ॥ ६५ ॥ क्षुद्रेतरक्षितिरुहा महद्वृक्षाणाम् । करभै उष्ट्रै । प्रवालजाले विद्रुमसमूहे । भृशायतशिरोधिभि उद्धृतकन्धरै । अस्यमाने ग्रस्यमाने । क्षीरापदेश' क्षीरव्याजेन प्रमदाश्रुजलम् । महता किल स्वसपदि परार्थाया प्रमोद' स्यात् ॥ ६६ ॥ चन्द्राकार० स्कन्धावार सैन्यम् । अमलानि मलरहितानि डिण्डीराणामब्धिकफाना पिण्डानि यत्र स. । पयोधि. । चञ्चन्तो धावपाना वाजिव्रजा समूहा यत्र तज्जयी । अविरतमनवरतमुद्भ्रान्ता कल्लोलमाला यत्र । सर्पन्तश्चङ्क्रममाणा मत्तद्विपा यत्र तत् तज्जयी । अभिसरन्नक्रचक्र. अभिगच्छद्ग्राहसमूह । अपारः पारवर्जित ॥ ६७ ॥ निविष्टसैन्यम् आस्थापितशिबिरम् । अन्तिके निकटे ॥ ६८ ॥ बल सैन्यम् । विभावरी रात्रि । प्रफुल्लन्न (न) क्षत्रेक्षणा । तारकाक्ष्ण' कनीनिका इत्युक्तिलेश ॥ ६९ ॥ तस्या विभावर्याम् । श्रुतपरबल (ल) आकर्णितायातशत्रुसैन्य । भाविसग्रामचर्चाम् आगामिसमरगोष्ठीम् । विशिष्टाम् ईं श्री[3] (श्रियम्) ईरते इति वीर' ॥ ७० ॥ भुवनभवनं जगद्गृह तत्र प्रदीपीभूत प्रकाशकर बिम्ब यस्य स । नियत्या धात्रा उदयविरुद्धामस्ताभिधाम् । मुकुलित० मीलितकुशतारानयना । आलोचन्ती विरहमिव शोचयन्ती ॥ ७१ ॥

इति चन्द्रप्रभकाव्यपञ्जिकायां चतुर्दश. सर्गः ॥ १४ ॥

---

१. ज °हारस्य । २. व °स्यलम् । ३. ब श्रोई ।

पञ्चदशः सर्गः

श्रीमत्तार्किकचक्रचर्चितपद सिद्धान्तमत्तोयधे-
र्मध्योन्मज्जनलब्धदृष्टिधिषणामद्वृत्तरत्नत्रयम् ।
स्याद्वादास्त्रसमस्तशिष्यहृदयध्वान्त स्वसवेदन-
ज्ञानजातनिज श्रुतादिकमुनि वन्दे जनोद्बोधकम् ॥

अथ आनन्तर्ये[1] भूभृता पर्वताना राज्ञा च । कटका नितम्बा सैन्यानि च । सनाहार्थं पटहाना ध्वनि ॥ १ ॥ तस्मिन् ध्वनौ पताकिनी सेना ॥ २ ॥ मदोद्धताकारै प्रोन्मत्तावयवै । 'चक्षुषी द्वे कपोलौ च पाणिपायाभि-मेहना । अष्टौ स्थानानि नागाना मदस्य स्रुतिहेतव ॥ ३ ॥' आनशिरे पूरितानि । पुलकोद्गमै रोमाञ्चै ॥ ४ ॥ उपचक्रमे प्रारब्धम् । समरे सग्रामे । समरेसक चतुरस्रम् । हृष्यति पुलकिते । तनुच्छद कङ्कटकम् । अपर्याप्तम् अनीप्सितम् । ना पुमान् कश्चित् । नामुञ्चत् शरीरे न त्यक्तवान् । पुनरमुचत् त्यक्तवान् । पुन वार वारम् ॥ ६ ॥ लघुभूत स्तोकीभूतम् । स्वकरस्पर्शात् स्वहस्तसश्लेषात् ॥ ७ ॥ वीररसे विद्यमानेऽपि कान्ता दृष्ट्वा शृङ्गाररसेन द्विगुणीभूतै । अन्तर्दधे अन्तर्हिता ॥ ८ ॥ रिपुरोषेणारुणीभूता या छवि तया छुरित० कर्बुरितकवचै ॥ ९ ॥ बहुभयानकगभीराया । भू भूमि । इभे गजे । अवधि ताडिता । इराया सुराया । 'इरा भूवाक्सुराप्सु स्यात्' इत्यमर । सदृशमदे । अत्र मद्यसदृशे दाने भूमौ पतिते स्वमेव प्रतिबिम्ब दृष्ट्वा पूर्वदृष्टस्य प्रतिगजस्य श्रुतेरवधारणाद् भूरेवाववि ॥ १० ॥ अनिष्ठ्या चलतया ॥ ११ ॥ व्यवायेन व्यवधानभूतेन । जयलक्ष्म्याः परिष्वङ्गमह विदये । व्यवाय[2] मय करोतीति वा हेतौ ॥ १२ ॥ भीमरथो नाम नृपति ॥ १३ ॥ भीमरथस्यापत्य भैमरथि ॥ १४ ॥ कृतोत्सर्ग विहितमप्रदान ॥ १५ ॥ स चतुर । सच्चकार समानयामास । कुलकम् ॥ १८ ॥ विशेषज्ञ कार्यविपश्चित् । तत्सात् तदीयमेव ॥ १९ ॥ सेना वाहिनी । सह इनेन प्रभुणा वर्तते इति सेना । यती प्रयत्ने गच्छमाना । बद्धराजि कृतश्रेणि । आजिसमुत्सुका सग्रामोत्कण्ठा । चक्राणि च इषवश्च खड्गाश्च अस्त्राणि च तै सारा स्थिरा । सा सेना अरातिसाध्वस भिय चक्रे विदधे ॥ २० ॥ महामात्रै प्रधानै । सज्जीकृत सावधानीकृतम् । पुरोधसा रोपितास्त्र मन्त्रपूततया धृतास्त्रम् । अभिशत्रु शत्रुसन्मुखम् ॥ २१ ॥ रथिना रथारूढेन । अनुसस्रे अनुजग्मे ॥ २२ ॥ रणविग्रह (रणविग्रह-) नामानम् । पूषण सूर्यम् ॥ २३ ॥ दीप्यमानाघ्र्यशस्त्रमूलम् ॥ २४ ॥ हस्त्यश्वरथपादातिलक्षण-बलसहिता ॥ २५ ॥ व्यक्तेयत्प्रमाणा ॥ २६ ॥ स्वन कृतवती ॥ २७ ॥ परीयाय प्रदक्षिण कृतवान् । 'लोमा कास भर[3] जनकुल खञ्जरीटक । एतेषा दर्शन ग्राह्य दुर्लभा च प्रदक्षिणा ॥' प्रदक्षिण दक्षिणा दिशमासृ (श्रि) त्य काको मृदु वावसे [ववाशे] शब्दितवान् ॥ २८ ॥ सुश्रुवे श्रुतम् [सुस्नुवे स्नुतम्] ॥ २९ ॥ इष्टै मनोऽभिलषितै । इष्टार्थो जयस्तस्य सूचकै ॥ ३० ॥ सराजकनृपति [सराजक] क्षत्रिय-गणसहित । अमर्षात् रोषात् ॥ ३१ ॥ अशिवम् अकल्याणकरम् ॥ ३२ ॥ आर्तै रुदितस्य स्वर शब्दम् ॥ ३३ ॥ सन्मुखवाराम् । रुधिरवर्षणम् ॥ ३४ ॥ सघट्ट तुमुलम् ॥ ३५ ॥ त्वरान् शीघ्रवेगान् ॥ ३६ ॥ मदोत्सेकेन मद्यसिञ्चनेन । वल्गन्ती शस्त्रश्रम कुर्वती ॥ ३७ ॥ 'हेषा ह्लेषा च निस्वन' इत्यमर । कूज-त्पटहे ॥ ३८ ॥ अरि कश्चिच्छत्रु । किविशिष्ट । रैरोरा राय द्रव्य राति ददातीति रैरो धनदस्तद्वदुरो हृदय यस्यासौ रैरोरा.—धनदवत् त्यागकरणे विपुलमना । रैररैरेरी राय रातीति रैरो धनदाता स चासौ रैरश्च धनदश्च रैररैर धनव्ययकर्ता धनद तमीरयति परिभवतीति रैररैरेरी । स्वदातृत्वेन धनदातुर्धनद-स्यापि जेता, परिभवकर्तेत्यर्थ । पुनरपि किविशिष्टोऽरि. । रोरु शब्दयन् स्वमाहात्म्य (त्म्य-) सूचक इत्यर्थ । पुनरपि किविशिष्ट । उरूरुरु. ऊरू च ऊरू च स्थूलस्थूलौ ऊरू जङ्घे यस्य स उरूरुरु दृढजानु-रित्यर्थ । स च (चा) रे शत्रौ सन्मुखम् । अरीरै अराश्चक्राङ्गानि विद्यन्ते येषा तान्यरीणि चक्राणि तेषामीरै क्षेपै चक्रक्षेपैरित्यर्थ । कथम् । अरम् अतिशयेन । आर ढुढौके । किविशिष्टस्यारे । रोरो

---

१. ब °न्तरे । २ ब विवाह° । ३. ब 'भर' इति नास्ति ।

स्वमाहात्म्य शब्दयत । 'रु शब्दे' धातो रु—प्रत्यय. । उणादिक । पुनः किंविशिष्टस्यारे । उरूरूरो स्थूलस्थूलोरो स्वसदृशजङ्घस्य । पुनरपि किंविशिष्टस्य । उरो गरिष्ठस्य जनप्रसिद्धस्येत्यर्थ । एकाक्षर ॥ ३९ ॥ कक्षा स्पर्द्धा । आह्वास्त आकारयति स्म ॥ ४० ॥ अस्थास्नुभि अस्थिरै । क्रेतुं मौल्येनादातुम् ॥ ४१ ॥ अरिशरजाल शत्रुबाणसमूहम् ॥ ४२ ॥ निजाश्च ते इषवो बाणाश्च० । नाज्ञासिषु न ज्ञातवन्त ॥ ४३ ॥ स्मार स्मार स्मृत्वा स्मृत्वा ॥ ४४ ॥ समुदा सहर्षेण । येन शत्रुणा । य शत्रुर्जित । तेन जितेनापि । स शत्रु । अस्त्रसमुदायेन शस्त्रसमूहेन योजित ॥ ४५ ॥ तत इभकुम्भकुम्भात् ॥ ४६ ॥ भूरितापा प्रचुरसतापकरा । रणाशया समराभिप्राया. । भूतै देवभेदै । युद्धभू सग्रामभूमि । इता प्राप्ता । पारणाशया भोजनाभिप्रायेण ॥ ४७ ॥ बाणधौ भस्त्रे ॥ ४८ ॥ धीरधीरारिरुधिरै धीराश्च धीराश्च धीरधीरा निष्कम्पा ते च तेऽरयश्च अन्योन्यशत्रवस्तेषा रुधिराणि तै । उरुधाराधरै. उरवश्च ते धाराधरा मेघाश्च, अथवा गरिष्ठधारया पतमानै । अरम् अतिशयेन । धराधरा पर्वतास्ते आधारोऽवष्टम्भो यस्याः सा । अध प्रदेशोऽधरा धरा निम्ना निम्ना[1] धरा भूमिस्तै रुरुधे पूरिता आधृता[2] इत्यर्थ । द्व्यक्षरचित्रम् ॥ ४९ ॥ जज्ञिरे जाता. । प्रगुञ्जन्निनदा. प्रगुञ्जच्छब्दा । नदा द्रहा[3] । आसन् जाता । मूल० मूलतश्छिन्ना । मकरा जलजीवा. । करा शुण्डादण्डानि (-ण्डा) ॥ ५० ॥ अङ्गमङ्ग प्रति प्रत्यङ्गम् ॥ ५१ ॥ केन पतता मस्तकेन । तत्रसु त्रस्ता । आलोक दृष्टिगोचरताम् । गतेन प्राप्तेन । मृतकसबन्धिना[4] । के प्रसिद्धा. । तत्र आजौ । सुरा देवाः । स्वम् आत्मीयम् । लोक देवलोकम्[5] । त्यक्त्वा । कौतुक द्रष्टुमागता[6] ॥ ५२ ॥ कबन्धै अपमूर्द्धकलेवरै ॥ ५३ ॥ निरन्तरनिपातिना सान्द्रवर्षिणामिषूणा बाणाना जालै समूहै ॥ ५४ ॥ रणरङ्गभू समरोत्साहभूमि ॥ ५५ ॥ स्वामिनामा प्रभुशब्दवाच्य । ना पुमान् । येनैकोऽपि न जित । तस्य नृता पुरुषत्व न बभूव । स्वामिना प्रभुणा च । अनृता असत्या । मानना मान्यत्वम् । न कृता ॥ ५६ ॥ धीर निष्कम्प ॥ ५७ ॥ प्रजह्नु युयुधु ॥ ५८ ॥ प्रति-[पत्ति-] सादिता पदातिभिर्मारिता ॥ ५९ ॥ रणाङ्गणम् ॥ ६० ॥ भङ्ग पलायनम् । उत्तस्थौ[7] डुढौके ॥ ६१ ॥ कृच्छ्रे कृ [क] ष्टे ॥ ६२ ॥ सभ्रम भङ्गम् । न पूर्वं दृष्ट कैश्चिदित्यदृष्टपूर्वम् ॥ ६३ ॥ रणे युद्धे ॥ ६४ ॥ कोदण्डेन धनुषा दारुणो भीष्म· ॥ ६५ ॥ शत्रुकुलं यूथम्[8] ॥ ६६ ॥ कटाक्षयामास अभिसस्रै (स्रे) ॥ ६७ ॥ 'तुमुलं रणसकुले' । इत्यमर ॥ ६८ ॥ हुतभुक्शिखम् अग्निज्वालम् । रोपा इषव ॥ ६९ ॥ आराव शब्दविशेष. । 'मत्ते शौण्डोत्कटक्षीबा' । इत्यमर. । मेघच्छन्नाह. ॥ ७० ॥ रन्ध्रम् अवसरम् । शशिशेखरः पृथ्वीपालसेनानी ॥ ७१ ॥ शक्त्या आयुधविशेषेण ॥ ७२ ॥ प्रभो पृथ्वीपालस्य । पुर अग्रे । केतुनामा[9], केतुर्ग्रहविशेष ॥ ७३ ॥ स्फुरदहकारवृहद्विषः ॥ ७४ ॥ केतौ भग्ने पलायिते । सुकेतुनाम्न[10] (म्ना) ॥ ७५ ॥ शतश.[11] । बहुखण्डम् ॥ ७६ ॥ छिन्नपक्ष भग्नबाहुम् । विरोचन इव सूर्यो यथा ॥ ७७ ॥ विमुख वृत्तपृष्ठम् ॥ ७८ दुधुवे प्रकम्पितम् । समुद्दी० दर्पितमनसा ॥ ७९ ॥ अभिशत्रुपताकिनी शत्रुसैन्यसन्मुखम् ॥ ८० ॥ अरिवाहिनीं शत्रुसेनाम् ॥ ८१ ॥ प्रत्यवतस्थे स्थगित ॥ ८२ ॥ विस्मितामरा. आश्चर्यं गतदेवा. (?) ॥ ८३ ॥ नून निश्चितम् । अमूतमेव ॥ ८४ ॥ नाजीगणत् न ज्ञातवती ॥ ८५ ॥ शङ्कुजा [ना] आयुधविशेषः (विशेषेण) ॥ ८६ ॥ प्रतीक्षते अवलम्बते । दशनच्छदम् उष्टम् (ओष्ठम्) ॥ ८७ ॥ गाढ दृढ ॥ ८८ ॥ प्रतीच्छन् लभमान ॥ ८९ ॥ समुत्तेजित० त्वरित० ॥ ९० ॥ समापतन्तं समागच्छन्तम् ॥ ९१ ॥ प्रहृत्य चिरकाल युद्ध्वा ॥ ९२ ॥ ववले व्याघुटित । माहीरथे महीरथसंबन्धिनि ॥ ९३ ॥ कोलाहल कलकल ॥ ९४ ॥ धृत गृहीत दिव्यं मन्त्रात्मक शरासन धनुर्येन ॥ ९५ ॥ संभूय एकीभूय । राजक क्षत्रियगण ॥ ९६ ॥ 'भक्षको घस्मरोऽद्मर' । इत्यभिधानात् ॥ ९७ ॥ वाहितरथं व्यापारितस्यन्दनम् ॥ ९८ ॥ प्रहर्तुं घातं कर्तुम् ॥ ९९ ॥ न. अस्मान् । असदृशसंग्रामम् ॥ १०० ॥ शक्नुथ शक्ता भवथ ॥ १०१ ॥ धनुर्ज्यां मौर्वीम् । अस्पृशन् टङ्कारयन् ॥ १०२ ॥ चापलसूचनै दुश्चरित्रप्रकाशनै.

---

१. ब 'निम्ना' इति नोपलभ्यते । २. ब °वृता । ३ ब ग्रहा· । ४. ज °न्धिना. । ५. ब 'देवलोकम्' इति नास्ति । ६ ब दृष्टुनागता । ७. ज °तस्थे । ८. ब 'यूथम्' इति नास्ति । ९. ब °तुर्नामा । १०. ज सुकेतुना नाम्ना । ११. ब शतत् ।

॥ १०३ ॥ अधमै· न्यग्भि· ॥ १०४ ॥ दुर्नयै दुरभिप्रायै ॥ १०५ ॥ न लक्ष्यो मोक्षो मुञ्चन सधानं च येषां ते, तान् ॥ १०६ ॥ अविच्छिन्नै निरन्तरै ॥ १०७ ॥ प्रजह्रतु प्रहार चक्रतु ॥ १०८ ॥ समशेत सदिदेह ॥ १०९ ॥ दध्रे जीवन् गृहीत· ॥ ११० ॥ अन्तिकम् उपकण्ठम् ॥ १११ ॥ विजिग्ये जितवान् ॥ ११२ ॥ भग्नमनोरथा गतमनोऽभिप्राया· ॥ ११३ ॥ करालीकृते विषमीकृते लोचने येन स ॥ ११४ ॥ असाधारणैः लोकोत्तरै ॥ ११५ ॥ न मनुष्यस्येव बल यस्य स –असमसामर्थ्य ॥ ११६ ॥ अवज्ञा शिथिलत्वम् ॥ ११७ ॥ दयिता वल्लभाम् ॥ ११८ ॥ असाधारणपराक्रमो ॥ ११९ ॥ महाहवम् अधिकसग्रामम् ॥ १२० ॥ दिगाभोगा दिग्मण्डलानि ॥ १२१ ॥ निष्कम्पनयनम् ॥ १२२ ॥ दृप्त० दर्पोद्धतयोर्दोः (-र्दोर्दर्प-) प्रगल्भयोश्च ॥ १२३ ॥ लुलाव चिच्छेद ॥ १२४ ॥ प्रयासेन खेदेन विवर्जितो रहित ॥ १२५ ॥ गुरु जनक ॥ १२६ ॥ सुवर्णमालाया अपत्यम् ॥ १२७ ॥ वन्ध्या निरर्थ (-र्थि-)·काम्[1] ॥ १२८ ॥ कणीकृत चूर्णी विहित । ॥ २२९ ॥ चिच्छेद द्विधा व्यधात् ॥ १३० ॥ स्पृशन् आस्फालयन् ॥ १३१ ॥ शि (श) वीभूतान् प्रेत्यभाव गतान् ॥ १३२ ॥ निर्वेद वैराग्यम् ॥ १३३ ॥ कुलटया दुश्चरित्रया ॥ १३४ ॥ जागर्ति कटाक्षते[2] ॥ १३५ ॥ अवज्ञाय अनादरीकृत्य । शिश्रिये आश्रित । श्रमणश्रिय मुनिभावम् ॥ १४७ ॥ एकादश श्लोका सुगमा· ॥ शिक्षासमयता ज्ञानग्रहणयोग्यताम् ॥ १४८ ॥ वृद्द्ध्यामास प्रवृद्ध चकार ॥ १४९ ॥ तनु कृश । अतन्द्रिणा आलस्योज्झितस्य ॥ १५० ॥ इति वक्ष्यमाणानि ॥ १५१ ॥ शङ्कादिरहिता । अधिकः सपन्नता ॥ १५२ ॥ अतिचारविपर्यय शीलव्रतेष्वतिचार ॥ १५३ ॥ उपधानादिपूर्वक अभीक्ष्णज्ञानोपयोग ॥ १५४ ॥ अगूढसामर्थ्य वीर्यमनतिक्रम्य ॥ १५५ ॥ समुद्यम करणम् ॥ १५६ ॥ भेदिपु रहस्यज्ञेपु ॥ १५७ ॥ अवश्यकार्याणाम् आवश्यकक्रियाणाम् ॥ १५८ ॥ दर्शनवात्सल्य प्रवचनवत्सलत्वम् ॥ १५९ ॥ व्रतनियमैः पूर्णः ॥ १६० ॥ दृक्करणबोधतपांसि आराधनाचतुष्टयम् । अपासु विरज (जा:) ॥ १६१ ॥ त्रयस्त्रिंशत्सागरायु ॥ १६२ ॥

इति चन्द्रप्रभकाव्यपञ्जिकाया पञ्चदश· सर्ग· ॥ १५ ॥

षोडशः सर्गः

यो बुध्वा सर्वशास्त्राम्बुधिमनुगनरस्वान्तसंशीतिगाढ-
ध्वान्तध्वस विधाय प्रमितिनयसुधापूरपूतै· स्ववाक्यै ।
चक्रेऽत्यन्तं प्रबुद्धान् सुरजनसहितान् शिष्यवर्गान् श्रुतादि-
र्भूयात् सोऽय मुनिर्नो दृगवगमचरित्रादिहेतुर्यतीश· ॥ १ ॥

सरोजखण्डैः कमलवनै । परित इतस्तत ॥ १ ॥ अबहा असमर्था । विदग्धा चतुरा गोप्य· क्षेत्ररक्षिकाः ॥ २ ॥ आरव शब्दविशेष । सरसरसामृत स्वादुरसपीयूषम् ॥ ३ ॥ सच्छाया· सती प्रशस्ता छाया येषा ते, पक्षे सत्सु छाया कान्तिर्येभ्यस्ते ॥ ४ ॥ नीरन्ध्रै निरन्तरै । सुरकुरु उत्कृष्टभोगभूमि । अवग्रहा अन्तराया ॥ ५ ॥ मुखरै वाचालै । त्रिदशपुरी अमरावती ॥ ६ ॥ कराग्रै हस्ताग्रै । पवनपथस्य गगनस्य । गोपुर पुरद्वारम् ॥ ७ ॥ काचाद्रि० नीलपर्वतसदृश ॥ ८ ॥ वियोगी वीना पक्षिणा योग संगतिर्यस्य, नान्य· कश्चिद् वियोगवान् । विलमाप्नोतीति, विशालपरिदेवनशब्दयुक्तो न । विगतो रसो विरसस्तस्य भावो वैरस्यम् । कलियुक्तता न च । गदया शस्त्रभेदेनाभिघात, गदेन व्याधिना न ॥ ९ ॥ नागाना गजाना सर्पाणा च । उरु गरिष्ठ विपुल च । शाक्याना सौगतानाम् ॥ १० ॥ महादिसेनः महासेन ॥ ११ ॥ कल्याण शुभ तत्स्वभावेन स्वर्णं च । मेरुम् ॥ १२ ॥ प्रलयपराकृतं (त) व्यवस्थ· । अम्भोधेर्व्यवस्था स्थिति प्रलयेन पराकृता, अस्य न ॥ १३ ॥ राजविद्या आन्वीक्षिक्यादि ॥ १४ ॥ विशेषकस्य तिलकस्य । इतया [-तैव] अनेनैव प्रकारेणैव । गुरुत्वं पितृत्वम् ॥ १५ ॥ पुष्पेषो[3] कामस्य । परमेश्वरी मान्या ॥ १६ ॥ वशोऽन्वय, वेणुश्च ॥ १७ ॥

---

१. ज °र्थकम् । २. व °क्षति । ३. ब पुष्पेशो. ।

वर्णोऽक्षरादिः, स्तुतिश्च ॥ १८ ॥ मन्दत्वं गमने मन्दता, मूर्खत्वं च ॥ १९ ॥ पारे । आत्मना स्वयम् ॥२०॥ सार्वभौमं चक्रिणम् ॥ २१ ॥ मदनफलै धत्तूरबीजै॰ ॥ २२ ॥ मन्दोद्यमं शिथिलसाहसम् । स्वातन्त्र्यं स्वाधीनत्वम् । अभिभूत्यै तिरस्काराय ॥ २३ ॥ व्युत्थान प्रतिरोधवृत्तिम् । निशम्य आकर्ण्य । प्रतस्थे प्रस्थान चक्रे ॥ २४ ॥ धूत० निर्जितधन्वा । स्वशरव्यं स्वेन वेध्यम् । विदधत् ददत् । उपाय० प्राभृतीकृतगजे ॥ २५ ॥ प्रोद्दाम० प्रोत्कटाश्च ते द्विरदा दन्तिनश्च तेषा रदाना दन्तान् (-ना) प्रभेदात् प्रहाराद् निर्याता, भग्नाश्च ते योधाश्च तेषामसृताप्लुत रथचक्रस्य चक्रवाल मण्डल यत्र । वलयम् अङ्गदादि ॥ २६ ॥ शिलीमु० भ्रमरायमानम् (णम्) । व्ययुङ्क्त व्ययविषयमकृत ॥ २७ ॥ उद्धान् उद्भटान् । अचिरांशुशोभान् विद्युत्सदृशान् । मरुदनुकारकारि पवनप्रचण्डम् ॥ २८ ॥ क्षितितलपालिन भूमिपते । बलौघः सेनाप्रवाहः । प्रोत्खात० समूलमुत्पाटित द्विषदवनीरुहाणा शत्रुराज्ञा (-राजाना) प्रतिरोधिवृक्षाणा[1] च प्रतानं संततिर्येन स । जज्ञे जातः । सगमाभ सगमसदृश ॥ २९ ॥ विदीर्णा प्रस्फुटिता । ते प्रसिद्धाः । अनुवेल वेला कल्लोलम् अनु ॥ ३० ॥ प्रहरणम् आयुधम् । शुचि निर्मलम् । अन्तर्वण वनमध्ये । कक्कोलं[2] चन्दनफलम् । ववल्गु. जगर्जु॰ ॥ ३१ ॥ जयककुद जयचिह्नम् । 'प्राधान्ये राजलिङ्गे च वृषाङ्के ककुदोऽस्त्रियाम् ।' इत्यभिधानात् । निखानयाबभूव निचखान । नाक स्वर्गम् । आरुरुक्षो॰ चटितुमिच्छो ॥ ३२ ॥ यियासो. गन्तुमिच्छो । सैकतै सिकतामयै. । उडुवर्त्म गगनम् ॥ ३३ ॥ अन्ध्रीणाम् अन्ध्रप्रदेशस्त्रीणाम् । गण्डभित्तिः कपोलतलम् ॥ ३४ ॥ व्यपगतधामसु प्रतापप्रकाशरहितेषु । नयनोपलेषु सूर्यकान्तेषु ॥ ३५ ॥ उपयुक्ततोया पीतपीयूषा. । स्रोतोभि प्रवाहै । प्रवृद्धै. प्रचुरै. ॥ ३६ ॥ ग्रैवेयै कण्ठभूषाभि । अकृषत आकृष्टा ॥ ३७ ॥ पण्यस्त्रीमिव गणिका यथा । अपाचीं दक्षिणा दिशम् । संसर्पता प्रसरता । अकटाक्षि भोक्तुमुत्प्रेक्षिता । ३८ ॥ प्रतिहतशक्ति॰ नि सामर्थ्य । अपसारसंज्ञा साररहितनामा ॥ ३९ ॥ पयोधराग्रं स्तनाग्रम् । लाटीये लाटदेशोद्भवनरसंबन्धिनि ॥ ४० ॥ विपक्षाणां कक्षं पक्षं, वनं च । ज्वलितुं संतपितुम् ॥ ४१ ॥ पारसीकान् पारसीकदेशोद्भवान् । वैतस्या वेतसवन्नम्रया । वृत्त्या वर्तनेन । विनीय विनदान् विधाय । आदित गृहीतवान् ॥ ४२ ॥ अनुकारि (णी) सदृशा । करेण भागधेयेन हस्तेन च ॥ ४३ ॥ सरम्भात् क्रोधोद्रेकात् । अभिपतत सम्मुखमागच्छमानान् । जलगजान् । निहत्य । मुक्तान् मुक्ताफलानि (?) । उदलम्बयत् प्रलम्बयामास ॥ ४४ ॥ कुबेरगुप्ताम् उदीचीम् ॥ ४५ ॥ तिग्मांशो॰ सूर्यस्यापि । व्याक्षेपक्षणं कलहकालम् ॥ ४६ ॥ अनन्तस्य भाव आनन्त्यम् । स्वस्यानन्त्यम् । 'अनन्त उत्तरापथ॰' इति लोकोक्तिः ॥ ४७ ॥ शीकरौघै हस्तिनोजलकणसमूहै ॥ ४८ ॥ हृत्वापि गृहीत्वापि । अभोगवृद्ध भोग विना चिरतरसचितम् । टक्कानाम् उत्तरदेशोद्भवाना भिल्लानाम् ॥ ४९ ॥ भूमिभृत्सु राजसु भूधरेषु च । वज्रीभूय निर्नाशिको भूत्वा, वज्र पविश्च अजनिष्ट चकोरेत्यर्थ ॥ ५० ॥ खशा. खशदेशोद्भवा एव । मशका देशभेदा । मशकेषु किल धूमो ध्वसक ॥ ५१ ॥ शुश्राव शृणोति स्म ॥ ५२ ॥ हस्तमर्दिता. बलिमर्दिताश्च ॥ ५३ ॥ वसन वस्त्र [तद्-] युगादि[3] । यथायथ यथायोग्यम् ॥ ५४ ॥ प्रागेव षण्मासानिति सबन्ध । अहिद्विषा इन्द्रेण ॥ ५५ ॥ कर्तव्य कार्यविशेषम् । व्यधिषत चक्रु. ॥ ५६ ॥ कल्याणाङ्गी भद्राङ्गी ॥ ५७ ॥ शैलेन्द्राभ विजयार्द्धतुल्यम् । रेकमाण शब्दयन्तम् (नदन्तम्) ॥ ५८ ॥ शीतभानुं चन्द्रम् ॥ ५९ ॥ सिंहव्यूढं सिंहोद्धृतम् ॥ ६० ॥ धूमकेतु वह्निम् ॥ ६१ ॥ कल्याण मङ्गलम् । तत्फलज्ञा स्वप्नफलावगमनशीला ॥ ६२ ॥ उदार उत्कट (टो) दुर्लङ्घ्यो लङ्घितुमशक्यः ॥ ६३ ॥ हे सुभ्रु सुलोचने ॥ ६४ ॥ पाथोनाथात् समुद्रात् ॥ ६५ ॥ धक्ष्यति भस्मीकरिष्यति ॥ ६६ ॥ दयितात् वल्लभात् ॥ ६७ ॥ अनुत्तरवैजयन्तनामविमानात् ॥ ६८ ॥ क्षोभ व्याकुलत्वम् । आटोपेन सभ्रमेण ॥ ६९ ॥ तन्वतीभि विस्तारयन्तीभि ॥ ७० ॥

इति चन्द्रप्रभकाव्यपञ्जिकाया षोडशः सर्ग ॥ १६॥

---

१. ज °वृषाणा । २ व वन्दन° । ३ ज युगादि यानादि. ।

सप्तदशः सर्गः

सदादिनयभासुरैरघहरैरशेषप्रियैर्वचोभिरिह सत्तमङ्गविपयैर्विनेयात्मनाम्।
प्रणाशयति दुस्तम. करुणया रविर्वा पर श्रुतादिमुनिरन्वह मुनिवरः स न. स्तान्मुदे ॥

द्रष्टुमिच्छुना दिदृक्षुणा। प्रसूतिसमयेन पौषे मासे कृष्णदशम्या अपगमे एकादशी तिथिमाप्य। अजीजनत् जनयाचकार ॥ १ ॥ प्रसेदु प्रसन्ना बभूवु। सुरभयन् सुगन्धीकुर्वन् ॥ २ ॥ वृन्द समूह। दिविभवैर्दिव्यै। बद्धमण्डलं कृतवेष्टनं ॥ ३ ॥ रेणु शब्दं चक्रु। अकरहति करावाञ्छिता यथा भवन्ति। गजारय सिंहा ॥ ४ ॥ जलदवत् मेघवत् पटु सुन्दर यथा भवति तथा। प्रतिध्वनिं कुर्वाणा ॥ ५ ॥ समसमयम् एकवार युगपत्। प्रतस्थिरे प्रस्थान विदधिरे ॥ ६ ॥ किरणाना निकुरम्ब कदम्बक तेन रञ्जिता रागवत्य ॥ ७ ॥ व्यनक्ति प्रकाशयति। तिरोहित व्यवहित ॥ ८ ॥ अमरालयात् स्वर्गात्। नृपगृह यावत् ॥ ९ ॥ सवासव इन्द्रसहित ॥ १० ॥ जनित० यथाजातरूपसदृशम्। अर्भक बालम्। उज्जहार उद्धृतवती ॥ ११ ॥ भासुर दीप्यमानम्। अशीतरुचि सूर्यम् ॥ १२ ॥ सुरैश्चतुर्निकायैर्देवैर्बृंहिते वृद्धि नीते। तं बालम् ॥ १३ ॥ अन्तगता समीपस्था। अब्द दर्पण ॥ १४ ॥ मुखर वाचालम्। समुपतस्थिरे जगिमरे ॥ १५ ॥ नेदु शब्दिता। भेरिका पटहा ॥ १६ ॥ पेटकैः वृन्दै। दिगन्तरसहितम् ॥ १७ ॥ विनिहितानि आरोपितानि। सुराद्रिवर्त्म मेरुमार्ग ॥ १८ ॥ उरूणि गरिष्ठानि। रुचिराणि मनोहराणि चैत्यमन्दिराणि यत्र स ॥ १९ ॥ कृतवितत (ति) विहितमालाम्। अमलतरम् अतिनिर्मल दुग्ध क्षीरार्णव तस्य जलकुटे ॥ २० ॥ ललितानि सुगव्याप्यानि[1] वृत्तानि। निशिता तीक्ष्णा ॥२१॥ त्रैलोक्यमालकारम् ॥२२॥ आह्वयन् आह्वाननं नाम चक्रु ॥ २३ ॥ प्रथमकल्पवति सौधर्मेन्द्रः। इतरै ईशानादिभिर्वासवैरन्वित सहित ॥ २४ ॥ अकलङ्क कलङ्करहितम् ॥ २५ ॥ कार्यिण[2]कार्याकाङ्क्षिण ॥ २६ ॥ हरिविष्टरस्थित सिंहासनस्थम् ॥ २७ ॥ नौस्थित (त) प्रवहणमाश्रित ॥ २८ ॥ अविचलितभक्ति स्थिरमनस्कतया दृढभक्ति ॥ २९ ॥ अभव्यम्। अपहाय त्यक्त्वा ॥ ३० ॥ विलक्षा स्वभावेन ॥ ३१ ॥ कृती पुण्यवान् ॥ ३२ ॥ आपद ऐहिका आमुत्रिकाश्च ॥ ३३ ॥ भवदङ्घ्रिपङ्करुहसेवन पदकमलोपासनम् ॥ ३४ ॥ उपलब्धचरी पूर्वं नोपलब्धा। निर्व्यपेक्षा नि कारणा ॥ ३५ ॥ अभिगम्य प्राप्य। प्रसाधिका अलकरिष्णु ॥ ३६ ॥ भाक्तिका भक्तिकरणशीला ॥ ३७ ॥ अस्य असुभृत। हृदय मन। न लीयते न लीन स्यात् ॥ ३८ ॥ वाग्मिना वचनपाटवयुक्तानाम् ॥ ३९ ॥ सिद्ध नुतिकृत फल यस्य स तेन ॥ ४० ॥ प्रणुत्य (स) स्तुत्य ॥ ४१ ॥ विनिवेद्य पुनरुत्सवादिना निगद्य ॥ ४२ ॥ योजितामृत (ता) न्यस्तपीयूष (षाम्) ॥ ४३ ॥ अनुवासरम् अनुदिनम् ॥ ४४ ॥ अरीरमत् रमयाचकार ॥ ४५ ॥ प्रतिबुद्धबुद्धि विचारचतुरमति ॥ ४६ ॥ मन्दनिहितचरण मन्दारोपितपद ॥ ४७ ॥ अविबुद्धमूल्य अज्ञातमूल्य स्वभाव ॥ ४८ ॥ प्रजिघाय आददौ (ददौ) ॥ ४९ ॥ अनयत् अप्रापयत् ॥ ५० ॥ नृपतिपट्टबन्धन राज्याभिषेकम् ॥ ५१ ॥ अनुरागत अनुग्रहात् ॥ ५२ ॥ अभिननन्द जहर्ष ववृधे वा ॥ ५३ ॥ जनाकुलता व्यग्रताम् ॥ ५४ ॥ समीरण वायु। कर्णकटुककठोरशब्दभीष्म ॥ ५५ ॥ ईतिभि सप्तभि। 'अतिवृष्टिरनावृष्टिर्मूषका शलभा शुका। स्वचक्र परचक्रं च सप्तैता ईतय स्मृता।' ॥ ५६ ॥ उपायनै प्राभृतै ॥ ५७ ॥ विभज्य विभाग कृत्वा ॥ ५८ ॥ प्रतिवासरम् अनुदिनम् ॥ ५९ ॥ यथाभिमत यथेष्टम् ॥ ६० ॥ कोऽपि वृद्ध ॥ ६१ ॥ कृपण कदर्यम् ॥ ६२ ॥ जगदीश त्रिलोकीपते ॥ ६३ ॥ तिरोहितवपु विलीनकाय ॥ ६४ ॥ सभ्यजनमारुता वचनेन ॥ ६५ ॥ विकारेण कृतो वृद्धविग्रह शरीर येन ॥ ६६ ॥ इति वक्ष्यमाणाम् ॥ ६७ ॥ अनुगतं विनश्वरम् ॥ ६८ ॥ अविरतमति सततमति ॥ ६९ ॥ विविधरचनानि विविधाकाराणि ॥ ७० ॥ तानि कर्माणि ॥ ७१ ॥ जगदन्तिकामरा लौ (लौ) कान्तिका देवा ॥ ७२ ॥ अमरपति इन्द्र ॥ ७३ ॥ प्रवितीर्य दत्वा। अवदातचरित निर्मलाचरण अभिहितसिद्धनुति 'नम सिद्धेभ्य' इत्युच्चरितसिद्धस्तव ॥ ७४ ॥ अपाकृतवान् उत्पाटितान् ॥ ७५ ॥ उत्सव

---

१ ज °पाद्यानि। २ ब कार्यणा काक्षिण.।

महविशेषातिशयम् । क्षोभितं पुण्यातिशयेन प्रचालितम् ॥ ७६ ॥ पञ्चाश्चर्यप्रभृतीनि । रत्नपुष्पगन्धोदक-वृष्टय सुरभिमृदुपवनो देवदुन्दुभिश्चाति ॥ ७७ ॥ चतुरा ईर्यासमित्यादिभि सहिता गतिर्यस्य ॥ ७८ ॥ असहन्त अशक्नुत । धृत्या सतोषेण वर्मितम् । पत्रिण रोपा ॥ ७९ ॥ अपहस्तयितु निराकर्तुम् ॥ ८० ॥ तनुतरत्व स्वफलदानासमर्थत्वम् । अतनु प्रचुरम् ॥ ८१ ॥ नागवृक्षतले । अतुलम् असदृशम् ॥ ८२ ॥ तस्मिन् केवलोत्पत्तिसमये । समवसरण सभाविशेष ॥ ८३ ॥ धूलीशाल पञ्चवर्णमणिचूर्णप्राकार । वलय अङ्गद । अन्तरस्था मध्यस्था. । विकचकमलानि व्याकोशाम्बुजानि ॥ ८४ ॥ विशाला विस्तीर्णा । विरचितान्या-गमोक्तशोभयालकृतानि चतुर्गोपुराणि यस्य । उभयत इतस्तत उभयपार्श्वे ॥ ८५ ॥ अर्चा[1] प्रतिमा । यागवृक्षा चैत्यवृक्षा । मणिमयतटे मणिनिर्मितभित्तिभि । लतामण्डपे वल्लीगृहे भ्राजमाना· शोभमाना. ॥ ८६ ॥ केतुपङ्क्ति ध्वजमाला । विचित्रा मालामृगेन्द्रादिनानाविधा । हेमशाल स्वर्णप्राकार ॥ ८७ ॥ पराणि परार्ध्यानि (णि) । सभामण्डपा सभागृहाणि ॥ ८८ ॥ अच्छस्फटिक शुद्धस्फटिक । अन्ते मध्ये । अनुपमम् अनन्यसदृशम् ॥ ८९ ॥ स्फुरिता दीप्यमाना । भासुररत्नाना रश्मय किरणा यत्र । बोध अनन्तज्ञानमनन्तदर्शन च सहचरितत्वात् ॥ ९० ॥ उदयं पुण्यप्रादुर्भावमाकाक्षन्ते इति उदयाकाक्षिण ॥ ९१ ॥

इति चन्द्रप्रभकाव्यपञ्जिकायां सप्तदश. सर्गः ॥ १७ ॥

अष्टादशः सर्गः

सम्यग्ज्ञानसुधाप्रवाहनिचयैर्येनेह शिष्यव्रजो-
धौताज्ञानरजश्चय शुभमतिर्वाग्मी कृत सद्गुणै· ।
स्यान्नित्यादिनयप्ररूपणपरैः स श्रीश्रुतादिर्मुनि
सभूयात् प्रशमाय सयतपतिर्बोधप्रकर्षाय न ॥

सर्वभाषास्वभावेन बोध्यजीवानुभाषानुकारिलक्षणेन ध्वनिना अनक्षरात्मकभाषातिशयेन ॥ १ ॥ शासने मते ॥ २ ॥ पृथक्त्वपक्षे भिन्नोच्चारणे ॥ ३ ॥ अवस्थानजनननाशलक्षणलक्षण ॥ ४ ॥ भवितुं योग्यो भव्यस्तद्विलक्षणोऽभव्य , शुद्धयशुद्धिभेदात् । यथा—'शुद्धयशुद्धी पुन शक्ती ते पाक्यापाक्यशक्तिवत् । साद्य-नादी तयोर्व्यक्ती स्वभावोऽतर्कगोचर ॥' ॥ ५ ॥ प्रथमाया भूमौ उत्सेध. ७ धनु० ३ ह० ६ अ० । अन्त्ये इन्द्रके ततश्च द्वितीयाया अन्त्ये द्विगुण —१५ धनु० २ ह० १२ अ० । तृतीयेऽन्त्ये ३१ धनु० १ ह० । चतुर्थेऽन्त्ये ६२ धनु० २ ह० । पञ्चमेऽन्त्ये १२५ धनु० । षष्ठेऽन्त्ये २५० धनु० । सप्तमे ५०० धनु० ॥ ९, १० ॥ प्रथमेऽन्त्ये सागरैकमायु (एक सागरोपममायुः) । सा० १, सा० ३, सा० ७, सा० १०, सा० १७, सा० २२, सा० ३३ । प्रथमे पटले १०००० जघन्यमायु । प्रथमे पटले १०००० जघन्यमायु । प्रथमे नरके यदुत्कृष्ट सागरैकम् (एक सागरोपमम्) आयु , तद्द्वितीये जघन्यम् । शेष सुगमम् ॥ ११, १२ ॥ २२ (?) प्रथमाया विलानि ३०००००० द्वितीयाया २५००००० तृतीयाया १५००००० । (अवशिष्टासु क्रमश) १०००००० । ३०००००० । ९९९९५ । ५ ॥ १३, १४ ॥ देवकुरु. उत्तमभोगभूमि ॥२९॥ शेष सुगमम् । कर्मभूम्युद्भवानामुत्सेध —धनु० ५२५ । इति उक्तप्रकारेण । गत्यादिभेदेन यथा—'गइ इंदिये य काये जोए वेए कसाय नाणे य । सजमदसणलेस्सा भविया समत्त सण्णि आहारे ॥' इति परमागमे विस्तार ॥ ६८ (?) ॥ शेष स्पष्टम् । पञ्चधा अजीवभेदा । एकीकृता जीवेन सह षड् द्रव्याणि । कालरहितानि द्रव्याणि पञ्चास्ति-काया ॥ ७० (?) ॥ वर्तना ॥ इति द्रव्याणा नवजीर्णतालक्षणम् । परमार्थकाल । समयावल्य दिर्व्यवहार-काल ॥ ७७ ॥ सकषाय । दशमगुणस्थान यावत् ॥ उपशान्ताद्ययोगगुणस्थानं यावन्नि कषाय ॥ ८५ ॥

१. व अर्वा ।

आसादन विराधनम् । मात्सर्यम् । अहङ्कृति । निह्नवनम् । गुरूणां प्रच्छादनम् ॥ ८६ ॥ परिदेवनम् । व्यपाजननम् ॥ ८७ ॥ सरागसंयमोऽणुव्रतलक्षणो देशसंयम ॥ ८८ ॥ (?) । अवर्णवाद. । यदृच्छया कथनम् ॥ ९ (?) ॥ विसंवादन स्वेच्छया जल्पनम् । जिनेन स्वामिना प्रणीतं संशय ॥ ९३ (?) ॥ मिथ्यादर्शनम् । आह च स्वामी—'मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमाद (कषाय) योगा बन्धहेतव ।' इति । स च बन्ध. प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशलक्षण ॥ ९८ ॥ (?) असौ संवर ॥ 'स गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षा १२ परीषह २२ जय चारित्रै' । १३ श्लो० ९ (?) पूर्वस्य आर्तस्य । १९ (?) सनिबन्धना कारणसहिता । २४ अपरत. । अलोकेऽगमन गतिहेतोर्धर्मस्याभावात् ॥ ३२ (?) ॥ प्रह्लाद्य सानन्दा विधाय ॥ ३३ ॥ (?) इत्थम् उक्तप्रकारेण । धर्मदेशना कुर्वन् । विहृत्य । समाससाद प्राप्तवान् ॥ ४३ (?) ॥ भाद्रपदे मासे सिते पक्षे सप्तम्यां तिथौ शुक्लध्यानेन निर्जितानि सकलानि अघानि कर्माणि येन । सिद्धे पद मुक्तिस्थानम् । संश्लिष्टा विलीनाम् । पुनर्मायया । उत्पाद्य परमभक्त्या अगुरुचन्दनादिभि संस्कृतेरर्थ. ।

इति चन्द्रप्रभकाव्यपञ्जिकायामष्टादश सर्ग ॥ १८ ॥

देशीयगणेऽग्रगण्य प्रधान. । गुणनन्दीत्यर्थ ॥ २ ॥

॥ छ ॥ श्री ॥ छ ॥ श्री ॥ छ ॥

२. श्लोकानुक्रमणिका

■

३. टीकान्तर्गत ग्रन्थान्तरों के अवतरण

अ

आ

इ

ई

उ

---

१ मुद्रितेऽनेकार्थसंग्रहे तु 'च'—स्थाने 'स्यात्' इति वर्तते । २ 'ओदिदपवदातुपसर्गज्ञ' इति शाकटा० १।४।६६ । ३ 'रोगभेदोप' इति तु मुद्रिते विश्वप्रकाशे समुपलभ्यते ।

ऋ

ए

क

क्ष

ख

ग

घ

च

१ 'दोषैरपेत हित' इति मुद्रिते स्तोत्रे वर्तते । २. आचारसारेऽपि (४।९५) पद्यमिदं समुपलभ्यते ।

१. 'हृदाख्याचित्तवृत्तयोः' इति तु मुद्रिते विश्वप्रकाशे दृश्यते ।

१ क्षे°ऽस्तम° इति तु वैजयन्त्याम् । २ 'नेत्र मन्थिगुणे वस्त्रे तरुमूले विलोचने । नेत्र रथे च नाड्या च नेत्री नेतरि वाच्यवत् ॥' इति मुद्रिते विश्वप्रकाशे ।

प

---

१. 'केवले' इति तु मुद्रिते विश्वप्रकाशे । २. 'द्वित्रेर्धमेधौ' शाकटा० ३।४।३० ।

१. 'भागे' इति तु मुद्रिते विश्वप्रकाशे वतते । २ 'योर्मत ' इति तु मुद्रिते विश्वप्रकाशे । ३. मुद्रितेऽभिधानचिन्तामणौ तु 'रतकूजितम्' इति वर्तते । अमरकोषे तु 'मणित रतिकूजितम्' इति न विलोक्यते ।

१. 'मदी' इति तु मुद्रिते विश्वप्रकाशे । २. 'मौर्व्याप्रधानपारदेन्द्रियसूत्रसत्त्वादिसज्ञादिहरितादिषु' इति नानार्थरत्नकोषे—इति मुनिसुव्रतका० टी० पृ० १८१ ।

व

श

१ मुद्रितेऽमरकोषे तु परिचर्याप्युपासना' इति पाठो दृश्यते ॥ २. वात्यावातस्तु मण्डली' इति वैजयन्त्याम् । ३ 'शृङ्गे' इति तु मुद्रिते विश्वप्रकाशे । ४ व्यतिकर समाख्यात ' इति तु मुद्रिते विश्वप्रकाशे । ५ 'शालो हालनृपे' इति मुद्रिते विश्वप्रकाशे । ६ साल: पादपमात्र स्यात्' इति मुद्रिते विश्वप्रकाशे ।

ष

स

ह

१ 'समूहे' इति मुद्रिते विश्वप्रकाशे ।

४. पञ्जिकान्तर्गत ग्रन्थान्तरों के अवतरण

अ

आ

इ

औ

क

---

१ 'समधिको' इति तु मुद्रितेऽमरकोषे । २ तद्भाषणे । ३ तस्योपचर्या स्वयम् । ४ °सिद्धान्तधर्मा इमे । वस्तुतस्त्वेष श्लोको राजशेखरस्येति सूक्तिमुक्तावली (पृ० ४२४) तो ज्ञायते । (२, ३, ४ पाठान्तराणि मुद्रिताया सागारधर्मामृतटिप्पण्याम्) । ५ 'आवर्तोऽम्भसा' इति तु मुद्रितेऽमरकोषे पाठभेदो दृश्यते । ६ कामः क्रोधश्च मानश्च लोभो हर्षस्तथा मद । इति तु मुद्रिते कामन्दकनीतिसारे ।

१५ काम. क्रोधश्च हर्षश्च लोभो मानस्तथा मद.[1] ।
षडमी रिपव प्रोक्ता शरीरस्था हि देहिनाम् ॥ ४९४
१६ कुट्टिमोऽस्त्री निबद्धा भू ४९०
१७. कुथ स्यात्करिकम्बलः [अनेकार्थध्वनि० १४] ४९७
१८. कृपा दयानुकम्पा स्यात् [अमर० १।७।१८] ४७१
१९ क्व सरसि वनखण्ड पङ्कजाना क्व सूर्यः
क्व च कुमुदवनाना कौमुदीबन्धुरिन्दु ।
अतिपरिचयबद्धा प्रायश सज्जनाना
न विचलति हि मैत्री दूरतोऽपि स्थितानाम् ॥ ४९४

ग

२० गइ इंदिएसु काये जोगे वेदे कसाय णाणे य ।
संजम दसण लेस्सा भविया समत्त सण्णि आहारे ॥ ५०५
[पचसग० गा० ४६ पृ० ५७५]
२१. गन्धेन[2] गाव पश्यन्ति ब्राह्मणा वेदचक्षुषा ।
चारै पश्यन्ति राजानश्चक्षुर्भ्यामितरे जना. ॥ ४८०, ४९४

च

२२. चक्षुषो द्वे कपोलौ च पाणिपान्नाभिमेहना ।
अष्टौ स्थानानि नागाना मदस्य स्रुतिहेतव· ॥ ५००
२३ चन्द्रासवाभ्या[3] रमणीजनेभ्य [उ० द्वि० स० टी० पृ० १८] ४९०

त

२४ तुमुल रणसकुले [अमर० २।८।१०६] ५०१
२५ तीव्रैकान्तनितान्तानि [अमर० १।१।६७] ४७१
२६ तौ युतावञ्जलि पुमान् [अमर० २।६।८५] ४६५

द

२७ दृष्टि ज्ञानेऽक्ष्णि दर्शने [अमर० ३।३।३८] ४७०
२८. दोषान् काश्चन न[4] प्रवर्तकतया प्रच्छाद्य गच्छत्ययं
सार्धं तै सहसा म्रियेद् (म्रियेद्) यदि गुरु पश्चात्करोत्येष किम् ।
तस्मान्मे न गुरुर्गुरुतरान् कृत्वा लघूश्च स्फुट
ब्रूते य सततं समीक्ष्य निपुण सोऽयं खल सद्गुरु [आत्मानु० १४१] ४६५
२९ द्यावाभूमी[5] तु रोदसी ४८५

प

३० परस्तरार्यैपमोऽग्रे पूर्वें पूर्वतरे यति । [अमर० ३।४।२०] ४९२

---

१ काम क्रोधश्च मानश्च लोभो हर्षस्तथा मद । इति सु मुद्रिते कामन्दकनीतिसारे ॥ २ गावो गन्धेन पश्यन्ति वेदै पश्यन्ति वै द्विजा । चारै पश्यन्ति राजानश्चक्षुर्भ्यामितरे जना ॥ उ० पञ्चतन्त्र० ३।६५ पृ० २१५ । ३ आस्ता परेषा नरकीटकाना तप स्थितानामपि ही मुनीनाम् । चन्द्राशवाभ्या रमणीजनेभ्य प्रोद्दीपन केशवनन्दनस्य ॥ इति सम्पूर्ण श्लोक । ४ 'न' इत्यस्य स्थाने 'तान्' इति तु पाठो मुद्रिते, आत्मनुशासने दृश्येत । ५ 'द्यावाभूम्योस्तु रोदसी' इत्यभिधानचिन्तामणौ । ६।१६२ ।

---

१ 'पापं मलमिति प्रोक्तमु' इति सत्प्ररू० पृ० ३४ । २ 'तद्धि गालयतीत्युक्तं' इति सत्प्ररू० ३४ ।
३ 'मङ्गल मङ्गलार्थिभि' इति सत्प्ररू० पृ० ३३ ।

---

१ 'दुष्टदेवा' इति तु सत्प्ररूपणायाम् । २ 'पणन्त्यलं' इति तु मुद्रितेऽनगारधर्मामृते । ३ 'दुर्लभा-स्तद्घनाः' इत्यपि पाठोऽनगारधर्मामृते दृश्यते ।

५. मूल ग्रन्थकी सूक्तियाँ

चिरंतनाभ्यासनिबन्धनेरिता गुणेषु दोषेषु च जायते मतिः १।७
विराजतेऽनेकशकुन्तसंकुलो न राजहंसेन विना जलाशयः १।६३
स्वहितं मन्दमतिर्न पश्यति १।६९
बलवत्ता खलु कापि कर्मण' १।७२
सुधिय सङ्गसुखैकनि स्पृहा १।७४
मधुदिग्धमुखाममन्दधीरसिधारा खलु को लिलिक्षति १।७८
भवति हि मतिभाजा काललब्धिर्न वन्ध्या १।८०
'''लक्ष्मीर्भवति मुदे नहि बान्धवैर्वियुक्ता १।८२
स्वपक्षदर्शनात् कस्य न प्रीतिरुपजायते २।१५
यस्य देवस्य गन्तव्यं स देवो गृहमागतः २।२६
संदिग्धं हि परिज्ञान गुरुप्रत्ययवर्जितम् २।४३
सति धर्मिणि धर्मा हि भवन्ति न तदत्यये २।४६
यातु विभ्रमसंभ्रान्त पुरुष केन वर्त्मना २।५०
उपर्युपरि बुद्धीना चरन्तीश्वरबुद्धय. २।५२
उपकाराश्रया सर्वा संबन्धसमवस्थिति' २।७७
नन्वाश्रयाय सकलस्य सता प्रयास. ३।९
सर्वं हि विस्मयकर महता स्वरूपम् ३।१०
कर्तव्यवस्तुनि पुनर्नियतिः प्रमाणम् ३।२८
अन्धः सुलोचन इति व्यपदेशकाम ३।३२
पुत्रं विहाय निजसंततिबीजमन्यो न त्वस्ति मण्डनविधिः कुलपुत्रिकाणाम् ३।३३
तत्रोत्सुकं भवति भाग्यवतां हि चेतो यत्संपदां नियतमङ्गमनागतानाम् ३।५९
विक्षिप्तवृत्ति हि मनो न विचारदक्षम् ३।७३
मदं भजन्ते न महानुभावाः ४।१३
प्रज्ञां हि मोहः शिथिलीकरोति ४।१७
नारम्भदोषान्गणयत्यनन्तदुःखप्रदान्मोहवशेन जीवः ४।२०
बुद्धे. फल ह्यात्महितप्रवृत्तिः ४।२७
गुणैरुपेतोऽप्यपरैः कृतघ्नः समस्तमुद्वेजयते हि लोकम् ४।३८
युक्त्या त्रिवर्गं हि निषेवमाणो लोकद्वयं साधयति क्षितीशः ४।३९
विनीयमानो गुरुणा हि नित्यं सुरेन्द्रलीलां लभते नरेन्द्रः ४।४०
गूढात्ममन्त्र. परमन्त्रभेदी भवत्यगम्यः पुरुषः परेषाम् ४।४२
पितु सुपुत्रो ह्यनुकूलवृत्ति. ४।४४
सतां हि कोपो नमनावसान ४।५८
युक्तैव दीनेषु कृपोन्नतानाम् ४।५९

सुहृदर्थपरैर्महात्मभिर्न पुन' स्वार्थपरैरुदीयते	१०।३८
निरपेक्षा हि परोपकारिता	१०।४०
नो किंचित्फलमतिभग्नपीडनेन	१०।७०
कोपोऽय नियतममङ्गलावसानः	१०।७१
किं जातु त्यजति महामृतस्य वृक्षो माधुर्यं विषवनमध्यसप्रसूतः	१०।७३
अहो नराणा भवगर्तवर्तिनामशाश्वती पश्यत जीवितस्थितिम्	११।१०
बिभेति पापान्न सतामसमतान्न मन्यते दुर्गतिदु खमुद्धतम् ।	
विलोभ्यमानो विषयामिषाशया करोत्यकर्तव्यशतानि मानव	११।१४
अहेतुका यत्रापि न कार्यसपद'	११।२०
निरन्तर मुञ्चति वारि वारिदे विगाहितु धूलिरलं हि नाम्बरम् ।	११।२१
भवाम्बुराशौ पुनरापदा पदे पतन्ति ते ये न हिते विजाग्रति	११।२४
यदीदमागन्तुकदु खकारण प्रशस्यते ससृतिसौख्यमज्ञकै' ।	
तदा प्रशसास्पदमेतदप्यहो विषान्वितस्यास्तु गुडस्य भक्षणम्	११।२५
हितान्न योऽपैति स एव पण्डित	११।३०
हितानुबन्ध्याचरित महात्मनाम्	११।५४
शुभ तनोत्याशु निहन्ति चाशुभ करोति किं वा न सतामनुग्रहः	११।५७
किमस्ति दीनोद्धरणात्पर तप	११।६१
स्थिरा हि सन्त करणीयवस्तुनि	११।७०
प्रत्यक्षमन्यदथवा जगति प्रमाण सवादकं मतिमता सकलं प्रमाणम्	११।७८
नहि जगति नराणा पुण्यभाजामसाध्यम्	११।९१
महतामतिदूरवर्तिनोऽप्यनुराग जनयन्ति ते गुणा.	१२।६
भजते मदवृत्तिमात्मवान् क इवानात्महितप्रवर्तिनीम्	१२।१२
मदमूढमतिर्हिताहित न हि जात्यन्ध इवावलोकते	
परिपश्यति सोऽथवा धिया न मदान्धस्तु धिया न चक्षुषा	१२।१३
ननु खड्गबलेन भुज्यते वसुधा न क्रमसप्रकाशनैः	१२।३१
बलवानहमित्यहक्रिया नहि सर्वत्र भवेत्प्रशान्तये	१२।३५
भवति प्रियमिष्टसाधक महति क्षुद्रजने हठक्रिया	१२।४०
स्वहित स्वधियैव बुध्यते पुरुषः सत्युदये सुकर्मणः ।	
अविधेयविधिर्न बुध्यते स्वधिया नापि परेण बोधित.	१२।४३
न निमित्तमिहोपदेशको न च शास्त्रं न च साधुसंगतिः ।	
कुशलाकुशला च जायते धिषणा दैववशेन देहिनाम्	१२।४४
प्रविचिन्त्यमुदेतुमिच्छता प्रथमं स्वस्य परस्य चान्तरम् ।	
परिमृश्य कृतो न हि क्रम. शरभस्येव विपाकदारुणः	१२।४६
अधमेन समेन वाधिकामधिगच्छन्निजभाग्यसंपदम् ।	
मतिमान् विदधातु विग्रह बलवद्भिः सह कोऽस्य विग्रहः	१२।४७
परिवारितमप्यगैर्नग क्षुभित. प्लावयितुं क्षमोऽम्बुधि	१२।५१
स्फुटतामुपयाति कस्यचिद्रसभेदो नहि जिह्वया विना	१२।५२
प्रतिकूलजने ह्युपेक्षण हितशिक्षानुगतैकवृत्तिषु	१२।५३

अवभासयतेऽखिल जगद्दिवसोऽय महिमा रवेरसौ १२।५८
अपथाद्विनिवर्तयेत को गुरवश्चेन्न भवेयुरङ्कुशा १२।६१
नहि धामधनोऽप्यसारथिर्नभस. पारमुपैति भास्कर. १२।६२
नहि कार्यविपश्चित पुरो निगदन्राजति शास्त्रपण्डित १२।७०
नयविक्रमयोर्नयो बली नयहीनस्य वृथा पराक्रम. १२।७३
बलवानपि जायते रिपु. सुखसाध्यः खलु नीतिवर्तिनाम् १२।७४
परिनिर्वाति किमग्निरग्निना १२।७८
प्रभु दोषशत प्रमार्जितु पुरुषस्यैकमपि प्रिय वच. १२।८०
धनहानिरुपप्रदानतो बलहानिर्नियमेन दण्डत ।
अयश कपटीति भेदतो बहुभद्र नहि सामत परम् १२।८१
पठितव्यमिहान्यथा स्थित करणोयप्रतिपत्तिरन्यथा ।
नहि पृष्ठभरे नियुज्यते हलसंभावितयोग्यतः पशु' १२।८३
अविभाव्यप्रकृतिर्हि दुर्जन १२।८५
विषये खलु सनियोजित. सदुपाय फलवान्न चान्यथा ।
नहि वज्रधरायुधाचिते क्रमते ग्रावणि लोहमायुधम् १२।८६
उपयाति सुखेन वश्यता किमनड्वानपनाथनासिक १२।८७
पुरुषस्तपनोयवद्गुरुर्न परैर्यावदसौ निगृह्यते ।
तुलितस्तु स एव तत्क्षणात्तृणराशौ निपतत्यसशयम् १२।८८
शिवहेतुरुदाहृता क्षमा व्रतिनामेव न मेदिनीभुजाम् १२।८९
कृपणस्य परानुवर्तनै सततार्तस्य धिगस्तु जीवितम् ।
अनुनीय परं निजोचितैर्ललितैर्जीवति किं न मण्डल. १२।९१
सहते क खलु मानखण्डनम् १२।९३
रहित सहजेन तेजसा पशुवत्केन बलान्न वाह्यते ।
महतामत एव वल्लभा ननु वृत्तिर्मृगराजसेविता १२।९४
सुविचार्य करोति बुद्धिमानथवा नारभते प्रयोजनम् ।
रभसात्करण हि कर्मणा पशुधर्म स कथ नु मानुषे १२।१०२
तनय स तनोति यः कुल स सुहृद् यो व्यसनेऽनुवर्तते ।
स नृप परिपाति य प्रजा स कविर्यस्य वचो न नीरसम् १२।१०८
गुरुवचन ह्युदर्यैषिणामलङ्घ्यम् १२।१११
क्वचिदतीव गुणोऽप्यगुणायते १३।४२
सहजमेव पुरन्ध्रिषु कैतवम् १३।४५
विषयिणो नियत विपदा परम् १३।४९
न श्रेयसे खलु भवत्यपदेऽपि कोप १३।६०
शान्त्यै भवत्युपकृत क्व खलप्रियेषु १४।६३
रम्य कुतूहलकर न यथा ह्यपूर्वम् १४।६५
युक्त परार्थघटने महतां प्रमोद १५।६६
दैवादुपस्थिते कृच्छ्रे शूराणा विक्रम क्रम १५।६२
तुलयन्ति महान्तो हि नात्मानमधमै समम् १५।१०४

धिक् कष्टमीदृशं कर्म करोति कथमीरितः ।
लक्ष्मीकुलटया लोकः क्षणरक्तविरक्तया १५।१३४
विपत् सपदि जागर्ति जरा जागित यौवने ।
मृत्युरायुषि जागर्ति वियोग प्रियसगमे १५।१३५
नावियोग सुहृत्सङ्गो न जन्मामृत्युदूषितम् ।
यौवन न जराग्रस्त श्रीर्नापदकटाक्षिता १५।१३६
रक्षार्थं प्रजया दत्त षष्ठाश वेतनोपमम् ।
गृह्णन् भृतकवन्मूढो राजाहमिति मन्यते १५।१३७
क्रोधादिभिरय जीव कपायै कलुषीकृतः ।
तत् किंचित् कुरुते कर्म यत् स्वस्यापि भयावहम् १५।१३८
भ्रातॄन् हन्ति पितॄन् हन्ति बन्धूनपि निरागसः ।
हन्त्यात्मानपि क्रोधाद्धिक् क्रोधमविचारकम् १५।१३९
हन्ता ययाहमस्यात्र परत्रैष तथैव मे ।
ससारे हि विवर्तन्ते बलवीर्यविभूतय. १५।१४०
भोगान् धिग् धिग् धनं धिग् धिग् धिग् धिगिन्द्रियज सुखम् ।
धिग् धिक् परोपघातेन यदन्यदपि जायते १५।१४१
न पर बन्धन प्रेम्णो न विष विषयात् परम् ।
न कोपादपर शत्रुर्न दु ख जन्मन. परम् १५।१४३
प्रायेण स्थिरमतयोऽपि विप्रमोहं नीयन्ते मदनफलैरिवेन्द्रियार्थैं १६।२२
मन्दत्व भवति न कस्य वाभिभूत्यै १६।२३
प्रणतकृपालवो महान्त १६।२७
मुदे केपा न स्यादभिलषितसप्राप्तिरथवा १६।६७
अथवा न कस्य जिनजन्म वृद्धये १७।७
शक्यमिदमशक्यमिति प्रविचारबाह्यमतयो हि कार्मिण १७।२६
किमु नौश्रितो जलनिधौ निमज्जति १७।२८
नहि बाधते तुहिनमग्निसेविनम् १७।२९
किमु विस्रसा श्रमहर न चन्दनम् १७।३१
जनवृद्धिहेतुरुदयो हि तादृशाम् १७।५३
सक्तिमविरतमतिः कुरुते हतबुद्धिरेव न तु बोधभासुरः १७।६९

६. मूलग्रन्थगत विशिष्ट-शब्द-सूची

व्यक्तिगत-नाम

अकलङ्क (२.१०४) तत्त्वार्थवार्तिक आदि ग्रन्थोंके प्रणेता

अग्रज (१.१). प्रथम तीर्थङ्कर ऋषभदेव

अजितंजय (५.२३) कोशला नगरीका राजा

अजितसेना (५ ३६) रा० अजितजयकी पत्नी

अजितसेन (५ ४०) रा० अजितंजयका पुत्र

अनन्त (३ ४४) इस नामके एक चारणमुनि

कण्ठ (१५ १७) रा० पद्मनामका सामन्त

कनकप्रभ (१ ३९). रत्नसञ्चयपुरका राजा

केतु (१५.७३) रा० पृथिवीपालका सामन्त

गुणप्रभ (११.३१): इस नामके एक मुनि

चण्डरुचि (५.५३): इस नामका एक असुर

चन्द्रकीर्ति (१५ ११२) ' रा० पृथिवीपालका सामन्त

चन्द्रशेखर (१५ ६१) रा० पृथिवीपालका सेनापति

चित्राङ्ग (१५.१७): रा० पद्मनाभ का सामन्त

जयवर्मा (६ ४३) विपुलपुरका राजा

जयश्री (६.४४) रा० जयवर्माकी पत्नी

जितशत्रु (११. ६७) सम्राट् अजितसेनका पुत्र

तपोभूषण (५ ७२) इस नामके एक मुनि

देवाङ्गद (३.५३) इस नामका एक वणिक्

धरणीध्वज (६ ७६) आदित्यपुरका राजा

धर्मपाल (१५ ९४) रा० पृथिवीपालका पुत्र

धर्मरुचि (१७ ६६) ' इस नामका एक देव

धृति (१६ ७०) इस नामकी एक देवी

पद्मनाभ (१ ५८) रा० कनकप्रभका पुत्र

परतप (१५ १७) रा० पद्मनाभका सामन्त

पुरुभूति (१२ ६७) रा० पद्मनाभका प्रधान मन्त्री

पृथिवीपाल (१२.३). रा० पद्मनाभ विरोधी राजा

प्रभावती (४ १५) श्रीवर्माकी पत्नी

प्रभास (७ ६५). इस नामका एक देव

प्रियधर्म (६ ७७) इस नामके एक क्षुल्लक

भीम (१५ १६) रा० पद्मनाभका सामन्त

भीम (१५ ६७) रा० पद्मनाभका सेनापति

भीमरथ (१५.१८): रा० पद्मनाभका सामन्त

महासेन (१५ १६) रा० पद्मनाभका सामन्त

महासेन (१६ ११) भ० चन्द्रप्रभके पिता

महोरथ (१५ १८). रा० पद्मनाभका सामन्त

मागध (७ ६६) इस नामका एक देव

लक्ष्मणा (१६ १६) भ० चन्द्रप्रभकी माता

वरुणा (१८ १५०) इस नामकी एक आर्यिका

विरोचन (१५.७७) रा० पृथिवीपालका सामन्त

वीर (१ ४). चौबीसवें तीर्थङ्कर महावीर

शशिप्रभा (६.४५). रा० जयवर्माकी पुत्री

शशिलाञ्छन (१.२) अष्टमतीर्थङ्कर चन्द्रप्रभ

शशिशेखर (१५ ७१) रा० पृथिवीपालका सेनापति (चन्द्रशेखर इसीका अपर नाम है)

शची (६.३३). इस नामका एक किसान
शान्ति (१.३) सोलहवें तीर्थङ्कर शान्तिनाथ
श्री (१६ ७०) : इस नामकी एक देवी
श्री (३.५३) . देवाङ्गद वणिक्की पत्नी
श्रीकान्ता (३.१४) रा० श्रीषेणकी पत्नी
श्रीधर (१ ८१) . इस नामके एक मुनि
श्रीप्रभ (४ ४५) : इस नामके एक आचार्य
श्रीवर्मा (३ ७५) रा० श्रीषेणका पुत्र
श्रीषेण (३.१) : श्रीपुरका राजा
समन्तभद्र (१.६) · देवागम आदि ग्रन्थोके प्रणेता
सुकुण्डल (१५.१७) : रा० पद्मनाभका सामन्त
सुधर्म (६ ८१) . इस नामके एक मुनि
सुनन्दा (३ ५३) . देवाङ्गद वणिक्की पुत्री
सुभीम (१५ १६) ; रा० पद्मनाभका सामन्त
सुवर्णनाम (१ ८५) : रा० कनकप्रभका पुत्र
सुवर्णमाला (१ ५४) रा० कनकप्रभकी पत्नी
सुकेतु (१५ ७५) : रा० पृथिवीपालका सामन्त
सूर्य (६.३३) . इस नामका एक किसान
सूर्यरथ (१५ ९०) : रा० पृथिवीपालका सामन्त
सेन (१५.१६) : रा० पद्मनाभका सामन्त
सोमप्रभा (१.८५) रा० पद्मनाभकी पत्नी
सौवर्णमाल (१५ १२७) · सुवर्णनाभका अपर नाम
हिरण्य (६.३५) : इस नामका एक देव
ह्री (१६.७०) इस नामकी एक देवी

पशु-नाम

अश्व (१५ ६०) . घोड़ा
अष्टापद (१.५१) आठ पैरोंका हिंसक पशु
करेणु (१४ ५९) हथिनी
कुरङ्ग (१.४४) मृग
केसरिन् (५.३२) . सिंह
खर (२ ९९) : गदहा
खड्गिन् (६. १३) गेंडा
गज (१ २५) हाथी
गजेन्द्र (६.१२) गजराज
गो (१.४७) . गाय तथा पृथिवी
गो (१.६५) बैल
चमर (१४.२०) . विशेष प्रकारका मृग
चमरी (४.६२) : विशेष प्रकारकी मृगी
जरद्गव (१.६६) बूढ़ा बैल
जलेभ (१.२२) : जलगज
तुरग (३.७) घोडा
दिक्करिन् (५ ३४) दिग्गज
नाग (१.७) . हाथी
पुण्डरीक (६ ८) . बाघ
पोतक (१.१०) · दस वर्षका हाथीका बच्चा
प्लवग (६ १०) . बन्दर
मत्तवारण (२.१३२) उन्मत्त हाथी तथा छज्जा
मय (१३.२८) : ऊँट
मार्जारपोत (१४ ३२) बिलावका बच्चा
मृगेन्द्र (४.६२) : सिंह
रासभ (२ ९७) : गदहा
वेगसर (१३ २७) . खच्चर
वृषभ (१४.६४) : बैल
व्याघ्री (२.७१) : बाघिन
शिवा (१५.२७) शृगाली
सप्ति (१०.७५) घोडा
सिंह (१ ३१)
हरिण (१६.२)

पक्षि-नाम

अन्यपुष्ट (३ ४३) कोकिल
कपोत (१६ ५१) कबूतर
कुक्कुट (२ ११८) मुर्गा
कोक (९ ३७) चक्रवाक
कोकिल (८ ८)
गरुत्मन् (६ ५४) गरुड
घूक (३.२) उल्लू
चकोर (३ ६४)
चक्रवाक (४.३५)
तार्क्ष्य (१५ ७४) गरुड
नीलकण्ठ (१४ ३७) मयूर
भारद्वाज (१५.२८)
रथाङ्ग (१०.६६) चक्रवाक
राजहंस (१ ६३)
वायस (१५.२८) कौवा
शिखण्डिन् (१ २८) मयूर
शिखिन् (८ ५४) ,,
शुक (१ १३) तोता
सारिका (१२.९९) मैना
हस (२ १३५)
हसी (८.५७)

वृक्ष-नाम

अशोक (२.१३) : इसी नामसे प्रख्यात वृक्ष
कदम्ब (२ २२) . इसी नामसे प्रख्यात वृक्ष
कर्णिकार (८.३१) . कनेर
क्रमुक (२.११५) : सुपाड़ीका वृक्ष
काञ्चनार (८ २५) कचनार
कुटज (२.१९) कौरैया
कुन्द (२.१८) · इसी नामसे प्रसिद्ध वृक्ष
कुरबक (८.८) लाल कटसरैया
चम्पक (२ १६) चम्पा
चूत (२.१२) · आमका वृक्ष
तमाल (९.२) इसी नामसे विख्यात काले रंगका वृक्ष
तिलक (२ १५) · तालमखाना
नवमल्लिका (२.२१) वसन्ती नेवारी वृक्ष
नागशाखिन् (१७ ८२) नाग-वृक्ष
पलाश (२.१७) · ढाक
पुन्नाग (२ ३२) · नागकेसर
बकुल (२.१४) : मौलसिरी
बाण (२ १०) इसी नामसे प्रसिद्ध वृक्ष
मल्लिका (२.१३७) छोटी बेला
सप्तपर्ण (६ ९) सप्तच्छद
सल्लकी (१४.६२) सलई

आभूषण-नाम

अङ्गद (१३.६) बाजूबन्द
कटक (१७ ४९) · कड़े
कर्णपूर (२.७)
कुण्डल (१३.४)
चूडारत्न (१५.१७) : चूडामणि
नूपुर (९ ३) पायल
प्रालम्ब (१५ १७) लम्बा हार
मणिकङ्कण (१५ ११)
मणिमाला (१० ५९)
मणिमुद्रिका (१७ ४९)
मुकुट (७ ९३)
मौक्तिकमाला (१५.१६)
रत्नकण्ठिका (१५.१७)
रशना (७ ८९) करधनी
हार (९ ७)
हारयष्टि (१ ६)
हारलता (१३ ३)
हारलतिका (७.८५)

शस्त्रास्त्र-नाम

अचलास्त्र (६.१०५)
अब्दास्त्र (६.१०५)
अर्धचन्द्र (१५.७१)
असि (६.१०६)
आग्नेयास्त्र (६.१०५)
इषु (६.५४)
उद्यमास्त्र (६ १०५)
कुन्त (१५.१०८)
कुलिश (६ १०५)
गदा (१५.१२८)
गरुडास्त्र (६.१०५)
चक्र (१५.१२७)
चाप (२.५)
तन्द्रास्त्र (६.१०५)
तपनास्त्र (६.१०४)
तामसास्त्र (६.१०३)
दण्ड (१५ ४८)
पवनास्त्र (६.१०५)
प्रास (१५ १०८)
भुजगास्त्र (६ १०५)
मुद्गर (१५ १२७)
वज्रमुष्टि (१५.१२९)
विघ्नविनायकास्त्र (६ १०५)
शक्ति (१५ १२८)
शकु (१५.८६)
सिद्धयस्त्र (६.१०५)
हेति (६.१०६)

भौगोलिक नाम

अङ्ग (१६.२५) भागलपुरसे मुगेर तक फैले हुए प्रदेश में 'अङ्ग' नामक देश था।
अनुत्तर वैजयन्त (१५.१६१) यह विमान पांच अनुत्तर विमानोमें दूसरा है।
अपर विदेह (२ ११४) पुष्करद्वीपवर्ती पूर्वमन्दरगिरिकी पश्चिम दिशाका एक क्षेत्र।
अयोध्या (७ ८०) धातकीखण्ड द्वीपके पूर्व भरतकी एक नगरी।
अरिञ्जय (६.४१) ,, ,, का ,, देश।
अलका (५ २) ,, ,, ,, ,, ,,।
आदित्यपुर (६.७५) ,, ,, के विजयार्ध पर्वतक दक्षिणका एक नगर।
आन्ध्र (१६ ३४). सम्प्रति इसका यही नाम है।
इषुकार गिरि (५ १) धातकीखण्ड द्वीपके दक्षिणका एक पर्वत, जिसका आकार वाण सरीखा है।
उत्तरापथ (१६ ४७) भारतवर्षका उत्तरी भाग पहले उत्तरापथ कहलाता था।
उदयाद्रि (१० १९). धातकीखण्ड द्वीपका एक पर्वत।
उड्र (१६ २८). यह देश किसी समय उड़ीसाके भूभागमें विद्यमान था।
कर्णाट (१६ ३५) वर्तमान कर्णाटक, जिसमें मैसूर तथा कुर्ग आदि जिले सम्मिलित हैं।
कलिङ्ग (१६ २६) यह देश कभी उडीसासे आन्ध्र तक फैला हुआ था।
काश्मीर (१६ ५०): इस समय भी इसका यही नाम प्रसिद्ध है।
कीर (१६.५०) पजाबका कीर ग्राम या बैजनाथ।
कोशला (५.१२) धातकीखण्ड द्वीपके अलका नामक देशकी एक नगरी।
खश (१६.५१). इस देशकी स्थिति काश्मीरके दक्षिणमें थी।
चन्द्रपुरी (१६ ६) वाराणसीके निकट गगातटपर स्थित यह पुरी अभी भी जैनोमें इसी नामसे प्रसिद्ध है।
चेदी (१६ २८) मध्यप्रदेशकी चदेरीके आस पासका प्रदेश पहले 'चेदी' देशके नामसे प्रख्यात रहा।
जलवाहिनी (१३ ५३) धातकीखण्ड द्वीपकी एक नदी।
टक्क (१६.४९) झेलम और सिन्धु नदियोके बीचका प्रदेश 'टक्क' या 'वाहीक' देश कहलाता था।
द्विपूरणद्वीप (१.११): दूसरा द्वीप–धातकीखण्ड।
द्रमिल (१६ ३६) यह द्रविड देशका ही अपर नाम है, जो कृष्णा और पोलार नदियोंके बीचमें था।
परुषा (६ ४) धातकीखण्ड द्वीपकी एक अटवी।
पाञ्चाल (१६ २७) उत्तरप्रदेशका रुहेलखण्ड 'पाञ्चाल' देशके नामसे प्रख्यात रहा।
पारस (१६.४२) फर्सिया या फारस 'पारस' देशके नामसे प्रसिद्ध था।
पूर्वदेश (१६ १) वाराणसीसे आसाम और वर्मा तकका पूर्वीय भारत 'पूर्व देश' कहा जाता था।
पूर्वमन्दर (१ ११) धातकीखण्ड द्वीपके पूर्वभागका पर्वत, जो पाँच मेरुपर्वतोंमें गिना जाता है।
पूर्व विदेह (१ १२) ,, पूर्व मन्दरके पूर्व भागका एक क्षेत्र।
मङ्गलावती (१ १२) ,, ,, ,, विदेह का ,, देश।
मनोहर (२ २) रत्नसचयपुरका एक उद्यान।
मणिकूट (१४ १) धातकीखण्ड द्वीपका एक पर्वत।
मलयगिरि (१६.३७) दक्षिण भारतके ट्रावनकोरकी पर्वत श्रेणियाँ।
रत्नसचयपुर (१.२१). धातकीखण्डद्वीपके मङ्गलावती देशका एक पुर।
लाट (१६.४०) दक्षिणी गुजरात और खानदेशका सम्मिलित प्रदेश 'लाट' कहलाता था।

विजयार्ध (६ ७३) हिमवान् और दक्षिण समुद्रके मध्यमें स्थित, धातकीखण्डके भरतक्षेत्रका एक पर्वत।
विपुलपुर (६.४२) धातकीखण्ड द्वीपके भरतक्षेत्रका एक पुर।
वेलाद्रि (१६ ३२) वीरनन्दीके निर्देशानुसार यह भारतके पूर्व समुद्रके निकटका एक पर्वत है।
शिवकर (११ ३२) धातकीखण्ड द्वीपके भरतक्षेत्रका एक उद्यान।
शीतोदा (२ ११४) पुष्करार्धद्वीपके अपर विदेह क्षेत्रकी एक नदी।
श्रीपुर (२ १२५) ,, सुगन्धि देशका एक समृद्ध नगर।
सम्मेदशैल (१८ १५२) 'शिखरजी' नामसे प्रख्यात पुनीत तीर्थ पर्वत, जो हजारीबाग जिले में है।
सुगन्धि (२ ११४) पुष्करार्धद्वीपस्थ पूर्वमन्दरके अपर विदेहका एक देश।
सिन्धु (१६ ४१) यह देश सम्प्रति भारतके उत्तरी भागमें 'सिन्ध' नामसे प्रसिद्ध है।
हिमाचल (१६ ५२) यह पर्वत भारतके उत्तरमें है, जो हिमाचल या हिमालय नामसे प्रख्यात है।

पारिभाषिक शब्द

अधर्म (१८ ६७) जीवों और पुद्गलोंके ठहरनेमें सहायक एक अचेतन द्रव्य, जो व्यापक है।
अनन्तचतुष्टय (१ ३) अनन्त—अन्त रहित, चतुष्टय—चार ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य।
अनवस्था (२ ५८) वह दोष, जिसमें अनन्त अप्रामाणिक कल्पनाओंका विराम न हो।
अर्हत् (१ ९) चार घातिया कर्मोंको नष्ट करके पूर्ण ज्ञान आदि गुणोंको प्राप्त करनेवाले अरिहन्त।
अवसर्पिणी (१८ ३५) वह काल, जिसमें बौद्धिक और शारीरिक आदि सभी प्रकारके ह्रास होते चले जायें।
आर्त (१८ ११५) इष्टवियोग आदि कारणोंसे जन्य दुर्ध्यान—अशुभ ध्यान।
उत्सर्पिणी (१८ ३५) वह काल, जिसमें बौद्धिक एवं शारीरिक आदि सभी प्रकारकी वृद्धि होती चली जाये।
उपादान (२ ६९) वह कारण, जो स्वयं कार्यरूपमें परिणत हो जाये।
कषाय (११.४७) कर्मरजको आत्माके साथ सश्लेष करानेमें जो गोंद जैसा कार्य करे।
गणधर (१८ १५२) तीर्थङ्करोंके शिष्य, जो चार ज्ञानोंसे विभूषित विशिष्ट मुनि होते हैं।
गणाधिप (१ ९) समवसरणस्थ बारह गणोंके स्वामी—प्रधान गणधर या गणधर।
घाति (१४ ३६) आत्माके अनुजीवी ज्ञान आदि गुणोंके घातक ज्ञानावरण आदि चार कर्म।
धर्म (१८ ६७) जीवों और पुद्गलों में सहायक अचेतन द्रव्य, जो सर्वत्र व्याप्त है।
धर्म्य (१८ ११५) आज्ञाविचय आदि चार भेदोंमें विभक्त एक शुभ ध्यान।
नय (३ ११) वस्तुके एक अंशको जाननेवाला ज्ञान।
नास्तिक (२ ४४) वह व्यक्ति या दर्शन, जो आत्मा, परमात्मा, स्वर्ग, नरक और मोक्षको न माने।
निदान (३ ५४) भविष्यत्कालीन भोगोंकी लालसा।
परिदेवन (१८ ८५) ऐसा रोना, जिसे सुनकर दूसरोंको भी रोना आ जाये।
पुद्गल (१८ ७८) वह अचेतन द्रव्य, जिसमें रूप, रस, गन्ध और स्पर्श गुण हो।
प्रमाण (११ ३७) सच्चा ज्ञान।
रौद्र (१८ ११५). एक अशुभ ध्यान, जो हिंसानन्दी आदि भेदोंसे चार प्रकारका है।
शुक्ल (१८ ११५) सर्वोत्कृष्ट शुभ ध्यान। अन्य ध्यानोंकी भाँति यह भी चार प्रकारका है।
समवसरण (१७ ८३) तीर्थङ्करोंकी दिव्य देशनाकी एक विशिष्ट सभा।

विविध शब्द

अ

अङ्कदोर्ललित (५.५८) गोद-का खिलौना
अङ्गारिणी (४ ६४) अङ्गार-युक्त
अकण्टक (१२.४१) क्षुद्र शत्रु-ओंसे रहित
अकृष्टपच्य (१२ ११७) विना हल जोते ही उत्पन्न होने-वाला अनाज
अखिलावसर (३ २०) · आम सभा
अगम्य (४ ४२) अजेय या अभेद्य
अनलम् (५.५८) असमर्थ
अन्तरीय (७ ८३) अधोवस्त्र
अन्त्यशरीरभाक् (५ ८६) तद्भवमोक्षगामी
अभिजाति (६ ९३) कुल
अभिशत्रु (१५ २१) शत्रुके अभिमुख
अर्चा (१७ ८८) · जिनप्रतिमा
अवर्षण (१६ ५) वृष्टि न होना—सूखा
अष्टशोभा (६.५६) मार्जन आदि
अष्टापदवृत्ति (१ ५१) अष्टापद[1]-की भांति स्वयको हानि-कर अविचारित व्यापार

आ

आजिकण्डु (६ २४) युद्धकी खुजलाहट
आधि (९ १३) मानसिक व्यथा
आयसकञ्चुक (१३.२२) लौह कवच
आशीविष (१५ ७४) जहरीला नाग

इ

इड्डुरिका (१३.४९) पूरी-पकवान

उ

उपप्लुत (२.४७) बाधित

क

कच्छवाट (४ ७०) कछवाडा
कञ्चुकिन् (१ ४८) अन्त पुर-का अधिकारी
कन्दर (१४ ६५) गुफा
कन्दु (१४ ४९) मिठाई
कपाली (१४ १९) महादेव
कम्र (३ ४१) मनोहर
कलम (१३ ४२) धान
काकली (१४ ६५) मधुर ध्वनि
काकतालीय (४ २६) 'अक-स्मात्' अर्थमें प्रयुक्त काक-तालीय न्याय
कापिल (२ ८२) साख्य
कार्यिन् (१७ २६) . कार्याभि-लाषी
कुथ (१३ १३) · झूल
कुलपुत्रिका (३ ३३) कुलीन स्त्री
कुलमेदिनीधर (१.१९) . कुला-चल
कूटस्थनित्य[2] (२ ४९) सर्वथा-नित्य
कूर्च (१२ ८४) दाढी-मूँछ
कृत्स्न (२ ९२) समस्त

क्ष

क्षुत् (१५.३२) छीक

ख

खपुष्प (२.४२) आकाशका फूल—अवस्तु
खल्वविल्वविधि (७ ४७) 'अक-स्मात्' अर्थमें प्रयुक्त खल्व-विल्वन्याय
खेचर (६ ७३) विद्याधर

ग

गृहमेधिन् (११.६०) . गृहस्थ

घ

घनवर्त्म (५.४७) आकाश

च

चक्ररत्न (७ १) सम्राट्के चौदह रत्नोंमें पहला
चर (१२ १७) गुप्तचर
चारणमुनि (३ ४४) चारण ऋद्धिके धारक आकाश-चारी मुनि

ज

जलधियोषित् (२ १२४) नदी
जलराशियोषित् (१ १५) नदी
जात्यन्ध (१२ १३) जन्मान्ध

त

तनुच्छद (१५ ६) कवच
तरसा (१२ १०६) शीघ्र

---

१. अष्टापद आठ पैरोका कुत्तेके आकारका एक हिंसक पशु होता है। वह जिस जानवरका शिकार करता है, उसीके ऊपर बैठा रहता है। फलत उसमें उत्पन्न हुए कोडोंसे वह स्वय मारा जाता है। विशेषके लिए द्विसन्धानके 'न विक्रम शरभनिपातसन्निभ ' इत्यादि श्लोक (२.२०) की सस्कृत टीका द्रष्टव्य है।
२ वेदान्ती (ब्र० सू० शाङ्करभाष्य पृ० २०) आत्माको कूटस्थनित्य मानते हैं। यद्यपि साख्योकी भी यही मान्यता है, पर वह यहाँ विवक्षित नही है। विशेषके लिए 'तत्त्वसंसिद्धि ' (राज विद्या-मन्दिर, बी० २४।१०९, कश्मीरीगज, वाराणसी–१) अवलोकनीय है।

द

दिक्करी (५ ३४) दिग्गज
दीपोत्सव (२.१३०) दीपावली
दूत (८ ३५) मन्त्रज्ञ

ध

धरणीध्र (६ १८) पर्वत
धर्मी (२ ४६) . पदार्थ

न

नाक (१२ ८७) [illegible] स्वर्ग
नान्दीश्वर (३ ६०) आष्टा-ह्निक पर्व
निकुरम्ब (९ ३५) समूह
निधि (७ १८) पाण्डुक आदि नौ
निबन्धन (१.७) निमित्त
नियति (३ २८) भाग्य
निर्वेद (४ ७७) वैराग्य
नृकीट (६ २१) तुच्छ मनुष्य

प

पञ्चम कल्याण (१८ १५८) मोक्ष
पटवास (१४ ४) कपड़ोंको सुवासित करनेवाला चूर्ण
पयोविकार (४ ५२) दही आदि
परभाग (७ ८०) शोभा
परिच्छद (९ २७) सामग्री
परारि (११ १३) परसों
परुत् (११ १३) कल-अगला दिन
पल्ययन (१४.५१) घोड़ेकी जीन
पाण्डुकदृषत् (१७ १९) पाण्डुकशिला
पुटभेदन (३ ५३) नगर
पूत्कार (१ ५०) दुःखभरा शब्द—चीत्कार
प्रणायक (११ ५०) उत्कृष्ट नायक
प्रधूमिता (४ ६४) मलिन
प्रधान (२ ८३) सांख्याभिमत जडतत्त्व-प्रकृति

ब

बन्दिन् (४.६८) स्तुतिपाठक
बल्लव (१३ ३०) अहीर
बिस (१० १७) कमलदण्ड
बुभुत्सा (६.१३) जिज्ञासा

भ

भोमुक (११.३०) . भोग
भोग (७ ७७) भोग्य पदार्थ

म

मण्डलिन् (१ ८७) : सामन्त
मन्दुरा (१४ ४६) घुड़साल
मय (१३.२८) ऊँट
महेच्छ (६ १०८) . महाशय
मीमांसापक्षपातिन् (२ ८०) . मीमांसक
मौल[1] (४ ४७) वंशपरम्परागत
मौलि (११ २) मुकुट

य

यतिवृष (११ ७५) श्रेष्ठमुनि
योजन (१७ ८३) चार कोस

र

रथकट्या (१३ ७) रथसमूह
रहसा (१२ १०७) तीव्र
रल्लक (१३ ८१) . कम्बल

ल

ललन (१२ ९१) पूंछ हिलाना
लाघव (१२ ८९) स्फूर्ति-फुर्ती
लाङ्गल (१३ ५१) हल
लिङ्ग (२ ९५) हेतु
लिलङ्घिषु (१२ ३५) लाँघनेका अभिलाषी
लोहकान्तमणि (४ ४६) चुम्बक

व

वचोहर (१२ १) दूत
वणिक्पथ (७ ८१) बाजार
वनेचर (११.३४) माली
वन्य (१७ ९१) व्यन्तर देव
वंश (१३ ४०) बांसुरी
वारिक (७ ३७) जल भरनेवाले कहार
विप्लवि (५ ५५) भ्रमयुक्त
विवप्सु (१३ १९) बोनेके लिए इच्छुक
विस्रसा (१७ ३१) स्वभावत
वैवधिक (१३ ३१) कांवरसे बोझ ढोनेवाले
व्यपह्नुतित (५ ६५) अपहृत

श

शक्ति (७ ६१) : प्रभुशक्ति, मन्त्रशक्ति और उत्साहशक्ति
शतक्रतु (१ ८६) इन्द्र
शयु (६ ७०) अजगर
शाकुनिक (१७ ३३) दुष्टग्रह
शाक्य (१६.७०) बौद्ध
शिखिन् (१२ ३८) . अग्नि
शिशिक्षिषा (५ १९) . सीखने-की इच्छा

ष

षड्वर्ग (४ १८) काम, क्रोध हर्ष, लोभ, मान, मद
षाड्गुण्य (१२ १०४) : सन्धि, विग्रह, यान आसन, संश्रय, द्वैधीभाव

स

सङ्घट्ट (१५.३५) संघर्ष या टक्कर
सदस् (५ ५७) सभा
सन्दशक (१० ३२) : सड़सी-सडसी
सम्भ्रम (५ ७७) शीघ्रता
समुत्क (१४ १९) उत्कण्ठित
सर्वावसर (११ २) आम सभा
साल्पपूरुष (१२ ८१) अकिंचित्कर
सिद्धालय (३.५७) . मोक्ष
सिद्धि (४.४५) मुक्ति
सिंहनिष्क्रीडित (१५ १५०) एकव्रत
सुगत (५ २९) बुद्ध
सुहृत् (३ २३) कारण
सृणि (११ ९०) अङ्कुश
स्मृतिविप्रमोष (७ ९०) स्मृतिभ्रंश

ह

हठक्रिया (१२.४०) बलात्कार
हस्तिपाल (१४ ६२) महावत

---

१ मन्त्रि-पुरोहित-सेनापति दुर्गाधिकारि–कर्माधिकारि–कोषागारिक–दैवज्ञा इति सप्तविध मौलबलम् । —व्याख्या ४ ४७, पृ० १०६

७. व्याख्यान्तर्गत विशिष्ट-शब्द-सूची

८. पञ्जिकान्तर्गत विशिष्ट-शब्द-सूची



९. च० प्र० में प्रयुक्त छन्दोंका विवरण

			छन्दोंके अनुसार श्लोक संख्या
१	अतिरुचिरा—	१४ ६९	१
२	अनुष्टुप्—	२ १–१४२, १५. १–१५९, १८ १–१५१, प्र० ५	४५३
३	इन्द्रवज्रा—	१४ १५	१
४	उद्गता—	१७ १–८२	८२
५.	उपजाति—	४ १–७४, ५ ७३–७५, ७७–८१, ८३, ८६–८९, १४ ३–५, ८–१०, १२–१४, १६–१९, ३१, १६ ६८, प्र० १	१०३
६	उपेन्द्रवज्रा—	५ ७२, ७६, ८२, ८४–८५, १४ १–२, ६–७, ११	१०
७.	औपच्छन्दसिक—	१४.२५,६८	२
८	क्षमा—	१४.२४	१
९.	जलधरमाला—	१४ ३५	१
१०	जलोद्धतगति—	१४.३३	१
११	द्रुतविलम्बित—	१३.१–६०, १४ २१, २९	६२
१२	नर्कुटक—	१० ७८	१
१३	पुष्पिताग्रा—	१ ८२, ४.७५, ५ ९०, ७.९३, ९ १–५८, १२ १११, १४.२२,३८	६५
१४	पृथ्वी—	१ ८१, ७.९२, १४.२०	३
१५	प्रमिताक्षरा—	५ १–७१, १४ २३, ३९	७३
१६	प्रहर्षिणी—	१ ८४, ३ ७५, १० ६२–७७, ११ ९०, १३ ६२, १४ २६, ४०, १६ १–५६	७८
१७.	भ्रमरविलसित—	१४ ३०	१
१८	मन्दाक्रान्ता—	७ ९१, ९ ५९, १४ ६७, ७०, १५ १६२, १७ ८३–८९	१२
१९	मालिनी—	१ ८०, ४ ७६, ८ ६१, ११ ९१, १४ ३७, ७१, १५ १६०, प्र० ३	८
२०	रथोद्धता—	७ १–७९, १४ ३६	८०
२१.	वंशस्थ—	१.१–६३, ११ १–७१	१३४
२२	वंशपत्रपतित—	१४.२८	१
२३.	वसन्ततिलका—	१ ८५, २ १४३, ३ १–७४, ४ ७७, ७,८०–९०, ८ ५१–६०, ११ ७२–८९, १४ २७, ३४,४१–६६, १५.१६१, १७ ९०, १८.१५२	१४७
२४	वसन्तमालिका—	६ १–११०	११०
२५	शार्दूलविक्रीडित—	४ ७८, ६ १११, ८ ६२, १०.७९, ११ ९२, १७ ९१, १८. १५३–१५४, प्र० ४,६	१०
२६	शालिनी—	७ ९४, १३ ६१, १४ ३२, १६ ५७–६६	१३
२७	शिखरिणी—	५ ९१, १६ ६७, प्र० २	३
२८	सुन्दरी—	१ ६४–७९, १०.१–६१, १२ १–११०	१८७
२९	स्रग्धरा—	१६ ६९–७०	२
३०	स्वागता—	८ १–५०	५०
३१	हरिणी—	१ ८३, ३.७६	२
			कुल १६९७

१०. संकेत-विवरण

ग्रन्थ-संकेत	ग्रन्थ-नाम	ग्रन्थ-प्रकाशन
अनगार०	अनगारधर्मामृतम्	माणिकचन्द्र दि० जैन ग्रन्थमाला, बम्बई
अनेकार्थध्वनि०	अनेकार्थध्वनिमञ्जरी	चौखम्बा, वाराणसी
अनेकार्थस०	अनेकार्थसग्रह	,, ,,
अभिधा०	अभिधानचिन्तामणि	,, ,,
अलङ्कारचि०	अलङ्कारचिन्तामणि	जैनेन्द्र प्रेस, कोल्हापुर
आत्मानु०	आत्मानुशासनम्	जीवराज जैन ग्रन्थमाला, सोलापुर
आप्तमी०	आप्तमीमासा	जैनसिद्धान्तप्रकाशिनी सस्था, कलकत्ता
उ० पु०	उत्तरपुराणम्	भारतीय ज्ञानपीठ, काशी
का० नी०	कामन्दकीय नीतिसार	आनन्दाश्रम, पूना
काव्यप्र०	काव्यप्रकाश	ज्ञानमण्डल, वाराणसी
काव्याद०	काव्यादर्श	चौखम्बा, वाराणसी
काव्यानु०	काव्यानुशासनम्	निर्णयसागर, बम्बई
किरात०	किरातार्जुनीयम्	,, ,,
क्षत्रचू०	क्षत्रचूडामणि	कृष्णविलास प्रेस, तजौर
च० च०	चन्द्रप्रभचरितम्	प्रस्तुत ग्रन्थ
जिनदत्तच०	जिनदत्तचरितम्	माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला बम्बई
त० सू०	तत्त्वार्थसूत्रम्	दिगम्बर जैन पुस्तकालय, सूरत
तत्त्वार्थवा०	तत्त्वार्थवार्तिकम्	भारतीय ज्ञानपीठ, काशी
तिलोय०	तिलोयपण्णत्ती	जीवराज जैन ग्रन्थमाला, सोलापुर
त्रिषष्टिस्मृति०	त्रिषष्टिस्मृतिशास्त्रम्	माणिकचन्द्रदिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, बम्बई
त्रिषष्टिशलाकापु०	त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरितम्	श्री जैन आत्मानन्दसभा, भावनगर
द्वि०सं०	द्विसन्धानमहाकाव्यम्	निर्णयसागर, बम्बई
ध० नाम०	धनञ्जयनाममाला	भारतीय ज्ञानपीठ, काशी
धर्मश०	धर्मशर्माभ्युदयम्	निर्णयसागर, बम्बई
नीतिवा०	नीतिवाक्यामृतम्	माणिकचन्द्र दि० जैन ग्रन्थमाला, बम्बई
नैषध०	नैषधीयचरितम्	निर्णयसागर, बम्बई

न्यायस०	न्यायसग्रह	निजधर्माम्युदय यन्त्रालय, वाराणसी (प्रकाशन वर्ष वीरनि० स २४३७)
पञ्चस०	पञ्चसग्रह	भारतीय ज्ञानपीठ, काशी
पद्मनन्दि०	पद्मनन्दिपञ्चविंशतिका	जीवराज जैन ग्रन्थमाला, सोलापुर
पार्श्वनाथच०	पार्श्वनाथचरितम्	माणिकचन्द्र दि० जैन ग्रन्थमाला, बम्बई
पुराणसा०	पुराणसारसग्रह.	भारतीय ज्ञानपीठ, काशी
प्रमेयरत्नमा०	प्रमेयरत्नमाला	चौखम्बा, वाराणसी
बु० च०	बुद्धचरितम्	" "
माघ०	माघ-शिशुपालवधमहाकाव्यम्	" "
माधवनि०	माधवनिदानम्	पंजाब सस्कृत पुस्तकालय, लाहौर
मुनिसुव्रतका०	मुनिसुव्रतकाव्यम्	जैनसिद्धान्तभवन, आरा
रघु०	रघुवशमहाकाव्यम्	चौखम्बा, वाराणसी
वाग्भटा०	वाग्भटालङ्कार	निर्णयसागर, बम्बई
विश्व०	विश्वप्रकाश	चौखम्बा, वाराणसी (प्रकाशन वर्ष सन् १९०४)
विश्वलो०	विश्वलोचनम्	निर्णयसागर, बम्बई
वैजयन्ती०	वैजयन्तीकोष	मद्रास (प्रकाशन वष ई० १८९३)
वैशेषिकसू०	वैशेपिकसूत्रम्	ओरियन्टल इस्टीटयूट, बडौदा
शाकटा०	शाकटायनव्याकरणम्	जैनेन्द्रमुद्रणालय, कोल्हापुर
सत्प्ररू०	सत्प्ररूपणा (षट्खण्डागम)	जैनसाहित्योद्धारक फण्ड, अमरावती
सागार०	सागारधर्मामृतम्	माणिकचन्द्रदि० जैन ग्रन्थमाला, बम्बई
सा० द०	साहित्यदर्पण	निर्णयसागर, बम्बई

व्याप्त सर्वत्र भूमौ शशधरधवल शम्भुहासापहासी
कीर्तिस्तोमो यदीयो जनयति नितरां क्षीरपाथोधिशङ्काम् ।
यस्मिन् सम्मग्नकाया अमरपतिगजो दिग्गजाश्चन्द्रतारा-
जाता सर्वाङ्गशुभ्रा स जयति सततं वीरनन्दी कवीन्द्र ।

प्रत्येकपक्षे जीवानां भूतसंख्या प्रसज्यते ।
सहपक्षेऽप्यसंविद्भ्यस्तेभ्यः स्याच्चेतनः कथम् ॥ ६५ ॥
सजातीयं ह्युपादानं दृष्टं घटपटादिषु ।
मृदादीनां हि हेतूनां घटाद्यनुगमेक्षणात् ॥ ६६ ॥

साधनत्वम् । न च भवेत् ॥६४॥ प्रत्येकेत्यादि । प्रत्येकपक्षे पृथक् पक्षे[1] । जीवानां जीवपदार्थानाम् । भूतसंख्या भूताना पृथिव्यादीना संख्या गणना । प्रसज्यते प्रशस्यते[2] (?) सहपक्षेऽपि योगपद्यपक्षेऽपि । असंविद्भ्यः । न विद्यते संवित् येषा तेभ्योऽचेतनेभ्य । तेभ्यः भूतचतुष्टयेभ्य । चेतनः जीवपदार्थ. । कथ केनप्रकारेण । स्यात् भवेत् न स्यादित्यर्थः । अस भुवि लिङ् ॥६५॥ सजातीयमित्यादि । घटपटादिषु घटश्च पटश्च घटपटौ तौ आदी[3] येषा तेषु घटपटादिपदार्थेषु । सजातीयं समानाजातिर्यस्य [तत्] सजातीयम्, 'जातेश्छः सामान्यवति' इति छ-प्रत्यय , समानजातियुक्तम् । उपादानं त्यक्तात्यक्तरूपम् उपादानम्[4] इति लक्षणम्, मुख्यकारणमित्यर्थः । दृष्ट दृश्यते स्म दृष्टम् । हि स्फुटम् । हि यस्मात् । मृदादीना मृत्पिण्डादीनाम्[5] । हेतूना मुख्यकारणानाम् । घटाद्यनुगमेक्षणात् घटादिषु कलशादिषु अनुगमस्यान्वयस्य ईक्षणात् दर्शनात् । इदं हेतुरूपम् ॥६६॥

नही हो सकते । क्यों ? सुनिए—॥६४॥ यदि चार भूतोमें-से किसी भी एकको जीवकी उत्पत्तिमे हेतु मान लिया जाये तो जीवमे उसकी संख्याका प्रसंग आयेगा—जिस भूतसे जीवकी उत्पत्ति होगी, उसके प्रत्येक कणमे जीवोत्पादनकी शक्ति होगी या उनके समुदायमे ? यदि प्रत्येकमे, तो जितनी संख्या कणोकी होगी, उतनी ही जीवोकी सख्या होगी । किन्तु किसी भी एक शरीरमे अनेक जीवोको उत्पत्ति मानना ठीक नही; क्योकि सभी जीवोंकी अलग-अलग इच्छाएँ उत्पन्न होगी, फलतः उन इच्छाओकी पूर्तिके लिए सभी जीवोमे सदा महाभारत छिड़ा रहेगा । यदि इस संख्याके प्रसंगसे बचनेके लिए किसी एक या चारो भूतोंके कण-समुदायमे जीवोत्पादनकी शक्ति मान ली जाये, तो यह भी ठीक नही; क्योकि चाहे एक भूतके कण हो चाहे चारोके, वे सबके सब अचेतन हैं, और अचेतनसे चेतनकी उत्पत्ति हो नही सकती । ऐसा एक भी उदाहरण नही जो अचेतनसे चेतनकी उत्पत्ति सिद्ध करनेमे सहायक हो ॥६५॥ प्रत्येक कार्यकी उत्पत्तिमे उपादान और निमित्त ये दो कारण होते हैं । उनमे उपादान कारण सदा सजातीय ही होता है, यह नियम है । घटकी उत्पत्तिमे उपादान कारण मिट्टी है और कपडेकी उत्पत्तिमे तन्तु । मिट्टी घड़ेकी सजातीय है और तन्तु कपड़ेके । इन सजातीय उपादान कारणोका घड़े और कपड़ेमे सदा अन्वय बना रहता है, जिसे हम सब देखते ही हैं । अतः चारो भूत चूँकि जीवके सजातीय नही, विजातीय हैं, इसलिए उन्हे जीवकी उत्पत्तिमे उपादान कारण नही मान सकते । उन चारोका जीवमे अन्वय भी तो हम नही देखते ॥६६॥०

---

१. प्रत्येकभूताज्जीवो जायते-इति पक्षे । २ = भूतानां यावती संख्या तावती संख्या तदुत्पन्नानां जीवानामपि स्यादित्यर्थ । ३. श स आदि. । ४. = त्यक्तात्यक्तात्मरूपं यत्पूर्वापूर्वेण वर्तते । कालत्रयेऽपि तद् द्रव्यमुपादानमिति स्मृतम् । अष्टसहस्री-२१० । ५. श स मृद्घटादीनाम् ।

युज्यते व्यभिचारोऽपि न शृङ्गादेः शरादिना ।
तत्रापि पुद्गलत्वेन सजातीयत्वसंभवात् ॥ ६७ ॥
विजातिभ्योऽपि भूतेभ्यो जायते यदि चेतन ।
पयसोऽपि भवेत्पृथ्वी तन्न तत्त्वचतुष्टयम् ॥ ६८ ॥
न चान्यदस्त्युपादानं भूम्यादिव्यतिरेकतः ।
भूतानां संहतिर्येन कल्प्येत[1] सहकारिणी ॥ ६९ ॥

युज्यत इत्यादि । शृङ्गादे. विषाणादे सकाशात्—विजातीयादपि शृङ्गादे शराद्युत्पत्तिदर्शनात् । शरादिना बाणादिना[2] व्यभिचारोऽपि अनैकान्तिकोऽपि । न युज्यते न सवघ्यते[3] । तत्रापि शरादावपि । पुद्गलत्वेन गलति पूरयतीति पुद्गल[4] तस्य भाव तेन अचेतनत्वेन । सजातीयत्व सभवात् समानजातियुक्तत्वस्य सभवात् सद्भावात् । इदमपि हेतुरूपम् । अचेतनेभ्योऽपि भूतेभ्यश्चेतनो जीवो जनिष्यते इति व्यभिचारिता न, सजातीयादेव सजातीयोत्पत्तिनियम इति चेत्, न युक्तम्, तत्रापि शरादिषु पुद्गलत्वेन[5] सजातीयत्वसभवादिति भाव: ॥६७॥ विजातिभ्योऽपीत्यादि[6] । यत्र कुत्रापि विजातिभ्योऽपि भूतेभ्य पृथिव्यादिभ्य । चेतन जीवपदार्थ । जायेत उत्पद्येत । तत् तर्हि । पयसोऽपि जलादपि । पृथ्वी पृथिवी । भवेत् जायेत । तत्त्वचतुष्टय चत्वारोऽवयवा अस्य चतुष्टयम् 'अवयवात्तयट्' तत्त्वाना चतुष्टय तथोक्तम् । न नभवेत् । विजातीयाद्विजातीयोत्पत्तिरित्युक्ते भूत[7]चतुष्टयस्यैकत्वापत्ति , तेषामन्योन्योत्पत्तिदर्शनादित्यर्थ ॥६८॥ न चेत्यादि । उपादानकारणानि मा भूवन् सहकारिकारणानि भविष्यन्तीत्यपि युक्त न भवति, भूतचतुष्टयमन्तरेण पदार्थान्तराभावादनुपादानसिद्धिप्रसगात् । तस्मात् कथ सहकारिकारणभावो भूतचतुष्टयस्येत्यभिप्रायेण न चान्यदपीत्याह । भूम्यादिव्यतिरेकतो भूम्यादिभ्यो व्यतिरेकतो भिन्नत्वात् । अन्यदपि अपरमपि । उपादान मुख्य कारणम् । न च न भवति । भूताना पृथिव्या-

यदि यह कहा जाये कि 'सीग यद्यपि बाणका सजातीय नही है, फिर भी उससे बाण बनाया जाता है, अतः सजातीय ही उपादानकारण होता है, यह नियम कहाँ रहा ? वह तो व्यभिचरित हो जाता है ।' तो यह भी ठीक नही, क्योकि सीग पुद्गल है और बाण भी पुद्गल है, अत दोनो सजातीय ही हैं, विजातीय नही । चारो भूत अचेतन हैं और जीव चेतन, अतः जीवकी उत्पत्तिमे वे सजातीय नही, विजातीय हैं ॥६७॥ यदि विजातीय भूतोसे भी जीव उत्पन्न हो जाये तो जलसे पृथिवीकी भी उत्पत्ति हो जाये, और ऐसी दशामे आपके चार भूत तत्त्व भी सिद्ध नही हो सकेंगे ॥६८॥ पृथिवी आदि चार भूतोको छोडकर कोई पदार्थ जीवकी उत्पत्तिमे उपादानकारण नही है, जिससे भूत समुदायको उसकी उत्पत्तिमे सहकारी कारण माना जाय । अर्थात् यह नही कहा जा सकता कि जीवकी उत्पत्तिमे भूत समुदाय सहकारी कारण है । क्योकि जीवकी उत्पत्तिमे यदि कोई उपादान कारण सिद्ध हो जाता तो भूत समुदायको उसमे सहकारी कारण कल्पित किया जा सकता था । उपादानके बिना सहकारी कारण

१ अ आ इ कल्पेत । २ श स शरादीनां बाणादीनाम् । ३ आ °वध्यते । ४. = पूरयति गलतीति पुद्गल पूरणाद् गलनाद्वा पुद्गल । ५ श स °त्वेन न । ६ आ विजातीयेत्यादि । ७ श स °त्पत्तिरिवतीभूत° ।

न चोपादानधर्मोऽपि[1] काये कोऽप्यवलोक्यते।
शरीरे तदवस्थेऽपि जीवे विकृतिदर्शनात् ॥ ७० ॥
घटादिकारणेष्वेतन्मृदादिषु न चेष्यते।
ततोऽनुमानबाधापि[2] पक्षं व्याघ्रीव वीक्षते[3] ॥ ७१ ॥

दीनाम्। सहति समूह। सहकारिणो सहकारिकारणभूता। येन कथं कल्प्येत ? काकु ॥६९॥ न चेत्यादि। काये देहे। कोऽपि[4] उपादानधर्म· उपादानस्य मुख्यकारणस्य धर्मोऽपि स्वरूपमपि। न चावलोक्यते न च दृश्यते। शरीरे देहे[5]। तदवस्थेऽपि पूर्वाकारसहिते सत्यपि। जीवे जीवपदार्थे। विकृतिदर्शनात् विकृतेर्विकारस्य दर्शनात् अवलोकनात् ॥७०॥ घटादीत्यादि। घटादिकारणेषु घटादीना कारणेषु मृदादिषु मृदादिर्येषा तेषु मृत्पिण्डादिषु। एतत् चैतन्यम्। न चेष्यते नाङ्गीक्रियते। इष इच्छायाम्। कर्मणि लट्। ततो मृदादिषु चैतन्याभावादेव। अनुमानबाधापि अनुमानप्रमाणेन बाधापि[6]। व्याघ्रीव शार्दूलीव। पक्ष जीवो नास्तीति पक्षम्।

कार्यकी उत्पत्ति नही कर सकता है ॥६९॥ यदि यह कहो कि जीवकी उत्पत्तिमे उसका शरीर उपादान कारण है, तो यह भी ठीक नही, क्योंकि आत्मामे उपादानरूप शरीरका स्वभाव नही देख पडता। उपादान कारणमे यदि कोई विकार उत्पन्न हो तो उसका प्रभाव कार्यपर अवश्य ही पडता है, किन्तु शरीरके ज्यो-के-त्यो बने रहनेपर भी जीवमे विकार देखा जाता है। यदि शरीर उपादान कारण होता तो उसके अविकृत रहनेपर जीवको भी अविकृत रहना चाहिए। उपादानका धर्म उपादेयपर अपना प्रभाव अवश्य ही डालता है। यदि शरीरको उपादान और आत्माको उपादेय मानते हैं, तो आत्मामे शरीरका कोई धर्म अवश्य देख पड़ना चाहिए, किन्तु नही देख पडता—शरीर आँखोसे देख लिया जाता है, किन्तु आत्मा आँखोसे कभी नही देखा जा सकता, शरीरमे अनेक विकार देखे जाते हैं, किन्तु वे आत्मामे नही देखे जाते; शरीरके बलमे न्यूनता देखनेपर भी आत्माके बलमे अधिकता देखी जाती है। अत· शरीर आत्माका उपादान कारण नही माना जा सकता है ॥७०॥ घट आदि पदार्थोंके जो मिट्टी आदि उपादान कारण हैं, उनमे यह बात नही देखी जाती कि मिट्टी आदि उपादान कारणमे विकार होनेपर भी घट आदिमे विकार न हो। अत. अनुमान बाधा भी आपके पक्षपर व्याघ्रीकी तरह क्रूर दृष्टि डाल रही है। चवालीसवे श्लोकमे तत्त्वोपप्लववादीने कहा था कि जीव पदार्थकी कोई प्रमाणसिद्ध सत्ता नही है। उसके 'जीव नही है' इस पक्षमे चौवनसे इकसठवें श्लोक तक प्रत्यक्ष-स्वसवेदन प्रत्यक्षसे बाधा दिखलाई थी। उसके पश्चात् बासठवे श्लोकसे बहत्तरवें श्लोक तक अनुमान बाधा दिखलाई गयी। स्वसवेदन प्रत्यक्षसे गर्भसे लेकर मरण पर्यन्त जीवकी सत्ता सिद्ध होती है और 'जीव अनादि और अनन्त है, क्योंकि वह सत् पदार्थ है और उसकी उत्पत्ति किसी अन्य पदार्थसे नही हुई है। जैसे भूत चतुष्टय' इस अनुमानसे जीवकी अनादिता और अनन्तता सिद्ध होती है और इसलिए यही अनुमान पूर्व पक्षीके पक्षमे बाधा उपस्थित करता है ॥७१॥

---

१ अ मद्योपादानधर्मोऽपि। २. म °बाधादि। ३ अ व्याघ्रावतीक्षते। ४ आ यापि। ५ श स शरीरी देही। ६. =घटादिकारणेषु मृदादिषु, एतद्भिन्नलक्षणत्व नेष्यते च, ततस्तस्मादनुमानबाधापि पक्षं वीक्षते। व्याघ्रीवत्। यथा प्रत्यक्षेण पक्षबाधा तथानुमानतोऽपीति रहस्यम्।

हेतुश्चानुपलम्भादिरसिद्धोऽभावसाधने ।
तस्य स्ववेदनाध्यक्षादुपलम्भस्य संभवात् ॥ ७२ ॥
न चात्मभूतयोरैक्यं चिदचिद्रूपभेदतः ।
विभिन्नप्रतिभासित्वाद्भेदलक्षणसंभवात् ॥ ७३ ॥
इत्थमात्मनि संसिद्धेऽनित्यत्वैकान्तकल्पना ।
तस्यान्यैः क्रियते तेऽपि प्रत्यक्षेणैव बाधिताः ॥ ७४ ॥
यतः स्ववेदनादात्मा[1] सुखदुःखादिपर्ययै ।
विवर्तमानः सततं प्रतिप्राणि प्रकाशते ॥ ७५ ॥

वीक्षते पश्यति । ईक्षि दर्शने । लट् ॥७१॥ हेतुरित्यादि । अभावसाधने अभावस्य नास्तित्वस्य साधने । अनुपलम्भादि अप्रमेयत्वादि । हेतु साधनम् । असिद्ध असत्सत्तानिश्चयरूप । कस्मादित्युक्ते, तस्य चैतन्यस्य, स्ववेदनाध्यक्षात् स्ववेदन तच्च तदध्यक्ष च प्रत्यक्ष च तस्मात्, स्वसवेदनप्रत्यक्षादित्यर्थ. । उपलम्भस्य अस्तित्वस्य । सभवात् सद्भावात् ॥७२॥ न चेत्यादि । चिदचिद्रूपभेदत[2] चिच्च अचिच्च चिदचितौ तयो रूप भेदस्तस्मात् तत , चेतनाचेतनस्वरूपविशेषात् । विभिन्नप्रतिभासित्वात् विभिन्नेन भेदेन प्रतिभासत्वात् प्रकाशत्वात् । भेदलक्षणसमवात् भेदलक्षणस्य सभवात् सद्भावात् । आत्मभूतयो. चेतनाचेतनयोः । ऐक्यम् अभेद । न च नच भवति ॥७३॥ इत्थमित्यादि । इत्थम् अनेन प्रकारेण[3] । आत्मनि चैतन्यपदार्थे । ससिद्धे निष्पन्ने· सति । तस्य जीवपदार्थस्य । यै वादिभि । नित्यत्वैकान्तकल्पना नित्यत्वमेवैकान्त तस्य कल्पना । क्रियते विधीयते । तेऽपि वादिन । प्रत्यक्षेणैव प्रत्यक्षप्रमाणेनैव । बाधिता बाध्यन्ते स्म बाधिता । क्त–प्रत्यय ॥७४॥ यत इत्यादि । यतः यस्मादित्युक्ते । सुखदु खादिपर्ययैः[4] सुख च दु ख च सुखदु खे ते आदि[5] येषा ते च ते पर्यायाश्च[6] तै. सुखदु खादिपरिणामै । सततम् अनवरतम् । विवर्तमान प्रवर्त्तमान विकुर्वाणो वा । आत्मा जीवपदार्थ । स्ववेदनात् स्वसंवेदनप्रत्यक्षात् । प्रतिप्राणि प्राणिषु प्राणिषु प्रतिप्राणि । विभक्त्यर्थेऽव्ययीभाव ।

जीवका अभाव सिद्ध करनेके लिए तत्त्वोपप्लववादीने जो अनुपलम्भ ('अनुपलम्भात्'—'उपलब्धि न होनेसे' यह) हेतु दिया है, वह असिद्ध है; क्योंकि स्वसंवेदन प्रत्यक्षसे उसका सद्भाव सिद्ध है ।।७२।। दूसरी बात यह है कि जीव तथा भूतोमे एकता नही मानी जा सकती, क्योकि उनके स्वरूप भिन्न-भिन्न हैं—जीवका स्वरूप चेतन और भूतोका स्वरूप अचेतन है। जीव और भूतोका पृथक्-पृथक् प्रतिभास होता है। जिस प्रकार भिन्न-भिन्न प्रतिभास होनेसे पृथ्वी आदि चार भूतोको पृथक्-पृथक् स्वीकार किया है, इसी प्रकार जीवका भी तो भूतोंसे भिन्न प्रतिभास होता है। अत उसे भी भूतोसे भिन्न मानना चाहिए । जीव और भूतोमे भेद सिद्ध करनेवाले उनके भिन्न लक्षण पाये जाते हैं ।।७३।। इस प्रकार जीवकी सिद्धि हो जानेपर जो (सांख्य) लोग उसे सर्वथा नित्य मानते हैं, उनका भी खण्डन प्रत्यक्षसे ही हो जाता है ।।७४।। क्योंकि प्रत्येक प्राणी स्वसवेदन प्रत्यक्षसे यह सदैव अनुभव करता है कि उसकी आत्मा कभी सुखकी अवस्थाको और कभी दुःखकी अवस्थाको प्राप्त होता है—उसकी सुख-दुःखकी अवस्था बदलती रहती है। आत्मा द्रव्य है और सुख-दु.खादि उसकी पर्यायें हैं। गुण और पर्यायोंके समुदायको द्रव्य कहते हैं। पर्यायोंके परिवर्त्तनका प्रभाव द्रव्यपर भी पडता है। अत. पर्यायोकी अनित्यताके कारण द्रव्य भी कथञ्चित् अनित्य ठहरता है।

१ म °दनावात्मा । २ श स जीवचिद्रू° । ३ आ श स °कारेणेत्थम् । ४ आ श स °पर्यायै । ५ =आदौ । ६. =पर्ययाश्च ।

सुखदुःखादिपर्याया जीवान्न च विभेदिनः ।
तस्यायमिति[1] सम्बन्धकल्पनानुपपत्तितः ॥ ७६ ॥

नित्यस्यानुपकारित्वात्समवायो न युज्यते ।
उपकाराश्रया सर्वा संबन्धसमवस्थितिः ॥ ७७ ॥

उपकारोऽपि भिन्नत्वात्तस्येति कथमुच्यते ।
उपकारान्तरापेक्षा विदध्यादनवस्थितिम् ॥ ७८ ॥

प्रकाशते प्रतिभासते । काशि दीप्तौ लट् ॥७५॥ सुखेत्यादि । सुखदुःखादिपर्यायाः सुखदुःखादिपरिणामाः । जीवात् चैतन्यपदार्थात् । विभेदिनः अत्यन्त भिन्नरूपा[2] । न च न च भवन्ति । कस्मादिति चेत्—तस्य जीवपदार्थस्य अयम् इति[3] एष पर्याय इति सबन्धकल्पनानुपपत्तेः सबन्धस्य समवायादेः कल्पनायाः अनुपपत्तेरभावात् ॥७६॥ नित्यस्येत्यादि । समवायसबन्धो वर्तते इत्युक्ते—नित्यस्य सर्वथा नित्यपदार्थस्य । अनुपकारित्वात् उपकाररहितत्वात् । समवायः समवायाख्यसबन्धः । न युज्यते न सघटयते । युजृन् योगे कर्मणि लट् । सर्वा समस्ता । सबन्धसमवस्थितिः सम्बन्धस्य समवायादेः समवस्थितिः सप्राप्तिः । उपकाराश्रया उपकार एवाश्रय आधारो यस्याः सा तथोक्ता ॥७७॥ उपकार इत्यादि । उपकारोऽपि प्रकृतोपकारोऽपि । भिन्नत्वात् उपकारिणः सकाशात् सर्वथा भिन्नत्वात् पृथक्त्वादित्यर्थः । तस्येति तस्य उपकारिणोऽयमुपकार इति । कथ केन प्रकारेण । उच्यते भाष्यते । ब्रूञ् व्यक्तायां वाचि कर्मणि लट् । 'अस्ति ब्रुवोर्भूवचौ' इति वचादेशः । 'इज्या—' इत्यादिना य इग् रूपस्य वकारस्य इग्रूप उकारादेशः । उपकारान्तरापेक्षा प्रकृतोपकारादन्य उपकारः उपकारान्तर तस्यापेक्षा वर्तते चेत् न ।

अतः उसे सर्वथा नित्य मानना ठीक नही ॥७५॥ सुख-दुःख आदि अवस्थाएँ जीवसे भिन्न नही हैं । यदि इन अवस्थाओंको जीवसे भिन्न माना जाये तो 'ये अवस्थाएँ—पर्यायें इस जीवकी हैं' इस प्रकारके सम्बन्धकी कल्पनाएँ नही हो सकती ॥७६॥ यदि कहा जाये कि पर्यायोके साथ जीवका समवाय सम्बन्ध है तो यह कहना ठीक नही, क्योकि वैशेषिक लोग समवायको सर्वथा नित्य मानते हैं। सर्वथा नित्य होनेसे वह किसीका उपकार नही कर सकता । फलतः समवाय सम्बन्धसे भी पर्यायोके साथ जीवका सम्बन्ध नही हो सकता । उपकारके आधारपर ही सम्बन्धोकी व्यवस्था की जाती है । जब समवाय उपकार नही कर सकता, तो वह द्रव्य और पर्यायोके बीच कैसे माना जा सकता है ? ॥७७॥ अच्छा, थोडी देरको यह मान भी लें कि समवाय उपकार करता है, तो उपकार तो अभी-अभी उत्पन्न हुआ है, अतः वह अनित्य है और समवाय नित्य है। ऐसी स्थितिमे उपकारको समवायसे भिन्न मानना होगा। भिन्न मान लेनेपर 'यह उपकार समवायका है' वह कैसे सिद्ध होगा ? यदि प्रस्तुत समवायका उसके उपकारके साथ सम्बन्ध सिद्ध करनेके लिए दूसरे समवायको माना जाय, तो फिर यह प्रश्न होगा कि दूसरे समवायका उसके उपकारके साथ सम्बन्ध कैसे होगा ? इसके उत्तरमे भी यह कहा जाय कि तीसरा समवाय मान लिया जायगा तो फिर वही प्रश्न होगा। फलतः अनवस्था हो

---

१. अ आ इ क ख ग घ म तस्यामी इति । २ आ श स °त्यन्तभिन्न° । ३ 'तस्यायमिति' टीकाकृदभिमत पाठ, सर्वासु प्रतिषु 'तस्यामी इति' इत्येव समुपलभ्यते । पञ्जिकायामपि 'तस्यामी इति' इति वर्तते—'ते च सुखदुःखादि पर्याया जीवात् सर्वथा विभेदिन इति चेत्, न, भेदे सति 'तस्यामी' इति सबन्धानुपपत्तेः ।'

स्यादभिन्नस्ततो जीवः सुखदुःखादिपर्ययैः ।
तथा च परिणामित्वात्कथं कूटस्थनित्यता ॥ ७९ ॥
एतेन जडतां तस्य ब्रुवाणा विनिवारिताः ।
चिद्रूपसुखदुःखादिपर्यायैरैक्यसंभवात् ॥ ८० ॥
न चाप्यकर्तृता तस्य बन्धाभावादिदोषत ।
कथं ह्यकुर्वन्बध्येत कुशलाकुशलक्रियाः ॥ ८१ ॥

अनवस्थिति[2] मूलक्षयकरीम्[3] । विदध्यात् कुर्यात् । डुधाञ् धारणे च कर्त्तरि लिङ् ॥७८॥ स्यादित्यादि । तत अनवस्थादोषात् । जीव चैतन्यपदार्थ. । सुखदुःखादिपर्ययै सुखदुःखादिपरिणामरूपै । अभिन्न अभेदरूप । स्यात् यदि भवेत् । अस भुवि लिङ् । तथा च परिणामित्वात् पूर्वाकार त्यजत्युत्तराकारमवाप्नोति केनचित्प्रकारेण तिष्ठतीति परिणामी तस्मात् परिणामरूपपर्यायादभिन्नत्वात् नित्यस्य कूटस्थनित्यता त्रिकाल-व्याप्तिरूपनित्यत्वम् । कथ केन [प्रकारेण] स्यात्[4] ? ॥७९॥ एतेनेति । एतेन[5] अनेन नित्यत्वाभावेन । तस्य जीवस्य । जडताम् अज्ञत्वम् । ब्रुवाणा भाषमाणा । विनिवारिता॰ निराकृता । कस्मादिति चेत्—चिद्रूप-सुखदुःखादिपर्यायै चित् चेतना तया रूपै सुखदुःखादिभि सुखदुःखप्रमुखै पर्यायै परिणामै । ऐक्यसभवात् ऐक्यस्य एकत्वस्य सभवात् सद्भावात्, चेतनास्वरूपसुखदुःखादिपरिणामैरभिन्नत्वादित्यर्थ ॥८०॥ न चेति । तस्य जीवपदार्थस्य । अकर्तृता[7] पुण्यपापाद्यकर्तृत्वम् । न च न च भवति । बन्धाभावादिदोषत बन्धस्य पुण्यपापादि-बन्धस्याभाव तथोक्त स एवादिर्यस्य, बन्धाभावादिश्चासौ दोषश्च तस्मात् तत । कुशलाकुशलक्रिया. पुण्यपाप-कर्माणि[8] । अकुर्वन् न करोतीत्यकुर्वन् । शतृ प्रत्यय । कथ हि येन हि (केन प्रकारेण हि) । बध्येत[9] । बधि

जायगी ॥७८॥ इसलिए यह सिद्ध है कि सुख-दुःख आदि पर्यायोके साथ जीवका कथञ्चित् अभेद है। और इसीलिए यह निश्चित है कि वह परिणमनशील है। ऐसी स्थितिमे जीव कूटस्थ नित्य कैसे हो सकता है ? ॥७९॥ 'सुख-दुःख आदि पर्यायें आत्मासे भिन्न हैं' इस सिद्धान्तके खण्डनसे आत्माको जड माननेवालोका भी खण्डन हो जाता है। क्योकि चेतन स्वरूप सुख-दुःख परिणामोके साथ उसका अभेद सम्भव है (भेद[10] नही) ॥८०॥ साख्योका जीवको अकर्त्ता मानना भी ठीक नही, क्योकि अकर्त्ता माननेसे कर्मबन्धका अभाव हो जायगा। ध्यान देनेकी बात है, यदि जीव अच्छे-बुरे काम नही करेगा तो उसे पुण्य-पापका बन्ध कैसे होगा ? अच्छे काम करनेसे पुण्य बन्ध होता है और बुरे काम करनेसे पापबन्ध। जीवको अकर्त्ता माननेसे ये बन्ध नही होगा और बन्धके न होनेपर मोक्ष कैसे होगा ? ॥८१॥

---

१ अ आ इ क ख ग घ म तथापि । २ = अस्ति नित्यस्योपकारित्वमिति चेत्, तस्मादुपकारोऽभिन्नो भिन्नो वा ? अभिन्नश्चेत् तत्सम, भिन्नश्चेत् सबन्धासिद्धि । उपकारान्तरमपेक्ष्य सबन्धकरणेऽनवस्थिति. स्यात् । ३ = 'मूलक्षयकरीमाहुरनवस्था च दूषणम् ।' ४ = 'परिणामप्रक्लृप्तिश्च नित्यत्वैकान्तबाधिनी ।' ५ = एतेन कूटस्थतानिराकरणेन तस्यात्मनो जडतामज्ञत्व ब्रुवाणा नैयायिकविशेषा विनिवारिता –प्रक्षिप्ता, चिद्रूपसुखदुःखादिपर्यायविवर्तैरैक्यसभवात्, परिणामित्वेनैक्यघटनात् । ६ श स चेतश्चे° । ७ = तर्हि आत्माऽकर्त्ता–इति चेत् तस्यात्मनोऽकर्तृतापि न च, बन्धाभावादिदोषात् । हि यस्मात् । कुशलाकुशलक्रिया — मनोज्ञामनोज्ञकार्याणि अकुर्वन्नात्मा कथ बध्येत ? न कथमपि । ८ श स °कर्मणो । ९ = बद्धो भवेत् । १० वैशेषिक लोग यह मानते है कि सुख-दुःख आदि आत्मासे भिन्न हैं और वे यह भी मानते हैं कि ज्ञान आत्मासे भिन्न है। इनकी यह भी मान्यता है कि आत्मा स्वय न आत्मा है और न अनात्मा, किन्तु आत्मत्वके समवायसे आत्मा है।

भुक्तिक्रियायाः कर्तृत्वं भोक्तात्मेति स्वयं वदन्।
तदेवापह्नुवानः सन्किं न जिह्रेति कापिलः॥ ८२॥
अचेतनस्य बन्धादिः प्रधानस्याप्ययुक्तिकः।
तस्मादकर्तृता पापादपि पापीयसी मता॥ ८३॥
चित्तसंततिमात्रत्वमप्ययुक्तं प्रकल्पितम्।
संतानिव्य[1]तिरेकेण यतः काचिन्न संततिः॥ ८४॥
व्यतिरेकेऽपि नित्यत्वं संतानस्य यदीष्यये।
प्रतिज्ञाहानिदोषः स्यात्क्षणिकैकान्तवादिनाम्॥ ८५॥

बन्धने कर्मणि लिड् ॥८१॥ भुक्तीति। आत्मा जीवपदार्थ.। भोक्ता सुखादिभोक्ता। इति एवम्। भुक्ति[2]क्रियाया भुक्तेरनुभवस्य क्रियाया कार्ये। कर्तृत्वं स्वतन्त्रत्वम्। स्वय वदन् वदतीति वदन् ब्रुवन्। कापिल साख्य। तदेव कर्तृत्वमेव। अपह्नुवान सन् अपह्नुते इति अपह्नुवान अपलपन् सन। किं किं निमित्तम्। न जिह्रेति लज्जा न प्राप्नोति। ह्री लज्जाया लट्। आत्मन. स्वयं कर्तृत्वोपगमाभावे भोक्तृत्व न घटते इति तात्पर्यम् ॥८२॥ अचेतनस्येति[3]। अचेतनस्य अचेतनद्रव्यस्य। प्रधानस्यापि प्रकृतितत्त्वस्यापि। अयुक्तितः[4] अयुक्तेरयुक्तित.। प्रधानस्य शुभाशुभकर्मकरणे युक्तेरसभवात्। बन्धादि कर्मबन्धादिः। न न भवति। तस्मात् युक्तेरभावात्। अकर्तृता अकर्तृत्वम्। पापादपि कष्टादपि। पापीयसी[5] अतिशयेन पापरूपेति। मता मन्यते स्म मता ज्ञाता ॥८३॥ चित्तेति। यत यस्मात्। सतानिव्यतिरेकेण सतानिनमन्तरेण। काचित् एका। सतति. सतान॰। न न भवति। चित्तसततिमात्र [त्व-] मपि चित्तस्य चेतस.[6] सततिरेव सततिमात्रं तस्य भावः तत्त्वम्। तदपि[7] अयुक्तप्रकल्पितम् अयुक्तेन युक्तिरहितेन प्रकल्पित विहितम् ॥८४॥ व्यतिरेक इति। व्यतिरेकेऽपि सतानिव्यतिरेकेऽपि[8] सति। सन्तानस्य सतते। नित्यत्वं स्थिरत्वम्। यदीष्यते यद्यङ्गीक्रियते। तर्हि।

'आत्मा भोक्ता है' यह कहकर साख्यने स्वय ही यह स्वीकार कर लिया कि वह 'भुक्ति' क्रियाका कर्ता है, किन्तु फिर भी उसके कर्तृत्वको छिपाते हुए उसे क्यो सकोच नही होता? आत्माको कर्ता माने बिना उसे भोक्ता नही माना जा सकता ॥८२॥ यदि यह कहा जाय कि यह प्रधान-प्रकृतिके बन्ध आदि होते हैं, तो यह भी युक्तिसङ्गत नही, क्योकि वह अचेतन है। अचेतन-को न बन्ध होता है और न मोक्ष। इसलिए आत्माको अकर्त्ता मानना पाप है, पाप ही नही महापाप है ॥८३॥ बौद्ध लोगोकी कल्पना है कि केवल चित्त सन्तान—ज्ञानधारा ही आत्मा है, यह भी असङ्गत है, क्योकि सन्तानी—सन्तानवान् द्रव्यके बिना कोई भी सन्तान—गुण या पर्याय सम्भव नही। गुण, द्रव्यको आश्रय बनाकर उसीमे रहते हैं। द्रव्यके बिना गुण नही रह सकते, यह सभी दार्शनिक स्वीकार करते है। बौद्ध ज्ञानकी धाराको ही आत्मा मानते हैं, किन्तु ज्ञानकी धारा तो गुण है, अतः गुणी-आत्माके बिना गुण-ज्ञानधाराकी सत्ता कैसे रह सकती है? ॥८४॥ यदि आप सन्तानको सन्तानीके अभावमे भी मानते है, तो हम आपसे पूछते हैं कि वह सन्तान नित्य है या अनित्य? यदि आप नित्य मानते हैं, तो आपकी

१ श्र सत्तादि॰। २. 'भुक्तिक्रियाया' इति टीकाकारधृतः पाठ। सर्वासु प्रतिपु तु 'भुक्तिक्रियाया' इत्येव दृश्यते। ३ भा श स ॰चेतनेति। ४ अयमपि पाठ टीकाकृताधृत, प्रतिषु तु 'अयुक्तिक' इत्येव समुपलभ्यते। ५ =नन्वात्मा न बध्यते, इति चेत्, न, अचेतनस्य प्रधानस्य बन्धादिरप्ययुक्तिक, चेतन एव बध्यते—इत्यर्थ। तस्मादात्मनोऽकर्तृता पापादपि पापीयसी। ६ =ज्ञानस्य। ७ प्रतिपु तु 'अयुक्त' इत्येवास्ति। ८ =सतानिन सकाशाद् भिन्नत्वेऽपीत्यर्थः।

क्षणिकत्वेऽपि संतानिपक्षनिक्षिप्तदूषणम् ।
कृतनाशादिकं तस्य सर्वमेव प्रसज्यते ॥ ८६ ॥
न च व्यापकता तस्य घटनामुपढौकते ।
स्वसंविदितरूपस्य बहिर्देहादवेदनात् ॥ ८७ ॥
तस्मादनादिनिधनः स्थितो देहप्रमाणकः[1] ।
कर्ता भोक्ता चिदाकारः[2] सिद्धो जीवः प्रमाणतः ॥ ८८ ॥

क्षणिकैकान्तवादिना सर्वं क्षणिकमिति क्षणिकैकान्तवादिसौगतानाम्[3] । प्रतिज्ञाहानिदोष.[4] प्रतिज्ञाया सगरस्य[5] हानिरेव दोषः । स्यात् भवेत् । नित्यत्वाङ्गीकारादेव क्षणिकैकान्त इति प्रतिज्ञाहानिदोष ॥८५॥ क्षणिकत्व इति । क्षणिकत्वेऽपि सतानस्य क्षणिकधर्मवत्त्वेऽपि । तस्य आत्मन । कृतनाशादिक कृतस्य पापादे नाशादिक कृतनाशाकृताभ्यागमादिकम्[6] । सर्वमेव सकलमेव । [7]सतानिपक्षनिक्षिप्तदूषण सतानस्य[8] पक्षे निक्षिप्त प्रोक्त तच्च तद्दूषण च तथोक्तम् । प्रसज्यते प्राप्यते ॥८६॥ न चेति । तस्य जीवस्य । व्यापकता विभुत्वम् । घटना व्याप्तिम् । न चोपढौकते नोपयाति । स्वसविदितरूपस्य स्वेन सविदित ज्ञात रूप स्वरूप यस्य तस्य । देहात् शरीरात् । बहि बाह्ये । अवेदनात् अदर्शनात्[9] । आत्मनो व्यापकत्वे देहादपि बहि दृश्यतामित्यर्थ ॥८७॥ तस्मादिति । तस्मात् देहाद्बहिर्दर्शनं न भवति यस्मात् तस्मात्[10] अनादिनिधन आदिश्च निधन च आदिनिधने, न विद्येते आदिनिधने यस्य स तथोक्त , अ द्यन्तरहित इत्यर्थ । स्थित नित्यरूप । देहप्रमाणक देह एव प्रमाण यस्य तथोक्तः, स्वीकृतदेहप्रमाण इत्यर्थ । कर्त्ता पुण्यपापयो कर्त्ता । भोक्ता पुण्यपापजनित-सुखदु खादीना भोक्ता भुञ्जान । चिदाकार चिदेवाकारो यस्य तथोक्त, चैतन्यरूप इत्यर्थ । प्रमाणत. प्रत्यक्षादि-

यह प्रतिज्ञा कि 'सर्वं क्षणिक सत्त्वात्'—'सभी पदार्थ क्षणिक है, क्योकि वे सत् हैं' टूट जायगी, और प्रतिज्ञाका भङ्ग (टूटना) एक महान् दोष है, जिससे आप नही बच सकेंगे ॥८५॥ यदि इस दोषसे बचनेके लिए आप सन्तानको क्षणिक स्वीकार करते हैं, तो क्षणिक सन्तानीके माननेमे जो कृतनाश आदि दोष दिये जाते हैं, वे सब-के-सब सन्तानमे भी आयेंगे—यदि सन्तान क्षणिक मानी जाय तो जो सन्तान क्षण अच्छे-बुरे कर्म करेगा, वह दूसरे क्षणमे तो रहेगा नहीं, फलत. जो दूसरे क्षणमें उत्पन्न होगा, वह उसके फलको भोगेगा । ऐसी अवस्थामे करनेवाले सन्तान क्षणको कृतनाश और न करनेवाले भोक्ता सन्तान-क्षणको अकृताभ्यागमका दोष लगेगा ॥८६॥ कुछ दार्शनिक आत्माको व्यापक मानते हैं । किन्तु उनका यह मानना ठीक नही, क्योकि उसकी व्यापकता सिद्ध नही होती । शरीरके भीतर उसकी सत्ता स्वसवेदन प्रत्यक्षसे सिद्ध है पर शरीरके बाहर रहनेवाली आत्माकी सत्ता स्वसवेदन प्रत्यक्षसे सिद्ध नही है ॥८७॥ अत' प्रमाणके आधारपर जीव अनादि—आदिरहित, अनिधन—अन्तरहित, नित्य, शरीर-प्रमाण, अच्छे-बुरे कर्मोंका कर्त्ता तथा उनके फलका भोक्ता और चेतनास्वरूप सिद्ध होता

१ अ आ इ °प्रमाणत । २ अ आ इ विदाकारः । ३ = क्षणिकैकान्त वदन्तीत्येवं शीला क्षणिकैकान्तवादिन तेषा सौगतानामित्यर्थः । ४ = सतानिन सकाशात् सन्ततिर्भिन्नाऽभिन्ना वा ? यद्यभिन्ना तर्हि तत्समा, अभिन्ना चेत्, नित्याऽनित्या वा ? नित्यत्वे क्षणिकैकान्तवादिना प्रतिज्ञाहानिदोष स्यात् । 'सर्वं क्षणिक सत्त्वात्' इति तेषा प्रतिज्ञा । ५ आ भङ्गस्य । ६ = 'कृतप्रणाशाकृतकर्मभोगभवप्रमोक्षस्मृतिभङ्ग-दोषान् । उपेक्ष्य साक्षात् क्षणभङ्गमिच्छन्नहो महासाहसिक परोऽसौ ।' ७ आ श स सतान । ८ = सतानिन । ९ = अननुभवात् । १० = उक्तविवेचनात् ।

येऽप्यजीवादयो भावास्तदपेक्षा व्यवस्थिताः ।
तेऽपि सम्प्रति संसिद्धास्तन्न तत्त्वमुपप्लुतम् ॥ ८९ ॥
जीवाजीवादिषड्वर्गं प्रतिपद्यापरे पुनः ।
मोक्षे विप्रतिपद्यन्ते मीमांसापक्षपातिनः ॥ ९० ॥
तेषामप्यनुमाबाधा परिधावति पृष्ठतः ।
यतः कर्मक्षयो मोक्षः स च सिद्धोऽनुमानतः ॥ ९१ ॥
तथाहि क्वचिदप्यस्ति पुंसि कृत्स्नावृतिक्षयः ।
तत्कार्यसकलज्ञत्वस्यान्यथानुपपत्तितः ॥ ९२ ॥

प्रमाणात् ।[1] जीव आत्मा । सिद्ध· निश्चित· ॥८८॥ ये इति । येऽपि तदपेक्षा तस्यापेक्षा येषा ते तदपेक्षा जीवतत्त्वव्यपेक्षा·[2] । अजीवादय न विद्यते जीवो यस्य स एवादिर्येषा ते तयोक्ता अजीवप्रमुखा· । भावा· पदार्था । व्यवस्थिता· स्थापिता । स्युरित्यध्याहार । तेऽपि अजीवादयोऽपि । सम्प्रति इदानीम् । संसिद्धा प्रमाणप्रसिद्धा । तत् तस्मात् कारणात् । तत्त्व द्रव्यम् । उपप्लुत[3] बाधितम् । न न भवति ।।८९।। जीवेति । मीमासापक्षपातिनः मीमासाया मीमासेति नामधेयशास्त्रस्य पक्षेऽङ्गीकारे पातिन प्रवर्त्तमाना । अन्यवादिन अपरे केचित्[4] । जीवाजीवादिषड्वर्गं जीवाजीवादीना षण्णा वर्गम् । प्रतिपद्य प्रतिपदन पूर्वं[5] । पुन पश्चात् अङ्गीकृत्य । मोक्षे परमनिर्वाणे । विप्रतिपद्यन्ते विवाद कुर्वन्ति, जीवस्य मोक्ष एव नास्तीति विवदन्ते इत्यर्थ· । पदि गतौ लट् ।।९०।। तेषामिति[6] । यत यस्मात् । कर्मक्षय· कर्मणा क्षयो नाश । मोक्ष परमनिर्वाण, पुण्यपापकर्मणा प्रध्वस एव मोक्ष इत्यर्थ । न च [स च] मोक्ष· । अनुमानतः अनुमानप्रमाणात्, दोषावरणयोर्हानिः क्वचित् पुसि नि·शेषास्त्यतिशायनादित्यनुमानादित्यर्थ·[6] । 'बन्धहेत्वाभावनिर्जराभ्या कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्ष ' इति सूत्रकारवचनाच्च । सिद्ध निश्चित· । तेषामपि मीमासकानामपि । पृष्ठतः पृष्ठे पृष्ठन पश्चाद्भागे । अनुमाबाधा अनुमानबाधा । परिधावति परिपलायते, कथमपि न मुञ्चतीति भाव । सृ गतौ लट् । 'सर्ते र्धौ वेगे'[7] इति धावादेश ॥९१॥ तथेति । तथाहि-उक्तार्थं विवृणोति । क्वचिदपि कस्मिश्चिदपि । पुसि पुरुषविशेषे । कृत्स्नावृतिक्षय· कृत्स्नाया· समस्ताया आवृतेरावरणस्य क्षयो नाश । अस्ति वर्त्तते । तत्कार्यसकलज्ञत्वस्य तस्य समस्तावरणक्षयस्य कार्यस्य सकलज्ञत्वस्य सर्वज्ञ-

है ॥८८॥ इस प्रकार जीवकी सत्ता सिद्ध हो जानेपर, उसकी अपेक्षा रखनेवाले अन्य अजीव आदि पदा· भी प्रस्तुत प्रसङ्गमे सिद्ध हो जाते है, और उन सभी पदार्थोंके सिद्ध हो जाने-पर यह निश्चत हुआ कि तत्त्वोपप्लववादीका कहना ठीक नही । तत्त्वोपप्लव वादी सभी तत्त्वो-को बाधित मानता है ॥८९॥ मीमासक लोग जीव-अजीव आदि छहो पदार्थोंको स्वीकार करते है, किन्तु वे मोक्षके विषयमे विवाद करते है—मोक्ष नही मानते ॥९०॥ मीमासकोका यह विवाद ठीक नही, क्योकि अनुमान बाधा उनका पीछा कर रही है । कारण कि समस्त कर्मोंके क्षयको मोक्ष कहते हैं, जो अनुमान प्रमाणसे सिद्ध है ॥९१॥ वह इस प्रकार सिद्ध है—किसी भी पुरुषमे समस्त आवरणोका क्षय हो जाता है, क्योकि आवरणोका क्षय हुए बिना उसमे सर्वज्ञता नही हो सकती । कार्यसे कारणका अनुमान किया जाता है, यह निश्चित है । प्रस्तुत प्रसङ्गमे कर्मोका क्षय कारण है और सर्वज्ञता उसका कार्य है । पुरुषमे सर्वज्ञता

१ श स °क्षप्रमा° । २. आ °त्वस्यापेक्षा । ३ °प्लुतं । ४. = अपरे अन्ये केचित्, मीमासका इत्यर्थ । ५ = पश्चात् किञ्चित् । ६ आ प्रतौ केवल 'तेषामिति' इति समुपलभ्यते । ६. = 'दोषावरणयोर्हानिर्निश्शेषास्त्यतिशायनात् । क्वचिद्यथा स्वहेतुभ्यो बहिरन्तर्मलक्षय ॥' । ७. आ 'सर्ते र्धौ व्वेन' श स 'सृते धो वेग' ।

सर्वज्ञत्वं न चासिद्धं कस्यचिद्बाधकात्ययात् ।
सर्वत्र बाधकाभावादेव वस्तुव्यवस्थितिः ॥ ९३ ॥
न तस्य बाधकं तावत्प्रत्यक्षमुपपद्यते ।
तस्याक्षजत्वादत्यक्षे न विधिर्न निषेधनम् ॥ ९४ ॥
न चानुमानं तद्बाधां विधातुं भवति क्षमम् ।
तल्लिङ्गं पुरुषत्वादि व्यभिचारि यतोऽखिलम् ॥ ९५ ॥
यथाहि पुरुषत्वेऽपि वेदार्थज्ञानगोचरः ।
कस्याप्यतिशयस्तद्वत्सर्वार्थज्ञानगोचरः ॥ ९६ ॥

त्वस्य । अन्यथानुपपत्तित अन्यथा सकलावरणक्षयाभावे[1] अनुपपत्तित असंभवात् ॥९२॥ सर्वज्ञत्वमिति । कस्यचित् पुरुषस्य । सर्वज्ञत्व सकलज्ञत्वम् । असिद्धम् अनिश्चितम्[2] । न च नच भवति । बाधकात्ययात् बाधकाभावात् । सर्वत्र सर्वस्मिन् सर्वत्र, सर्वस्मिन् अनुमानादौ । वस्तुव्यवस्थिति· वस्तुनः पदार्थस्य व्यवस्थिति ससिद्धि[3] । बाधकाभावादेव बाधकस्यासभवादेव ॥९३॥ नेति । तस्य सर्वज्ञत्वस्य । तावत् प्रथमम् । प्रत्यक्ष प्रत्यक्ष[4] प्रमाणम् । बाधक बाधाकारकम् । न उपपद्यते नोपयाति[5] भवितु । तस्य प्रत्यक्षप्रमाणस्य । अक्षजत्वात् इन्द्रियोत्पन्नत्वात् । अप्रत्यक्षे अतीन्द्रियविषयपदार्थे । विधिर्न विधिर्न भवति । निषेधन च निषेधनमपि न भवति ॥९४॥ न चेति–'अनुमान च अनुमानप्रमाणमपि । तद्बाधा तस्य सर्वज्ञत्वस्य बाधाम् । विधातु कर्त्तुम् । क्षम समर्थम् । न भवति न वर्त्तते ।' यत यस्मात् । अखिल समस्तम् । पुरुषत्वादि—कश्चित् सर्वज्ञो न भवति पुरुषत्वात् शिर पाण्यादिमत्वात् रथ्यापुरुषवदिति । तल्लिङ्ग तस्य सर्वज्ञाभावस्य साधक लिङ्गम् । व्यभिचारि अनैकान्तिक भवति । अनुमानम् (?) । अथवा अर्हन् सर्वज्ञो न भवति वक्तृत्वात् पुरुषत्वात् ब्रह्मादिवदित्यनुमानम् । तद्बाधा तस्य सद्भावबाधाम् । विधातु विधानाय विधातु कर्त्तुम् । क्षम समर्थम् । न च भवति । भू सत्ताया लट् ॥९५॥ यथेति । यथा हि[6] पुरुषत्वेऽपि पुरुषत्वसद्भावेऽपि । कस्यापि पुरुषस्य । वेदार्थज्ञानगोचर· वेदानाम् अर्थो वेदार्थ तस्य ज्ञान गोचरो विषय [यस्य स] अतिशयो

युक्ति सिद्ध होनेसे कर्मोंके क्षयका अनुमान होता है। सर्वज्ञता कर्मक्षयको छोडकर और किसी तरह नही हो सकती ॥९२॥ और सर्वज्ञता असिद्ध नही है, क्योकि पुरुषको सर्वज्ञ माननेमे कोई बाधा नही है। बाधा न होनेसे ही सब जगह वस्तुकी व्यवस्था होती है ॥९३॥ आप हमे यह समझाइए कि अमुक प्रमाण सर्वज्ञताका बाधक है। यदि आप प्रत्यक्षको सर्वज्ञताका बाधक समझते हैं, तो ठीक नही, क्योकि प्रत्यक्ष उसका बाधक सिद्ध नही हो सकता। चूंकि प्रत्यक्ष इन्द्रियजन्य है, इसलिए वह अतीन्द्रिय पदार्थोंका न साधक है और न बाधक। सर्वज्ञता अतीन्द्रिय है, अतः इन्द्रियोसे उत्पन्न हुआ प्रत्यक्ष उसका सद्भाव या असद्भाव सिद्ध नही कर सकता ॥९४॥ और इसी प्रकार अनुमान भी सर्वज्ञतामे बाधा डालनेमे समर्थ नही है, क्योकि ऐसा कोई हेतु ही नही है, जो सर्वज्ञताका अभाव सिद्ध कर सके। यदि यह कहा जाय कि पुरुषत्व आदि हेतु उसके बाधक हैं—'कश्चित्सर्वज्ञो न भवति पुरुषत्वात् शिर पाण्यादिमत्वाद् रथ्यापुरुषवत्'—अर्थात् 'कोई सर्वज्ञ नही हो सकता, क्योकि वह पुरुष है और उसके शिर तथा हाथ आदि हैं। जैसे गलीमे फिरनेवाला आदमी'। तो यह भी ठीक नही, क्योकि उक्त हेतु दूषित हैं ॥९५॥ जिस प्रकार पुरुषत्वके रहते हुए भी किसी व्यक्तिमें

१ आ प्रतौ केवल 'सकलावरणक्षयाभावे' इति समुपलभ्यते । २ = अनुपपन्नम् । ३ = व्यवस्था । ४ श स प्रत्यक्ष । ५ = भवितु नार्हति । ६. = यथा हि पुरुषत्वेऽपि कस्यापि वेदार्थज्ञानगोचरोऽतिशयस्तद्वत् कस्यापि सर्वार्थज्ञानगोचरोऽपि ।

रासभो न यथा श्रृङ्गी देशकालान्तरेऽखिलः ।
तथा पुमान्न सर्वज्ञो देशकालान्तरेऽखिलः ॥ ९७ ॥

इत्यादि नोपमानं च युक्तमिष्टविघाततः ।
तथा हि खचरादीनां न स्यात्खगमनादिकम् ॥ ९८ ॥

तस्मान्नरविशेषोऽसौ यस्य सा सकलज्ञता ।
तथा खरविशेषश्चेदिष्टा तस्यापि श्रृङ्गिता ॥ ९९ ॥

भवति । न [च] वेदार्थवेदी सर्वार्थवेदी इति । तद्वत् वेदार्थज्ञानगोचरातिशयवत् । सर्वार्थज्ञानगोचर सर्वेषामर्थाना ज्ञानस्य गोचरो विषयः (सर्वे च तेऽर्थाश्च सर्वार्था तेषा ज्ञानं गोचरो विषयो यस्य स , अतिशय पुरुषत्वेऽपि कस्यचित्) । भवति ॥९६॥ रासभ इति । यथा देशकालान्तरे देशान्तरे कालान्तरे वा । अखिल. सकल । रासभ. खर । श्रृङ्गो विषाणी । न भवति । तथा तेन प्रकारेण । अखिल सकल । पुमान् पुरुषः । देशकालान्तरे देशान्तरे कालातरे । सर्वज्ञ सकलार्थवेदी । न भवति । इति मीमासकाभिप्राय ॥९७॥ इत्यादीति । इत्यादि एवमादि । उपमानम् उपमानप्रमाणमपि । इष्टविघाततः इष्टस्याङ्गीकारस्य विघाततो बाधनात्, इष्टविरोधादित्यर्थः । न युक्त न संगतम् । तथा हि उक्तार्थं विवृणोति तथा हीति । खचरादीना खे चरन्तीति खचरा. ते आदयो येषा तेषा विद्याधरादीनाम् । खगमनादिकं खगमनमादि यस्य (तत्) खगमनादिकम् आकाशगमनादिकम् । स्यात् न भवेत् ॥९८॥ तस्मादिति । तस्मात् कारणात् यस्य पुरुषस्य । सा सकलज्ञता सकल जानातीति सकलज्ञ तस्य भाव सकलज्ञता सर्वज्ञता । असौ अयम् । नरविशेषः पुरुष विशेषः । तथा तेन प्रकारेण । खरविशेषश्च[चेत्]रासभविशेषश्च[चेत्] । तस्यापि खरस्यापि । श्रृङ्गिता विषाणिता ।

समस्त वेदोके अर्थको जाननेका अतिशय[1] पाया जाता है, इसी प्रकार पुरुषत्व आदिके रहते हुए भी किसी पुरुषमे समस्त पदार्थ जाननेका अतिशय पाया जा सकता है ॥९६॥ यदि यह कहा जाये कि 'जैसे किसी भी देश और किसी भी कालमे गदहे सींगवाले नही देखे जाते, वैसे ही किसी भी देश और किसी भी कालमे मनुष्य सर्वज्ञ नही देखा जाता, इत्यादि उपमान सर्वज्ञता का बाधक है' तो यह कहना ठीक नही, क्योकि ऐसा माननेपर आपके ही इष्टका विनाश होगा। वह इस तरह—जैसे किसी देश और किसी भी कालमे आपलोग आकाशमे गमन करनेवालेके अभावको उपमान मानकर मनुष्यमात्रमे आकाश गमनरूप उपमेयका अभाव मान लें तो आपको विद्याधरोमे भी आकाश गमनका अभाव मानना पडेगा। किन्तु यह आपको इष्ट नही है। इसी तरह उपमानके आधारपर सर्वज्ञताका अभाव मानना भी आपको इष्ट नही होना चाहिए ॥९७-९८॥ इस कारण यदि यह कहा जाये कि वह विशिष्ट पुरुष होता है, जो आकाशमे गमन कर सकता है, तो हम भी यह कह सकते हैं कि वह विशिष्ट पुरुष होता है, जिसमे सर्वज्ञता होती है। यदि कहे कि इस प्रकार तो कोई विशेष प्रकारका गदहा भी ऐसा हो सकता है, जिसके सीग हो, तो ठीक है यदि आपको कही ऐसा गदहा मिल जाये, जिसके सीग सचमुच हो। किन्तु ऐसा गदहा मिलना असम्भव है, पर किसी विशिष्ट

---

१. मीमासकोंकी मान्यता है कि वेद ही पुरुषको त्रिकालवर्ती समस्त पदार्थोंका बोध करा देता है। अत. वेदके आधारपर पुरुषमें सभी पदार्थोंको जाननेका अतिशय प्रकट हो जाता है।

न चार्थापत्तिरप्यस्ति सर्वज्ञाभावसाधिनी ।[1]
को ह्यर्थोऽसंभवी तेन विना यस्ततं प्रकल्पयेत् ॥ १०० ॥
नाप्यागमेन सर्वज्ञः कृतकेनेतरेण वा ।
बाध्यते कर्तृहीनस्य तस्यात्यन्तमसंभवात् ॥ १०१ ॥
कर्तुरस्मरणादिभ्यः कर्त्रभावो न सिद्ध्यति ।
अज्ञातकर्तृकैर्वाक्यैर्व्यभिचारस्य संभवात् ॥ १०२ ॥
न च कश्चिद्विशेषोऽस्ति पौरुषेयेष्वसंभवी[2] ।
अतीन्द्रियार्थसंवादः सर्वज्ञोक्तेऽपि संभवेत् ॥ १०३ ॥

इष्टा अङ्गीकृता ॥९९॥ न चेति । सर्वज्ञाभावसाधिनी । सर्वज्ञाभावस्य साधिनी अर्थापत्तिरपि अर्थापत्तिप्रमाणमपि । न चास्ति न सम्भवति । तेन विना सर्वज्ञाभावेन विना । असंभवी[3] अभावरूप (अनुपपद्यमान) । अर्थः पदार्थः । को हि न कोऽपीत्यर्थः । यः को वः । तं सर्वज्ञम् । प्रकल्पयेत् समर्थयेत् । कृपौङ् सामर्थ्ये णिजन्तात्लिङ् ॥१००॥ नेति । कृतकेन पौरुषेयेण, पुरुषप्रोक्तेनेत्यर्थः । इतरेण वा अपौरुषेयेण, अनादिरूपेणेत्यर्थः । आगमेन आगमप्रमाणेन । सर्वज्ञः । न बाध्यते न निराक्रियते । कर्तृहीनस्य कर्त्रा प्रणेत्रा हीनस्य रहितस्य । अत्यन्तम् असंभवात् अभावात्, [4]कर्तृरहितस्यागमस्य सर्वथाऽसंभव इत्यर्थः ॥१०१॥ कर्तुरिति । कर्तुः देवस्य [वेदस्य] कर्तुः । अस्मरणादिभ्यः वेदः पुरुषेण[5] प्रोक्त इति स्मरणाभावादिभ्यः । कर्त्रभावः वेदकर्तुरभावः । न[6] सिद्ध्यति न संभवति । अज्ञातकर्तृकैः अज्ञातः कर्ता येषां[7] ते । वाक्यैः तिङ्सुबन्तचयरूपवाक्यैः[8] । व्यभिचारस्य अनैकान्तिकस्य संभवात् सद्भावात् ॥१०२॥ न चेति । पौरुषेयेषु पुरुषप्रोक्तेषु वेदेषु सत्सु, एवं कथनं न संभवतीति कश्चिद्विशेषो नास्ति । अतीन्द्रियार्थसंवादः तेषु न संभवतीति चेत्, सर्वविदुक्ते वेदे सोऽपि संभवत्येव । असंभवी असंभवरूपः । कश्चिद्विशेषः कोऽपिविशेषः । न चास्ति नास्ति । अतीन्द्रियार्थ-

पुरुषका सर्वज्ञ होना असम्भव नहीं है ॥९९॥ अर्थापत्ति भी सर्वज्ञके अभावको सिद्ध नहीं कर सकती, क्योंकि ऐसा कोई पदार्थ नहीं, जो सर्वज्ञके अभावके विना असम्भव होकर उसके अभावको सिद्ध कर सके। यदि ऐसा कोई पदार्थ हो, जो सर्वज्ञके अभावमें ही हो, तो उसे देखकर सर्वज्ञके अभावकी कल्पना की जा सकती है। किन्तु ऐसा एक भी पदार्थ नहीं है ॥१००॥ यदि आप यह कहें कि आगमसे सर्वज्ञका अभाव सिद्ध होता है, तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि हम आपसे पूछते हैं कि पौरुषेय आगमसे सर्वज्ञका अभाव सिद्ध होता है, या अपौरुषेयसे ? अपौरुषेय आगमसे उसका अभाव सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि ऐसा आगम अत्यन्त असम्भव है, जो विना पुरुषके ही बन गया हो ॥१०१॥ कर्ताका स्मरण न होना आदि हेतुओंसे उसके कर्ताका अभाव सिद्ध नहीं हो सकता। यदि कर्ताके स्मरण न होनेसे किसी आगमको कर्ता-रहित-पौरुषेय माना जाये, तो ऐसे अनेक वाक्य हैं, जिनके कर्ताका किसीको पता नहीं है, अतः उन वाक्योंके साथ उक्त हेतु व्यभिचारी है ॥१०२॥ जिसे आप अपौरुषेय आगम सिद्ध करना चाहते हैं, उसमें ऐसी कोई विशेषता दृष्टिगोचर नहीं होती, जो पौरुषेय आगममें सर्वथा असम्भव हो। यदि आप यह कहें कि अतीन्द्रिय पदार्थोंकी प्रामाणिक चर्चा अपौरुषेय आगमकी विशेषता है, जो पौरुषेय आगममें असम्भव है, तो यह कहना भी ठीक नहीं, क्योंकि सर्वज्ञ

१ अ आ इ म °बनी । २ आ पौरुषेयस्य संभवी । ३ = पौरुषेयेष्वसंभवी कश्चिद्विशेषोऽपौरुषेये नास्ति । यथातीन्द्रियार्थसंवादोऽपौरुषेये तथा पौरुषेयेऽपि दृश्यते । ४ आ कर्तृर° । ५ श स सर्वदा । ६ श स देवपुरुषेण । ७ आ स न । ८ आ एषां । ९ = सुप्तिङन्तचयरूपवाक्यैः ।

विवादविषयापन्नं ततः शास्त्रं सकर्तृकम् ।
दृष्टकर्तृकतुल्यत्वादकलङ्कादिशास्त्रवत् ॥ १०४ ॥
तस्मादकर्तृकं शास्त्रं नास्ति सर्वज्ञबाधकम् ।
कृतकं च द्विधाभिन्नं सर्वज्ञेतरहेतुकम् ॥ १०५ ॥
असर्वज्ञकृतं तावन्न प्रमाणमतीन्द्रिये ।
सकलज्ञप्रणीतं तु तस्य प्रत्युत साधकम् ॥ १०६ ॥
प्रस्तुतस्यानुमानस्य साधकत्वेन संभावात् ।
प्रमाणपञ्चकाभावोऽप्यखिलज्ञं न बाधते ॥ १०७ ॥

सवादः अतीन्द्रियार्थस्य सवादः[1] । सर्वज्ञोक्तेऽपि सर्वज्ञेनोक्तेऽपि । सभवेत् ॥१०३॥ विवादेति[2] । ततः तस्मात्कारणात् । विवादविषयापन्न विवादस्य विषयप्राप्तम् (विषय प्राप्तम्) शास्त्रम् आगमो धर्मि । सकर्तृक कर्तृसहितम्, इति साध्यम् । [3]दृष्टकर्तृकतुल्यत्वात् [4]दृष्टकर्तृकस्य समानत्वात्, इति साधनम् । अकलङ्कादिशास्त्रवत् अकलङ्कादीना शास्त्रमिव, इति दृष्टान्तः ॥१०४॥ तस्मादिति । तस्मात् कारणात् । सर्वज्ञबोधक सर्वज्ञस्य बोधक (सर्वज्ञबाधक सर्वज्ञस्य बाधक) नास्तित्वज्ञापकम् अकर्तृक कर्तृरहितम् । शास्त्रम् आगम । नास्ति न सभवति । कृतक च स कर्तृक च सर्वज्ञेतरहेतुक सर्वज्ञश्चेतरश्च सर्वज्ञेतरौ तौ एव हेतू यस्य तथोक्त, सर्वज्ञासर्वज्ञकारणकमित्यर्थ । द्विधा द्विप्रकारेण । भिन्न भेदयुक्तम् । स्यादित्यध्याहार ॥१०५॥ असर्वज्ञेति । तावत् प्रथमम् । [5]असर्वज्ञकृतम् असर्वज्ञेन किंचिज्ज्ञेन कृतं प्रणीतम् । अतीन्द्रिये अतीन्द्रियविषये । प्रमाण विषयाव्य[6]भिचाररूपम् (प्रमाणभूतमित्यर्थ) । न न भवति । प्रत्युत तर्हि[7] सकलज्ञप्रणीत तु सकलज्ञेन सर्वज्ञेन प्रणीत तु । तस्य सर्वज्ञस्य । साधक साधकमेव । भवति न बाधकम् ॥१०६॥ प्रस्तुतस्येति । प्रमाणपञ्चकाभावोऽपि पञ्च अवयवा यस्य (तत्) पञ्चक, 'संख्याडतेश्चाशत्तिष्टे क' इति क-प्रत्यय, प्रमाणाना पञ्चक प्रमाणपञ्चक तस्याभाव एव स्वरूप यस्य तथोक्त', प्रमाणपञ्चकाभावरूपाभावप्रमाणमपीत्यर्थ' । अखिलज्ञ सर्वज्ञम् । न बाधते । प्रस्तुतस्य प्रकृतस्य । अनुमानस्य—[8]कश्चित् पुरुष सकलपदार्थसाक्षात्कारी तद्ग्रहणस्वभावत्वे सति प्रक्षीणप्रतिबन्धप्रत्ययत्वात् इत्यनुमानस्य ।

कथित आगममे अतीन्द्रिय पदार्थोंकी चर्चा सम्भव है ॥१०३॥ अतः विवाद कोटिमे स्थित प्रस्तुत आगम निम्न अनुमान प्रमाणसे भी पौरुषेय सिद्ध होता है—विवादस्थ आगम पौरुषेय है, क्योंकि वह कर्तावाले आगमोके समान है। जैसे अकलङ्क आदिके शास्त्र ॥१०४॥ ऐसी स्थितिमें अपौरुषेय आगम सर्वज्ञका बाधक नही हो सकता। तथा पौरुषेय आगम दो प्रकारका होता है—एक सर्वज्ञ प्रणीत और दूसरा असर्वज्ञ प्रणीत। दोनोमे-से आप किसे सर्वज्ञका बाधक मानते हैं? ॥१०५॥ यदि असर्वज्ञ प्रणीत आगमको सर्वज्ञका बाधक मानते हैं, तो वह अतीन्द्रिय पदार्थोंके निरूपण करनेमे प्रमाण नही है, अत. वह सर्वज्ञका बाधक नही हो सकता। यदि सर्वज्ञ प्रणीत आगमको बाधक मानते हो तो ठीक नही; क्योकि वह उसका बाधक नही बल्कि साधक ही है ॥१०६॥ चूँकि प्रस्तुत अनुमान, जो बावनवे-तेरावनवे वें श्लोकमे दिया गया है, सर्वज्ञका सद्भाव सिद्ध करनेमे समर्थ है, अतः प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, अर्थापत्ति

---

१. आ सत्यवाद । २ आ श स विवाद इति । ३ श स वृक्षक° । ४ श स वृक्षक° । ५. आ 'अ' नास्ति । ६ =श स विषयव्यभि° । ७ =वैपरीत्येन । ८ = 'यत्तावदुक्तं प्रत्यक्षादिप्रमाणाविषयत्वमशेषज्ञस्येति, तदयुक्तं, तद्ग्राहकस्यानुमानस्य सभवात् । तथा हि कश्चित् पुरुष सकलपदार्थसाक्षात्कारी तद्ग्रहणस्वभावत्वे सति प्रक्षीणप्रतिबन्धप्रत्ययत्वात् ।' प्रमेयरत्न० पृ० ५४ ।

तस्मादशेषवित्कश्चिदस्तीत्यागमसंभवा[1]।
प्रमाणं बाधकाभावाद्बुद्धिरक्षादिबुद्धिवत् ॥ १०८ ॥
ततो मोक्षोऽपि संसिद्धो रत्नत्रयनिबन्धनः।
जीवाजीवास्रवैर्बन्धनिर्जरासंवरैः समम् ॥ १०९ ॥
वचोभिरिति तत्त्वार्थशंसिभिश्चुम्बकैरिव।
स शल्यमिव संदेहमाचकर्ष महीपतेः ॥ ११० ॥
यदुक्तं सूरिणा तेन तत्तथेति प्रपद्य सः।
पप्रच्छ पुनरात्मीयान्भवान्मुदितमानसः ॥ १११ ॥

'तथाहि क्वचिदप्यस्ति पुंसि कृत्स्नावृतिक्षयः। तत्कार्यसकलज्ञत्वस्यान्यथानुपपत्तितः' इत्यनुमानस्य च। साधकत्वेन सार्वज्ञ[2]साधकत्वेन। संभवात् ॥१०७॥ तस्मादिति। तस्मात् प्रमाणषट्केनापि सर्वज्ञो न बाध्यते यस्मात्, तस्मात्। अशेषवित् अशेषं वेत्तीत्यशेषवित् सर्वज्ञः। कश्चिदस्ति कश्चिद् वर्तते। इति आगमसंभवा बुद्धिः शास्त्रसंभूता एव मतिः। प्रमाणं प्रमाणभूतैव। बाधकाभावात् बाधकस्य प्रतिबन्धकस्य[3] अभावात् असंभवात्। अक्षादिबुद्धिवत् प्रत्यक्षादिज्ञानवत् ॥१०८॥ तत इति। ततः अनुमानप्रमाणेन सर्वज्ञः सिद्धो यतः, ततः रत्नत्रयनिबन्धनः रत्नत्रयमेव निबन्धनं यस्य सः, सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रकारणकः। मोक्षः परमनिर्वाणरूपमोक्षपदार्थः। जीवाजीवास्रवैः जीव[4]श्चाजीवश्चास्रवश्च तथोक्ता तैः। एवं षट्तत्त्वैः समं साकम्। सिद्धः निश्चितः ॥१०९॥ वचोभिरिति। सः मुनिपतिः। चुम्बकैरिव अयस्कान्तैरिव। 'चुम्बको[5] बहुगुरुधूर्तायस्कान्तकामुके' इत्यभिधानात्। तत्त्वार्थशंसिभिः[6] तत्त्वार्थस्य शंसिभिः आविष्का[7]रिभिः। इति प्रागुक्तैः। वचोभिः वचनैः। महीपतेः पद्मनाभस्य। शल्यमिव शस्त्रायुधमिव। सन्देहं संशयम्। आचकर्ष निराचकार। कृष विलेखने लिट् ॥११०॥ यदिति। तेन[8] सूरिणा तेन मुनिनाथेन। यत् उक्तं भाषितम्। तत् तद्वचनम्। तथेति तेन प्रकारेणैवेति। प्रपद्य अङ्गीकृत्य। मुदितमानसः मुदितं संतुष्टं मानसं चित्तं यस्य सः। स पद्मनाभमहीपतिः। पुनः पश्चात्। आत्मीयान् आत्मन इमे आत्मीयाः तान् स्वसंबन्धान्। भवान्

और आगम इन पांच सद्भाव साधक प्रमाणोका अभाव रूप अभाव प्रमाण भी सर्वज्ञका बाधक नही हो सकता ॥१०७॥ अतः 'कोई सर्वज्ञ है' इस प्रकारके शब्दसे उत्पन्न होनेवाली बुद्धि प्रमाण है, क्योकि इसमे कोई बाधक नहीं है। जैसे प्रत्यक्ष आदि ज्ञान। अर्थात् जैसे 'अयं घट'–'यह घडा है' इत्याकारक प्रत्यक्ष ज्ञान प्रमाण है, इसी प्रकार 'कश्चित् सर्वज्ञः'–'कोई सर्वज्ञ है' इत्याकारक शाब्द ज्ञान भी प्रमाण है ॥१०८॥ सर्वज्ञका सद्भाव सिद्ध हो जानेसे जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर और निर्जरा इन छह तत्त्वोके साथ मोक्ष भी सिद्ध हो जाता है, जिसका कारण रत्नत्रय—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्-चारित्र है ॥१०९॥ इस प्रकार सात तत्त्वोके प्रतिपादन करनेवाले वचनोसे मुनिराज श्रीधरने राजा पद्मनाभके सन्देहको निकाल दिया। जैसे चुम्बक लोहेकी कीलको निकाल देता है ॥११०॥ मुनिराज महान् विद्वान् थे, अतः उनके उपदेशकी वास्तविकतासे राजा बडा प्रसन्न हुआ, और उसने कहा—'मुनिराज, जीव आदि तत्त्वोके विषयमे जो आपने उपदेश दिया, वह वैसा ही है, जैसा आगममे बतलाया गया है।' इसके बाद उसने उनसे अपने पिछले और अगले भवोंके बारेमे पूछा ॥१११॥

१ अ आ इ म °भवात्। २. श स सर्वज्ञ°। ३ श स °बन्धस्य। ४. श स जीवोऽजी°। ५ आ चुम्बकबहु°। ६ आ शशिभि.। ७ श स आवि का°। ८ आ प्रतौ 'तेन' इति समुपलभ्यते नान्यासु।

मुनिना वक्तुमारेभे तस्मै भवपरम्परा ।
चक्रे भव्यसभा चित्तमवधानपरम्परा ॥ ११२ ॥
द्वीपे नृप तृतीये यो विद्यते पूर्वमन्दरः ।
क्रीडत्किन्नरसंकीर्णलताभवनसुन्दरः ॥ ११३ ॥
तस्यापरविदेहेऽस्ति सुगन्धिरिति नामतः ।
देशो विभूष्य शीतोदानद्युत्तरतटं स्थितः ॥ ११४ ॥
बिभ्राणैर्बृहदुद्दण्डपिण्डच्छत्रावलिश्रियम् ।
राजन्ते राजवद्यस्य प्रदेशाः क्रमुकद्रुमैः ॥ ११५ ॥

भूतभविष्यज्जन्मानि । पप्रच्छ व्याजज्ञे[1] । प्रच्छ ज्ञीप्सायां[2] लिट् ॥१११॥ मुनिनेति । मुनिना मुनिनाथेन । भवपरम्परा भवानां जन्मनां परम्परा संततिः । तस्मै पद्मनाभमहीपतये । वक्तुं भाषितुम् । आरेभे उपचक्रमे । रभि राभस्ये कर्मणि लिट्[3] । परा उत्कृष्टा । भव्यसभा भव्यानां रत्नत्रयाविर्भवनयोग्यानां विनेयजनानां सभा संसत् । अवधानपरं अवधाने सावधाने[4] परं तत्परम् । चित्तं मानसम् । चक्रे विदधे स्म । डुकृञ् करणे लिट् ॥११२॥ द्वीप इति । नृप नॄन् पातीति नृपः तस्य आमन्त्रण[5]—हे पद्मनाभ ! तृतीये त्रयाणां पूरणः तृतीयः तस्मिन् । 'द्वित्रेस्तीयद्रेश्च ऋश्' इति तीयत् प्रत्ययः तद्योगे त्रिशब्दस्य रिकारस्य ऋश्—आदेशः । शित्वात् सर्वस्य । द्वीपे पुष्करार्द्धद्वीपे । क्रीडत्किन्नरसंकीर्णलताभवनसुन्दरः क्रीडन्तीति क्रीडन्तः (तैः) क्रीडद्भिः किन्नरैः किन्नरदेवैः संकीर्णानामाकीर्णानां लतानां व्रततीनां भवनैः आलयैः सुन्दरो मनोहरः । यः पूर्वमन्दरः पूर्वस्मिन् पूर्वभागे विद्यमानो मन्दरो मेरुः तथोक्तः । विद्यते वर्त्तते । विदिसत्तायां लट् ॥११३॥ तस्येति । तस्य मन्दरस्य[6] अपरविदेहे अपरश्चासौ विदेहश्चापरविदेहः तस्मिन्, पश्चिमविदेहक्षेत्रे । शीतोदानद्युत्तरतटं शीतोदाया नद्या उत्तरं तटं तीरम् । विभूष्य विभूषणं पूर्वं[7] अलङ्कृत्य । स्थितः[8] नामतः नाम्नो नामतो नामधेयात्[9] । सुगन्धिरिति[10] देशः जनपदः । अस्ति विद्यते । अस भुवि लट् ॥११४॥ बिभ्रेति । यस्य सुगन्धिदेशस्य । प्रदेशाः क्षेत्राणि । [11]बृहदुद्दण्डपिण्डच्छत्रावलिश्रियम् उद्गता दण्डा उद्दण्डा बृहन्त उद्दण्डा येषां तानि तथोक्तानि [12]पिण्डैर्निर्मितानि छत्राणि पिण्डच्छत्राणि बृहदुद्दण्डानि च पिण्डच्छत्राणि च तेषां मावलिः तस्याः श्रियं शोभाम् । बिभ्राणैः बिभ्रत इति बिभ्राणाः तैः । डुभृञ् धारणपोषणयोः । 'सल्लट्'—इत्यादिना नश्-प्रत्ययः । क्रमुकद्रुमैः क्रमुकानां पूगानां द्रुमैः वृक्षैः । राजवत् राजान इव । राजन्ते भासन्ते ।

मुनिराजने पद्मनाभसे उनके भवोंके बारेमें कहना प्रारम्भ कर दिया और उस समय वहाँ श्रेष्ठ सभामें जितने भव्य लोग उपस्थित थे, सभीने उसे सुननेके लिए अपने-अपने मनको सावधान कर लिया—सभी सावधान होकर सुनने लगे ॥११२॥ राजन् ! तीसरे द्वीपका नाम पुष्करार्द्ध है, उसके पूर्वमें 'मेरु' पर्वत है, जो 'पूर्व मन्दर' नामसे प्रसिद्ध है। उसके मण्डपोंमें किन्नरगण क्रीडा किया करते हैं, जिससे वह बडा सुन्दर मालूम पडता है ॥११३॥ उस पूर्व मन्दरके पश्चिम विदेहमें शीतोदा नदीके उत्तरी तटपर एक सुगन्धि नामका देश है। उसीसे शीतोदा नदीके उत्तरी तटकी शोभा है ॥११४॥ उस देशमें सुपारीके पेड प्रचुर मात्रामें पाये जाते हैं। उनके तने ऊँचे हैं; और उनके ऊपरी भाग, जहाँ सभी ओरसे पत्ते लगे हुए हैं, बिलकुल गोल हैं। अतएव उनमें छातोंकी पूरी शोभा उतर आयी है। उनसे उस देशके प्रदेश छत्रधारी राजाओंके

१ =पृच्छतिस्म । २ श स प्रछ ज्ञीप्सा° । ३. आ प्रतौ केवलं 'रभि राभस्ये कर्मणि लिट्' इति समुपलभ्यते । ४ =एकाग्रतायाम् । ५. =आमन्त्रणे । ६ =पूर्वमन्दरस्य । ७ =पश्चात् किञ्चित् । ८ =विद्यमानः । ९. प्रसिद्ध इति शेषः । १०. =सुगन्धिनामधेयः । ११ अ आ द म °दुद्दण्डपिच्छ° । १२. =वस्तुतस्तत्र पिण्डपदस्य स्थाने पिच्छपदेनैव भाव्यम् ।

सुगन्धिकुसुमामोदैः सुगन्धयति यो दिशः ।
सर्वतोऽपि निजामाख्यां कर्तुमर्थवतीमिव ॥ ११६ ॥
अकृष्टपच्यसस्याढ्ये निरीतौ निरवग्रहे ।
यत्रानित्यप्रमोदिन्यो मोक्षप्राप्ता इव प्रजा. ॥ ११७ ॥
ग्रामैः कुक्कुटसंपात्यैः सरोभिर्विकचाम्बुजैः ।
सीमभिः सस्यसंपन्नैर्यः समन्ताद्विराजते ॥ ११८ ॥
अर्थं धर्माय सेवन्ते कामं संतानवृद्धये ।
यत्र न व्यसनाल्लोकाः परलोकक्रियोद्यताः ॥ ११९ ॥

राजृ्न् दीप्तौ लट् । उत्प्रेक्षा ॥११५॥ सुगन्धीति । य देश. । निजा स्वकीयाम् । आख्या नामधेयम् । अर्थवतीं सार्थकाम् । कर्त्तुमिव कारणायेव । सुगन्धिकुसुमामोदैं सुगन्धिना सुशोभनो गन्धो येषा तानि सूत्पूतिसुरभेर्गन्धादिद् गुणे' इति इत्-प्रत्यय 卐 सुगन्धिना कुसुमानाम् आमोदैं मनोहरपरिमलैं । 'आमोद सोऽतिनिर्हारी' इत्यमर । दिश ककुभ । सुगन्धयति सुगन्धीकरोतीति सुगन्धयति । सुगन्धीति सुव्धातो 'णिज्वहुल कृञादिषु' इति णिच् प्रत्यय । उत्प्रेक्षा[1] 卐 ॥११६॥ अकृष्टेति । यत्र सुगन्धिदेशे । अकृष्टपच्य-सस्याढ्ये[2] अकृष्टेन पच्यैं परिपक्वैं सस्यैं आढ्ये परिपूर्णे निरीतौ[3] निर्गता ईतयोऽतिवृष्ट्यादयो यस्मिन् (यस्मात्) तस्मिन् । निरवग्रहे[4] निर्गतोऽवग्रहो दुर्भिक्षो (वृष्टिप्रतिवन्धो) यस्मिन् (यस्मात्) तस्मिन् । 'प्रतिवन्धगजालोकवृष्टिवन्धेष्ववग्रह ' इत्यभिधानात् । [यत्र सुगन्धिदेशे]। प्रजा जना । मोक्षप्राप्ता इव परमनिर्वाण गता इव । [5]नित्यप्रमोदिन्य प्रमोदोऽस्त्यासामिति तथोक्ताः । वर्तन्ते उपमा (उत्प्रेक्षा) ॥११७॥ ग्रामै । य सुगन्धिदेश । कुक्कुटसपातै[6][त्यै] कुक्कुटै ताम्रचूडैं सपातै [त्यै] लङ्घयितु शक्यैं, अति-समीपस्थैरित्यर्थ । ग्रामैं निगमैं. विकचाम्बुजैं विकचान्यम्बुजानि येषु तानि, तै । सरोभि कासारैं । सस्यसपन्नै सस्यैं धान्यैं सपन्नै समृद्धैं । सीमभि क्षेत्रैं । 'सीमसीमें स्त्रियामुभे' इत्यमर । समन्तात् परितः । विराजते विभासते । राजृ्न् दीप्तौ ॥११८॥ अर्थमिति । यत्र सुगन्धिदेशे । परलोकक्रियोद्यता[7] परस्य उत्तरलोकस्य क्रियाया कारणभूताचरणादिकृत्ये उद्यता सन्नद्धा । लोका जना । धर्माय धर्मार्थम् । अर्थं

समान सुशोभित हो रहे हैं ॥११५॥ उस देशमे सभी ओर बाग-बगीचे हैं । उनमे फूल खिले हुए हैं । उनकी सुगन्धि दसो दिशाओको सुवासित कर रही है । इसलिए ऐसा जान पडता है मानो वह देश अपने 'सुगन्धि' नामको सार्थक सिद्ध करना चाहता है ॥११६॥ उस देशकी भूमि बहुत उपजाऊ है, अत बिना जोते ही वहाँ भरपूर अनाज उत्पन्न होता है । वहाँ अति-वृष्टि, अनावृष्टि, मूषक, शलभ, शुक और अत्यन्त पास निवास करनेवाले राजा ये छह ईतियाँ नही हैं । वहाँ कोई रुकावट नही है । अतएव वहाँके निवासी सदा आनन्दसे रहते हैं । फलतः वे ऐसे जान पडते हैं मानो उन्हें मोक्ष प्राप्त हो गया हो ॥११७॥ वहाँके गाँव बिलकुल पास-पासमे हैं, इतने पास कि एक गाँवके मुर्गे दूसरे गाँवमे पहुँच जाते हैं । वहाँके सरोवरोमें कमल खिले हुए हैं । वहाँकी सीमाएँ धान्यसे परिपूर्ण हैं । उन गाँवो, सरोवरो और सीमाओंसे उस देशकी सभी ओरसे शोभा है ॥११८॥ वहाँके निवासी धर्मके लिए धनका उपार्जन करते हैं और सन्तति उत्पन्न करनेके लिए विषय सेवन करते हैं । उन्हे धन बटोरने और ऐश करनेका

१ आ प्रतावेव केवल स्वस्तिकान्तर्गत पाठ समुपलभ्यते । २ = कृष्टेन पच्यन्त इति कृष्टपच्यानि न कृष्टपच्यान्यकृष्टपच्यानि यानि सस्यानि धान्यानि तैराढये व्याप्ते । ३ = निरीतौ ईति रहिते । 'अति-वृष्टिरनावृष्टिर्मूषका शलभा. शुका. । स्वचक्र परचक्र च सप्तैता ईतय. स्मृता ॥' । ४ = अवृष्टिरहिते । ५ आ इ निप्रमोदि° । ६ = कुक्कुटसपाते वसन्तीति कुक्कुटसपात्यास्तैं । ७ आ इ °लोककृतोद्यमा ।

यस्मिन्निरन्तरारामविश्रामैर्विधुतश्रमाः ।
मन्यन्तेऽध्वानमध्वन्या गृहप्राङ्गणसंनिभम् ॥ १२०
यथाभिलषितं वस्तु शश्वत्संपादयन्नृणाम् ।
जिगीषतीव यः कल्पपादपैर्मण्डितां महीम् ॥ १२१ ॥
विद्युतश्चञ्चला यत्र स्वभावेन न संपदः ।
कृष्णानि प्रावृडभ्राणि चरितानि न देहिनाम् ॥ १२२ ॥
क्वचिद्गोधनहुंकारैरिक्षुयन्त्रारवैः क्वचित् ।
[1]क्वचिच्छिखण्डिनां नादैर्निगमा यस्य सुन्दराः ॥ १२३ ॥

द्रव्यम् । सतानस्यान्वयस्य वृद्धये । काम वनितासभोगम् । सेवन्ते अनुभवन्ति स्वीकुर्वन्ति वा । व्यमनात् पुरुषप्रत्यावर्त्तनहेतुभूतात् । न सेवन्ते इत्यर्थ ॥११९॥ यस्मिन्निति । यस्मिन् यत्र सुगन्धिदेशे । निरन्तरारामविश्रामै. निरन्तराणा निरवकाशानाम् आरामाणाम् उद्यानाना विश्रामै विश्रान्तिभि । विधुतश्रमा[2] विधुतो[3] निराकृतोश्रमो येषा ते तथोक्ता । अध्वन्या. अध्वानमलगामिनोऽध्वन्या पथिका । 'यध्वान यखौ' इति य-प्रत्यय । अध्वान मार्गम् । गृहप्राङ्गणसन्निभ गृहाणा स्वालयाना प्राङ्गणानामङ्गणाना सन्निभ समानमिति । मन्यते जानन्ति ॥१२०॥ यथेति । य सुगन्धिदेश । नृणा नराणाम् । यथाभिलषित अभिलषितमनतिक्रम्य यथाभिलषितम् । 'यथाया' इत्यव्ययीभाव । वस्तु भोगोपभोगवस्तु । शश्वत् अनवरतम् । सपादयन् सचयन्[4] । कल्पपादपै कल्पाइचते पादपाश्च कल्पपादपा तै कल्पवृक्षै । मण्डिताम् अलङ्कृताम् । मही भोगभूमिम् । जिगीषतीव जेतुमिच्छति जिगीषति[5] जि अभिभवे[6] । 'कर्म्यैककर्तृकात्—' इत्यादिना कर्म्यर्थे सन् प्रत्यय । 'जे लिट् सनि' इति नित्यादेश । उपमा (उत्प्रेक्षा) ॥१२१॥ विद्युत इति । यत्र सुगन्धिदेशे । स्वभावेन निसर्गेण । चञ्चला चलनरूपा । विद्युत तडित । सपद ऐश्वर्याणि न चञ्चला· । कृष्णानि कलुषितानि[7] प्रावृडभ्राणि प्रावृषो वर्षाकालस्याभ्राणि मेघा । देहिना च प्राणिना च । तानि[8] कृष्णानि न-न सन्तीत्यर्थ । परिसख्या ॥१२२॥ क्वचिदिति । यस्य सुगन्धिदेशस्य । निगमाः ग्रामा । क्वचित् एकस्मिन् प्रदेशे । गोधनहुङ्कारै गोधनस्य गोसमूहस्य हुङ्कारै हुङ्कारध्वनिभि । क्वचित् एकस्मिन् प्रदेशे । इक्षुयन्त्रारवै इक्षूणा रसालाना[9] यन्त्राणाम् आरवैर्ध्वनिभि । क्वचित् एकस्मिन्प्रदेशे । शिखण्डिना मयूरा-

व्यसन—चस्का नही है । उन्हे परलोकका खयाल रहता है, इसीलिए वे सदा पारलौकिक क्रियाओमे तत्पर रहते हैं—वे धर्म, अर्थ और काम इन तीनो पुरुषार्थोका सेवन करते हैं, किन्तु उनका ध्यान मुख्यतया धर्मकी ओर ही रहता है ॥११९॥ वहाँ लगातार बाग-बगीचे हैं। उनमे विश्राम करके पथिक अपनी थकावट दूर करते हैं। अत: वे मार्गको अपने घरका आंगन सरीखा मानते हैं ॥१२०॥ उस देशमे वहांके निवासियोके मनके अनुकूल वस्तुएँ उत्पन्न होती थी। अतएव वह देश ऐसा मालूम पडता था मानो कल्पवृक्षोसे विभूषित भोगभूमि और स्वर्गभूमिको जीतना चाहता हो ॥२२१॥ यहाँ केवल बिजली ही स्वभावसे चञ्चल हैं, सम्पदाएँ चञ्चल नही हैं। इसी प्रकार केवल वर्षाकालीन बादल ही काले हैं, वहांके मनुष्योके चरित काले-मलिन नही हैं ॥१२२॥ वहांके गाँव अत्यन्त सुन्दर हैं। उनकी सुन्दरता कही गायो और बैलोके रभानेसे, कही गन्ने पेरनेवाले कोल्हुओके शब्दसे और कही मयूरोके स्वरसे देखते ही

१. इ 'क्वचिच्' इति नास्ति । २ श स °धूत° । ३. श स °धूतो° । ४ = समुत्पादयन् । ५. = जेतुमिच्छतीव । ६ आ जि चि अभि° । ७ श स कलुषानि । ८ = चरितानि-आचरणानि । ९. = 'रसाल इक्षुस्तद्भेदा पुण्ड्रकान्तारकादय.।' इत्यमरः ।

मज्जत्सीमन्तिनीसार्थकुचसंक्रान्तकुङ्कुमः ।
रक्तांशुकैरिवाभान्ति यस्मिञ्जलधियोषितः ॥ १२४ ॥

महाविभवसंपन्नं तत्रास्ति श्रीपुरं पुरम् ।
लोकपुण्यैः समुत्पन्नं त्रिविष्टपमिवापरम् ॥ १२५ ॥

प्रासादशृङ्गसंलग्नरत्नोपलमरीचिभिः ।
सदैवान्तरिता यत्र ज्योतिर्गणविभाभवत् ॥ १२६ ॥

चन्द्रकान्तस्रुतेर्यत्र सूर्यकान्तोद्भवाग्नितः ।
मिमीते सालसंरुद्धरविचन्द्रोदय जनः ॥ १२७ ॥

णाम् । नादे केकारवे । सुन्दरा मनोहराः । भवन्ति[1] ॥१२३॥ मज्जदिति । यस्मिन् सुगन्धिदेशे । जलधियोषित जलधेर्योषितो नद्य । मज्जत्सीमन्तिनोसार्थकुचसक्रान्तकुङ्कुमै. मज्जन्तीना स्नान कुर्वन्तीनां सीमन्तिनीना नारीणा सार्थस्य समूहस्य कुचेपु स्तनभरेपु सक्रान्तैराकान्तै. कुङ्कुमै काश्मीरै । 'सार्थो वणिक्समूह स्यादपि सघातमात्रके' इति विश्व । रक्ताशुकैरिव रक्तवसनैरिव[2] । आभान्ति विराजन्ते । भा दीप्तौ लट् । उपमा (उत्प्रेक्षा) ॥१२४॥ महेति । यत्र सुगन्धिदेशे । महाविभवसपन्न महान्त पृथुल विभवम् ऐश्वर्यं संपन्न संप्राप्तम्[3] । श्रीपुर श्रिया सपत्त्योपलक्षित पुर 'श्रीपुरम्' इति । पुर पुरी । अपरम् अन्यत् । त्रिविष्टपमिव त्रिदशालय इव । लोकपुण्यै लोकाना जनाना पुण्यै. सुकृतै समुत्पन्न सजातम् । उपमालङ्कार[4] ॥१२५॥ प्रासादेति । यत्र श्रीपुरे । ज्योतिर्गणविभा ज्योतिषा चन्द्रसूर्यादीना गणस्य समूहस्य विभा कान्ति । प्रासादशृङ्गसलग्नरत्नोपलमरीचिभि. प्रासादाना सौधाना शृङ्गेपु शिखरेपु सलग्नाना सबद्धाना रत्नोपलानां मरीचिभि कान्तिभि । सदैव सर्वस्मिन् काले सदैव । 'सदैतर्ह्यधुनेदानीं तदानी सद्य ' इति साधु । अन्तरिता आच्छादिता । अभवत् आसीत् । भू सत्ताया लङ् । सामान्यालङ्कार ॥१२६॥ चन्द्रेति । यत्र श्रीपुरे । जन लोक. । सालसरुद्धरविचन्द्रोदय सालेन प्राकारेण सरुद्धयोरावृतयो रविचन्द्रयो. सूर्याचन्द्रमसो उदयमुद्गमनम् । चन्द्रकान्तस्रुते. चन्द्रकान्तस्य[5] चन्द्रकान्तपाषाणस्य स्रुते. स्यन्दनात् । सूर्यकान्तोद्भवाग्नित सूर्यकान्तात् सूर्यकान्तशिलाया सकाशात् उद्भवात् उत्पन्नात् अग्नितः वह्ने सकाशात् । मिमीते अनुमिनोति ।

बनते हैं ॥१२३॥ वहाँकी नदियोमे जिस समय स्त्रियाँ स्नान करती हैं, उस समय वे, बहते हुए उनके स्तनोंके केशरके रंगसे रंगीन होकर लाल कपडोको पहननेवाली सौभाग्यवती स्त्रियो सरीखी जान पडती हैं ॥१२४॥ उस सुगन्धि देशमे एक श्रीपुर नामका पुर है। वहाँ अटूट सम्पत्ति है। वह ऐसा जान पडता है मानो वहाँके निवासियोंके प्रचुर पुण्यसे रचा गया दूसरा स्वर्ग हो ॥१२५॥ वहाँके महलोके शिखरो पर नाना प्रकारके रत्न जडे हुए हैं। उनकी किरणें आकाशमे फैली रहती हैं। अतः सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र और ताराओकी प्रभा सदा छिपी रहती है ॥१२६॥ उस पुरकी चहार दीवारी बहुत ऊँची है। अत' वहाँके निवासी कभी सूर्य और चन्द्रमाके उदयको नही देख पाते, किन्तु सूर्यकान्त मणियोमे-से निकलती हुई अग्नि देखकर सूर्योदयका तथा

---

१ = सन्ति । २ = उपलक्षिता इवेति यावत् । ३ = महता विपुलेन विभवेनैश्वर्येण संपन्न सयुक्तम् । ४. = उत्प्रेक्षा यमकं च । ५. आ °कान्तस्य ।

यत्प्रासादशिरोलग्नपद्मरागांशुभिर्नभः ।
भिन्नं करोत्यकाण्डेऽपि संध्याशङ्कां शरीरिणाम् ॥ १२८ ॥
वासराधिपतिस्तुङ्गप्रतोलीशिखरं शनैः ।
यत्राधिरुह्य पूर्वाह्णे प्रपूर्णकलशायते ॥ १२९ ॥
प्राकारशिखरासन्नैस्तारतारकदम्बकैः ।
यत्र दीपोत्सवभ्रान्तिस्तन्यतेऽनुदिनं निशि ॥ १३० ॥
प्राकारः परितो यत्र शृङ्गैरुत्तम्भितोडुभिः ।
नाकावलोकनोत्कण्ठां बिभ्राण इव भासते ॥ १३१ ॥

माङ् माने लट् । अनुमित्यलङ्कारः ॥१२७॥ यदिति । यत्प्रासादशिरोलग्नपद्मरागांशुभिः यस्य श्रीपुरस्य प्रासादानां सौधानां शिरस्सु शिखरेषु लग्नानां सनद्धानां पद्मरागाणां पद्मरागरत्नानामंशुभिः कान्तिभिः । भिन्नं छन्नम् । नभः आकाशम् । शरीरिणां जनानाम् । अकाण्डेऽपि । 'काण्डोऽस्त्री दण्डबाणार्ववर्गावसरवारिषु' इत्यमरः । सध्याशङ्का सध्याया रागस्य शङ्का सन्देहम् । करोति विदधाति । डुकृञ् करणे लट् । भ्रान्तिमानलङ्कारः ॥१२८॥ वासरेति । यत्र पुरे । वासराधिपतिः वासरस्य दिवसस्याधिपतिः सूर्यः । पूर्वाह्णे अह्नः पूर्वं पूर्वाह्णः तस्मिन् । तुङ्गप्रतोलीशिखरं तुङ्गस्योन्नतस्य[1] प्रतोल्याः गोपुरस्य शिखरमग्रभागम्[2] । शनैः नीचैः[3] अधिरुह्य अधिरोहणं पूर्वं[4] आरुह्य । प्रपूर्णकलशायते प्रपूर्णश्चासौ कलशश्च तथोक्तः, प्रपूर्णकलश इवाचरतीति तथोक्तः । 'क्यङ्' इत्याचयार्थे क्यङ्-प्रत्ययः । उपमा ॥१२९॥ प्राकार इति । यत्र श्रीपुरे । प्राकारशिखरासन्नैः प्राकारस्य सालस्य शिखरस्य अग्रस्य[5] आसन्नैः समीपगतैः । तारतारकदम्बकैः ताराणां महतीनां ताराणां नक्षत्राणां कदम्बकैः समूहैः । अनुदिनं प्रतिदिनम् । निशि रात्रौ । दीपोत्सवभ्रान्तिः दीपानामुत्सवस्य भ्रान्तिर्भ्रमणं[6] । तन्यते क्रियते । तनूञ् विस्तारे कर्मणि लट् । भ्रान्तिमानलङ्कारः ॥१३०॥ प्राकार इति । प्राकारः सालः । परितः समन्ततः । उत्तम्भितोडुभिः उत्तम्भिता धृता उडवो नक्षत्राणि येषां (यैः) तैः । शृङ्गैः शिरोभागैः । नाकावलोकनोत्कण्ठां नाकस्य स्वर्गस्यावलोकने दर्शने उत्कण्ठामुत्कलिकाम्[7] ।

चन्द्रकान्त मणियोका पसीजना देखकर चन्द्रोदयका अनुमान कर लेते हैं।।१२७।। वहाँके महलोके ऊपरी सिरेपर पद्मराग मणि जडे हुए हैं। उनकी लाल किरणोसे आकाशका रग लाल हो जाता है। अतः वह सन्ध्या-समय न रहनेपर भी लोगोको सन्ध्याका भ्रम उत्पन्न कर देता है ॥१२८॥ सूर्य दिनके पूर्व भागमे जब धीरे-धीरे उस पुरके दरवाजेके शिखरपर चढ जाता है तब वह पूर्ण स्वर्ण कलश-सा प्रतीत होने लगता है ॥१२९॥ चहारदीवारीकी चोटीपर रात्रिके समय जब ताराओका चमकीला गण पहुँच जाता है तब वह उस पुरमे प्रतिदिन दीपावलीका भ्रम फैला देता है ॥१३०॥ उस पुरकी चहारदीवारी रात्रिके समय जब नक्षत्रोको अपने शिखरोसे उठा लेती है तब वह ऐसी जान पडती है मानो उसे स्वर्ग देखनेकी उत्कण्ठा उत्पन्न

---

१. =तुङ्गाया उन्नताया । २ =तुङ्गप्रतोलीशिखरम्—उच्चपुरद्वारशिरः । ३ = मन्दम् । ४. =पश्चात् किञ्चित् । ५ = अग्रभागस्य । ६ = भ्रमः । ७ = 'उत्कण्ठोत्कलिके समे' इत्यमरः ।

मानोन्नता महाभोगा मत्तवारणशालिनः ।
बहुभूमियुता यत्र प्रासादाः पार्थिवोपमाः ॥ १३२ ॥
अम्बुना घनकिंजल्कच्छादितेन निरन्तरम् ।
स्वीकुर्वाणा क्वचिल्लक्ष्मीं हिरण्यखचितक्षितेः ॥ १३३ ॥
तीरजैस्तरुसंतानैः पयसि प्रतिबिम्बितैः ।
पातालोपवनारेकां कुर्वन्त्यन्यत्र पत्त्रिणाम् ॥ १३४ ॥
बिभ्रती काशसंकाशपक्षविक्षेपशोभिनः ।
हंसान्क्वापि मरुल्लोलान्फेनपुञ्जानिवात्मन ॥ १३५ ॥

बिभ्राण इव दधान इव । भासते भाति । भासृव् दीप्तौ लट् । उत्प्रेक्षा ॥१३१॥ मानेति । यत्र श्रीपुरे । मानोन्नता मानेन प्रमाणेन, पक्षे मानेन गर्वेण उन्नता उत्तुङ्गा । 'मान प्रमाणे प्रस्थादौ मानश्चित्तोन्नतौ ग्रहे' इति विश्व । महाभोगा महान् आभोगो विस्तारो येषा ते, पक्षे महान् भोग स्त्रीचन्दनादिविषयानुभवो येषा ते । 'भोग सुखे धने चाहे शरीरफणयोरपि । पालने व्यवहारे च निर्वेशे पण्ययोषिताम् ॥' इति विश्व । मत्तवारणशालिन मत्तवारणै मदगजै, पक्षे उपधानफलकविशेषै शालिन शोभमाना । 'मत्तवारणमिच्छन्ति दानक्लिन्ने मदद्विपे[२] । महाप्रासादवीथीना वरण्डे चाप्युपाश्रये ॥' इति विश्वः । बहुभूमियुता बह्वीभि-र्भूमिभि क्षेत्रै युता. सहिता । प्रासादा सौधा । पार्थिवोपमा पार्थिवाना भूपतीनामुपमा सदृशा भवन्ति[४] । श्लेषोपमा ॥१३२॥ अम्बुनेति । क्वचित् एकस्मिन् प्रदेशे । निरन्तरम् अन्तरान्निर्गत निरन्तर निरवकाश यथा तथा । घनकिञ्जल्कच्छादितेन घनै किञ्जल्कै केसरै छादितेन पिहितेन । अम्बुना जलेन हिरण्यखचितक्षिते हिरण्येन स्वर्णेन खचिताया निर्मिताया[५] क्षिते भूमे । लक्ष्मी शोभाम् । स्वीकुर्वाणा आददाना । कुलकत्वात् पुरस्तात् खातिका भाति (१३७) इत्यन्वीयते ॥१३३॥ तीरेति । अन्यत्र पयसि सलिले । प्रतिबिम्बितै प्रतिच्छाया गतै । तीरजै तीरे जायन्त इति तीरजा तै, तटजातै । तरुसन्तानै तरूणा वृक्षाणा सन्तानै समूहै । 'अपत्यगोत्रसमूहसुरकुजेषु सन्तान ' इति नानार्थकोशे । पत्त्रिणा पत्त्रमस्त्येषा-मिति पत्त्रिण खगा तेषाम् । पातालोपवनारेका[६] पातालस्य अधोभुवनस्य[७] उपवनस्य उद्यानस्य आरेका सन्देहम् । कुर्वन्ती विदधती[८] । उत्प्रेक्षा ॥१३४॥ बिभ्रतीति । क्वापि अन्यत्र । काशसकाशपक्षविक्षेपशोभिन काशस्योन्मत्तेक्षो सकाशाना पत्राणा विक्षेपेण प्रेरणेन शोभिनो भासिन । हसान् मरालान् । आत्मन स्वस्य मरुल्लोलान् मरुता वायुना लोलान् चञ्चलान् । फेनपुञ्जानिव फेनाना डिण्डीराणा पुञ्जानिव पिण्डानिव ।

हो गई हो ॥१३१॥ उस पुरके महल राजाओ सरीखे हैं—राजा गर्वोन्नत होते हैं, वे मापमे उन्नत हैं—बहुत ऊँचे हैं । राजाओके पास भोग सामग्री खूब होती है, उनका विस्तार बहुत है । राजाओकी शोभा मदमाते हाथियोसे होती है, वे छज्जोसे सुशोभित हैं और राजाओंके पास बहुत भूमि होती है तो वे भी तो बहुत भूमिसे युक्त हैं ॥ ३२॥ उस पुरके चारों ओर परिखा-खाई खुदी हुई है । उसमे लबालब जल भरा हुआ है, और उसमे कमल लहलहा रहे हैं । उनका पराग झड कर जलके ऊपर जितने भागमे फैल जाता है, उतना भाग स्वर्ण जटित भूमिकी छविको ग्रहण कर लेता है ॥१३३॥ उस परिखाके जलमे एक ओर किनारेके वृक्षोका प्रतिबिम्ब पड रहा है उसे देखकर पक्षियोको पातालमे उपवनका सन्देह हो रहा है ॥१३४॥ उस परिखाके जलमे जिस ओर हस तैर रहे हैं, और वे कासके फूलोकी भाँति अपने सफेद पख

१ अ क ख ग घ म कुर्वत्य° । २ श स दानक्लिन्नतटद्विपे । ३ उपमा सादृश्यं येषा ते । ४ =सन्तीति शेष । ५ आ 'निर्मिताया' इति नास्ति । ६ श स °रेक । ७ °भवनलोकस्य । ८ आ कुर्वन्ति विदधति ।

तटपादपसंरुद्धैर्निष्कम्पसलिलानिलैः ।
मुग्धस्त्रीणां वितन्वाना क्वापि स्फटिकभूभ्रमम्[1] ॥ १३६ ॥
मज्जत्पुरंध्रिधम्मिल्लगलदुज्ज्वलमल्लिका ।
यत्र तारकितेव द्यौ सर्वतो भाति खातिका ॥ १३७ ॥ (पञ्चभिः कुलकम्)
तीक्ष्णत्वं केवलं यत्र बोधे न वचने नृणाम् ।
काठिन्यत्वं कुचद्वन्द्वे कामिनीनां न मानसे ॥ १३८ ॥
भङ्गः कचेषु नारीणां व्रतेषु न तपस्विनाम् ।
विरसत्वं कुकाव्येषु मिथुनेषु न कामिनाम् ॥ १३९ ॥

बिभ्रती धरती ॥१३५॥ तटेति । क्वापि अन्यत्रापि । तटपादपसंरुद्धै. तटस्य तीरस्य पादपैर्वृक्षै संरुद्धैरावृतै । अनिलै मरुद्भि । निष्कम्पसलिला निष्कम्प सलिल जल यस्या सा तथोक्ता । मुग्धस्त्रीणा मुग्धाना मोहिताना[2] मूढाना वा स्त्रीणा वनितानाम् । स्फटिकभूभ्रम स्फटिकेन पाषाणेन निर्मिताया भुवो भूमेर्भ्रम भ्रान्तिम् । वितन्वाना कुर्वाणा । तनूञ् विस्तारे । 'सल्लट्—' इत्यादिना नश्-प्रत्यय । भ्रान्तिमानलङ्कार ॥१३६॥ मज्जदिति । यत्र श्रीपुरे । मज्जत्पुरन्ध्रीधम्मिल्लगलदुज्ज्वलमल्लिका मज्जन्तीना स्नान कुर्वतीना पुरन्ध्रीणा सुचरित्रवनिताना धम्मिल्लै[3] सयतकचै गलन्ती उज्ज्वला मल्लिका मल्लिकापुष्पं यस्या सा । खातिका परिखा । सर्वत सर्वप्रदेशत । द्यौ आकाशम् । तारकितेव तारका सजाता यस्यामिति तारकिता सेव । भाति स्म रराज[4] । उत्प्रेक्षा । पञ्चभि कुलकम् ॥१३७॥ तीक्ष्णत्वमिति । यत्र श्रीपुरे । तीक्ष्णत्व कुशाग्रीयत्व, पक्षे क्रूरत्वम् । केवल परम् । नृणा जनानाम् । बोधे ज्ञाने, भवतीति शेष । वचने भाषणे । न न भवति । कठिनत्व कर्कशत्वम् । कामिनीना वनितानाम् । कुचद्वन्द्वे स्तनयुगे, भवतीति शेष । मानसे हृदये । न न वर्तते । परिसङ्ख्यालङ्कार. ॥१३८॥ भङ्ग इति । नारीणा वनितानाम् । कचेषु[5] केशेषु । भङ्ग अवमर्दन (वक्रत्वम्) स्यात् । तपस्विना तपोऽस्ति येषामिति तपस्विन , तेषाम् । 'तपस्सहस्राभ्या विनीनी' इति विन्-प्रत्यय । स्त मत्वर्थे इति पदसज्ञाभाव । व्रतेषु चारित्रेषु । न न स्यात् । कुकाव्येषु कुत्सितकवित्वेषु । विरसत्व शृङ्गारादिनवरसाभावो भवेत् । कामिना कामुकानाम् । मिथुनेषु द्वन्द्वेषु । न न वर्तते ।

हिला रहे हैं, उन्हे देखकर ऐसा प्रतीत होता है मानो हवाके झोकेसे उसके ऊपर फेनका पुञ्ज लहरा रहा हो ॥१३५॥ एक ओर परिखाके किनारेपर बहुत ही घनी वृक्षावली है। उससे हवा रुक जानेके कारण उसके जलका जितना अश बिलकुल ही निश्चल हो रहा है उसे देखकर भोली-भाली स्त्रियोको स्फटिकमणिजटित भूमि(फर्श)का भ्रम हो रहा है ॥१३६॥ स्नान करते समय सौभाग्यवती स्त्रियोके केश पाशसे गिरे हुए सफेद चमेलीके फूल उसके जलमे चारो ओर लहराने लगते हैं। अत वह झिलमिलाते तारोसे युक्त आकाश सरीखी देख पडती है ॥१३७॥ उस पुरके निवासियोकी केवल बुद्धिमे ही तीक्ष्णता है; उनके वचनोमे तीक्ष्णता—तीखापन नहीं है। वहाँ केवल स्त्रियोके स्तन युगलमे कठोरता पायी जाती है, उनके मनमे कठोरता नही पायी जाती ॥१३८॥ वहाँकी स्त्रियोके केवल केशोमे ही घुघरालापन पाया जाता है। और उन्हीमे मर्दन भी (साफ करते समय) देखा जाता है। किन्तु साधुओके व्रतोमे दोष नही देख पडते, और व्रत धारण करनेके पश्चात् उनका मानभङ्ग भी नही होता। केवल कुकवियोके काव्योमे ही वहाँ नीरसता पायी जाती है, कामियोके युगलमे नीरसता नही

१ अ °कविभ्रमम् । २ आ मोहिनीनाम् । ३ =धम्मिल्लेभ्य सयतकचेभ्यो गलन्ती पतन्ती उज्ज्वला मल्लिका यस्या सा । ४ =सर्वतस्तारकिता द्यौरिव भाति राजते । ५ क म कुचेषु ।

विरोध. पञ्जरेष्वेव न मनःसु महात्मनाम् ।
नाभिष्वेव च नीचत्वं नाचारेषु कुटुम्बिनाम् ॥ १४० ॥
प्राकारपरिखावप्रैः परित परिवेष्टितम् ।
परिवेषत्रयान्वीतचन्द्रवद्यद्विराजते ॥ १४१ ॥
प्रसिद्धेनाविरुद्धेन मानेनाव्यभिचारिणा ।
वणिजस्तार्किकाश्चापि यत्र वस्तु प्रमिन्वते ॥ १४२ ॥

इयमपि परिसख्या ॥१३९॥ विरोध इति । पञ्जरेष्वेव पक्षिनिरोधककाष्ठयन्त्रेषु [एव] । विरोध वीना पक्षिणा रोध तिरोधान, पक्षे वैर भवेत् । महात्मना महानात्मा येषा तेषां सज्जनानाम् । मन सु मानसेषु । न नास्ति । नाभिष्वेव नाभिप्रदेशेषु [एव] नीचत्व निम्नत्व, पक्षे निकृष्टत्वमस्ति । कुटुम्बिना गृहस्थानाम् । आचारेषु चारित्रेषु । न नास्ति । इयमपि परिसख्या ॥१४०॥ प्राकारेति । परितः समन्तात् । प्राकारपरिखावप्रै प्राकारश्च परिखा च वप्रश्च प्राकारपरिखावप्रा तै सालजलखातिकाप्राकारान्तर्वेदिकाभि । परिवेष्टित परिवृतम् । यत् श्रीपुरम् । परिवेषत्रयान्वीतचन्द्रवत् परिवेषाणा परिधीना त्रयेण अन्वितश्चासौ चन्द्रश्च स इव । भासते । राजृ्, दीप्तौ लट् । उत्प्रेक्षा ॥१४१॥ प्रसिद्धेनेति । यत्र श्रीपुरे । वणिजो वाणिजा[1] । तार्किकाश्चापि तर्कं न्यायशास्त्र[2] बोद्धारोऽध्येतारो वा । प्रसिद्धेन लोकप्रतीतेन । अविरुद्धेन विरोधरहितेन, विरुद्धरूपहेतुदोषरहितेन । अव्यभिचारिणा क्रयविक्रयकरणे व्यभिचाररहितेन व्यभिचाररूपहेतुदोषरहितेन च । मानेन प्रमाणेन[3] । वस्तु रत्नादिवस्तु वह्न्यादिपदार्थं च । प्रमिण्वते अनुमिमते । ममिन्[4]

पायी जाती ॥१३९॥ उस पुरमे विरोध—वि + रोध = पक्षियोको रोक रखना केवल पिंजरोमे ही देखा जाता है, महात्माओके मनमे विरोध नही देख पडता । केवल स्त्रियोकी नाभिमे ही गहरायी पायी जाती है, गृहस्थोके आचरणमे नीचता नही पायी जाती ॥१४०॥ वह नगर चारो ओरसे चहारदीवारी, खाई और अन्तर्वेदीसे घिरा हुआ है, अत· वह तीन परिधियोंके बीचो-बीच पहुँचे हुए चन्द्रमाके समान सुशोभित हो रहा है ॥१४१॥ उस पुरके वणिक्-व्यापारी जिन मापनेके पात्रो और तौलनेके वाटोसे सौदा मापते या तौलते हैं, वे सब लोक प्रसिद्ध हैं । वे लेनेके वडे और देनेके छोटे नही हैं और उनमे कोई पासग या करामात नही है—वहाँके व्यापारी अत्यन्त प्रामाणिक हैं । इसी प्रकार वहाँके तार्किक भी प्रमेयका निश्चय जिस अनुमान प्रमाणसे करते हैं, उसका अङ्ग-हेतु असिद्ध, विरुद्ध और व्यभिचारी नही रहता—वे अग्नि आदि प्रमेयोका निश्चय धूम आदि सच्चे हेतुओसे करते हैं, झूठे हेतुओ—हेत्वाभासोसे

---

१ = 'वैदेहक सार्थवाहो नैगमो वाणिजो वणिक् ।' इत्यमर· । २ = तर्कस्य न्यायशास्त्रस्य बोद्धारोऽध्येतारो वा, तेऽपि । ३ श स प्रमाणेन च । ४ श स डुमिञ् प्रक्षेपणे ।

वापीवनायतनसौधतडागरम्यं स्वर्गाभिभाविविभवोदयवर्द्धमानम्।[1]
शक्येत तन्न गुरुणापि पुरं यथावदाख्यातुमल्पमतिना किमु मद्विधेन ॥ १४३ ॥

॥ इति श्रीवीरनन्दिकृतावुदयाङ्के चन्द्रप्रभचरिते महाकाव्ये द्वितीयः सर्गः ॥ २ ॥

प्रक्षेपणे। श्लेषालङ्कारः ॥१४२॥ वापीति। वापीवनायतनसौधतटाकरम्यं वापीभिर्दीर्घिकाभिर्वनैरुद्यानैरायतनैश्चैत्यालयैः सौधैः प्रासादैः तटाकैः पद्माकरैश्च रम्यं मनोहरम्। स्वर्गाभिभाविविभवोदयवर्द्धमानं स्वर्गं सुरलोकम् अभिभवतीत्येवंशीलः स्वर्गाभिभावी स्वर्गतिरस्कारी स चासौ विभवश्च तथोक्तः, स्वर्गाभिभाविविभवस्यैश्वर्यस्योदयः प्रादुर्भावः तेन वर्धमानम् एधमानम्। तत् पुरं श्रीपुरम्। गुरुणापि बृहस्पतिनापि। यथावत् यथैवास्येति[2] यथावत् सत्यम्। आख्यातुं न शक्येत न समर्थ्येत। शक्लृ शक्तौ कर्मणि लिङ्। मद्विधेन मम विधः समानः तेन मत्सदृशेन। अल्पमतिना अल्पा मतिर्यस्य तेन। किमु शक्येत। अनेन कवेरस्यौद्धत्यपरिहारः कृतः। अतिशयोक्तिः ॥१४३॥

इति वीरनन्दिकृतावुदयाङ्के चन्द्रप्रभचरिते महाकाव्ये तद्व्याख्याने च विद्वन्मनोवल्लभाख्ये द्वितीयः सर्गः ॥२॥

नहीं ॥१४२॥ उस पुरको सुन्दरतामें वापिकाओं, बाग-बगीचों, देवालयों, महलों और सरोवरोंने चार चाँद लगा दिये हैं। वहाँपर स्वर्गके वैभवको भी मात करनेवाला वैभव-अटूट सम्पत्ति है, अतः दिनोदिन उसकी प्रगति हो रही है। इस लिए उस पुरका वास्तविक वर्णन देवगुरु बृहस्पति भी नहीं कर सकते, फिर मुझ जैसा मन्दमति कर ही कैसे सकता है ? ॥१४३॥

इस प्रकार महाकवि वीरनन्दी विरचित उदयाङ्क चन्द्रप्रभचरित महाकाव्यमें दूसरा सर्ग समाप्त हुआ ॥२॥

---

१ अ °भिभावविभ° क ख ग घ स्वर्गाधिपस्य विभ। २ स यथैवास्तीति यथावत्।

तृतीयः सर्गः ।

तत्राभिनन्दितनिजाखिलबन्धुपद्मो न्यायांशुजालनिहतापनयान्धकार ।
संकोचितारिवनितास्यनिशाकरश्रीः श्रीषेण इत्यजनि भानुनिभो नरेन्द्र ॥ १ ॥
यस्य प्रतापदहनेन विलङ्घ्यमानमूर्तिर्निरन्तरमरातिगण' समस्तः ।
द्रष्टुं दिशं न विदिश चकितः प्रभूष्णुर्घूकोपमः समभवद्गिरिगह्वरस्थः ॥२॥
यस्य स्फुरद्भिरनुरागकरैर्यशोभिरुद्भासितासु सकलासु दिगङ्गनासु ।
तन्मात्रकार्यकरणप्रवणाय लोकः शीतांशवे न नितरां स्पृहयांबभूव ॥३॥

गर्भावतारसमय (ये) भुवन समस्त गङ्गाम्बुहेममणिरत्नसुधाभिषिक्तम् ।
क्षीराब्धिनीरपरिशोभितदिव्यकाय श्रीशीतल जिनपति प्रणमामि नित्यम् ॥

तत्रेति । तत्र श्रीपुरे । अभिनन्दितनिजाखिलबन्धुपद्म अभिनन्दिता प्रवर्धिता निजस्य स्वस्य अखिला समस्ता बन्धव एव पद्मानि[1] नलिनानि येन(स) तथोक्त । अथवा अभिनन्दिता निजाखिलबन्धूनां पद्मा लक्ष्मी येन । न्यायांशुजालनिहतापनयान्धकार न्याया नीतय त एवांशवो मयूखा तेषां जाल समूह तेन निहतो- निराकृतोऽपनयो दुर्नीति स एवान्धकार, रूपक, न्यायांशुजालनिहतोऽपनयान्धकारो यस्य (येन स) तथोक्त । सकोचितारिवनितास्यनिशाकरश्री सकोचिताऽरीणां शत्रूणां वनितानां नारीणामास्यान्येव निशाकरश्चन्द्रस्तस्य श्री शोभा येन तथोक्त । भानुनिभ. भानो सूर्यस्य निभ समान । श्रीषेण इति । नरेन्द्र नृपति । अजनि अजायत । जनैङ्[2] प्रादुर्भावे लुङ् । श्लेषोपमा ॥१॥ यस्येति । यस्य श्रीषेणस्य । प्रतापदहनेन प्रताप तेज स एव दहनोऽग्नि तेन । रूपकम् । निरन्तर निरवकाशम् । विलङ्घ्यमानमूर्ति विलङ्घ्यमाना अनुलङ्घ्यमाना मूर्तिरवयवो यस्य स (अतिक्रम्यमाणतनु) । चकितः भीत । दिशम् आशाम् । विदिश च । द्रष्टु वीक्षितुम् । न प्रभूष्णु समर्थ । भू सत्तायामिति धातो 'भूजेस्स्नुक्' इति साधु । धर्मशीलेषु स्नुप्रत्यय । समस्त सकल । अरातिगण अरातीना शत्रूणा गण समूह । गिरिगह्वरस्थ गिरीणा गह्वरेषु स्थ स्थित (गिरिगह्वरेषु तिष्ठतीति गिरिगह्वरस्थ)। घूकोपम घूकस्योलूकस्योपम समान (घूकस्योलूकस्योपमा यस्य स)। समभवत् समभूत् । भू सत्ताया लङ् ॥२॥ यस्येति । यस्य श्रीषेणस्य । स्फुरद्भि प्रज्वलद्भि (स्फुरण- शीलैं)। अनुरागकरै अनुराग सन्तोष कुर्वन्तीत्यनुरागकरा तै । यशोभि कीर्तिभि । सकलासु सर्वासु । दिगङ्गनासु दिशा ककुभामङ्गना. कन्यका (दिश आशा एवाङ्गना दिगङ्गना) तासु । उद्भासितासु प्रकाशितासु सतीषु[3] । लोक जन । तन्मात्रकार्यकरणप्रवणाय तदेव तन्मात्र प्रकाशनमात्र तस्य कार्यस्य करणे

उस श्रीपुरमे श्रीषेण नामका राजा राज्य करता था । वह सूर्य सरीखा था । सूर्य अपने कमल-बन्धुओका विकास करता है, इसने अपने बन्धु-कमलोका विकास किया था । सूर्य अपनी किरणोसे अन्धकारको हटाता है, इसने अपने न्यायसे अन्यायको मिटा दिया था । सूर्य चन्द्रमाकी श्रीको फीका कर देता है, इसने अपने शत्रुओकी स्त्रियोके चन्द्रमुखको फीका कर दिया था ॥१॥ उसका प्रताप अग्निके समान सन्ताप देनेवाला था । उसके सभी शत्रु उससे सन्तप्त होकर ऐसे घबरा उठे कि वे दिशा और विदिशाको पहचाननेमे असमर्थ हो गये । फलत वे पहाडोंकी गुफाओमे जा घुसे और वही उल्लुओंकी तरह छिपकर बैठ गये ॥२॥ उसका यश सभी ओर बडी तेजीसे फैल रहा था, और लोगोके मनमे अनुराग उत्पन्न कर रहा था । जब उसने सभी

१ आ पद्मा । २ श स जनैर्जा । ३ आ सत्सु स सतो ।

संपूर्णशारदनिशाकरकान्तकीर्तिवल्लीवितानपरिवेष्टितविष्टपान्तः ।
यः पोषणाद्विनयनाद्व्यसनापनोदात्स्वामी गुरुः सुहृदभूदखिलप्रजानाम् ॥४॥
यत्र प्रशान्तसकलव्यसने विनीते स्वाभाविकं मतिमहातिशयं प्रपन्ने ।
चक्रुर्निवासमखिला नरनाथविद्याः पर्युत्सुका इव परस्परदर्शनस्य ॥५॥
तुङ्गत्वमद्रिपतिना हरिणेश्वरत्वं शीतांशुना सुभगता वशिता मुनीन्द्रैः ।
शौर्यं मृगाधिपतिना गुरुणा मनीषा गाम्भीर्यमम्बुनिधिना तुलितं यदीयम् ॥६॥
नागाः पदातिवृषभास्तुरगा रथाश्च शोभानिमित्तमभवन्खलु यस्य सर्वे ।
आक्रम्य मण्डलपतीनखिलान्स यस्मात्सर्वां बुभोज वसुधां निजतेजसैव ॥७॥

विधाने प्रवणाय समर्थाय (प्रकाशमात्रकार्यकरणसमर्थाय) । शीतांशवे चन्द्राय । नितराम् अत्यन्तम् । न स्पृहयाबभूव वाञ्छयतिस्म (वाञ्छतिस्म) । स्पृह ईप्सायां[1] लिट् । सामान्यालङ्कार (व्यतिरेकालङ्कार) ॥३॥ संपूर्णेति । संपूर्णशारदनिशाकरकान्तकीर्तिवल्लीवितानपरिवेष्टितविष्टपान्त संपूर्ण पूर्णकल शारद शरत्कालभवो निशाकरश्चन्द्रः (स) इव कान्ता मनोहरा. कीर्तयो यशांसि, उपमा, ता एव वल्यो लता, रूपक, तासां वितान (न) समूहस्तेन वेष्टित परिवृतो विष्टपस्य लोकस्यान्तो मध्य (मध्य) यस्य (येन) सः । य श्रीषेण । अखिलप्रजानाम् अखिलानां प्रजानां पोषणात् रक्षणात् । विनयनात् शिक्षणात् । व्यसनापनोदात् व्यसनस्यापनोदनात् निराकरणात् । यथाक्रमम् । स्वामी पालनात् । गुरु शिक्षणात् । सुहृत् दुःखनिवारणात् । अभूत् अभवत् । भू सत्तायां लुङ् । यथासंख्यालङ्कारः ॥४॥ यत्रेति । प्रशान्तसकलव्यसने प्रशान्त विनष्ट सकल समस्त व्यसन दुःख यस्य तस्मिन् । विनीते विश्रुते (विनयान्विते) । स्वाभाविक स्वभावभवम् । मतिमहातिशय मतेर्बुद्धेर्महान्तमतिशयम् । प्रपन्ने प्रयाते (प्राप्ते) । यत्र श्रीषेणे । अखिला समस्ता । नरनाथविद्या नरनाथस्य राज्ञो विद्या । परस्परदर्शनाय परस्परस्य दर्शनाय वीक्षणाय । पर्युत्सुका इव पर्युत्कलिका इव (उत्कण्ठिता इव) । निवासम् आवासम् । चक्रु विदधु । डुकृञ् करणे लिट् । उत्प्रेक्षा ॥५॥ तुङ्गत्वमिति । यदीय यस्येद यदीयम् । 'दोश्छ' । तुङ्गत्वम् उन्नतत्वम्[2] । अद्रिपतिना महामेरुणा सह । ईश्वरत्व प्रभुत्वम् । हरिणा देवेन्द्रेण । सुभगता सौन्दर्यम् । शीतांशुना शीता शीतरूपा अंशवो मयूखा यस्य तेन चन्द्रेण । वशिता इन्द्रियजयत्वम् । मुनीन्द्रै यतीन्द्रै । शौर्यं शूरत्वम् । मृगाधिपतिना सिंहेन । मनीषा बुद्धि । गुरुणा बृहस्पतिना । गाम्भीर्यं गम्भीरत्वम् । अम्बुनिधिना समुद्रेण । तुलित समानीकृतम् । उपमा (दीपकम्) ॥६॥ नागा इति । स श्रीषेण । यस्मात् । निजतेजसैव निजस्य स्वस्य तेजसैव प्रतापेनैव । अखिलान् समस्तान् । मण्डलपतीन् भूपालान् । आक्रम्य आक्रमण पूर्वं (पश्चात् किञ्चित्) तिरस्कृत्य ।

दिशाओंको प्रकाशित कर दिया तब लोगोंको, केवल प्रकाश फैलानेमे चतुर चन्द्रमाकी चाह बिलकुल ही नही रही ॥३॥ उसकी कीर्ति शरत्कालीन पूर्णमासीके चन्द्रमाके समान सुन्दर थी । वह दुनियाके कोने-कोनेमे लताकी तरह फैल गयी थी । भरण-पोषण करनेसे वह राजा सारी प्रजाका स्वामी था, शिक्षा देनेसे गुरु था और संकट निवारण करनेसे मित्र भी था ॥४॥ उसमे कोई बुरा व्यसन नही था, वह अत्यन्त नम्र था, उसकी बुद्धि स्वभावतः अत्यन्त तीक्ष्ण थी और इसीलिए उसमे वे सारी विद्याएँ, जिनका अध्ययन राजाओंको अवश्य ही करना चाहिए, आकर रहने लगी । मानो वे पहले से ही एक-दूसरेसे मिलनेके लिए उत्सुक थी ॥५॥ उसकी ऊँचाईकी तुलना सुमेरुसे, ऐश्वर्यकी इन्द्रसे, सुन्दरताकी चन्द्रमासे, जितेन्द्रियताकी बडे-बडे मुनियोसे, शूरताकी सिंहसे, बुद्धिकी बृहस्पतिसे और गम्भीरताकी सागरसे की जाती थी ॥६॥ हाथी, घोडे, रथ और वीर सैनिक ये सभी केवल उसकी शोभाके निमित्त थे, क्योंकि केवल

१ श स इच्छायाम् । २ आ प्रतावेव 'उन्नतत्वम्' इति समुपलभ्यते ।

यत्र क्वचिद्गुणगणो गतवान्स[1]हैव वृद्धिं मया नृपतिरेष पुनर्न जाने ।
मां द्वेष्टि शंसति शमप्रभृतीनितीव यो जातनिर्भररुषा मुमुचे मदेन ॥८॥
वक्षः श्रियो भुजयुगं वरवीरलक्ष्म्याः कान्तेः शरीरमखिलं हृदयं क्षमायाः ।
यस्यास्पदं मुखमजायत वाग्विभूतेर्नन्वाश्रयाय सकलस्य सतां प्रयासः ॥९॥
भेजे नितान्तमजलोऽपि नदीनभावं यश्चाभवद्वसुमतीतिलकोऽप्यशोकः ।
दोषाकरश्च न बभूव कलाधरोऽपि सर्वं हि विस्मयकरं महतां स्वरूपम् ॥१०॥

सर्वां समस्ताम् । वसुधां भूमिम् । बुभोज पालयति स्म । भुज पालनाभ्यवहारयोः लिट् । 'शपनाथशिक्ष—' इत्यादि सूत्रेण पालनार्थे तङ्[2] । यस्य श्रीषेणस्य । नागा गजा । [पदातिवृषभा] पदातयो वृषभा इव तथोक्ता, 'व्याघ्रादिभि[3] र्गौणैस्तदनुक्तौ' इति कर्मधारय, भटश्रेष्ठा । तुरगा वाजिन । रथाश्च । सर्वे समस्ता[4] । शोभानिमित्त विलासार्थम् । अभवन् अभूवन् । भू सत्ताया लङ् । अतिशयोक्ति ॥७॥ यत्रेति । (यत्र) क्वचित्[5] राज्ञि । गुणगण गुणाना गण समूह । मया सहैव[6] सममेव । वृद्धिं समृद्धिम् । गतवान् यातवान् । यत्र राज्ञि (?) । न जाने न बुध्ये । ज्ञा अवबोधने । 'अनुपसर्गे ज्ञ'[7] इति लङात्मने पदम् । पुन पश्चात् । एष नृपति अयं नरनाथ । मा द्वेष्टि क्रुध्यति । शमप्रभृतीन् क्षमादीन् । शसति सत्करोति । इति एवम् । जातनिर्भररुषेव जातयोत्पन्नया निर्भरयाऽधिकया रुषेव कोपेनेव । मदेन गर्वेण । मुमुचे त्यज्यते स्म[8] । मुच्लृ[9] मोक्षणे कर्मणि लिट् ॥८॥ वक्ष इति । यस्य श्रीषेणस्य । वक्ष उर । श्रिय श्रीदेव्याः । आस्पद स्थानम् । भुजयुग भुजयोर्युग युगलम् । [वर-] वीरलक्ष्म्या (श्रेष्ठ-) जयलक्ष्म्या स्थानम् । अखिल सकलम् । शरीर गात्रम् । कान्ते देहदीप्त्या स्थानम् । हृदय स्वान्तम् । क्षमाया क्षान्त्या स्थानम् । मुख वदनम् । वाग्विभूते वाच सरस्वत्या विभूते ऐश्वर्यस्य स्थानम् । अजायत अजनि । जनैङ् प्रादुर्भावे लङ् । सता सत्पुरुषाणाम् । प्रयास प्रयत्नः । [ननु] (निश्चयेन) । सकलस्य सर्वजनस्य । आश्रयाय आधाराय (भवतीति शेष) । ननु तथाहि (?) । अर्थान्तरन्यास ॥९॥ भेज इति । य श्रीषेण । नितान्तं भृशम् । अजडोऽपि, जलरहित इति ध्वनि । 卐 न दीनभाव न दीन, न दीन इति नयो नस्य लुग्मास (?) तस्य भाव दैन्यभावमित्यर्थ । नदीना सरितामिन स्वामी तस्य भाव तम् । समुद्रस्वरूपममिति ध्वनि । भेजे सिषेवे । भजी सेवाया लिट् । वसुमतीतिलकोऽपि वसुमत्या भूमेस्तिलकोऽप्यलङ्कारोऽपि, वसुमत्या वर्तमान-तिलकवृक्षोऽपि, इति ध्वनि । अशोक दु खरहित, अशोकवृक्ष इति ध्वनि । अभवत् अभूत् । भू सत्ताया

अपने प्रतापसे ही सभी माण्डलीक राजाओंको जीत करके वह समस्त भूमण्डलका परिपालन कर रहा था ॥७॥ 'जिस किसी भी राजाके गुण अभी तक मेरे ही साथ बढे हैं, किन्तु यह राजा न जाने कैसा है, कि मुझसे द्वेष करता है और शम-शान्ति आदि गुणोकी प्रशंसा किया करता है' मानो इसीलिए अहकार अत्यन्त रुष्ट हो गया और उसे छोडकर चला गया ॥८॥ उसका वक्षस्थल लक्ष्मीका, बाहु युगल श्रेष्ठ विजयलक्ष्मी या वीरताका, पूरा शरीर कान्तिका, हृदय क्षमाका और मुख वाणीके वैभवका निवासस्थान हो गया। सज्जनोका प्रयत्न निश्चय ही दूसरोको आश्रय देनेके लिए हुआ करता है ॥९॥ वह (विरोध पक्षमे—) बिलकुल जल-रहित था, पर था समुद्र (परिहार पक्षमे—) वह अत्यन्त बुद्धिमान था, और उनके मनमे कभी दीनताके भाव उत्पन्न नही होते थे। वह (विरोध पक्षमे—) पृथ्वीका तिलक वृक्ष था तो भी अशोक वृक्ष था (परिहार पक्षमे—) वह भूमण्डलका मण्डन था और उसे कभी शोक नही

१ अ आ इ क ख ग घ भ नत्वाश्र° । २ आ लेप् श स तिप् । ३ श स गणै° । ४ श स समग्रा । ५ =यत्र क्वचित् यस्मिन् कस्मिश्चित् पुरुषे । ६ श स सहेव । ७ श स सर्गश । ८ आ त्यजति स्म । ९ श स मुचज् मो° ।

धर्मोऽर्थसंचयनिमित्तमुदारमर्थः कामस्य हेतुरितरः सुखयोनिरेते ।
यत्र त्रयोऽप्यविरतं न परस्परस्य जैनेश्वरा इव नया विजहुर्व्यपेक्षाम् ॥११॥
वाञ्छद्भिराश्रयविशेषमिवात्मयोग्यमौदार्यधैर्यविनयादिगुणैरशेषैः ।
अभ्यर्थितः सततमादरवद्भिरेषां[1] वेधाः ससर्ज नृपमालयभूतमेनम् ॥१२॥
भानुर्भवेद्यदि मनागिह सौम्यरूपस्तेजस्वितामुपगतो मृगलाञ्छनो वा ।
धामाधिको विदधदेष जनानुरागं तेनोपमानपदवीं प्रभुरुद्वहेत ॥१३॥

लङ् । कलाधरोऽपि द्वासप्ततिकलाधरोऽपि, चन्द्र इति ध्वनि[2] ऽ । दोषाकरश्च दोषाणा पापाचरणानामाकर उत्पत्तिस्थानम्, रात्रिकर इति ध्वनिः (न बभूव न समजनि) । महता सत्पुरुषाणाम् । सर्वं निखिलम् । स्वरूप धर्म । विस्मयकर हि विस्मयमाश्चर्यं करोतीति विस्मयकर हि[3] । विरोधार्थान्तरन्यासयो सङ्कर ॥१०॥ धर्म इति । यत्र श्रीषेणे । धर्म । उदारम् अत्यन्तम् । अर्थसचयनिमित्तम् अर्थस्य सचयस्य संपादनस्य[4] । निमित्तं कारणम् । अर्थ कामस्य विषयानुभवस्य हेतु कारणम् । इतर अन्यः काम । सुखयोनि सुखस्येन्द्रियसुखस्य योनि कारणम् । एते त्रयोऽपि—धर्मार्थकामा अपि । परस्परस्य अन्योन्यस्य । जैनेश्वरा जिनेश्वरस्येमे तथोक्ता. जिनसबन्धिन । नया इव नैगमसंग्रहनया इव । अविरतम् अनवरतम् । व्यपेक्षाम् आकाक्षाम् । न जहु न तत्यजु । ओहाक् त्यागे लिट् । उपमा ॥११॥ वाञ्छेति । आत्मयोग्यम् आत्मना स्वेषा योग्यमुचितम् । आश्रयविशेषम् । आश्रयस्याधारस्य विशेष[5] भेदम् वाञ्छद्भि इच्छद्भि । आदरवद्भि आश्रये प्रीतियुक्तै । अशेषै सकलै[6] । औदार्यशौर्यविनयादिगुणै. औदार्यं च शौर्यं च विनयश्च तथोक्ता ते आदिर्येषा ते औदार्यशौर्यविनयादय. ते (च) ते गुणाश्च तथोक्ता. तै, त्यागप्रतापसत्कारादिगुणैरित्यर्थ । सततमनवरतम् । अभ्यर्थित प्रार्थित इव । वेधा ब्रह्मा । एषा गुणानाम् । आलयभूतम् आधारभूतम् । एन नृपम् इमं श्रीषेणराजम्[1] । सृज विसर्गे लिट् । उत्प्रेक्षा ॥१२॥ भानुरिति । इह लोके । यदि मनाक् ईषत् । भानुः सूर्य । सौम्यरूप. सौम्य मनोहर रूप यस्य सः । भवेत् स्यात् । भू सत्ताया लिङ् । मृगलाञ्छनः मृग एव लाञ्छनं

होता था । वह (विरोध पक्षमे—) था तो चन्द्रमा पर रात्रिसे उसका कोई सम्बन्ध नही था (परिहार पक्षमे—) वह समस्त कलाओमे कोविद था और उसमे कोई दोष नही था । महान् पुरुषोका सारा स्वरूप निश्चय ही आश्चर्यजनक होता है ॥१०॥ धर्म उसके धन-सचयका एक बड़ा निमित्त था, धनसचय काम पुरुषार्थका और काम पुरुषार्थ इन्द्रिय सुखका और ये तीनो—धर्म, अर्थ तथा काम कभी भी एक-दूसरेकी उपेक्षा नही करते थे—सभीको एक-दूसरेकी अपेक्षा रहती थी । तीनो पुरुषार्थ जिनेन्द्र भगवान्के द्वारा प्रतिपादित नैगम आदि नयोके समान एक दूसरेसे सम्बन्ध रखते थे ॥११॥ उदारता, धैर्य और विनय आदि सभी गुण अपने निवास करने योग्य किसी विशेष आश्रयको चाह रहे थे, और उन्होने बड़े आदरके साथ इसके लिए कुछ दिन लगातार ब्रह्मदेवसे प्रार्थना की। मानो इसी प्रार्थनापर उसने इन गुणोके रहनेके लिए इस राजाकी सृष्टि की ॥१२॥ इस ससारमे सूर्य यदि थोडे सौम्य रूपको धारण कर लेता अथवा चन्द्रमा ही तेजस्वी हो जाता, तो इन दोनोमे-से कोई भी एक, तेजस्वी और प्रजाका रंजन करनेवाले

---

१. म °द्भिरेषु । २. आ स्वस्तिकान्तर्गत पाठो नोपलभ्यते । ३. = अजलोऽपि जलरहितोऽपि नदीनभावं समुद्रत्व [भेजे] । वसुमत्यां तिलको वृक्षविशेषोऽपि, अशोको वृक्षजाति । कलाधरोऽपि चन्द्रोऽपि दोषाकरो न बभूव । विरोधोऽयम् । तत्परिहार —अपि निश्चयेन । यतोऽजड पण्डितोऽत एव दीनभावं दीनत्वं न भेजे । यतश्च वसुमतया॰ वसुधायाः तिलको ललामभूतोऽत एवाशोक शोकरहित । यतश्च कलाधरोऽत एव दोषाणामसौजन्यादीनामाकरो न बभूव । ४. आ संपादकस्य । = अर्थसग्रहमपादनस्येत्यर्थ । ५. = विशिष्टमाश्रयम् । ६ श स॰ रा॰..१ ।

श्रीकान्तया सरसिजाकरसंनिवासिश्रीकान्तया सकललोकमनोभिरामः।
देव्या स्वकीयवपुरव्यतिरिक्तयाप योगं शशीव कलयामलया स भूपः॥१४॥
लावण्यसंपदमलाम्भसि सनिमज्ज्य देहं स्वमुज्ज्वलमिवातितरां विधातुम्।
श्लाघ्य शरद्विशदचन्द्रगभस्तिगौरो यस्यास्तनौ समुदितः सकलो गुणौघ॥१५॥
शीलक्षमाविनयरूपगुणैर्महार्घामुच्चित्य यामखिलविष्टपसुन्दरीषु।
भर्तुर्मनो रमयितुं स्वसहायभूतां लक्ष्मीरिवादरपरा स्वयमेव वव्रे॥१६॥

यस्य स, चन्द्रो वा। रूपकम् (?)। तेजस्विता तेजोऽस्यास्तीति तेजस्वी तस्य भावम्। परिगतः गतवान्। धामाधिकः प्रतापाधिक.। जनानुराग जनाना लोकानामनुराग प्रीतिम्। विदधत् विदधातीति विदधत्, कुर्वन्, शतृप्रत्यय। 'न नम्' इति नम् न भवति। एष. अयम्। प्रभु श्रीषेण। तेन[1] भानुना चन्द्रेण वा। उपमानपदवीम् उपमानस्य सादृश्यस्य पदवीं स्थानम्। उद्वहेत दध्यात्। अतिशयोक्ति॥१३॥ श्रीति। सकललोकमनोभिराम. सकलाना जनाना मनोभिरामो मनोहर। स भूप श्रीषेणनृप। सरसिजाकरसनिवासि-श्रीकान्तया[2] सरसिजाकरे सरोवरे सनिवासिनी निवसनशीला श्रीरिव[3] कान्तया मनोहरया। स्वकीयवपुर-व्यतिरिक्तया स्वकीयस्य स्वस्य[4] वपुषा शरीरेणाव्यतिरिक्तयाऽभिन्नरूपया। श्रीकान्तया श्रीकान्तासज्ञया। देव्या महिष्या। अमलया निर्मलरूपया। कलया षोडशभागेन। शशीव चन्द्र इव। योगं सबन्धम्। आप ययौ। आप्लृ व्याप्तौ लिट्॥१४॥ लावण्येति। लावण्यसपदमलाम्भसि लावण्यस्य देहकान्ते. सपदेव[5] अमलेऽम्भसि जले। रूपकम्। स्व स्वकीयम्। देह शरीरम्। अतितराम् अत्यन्तम्। उज्ज्वल निर्मलम्। विधातुमिव कर्तुमिव। सनिमज्य सस्नाप्य[6] श्लाघ्य. पूज्य। शरद्विशदचन्द्रगभस्तिगौर शरद शरत्कालस्य विशदस्य निर्मलस्य चन्द्रस्य गभस्तिरिव कान्तिरिव गौरो मनोहर। सकल. सर्व। गुणौघः गुणाना पाति-व्रत्यादीनामोघ समूह। यस्या श्रीकान्ताया। तनौ शरीरे। समुदितः सचित। उत्प्रेक्षा॥१५॥ शीलेति। आदरपरा प्रीतिपरा। लक्ष्मी। अखिलविष्टपसुन्दरीषु अखिलस्य विष्टपस्य सुन्दरीषु स्त्रीषु। शीलक्षमाविनय-रूपगुणै. शील च क्षमा च विनयश्च तथोक्ता त एव[7] रूप येषा तै गुणै। महार्घाम् अतिशयेन पूज्याम्। स्वसहायभूता स्वस्य सहायभूता सुहृद्भूताम्। या श्रीकान्तादेवीम्। उच्चित्य गृहीत्वा[8] भर्तु श्रीषेणभूपस्य।

उस राजाका उपमान हो सकता था, तथा राजा भी उपमेयका रूप लेकर उसकी समानता धारण कर लेता॥१३॥ वह सभी लोगोकी दृष्टिमे सुन्दर था। उसका विवाह श्रीकान्ता देवीके साथ हुआ था। वह कमलोमे निवास करनेवाली लक्ष्मीके समान सुन्दर थी और चन्द्रमाकी कलाकी भाँति निर्मल। राजा उसे अपने शरीरसे विलग नही समझता था। उसकी अर्धाङ्गिनी जो थी। वह उससे घुलमिल गई जैसे कला चन्द्रमासे सम्बन्ध जोडकर उससे घुलमिल जाती है॥१४॥ श्रीकान्ताके शरीरमे प्रशसनीय तथा शरत्कालीन चन्द्रमाकी किरणोके समान निर्मल सभी गुण प्रकट हो गये। मानो वे उसकी कान्तिके निर्मल जलमे स्नान करके अपने शरीरको और भी अधिक उज्ज्वल करना चाहते थे॥१५॥ वह शील, क्षमा, विनय और रूप आदि गुणोंके कारण सारे ससारकी सुन्दर स्त्रियोके द्वारा पूज्य थी। इसे खोजकर लक्ष्मीने मानो अपने पति श्रीषेण (राजा लक्ष्मीपति कहे जाते हे) के मनोरञ्जनके लिए बडे सम्मानके साथ

१ आ श स केन। २ = सररिजाकरसनिवासिनी कमलवनवासिनी चासौ श्रीश्च तद्वत् कान्तया मनोरमया। ३ = या श्रीः सेव। ४. = आत्मीयस्य। ५ = सपदेव। ६. = निमज्जन विधाय। ७ आ स एव। ८ = अन्विष्य।

चन्द्रोज्ज्वलेन यशसा कथितं सुराणामीशस्य संसदि परीतवता त्रिलोकीम् ।
रूपं ग्रहीतुमनसः स्पृहयन्ति यस्या देव्यो दिवोवतरणाय तपांसि कर्तुम् ॥१७॥
दोषानुबन्धरहिता तमसा विमुक्ता रम्या निजोदयविकासितबन्धुपद्मा ।
प्राभातिकी द्युतिरिवाम्बुजबान्धवस्य या कान्तिमोषधिपतेः परिभूय तस्थौ ॥१८॥
धर्मार्थयोरविदधत्सविशामधीशो बाधा विधूपमयशोधवलीकृताशः ।
सार्धं तया प्रणयकोपकृतान्तराणि देव्या सुखान्यनुभवन्दिवसान्निनाय ॥१९॥

मनः स्वान्तम् । रमयितुं वशीकर्तुमिव[1] स्वयमेव[2] वव्रे विवाहं चक्रे[3] । वृञ् वरणे लिट् । उत्प्रेक्षा ॥१६॥ चन्द्रेति । त्रिलोकीं त्रयाणां लोकाना समाहार. त्रिलोकी, ताम् । 'द्विगो' इति ङी । परीतवता व्याप्तवता । चन्द्रोज्ज्वलेन चन्द्रेणेवोज्जलेन । यशसा कीर्त्या । सुराणा देवानाम् । ईशस्य इन्द्रस्य । संसदि सभायाम् । कथित प्रोक्तम् । यस्याः श्रीकान्ताया । रूप सौन्दर्यम्[4] । गृहीतुमनस गृहीतुं स्वीकर्तुं मनसो मानसा चित्ता[5] 'तुमो मनस्कामे' इति तुमो मकारस्य लोपः । देव्य. देवस्त्रिय. । तपासि तपश्चरणानि । कर्त्तुं करणाय । दिव स्वर्गात् । अवतरणाय आगमनाय[6] स्पृहयन्ति वाञ्छन्ति । स्पृह ईप्साया लट् । 'स्पृहेर्वा' इति चतुर्थी । उत्प्रेक्षा ॥१७॥ दोषेति । दोषानुबन्धरहिता दोषाया रात्रेर्दोषस्य पापस्यानुबन्धेन सवन्धेन रहिता वियुक्ता । तमसा अन्धकारेण, अज्ञानेन वा । वियुक्ता रहिता । रम्या मनोहरा । निजोदयविकासितबन्धुपद्मा निजस्य स्वस्योदयेन विकासितानि प्रस्फु[स्फो]टितानि बन्धव एव पद्मानि यस्या (यया) सा । या श्रीकान्ता । अम्बुजबान्धवस्य अम्बुजस्याम्भोजस्य बान्धवस्य सूर्यस्य । प्राभातिकी प्राभातस्योदयकालस्येय प्राभातिकी । द्युतिरिव प्रकाश इव । ओषधिपतेः ओषधीना पतिश्चन्द्र , तस्य । कान्ति द्युतिम् । परिभूय तिरस्कृत्य । तस्थौ तिष्ठति स्म । स्था गतिनिवृत्तौ लिट् । उत्प्रेक्षा ॥१८॥ धर्मेति । धर्मार्थयो द्वयो । बाधा विरोधम् । अविदधत् अकुर्वन् । विधूपमयशोधवलीकृताश विधोश्चन्द्रस्योपमेन समानेन[7] यशसा प्रागधवला इदानीं धवला क्रियन्ते स्म धवलीकृता आशा दिशो यस्य (येन) स । विशा राज्ञाम् । अधीशः प्रभु । स श्रीषेण । तया श्रीकान्तया ।

स्वयं अपना सहायक बना लिया था ॥१६॥ उसका निर्मल यश तीनो लोकोमे फैल गया था । उसकी चर्चा इन्द्रकी सभामे भी होती थी । उसे सुनकर स्वर्गकी देवियाँ उसके रूपको पानेकी इच्छासे तपश्चरण करनेके लिए स्वर्गसे उतरकर मनुष्यलोकमे आना चाहती थी ॥१७॥ जिस प्रकार प्रभात वेलामे सूर्यकी प्रभा रात्रिके ससर्गसे रहित और अन्धकार-शून्य होती है । सुन्दर होती है और अपने उदयके साथ ही कमल-बन्धुओको विकसित करती है । चन्द्रमाकी कान्तिको फीका कर देती है । इसी प्रकार वह रानी दोषोसे रहित, अज्ञान रहित, सुन्दर, अपने अभ्युदयसे अपने बन्धुओकी वृद्धि करनेवाली और चन्द्रमाकी कन्तिको फीका करनेवाली थी ॥१८॥ श्रीषेणने अपने निर्मल यशसे समस्त दिशाओको धवल कर दिया था—उसका यश दुनियाके कोने-कोनेमे फैला हुआ था । धार्मिक और आर्थिक कार्योंमे बाधा पहुँचाये बिना वह अपनी पट्टरानीके साथ कामसुखका अनुभव करता हुआ काल बिता रहा था । सुखके उन

---

१ = अनुरञ्जयितुम् । २ = स्वत एव । ३ = वृतवती स्वीकृतवती । ४ आ रूप सौन्दर्यं रूपम् श रूप सौन्दर्यरूपम् स सौन्दर्यं रूपम् । ५ = मनासि मानसानि चित्तानि यासा ता । 'चित्त तु चेतो हृदय स्वान्त हृन्मानस मन ।' इत्यमरः । ६. = मानवपर्यायधारणायेति यावत् । ७. = विधोश्चन्द्रस्योपमा यस्य तेन, शशधरधवलेनेत्यर्थ. ।

कृत्वापरेद्युरखिलावसरं स यावदन्तःपुरं व्रजति किन्नरगीतकीर्तिः ।
तावत्कराग्रविनिनिविष्टकपोलमूलां देवीमुदश्रुनयनां सहसा ददर्श ॥२०॥
तां तादृशीं समवलोक्य समानदुःखो दुःखं विभक्तुमिव तन्मनसि प्रवृत्तम् ।
स व्याकुलेन मनसा त्वरमाणवृत्तिः पप्रच्छ हेतुमतिशोकसमुद्भवस्य ॥२१॥
दुर्वारवीर्यरिपुनिर्दलनप्रवीणे[1] पृथ्वीतलप्रसृतदुर्विषहप्रतापे ।
पद्मायताक्षि मयि जीवति जीवितेशे संभाव्यते परभवो न पराभवस्ते ॥२२॥

देव्या महिष्या । प्रणयकोपकृतान्तराणि प्रणयकोपेन कृत विहितम् अन्तरमवकाश(शो) येषा (येषु) तानि । सुखानि । अनुभवन् । वासरान् । निनाय [2]यापयति स्म । णीञ्[3] प्रापणे लिट् ॥१९॥ कृत्वेति । किन्नरगीतकीर्ति किन्नरैर्देवविशेषैर्गीता स्तुता कीर्तिर्यस्य स । स श्रीषेण [4] । अपरेद्यु अन्यस्मिन् दिने । 'पूर्वापर—' इत्यादिना एद्युस्प्रत्यय । अखिलावसर सर्वावसरम्[5] । कृत्वा विधाय । यावत् यावत्पर्यन्तम् । अन्त पुरम् अवरोधम् । व्रजति गच्छति । तावत् । कराग्रविनिविष्टकपोलमूला करस्य हस्तस्य अग्रे उपरिभागे विनिविष्ट स्थापित कपोलस्य गण्डस्य मूल यया ताम् । उदश्रुनयनाम् उदश्रुणी उत्पतदश्रुणी[6] नयने नेत्रे यस्या ताम् । देवीं श्रीकान्तादेवीम् । सहसा शीघ्रेण (शीघ्रम्) । ददर्श पश्यति स्म । दृशृ प्रेक्षणे लिट् । स्वभावोक्ति ॥२०॥ तामिति । तादृशीं तादृग्रूपाम् । ता श्रीकान्तादेवीम् । समवलोक्य सम्यग् दृष्ट्वा । समानदु ख समान दु ख यस्य सः । स श्री.षेण । व्याकुलेन कातरेण । मनसा मानसेन । त्वरमाणवृत्ति सन् त्वरमाणा वृत्तिर्यस्य स. विह्वलवर्तनायुक्त सन् । तन्मनसि तस्या देव्या मनसि चित्ते । प्रवृत्त स्थितम् । दु खम् असातम्[7] । विभक्तुमिव विभाग कर्तुमिव । शोकसमुद्भवस्य दु खोद्भवस्य । हेतु कारणम् । इति वक्ष्यमाणप्रकारेण । पप्रच्छ पृच्छति स्म । प्रच्छ ज्ञीप्सायां लिट् ॥२१॥ दुर्वारेति । पद्मायताक्षि पद्मे इवायते दीर्घे अक्षिणी नेत्रे यस्या तस्या संबोधनम्[8] । दुर्वारवीर्यरिपुनिर्दलनप्रवीणे निवारयितुमशक्य वीर्यं येषा तेषा[9] शत्रूणा निर्दलने विभेदने प्रवीणे समर्थे । पृथ्वीतलप्रसृतदुर्विषहप्रतापे पृथ्वीतले भूतले प्रसृतो विसृत[10] प्रताप तेजो यस्य तस्मिन् । जीवितेशे प्राणकान्ते । मयि जीवति सति प्राणति[11] सति । परभव परे[12] भवः उत्पन्न[13] । पराभव

दिनोमे कभी-कभी रानीके प्रणयकोपके कारण कुछ-कुछ सम्भोगमे व्यवधान पड जाया करता था ॥१९॥ उसका यशोगान गन्धर्व देव किया करते थे । एक दिनकी बात है—वह आमसभा का काम पूरा करके ज्यो ही अन्त पुरमे प्रवेश करता है त्यो ही उसकी दृष्टि एकाएक पट्टरानीपर पडी । उसका कपोल हथेलीपर झुका हुआ था और उसकी आँखोसे आँसू बह रहे थे ॥२०॥ उसे रोते देखकर श्रीषेण भी उसीके समान दुखी हुआ—उसकी आँखोमें आँसू भर आये । उसका हृदय व्याकुल हो उठा और उसने शीघ्र ही रानीसे इतने बडे शोक होनेका कारण पूछा । मानो वह उसके दु खको बाँटना चाहता था ॥२१॥ हे कमललोचने ! हे प्रिये ! बडे-बडे पराक्रमी शत्रुओंके छक्के छुडानेमे मैं कुशल हूँ, सारे भूमण्डलपर मेरा प्रबल प्रताप फैला हुआ है और मैं तुम्हारे जीवनका रक्षक हूँ । रोनेका कारण बताओ । क्या किसीने तुम्हारा

१ अ °रिपुराड्दहनप्रवीण म° °रिपुनिर्दहनप्रवीणे । २ आ प्राप° । ३ नीञ् प्रापणे । ४ श स श्रीषेण तया श्रीकान्तया । ५ = सभाकार्यम् । ६ आ उदश्रूणि उत्पतदश्रूणि । ७ = 'शर्मसातसुखानि च' इत्यमर, 'सात सौख्य सुखम्' इति हेमचन्द्रश्च । ८. = यस्या सा, तत्सबुद्धौ । ९ = रिपूणाम् । १० = विस्तृत इत्यर्थ । ११ = प्राणिति । १२ = परेभ्य. । १३. = शत्रुकृत इत्यर्थ. ।

संतापमूलसुहृदं विरहं विसोढुमुन्मेषमात्रमपि तावकमप्रभूष्णोः ।
मत्तोऽपि मत्तगजगामिनि निश्चयेन जानीहि संभवति न प्रणयस्य भङ्गः ॥२३॥
त्वत्पादपद्मशरणे त्वदधीनवृत्तौ त्वत्प्रेमनिघ्नमनसि त्वदभिन्नदेहे ।
शाठ्यं मनागपि मृगाङ्कमुखि त्वदीये संभावयामि सरले न सखीजनेऽपि ॥२४॥
छन्दानुवर्तिषु पदातिषु बान्धवेषु दास्यं गतेषु च निशान्तवधूजनेषु ।
भ्रूभङ्गमात्रमपि सोढुमशक्नुवत्सु संजायते न तव तन्वि निदेशभङ्गः ॥२५॥

पराजयः[1]। न सभाव्यते न नीयते[2]। भू कृपोवकल्पने कर्मणि लट्। अनुमिति ॥२२॥ सतामेवि। मत्तगजगामिनि मत्तगर्ज इव मदगज इव गामिनि गमनशीले[3] सतापमूल-मूलसुहृद सतापस्य मूल मुख्य सुहृद मित्रम्। तावक तव सबन्धम्। 'युष्मदस्मदो—' इत्यादिना अञ्[4] तद्योगे एकत्वे तवकादेश.। विरह[5]। उन्मेषमात्रमपि उन्मेषमेव उन्मेषमात्रं क्षणमात्रमपि। विसोढु मर्षितुम्। अप्रभूष्णो. असमर्थात्। मत्तोऽपि मत्सकाशादपि। प्रणयस्य विनयस्य (स्नेहस्य)। भङ्गो नाश.। न सभवति नोत्पद्यते। इति निश्चयेन नियमेन। जानीहि मन्यस्व। ज्ञा अवबोधने लोट् ॥२३॥ त्वदिति। मृगाङ्कमुखि। मृगाङ्क इव मुख यस्या सा तस्या सबोधन[6] चन्द्रमुखि! इत्यर्थ 'असहनञ्—' इत्यादिना ङी। त्वत्पादपद्मशरणे तव पादावेव पद्म तदेव शरण रक्षणं यस्य तस्मिन्। त्वदधीनवृत्तौ तवाधीना वृत्तिर्यस्य तस्मिन्। त्वत्प्रेमनिघ्नमनसि तव प्रेम्णि प्रीतौ निघ्नमधीनं मनो यस्य तस्मिन्। त्वदभिन्नदेहे त्वत्सकाशादभिन्नो देह कायो यस्य तस्मिन्। सरले ऋजुभावयुक्ते। त्वदीये तव सबन्धे। 'दोश्च्छ' इति छ। सखीजनेऽपि राध्य एव जन. तस्मिन्। (शाठ्य शठत्व धूर्त्तत्व वा)। न सभावयामि [न] निश्चिनोमि। भू कृपोवकल्पने लट्। रूपकम् ॥२४॥ छन्देति[7]। तन्वि कृशाङ्गि। छन्दानुवर्तिषु[8] अनुवर्त्तन्ते इत्येवशीला अनुवर्तिन छन्दस्यानुवर्तिन[9] तेषु अनुकूलवृत्तिषु। 'छन्दो वशेऽप्यभिप्राये हार्दाख्या[10] चित्तवृत्तयो' इति विश्व। पदातिषु भृत्येषु। दास्य गतेषु कैङ्कर्यं गतेषु। बान्धवेषु बन्धुषु। बन्धूनामपि दास्यकथनेन तस्या महत्त्व व्यज्यते। भ्रूभङ्गमात्रमपि भ्रुवो भङ्ग एव भ्रूभङ्गमात्र तदपि। सोढुं

अपमान किया है ? मुझे तो इसकी सम्भावना नही है कि मेरे जीवित रहते कोई तुम्हारा अपमान कर सके ॥२२॥ हे मदमाते गजकी भाँति गमन करनेवाली ! तुम्हारा विछोह होते ही मेरे मनमे सन्ताप होने लगता है। मेरे सन्तापका मूल कारण तुम्हारा विछोह है। इसलिये तुम यह निश्चित समझो कि मै तुम्हारे स्नेहको नही ठुकरा सकता ॥२३॥ हे चन्द्रवदने ! देवि ! तुम्हारी सखियोने तुम्हारे साथ कोई अनुचित व्यवहार किया हो, यह भी मेरी दृष्टिसे सम्भव नही है, क्योकि उन्हे केवल तुम्हारे चरणकमल ही शरण हैं, उनकी जीविका तुम्हारे अधीन है; वे हृदयसे तुम्हारे प्रेमके लिए लालायित रहती हैं; वे सदा यही सोचती रहती है कि तुम्हारे मनमे प्रेम बना रहे, वे क्षणभर भी तुमसे विलग नही होती और सबसे मुख्य बात यह है कि वे सभी सरल हैं—उनके मनमे छल नही है ॥२४॥ हे कृशाङ्गि ! सभी नौकर-चाकर तुम्हारे इशारेपर नाचते हैं—तुम्हारी इच्छाके अनुकूल चलते हैं, परिवारके बन्धुओने तुम्हारी दासता स्वीकार कर ली है और अन्तःपुरकी रानियाँ तुम्हारी भ्रकुटी—भौंके टेढेपनको सहन करनेमे

---

१ = तिरस्कार.। २ = न उन्नीयते न तर्क्यते। ३. = मत्तगज इव गच्छतीत्येव शीला मत्तगजगामिनी तत्सबुद्धौ मत्तगजगामिनि। ४. श स लञ्। ५ = वियोगम्। ६ = तत्सबुद्धौ। ७ अ पद्यमिद नोपलभ्यते यस्येयं टीका। ८ श स °नुवृत्तिषु। ९. छन्दानुवर्तिन। १०. आ हृदाख्या।

एतेष्वसत्स्व[1]परितोषनिबन्धनेषु किं कारणं कथय देवि शुचस्तवास्याः।
पृष्टेति सा क्षितिभुजा त्रपया न किंचिदूचे परं मुखमलोकत बालसख्याः ॥२६॥
सा ह्रीवशादथ गिरा किमपि स्खलन्त्या[2] तस्याः सखीति निजगाद परेङ्गितज्ञा।
सत्यं न सभवति देव पराभवादिरस्या भवत्प्रणयभारमहार्घिकायाः ॥२७॥
किंत्वत्र कारणमभूदपरं विषादे दैवं विहाय न यदन्यजनस्य साध्यम्।
देवस्य तत्सकलमेव निवेदयामि कर्तव्यवस्तुनि पुनर्नियतिः प्रमाणम् ॥२८॥

मर्षितुम्। अशक्तुवत्सु असमर्थेषु। निशान्तवधूजनेषु अन्तःपुरस्त्रीजनेषु। तव ते। निदेशभङ्ग निदेशस्याज्ञाया भङ्गो नाश। न सजायते न सभवति। जनैङ् प्रादुर्भावे लट्। रूपकमनुमितिश्च ॥२५॥ एतेष्विति। देवि भो श्रीकान्ता देवि[3]। अपरितोषनिबन्धनेषु अपरितोषस्य दुःखस्य निबन्धनेषु कारणेषु। एतेषु उक्तबान्धवादिषु[4]। असत्सु अविद्यमानेषु। तव ते। अस्या एतस्या। शुच शोकस्य। कारण हेतुम्। किम्? कथय किम् इति ब्रूहि। कथ वाक्यप्रबन्धे लोट्। इति एवप्रकारेण। क्षितिभुजा भूपतिना। पृष्टा श्रुता[5]। सा श्रीकान्ता। त्रपया लज्जया। किंचित् ईषत् (अपि)। नोचे न ब्रवीति स्म। ब्रूञ् व्यक्ताया वाचि लिट्। 'अस्ति ब्रुवो —' इत्यादिना वचादेश। बालसख्या बालाया सख्या.। मुख[6]। परम्[7] अधिकम्। अलोकत ददर्श। लोकृञ् दर्शने लङ् ॥२६॥ सेति। अथ सखीमुखावलोकनानन्तरम्। परेङ्गितज्ञा परेषामन्येषामिङ्गितज्ञा अभिप्रायज्ञा। तस्या श्रीकान्ताया। सा सखी बालसखी। ह्रीवशात् लज्जावशात्। स्खलन्त्या मिथ्या। गिरा वचनेन। किमपि किंचित्। इति वक्ष्यमाणप्रकारेण। निजगाद ब्रवीति स्म। गद व्यक्ताया वाचि लिट्। देव भो स्वामिन्। भवत्प्रणयभारमहार्घिकाया भवत तव प्रणयस्य स्नेहस्य भारेण महार्घिकाया महापूजायुक्ताया.। अस्या देव्याः। पराभवादि तिरस्कारादि। न संभवति न जायते। इति सत्य सत्यमेव ॥२७॥ किन्त्विति। किन्तु किमित्युक्ते। अत्र अस्मिन्। विषादे दुःखे। परम् अन्यत्। कारण हेतु। अभूत् अभवत्। दैव पुण्यम्। विहाय त्यक्त्वा। यत् यत्किंचित्। अन्यजनस्य अन्यलोकस्य। न साध्य साध्यं न भवति। तत्सकलमेव तत्सर्वमेव। देवस्य स्वामिनो भवत.। निवेदयामि विज्ञापयामि। पुन. पश्चात्। कर्त्तव्यवस्तुनि कर्तव्ये विधातव्ये वस्तुनि पदार्थे। नियतिः[8] नियम प्रमाण सत्यभूतम्[9] ॥२८॥

असमर्थ हैं। अतः इनसे तुम्हारी आज्ञाका उल्लंघन नही हो सकता है ॥२५॥ हे देवि! जिनकी मैंने सम्भावना की है, वे तुम्हारे असन्तोषके कारण नही हैं। फिर तुम्ही कहो, तुम्हारे इस शोकका क्या कारण है? राजाके यो पूछनेपर रानी लज्जावश कुछ नही बोली, किन्तु अपनी बचपनकी सहेलीके मुखकी ओर ताकने लगी ॥२६॥ उसकी सहेली दूसरोंके भावको भाँपनेमे बड़ी कुशल थी। वह तुरन्त ही रानीका भाव समझ गई। यो उसे भी राजाके सामने बोलनेमे लज्जाका अनुभव हो रहा था, और वाणी भी स्खलित हो रही थी। किन्तु फिर भी रानीकी आज्ञा शिरोधार्य थी, अत यो कहने लगी—राजन्! आपके स्नेहके कारण इसे सभी पूज्य मानते हैं। अत. यह सच है कि पराभव-अपमान आदि इसके शोकके कारण नहीं हैं ॥२७॥ इसके विषादका कारण कुछ और ही है। उसका प्रतीकार केवल भाग्य ही कर सकता है, और कोई नही। मैं आपको सब सुना रही हूँ, किन्तु उसे सुनकर क्या कर्त्तव्य है, इस विषयमे

---

१. म एतेषु सत्स्व°। २ म °लन्त्या। ३ =भो देवि श्रीकान्ते। ४ =पूर्वोक्तेषु। ५ =अनुयुक्ता। ६ =वदनम्। ७ =केवलम्। ८ = नियति भाग्यम्। 'दैव दिष्ट भागधेयं भाग्यं स्त्री नियतिर्विधि।' इत्यमर। ९ =शरणमिति यावत्।

एषा पुरं त्वदनुभावविवृद्धशोभं द्रष्टुं मयाद्य सह मन्दिरमभ्यरुक्षत् ।
चेक्रीडतो निजकराहतकन्दुकेन तत्रैक्षताढ्यपृथुकान्पृथुकान्तियुक्तान् ॥२९॥
तानिन्दुसुन्दरमुखानवलोकयन्ती चिन्तामगादिति विषण्णमुखारविन्दा ।
धन्याः स्त्रियो जगति ताः स्पृहयामि ताभ्यो यासाममीभिरफला तनयैर्न सृष्टिः ॥३०॥
या मद्विधाः पुनरसंचितपूर्वपुण्याः पुष्पं सदा फलविवर्जितमुद्वहन्ति ।
ताः सर्वलोकपरिनिन्दितजन्मलाभा वन्ध्या लता इव भृशं न विभान्ति लोके ॥३१॥

एषेति । एषा श्रीकान्ता । त्वदनुभावविवृद्धशोभ त्वत् (?) तव अनुभावेन विवृद्धा प्रवृद्धा शोभा यस्य तत् । पुरं पत्तनम् । द्रष्टु दर्शनाय । अद्य इदानीम् । मया सह मया साकम् । मन्दिर सौधम् । अभ्यरुक्षत् अधिरुरोह । तत्र पुरे । निजकराहतकन्दुकेन स्वकरताडितेन कन्दुकेन गोलकेन[1] चेक्रीडत पुन पुन क्रीडन्तीति चेक्रीडतः [चेक्रीडन्तः] तान् पृथुकान्तियुक्तान् पृथ्व्या महत्या कान्त्या युक्तान् । आढ्यपृथुकान् आढ्याना धनिकाना पृथुकान् बालकान् । 'पृथुक शावक शिशु' इत्यमर । ऐक्षत ददर्श । ईक्षि[2] दर्शने लङ् । जात्यलङ्कारः ॥२९॥ तानिति । इन्दुसुन्दरमुखान् इन्दुरिव चन्द्र इव सुन्दर मुख येषा तान् । तान् बालकान् । अवलोकयन्ती पश्यन्ती । विषण्णमुखारविन्दा विषण्ण म्लान मुखमेवारविन्द सरसिजं यस्या सा । अमीभि एभि । तनयैः बालकैः । यासा स्त्रीणाम् । सृष्टि उत्पत्तिः । अफला निष्फला । न न भवति । ताः स्त्रिय । जगति लोके । धन्याः कृतार्थाः भवन्ति । ताभ्य स्त्रीभ्य. । स्पृहयामि[3] वाञ्छामि 'स्पृहेर्वा' इति चतुर्थी । इति एवम् । चिन्ताम् अगात् अगच्छत् । इण् गतौ लुङि । 'गैरयो' इति गादेश । 'घुमास्थागापाहाक्स' इति सेर्लुक् । अर्थान्तरन्यास ॥३०॥ या इति । पुनः पश्चात् । असचितपूर्वपुण्या असचितमसपादित पूर्वं पुरातन पुण्यं सुकृत याभि ता । मद्विधा मम सदृशा । स्त्रिय । सदा सर्वकाले । फलविवर्जित फलरहितम् । पुष्पं कुसुमम् । उद्वहन्ति धरन्ति[4] । सर्वलोकपरिनिन्दितजन्मलाभा सर्वे. सकलैर्लोकैः परिनिन्दितो जन्मनो लाभो यासा ता । ताः । वन्ध्या अफलाः[5] पुत्ररहिताश्च । लता इव वल्लर्य इव । लोके जगति । भृशम् अत्यर्थम् ।

केवल भाग्य ही शरण है ॥२८॥ आपके प्रभावसे इस नगरकी शोभा अन्य नगरोसे बहुत बढी-चढी है । इसे देखनेके लिए यह आज मेरे साथ छत पर गयी थी । वहाँसे इसने खेलके मैदानमें धनिकोंके कुछ तेजस्वी बच्चोको देखा, जो हाथकी थपकी दे-देकर जी भरकर गेंद खेल रहे थे ॥२९॥ उनके मुख चन्द्रमाके समान सुन्दर थे । उन्हे देखते ही यह चिन्तामग्न हो गई । इसका मुख कमल म्लान हो गया, और यह सोचने लगी कि इस लोकमे वे स्त्रियाँ धन्य हैं और उनसे मुझे स्पर्द्धा है, जिन्होने इन बच्चोको जन्म देकर अपना जन्म सफल कर लिया है ॥३०॥ मेरे समान जिन स्त्रियोने पूर्व जन्मने पुण्य सचय नही किया और इसीलिए जो सदा पुष्पवती (यहाँ पुष्प शब्दका अर्थ मासिक धर्म है) होकर भी उसके फल (गर्भ) से वचित रहती हैं, वे बाँझ समझी जाती हैं । वे उन लताओके समान सर्वथा श्रीहीन मालूम पडती हैं, जिनमे फूल तो लगते हैं, पर फल नही लगते । सभी लोग उनके जन्मकी निन्दा किया करते हैं ॥३१॥

---

१. = गेन्दुकेन । 'गेन्दुक कन्दुक' इत्यमर । २. घ स ईक्ष । ३. = ईर्ष्यामि । ४ आ प्रतावेव 'उद्वहन्ति धरन्ति' इति समुपलभ्यते । ५ आ अबला ।

या स्त्यानधर्मिणि पुरंध्रिजने प्रसिद्धं स्त्रीशब्दमुद्वहति कारणनिर्व्यपेक्षम् ।
सा हास्यभावमुपयाति जनेषु यद्वदन्धः सुलोचन इति व्यपदेशकामः ॥३२॥
चन्द्रोज्झितां रविरलंकुरुते घनानां वीथीं सरोजनिकरः सरसीमहंसाम् ।
पुत्रं विहाय निजसततिबीजमन्यो न त्वस्ति मण्डनविधिः कुलपुत्रिकाणाम् ॥३३॥
तेनोज्झितां निजकुलैकविभूषणेन सौभाग्यसौख्यविभवस्थिरकारणेन ।
मां शक्नुवन्ति परितर्पयितुं विपुण्यां न ज्ञातयो न सुहृदो न पतिप्रसादाः ॥३४॥

न विभान्ति न भासन्ते । भा दीप्तौ लट् । उपमा ॥३१॥ येति । 卐 या[1] स्त्री । स्त्यानधर्मिणी स्त्यानस्य गर्भधारणस्य 卐 धर्मिणि धर्मवति (स्त्यानं धर्मो यस्य स स्त्यानधर्मा तस्मिन्) पुरध्रिजने पुरन्ध्र्येव जन (पुरन्ध्रीणां जनो वर्ग) तस्मिन् । रूपकम् (?) । प्रसिद्धं प्रतीतम् । स्त्रीशब्दम् । कारणनिर्व्यपेक्ष यथा भवति तथा, गर्भधारण विनापीत्यर्थ, स्त्यानधर्मवती स्त्री (स्त्यायते गर्भो यस्या सा स्त्री) इति व्युत्पत्तेः । उद्वहति धरति । सा स्त्री । जनेषु लोकेषु । हास्यभाव परिहासत्वम् । उपयाति[2] अन्धः दृष्टिरहित । यद्वत् यथा । सुलोचन इति शोभननयन इति । व्यपदेशकाम नामारोपण[3] वाञ्छन । अर्थान्तरन्यासः ॥३२॥ चन्द्रेति । चन्द्रोज्झिता चन्द्रेणोज्झिता रहिताम्[4] । घनाना मेघानाम् । वीथीं रथ्या गगनम् । रवि· सूर्य. । अलङ्कुरुते भूषयति[5] । अहसा हसरहिताम् । सरसीं सरोवरम् । सरोजनिकर सरोजाना पद्माना निकर. समूह । [अलङ्कुरुते] कुलपुत्रिकाणा कुलोद्भवाना स्त्रीणाम्[6] । निजसततिबीज स्वस्य सतते सतानस्य बीज कारणम् । पुत्र तनयम् । विहाय त्यक्त्वा[7] । अन्य भिन्न· । मण्डनविधिः अलङ्कारविधि । नास्ति ॥३३॥ तेनेति । निजकुलैकविभूषणेन निजस्य स्वस्य कुलस्य एकेन मुख्येन विभूषणेन अलङ्कारभूतेन । सौभाग्यसौख्यविभवस्थिरकारणेन सौभाग्यस्य सुभगत्वस्य सौख्यस्य सुखस्य विभवस्य ऐश्वर्यस्य स्थिरस्य स्थिते (स्थिरेण दृढेन) कारणेन हेतुना । तेन पुत्रेण । उज्झिता रहिताम् । विपुण्या[8] दु खिताम् (विपुण्या हतभाग्याम्) । माम् । परितर्पयितु सतर्पयितुम् । ज्ञातय बन्धव. । न शक्नुवन्ति न समर्था भवन्ति । सुहृद मित्राणि न शक्नुवन्ति ।

गर्भ धारण करना स्त्रीका धर्म है। इस धर्मके बिना भी जो निरर्थक 'स्त्री' सज्ञाको धारण करती हैं, लोग उनका परिहास करते हैं । उनकी स्थिति ठीक उस मनुष्यके समान हो जाती है, जो अन्धा होकर भी अपना नाम 'सुलोचन' रखवाना चाहता हो । लोग ऐसे व्यक्तिका परिहास 'आँखोके अन्धे नामके नयनसुख' कहकर किया करते हैं ॥३२॥ रात्रिके समय चन्द्रमा आकाशकी शोभा बढाता है और उसके अस्त होते ही दिनमे सूर्य उसकी शोभा बढाता है । इसी तरह हंस सरोवरकी शोभा बढाते हैं और उनके चले जानेपर कमल उसकी शोभा बढाते हैं । किन्तु कुलकी सन्ततिको आगे बढानेके मुख्य कारण स्वरूप पुत्रके बिना कुलवती स्त्रियोंके लिए कोई दूसरा मण्डनका उपाय नही है ॥३३॥ पुत्र कुलका एकमात्र भूषण है, और वही मेरे सौभाग्य, सुख और वैभवका निश्चल कारण है । यदि मैं उससे वचित रहती हूँ, तो मैं बडी अभागिन हूँ । ऐसी दशामे मुझे परिवारके लोग तृप्त नही कर सकते और न मित्र ही । पत्नीके लिए पतिके उपहार तृप्ति जनक होते हैं, किन्तु सखि ! मैं दिलकी बात कहती हूँ, इस समय मुझे उनसे भी तृप्ति नही हो सकती । पुत्र न रहने पर भी मेरे पति देव भले ही प्रसन्न रहें, किन्तु उनके

---

१ आ प्रतावेव स्वस्तिकान्तर्गत पाठ समवलोक्यते । २ =प्राप्नोति । ३ आ श स नामारोपणम् । ४ श स °हितानाम् । ५. आ भूषति । ६ ='कुलस्त्री कुलबालिका' इति हेमचन्द्र । ७ आ विहाय विहान पूर्वं त्यक्त्वा । ८ एष टीकाकारधृत पाठः ।

कृत्वा विषादमिति दु.स्थितचित्तवृत्तिर्दुःखं निवेद्य मयि तल्पतले न्यपप्तत् ।
संबोधितापि न मया बहुभि. प्रकारै' शोकं विमुञ्चति मनागपि देव देवी ॥३५॥
सख्या मुखादिति निशम्य विषादहेतुं नि.श्वस्य किंचिदथ भूमिपतिर्बभाषे ।
शोक' शरीरहृदयेन्द्रियशोषहेतुर्युक्तो न देवि तव वस्तुनि दैवसाध्ये ॥३६॥
दु खेन ते प्रथममस्म्यहमेव दुःखी मद्दुःखतो[1] भवति सर्वजनस्य दु.खम् ।
इत्थं समस्तजनतापरितापहेतोर्मा गा' कृपावति शुचो वशमुद्धतायाः ॥३७॥
जन्मान्तरे शुभमथाप्यशुभं यदेव यैरर्जितं स्वपरिणामवशेन कर्म ।
तद्योग्यमेव फलमिष्टमनीप्सितं वा तै. प्राप्यते किमिति शोचसि हेतुहीनम् ॥३८॥

पतिप्रसादा पत्युर्धवस्य प्रसादा प्रसन्नता । न शक्नुवन्ति ॥३४। कृत्वेति । देव भो स्वामिन् । इति एव प्रकारेण । विषाद शोकम् । कृत्वा विधाय । दु स्थितचित्तवृत्तिः दु स्थिता दैन्य गता चित्तवृत्तिर्मनोव्यापारो यस्या सा । देवी स्वामिनी[2] । मयि (सख्याम्) । दु ख विषादम् । निवेद्य उक्त्वा[3] । तल्पतले शय्यातले । न्यपप्तत् अपतत् । पत्लृ[4] गतौ लुङ् । 卐 'सर्तिशास्तिलिद्युत्पुष्यादे ' अङ्-प्रत्यय. । तद्योगे 'श्वयत्यसवच्-पतोऽङ्घ्यथगुम्पम्' इति पमागम' मया बहुभि. बहुलै । प्रकारै भेदै । सबोधितापि विज्ञापितापि । शोक विषादम् । मनागपि न विमुञ्चति न त्यजति । मुच्लृ मोक्षणे लट्[5] 卐 ।३५॥ सख्या इति । भूमिपति. श्रीषेण । सख्या वालर्मल्या. । विषादहेतु विषादस्य शोकस्य हेतु कारणम् । इति उक्तप्रकारेण । निशम्य श्रुत्वा । किंचित् ईषत् । निश्वस्य निश्वास कृत्वा । अथ अनन्तरम् । बभाषे ब्रवीति स्म । देवि भो देवि । दैवसाध्ये दैवेन पुण्येन साध्ये । वस्तुनि पदार्थे । शरीरेन्द्रियशोषहेतु' शरीरस्य देहस्य हृदयस्य चित्तस्येन्द्रियाणा स्पर्शनादीना शोषस्य सतापस्य हेतु कारणम् । शोक. विषादः । तव भवत्याः । युक्तो न उचितो[6] न भवति ॥३६॥ दु'खेनेति । कृपावति दयावति, कृपा अस्या अस्तीति कृपावती तस्या सबोधनम्[7] । 'अस्त्यस्मिन्नेति मतु ' इति मतु. 'मान्तोपान्त—' इत्यादिना मस्य व , 'नृदुगि—' इति ङी । ते तव । दु खेन शोकेन । प्रथम अहमेव दु खो शोकी । अस्मि भवामि । अस भुवि लट् । मद्दु खत मत् ( ) मम दु खत शोकत । सर्वजनस्य सर्वस्य सकलस्य जनस्य । दु ख विषाद । भवति जायते । इत्थम् अनेन प्रकारेण । समस्तजनता-परितापहेतो. समस्ताया जनताया जनसमूहस्य, 'ग्रामजनबन्धुगजसहायात्तल्' इति तल्, परितापस्य सतापस्य हेतो । उद्धताया प्रवृद्धाया । शुच शोकस्य । वशम् अधीनम्[9] । मा गा मा गम । इण् गतौ लुङ् । 'गैत्योः' इति गादेश ॥३७॥ जन्मेति । यै जनैः । जन्मान्तरे प्रकृतजन्मनोऽन्यज्जन्म[10] जन्मान्तरम् तस्मिन् पूर्वजन्मनि ।

प्रसन्न रहनेसे भी मुझे तृप्ति नही ॥३४॥ इस प्रकार इसे विषाद हुआ, जिसके फल स्वरूप इसका हृदय व्याकुल हो उठा । इसने अपने मनका सारा दुःख मुझे सुनाया फिर पलगपर जा गिरी । राजन् ! मैने इसे नाना प्रकारसे समझाया, किन्तु यह शोकको जरा भी नही छोड रही है ॥३५॥ सखीके मुखसे इस प्रकार रानीके शोकका कारण सुनकर राजाने लम्बी साँस ली और फिर कुछ रुककर रानीसे बोला—देवि ! जो वस्तु भाग्याधीन है, उसके विषयमे तुम्हे शोक करना उचित नही, क्योकि शोक शरीर, हृदय और इन्द्रियोके शोषणका कारण है ॥३६॥ तुम्हारे दु खसे सबसे पहले मैं ही दुखी हो रहा हूँ, और मेरे दु खमे परिवार एव प्रजाके लोगोको भी दु ख होगा । इस तरह तुम्हारा दु ख सबके दु खका कारण है । यदि इन सबके प्रति तुम्हे दया है तो हे दयावति ! इतना अधिक शोक न करो ॥३७॥ अपने-अपने शुभ या अशुभ परिणामोके अनु-

१ क ख ग घ मे दु खतो । २ आ श स देवे स्वामिनि । ३ श स त्यक्त्वा । ४. श म पत् गतौ । ५ आ प्रतौ केवल स्वस्तिकान्तर्गत' पाठ समुपलभ्यते । ६. आ उचितम् । ७ = तत्मवुद्धौ । ८. = पूर्वम् । ९ = अधीनताम् । १० श स अन्यज' ।

अत्यन्तदुर्घटमिदं न हि वस्तुनोऽस्य निष्पत्तिरित्यलसगामिनि मावमंस्थाः ।
संपत्स्यते तव मनोरथ एष शीघ्रमेकान्ततो यदि भवेन्न विधिर्विपक्ष. ॥३९॥
सन्त्येव केवलदृशोऽवधिलोचनाश्च तीर्थे जिनस्य मुनयो विविधर्द्धियुक्ता. ।
जाग्रत्स्वपत्प्रचदलप्रचलच्च विश्वं येषामिदं करतलस्थितवच्चकास्ति ॥४०॥
तेभ्योऽधिगम्य तव सततिलोपहेतुमभ्युद्यतं प्रतिविधातुमहं यतिष्ये ।
कम्रैर्वचोभिरिति लोकपति. प्रियायाः शोकापनोदमकरोत्करदीकृताशः ॥४१॥

स्वपरिणामवशेन स्वस्य[1] परिणामस्य वशेनाधीनतया । शुभ प्रशस्तम् । अथापि अथवा । अशुभम् अप्रशस्त वा यदेव कर्म पुण्यपापरूप कर्म[3] । अर्जित सपादितम्[4] । तै जनै । तद्योग्यमेव तस्य परिणामस्य योग्यमेव । इष्टम् ईप्सितम् । अनीप्सितम् अनिष्ट वा । फल निष्पत्ति[5] (परिणाम) । प्राप्यते नीयते[6] । आप्लृ व्याप्तौ कर्मणि लट् । [इति] हेतुहीन हेतुना कारणेन हीन रहित यथा तथा । किमिति किं कारणम्[7] शोचसि[8] । शुच शोके लट् ॥३८॥ अत्यन्तेति । अलसगामिनि अलस मन्द गच्छतीत्येव शीला तथोक्ता तस्या सबोधनम्[9] तत्सबुद्धौ । इदम् एतत् । अत्यन्तदुर्घटम् अत्यन्तमधिक दुर्घटमसाध्यम् । अस्य वस्तुन अस्य पदार्थस्य । निष्पत्तिर्लाभ. । नहीति नास्तीति । मावमस्था मा बुध्यस्व । यदि विधि पुण्यम् । विपक्ष प्रतिपक्ष । न भवेत् न जायेत । एकान्ततः निश्चयेन । शीघ्र लघु । एष अयम् । मनोरथ मनोऽभीष्ट[10] । सपत्स्यते सभविष्यते(ति) । पदि गतौ लृट्[11] ॥३९॥ सन्तीति । एषा [येषा] मुनीनाम् । जाग्रत् बुध्यमानम् । स्वपत् मुह्यत् । द्रव्यम् [इदम्] । प्रचलत् जङ्गमम् । अप्रचलत् स्थावरम् । विश्व समस्तम् । करतलस्थितवत् करतले हस्ततले स्थितवत् । चकास्ति भासते । केवलदृश[12] केवल दृग् दर्शन ज्ञान येषा ते केवलज्ञानिन । अवधिलोचना. अवधिरेव लोचन नेत्र[13] येषा ते, अवधिज्ञानिन । विविधर्द्धियुक्ता विविधाभि ऋद्धिभिर्युक्ताः सहिता, नाना ऋद्धि प्राप्ता[14] । [ते] मुनय[15] मुमुक्षवश्च । जिनस्य जिनेश्वरस्य । तीर्थे सन्ताने समये इत्यर्थ । सन्त्येव वर्त्तन्त एव ॥४०॥ तेभ्य इति । अह[16] तेभ्य[17] केवलदृगादिभ्य । अधिगम्य ज्ञात्वा । अभ्युद्यतम् उदयगतम् । तव ते । सततिलोपहेतु सतते सतानस्य लोपस्य नाशस्य (अभावस्य) हेतु कारणम् । प्रतिविधातु प्रतिकार कर्त्तुम् । प्रयतिष्ये प्रयत्न करिष्ये । इति एव प्रकारेण । कम्रै मनोहरै । वचोभि वचनै । करदीकृताश. प्रागकरदा इदानीं करदा क्रियन्ते स्म करदीकृता आशा दिशो येन[18] स । लोकपति.

सार जिन्होने पूर्व जन्ममें अच्छे या बुरे जैसे भी कर्म बांधे हैं, वे उन्हीके अनुकूल अच्छे या बुरे फलको प्राप्त करते हैं । ऐसी स्थितिमें तुम व्यर्थ ही शोक क्यो मना रही हो ? ॥३८॥ हे मन्द-गामिनि ! पुत्र होना कठिन है या असम्भव है ऐसा न समझो । यदि भाग्य सर्वथा प्रतिकूल न हुआ तो तुम्हारा यह मनोरथ शीघ्र ही पूरा होगा ॥३९॥ सुपार्श्वनाथके तीर्थमे इस समय केवलज्ञानी, अवधिज्ञानी और नाना ऋद्धियोंके धारी मुनि विद्यमान हैं, जिन्हे मोह निद्रासे जागे हुए और मोह निद्रामे अचेत पडे हुए इस सारे जंगम और स्थावर जगत्का स्पष्ट ज्ञान है । जैसे वह उनकी हथेलीमे स्थित हो ॥४०॥ किस कारणके रहनेसे तुम्हारे सन्तान नही हो रही है, यह उन मुनियोसे जानकर, उसका प्रतिकार करनेके लिए मैं प्रयत्न करूंगा । इस प्रकारके मधुर वचनोसे राजाने रानीका शोक दूर कर दिया । सारा ससार उसे अपना स्वामी समझता था,

१ अ आ इ क ख ग घ म °द्यत । २ आ 'स्वस्य' नास्ति । ३ आ °रूपकर्म । ४ आ मसादितम् । ५ आ °ष्पत्तिम् । ६ = अवाप्यते । ७ = किमर्थं व्यर्थम् । ८ = शोकमनुभवसि । ९ = तत्सबुद्धौ । १० = मनोऽभीष्टम् । ११ श स लट् । १२ आ केवल मुख्य दृक् दृश (?) येषाम् । १३ आ लोचने नेत्रे । १४ आ नानावृद्धिप्राप्ता । = नाना बुद्ध्यादिलब्धिमहिता । १५ स मुनिवरा । १६ = श्रीषेण । १७ श स 'केवल' इति नोपलभ्यते । १८ श स यस्य ।

युक्तोऽन्यदा क्षितिपतिः स निजैः सुहृद्भिरालिङ्गितं समधिगम्य [1]वसन्तलक्ष्म्या ।
क्रीडावनं समवलोकितुमभ्ययासीदुद्दामकौतुकरसप्रसरप्रणुन्नः ॥४२॥
नृत्यच्छिखण्डिनि मृदुक्वणदन्यपुष्टे सुस्वादुसुन्दरफले सुमनःसुगन्धौ ।
तस्मिन्वने शिशिरमन्दमरुत्प्रचारे सर्वेन्द्रियोत्सवकरे विजहार भूपः॥४३॥
अत्रान्तरे पृथुतपःश्रियमुन्नतश्रीरुन्मीलितावधिदृशं सुविशुद्धदृष्टिः ।
तारापथादवतरन्तमनन्तसंज्ञमैक्षिष्ट चारणमुनिं सहसा नरेन्द्रः ॥४४॥
रोमाञ्चचर्चिततनू रभसेन गत्वा भूपस्तमालतरुमूलगतस्य तस्य ।
मूर्ध्ना ननाम गुरुभक्तिभरानतेन संसारसिन्धुतरणौ चरणौ महर्षेः ॥४५॥

जनपतेः[2] । प्रियायाः कान्तायाः । शोकापनोदं शोकस्य दुःखस्य अपनोदं निराकरणम् । व्यकरोत् अदधात् (व्यधात्) । डुकृञ् करणे लङ् ॥४१॥ युक्त इति । अन्यदा अन्यस्मिन् कालेऽन्यदा, एकदा । निजैः स्वकीयैः । सुहृद्भिः बन्धुभिः । युक्तः सहितः । स क्षितिपतिः श्रीषेणभूपतिः । वसन्तलक्ष्म्या वसन्तस्य लक्ष्म्या श्रिया । आलिङ्गितं परिष्वक्तम् । क्रीडावनं क्रीडोद्यानम् । समधिगम्य ज्ञात्वा । उद्दामकौतुकरसप्रसरप्रणुन्नः उद्दाम्नो महतः कौतुकस्याद्भुतस्य रसस्य प्रसरेण प्रवाहेण प्रणुन्नः प्रेरितः सन् । समवलोकितुं समीक्षितुम् अभ्ययासीत् अभ्यगच्छत् । या प्रापणे लुङ् ॥४२॥ नृत्यदिति । भूपः श्रीषेणः । नृत्यच्छिखण्डिनि नृत्यन्तः शिखण्डिनो मयूरा यस्मिन्, तस्मिन् । मृदुक्वणदन्यपुष्टे मृदु मधुरं क्वणन्तो ध्वनन्तोऽन्यपुष्टाः कोकिला यस्मिन् (तत्, तस्मिन्) । सुस्वादुसुन्दरफले सु शोभनः स्वादुः (शोभनः स्वादः) येषां तानि सुस्वादूनि सुन्दराणि मनोहराणि फलानि पक्वानि [फलानि] यस्मिन्, तस्मिन् । सुमनःसुगन्धौ सुमनसां पुष्पाणां सुगन्धौ (सुगन्धिर्यस्मिन्, तस्मिन्) मनोहरपरिमलयुक्ते । शिशिरमन्दमरुत्प्रचारे शिशिरस्य शीतलस्य मन्दस्य मृदोर्मरुतः पवमानस्य प्रचारः संचारो यस्मिन्, तस्मिन् । सर्वेन्द्रियोत्सवकरे सर्वेषामिन्द्रियाणामुत्सवकरे संतोषकरे । वने विजहार । हृञ् हरणे लिट् । जातिः ॥४३॥ अत्रेति । अत्रान्तरे अस्मिन् प्रस्तावे । उन्नतश्रीः उन्नता श्रीर्यस्य सः । विशुद्धदृष्टिः[3] विशुद्धा पञ्चविंशतिमलरहिता दृष्टिर्यस्य सः । स नरेन्द्रः श्रीषेणः । पृथुतपःश्रियं पृथुः (पृथ्वी) महती तपसः श्रीर्यस्य तम् । उन्मीलितावधिदृशं उन्मीलितः उन्निमेषणो[4] अवधिरेव दृग् लोचनं यस्य तम् । तारापथात्[5] आकाशात् । अवतरन्तम् आगच्छन्तम् । अनन्तसंज्ञम् अनन्त इति संज्ञा नाम यस्य तम् । चारणमुनिम् आकाशचारणमुनीश्वरम् । ऐक्षिष्ट ददर्श । ईक्षि दर्शने ॥४४॥ रोमाञ्चेति । रोमाञ्चचर्चिततनुः रोमाञ्चेन रोमहर्षेण चर्चिता तनुः शरीरं यस्य सः । भूपः श्रीषेणः । रभसेन शीघ्रम् । गत्वा प्राप्य ।

और सभी ओरसे उसके पास टैक्स आता था—सभी राजाओंने उसकी अधीनता स्वीकार कर ली थी ॥४१॥ वसन्तकी सुषमाके चारों ओर फैल जानेसे क्रीडावन दर्शनीय हो गया है, यह जानकर श्रीषेणको बड़ा कौतूहल हुआ, जिससे प्रेरणा पाकर वह एक दिन अपने मित्रोंके साथ उसे देखने के लिए गया ॥४२॥ उस क्रीडावनमें मयूर नाच रहे थे, मधुर स्वरमें कोकिल गा रहे थे; अत्यन्त स्वादिष्ट अच्छे-अच्छे फल लगे हुए थे, फूलोंकी भीनी-भीनी सुगन्धि आ रही थी और मन्द-सुगन्ध वायु बह रही थी। इस तरह वह पाँचों इन्द्रियोंको आनन्द दे रहा था। लगता था वहाँ कोई उत्सव मनाया जा रहा है। राजा वहीं पर घूमने लगा ॥४३॥ राजाके पास अटूट सम्पत्ति थी और वह निर्मल सम्यग्दृष्टि था। उसने इसी बीचमें वहाँ आकाशसे उतरते हुए एक चारण ऋद्धिके धारी मुनिको अचानक देखा। वे मुनि बड़े तपस्वी थे और थे अवधिज्ञानी। उनका नाम अनन्त था ॥४४॥ उनका दर्शन करते ही राजाका शरीर पुलकित हो गया।

१ आ द 'रुन्धवग्रन्त' । २. श स लोकपते जनपते । ३. एष टीकाकारकृत. पाठः, प्रतिषु 'सुविशुद्ध दृष्टि' इत्येवास्ति । ४ आ °मेषतः । उन्मेषित. । ५ आ °पदात् । ६ =चारिणम् ।

सोऽध्यात्मनः परिसमाप्य समाधियोगमाशीर्वचांसि निपपाठ विशुद्धपाठः।
संस्नापयन्नरपतिं कुमुदोज्ज्वलेन धर्माभिषेकपयसेव निजस्मितेन ॥४६॥
कृत्वा करावथ स सकुचदब्जकान्ती सप्रश्रयामिति जगाद गिरं क्षितीशः।
दन्तावलीविशदरश्मिवितानकेन लिम्पन्मुनीन्द्रचरणाविव चन्दनेन ॥४७॥
गत्वा सुदूरमपि यस्य विलोकनीयौ पादौ पवित्ररजसौ रजसः क्षयाय।
तस्यागमे तव मुनीन्द्र न हेतुरन्यो मुक्त्वा ममान्यभवसंचितपुण्यपाकम् ॥४८॥

तमालतरुमूलगतस्य तमालस्य तरोर्वृक्षस्य मूलं गतस्य। तस्य महर्षेः महामुनेः। संसारसिन्धुतरणौ संसार एव सिन्धुः समुद्रः तस्य तरणौ[2]। चरणौ पादौ। गुरुभक्तिभरानतेन गुरोर्भक्त्या भरेणातिशयेनानतेन विनतेन[3] मूर्ध्ना शिरसा। ननाम नमति स्म। णम प्रह्वत्वे शब्दे च[4] लिट्। रूपकम् ॥४५॥ स इति। विशुद्धपाठः विशुद्धो दोषरहितः पाठः परमागमोपदेशो यस्य सः। सोऽपि चारणमुनीश्वरः। आत्मनः आत्मस्वरूपस्य। समाधियोगं[5] समाधेर्ध्यानस्य योगं सम्बन्धम्। परिसमाप्य सम्पूर्णयित्वा। धर्माभिषेकपयसेव धर्म एवाभिषेकस्य[6] स्नानस्य[7] पयसेव जलेनेव। रूपकोपमे च[8] कुमुदोज्ज्वलेन कुमुदमिव सितकमल[9]मिवोज्ज्वलेन निजस्य स्वस्य स्मितेन ईषद्धसनेन। नरपतिं श्रीषेणमहीपतिम्। संस्नापयन् स्नानं कारयन्। आशीर्वचांसि आशिषः इष्टप्रशंसनस्य वचांसि वचनानि। निपपाठ निरूपयति स्म। पठ व्यक्तायां वाचि लिट् ॥४६॥ कृत्वेति। अथ आशीर्वादानन्तरम्। स क्षितीशः श्रीषेणभूपतिः। सकुचदब्जकान्ती सकुचतो मुकुलितस्याब्जस्येव कान्तिर्ययोस्तौ। करौ हस्तौ। कृत्वा विरचय्य। दन्तावलीविशदरश्मिवितानकेन दन्तानां दशनानामावल्या समूहस्य (पङ्क्तेः) विशदानां धवलानां रश्मीनां कान्तीनां वितानकेन निवहेन। चन्दनेनेव श्रीगन्धेनेव[10] मुनीन्द्रचरणौ मुनीन्द्रस्य अनन्तमुनीश्वरस्य चरणौ पादौ। लिम्पन्। लेपनं कुर्वन् (चर्चयन्)। सप्रश्रयां विनयसहिताम्। गिरं वाणीम्। इति वक्ष्यमाणप्रकारेण। जगाद बभाषे। गद व्यक्तायां वाचि लिट्। उत्प्रेक्षा ॥४७॥ गत्वेति। मुनीन्द्र मुनीश। यस्य मुनीशस्य। पवित्ररजसौ पवित्रं रजो धूलिर्ययोस्तौ

फलत ऐसा जान पडता था मानो उस पर कोई लेप किया गया हो। वह शीघ्र ही उस तमाल वृक्षके नीचे पहुँचा, जिसके नीचे वे मुनिराज जा पहुँचे थे। वे अपने समयके बहुत बडे ऋषि थे। उनके चरण ससार सागरसे पार उतारने वाले थे। उन चरणोमे राजाने अपना मस्तक झुकाकर भक्तिपूर्वक प्रणाम किया ॥४५॥ जिस समय राजाने प्रणाम किया, उस समय वे मुनिराज समाधिमग्न थे। समाधि समाप्त होनेके बाद उन्होने स्पष्ट शब्दोमे शुद्ध पाठ किया और फिर आशीर्वादके शब्द (धर्मवृद्धिरस्तु—धर्मकी वृद्धि हो) राजासे कहे। जिस समय वे आशीर्वादके शब्द कह रहे थे, उस समय उनके मुखपर मुसकान थी। मुसकानकी प्रभा कुमुद सरीखी सफेद थी। राजाके ऊपर उसके पडनेसे ऐसा जान पडता था मानो वे धर्माभिषेकके जलसे उसे स्नान करा रहे हो ॥४६॥ मुनिराजका आशीर्वाद प्राप्तकर राजा श्रीषेण अपने दोनो हाथोको मुकुलित कमलकी कलीके आकारमे जोडकर उनसे विनयपूर्वक यो बोला—। बोलते समय उसके दातोकी स्वच्छ किरणें मुनिराजके चरणोपर पड रही थी, अत ऐसा जान पडता था मानो वह उनके ऊपर चन्दनका लेप कर रहा हो ॥४७॥ मुनिराज! आपके चरण अत्यन्त पवित्र हैं। वे जिस मार्गसे चलते हैं उसकी धूलिको पवित्र कर देते हैं, और चलते समय

---

१ =तलम्। २ =तारकौ। ३ आ गुरुभक्तिभरान्वितेन गुरोर्भक्त्या भरेणातिशयेन गतेन विनयेन। ४ आ णमु प्रह्वत्वे शब्दे। ५ आ समयोगम्। ६ =धर्माभिषेकस्य। ७. =धर्मस्नानस्य। ८ =रूपकमुपमा च। ९ आ °तकुवलय°। १० =श्रीखण्डेनेव।

सा च प्रणश्यति न तावदसौ न यावत्पुत्रो भवत्यरिकुलोन्मथनैकवीरः ।
पुत्रोदयेऽपि भवतोऽस्ति विबन्धहेतुरन्यो भवान्तरगतं शृणु तं ब्रवीमि ॥५२॥
एषा तवाग्रमहिषी पुटभेदनेऽभूदत्रैव पूर्वमभिनन्दितसर्वबन्धोः ।
देवाङ्गदस्य वणिजस्तनया सुनन्दा श्रीकुक्षिजा गुणगणाभरणाभिरामा ॥५३॥
सान्यां विलोक्य नवयौवन एव नारीं गर्भेण पीडिततनुं गलिताङ्गशोभाम्[६] ।
जन्मान्तरेऽपि वयसि प्रथमेऽहमीदृङ्मा भूवमित्यकृत मन्दमतिर्निदानम् ॥५४॥

यन्मानम् अस्य यावत् । 'यत्तद' इति वतु-प्रत्यय, घस्य व । तव ते । चेतसि चित्ते । सूनुवाञ्छा सूनो पुत्रस्य वाञ्छा अभिलाष । स्फुरति प्रवर्त्तते । तावत् पर्यन्तम् । त्व भवान् । विरति वैराग्यम् । न यासि न गच्छसि । या प्रापणे लट् ॥५१॥ सा चेति । यावत्[१] यावत्पर्यन्तम् । अरिकुलोन्मथनैकवीर अरीणा शत्रूणा कुलस्य समूहस्योन्मथने निराकरणे एकोऽसहायो वीर शूर । असौ पुत्र तनय. । न भवति न जायते । तावत् तावत्पर्यन्तम् । सा च चिन्ता । न प्रणश्यति न विनश्यति । पुत्रोदये च पुत्रस्य नन्दनस्योदये उत्पत्तौ च । भवत तव । भवान्तरगत जन्मान्तरगत । अन्य अपर । निबन्धहेतु निबन्धस्य निरोधस्य हेतु । अस्ति वर्त्तते । त हेतुम् । ब्रवीमि निगदामि । शृणु आकर्णय श्रु श्रवणे लोट् ॥५२॥ एषेति[२] । तव ते । अग्रमहिषी श्रेष्ठमहिषी । एषा इयम् । पूर्व प्राक् । अत्रैव अस्मिन्नेव । पुटभेदने पत्तने । 'पत्तन पुटभेदनम्' इत्यमर । श्रीकुक्षिजा श्रिया श्रीनामधेयाया कुक्षिजा गर्भजाता । गुणगणाभरणाभिरामा गुणाना गण. समूह स एवाभरणमलकारस्तेनाभिरामा मनोहरा । अभिनन्दितसर्वबन्धो अभिनन्दिता[३] सतोषिता सर्वे बन्धवो यस्यास्तस्याः[४] । देवाङ्गदस्य देवाङ्गदनामधेयस्य । वणिज वैश्यस्य । सुनन्दा सुनन्देति । तनया कुमारी । अभूत् अभवत् । भू सत्ताया लुङ् । रूपकम् ॥५३॥ सेति । मन्दमति मन्दा मतिर्यस्या सा । सा सुनन्दा । नवयौवन एव नवे नूतने यौवन एव तारुण्य एव । गर्भेण[५] पुत्रयुतगर्भेण । पीडिततनु पीडिता बाधिता तनुर्यस्या ताम् । गलिताङ्गशोभा[६] गलिता शिथिलिताऽङ्गस्य शोभा यस्यास्ताम् । अन्याम् एकाम् । नारीं वनिताम् । विलोक्य दृष्ट्वा । जन्मान्तरेऽपि उत्तरभवेऽपि । प्रथमे वयसि यौवनकाले । अहम् । ईदृक् इयमिव दृश्यत इतीदृक्, एतत्प्रकारावयवयुक्ता । मा भूव मा जनिषम्[७] न भविष्यामि, इति निदान निदानशल्यम् । अकृत

गये और वे उससे यो बोले—राजन् ! जब तक तुम्हारे मनमे पुत्रकी अभिलाषा बनी रहेगी, तब तक तुम्हे वैराग्य नही हो सकता ॥५१॥ राजन् ! तुम्हारे चित्तकी चिन्ता तबतक नही मिट सकती जब तक कि शत्रु वर्गके छक्के छुडानेवाले अद्वितीय वीर पुत्रका जन्म तुम्हारे यहाँ नही होता । तुम्हारे यहाँ पुत्रकी उत्पत्तिमे भी रुकावट डालनेवाला कारण कुछ और ही है, जिसका सम्बन्ध पिछले जन्मसे है । मैं उसे बताता हूँ, तुम सुनो ॥५२॥ तुम्हारी यह पट्टरानी (श्रीकान्ता) पिछले जन्ममे इसी नगरमे उत्पन्न हुई थी । इसके पिताका नाम देवागद था । वे जातिके वणिक् थे । उनके सभी बन्धु उनसे प्रसन्न रहते थे । उनकी पत्नीका नाम श्री था । उसीके गर्भसे सुनन्दा नामकी गुणवती सुन्दर कन्या उत्पन्न हुई थी, जो इस समय आपकी पट्टरानी है ॥५३॥ उस सुनन्दाने यौवनके प्रारम्भमे ही एक स्त्रीको देखा, जिसका शरीर गर्भके कारण पीडित और श्रीहीन था । उसे देखकर उस (सुनन्दा) ने यह निदान बाँध लिया कि

---

१ श स 'यावत्' इति नास्ति । २ श स वक्षेति । ३ °सदिता । ४ श स यस्य तस्य । = येन तस्य । ५ = गर्भधारणेन । ६ अ °ङ्गलाभाम् । ७. श स मा जनि । = न स्याम् ।

सागारधर्मनिरता प्रतिपद्य कालं सौधर्मकल्पमुपगम्य बभूव देवी ।
च्युत्वा ततः पुनरभूदिह पुण्यशेषाद्दुर्योधनस्य दुहिता भवतश्च पत्नी ॥५५॥
तस्माद्भवान्तरभवादशुभान्निदानादस्या वयो नवमगादनपत्यमेव ।
कैश्चिद्दिनैः प्रशममीयुषि तस्य दोषे निःसंशयं तव भविष्यति पुत्रजन्म ॥५६॥
तस्मिन्मृगाङ्क इव सर्वमनोभिरामे सूनौ निधाय पृथुधाम्नि धुरं धरित्र्याः ।
संपत्स्यसे त्वमधिगम्य जिनेन्द्रदीक्षां सिद्धालयातिथिरशेषितकर्मबन्धः ॥५७॥
संक्षेपतो गिरमिमामभिधाय सम्यगानन्द्य भूमिपतिमिष्टनिवेदनेन[1] ।
धामेप्सितं मुनिरगान्नृपतिश्च राजधानीमणुव्रतविभूषणभूषिताङ्गः ॥५८॥

अकुरुत । डुकृञ् करणे लुङ् ॥५४॥ सेति । सा सुनन्दा । आ[सा]गारधर्मनिरता । आगारधर्मे श्रावकाचारे निरता तत्परा । काल मरणम् । प्रतिपद्य प्राप्य । सौधर्मकल्प सौधर्मनामस्वर्गम् । उपगम्य एत्य । देवी देवस्त्री । बभूव भवति स्म । भू सत्ताया लिट् । तत सौधर्मकल्पात् । पुन पश्चात् । च्युत्वा आगत्य । इह अस्मिन् पुरे । पुण्यशेषात् पुण्यस्य सुकृतस्यावशेषात् । दुर्योधनस्य दुर्योधनराजस्य । दुहिता पुत्री । भूत्वा । भवतश्च तव । पत्नी भार्या । अभूत् अभवत् ॥५५॥ तस्मादिति । भवान्तरभवात् भवान्तरे जन्मान्तरे भवात् जनितात्[2] । अशुभात् अप्रशस्तात् । तस्मात् निदानात्, प्रागुक्तनिदानशल्यात् । अस्या देव्या । नवं प्रथमम् । वय यौवनकाल । अनपत्यमेव न विद्यतेऽपत्यं सतानो यस्मिन् तत्, सतानरहित सत् आगात् अगच्छत् । इण् गतौ लुङि 'गैत्यो' इति गादेश. । तस्य निदानशल्यस्य । दोषे कर्मणि । कैश्चिद् दिनै. दिवसै । प्रशम शान्तिम् । ईयुषि इयाय इति इयान् तस्मिन् । 'लिट क्वसुकानो' इति क्वसु , 'क्वस उस्' इति उस् । तव भवत । पुत्रजन्म पुत्रस्य नन्दनस्य जन्म जननम् । नि सशय सन्देहरहितम् । भविष्यति । भू सत्तायां लृट् ॥५६॥ तस्मिन्निति । मृगाङ्क इव चन्द्र इव । सर्वमनोऽभिरामे सर्वेषा जनाना मनसश्चित्तस्याभिरामे विराजमाने[4] पृथुधाम्नि पृथु महद् धाम तेजो यस्य तस्मिन्, महातेजस्विनीत्यर्थ । तस्मिन् सूनौ तत्पुत्रे । धारित्र्या भूमे । धुरं भारम् । निधाय सस्थाप्य । त्व भवान् । जिनेन्द्रदीक्षा जिनेन्द्रस्य दीक्षाम्, दिगम्बर-रूपमित्यर्थ । अधिगम्य गृहीत्वा । अशेषितकर्मबन्धः अशेषितो निर्मूलित कर्मणा बन्धो येन सः । सिद्धालयातिथिः सिद्धाना मुक्तानामालयो मोक्षस्तस्यातिथिरुत्सवहेतु । संपत्स्यते सभविष्यसि । पदि गतौ लृट् ॥५७॥ संक्षेपत इति । मुनि मुनिपति । सक्षेपत[5] सवृतत । इमाम् एताम्[6] । गिर वाणीम् । सम्यक् समीचीनम् । अभिधाय उक्त्वा । इष्टनिवेदनेन[7] इष्टस्य समीहितस्य निवेदनेन निरूपणेन । भूमिपतिं श्रीषेणमहाराजम् ।

जन्मान्तरमे भी मैं युवावस्थामे इस जैसी न होऊँ । नादान जो ठहरी ॥५४॥ निदान बांध लेनेके बाद उसने जीवन भर गृहस्थ धर्मका पालन किया और अन्तमे जीवन लीला समाप्त होनेपर वह सौधर्म स्वर्गमे देवी हुई । वहाँसे च्युत होकर शेष पुण्यके फलसे दुर्योधनकी पुत्री और आपकी पत्नी हुई ॥५५॥ पिछले जन्मके उसी अशुभ निदानके निमित्तसे इसका नवयौवन बिना सन्तानके ही बीत गया है । अब थोडे ही दिनोमे उस निदान-दोषके शान्त होते ही तुम्हारे यहाँ पुत्रका जन्म होगा । इसमे कोई सशय नहीं ॥५६॥ वह पुत्र चन्द्रमाके समान सबके चित्तको आह्लाद देनेवाला और (सूर्यके समान) बहुत तेजस्वी होगा । उसीको अपना राज्य भार सौंपकर तुम दिगम्बर-दीक्षा ले लोगे । इसके बाद अष्ट कर्मो को नष्ट कर तुम सिद्धालयके अतिथि-मुक्त हो जाओगे ॥५७॥ सक्षेपमे इतना कहकर और पुत्रोत्पत्तिकी सूचना देकर मुनिराजके दर्शनो और उनके वचनोंसे राजा बहुत प्रभावित हुआ । फलतः उसने अपने मनमे पाँच अणु-

१ अ आ इ म निबन्धनेन । २ आ चिकितात् । ३. आ एयिवान् । ४ = रञ्जके । ५ = समासतः । ६ आ एषाम् । ७ टीकाकारधृत पाठ, प्रतिषु 'इष्टनिबन्धनेन' इत्येव पाठ समुपलभ्यते ।

पुंसां पुरोपचितपुण्यनिबद्धमिष्टमित्याकलय्य निबबन्ध मतिं स धर्मे ।
तत्रोत्सुकं[5] भवति भाग्यवतां हि चेतो यत्संपदां नियतमङ्गमनागतानाम् ॥५९॥
दानेन संयमिजनस्य जिनार्चनेन तस्य प्रभोरविरत नयतो दिनानि ।
प्रक्षोभिताखिलसुरासुरनागलोकं नान्दीश्वरं परमपर्व समाससाद ॥६०॥
तस्मिन्विधाय महतीमुपवासपूर्वां[2] पूजां जगद्विजयिनो जिनपुंगवस्य ।
स्नानं समीहितनिमित्तमत[3]स्तदीयबिम्बस्य स प्रविदधे सहितोऽग्रदेव्या ॥६१॥

आनन्द्य सतोष्य । ईप्सितम् अभीष्टम् । धाम स्थानम् । अगात् अगमत् । अणुव्रतविभूषणभूषिताङ्ग अणूनि च तानि व्रतानि च तथोक्तानि, श्रावकव्रतानीत्यर्थ , तान्येव विभूषणानि तैर्भूषितम् अङ्ग यस्य स । रूपकम् । नृपतिश्च श्रीषेणभूपश्च । राजधानीं निजपुरम् । अगात् । दीपकम् ॥५८॥ पुसामिति । पुमा पुरुषाणाम् । इष्टम् अभीष्टम् । पुरोपचितपुण्यनिबद्ध पुरोपचितेन प्राक्सपादितेन पुण्येन निबद्ध कृतम् । इति एव प्रकारेण । आकलय्य विचार्य । स भूपति । धर्मे [4]सर्वज्ञप्रणीतधर्मे । मति बुद्धिम् । निबबन्ध चकार । बन्ध बन्धने लिट् । तथाहि—यत् अनागताना भविष्यता सपदाम्[5] नियत निश्चयम् । अङ्ग कारणम् । तत्र धर्मे । भाग्यवता पुण्यवताम्[6] । चेत चित्तम् । उत्सुक सभ्रमयुक्तम्[7] भवति हि । अर्थान्तरन्यासः ॥५९॥ दानेनेति । सयमिजनस्य[8] सयम्येव जनस्तस्य । रूपकम् (?) दानेन आहारादिदानेन जिनार्चनेन जिनेन्द्रपूजनेन । अविरतम् अनवरतम् । दिनानि वासरान्[9] । नयत यापयत । तस्य प्रभो श्रीषेण भूपते । प्रक्षोभिताखिलसुरासुरनागलोक सुराश्चासुराश्च नागाश्च तेषा लोकस्तथोक्त, प्रक्षोभित सभ्रमितोऽखिल सुरासुरनागलोको येन तत् । नान्दीश्वर नन्दीश्वरस्येद नान्दीश्वरम् । परमपर्व परमम् उत्कृष्ट पर्व तिथि[10] समाससाद सम्यगाजगाम । षद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु लिट् । सहामितः (?) ॥६०॥ तस्मिन्निति । अग्रदेव्या श्रीकान्तया । सहित सयुक्त । स श्रीषेण । तस्मिन् नन्दीश्वरपर्वणि । जगद्विजयिन जगद्विजयशीलस्य । जिनपुङ्गवस्य जिनश्चासौ पुङ्गवश्च (?) जिनानामप्रमत्तादिक्षीणकषायावसानैकदेश जिनाना पुङ्गवस्तथोक्त, तस्य जिनेन्द्रस्य । उपवासपूर्वाम् उपवास पूर्वं मुख्य यस्या[11] ताम् । महती[12] पृथुलाम् पूजाम् अर्चनाम् । विधाय कृत्वा । अत पश्चात् । तदीयबिम्बस्य तदीयस्य जिनपुङ्गवसबन्धस्य बिम्बस्य । समीहितनिमित्त समीहितस्याभीष्टफल-

व्रतोंके परिपालन करनेका सकल्प किया, और वह सोचने लगा कि वास्तविक आभूषण गुण ही हैं । यह सोचते हुए वह भी अपनी राजधानीमे चला गया ॥५८॥ मानवका मनोरथ पूर्वोपार्जित पुण्यसे ही पूरा होता है, यह सोचकर राजाने अपनी बुद्धिको धर्ममे लगा दिया । सच है भाग्यवानोका मन उस कार्यमे उत्सुक होता है, जो भविष्यमे होनेवाली कल्याण-सम्पत्तिका निश्चित कारण हो ॥५९॥ राजाके दिन जिनेन्द्रदेवकी पूजा और साधु-सन्तोको दान देनेमे बीतने लगे । वह इन धार्मिक कार्योंको अविराम गतिसे कर रहा था । इतनेमे सर्वोत्कृष्ट आष्टाह्निक पर्व आ गया । फिर क्या था ऊर्ध्व मध्य और अधोलोकमे उत्सवकी तैयारी होने लगी और क्या सुर, क्या असुर क्या धरणेन्द्र सभीके मनमे आनन्दका सागर लहराने लगा ॥६०॥ उस पर्वके अवसरपर राजाने अपनी पट्टरानीके साथ आठ उपवास किये और आठ दिन जगद्विजयी जिनेन्द्रदेवकी बडी भारी (महामह) पूजा की और इसके पश्चात् उसने इष्टसिद्धिके

१. अ क ख ग घ म °न्मुखम् । २ भ °वासपूर्वं । ३ अ क ख ग घ म °मथस्त° । ४ श स धर्मज्ञ° । ५ आ प्रतौ 'सपदाम्' इति नोपलभ्यते । ६ आ 'पुण्यवताम्' इति नास्ति । ७ = उत्कण्ठितम् । ८ = सयमिना सयमवता जनो वर्ग सघो वा तस्य । ९ आ वासरा । १०. = आष्टाह्निकमहोत्सव । ११ श स यस्या । १२ = विपुलाम् ।

प्रह्लादनं विदधती शशिनः कलेव संपादयन्त्यभिमतं कुलदेवतेव ।
गर्भं कियद्भिरथ सा दिवसैर्बभार मुक्ताफलं परममम्बुधिशुक्तिकेव ॥६२॥
किंचिद्वपुः शिथिलतामगमत्तदानीमापाण्डुरं वदननीरुरुहं बभूव ।
गर्भस्थबालगुणभूरिभरादिवागान्मन्दापि मन्दतरतां गतिरायताक्ष्याः ॥६३॥
नीलाननं प्रसृतपाण्डिम धारयन्ती वक्षोरुहद्वयमधःकृतचन्द्रकान्ति ।
गन्धान्धषट्चरणचुम्बितपद्मयुग्मामम्भोजिनीमनुचकार चकोरचक्षुः ॥६४॥
सर्पत्कुचद्वयविपाण्डुरतागुणेन हारो हृतद्युतिरिवास्य मुखे चकार ।
संघर्षणेन मलयोजनिकां कुतोऽपि निर्मत्सरो हि विरलो गुणिनां गुणेषु ॥६५॥

प्राप्तेर्निमित्त कारणम् । स्नानम् अभिषेकम् । प्रविदधे प्रचक्रे । डुधाञ् धारणे च लिट् ॥६१॥ प्रह्लादनमिति । शशिन चन्द्रस्य । कलेव षोडशभाग इव । प्रह्लादन सतोषम् । विदधती[3] । कुलदेवतेव अन्वयागतदेवतेव । अभिमतम् अभीष्टम् । सपादयन्ती सविन्वती । सा श्रीकान्ता । अथ नन्दीश्वरानन्तरम्[4] । कियद्भि कतिभि[5] । दिवसै दिनै । अम्बुधिशुक्तिका अम्बुधौ समुद्रे विद्यमाना शुक्तिका । परमम् उत्कृष्टम् । मुक्ताफल मुक्तामणिमिव । गर्भं शिशुम् । बभार दधौ । भृञ् भरणे लिट् । उत्प्रेक्षा (उपमा) ॥६२॥ किञ्चिदिति । तदानीं गर्भसमये । आयताक्ष्या आयते दीर्घे अक्षिणी नेत्रे यस्या तस्या श्रीकान्ताया । वपुः गात्रम् । किञ्चित् ईषत् । शिथिलता कृशत्वम् । अगमत् अगच्छत् । गम्लृ गतौ लुङ् । 'सर्तिशास्ति–' इत्यादिना अङ् । वदननीरुरुह् वदन मुखमेव नीरुरुह् कमलम् । आपाण्डुर किञ्चिच्छ्वेतम् । बभूव भवति स्म । भू सत्ताया लिट् । गर्भस्थबालगुणभूरिभरादिव गर्भस्थस्य गर्भे स्थितस्य बालस्य शिशोर्गुणाना भूरेर्बहुलाद्भरादिव भारादिव । मन्दा [पि] अलसा [पि] गतिर्गमनम् । मन्दतरताम् । अत्यन्तमन्दत्वम् । अगात् अयासीत् । उपमा (उत्प्रेक्षा) ॥६३॥ नीलेति । नीलानन नील कृष्णम् आनन कुचाग्र[6] यस्य तत् । प्रसृतपाण्डिम विस्तृतपाण्डिम, शुभ्रत्वयुक्तम् । अधःकृतचन्द्रकान्तीव [न्ति] अध कृता तिरस्कृता चन्दस्य कान्ति शोभा यस्य (येन) तदिव (तत्) । वक्षोरुहद्वय वक्षोरुहयोर्द्वय युगलम् । धारयन्ती दधती । चकोरचक्षु चकोर इव चक्षुषी यस्याः सा श्रीकान्ता । गन्धान्धषट्चरणचुम्बितपद्मयुग्मा गन्धेन परिमलेनान्धैरासक्तै षट्चरणैश्चञ्चरीकैश्चुम्बित पद्मयो कमलयोर्युग्म युगल यस्यास्ताम् । अम्भोजिनीं नलिनीम् । अनुचकार[7] स्वीकृता । डुकृञ् करणे लिट् । उपमा ॥६४॥ सर्पदित्यादि । सर्पत्कुचद्वयविपाण्डुरतागुणेन कुचयोर्द्वय

निमित्तसे उसने जिनबिम्ब-जिनमूर्तिका अभिषेक किया ॥६१॥ पर्वके पश्चात् रानी चन्द्रमाकी कलाकी भाँति सबको आह्लाद देने लगी और कुल देवताकी तरह सबके मनोरथको पूरा करने लगी। फिर कुछ दिनोंके बाद उसने गर्भ धारण किया। जैसे समुद्रकी सीप उत्तम मोतीको धारण करती है ॥६२॥ गर्भके समय उस रानीका शरीर कुछ शिथिल हो गया और उसका मुखकमल भी सफेद हो चला। यो उसकी चाल पहलेसे ही धीमी थी किन्तु इन दिनोमे और भी धीमी हो गयी। मानो गर्भस्थ बालकके गुणोका भारी बोझ हो गया हो ॥६३॥ उस चकोराक्षी रानीके स्तनोका अगला भाग बिलकुल काला और शेष सभी भाग सभी ओरसे सफेद हो गया। ऐसी स्थितिमे उसने चन्द्रमाकी शोभाको मात कर दिया। इन दिनोमे उसने उस कमलिनीका अनुसरण किया, जिसमे दो सफेद कमल खिले हो और दोनोंके बीचो-बीच उनकी सुगन्धिमे आसक्त होकर भौंरोका मण्डल बैठा हुआ हो ॥६४॥ रानीके दोनो स्तनोकी

---

१ क ख ग घ म हृतद्युति । २. अ क ख ग घ कृशोऽपि । ३ = कुर्वन्ती । ४ = नन्दीश्वरपर्वसमाप्त्यनन्तरम् । ५ = कतिपयैः । ६ = [illegible] । ७ = अनुसार ।

जृम्भाभवत्सततसंनिहिता सखीव नान्तं मुमोच परमित्रमिवालसत्वम् ।
लज्जाभरः सममगादुदरेण वृद्धिमभ्युद्यमः सह ननाश वलित्रयेण ॥ ६६ ॥
नीलोत्पलानि निजया विजितानि तावत्कान्त्या मया सहजया सह पुण्डरीकैः ।
स्पर्धेऽधुनात्वहमितीव विचिन्त्य तस्या नेत्रद्वयं धवलतामगमत्कृशाङ्ग्याः ॥ ६७ ॥
गर्भस्थितस्य जननान्तरबीजबन्धं बालस्य तस्य वचनेन विना वदन्ति ।
तस्याः शिरीषसुकुमारतनोर्बभूवुरेकान्ततोऽपि जिनपूजनदौहृदानि ॥ ६८ ॥

कुचद्वयं तस्य विपाण्डुरता एव गुणः सर्वश्चासौ कुचद्वयस्य विपाण्डुरतागुणश्च तेन । हृतद्युतिरिव हृतापहृता द्युतिर्यस्य स इव । हार मुक्ताहारः । सघर्षणेन समर्दनेन । अस्य कुचद्वयस्य । मुखे अग्रे । मलयोजनिका मलस्य योजनिकाम् । चकार करोति स्म । डुकृञ् करणे लिट् । गुणिना गुणसहितानाम् । गुणेषु । कुतोऽपि कस्मादपि [हेतो] निर्मत्सर मत्सररहित । विरल अल्पो हि । अर्थान्तरन्यास[3] ॥६५॥ जृम्भेति । जृम्भा जृम्भणम् । सखीव वयस्येव । सततसंनिहिता सततं संनिहिता समीपस्था । अभवत् अभूत् । भू सत्तायां लङ् । अलसत्वम् आलस्यम् । परममित्रमिव मित्रश्रेष्ठ इव । अन्तं समीपम् । न मुमोच न त्यजति स्म । मुच्लृ मोक्षणे लिट् । लज्जाभर लज्जायास्त्रपाया भरो भारोऽतिशयो वा । अधरेण[4] रदनच्छदेन । सम साकम् । वृद्धिं समृद्धिम् । अगात् अगमत् । इण् गतौ लुङ् । अभ्युद्यम उद्योगः । वलित्रयेण सह त्रिवलिना[5] साकम् । ननाश नश्यति स्म । नश अदर्शने लिट् । उपमालङ्कार[6] ॥६६॥ नीलेति । मया निजया स्वकीयया । सहजया सहजातया । कान्त्या[7] किरणेन । नीलोत्पलानि कुमुदानि । तावत् प्रथमम् । विजितानि निराकृतानि । अधुना इदानीं तु । अहं पुण्डरीकैः सह सिताम्भोजैः साकम् । स्पर्धे सघर्षणं करोमि । स्पर्द्ध संघर्षे लट् । इति एवम् । विचिन्त्यैव ध्यात्वैव (विचिन्त्येव ध्यात्वेव) । कृशाङ्ग्या तन्वङ्ग्या । तस्या श्रीकान्ताया । नेत्रद्वय नयनयुगलम् । धवलता शुभ्रत्वम् । अगमत् अगात् । गम्लृ गतौ लुङ् । उत्प्रेक्षा ॥६७॥ गर्भेति । शिरीषसुकुमारतनो शिरीषमिव सुकुमारा तनुर्गात्रं यस्या सा तस्या. । तस्या[8] श्रीकान्ताया । गर्भस्थितस्य गर्भे कुक्षौ स्थितस्य । तस्य बालस्य । जननान्तरबीजबन्ध[9] जननान्तरमेव बीजं कारणं यस्य स चासौ

सफेदी चारो फैल रही थी और उनके ऊपर पडे हुए हारकी कान्ति लुप्त हो गयी । अतएव ऐसा जान पडता था मानो उसे स्तनोकी सफेदीने हर लिया हो । और इसीलिए लगता है कि उस (हार) ने उनके मुखपर खूब मलकर कज्जल पोत दिया है (स्तनोका अग्रभाग बिलकुल काला पड गया था, इसीलिए यह कल्पना की गयी है) । सच तो यह है कि गुणियोके समुदायमे भी ऐसे विरले ही होते हैं, जो किसीसे भी डाह न करते हो ॥६५॥ जमुहाई सखीकी तरह निरन्तर उसकी निकटवर्तिनी हो गयी— सदा जमुहाईयाँ आने लगी । अच्छे मित्रके समान आलस उसके पाससे नही हटता था । पेटके साथ लज्जा बढ गयी और उदरकी तीन वलियोके साथ स्फूर्ति लुप्त हो गयी ॥६६॥ 'हमने अपनी स्वाभाविक कान्तिसे नीलकमलोको पहले ही जीत लिया है, अब केवल सफेद कमलोसे ही हमे डाह है' मानो यही सोचकर उस कृशागी रानीके दोनो नेत्र सफेद हो गये ॥६७॥ रानी पहलेसे ही सुकुमारशरीरा थी, पर इस अवस्थामे उसका शरीर शिरीष पुष्पके समान और भी अधिक सुकुमार हो गया, और

---

१ क ख ग घ म °नात्वहं° । २ श प्रतावेव 'गुणेषु' इति समुपलभ्यते । ३ आ प्रतौ केवलम् 'अर्थान्तरन्यास' इति । ४ 'अधरेण' इति टीकाकारसमत पाठ, सर्वास्वपि प्रतिषु 'उदरेण' पद समुपलभ्यते । ५ =त्रिवल्या । ६ =सहोक्तिश्च । ७ =दीप्त्या । ८ आ प्रतौ केवल 'तस्या' इति समुपलभ्यते । ९ श स °सबन्धम् ।

प्राप्ते प्रसूतिसमयेऽथ तिथौ शुभायामुच्चस्थितेषु सकलेषु शुभग्रहेषु ।
सा भावितीर्थकरमुज्ज्वलदेहदीप्तिप्रध्वस्तितान्धतमसं सुषुवे कुमारम् ॥ ६९ ॥
शुभ्रं नभोऽभवदभीषुमतीव तस्मिन्नभ्युद्गते परमधामनिधानभूते ।
लक्ष्मीः सरःकमलिनी सहसाभ्यनन्ददाशाङ्गना मलिनिमापगमाद्विरेजुः ॥ ७० ॥
निःशेषमम्बुधरधीरगभीरनादैस्तूर्यैर्बभूव मुखरं नरनाथवेश्म ।
पौरो जनस्त्वरितमेव निजे निजेऽसौ गेहे महोत्सवमकारयत प्रहृष्टः ॥ ७१ ॥

बन्धश्च[1] संबन्धश्च तम् (जननान्तरस्य बीजबन्धं संस्कारविशेषम्)। वचनेन विना वचसा विना। वदन्ति ब्रुवन्ति। जिनपूजनदौहृदानि जिनस्य जिनेश्वरस्य पूजने पूजाया दौहृदानि[2] दोहलानि। एकान्तत निश्चयादपि। बभूवु भवन्ति स्म। भू सत्ताया लिट् ॥६८॥ प्राप्त इति। सा श्रीकान्ता। अथ अनन्तरम्। प्रसूतिसमये प्रसवकाले। प्राप्ते आयाते। शुभाया प्रशस्ताया। तिथौ[3]। सकलेषु सर्वेषु। शुभग्रहेषु प्रशस्तग्रहेषु। उच्चे उन्नते[4] स्थितेषु—उच्चग्रहेषु। भावितीर्थकर भाविन भविष्यन्त तीर्थकर तीर्थेश्वरम्। उज्ज्वलदेहदीप्तिप्रध्वंसितान्धतमसम् उज्ज्वलस्य दीप्तस्य देहस्य दीप्त्या कान्त्या प्रध्वसित विनाशितमन्धतमस यस्य [येन] तं कुमार बालकम्। सुषुवे प्रसूते स्म। षूङ् प्राणिप्रसवे लिट् ॥६९॥ शुभ्रमिति। अभीषुमतीव अभीषुरस्यास्तीत्यभीषुमान्[5] तस्मिन्, सूर्ये इव। परमधामनिधानभूते परमस्योत्कृष्टस्य धाम्नस्तेजसो निधानभूते निधिभूते। तस्मिन् कुमारे। अभ्युदिते[6] उदिते सति। नभ आकाशम्। शुभ्र निर्मलम्। अभवत् अभूत्। लक्ष्मी. शोभारूपा। सर कमलिनी[7] सरसि सरोवरे स्थिता कमलिनी नलिनी। सहसा शीघ्रम्। अभ्यनन्दत् अविकसत्। टुनदु समृद्धौ लङ्। आशाङ्गना दिगङ्गनाः। मलिनिमापगमात् मलिनिम्नो मलीमसत्वस्यापगमात् विगमात्। रेजु बभु। राजृ दीप्तौ लिट् ॥७०॥ निःशेषमिति। अम्बुधरधीरगभीरनादै अम्बुधरस्य मेघस्य ध्वनिरिव धीर पटुर्गभीरो गम्भीरो नादो ध्वनि येषा तै.। तूर्यै वाद्यै। नि शेष समस्तम्। नरनाथवेश्म नराणा नाथो नरनाथो राजा तस्य वेश्म गृहम्। मुखर वाचालम्। बभूव भवति स्म। भू सत्ताया लिट्। प्रहृष्ट सतुष्ट। असौ पौरजन पुरे भव पौर स एव जन तथोक्त। रूपकम् (?)। त्वरितमेव शीघ्रमेव। निजे निजे स्वकीये स्वकीये। 'वीप्सायाम्' इति द्वि। गेहे मन्दिरे। महोत्सव महासभ्रमम्। अकारयत व्यरचयत्। डुकृञ्

उसके कोमल मनमे केवल जिनेन्द्रदेवकी पूजा करनेकी आकाक्षा (दोहला) रहने लगी, जो गर्भस्थ बालकके जन्मान्तरके शुभ सस्कारोके सम्बन्धको वचनोके बिना भी कह रही थी ॥६८॥ इसके पश्चात् प्रसूति-प्रसवका समय आनेपर रानी श्रीकान्ताने पुत्रको जन्म दिया। जन्मके समयकी तिथि शुभ थी और सभी शुभग्रह उच्च स्थानपर थे। पुत्र भावी तीर्थङ्कर था – आगे अष्टम तीर्थङ्कर चन्द्रप्रभ होगा, और वह बडा तेजस्वी था, उसके देहकी उज्ज्वल दीप्तिसे प्रसूति-गृहका अन्धकार नष्ट हो गया था ॥ ६९ ॥ उसके जन्म लेनेपर आकाश निर्मल हो गया, शोभास्वरूपा सरोवरकी कमलिनी सहसा खिल उठी और धुँधलापन मिट जानेसे दिशारूपी स्त्रियोकी शोभा निराली हो गई। वह सूर्यके समान अत्यन्त तेजस्वी था। सूर्योदय होनेपर जिस तरह प्रकृतिकी अपूर्व सुषमा हो जाती है, उसी तरह उस बालकके जन्म लेनेपर हुई ॥ ७० ॥ मेघोके समान बाजोकी गम्भीर ध्वनिसे सारा राजमहल गूँज उठा। इस अवसरपर पुरवासियोको बडा हर्ष हुआ। फलतः उन्होने भी अपने-अपने घरोमे महान् उत्सव मनाया

---

१ आ प्रतावेव 'बन्धश्च' इति पद वर्तते। २ = अभिलाषविशेषा। ३ = दिवसे। ४ = स्थाने। ५ = अभीषवः सन्ति यस्य सोऽभीषुमान्। ६ = जाते। ७ अ° लिनी।

स्वस्माद्बहिर्भवनतः प्रकटं निरेत्य नृत्यान्यतन्वत गणो गणिकाजनानाम् ।
लब्धोऽधुना वसुमति प्रभुरद्वितीयो नन्द त्वमित्यजनि जन्मवतां प्रघोषः ॥ ७२ ॥

तुष्ट्या ददत्स्वसुतजन्म निवेदयद्भ्यो देयं न देयमिदमित्यथवा क्षितीशः ।
नाजीगणत्प्रमदविह्वलचित्तवृत्तिर्विक्षिप्तवृत्ति हि मनो न विचारदक्षम् ॥ ७३ ॥

गायत्प्रनृत्यदभितो रभसेन वल्गदुन्मत्ततामिव जगाम पुरं समस्तम् ।
तत्राभवन्न खलु कोऽपि स यस्य नान्तर्जज्ञे विकासि हृदयं सहसा द्विषोऽपि ॥ ७४ ॥

करणे णिजन्तात् लङ् ।।७१।। स्वस्मादिति । गणिकाजनना गणिका एव जनास्तेषाम् । रूपकम् (?) । गणा समूहा [गण समूह] स्वस्मात् स्वकीयात् । भवनत गृहात् । वहि वाह्ये । निरेत्य निर्गत्य । नृत्यानि नर्तनानि । प्रकट प्रसिद्ध यथा भवति तथा (सर्वजनसमक्षम्) अतन्वत अकुरुत । तनूञ् विस्तारे लङ् । अधुना इदानीम् । अद्वितीय उपमातीत । वसुमती प्रभु वसुमत्या भूमे । [वसुमति वसुन्धरे] प्रभुः पति । लब्ध प्राप्त । त्व नन्द एधस्व । इति जन्मवता जन्मास्त्येर्षामिति मतु 'अस्त्यस्मिन्वेति मतु' 'मान्तोपान्त—' इत्यादिना मस्य व । प्रघोष शब्द । अजनि अजायत । जनैङ् प्रादुर्भावे लुङ् ।।७२।। तुष्टयेति । स्वसुतजन्म स्वस्य आत्मन सुतस्य पुत्रस्य जन्म उत्पत्तिम् । निवेदयद्भ्य विज्ञापयद्भ्य । तुष्टया सतोषेण । आददत् [ददत्] दान कुर्वन् । प्रमदविह्वलचित्तवृत्ति । प्रमदेन सतोषेण विह्वला 'विक्लवो विह्वलः स्यात्तु विवशोऽरिष्ट दुष्टधो ।' इत्यमर , विभ्रमा चित्तस्य मनसो वृत्ति वर्त्तन यस्य स । क्षितीश भूपाल । इदम् एतत् । देय दातु योग्यम् । अथवा न देय दातु योग्य न भवतीति । नाजीगणत् नागणयत् । विक्षिप्तवृत्ति विक्षिप्तेन सतोषेण युक्ता (विक्षिप्तास्थिरा) वृत्ति र्यस्य । मन चित्तम् । विचारदक्ष परीक्षादक्षम् । न हि न भवति हि । अर्थान्तरन्यास ।।७३।। गायदिति । तत्र पुत्रोदये अभित सर्वत । रभसेन सतोषेण । गायत् गीत कुर्वत् । प्रनृत्यत् नटत् । वल्गत् लङ्घत् (गच्छत्) समस्त सर्वम् । पुर नगरम् । उन्मत्तता भ्रान्तताम् । जगामेव इयायेव । गम्लृ गतौ लिट् । अभवत् अभूत् । द्विषोऽपि शत्रोरपि । यस्य कस्य । अन्त अर्वाक् (?) हृदय चित्तम् । सहसा शीघ्रम् । विकासि सतुष्टम् । न जज्ञे न जायते । स पुरुष । कः न कोऽपीत्यर्थः । यस्यान्तरङ्ग सतुष्ट न । स कश्चित् पुमान् नास्ति । शत्रूणा मानसमपि सतुष्ट जात-

---

॥ ७१ ॥ गणिकावर्ग अपने घरसे बाहर निकला और उसने खुले मैदानमे नृत्य किया । सभी मनुष्योके मुखसे एक ही वात निकल रही थी—'पृथ्वि !' तुमने अद्वितीय पति पा लिया है, अत. अब तुम खूब समृद्ध हो' । ७२ । राजाने पुत्र-जन्मकी सूचना देने वालोको आनन्द विभोर होकर दान देते समय यह विलकुल नही सोचा कि क्या दान देने योग्य है और क्या अयोग्य । उसका मन उस समय केवल देनेमे ही सन्तुष्टिका अनुभवकर रहा था, और सच तो यह है कि विक्षिप्त मनमे विचारकी चतुरता नही रहती ॥ ७३ ॥ उस समय सारा नगर सभी ओरसे गाता नाचता और बडे वेगसे दौडता हुआ दृष्टिगोचर हो रहा था । अत ऐसा जान पडता था मानो खुशीके मारे पागल हो गया हो । वहाँ ऐसा एक भी मनुष्य नही था जिसका हृदय भीतरसे प्रसन्न न

---

१ म निरित्य । २ श स जन । ३ आ निरीत्य । ४ आ प्रतावेव 'भवति तथा' इति दृश्यते । ५ = असाधारण । ६ आ °सुमति° । ७ = त्वयेति शेष । ८ = जन्मास्ति येषा तेषाम् । ९ आ उत्पत्ति । १० = विक्लवा । ११ = 'रभसो वेगहर्षयो' इत्यनेकार्थसग्रह । १२. श स वल्गत् । १३. आ भ्रान्तिताम् । १४. श स गम ।

सर्वज्ञं कनकमयैः समर्च्य पुष्पैः कल्याणेऽहनि सहितेन वंशवृद्धैः।
श्रीवर्मेत्यवनिभुजाथ तस्य नाम श्रीशब्दानुगतमकारि मङ्गलाय ॥ ७५ ॥
विदधदखिलांस्तेजस्तीव्रान्परानन्तान्नतानवनिममितामोजोभिः स्वैर्वशं विवशां नयन्।
निधिशतमहालाभैर्भूभृच्छतप्रहितैर्धनैरुदयनिलये जाते तस्मिन्ननन्द स नन्दने॥ ७६ ॥

॥ इति श्रीवीरनन्दिकृतावुदयाङ्के चन्द्रप्रभचरिते महाकाव्ये तृतीयः सर्गः ॥ ३ ॥

मित्युक्तेपु नान्येषा जात किमित्याश्चर्यम् । उत्प्रेक्षा[1] ।।७४।। सर्वज्ञमिति । वशवृद्धै कुलश्रेष्ठै । सहितेन[2] सयुतेन । अवनिभुजा भूपालेन । कल्याणे मङ्गलरूपे । अहनि दिने । कनकमयै कनकनिर्मितै । पुष्पै. कुसुमै । सर्वज्ञ सर्ववेदिनम् । समर्च्य पूजयित्वा[3] । अथ पूजानन्तरम् । तस्य बालस्य । श्रीशब्दानुगत श्रीरितिशब्देन अनु सयुक्तं श्रीवर्मेति श्रीवर्मकुमार इति । नाम नामधेयम् । मङ्गलाय मङ्गलार्थम् । अकारि[4] अकरोत् । डुकृञ् करणे लुङ् ।।७५।। विदधदिति । उदयनिलये उदयस्य ऐश्वर्यस्य निलये स्थाने । तस्मिन नन्दने कुमारे । जाते सति । स्वै स्वकीयै । ओजोभि तेजोभि । तेजस्तीव्रान् तेजसा प्रतापेन तीव्रान् तीक्ष्णान् । अनतान् अप्रणतान्[5] । अखिलान् सर्वान्[6] । परान् शत्रून् । नतान् प्रणतान् । विदधत् कुर्वन् । विवशा[7] वशगताम् । अमिताम् अमर्यादाम् । अवनि[8] भूमिम् । वशम् अधीनम्[9] । नयन्[10] । स नृपः । निधिशतमहालाभै निधीना निधानाना शतस्य अनेकस्य महद्भिः लाभै । भूभृच्छतप्रहितैः भूभृता भूपतीना शतेन अनेकेन प्रहितै प्रेषितै. । धनैः[11] । ननन्द तुतोष । टुनदु समृद्धौ लिट् ।।७६।।

इति श्रीवीरनन्दिकृतावुदयाङ्के चन्द्रप्रभचरिते महाकाव्ये तद्व्याख्याने
च विद्वन्मनोवल्लभाख्ये तृतीय सर्ग. ।।३।।

हुआ हो और तो क्या शत्रुवर्गको भी हार्दिक प्रसन्नता हुई ॥ ७४ ॥ इसके पश्चात् उस राजाने अपने वशके विद्यावृद्ध और वयोवृद्ध श्रेष्ठ पुरुषोके साथ शुभ दिनमे स्वर्ण पुष्पोसे सर्वज्ञ भगवान्‌की पूजाकी, और पूजाके बाद अपने पुत्रका माङ्गलिक 'श्री'से युक्त 'श्रीवर्मा' नाम रखा ॥ ७५ ॥ बालक बडा भाग्यशाली था। उसके जन्मते ही श्रीषेणने अपने बलसे, बडे-बडे तेजस्वी उद्धत राजाओको नम्रकर दिया, अपरिमित भूमिको—जिसपर शत्रुओने अधिकार जमा लिया था—अपने वशमे कर लिया और सैकडो राजाओने उपहारमे धन भेजा, जिससे उसे सैकडो निधियोका लाभ हुआ। इस तरह सभी ओरसे उसकी समृद्धि बढने लगी। फलत. वह बहुत आनन्दित हुआ ॥ ७६ ॥

इस प्रकार महाकवि वीरनन्दी विरचित उदयाङ्क चन्द्रप्रभचरित
महाकाव्यमें तीसरा सर्ग समाप्त हुआ ॥ ३ ॥

---

१ आ प्रतावेव 'उत्प्रेक्षा' इति समुपलभ्यते। = वस्तुतस्तु पद्यमिदमित्थ व्याख्येयम्—गायत् गान कुर्वत् । प्रनृत्यत् नृत्य कुर्वत् । रभसेन वेगेन । वल्गत् गच्छत् । समस्त पुर निखिल नगरम् । उन्मत्ततामिव प्रमत्ततामिव । जगाम ययौ । सत्र तस्मिन् पुरे । खलु निश्चयेन । स सक । कोऽपि कश्चिदपि । न अभवत् न बभूव । यस्य हृदय मन । अन्तः अन्तस्त । विकासि प्रसन्नम् । न जज्ञे नाजायत । द्विपोऽपि शत्रोरपि । हृदय मन । अन्त अन्तस्त । विकासि प्रसन्नम् । जज्ञे समजनि ।।७४।। २ क ख ग घ म सहतेन । ३. श पूजिता । ४ = व्यधायि । ५ आ आनतान् प्रणतान् । ६ आ 'सर्वान्' इति पद नास्ति । ७ = परकरगतामित्यर्थ । ८ आ अवनीम् । ९ आ अधीशम् । १० = कुर्वन् । ११ = वित्तै. ।

चतुर्थः सर्गः ।

अथ प्रजानां नयनाभिरामो लक्ष्मीलतालिङ्गितसुन्दराङ्गः ।
वृद्धिं स पद्माकरवत्प्रपेदे दिनानुसारेण शनैः कुमारः ॥ १ ॥
व्रजन्सहैवोन्नतिमुज्ज्वलाभिः कलाभिरानन्दितसर्वलोकः ।
स कान्तिमांश्चन्द्रमसा तदानीं जनैरुपामीयत राजपुत्रः ॥ २ ॥
गुरून्गुरून्सम्यगुपास्य तेभ्यो विद्योपविद्या विधिना विदित्वा ।
तद्बेदिनोऽसौ गणितैरहोभिरधो व्यधाद्दीधितिमानिवेद्धः ॥ ३ ॥

श्रेयोनिधिं सकलमङ्गलहेतुभूतं लोकोत्तमं शरणमप्रतिमं जिनेशम् ।
श्रेयः सदानतमहोत्सवदानदक्षं श्रेयोऽभिधानजिनपं प्रणमामि नित्यम्[1] ॥

अथेति । अथ कुमारोदयानन्तरम् । प्रजानां जनानाम् । नयनाभिरामः नयनानां नेत्राणामभिरामो मनोहरः । लक्ष्मीलतालिङ्गितसुन्दराङ्गः लक्ष्मीः सम्पत्तिरेव[2] लता वल्लरी तयालिङ्गितं लालितं सुन्दरं मनोहरमङ्गं गात्रं यस्य सः । रूपकम् । स श्रीवर्मकुमारः । पद्माकरवत् सरोवरवत्[3] । दिनानुसारेण दिनस्यानुसारेणानुक्रमेण । शनैः मन्दम् । वृद्धिं वर्धनम् । प्रपेदे प्रययौ । पदि गतौ लिट् ॥१॥ व्रजन्निति । उज्ज्वलाभिः प्रदीप्ताभिः । कलाभिः चतुःषष्टिकलाभिः षोडशभागैश्च । सहैव साकमेव । उन्नतिं वृद्धिम् । व्रजन् गच्छन् । आनन्दितसर्वलोकः आनन्दिता आह्लादिताः सर्वे लोकाः जनाः येन सः । कान्तिमान् द्युतिमान् । स राजपुत्रः । तदानीं तस्मिन् काले । जनैः लोकैः । चन्द्रमसा चन्द्रेण । उपामीयत उपमा [-विषयोऽ] क्रियत । माङ् माने कर्मणि लङ् । श्लेषोपमा ॥२॥ गुरूनिति । दीधितिमानिव दीधितिरस्यास्तीति दीधितिमान् सूर्य इव [दीधितयोऽस्य सन्तीति दीधितिमान् सूर्यः, स इव] । इद्धः दीप्तः । असौ कुमारः । गुरून् श्रेष्ठान् । गुरून् उपदेशकान् । सम्यगुपास्य आराध्य । तेभ्यः गुरुभ्यः । विद्योपविद्याः विद्याः आन्वीक्षिकी त्रयी वार्त्ता दण्डनीतिः इति चतस्रो

जिस प्रकार सरोवर सबके नेत्रोको सुन्दर लगता है, बाधपर लगी हुई सुन्दर लताएँ उसके प्रदेशोकी छविको बढाती हैं और वर्षा ऋतुके दिनोंके अनुसार धीरे-धीरे उसकी वृद्धि होती है, तथा जिस प्रकार कमलोका समूह सबके नेत्रोको सुन्दर प्रतीत होता है, उसके ऊपर लक्ष्मी निवास करती है और वह दिनके समयके अनुसार धीरे-धीरे विकसित होता है, उसी प्रकार वह राजकुमार श्रीवर्मा समस्त प्रजाके नेत्रोको प्रिय था, उसके पूरे शरीरपर लक्ष्मीकी छाया थी और वह अपनी आयुके दिनोके अनुसार धीरे-धीरे बढ रहा था ॥१॥ राजकुमार चौंसठ उज्ज्वल कलाओको उन्नतिके साथ-ही-साथ अपनी उन्नति कर रहा था, उसके शरीरपर कान्ति थी और इसीलिए उसे देखकर सभी लोगोको बडा आनन्द होता था। उस समय उसे जो भी देखते थे वे उसकी तुलना चन्द्रमासे करते थे, क्योंकि चन्द्रमा भी सोलह कलाओकी उन्नतिके साथ अपनी उन्नति करता है, सारे ससारको आनन्द देता है और मनोहर कान्तिको धारण करता है ॥२॥ वह सूर्यके समान तेजस्वी था। उसने श्रेष्ठ गुरुओकी सच्ची उपासना की और उनसे आन्वीक्षिकी आदि चार विद्याओ तथा उनकी सहायक चौंसठ उपविद्याओंको सीखा।

१ आ प्रतौ पद्यमिद नोपलभ्यते । २ आ सप्रीतिः । ३ आ प्रतावेव केवल 'सरोवरवत्' इति पदमुपलभ्यते ।

जनादशेषाद्वयसा लघीयानपि प्रवृद्धैः स महान्बभूव ।
कलागुणैरुज्ज्वलरश्मिजालैरिव स्वकीयैर्मणिराकरोत्थः ॥ ४ ॥
धनुर्धरैः खड्गिभिरश्ववारैर्गजेन्द्रशिक्षाधिकृतैश्च लोकैः ।
स्वं स्वं गुणोत्कर्षमसाववाप्तुं सदाभियुक्तैरुपजीव्यते स्म ॥ ५ ॥
तुषाररश्मिं भजते निशायां दिनागमे याति सरोजषण्डम् ।
इति प्रकृत्या चपलापि लक्ष्मीरियेष मोक्तुं न तनुं तदीयाम् ॥ ६ ॥
वदान्यतां तस्य विलोक्य गुर्वीं [1]तद्वद्भिरत्याजि वृथाभिमानः ।
गतस्य लोके परतोऽभिभूतिं न मानिनो राजति मानयोगः ॥ ७ ॥

राजविद्या, ताश्च, उपविद्याश्च चतुःषष्टिरूपाः, ताश्च । विधिना क्रमेण । विदित्वा ज्ञात्वा । गणितैः कियद्भिः । अहोभिः दिवसैः । तद्वेदिनः विद्योपविद्यावेदिनः पुरुषान् । अधो व्यधात् तिरस्कृतवान् । डुधाञ् धारणे च लुङ् । उपमा ॥३॥ जनादिति । स कुमारः । अशेषात् सकलात्[2] । जनात् लोकात्[3] । वयसा वयोधर्मेण । लघीयानपि अत्यन्तं लघुरपि 'गुणाङ्गाद्वेष्ठेयसू' इति ईयसु-प्रत्ययः । प्रवृद्धैः अधिकैः । कलागुणैः सकलकलागुणैः[4] स्वकीयैः स्वसम्बन्धिभिः । उज्ज्वलरश्मिजालैः उज्ज्वलैः रश्मीनां किरणानां जालैः समूहैः । आकरोत्थः खनिस्थानोत्पन्नः । मणिरिव रत्नमिव । महान् श्रेष्ठः । बभूव भवतिस्म । भू सत्तायां लिट् । उपमा ॥४॥ धनुरिति । असौ कुमारः । सर्वदा सर्वस्मिन् काले । अभियुक्तैः उद्युक्तैः । धनुर्धरैः धन्विभिः । खड्गिभिः खड्गोऽस्त्येषा- [ऽस्ति येषां] मिति खड्गिनस्तैः खड्गधरैः । अश्ववारैः अश्ववाहैः । गजेन्द्रशिक्षाधिकृतैश्च गजेन्द्राणां शिक्षायामधिकृतैरधिकारिभिश्च । स्वं स्वं स्वकीयम् । वीप्सायां द्वि 'वीप्सायाम्' इति द्वि । गुणोत्कर्षं गुणानां धनुर्विद्यादीनामुत्कर्षं प्रवर्धनम् । अवाप्तुं लब्धुम् । उपजीव्यते स्म । जीव प्राणधारणे कर्मणि स्म योगे[5] 'स्मे च लट्' इति भूतार्थे लट् ॥५॥ तुषारेति । लक्ष्मी श्रीदेवी । निशायां रात्रौ । तुषाररश्मिं चन्द्रमसम् । भजते सेवते । भज[6] सेवायां लट् । दिनागमे दिनस्य दिवसस्य आगमे प्रातःकाले इत्यर्थः । सरोजषण्डं सरोजानां कमलानां षण्डं कदम्बम् । याति गच्छति । इति एवं प्रकारेण । प्रकृत्या स्वभावेन । चपलापि चञ्चलापि । तदीयां तस्य कुमारस्य सम्बन्धिनीम् । तनुं शरीरम् । मोक्तुं त्यक्तुम् । न इयेष न ववाञ्छ । इषु इच्छायां लिट् ॥६॥ वदेति । तस्य कुमारस्य । गुर्वीं महतीम् । वदान्यतां त्यागिताम् । विलोक्य दृष्ट्वा । तद्वद्भिः औदार्ययुक्तैः[7] । वृथाभिमानः व्यर्थाभिमानः । अत्याजि अमुच्यत । त्यज हानौ कर्मणि लुङ् । लोके

वह प्रतिभाका धनी था, अतः समस्त विद्याओं और उपविद्याओंकी शिक्षा प्राप्त कर उसने थोड़े ही दिनोंमें समस्त विद्याओं और उपविद्याओंके जाननेवालोंको मात कर दिया ॥३॥ वह राजकुमार उम्रमें सबसे बहुत छोटा था, किन्तु फिर भी विकसित कलाओं और गुणोंमें उनसे बड़ा था। जैसे एक खानसे उत्पन्न हुआ मणि और मणियोंके पीछे निकल कर भी अपनी उज्ज्वल किरणोंके कारण उनसे कहीं श्रेष्ठ होता है ॥४॥ धनुर्धारी, खड्ग चलानेवाले, अश्व-विद्या जाननेवाले और गजशिक्षाके अधिकारी विद्वान् अपने-अपने गुणोंका उत्कर्ष पानेके लिए सदा तत्परताके साथ उसकी सेवामें लगे रहते थे ॥५॥ लक्ष्मी रात्रिके समय चन्द्रमाकी सेवा करती है और दिन होते ही उसे छोड़कर कमलोंके पास चली जाती है। इस तरह वह स्वभाव-से चञ्चल होकर भी उस राजकुमारके शरीरको नहीं छोड़ना चाहती थी—चन्द्रमा और कमलकी अपेक्षा राजकुमारका शरीर कहीं अधिक सुन्दर था ॥६॥ वह राजकुमार बड़ा दानी था। उसकी सर्व श्रेष्ठ उदारताको देखकर अन्य उदार पुरुषोंने अपनी-अपनी उदारताके निरर्थक

१ अ तद्विद्भिः । २ श स अशेषान् सकलान् । ३ श स जनान् लोकान् । ४ आ प्रतावेव 'सकलकलागुणैः' इति पर्यायो दृश्यते । ५ श स योगो । ६. श स भजि । ७ आ उदारयुक्तैः ।

तं यौवराज्ये परिणीतभार्यं नियोज्य धुर्यं वशिनां तनूजम् ।
स राज्यसौख्यं विगतान्तरायं निश्चिन्तचित्तोऽनुबभूव भूपः ॥१६॥
भोगैः स वाञ्छाकृतसंनिधानैर्मनोहरैर्मोहितचित्तवृत्ति ।
कालं न गच्छन्तमपि प्रजज्ञे प्रज्ञां हि मोहः शिथिलीकरोति ॥१७॥
स्थितोऽथ हर्म्ये स नृप कदाचिदुल्कां विलोक्याम्बरतः पतन्तीम् ।
विरक्तबुद्धिर्विषयेषु चिन्तामगादिति प्रोद्गतकाललब्धि ॥१८॥
समस्तमेवंविधमेव पुंसामशाश्वतं [1]जीवितयौवनादि ।
तथापि जानाति न मन्दबुद्धिरस्मादृशः पुत्रकलत्रमूढः ॥१९॥

प्रभावत सामर्थ्यात् । प्रभावतीति प्रभा देहकान्तिरस्यास्तीति प्रभावती, इति । प्रथिताभिधाना प्रथित प्रसिद्धमभिधान[2] यस्या ताम् । सुन्दराङ्गीं सुन्दरम ङ्ग यस्या सा ताम् । 'असहनञ्—' इत्यादिना ङी । राजकन्या राजपुत्रीम् । पितुः जनकस्य । निदेशात् आज्ञाया । विधिना विधानेन । उपयेमे परिणीतवान् । यम उपरमे लिट् ॥१५॥ तमिति । स भूप श्रीषेणभूपति । परिणीतभार्यं परिणीता भार्या[3] जाया यस्य[4] तम् । धुर्यं मुख्यम् । वशिन जितेन्द्रिय जितात्मान वा । त तनूज कुमारम् । यौवराज्ये युवराजपदव्याम् । नियोज्य सस्थाप्य । निश्चिन्तचित्त चिन्ताया निर्गत निश्चिन्त चित्त यस्य स । विगतान्तराय विगतोऽन्तरायो यस्मिन् तत् । राज्यसौख्य राज्यसुखम् । अनुबभूव अनुभवति स्म । भूसत्ताया लिट् ॥१६॥ भोगैरिति । वाञ्छाकृतसंनिधान वाञ्छया कृत सन्निधान समीप[5] येषा[6] तै । मनोहरै मनोहररूपै । भोगै विषयानुभवै । मोहितचित्तवृत्ति मोहिता आसक्ता चित्तस्य[7] वृत्तिर्यस्य सः । स कुमार । गच्छन्तमपि यान्त[8]मपि । कालं समयम् । न प्रजज्ञे न जानाति स्म । मोह मोहनीयकर्म । [हि निश्चयेन] । प्रज्ञा सम्यग्ज्ञानम् । शिथिलीकरोति[9] अपहरति । डुकृञ् करणे लिट् । हि । अर्थान्तरन्यास ॥१७॥ स्थित इति । अथ अनन्तरम् । कदाचित् अन्यदा । हर्म्ये सौधे । स्थित उपविष्ट । स नृप श्रीषेणनरपति । अम्बरत· आकाशात् । पतन्तीं निपतन्तीम । उल्काम्[10] उल्कापतनम् । विलोक्य दृष्ट्वा । विषयेषु पञ्चेन्द्रियविषयेषु । विरक्तबुद्धि अनासक्तबुद्धि । प्रोद्गतकाललब्धि प्रोद्गता काललब्धिर्यस्य स । इति वक्ष्यमाणप्रकारेण । चिन्ता स्मृतिम् । (स्मृतिसमन्वाहारम्) । अगात् अयात्[11] । इण[12] गतौ लुङ् ॥१८॥ समस्तेति । पुसां पुरुषाणाम् । अशाश्वतम् अस्थिरम् । जीवितयौवनादि[13] जीवित यौवनमादिर्यस्य तत्[14] । समस्त सकलम् । एवविधम् एतदुल्का-

प्रभाके प्रभावसे उसका 'प्रभावती' नाम सभी ओर प्रसिद्ध हो गया था ॥१५॥ विवाहके बाद राजा श्रीषेण (पिता) ने अपने उस, जितेन्द्रियोमे श्रेष्ठ पुत्र (श्रीवर्मा) को युवराज बना दिया, और स्वय निश्चिन्त होकर विघ्न-बाधाओसे रहित राज्यसुखको भोगने लगा ॥१६॥ उसे भोग सामग्रीकी कमी नही थी, इच्छा होते ही मनोहर भोग्य पदार्थ उसकी सेवामे उपस्थित कर दिये जाते थे। उनमे उसका मन इतना आसक्त हो गया कि उसे यह भी पता नही रहा कि समय बीत रहा है। सच है मोह मानवकी मतिको शिथिल कर देता है ॥१७॥ इसके पश्चात् एक दिनकी बात है। वह अपने राजमहलमे बैठा था। इतनेमे उसने आकाशसे गिरती हुई उल्का देखी। देखते ही उसे विषयोसे विरक्ति हो गयी। उसकी काललब्धि जो आ गयी थी। फलत वह यों सोचने लगा—॥१८॥ मानव मात्रका जीवन और यौवन आदि सभी वस्तुएँ इसी उल्काकी तरह क्षणभङ्गुर हैं। फिर भी बाल-बच्चोंके मोहमे फँसे हुए मुझ जैसे

१ अ जीवन° । २ =नाम । ३ आ °णीता मिताभिज्ञा भार्या । ४ =येन । ५ =सामीप्यम् । ६ =यै । ७ श स चित्तवृत्ति° । ८. आ यात° । ९ =शिथिलयति । १० =अधानिकम् । ११. आ आयात् । १२ आ गम्लृ । १३ अ जीवनयो° । १४ जीवित जीवन यौवन तारुण्य आदि यस्य तत् ।

नगापगातोयतरङ्गलोलैर्विलोभ्यमानो विषयैर्वराकः ।
नारम्भदोषान्गणयत्यनन्तदुःखप्रदान्मोहवशेन जीवः ॥२०॥
क्षणक्षयिण्यायुषि मूढबुद्धिः स्थिराभिमानं यदि नैष कुर्यात् ।
न कर्मपाशैर्विवशीकृतात्मा योनिष्वनन्तासु सहेत दुःखम् ॥२१॥
मुहुः प्रणष्टा मुहुरेव दृष्टाः समागमाः स्वप्नसमागमाभाः ।
विश्वासमृच्छत्यत एव विद्वान्न तेषु संयोगनिबन्धनेषु ॥२२॥
या दुःखसाध्या चपला दुरन्ता यस्या वियोगो बहुदुःखहेतुः ।
तस्याः कृते जन्तुरुपैति लक्ष्म्याः परिश्रमं पश्यत मोहमस्य ॥२३॥

पतनस्य समानमेव । तथापि । पुत्रकलत्रमूढ पुत्राश्च कलत्राणि च तेषु[1] मूढो मोहितः । मन्दबुद्धि मन्दमतिः । अस्मादृश वयमिव दृश्यते इति अस्मादृश । 'त्यदाद्यन्य—' इत्यादिना कट्-प्रत्यय । न जानाति न वेत्ति । ज्ञा अवबोधने लट् । आक्षेप (?) ॥१९। नगेति । नगापगातोयतरङ्गलोलैः नगे पर्वते समुत्पन्नाया आपगाया नद्यास्तोयस्य सलिलस्य तरङ्गा कल्लोलास्त इव लोलैश्चञ्चलै[2] विषयैः पञ्चेन्द्रियगोचरैः । विलोभ्यमान मुह्यमानः । वराक[3] मूर्ख । जीव प्राणी । अनन्तदुःखप्रदात् [दान्] अनन्त निरवमान दुःख प्रददातीत्यनन्तदुःखप्रद तस्मात् [-तान्] । आरम्भदोषान् आरम्भेभ्य कृष्यादिभ्य प्रभवपापानि[4] । मोहवशेन अज्ञानवशेन । न गणयति । गण सख्याने लट् ॥२०॥ क्षणेति । मूढबुद्धि मोहितमति. । एषः अय जीव । क्षणक्षयिणि क्षणे क्षयिणि नाशनशीले । आयुषि जीविते । यदि स्थिराभिमानं नित्यमित्यभिमानम् । [न] कुर्यात् न विधेयात् । कर्मपाशै पापपाशै । विवशीकृतात्मा विवशीकृत परवशीकृत आत्मा स्वरूप यस्य स । अनन्तासु निरवसानासु । योनिषु उत्पत्तिस्थानेषु । दुःख [न] सहेत नानुभवेत् । षहि[5] मर्षणे लिङ् । आक्षेर (?) ॥२१॥ मुहुरिति । स्वप्नसमागमाभा स्वप्नस्य समागमम्यागमनस्याभा सदृशा । समागमः परिग्रहा मुहु[6] पुन । प्रणष्ट[7] विनष्ट । मुहुरेव पुनरेव । दृष्टा दृश्यन्ते स्म दृष्टाः । अतएव एतस्मादेव । विद्वान् ज्ञानी । सयोगनिबन्धनेषु सयोगस्य कर्मबन्धस्य निबन्धनेषु कारणेषु । तेषु समागमेषु । विश्वास विस्रम्भम् । न ऋच्छति न गच्छति । ऋच्छ गतौ लट् । उपमा ॥२२॥ येति । या दुःखसाध्या दुःखेन महता कष्टेन साध्या साधनीया । चपला चञ्चलरूपा । दुरन्ता दुःखावमाना । यस्या. वियोग विगम । बहुदुःखहेतुः बहोर्दुःखस्य हेतु कारणम् । तस्या लक्ष्म्या ऐश्वर्यस्य । कृते निमित्तम् । जन्तु प्राणी । परिश्रमं प्रयासम् ।

मूर्ख नही समझते ॥१९॥ पांच इन्द्रियोके विषय पहाडी नदीकी तरङ्गोकी भाँति चञ्चल-अस्थिर है, फिर भी उन्होने बेचारे जीवको ऐसा लुभा लिया है कि वह उनके मोहमे फँसकर खेती आदि नाना आरम्भ करता है, पर अनन्त दुःखोको देनेवाले उनके दोषोकी ओर कोई ध्यान ही नही देता ॥२०॥ यदि यह मोही जीव क्षणिक आयुमे स्थिरताका अभिमान न करता तो इसे कर्म बन्धन विवश न कर पाते और न अनन्त योनियोके दुःख भी भोगने पडते ॥२१॥ कञ्चन और कामिनी आदि प्रिय पदार्थोका समागम स्वप्न समागम सरीखा क्षणिक है, जो बार-बार दृष्टि गोचर होता है और बार-बार दृष्टिसे ओझल हो जाता है । यह समागम कर्म बन्धनका कारण है । इसीलिए बुद्धिमान् मनुष्य इसपर विश्वास नही करता ॥२२॥ जो लक्ष्मी बडे दुःखोसे कमाई जाती है; जो चञ्चल है, जो बुरा फल देनेवाली है और जिसका वियोग अनेक दुःखोका कारण है, उसके लिए यह मनुष्य कितना परिश्रम करता है । इसके मोहको

१. आ श स पुत्रमित्रकलत्रमूढ पुत्रश्च मित्र च कलत्र च पुत्रमित्रकलत्राणि तेषु । २. लोलाश्चञ्चला', तैः । ३. दीन । ४ प्रभवानि पापानि । ५ श म सह । ६ श म 'पुनः' इति नोपलभ्यते । ७. श स प्रनष्ट ।

विहाय ये निर्वृतिमव्यपायां बहुव्यपायां वृणुते विभूतिम् ।
हित्वा हिमं ते शुचिचन्दनाम्भ: पिबन्त्यपो मूढधिय सपङ्का. ॥२४॥
ममेदमस्याहमिति ग्रहेण ग्रस्तो वराक: कथमेष जन्तु ।
अणुप्रमाणस्य सुखस्य हेतोर्दु.खं गिरीन्द्रोपममभ्युपैति ॥२५॥
न काकतालीयमिदं कथंचित्क्लेशक्षयान्मानुषजन्म लब्ध्वा ।
युक्त. प्रमाद. स्वहिते विधातुं संसारवृत्तान्तविदा नरेण ॥२६॥
इति प्रजानामधिप स्वचित्ते विचिन्तयन्संसृतिफल्गुभावम् ।
जगाम वैराग्यमपेतरागो बुद्धः फलं ह्यात्महितप्रवृत्तिः ॥२७॥

उपैति प्राप्नोति । अस्य जीवस्य । मोहम् अज्ञानम् । पश्यत वीक्षध्वम् । दृपि प्रेक्षणे लोट् । 'पा घ्रा—' इत्यादिना पश्य अदेश । आक्षेप (?) ॥२३॥ विहायेति । ये पुरुषा । अव्यपाया व्यपायरहिताम् । निर्वृत्ति मुक्तिम् । विहाय विहान पूर्वं० त्यक्त्वा । बहुव्यपाया बहुरनेको व्यपायो बाधा[2] यस्यास्ताम् । विभूतिम् ऐश्वर्यम् । वृणुते गृह्णन्ति । ते मूढधिय अज्ञानिन । हिम शीतलम् । शुचि निर्मलम् । चन्दनाम्भ चन्दनेन श्रीगन्धेन मिश्रमम्भो जलम् । हित्वा त्यक्त्वा । सपङ्का सकर्दमा । अम्भ[3] जलानि । पिबन्ति पान कुर्वन्ति । आक्षेप (निदर्शना) ॥२४॥ ममेति । मम इद मे[4] एतत् । अस्य एतस्य शरीरादे अहमिति ग्रहेण अभिमानेन । ग्रस्त पीडित । वराक मूर्ख । एष अयम्[5] । जन्तु जीव । अणुप्रमाणस्य अणुप्रमाणयुक्तस्य । सुखस्य ह्लादनस्य । हेतो निमित्तम् । गिरीन्द्रोपम गिरीणा पर्वतानामिन्द्रस्य मेरो उपम[6] समानम् । दु खमभ्युपैति प्रयाति । इण् गतौ लट् । आक्षेप (?) ॥२५॥ नेति । क्लेशक्षयात् कर्मक्षयात् । काकतालीय काकतालस्य समानम् । इदम् एतत् । मानुषजन्म [7]मनुष्यस्येद मानुष तच्च तज्जन्म च । कथचित् येन केन प्रकारेण । लब्ध्वा प्राप्य । ससारवृत्तान्तविदा समारस्य चतुर्गतिभ्रमणरूपस्य वृत्तान्त[8] स्वरूप वेत्तीति तथोक्तस्तेन । नरेण पुरुषेण । स्वहिते स्वस्य आत्मनो हिते । प्रमाद अनवधानता । विधातु समाचरितुम् । युक्त योग्य । न न भवति ॥२६॥ इतीति । प्रजाना जनानाम् । अधिप प्रभु श्रीषेण । अपेतराग अपेतो[9] व्यपगतो रागो यस्य स । इति उक्तप्रकारेण । ससृतिफल्गुभाव ससृते ससारस्य फल्गो नि ससारस्य भाव[10] स्वरूपम् । स्वचित्ते मानसे । विचिन्तयन् ध्यायन् । वैराग्य विरागत्वम् । जगाम

तो देखो । ॥२३॥ मुक्ति नित्य है और है निर्विघ्न—मुक्ति मिल भर जाय, फिर कभी वह नष्ट नही होती और न वहाँ किसी प्रकारकी विघ्न-बाधाएँ ही होती हैं । किन्तु लक्ष्मी उससे बिलकुल उल्टी है— प्राप्त होकर खर्च हो जाती, नष्ट हो जाती है और यदि किसी तरह रह भी जाती है तो उसमे अनेक विघ्न-बाधाएँ आती रहती हैं । जो लोग मुक्ति और लक्ष्मी-विभूति इन दोनोमे-से विभूतिको पसन्द करते हैं, उनकी बुद्धिकी बलिहारी है—वे निरे मूर्ख हैं, और वे चन्दन मिश्रित, ठण्डे, पवित्र और निर्मल जलको छोडकर कीचड सहित (गन्दी नालीका) जल पीते हैं ॥२४॥ 'यह मेरा है' और 'मैं इसका हूँ' यह ग्रह इस बेचारे प्राणीको कैसे लग गया है ? इस ग्रहके लग जानेसे यह प्राणी जर्रा भर सुखके पीछे सुमेरुके समान बडे-से-बडे दु खको भोगता है ॥२५॥ यह मानव जन्म बडे क्लेश भोगनेके बाद कर्मोदयके मन्द होनेपर किसी तरह काकतालीय न्यायसे प्राप्त हुआ है । अतः ससारके प्रकरणको जाननेवाले मनुष्यको अपने हितमे आलस करना उचित नही ॥२६॥ इस प्रकार ससारकी असारताको मन-ही-मन

१ म यात्म° । २ आ प्रतावेव 'बाधा' इति दृश्यते । ३ आ श स आप । ४ आ प्रतावेव 'मे' इत्युपलभ्यते । ५ आ यो हि यो° । ६ = उपमा साम्य यस्य तत् । ७,, श स मानु° । ८ श स वृत्तान्त । ९ श स अवीतो° । १० नि सारताम् ।

अन्येद्युराहूय [1]युवेशमीशः कृतप्रणामाञ्जलिमित्युवाच।
मन्दीभवत्प्रेमरसानुबन्धां तदीयवक्त्रे विनिवेश्य दृष्टिम् ॥२८॥
वात्येव यावन्न वपुःकुटीरमेतज्जरा जर्जरयत्युपेत्य।
प्रवर्धमानं तिमिरं विहन्तु यावन्न वा दर्शनशक्तिमीष्टे ॥२९॥
यावन्न तीर्थोपगमप्रवीणौ पादौ निजप्रस्फुरणं जहीतः।
कालेन यावद्भजतेऽवसादं न च श्रुतिर्धर्मकथावसक्ता ॥३०॥
वयोनुरूपेण विवर्धमानो यावत्स्मृतिं भ्रशयते न मोहः।
यावच्च शास्त्राध्ययनप्रवीणा प्रवर्तते प्रस्खलितुं न वाणी ॥३१॥

ययौ। गम्लृ गतौ लिट्। आत्महितप्रवृत्ति[2] आत्मनः स्वरूपस्य हिते उपकारके मार्गे प्रवृत्तिर्वर्तनम्। बुद्धे ज्ञानस्य। फल हि निष्पत्तिर्हि। अर्थान्तरन्यास ॥२७॥ अन्येद्युरिति। ईश प्रभु। अन्येद्युः एकस्मिन् दिने। 'पूर्वापर—' इत्यादिना एद्युस् प्रत्ययः। युवेश युवराजम्। आहूय आकारयित्वा। मन्दीभवत्प्रेमरसानुबन्धा प्रागमन्द इदानीं मन्दो भवतीति मन्दीभवन् प्रेम्णो रसस्तस्यानुबन्ध सबन्ध, मन्दीभवन् प्रेमरसानुबन्धो यस्या ताम्। दृष्टि लोचनम्। तदीयवक्त्रे तदीये श्रीवर्मसबन्धिनि वक्त्रे मुखे। विनिवेश्य स्थापयित्वा। कृतप्रणामाञ्जलिं कृतो विरचितः प्रणामस्याञ्जलिर्येन तम्। वक्ष्यमाणप्रकारेण। उवाच जगाद। ब्रूञ् व्यक्ताया वाचि लिट् ॥२८॥ वात्येति। कुटीरं तृणगृहम्। वात्येव वातानां समूह इव। 'पाशादेश्च यः' इति समूहे य-प्रत्यय.। 'वात्या वातस्तु मुञ्चति' इत्यभिधानात्। एतत् इदम्। वपु शरीरम्। जरा वार्धक्यम्। उपेत्य आगत्य। यावत् यावत्पर्यन्तम्। न जर्जरयति न विनाशयति। प्रवर्धमानम् एधमानम्। तिमिर नेत्रदोष (प)। यावत् दर्शनशक्ति दर्शनयोर्नयनयो शक्ति सामर्थ्यम्[3]। विहन्तु विनाशयितुम्। न ईष्टे न समर्थं भवति। ईशि ऐश्वर्ये लट्। उपमा ॥२९॥ यावदिति। तीर्थोपगमप्रवीणौ तीर्थस्य पवित्रस्थानस्योपगमे गमने प्रवीणौ समर्थौ। पादौ चरणौ। निजप्रस्फुरण निजयो प्रस्फुरण सामर्थ्यम्। यावत्[4] पर्यन्तम्। न जहीत न त्यजत। यावत् धर्मकथावसक्ता धर्मस्य कथायामवसक्ता सक्ता। श्रुति श्रोत्रेन्द्रियम्। कालेन वयोधर्मेण। अवसाद बधिरत्वम्। न च भजते न याति। भज सेवायां लट् ॥३०॥ वय इति। वयोनुरूपेण वयसो वयोधर्मस्यानुरूपेणानुवर्तनेन। वर्धमान एधमान। मोहः अज्ञानम्। यावत् स्मृति सम्यग्ज्ञानम्[5]। न भ्रशयते न नाशयति। शास्त्राध्ययनप्रवीणा शास्त्रस्यागमस्याध्ययने प्रवीणा समर्था।

सोचते हुए राजा श्रीषेणको वैराग्य हो गया। फलतः विषयोमे उसे जो राग रहा, वह अब नही रहा। आत्महितमें प्रवृत्ति करना ही तो बुद्धिका फल है ॥२७॥ अगले दिन राजा श्रीषेणने युवराजको बुलाया। वह शीघ्र ही उपस्थित हुआ, और उसके सामने हाथ जोडकर खडा हो गया। राजा उसके चेहरेपर दृष्टि—जिसमे प्रीतिका रस बिलकुल ही कम था अर्थात् जो प्रीतिसे सनी हुई नही थी—डालकर यो बोला—॥२८॥ जिस प्रकार आंधी, फूसकी झोपडीको झकझोर डालती है, उसी प्रकार मेरे इस शरीरको जबतक वृद्धावस्था आकर नही झकझोरती और जबतक बढता हुआ तिमिर-नेत्ररोग मेरी देखनेकी शक्तिको नष्ट नही कर पाता ॥२९॥ तीर्थयात्रा करनेमे प्रवीण मेरे ये पैर जबतक अपने गमन-सामर्थ्यको नही छोडते और धर्म-कथाओके श्रवणमे सलग्न मेरे ये कान जबतक कालके प्रभावमे बधिर नही होते ॥३०॥ आयुके अनुसार क्रमसे बढता हुआ मोह जबतक मेरी स्मरण-शक्तिको नष्ट नही करता और शास्त्रोके पढनेमे

१ अ युवेप॰। २ आ ॰हितमार्गे या। ३ आ सामर्थ्यतरम्। ४ यावत् पर्यन्तम्। ५ स्मरण वा।

तावद्भवान्मोचयितुं प्रयत्नादात्मानमिच्छाम्यसुखानलार्तम् ।[1]
जिनेन्द्रदीक्षाविधिनात्र कार्ये त्वया न भाव्यं परिपन्थिना मे ॥३२॥
पुरैव संसारपरम्पराया हेतोः श्रियश्चित्तमपेतमेव ।
अपेक्षमाणोऽनुदिनं त्वदीयमेवोदयं राज्यपदेऽवतिष्ठे ॥३३॥
भवानपास्तव्यसनो निजेन धाम्नाब्धिमर्यादमिमामिदानीम् ।
महीमशेषामपहस्तितारिवर्गोदयः पालयतु प्रशान्तः ॥३४॥
यथा भवत्यभ्युदिते जनोऽयमानन्दमायाति निरस्तखेदः ।
सहस्ररश्माविव चक्रवाको वृत्तं तदेवाचर चारचक्षुः ॥३५॥

वाणी वचनम् । यावच्च प्रस्खलितु[2] । न प्रवर्त्तते । वृतुङ् वर्त्तने लट् ॥३१। तावदिति । तावत् । असुखानलार्तम् असुखमेव दुःखमेवानलोऽग्निस्तेनार्त पीडितम् । आत्मान जीवम् । जिनेन्द्रदीक्षाविधिना जिनेश्वरदीक्षाविधानेन । भवात् संसारात् । मोचयितु निवारयितुम् । प्रयत्नात् । इच्छामि वाञ्छामि । मे मम । अत्र कार्ये कृत्ये[3] । परिपन्थिना[4] शत्रुणा । त्वया भवता । न भाव्य न भवितु योग्यम् ॥३२॥ पुरेति । संसारपरम्परायाः संसारस्य परम्पराया प्रवाहस्य । हेतोः कारणभूतायाः । श्रिय सम्पद सकाशात् । पुरैव प्रागेव । चित्त मन । अपेतमेव अपगतमेव[5] । अनुदिन प्रतिदिनम् । त्वदीयमेव तव सबन्धमेव[6] । उदयम् । ऐश्वर्यम् । अपेक्षमाण वाञ्छन्नहम् । राज्यपदे राज्यपदव्याम् । अवतिष्ठे तिष्ठामि । ष्ठा गतिनिवृत्तौ लट् ॥३३। भवानिति । अपास्तव्यसन अपास्त निराकृत व्यसन येन स. । अपहस्तितारिवर्गोदय अपहस्तितो निरस्तोऽरीणा वर्गस्योदय उत्पत्ति र्यस्य (येन) स । प्रशान्त प्रशमवान् । भवान् त्वम् । निजेन स्वकीयेन । धाम्ना तेजसा । इदानीम् अद्य । इमाम् एताम् । अशेषा समस्ताम् । महीं भूमिम् । अब्धिमर्यादम् अब्धिरेव समुद्र एव मर्यादा यस्मिन् कर्मणि तत् (तथा) । पालयतु रक्षेत्यर्थ । भवच्छब्दयोगे प्रथम पुरुप ॥३४॥ यथेति । भवति त्वयि । अभ्युदिते सति अभ्युदययुक्ते सति । निरस्तखेद तिरस्कृतखेद । अयम् एष । जन लोक । सहस्ररश्मौ

प्रवीण मेरी वाणी जबतक स्खलित नही होती । ॥३१॥ तब तक मैं दिगम्बर दीक्षा लेकर दुःखाग्निमे झुलसती हुई अपनी पीडित आत्माको पूरे प्रयत्नसे इस जगत्से मुक्त कराना चाहता हूँ। मेरे इस कार्यमे तुम विरोध नही करना—मैंने आत्माकल्याणका निश्चय कर लिया है, अत इस पवित्र कार्यमे तुम्हे मेरा विरोधी नही होना चाहिए ॥३२॥ यह राज्य-लक्ष्मी ससारकी परम्पराका कारण है। इससे मेरा मन पहलेसे ही ऊबा हुआ है। मैं कभीका चला गया होता । किन्तु तुम नाबालिग रहे, अत. प्रति दिन मैं तुम्हारे अभ्युदयकी अपेक्षामे रहा—'तुम राज्य-भार सभालने योग्य हो जाओ, तो मैं जाऊँ, बस इसी प्रतीक्षामे मै अबतक राजगद्दीपर बैठा रहा ॥३३॥ तुम अपने तेजसे समुद्र पर्यन्त इस समूची पृथ्वीका पालन करना । देखो, कभी किसी व्यसनमे नही फँसना, प्रजाके ऊपर कोई सङ्कट आये तो उसका शीघ्र ही प्रतिकार करना, सदा शान्त रहना—प्रशम गुणको धारण करना और शत्रुओको गुटबन्दी नही करने देना—गुटबन्दी करनेवाले शत्रुओको सिर नही उठाने देना ॥३४॥ जिस प्रकार सूर्योदय होनेपर चकवेका प्रियाविरहका सारा खेद दूर हो जाता है और उसे बहुत आनन्द होता है, इसी प्रकार तुम्हारे अभ्युदयसे प्रजा-जनोको आनन्दका अनुभव हो और उन्हे कभी तनिक भी खेद न हो, ऐसा व्यवहार करना । यों सारी प्रजाके कष्टका स्वय पता लगाना कठिन है,

१ आ इ 'कुलकम्' इत्यपि दृश्यते । २ प्रस्खलन लब्धुम् । ३. आ वर्तनकृत्ये । ४ प्रतिबन्धकेन । ५ श स अपेतमिव अपगतमिव । ६ श स त्वदीयमिव तव सबन्धमिव ।

वाञ्छन्विभूतीः परमप्रभावाः मोद्वीविजस्त्वं जनमात्मनीनम् ।
जनानुरागं प्रथमं हि तासां निबन्धनं नीतिविदो वदन्ति ॥३६॥
समागमो निर्व्यसनस्य राज्ञः स्यात्संपदां निर्व्यसनत्वमस्य ।
वश्ये स्वकीये परिवार एव तस्मिन्नवश्ये व्यसनं गरीयः ॥३७॥
विधित्सुरेनं तदिहात्मवश्यं कृतज्ञतायाः समुपैहि पारम् ।
गुणैरुपेतोऽप्यपरैः कृतघ्नः समस्तमुद्वेजयते हि लोकम् ॥३८॥

सूर्ये । [चक्रवाक इव] चक्रवाको रथाङ्ग पक्षिविशेषः, स इव । यथा येन प्रकारेण । आनन्दं सतोषम् । आयाति गच्छति । या प्रापणे लट् । तथैव (तेनैव प्रकारेण) । चारचक्षु चारा गूढपुरुषा एव चक्षुषी[1] यस्य (स) तथोक्त. । वृत्तं चरित्रम्[2] । आचर प्रवर्तस्व । उपमा रूपक च ॥३५॥ वाञ्छन्निति । परमप्रभावा परम प्रभावो यासा ता । विभूतीः ऐश्वर्याणि । वाञ्छन् इच्छन् । त्वम् । आत्मनीनम् आत्महितम् । 'भोगोत्तरपदात्मभ्या खः' इति हितार्थे खः । जन लोकम् । मोद्वीविजः मा पीडय । व्यज व्याजीकरणे णिज-न्ताल्लुङ् । 'णेरिक्त—'इति णि लुक् । 'क श्रित—' इत्यादिना जि , तद्योगे 'द्विर्धातु —' इत्यादिना द्वि । जनेषु प्रजासु । विहितम् अनुराग प्रीतिम् । तासा संपदाम् । प्रथम मुख्यम् । निबन्धन कारणम् । इति नीतिविद नीतिशास्त्रज्ञा । वदन्ति ब्रुवन्ति । वद व्यक्ताया वाचि लट् ॥३६॥ समागम इति । निर्व्यसनस्य व्यसनरहितस्य । राज्ञ क्षितिपतेः । सपत्तीना सपदाम् । समागम आगमन । स्यात् भवेत् । अस भुवि लिङ् । स्वकीये स्वसबन्धिनि[3] । परिवारे परिजने । वश्ये वशगते सति । 'वश्यपथ्य—' इत्यादिना य-प्रत्ययान्तो निपात । अस्य राज्ञः । निर्व्यसनत्व व्यसनरहितत्व भवेत् । तस्मिन्नेव परिवार एव । अवश्ये अवश गते सति । गरीय महत् । व्यसन विपद् भवेत् । परिवारे वश गते राज्ञो निर्व्यसनत्वमैश्वर्यं च जायते, तदभावे राज्ञो व्यसन विपज्जायते, इत्यर्थ ॥३७॥ विधित्सुरिति । तत् तस्मात्कारणात् । एव तव वशगतम् (एन परिवारम्) आत्मवश्यम् आत्माधीनम् । विधित्सु कर्तुमिच्छुः । 'कम्येक—' इत्यादिना सन्, 'घुमीमा—' इत्यादिना मिस्, 'सन्भिक्षा—' इत्यादिना उ-प्रत्ययः । कृतज्ञताया उपकारस्मरणत्वस्य । पार तीरम् । समुपैहि[4] गच्छ । इण् गतौ लोट् । अपरैः अन्यैः गुणैः सह । उपेत युक्त । कृतघ्न उपकारनाशक । समस्त सकलम् । लोक

किन्तु गुप्तचरोकी सहायतासे उस (कष्ट) का पता लगाकर शीघ्र ही उसका निवारण करते रहना । दूरकी स्थिति देखनेके लिए तुम गुप्तचरोको ही अपनी चक्षु समझना ॥३५॥ दूसरोपर उत्कृष्ट प्रभाव डालनेवाली विभूतिको चाहते हुए तुम अपने किसी हितैषीको पीडा नही देना, क्योकि राजनीति जाननेवाले विद्वान् यह कहते हैं कि 'लोगोसे अनुराग करना और उनका अनुराग प्राप्त करना ही विभूतिका मुख्य कारण है ।' ॥३६॥ सम्पदाओका समागम उस राजाको होता है, जो विपदाओसे मुक्त हो, और वह राजा विपदाओसे मुक्त होता है, जिसका परिवार अपने वशमे हो । यदि अपना परिवार राजाके वशमे न हो, तो उसे बडी-बडी विपदाएँ आ घेरती हैं ॥३७॥ अत यदि तुम अपने परिवारको वशमे रखना चाहते हो, तो कृतज्ञताका पूरा परिपालन करना । क्योकि अन्य अनेक गुणोंसे युक्त होकर भी जो कृतघ्न होता है—दूसरोका उपकार नही मानता है, वह निश्चय ही सारे ससारको उद्विग्न कर देता है ॥३८॥

---

१ श स चक्षुषि । २ आ 'वृत्त चरित्रम्' इति नास्ति । ३ आ °सबन्धे । ४ श स °पेहि ।

धर्माविरोधेन नयस्व वृद्धिं त्वमर्थकामौ कलिदोषमुक्तः।
युक्त्या त्रिवर्गं हि निषेवमाणो लोकद्वयं साधयति क्षितीशः ॥३९॥
वृद्धानुमत्या सकलं स्वकार्यं सदा विधेहि प्रहतप्रमादः।
विनीयमानो गुरुणा हि नित्यं सुरेन्द्रलीलां लभते नरेन्द्रः ॥४०॥
निगृह्णतो बाधकरान्प्रजानां भृत्यान्नतोऽन्यान्नयतोऽभिवृद्धिम्।
कीर्तिस्तवाशेषदिगन्तराणि व्याप्नोति बन्दिस्तुतकीर्तनस्य ॥४१॥
कुर्याः सदा संवृतचित्तवृत्तिः फलानुमेयानि निजेहितानि।
गूढात्ममन्त्रः परमन्त्रभेदी भवत्यगम्यः पुरुषः परेषाम् ॥४२॥

जनम्। उद्वेजयेत्[2] तिरस्कुर्यात् हि। ओवजी भयचलनयोः लट् ॥३८॥ धर्मेति। कलिदोषमुक्तः कलिरन्याय स एव दोषः पापाचारस्तेन मुक्तस्त्यक्तः। त्वं भवान्। धर्माविरोधेन धर्मस्याविरोधेन प्रतिकूलाभावेन (आनुकूल्येन) अर्थकामौ अर्थश्च कामश्च तौ। वृद्धिं समृद्धिम्।[3] नयस्व प्रापय। णीञ् प्रापणे लोट्[4], द्विकर्मकः। युक्त्या उपायेन। त्रिवर्गं त्रयाणां धर्मार्थकामानां वर्गम्। निषेवमाणः भजमानः। क्षितीशः भूमीशः। लोकद्वयम् इहलोकपरलोकद्वयम् (इह लोकं परलोकं च)। साधयति स्वसात्करोति। राध साध संसिद्धौ लट् ॥३९॥ वृद्धेति। वृद्धानुमत्या वृद्धानां मन्त्रिपुरोहितानाम्। अनुमत्या सम्मत्या। सकलं निखिलम्। स्वकार्यं स्वस्य कार्यम्[5]। प्रहतप्रमादः प्रहतो नष्टः प्रमादो यस्य सः। सदा सर्वदा। विधेहि कुरु। गुरुणा उपाध्यायेन, पक्षे बृहस्पतिना। नित्यम् अनवरतम्। विनीयमानः शिक्ष्यमाणः। नरेन्द्रः क्षितीन्द्रः। सुरेन्द्रलीलां सुरेन्द्रस्य देवेन्द्रस्य लीलां शोभाम्। लभते प्राप्नोति। डुलभिष् प्राप्तौ लट्। द्वेष ॥४०॥ निगृह्णतेति। प्रजानां जनानाम् बाधकरान्[6] पीडां कुर्वतः। भृत्यान् सेवकजनान्। निगृह्णतः निग्रहं कुर्वतः। ततः बाधाकरभृत्येभ्यः (बाधकरभृत्येभ्यः)। अन्यान् अनुकूलान्। अभिवृद्धिं समृद्धिम्। नयतः नयमानस्य। बन्दिस्तुतकीर्तनेन बन्दिभिः पाठकैः स्तुतेन नुतेन कीर्तनेन[7]। तव ते। कीर्तिः गुणस्तुतिः। अशेषदिगन्तराणि अशेषाणां सर्वासां दिशामन्तराण्यवकाशानि। व्याप्नोति प्रयाति[8]। आप्लृ व्याप्तौ लट्। अतिशयोक्तिः ॥४१॥ कुर्या इति। संवृतचित्तवृत्तिः संवृता[9] आच्छादिता चित्तस्य मानसस्य वृत्तिर्व्यापारो येन सः। फलानुमेयानि फलेन कार्येणानुमेयानि ऊहितुं योग्यानि निजेन स्वेन[10] ईहितानि चेष्टितानि। सदा अनवरतम्। कुर्याः[11]। गूढात्ममन्त्र

तुम कलिकालके दोष-पापाचरणसे दूर रहना और धर्मकी अनुकूलता पूर्वक अर्थ और काम पुरुषार्थकी वृद्धि करना। युक्तिपूर्वक धर्म, अर्थ और काम इन तीनों पुरुषार्थोंको सेवन करनेवाला राजा दोनों लोकोंको साध लेता है ॥३९॥ वयोवृद्ध मन्त्री और पुरोहितोंसे अनुमति लेकर ही तुम सदा अपने सब काम करना। उन कामोंमें आलस कभी नहीं करना। क्योंकि सदा गुरुजनोंकी शिक्षा पानेवाला नरेन्द्र, बृहस्पतिसे शिक्षा पानेवाले सुरेन्द्रकी शोभाको प्राप्त कर लेता है ॥४०॥ तुम अपने उन कर्मचारियोंको दण्ड देते रहना, जो प्रजाको पीडा दें और उन कर्मचारियोंको बढावा देते रहना, जो प्रजाको पीडा न होने दें। इसका परिणाम यह होगा कि चारण लोग तुम्हारा गुणगान करेंगे, जिससे तुम्हारी कीर्ति समस्त दिशाओं और विदिशाओंमें फैल जायगी ॥४१॥ तुम अपने विचारोंको सदा गुप्त रखना, और जिन कार्योंको तुम करना चाहो, उनका किसीको पहलेसे पता नहीं लगने देना। कार्यकी समाप्ति होनेके

१ अ आ इ क ख ग घ म व्याप्नोतु। २ आ जयति। ३ आ प्रतावेव 'समृद्धिं' इति पदं दृश्यते। ४ आ लिट्। ५ आ प्रतावेव 'स्वस्य कार्यम्' इति समुपलभ्यते। ६ आ श स °धाकरान्। ७ गुणवर्णनेन। ८ व्याप्नोतु प्रयातु। ९ आ प्रतावेव 'संवृता' इत्युपलभ्यते। १० निजस्य स्वस्य। ११ विधेहि।

तेजस्विनः पूरयतोऽखिलाशा भूभृच्छिरःशेखरतां गतस्य ।
दिनाधिपस्येव तवापि भूयात्करप्रपातो भुवि निर्विबन्धः ॥४३॥
इति क्षितीशः सह शिक्षयासौ विश्राणयामास सुताय लक्ष्मीम् ।
सोऽपि प्रतीयेष गुरूपरोधात्पितुः सुपुत्रो ह्यनुकूलवृत्तिः ॥४४॥
ततः स पुत्रार्पितराज्यभारः [1]पृष्टाखिलज्ञातिरपास्तसङ्गः ।
तप्त्वा तपः श्रीप्रभपादमूले समासदत्सिद्धिवधूवरत्वम् ॥४५॥

गूढो व्यवहित आत्मनः स्वस्य मन्त्रो गुप्तभाषणं येन (यस्य) स । परमन्त्रभेदी परेषां शत्रूणां मन्त्रभेदी मन्त्रालोचननिवारकः[2] । पुरुषः पुमान् । परेषां शत्रूणाम् । अगम्य अभेद्य । भवति । भू सत्तायां लट् । अर्थान्तरन्यासः ॥४२॥ तेजस्वीति[3] । तेजस्विन प्रतापवत., पक्षे कान्तिमत । अखिलाशा अखिलानां समस्तानामाशा वाञ्छा , पक्षे दिश । पूरयत संपूर्णा कुर्वत , पक्षे व्याप्नुवत । भूभृच्छिर शेखरता भूपतीनां शिरसां मस्तकानां शेखरता ललामता, पक्षे गिरीणां शिरसां शिखराणामलङ्कारताम् । गतस्य यातस्य । दिनाधिपस्येव सूर्यस्येव । तवापि भवतोऽपि । करप्रपात करस्य भागधेयस्य प्रपातो लाभ , पक्षे करस्य किरणस्य [कराणां किरणानां] प्रपतनम् । भुवि लोके । निर्विबन्ध अनिवार्य । भूयात् भवेत् । भू सत्तायां लिङ् । श्लेषोपमा ॥४३॥ इतीति । असौ क्षितीश श्रीषेणमहीपति । इति[4] प्रोक्तप्रकारेण। शिक्षया उपदेशेन । सह साकम् । सुताय श्रीवर्मणे । लक्ष्मी साम्राज्यसम्पत्तिम् । विश्राणयामास ददौ । श्रण[5] दाने लिट् । सोऽपि श्रीवर्मापि । गुरूपरोधात् गुरो महत (पितुर्वा) उपरोधात्[6] प्रार्थनात् । प्रतीयेष अङ्गीकरोतिस्म । इषु इच्छायां लिट् । सुपुत्र सत्पुत्रः । पितु जनकस्य । [हि निश्चयेन] । अनुकूलवृत्तिर्हि अनुकूला वृत्तिर्वर्त्तनं यस्य स । अर्थान्तरन्यास ॥४४॥ तत इति । ततः पश्चात् । पुत्रार्पितराज्यभारः पुत्रे तनयेऽर्पित स्थापितो राज्यस्य भारो येन स । पृष्टाखिलज्ञाति पृष्टा प्रार्थिता अखिला ज्ञातयो बन्धवो येन स । अपास्तसङ्ग. अपास्तो निराकृत सङ्गो येन स । स श्रीषेण । श्रीप्रभपादमूले श्रीप्रभस्य श्रीप्रभाचार्यस्य पादमूले पादसमीपे । तप बाह्याभ्यन्तरतप । तप्त्वा[7] सतप्य सिद्धिवधूवरत्व सिद्धिरेव मुक्तिरेव वधूस्तस्या वरत्वम्[8] ।

पश्चात् फलको देखकर लोग उसका केवल अनुमान ही लगा सकें, इसका ध्यान रखना, क्योंकि जो मनुष्य अपनी मन्त्रणाको गुप्त रखता है और दूसरोकी गुप्त मन्त्रणाको प्रकट कर लेता है, वह अपने शत्रुओके लिए अजेय होता है ॥४२॥ जिस प्रकार तेजस्वी, सभी दिशाओको अपने प्रकाशसे भरनेवाला और पर्वतोके शिखरोपर पहुँचकर उनके शिरोभूषणकी स्थितिको प्राप्त करनेवाला सूर्य सारे भूमण्डलपर अपनी किरणोको निर्विरोध रूपसे फैला देता है, इसी प्रकार तुम तेजस्वी बने रहना, सबकी आशाओकी पूर्ति करना और सभी राजाओके सिरमौर होना, जिससे सारे भूमण्डलपर निर्विरोध रीतिसे तुम्हारी टैक्स वसूल करनेकी सुव्यवस्था हो ॥४३॥ राजा श्रीषेणने अपने पुत्र श्रीवर्माको इस प्रकारकी शिक्षाके साथ राजलक्ष्मी समर्पित कर दी। पिताके अनुरोधसे पुत्रने भी उसे स्वीकार कर लिया। सुपुत्र वही है जो पिताके अनुकूल व्यवहार करे ॥४४॥ पुत्रको राज्यका भार समर्पित करके श्रीषेणने गोत्रके सभी लोगोसे दीक्षाकी अनुमति ली और फिर मुनिराज श्रीप्रभके समक्ष समस्त परिग्रहको त्यागकर दिगम्बर दीक्षा ग्रहण की। इसके पश्चात् उन्ही मुनिराजके चरणोके निकट रहकर उसने तपस्या की।

---

१ अ पृष्ट्वाखिलज्ञातिमपा° । २ मन्त्रस्फोटको वा । ३ तेजस्विन इति ४ = पूर्वोक्त° । ५ श स श्रणु । ६ आग्रहात् । ७. तपो विधाय । ८. आ अवरत्वम् ।

श्रीवर्मराजोऽपि पितुर्वियोगाद्दिनानि भूत्वा कतिचित्सशोकः।
संबोधितो मन्त्रिसुहृत्सहायैर्विनिर्ययौ साधयितुं धरित्रीम् ॥४६॥
विधाय मौलं बलमात्ममूले स नीतिमानाटविकं बहिःस्थम्।
मध्ये च सामन्तबलं बलीयश्चचाल [1]चूडामणिभासिताशः ॥४७॥
समुच्चलत्तस्य तुरङ्गमोत्थं सेनारजो रासभरोमधूम्रम्।
परं दिशामेव मलीमसानि नास्यानि चक्रे रिपुयोषितां च ॥४८॥

समासदत् अगच्छत्। [2]षदलृ विशरणगत्यवसादनेषु लुङ्[3] ॥४५॥ श्रीवर्मेति। श्रीवर्मराजोऽपि श्रीवर्मभूपोऽपि। पितु जनकस्य। वियोगात् विगमात्। कतिचित् कियन्ति। दिनानि अहानि पर्यन्तम्। 'कालाध्वनोर्व्याप्तौ' इति व्याप्त्यर्थे द्वितीया। सशोक दु खसहित। भूत्वा भवन पूर्व०। मन्त्रिसुहृत्सहायै. मन्त्रिणा सचिवाना सुहृदा मित्राणा सहायैर्निवहै.। सबोधित सम्यग् बोधित. सन्। धरित्रीं भूमिम्। साधयितुं साधनाय। विनिर्ययौ निर्जगाम। या प्रापणे लिट् ॥४६॥ विधायेति[4]। नीतिमान्[5] नीतिशास्त्रवान्। स श्रीवर्मा। आत्ममूले आत्मन. स्वस्य मूले समीपे। मौल क्रमादागतम्। बलं मन्त्रिपुरोहितसेनापतिदुर्गाधिकारिकर्माधिकारिकोशागारिकदैवज्ञा इति सप्तविध मौल बलम्। विधाय कृत्वा। आटविक[6] शबरबलम्। बहिस्थ[7] बहि स्थितम्। विधाय। मध्ये च अन्तराले[8]। बलीय बलिष्ठम्। सामन्तबल राज्ञा बलम्। विधाय। चूडामणिभासिताश चूडामणिना चूडारत्नेन भासिता' प्रकाशिता आशा दिशो येन[9] स। सन्। चचाल जगाम। चल कम्पने लिट्। दीपकम् ॥४७॥ समुच्चलदिति। समुच्चलत्[10] उद्गच्छत्। तुरङ्गमोत्थ तुरङ्गमै [11]अश्वैरुत्थमुत्थितम्। रासभरोमधूम्र रासभस्य गर्दभस्य रोमवद् धूम्र कृष्णम्। कृष्णाधिकलोहित धूम्रमिति नाम। तस्य श्रीवर्मण। सेनारज सेनाया रजो धूलि। पर केवलम्[12]। दिशामेव ककुभामेव। आस्यानि मुखानि। मलीमसानि[13] मलमस्त्येषामिति मलीमसानि। 'मलादीमसश्च' इति मत्वर्थे ईमसप्रत्यय। न चक्रे न कुरुते स्म। अपितु रिपुयोषिता च रिपूणा शत्रूणा योषिता नारीणाम्।

फलत अष्ट कर्मोंको नष्टकरके वह सिद्धिवधूका वर—मुक्त हो गया ॥४५॥ इधर राजा श्रीवर्मा भी पिताके वियोगसे कुछ दिनोतक शोकमग्न रहा, फिर मन्त्रिमण्डल तथा मित्रवर्गके समझानेसे धीरे-धीरे उसका शोक दूर हुआ, इसके बाद वह पृथ्वीको अपने वशमे करनेके लिए—दिग्विजय करनेके लिए निकला। ॥४६॥ वह राजनीतिमे प्रवीण था। दिग्विजयके लिए जाते समय उसने अपने पास उस सेनाको रखा, जो उसके यहाँ कई पीढियोसे काम करती चली आ रही थी और जिसमे मन्त्री, पुरोहित, सेनापति, दुर्गाधिकारी, कर्माधिकारी, कोषाधिकारी और ज्योतिषी सम्मिलित थे, भीलोकी सेनाको सबसे आगे रखा और बीचमे प्रबल सामन्तोकी सेना को। चलते समय उसके चूडामणिके प्रकाशसे समस्त दिशाएँ प्रकाशित होती जा रही थी ॥४७॥ चलते समय घोडोकी टापोसे सेनामे धूलि उड रही थी। उसका रग गदहेके रोमो सरीखा मटमैला था। उसने चारो ओर फैलकर न केवल समस्त दिशाओंके वरन् शत्रु-स्त्रियोके

१ अ क ख ग घ म चूला°। २ श स षद विशरण°। ३ श स ल्ङ्। ४ आ विषयेति। ५ नीतिशास्त्रवित्। ६. श तिलविकम्। ७ श बहिष्ठम्। ८ आ मध्ये बलान्तराले। ९ आ यस्य। १० एष टीकाकृत्समत पाठ प्रतिषु तु 'समुच्छलत्' इत्येव समुपलभ्यते। ११ आ प्रतावेव 'अश्वै' इत्युपलभ्यते। १२ श स एक केवलम्। १३ 'मलोऽस्त्रियाम्' इत्यमर।

सैन्यध्वजैरप्रतिकूलवातव्याधूननप्रोल्लसितैस्तदीयः ।
नान्तर्दधे केवलमेव सूर्यः शत्रुप्रभावश्च महाप्रभावैः ॥४९॥
प्रयाणकालप्रभवैरुदारैस्तदीयमातङ्गमदप्रवाहैः ।
पांसुप्रतानः शमयांबभूवे न केवलं धाम च शात्रवीयम् ॥५०॥
मूर्च्छन्दरीणां विवरेषु तस्य प्रस्थानशंसी पटहप्रणादः ।
न पातयामास परं तटानि क्षोणीधराणां द्विषतां च चेतः ॥५१॥
पौरैः[1] समागत्य गृहीतरत्नस्थालैः[2] सुदूरान्नतपूर्वकायैः ।
प्रदर्शितानेकपयोविकारैः प्रत्युद्यये[3] ग्राममहत्तरैश्च[4] ॥५२॥

आस्यानि मुखानि मलीमसानि चक्रे—इत्यभिप्रायः । समुच्चय. ।.४८।। सैन्येति । अप्रतिकूलवातव्याधूनन-प्रोल्लसितैः अप्रतिकूलस्यानुकूलस्य वातस्य वायोर्व्याधूननेन कम्पनेन प्रोल्लसितैः प्रकटितैः (दोधूयमानैः) । तदीयैः[5] तस्य सबन्धैः[6] महाप्रभावैः महद्भिः प्रभावैः सिंहादिचिह्नयुतैः । सैन्यध्वजैः सैन्ये सेनाया स्थितैः ध्वजैः पताकाभिः । केवलमेव परमेव । सूर्यः आदित्यः । नान्तर्दधे नाच्छादितः । अपि तु शत्रुप्रभावश्च शत्रूणा प्रभावस्तेजश्चाच्छादितः ।।४९।। प्रयाणेति । प्रयाणकालप्रभवैः प्रयाणस्य कालेन[7] प्रभवैरुद्भूतैः । उदारैः महद्भिः । तदीयमातङ्गमदप्रवाहैः तदीयाना तत्सबन्धाना मातङ्गाना गजाना मदस्य मदजलस्य प्रवाहैर्निर्झरैः । केवलं परम् । पांसुप्रतानः पांसूना रजसा प्रतानः समूहः । न शमयाबभूवे न शमितो बभूव । शमू दमू उप-शमने णिजन्ताल्लिट् । किन्तु शात्रवीयं शत्रुसबन्धि । धाम च प्रभावश्च ।।५०।। मूर्च्छन्निति । तस्य श्रीवर्म-भूपतेः । प्रस्थानशंसी प्रस्थानस्य प्रयाणस्य शंसी सूचकः । पटहप्रणादः पटहाना भेरीणा प्रणादो ध्वनिः । दरीणां गुहानाम् । विवरेषु रन्ध्रेषु । मूर्च्छन् व्याप्नुवन्[8] । क्षोणीधराणा पर्वतानाम् । परं केवलम् । तटानि सानूनि । न पातयामास न पातयति स्म । पत्लृ गतौ णिजन्ताल्लिट् । द्विषता शत्रूणाम् । चेतश्च मानसं च पातयामास ।।५१।। पौरैरिति । स[9] श्रीवर्मभूपः । गृहीतरत्नस्थालैः गृहीतानि रत्नस्थालानि यैस्तैः, स्वीकृत-रत्ननिर्मितभाजनैरित्यर्थः । [10]दूरानतपूर्वकायैः दूरादानतो दूरानतः पूर्वं कायस्य पूर्वकायः, 'पूर्वापर—' इत्यादिना समासः, नाभेरूर्ध्वं पूर्वकायः, दूरानतः पूर्वकायो येषा[11] तैः । पौरैः पुरे भवाः पौराः तैः पुरजनैः । प्रदर्शितानेकपयोविकारैः[12] प्रदर्शितैरुपायनीकृतैरनेकैर्बहुलैः पयोविकारैर्दध्यादिभिः । ग्राममहत्तरैश्च ग्रामाधि-

मुखको भी मैला कर दिया ॥४८॥ दिग्विजयके लिए जाते समय अनुकूल वायु चल रही थी (यह शुभ शकुन है), उससे उसकी सेनाके लहराते हुए झण्डे देखते ही बनते थे। उनके ऊपर सिंह आदिके चिह्न बने हुए थे। दर्शकोंपर उनका महान् प्रभाव पड रहा था। उन्होने न केवल सूर्यको ही बल्कि शत्रुओके प्रभावको भी छिपा दिया—अस्त कर दिया ॥४९॥ प्रयाणके समय उसकी सेनाके हाथियोके मदजलके बडे-बडे प्रवाह बहने लगे, जिनसे न केवल मार्गकी धूलि ही शान्त हुई, बल्कि शत्रुओका तेज भी शान्त-ठण्डा हो गया ॥५०॥ उसके प्रस्थानकी सूचना देनेवाला नगाडेका शब्द पहाडोकी गुफाओके अन्दर प्रतिध्वनित होने लगा; और उसने न केवल पर्वतोके शिखर ही गिराये किन्तु शत्रुओंके हृदयोको भी गिरा दिया—उन्हे साहस हीन बना दिया ॥५१॥ मार्गमे रत्नोसे भरे हुए थाल लेकर आये हुए नागरिकोने दूरसे ही अपने मस्तक झुकाकर श्रीवर्माकी अगवानीकी और दही आदि लेकर उपस्थित हुए

१ अ परैः । २ अ सहैरानत° । ३ अ प्रत्युद्यमे । ४ अ आ इ क ख ग घ म ग्राममहत्तरैश्च । ५ तत्सबन्धिभिः । ६ अतिप्रभावकैः । ७. कालेः । ८ आ प्रतौ 'व्याप्नुवन्' इति नोपलभ्यते । ९ एष टीकाकारधृत पाठः । १० अयमपि टीकाकारधृत पाठ, प्रतिषु तु 'सुदूरान्नत°' इत्येव समुपलभ्यते । ११ आ एषाम् । १२. =प्रदर्शिता उपायनीकृता अनेके पयोदि[illegible]रा यैस्तैः ।

निशम्य तस्यातुलपुण्यशक्ते. प्रस्थानमाविष्कृतविक्रमस्य ।
महाभयव्याकुलमानसानां द्विषामभूवन्निति चेष्टितानि ॥५३॥
दारान्सुतानप्यनपेक्ष्य केचित्स्वदेहरक्षां बहुमन्यमानाः ।
तत्सैन्यसंचारविमर्दभीता भेजुर्दिगन्तान् हरिणैः सहैव ॥५४॥
कठोरधारं विनिवेश्य कण्ठे कुठारमन्ये भयविह्वलाङ्गाः ।
सतां शरण्यं शरणं तमीयुर्जिनं यथा मानमपोह्य भव्याः ॥५५॥
संनह्य सैन्यैः सह शौर्यशौण्डैरेके महामानगजाधिरूढाः ।
तदीयशस्त्राग्निशिखावलीषु प्रपेदिरेऽभ्येत्य पतङ्गवृत्तिम् ॥५६॥

कारिभि । प्रत्युद्यय[1] समुखोबभूवे (प्रतिगृहीत) या प्रापणे कर्मणि लिट् ॥५२॥ निशम्येति । अतुलपुण्यशक्ते[2] अतुला उपमारहिता पुण्यस्य सुकृतस्य शक्ति सामर्थ्यं यस्य तस्य । आविष्कृतविक्रमस्य आविष्कृत प्रकटीकृतो विक्रम. पराक्रमो यस्य तस्य । तस्य[3] श्रीवर्मभूपस्य प्रस्थान प्रयाणम् । निशम्य[4] श्रुत्वा । महाभयव्याकुलमानसाना महाभयेन व्याकुल पीडित मानस मनो येषा तेषाम् । द्विषा शत्रूणाम् । इति वक्ष्यमाणप्रकारेण । चेष्टितानि व्यापृतानि । अभूवन् अभवन् । भू सत्तायां लुङ् ॥५३॥ दारानिति । केचित् अन्ये । दारान् कलत्राणि । सुतान्[5] पुत्रानपि । अनपेक्ष्य[6] अपेक्षामकृत्वा । स्वदेहरक्षा स्वेषा देहरक्षा शरीररक्षणम् । बहुमन्यमाना वाञ्छन्त । तत्सैन्यसचारविमर्दभीता तस्य श्रीवर्मभूपस्य सैन्यस्य सेनाया सचारस्य प्रचारस्य विमर्दन पीडया भीता । हरिणै मृगै. । सहैव साकमेव । दिगन्तान् दिशामन्तानवधीन् । भेजु जग्मु । भज सेवाया लिट् ॥५४॥ कठोरेति । भयविह्वलाङ्गा भयेन विह्वल[7] विक्लवमङ्ग येषा ते । अन्ये केचिन्नृपा । कठोरधार[8] कठोरा निशिता धारा[9] यस्य तम् । कुठार परशुम् । कण्ठे गले । विनिवेश्य निक्षिप्य । त श्रीवर्मभूपम् । शरण रक्षणम् । ईयु[10] जग्मु । इण्[11] गतौ लिट् । सता सत्पुरुषाणाम् । शरण्य शरण गन्तु योग्यम् (शरणे साधु शरण्यस्तम् । 'तत्र साधौ' शाकटा० ३।२।१९६ । सप्तम्यन्तात् साधावर्थे यो भवति । सामनि साधु सामन्य । कर्मण्य । शरण्य । लम्य । साधु योग्य , प्रवीणः, उपकारको वा । इति चिन्तामणिवृत्तौ ।) । जिनम् अर्हत्पतिम् । मान गर्वम् । अपोह्य त्यक्त्वा । भव्या. रत्नत्रयाविर्भवनयोग्या । यथा[12] ईयुस्तथेत्यर्थ ॥५५॥ सन्नह्येति । महामानगजाधिरूढा महान्तो माना गर्वा त एव गजास्तानधिरूढा । एके केचित् । शौर्यशौण्डै शौर्येण प्रतापेन शौण्डैर्गर्वितै । सैन्यै सेनाभि । सह समम् ।

ग्रामोके बुजुर्गों और अधिकारियोने भी दूरसे ही मस्तक झुकाकर उसकी अगवानी की—स्वागत किया ॥५२॥ श्रीवर्माका पुण्यबल अतुल है और उसका पराक्रम किसीसे छिपा नही है—प्रकट हो चुका है । उसने दिग्विजयके लिए प्रस्थान कर दिया है, यह सुनते ही शत्रु लोगोका हृदय भारी भयसे व्याकुल हो उठा । फलत उनकी ये चेष्टाएँ हुईं—॥५३॥ श्रीवर्माकी सेनाके सचारसे कहीं हम रौंदे न जायें, यह सोचकर कुछ शत्रु इतने भयभीत हुए कि अपनी पत्नी और पुत्रोको भी छोडकर, अपने शरीरकी रक्षाको ही बहुत मानकर हिरणोके साथ दिशाओके छोरोमे जा पहुँचे ॥५४॥ कुछ शत्रु भयमे इतने व्याकुल हुए कि वे अपने कण्ठमे कठोर-पैना कुठार लगाकर सतपुरुषोको रक्षा करनेवाले श्रीवर्माकी शरण जा पहुँचे । जैसे भव्य जीव मानकषायको छोडकर भगवान् जिनेन्द्र देवकी शरण जाते हैं ॥५५॥ कुछ शत्रु महान् मान-घमण्डके हाथीपर सवार होकर, शूर वीरताके घमण्डमे चूर अपने सैनिकोके साथ सजकर,

१ = प्रतिगृहीत । २ आ °शक्ति । ३ आ प्रतावेव 'तस्य' इति पद दृश्यते । ४ आ आनिशम्य । ५ = सुतानपि । ६ = उपेक्ष्य । ७ आ क्लृश । ८ श °धार । ९ श धारा° । १० श इयुः । ११ श इन् । १२ श इयु. ।

पत्त्रं धनं धान्यमशेषरत्नान्युपायनीकृत्य निरस्तदर्पाः ।
हिमर्तुवृक्षा इव शातिताङ्गाः स्वजीवितान्येव ररक्षुरन्ये ॥५७॥
बद्धाञ्जलीन्खण्डितमानशृङ्गान्गृहीतसारानथ तान्विधाय ।
न्ययुङ्क्त स स्वेषु पदेषु भूपः[1] सतां हि कोपो नमनावसानः ॥५८॥
निपातितानां रणमूर्ध्न्यरीणामुपेयुषः कण्ठकुठारवृत्त्या ।
सोऽन्वग्रहीदार्द्रमनास्तनूजान्युक्तैव दीनेषु[2] कृपोन्नतानाम् ॥५९॥

सन्नह्य सज्जीकृत्य । तदीयशस्त्राग्निशिखावलीषु तदीयस्य तस्य सवर्मस्य (तत्सम्बन्धिन) शस्त्रस्यायुधस्याग्नेः शिखानां ज्वालानामावलीषु समूहेषु । अभ्येत्य पतित्वा । पतङ्गवृत्तिं पतङ्गस्य शलभस्य वृत्तिं वर्तनम् । प्रपेदिरे ययुः । पदि गतौ लिट् ॥५६॥ पत्त्रमिति । निरस्तदर्पाः निरस्तौ निराकृतौ दर्पो गर्वो यैस्ते (येषां ते) । अन्ये केचित् । पत्त्रं वाहनं, पक्षे पर्णम् । 'पत्त्रं वाहनपर्णयोः' इत्यमरः । धनं द्रव्यम् । धान्यम् । अशेषरत्नानि समस्तरत्नानि । उपायनीकृत्य[3] उपग्राह्यं कृत्वा । हिमर्तुवृक्षा इव हेमन्तकालस्य वृक्षा इव तरव इव । शातिताङ्गाः कृतौ [शी-]कृतशरीराः[4] । स्वजीवितान्येव स्वजीवनान्येव । ररक्षुः पालयामासुः । रक्ष पालने लिट् ॥५७॥ बद्धेति । स भूपः । अथ अनन्तरम् । बद्धाञ्जलीन् रचिताञ्जलीन् । खण्डितमानशृङ्गान् खण्डित मान एव शृङ्गं येषां[5] तान् । गृहीतसारान् स्वीकृतवस्तून् । तान् । शत्रून् । विधाय कृत्वा । स्वेषु स्वकीयेषु । पदेषु स्थानेषु । न्ययुङ्क्त न्ययोजयत् । युजिर् योगे[6] लङ् । सतां सत्पुरुषाणाम् । कोपः क्रोधः । नमनावसानो हि नमनमेवावसानं यस्य सः (नमनेनावसानं यस्य सः) । अर्थान्तरन्यासः ॥५८॥ निपातितेति । रणमूर्ध्नि रणस्य संग्रामस्य मूर्ध्नि अग्रे । निपातितानाम् । अरीणां शत्रूणाम् । कण्ठकुठारवृत्त्या कण्ठे ग्रीवायां वर्तमानस्य कुठारस्य परशोर्वृत्त्या वर्तनेन । उपेयुषः आगतवतः । इण् गतौ 'लिटः क्वसुकानौ' इति क्वसुः । तनूजान् तनयान् । आर्द्रमनाः मृदुमानसः । स श्रीवर्मभूपः । अन्वग्रहीत्[7] कारुण्यमकरोत् । उन्नतानां महताम्

श्रीवर्माका सामना करनेके लिए घरसे निकल पडे, किन्तु वे उसकी शास्त्राग्निकी ज्वालामे गिरकर पतङ्गोकी तरह जल गये ॥५६॥ कुछ शत्रुओंने अहङ्कारको छोडकर, और श्रीवर्माको वाहन, धन, धान्य और समस्त रत्न उपहारमे देकर अपनी जान बचाली । जैसे हेमन्त ऋतुमे वृक्ष (पाला पड़नेसे) पत्तोको त्यागकर ठूँठ जैसी स्थितिमे पहुँचकर भी अपनी जान बचा लेते है ॥५७॥ श्रीवर्माने कुछ शत्रुओको उनसे हाथ जुडवाकर मान रहित कर दिया और उनकी सारभूत सम्पत्ति अपने अधीन कर ली । ऐसी अवस्थामे वे सीग टूट जानेसे पशुकी भाँति दयनीय प्रतीत होने लगे और विरूप भी । उनकी यह दशा देखकर श्रीवर्माको दया आ गयी । फलत उसने उन्हे, उन्हीके पद पर पुन नियुक्त कर दिया । सच है सज्जनोका क्रोध विरोधीके नमन करते ही शान्त हो जाता है ॥५८॥ कुछ अहकारी शत्रु लडनेके लिए लडाईके मैदानमे आ डटे, किन्तु श्रीवर्माकी सेनाके सामने वे टिक नही सके, फलत. मार गिराये गये । इसके पश्चात् उन मरे हुए शत्रुओके लडके अपने-अपने गलेमे कुठार लगाकर श्रीवर्माकी शरणमे उपस्थित हुए । उन्हे देखकर उसका हृदय पिघल गया, अत. उसने उनके ऊपर बडा अनुग्रह

१ आ इ क ख ग घ म भूय । २. अ द्वीपेषु । ३. = उपहृत्य । ४ श कृतशरीरा. । ५ आ एषाम् । ६ श युजृङ् योगी । ७ = अनुजग्राह ।

गतावलेपैः प्रविशद्भिरेत्य दत्ताभयैर्मण्डलिनां समूहैः ।
दिने दिने तत्कटकः समन्तादवर्धताम्भोधिजिगीषयेव ॥६०॥
गण्डस्थलामोदहृतद्विरेफैर्मदाम्बुविक्लेदितभूरजोभिः ।
तत्तोरणद्वारमभूदुदारैर्न जातुचिच्छून्यमुपायनेभैः ॥६१॥
गजेन्द्रदन्तैश्चमरीकचौघैर्मृगेन्द्रशावैरपि पञ्जरस्थैः ।
तं पार्वतीयाः समुपेत्य भीताः सिषेविरे सेवकवृत्त्यभिज्ञाः ॥६२॥
वस्तूपदीकृत्य विचित्ररूपं द्वीपोद्भवं द्वीपपतीनुपेतान् ।
संभावयामास स तुष्टिदानैश्चेतः प्रभूणां नहि नोचितज्ञम् ॥६३॥

दीनेषु अनाथेषु । कृपा दया । युक्तैव योग्यैव । अर्थान्तरन्यास ॥५९॥ गतेति । गतावलेपैः गतोऽपहृतो लेपो गर्वो येषा तैः । दत्ताभयै दत्तमभय येषा (येभ्य) तै । मण्डलिनाम् अरातिभूपानाम् । समूहै । एत्य आगत्य । प्रविशद्भि अन्तर्गच्छद्भि । दिने दिने दिवसे दिवसे । वीप्साया द्वि । तत्कटक तस्य श्रीवर्मण कटक शिविरम् । अम्भोधिजिगीषयेव अम्भोधि समुद्र जिगीषयेव जेतुमिच्छयेव । समन्तात् सर्वत । अवर्द्धत ऐधत । वृधूङ् वर्धने लङ् । उपमा (उत्प्रेक्षा) ॥६०॥ गण्डेति । गण्डस्थलामोदहृतद्विरेफै गण्डस्थलस्य [3]कपोलप्रदेशस्यामोदेन परिमलेन हृता आकृष्टा द्विरेफा भ्रमरा येषा (यै.) तै । मदाम्बुविक्लेदित[4]भूरजोभि मदाम्बुना मदजलेन क्ले [विक्ले-]दितानि[5] भुवो भूमे रजासि येषा (यै) तै । उदारै महद्भि. । उपायनेभै उपायनार्थमानीतैरिभैर्गजै । तत्तोरणद्वार तस्य भूपस्य तोरणद्वार बहिर्द्वारम् । जातुचित् कदाचिदपि । शून्य रिक्तम् । नाभूत् नाभवत् । ६१॥ गजेन्द्रेति । भीता बिभ्यति स्म भीता. । सेवकवृत्त्यभिज्ञा सेवकाना भृत्याना वृत्तौ वर्तनेऽभिज्ञा प्रवीणा । पर्वतीया पर्वते भवाः पर्वतीया, व्याधा इत्यर्थ । त श्रीवर्मभूपम् । गजेन्द्रदन्तै गजेन्द्राणा दन्तै । चमरीकचौघै चमरीणा चमरीमृगाणा कचाना केशानामोघै समूहैः । पञ्जरस्थै. पञ्जरे तिष्ठन्तीति पञ्जरस्था तै । मृगेन्द्रशावै मृगेन्द्राणा शावै पोतैरपि । समुपेत्य आगत्य । सिषेविरे सेवन्ते स्म । सेवृङ्[6] सेवने लिट् ॥६२॥ वस्त्विति । द्वीपोद्भव द्वीपे उद्भवमुत्पन्नम् । विचित्ररूपम् आश्चर्य-रूपयुक्तम्[7] । वस्तु । उपदीकृत्य उपायनीकृत्य । उपेतान् समीपमागतान् । द्वीपपतीन् अन्तरीपाधिपान् । स.

किया । महान् पुरुषोको अनाथो पर दया करना उचित ही है ॥५९॥ श्रीवर्माके विजयके इन समाचारोंको सुनकर, माण्डलीक राजाओका वर्ग अहकार छोडकर उसकी सेवामे उपस्थित हुआ । श्रीवर्माने उन्हे अभय प्रदान किया और उन्हे अपनी सेनामे प्रविष्ट कर लिया । इससे उसकी सेना सभी ओरसे बढ गयी । मानो वह अपने विस्तारसे समुद्रको जीतना चाहती हो ॥६०॥ इसके पश्चात् श्रीवर्मा मार्गमे जहाँ भी पडाव डालता था, अनेक राजे-महाराजे उसके लिए उपहारमे बडे-बडे हाथी भेजते थे, जो अपने गण्डस्थलोके मदजलकी सुगन्धिसे भौरोको अपनी ओर खीचते थे, और जो मदजलसे पृथिवीकी धूलिको गीला कर देते थे । उन हाथियोसे उसका बाहरी दरवाजा कभी खाली नही रहता था ॥६१॥ सेवा करनेमे चतुर पहाडो लोग श्रीवर्माके पराक्रमके समाचार सुनकर भयभीत हो गये, अत वे हाथी दाँत, चमरी गायोके बाल और कटघरोमे बन्द सिंहोंके बच्चोको लेकर उसकी सेवामे उपस्थित हुए । उन्होने उसकी खूब सेवा की ॥६२॥ द्वीपोके अधिपति अपने-अपने द्वीपोकी विलक्षण वस्तुओको उपहारमे देनेके लिए श्रीवर्मासे मिले । उसने उन्हे सन्तोषजनक प्रत्युपहार देकर सम्मानित किया ।

१ अ आ इ क ख ग घ म °विच्छिन्न° । २ अ आ इ स वृष्टि° । क ख ग घ म सुदृष्टिदानै. । ३ आ कपाल° । ४ श स °विक्लेदित° । ५ श स विक्लेदितानि । ६ श स सेवृ । ७ =अद्भुतमित्यर्थः ।

या तेन मुक्ता रविणेव साभूदङ्गारिणी शत्रुचिताभिराशा ।
प्रधूमिता यां च चकाङ्क्ष यातुं पलायमानारिचमूरजोभिः ॥६४॥

कल्लोलहस्तैः स्फुरदंशुजालं मुक्ताफलौघं विकिरंस्तटेषु ।
वेलावनप्राप्तबलस्य तस्य भयादिवादात्करमर्णवोऽपि ॥६५॥

द्वीपेषु दुर्गेष्वथ मण्डलेषु विदिक्षु दिक्षु प्रतिकूलिताज्ञः ।
न कोऽपि तस्याजनि पुण्यराशेर्दैवेऽनुकूले किमु नानुकूलम् ॥६६॥

भूपतिः । तुष्टिदानै. तुष्टेः सन्तोषकरस्य दानै. । सभावयामास सत्करोति स्म । भू [2]कृपावकल्पने लिट् । प्रभूणां स्वामिनाम् । चेत चित्तम् । नोचितज्ञ नहि अनुचितज्ञं नहि (उचितज्ञ नहि, इति न) अपि तु उचितज्ञमेव ॥६३॥ येति । रविणेव सूर्येणेव । तेन श्रीवर्मभूपेन । मुक्ता त्यक्ता । या आशा दिक् । सा शत्रुचिताभिः शत्रुशवानां चिताभि दाहकाष्ठै । अङ्गारिणी हसन्ती, पक्षे सूर्यत्यक्ता । 'अङ्गारिणी हसन्त्या च भास्कररत्यक्तदिश्यपि ।' अभूत् अभवत् । स भूपः । या दिशम् । यातु गन्तुम् । चकाक्ष ववाञ्छ । काक्ष काक्षाया लिट् । पलायमानारिचमूरजोभि पलायमानाना धावतामरीणा शत्रूणा चमूना सेनाना रजोभी रेणुभि प्रधूमिता क्लेशिता, पक्षे सूर्येण गन्तव्या । 'प्रदूषिता [प्रधूमिता] क्लेशिताया सूर्यगन्तव्यदिश्यपि ।' अभूत् । श्लेष ॥६४॥ कल्लोलेति । अर्णवोऽपि सागरोऽपि[3] । कल्लोलहस्तै. । कल्लोलास्तरङ्गा एव हस्ता पाणयस्तै । रूपकम् । स्फुरदशुजाल स्फुरत् प्रज्वलद् अंशूना किरणाना जाल यस्य तम् । मुक्ताफलौघ मुक्ताफलाना मौक्तिकानामोघं समूहम् । तटेषु तीरेषु । विकिरन् विक्षिपन् । वेलावनप्राप्तबलस्य वेलायास्तटस्य वनमरण्य प्राप्त यात बलं सैन्य यस्य तस्य । [तस्य] भूपस्य भयादिव भीतेरिव । करं सिद्धायम् । आदात् आयच्छत्[4] । डुदाञ् दाने लुङ् । उत्प्रेक्षा ॥६५॥ द्वीपेष्विति । पुण्यराशेः पुण्याना सुकृताना राशेरिव । तस्य श्रीवर्मण । द्वीपेषु अन्तर्द्वीपेषु । दुर्गेषु जलदुर्गवनदुर्गगिरिदुर्गेषु । अथ अनन्तरम् । मण्डलेषु देशेषु । विदिक्षु दिगन्तरेषु । दिक्षु आशासु । कोऽपि एकोऽपि । प्रतिकूलिताज्ञ. प्रतिकूल गता आज्ञा यस्य स । न अजनि नाजायत । जनैड् प्रादुर्भावे लुङ् । अनुकूले अनुकूलरूपे । दैवे पुण्ये । नानुकूलम् अनुकूल (ता) रहितम् । किमु न किमपीत्यर्थ । अर्थान्तरन्यास ॥६६॥

राजाओका हृदय उचित व्यवहारको नही जानता, यह बात नही है—राजा उचित व्यवहार-को खूब जानते हैं ॥६३॥ श्रीवर्मा सूर्य सरीखा था । सूर्य जिस दिशाको छोडता है वह अगारिणी कहलाती है और वह जिस दिशामे जाता है वह प्रधूमिता । इसी प्रकार वह जिस दिशासे चला आता था वह शत्रुओकी चिताओसे अंगारिणी—अगारवाली हो जाती थी और जिस दिशाकी ओर प्रस्थान करता था वह भागती हुई शत्रुसेनाओकी धूलिसे प्रधूमिता—मलिनवर्णा हो जाती थी ॥६४॥ दिग्विजय करते-करते श्रीवर्मा समुद्रके तटपर जा पहुँचा । उसने अपनी सेना समुद्र तटके आस-पासके वनोमे ठहरा दी । इस अवसर पर समुद्रकी तरगो, तरगो क्या, उसके बाहुओसे चमचमाते हुए मोती श्रीवर्माकी ओरके किनारे पर आ रहे थे, अत· ऐसा जान पडता था मानो समुद्र भी भयभीत होकर उसे टैक्स दे रहा हो ॥६५॥ श्रीवर्मा साक्षात् पुण्यकी राशि था वह जिन द्वीपो, अन्तर्द्वीपो, जलदुर्गो, वनदुर्गो , पहाडी दुर्गो, देशो, दिगाओ और विदिशाओमे पहुँचा, वहाँ कोई भी मनुष्य उसकी आज्ञाका उल्लघन नही कर सका । दैवके

---

१ म °दिवारात् । २. श स कृपो । ३. आ प्रतावेव 'सागरोऽपि' इति दृश्यते । ४ श स अदात् मयच्छत् ।

संस्पृश्य पूर्वं परितः करेण नीता पुनस्तेन रतिं समानम्।
वधूरिवाम्भोनिधिवारिवस्त्रा बभूव वश्या सकला धरित्री ॥६७॥
इति प्रसाध्याखिलभूतधात्रीं धात्रीं चतुर्वारिधिवारिसीमाम्।
स वन्दिवृन्दैरभिवन्द्यमानः श्रीमान्पुनः श्रीपुरमाससाद ॥६८॥
नवोदयं प्रस्फुरितप्रतापं प्रसादिताशेषदिगन्तरालम्।
प्रत्यागतं भानुमिव प्रणन्तुं तमर्घहस्ता जनता निरीयुः ॥६९॥

संस्पृश्येति। पूर्वं प्रथमम्। करेण सिद्धायेन, पक्षे हस्तेन। परितः सर्वतः। संस्पृश्य स्पर्शनं कृत्वा। पुनः पश्चात्। तेन भूपेन। समानाम् अभिमानसहिता, पक्षे समरूपाम्। रतिं सुरतं प्रीतिं च। नीता यापिता[2] [प्रापिता]। अम्भोनिधिवारिवस्त्रा अम्भोनिधेः समुद्रस्य वार्येव सलिलमेव वस्त्रं वसनं यस्याः सा। सकला सर्वा। धरित्री भूमिः। वधूरिव स्त्रीव। वश्या वशं गता। 'वश्यपथ्य—' इत्यादिना साधुः। बभूव भवति स्म। भू सत्तायां लिट्। श्लेषोपमा ॥६७॥ इतीति। चतुर्वारिधिवारिसीमां चतुर्णां वारिधीनां वार्येव सीमा यस्यास्ताम्। अखिलभूतधात्रीम् अखिलानां सकलानां भूतानां प्राणिनां धात्रीवोपमातेव [3]प्रवर्तमानाम् (प्रवर्तमानां ताम्)। धात्रीं भूमिम्। इति उक्तप्रकारेण। प्रसाध्य साधयित्वा। वन्दिवृन्दैः स्तुतिपाठकसमूहैः। अभिवन्द्यमानः स्तूयमानः। श्रीमान् सम्पत्तिमान्। स श्रीवर्मभूपः। पुनः पश्चात्। श्रीपुरं श्रियोपलक्षितं पुरं—श्रीपुराह्वयं पुरम्। आससाद आजगाम। षद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु लिट्। रूपकम् ॥६८॥ नवेति। नवोदयं नवो नूतनः उदय ऐश्वर्यं, पक्षे उत्पत्तिर्यस्य तम्। प्रस्फुरितप्रतापं प्रस्फुरितः प्रज्वलितः प्रतापः प्रभावः, पक्षे प्रतापस्तेजो यस्य तम्। प्रसादिताशेषदिगन्तरालं [4]प्रसादितानां प्रसन्नीकृतानामशेषाणां दिशामाशानामन्तरालं यस्य तम्। प्रत्यागतं पुनरागतम्। भानुमिव सूर्यमिव। तं श्रीवर्माणम्। प्रणन्तुं नमस्करणाय। [5]अर्घहस्ता अर्चनायोग्यद्रव्ययुक्ता। जनता जनानां समूहो जनता। 'ग्रामजनबन्धुगजसहायात्तल्'। निरीयुः

अनुकूल होनेपर कौन अनुकूल नहीं होता ? ॥६६॥ जिस प्रकार चतुर पति अपनी नववधूको—जो समुद्रके समान बडे लहँगे आदि कपडे पहनकर लज्जाके कारण एक ओर सिमटी बैठी है—अपने कोमल हाथसे चारों ओर स्पर्श करता है, और फिर उसके मनमें अपने ही समान रतिकी वासनाको उद्बुद्ध करके अपने वशमें कर लेता है। इसी प्रकार श्रीवर्माने समुद्रसे घिरी हुई सारी पृथ्वीको अपना बनाकर उससे टैक्स वसूल किया फिर सुन्दर व्यवस्थासे उसको अपने समान सुखी बनाकर वशमें कर लिया ॥६७॥ इस प्रकार चार समुद्रों तक सीमित समस्त पृथ्वीको—जो समस्त प्राणियोंकी उपमाता है—जीतकर श्रीमान् श्रीवर्मा श्रीपुर लौट आया। लौटते समय रास्तेमें स्तुतिपाठकोंके वर्गने उसका पुनः अभिवन्दन किया ॥६८॥ जिस प्रकार प्रातःकाल उदित होनेवाले, अपने प्रतापको चारों ओर फैलानेवाले और सभीको प्रसन्न करनेवाले नवीन सूर्यको प्रणाम करनेके लिए लोग अपने-अपने हाथोंमें अर्घ-सामग्री लेकर घरसे निकलते हैं। इसी प्रकार जब दिग्विजयसे श्रीवर्मा लौटा तो उसका ऐश्वर्य बिलकुल नवीन हो गया, उसका प्रताप सभी ओर फैल गया और उसने सभी दिशाओंके निवासी शिष्ट पुरुषोंको प्रसन्न कर दिया। उसके आनेके समाचार सुनते ही श्रीपुरके रहनेवाले सभी लोग उसे प्रणाम करनेके

१ अ आ इ क ख ग घ म प्रसाधिता। २ श स याता। ३ श स प्रवर्त्य°। ४ = प्रसादितप्रसन्नीकृतदिशामाशानामन्तरालं मध्यभागो येन तम्। ५ आ अर्घ्य°।

मनोहरैः संहतकच्छवाटैर्बहिर्भुवां श्यामरुचः प्रदेशान् ।
विलोकयन्राजगजाधिरूढः स गोपुरस्याभिमुखो बभूव ॥७०॥
भरक्षमक्ष्मारुहमूलबद्धस्कन्धान्मदान्धानलिशोभिकुम्भान् ।
व्यलोकतासौ धुनतः शिरोधीन्कृतप्रणामानिव वारणेन्द्रान् ॥७१॥
कलं नदन्ती परिखातटेषु निषेदुषी शङ्खसिता समन्तात् ।
हंसावलिस्तस्य जहार चित्तं सहैव[1] गत्या गमनोत्सुकस्य ॥७२॥
स खातिकायाः पयसो विनिर्यत्कुतूहलेनेव विलोकनस्य ।
ददर्श पाठीनकुलं समन्तात्सरोजजैः पिञ्जरितं रजोभिः ॥७३॥

निर्जग्मुः । इण् गतौ लिट् । श्लेषोपमा ॥६९॥ मनोहरैरिति । बहिर्भुवा [2]बाह्यभूमीनाम् । मनोहरैः सुन्दरैः । संहतकच्छवाटैः संहतैः कच्छवाटैः शाकवाटैः । श्यामरुचः श्यामा हरिद् रुक्कान्तिर्येषा तान् । प्रदेशान् । विलोकयन् पश्यन् । राजगजाधिरूढः राजगजं गन्धहस्तिनमारूढः । स श्रीवर्मभूपः । गोपुरस्य बहिर्द्वारस्य । अभिमुखः सम्मुखः । बभूव भवतिस्म । भू सत्तायां लिट् । सामान्यालङ्कारः । ७०॥ भरेति । भरक्षमक्ष्मारुहमूलबद्धस्कन्धान् भरस्य भारस्य क्षमस्य[3] क्ष्मारुहाणां मूलेषु बुध्नेषु बद्धाः स्कन्धा येषां तान् । मदान्धान् मदेनान्धान् । अलिशोभिकुम्भान् अलिभिर्भ्रमरैः शोभिनो मनोहराः कुम्भा येषां तान् । शिरोधीन् कन्धरान् (?) । 'शिरोधिः कन्धरेत्यपि' इत्यमरः । धुनतः कम्पमानान् (कम्पयमानान्) कृतप्रणामानिव कृतनमस्कारानिव । वारणेन्द्रान् गजेन्द्रान्[4] । असौ भूपः । व्यलोकत अपश्यत् । लोकृञ् दर्शने लङ् ॥७१॥ कलमिति । परिखातटेषु खातिकातीरेषु । समन्तात् सर्वतः । निषेदुषी स्थितवती । कलं मनोहरम् । नदन्ती ध्वनन्ती । शतृ–प्रत्ययः । शङ्खसिता शङ्ख इव सिता शुभ्रा । हंसावलिः हंसानां हंसपक्षिणामावलिः[5] समूहः । आगमनोत्सुकस्य आगमने उत्सुकस्योद्युक्तस्य तस्य श्रीवर्मभूपस्य । गत्या गमनेन । सहैव[6] चित्तं मानसम् । जहार हरति स्म । उपमा [सहोक्तिः] ॥७२॥ स इति । स श्रीवर्मभूपः । विलोकनस्य दर्शनस्य । कुतूहलेनेव कौतुकेनेव । खातिकायाः परिखायाः । पयसः जलात् । विनिर्यत् विनिर्गच्छत् । सरोजे कमले जायन्त इति सरोजजानि तैः । रजोभिः धूलिभिः । समन्तात् परितः । पिञ्जरितं सुवर्णवर्णम् । पाठीनकुलं पाठीनानां मीनानां कुलं समूहम् । 'मीनः पाठीन एव च' इत्यभिधानात् । ददर्श व्यलोकत[7] । दृशृ प्रेक्षणे लिट् । उपमा [उत्प्रेक्षा]

लिए अपने-अपने हाथोमे अर्घ सामग्री लेकर घरोसे निकल पडे ॥६९॥ श्रीपुरके बाहर पास-पासमे अनेक कछवाडे थे। उनमे शाक-भाजी लगी हुई थी। उनके कारण सभी ओरकी भूमि हरी-भरी दृष्टिगोचर हो रही थी। श्रीवर्मा गजराजपर आरूढ होकर उसे देखते हुए पुरद्वारकी ओर चले जा रहे थे ॥७०॥ कुछ आगे जाकर श्रीवर्माने उन हाथियोको देखा, जिनके गलेकी साकलें बहुत मजबूत पेडोके तनोसे बँधी हुई थी, जो मदान्ध थे, जिनके गण्डस्थलोपर भौरे बैठे हुए थे और जो गर्दन हिला रहे थे। उन्हे देखकर श्रीवर्माको लगा कि वे उसे नमस्कार कर रहे है ॥७१॥ इनके बाद श्रीवर्माने खाईके किनारोपर मनोहर शब्द करनेवाली, सभी ओर बैठी हुई, शङ्खकी भाँति सफेद हस पक्ति देखी। वह आगे जानेको उत्सुक था, किन्तु उसके मन और गमन दोनोको एक ही साथ उस (हंस-पक्ति) ने हर लिया ॥७२॥ उस समय श्रीवर्माने पद्म-परागसे रगकर सुनहले रगका प्रतीत होने वाला एक मछलियोका झुण्ड देखा। वह खाईके जलकी सतहसे कुछ ऊपर उछल रहा था। अतः ऐसा प्रतीत

---

१ अ सदैव । २ श स बाह्यभुवाम् । ३ = भरे भारवहने क्षमाणा । ४ आ प्रतौ केवल, 'गजेन्द्रान्' इति समुपलभ्यते । ५ = पक्ति । ६. साकमेव । ७. श स व्यलोकयत ।

गवाक्षनिक्षिप्तमुखारविन्दा पौराङ्गनास्तं नयनाभिरामम् ।
संभूय नेत्राञ्जलिभिः पिबन्त्यो न सस्मरुः स्वं श्लथनीविबन्धम् ॥७४॥
समधिकनवयौवनोदयश्रीर्विदधदधः शशिनं शरीरकान्त्या ।
स नृपतिरविशत्पुरं पुरान्तर्गतवनिताहृदयं च पञ्चबाणः ॥७५॥
सह शशिसमकान्त्या शीलसौभाग्यवत्या
[1]विधृतविमलमूर्त्या कामशक्त्येव देव्या ।
रतिसुखमसमानं मानयन्स्वैर्विलासै-
रकृत निकृतशत्रुस्तत्र राज्यं स भूपः ॥७६॥

॥७३॥ गवाक्षेति । गवाक्षनिक्षिप्तमुखारविन्दा गवाक्षेपु वातायनेपु निक्षिप्तानि मुख्यान्येव वदनान्येवारविन्दानि यासा ता । पौराङ्गना[2] पुरे विद्यमाना अङ्गना तथोक्ताः । संभूय समिलित्वा[3] । नयनाभिराम नयनाना लोचनानामभिराम मनोहरम् । त भूपम् । नेत्राञ्जलिभि । नेत्राण्येव नयनान्येवाञ्जलयस्तै । पिबन्त्य· पान कुर्वन्त्य । स्व स्वकीयम् । श्लथनीविबन्ध श्लथ विश्लिष्ट[4] नीविबन्धम् (वस्त्रग्रन्थिम्) । न सस्मरु न स्मरन्तिस्म । ध्यै स्मृचिन्ताया लिट् । रूपकम् ॥७४॥ समेति । समधिकनवयौवनोदयश्री समधिका नवस्य यौवनस्योदयस्य[5] श्री शोभा यस्य स । शरीरकान्त्या गात्रस्य शोभया । शशिन चन्द्रम् । अधः तिरस्कार विदधत् कुर्वन् (अधोविदधत् तिरस्कुर्वन्) । स नृपति श्रीवर्मभूप । पुर श्रीपुरम् । पञ्चबाणः काम इव । पुरान्तर्गतवनिताहृदय च पुरस्य पत्तनस्यान्तर्गताना वनिताना कान्ताना हृदय मानसं च । अविशत् प्राविशत्[6] । विश् प्रवेशने लङ् । उपमा तुल्ययोगिता ॥७५॥ सहेति । शशिसमकान्त्या शशिनश्चन्द्रस्य समा समाना कान्ति शोभा[7] यस्यास्तया । शीलसौभाग्यवत्या शीलसौभाग्याभ्या युक्तया । विधृतविमलमूर्त्या विधृता भृता विमला निर्मला मूर्तिर्यस्या (यया) तया । कामशक्त्येव मन्मथशक्त्येव । देव्या महिष्या प्रभावतीनामधेयया । असमान समान [ता] रहितम्[8] । रतिसुख कामसुखम् । स्वै स्वकीयै । विलासै विनोदै । मानयन् अनुभवन् । निकृतशत्रु निकृता निराकृता शत्रवो येन स । स भूप श्रीवर्मनृपति

हो रहा था, मानो वह भी उस (श्रीवर्मा) को देखनेके लिए उत्कण्ठित हो ॥७३॥ श्रीवर्मा इसके पश्चात् कुछ और आगे बढा । उसे देखनेके लिए श्रीपुरकी स्त्रियाँ सम्मिलित होकर अपने-अपने मकानोकी खिडकियोमे अपने-अपने मुख कमलोको लगाकर खडी हो गयी । वे अपनी-अपनी नेत्र रूपी अजलियोसे अत्यन्त सुन्दर उस (श्रीवर्मा) को पीने (प्रेम पूर्वक देखने) मे इतनी तल्लीन हो गयी कि उन्हे अपने ढीले नाडे या धोतीकी गाँठको बाँधनेका कोई खयाल ही नही रहा ॥७४॥ श्रीवर्माके ऊपर नवयौवनकी पूर्ण सुषमा व्याप्त थी । उसने अपने शरीरकी कान्तिसे चन्द्रमाको तिरस्कृत कर दिया था । उसने ज्यो ही श्रीपुरमे प्रवेश किया, त्यो ही कामदेवने वहाँकी स्त्रियोके हृदयमे प्रवेश किया ॥७५॥ श्रीवर्मा अपने सभी शत्रुओंको जीत चुके थे । अत निश्चिन्त होकर अपनी रानी प्रभावतीके साथ – जिसकी कान्ति चन्द्रमाके समान थी, जो शील और सौभाग्यसे सम्पन्न थी और जो कामदेव की निर्मल मूर्तिको धारण करके आयी हुई साक्षात् शक्ति थी – नाना विलासोके साथ अनुपम सम्भोग-सुख भोगते हुए

---

१ अ विवृत° । २ आ श स पुराङ्गना । ३ श स समेत्य । ४ आ विश्लिष्ट । ५. आ °दयश्री. । ६ आ प्रविशति स्म । ७ आ श्रीवर्मशोभा । ८ =अनुपममित्यर्थ ।

दृष्ट्वा कदाचिदथ शारदमभ्रवृन्द-
मुत्पत्त्यनन्तरविनाशि विनाशितारिः।
निर्वेदमाप सहसा स भवस्थितिज्ञः
सन्तः प्रयान्ति विषयेषु हि नातिसक्तिम् ॥७७॥
श्रीकान्ताय समर्प्य राज्यमखिलं नत्वा मुनिं श्रीप्रभं
प्रव्रज्य प्रशमानुरक्तहृदयस्तप्त्वा तपो दुश्चरम्।
सौधर्मे परमोदयः प्रमुदितो द्व्यब्धिप्रमायुःस्थिति-
र्देवः श्रीधर इत्यभूत्स विबुधस्त्रीनेत्रनित्योत्सवः ॥७८॥

॥ इति श्रीवीरनन्दिकृतावुदयाङ्के चन्द्रप्रभचरिते महाकाव्ये चतुर्थः सर्गः ॥४॥

तत्र श्रीपुरे। राज्यम् अकृत अकुरुत। डुकृञ्[1] करणे लुङ्। उपमा ॥७६॥ दृष्ट्वेति। विनाशितारिः विनाशिता विहता अरयः शत्रवो येन सः। स श्रीवर्मभूपः। अथ भोगानुभवानन्तरम्। कदाचित् एकदा। उत्पत्त्यनन्तर-विनाशि उत्पत्तेरनन्तरमुत्तरसमये विनाशि नाशि। शारदं शरत्कालसबन्धम्। अभ्रवृन्दम् अभ्राणां मेघानां वृन्दं निवहम्। दृष्ट्वा[2]। भवस्थितिज्ञः भवस्य संसारस्य स्थितिज्ञः स्थितिं जानन्। सहसा शीघ्रेण (शीघ्रम्)। निर्वेदं विरागम्। आप ययौ। आप्लृ व्याप्तौ लिट्। तथा हि—सन्तः सत्पुरुषाः। विषयेषु पञ्चेन्द्रियविषयेषु। अतिसक्तिम् अतिप्रीतिम्। न प्रयान्ति हि न गच्छन्ति हि। अर्थान्तरन्यासः ॥७७॥ श्रीति। स श्रीवर्मभूपः। श्रीकान्ताय श्रीकान्ताभिधानसुताय। अखिलं निखिलम्। राज्यं समर्प्य दत्त्वा। श्रीप्रभं श्रीप्रभाख्यम्। मुनिं मुनीन्द्रम्। नत्वा नमस्कृत्य। प्रव्रज्य तपः स्वीकृत्य। प्रशमानुरक्तहृदयः सन् प्रशमेन रागद्वेषोपशमनेनानुरक्तं हृदयं यस्य सः। दुश्चरम् आचरितुमशक्यम्। तपः बाह्याभ्यन्तररूपम्। तप्त्वा। सौधर्मे प्रथमस्वर्गे। परमोदयप्र-मुदितः परमेणोत्कृष्टेनोदयेनैश्वर्येण प्रमुदितः संतुष्टः। द्व्यब्धिप्रमायुःस्थितिः द्वौ अब्धी प्रमाणं यस्याः सा चायुष्यस्य [चायुषः] स्थितिर्यस्य सः। विबुधस्त्रीनेत्रनित्योत्सवः विबुधस्त्रीणां देवस्त्रीणां नेत्राणां नयनानां नित्योत्सवः। श्रीधर इति देवः सुरः। अभूत् अभवत्। भू सत्तायां लुङ् ॥७८॥

इति वीरनन्दिकृतावुदयाङ्के चन्द्रप्रभचरिते महाकाव्ये तद्व्याख्याने च
विद्वन्मनोवल्लभाख्ये चतुर्थः सर्गः ॥४॥

राज्य करने लगे ॥७६॥ इसके पश्चात् शत्रु-विजेता श्रीवर्माने किसी समय शरत्कालीन मेघ देखा, जो उत्पन्न होते ही नष्ट हो गया। उसके देखते ही उसने संसारकी स्थिति जान ली कि संसार शरत्कालीन मेघके समान क्षणभंगुर है। फलतः उसे वैराग्य हो गया। सच है अच्छे मनुष्य पञ्चेन्द्रियके विषयोंमें अधिक आसक्त नहीं होते ॥७७॥ इसके पश्चात् उसने अपना सारा राज्य अपने पुत्र श्रीकान्तको सौंप दिया और श्रीप्रभ नामके मुनिराजको नमस्कारकर उनसे जिन दीक्षा ले ली। दीक्षा लेनेके बाद उसका मन केवल राग-द्वेष आदिको शान्त करनेमें लग गया। रागादिको जीतकर उसने घोर तपश्चरण किया। फलतः वह सौधर्म स्वर्गमें श्रीधर नामका देव हुआ। वहाँ उसका ऐश्वर्य अन्य देवोंसे कहीं अच्छा था। उसकी आयु दो सागर प्रमाण थी। देवांगनाएँ उसकी सेवामें उपस्थित रहती थीं। उसे देखकर देवांग-नाओंके नेत्रोंको बड़ा आनन्द होता था। उनके साथ वह आनन्दसे रहने लगा ॥७८॥

इस प्रकार महाकवि वीरनन्दी विरचित उदयांक चन्द्रप्रभ-
चरित महाकाव्यमें चौथा सर्ग समाप्त हुआ ॥४॥

---

१ श स कृञ्। २. =अवलोक्य।

पञ्चमः सर्गः

अथ धातकीत्युपपदेन युतामभिभूष्य[1] याम्यदिशि खण्डभुवम् ।
प्रविभासमानवपुरस्ति गुरुः सुरसेव्यसानुरिषुकारगिरिः[2] ॥१॥
अपि तस्य पूर्वभरते भरतप्रमुखक्षितीश्वरकृतावतरे ।
[3]कविवेधसां स्तुतिपथाविषयो विषयोऽलकेति दधदस्त्यभिधाम् ॥२॥
कमलानना मधुकरीनयना नवनालदण्डतनुबाहुलताः ।
हृदयंगमा वहति यः परितस्तरुणीरिव स्थलसरोरुहिणी ॥३॥

स सर्वदैकान्तमत विदूष्य स्याद्वादविद्या प्रकटीप्रकुर्वन् ।
मिथ्यान्धकार प्रहृत प्रवाण्या श्रीवासुपूज्यो जयता सुमान्यः[4] ॥

अथेति । अथ देवस्योदयत्यनन्तरम् । धातकीत्युपपदेन धातकीति समीपपदेन । युता युक्ताम् । खण्डभुव खण्डस्य[5] भूमिम् । अभिभूष्य अलंकृत्य । याम्यदिशि याम्याया दिशि दक्षिणाया दिशोत्यर्थ । प्रविभासमानवपु प्रविभासमान शोभमान वपु स्वरूप यस्य स । गुरुर्महान् । सुरसेव्यसानु सुरैर्देवै सेव्या आश्रयणीया सानवो यस्य स । इषुकारगिरि इष्वाकारपर्वत । अस्ति वर्तते ॥१॥ अपीति । अपि पुन. । भरतप्रमुखक्षितीश्वरकृतावतरे भरतप्रमुखैर्भरतादिभि क्षितीश्वरै भूमिपालै कृतो विहितोऽवतारो यस्मिन् स , तस्मिन्卐 ।[6] तस्य धातकीखण्डस्य[7] । पूर्वभरते पूर्वस्मिन् भरते भरतक्षेत्रे । कविवेधसा कविमुख्यानाम् । स्तुतिकथाविषय स्तुते स्तुतिरूपाया कथाया वाण्या अविषयोऽगोचर । अलकेति (अलका, इति) । अभिधाम् अभिधानम् । दधत् वहन्卐 । विषय देश । अस्ति वर्तते । अतिशयः ॥२॥ कमलेति । कमलानना कमलान्येव मुख यासा ता । रूपकम् । कमलानीव मुख यासा ता । उपमा । मधुकरीनयना· मधुकर्येव नयने यासा ता । रूपकम् । अथवा मधुकर्य इव नयने यासा ता । उपमा । नवनालदण्डतनुबाहुलता नवाना नूतनाना नालाना[8] दण्डा यष्टय त एव[9] तन्वी कृशा बाहुलता यासा ता । अथवा नवाना नालना दण्डा इव तन्वी कृशा बाहुलता यासा ता । उपमा । हृदयङ्गमा मनोहरा । तरुणीरिव युवतीरिव । स्थलसरोरुहिणी स्थले वर्तमान सरो-

श्रीवर्माके स्वर्गवासके पश्चात् उससे सम्बन्ध रखनेवाली कहानी शुरू होती है । दूसरे द्वीपका नाम धातकीखण्ड है । उसकी दक्षिण दिशामे एक पहाड है, जो बाणके आकारका होनेसे 'इष्वाकार' या 'इषुकार' नामसे विख्यात है । उससे धातकीखण्डकी शोभा है । वह सभी ओरसे सुन्दर है । वह अन्य पहाडोसे बडा है । इसीलिए उसके शिखरोपर देव लोग विचरण करते हैं ॥१॥ उसके पूर्व-भरतमे जहाँ भरत आदि राजे-महराजे जन्म ले चुके हैं, एक 'अलका' नामका देश है । उसका वर्णन बडे बडे कवि भी नही कर सके – वह अत्यन्त सुन्दर है ॥२॥ उस देशमे सभी ओरसे स्थल कमलिनी लगी हुई हैं, जो नवयुवतियोके समान हैं । नव युवतियोके मुख कमल सरीखे, नेत्र भँवरी जैसे और बाहु मृणाल जैसे होते हैं । स्थल-कमलिनियोमे कमल लगे हुए हैं, जो उनके मुख हैं, उनके ऊपर भँवरियाँ बैठी हैं, जो उनके नेत्र हैं और उनके मृणाल बिलकुल नवीन हैं, जो उनकी भुजाएँ हैं । दोनोकी सुषमा बिलकुल

१ आ इ °भिभूत्य । २ अ °रिगिरि । ३ अ कविवेशास्तुति° म °वेधसा स्तुति° । ४ आ प्रतौ पद्यमिद नास्ति । ५ आ श स षण्डभुव षण्डस्य । ६ आ प्रतौ स्वस्तिकान्तर्गत पाठो नावलोक्यते । ७ श स °षण्डस्य । ८ = नवा नूतना नालदण्डा मृणालयष्टय· । ९ श स इव ।

विततखिलक्षितितलाः पृथवः शिखरावलीवलयलीढघनाः ।
समतां यदीयनिगमान्तगता धरणीधरैर्दधति धान्यचयाः ॥४॥
विमलाकृतीरपरिदृष्टतला विहितादरैरपि गभीरतया ।
प्रबिभर्ति यः सकललोकमता[१] महतां मतीरिव महासरसीः ॥५॥
जलदीर्घिका [२]जनविगाह्यजलाः सरितः शकुन्तरवरम्यतटाः ।
प्रविभाति यः परिदधत्परितः सरसीश्च पङ्कजवनाभरणाः ॥६॥
खरशीतमारुतरजोरहिते समयोचितोष्णहिमवर्षसुखे ।
निवसन्कदाचिदपि नाकुलतां सकलर्तुषु व्रजति यत्र जनः ॥७॥

रुहिण्य पद्मिन्य[३] ता' । वहति धरति । श्लेषोपमा ॥३॥ विततेति । विततखिलक्षितितला' विततमखिलाना समस्ताना क्षितीना तल येषा (यैं) ते । पृथव. स्थूला । [४]शिखरावलीवलयलीढघना शिखराणा[५] शृङ्गाणामावल्याः समूहस्य वलयं वृत्तं लीढश्चुम्बितो घनो मेघो येषा (यैं) ते । यदीयनिगमान्तगता यदीयाना निगमाना ग्रामाणामन्त समीप गता । धान्यचया धान्यसमूहा । धरणीधरै पर्वतै । समता सादृश्यम् । दधति धरन्ति । उपमा ॥४॥ विमलेति । विमलाकृती विमला आकृतिर्यासा ता । गभीरतया गम्भीरत्वेन । विहितादरैरपि कृतप्रीतिभिरपि, गम्भीरत्व द्रष्टु प्रीतैरपीत्यर्थ । अपरिदृष्टतला' अपरिदृष्टमपरिलोकित तल यासा ता । सकललोकमता सकलै निखिलैर्लोकैर्जनै [मता] समता । महता सत्पुरुषाणाम् । मतीरिव बुद्धीरिव । महासरसी महती. सरसी । य देश । बिभर्ति धरति । उपमा ॥५॥ जलेति । जनविगाह्यजला जनैर्विगाह्य प्रवेशयोग्य जल यासा ता । जलदीर्घिका क्रीडासरोवरान् । शकुन्तरवरम्यतटा शकुन्ताना पक्षिणा रवैर्ध्वनिभी रम्य तट यासा ता । सरित नदी । पङ्कजवनाभरणा पङ्कजाना पद्माना वनमेव षण्डमेवाभरण यासा ता । सरसीश्च सरासि च । परित समन्तात् । परिदधत् बिभ्रत् । य अलकादेश प्रविभाति विराजते । भा दीप्तौ लट् । रूपकम् ॥६॥ खरेति । खरशीतमारुतरजोरहिते खरेण तीक्ष्णेन शीतेन शैत्येन (शीतलेन) मारुतेन वायुना रजसा रेणुना च रहिते व्यपगते । समयोचितोष्णहिमवर्षसुखे समयस्य कालस्योचितेन योग्येनोष्णेन हिमेन वर्षेण वृष्टिना (वृष्टया) । सुखे सुखभूते । यत्र देशे । निवसन् तिष्ठन् । जन प्रजा । कदाचिदपि एकदापि (कर्हिचिदपि) । सकलर्तुषु सकलेषु ऋतुषु । आकुलता

एक सरीखी है ॥३॥ उस देशके आस-पासमे बहुतसे गाँव हैं । उनके बाहर खलिहानोमे अनाजके ढेर लगे हुए हैं, जो पहाडो सरीखे है – पहाडोकी तरह वे सारे भूतलमे फैले हुए हैं, बडे हैं और अपने शिखरोसे मेघोको छू रहे है ॥४॥ वहाँ बडे-बडे सरोवर हैं । वे महान् पुरुषोकी बुद्धिके समान निर्मल हैं और गभीरता (गहराई) के कारण, आदर करनेवाले भी उनकी थाह नही ले पाते । अतएव वे सर्वमान्य हैं । निर्मलता, अगाधता और लोकमान्यताके कारण महान् पुरुषोकी बुद्धि और सरोवरोमे अद्भुत साम्य है ॥५॥ वहाँ जलसे लबालब भरी हुईं दीर्घिकाएँ (हौज) हैं, जिनका जल स्नान करने योग्य है । वहाँ अनेक नदियाँ हैं, जिनके तट पक्षियोके मधुर शब्दोसे मनको लुभानेवाले हैं । वहाँ बहुतसे सरोवर हैं, जिनमे कमल लहलहा रहे हैं । इन दीर्घिकाओ, नदियो और सरोवरोसे उस देशकी शोभामे चार चाँद लग गये हैं ॥६॥ वहाँ तेज लू, शीतलहरी और आँधी नही चलती । ऋतुओ (ग्रीष्म, शीत और वर्षा) के आनेपर उनके अनुकूल गर्मी सर्दी और बरसात होती है । फलतः वहाँके निवासी किसी भी

१. म °हता । २ भ जलवि° । ३. आ प्रतावेव 'पद्मिन्य.' इति समुपलभ्यते । ४ श स शेखरा° । ५. श स शेखरा । ६. आ श स °कृतिः ।

सिकतास्थलोज्ज्वलबृहज्जघना भ्रमनाभिकारुचिरमध्यभुवः।
सुपयोधरा वहति योऽङ्कगता निजवल्लभा इव महासरितः ॥८॥
न नवं वयो व्यसनवर्गहतं न जरा मतिस्मृतिविमोहहता।
न हता गुणा मलिनदोषगणैर्न च यत्र मृत्युरपमृत्युहतः ॥९॥
निरवग्रहैर्नवनवैः परितः परिपूर्णया विविधसस्यचयैः।
प्रतनोति योऽखिलजनस्य भुवा नयनोत्सवं सुरकुरूपमया ॥१०॥

व्याकुलत्वम्। न व्रजति न गच्छति। व्रज गतौ लट्[1] ॥७॥ सिकतेति। सिकतास्थलोज्ज्वलबृहज्जघना सिकताना स्थलानि प्रदेशास्तान्येवोज्ज्वले मनोहरे बृहती जघने यासा ता, पक्षे सिकतास्थलमिवोज्ज्वले बृहती जघने यासा ता। उपमा। भ्रमनाभिका भ्रमा आवर्तास्त एव नाभि र्यासा ता। रूपकम्। पक्षे भ्रमा इव नाभि र्यासा ता। रुचिरमध्यभुव रुचिरा मनोहरा मध्यस्य भू प्रदेशो यासा ता। सुपयोधराः सु शोभन पयो जल धरन्तीति सुपयोधरा, पक्षे सु शोभनो पयोधरौ यासा ता। अङ्कगता. अङ्कमप्रभाग गता', पक्षेऽङ्क-मूरुप्रदेश गता। निजवल्लभा इव निजस्य स्वस्य वल्लभा वनिता [ता] इव। महासरित' महातरङ्गिणी। य देश'। वहति धरति। वह प्रापणे लट्। श्लेषोपमा ॥ ८ ॥ नेति। यत्र देशे। नव नूतनम्। वय यौवनादि। व्यसनवर्गहत व्यसनाना द्यूतादीना वर्गेण समूहेन हत बाधितम्। न भवति। जरा वार्धक्यम्। मतिस्मृतिविमोहहता मते रागामिगोचराया स्मृतेरतीतविपयरूगाया विमोहेन वैपरीत्येन हता। न भवति। गुणा। मलिनदोषगणै मलिनै र्मलीमसै र्दोषाणा गणै निवहै। हता बाधिता। न भवन्ति। मृत्यु मरणम्। अपमृत्युहत अपमृत्युना कदलीघातादिना हतो बाधित। न भवति। परिसख्या ॥९॥ निरेति। य देश निरवग्रहै अवग्रहान्निर्गतै निरवग्रहैरप्रतिघातैरित्यर्थ[2]। नवनवै नूतनैर्नूतनै। वीप्सायां द्वि। विविधसस्यचयै विविधानां नानाप्रकाराणा सस्याना चयै। परित समन्तात्। परिपूर्णया सपूर्णया। सुरकुरूपमया सुरकुरोर्देवकुरोरुपमया समानया[3]। भुवा भूम्या। अखिलजनस्य सकलजनस्य। नयनोत्सव नेत्रसतोषम्। प्रतनोति

ऋतु (मौसम) मे व्याकुल नही होते ॥७॥ उस देशके बीचो-बीच जो नदियाँ बहती हैं, वे उसकी गोदमे बैठी हुई पत्नीके समान जान पडती हैं। पत्नीका जघन-भाग, रेतीले स्थल-टापूके समान उज्ज्वल और विशाल होता है, भँवर सरीखी नाभिसे उसका मध्यभाग विभूषित होता है और उसके सुन्दर स्तन होते हैं। इसी तरह वे नदियाँ रेतीले स्थल रूपी उज्ज्वल विशाल जघनोसे विभूषित हैं, उनके मध्यभाग भँवररूपी नाभिसे अलकृत हैं और उनका जल मधुर है ॥८॥ वहाँके निवासियोका नव यौवन जुआ आदि बुरी आदतोमे फँसकर बरबाद नही होता, बुढापेमे भी उनकी बुद्धि और स्मृति ठीक बनी रहती है – वे सठया नही जाते, उनके निर्मल गुण, दोषोसे मलिन नही होते। फलत उनको मृत्यु आयु समाप्त होनेपर ही होती है। विष आदिके द्वारा किसीकी अपमृत्यु (अकाल मरण) नही होती ॥९॥ उस देशकी भूमि सभी ओरसे नये-नये नाना प्रकारके अनाजसे परिपूर्ण रहनेसे देवकुरु (उत्तम भोगभूमि) सरीखी है। अनाजकी उपज, कभी सूखा (अवर्षण) आदिसे नष्ट नही होती। इसीलिए वह देश सभीके

---

१ आ श स लिट्। २ =वृष्टिप्रतिबन्धरहितैरिति यावत्। ३ =सुरकुरोर्देवकुरोरुपमा साम्य यस्याः सा, तया।

तरुराजयः सकुसुमाः कुसुमं फलवत्फलं मधुरतानुगतम् ।
नहि तत्र किंचिदपि वस्तु न यज्जनतामुदं प्रविदधात्यथवा ॥११॥
अथ कोशलेति भुवनत्रितये[1]प्रथितास्ति तत्र विषये नगरी ।
अलकेव भूरिविभवानुगतैः परिवारिता[2] प्रचुरपुण्यजनैः ॥१२॥
[3]तनुकुक्षयोऽप्यतनुधारमपो विसृजन्ति यत्र शरदागमने ।
अतितुङ्गसौधशिखरावततिप्रविदारितोदरभुवोऽम्बुधराः ॥१३॥
मणिदीपकप्रकरनिर्वृतये क्षिपती शिखासु निजमाल्यरजः ।
दयितेन यत्र नवमुग्धवधूरपहस्यते[4] नतमुखी त्रपया ॥१४॥

विदधाति । तनूञ् विस्तारे लट् । उपमा ॥१०॥ तरुराजय इति । तत्र देशे । तरुराजयः तरूणां वृक्षाणां राजयः श्रेणयः । सकुसुमाः[5] कुसुमसहिताः । कुसुमं पुष्पम् । फलवत् फलयुक्तम् । फलं मधुरता मधुरत्वम् । अनुगतं स्वीकृतम् (प्राप्तम्) । यत् वस्तु । जनतामुदं जनतायाः जनसमूहस्य मुदं संतोषम् । न प्रविदधाति[6] न करोति । अथवा तद्वस्तु किञ्चिदपि नहि नास्ति । तस्मिन् देशे सर्वं वस्तु सर्वजनानां संतोषप्रदमेव, प्रमोदप्रद (त्व) रहितं नास्तीत्यभिप्रायः । एकावलिः ॥११॥ अथेति । अथ अनन्तरम् तत्र विषये अलका-विषये । भूरिविभवानुगतैः भूरि बहुलविभवमैश्वर्यमनुगतैः । प्रचुरपुण्यजनैः प्रचुरैर्बहुभिः पुण्यजनैर्यक्षैश्च पुण्योपलक्षितजनैश्च । परिवारिता संकीर्णा । अलकेव कुबेरपुरमिव । कोशलेति[7] । भुवनत्रितयप्रथिता भुवनानां लोकानां त्रितयं तस्मिन् प्रथिता प्रसिद्धा । नगरी पुरी । अस्ति वर्तते । अस भुवि लट् । श्लेषोपमा ॥१२॥ तन्विति । यत्र कोशलायाम् । शरदागमने शरदः शरत्कालस्यागमने । अतितुङ्गसौधशिखरावततिप्रवि-दारितोदरभुवः[8] अतितुङ्गानामत्युन्नतानां सौधानां हर्म्याणां शिखराणां शृङ्गाणामवततया समूहेन प्रविदारिता विभिन्ना भूः प्रदेशो[9] येषां ते । अम्बुधराः मेघाः । तनुकुक्षयः तनुः कृशः कुक्षिर्येषां ते । अतनुधारम् अतन्वी महती धारा प्रवाहो यथा तथा । अपः जलानि । विसृजन्ति वर्षन्ति । सृज विसर्जने लट् । अतिशयः ॥१३॥ मणीति । यत्र कोशलायाम् । मणिदीपकप्रकरनिर्वृतये मणीनां रत्नानां दीपकानां[10] प्रकरः निवहः[11] निर्वृतये विनाशाय । शिखासु ज्वालासु । निजमाल्यरजः निजायाः[12] स्वकीयायाः माल्यस्य रजो रेणुम् । क्षिपती निक्षि-

नेत्रोंको आनन्द देने वाला है ॥१०॥ वहाँ बाग-बगीचे बहुत हैं । उनमें पंक्तिके अनुसार वृक्ष लगाये गये हैं । उनमें फूल लगे हुए हैं, फूलोंमें फल लगे हुए हैं और फलोंमें मधुरता भरी हुई है । वहाँ ऐसी कोई भी वस्तु नहीं जो जनताको आनन्दजनक न हो ॥११॥ यहाँ तक 'अलका' देशका वर्णन हुआ, अब यहाँसे उसकी 'कोशला' नगरीका वर्णन प्रारम्भ होता है । उस देशमें कोशला नामकी एक नगरी है । उसका नाम तीनों लोकोंमें प्रसिद्ध है । वह कुबेरकी अलका पुरीके समान है । जिस प्रकार अलका पुरीमें वैभवशाली पुण्यजन-यक्ष निवास करते हैं, उसी प्रकार कोशला नगरीमें वैभवशाली पुण्यजन-सज्जन निवास करते हैं ॥१२॥ बरसातमें मेघ सजल होनेसे तुन्दिल हो जाते हैं और शरद् ऋतुमें निर्जल होनेसे वे तुन्दिल नहीं रहते, किन्तु उस नगरीके महलोंके शिखरोंसे आहत होकर वे शरद् ऋतुमें क्षीणकोष होकर भी अपने मध्यभागसे मूसलाधार जल बरसा देते हैं ॥१३॥ वहाँ प्रथम मिलनकी वेलामें भोली-भाली नव-वधुएँ मणि-दीपोंको बुझानेके लिए उनके ऊपर अपनी मालासे पराग निकालकर फेंक देती

१ अ आ इ °त्रितये । २ अ परितश्चरत्प्रचु° । ३ अ स्वतनुक्षये । ४. इ क ख ग घ म °रवहस्यते । ५ आ सुकुसु° । ६. आ श स न विदधाति । ७ = 'कोशला' इति नामवती । ८ श स °धरभुव । ९ = उदरभूः मध्यप्रदेशः । १० = मणिदीपकानाम् । ११ = प्रकरो निवहः, तस्य । १२. = निजमाल्यस्य स्वमालाया रजो रेणुम् ।

विविधासु धन्यजनहर्म्यततेर्मणिभूमिषु प्रतिमया निपतन् ।
निशि यत्र कुन्दसदृशः कुसुमप्रकरायते ग्रहगणो निखिलः ॥१५॥
असतीजनं जिगमिषुं बहुलक्षणदामुखेषु दयितावसथम् ।
निज एव विघ्नयति यत्र मुहुर्मुखचन्द्रमाः स्मितविभिन्नतमाः ॥१६॥
रजनीषु यत्र गुरुहर्म्यशिखागतनीलरत्नरुचिविच्छुरितः ।
हिमदीधितिर्भवति कृष्णवपुः पुरयोषितामिव मुखैर्विजितः ॥१७॥
शिखराणि यत्र परिधेः परितः परिवारितानि शरदभ्रलवैः ।
रविवाजिनामिव विलङ्घयतां श्रमजैर्विभान्ति मुखफेनचयैः ॥१८॥

पती[1] । त्रपया लज्जया । नतमुखो विनताननो । नवमुग्धवधूः नवा नूतना मुग्धा अप्रौढा वधूः वनिता । दयितेन पुरुषेण । अपहस्यते परिहास्यते । हसे हसने कर्मणि लट् ॥१४॥ विविधेति । यत्र पुर्याम् । धन्यजनहर्म्यतते धन्यानां पुण्यवतां जनानां हर्म्याणां सौधानां तते पङ्क्तेः । विविधासु नानाविधासु । मणिभूमिषु रत्नभूमिषु । निशि निशायाम् । 'पद्दन्—' इत्यादिना निशाशब्दस्य निश् इत्यादेशः । प्रतिमया प्रतिबिम्बेन । निपतन् सङ्क्रममाणः । कुन्दसदृशः कुन्दस्य सदृशः । निखिलः सकलः । ग्रहगणः ग्रहाणां नक्षत्राणां गणः समूहः । कुसुमप्रकरायते कुसुमप्रकर इवाचरतीति कुसुमप्रकरायते । उपमा ॥१५॥ असतीति । यत्र पुर्याम् । बहुलक्षणदामुखेषु बहुलस्य कृष्णपक्षस्य क्षणदानां रात्रीणां मुखेषु प्रारम्भेषु । दयितावसथं दयितस्योपपतेरावसथमावासम् । जिगमिषुं गन्तुमिच्छुम् । असतीजनम् असत्येव (असतीनां) जनस्तम्—जारस्त्रीजनम् । स्मितविभिन्नतमाः स्मितेनेषद्धसनेन विभिन्नं निराकृतं तमो यस्य (येन) सः । निज एव स्वकीय एव । मुखचन्द्रमाः मुखमेव चन्द्रमाश्चन्द्रः । मुहुः पश्चात् । विघ्नयति प्रत्यूहं करोति । विघ्न इति सुब्धातो 'णिज्बहुलं कृञादिषु' इति णिच् ॥१६॥ रजनीष्विति[2] । यत्र पुर्याम् । रजनीषु रात्रिषु । गुरुहर्म्यशिखागतनीलरत्नरुचिविच्छुरितः गुरूणां महतां हर्म्याणां सौधानां शिखाः शिखराणि गतानां नीलरत्नानां रुचिभिः कान्तिभिर्विच्छुरितो मिश्रितः । हिमदीधितिः चन्द्रः । सामान्यालङ्कारः (तद्गुणालङ्कारः) पुरयोषितां पुरस्त्रीणाम् । मुखैः वदनैः । विजित इव निराकृत इव । कृष्णवपुः कृष्णशरीरः । भवति । उपमा [उत्प्रेक्षा] ॥१७॥ शिखरेति । यत्र पुर्याम् । शरदभ्रलवैः शरदः शरत्कालस्याभ्रस्य मेघस्य लवैः खण्डैः । परितः सर्वतः । परिवारितानि व्याप्तानि । परिधेः सालस्य । शिखराणि शृङ्गाणि । विलङ्घयतां लङ्घनं कुर्वताम् । रविवाजिनां सूर्यतुरङ्गाणाम् । श्रमजैः आयासजनितैः ।

हैं । यह देखकर उनके पति हँसने लगते हैं और वे लज्जित होकर अपना सिर नीचेको ओर झुका लेती हैं ॥१४॥ वहाँ धनिक लोगोके महलोमे जो फर्श हैं, उनमे मणि जडे हुए हैं। रात्रिके समय उनमे ग्रह-नक्षत्र आदि जो दूरसे कुन्द-पुष्प सरीखे जान पडते हैं – प्रतिबिम्बित होकर पुष्प-पुञ्ज सरीखे प्रतीत होते हैं ॥१५॥ वहाँ जो अभिसारकाएँ कृष्ण पक्षकी रात्रिके प्रारम्भमे अपने उपतियो (यारो) के घर जाना चाहती हैं, उन्हे उन्हीका मुख-चन्द्र अपनी मुसकानकी चाँदनीसे अन्धकार मिटाकर विघ्न डाल देता है ॥१६॥ वहांके महलोके ऊपरी भागोमे नीलरत्न जडे हुए हैं । रात्रिके समय उनकी प्रभासे चन्द्रमा काला पड जाता है । मानो उस नगरीकी स्त्रियोंके मुखसे पराजित हो जानेसे वह ऐसा (काला) हो गया है ॥१७॥ उस नगरीकी चहार दीवारीपर जब चारो ओरसे शरत्कालीन मेघोंके छोटे-छोटे टुकडे छा जाते हैं, तब ऐसा जान पडता है मानो उस (चहार दीवारी) को लाँघनेवाले सूर्यके घोडोंके मुखसे

१ = पातयन्ती । २. श स अजनिष्टेति ।

सति मानसेऽप्यकलुषाम्भसि यद्गृहदीर्घिकानिरतहंसकुलैः[1] ।
न विमुच्यते सततसंनिहितैरिव सुन्दरीगतिशिशिक्षिषया ॥१९॥
अतुलप्रतोलिशिखराग्रगतस्फटिकोपलांशुचयसवलितः ।
भजते सहस्रकिरणत्वमुडुप्रकरोऽपि यत्र रजनीसमये ॥२०॥
सुरसुन्दरीसमशरीरलता प्रविधाय यत्र युवतीर्विधिना ।
समपादि संकरभियेव भिदा सनिमेषलोचनयुगेन पुनः ॥२१॥
त्रिदशाधिवासजिति यत्र सदाप्यगुणः समस्ति परमेष महान् ।
निपतन्मुखे कमलशङ्किमना यदुपद्रवत्यलिगणः सुमुखीः ॥२२॥

मुखफेनचयं मुखस्य फेनाना चयैरिव । विभान्ति विरेजु । भा दीप्तौ लट् । उत्प्रेक्षा ॥१८॥ सतीति । या पुरी । अकलुषाम्भसि अकलुष निर्मलमम्भो यस्मिन् तस्मिन् । मानसे सरस्यपि[1] सुन्दरीगतिशिशिक्षिषयेव सुन्दरीणा नारीणा गतेर्गमनस्य शिशिक्षिषयेव अभ्यासेच्छयेव । सततसंनिहितै सततमनवरत सनिहितैः । गृहदीर्घिकानिरतहंसकुलै गृहदीर्घिकासु क्रीडासरोवरेषु निरतैस्तत्परै हसाना मरालाना कुलै समूहै । न विमुच्यते न त्यज्यते । मुच्लृ[2] मोक्षणे कर्मणि लट् । उत्प्रेक्षा ॥१९॥ अतुलेति । यत्र पुर्याम् । रजनीसमये रात्रिकाले । अतुलप्रतोलिशिखराग्रगत अतुलाया प्रमातीताया प्रतोल्या गोपुरस्य शिखराणामग्र गत । स्फटिकोपलांशुचयसवलित स्फटिकोपलाना स्फटिकपाषाणानामशूना किरणाना चयेन निवहेन सवलितो मिश्रित । उडुप्रकरोऽपि उडूना नक्षत्राणा प्रकरोऽपि समूहोऽपि । सहस्रकिरणत्व प्रचुरकिरणत्वम्[3] । भजते सेवते । भज सेवाया लट् । सामान्यालङ्कार ॥२०॥ सुरेति । यत्र पुर्याम् । विधिना कर्मरूपेण । सुरसुन्दरीसमशरीरलता सुरसुन्दरीणा दिविजस्त्रीणा समा समाना शरीरमेव लता यासा ता । युवती नारी । प्रविधाय निर्माय । पुन पश्चात् । सकरभियेव मिश्रणभयेनेव । सनिमेषलोचनयुगेन सनिमेषयोर्निमेषसहितयोर्लोचनयोर्नयनयोर्युगेन । भिदा भेद । समपादि अकारि । पदि गतौ कर्मणि लुङ् ॥२१॥ त्रिदशेति । त्रिदशाधिवासजिति त्रिदशाना देवानामधिवासमावास जयतीति त्रिदशाधिवासजित् तस्मिन्[4] । यत्र पुर्याम् । सदा सर्वदापि । कमलशङ्किमना कमलमिति शङ्कि शङ्कनशील मनो यस्य स । मुखे वदने । निपतन् विनमन् । अलिगण अलीना[5] भ्रमराणा गण । सुमुखी सु शोभन मुख यासा ता । उपद्रवति बाधते । द्रु गतौ लट् । यत् यस्मात् ।

परिश्रमके कारण गिरे हुए फेन-पुञ्ज हो ॥१८॥ उस नगरीकी दीर्घिकाओमे – जो घर-घर बनी हुई हैं – हस इतने रम गये हैं, कि निर्मल जलवाले मानस सरोवरके पासमे होनेपर भी, वे उसमे नही जाते । मानो वे वहाँकी स्त्रियोकी सुन्दर चाल सीखनेके लिए निरन्तर वही रहना चाहते हैं – शिक्षामे व्यवधान न हो, मानो यह सोचकर उस नगरीको (वर्षा ऋतुमे भी) नही छोडना चाहते ॥१९॥ उस नगरीके प्रमुख दरवाजोके ऊपरी शिखर अनुपम हैं । उनमे स्फटिक मणि जडे हुए हैं । रात्रिके समय उनकी किरणे नक्षत्र मण्डलके ऊपर पडती हैं । फलत वह (नक्षत्रमण्डल) भी हजार किरणोवाला (सूर्य) हो जाता है ॥२०॥ ब्रह्मा (नाम कर्म) ने वहाँको युवतियोको देवागनाओके समान सुकुमार और सुन्दर बनाकर, बादमे उनमे खुलने और बन्द होनेवाले (सनिमेष) लोचन लगा दिये । मानो इस भयमे कि वे देवागनाओमे मिलकर कही एक न हो जायें ॥२१॥ यो उस नगरीने अपनी सुषमासे स्वर्गको मात कर दिया है, किन्तु वहाँ यह एक बहुत बडा दोष सदा बना ही रहता है कि स्त्रियोके

१ = मानससरोवरे सत्यपि । २ श स मुच । ३ = सूर्यत्वमिति व्यज्यते । ४. = तस्याम् । ५ आ अलिनाम् ।

अथ तत्र शक्त्युपचयानुगतो नृपशेखरीकृतपदाम्बुरुहः ।
नयविक्रमार्जितजगज्जयवानजितंजयोऽजनि नराधिपतिः ॥२३॥
बिसतन्तुनिर्मलतमैर्जनतापरितापनोदिभिरतीततुलैः ।
करणैरिवोडुपतिनात्मगुणैर्धवलीकृता जगति येन दिशः ॥२४॥
मम कः प्रतापमवजेतुमलं जगतीत्युदेति समदः प्रथमम् ।
प्रविलोक्य धाम पृथु यस्य पुना रविरेति लज्जित इवास्तमयम्[1] ॥२५॥
महिमा निसर्गविनयेन यथा न तथा श्रियाप्यजनि यस्य सत. ।
न निमित्तमत्र विभव. पुरुषं गुणसंपदेव गुरुतां नयते ॥२६॥

अय महान् । पर केवलम् । अगुण दोष । समस्ति वर्तते । भ्रान्तिमान् ॥२२॥ अथेति । अथ अनन्तरम् । तत्र पुर्याम् । शक्त्युपचयानुगत. शक्तीना प्रभुमन्त्रोत्साहशक्तीनामुपचय वृद्धिमनुगत । नृपशेखरीकृत-पदाम्बुरुह नृणा भूपतीना शेखरीकृत प्रागशेखरइदानीं शेखर क्रियते[2]स्म तथोक्त पादावेवाम्बुरुह तथोक्तं नृपशेखरीकृतं पदाम्बुरुह येन स । नयविक्रमार्जितजगज्जयवान् नयविक्रमाभ्या नीतिपराक्रमाभ्यामर्जित सपादितो जगता जयस्तथोक्त', नयविक्रमार्जितश्चासौ जगज्जय सोऽस्यास्तीति तथोक्त । अजितजय इति । जनाधिपति राजा । अजनि अजायत । जनैङ् प्रादुर्भावे लुङ् ॥२३॥ बिसेति । उडुपतिना चन्द्रेण । बिसतन्तुनिर्मलतमै बिसस्य[3] कमलस्य तन्तव इव निर्मलतमैरत्यन्तनिर्मलै । जनतापरितापनोदिभि जनताया जनसमूहस्य । 'ग्रामजनबन्धुगजसहायात्तल्' इति समूहार्थे तल् । परितापनोदिभि सतापहारिभि । अतीततुलै' अतिक्रान्ततुलाराशिभि, पक्षे उपमातीतै । किरणैरिव कान्तिभिरिव । येन अजितजयेन । आत्मगुणै स्वकीयगुणै । जगति लोके । 卐 दिश[4] ककुभ । विमलीकृता प्रागविमला इदानीं विमला क्रियन्तेस्म तथोक्ता । 'कर्मकर्तृभ्या प्रागतत्त्वेच्वि.' इति च्वि । 'च्वौ चानव्ययस्य' इति–अकारस्य ईकार । श्लेषोपमातिशयौ ॥२४॥卐 ममेति । जगति लोके । मम मे । प्रताप विक्रमं तेजश्च । अवजेतु जयनाय । क को वा । अल समर्थ । इति[5] प्रकारेण । प्रथम समद गर्वसहित । रवि सूर्य । उदेति उद्भवति । पुन पश्चात् । यस्य राज्ञ । पृथु महत् । धाम तेज । प्रविलोक्य प्रवीक्ष्य । लज्जित इव त्रपित इव । अस्तमयम् अस्ताद्रिम् । एति गच्छति । इण् गतौ लट् । उत्प्रेक्षा ॥२५॥ महिमेति । सत सत्पुरुषस्य ।

मुखको कमल समझकर भौरे उन्हें सताया करते हैं ॥२२॥ यहाँसे, वहाँके राजा अजितजयका वर्णन प्रारम्भ होता है। उस कोशलापुरीमे अजितजय नामका राजा राज्य करता था। उत्साह शक्ति, मन्त्रशक्ति और प्रभुशक्ति ये तीनो शक्तियाँ खूब विकसित होकर उसका अनुगमन करती थी। सभी राजे-महाराजे मस्तक नवाकर उसे नमन करते थे। उसने नीति और पराक्रमसे सारे जगत्पर विजय पा ली थी ॥२३॥ जिस प्रकार चन्द्रमा मृणालतन्तुओके समान अत्यन्त निर्मल, जनताके सन्तापको मिटानेवाली और तुलाराशिको पार करनेवाली अपनी किरणोसे ससारकी सभी दिशाओको उज्ज्वल कर देता है, इसी प्रकार उस राजाने भी मृणालततुओके समान अत्यन्त निर्मल एव प्रजाजनके सन्तापको मिटानेवाले अपने अनुपम गुणोसे विश्वके कोने-कोनेको उज्ज्वल कर दिया था ॥२४॥ 'इस ससारमे मेरे प्रताप (तेज, पराक्रम) को जीत ही कौन सकता है' यह सोचकर जो सूर्य सवेरे सगर्व होकर उदित होता है, वही उस राजाके सर्वत्र फैले हुए प्रबल प्रतापको देखकर मानो लज्जित होकर शामको फिर डूब जाता है ॥२५॥ उसकी जो महिमा विनयसे थी वह लक्ष्मीसे नही थी। लक्ष्मी तो

१ अ आ °मय । २ श स क्रियन्ते स्म । ३ =कमलदण्डस्य तन्तुभिरिव । ४ श स स्वस्तिकान्तर्गत पाठो न नोपलभ्यते । ५ = इत्थ विचार्येति यावत् ।

भुवनातिगेन यशसा कथितं प्रविधार्य यस्य गुरु धैर्यगुणम् ।
लवणोदधिर्निजयशोभिभवादिव कालिमानमवहद्वपुषि ॥२७॥
दहनेन येन रिपुवंशततेः सुहृदाननाम्बुजविकासकृता ।
न जितः परं दिनमणिर्महसा शशलाञ्छनोऽपि कमनीयतया ॥२८॥
गुरुरीश्वरो नरकभिद्धनद[1] कमलालयः शिशिरगुश्च बुधः ।
सुगतश्च सन्सकलदेवमयः समपादि यो वसुमतीवलये ॥२९॥

यस्य राज्ञ । निसर्गविनयेन सहजविनयेन । यथा[2] येन । महिमा महत्त्वम् । 'पृथ्वादेर्वेमन्' इति भावे इमन्-प्रत्यय । अजनि अजायत । तथा तेन[3] । श्रियापि सपत्त्यापि । [4]नाजनि । अत्र जगति । विभव सपत् । निमित्त कारणम् । न भवति । गुणसपदेव गुणसपत्तिरेव । पुरुषम् आत्मानम् । गुरुता महत्त्वम् । नयते प्रापयति । णीञ्[5] प्रापणे लट् । अर्थान्तरन्यास ॥२६॥ भुवनेति । यस्य राज्ञ । भुवनातिगेन भुवनमतिगच्छतीति भुवनातिग तेन । यशसा कीर्त्या । कथित प्रोक्तम् । गुरुधैर्यगुण गुरोर्महतो धैर्यस्य गुण धैर्यमेव गुण वा । प्रविधार्य निश्चयित्वा (निश्चित्य) । लवणोदधि लवणरूपाण्युदकानि धीयन्तेऽस्मिन्निति तथोक्त लवणसमुद्र । निजयशोऽभिभवादिव निजस्य स्वकीयस्य यशस कीर्तेरभिभवादिव तिरस्करणादिव । वपुषि अवयवे । कालि-मान कृष्णत्वम् । 'वर्णदृढादिभ्य —' इति इमन् । अवहत् अधरत् । वह्नी[7] प्रापणे लङ् । उत्प्रेक्षा ॥२७ । दहनेनेति । रिपुवशतते रिपूणा शत्रूणा वशानामन्वयाना ततेर्निकरस्य । दहनेन वह्निना । सुहृदाननाम्बुज-विकासकृता सुहृदा मित्राणामाननान्येवाम्बुजानि कमलानि तेषा विकासकृता[8] । रूपकम् । येन[9] । महसा तेजसा । पर केवलम् । दिनमणि सूर्य । न जित. न जीयते स्म[10] । पुन । कमनीयतया मनोहरतया । शशलाञ्छनोऽपि चन्द्रोऽपि, जित इत्यर्थ । दीपकम् ॥२८॥ गुरुरिति । य राजा । गुरु[11] बृहस्पतिः । ईश्वर द्रव्यपती रुद्रश्च । नरकभित् नरकगतिनामकर्मच्छेदको विष्णुश्च । धनद[12] धन प्रदाता कुबेरश्च । कमलालय कमलाया लक्ष्म्या आलयो निलयो ब्रह्मा च । शिशिरगु शिशिरा गौर्यस्य शीतलवचन इत्यर्थ ,

औरोके पास भी थी, पर उस जैसी विनय किसीमे नही थी । वह सज्जन जो था । पुरुषके बडप्पनमे वैभव उतना कारण नही जितनी गुणोकी सम्पत्ति होती है । पुरुषको गौरव, गुणोसे ही मिलता है । गुण-सम्पत्ति ही उसे गौरवकी ओर ले जाती है ॥२६॥ उसका यश इस लोकमे समा नही रहा था । वह (यश) उस (राजा) के महान् धैर्यगुणको व्यक्त कर रहा था । उसके धैर्यने समुद्रके धैर्यगुणसे उत्पन्न हुए यशको भी फीका कर दिया । मानो इसी कारणसे लवण समुद्र चारो ओरसे काला पड गया ॥२७॥ शत्रु-वशको जलानेके लिए वह अग्नि था और मित्रोके मुखकमलको विकसित करनेके लिए सूर्य । यो सूर्य भी बाँसोको जलाता है और अपने मित्र-कमलोको विकसित करता हैं । अत. वह उस राजाके समान माना जा सकता है, किन्तु राजाने अपने तेजसे उसे जीत लिया था, तथा चन्द्रमाको अपनी सुन्दरतासे ॥२८॥ प्रजाको शिक्षा देनेसे वह उसका गुरु (बृहस्पति) था, सब कुछ करनेमे समर्थ होनेसे ईश्वर (शकर) था, नरकगतिमे ले जानेवाले पापोका भेदन करनेसे नरकभित् (विष्णु) था, धन देनेसे धनद (कुबेर) था, सम्पन्न होनेसे कमला-लक्ष्मीका निवास स्थान (कमलालय ब्रह्मा) था;

१ अ आ इ क ख ग घ म कविद्धनद । २ =येन प्रकारेण । ३. =तेन प्रकारेण । ४. श स अजनि । ५ आ नायते प्रायते । श स नायते । ६ आ णिञ् । ७ आ वहि । श स वह । ८ =विकासकारिणा । ९ राज्ञा । १० श स न जयति स्म । ११. =महान् बृहस्पतिश्च । १२. =धनप्रदाता ।

निजशौर्यवह्निहुतशत्रुगणे गुणरञ्जिताखिलमहीवलये ।
पृथुधाम्नि रक्षितरि यत्र सदा निरुपद्रवा विववृधे धरणी ॥३०॥
रिपुसुन्दरीविततबाष्पजलैः शमितोरुवैरदहनस्य सतः ।
रविधाम यस्य ससहायमभूदुरुतेजसाखिलमटद्भुवनम् ॥३१॥
निजविक्रमाहितरणैकरसो मददृप्तकेसरिकिशोर इव ।
द्विपतां बले विपुलतेजसि यः प्रबबन्ध कीटकधियं प्रधने ॥३२॥
अतुलप्रतापपरिभूततमोरिपुधाम्नि यत्र कृतदिग्विजये ।
निजनाम सर्वभुवनप्रथितं दधुरर्थशून्यमधिपाः ककुभाम् ॥३३॥

चन्द्रश्च । बुधः विद्वान् बुधग्रहश्च । सुगतः सम्यग्ज्ञानी बुद्धश्च सन् । वसुमतीवलये वसुमत्या भूमेर्वलये मण्डले । सकलदेवमयः[1] सकलदेवानां मयः स्वरूपः । समपादि[2] समभवत् । पदि गतौ लुङ् । 'पद' इति कर्तरि जिः ॥२९॥ निजेति । निजशौर्यवह्निहुतशत्रुगणे निजस्य स्वस्य शौर्यमेव वह्निस्तस्मिन् हुतो हवनं कृतः शत्रूणां वैरिणां गणो यस्य (येन) तस्मिन् । गुणरञ्जिताखिलमहीवलये गुणैः रञ्जितं प्रीणितमखिलं महीवलयं भूमण्डलं यस्य (येन) तस्मिन् । पृथुधाम्नि महाप्रतापे । रक्षितरि पालयितरि । यस्मिन् राज्ञि (सति) । सदा सर्वस्मिन् काले । निरुपद्रवा निर्बाधा । धरणी भूमिः । विववृधे[4] वर्धतेस्म । वृधूङ् वर्धने लिट् ॥ ३० ॥ रिपुविति । अखिलं निखिलम् । भुवनं जगत् । अटत् गच्छत् । रविधाम रवेः सूर्यस्य धाम तेजः । रिपुसुन्दरीविततबाष्पजलैः रिपूणां शत्रूणां सुन्दरीणां वनितानां विततैर्बाष्पजलैरश्रुजलैः । शमितोरुवैरदहनस्य शमितो दमितः उरुर्महान् वैरमेव दहनो यस्य तस्य । सतः सत्पुरुषस्य । यस्य राज्ञः । उरुतेजसा महाप्रतापेन । ससहायम्[5] । अभूत् अभवत् । भू सत्तायां लुङ् ॥३१॥ निजेति । निजविक्रमाहितरणैकरसः निजस्य स्वस्य विक्रमेण पराक्रमेणाहिते कृते रणे संग्रामे एको मुख्यो रसो यस्य सः । मददृप्तकेसरिकिशोर इव मदेन दृप्तो गर्वितः केसरिणः सिंहस्य किशोर इव शावक इव । यः राजा । प्रधने संग्रामे । विपुलतेजसि विपुलप्रतापयुक्ते[6] । द्विपतां शत्रूणाम् । बले सैन्ये । कीटकधियं कीटक इति बुद्धिम् । प्रबबन्ध करोति स्म । बन्ध[7] संयमने लिट् ॥३२॥ अतुलेति । अतुलप्रतापपरिभूततमोरिपुधाम्नि अतुलेनोपमातीतेन प्रतापेन तेजसा परिभूतं तिरस्कृतं तमोरिपोः सूर्यस्य धाम तेजो यस्य[8] तस्मिन् । यत्र राज्ञि । कृतदिग्विजये सति कृतो विहितो दिशां जयो येन तस्मिन् सति । ककुभां दिशाम् । अधिपाः अधिपतयः । सर्वभुवनप्रथितं सर्वेषु भुवनेषु प्रथितं प्रसिद्धम् । निजनाम स्वस्वनामधेयम् ।

मधुरभाषी होनेसे शिशिरगु (चन्द्रमा) था, पण्डित होनेसे बुध (बुधग्रह) था और सम्यग्ज्ञानी होनेसे सुगत (बुद्ध) था । इस प्रकार वह इस भूमण्डलमे सर्वदेवमय था ॥२९॥ उसने शत्रु-वर्गको अपने पराक्रमकी अग्निमे होम दिया था और सारे भूमण्डलको अपने गुणोसे प्रसन्न कर दिया था । अतः उस प्रबल प्रतापी राजाके रक्षक होनेपर पृथ्वी सदा उपाद्रवोंसे रहित होकर खूब समृद्ध हो रही थी ॥३०॥ उसने अपने वैरकी अग्निको शत्रु-नारियोके अश्रुजलसे शान्त-कर दिया था और उसका तेज सूर्यके उस तेजको सहायक हुआ, जो सारे ससारमे अकेला ही भटकता रहा ॥३१॥ अपने पराक्रमसे रण छेडनेमे उसे बडा रस आता था । अतः सगर्व शेरके बच्चेकी भाँति वह रण-क्षेत्रमे तेजस्वी-से-तेजस्वी शत्रुओंके दल बलको अपने सामने कीडा-मकोडा समझता था ॥३२॥ उसने अपने अनुपम प्रतापसे सूर्यके प्रतापको मात कर दिया था । उसने जब पूर्व आदि सभी दिशाओपर विजय पा ली, तब इन्द्र, वरुण, कुबेर और यम

---

१. =सकलदेवस्वरूपः । २ =विहित । ३ =आहुतिरूपता नीत । ४ आ निववृधे । ५ =ससहाय । ६ आ रुद्रप्रतापसयुक्ते । ७ आ वध । ८ =येन ।

जयशालिनः सहजभद्रतया परिभूषितस्य गुरुवंशभृतः ।
अजनिष्ट यस्य न मनागपि दिक्करिणोऽपि कीर्तिनिलयस्य मदः ॥३४॥
वसुधां पयोनिधिपयोवसनां परिघाकृतौ दधति यस्य भुजे ।
गुरुभारभुग्नमहिराजशिरोनिकुरम्बमुन्नतिमवाप चिरात् ॥३५॥
निजरूपविभ्रममनोरमयाजितसेनया स कुलपुत्रिकया ।
प्रजगाम योगमवनीतिलको रजनीमुखे विधुरिवात्मरुचा ॥३६॥
यदभूत्सुरासुरवधूसमितेरुपपादने महदतीवतराम्[1] ।
प्रकटं विधातुमिव तद्विधिना निजकार्यकौशलमजन्यत या ॥३७॥

अर्थशून्यम् अर्थेन शून्यम् । दधु धरन्ति स्म । डुधाञ् धारणे च लिट् ॥३३॥ जयेति । जयशालिन जयेन शालिन सपूर्णस्य । सहजभद्रतया सहजया सहजातया भद्रतया मङ्गलत्वेन भद्रजातितया । परिभूषितस्य अलङ्कृतस्य । गुरुवशभृत गुरु महन्त वश पृष्ठास्थि[2] भृत धरस्य, पक्षे महान्वयभृत कीर्तिनिलयस्य कीर्तेर्निलयस्य निवासस्य । दिक्करिणोऽपि दिग्दन्तिनोऽपि । यस्य राज्ञ । मनाक् ईषत् । मदो नाजनिष्ट नाजायत । जनैङ् प्रादुर्भावे लुङ् । श्लेष. ॥३४॥ वसुधामिति । परिघाकृतौ परिघस्येव अर्गलाया इवाकृतिराकारो यस्य तस्मिन् । यस्य राज्ञ. । भुजे बाहौ । दधति धरति सति । गुरुभारभुग्न गुरुणा महता भारेण भुग्न रुग्णम् । अहिराजशिरोनिकुरम्बम् अहिराजस्य महाशेषस्य शिरसा शीर्षाणा निकुरम्ब कदम्बकम् । चिरात् चिरकालात् । उन्नतिम् उन्नमनम् । अवाप आयाति स्म । आप्लृ व्याप्तौ लिट् ॥३५॥ निजेति । अवनीतिलक भूतिलक. । सः अजितजय.[3] । निजरूपविभ्रममनोहरया [मनोरमया] निजस्य स्वकीयस्य विभ्रमेण विलासेन मनोहरया [मनोरमया मनोहरया] । अजितसेनया अजितसेनादेव्या । कुलपुत्रिकया कुलसजातया । रजनीमुखे रजन्या रात्र्या मुखे प्रारम्भे । आत्मरुचा स्वस्य कान्त्या । विधुरिव चन्द्र इव । योग सबन्धम् । प्रजगाम प्रययौ । गम्लृ[4] गतौ लिट् । उपमा ॥३६॥ यदिति । सुरासुरवधूसमितौ सुराणा देवानामसुराणा भवनवासिना च वधूना वनिताना समितौ समूहे । 'सङ्घे[5] सभाया समिति' इत्यभिधानात् । अतीवतरा नितान्तम् । यत्

आदि समस्त दिक्पालोके लोक-प्रसिद्ध नाम निरर्थक हो गये – वे कोरे नामके ही दिक्पाल रह गये ॥३३॥ दिग्गज विजयमे सुशोभित होता है, भद्र जातिसे विभूषित होता है, उभरी हुई रीढकी हड्डीसे युक्त होता है और बहुत यशस्वी होता है किन्तु निर्मद-मद जलसे रहित नही होता । पर यह एक विचित्र-सी बात है कि वह राजा विजयसे अलकृत था, स्वाभाविक भद्रतासे विभूषित था, बहुत बडे वशमे उत्पन्न हुआ था, यशस्वी था और था दिक्करी-समस्त दिशाओसे टैक्स वसूल करनेवाला (दिग्गज), किन्तु उसे मद-अहकार (मदजल) तनिक भी नही था ॥३४॥ पृथ्वीके भारी भारसे शेष नागके सारे (एक हजार) सिर (फण) नीचेकी ओर झुक गये थे । किन्तु उस राजाने जब अपने परिघ सरीखे बाहुसे समुद्र तककी पूरी पृथ्वीको सभाल लिया तो उन्हे (शेषनागके शिरोको) बहुत समयके बाद ऊपर उठनेका अवसर मिल गया ॥३५॥ वह पृथ्वीका तिलक था । उसका विवाह अजितसेना नामकी कुलीन कन्याके साथ हुआ । वह अपने सौन्दर्य और हाव-भावसे अजितजयके मनको रमाने वाली थी । अजितजय और अजितसेनाकी जोडी बडी सुन्दर थी, जैसी रात्रिके प्रारम्भमे चाँद और चाँदनीकी होती है ॥३६॥ सुर-कल्पवासी देवो और असुर-भवनवासी, व्यन्तर तथा

१ क ख ग घ °तीवतरम् । २ बिभर्तीति पृष्ठास्थिभृत्, तस्य । ३ आ अजितसेन । ४ आ गमऌ गतौ । श स गम गतौ । ५ आ श स प्रतिपु 'सङ्घे' इत्येव पाठ समुपलभ्यते, परम् अमरकोशे 'सङ्गे' पाठो वर्तते ।

रतिरूपसंपदभिभूतिकरैर्ललितैर्निजस्य वपुषोऽवयवैः ।
शुभलक्षणैः परिविभूषितया विभवाय भूषणमभारि यया ॥३८॥
शशलाञ्छनेऽस्तमितवत्यपि सत्यगमद्यदीयमुखचन्द्रमसा ।
स्मितचन्द्रिकोज्ज्वलतरद्युतिना जगतीतलं सरजनीकरताम् ॥३९॥
स तयोर्गुणाभरणभूषितयोर्विबुधः समेत्य सुरलोकभुवः ।
भुवनातिशायिकमनीयतनुस्तनुभूरभूदजितसेन इति ॥४०॥
जनतानुरागपरिवृद्धिकरः सुभगाकृतिर्वयसि यः प्रथमे ।
शरदौषधीपतिरिवामलिनस्तिलकः क्षितेरुपचिकाय कलाः ॥४१॥

निजकायकौशलं निजस्य स्वस्य कार्यस्य[2] क्रियायाः कौशलं प्रौढत्वम् । अभूत् अभवत् । लुङ् । तत् प्रकटं प्रकाशम् । विधातुमिव कर्तुमिव । विधिना ब्राह्मणा । या देवी । अजन्यत जन्यते स्म । जनैङ् प्रादुर्भावे णिजन्तात् कर्मणि लुङ् । उत्प्रेक्षा ॥३७॥ रतीति । रतिरूपसंपदभिभूतिकरैः रतेः रतिदेव्याः रूपस्य लावण्यस्य संपदः समृद्धेरभिभूतिकरैस्तिरस्कारकरैः । ललितैः मनोहरैः । शुभलक्षणैः शुभैर्लक्षणैर्युक्तैः । निजस्य स्वस्य । वपुषः गात्रस्य । अवयवैः परिभूषितया अलङ्कृतया । यया देव्या । भूषणं मण्डनम् । विभवाय संपदे । अभारि[3] अधात् । भृञ् भरणे कर्मणि लुङ् । अतिशयः ॥३८॥ शशेति[4] । शशलाञ्छने चन्द्रे । अस्तमितवति अस्तमेति स्म अस्तमितवान् तस्मिन् अस्तगते सत्यपि । स्मितचन्द्रिकोज्ज्वलतरद्युतिना स्मितमीषद्धसनमेव चन्द्रिका ज्योत्स्ना तयोज्ज्वलतरा निर्मलतरा [द्युतिः] कान्तिर्यस्य तेन । यदीयमुखचन्द्रमसा यदीयं यस्याः संबन्धि[5] मुखमेव चन्द्रमाः चन्द्रस्तेन । रूपकम् । जगतीतलं जगत्या भूमेस्तलम् । सरजनीकरतां रजनीकरेण चन्द्रेण सह विद्यमानत्वम् । अगमत् अगच्छत् । गम्लृ गतौ लुङ् । अतिशयः ॥३९॥ स इति । गुणाभरणभूषितयोः गुणा एवाभरणानि मण्डनानि तैः भूषितयोरलङ्कृतयोः । अजितजयाजितसेनयोः । स विबुधः श्रीधरदेवः । सुरलोकभुवः स्वर्गलोकात् । समेत्य आगत्य । भुवनातिशायिकमनीयतनुः भुवने भुवनस्य वातिशायिनी अतिशयकारिणी कमनीया मनोहरा तनुः शरीरं यस्य सः । अजितसेन इति तनुभूः तनौ भवतीति तनुभूः पुत्रः । अभूत् अभवत् । भू सत्तायां लुङ् ॥४०॥ जनतेति । शरदौषधीपतिरिव शरदः शरत्कालस्यौषधीपतिरिव चन्द्र इव । अमलिनः निर्मलः । 'मलादिमसश्च' इति च शब्देन मत्वर्थीय इन-प्रत्ययः । क्षितेः भूमेः । तिलकः मण्डनः । जनतानुरागपरिवृद्धिकरः जनताया जनसमूहस्य रागस्य प्रीतेः परिवृद्धिकरः । सुभगाकृतिः सुभगा मनोहरा आकृतिराकारो यस्य सः । यः कुमारः । प्रथमे आद्ये । वयसि । कलाः चतुष्षष्टिकलाः षोडशभागाश्च ।

ज्योतिषी देवोकी समस्त देवियोके निर्माणमे ब्रह्माने जो अत्यधिक कुशलता प्राप्त की थी, मानो उसीके प्रदर्शनके लिए उसने अजितसेनाको बनाया ॥३७॥ उसके शरीरके सभी अवयव सुन्दर और शुभ-चिह्नोसे विभूषित थे और इसीलिए वे रतिकी सौन्दर्य-सम्पत्तिको मात करनेवाले थे, फिर भी उस (अजितसेना) ने केवल वैभव या लोकमर्यादाके खयालसे आभूषण धारण किये थे ॥३८॥ चन्द्रमाके अस्त होने पर भी मुसकानकी चाँदनीसे उज्ज्वल कान्ति फैलाकर उसका मुखचन्द्र ही उस (चन्द्र) की पूर्ति कर देता था ॥३९॥ वे दोनो – अजितजय और अजितसेना – गुणोके आभूषणोसे विभूषित थे – गुणी थे । वह श्रीधरदेव (जिसका वर्णन चौथे सर्गमे कर आये हैं) सौधर्म स्वर्गमे चयकर उनके यहाँ पुत्र हुआ । उसके शरीरका सौन्दर्य लोकातिशायी था । उसका नाम अजितसेन रखा गया ॥४०॥ वह (अजितसेन) शरत्कालके चन्द्रमाके समान जनताके अनुरागको बढानेवाला, सुन्दर, निर्मल और पृथ्वीका

१ अ आ इ क ख ग घ म °नास्तिलक । २ श स शौर्यस्य । आ प्रतौ 'शौर्यस्य' कार्यस्य' इति द्वे अपि पदे नोपलभ्येते। ३ = अधारि। ४ आ शशीति । ५ = यत्सबन्धि ।

गुणनिर्मितैः सुरभिभिः कुमुदैरिव यद्यशोभिरनुरागकरैः ।
प्रविभासिते जगति शीतरुचेरुदयो जनैरवचये विफलः ॥४२॥
ध्रुवमस्य रूपविभवेन जितस्त्रपया विलीय समभूदतनुः ।
मदनस्तदीयतनुदाहकरी हरलोचनार्चिरिति वार्तमदः ॥४३॥
नयमिन्द्रलाघवकरो विभवो विभवं च यस्य सहजो विनयः ।
तमलंचकार परमः प्रशमः[1] प्रशमं पराक्रमगुणो गुणिनः ॥४४॥
गुणसंपदा सकलमेव जगल्लघयन्तमात्मतनयं तमसौ ।
मुमुदे महीपतिरुदीक्ष्य भृशं शशिनं समग्रकलमब्धिरिव ॥४५॥

उपचिकाय उपचिनोतिस्म । 'चेर्वा' इति चिञ् चयने इति धातोर्लिट्, कवर्गादेश । श्लेषो रमा ॥४१॥ गुणेति । गुणनिर्मितैः गुणैरौदार्यादिभि[2] र्निर्मितैः कृतैः, पक्षे तन्तुभि कृतैः । सुरभिभिः शुभ्रैः सुगन्धिभिश्च । अनुरागकरैः प्रीतिकरैः । कुमुदैरिव कैरवैरिव । यद्यशोभिः यस्य कुमारस्य यशोभिः कीर्तिभिः । जगति लोके । प्रतिभासिते प्रकाशिते सति । जनैः लोकैः । शीतरुचेः चन्द्रस्य । उदय उत्पत्ति । विफलः निष्फल । इति अवयवे जज्ञे[3] । या प्रापणे कर्मणि लिट् । श्लेष ॥४२॥ ध्रुवमिति । यस्य कुमारस्य । रूपविभवेन रूपस्य लावण्यस्य विभवेन संपदा । जितः निराकृत । मदनः स्मरः । त्रपया लज्जया । विलीय विशीर्य । अतनुः तनुरहितः । समभूत् समभवत् । भू सत्तायां लुङ् । ध्रुवं[4] निश्चय हरलोचनार्चिः हरस्य रुद्रस्य लोचनस्य नयनस्यार्चिर्ज्वाला । तदीयतनुदाहकरी इति तदीयायाः मदनसंबन्धायास्तनोः शरीरस्य दाहकरी भस्मकरी इति अदो लोकवचनम् । वार्तम् असत्यम् । अपह्नुतिः ॥४३॥ नयमिति । गुणिनः औदार्यादिगुणयुक्तस्य । यस्य कुमारस्य । इन्द्रलाघवकरः इन्द्रस्य लाघवकरो लघुत्वकर । विभवः संपत् । नयं नीतिम् । सहजः सहजातः । विनयः विनयगुणः । विभवं संपदम् । परमः महान् । प्रशमः क्षमागुणः । तं पराक्रमगुणम् । विक्रमगुण प्रशमं क्षमागुणम् । अलंचकार अलंकरोतिस्म ॥४४॥ गुणेति । असौ अयम् । महीपतिः अजितजयः । गुणसंपदा गुणसंपत्त्या । सकलमेव विश्वमेव । जगत् लोकम् । लघयन्तं लघूकुर्वन्तम् । आत्मतनयम् आत्मनः स्वस्य तनयं नन्दनम् । उदीक्ष्य आलोक्य । समग्रकलं संपूर्णकलावन्तम् । शशिनं चन्द्रम् । अब्धिरिव समुद्र इव ।

मण्डन था । उसने बाल्यकालमे ही सब कलाओमे पूर्णता प्राप्त कर ली थी । जैसे चन्द्रमा शुक्लपक्षमे अपनी कलाओमे पूर्णता पा लेता है ॥४१॥ जिस प्रकार कुमुद मृणाल तन्तुओसे रचित, सुगन्धित और सबके अनुरागको उत्पन्न करनेवाला होना है, उसी प्रकार उस राजकुमारका यश उसके गुणोसे उत्पन्न, मनोज्ञ और प्रजाजनोके अनुरागको उत्पन्न करने वाला था । उसके यशसे सारे ससारके प्रकाशित हो जानेपर लोगोने चन्द्रमाके उदयको निरर्थक समझ लिया ॥४२॥ जान पड़ता है इस राजकुमारके उत्कृष्ट रूपसे पराजित होकर कामदेव लज्जावश घुल-घुलकर अनग हो गया है—अपना शरीर खो बैठा है । 'शिवजीकी नेत्राग्निकी ज्वालासे कामदेवका शरीर भस्म हुआ था' यह तो कोरी गप्प है ॥४३॥ वह बडा गुणी था । उसका वैभव इन्द्रसे भी कही अधिक था । उसकी नीतिकी शोभा वैभवसे, वैभवकी सहज विनयसे, विनयकी प्रशम-क्षमासे और प्रशमकी पराक्रमसे थी ॥४४॥ गुणोंकी सम्पत्तिसे उसने समस्त जगत्को मात कर दिया था । उसे देखकर उसके पिता बहुत प्रसन्न हुए । जैसे पूर्णचन्द्रको देख

---

१ क ख परमप्रशम । म परमप्रशमम् । २. श स शौर्यादि । ३. = बुबुधे । ४. = निश्चयेन ।

इति च व्यचिन्तयदलाभि न किं निजजन्मनः फलममुष्य मया ।
भुवि यस्य भानुसदृशस्तनयःपिदधाति धामभिरशेषदिशः ॥४६॥
मलसङ्गवर्जितमिनं पृथुतामुदयास्पदं सकलधामवताम् ।
घनवर्त्म शीतरुचिनेव करैर्मम दीपितं कुलमनेन गुणैः ॥४७॥
कुसुमाद्यथा विटपिनो वपुषो नवयौवनाच्छ्रुतवतः प्रशमात् ।
पुरुपान्वयस्य जगतीह तथा न सुपुत्रतः परमलंकरणम् ॥४८॥
अपरेद्युरेनमवनीतिलकं महतोत्सवेन नृपचक्रयुतः ।
नृपतिर्न्यवीविशदनिन्द्यतमे जगतो हिताय युवराजयपदे[1] ॥४९॥

भृशम् अत्यन्तम् । मुमुदे सन्तुतोष । उत्प्रेक्षा (उपमा) ॥४५॥ इतीति । भुवि भूमौ । यस्य मम । भानुसदृशः भानोः सूर्यस्य सदृशः समान । तनय कुमार । अशेषदिशः समस्तककुभ । धामभिः पिदधाति[2] । मया अमुष्य अस्य । निजजन्मन निजस्य स्वस्य जन्मनो जननस्य । फलमलाभि अलभ्यत । डुलभिष् प्राप्तौ कर्मणि लुङ् । न किम् अपितु अलाभ्येव । इति च एव प्रकारेण । व्यचिन्तयत् चिन्तयति स्म ॥४६॥ मलेति । मल-सङ्गवर्जितं मलस्य सङ्गेन सम्बन्धेन वर्जितं रहितम्, पक्षे कालुष्यरहितम् । पृथुतां महत्त्वम् । इत गतम् । सकल-धामवता सकलाना सर्वेषा धामवता तेजस्विना क्षत्रियाणाम्, पक्षे ज्योतिर्गणानाम्। उदयास्पदम् उदयस्य सपद आस्पद स्थानम्, पक्षे प्रदुर्भावस्य स्थानम् । मम मे । कुल वशम् (श) । अनेन एतेन कुमारेण । गुणैः औदार्यादिभि । शीतरुचिना चन्द्रेण । करैः किरणैः घनवर्त्मेव मेघमार्गं इवाकाशमिव । दीपित प्रकाशितम् । श्लेषोपमा ॥४७॥ कुसुमादिति । विटपिनः वृक्षस्य । कुसुमात् पुष्पात् । यथा[3] वपुष शरीरस्य । यौवनात् यौवनावस्थाया. । श्रुतवतः शास्त्रिणः । प्रशमात् कामाद्युपशमात् । तथा तेन प्रकारेण । इह जगति लोके । पुरुपान्वयस्य पुरुषस्य मनुष्यस्यान्वयस्य वशस्य । सुपुत्रत सत्पुत्रात् । परम् अन्यत् । अलङ्करण भूषणम् । न नास्ति । दृष्टान्त ॥४८॥ अपरेद्युरिति । अपरेद्यु अन्यस्मिन् दिने । नृपचक्रयुत' नृपाणा राज्ञा चक्रेण निवहेन युत । नृपति भूपतिः । अवनितिलक भूमिभूषणम् । एन कुमारम् । महता पृथुना । उत्सवेन प्रभावनया । अनिन्द्यतमे पूज्यतमे । युवराजपदे युवराजस्य पदे स्थाने । जगत. लोकस्य । हिताय उपकाराय । न्यवीविशत्

कर समुद्र प्रसन्न होता है ॥४५॥ राजा अपने मन-ही-मन यो सोचने लगा कि 'मेरा पुत्र सूर्यके समान तेजस्वी है और सूर्यके समान मेरे इस पुत्रने अपने तेजसे सब दिशाओको व्याप्त कर दिया है । इसे पाकर क्या मैंने अपने जीवनका फल नही पा लिया ? ॥४६॥ मेरा वश आकाश के समान है । जैसे आकश मैलके सम्वन्धसे रहित—निर्मल है, विशाल है और तेजस्वी सूर्य आदि ज्योतिषी देवोके उदयका स्थान है । वैसे ही यह वश निर्दोष, विशाल और तेजस्वी क्षत्रियोका जन्म-स्थान है आकशको चन्द्रमा अपनी किरणोंसे प्रकाशित करता है और इस वश-को मेरे पुत्रने अपने गुणोसे प्रकाशित कर दिया है ॥४७॥ जिस प्रकार वृक्षका फूल, शरीरका यौवन और विद्वानका शान्तिसे बढकर कोई अन्य भूशण नही है, इसी प्रकार मनुष्यके वशका सुपुत्रके सिवा और कोई भूषण नही है ॥४८॥ यह सोचकर राजा अजितजयने अगले दिन ही पुत्रको युवराज पद प्रदान करनेके लिए बहुत बडा उत्सव किया । उसमे सभी राजे-महराजे सम्मिलित हुए । उन्होके समक्ष उसने अपने पुत्र अजितसेनको—जो समस्त पृथ्वीका मण्डन था—लोक हितके लिए सम्मानित युवराज पदपर आरूढ कर दिया—उसे युवराज वना दिया॥४९॥

१ क ख ग घ म °राज्यपदे । २ =आच्छादयति व्याप्नोतीत्यर्थ । ३. =अन्यदलङ्करणमिह नास्ति ।

श्रुतशुद्धधीरधरितेन्द्रपदं पदमास्थित पितुरुदारतमम् ।
स कलाधरः सकलभूमिभृतां मुकुलीचकार करपद्मवनम् ॥५०॥
नयनाभिराममकलङ्कतनुं नवमादधानमुदयं जनता ।
शिरसा दृशोर्गतममुं विषयं प्रणनाम बालमिव चन्द्रमसम् ॥५१॥
स कदाचनाथ युवराजयुतः सदुपायनानुगतमण्डलिनाम् ।
प्रविलोकयन्निवहमास्त मुदा नृपतिर्मनोहरसभाभवने ॥५२॥
प्रथितोऽथ चण्डरुचिरित्यसुरस्तदशेषमेव परिमोह्य सदः ।
कृतपूर्ववैरमवगम्य सुतं तमिलापतेरपजहार रुषा ॥५३॥

स्थापयति स्म । विश प्रवेशने णिजन्ताल्लुड् ॥४९॥ श्रुतेति । अधरितेन्द्रपदं निरसीकृतदेवेन्द्रपदम्[2] । उदारतमं[3] प्रकृष्टमहितम् । पितु. तातस्य । पद राज्यपदम् । आस्थित[4] तिष्ठतिस्म । 'शीङ्स्थासोऽधेराधार.' इत्याधारे द्वितीया । श्रुतशुद्धधीः श्रुतेन शास्त्रेण शास्त्राभ्यासेन शुद्धा निर्मला धीर्बुद्धिर्यस्य सः । स. कुमार. । कलाधरः चतु.षष्टिकलाधर, पक्षे षोडशभागधरश्चन्द्र । सकलभूमिभृता सकलाना सर्वेषा भूमिभृता राज्ञाम् । करपद्मवन करावेव हस्तावेव पद्मवन कमलवनम् । मुकुलीचकार[5] सकोच चकार 'कर्मकर्तृभ्याम्—' इत्यादिना च्विः । 'च्वौ चानव्ययस्य' इति ईकारादेश· । श्लेषो रूपकञ्च ॥ ५० ॥ नयनेति । नयनाभिराम नयनयोरभिराम मनोहरम् । अकलङ्कतनुम् अकलङ्का निर्मला तनुः शरीर यस्य तम् । नव नूतनम् । उदय मभ्युदयम्, पक्षे उत्पत्तिम् । आददान स्वीकुर्वन्तम् । दृशोर्नयनयो. । विषय गोचरम् । यात गतम् । बाल नूतनम् । चन्द्रमसमिव चन्द्रमिव । अमु कुमारम् । जनता जनसमूहः । 'ग्रामजनबन्धुगजसहायात्तल्' । [शिरसा मस्तकेन । प्रणनाम प्रणाम चकार ।] श्लेषोपमा ॥५१ । स इति । अथ युवराजपदप्राप्त्यनन्तरम् । कदाचन एकदा । युवराजयुत युवराजेन कुमारेण युत. सहित । स नृपति अजितजयभूमिप । मनोहरसभाभवने मनोहरे सुन्दरे सभाभवने सभासदने । सदुपायनानुगतमण्डलिना सद्भि प्रशस्तैरुपायनैरुपग्राह्यै[6] अनुगतानाम् अनुयाताना । मण्डलिना भूमृताम् । निवह समूहम् । प्रविलोकयन्[7] पश्यन् । मुदा सतोषेण । आस्त उपविशति स्म ॥५२॥ प्रथित इति । अथ सभागृहस्थित्यनन्तरम्[8] । चण्डरुचि इति प्रथित प्रसिद्ध । असुर असुरकुलभव । तदशेषमेव सकलमेव । सद· सभाम् । समोह्य मूर्च्छा[9] कृत्वा । कृतपूर्ववैर कृत विहित पूर्वम द्य वैर विरोधम् । अवगम्य ज्ञात्वा ।

युवराजकी बुद्धि अनेक शास्त्रोका अभ्यास करनेसे परिष्कृत थी और वह चन्द्रमाकी तरह समस्त कलाओका आश्रय था । इन्द्रके पदसे भी उत्कृष्ट और प्रतिष्ठित पिताके महान पद पर उसके आसीन होते ही समस्त राजाओने हाथ जोड दिये । चन्द्रमाको देखकर कमलोका जैसा आकार हो जाता है, ठीक वैसा ही आकार उस समय समस्त राजाओके हाथोका हो गया ॥५०॥ जिस प्रकार नयनाभिराम, निष्कलक और नवोदित बालचन्द्रको देखते ही सभी लोग नमस्कार करते हैं, उसी प्रकार नयनाभिराम, निष्पाप और नवीन अभ्युदयको प्राप्त हुए युवराज को देखते ही सभी लोग प्रणाम करने लगे ॥५१॥ इसके पश्चात् एक दिनकी बात है, राजा अजितंजय युवराजके साथ सुन्दर सभा-भवनमे बैठे हुए थे । इसी अवसरपर माण्डलीक राजाओ-का मण्डल उत्तम उपहार लेकर उससे मिलनेके लिए वहाँ आया । अजितजय उसकी ओर दृष्टिपात कर ही रहा था ॥५२॥ कि इतनेमे चण्डरुचि नामका एक कुख्यात असुर वहाँ आ धमका । राजकुमारके साथ उसका पिछले जन्मका वैर था । सभामे पहुँचते ही उसने उसे

---

१ अ आ इ क ख ग घ म चन्द्र[१] । २ श स नीरसीकृतदेवेन्द्रपदवीम् । ३. आ °रतनु । ४ =आरुढ । ५ =सकोचयामास । ६ =उपहारै । ७ आ श स विलोकयन् । ८. आ °स्वीकृत्य-नन्तरम् । ९. =मूर्च्छिता कृत्वा ।

प्रतिबुद्धवानसुरमोहनजं क्षणमात्रकेण[1] परिधूय तमः।
सकलंससंभ्रममिलाधिपतिः सुतशून्यमैक्षत सभाभवनम् ॥५४॥
इदमिन्द्रजालमुत धातुगता विकृतिर्मन' किमुत विप्लवि[2] मे।
अवलोकयामि यदहं युवराड्विकलामिमां निजसमां परितः ॥५५॥
अथ मायिनान्यभववैरवशाद्रजनीचरेण दृढवद्धरुपा।
असुरेण [3]वासुसदृशस्तनुभूरकृपेण केनचिदहारि स मे ॥५६॥
इति तर्कयन्विकलमङ्गभुवा गणयन्नरण्यमिव जीर्णमसौ।
सकलं सदो दयितया सहितः प्रललाप मुक्तकरुणार्तरवम् ॥५७॥

इलापते भूमिपते । त सुतम् अजितसेनकुमारम् । रुषा कोपेन । अपजहार अपहरति स्म ॥५३॥ प्रतीति । असुरमोहनज चण्डरुचिमोहनेन जनितम् । तम अज्ञानम् । क्षणमात्रकेण अल्पकालेनैव । परिधूय निराकृत्य । प्रतिबुद्धवान्[4] जागरितवान् । इलाधिपति भूमिपति' । ससभ्रम विस्मयसहित यथा तथा । सुतशून्य कुमार-रहितम् । सभाभवन सभासदनम् । ऐक्षत अपश्यत् । ईक्षि[5] दर्शने लङ् ॥५४॥ इदमिति । यत् यस्मात्कारणात् । अह युवराड्विकला युवराजेन विकला रहिताम् । इमाम् एताम् । निजसमा निजस्य स्वस्य समाम् । परित समन्तात् । अवलोकयामि वीक्षे[6] । लोकृञ्[7] दर्शने लट् । इदम् एतत् । इन्द्रजालम् इन्द्रजालविद्या । उत अथवा । धतुगता धातून् सप्तधातून् गता याता । विकृति विकार । उत अथवा । मे मम । मन मानसम् । विप्लवि भ्रान्तं किम् । सशय ॥५५॥ अथेति । अथ अथवा । अन्यभववैरवशात् अन्यभवस्य पूर्वभवस्य वैरवशाद् विरोधवशात् । दृढबद्धरुषा दृढ गाढ बद्धा रुड् येन तेन । मायिना मायायुक्तेन । रजनी-चरेण रात्रिचरेण । वा अथवा । अकृपेग कृपारहितेन । केनचिदसुरेण असुरदेवेन । असुसदृश असूना प्राणाना सदृश समान' । मे मम । तनुभू कुमार । अहारि अह्रियत[8] । हृञ् हरणे कर्मणि लुङ् । सशय ॥५६॥ इतीति । इति एव प्रकारेण । तर्कयन् विचारयन् । असौ राजा । अङ्गभुवा तनुजेन । विकल रहितम् । सकल समस्तम् । सद सभाम् । जीर्णं शिथिलितम् । अरण्यमिव काननमिव । गणयन् विचारयन् । दयितया निजप्रियया । सहित युक्त । मुक्तकरुणार्तरव मुक्तया करुणया शोकरसेनार्त' पीडितो रवो ध्वनिर्यस्मिन्

पहचान लिया, फिर सारी सभाको मूर्छित करके बडे क्रोधसे उसे हर ले गया ॥५३॥ क्षण भरके बाद ही उस असुरकी मोहिनी विद्याके प्रभावसे उत्पन्न हुई मूर्च्छासे छुटकारा पाते ही वह राजा घबराकर ज्योंही सभाकी ओर देखता है त्यों ही उसे पता लग गया कि राजकुमार गायब हैं। उसके बिना सारी सभा उसे सूनी मालूम पडने लगी ॥५४॥ मैं सारी सभाको चारो ओरसे देख रहा हूँ, किन्तु राजकुमार कही भी नही देख पडते। किसीने इन्द्रजाल-जादू फैला दिया है, धातुओमे विकार उत्पन्न हो गया हैं या मेरे मनमे ही कोई भ्रम उत्पन्न हो गया है ? ॥५५॥ अथवा जन्मान्तरके तीव्र वैरके कारण कोई मायावी और तीव्र क्रोधी राक्षस या असुर मेरे प्राण-प्रिय उस पुत्रको हर ले गया है ? ॥५६॥ इस तरह उसके मनमे नाना प्रकारके तर्क-वितर्क उठ रहे थे। पुत्रके बिना उसे सारी सभा पुराने जंगल सरीखी लगने लगी। इतनेमें उसकी रानी भी वहाँ जा पहुँची। उसके साथ वह दुख भरे करुणाजनक शब्दोमे

१ म °केन। २ ब विभ्रमि। ३. म वाशुसदृश°। ४ =लब्धचेतन इत्यर्थ। ५ श स ईक्ष। ६ आ वीक्ष्ये। ७ आ लोकृ। ८ श स अह्रीयत। =हृत इत्यर्थः।

प्रविधाय[1] मामशरणं सहसा क्व मदङ्कदोर्ललित हासि गतः ।
लघु देहि दर्शनमहं हि विना भवतावलम्बितुमसूननलम् ॥५८॥
अधिसूनु[2] लालनविधावहितेऽप्यमनोहरं तव मयाभिहितम् ।
न कदाचिदप्यसदृशप्रणये किमकारणं मयि विरक्तिमगाः ॥५९॥
वचनामृतैः सुखरसज्ञमिदं कुरु पूर्ववच्छ्रवणयोर्युगलम् ।
अनिबन्धनाकुशलशङ्कितया किमुपेक्षसे पितरमाकुलितम् ॥६०॥
यदि वा कुतश्चिदपि कारणतो मयि वत्स तेऽजनि निरादरता ।
अनिमित्तमेव रहिता किमिमां जननीं प्रति प्रकृतिवत्सलता ॥६१॥

कर्मणि तत् । प्रललाप शुशोच । लप व्यक्तायां वाचि लिट् ॥५७॥ प्रवीति । भो॰मदङ्कदोर्ललित[3]॰ ममाङ्क-दोष्णो.—ऊरुभुजयो ललित मनोहर । सहसा शीघ्रम् । मामशरण शरणरहितम् । प्रविधाय कृत्वा । क्व[4] कस्मिन् । गतोऽसि यातोऽसि । हा हन्त । लघु शीघ्रम् । दर्शन देहि प्रयच्छ । डुदाञ् दाने लोट्[5] । अहं हि भवता त्वया विना । असून् प्राणान् । अवलम्बितु धर्तुम् । अनलम् असमर्थो भवामि ॥५८॥ अधीति । अधिसूनु सूनुमधिकृ य अधिसूनु तस्मिन् पुत्रविषये । लालनविधौ लालनस्य बालकेल्या विधौ । अहितेऽपि हितरहितेऽपि । मया कदाचिदपि एकदापि । तव भवत । अमनोहरम् अमङ्गलवचनम् । अभिहित न भाषित न । असदृशप्रणये असदृशोऽसाधारण प्रणय प्रीतिर्यस्मिन् तस्मिन् । मयि । अकारण कारण विना । विरक्तिम् अप्रीतिम् । किम् अगा किम् अयासो[6] ॥५९॥ वचनेति । वचनामृतै. वचनान्येवामृतानि तै. । इदम् एतत् । श्रवणयो कर्णयो । युगल द्वयम् । पूर्ववत् प्रथममिव । सुखरसज्ञ सुखस्यानन्दस्य रसज्ञम् । कुरु विधेहि । अनिबन्धनाकुशलशङ्कितया अनिबन्धनमकारणमकुशल[7] कष्ट शङ्किततया[8] शङ्कनशीलत्वेन[9] । आकु-लित[10] पीडितम् । पितर जनकम् । किमुपेक्षसे[11] कि कारणमुदासीन करोषि । ईक्षि[12] दर्शने लट् । रूपकम् ॥६०॥ यदीति । वत्स भो॰ पुत्र । यदि वा, कुतश्चिदपि कस्मादपि । कारणत हेतो मयि, ते तव । निरादरता अप्रीतिता । अजनि अजायत । इमम् एताम् । जननीं मातर प्रति । प्रकृतिवत्सलता प्रकृत्या स्वभावेन

खूब जोर-जोरसे यों विलाप करने लगा—॥५७॥ हे मेरी गोद और हाथोके आभूषण; हाय, तुम मुझे अशरण बनाकर अचानक ही कहाँ चले गये ? मुझे शीघ्र ही दर्शन दो । तुम्हारे बिना अब मैं अपने प्राणोको धारण करनेमे असमर्थ हूँ ॥५८॥ बचपनमे जब तुम स्वय अपने लिए ही अहित करनेवाले खेल खेलने लगते थे, तब भी मैंने तुमसे कोई अप्रिय बात नही कही । मैं तो तुमसे सदा असाधारण स्नेह करता आ रहा हूँ, फिर तुम अकारण ही मुझसे क्यो रूठ गये हो ?॥५९॥ तुम अपने वचनामृतसे मेरे इन दोनो कानोको पहलेकी भाँति सुखी करो । तुम्हारे बारेमे अकारण ही अकुशलकी आशङ्कासे तुम्हारा यह पिता व्याकुल हो रहा है । तुम इसकी उपेक्षा क्यो कर रहे हो ? ॥६०॥ हे बेटे ! यदि किसी कारणसे मेरे प्रति निरादरका भाव हो गया था, तो इस माँ से जो तुम्हारा स्वाभाविक वात्सल्य रहा, उसे यो ही क्यो छोड़

---

१ क ख ग घ म प्रविहाय । २. अ अयि सूनु । ३ एष टीकाकृदभिमतः पाठः, प्रतिषु तु 'मदङ्कदुर्ललित' इत्येव दृश्यते । ४ =कुत्र । ५. आ लिट् । ६ आ अयासि श स आयासि । ७ =अमङ्गलम् । ८ =तच्छङ्कितया । ९ =तच्छङ्कनशीलत्वेन । १० =व्याकुलम् । ११ =किमुपेक्षा करोषि । १२. श स ईक्ष ।

गुणिनं मनोरथशताधिगतं निजवंशवारिधिविधुं विधिना।
हरता भवन्तमकृपेण मम क्षतमक्षियुग्ममुपदर्श्य निधिम् ॥६२॥
पदवीमतीत्य तमसां तपता भुवनोदयाचलशिखामणिना।
रहितास्त्वया स्वजनवत्सल मे तिमिरावृता इव विभान्ति दिशः ॥६३॥
दिनमद्य मे गतमनुत्सवतां शरणोज्झितोऽद्य मम बन्धुजन ।
भवदीयदु.सहवियोगभवत्तनुदेहयष्टिरहमद्य मृतः ॥६४॥
यशसः सुखस्य विभवस्य तथा महसस्त्वमेव मम हेतुरभूः।
व्रजता त्वया भुवनभूषण तद्व्यपहस्तितं सकलमेकपदे ॥६५॥

वत्सलता वात्सल्यम्। अनिमित्तमेव कारणरहितमेव। किं किंनिमित्तम्। रहिता त्यक्ता ॥६१॥ गुणिनमिति। गुणिन गुणवन्तम्। मनोरथशताधिगत मनोरथाना मनोऽभीष्टाना शतम् अनेकम् [तेन] अधिगतमागतम्। निजवशवारिधिविधु निजस्य स्वस्य वश एव वारिधिस्तस्य[2] विधुरिव तम्। विधिना दैवेन। भवन्त पूज्य त्वाम्। हरता अपहरता। अकृपेण दयारहितेन। निधि पद्मशङ्खादिकम्। उपदर्श्य दर्शयित्वा। अक्षियुग्मम् अक्ष्णो-र्नयनयो र्युग्म युगलम्। क्षतम् अपकृतम् ॥६२॥ पदवीमिति। स्वजनवत्सल[3]। स्वस्य स्वकीयस्य जनेषु बन्धुषु वत्सलो वात्सल्ययुक्त (तत्सबुद्धौ हे स्वजनवत्सल)। तमसाम् अज्ञानानाम्। पदवीं मार्गम्। अतीत्य[8] हत्वा। तपता प्रज्वलता। [5]भुवनोदयाचलशिखामणिना [6]भुवनमेवोदयाचलस्तस्य शिखामणिश्चूडा-मणि [7] तेन। रूपकम्। त्वया भवता। रहिता त्यक्ता। दिश ककुभ। मे मम। तिमिरावृता इव तिमिरेणान्धकारेणावृता व्याप्ता इव। विभान्ति विराजन्ते। भा दीप्तौ लट्। उपमा ॥६३॥ दिनमिति। मे मम। अद्य इदानीम्। दिन दिवस। अनुत्सवताम्। उत्सवरहितत्वम्। गत प्राप्तम्। अद्य इदानीम्। मम मे। बन्धुजन बन्धुरेव जनस्तथोक्तः। शरणोज्झित शरणेन रक्षणेनोज्झितो रहित। भवदीयदुसह-वियोगभवत्तनुदेहयष्टि भवदीयेन भवता जनितेन दु सहेन सोढुमशक्येन वियोगेन वियोजनेन भवन्ती जायमाना तन्वी कृशा देहयष्टि शरीरयष्टिर्यस्य स – भवज्जनितातिदु सहेन वियोगेन कृशीभूतशरीरवानित्यर्थ। अहम् अद्य इदानीम्। मृत [8] म्रियते स्म ॥६४॥ यशस इति। भुवनभूषण। भुवनस्य लोकस्य भूषणमलङ्कार (स्वत्सबुद्धौ हे भुवनभूषण)। मम मे। यशस कीर्ते। सुखस्य। विभवस्य सपद। तथा तेन प्रकारेण। महस तेजस। त्वमेव भवानेव। हेतु कारणम्। अभू अभव. । व्रजता गच्छता। त्वया। एकपदे एकक्षणे।

दिया ? ॥६१॥ बेटे, तुम गुणवान् हो, सैकडो मनोरथोके बाद तुम मुझे प्राप्त हुए, और इस वश रूपी समुद्रके लिए तुम साक्षात् चन्द्रमा हो। निर्दय विधाताने तुम्हारा हरण करके तो जैसे निधि दिखलाकर मेरी दोनो आँखें ही फोड डाली हैं ॥६२॥ जैसे अन्धकारको हटाकर तपने-वाले और उदयाचलके शिखरपर उसके चूडामणि सरीखे प्रतीत होने वाले सूर्यके विना समस्त दिशाओमे अन्धकार फैल जाता है, वैसे ही अज्ञानके अन्धकारको दूरकर ज्ञानका प्रकाश फैलाने वाले, शत्रुओको सन्ताप देने वाले और उदयाचलकी भाँति उन्नत ससार (मानव समाज)के मस्तकपर चूडामणिका स्थान पानेवाले तुम्हारे बिना सभी दिशाओमे अन्धकार दिखाई दे रहा है ॥६३॥ आजसे मेरे दिन उत्सव रहित हो गये हैं, आजसे मेरे परिवारके लोग अशरण हो गये हैं और हे बेटे ! तेरे असह्य वियोगसे मेरा शरीर सूखकर लकडी हुआ जा रहा है। ऐसी अवस्थामे मैं अब मरा ॥६४॥ हे बेटे ! तुमसे ससारकी शोभा रही, इसलिए तुम उसके भूषण थे, और मेरे यश, सुख, ऐश्वर्य तथा तेजके तुमही एक कारण थे। तुम्हारे चले जानेसे वे सब

१ = प्राप्तम्। २ = विधुश्चन्द्र। ३ आ °वत्सलम्। श स °वत्सल। ४ = उल्लङ्घ्य।
५ श स भवनो°। ६ श स भवन°। ७ आ श स °मणिरिव। ८ = हतः।

ललितभ्रु लोचनयुगं[1] वदनं तुहिनद्युतिद्युति वचो मधुरम् ।
भवदीयमङ्ग तदशेषमगान्मम पाप्मभिः स्मरणगोचरताम् ॥६६॥
अपि[2] तद्भवेद्दिनमपुण्यवतः परमोत्सवं पुनरपीह मम ।
विषयत्वमेष्यति विलोचनयोस्तव वत्स यत्र मुखपङ्करुहम् ॥६७॥
किमभूदमीष्वपि न वत्सलता स्वसुहृत्सु काचन कठोरधिया ।
गमनोत्सुकेन सहपांसुरता[3] यदि मे त्वया दयित नालपिताः ॥६८॥
निजभर्तृदुर्व्यसनदुःखचितं शरणोज्झितं प्रविलपन्तमिमम् ।
सपदि प्रदर्शितपदाम्बुरुहः सुखिनं कुरुष्व नृपभृङ्गचयम् ॥६९॥

तत्सकल तत्सर्वम् । व्यपहस्तित । निराकृतम् ॥६५॥ ललितेति । अङ्ग भो पुत्र । ललितभ्रु ललिते मनोहरे भ्रुवौ नयनपताके यस्य तत् । लोचनयुग लोचनयोर्युग युगलम् । तुहिनद्युतिद्युति[4] तुहिनद्युतेश्चन्द्रस्येव द्युति कान्ति र्यस्य तस्य सवोधनम् । वदन मुखम् । मधुर[5] माधुर्यम् । वच वचनम् । तदशेष तत्सकलम् । मम मे । पाप्मभि पापै । स्मरणगोचरता स्मरणस्य चिन्तायाा गोचरता विषयताम् । अगात् अगमत् । इण् गतौ लुङ् । उपमा ॥६६॥ अपीति । भो वत्स भो पुत्र । यस्मिन् दिवसे । तव भवत । मुखपङ्करुह मुखमेव पङ्करुह कमलम् । मम मे । विलोचनयोर्नयनयो । विषयत्व गोचरत्वम् । एष्यति यास्यति । पुनरपि पश्चादपि । इह प्रदेशे । अपुण्यवतोऽपि पुण्यरहितस्यापि । तद्दिन तदह । परमोत्सवं परमोत्सवेन युक्तम् । भवेत् स्यात् । भू सत्ताया लुङ् ॥६७॥ किमिति । यदि यत् यस्मात् कारणात् । कठोरधिया कठोरा निष्ठुरा धीर्यस्य तेन । गमनोत्सुकेन गमने प्रयाणे उत्सुकस्तेन । त्वया भवता । सहपासुरता सहपासुक्रीडिता । इमे एते । नालपिता नाभाषिता । दयित भो पुत्र । अमीषु एतेषु । स्वसुहृत्स्वपि स्वस्य तव सुहृत्स्वपि मित्रेष्वपि । काचन वत्सलता वात्सल्यम् । किं नाभूत् किं निमित्त नाभवत् । भू सत्ताया लुङ् ॥६८॥ निजेति । निजभर्तृदुर्व्यसनदु खचित निजाना स्वेषा भर्तु प्रभोर्दुर्व्यसनेन दु सहेन व्यसनेन[6] विपत्त्या दु खेन कष्टेन चित युक्तम् । शरणोज्झित शरणेन रक्षणेनोज्झित रहितम् । प्रविलपन्त प्रलाप कुर्वन्तम् । इमम् एनम् । नृपभृङ्गचय नृपा एव भृङ्गास्तथोक्तास्तेषा चय समूहम् । सपदि शीघ्रम् । प्रदर्शितपदाम्बुरुह प्रदर्शित पदमेवाम्बुरुह कमल येन स । सुखिन सुखयुक्तम् । कुरुष्व विधत्स्व । डुकृञ् करणे लोट् । रूपकम् ॥६९॥

भी एकदम चले गये ॥६५॥ बेटे ! तुम्हारे सुन्दर भौंवाले नेत्र, चाँद-सा चमकता हुआ चेहरा और मधुर वचन—ये सब मेरे प्रचुर पापकर्मके उदयसे अब केवल स्मृतिके विषय बनकर रह गये हैं—अब केवल उनकी स्मृति ही शेष रही है ॥६६॥ बेटे ! मुझ पापीको क्या फिर भी कभी वह उत्सवका दिन आयगा, जब मैं तेरे मुखकमलको इन आँखोसे देखूँगा ? ॥६७॥ प्यारे बेटे ! अच्छा, हम लोगोकी बात जाने दो, पर जिनके साथ तुम बचपनमे धूलिमे खेलते रहे, क्या उन मित्रोसे भी तुम्हे स्नेह नही था, जो तुमने अपनी बुद्धिको इतना कठोर कर लिया कि जानेके लिए उत्सुक होकर उनसे भी कुछ नही कह गये । ॥६८॥ यह राज-वर्ग-रूपी भ्रमरमण्डल अपने स्वामी (तुम्हारे)के इस सङ्कटसे अत्यन्त दु खी हो रहा है और अपनेको अशरण समझकर विलापकर रहा है । इसे अपने चरण कमलोका दर्शन देकर सुखी करो॥६९॥

१ म °भ्रुलोचन° । २ अ अयि । ३ अ सहपाशु° । म सह पाशु° । ४ = तुहिनद्युतिश्चन्द्रस्तस्य द्युतिरिव द्युतिर्यस्य तत् । ५ = माधुर्योपेतम् । ६. आ मनिता ।

[1]यदसह्यशोकघनकालमलमपि दुःसहस्य समुपैहि पुत्र ।
अथ परत बान्धवजनाश्रुनदीपयसो निदाघसमयः सहसा ॥७०॥
सुतशोकशङ्कुपरिभिन्नमनाः प्रलपन्निति प्रबलबाष्पजलः ।
क्षणमाभिमूर्च्छयितुं जगृहे परिमूर्च्छया स कृपयेव नृपः ॥७१॥
अथ चन्दनसेचनादिभिः क्षणादुपचारैरपनीतमूर्च्छः ।
अवलोकयच्चारणमन्तरिक्षे[9] यतिं तपोभूषणनामधेयम् ॥७२॥
दधानमिन्दोः परिवेषभाजस्तुलामतुल्याङ्गरुचा परीतम् ।
सदा तमुद्ग्रीवमुदीक्षमाणा सर्वा सभा विस्मयमाजगाम ॥७३॥

यदिति[1] । यत् भोः पुत्र । यत् । घनशोकघनकालमलनिवृत्तम्[2] सवत्र शोकघनागम, शोको दुःख एव घनकालो घनागमस्तेन जनेन मलिनेन प्रविवृद्धमेधितम् । तस्य पुत्रस्य । बान्धवजनाश्रु-नदीपयसः बान्धवा एव ज्ञातयस्तेषामश्रूणि एव नद्यो नद्यः, पयस्तस्य । पुन पश्चात् । सहसा शीघ्रम् । समुपैहि समीपमागच्छ । निदाघसमय ग्रीष्मकाल । भव भूयाः । भू सत्तायां लोट् । भवम् ॥७०॥ सुतेति । सुतशोकशङ्कुपरिभिन्नमनाः सुतस्य पुत्रस्य शोक स एव शङ्कु शल्यं तेन परिभिन्नं भिन्नं[3] मनो यस्य स । [स] नृपः प्रलपन्निव । ताम् सन्तापस्य दर्शनम् । 'बाष्पमश्रौ बाष्पो' इति द्विरूपा । प्रबलं सन् पीडाम् । समवरमितु निवारयितुम् । कृपयेव[4] कृपया दुःखदेव । परिमूर्च्छया महामूर्च्छया । जगृहे गृहीत । गृह उपादाने कर्मणि लिट् । भवकम् ॥७१॥ अथेति । अथ मूर्च्छानन्तरम् । चन्दनसेचनादैः चन्दनस्य शीतल-जलस्य सेचनादैः, उपचारादिभिः । उपचारैः कारणैः । क्षणात् अल्पकालात् । अपनीतमूर्च्छः अपनीता मूर्च्छा यस्य स. । ईदृशः नृपतिः । तपोभूषणनामधेयं तपोभूषणमिति (तपोभूषण इति) नामधेयमभिधानं यस्य तम् । चारणं चारणद्धियुक्तम् । यतिं मुनिम् । अन्तरिक्षे आकाशे । अवलोकयत् अपश्यत् । लोकृ दर्शने णिजन्तात्लङ् ॥७२॥ दधानमिति । परिवेषभाजः परिवेषमाश्रितस्य[5] । इन्दोः चन्द्रस्य । तुलां समानं (समताम्)। दधानं धरन्तम् । अतुल्याङ्गरुचा अनुपमया निरुपमया अङ्गस्य देहस्य रुचा कान्त्या । परीतं च चारण-मुनिम् । सदा सर्वपरिषद्गणपरिवारैः । उद्ग्रीवम् उद्गता ग्रीवा यस्मिन् कर्मणि तत् (तथा) । उदीक्षमाणा विलोकमाना । सर्वा समस्ता । सभा सदः । विस्मयम् आश्चर्यम् । आजगाम आगमत् । गम्लृ गतौ लिट् ।

बेटे ! तुम्हारे जानेसे बन्धुओंके ऊपर असह्य शोकके बादल छा गये हैं, शोकके बादलोंके छा जानेके इस अवसर (वर्षात)पर उन (बन्धुओं)की अश्रुनदीमें बाढ आगई है । उसे सुखानेके लिए तुम शीघ्र ही आकर ग्रीष्म ऋतु बन जाओ ॥७०॥ पुत्र विरहके शोक रूपी काँटेने चुभकर राजाके कोमल हृदयमें घाव कर दिया, जिसमें वह इस तरह विलाप करते-करते रोने लगा और उसकी अश्रुजलकी धारा वेगसे बहने लगी । इस अवसरपर मानो मानसिक व्यथाको दूर करने-के लिए मूर्च्छाने दयासे उसे अपने अधीन कर लिया—वह मूर्च्छित हो गया ॥७१॥ इसके पश्चात् चन्दन-सेचन आदि शीतोपचारसे कुछ ही क्षणोंमें मूर्च्छाके दूर होते ही उसने आकाशमें तपोभूषण नामके चारणमुनिको देखा ॥७२॥ चारों ओर उनके शरीरकी अनुपम प्रभा फैल रही थी, उसके बीचमें वे कान्तिमण्डलके बीचो—बीच पूर्णमासीके चन्द्रमाकी भाँति दृष्टिगोचर हो रहे थे । सारी सभा गर्दन उठाकर उनकी ओर देखने लगी, जिससे उसे बडा आश्चर्य

१ अ यदशोक घोक । २ अ °रिक्षात् । ३. आ श स यदीति । ४. आ श स °जलप्रवृद्धम् । ५. श स खिन्न । ६ = स नृप कृपयेव करुणयेव । ७. आ गृहि उपादाने । ८ श स लोक । ९. श स °पयुतस्य ।

प्रलापिनीशे करुणार्द्रभावं बिम्बं किमेतद्गतमुष्णरश्मेः ।
वितर्कमेवं जनयञ्जनानां जवेन जज्ञे स नृपान्तवर्ती ॥७४॥
संदर्शनादेव तदा महर्षेस्तपोमयेन ज्वलतोऽङ्गधाम्ना ।
स भूभृतः पुत्रवियोगजन्मा जगाम शोकः सहसा कृशत्वम् ॥७५॥
न यावदद्यापि पवित्रपांसू निषीदतस्तच्चरणौ धरण्याम्[1] ।
ससंभ्रमं तावदुपेत्य भूपः प्रसारयामास निजोत्तरीयम् ॥७६॥
अर्घ्यादिकां सम्यगवाप्य पूजां ससंभ्रमेणोपहितां जनेन ।
स्वहस्तदत्तं नृवरेण पश्चादलंचकारोन्नतमासनं सः ॥७७॥
न तस्य तावानसुसंनिभस्य सूनोर्वियोगेन बभूव शोकः ।
यावान्भुवो भर्तुरभूतपूर्वो मुनीश्वराभ्यागमनेन तोषः ॥७८॥

उपमा ॥७३॥ प्रलापिनीति[2] । ईशे राज्ञि । प्रलापिनि प्रलापयुक्ते[3] सति । करुणार्द्रभावं करुणया दययार्द्रभावं मृदुभावम् । उष्णरश्मेः सूर्यस्य । गतं यातम् । एतद् इदम् । बिम्बं मण्डलं किम् । एवं प्रकारेण । जनानां लोकानाम् । वितर्कं विचारम् । जनयन् उत्पादयन् । सः मुनिः । जवेन शीघ्रम् । नृपान्तवर्ती नृपस्य राज्ञोऽन्तवर्ती समीपवर्ती । जज्ञे जायते स्म । जनैङ् प्रादुर्भावे लट् । सशय. ॥७४॥ संदर्शनादिति । तपोमयेन तपोरूपेण । अङ्गधाम्ना देहकान्त्या । उज्ज्वलत [ज्वलत] प्रकाशमानस्य । महर्षे. महामुनेः । संदर्शनादेव समीक्षणादेव । तदा तत्समये । भूभृत भूपस्य । पुत्रवियोगजन्मा पुत्रस्य सूनो वियोगेन जन्मा (जन्म यस्य) जात । स. शोक दुःखम् । सहसा शीघ्रम् । कृशत्वं कार्श्यम् । जगाम ॥७५॥ नेति । अद्यापि इदानीमपि । पवित्रपांसू पवित्र पांसु[4]धूलि र्ययोस्तौ । तच्चरणौ तस्य मुनेश्चरणौ पादौ । धरण्या भूमौ । यावत् पर्यन्तं न निषीदत न तिष्ठतः । तावत्पर्यन्तं ससंभ्रम संभ्रमसहित यथा तथा । भूप भूपतिः । उपेत्य समीप गत्वा । निजोत्तरीयम् उपरिधृतदुकूलवस्त्रम् । प्रसारयामास प्रस्तारयामास ॥७६॥ अर्घ्येति । ससंभ्रमेण संभ्रमयुक्तेन । जनेन परिजनेन । उपहिताम् आनीताम्[5] । अर्घ्यादिका[6] सत्कारपूर्विकाम् । पूजाम् अर्चनाम् । सम्यगवाप्य प्राप्य । पश्चात् पुन । नृवरेण नरपतिना । स्वहस्तदत्त स्वस्य हस्तेन पाणिना दत्त वितीर्णम् । उन्नत प्रांशु[7] । आसन विष्टरम् । स चारणमुनि । अलचकार अलकरोति स्म ॥७७॥ नेति । भुव. भूमे । भर्तु प्रभोः । मुनीश्वराभ्यागमनेन मुनीन्द्राभ्यागमनेन । अभूतपूर्वः पूर्वमभूतोऽभूतपूर्व । यावान् यन्मानमस्य यावान् । 'यत्तद' इति वतु-प्रत्यय । तोष सतोष । बभूव भवति स्म । तस्य असुसनिभस्य असूना प्राणाना

हुआ ॥७३॥ उन्हे बडे वेगसे राजाके निकट आते देखकर लोगोके मनमे यह तर्क उत्पन्न हो रहा था कि इसके विलापसे दयार्द्र होकर कही सूर्यका बिम्ब तो नही उतरता चला आ रहा है ? कुछ ही क्षणोमे वे राजाके निकट जा पहुँचे ॥७४॥ महर्षिके शरीरपर तपका तेज था । उससे वे प्रज्वलित अग्नि सरीखे प्रकाशमान हो रहे थे । उनके दर्शन पाते ही राजाका पुत्र-वियोगसे उत्पन्न हुआ शोक एका-एक कम हो गया ॥७५॥ धूलिको भी पवित्रकर देनेवाले उनके चरण अभी पृथ्वीपर पहुँच ही नही पाये थे कि राजाने शीघ्र ही उनके निकट जाकर अपना दुपट्टा बिछा दिया ॥७६॥ राजाके पास उस समय जो लोग उपस्थित थे, वे शीघ्र ही अर्घ आदि सामग्री ले आये । इसके पश्चात् मुनिराजके विराजनेके लिए राजाने स्वय अपने हाथसे ऊँचा आसन दिया । उसे उन्होने अलङ्कृत किया—वे उसपर बैठ गये ॥७७॥ अपने प्राण-प्रिय पुत्रके वियोगसे राजाको उतना शोक नही हुआ, जितना मुनिराजके पधारनेसे सन्तोष

१ म धारिण्याम् । २. श स प्रलापेति । ३ श स प्रलापे विप्रलापयुक्ते । ४ आ पवित्रपासु । ५ आ श स मानिताम् । ६ = अर्घादिसामग्रीसमेताम् । ७ श स प्रांशुम् ।

अस्पृष्टपांसू अपि खेचरत्वात्कृतादरः शान्त्युदकार्थमेव ।
प्रक्षालयामास मुनीन्द्रपादौ नृपः पयोभिः प्रमदाश्रुमिश्रैः ॥७९॥
तस्मिन्नधीताशिषि साधुमुख्ये सप्रश्रयां वाचमुवाच भूपः ।
दन्तांशुभिः कुन्ददलैरिवासौ समर्चयन्पादयुगं तदीयम् ॥८०॥
जातोऽहमद्येन्दुसमानकीर्तिर्धन्यः कृतार्थो जगतश्च मान्यः ।
यदभ्युपेतो मदनुग्रहार्थी मनोरथस्यापि भवानभूमिः ॥८१॥
न काचिदीहा कृतकृत्यभावान्न च क्वचित्प्रेम [1]समत्वयोगात् ।
इयं हि कल्याणकरी प्रवृत्तिर्जगद्धितायैव भवादृशानाम् ॥८२॥

सनिभस्य समानस्य । वियोगेन वियोजनेन । तावान् तन्मात्र(तन्मान-)मस्य तावान् तत्प्रमाण । शोक दु खम् । न बभूव ॥७८॥ अस्पृष्टेति । कृतादर[2] विहितप्रीति । नृप अजितजय । खेचरत्वात् आकाशचरत्वात् । अस्पृष्टपासू अस्पृष्ट पासुर्धूलि ययो (याभ्या) तौ । अपि । मुनीन्द्रपादौ मुनीन्द्रस्य पादौ चरणौ । प्रमदाश्रुमिश्रै प्रमदादानन्दाज्जातेनाश्रुणा नेत्रोदकेन मिश्रैर्युक्तै । पयोभि सलिलै । शान्त्युदकार्थमेव शान्तिसलिलनिमित्तमेव । प्रक्षालयामास प्रक्षालयतिस्म । क्षल शौचकर्मणि लिट् ॥७९॥ तस्मिन्निति । तस्मिन् साधुमुख्ये मुनीन्द्रे । अधीताशिषि प्रोक्ताशीर्वादे सति । असौ भूप अजितजयभूपति । कुन्ददलैरिव कुन्दस्य माध्यस्य दलैरिव पुष्पैरिव । दन्तांशुभि दन्तकान्तिभि । तदीय तस्येदं तदीयम् । पादयुग पादयोर्युग द्वन्द्वम् । समर्चयन् पूजयन् । सप्रश्रया विनययुताम् । वाच वचनम् । उवाच ब्रवीतिस्म । ब्रूञ् व्यक्ताया वाचि लिट् । 'अस्ति—' इत्यादिना वचादेश । उपमा ॥८०॥ जात इति । मनोरथस्य अभिलापस्य । अभूमि अनिवासोऽपि । मदनुग्रहार्थी ममानुग्रहार्थी उपकारे प्रीत । भवान् त्वम् । यत् अभ्युपेत आगतवान् । (तत्) अद्य इदानीम् । अहम् इन्दुसमानकीर्ति इन्दोश्चन्द्रस्य समाना कीर्तिर्यस्य स । धन्य[3] धन लब्धो धन्य । कृतार्थ सपूर्णप्रयोजन । जगतश्च लोकस्य (च) मान्य पूज्य । जात[4] जायते स्म ॥८१॥ नेति । कृतकृत्यभावात् निष्पन्नकार्यत्वात् । काचिद् ईहा वाञ्छा । न न भवति । समत्वयोगात् समत्वस्य समानपरिणाम योगात् । क्वचित् कस्मिंश्चित् । प्रेम राग । न च न भवति । भवादृशाना त्वादृशानाम् । कल्याणकरी मङ्गलकरी ।

हुआ । ऐसा सन्तोष अपने जीवनमे उसे पहली बार हुआ ॥७८॥ आकाशचारी होनेसे मुनिराजके चरणोको यद्यपि धूलि छू भी नही सकी थी, किन्तु फिर भी केवल शान्ति-जलके लिए ही राजाने उनका आदरपूर्वक जलसे प्रक्षाल किया । प्रक्षाल करते समय उसकी आँखोसे हर्षाश्रु प्रवाहित हो रहे थे ॥७९॥ इसके बाद मुनिराजने राजाको आशीर्वाद दिया । आशीर्वाद पाकर वह कुन्दपुष्पोके समान अपने दातोकी किरणोसे मानो उनके चरणोकी अर्चना करता हुआ विनम्र शब्दोमे यो कहने लगा—॥८०॥ मुनिराज ! आज मेरी चन्द्रमाके समान निर्मल कीर्ति उत्पन्न हो गई है, मैं धन्य, कृतकृत्य और लोकमान्य हो गया हूँ, क्योकि केवल मेरे ऊपर अनुग्रह करनेके लिए आप यहाँ पधारे हैं । मैं तो कभी इसकी आशा भी नही कर सकता था, क्योकि आपको ऐसा कोई मनोरथ नही हो सकता, जिसकी पूर्तिके लिए आप मेरे ऐसे व्यक्तिके घर पधारें ॥८१॥ आपको अब कोई कामना नही, क्योकि आप कृतकृत्य हो चुके हैं, और आपको किसीसे राग नही, क्योकि आप सभीके प्रति समभाव रखते हैं । किन्तु फिर भी आप जैसे महर्षियो की यह भ्रमण करनेकी प्रवृत्ति केवल लोकहितके लिए ही हुआ करती

१ म 'शमत्व' । २ =विहितादर । ३ =पुण्यवान् । 'सुकृती पुण्यवान् धन्य' इति हैम । ४ आ श स जातेति । =सवृत्तः ।

निमज्जतो मे परिमूढबुद्धेरेवंविधे बन्धुवियोगदुःखे ।
मनः समुच्छ्वासि कृतं त्वयैव त्वं बान्धवेभ्योऽपि यतोऽसि बन्धुः ॥८३॥
इति श्रुतिह्लादि वचो ब्रुवाणं महीपतिं भक्तिभरावनम्रम् ।
जगाद भव्याम्बुरुहैकभानुर्मुनिर्मनोहारिभिरुक्तिभेदैः ॥८४॥
नराधिप त्वां प्रियविप्रयुक्तं विलोक्य दिव्येन विलोचनेन ।
गुणानुरागादहमागतोऽस्मि गुणेषु केषां न मनोऽनुरक्तम् ॥८५॥
श्रुतान्वितस्यान्त्यशरीरभाजस्तत्त्वावबोधक्रममाणबुद्धेः ।
भवस्थितिस्ते विनिवेद्यमाना शतक्रतोर्नाककथेव भाति ॥८६॥

इयम् एषा । प्रवृत्ति प्रवर्तनम् । जगद्धितायैव जगतो हितायैव उपकारायैव ॥८२॥ निमज्जत इति । एवं-विधे एवविधा यस्य तस्मिन् । बन्धुवियोगदु खे बन्धोर्वियोगाज्जाते दुःखे । निमज्जत[२] निमज्जतस्य । परिमूढबुद्धे. परिमूढा भ्रान्ता बुद्धिर्मति र्यस्य तस्य । मे मम । मन मानसम् । यत. यस्मात् । त्वयैव भवतैव । समुच्छ्वासि सतोषयुक्तम् । कृत[3] क्रियते स्म । (तत) त्वं भवान् । बान्धवेभ्योऽपि बन्धुभ्योऽपि । बन्धु अधिकबन्धु । असि भवसि । अस भुवि लट् ॥८३॥ इतीति । इति उक्तप्रकारेण । श्रुतिह्लादि श्रुतेः कर्णस्य ह्लादि सुखकारि । वच वचनम् । ब्रुवन्त निगदन्तम् । भक्तिभरावनम्र भक्त्या भरो भारस्तेन नमतीत्येव शील (नमतीत्येवं शील , तम्) । 'नम्कम्—' इत्यादिना शीलार्थे र-प्रत्यय । महीपतिम् अजितजय-भूपतिम् । भव्याम्बुरुहैकभानु भव्या विनेयजनास्त एवाम्बुरुहाणि कमलानि तेषामेको मुख्यो भानुरिव प्रवर्तमानः । मुनि यतीन्द्र. । मनोहारिभिः मन सतोषकारिभिः । उक्तिभेदै. वचनविशेषै । जगाद गदति स्म । रूपकम् ॥८४॥ नरेति । नराधिप नरपते । प्रियविप्रयुक्त प्रियेण पुत्रेण विप्रयुक्त वियोगसहितम् । त्वा भवन्तम् । दिव्येन दिव्यरूपेण । विलोचनेन ज्ञानेन । विलोक्य दृष्ट्वा । गुणानुरागात् गुणेष्वनुरागात् । अहम् आगतः आयात । अस्मि भवामि । गुणेषु[४] केषा[५] पुरुषाणाम् । मन मानसम् । अनुरक्त प्रीत न, अपि त्वनुरक्तमेव । अर्थान्तरन्यास ॥८५॥ श्रुतेति । श्रुतान्वितस्य श्रुतेन शास्त्रेणान्वितस्य युक्तस्य । अन्त्यशरीर-भाज. अन्त्य चरम शरीर भजतीत्यन्त्यशरीरभाक् तस्य । तत्त्वावबोधक्रममाणबुद्धे. तत्त्वावबोधे तत्त्वपरिज्ञाने क्रममाणा वर्तमाना बुद्धिर्यस्य तस्य । ते तव । विनिवेद्यमाना ज्ञाप्यमाना । भवस्थितिः भवस्य ससारस्य स्थिति । शतक्रतो देवेन्द्रस्य । नाककथेव नाकस्य स्वर्गस्य कथेव कथनमिव—इन्द्रो यथा सुरलोकस्वरूप स्वत-

है ॥८२॥ मुनिराज ! मै ऐसे पुत्रवियोगके दु ख-समुद्रमे डूब रहा था कि मेरी बुद्धि सर्वथा मूढ-विचारशून्य हुई जा रही थी, इतनेमे आपका समागम हो जानेसे मेरा मन सुखकी श्वास लेने लगा है । आपके आनेसे ही मेरा मन सन्तुष्ट हुआ है जिससे यह स्पष्ट ही समझ गया हूँ कि आप बन्धुओसे भी बढकर बन्धु हैं ॥८३॥ कानोको आनन्द देनेवाले इन मधुर वचनोको मुनिराजसे कहकर वह राजा मौन हो गया । मुनिराजके सामने वह भक्तिसे नम्र होकर बैठ गया इसके पश्चात् वे मुनिराज, जो भव्यजीवरूपी कमलोको आनन्द देनेके लिए एकमात्र सूर्य थे, मनोहर शब्दोमे इस प्रकार बोले——॥८४॥ राजन् ! अपने दिव्यनेत्र-अवधिज्ञानसे तुम्हे पुत्रसे वियुक्त जानकर मै यहाँ तुम्हारे गुणोके ऊपर अनुराग होनेसे आया हूँ । गुणोंके ऊपर किनका मन अनुरक्त नही होता ? ॥८५॥ राजन् ! तुमने शास्त्रोका परिशीलन किया है, तुम्हारी बुद्धि तत्त्वज्ञानकी प्राप्तिमे लगी हुई है और तुम चरम शरीरी हो——तुम इसी जन्ममे मुक्ति पा लोगे । अतएव तुम्हे ससारकी स्थिति बताना इन्द्रको स्वर्गकी कथा सुनानेके समान मालूम

१ म सुलोच । २ = ब्रुडतः । ३. – न्दितम् । ४. आ गुणिषु । = गुणेषु गुणवत्सु वा । ५. श स तेषाम् ।

अनिष्टयोगप्रियविप्रयोगौ साधारणौ सर्वशरीरभाजाम् ।
इत्यात्मबुद्ध्या विगणय्य विद्वान्न खेदयत्यात्ममनो विषादैः ॥८७॥
अर्हस्यतस्त्वं प्रविधातुमेनं शरीरसंतापकरं न शोकम् ।
विपत्सु दैवोपनिबन्धनासु प्रखिद्यते कातरधीर्न धीरः ॥८८॥
विशङ्कमानोऽकुशलं तनूजे खेदं महीमण्डन मा च यासी[1] ।
संयोक्ष्यसि[2] त्वं दिवसैः कियद्भिः समृद्धिभाजा निजनन्दनेन ॥८९॥
इति गिरमभिधाय निश्चितार्थां गतवति तत्र निजाश्रमं मुनीन्द्रे ।
स निखिलमकृताह्निकं विधेयं प्रहितनरेन्द्रनियोगिमन्त्रिवर्गः ॥९०॥

एव परोपदेश विनैव जानाति तथा त्वमपि ससारस्वरूप सर्वं जानासीत्यभिप्राय । भारती भाषा (?) । भाति । उपमा ॥८६॥ अनिष्टेति । सर्वशरीरभाजा सर्वेषा शरीरभाजा ससारिणाम् । अनिष्टयोगप्रियविप्रयोगौ अनिष्टस्याहितवस्तुनो योगश्च सबन्धश्च प्रियस्येष्टवस्तुनो विप्रयोगश्च वियोगश्च तौ । साधारणौ समानौ । इति एव प्रकारेण । आत्मबुद्धया स्वस्य बुद्धया । विगणय्य विचार्य । विद्वान् ज्ञानी । आत्ममनोविषादै आत्मन स्वस्य मानसशोकै[3] । न खेदयति न पीडयति । खिदि दैन्ये[4] लट् ॥८७॥ अर्हस्येति[4] । अत एतस्मात्[6] । त्वं भवान् । शरीरसतापकर शरीरस्य सतापकरं दाहकरम् । एन शोक दु खम् । प्रविधातु कर्तुम् । नार्हसि न समर्थोऽसि । दैवोपनिबन्धनासु दैवमदृष्टमेवोपनिबन्धन कारण यासा तासु । विपत्सु विपत्तिषु । कातरधी कातरा भीता धीर्यस्य स । प्रखिद्यते विषाद करोति । धीर विद्वान् न प्रखिद्यते । खिदि दैन्ये लट् । अर्थान्तरन्यास ॥८८॥ विशङ्केति । महीमण्डन भो भूमितिलक । तनूजे तनये । अकुशल कष्टम् (अमङ्गलम्) विशङ्कमान शङ्का कुर्वन् । खेद दु खम् । मा च (मा स्म) यासी मा गा । या प्रापणे लुङ् । समृद्धिभाजा समृद्धि भजतीति समृद्धिभाक् तेन । निजनन्दनेन निजस्य स्वस्य नन्दनेन पुत्रेण । कियद्भि कतिपयै । दिवसै दिनै । त्व भवान् । सयोक्ष्यसि सबन्ध प्राप्स्यसि । युजृ योगे कर्मणि लृट्[7] ॥८९॥ इतीति । तत्र तस्मिन् । निश्चितार्थां निर्णीताभिप्रायाम् । गिर वाचम् । इति उक्तप्रकारेण । अभिधाय उदीर्य । मुनीन्द्रे मुनीश्वरे । निजाश्रम निजस्य स्वस्याश्रम स्थानम् । गतवति यातवति सति । प्रहितनरेन्द्रनियोग [गि] मन्त्रिवर्ग. प्रहितो विसर्जितो नरेन्द्राणा भूपानां नियोग [गि] पुरुषाणा मन्त्रिणा वर्ग समूहो येन स । स राजा । निखिल सकलम् । आह्निक दिने प्रवर्तमानम् । विधेय कार्यम् । अकृत अकरोत । डुकृञ्करणे लुङ् ॥९०॥

होता है । जिस प्रकार इन्द्रस्वर्गकी स्थितिको स्वय जानता है इसी प्रकार तुम भी ससारकी स्थितिको स्वय जानते हो ॥८६॥ इस ससारमे जितने शरीरधारी-प्राणी हैं, उन सभीके साथ इष्ट वियोग और अनिष्ट सयोग समान रूपसे लगे हुए हैं, यह अपनी बुद्धिसे सोचकर बुद्धिमान् मनुष्य विषादसे अपने मनको खिन्न नही करते ॥८७॥ अत तुम्हे शोक करना उचित नही, क्योकि शोक करनेसे शरीरमे सन्ताप होता है, लाभ तो कुछ होता नही । पूर्वोपार्जित कर्मोके कारण विपदाएँ आती हैं । उनके आने पर कायर पुरुष ही खिन्न होते हैं, न कि धीर-वीर ॥८८ । राजन् ! तुम इस भूमिके भूषण हो—तुमसे इसभूमिकी शोभा है । अपने पुत्रके बारेमें अकुशलकी आशङ्कासे खिन्न न होओ । थोडे ही दिनोमे अपने समृद्धिशाली पुत्रसे तुम्हारी भेट होगी । ८९॥ निश्चित अर्थसे भरे वचन कहकर मुनिराजने उधर अपने इष्ट स्थानकी ओर प्रस्थान किया, और इधर राजाने भी वहाँ उपस्थित राजाओ, अधिकारियो और मन्त्रियोंको

---

१ क ख ग घ मावयासी । मु० मा स्म यासी. । २ क ख ग घ सयोज्यसे । म सयुज्यसे । ३. = विषादै मानसशोकैः । आत्ममन. आत्मन स्वस्य मनश्चित्तम् । ४ श स खेदि । ५ श स अर्हसीति । ६ आ तस्मात् । = अत अस्मात् कारणात् । ७ श स लुङ् ।

दिनैरल्पैरेव प्रथितगुणराशेस्तनुभुवो
विदित्वा संयोगं परममुदयं चोग्रमहसः ।
पठद्बन्दिव्रातस्तुतशशिकलाशुभ्रयशसा
सुखं तस्थे राज्ञा मुनिवचनविश्वस्तमनसा[1] ॥९१॥

॥ इति श्रीवीरनन्दिकृतावुदयाङ्के चन्द्रप्रभचरिते महाकाव्ये पञ्चमः सर्गः ॥५॥

दिनैरिति । प्रथितगुणराशेः प्रथितो गुणानां राशिः समूहो यस्य तस्य । उग्रमहसः उग्रस्तीव्रो (उग्रं तीव्र) महः प्रतापो यस्य तस्य । तनुभुवः कुमारस्य । अल्पैरेव स्तोकैरेव दिनैः । संयोगं समेलनम् । परमम् उत्कृष्टम् । उदयं च सम्पदं च । विदित्वा ज्ञात्वा । पठद्बन्दिव्रातस्तुतशशिकलाशुभ्रयशसा पठता बन्दिनां व्रातेन व्रजेन स्तुतं शशिकलेव चन्द्रकलेव शुभ्रं यशो यस्य तेन । मुनिवचनविश्वस्तमनसा मुनिवचने विश्वस्तं विश्रब्धं मनो यस्य तेन । राज्ञा भूपेन । सुखं तस्थे स्थीयते स्म । ष्ठा[2] गतिनिवृत्तौ भावे लिट् ॥९१॥

इति वीरनन्दिकृतावुदयाङ्के चन्द्रप्रभचरिते महाकाव्ये तद्व्याख्याने च
विद्वन्मनोवल्लभाख्ये पञ्चमः सर्गः ॥५॥

बिदाकर अपना सारा दैनिक कार्य पूरा किया ॥९०॥ थोडे ही दिनोंके बाद, अपने गुणोंसे प्रसिद्ध और अत्यन्त तेजस्वी पुत्रसे भेंट होगी । उसका उत्कृष्ट अभ्युदय होगा, यह जानकर राजा सुखसे रहने लगा । मुनिराजके वचनोंपर उसे अपनेमें पूर्ण विश्वास था । अब उसे कोई चिन्ता नहीं रही । सब काम पूर्ववत् चलने लगे उसके चन्द्रकलाकी भाँति धवल यशका, स्तुतिपाठक गान करने लगे ॥९१॥

इस प्रकार महाकवि वीरनन्दी विरचित उदयाङ्क चन्द्रप्रभचरित
महाकाव्यमें पाँचवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥५॥

---

१ अ मु० °वचसा । २. स श स्था ।

षष्ठः सर्गः

अथ तेन परिभ्रमय्य मुक्तः सरुषासावसुरेण राजसूनुः ।
निपपात मनोरमाभिधाने सरसि [1]प्रोन्मिषदुग्रनक्रचक्रे ॥ १ ॥
गगनात्पतितस्य तस्य घातादपविद्धेषु पयःसु सर्वदिक्कम् ।
जलधाम तदा स्थलीबभूव स्थलमासीच्च जलाशयो मुहूर्तम् ॥ २ ॥
परित' परिचूर्णयन्नुपेतान्मकरादीन्घनमुष्टिपार्ष्णिघातैः ।
प्रकटीकृतपूर्वपुण्यशक्तिस्तटमाप प्रविलङ्घ्य वारि दोर्भ्याम् ॥ ३ ॥

वस्तुस्थिति कथयतस्तव दिव्यमार्गं मिथ्यामतं त्विति वदन्ति कुदर्शनस्था ।
यत्पश्य हा विमल तद्विपरीतवृत्ति काले कलौ च विपरीतमति स्वभावा[2] (?) ॥

अथेति । अथ मुनीन्द्रबोधनानन्तरम् । सरुषा कोपसहितेन[3] । तेन असुरेण देवविशेषेण । परिभ्रमय्य परितो भ्रामयित्वा । मुक्त. सन् त्यक्त सन् । असौ अयम् । राजसूनु राजकुमार । प्रोन्मिषदुग्रनक्रचक्रे प्रोन्मिषदुद्गच्छदुग्राणा[4] क्रूराणा नक्राणां ग्रहाणा चक्र वृन्द यस्मिन् तस्मिन् । मनोरमाभिधाने मनोरमम् इत्यभिधान यस्य तस्मिन् । सरसि सरोवरे । निपपात पतति स्म । पत्लृ गतौ लिट् । जाति' ॥१॥ गगनादिति । गगनात् आकाशात् । पतितस्य प्रच्युतस्य । तस्य कुमारस्य । घातात् प्रतिस्खलनात् । सर्वदिक्क सर्वा दिश एव सर्वदिक्कम् । पुनस्तत्[5] (?) । पय सु सलिलेषु । अपविद्धेषु[6] सत्सु प्राप्तेषु सत्सु । तदा तत्समये । जलधाम जलाना धाम स्थान सरोवर इत्यर्थ । स्थली बभूव प्रागस्थलमिदानीं स्थल बभूवेति तथोक्तम्, 'कर्मकर्तृभ्या प्रागतत्त्वे –' इति च्वि, स्थल भवति स्म । मुहूर्तं[7] घटिकाद्वयपर्यन्तम् । 'कालाध्वनो-र्व्याप्तौ' इति द्वितीया । जलाशय सरोवर । स्थल जलरहितप्रदेश । आसीच्च अभवच्च । अस भुवि लङ् ॥२॥ परित इति । परित समन्तात् । उपेतान् समायातान् । मकरादीन् मकरादिजलचरान् । घनमुष्टिपार्ष्णि-घातै घनैर्मुष्टिपार्ष्ण्योर्घातै प्रतिघातै । परिचूर्णयन् परिमर्दयन् । दोर्भ्यां भुजाभ्याम् । वारि सलिलम् ।

उधर उस चण्डरुचि नामके क्रोधी असुरने राजकुमार अजितसेनको—जिसे वह हर ले गया था—दोनो हाथोंसे चारो ओर घुमाकर फेक दिया। वह मनोरम नामके सरोवरमे—जिसमे भयकर मगर-मच्छ उछल-कूद मचा रहे थे—जा गिरा ॥१॥ आकाशसे गिरे हुए उस राजकुमार-के आघातसे सरोवरका सारा जल ऊपर की ओर उछल गया, जिससे जलसे लबालब भरा हुआ सरोवर थोडी देरके लिए स्थल हो गया और जहाँ-जहाँ वह जल जा गिरा वे स्थल जलमय हो गये ॥ २ ॥ कुछ ही क्षणोमे सरोवर फिर जलसे भर गया। जलके साथ मगर-मच्छ आदि जल-जन्तु भी वही-के-वही आ गये, और राजकुमारके ऊपर झपटने लगे। किन्तु पूर्वोपार्जित पुण्यकर्मकी शक्तिसे उसने उन्हे जोरके मुक्को और एडियोसे मार-मारकर चकनाचूर कर दिया,

---

१ अ प्रोन्मिल° । २ आ प्रतौ पद्यमिद न दृश्यते । ३ श स कोपेन सहितेन । ४ आ °षदुच्छदु° ।
५ आ पुस्तत् । ६. श स °रुद्धेपु । ७ = स्वल्पकाल यावत् ।

धवलारुणकृष्णदृष्टिपातैः ककुभः कर्बुरयन्सरोन्तिकस्थः ।
स ददर्श समं ततोऽपि धीरः[1] परुषाख्यामटवीमगम्यरूपाम् ॥ ४ ॥
पृथुतुङ्गनिरन्तरैस्तरूणां निवहैश्छन्नसमस्तदिङ्मुखायाम् ।
निपतन्ति न यत्र तिग्मरश्मेरपि पादा इव दर्भसूचिभीत्या ॥ ५ ॥
मृगराजविदारितेभकुम्भच्युतमुक्ताफलपङ्क्तयः समन्तात् ।
पतिता इव तारका नभस्तस्तरुशाखास्खलनेन भान्ति यस्याम् ॥ ६ ॥
अतिरौद्रकिरातभल्लभिन्नप्रियकास्रारुणिता दधाति भूमिः ।
रुचिरत्वमरण्यदेवतानां चरणालक्तकचर्चितेव यस्याम् ॥ ७ ॥

प्रविलङ्घ्य उल्लङ्घ्य । तट तीरम् । आप प्राप । आप्लृ व्याप्तौ लिट् ॥३॥ धवलेति । धवलारुणकृष्णदृष्टिपातैः धवलारुणकृष्णे श्वेतलोहितनीलै दृष्टचो. पातै. पतनै । ककुभ. दिश. । कर्बुरयन् विचित्रवर्णं (र्णा) कुर्वन् । सरोऽन्तिकस्थ. सरस सरोवरस्यान्तिकस्थ समीपस्थ । धीर धीरपुरुष । स कुमारः समन्ततोऽपि सर्वतोऽपि । अगम्यरूपाम् अगम्य गन्तुमशक्य रूप यस्यास्ताम् । परुषाख्या 'परुषा'[2] इत्याख्याऽभिधान यस्यास्ताम् । अटवीम् अरण्यानीम् । ददर्श पश्यति स्म । दृश्[3] प्रेक्षणे लिट् ॥४॥ पृथ्वीति । पृथुतुङ्गनिरन्तरै पृथुभिर्महद्भिस्तुङ्गैरुन्नतै निरन्तरैः सान्द्रैः । तरुणा वृक्षाणाम् । निवहै समूहै । छन्नसमस्तदिङ्मुखाया छन्नानि समस्ताना सर्वासा[4] दिशा मुखानि समस्तदिङ्मुखानि दिग्विवराणि यस्यास्तस्याम् । यत्र अटव्याम् । तिग्मरश्मेरपि सूर्यस्य (अपि) । पादा किरणा, चरणा इति ध्वनिः । दर्भसूचिभीत्या दर्भाणा दर्भा एव वा सूचयस्तासा भीत्या भयेनेव । न निपतन्ति न प्रविशन्ति । पत्लृ गतौ लट् । उत्प्रेक्षा ।५॥ मृगेति । यस्याम् अटव्याम् । मृगराजविदारितेभकुम्भच्युतमुक्ताफलपक्तय मृगाणा राजेन (राज्ञा) सिंहेन विदारितेभ्य इभाना गजाना कुम्भेभ्य कुम्भस्थलीभ्यश्च्युतास्तथोक्ता, ताश्च ता मुक्ताफलाना मौक्तिकाना पक्तयो राजय: । समन्तात् सर्वत । तरुशाखास्खलनेन तरूणा वृक्षाणा शाखाना स्खलनेन घातेन । नभस [नभस्त] आकाशात् । पतिता प्रच्युता । तारका इव नक्षत्राणीव । भान्ति विराजन्ते । भा दीप्तौ लट् । उत्प्रेक्षा ॥६॥ अतीति । यस्याम् अटव्याम् । [5]अतिरौद्रकिरातभल्लभिन्नप्रियकास्रारुणिता अतिरौद्राणाम्[6] अतिकोपिना किराताना पुलिन्दाना भल्लै बाणै भिन्नाना विदारिताना प्रियकाणा मृगाणामस्रेण रक्तेनारुणिता

और फिर तैरकर किनारेपर जा पहुँचा ॥ ३ ॥ किनारेपर पहुँचते ही वह खडा होकर चारो ओर देखने लगा । ऊँचाईसे गिरने, जल जन्तुओसे जूझने और तैरनेके कारण उसके नेत्र लाल हो गये थे । नेत्रोके मध्य-भागमे कालापन था और चारो ओर कुछ सफेदी और कुछ लालिमा । इन तीनो वर्णोंकी सम्मिलित प्रभाके सभी ओर पडनेसे सारी दिशाएँ चितकबरी-सी हो गयी । वह वीर वहाँसे जानेके लिए मार्ग देखना चाहता था, किन्तु उसे चारो ओरसे परुषा नामकी अटवी दिखलाई पड़ी, जो बहुत ही घनी थी । उससे निकलनेका कोई रास्ता ही नही सूझ रहा था ॥ ४ ॥ उसमे सभी ओरसे लगातार ऊँचे और विशाल वृक्षोके झुण्ड थे, जिनसे सारी दिशाएँ आँखोसे ओझल हो गयी थी । उसमे सुई-सरीखा नुकीला कास लगा हुआ था । मानो उसकी नोक चुभनेके भयसे सूर्यके भी पाद (किरण, चरण) वहाँ नही पडते थे ॥ ५ ॥ वहाँ सिहोने जिन हाथियोके गण्डस्थलोका विदारण किया था, उनकी मुक्ताएँ (गजमुक्ताएँ) चारो ओर पडी थी, उनके देखनेसे ऐसा जान पडता था मानो वहाँकी उन्नत-वृक्ष-शाखाओकी रगड़से आकाशसे ताराएँ टूटकर बिखरी पडी हो ॥ ६ ॥ वहाँ अत्यन्त क्रोधी भीलोने अपने भालोंसे

१ अ क ख ग घ म वीरः । २ आ परुष इति । ३ श स दृशू । ४ आ सर्वाणाम् ।
५. श स अतिकाद्र° । ६ श स अतिकाद्राणाम् ।

शबराहतपुण्डरीकयूथैर्विटपालम्बिभिरेकतोऽपरत्र।
हरिहिंसितसामजास्थिकूटैर्जनसंत्रासकरी पुरीव मृत्योः ॥ ८ ॥

मदगन्धिषु सप्तपर्णकेषु प्रचुरप्रान्तलतान्धकारितेषु।
करिशङ्कितया क्रमं दधाना[1] हरयो यत्र भवन्ति वन्ध्यकोपाः ॥ ९ ॥

सततप्रसृतैरपोढशीताः शयुनिःश्वासचयोष्णितैर्मरुद्भिः।
गमयन्ति महीरुहाधिरूढा[2] शिशिरर्तुं प्लवगाः सुखेन यस्याम् ॥ १० ॥

लोहिता। 'चमूरुप्रियकावपि' इत्यमर.। भूमिः पृथ्वी। अरण्यदेवतानाम् अरण्ये कानने विद्यमानां देवतानां देवीनाम्। चरणालक्तकचर्चितेव चरणानां पादानामलक्तकेन यावकरसेन चर्चितेव लिप्तेव। रुचिर मनोहरम् [रुचिरत्व मनोहरत्वम्]। दधाति धरति। डुधाञ् धारणे च लट्। उत्प्रेक्षा ॥७॥ शबरेति। एकत. एकस्मिन् एकत —एकप्रदेशे। विटपालम्बिभि विटपेषु शाखासु लम्बिभिः। 'विटपः पल्लवे षिङ्गे[3] विस्तारे स्तम्बशाखयो' इति विश्व.। शबराहतपुण्डरीकयूथै. शबरैर्व्याधैराहतानां घातिताना[4] पुण्डरीकाणां व्याघ्राणां यूथै समूहै। परत्र अन्यप्रदेशे।[5] हरिहिंसितसामजास्थिकूटै। हरिभि सिहैर्हिंसितानामाघाताना[6] सामजानां गजानामस्थ्ना कूटै राशिभि। मृत्यो. यमस्य। पुरीव पत्तनमिव। जनसन्त्रासकरी जनानां लोकाना सन्त्रासकरी भयङ्करी। भाति। उपमा (उत्प्रेक्षा) ॥८॥ मदेति। यत्र अटव्याम्। मदगन्धिषु मद इव मदजल इव[7] गन्धिषु परिमलयुक्तेषु। प्रचुरप्रान्तलतान्धकारितेषु प्रचुराभि. प्रान्ते समीपे विद्यमानाभिर्लताभिरन्धकारितेषु ध्वान्तयुक्तेषु। सप्तपर्णकेषु कर्पूरकदलीषु। करिशङ्कितया गजसदृशतया। क्रम पादम्। दधाना। धरन्तः। हरय सिहा। वन्ध्यकोपा निष्फलक्रोधा। भवन्ति सन्ति। भू सत्तायां लट् ॥९॥ सततेति। यस्याम् अटव्याम्। महीरुहाधिरूढा महीरुहान् वृक्षान् अधिरूढा[8] आरूढवन्त। प्लवगा वानरा। सततप्रसृतै सततमनवरत प्रसृतै व्याप्तै। शयुनि श्वासचयोष्णितै शयूना[9] सर्पविशेषाणा निश्वासानामन्तर्बहिर्गतवायूना चयेन समूहेनोष्णितै सञ्जातोष्णै। मरुद्भि वायुभि। अपोढशीता. अपोढं निराकृत शीत हिम येषा ते। शिशिरर्तुं

जिन मृगोका शिकार किया था, उनके रक्तसे पृथ्वी लाल हो गयी थी, जो ऐसी जान पडती थी मानो वन देवियोंके चरणोंके महावरसे रंग गयी हो ॥७॥ जहाँ एक ओर वृक्षोकी शाखाओपर वे बाघ लटक रहे थे, जिन्हे भीलोने अभी-अभी मारा है और दूसरी ओर सिंहोंके द्वारा मारे गये हाथियोकी हड्डियोके ढेर लगे हुए थे। फलत. वह अटवी यमपुरीके समान, मानवको भयावनी हो गयी थी ॥ ८ ॥ वहाँ सप्तच्छद (कर्पूरकदली) वृक्ष लगे हुए थे : उनकी गन्ध हाथियोके मदजलकी गन्धके समान थी। उनके आस-पास सघन लताएँ छाई हुई थी। अतएव वहाँ सदा अन्धकार रहता था। फलतः वहाँ सिंहोको हाथियोका भ्रम हो जाया करता था, जिससे वे छलाग मारकर सप्तच्छद-वृक्षोके ऊपर पजोका प्रहार कर बैठते थे। यद्यपि उनका यह क्रोध व्यर्थ ही होता था ॥९॥॥ वहाँ अजगरोकी श्वाससे वायु गरम होकर बहा करती थी। अतः वृक्षोंपर चढे हुए बन्दरोको जाड़ा नही सताता था। वे शिशिर ऋतु सुखपूर्वक बिताया करते थे

---

१ अ आ इ दधाना। २ क ख ग घ म महीधराधि°। ३ आ षण्डे। ४ आ घातनां। ५ आ अन्यत्रप्र°। ६ =मारितानां विदारितानां वा। ७ =मदजलमिव। ८ =चटिता। ९ =अजगराणा।

घनपादपसंकटा[1]न्तराले गहने यत्र स जातदिक्प्रमोहः ।
विनिचाय्य चिराद्वनेचराणां पदवीं निर्भयमानसः प्रतस्थे ॥ ११ ॥
गुरुवंशमथाप्रमाणसत्त्वं स्थितिमत्युन्नतिशालिनीं दधानम् ।
रुचिराकृतिमेकमालुलोके स्वसमानं स नगं गजेन्द्रगामी ॥ १२ ॥
बहुनागमनेकखड्गिसेव्यं तमिलानाथमिव प्रसादिताशम्[2] ।
गगनस्पृशमारुरोह शैलं वनपर्यन्तबुभुत्सया कुमारः ॥ १३ ॥

शीतकालम् । सुखेन[3] निरायासेन । गमयन्ति यापयन्ति । गम्लृ गतौ णिजन्ताल्लट् ॥१०॥ घनेति । [घनपादपसङ्कटान्तराले] घनैः सान्द्रैः पादपैस्तरुभिः सङ्कटं सङ्कीर्णमन्तरालं मध्यं यस्मिन् तस्मिन् । तत्र तस्मिन् कानने । जातदिक्प्रमोहः जातः उत्पन्नो दिशां प्रमोहो भ्रमो यस्य सः । स अजितसेनकुमारः । वनेचराणां व्याधानाम् । 'तत्पुरुषे कृति बहुलम्' इति क्वचित् रलुगभावः । पदवीं मार्गम् । चिरात्[4] शनैः विनिचाय्य[5] विलोक्य । चाय पूजानिशामनयोः[6] । निर्भयमानसः सन् निर्भयं भयरहितं मानसं यस्य सः, सन् । प्रतस्थे प्रययौ ॥११॥ गुरुवंशमिति । अथ प्रस्थानानन्तरम् । गजेन्द्रगामी गजेन्द्र इव गच्छतीत्येवं शीलो मन्दगामीत्यर्थः । सः कुमारः । गुरुवंशं गुरवो महान्तो वंशा वेणवो यस्मिन् तम्, पक्षे गुरुर्महान् वंशः कुलं यस्य तम् । अप्रमाणसत्त्वम् अप्रमाणा सत्त्वाः[7] प्राणिनो यस्मिन् तम्, पक्षे बहलसामर्थ्यम् । अत्युन्नत [ति] शालिनीम्[8] अत्युन्नतया शालिनीं संपूर्णां स्थितिं व्यवस्थितिं, पक्षे मर्यादाम् । दधानं धरन्तम् । रुचिराकृतिं रुचिराकृतिर्यस्य तम् । एकं स्वसमानम् । नगं पर्वतम् । आलुलोके ददर्श । लोकृ[9] दर्शने लिट् । श्लेषोपमा ॥१२॥ बह्विति । बहुनागं बहवो नागाः कुञ्जरा यस्मिन् तम् । अनेकखड्गिसेव्यम् अनेकैर्बहुलैः खड्गिभिः खड्गिमृगैः, पक्षे, वीरभटैश्च सेव्यं सेवनीयम् । प्रसादिताशं प्रसादिता[10] प्रसन्ना आशा दिशो येन तम्, पक्षे प्रसादिताभिलाषम् । गगनस्पृशम्[11] आकाशस्पृशम् । इलानाथमिव भूमिनाथमिव । तं शैलं पर्वतम् । कुमारः अजितसेन । वनपर्यन्तबुभुत्सया वनस्य काननस्य पर्यन्तमवसानं[12] बुभुत्सया बोद्धुमिच्छया आरुरोह आरोहतिस्म । रुह बीज-

॥१०॥ उस अटवीके बीचमे सघन वृक्षावली थी, इस कारण राजकुमार अजितसेनको दिशा पहचाननेमे भ्रम हो गया । बहुत देरके बाद उसे खोज करनेपर भीलोका एक आने-जानेका मार्ग मिला । उसी मार्गसे वह निर्भय होकर चल पडा ॥ ११ ॥ गजराजकी भाँति गमन करनेवाला वह राजकुमार ज्यो ही कुछ आगे बढ़ा त्योही उसे एक पहाड़ दिखलाई दिया । वह उसी राजकुमारके समान था । राजकुमार श्रेष्ठ वंशमे उत्पन्न हुआ था, पहाडमे वड़े-बडे वास लगे हुए थे । राजकुमारमे अपरिमित बल था, पहाडमे अपरिमित प्राणी थे । राजकुमार उत्तरोत्तर उन्नतिसे सुशोभित व्यवस्थासे युक्त था, पहाड श्रेष्ठ ऊँचाईसे युक्त था । राजकुमार का आकार सुन्दर था और पहाड भी दर्शनीय था । इस तरह वंश (वश, वास), सत्त्व (बल, प्राणी), स्थिति (व्यवस्था, मर्यादा) और सुन्दरताकी दृष्टिसे दोनो समान थे ॥ १२) वह पहाड़ राजाके समान था । राजाके पास बहुत हाथी होते हैं; उसकी सेवा खड्गधारी सिपाही करते हैं; वह सबके मनोरथको पूरा करता है और वह गगनचुम्बी महलोपर चढकर आकाशको छूता है । इसी प्रकार वह पहाड़ बहुत हाथियो और सर्पोसे युक्त था, उसपर गैंडे निवास करते थे; वह सभी दिशाओको प्रसन्न करता था और उन्नत शिखरोसे आकाशको छू रहा था । राजकुमार

१ आ इ °पादपसघटा° । २ °सिताशम् । ३. = सुखपूर्वकम् । ४ = चिरं । ५ आ विनिचार्य विलोक्य । जायृन् पूजानिशामनयो । ६ = 'निशामनं चाक्षुषज्ञानम्' इति माधव । ७ = सत्त्वानि । ८. = अत्युन्नत्या शालते शोभत इत्येवंशीलाताम् अतिसमुन्नतिशोभमानामित्यर्थ. । ९. आ लोकृन् । १०. = प्रसादं प्रापिता आशा दिशो येन तम् । ११. = गगनचुम्बिनमत्युन्नतमित्यर्थः । १२ = तन्दुभुत्सया तद्बोद्धुमिच्छया ।

स्फुरदोष्ठतटः[1] करालवक्त्रो भुजदण्डभ्रमितप्रचण्डयष्टिः ।
सहसाविरभूत्पुरोऽस्य तस्मिन्पुरुषः प्रावृषिजाम्बुवाहनीलः ॥१४॥
प्रतिनादितसर्वशैलरन्ध्रः स समेत्य त्वरया समीपदेशम् ।
वचनैः परुषाक्षराविषह्यैरिति तं तर्जयति स्म राजपुत्रम् ॥ १५ ॥
किमु कोऽपि बलोद्धतस्त्वमुच्चैरुत विद्यातिशयं दधासि कंचित् ।
यदकारि मनस्त्वया मदीयां भुवमाक्रान्तुमिमामनन्यभोग्याम् ॥ १६ ॥
त्रिदशो[3] यदि वादितेस्तनूजो न मदाज्ञामनवाप्य कोऽपि शक्तः ।
परिरक्षितमस्मदीयदोर्भ्यां गिरिमाक्रान्तुमिमं विशालशृङ्गम् ॥ १७ ॥

जन्मनि लिट् । इलेपोपमा ॥१३॥ स्फुरदिति[4] । स्फुरदोष्ठतटः स्फुरत्कम्पमानमोष्ठस्याधरस्य तटं प्रदेशो यस्य स । करालवक्त्रः करालं भयङ्करं वक्त्रं मुखं यस्य स । भुजदण्डभ्रमितप्रचण्डयष्टिः भुजदण्डेन भ्रमिताः कम्पिता प्रचण्डा निष्ठुरा यष्टिर्योदण्डो यस्य (येन) स ।। प्रावृषिजाम्बुवाहनीलः[6] प्रावृषिजो वर्षाकालजनितोऽम्बुवाह इव नीलः कृष्णवर्णः । पुरुषः मनुष्यवेषधारी । तस्मिन् पर्वते । अस्य कुमारस्य । पुरः अग्रे । सहसा शीघ्रम् । आविरभूत् प्रादुरभूत् । जातिः ॥१४॥ प्रतीति । प्रतिनादितसर्वशैलरन्ध्रः प्रतिनादितं प्रतिध्वनं (ध्वा) नितं सर्वेषां शैलानां पर्वतानां रन्ध्रं छिद्रं येन स । सः पुरुषः । त्वरया वेगेन । समीपदेशं निकटप्रदेशम् । समेत्य आगत्य । परुषाक्षराविषह्यैः[7] परुषैर्निष्ठुरैरक्षरैर्वर्णैरविषह्यैः[8] दुःसहैः । वचनैः वचोभिः । इति वक्ष्यमाणप्रकारेण । तं राजपुत्रं राजकुमारम् । तर्जयति स्म त्रासयति स्म[9] । तर्ज भर्त्सने[10] लट् ॥१५॥ किमु इति । यत् यस्मात् । मदीयां मम सम्बन्धिनीम् । अनन्यभोग्याम्[11] अनन्यगोचरहिताम् इमाम् एताम् । भुवं भूमिम् । आक्रान्तुम् आगन्तुम् । त्वया मनः चित्तम् । अकारि अक्रियत । डुकृञ् करणे कर्मणि लुङ् । [किमु किंवा] त्वम् उच्चैः बलोद्धतः बलेन पराक्रमेणोद्धतो गर्वितः कोऽपि[12] । [उत अथवा] कंचित् विद्यातिशयं विद्याया जात्यादिविद्याया अतिशयम् । दधासि धरसि । उत किमु । संशयः ॥१६॥ त्रिदश इति । यदि त्रिदशः देवः । (वा अथवा, कोऽपि) अदितेः अदितीति[13] मातुः तनूजः पुत्रः, दानवः इत्यर्थः (?) वा किम् । मदाज्ञां ममाज्ञाम् । अनवाप्य अलब्ध्वा । अस्मदीयदोर्भ्याम् अस्मदीयाभ्यां दोर्भ्यां भुजाभ्याम् । परिरक्षितं परिपालितम् । विशालशृङ्गं[14] विस्तारशृङ्गयुक्तम् । इमम् एतम् । गिरिं पर्वतम् । आक्रान्तुम्[15] आगन्तुम् । शक्तः समर्थः कोऽपि, न

अजितसेन वनका ओर-छोर जाननेके लिए उस पहाड़पर चढ गया ॥ १३ ॥ ज्यों ही वह ऊपर पहुँचा त्यों ही उसके सामने एकाएक एक पुरुष (पुरुष वेषधारी देव) प्रकट हुआ । क्रोधके कारण उसका अधर (नीचेका होठ) फड़क रहा था, उसका मुख बडा भयकर दिख रहा था, वह एक भयानक लोहदण्डको अपने हाथोंसे घुमा रहा था और वह वर्षाकालीन मेघकी भाँति काला था ॥ १४ ॥ उसकी भयावनी आवाजसे पहाडकी सारी गुफाएँ गूँज उठी । वह शीघ्र ही राजकुमारके पास आ धमका और कठोर अक्षरोसे भरे हुए असह्य वचनोसे उसकी भर्त्सना यो करने लगा—॥ १५ ॥ क्या तुझे अपने बलका इतना भारी घमण्ड है या तू किसी विशिष्ट विद्याको जानता है ! जो तेरी इच्छा मेरी इस भूमिमे आनेकी हुई, जिसका उपभोग कोई भी नही कर सकता ॥ १६ ॥ कोई देव हो या दानव, पर कोई मेरी आज्ञाके बिना, उन्नत शिखरों-वाले इस पर्वतपर नही आ सकता । मैं स्वयं अपनी बाहुओसे इसकी रखवाली जो करता हूँ

१ म °ष्ठतल । २ अ भुवमागन्तु° । ३ अ त्रिदिवेशो । ४ अ °मागन्तु° । ५ श स स्फुरेरित । ६. = वर्षाकाल जनित सचासावम्बुवाहो मेघ. स इव नीलः कृष्णवर्ण । ७ श स °राविसह्यै । ८ श स °रविसह्यै । ९ श 'त्रासयतिस्म' इति नोपलभ्यते । १० आ तर्ज्य भर्त्सने । ११ = अनन्यगोचराम् । १२. = असि । १३ = 'अदिति' इति नामधेयाया । १४. = विस्तारिशृङ्गयुक्तम् । १५ आ आक्रन्तुम् ।

जलनिर्झरसङ्गशीतवाते[1] धरणीध्रे शिशिरत्वमादधानाः।
[2]न पतन्ति यदत्र तिग्मरश्मेः किरणाः कारणमत्र मत्प्रतापः॥ १८॥
इदमात्मवधाय मद्विरुद्धं विदधानोऽबुध केन विप्रलब्धः।
अथवा न गतः श्रुतिं तवाहं नहि विद्वानसमीक्षितं विधत्ते॥ १९॥
इति तस्य निशम्य गर्वगर्भां स गिरं मर्मनिकृन्तनी[3]मिवैषुम्।
कुपितः कृतसौष्ठवं बभाषे जयलक्ष्मीनिलयो नरेन्द्रसूनुः॥ २०॥
भजते भयमेभिरर्थशून्यैर्वचनैः कापुरुषो न धीरचेताः।
अहमस्मि सुरासुरैकमल्लो गणना कैव भवद्विधे नृकीटे॥ २१॥

कोऽपीत्यर्थः ॥१७॥ जलेति। जलनिर्झरसङ्गशीतवाते जलनिर्झरस्य जलप्रवाहस्य सङ्गेन संबन्धेन शीतलो [शीतो] वातो यस्मिन् तस्मिन्। अत्र अस्मिन्। धरणीध्रे पर्वते। शिशिरत्वं शीतत्वम्। आदधानाः धरन्तः। तिग्मरश्मेः सूर्यस्य। किरणाः मयूखाः। न पतन्ति न प्राप्नुवन्ति। इति यत् यत् किंचित्। अत्र सूर्यकिरणापतने। मत्प्रतापः मम प्रतापः पराक्रमः। कारणं निमित्तम्। भवति। अनुमिति ॥१८॥ इदमिति। अबुध भो अज्ञानिन्। इदम् एतत्। विरुद्धं[4] विरुद्धकार्यम्[5]। आत्मवधाय आत्मनः स्वस्य वधाय मारणाय। विदधानः कुर्वन्। केन[6] येन। विप्रलब्धः वञ्चितः। अथवा तव श्रुतिं कर्णम्। अहं न गतः न यातः। विद्वान् विवेकी। असमीक्षितम् अविचारितम्। न विधत्ते हि न करोति हि[7]। डुधाञ् धारणे च लट् ॥१९॥ इतीति। इषुमिव बाणमिव। मर्म अन्तरङ्गम्। निकृन्तनीं भेदिनीम्। गर्वगर्भां गर्भे गर्वो यस्याः ताम्। 'गड्वादिभ्यः' इति पूर्वनिपातः। तस्य कृतकपुरुषस्य गिरं[9] वाणीम्। निशम्य श्रुत्वा। कुपितः क्रुद्धः। जयलक्ष्मीनिलयः जयलक्ष्म्याः निलयः आलयः। स नरेन्द्रसूनुः नरेन्द्रस्य भूपेन्द्रस्य कुमारः। कृतसौष्ठवं कृतं सौष्ठवं वर्णव्यक्तिर्यस्मिन् कर्मणि तत्। बभाषे जगाद। भाषि व्यक्तायां वाचि लिट्। उपमा ॥२०॥ भजत[10] इति। अर्थशून्यैः अर्थरहितैः, निष्प्रयोजनैरित्यर्थः। एभिः एतैः। वचनैः वचोभिः। कापुरुषः कुत्सितः पुरुषः। 'पुरुषे का वा' इति पुरुषशब्दे परे कुशब्दस्य[11] का-आदेशः। भयं भीतिम्। भजते सेवते। भज सेवायां लट्। धीरचेताः धीरं भयरहितं चेतश्चित्तं यस्य सः। न न भजते। अहं सुरासुरैकमल्लः सुरासुराणामेको मुख्यो मल्लः प्रतिभटः। अस्मि भवामि। अस भुवि लट्। भवद्विधे भवतस्तव

॥ १७ ॥ इस पर्वतपर अनेक जलप्रपात हैं। उनके कारण यहाँ ठण्डी हवा बहा करती है। यहाँ सूर्यकी किरणें ठण्डी हो जाती हैं—ठिठुरने लगती हैं। फलतः वे यहाँ प्रवेश ही नहीं करतीं। इसमें मेरा प्रताप कारण है। मेरे प्रभावक्षेत्रमें सूर्य भी हतप्रभ हो जाता है, फिर तेरा तो सामर्थ्य ही क्या है? ॥ १८ ॥ रे मूर्ख! अपनी मौतके लिए जो तू मेरे विरुद्ध यह काम कर बैठा—मेरी आज्ञाके बिना यहाँ घुसता चला आया, सो क्यों? क्या तुझे किसीने धनका दिया है? या तूने मेरा नाम ही नहीं सुना था? क्योंकि समझदार (विद्वान्) मनुष्य कभी नासमझीका काम नहीं करता॥ १९॥ उसकी ऐसी गर्वीली और बाणकी तरह मर्मभेदिनी बातें सुनकर राजकुमारको, जो जयलक्ष्मीका निवासस्थान था, क्रोध आ गया। फिर उसने स्पष्ट शब्दोंमें यों उत्तर दिया—॥ २० ॥ तुम्हारी इन निरर्थक बातोंसे कायर भले ही डर जायँ, पर जिसके हृदयमें धीरता है, वह कभी नहीं डर सकता। तुम मुझे नहीं जानते? नहीं जानते हो, तो जानलो—मैं देवों और दैत्योंसे टक्कर लेनेवाला योद्धा हूँ। तुम सरीखे नर-

१ क °निर्झरशीलसङ्गवाते। २. आ द न तपन्ति, क ख ग घ निपतन्ति, म प्रतपन्ति। ३ श स °कृन्तती छेदिनीम्। ४ = मद्विरुद्ध। ५. = मद्विरुद्धकार्यम्। ६ = केन मानवेन। ७ = नहि विधत्ते नहि करोति। ८ आ श स गर्वादिभ्य। ९ = इति गिरं। १० आ भजते। ११. श स कुम्य।

तदलं परिभाषितैरमीभिर्बहुभिः [1]संमितभाषिणो हि सन्तः ।
यदि पौरुषमस्ति मुञ्च घातं न भवस्येष[2] मदीयमुष्टिपिष्टः ॥ २२ ॥
इति वादिनि तत्र राजपुत्रे तरसापातयदायसीं स यष्टिम् ।
तमसावपि वञ्चितप्रहारः स्वभुजाभ्यन्तरवर्तिनं चकार ॥ २३ ॥
इतरेतरबाहुपीडिताङ्गौ मिलितौ लोकपती इवाजिकण्ड्वा ।
निभृताभिररण्यदेवताभिर्ददृशाते तरुजालकान्तरेण ॥ २४ ॥
करणैर्विविधैरशेषबन्धैश्चरणाभ्या[3]हतिभिर्भुजप्रहारैः ।
क्रमजातजयं प्रचण्डशक्त्योश्चिरमङ्गेन[4] तयोर्बभूव युद्धम् ॥ २५ ॥

विधे सदृशे । नृकीटे मनुष्यकीटके । कैव गणना सङ्ख्या न कैवेत्यर्थ । आक्षेप ॥२१॥ तदिति । तत् तस्मात् । अमीभि एभि । बहुभि बहुलै (बहुलै) परिभाषितै परिगदितै । अलं पर्याप्तम् । सन्त सत्पुरुषा । संमितभाषिण मितवचना:[5] । हि यदि । पौरुष प्रताप । अस्ति चेत् । [घात मुञ्च प्रहार कुरु] । एष अय त्वम् । मदीयमुष्टिपिष्ट मदीयया मम सबन्धया[6] मुष्टचा मुष्टिप्रहारेण पिष्ट चूर्णीकृत. । न भवसि नासि । भू सत्तायां लट् । घात वचनघातम् । मुञ्च त्यज । मुच्लृ मोक्षणे लोट् ॥२२॥ इतीति । तत्र तस्मिन् । राजपुत्रे राजकुमारे । इति उक्तप्रकारेण । वादिनि सति वदति सति । स कृतकपुरुष. । तरसा शीघ्रम् । आयसीम् अयसा निर्मिताम् । यष्टि दण्डम् । अपातयत् न्यक्षेपयत्[7] । पतलृ गतौ णिजन्ताल्लङ् । वञ्चितप्रहारः विप्रलब्ध-प्रहारः । असौ अपि कुमारोऽपि । त कृतकपुरुषम् । स्वभुजाभ्यन्तरवर्तिन स्वस्यात्मनोभुजयो बाह्वोरभ्यन्तरे मध्ये वर्तिन वर्तशीलम् । चकार करोति स्म । डुकृञ् करणे लिट् ॥२३॥ इतरेति । आजिकण्ड्वा आजे सग्रामस्य कण्ड्वा कण्डूत्या । मिलितौ युक्तौ । इतरेतरबाहुपीडिताङ्गौ इतरेतरयोरन्योन्ययोर्बाहुभ्यां भुजाभ्या पीडित बाधितमङ्ग शरीर ययोस्तौ । लोकपती इव दिक्पालाविव । तरुजालकान्तरेण तरूणा वृक्षाणा जालकस्य समूहस्यान्तरेणान्त-रालेन । निभृताभि निश्चलाभि । अरण्यदेवताभि वनदेवताभि. । ददृशाते दृश्येते[8] स्म । दृशृ[9] प्रेक्षणे कर्मणि लिट् ॥२४॥ करणैरिति । विविधै नानाप्रकारै । करणं भ्रमणं । अशेषबन्धै अशेषै समस्तैर्बन्धविशेषै. । चरणाभ्या-हतिभि चरणाना पादानामभ्याहतिभिर्घातै । भुजप्रहारैः भुजाना बाहूना प्रहारैर्घातै । प्रचण्डशक्त्योः प्रचण्डा तीक्ष्णा शक्ति पराक्रमो ययोस्तयो । अङ्गेन शरीरेण । क्रमजातजय क्रमेण जातो जयो यस्य[10] तत् । एकवार

कीटोकी मेरे सामने गिनती ही क्या है ? ॥ २१ ॥ इसलिए तुम इन निरर्थक बातोको बन्द करो––चुप रहो, बकवास न करो । तुम बहुत बक चुके हो । अच्छे आदमी बहुत थोडा बोला करते हैं । यदि पौरुष-शक्ति या मर्दानगी हो तो वार करो । पर इतना सोच लो कि वार (प्रहार) करनेसे पहले ही मेरे मुक्कोकी मारसे तुम कही पिस न जाना ॥ २२ ॥ राज-कुमारके यो कहते ही उसने वार करनेके लिए बडे वेगसे लोह-दण्ड ऊपरकी ओर उठाकर गिराना चाहा, पर राजकुमारने उसे बीचमे ही रोक लिया, और प्रहार करनेवाले उस असुर-को अपने बाहुओंके बीचमे दबोच लिया ॥ २३ ॥ उस असुरने भी राजकुमारको अपने बाहुओंसे दबा लिया—दोनो आपसमे लिपट गये । एक दूसरेको बाहुओसे खूब जकडकर पकड लेनेसे वे दोनो ऐसे प्रतीत हो रहे थे मानो युद्धकी खुजली मिटानेके लिए दो लोकपाल आपसमे भिड पडे हो । वनदेवियां वृक्षोंकी ओटमे चुपचाप खडी होकर उनकी ओर देख रही थी ॥ २४ ॥ दोनोमे प्रचण्ड शक्ति थी : दोनो ही पैंतरे व दाव-पेंच जानते थे । फलत. नाना प्रकारके पैंतरो व

---

१ म सस्मित° । २ आ इ न भवस्येव, म न भवत्येष° । ३ अ क ख ग म °रणाभ्या । ४ क ख ग घ °माङ्गेन । ५ = भवन्तीति शेष· । ६ = सबन्धिन्या । ७. = पातयामास । ८ आ दृश्याते । ९ आ दृशू, श स दृशि । १० = यस्मिन् ।

अथ भूपतिसूनुना कराभ्यां स समुत्फाल्य नभस्तले विमुक्तः ।
कृतषोडशभूषणाभिभूषं वपुरादर्शयति स्म दिव्यरूपम् ॥ २६ ॥
इति चाभिदधे हिरण्यनामा परमर्द्धिस्त्रिदशोऽस्मि नाकलोके ।
अभिवन्द्य जिनालयान्सुराद्रौ सुभग क्रीडितुमागतोऽत्र शैले ॥ २७ ॥
कृतकप्रधनेन रूपमन्यत्समुपादाय मया परीक्षितोऽसि ।
अमुना तव साहसेन चेतः परतन्त्रीकृतमेतदस्मदीयम् ॥ २८ ॥
विधृतोऽसि ययाम्बुजाक्ष कुक्षौ जननी धन्यतमा तवैव सैका ।
कृतिनः ससुरासुरेऽपि लोके चरितं यस्य चमत्कृतिं विधत्ते ॥ २९ ॥

कुमारस्य जय, पुनरेकवार देवस्य जय.—इति क्रमः। युद्ध संग्राम । चिर[1] दीर्घम् । बभूव भवति स्म । भू सत्तायां लिट् ॥२५॥ अथेति । अथ युद्धानन्तरम् । भूपतिसूनुना कुमारेण । कराभ्यां हस्ताभ्याम् । समुत्फाल्य उद्धृत्य । नभस्थले [नभस्तले] नभस आकाशस्य तले प्रदेशे । विमुक्त' विमुच्यते स्म विमुक्तो निसृष्ट । सः देव । कृतषोडशभूषणाभिभूष कृता षोडशभिर्भूषणैरभिभूण अलङ्कारो यस्य तत् । दिव्यरूप दिव्य रूप यस्य तत् । वपुः शरीरम् । आदर्शयति स्म आलक्षयति स्म । दृशु प्रेक्षणे णिजन्ताल्लट् ॥२६॥ इतीति । सुभग भो मनोहराङ्ग । नाकलोके सुरलोके । हिरण्यनामा हिरण्य इति नाम यस्य स । परमर्द्धिः परमा उत्कृष्टा ऋद्धि ऐश्वर्यं यस्य स । त्रिदश देव । अस्मि भवामि । अस भुवि लट् । सुराद्रौ मेरौ । जिनालयान् चैत्यालयान् । अभिवन्द्य वन्दित्वा । अत्र अस्मिन् । शैले पर्वते । क्रीडितु क्रीडानिमित्तम् । आगत[2] । इति एव प्रकारेण । अभिदधे ऊचे । डधाञ् धारणे च लिट् ॥२७॥ कृतकेति । मया, अन्यत् भिन्नम् । रूप वेषम् । समुपादाय अङ्गीकृत्य । कृतकप्रधनेन कृतकेन कपटरूपेण प्रधनेन युद्धेन । परीक्षित विचारित । असि भवसि । त्वं भवत । अमुना एतेन । साहसेन सामर्थ्येन । अस्मदीयम् अस्मत्सबन्धम् । चेत' चित्तम् । परतन्त्रीकृत पराधीनं कृतम् ॥२८॥ विधृत[3] इति । अम्बुजाक्ष अम्बुजमिवाक्षिणी यस्य तस्य सबोधनम्—भो अम्बुजाक्ष । कृतिन. पुण्यवत । यस्य पुरुषस्य । चरितं प्रवर्तनम् (वृत्त वा) । ससुरासुरेऽपि सुरैश्चासुरैश्च सह वर्तते इति ससुरासुरः, तस्मिन् अपि । लोके भुवने । चमत्कृतिम् आश्चर्यम् । विधत्ते करोति । स त्वम् इत्यध्याहारः । यया कुक्षौ गर्भे । विधृत.[4] विध्रियते स्म । असि भवसि । तवैव भवत एव । सैका

अनेक प्रकारके पेचोके प्रयोगसे वे दोनो एक दूसरेके ऊपर कभी हाथोसे और कभी पैरोसे प्रहार कर रहे थे । बराबरीका जोड होनेसे कभी एक की, ता कभी दूसरेकी विजय हो रही थी । इस तरह उन दोनोमे बहुत देर तक शारीरिक युद्ध (कुश्ती) होता रहा ॥ २५ ॥ इसके पश्चात् राजकुमारने उसे अपने दोनो हाथोसे उठाकर ऊपर उछाल दिया । तब उसने अपने शरीरको सोलह आभूषणोंसे विभूषित करके उसे अपना असली दिव्यरूप दिखला दिया ॥ २६ ॥ और उसने राजकुमारसे कहा—हे सुभग ! मैं उत्तम ऋद्धिओका धारण करनेवाला देव हूँ । मैं स्वर्गमे रहता हूँ । मेरा नाम हिरण्य है । मैं वहाँसे चैत्यालयोकी वन्दना करनेके लिए सुमेरुपर्वतपर गया था । फिर वहाँसे क्रीडा करनेके लिए यहाँ चला आया ॥ २७ ॥ मैंने अपना रूप बदलकर बनावटी युद्धसे तुम्हारी परीक्षा ली है । तुम्हारे इस साहससे मेरा मन तुम्हारे अधीन हो गया है—मैं हृदयसे तुम्हारा हो चुका हूँ ॥ २८ ॥ हे कमललोचन ! जिस पुण्यात्माका चरित आज सुरलोक और असुर लोकमे चमत्कार उत्पन्न कर रहा है, उसे (अर्थात् तुमको) जिस माताने अपने गर्भमे धारण किया है, केवल वही (तुम्हारी माता) सबसे अधिक

---

१ = चिरकाल यावत् । २ = समायात । ३ एष टीकाकृदभिमतः पाठः, प्रतिषु 'विभृत' इत्येव दृश्यते । ४ अयमपि पाठस्तथैव ज्ञेय ।

हृदयाभिमतं वरं वृणीष्वेत्यभिधातुं त्रपया न मेऽस्ति शक्तिः ।
नहि पुण्यवतां भवद्विधानां परनिष्ठं भुवने समस्ति किंचित् ॥ ३० ॥
तदपि क्वचन प्रयत्नसाध्ये विषयेऽहं मनसि त्वया निधेयः ।
न सहायविनाकृता कदाचित्पुरुषस्योद्यमशालिनोऽपि सिद्धिः ॥ ३१ ॥
अपरं च निवेदयाम्यहं ते शृणु जन्मान्तरवृत्तमेकचित्तः ।
अभवस्त्वमितो भवे तृतीये नृपतिः श्रीपुरभुक्सुगन्धिदेशे ॥ ३२ ॥
गृहिणौ शशिसूर्यनामधेयावथ तत्रैव कृषीवलावभूताम् ।
अपरेद्युरुपेत्य दत्तखातः सकलं सूर्यधनं शशी जहार ॥ ३३ ॥

मुख्या । जननी माता । धन्यतमा पुण्यवती भवति ॥२९॥ हृदयेति । हृदयाभिमत हृदयेन चित्तेनाभिमत वाञ्छितम् । वरम् अभीष्टम् । वृणीष्वेति प्रार्थय इति । अभिधातु वक्तुम् । त्रपया लज्जया । मे मम । शक्ति. सामर्थ्यम् । नास्ति न भवति । [हि यत.] । पुण्यवता कुशलवताम् । भवद्विधाना युष्मादृशाम् । भुवने लोके । किंचित् यत्किंचित् वस्तु । परनिष्ठ पराधीनम्, असाध्यमित्यर्थ । न समस्ति । हिं नास्ति हि (न समस्ति नास्ति) ॥३०॥ तदिति[1] । तदपि तदापि । क्वचन क्वचित् । प्रयत्नसाध्ये प्रयत्नेनोद्योगेन साध्ये साधनीये । विषये वस्तुनि । अह, मनसि चित्ते । त्वया भवता । निधेय[2] स्मरणीय । उद्यमशालिनोऽपि प्रयत्नशालिनोऽपि । पुरुषस्य जनस्य । कदाचित् कस्मिश्चित् । सहायविनाकृता सहायेन विनाकृता रहिता[3] । सिद्धि कार्यसिद्धिः । न न भवति ॥३१॥ अपरमिति । अह, जन्मान्तरवृत्त प्रकृतजन्मनोऽन्यज्जन्म जन्मान्तर तस्य वृत्त वृत्तान्तम् । अपरम् अन्यत् । ते तव । निवेदयामि बोधयामि । विद ज्ञाने लट् । एकचित्त एक निश्चिल चित्त मनो यस्य स, सन्, शृणु । त्व भवान् । इत एतस्माद्भवात् । तृतीये त्रयोऽवयवा यस्य तस्मिन् । भवे जन्मनि । सुगन्धिदेशे सुगन्धिरिति देशे विषये । श्रीपुरभुक् श्रीपुरपालक । नृपति राजा । अभवः अजायथा ॥३२॥ गृहिणाविति । अथ अनन्तरम् । तत्रैव तस्मिन्नेव पुरे । शशिसूर्यनामधेयौ शशिसूर्याभिधानौ । कृषीवलौ कृषिकर्मजीविनौ । गृहिणौ गृहस्थौ । अभूताम् अजायताम्[4] । भू सत्ताया लुङ् । शशी तयोर्मध्ये शशी । अपरेद्यु अन्यस्मिन् दिने । 'पूर्वापर—' इत्यादिना एद्युस्-प्रत्यय । उपेत्य आगत्य । दत्तखात. दत्त खातो येन सः, विहितसुरङ्ग इत्यर्थ । सकल सर्वम् । सूर्यधन सूर्याख्यस्य

पुण्यात्मा है । सबकी माँसे तुम्हारी ही माँ अधिक धन्य है ॥ २९ ॥ लज्जावश मुझे यह कहनेका साहस नही हो रहा है, कि तुम मुझसे इच्छित वर माग लो, क्योंकि सच तो यह है कि इस ससारमे ऐसी कोई वस्तु ही नही है, जिसे पानेके लिए आप जैसे पुण्यात्माओको दूसरोका आसरा लेना पडे—उनका मुँह देखना पडे ॥ ३० ॥ तो भी इतना अवश्य कहना चाहता हूँ कि किसी प्रयत्नसाध्य—कठिन कामके आ पडनेपर मेरा स्मरण करना, क्योंकि सहायकके बिना उद्योगी पुरुषकी भी कार्य सिद्धि कभी नही होती ॥ ३१ ॥ एक बात और निवेदन करता हूँ— मैं तुम्हारे पिछले जन्मका वृत्तान्त सुनाता हूँ । तुम उसे सावधान होकर सुनो—पिछले तीसरे जन्ममे तुम सुगन्धि नामक देशमे श्रीपुर नामके नगरके राजा हुए थे ॥ ३२ ॥ तुम्हारे शासनकालमे वही पर (श्रीपुरमे) दो गृहस्थ रहते थे । दोनो किसान थे । उनमेंसे एकका नाम शशी था और दूसरेका सूर्य । एक दिनकी बात है । शशी सूर्यके घर गया और सेंध लगा-

१ आ तदित्यादि । २ आ श स 'निधेय' शेषासु च प्रतिषु 'विधेयः' इति पाठ समस्ति । ३ आ विहिता । ४ आ अजायेताम् ।

अधिगम्य निपातितस्त्वयासौ स्वधनेन प्रतियोजितश्च सूर्यः ।
परिवृत्य भवे प्रभूतयोनावसुरश्चण्डरुचि[1]ः शशी बभूव ॥ ३४ ॥
समुपार्जितपूर्वपुण्यलेशादभवं सूर्यचरस्त्वहं हिरण्यः ।
अजनिष्ट ततः स पूर्ववैरात्तव हर्ता रिपुरस्म्यहं च मित्रम् ॥ ३५ ॥
मधुराक्षरहारिणीं[2] स वाणीमभिधायेति तिरोबभूव देवः ।
नरनाथसुतोऽपि तत्प्रभावात्सहसात्मानमलोकयद्वनान्ते ॥ ३६ ॥
किमिदं परमाद्भुतं मया यद्वनमुत्तीर्णमदर्शि काननान्तः ।
मनसेति विचिन्तयंस्तदा तं महिमानं स हिरण्यजं विवेद ॥ ३७ ॥

धन द्रव्यम् । जहार अपहरति स्म । हृञ् हरणे लिट् ॥३३॥ अधीति । त्वया भवता । अधिगम्य ज्ञात्वा । असौ शशी । निपातित दण्डित. । सूर्य, स्वधनेन स्वस्य निजस्य धनेन द्रव्येण । प्रतियोजित सबन्धित । शशी, [प्रभूतयोनौ प्रभूता नाना योनय उत्पत्तिस्थानानि यत्र तस्मिन्] भवे ससारे । प्रभूतयोनौ प्रभूतो बहुलो योनिरुत्पत्तिस्थान यस्य तस्मिन् । परिवृत्य परिभ्रम्य । चण्डरुचि. चण्डरुचिरिति । असुर भवनवासिदेवः । बभूव भवति स्म । भू सत्तायां लिट् ॥३४॥ समुपेति । सूर्यचर सूर्य. पूर्व[3] (भूतपूर्व सूर्य) सूर्यचरः, पूर्व सूर्यभूत इत्यर्थ । 'भूतपूर्वे चरट्' इति चरट्-प्रत्यय । अहं तु अहमपि । समुपार्जितपूर्वपुण्यलेशात् समुपार्जितस्य सपादितस्य पूर्वपुण्यस्य लेशात् कणात् । हिरण्य हिरण्याख्यदेव । अभवम् आसम् । भू सत्तायां लुङ् । सः शशिचर । पूर्ववैरात् पूर्वजनिताद् वैरात् । तव त्वामित्यर्थ । 'कृत्कामुकस्य' इत्यादिना कर्मणि षष्ठी । हर्ता अपहर्ता । रिपुः शत्रुः । अजनिष्ट अभूत् । जनैङ् प्रादुर्भावे लुङ् । अह च अहमपि । मित्र सुहृत् । अस्मि भवामि । अस भुवि लट् ॥३५॥ मधुरेति । स देव हिरण्याख्यदेव । मधुराक्षरहारिणी मधुरै. प्रियैरक्षरैर्वर्णैर्हारिणीं मनोहारिणीम् । वाणीं वाचम् । इति उक्तप्रकारेण । अभिधाय उक्त्वा । तिरोबभूव[4] व्यवधानो बभूव । नरनाथसुतोऽपि नरनाथस्य सुतोऽपि कुमारोऽपि । तत्प्रभावात् तस्य देवस्य प्रभावात् सामर्थ्यात् । सहसा शीघ्रम् । आत्मान स्वम् । वनान्ते[5] वनमध्ये । अलोकयत् अदर्शयत् । लोकृ दर्शने ण्यन्ताल्लङ् ॥३६॥ किमिति । परम् उत्कृष्टम् । इद किमद्भुत किमाश्चर्यम् । यत् मया, वन काननम् । उत्तीर्ण लङ्घितम् । काननान्त काननस्यान्तोऽवसानम्[6] । अदर्शि[7] दृश्यते स्म । इति एव प्रकारेण । मनसा मानसेन । विचिन्तयन् स्मरन् । स कुमार । तदा त महिमान महत्त्वम् । हिरण्यज हिरण्यदेवाज्जातम् ।

कर उसका सारा धन चुरा लाया ॥ ३३ ॥ इसका पता लगाकर तुमने सूर्यका धन उसे वापिस दिलवाया और शशीको फांसीकी सजा दी । बहुत अधिक (चौरासी लाख) उत्पत्ति स्थानोवाले ससारमे इधर उधर भटककर—खोटी-खोटी योनियोमे जन्म लेकर शशी, चण्डरुचि नामका असुर हुआ ॥ ३४ ॥ पूर्वोपार्जित पुण्य कर्मके बचे-खुचे अशसे मै हिरण्य नामका देव हुआ । मै तुम्हारा मित्र हूँ । मैं ही पहले सूर्य रहा । वह शशी पूर्व वैरके कारण तुम्हारा शत्रु है, और वही तुम्हें हर ले आया है ॥ ३५ ॥ मधुर अक्षरोसे मनको हरनेवाले इन वचनोको कहकर वह देव आंखोसे ओझल हो गया, और उसके प्रभावसे राजकुमारने भी अपनेको उस वनकी सीमासे बाहर पाया ॥ ३६ ॥ यह बडे आश्चर्यकी बात है कि मैं इतने बड़े बीहड जगलको इतनी शीघ्रतामे पारकर एकाएक उसकी सीमाके बाहर आ पहुँचा हूँ । वनकी बाहरी सीमा आंखोंके सामने है । यो अपने मन-ही-मन सोचता हुआ वह समझ गया कि यह तो हिरण्य देवकी महिमा

---

१. अ क ख ग घ म चन्द्ररुचि । २ अ क ख ग घ म °कारिणीं । ३ आ सूर्यपूर्वः । ४ = व्यवहितोऽन्तर्हितो वा । ५ = वनावसाने । ६. आ °सान । ७ = दृष्टोऽभि ।

गहनान्तमथापहाय राष्ट्रं नगरग्रामनिरन्तरं प्रविष्टः ।
सकलास्वपि दिक्षु जातभीतिं विलुलोके स जनं पलायमानम् ॥ ३८ ॥

उपसृत्य पुमांसमेकमाराद्भयरोमाञ्चितसर्वगात्रयष्टिम् ।
उपजातकुतूहलः कुमारः परिपप्रच्छ पलायनस्य हेतुम् ॥ ३९ ॥

पृथिवीपतिपुत्रपृच्छयासाविति निर्विण्णमना जगाद वाचम् ।
गगनात्पतितोऽसि किं प्रसिद्धं न विजानासि यदेतमप्युदन्तम् ॥ ४० ॥

प्रथितोऽयमरिंजयाभिधानो धनधान्याढ्यजनाकुलो जनान्तः ।
विजहाति सदा न यत्र शोभां नवसस्याङ्कुरशाद्वला धरित्री ॥ ४१ ॥

विवेद बुबोध । विद ज्ञाने लिट् ॥३७॥ गहनेति । अथ अनन्तरम् । गहनान्त काननावसानम् । अपहाय विहाय । नगरग्रामनिरन्तर नगरैर्ग्रामैश्च निरन्तरमन्तररहितम्[1] । राष्ट्र देशम् । प्रविष्ट प्रविष्टवान् । स कुमार । सकलासु सर्वास्वपि । दिक्षु दिशासु । जातभीति जातभयम् । पलायमान धावमानम् । जन लोकम् । विलुलोके ददर्श । लोकृञ् दर्शने लिट् ॥३८॥ उपेति । उपजातकुतूहल उपजात कुतूहल यस्य स । कुमार, भयरोमाञ्चितसर्वगात्रयष्टि भयेन भीत्या रोमाञ्चिता रोमहर्षणयुक्ता सर्वा निखिला गात्रयष्टिर्यस्य तम् । एक पुमास पुरुषम् । आरात् समीपे । 'आराद् दूरसमीपयो.' इत्यमर । उपसृत्य[2] प्राप्य । पलायनस्य इतस्तत. पलायनस्य । हेतु कारणम् । परिपप्रच्छ[3] शुश्राव । प्रछ[4] ज्ञीप्सायां लिट् ॥३९॥ पृथिवीति । पृथिवीपतिपुत्रपृच्छया पृथिव्या पत्युर्भूपते पुत्रस्य कुमारस्य पृच्छया प्रश्नेन । निर्विण्णमना. निर्विण्ण दु खित मनो यस्य स । असौ अय पुरुष । वाच वाणीम् । जगाद अवीतिस्म । गद व्यक्तया वाचि लिट् । यत् यस्मात्कारणात् । प्रसिद्ध प्रतीतम् । एनमपि अमुमपि । उदन्त वार्ताम् । न विजानासि न वेत्सि । ज्ञा अवबोधने लट् । गगनात् आकाशात् । पतित[5] निमग्न । असि भवसि । अस भुवि लट् ॥४०॥ प्रथित इति । यत्र देशे । नवसस्याङ्कुरशाद्वला नवैर्नवीनै सस्याङ्कुरै शाद्वला हरिता । धरित्री भूमि । सदा सर्वकाले । शोभा मनोहरत्वम् । न जहाति न त्यजति । ओहाक् त्यागे लट् । प्रथित प्रतीत । धनधान्याढ्यजनाकुलः धनैर्धान्यैराढ्यै समृद्धैर्जनैराकुल सकुल । अरिंजयाभिधान अरिंजय इत्यभिधान यस्य स । अयम् एष ।

है ॥ ३७ ॥ इसके पश्चात् वह राजकुमार उस स्थानको छोडकर ज्योही आगे बढा, त्यो ही उसने एक ऐसे देशमे प्रवेश किया, जहाँ लगातार नगर और ग्राम बसे हुए थे । वहाँपर उसने देखा कि जिधर देखो उधर लोग डरके मारे भागे जा रहे हैं ॥ ३८ ॥ राजकुमारको बडा कौतूहल हुआ । अतः उसने एक मनुष्यके—जिसके सारे शरीरमे भयके कारण रोगटें खडे हुए थे—पास जाकर लोगोके भागनेका कारण पूछा ॥ ३९ ॥ राजकुमारके प्रश्नसे अपने मनमे दु खी होकर वह टिर्राते हुए यो बोला—क्या तुम आसमानसे टपके हो, जो इस लोक-विदित वृत्तान्तको भी नही जानते ? ॥ ४० ॥ यह अरिंजय नामका प्रसिद्ध देश है । यहाँके निवासी खुशहाल हैं, धनाढ्य हैं और उनके पास भरपूर अनाज रहता है । यहाँकी पृथिवी सदा नये-नये धान्यके अकुरोसे हरी-भरी रहनेके कारण कभी अपनी सुषमाको नही छोडती ॥ ४१ ॥

---

१ =व्याप्तमित्यर्थ । २ =गत्वा प्राप्य-इत्यर्थ । ३ =अप्राक्षीत् । ४ आ पृच्छुञ् ज्ञीप्साया लिट् । पृछ ज्ञीप्साया शाकटा ४।२।२५७ पृ० २७७ । ५ =च्युत ।

विपुलं विपुलाभिधां दधानं पुरमस्त्युत्तममस्य नाभिभूतम् ।
प्रविभाति यदुच्चसौधशृङ्गैर्विलिखत्खं खचराधिवासकल्पम् ॥ ४२ ॥
जयवाञ्जयवर्मनामधेयो नगरं तत्पृथिवीपतिः प्रशास्ति ।
यदतीव्रकरापनीततापा निरपेक्षा वसुधोदये हिमांशोः ॥ ४३ ॥
दिननाथविभेव पूरिताशा स्मरपत्नीव वितीर्णकामसौख्या ।
रणलब्धजयश्रियो जयश्रीरभवत्तस्य वधूर्विधूपमास्या ॥ ४४ ॥
उदपादि तयोः शशिप्रभाख्या दुहिता सर्वजगल्ललामभूता ।
तरतीव शशाङ्कचारु यस्या निजलावण्यपयोनिधौ शरीरम् ॥ ४५ ॥

जनान्त देश । 'राष्ट्र जनपदो निर्गो जनान्तो विषय स्मृत.' ॥४१॥ विपुलमिति । यत्, उच्चसौधशृङ्गैः उच्चानामुन्नताना सौधाना प्रासादाना शृङ्गै शिखरै । ख गगनम् । विलिखत् स्पृशत् । खचराधिवासकल्प खचराणा विद्याधराणामधिवासस्य पत्तनस्य कल्प सदृशम् । प्रविभाति विराजते । अस्य देशस्य । नाभिभूतं मध्यप्रदेशम् (श)। विपुलाभिधा विपुलेत्यभिधामभिधान[2] । दधानं धरत् । विपुल 'विपुलम्' इति । उत्तम श्रेष्ठम् । पुर पत्तनम् । अस्ति वर्तते । अस भुवि लट् । उपमा ॥४२॥ जयवानिति । यत् यस्मात् (?) । अतीव्रकरापनीततापा[3] अतीव्रेण मृदुना करेण सिद्धायेन, पक्षेऽपि मृदुभि करै किरणैरपनीतो निराकृत ताप. सतापो यस्या सा । वसुधा भूमि । हिमाशो चन्द्रस्य । उदये उत्पत्तौ । निरपेक्षा निर्व्यपेक्षा—चन्द्रोदयाभावेऽपि राजनीतिपालनेन शीतीभूता—इत्यर्थ. । जयवान् जययुक्त । जयवर्मनामधेय 'जयवर्मा' इति नामधेय यस्य स । पृथिवीपति भूमिपतिः । तन्नगर विपुलपुरम् । प्रशास्ति पालयति ॥४३॥ दिनेति । दिननाथविभेव दिनस्य दिवसस्य नाथस्य सूर्यस्य विभेव कान्तिरिव । पूरिताशा प्रापितसतोषा, पक्षे व्याप्तदिक्का । स्मरपत्नीव रतिदेवीव । वितीर्णकामसौख्या वितीर्णं दत्त कामसौख्यं यया सा, पक्षे वितीर्णं कामस्य मन्मथस्य सौख्य यया सा । विधूपमास्या[4] विधोश्चन्द्रस्योपममास्य यस्या सा । जयश्री जयश्री –इति । रणलब्धजयश्रिय. रणे संग्रामे लब्धा जयश्रीर्जयलक्ष्मीर्यस्य (येन) तस्य । जयवर्मण', वधू वनिता । अभवत् अभूत् । श्लेषोपमा ॥४४॥ उदपादीति । यस्या , शशाङ्कचारु शशाङ्क इव चन्द्र इव चारु मनोहरम् । शरीर गात्रम् । निजलावण्यपयोनिधौ निजस्य स्वस्य लावण्यमेव देहकान्तिरेव पयोनिधि समुद्र , तस्मिन् । तरतीव[5] प्लवमानेव ।

इस देशके ठीक बीचमे एक विशाल और सुन्दर विपुल नामका पुर है जो इसकी नाभिके समान प्रतीत होता है । वह पुर कभी किसीसे अभिभूत––तिरस्कृत नही हुआ । अपने उन्नत महलोकी चोटियोसे आकाशको छूनेवाला यह पुर विद्याधरोके पुरकी भाँति जान पडता है ॥ ४२ ॥ उस पुरमे विजयी जयवर्मा नामका राजा राज्य करता है । वह उतना ही टैक्स लेता है, जिससे किसीको सन्ताप न हो । उसके कर-टैक्स (किरण) से पृथ्वी (लक्षणया उसके निवासियो) को तनिक भी सन्ताप नही होता । फलत वहाँकी सन्तापहीना पृथ्वीको कभी चन्द्रोदयकी अपेक्षा नही रहती ॥ ४३ ॥ रणागणमे विजयलक्ष्मीको पानेवाले उस राजाका विवाह चन्द्रमुखी जयश्रीके साथ हुआ । वह सूर्यकी प्रभा सरीखी है । सूर्यकी प्रभा जैसे सभी दिशाओको भर देती है उसी तरह जयश्री सबकी आशाओ (मनोरथ) को पूरा कर देती है, और वह कामदेवकी पत्नी-रतिके समान है । रति कामदेवको सुख देती है और जयश्री अपने पति जयवर्माको सम्भोगका सुख प्रदान करती है ॥ ४४ ॥ उन दोनोके शशिप्रभा नामकी कन्या उत्पन्न

१ अ °यशो° । द यस्या । २ = सज्ञामित्यर्थ । ३ = यदतीव्रकरापनीततापा यस्य राज्ञोऽतीव्रेण सह्येन करेण भागधेयेन, पक्षेऽतीव्रैर्मृदुभि करैरपनीतो निराकृतस्ताप सतापो यस्या सा । ४ = विधूपम चन्द्रसदृशमास्यमानन यस्या । ५ =प्लवमानमिव भाति ।

अथ तामपरो महेन्द्रनामा जयवर्माणमयाचत क्षितीशः ।
वितरन्नचिरायुषे तनूजां किल तस्मै स निमित्तिना निषिद्धः ॥ ४६ ॥
स निरस्तमनोरथस्त्विदानीं[1] सह संभूय समस्तराजलोकैः ।
जयवर्मबलं निहत्य युद्धे पुरमावृत्य वितिष्ठते तदीयम् ॥ ४७ ॥
तदयं स्वविनाशमीक्षमाणः सकलो राष्ट्रजनः प्रयाति भग्नः ।
गिरमित्यवगम्य तस्य हृष्यन्युवराजो विपुलं प्रति[2] प्रतस्थे ॥ ४८ ॥
ददृशे च गतेन तेन तस्मिन्नगरं तद्रिपुसैनिकैः परीतम् ।
शिशिरांशुसमुद्गमे प्रवृद्धैरिव[3] वेलावनमम्बुधेस्तरङ्गैः[4] ॥ ४९ ॥

सर्वजगलल्लामभूता सर्वस्य जगतो ललामभूता । शशिप्रभाख्या 'शशिप्रभा' इत्याख्या अभिधानं यस्याः सा । दुहिता कुमारी । तयोः जयवर्मजयश्रियोः । उदपादि अजायत ॥उपमा ॥४५॥ अथेति । अथ शशिप्रभोत्पत्त्यनन्तरम् । महेन्द्रनामा 'महेन्द्र' इति नाम यस्य सः । अपरः अन्यः । क्षितीशः भूमीशः । तां शशिप्रभाम् । जयवर्माणं जयवर्मभूपतिम् । अयाचत याचते स्म । अचिरायुषे अचिरमल्पमायुर्यस्य तस्मै, स्तोकायुष्यायेत्यर्थः । तस्मै महेन्द्राय । तनूजां पुत्रीम् । वितरन् ददानः । सः क्षितीशः । निमित्तिना निमित्तज्ञेन । निषिद्धः निवारितः किल ॥४६॥ स इति । निरस्तमनोरथः निरस्तो निराकृतो मनोरथोऽभीष्टं यस्य सः । स महेन्द्रस्तु । इदानीम् अद्य । समस्तराजलोकैः समस्तैर्निखिलैः राजलोकैः राजजनैः । सह साकम् । संभूय मिलित्वा । युद्धे संग्रामे । जयवर्मबलं जयवर्मराजबलम् । निहत्य हत्वा । तदीयं जयवर्मसंबन्धम् । पुरं पत्तनम् । आवृत्य वेष्टयित्वा । वितिष्ठते वर्तते । ष्ठा गतिनिवृत्तौ लट् । 'समवप्रविभ्यः स्थः' इति तङ् ॥४७॥ तदिति । तत् तस्मात् । स्वविनाशं स्वस्य विनाशम् । ईक्षमाणः विलोकमानः । अयम् एषः । सकलः समस्तः । राष्ट्रजनः राष्ट्रस्य जनपदस्य जनो लोकः । भग्नः पराजितः सन् । प्रयाति पलायते । तस्य पुरुषस्य । इति उक्तप्रकारेण । तत् [गिरं] वचनम् अवगम्य ज्ञात्वा । हृष्यन् संतोषं कुर्वन् । युवराजः अजितसेनकुमारः । विपुलं प्रति विपुलपुरं प्रति । प्रतस्थे प्रययौ । ष्ठा गति निवृत्तौ लिट् । 'समवप्रविभ्यः स्थः' इति तङ् ॥४८॥ ददृश इति । शिशिरांशुसमुद्गमे शिशिरांशोश्चन्द्रस्य समुद्गमे उदये । प्रवृद्धैः समृद्धैः । अम्बुधेः समुद्रस्य । तरङ्गैः ऊर्मिभिः । वेलावनं तीरवनमिव । तस्मिन् समये प्रस्तावे वा । तद्रिपुसैनिकैः तस्य रिपोः शत्रोः सैनिकैर्बलैः परीतं परिवेष्टितम् । नगरं पुरम् ।

हुई । वह सारे संसारका आभूषण या तिलक है । उसका चन्द्रमाके समान सुन्दर शरीर अपने कान्तिके समुद्रमे ऐसा जान पडता है मानो तैर रहा हो ॥ ४५ ॥ इसके पश्चात् उसके विवाह योग्य होनेपर महेन्द्र नामके राजाने जयवर्मासे उसकी कन्या (शशिप्रभा) की अपने लिए मगनी की । राजा जयवर्मा इसके लिए राजी भी हो गया, किन्तु एक निमित्त ज्ञानीने महेन्द्रको अल्पायु बतलाकर उसे रोक दिया ॥ ४६ ॥ मनोरथके ठुकराये जानेसे महेन्द्रने अपने पक्षके सभी राजाओंसे मिलकर जयवर्माके विरुद्ध युद्धकी घोषणा कर दी, और युद्धमे जयवर्माकी सेनाको मारकर उसके नगरको घेर लिया है ॥ ४७ ॥ इस कारण पराजित, इस राष्ट्रके सभी लोग अपना विनाश सोचकर भागे जा रहे हैं । उसके ये वचन सुनकर युवराज अजितसेनने मन-ही-मन प्रसन्न होकर विपुलपुरकी ओर प्रस्थान कर दिया ॥ ४८ ॥ आगे जाकर उसने देखा कि उस नगरको शत्रु-सैनिकोने सभी ओरसे घेर लिया है । जैसे चन्द्रोदय होनेपर समुद्रकी उत्ताल

---

१ क ख ग घ म °रयस्तदानीं । २ अ 'प्रति' इति नास्ति । ३ अ °मुद्गमप्रवृद्धै° । ४. अ अम्बुनिधेस्तरङ्गैः ।

अविकम्पितधीर¹संस्तुतत्वात्प्रतिषिद्धोऽपि नृपाज्ञया प्रगच्छन् ।
करिकीर्णपथां प्रतिप्रतोलीमिति तैः सोऽभिदधे महेन्द्रयोधैः ॥ ५० ॥
शिरसा न निजेन तेऽस्ति कार्यं परिनिर्विण्णमतिः स्वजीविते वा ।
नृपशासनमप्रसह्यमन्यैर्यदतिक्रम्य परैषि² निर्विशङ्कः ॥ ५१ ॥
स तदीयवचःप्रवृद्धमन्युर्धनुरेकस्य कराज्जहार वीरः³ ।
स्वनृपेण सहैव रक्षतासून्यदि शक्तिर्भवतामिति ब्रुवाणः ॥ ५२ ॥
नगतुङ्गमतङ्गजोग्रनक्रे पवनस्पर्धितुरङ्गवीचिचक्रे ।
विचरंश्चतुरङ्गसैन्यसिन्धौ ददृशे मन्दरवत्स पौरलोकैः ॥ ५३ ॥

गतेन यातेन । तेन कुमारेण ददृशे दृश्यते स्म । दृशृ प्रेक्षणे कर्मणि लिट् ॥४९॥ अवीति । अविकम्पितधी. अविकम्पिता निश्चला धीर्यस्य स । असंस्तुतत्वात् अननुमतत्वात् । नृपाज्ञया राजाज्ञया । प्रतिषिद्धोऽपि निवारितोऽपि । करिकीर्णपथां⁴ करिणा गजाना कीर्णं सबद्धो मार्गो यस्या ताम् । प्रतोलीं गोपुर प्रति । प्रगच्छन् प्रयान् । स कुमार । तै महेन्द्रयोधैः महेन्द्रभटैः । इति वक्ष्यमाणप्रकारेण । अभिदधे प्रोक्त. ॥५०॥ शिरसेति । यत्⁵ कारणात् । अन्यै अपरैः । अप्रसह्य निराकर्तुमशक्यम् । नृपशासन नृपस्य राज्ञः शासनमाज्ञाम् । अतिक्रम्य उल्लङ्घ्य । निर्विशङ्क निःशङ्क सन् । परैषि⁶ गच्छसि यासि । [तत्] ते तव । निजेन स्वकीयेन । शिरसा मस्तकेन । कार्यं प्रयोजनम् । न अस्ति न भवति । स्वजीविते स्वस्य जीवने । परिनिर्विण्णमति परिनिर्विण्णा विरक्ता मतिर्यस्य स. । वा किमित्यर्थः ॥५१॥ स इति । तदीयवच.-प्रवृद्धमन्यु तदीयेन भटसबन्धिना वचसा वचनेन प्रवृद्ध प्रैधितो मन्युः कोपो यस्य स । सः कुमार । भवता युष्माकम् । यदि चेत् । शक्तिः सामर्थ्यम् । अस्ति⁷ । स्वनृपेण निजभूपतिना । सहैव साकमेव । असून् प्राणान् । रक्षत पालयत । इति एवम् । ब्रुवाणः ब्रुवन् । वीर शूर । एकस्य पुरुषस्य । करात् हस्तात् । धनु चापम् । जहार हरति स्म । हृञ् हरणे लिट् ॥५२॥ नगेति । नगतुङ्गमतङ्गजोग्रनक्रे नगा इव पर्वता इव⁸ तुङ्गा उन्नता ये मतङ्गजा मत्तदन्तिन त एवोग्रा भयकरा नक्रा यस्मिन् तस्मिन् । पवनस्पर्धितुरङ्गवीचिचक्रे पवनो वायुस्त (तस्मै) स्पर्द्धन्ते तच्छीला (इत्येवशीला) अतिवेगवन्त इत्यर्थ, तथोक्ता ये तुरङ्गा⁹ वाजिनस्त एव वीचयस्तरङ्गास्तासा चक्र समूहो यस्मिन् तस्मिन् । चतुरङ्गसैन्यसिन्धौ चतुरङ्गं

तरंगोंके द्वारा उसका किनारेका वन घेर लिया जाता है ॥ ४९ ॥ वह आगे बडे वेगसे बढता चला जा रहा था, किन्तु अपरिचित तथा अनुमति पत्रसे रहित होनेके कारण राजाकी आज्ञासे रोक दिया गया । फिर भी वह नि·शक होकर उस पुरके प्रवेशद्वारकी ओर चलता ही गया, जिसका मार्ग हाथियोसे घिरा हुआ था । फिर राजा महेन्द्रके सिपाही उससे यो बोले—॥ ५० ॥ क्या तुझे अपने सिरसे कोई काम नही है ? या तू अपने जीवनसे ऊब चुका है ? जो दूसरोसे अनुल्लघनीय राजाकी आज्ञाका उल्लघन करके इधर नि·शक होकर चला आ रहा है ॥ ५१ ॥ उनके इन वचनोको सुनकर राजकुमारको बडा क्रोध आया । अतः उसने उत्तर दिया कि यदि तुम लोगोमे शक्ति हो तो अपने और साथ ही अपने राजाके भी प्राण बचा लो । यह कहते-कहते उस शूर-वीर राजकुमारने उन्हीके बीचमे-से किसी एकके हाथसे धनुष छीन लिया ॥५२॥ फिर क्या था, उसे चतुरंगिणी सेनाने चारो ओरसे घेर लिया । पर राजकुमार भी बडा सूरमा था । उसके लिए सेना समुद्र थी तो वह उसके लिए मन्दराचल था । समुद्रमे बडे-बडे भयकर

१ अ °वीरस° । २ क म पर्यैषि । ३. अ इ म धीर । ४ = करिभिर्गजै. कीर्णो व्याप्त पन्था मार्गो यस्याः, ताम् । ५ = यस्मात् ८.[illegible] । ६. आ पर्यैषि । ७. = वर्तते । ८. आ पर्वतवत् । ९ भा पवनेन वायुना स्पर्द्धिनस्तुरंगा ।

विषवह्निशिखामिवेषुमालां क्षिपतः संततधारमेकवक्त्राम्[1] ।
विदधद्विमुखान्भटानिवाहीन्स गरुत्मेव महेन्द्रमाप कोपात् ॥ ५४ ॥
प्रलयाहिमदीधितेरिवोल्कां सृजतो मार्गणसंहतिं कुमारः ।
स विलासनि[2]पातितैकबाणो विधवां तस्य चकार राज्यलक्ष्मीम् ॥ ५५ ॥
तमकारणबान्धवं ततोऽसौ समुपादाय विपक्षकक्षदावम् ।
प्रविवेश समुत्सवैर्महद्भिर्जयवर्मा[3] नगरं [4]कृताष्टशोभम् ॥ ५६ ॥

चत्वार्यङ्गान्यवयवा यस्य तच्चतुरङ्ग तच्च तत्सैन्य च तथोक्त, तदेव सिन्धुस्समुद्रस्तस्मिन्[5] विचरन् भ्रमन् सन् । स कुमार । पौरलोकैः पुरसज्जनैः । मन्दरवत् मन्दर इव । ददृशे[6] ईक्षाचक्रे[7] · दृश् प्रेक्षणे कर्मणि लिट् । रूपकम् ॥५३॥ विषेवि[8] । विषवह्निशिखामिव विषमेव (?) वह्निरग्नेः शिखामिव । एकवक्त्राम् एक वक्त्र यस्यास्ताम् । इषुमालाम् इषूणा मालामावलिम् । सतत निरन्तर धारा यस्मिन् कर्मणि तत् । क्षिपतः प्रेरित (?) । अहीनिव सर्पानिव । गरुत्मेव गरुड इव । भटान् योधॄन् । विमुखान् विनष्टमुखान् । विदधत् कुर्वन् । स कुमार । कोपात् क्रुध । महेन्द्र देवेन्द्र, महेन्द्रभूप च । आप प्राप्नोति स्म । उपमा[9] ॥५४॥ प्रलयेति । प्रलयाहिमदीधिते प्रलयस्य प्रलयकालस्याहिमदीधिते सूर्यस्य । उल्काम् [इव] ज्वालामिव । मार्गणसहृतिं मार्गणाना बाणाना सहृतिं समूहम् । सृजत. मुञ्चत । तस्य महेन्द्रस्य । विलासनिपातितैकबाणः विलासेन लीलया निपातित एको बाणो यस्य[10] स । [स] कुमार. अजितसेन· । राज्यलक्ष्मीं राज्यसपत्तिम् । विधवा पतिरहिताम् । चकार विदधे । डुकृञ् करणे लिट् । उपमा ॥५५॥ तमिति । तत अनन्तरम् । असौ अयम् । जयवर्मा जयवर्मभूप । विपक्षकक्षदाव विपक्ष एव शत्रुरेव कक्ष शुष्कवन तस्य दाव दावाग्निम् । अकारणबान्धवम् अकारण निर्निमित्त बान्धवम् । त कुमारम् । समुपादाय समुपानीय कृताष्टशोभ कृता रचिता अष्टशोभा यस्य तत् । मार्जन–सेचन–उद्धृततोरण–रङ्गवल्ली–पुष्पोपहार–वाद्य–गीत–नृत्यम् (नृत्यानि) इत्यष्टशोभा । नगर विपुलनगरम् । महद्भि पृथुभि. । समुत्सवै सभ्रमै । प्रविवेश प्रविशति स्म । विश

घड़ियाल और बड़ी-बड़ी लहरें होती हैं। इसी तरह उस सेनारूपी समुद्रमे पहाड़ो सरीखे ऊँचे-ऊँचे हाथीरूपी भयंकर घड़ियाल और वायुसे स्पर्द्धा करनेवाले घोड़ेरूपी उत्ताल तरंग थे। समुद्रका मन्थन मन्दराचलसे हुआ था इसी तरह राजकुमाररूपी मन्दराचलसे सेनारूपी समुद्रका मन्थन शुरू हो गया, जिसे सभी पुरवासियोने देखा ॥ ५३ ॥ विषाग्निकी ज्वालाके समान लगातार एकके पीछे एक करके बाणोकी वर्षा करनेवाले सैनिक, जहरीले नागोके समान थे। उनके दमन करनेके लिए राजकुमार गरुडके समान था। उसने उन सबको विमुख कर दिया और फिर वह बड़े रोषसे राजा महेन्द्रके पास जा पहुँचा ॥ ५४ ॥ जिस प्रकार प्रलयकालका सूर्य अग्नि-ज्वालाओकी वर्षा करता है, उसी प्रकार राजा महेन्द्र दनादन बाण बरसा रहा था। किन्तु राजकुमारने यो ही एक बाण चलाकर उसकी राज्यलक्ष्मीको विधवा कर दिया ॥ ५५ ॥ इसके पश्चात् राजा जयवर्माने राजकुमार अजितसेनको—जो उसका अकारणबन्धु था और जिसने उसके शत्रुरूपी वनको जला डाला था—साथ लेकर अपने नगरमे प्रवेश किया। उस

१ क ख ग घ म °वक्त्रम् । २ अ °सविपाति° । ३ अ षयधर्मा । ४ एष टीकाकृदभिमतः पाठ प्रतिषु तु 'कृताट्टशोभम्' इत्येव वर्तते । ५ श स चतुरङ्गमेव सिन्धु समुद्र, तस्मिन् । ६ =दृष्टो व्यलोकि वा । ७ आ प्रतावेव 'ईक्षाचक्रे' तो 'रूपकम्' यावत् पाठो वर्तते । ८ = विषवह्निशिखामिव विषानलज्वालामिव । एकवक्त्राम् एकं वक्त्र यस्या , ताम् । इषुमालाम् इषूणा बाणानामावली पङ्क्तिः, ताम् । सततधारा सतता धारा यस्मिन् कर्मणि तत्तथा । क्षिपत प्रेरयत । अहीनिव सर्पानिव । भटान् योधॄन् । गरुत्मेव गरुड इव । स कुमार । विमुखान् विनष्टमुखान्, पक्षे पराङ्मुखान् । विदधत् कुर्वन् । कोपात् क्रुध । महेन्द्र देवेन्द्र, महेन्द्रभूपं च । आप प्राप्नोति स्म । उपमा ॥५४॥ ९ श स एतच्छ्लोकटीका तु भूतकर्नाटपुस्तके नास्ति किन्तु लेखकप्रणीता इति सूचना समवलोक्यते । १० = येन ।

पुरनाथपुरःसरः[1] कुमारः प्रविशन्राजनिकेतमुत्पताकम् ।
विदधे विविधान्वधूजनानां हृदयोन्मादविधायिनः स्वभावान्[2] ॥ ५७ ॥
वपुषा जयता नरेन्द्र[3]लक्ष्मीमितरासंभविना च पौरुषेण ।
परिसूचनया विनापि राज्ञा बुबुधे जातिकुलोन्नतिस्तदीया ॥ ५८ ॥
निवसन्कृतसत्कृतिः स तस्मिन्विनमय्यावनिपान्निजप्रतापैः ।
विपुलाधिपतेश्चकार वश्यां सुरराजोपमविक्रमो धरित्रीम् ॥ ५९ ॥
सह वल्लभया पतिं प्रजानां शयनीयस्थितमेकदा समेत्य ।
विहितप्रणतिः परेङ्गितज्ञा निजगादेति सखी शशिप्रभायाः ॥ ६० ॥

प्रवेशे लिट् ॥५६॥ पुरेति । पुरनाथपुरःसरः पुरनाथस्य जयवर्मणः पुरःसरः । कुमारः अजितसेनः । उत्पताकम् उद्धृता पताका यस्य तत् । राजनिकेतनं राजमन्दिरम् । प्रविशन्, वधूजनानां वध्व एव जनास्तेषाम् । रूपकम् (?) हृदयोन्मादविधायिनः हृदयस्य चित्तस्योन्मादं विकारं विदधतीत्येवंशीलाः, हृदयोन्मादकारिणस्तान् । विविधान् नानाप्रकारान् । स्वभावान् चेष्टाः । विदधे चकार । डुधाञ् धारणे च लिट् ॥५७॥ वपुषेति नरेन्द्रलक्ष्मीं नरेन्द्रस्य महेन्द्रस्य लक्ष्मीं शोभाम् । जयता जयमानेन । वपुषा गात्रेण । इतरासंभविना इतरेषामसंभविना । पौरुषेण प्रतापेन । परिसूचनया वचनेन विनापि । तदीया तस्येयं तदीया-अजितसेनसम्बन्धिनी । जातिकुलोन्नतिः जातिकुलयोः मातापित्रो[4]रुन्नतिराधिक्यम् । राज्ञा भूपेन । बुबुधे बुध्यते स्म । बुधिमनि ज्ञाने कर्मणि लिट् । अनुमितिः ॥५८॥ निवसन्निति । तस्मिन् विपुलपुरे । निवसन् तिष्ठन् । कृतसत्कृतिः कृता विहिता सत्कृतिः सत्कारो यस्य सः । स कुमारः । निजप्रतापैः निजस्य स्वस्य प्रतापैस्तेजोभिः । [अवनिपान् भूपान् । विनमय्य[5] वन्दयित्वा । सुरराजोपमविक्रमः[6] सुरराजस्य देवराजस्य उपमा समानो विक्रमः पराक्रमो यस्य सः । धरित्रीं भूमिम् । विपुलाधिपतेः जयवर्मणः । वश्यां वशगताम् । 'वश्यपथ्य—' इत्यादिना साधु । चकार करोति स्म । डुकृञ् करणे लिट् ॥५९॥ सहेति । वल्लभया वनितया । सह साकम् । शयनीयस्थितं शयनीये तल्पे स्थितम् । प्रजानां लोकानाम् । पतिं प्रभुम् । एकदा एकस्मिन् दिने । समेत्य प्राप्य । परेङ्गितज्ञा परेषामन्येषामिङ्गितज्ञा[7] अभिप्रायज्ञा । विहितप्रणतिः कृतप्रणामा । शशिप्रभायाः शशिप्रभाकुमार्याः । सखी वयस्या । इति वक्ष्यमाणप्रकारेण । निजगाद ऊचे । गद व्यक्तायां

समय नगरमे खूब सजावट की गयी थी और उत्सवोकी धूम मची हुई थी ॥ ५६ ॥ राजमहल पताकाओसे सजा दिया गया था । उसमे राजकुमार अजितसेनने—जिसके आगे-आगे राजा जयवर्मा चल रहा था—प्रवेश किया । राजकुमारको देखकर वहाँकी वधुओकी नाना प्रकारकी चेष्टाएँ प्रकट हुईं, जिनसे उनके हृदयके उन्माद भरे भाव अभिव्यक्त हो रहे थे ॥ ५७ ॥ राजकुमारके इन्द्रसे भी कही अधिक सुन्दर शरीर और पुरुषार्थको, जो दूसरोमे कभी सम्भव नही हो सकता—देखकर राजाने, बिना किसी सूचनाके उसकी जाति और कुलकी उन्नति जान ली ॥ ५८ ॥ राजकुमार, जयवर्माके यहाँ कुछ दिन सत्कारके साथ रहा । वह इन्द्रके समान पराक्रमी था । अतः उसने अपने प्रतापसे सभी राजाओको नम्र बना दिया और सारे भूमण्डलको विपुल नरेश—जयवर्माके अधीन कर दिया ॥ ५९ ॥ एक दिनकी बात है । राजा, रानीके साथ एक पलगपर बैठा हुआ था । उसी समय राजकुमारी शशिप्रभाकी एक सहेली, जो दूसरोके भावको भाँपनेमे बड़ी कुशल थी, उस (राजा) के पास जाकर नमस्कारपूर्वक यो

१. स पुरराजपुर° । २ अ म स भावान् । ३. स क ग ग घ म °नरेन्द्र° । ४. आ मातृपित्रोः । ५ = विनम्रान् विधाय । ६. सुरराजोपमो देवराजसदृशो विक्रम पराक्रमो यस्य सः, दिव्यपराक्रम इति भावः । ७ = इङ्गित पराभिप्राय जानातीतीङ्गितज्ञा ।

नरनाथ युवा यदा स दृष्टो भवतो देहजया महेन्द्रमर्दी ।
विदधाति तत प्रभृत्यनास्थां स्वशरीरेऽपि विमुक्तगन्धमाल्या ॥ ६१ ॥
परिशून्यमना विचिन्तयन्ती किमपि क्षामविपाण्डुगण्डलेखा ।
परिवारसमाहृतेऽन्नपाने ज्वरहीनापि दधात्यरोचकत्वम् ॥ ६२ ॥
हिमदग्धसरोरुहोपमाङ्ग्या हृदि तस्या विनिपत्य तत्क्षणेन ।
क्वथता नयनाम्बुनान्तरङ्ग' परितापः परिगम्यते गरीयान् ॥ ६३ ॥
श्वसितैरहिमैर्नितान्तदीर्घैरिव धूमप्रसरैर्वियोगवह्नेः ।
सरसीरुहशङ्कया मुखेऽस्या निपतद्दूरमुदस्यतेऽलिवृन्दम् ॥ ६४ ॥

वाचि लिट् ॥६०॥ नरनाथेति । नरनाथ भूपाल । महेन्द्रमर्दी महेन्द्र मर्दतीत्येवशील, तथोक्त, महेन्द्रस्य हन्ता । युवा तरुण । स कुमार । भवत तव । देहजया तनूजया । यदा यत्समये । दृष्ट आलोकित । ततः प्रभृति तदादि । विमुक्तगन्धमाल्या विमुक्ते गन्धमाल्ये यया सा । स्वशरीरे स्वशरीरेऽपि देहेऽपि । अनास्थाम् औदासीन्यम् । विदधाति करोति डुधाञ् धारणे च लट् ॥६१॥ परिशून्येति । परिशून्यमना. परिशून्य मनो यस्य स (यस्या सा) । किमपि यत्किंचिदपि । [वि-] चिन्तयन्ती विचारयन्ती । क्षामविपाण्डुगण्डलेखा क्षामा कृशा पाण्डु. शुभ्रा, क्षामा चासौ पाण्डुश्च तथोक्ता क्षामपाण्डुर्गण्डयोर्लेखा प्रदेशो यस्याः सा । परिवारसमाहृते परिवारै परिजनै समाहृते[2] नीते । अन्नपाने भक्तपाने[3] । ज्वरहीनापि ज्वरेण जूर्त्या[4] हीनापि । अरोचकत्वम् अरुचित्वम् । दधाति धरति । हेतु (विभावना) ॥६२॥ हिमेति । हिमदग्धसरोरुहोपमाङ्ग्या. हिमेन दग्धस्य भस्मीकृतस्य सरोरुहस्योपमा समानम् (साम्य यस्य तत्) अङ्ग यस्यास्तस्या । तस्या शशिप्रभाया । हृदि चित्ते । तत्क्षणेन तत्समयेन । विनिपत्य पतित्वा । क्वथता उष्णतायता (उष्णतावता) । नयनाम्बुना नेत्राम्बुना । अ [आ-] न्तरङ्ग अन्तरङ्गे प्रवर्तमान । गरीयान् प्रकृष्टो गुरु (प्रकर्षेण गुरु) गरीयान् । 'गुणाङ्गाद्वेष्ठेयसू' इति यसू (ईयसु) । 'प्रियस्थिर—' इत्यादिना गुरुशब्दस्य गरादेश । परिताप सताप । परिगम्यते ज्ञायते । गम्लृ गतौ कर्मणि लट् । अनुमिति ॥६३॥ श्वसितैरिति । अहिमै उष्णै । नितान्तदीर्घै नितान्तमत्यन्त दीर्घैरायतै । वियोगवह्ने वियोग एव विरह एव वह्निरग्निस्तस्य । धूमप्रसरैरिव धूमस्य प्रसरैरिव प्रसरणैरिव । श्वसितै श्वासै । सरसीरुहशङ्कया सरसीरुहमिति कमलमिति शङ्कया सन्देहेन । अस्या शशिप्रभाया । मुखे वदने । निपतत् स्खलत् । अलिवृन्दम्

कहने लगी—॥ ६० ॥ राजन् ! आपकी कन्या शशिप्रभाने जबसे राजा महेन्द्रको मारनेवाले युवक अजितसेनको देखा है तभीसे उसने चन्दनके लेप और मालाका परित्याग कर दिया है तथा अपने शरीरकी भी उपेक्षा कर दी है ॥ ६१ ॥ उसका मन सूनसान (एकान्त) स्थान-को पसन्द करने लगा है । वहीं (एकान्त मे) बैठकर वह कुछ सोचती रहती है । उसके कपोल सूख गये हैं और उनका रग पीला पड गया है । परिवारके लोग उसके पास अन्न-जल ले जाते हैं, किन्तु ज्वरके बिना भी उसे खाने-पीनेसे अरुचि हो गयी है ॥६२॥ उसका सुकुमार शरीर पालेसे झुलसे हुए कमलके समान हो गया है । उसके अश्रु-बिन्दु आँखोसे सीनेपर गिरकर शीघ्र ही खौलने लगते हैं, जिनसे उसके तीव्र अन्तस्तापका पता लगता है । ॥६३॥ कमलके भ्रमसे उसके मुख पर जो भौंरे गिरना चाहते हैं, वे वियोगाग्निके फैलते हुए धुएँ सरीखे प्रतीत

---

१ अ °समादृते । २ = समानीते । ३ आ भुक्तिपाने । ४ आ जूर्या ।

मुषिता[1] वदनश्रिया मम श्रीरनयेतीव रुषोपजातमूर्च्छाम् ।
विदधाति मुहुर्मुहुर्मृगाक्षीं विषनिःस्यन्दिभिरंशुभिः शशाङ्कः ॥ ६५ ॥
परितापविनाशनाय शय्या क्रियते या नवपल्लवैः सखीभिः ।
दववह्निशिखावलीव सापि ज्वलयत्यम्बुजकोमलं तदङ्गम् ॥ ६६ ॥
विदधातु भुजंगसङ्गभाजो रससेकः खलु चन्दनस्य तापम् ।
प्रविभाति महत्तदत्र चित्रं यदमूं प्लुष्यति दक्षिणोऽपि वातः ॥ ६७ ॥
नितरां परिकोपितो मनोभूः[2] रतिरूपं ध्रुवमेतया हरन्त्या[3] ।
विदधाति विनाशहेतुमस्याः किमसाधारणमन्यथा प्रयत्नम् ॥ ६८ ॥

अलीना भ्रमराणा वृन्द समूह । दूरम् उदस्यते निराक्रियते । असू क्षेपणे लट् । उत्प्रेक्षा ।।६४।। मुषितेति । मम मे । श्री शोभा । अनया, अन्वादेशे एनदादेश (?) । वदनश्रिया वदनस्य मुखस्य श्रिया शोभया । मुषिता अपहृता । इति एवम् । मत्वा, रुषा कोपेन, इव । शशाङ्कः चन्द्र । विष [नि -] स्यन्दिभि विष (नि.) स्यन्दत इत्येवशीलै. । अशुभि किरणै । मृगाक्षीं मृगस्याक्षिणी इवाक्षिणी यस्यास्ताम् । मुहुर्मुहु पुन. पुन । उपजातमूर्च्छाम् उपजाता उत्पन्ना मूर्च्छा यस्यास्ताम् । विदधाति करोति ।।६५।। परितापेति[4]। परिताप-विनाशनाय परितापस्य सतापस्य विनाशनाय विनाशार्थम् । सखिभिः [सखीभि.] वयस्याभि । नवपल्लवै नवैर्नूतनै पल्लवै किसलयै । या शय्या तल्पम् । क्रियते विधीयते । सापि पल्लवशय्यापि । दववह्नि-शिखावलीव दवश्चासौ वह्निश्च (दवस्य वह्नि) तथोक्तस्तस्य शिखाना ज्वालानामावलीव समूह (जालम्) इव । अम्बुजकोमलम् अम्बुजमिव कमलमिव कोमल मृदुलम् । तदङ्ग तस्या शशिप्रभाया अङ्ग गात्रम् । ज्वलयति[5] दहयति । ज्वल दीप्तौ णिजन्ताल्लट् । हेतु. (?) ।।६६।। विदधात्विति । भुजङ्गसङ्ग-भाज भुजङ्गाना सङ्ग सपर्कं भजतीति तथोक्तस्य । चन्दनस्य मलयजस्य । रससेक (क) रसस्य द्रवस्य सेक (क) सेचनम् । खलु, ताप सन्तापम् । विदधातु करोतु । डुधाञ् धारणे च लोट्[6] । दक्षिणोऽपि दक्षिणदिश आगतोऽपि । वातः वायु । अमूम् एताम् । प्लुष्यति दहति । प्लुष दाहे लट् । यत् प्रकृतम् । तत्, अत्र लोके । महच्चित्रम् आश्चर्यम् । भवति । हेतु ।।६७।। नितरामिति । रतिरूप रतिदेव्या रूपम् । हरन्त्या अपहरन्त्या । एतया अनया शशिप्रभया । मनोभू. मन्मथ । नितराम् अत्यन्तम् । परिकोपित. परिक्रुद्ध । ध्रुव[8] निश्चय । अन्यथा न परिकोपितश्चेत् । अस्या शशिप्रभाया । असाधारण प्रतिकार-रहितम् । विनाशहेतु निधनकारणम् । प्रयत्न[9] प्रारम्भम् । कि किं कारणम् । विदधाति करोति । डुधाञ्

होने वाले उसके उष्ण और दीर्घ श्वास वायुसे हटा दिये जाते हैं ।।६४।। 'इसने अपने मुखकी शोभासे मेरी शोभा चुरा ली है', मानो यह सोचकर रात्रिके समय चन्द्रमा क्रुद्ध होकर अपनी किरणोसे विष बहाकर शशिप्रभाको बार-बार मूर्च्छित कर देता है ।।६५।। उसके तीव्र सन्तापको दूर करनेके लिए सहेलियाँ नवीन कोपलोसे जो सेज सजाती हैं, वह भी उसकी कमल कोमल कायाको दवाग्निकी ज्वालाकी भाँति जलाने लगती है ।।६६।। चन्दन-द्रवका सिंचन या लेप भले ही उसे सन्ताप दे, क्योंकि उससे जहरीले काले नाग लिपटे रहते हैं, किन्तु दक्षिण (अनुकूल) वायु भी उसे जलाता है, यह बडे ही आश्चर्यकी बात है ।।६७।। लगता है शशिप्रभाने रतिके रूपको हरकर कामदेव (रतिपति) को बहुत अधिक क्रुद्ध कर दिया है । यदि यह बात न होती

---

१ अ मुजिता । २ अ मनोजो । ३ अ वहन्त्या । ४ आ श स इद (६६ तम) पद्यं पश्चाद् व्याख्यातम्, इत पूर्वं तु विदधातु इत्यादि (६७ तमं) पद्यं व्याख्यातम् । ५.=दहति सधुक्षयति वा । ६ आ लट्, श स लेट् । ७ = कृत इति शेषः । ८ = निश्चयेन । ९ = प्रयतनम् ।

सपदि प्रविधीयतां तदत्र प्रविधेयं गुणवद्विमृश्य बुद्ध्या ।
हरिणायतचक्षुरीश यावद्दशमीं याति दशां न पुष्पकेतोः ॥ ६९ ॥
श्रुतवानिति तद्गिरं गरीयःप्रमदोद्यत्पुलको बभूव भूपः ।
दुहितुर्विगणय्य चित्तवृत्तिं सदृशीमात्मन एव चित्तवृत्तेः ॥ ७० ॥
अपरेद्युरपृच्छदादृतात्मा[1] सहसाहूय निमित्तिनं नरेन्द्रः ।
विदधे च शुभे शरीरजाया दिवसे तत्प्रतिपादिते प्रदानम् ॥७१॥
स ततः प्रभृति प्रतीततेजा[2] निजपाणिग्रहवासरं कुमारः ।
गणयन्स्मरबाणभिन्नमर्मा दयितासङ्गसमुत्सुकोऽवतस्थे ॥७२॥

धारणे च लट् ॥६८॥ सपदीति । ईश भो स्वामिन् । हरिणायतचक्षुः हरिणस्य मृगस्येवायते विशाले चक्षुषी यस्या सा । यावत्[3] यत्प्रमाणम् । पुष्पकेतोः[4] मन्मथात् । दशमीं दशाना पूरणी दशमी, ताम् । दशाम् अवस्था मरणावस्थामित्यर्थः । न याति न गच्छति । (तावत्) गुणवत् गुणयुक्तम् । प्रविधेयमिति कार्य-मिति । बुद्ध्या बोधनेन । विमृश्य विचार्य । अत्र अस्याम् । तत् कार्यम् । सपदि शीघ्रम् । प्रविधीयता प्रतिकार क्रियताम् । उपमा ॥६९॥ श्रुतेति । इति उक्तप्रकारेण । तद्गिर तस्या शशिप्रभासख्या गिर वाचम् । श्रुतवान् आकर्णितवान् । भूप. जयवर्मा । आत्मन एव स्वस्यैव । चित्तवृत्ते चित्तस्य वृत्तेर्वर्तनस्य । सदृशीं समानाम् । दुहितु· पुत्र्या । चित्तवृत्ति मानसवृत्तिम् । विगणय्य निश्चित्य । गरीय प्रमदोद्यत्पुलक· गरीयसा महता प्रमदेन सतोषेण उद्यदुत्पद्यमान पुलको रोमाञ्चो यस्य स । बभूव भवति स्म । भू सत्ताया लिट् ।.७०॥ अपरेद्युरिति । आदृतात्मा आदृत आदरयुक्त[5] आत्मा बुद्धि र्यस्य स । नरेन्द्र जयवर्मा । अपरेद्यु अन्यस्मिन् दिवसे । निमित्तिन निमित्तज्ञम् । सहसा शीघ्रम् । आहूय आह्वान कृत्वा । अपृच्छत्[6] अशृणोत् । तत्प्रतिपादिते तेन निमित्तज्ञेन प्रतिपादिते कथिते । शुभे शोभने । दिवसे दिने । शरीरजाया शशिप्रभाकुमार्या । प्रदान वाग्दत्तिम् । विदधे च चकार च । डुधाञ् धारणे च लिट् ॥७१॥ स इति । तत प्रभृति तद्दिवसमारभ्य । प्रतीततेजा प्रतीत प्रथित तेज प्रतापो यस्य स । स्मरबाणभिन्नमर्मा स्मरस्य मदनस्य बाणैर्मार्गणैर्भिन्न स्फुटित मर्म मर्मस्थान यस्य स । दयितासङ्गसमुत्सुक. दयिताया कान्ताया सङ्गे सयोगे समुत्सुकः समुद्युक्त । स कुमार । अजितसेनकुमार निजपाणिग्रहवासर निजस्य स्वस्य पाणिग्रहस्य विवाहस्य वासर दिवसम् । गणयन् सख्यान कुर्वन् । अवतस्थे तिष्ठति स्म । ष्ठा गतिनिवृत्तौ लट् । 'समवप्रविभ्य' इति तङ्

तो वह इसके विनाशके लिए असाधारण प्रयत्न क्यो करता ? ॥६८॥ राजन् ! इसलिए अपनी बुद्धिसे इस विषयमे जो भी लाभकर हो शीघ्र कीजिए, जिससे हरिणाक्षी शशिप्रभा कामदेवकी दशवी (मृत्यु) दशासे बच जाये ॥६९॥ शशिप्रभाकी सहेलीके ये वचन सुनकर एव अपने विचारोके समान अपनी पुत्रीके विचारोको भी जानकर जयवर्मा मन-ही-मन बडा प्रसन्न हुआ, और उसी प्रसन्नताके कारण उसके शरीरमे रोमाच हो आया ॥७०॥ इससे अगले दिन राजाने आदर पूर्वक एक ज्योतिषीको शीघ्र ही बुलवाया । राजाके पूछने पर उसने जो शुभ दिन बतलाया, उसी दिन उसने अपनी कन्याका प्रदान—वाग्दान (सगाई) कर दिया ॥७१॥ विवाहकी बात तय होनेके बाद कामदेवने तेजस्वी राजकुमार अजितसेनके मर्मस्थलको अपने बाणोसे बीध डाला । फलत वह पत्नीके समागमके लिए उत्सुक होकर विवाहके दिन गिनने लगा

---

१ अ °दाहितात्मा । २ आ इ प्रथिततेजा° । ३ = यावत् पर्यन्तम् । ४ = मन्मथस्य । ५ आ संतोषयुक्त° । ६ = पृच्छति स्म ।

गिरिरस्त्यथ खेचराधिवासः शिखरोत्तम्भिततारकासमूहः ।
विजयार्ध इति प्रसिद्धनामा निजविस्तारनिरुद्धदिग्विभाग ॥७३॥
कलधौतमयोऽखिलासु दिक्षु प्रकिरन्यः शशिशुभ्रमंशुजालम् ।
प्रविभाति विशालमेदिनीकः शुचिनिर्मोक इवाम्बरोरगस्य ॥७४॥
पृथु दक्षिणतोऽस्ति तत्र रम्यं पुरमादित्यपुराभिधां दधानम् ।
रजताच्छतयेव देवलोकात्प्रतिबिम्बं पतितं मनोभिरामम्[1] ॥७५॥
धरणीध्वज इत्यभूत्प्रशास्ता बलवांस्तस्य पुरस्य खेचरेन्द्रः ।
अमरेन्द्र इवोद्धतान्व्यधाद्यः सकलान्खेचरभूभृतो विपक्षान् ॥७६॥

॥७२॥ गिरिरिति । अथ अनन्तरम् । खेचराधिवास खेचराणा विद्याधराणामधिवास[2] आधारभूत । शिखरोत्तम्भिततारकासमूह शिखरै शृङ्गैरुत्तम्भित उद्धृतः तारकाणा नक्षत्राणा समूहो यस्य (येन) स । निजविस्तारनिरुद्धदिग्विभाग. निजस्य स्वस्य विस्तारेणायामेन निरुद्धो व्याप्तो दिशा विभागो यस्य (येन) स. विजयार्ध इति रजताचल इति । प्रसिद्धनाम्ना[3] प्रसिद्धेन प्रतीतेन नाम्ना अभिधानेन । गिरि पर्वत । अस्ति वर्तते । अस भुवि लट् । स्वभाव ॥७३॥ कलधौतेति[4] । कलधौतमय रजतमय । शशिशुभ्र शशीव चन्द्र इव शुभ्र गौरम् । अशुजालम् अशूना किरणाना जाल समूहम् । अखिलासु सर्वासु । दिक्षु दिशासु । प्रकिरन् विकिरन् । विशालमेदिनीक· विशाला[5] विस्तारा मेदिनी भूमि र्यस्य स । य पर्वत । अम्बरोरगस्य अम्बरमाकाशमेवोरग सर्पस्तस्य । शुचिनिर्मोक इव शुचि शुभ्रो निर्मोक. कञ्चुक· (स) इव । प्रविभाति प्रभासते । भा दीप्तौ लट् । उत्प्रेक्षा ॥७४॥ पृथ्विति[6] । तत्र पर्वते । दक्षिणतः दक्षिणस्या श्रेण्याम् । रजताच्छतया रजतस्य रूप्यस्याच्छतया नैर्मल्येन । मनोभिराम मनोहरम् । देवलोकात् स्वर्गात् । पतितं च्युतम् । प्रतिबिम्ब प्रतिकृतीव[7] । रम्यं सुन्दरम् । आदित्यपुराभिधाम् 'आदित्यपुरम्' इत्यभिधा ताम् । दधानं धरमाणम् । पृथु महत् । पुर पुरी । अस्ति वर्तते । अस भुवि लट् । उत्प्रेक्षा ॥७५॥ धरणीति । यः विपक्षान् शत्रून् । विगतपतत्त्रान्[8] । सकलान् निखिलान् । खेचरभूभृत खेचरभूमिपालान्, पक्षे खेचरान् आकाशचरान् भूभृत पर्वतान् । अमरेन्द्र इव देवेन्द्र इव । उद्धतान् विनष्टान् । व्यधात् अकरोत् । बलवान् पराक्रमी ।

॥७२॥ इसके पश्चात्—एक विजयार्ध नामका प्रसिद्ध पर्वत है । उसने अपने विस्तारसे सारी दिशाओ और विदिशाओके विभागको समाप्त कर दिया है—जिधर देखो उधर वह फैला हुआ है, अत पूर्व किस ओर है और किस ओर हैं पश्चिम आदि, इसका पता ही नही पडता । उसने अपने शिखरोसे तारामण्डलको ऊपर उठा दिया है, और उस पर विद्याधर लोग निवास करते हैं ॥७३॥ उस पर्वतने अपनी लम्बाईसे भी विशाल भूभागको आत्मसात् कर रखा है । रजतमय होनेसे वह सभी ओर चन्द्रमाके समान अपनी धवल किरणोको फैलाए हुए है । अतः वह आकाश रूपी सर्पकी गिरी हुई सफेद केंचुलीके समान जान पडता है ॥७४॥ दक्षिणकी ओर उस पर्वतके ऊपर (उस पर्वतकी दक्षिण श्रेणीमे) एक आदित्य नामका विशाल नगर है । वह अत्यन्त अभिराम—सुन्दर है । उसे जो भी एक बार देख लेता है, उसका मन वही रम जाता है (अभिरामम्-अभिरमते मनो यत्र तदभिरामम्) । अतएव ऐसा जान पडता है मानो उसके रजतमय स्वच्छ प्रदेशमे स्वर्गका प्रतिबिम्ब पड रहा हो ॥७५॥ धरणीध्वज नामका एक बलवान् राजा उस नगरका शासक था । वह समस्त विद्याधरोका स्वामी था । उसने सारे विपक्षी

१ अ मनोभिधानम् । २ =अधिवासो निवासो यत्र स । ३. 'प्रसिद्धनाम्ना' इति पाठष्टीकाकृदभिमत । प्रतिषु प्रसिद्धनामा' इत्येष पाठो दृश्यते । प्रसिद्ध प्रख्यात नाम यस्य स —इति तद्व्याख्या कार्या । ४ आ कलधौत इति । ५ = विस्तृता । ६ श स पृथ्वीति । ७ =प्रतिकृतिरिव । ८. आ विगतपरत्रान् , श स विगतपरत्रान् ।

अथ स [1]प्रियधर्मनामधेयं परमाणुव्रतपालनप्रसक्तम् ।
यतिचिह्नधरं सभान्तरस्थः सहसा क्षुल्लकमागतं ददर्श ॥७७॥
प्रतिपत्तिभिर[2]र्घपूर्विकाभिः स्वयमुत्थाय तमग्रहीत्खगेन्द्रः ।
मतयो न खलूचितज्ञतायां[5] मृगयन्ते महतां परोपदेशम् ॥७८॥
प्रविसर्जित[3] सर्वपादसेवागतविद्याधरबन्धुमन्त्रिवर्गः ।
गुरुविष्टरमास्थितेन तेन स्मितपूर्वं स कृताशिषा बभाषे[6] ॥७९॥
खचराधिप योगिनोऽपि कामं किमपि स्निह्यति मानसं न जाने ।
त्वयि बान्धववत्सले ममाहो बलवान्सर्वजगत्सु[4] मोहराजः ॥८०॥

धरणीध्वज इति धरणीध्वज इति नाम (नामक)। खेचरेन्द्र खेचराणा विद्याधराणामिन्द्र प्रभुः। तस्य पुरस्य आदित्यपुरस्य। प्रशास्ता पालक । 'कृत्कामुकस्य—' इत्यादिना कर्मणि षष्ठी। अभूत् अभवत् ॥७६॥ अथेति। अथ अनन्तरम्। समान्तरस्थ सभाया. सदसोऽन्तरस्थो मध्यस्थ । स. धरणीध्वज । परमाणुव्रत-पालनप्रसक्त परमाणुव्रतस्य श्रावकव्रतस्य पालने रक्षणे प्रसक्तमासक्तम्। यतिचिह्नधर मुनिचिह्नधर—जपमालादिधरमित्यर्थ (?)। प्रियधर्मनामधेय प्रियधर्म इति नामधेय यस्य तम्। सहसा शीघ्रम्। आगतम् आयातम्। क्षुल्लक ब्रह्मचारिणम् (?) ददर्श पश्यति स्म। दृशृ प्रेक्षणे लिट् ॥७७॥ प्रतिपत्तिभिरिति। खगेन्द्र खगाना विद्याधराणामिन्द्र प्रभुः। स्वयम् उत्थाय सिंहासनादुत्थाय। अर्घपूर्विकाभि अर्घ पूजायोग्य द्रव्य पूर्वं पुर स्सर यासा ताभि.। प्रतिपत्तिभि सत्कारैः। त प्रियधर्माणम्। अग्रहीत् अपूजयत्। महता महापुरुषाणाम्। मतय., उचितज्ञताया प्रकृतज्ञतायाम्। परोपदेश परेषामुपदेशम्। न मृगयन्ते नान्वेषयन्ति। मृगि अन्वेषणे लट्। खलु व्यक्तम्। अर्थान्तरन्यास ॥७८॥ प्रवीति। प्रविसर्जितसर्वपादसेवागतविद्याधरबन्धु-मन्त्रिवर्ग पादयोः सेवा पादसेवा तस्यै आगतास्तथोक्ता, सर्वे च ते पादसेवागताश्च (तथोक्ता) सर्वपादसेवागताना विद्याधराणा खेचराणा बन्धूना सगोत्राणा मन्त्रिणा सचिवाना वर्ग समूह, प्रविसर्जित प्रहित सर्वपादसेवागतविद्याधरबन्धुमन्त्रिवर्गो येन स । स धरणीध्वज । स्मितपूर्वं स्मित मनाक् स्मित पूर्वं यस्मिन् कर्मणि तत्। कृताशिषा विहिताशीर्वादेन। गुरुविष्टर महदासनम्। आस्थितेन। तेन प्रियधर्मब्रह्मचारिणा। बभाषे उच्यते स्म। भाषि व्यक्तायां वाचि कर्मणि लिट्। ७९॥ खचरेति। खचराधिप भो खचराणा विद्याधराणामधिप प्रभो। बान्धववत्सले बान्धववत् वत्सले वात्सल्ययुक्ते। त्वयि भवति। योगिनोऽपि

विद्याधरोकी सत्ता समाप्त कर दी थी। जैसे इन्द्रने आकाशमे उड़नेवाले (जैनेतर पुराणोकी दृष्टिसे) पहाडोके पख काटकर उन्हे निष्प्राण कर दिया था ॥७६॥ इसके पश्चात् एक दिनकी बात है, वह सभाके बीचमे बैठा हुआ था। इतनेमे उसने अचानक ही वहाँ आये हुए क्षुल्लक-ग्यारहवी प्रतिमाके धारी उत्कृष्ट श्रावकके दर्शन किये। वे उत्कृष्ट अणुव्रतोके पालक थे। वे दिगम्बर साधुओकी तरह उद्दिष्ट भोजन त्याग आदि चिह्नोसे विभूषित थे। उनका नाम था प्रियधर्म ॥७७॥ वह विद्याधरोका राजा सिंहासनसे उठकर खडा हो गया, और अर्घ आदि पूजा सामग्री लेकर उसने स्वय उनका सत्कार किया। महान् पुरुषोकी बुद्धि उचित बातोकी जानकारीके लिए निश्चय ही परोपदेशकी प्रतीक्षा नही करती ॥७८॥ फिर अपने चरणोकी सेवामें उपस्थित हुए विद्याधरो, बन्धुओ और मन्त्रियोके मण्डलको राजा धरणीध्वजने बिदा करके क्षुल्लकजीको एक बडे आसन पर बैठा दिया। आसन पर बैठकर उन्होने आशीर्वाद देकर मुस्कराते हुए, उससे यो कहा—॥७९॥ हे विद्याधरोके नाथ! मैं एक योगी हूँ, फिर भी मेरा

१ अ प्रियपृथु॰। २. अ म '॰रर्थपूर्वि॰'। ३ इ प्रतिसर्जित॰। ४ अ आ इ सर्वगतश्च मोह॰। ५. आ प्रतावेव 'प्रकृतज्ञतायाम्' इति पर्याय समुपलभ्यते। ६. श स भाष।

तव मानधनाखिलप्रकारैः प्रविधातुं प्रियमीहते मतिर्मे ।
तमिमं शृणु यो मया मुनीन्द्रात्त्वदुदन्तो विदितः सुधर्मनाम्नः[1] ॥८१॥
विपुलाख्यमरिंजयाभिधाने पुरमस्तीन्द्रपुरोपमं जनान्ते ।
तदपास्तसमस्तवैरिवर्गो जयवर्मेति[2] भुनक्ति भूमिपालः ॥८२॥
मृगदृष्टिरवि[3]भ्रमप्रहीणा शशभृत्कान्तिरलाञ्छनप्रसङ्गा ।
करदीकृतमण्डलस्य जिष्णोस्तनया तस्य शशिप्रभाभिधाना ॥८३॥

तपस्विनोऽपि । मम मे । मानसं चित्तम् । कामं भृशम् । स्निह्यति प्रीतिं करोति । किमपि किं निमित्तमिति । न जाने न वेद्मि । ज्ञा अवबोधने लट् । सर्वजगत्सु सर्वजनेषु । मोहराजः मोहकर्मराजः । बलवान् शक्तिमान् । अहो हन्त । अर्थान्तरन्यासः ॥८०॥ तवेति । मानधन मानः एवाभिमान एव धनं यस्य तस्य सम्बोधनम्— भो अभिमानधन । अखिलप्रकारैः नानाप्रकारैः सर्वप्रकारैर्वा । तव भवतः । प्रियं प्रीतम्[4] । (हितमिति यावत्) प्रविधातुं कर्तुम् । मे मम । मतिः बुद्धिः । ईहते प्रवर्तते । ईहि चेष्टायां लट् । सुधर्मनाम्नः सुधर्माभिधानात् । मुनीन्द्रात् मुनीनामिन्द्रः श्रेष्ठस्तस्मात् । यः त्वदुदन्तः तव भवतः उदन्तो वार्ता । मया विदितः ज्ञातः । [तम् इमम् उदन्तं वृत्तान्तम् । शृणु आकर्णय ।] । रूपकम् (?) ॥८१॥ विपुलेति । अरिंजयाभिधाने अरिंजयः इत्यभिधानं यस्य[5] तस्मिन् । जनान्ते देशे । इन्द्रपुरोपमम् इन्द्रपुरस्यामरावतीपुरस्योपमा (उपमा यस्य तत्) समानम् । विपुलाख्यं विपुलमित्याख्या यस्य तत् । पुरं पुरी । अस्ति वर्तते । अस भुवि लट् । अपास्तसमस्तवैरिवर्गः अपास्तः तिरस्कृतः समस्तानां वैरिणां रिपूणां वर्गः समूहो येन सः । जयवर्मेति, भूमिपालः भूमिं पालयतीति यथोक्तः । तत् पुरम् । भुनक्ति पालयति । भुज पालनाभ्यवहारयोर्लट् ॥८२॥ मृगेति । अविभ्रमप्रहीणा[6] अविभ्रमेण विलासाभावेन प्रहीणा रहिता विलासेन सहिता–इत्यर्थः । मृगदृष्टिः मृगस्येव[7] दृष्टिर्यस्याः सा–मृगलोचना । अलाञ्छनप्रसङ्गा अलाञ्छनेन लाञ्छनरहितेन प्रसङ्गा सबन्धा[8] । शशभृत्कान्तिः शशभृतश्चन्द्रेव[9] कान्तिर्द्युतिर्यस्याः सा । शशिप्रभाभिधाना शशिप्रभेत्यभिधानं यस्याः सा । तनया कुमारी । करदीकृतमण्डलस्य करदीकृतं करदानविहितं मण्डलं देशो यस्य तस्य । जिष्णोः जयशीलस्य । भूजेर्स्नुक्' इति शीलार्थे स्नु– (स्नुक्–) प्रत्ययः । तस्य जयवर्मणः । अभूत्,

---

मन न जाने क्यों तुमसे बहुत अधिक स्नेह करता है । यों तुम भी सभीसे मित्रवत् स्नेह करते, हो, किन्तु तुम्हारा स्नेह उचित है, राजा जो ठहरे, पर एक योगी किसीसे स्नेह करे, यह एक अद्भुत-सी बात है । सच तो यह है कि सारे संसारमें मोह बड़ा बलवान् है । वह सभी कर्मोंका राजा है ॥८०॥ हे राजन् ! तुम मानके धनी हो । मेरी बुद्धि हर तरहसे तुम्हारा हित करना चाहती है । अतः सुधर्म नामक मुनिसे मैंने जो वृत्तान्त तुम्हारे बारेमें सुना था, उसे सुनाता हूँ । तुम सुनो–– ॥८१॥ अरिंजय नामके देशमें एक विपुल नामका पुर है । वह इन्द्रके पुरके समान है । शत्रुओंके छक्के छुड़ानेवाला राजा जयवर्मा उसका शासक है ॥८२॥ राजमण्डलसे वह टैक्स वसूल करता है–– सभी राजे उसके मातहत थे । वह विजयशील है । उसकी एक शशिप्रभा नामकी कन्या है । उसकी दृष्टि मृगकी है––वह मृगनयनी है, किन्तु उसमें नारीके विलासकी बहुलता है । उसकी कान्ति चन्द्रमाके समान है, किन्तु उसमें कभी लाछन (कलङ्क)

---

१ अ सुधर्मनाम्न । २. अ जयधर्मेति । ३. क ख ग घ म 'दृष्टिरपि भ्रम' । ४ आ प्रीतिम् । ५ श स यस्मिन् । ६ एष टीकानुसारी पाठ प्रतिषु तु °रपि भ्रमप्रहीणा—इत्येव समवलोक्यते । ७ मृगस्य दृष्टिरिव । ८ प्रसङ्ग. सम्बन्धो यस्या सा । ९.=चन्द्रस्येव ।

परिणेष्यति तां य एव धन्यो मदनस्येव धनुर्लतां नताङ्गीम् ।
स भविष्यति पुण्यराशिरेकस्तव हन्ता भरतस्य च प्रभोक्ता ॥ ८४ ॥
इति वाचमदृष्टमुद्गराभां सहसा तस्य निशम्य खेचरेन्द्रः ।
हृदये विषसाद साध्वसोद्यत्प्रचुरस्वेदजलप्लुताङ्गयष्टिः ॥ ८५ ॥
गुणवत्सल मा गमस्त्वमस्मिन्विषये मामकचिन्तयाकुलत्वम् ।
कमपि प्रतिकारमत्र योग्यं प्रविधास्याम्यहमप्रमत्तचित्तः ॥ ८६ ॥
इति देशयतिं नभश्चराणामधिपस्तं विससर्ज नम्रमौलिः ।
अवधार्य च कृत्यमात्मचित्ते तमनैषीद्दिवसं निगूढभावः[1] ॥ ८७ ॥ (युग्मम्[2])

इत्यप्याहार । उत्तमा ॥८३॥ परीति[3] । मदनस्य मन्मथस्य । धनुर्लता धनुषो लतामिव[4] नताङ्गीं स्तनभारेण किंचिदानतशरीराम् । 'असहन' इत्यादिना ङी-प्रत्यय । ता शशिप्रभाम् । धन्य पुण्यवान् । पुण्यराशि पुण्याना सुकृताना राशि समूहो यस्य स । य एव पुरुष[5] एव परिणेष्यति[6] परिग्रही भविष्यति स पुरुष. । एक , तव ते । हन्ता हिंसिता । 'कृत्कार्मुकस्य—' इत्यादिना कर्मणि षष्ठी । भरतस्य भरतक्षेत्रस्य । प्रभोक्ता च पालकश्च । अत्रापि कर्मणि षष्ठी । भविष्यति । भू सत्तायां लट् ॥८४॥ इतीति । खेचरेन्द्र धरणीध्वज । तस्य प्रियधर्मण । अदृष्टमुद्गराभाम् अदृष्टस्यानालोकितस्य मुद्गरस्यायोगदाया आभा समानाम्[7] । इति प्रतीतिभूताम् । वाच वचनम् । निशम्य श्रुत्वा । सहसा शीघ्रम् [साध्वसोद्यत्प्रचुरस्वेदजलप्लुताङ्गयष्टि] साध्वसेन भयेन उद्यत उत्पद्यमानस्य प्रचुरस्य बहुलस्य स्वेदस्य जलेन सलिलेन प्लुता सार्दिता (आर्द्रा) अङ्गस्य गात्रस्य यष्टि (अङ्गयष्टिर्गात्रयष्टि.) यस्य स । हृदये मानसे । विषसाद विखेद (चिखेद) । षद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु लिट् ॥८५॥ गुणेति । गुणवत्सल[8] गुणेषु वत्सल प्रीति र्यस्य तस्य सबोधन भो गुणवत्सल गुणप्रीत[9] । अस्मिन् विषये एतस्मिन् कार्ये । त्व भवान् । मामकचिन्तया मदीयया चिन्तया । 'युस्मदस्मद —' इत्यादिना अञ्[10] तद्योगे ममकादेश[11] । आकुलत्व व्याकुलत्वम् । मा गम मा गच्छ । गम्लृ गतौ लुङ् 'सर्तिशास्ति—' इत्यादिना अङ्-प्रत्यय· । अप्रमत्तचित्त अप्रमत्त प्रमादरहित चित्त यस्य स । अहम्, अत्र कार्ये । योग्यम् अर्हम् । कमपि कचन । प्रतिकार[12] प्रतिकूलम् । प्रविधास्यामि करिष्यामि । डुधाञ् धारणे च ॥८६॥ इतीति । नभश्चराणा विद्याधराणाम् । अधिप प्रभुर्धरणीध्वज । त देशयतिं प्रियधर्मब्रह्मचारिणम् । नम्रमौलि नम्रो मौलिर्यस्य स । विससर्ज विसृष्टवान् । आत्मचित्ते आत्मन

का कोई प्रसग नही आया ॥८३॥ उसका शरीर कामदेवकी धनुर्वल्लरीकी भाँति नमनशील और कोमल है । वह पुरुष धन्य है, जो उसके साथ विवाह करेगा । उसका पुण्यात्मा पति तुम्हे मारनेवाला होगा और फिर भरतक्षेत्रका शासक होगा ॥८४॥ क्षुल्लक प्रियधर्मकी इस बातको––जो जादूसे न दिखनेवाले मुद्गरके प्रहारके समान है––अचानक सुनकर विद्याधरोका राजा अपने मनमे बडा दु खी हुआ । भयके कारण उसका सारा शरीर पसीनेसे सराबोर हो गया ॥८५॥ हे गुणवत्सल ! इस विषयमे आप मेरी चिन्तासे व्याकुल न हो । अब मैं सावधान रहूँगा––अपने मनमे तनिक भी प्रमाद नही करूँगा । और इसके बारेमें कोई योग्य प्रतीकार करूँगा ॥८६॥ यह कहकर विद्याधरोके राजा धरणीध्वजने अभिवादनपूर्वक उन देशव्रती क्षुल्लकजीको वहाँसे विदा कर दिया, और फिर अपने मनमे कर्त्तव्यका निश्चय कर

१ अ सानि गूढ । २ अ आ इ क ख ग घ 'युग्मम्' इति नोपलभ्यते । ३ आ श स परेति । ४ = धनुर्लतामिव कृशाङ्गीमित्यर्थ । ५ = य एष पुरुष । ६ = परिगृहीष्यति । ७ = आभा यस्या सा तां तत्समानामिति यावत् । ८ = गुणेषु वत्सलो गुणवत्सल तत्सबुद्धौ हे गुणवत्सल हे गुणानुरागिन् । ९ आ प्रतावेव 'गुणप्रीत' इति समुपलभ्यते । १० आ अञि, क स अञो । ११ आ मामकादेश । १२ = प्रतिक्रियाम् ।

अपरेद्युरशेषसैन्ययुक्तः स विमानैर्मणिकिङ्किणीकरालैः ।
जयवर्मपुरं[1] रुरोध गत्वा सभयैः पौरजनैर्विलोक्यमानः[2] ॥ ८८ ॥

प्रजिघाय च दूतमुद्धताख्यं वचनज्ञं विनिवेदिताभिसंधिम् ॥
स सभामुपगम्य सूचितात्मा जयवर्माणमिदं[3] वचो बभाषे ॥ ८९ ॥

धरणीध्वज इत्यमोघनामा प्रथितः खेचरचक्रचक्रवर्ती ।[4]
वदतीति भवन्तमक्षताज्ञो नृप मद्वक्त्रनिवेशितैर्वचोभिः ॥ ९० ॥

स्वस्य चित्ते मानसे । कृत्य कार्यम् । अवधार्य निश्चित्य । निगूढभावः निगूढः[5] व्यवहितो[6] भावो यस्य स, सन् । तं दिवसं तद्दिनम् । अनैषीत्[7] प्रापयत् । णीञ् प्रापणे लुङ्[8] ॥८७॥ अपरेद्युरिति । अपरेद्युः अन्यस्मिन् दिने । अशेषसैन्ययुक्तः अशेषैः समस्तैः सैन्यैः सेनाभिर्युक्तः सहितः । स धरणीध्वजः । मणिकिङ्किणीकरालैः मणिभी रत्नैः कृताभिः[9] किङ्किणीभिः क्षुद्रघण्टिकाभिः करालैर्वाचाटैः । विमानैः व्योमयानैः गत्वा प्राप्य । सभयैः भयसहितैः । पौरजनैः पुरजनैः । विलोक्यमानः वीक्ष्यमाणः सन् । जयवर्मपुरं जयवर्मणः पुरं पुरीम् । रुरोध रुणद्धि स्म । रुधृञ् आवरणे लिट् । जातिः[10] ॥८८॥ प्रजिघायेति । वचनज्ञं वचनचातुर्यज्ञम् । विनिवेदिताभिसन्धिं विनिवेदितोऽभिसन्धिरभिप्रायो येन[11] तम् (कथिताभिप्रायमित्यर्थः) । उद्धताख्यम् उद्धत इत्याख्याभिधानं यस्य तम् । दूतं वचोहरम् । प्रजिघाय प्राहिणोत् । हि गतिवृद्धयोर्लिट्[12] । 'हि ध्नोऽङे कु पूर्वात्' इति हे पूर्वात् परस्य कुः कवर्गादेशः । सूचितात्मा सूचितो विज्ञापित आत्मा येन स । स दूतः । सभां सभागृहम् । उपगम्य गत्वा । जयवर्माणं जयवर्मभूपं प्रति । इदं वचः एतद्वचनम् । बभाषे ऊचे । भाषि व्यक्तायां वाचि लिट् ॥८९॥ धरणीध्वज इति । नृप भो नरपते । अक्षताज्ञः अक्षता बाधारहिता[13] आज्ञा शासनं यस्य स । धरणीध्वज इति, अमोघनामा अमोघं सार्थकं नाम यस्य सः । प्रथितः[14] प्रतीतः । खेचरचक्रचक्रवर्ती खेचराणां विद्याधराणां चक्रस्य समूहस्य चक्रवर्ती सार्वभौमः । मद्वक्त्रनिवेशितैः मम वक्त्रे मुखे निवेशितैः[15] स्थापितैः । वचोभिः वचनैः । भवन्तं पूज्यं त्वाम् । इति वक्ष्यमाणप्रकारेण । वदति

लिया । उसने अपना मनोभाव गुप्त रखा । इस प्रकार उसने वह दिन बिताया । ॥८७॥ अगले दिन अपनी सारी सेनाओंको साथ लेकर वह विमानोंसे—जिनमें मणिमय छोटी-छोटी घण्टियोंकी सजावट थी—जयवर्माके नगरमें जा पहुँचा । पहुँचते ही— उसने उसके नगरको चारों ओरसे घेर लिया । उसे देखनेवाले वहाँके निवासी मन-ही-मन बड़े भयभीत हो रहे थे ॥८८॥ और उसने अपने एक उद्धत नामके दूत को—जो बोलनेमें कुशल था—अपना अभिप्राय बतलाकर जयवर्माके पास भेजा । उसने सभामें पहुँचकर और अपना परिचय देकर जयवर्मासे ये वचन कहे—॥८९॥ राजन् ! विद्याधरोंके चक्रवर्ती धरणीध्वजने मेरे-द्वारा आपके पास सन्देश भेजा है । सारे भूमण्डलमें उनके झण्डे लहरा रहे हैं । इसीलिए उनका 'धरणीध्वज' नाम सार्थक है । कोई भी मनुष्य उनकी आज्ञाकी अवहेलना नहीं कर सकता । उनकी सब

---

१ अ °वर्मपुर । २ अ °क्यमानै । ३ अ °वर्माण° । ४ आ इ °राजचक्रवर्ती । ५ = नितरां गूढो गुप्त । ६. आ अव्यवहित° । ७ = निनाय । ८ श स लङ् । ९ = सत्कृताभि । १० आ प्रतौ केवलं, 'जाति.' इत्युपलभ्यते । ११. = यस्मै । १२ श स लिटि । १३ आ °धरहिता° । १४ = प्रसिद्ध । १५ श स निदेशितै ।

तव कापि शशिप्रभाभिधाना दुहितास्त्यर्थसमन्वितेन नाम्ना ।
भवता किल सा विदेशकाय प्रवितीर्णेति मया श्रुतं जनेभ्यः ॥ ९१ ॥
तदिदं शरदभ्रशुभ्रकीर्तेस्तव युक्तं न कुलोन्नतस्य कर्तुम् ।
भवतो भवति ह्यकीर्तिरेवं सति गुर्वी पृथ्वीतले समस्ते ॥ ९२ ॥
विदधाति मतिं सुताविमोहाद्गृहजामातरि यद्यपीह कोऽपि ।
अभिजातिरवश्यमेव तेनाप्यभिमृग्या[1] ननु सा वरेषु मुख्या ॥ ९३ ॥
भवतो ननु पुण्यमत्र हेतुर्यदविज्ञातकुलेन तेन नोढा ।
तदियं स्वकरेण दीयतां मे हठकारः क्रियते मया न यावत् ॥ ९४ ॥

अत्रोति । वद व्यक्तताया वाचि लट् ॥९०॥ तवेति । तव ते । अर्थसमन्वितेन अर्थयुक्तेन-सार्थकेनेत्यर्थ । नाम्ना अभिधानेन । शशिप्रभाभिधाना शशिप्रभा-इत्यभिधान यस्याः सा । कापि काचित् । दुहिता पुत्री । अस्ति किल[2] वर्तते किल[3] । भवता त्वया । सा कन्या । विदेशकाय देशान्तरादागताय । प्रवितीर्णा इति दत्ता इति । मया, जनेभ्य लोकेभ्य । श्रुतम् आकर्णितम् ।.९१॥ तदिति । शरदभ्रशुभ्रकीर्ते॰ शरद शरत्कालस्याभ्रवन्मेघवत् शुभ्रा धवला कीर्तियस्य तस्य । कुलोन्नतस्य कुलेनोन्नतस्य महत । तव भवत । तदिद तदेतत्कार्यम् । युक्त न योग्य न भवति । एव सति, समस्ते निखिले । पृथिवीतले पृथिव्या भूम्या तले । भवत तव । गुर्वी महती । अकीर्ति॰ अपकीर्ति । भवति हि । उपमा ॥९२॥ विदधातीति । इह अस्मिन् । कोऽपि, सुताविमोहात् सुताया पुत्र्या विमोहात् प्रीते । गृहजामातरि गृहस्यागते (गृहमागते) जामातरि दुहितृपतौ । मति बुद्धिम् । विदधाति करोति । तेनापि पुरुषेणापि । वरेषु परिणयनयोग्यपुरुषेषु । मुख्या प्रधाना । सा अभिजाति कुलम् । अवश्यमेव निश्चयेनैव । अभिमृग्या ननु अन्वेषणीया ननु ॥९३॥ भवत इति । अविज्ञातकुलेन अविज्ञातमविदित कुल जातिर्यस्य तेन । तेन वरेण । नोढा न परिणीता । यत्, अत्र कार्ये । भवत॰ तव । पुण्य सुकृतम् । हेतु कारण ननु । अज्ञातकुलपुरुषाय कन्यैतावत्पर्यन्त न दत्ता तदेव तव पुण्यमित्यर्थ । मया, यावत्पर्यन्तम् । हठकार बलात्कार । न क्रियते न विधीयते । तत् तावत् । इयम् एषा । स्वकरेण स्वहस्तेन । मे मह्यम् । दीयता वितीर्यताम् । डुदाञ् दाने कर्मणि लेट् ॥९४॥

जगह प्रसिद्धि है । उनका सन्देश यह है—॥९०॥ आपकी कोई शशिप्रभा नामकी कन्या है । शशी—चन्द्रमाके समान प्रभा होनेसे वह यथानाम तथा गुण है । ऐसी सुन्दर कन्या आप किसी परदेशीको देना चाहते है । उसे आप विवाहका वचन भी दे बैठे हैं, ऐसा मैंने लोगोसे सुना है ॥९१॥ आपकी कीर्ति शरत्कालीन चन्द्रमाकी भाँति शुभ्र है, और आपका कुल भी उन्नत है । अत आपको ऐसा करना योग्य नही है । यदि आप ऐसा ही करेंगे, नही ही मानेंगे तो सारे ससारमे आपका अपयश फैल जायेगा ॥९२॥ यदि कोई पुत्रीके मोहवश अपने घर आये व्यक्तिको वर (जमाई) बनाना चाहता है, तो उसे भी उसके कुलका विचार अवश्य ही करना चाहिए, क्योकि वरमे कुलीनता ही मुख्य रूपसे विचारणीय होती है ॥९३॥ उसके साथ—जिसके कुलका भी कुछ पता नही—तुमने अपनी कन्याका विवाह नही कर दिया, चट मगनी पट ब्याह नही कर डाला, इसमे तुम्हारा पुण्य ही कारण है । अत तुम अपने हाथसे अपनी कन्या मुझे शीघ्र ही सौप दो, जिससे मुझे हठ या बलका प्रयोग न करना पडे ।

---

१ अ °प्यतिमृग्या । २. श स किम् । ३ श स किम् ।

इति तद्वचनैर्विरुद्धचित्तो[1] वचनं भूपतिरभ्यधात्समासात् ।
मतिमानपि दूत कोविदस्त्वं न मनागप्यसि लौकिकक्रियायाम् ॥ ९५ ॥
कुलजोऽकुलजोऽथवास्तु सोऽस्मै न हि दत्ता तनया भवत्यदत्ता ।
यदि कोऽपि बलाद्ग्रहीतुमीशस्त्वरितोऽभ्येतु[2] विलम्बते किमर्थम् ॥ ९६ ॥
इति दूतमसौ विसृज्य[3] राजाजितसेनाय तदाख्यदाशु कार्यम् ।
रचितभ्रुकुटिस्तदा स कोपादिदमूचे श्वशुरं विलोक्य बाहू ॥ ९७ ॥
तव तात न युक्तमाकुलत्वं मयि तिष्ठत्यरिमस्तकैकशूले ।
त्वमिमं प्रविलोकयाद्य मृत्योर्वदने दुष्टनभश्चरं विशन्तम् ॥ ९८ ॥

इतीति । इति एवंविधैः । तद्वचनैः तस्य दूतस्य वचनैः । विरुद्धचित्तः विरुद्धं कोपयुक्तं चित्तं मानसं यस्य सः । भूपतिः जयवर्मा । समासात् संक्षेपात् । वचनं वचः । अभ्यधात् अब्रवीत् । डुधाञ् धारणे च लुङ् । भो दूत भो चर । त्वं मतिमानपि बुद्धिमानपि । लौकिकक्रियायां लोकव्यवहारकार्ये । मानगपि ईषदपि । कोविदः प्रौढः । नासि न भवसि । अस भुवि लट् ॥९५॥ कुलज इति । सः गृहागतो वरः । कुलजः वंशजातः । अथवाकुलजो वा दुष्कुलजो वा । अस्तु भवतु । अस भुवि लेट् । अस्मै एतस्मै । तनया कुमारी । दत्ता वितीर्णा । अदत्ता न वितीर्णा हि वा । न भवतु [भवति] । कोऽपि बलात् बलात्कारात् । गृहीतुं स्वीकर्तुम् । ईशः समर्थश्चेत् । त्वरितः शीघ्र (ता-) युक्तः । अभ्येतु आगच्छतु । किमर्थं किन्निमित्तम् । विलम्बते कालयापनं करोति ॥ ९६ ॥ इतीति । इति अनेन प्रकारेण । असौ राजा जयवर्मभूपः । दूतम् उद्धताख्यदूतम् । विसृज्य[4] गन्तुमाज्ञाप्य । अजितसेनाय अजितसेनकुमाराय । तत्कार्यं धरणीध्वजसबन्धीष्टप्रयोजनम् । आशु शीघ्रम् । आख्यत् अब्रवीत् । ख्या प्रकथने लङ् । तदा तत्समये सः कुमारः । कोपात् रोषात् । रचितभ्रुकुटिः रचिता विहिता भ्रुकुटिर्यस्य (येन) सः । बाहू भुजौ । विलोक्य वीक्ष्य । श्वसुरं मातुलं (?) प्रति । इदं वक्ष्यमाणवचनम् । ऊचे जगाद । ब्रूञ् व्यक्तायां वाचि लिट् । 'अस्तिब्रुवोर्भूवचौ' इति वचादेशः । 'वच्यादिस्वब्वच किति' इति यत्र इक् ॥ ९७ ॥ तवेति । तात भो पूज्य । 'तातोऽनुकम्प्ये जनके' इति विश्वः । अरिमस्तकैकशूले अरीणां शत्रूणां मस्तकानामेकं केवलं शूलमिव अरिमस्तकैकशूलं तस्मिन् । मयि तिष्ठति विद्यमाने सति । तव भवतः । आकुलत्वं व्याकुलत्वम् । न युक्तं न योग्यम् । अद्य इदानीम् । मृत्योः यमस्य । वदने मुखे । विशन्तं गच्छन्तम् । इमम् एतम् । दुष्टनभश्चरं दुष्टविद्याधरम् । त्वं विलोकय पश्य । लोकृञ् दर्शने णिजन्ताल्लोट्

मेरे हठ करनेके पहले ही तुम अपनी कन्या मुझे दे दो ॥९४॥ दूतके इन वचनोंको सुनकर उसने संक्षेपमे दूतसे ये वचन कहे—दूत ! तुम बुद्धिमान् हो, फिर भी लोकव्यवहारमे सर्वथा अनभिज्ञ हो—लौकिक व्यवहारको तुम तनिक भी नही जानते ॥९५॥ जिसे मैं अपनी कन्या दे चुका हूँ, वह कुलीन हो या अकुलीन, पर अब कुछ नही हो सकता । दी गयी कन्या अब नही दी गयी, नही हो सकती । यदि कोई उसे बलात् ग्रहण करनेमे समर्थ है, तो तुरन्त चला आये, विलम्ब क्यो कर रहा है ? ॥९६॥ यह कहकर राजाने दूतको विदा किया, और शीघ्र ही अजितसेनको वे सारी बाते सुना दी, जो दूतके साथ हुईं । उन बातोको सुनकर मारे क्रोधके उसकी भृकुटि तन गयी । फिर वह अपने बाहुओंको देखकर अपने श्वसुरसे यों बोला—॥९७॥ पिताजी, मै शत्रुओका सिरदर्द हूँ । मेरे रहते हुए आपका व्याकुल होना योग्य नही—आप व्याकुल न हो । उस दुष्ट विद्याधरको आप आज ही मृत्युके मुखमे घुसते देखना ॥९८॥

---

१ क ख ग घ म °रुद्धचेता° । २. अ °रित सोऽस्तु । ३ अ आ इ विसर्ज्य । ४ श स विसर्ज्य । ५ आ °ध्वज सदिष्ट° । ६ आ लिट् ।

इति चित्तममुष्य धीरयित्वा हृदि सस्मार दृढस्मृतिर्हिरण्यम् ।
स्मृत एव पुरोऽभवद्गृहीत्वा स रथ रोपितदिव्यशस्त्रजालम् ॥ ९९ ॥
अधिरुह्य स तत्र विस्मितास्यैः पुरलोकैश्च परैश्च दृश्यमानः ।
सुरसारथिरुत्पपात शत्रोरभिसैन्यं शरसंहतीर्विमुञ्चन् ॥ १०० ॥
तमुदीक्ष्य खरांशुवद्दुरीक्ष्यं प्रभुलज्जाविवशीकृताः प्रहर्तुम् ।
शरशक्तिरथाङ्गकुन्तहस्ता सह संभूय डुढौकिरे नभोगाः ॥ १०१ ॥
निखिलानमितानलक्ष्यमोक्षैः[1] सममक्षत्रधियागतान्पृषत्कैः ।
समकोचयदप्रकम्पधैर्यः कुमुदानीव करैः सरोजबन्धुः ॥ १०२ ॥

॥ ९८ ॥ इतीति । अमुष्य एतस्य । चित्त मानसम् । इति अनेन प्रकारेण । धीरयित्वा धैर्यवत्कृत्वा । हृदि हृदये । दृढमति दृढा मतिर्बुद्धिर्यस्य स । हिरण्यं हिराण्याख्यदेवम् । सस्मार स्मरति स्म । स्मृत एव स्मृतमात्र । स हिरण्यदेव । रोपितदिव्यशास्त्रजाल रोपित पूरित दिव्याना शस्त्राणामायुधाना जाल यस्मिन् तम् । रथ स्यन्दनम् । गृहीत्वा आनीय । पुर अग्रे । अभवत् अभूत् । भू सत्ताया लुङ् ॥ ९९ ॥ अधीति । सुरसारथि सुर एव हिरण्य एव सारथि सूतो यस्य स । स. कुमार । तत्र रथे । अधिरुह्य आरुह्य । विस्मितास्यै विस्मितमाश्चर्योपितमास्य मुख येषा तै । पुरलोकैश्च पौरजनैश्च । परैश्च शत्रुभिश्च दृश्यमान प्रेक्ष्यमाणः । दृश् प्रेक्षणे कर्मण्यानश्–प्रत्यय. । शरसहृति शराणा बाणानां सहृति समूहम् । विमुञ्चन् विसृजन् । शत्रो वैरिण. । अभिसैन्य सेनाभिमुख यथा तथा । उत्पपात उज्जगाम । पत्लृ गतौ लिट् ॥ १०० ॥ तमिति । खरांशुवद्दुरीक्ष्य खरांशु सूर्यस्तद्वद्दुरीक्ष्य दुर्दर्शम् । त कुमारम् । उदीक्ष्य विलोक्य । प्रभुलज्जावशीकृता प्रभ्वा महत्या लज्जया त्रपया वशीकृता परवशीकृता. । शरशक्तिरथाङ्गकुन्तहस्ताः शराश्च शक्तयश्च रथाङ्गानि चक्राणि तानि च कुन्ताश्च प्रासाश्च तथोक्ता', त एव हस्तेषु येषा ते तथोक्ता. । 'प्रहरणात् सप्तमी च' इति पूर्वनिपात । नभोगा विद्याधरा । सह युगपत् । सभूय मिलित्वा । प्रहर्तुं सग्राम कर्तुम् । डुढौकिरे ययुः । ढौकृङ्[2] गतौ लिट् । उपमा ॥ १०१ ॥ निखिलानिति । अप्रकम्पधैर्यम् अप्रकम्प निश्चल धैर्यं यस्य स । अक्षत्रधिया अक्षत्र इति क्षत्रियो न भवतीति धिया बुद्धया । सम युगपत् । आगतान् आयातान् । निखिलानपि सकलानपि । तान् विद्याधरान् । अलक्ष्यमोक्षै. अलक्ष्योऽदृश्यो मोक्षो मोक्षण येषां तैः ।

इस तरह जयवमकि मनमे धैर्य उत्पन्न कर अजितसेनने हिरण्य नामके देवका स्मरण किया। अजितसेनकी स्मृति बडी प्रबल थी। यही कारण है जो ऐन मौकेपर, उसे सकटमे सहायताका वचन देनेवाले हिरण्यका स्मरण हो आया। स्मरण करते ही वह दिव्य शस्त्रोंसे भरे हुए रथको लेकर उसके सामने उपस्थित हुआ ॥९९॥ वह उसपर सवार हो गया और उसके आगे वह देव, सारथी बनकर बैठ गया। पुरके निवासी और शत्रु, सभी उसे आश्चर्यसे देख रहे थे। फिर बाणोकी वर्षा करता हुआ वह शत्रु-सेनाका सामना करनेके लिए चल पडा ॥१००॥ राजकुमार प्रचण्ड मार्तण्डकी भाँति तेजस्वी था, नजर उठाकर उसकी ओर देखना कठिन था। उसे आते देखकर विरोधी विद्याधर बहुत भारी लज्जासे विवश हो उठे। फिर बाण, शक्ति, चक्र और भाले अपने-अपने हाथोमे लेकर वे सब मिलकर राजकुमारके ऊपर प्रहार करनेके लिए आगे बढे ॥१०१॥ इस तरह क्षत्रियधर्मको ताकमे रखकर अगणित सख्यामे आये हुए समस्त विद्याधरोको देखकर राजकुमार तनिक भी नही घबराया। उसके बाणोको—जिनका छोडना अदृश्य था—देखकर सभी विरोधी विद्याधर सकोचमे पड गये। जैसे सूर्यकी किरणोंके कारण कुमुद सकोचमे पड जाते हैं—सकुचित हो जाते हैं। जिस तरह सूर्य अपनी किरणोसे

१ क ख ग घ म °लक्षमोक्षै.। २ श स ढौकृन्।

तमसाध्यमवेत्य मानुषास्त्रैरवलोक्य स्वबलं विहन्यमानम् ।
मुमुचे धरणीध्वजेन कोपादरिमोहप्रवणेन तामसास्त्रम् ॥ १०३ ॥
तिमिरप्रविधायि धावमानं स तदुद्वीक्ष्य तिरोहिताखिलाशम् ।
सुरदत्तविसर्जितेन सद्यस्तपनास्त्रेण निवारयांबभूव ॥ १०४ ॥
भुजगान्गरुडेन वह्निमब्दैः कुलिशेनाचलमुद्यमेन तन्द्राम् ।
पवनेन पयोधरान्स शत्रो रुरुधे विघ्नविनायकेन सिद्धिम् ॥ १०५ ॥
स ततो हतहेतिरुग्रकोपादसिमुद्यम्य समापतञ्जवेन ।
विगतासुरकार्यमोघशक्त्या हृदि निर्भिद्य शशिप्रभाप्रियेण ॥ १०६ ॥

पृषत्कैः बाणैः । 'पृषत्कबाणविशिखाः' इत्यमरः । सरोजबन्धुः दिवाकरः । करैः किरणैः । कुमुदानीव कुवलयानीव । समकोचयत्[1] सङ्कोचमकरोत् । कुच संकोचने[2] लङ् । उत्प्रेक्षा (उपमा) ॥ १०२ ॥ तमिति । मानुषास्त्रैः मानुषैर्मनुष्यसंबन्धैः सामान्यैरित्यर्थः । अस्त्रैः बाणैः । तं कुमारम् । असाध्यं साधयितुमशक्यम् । अवेत्य ज्ञात्वा । हन्यमानं हिंस्यमानम् । स्वबलं च स्वसैन्यं च । अवलोक्य वीक्ष्य । अरिमोहप्रवणेन अरेः शत्रोर्मोहस्य करणे प्रवणेन समर्थेनेत्यर्थः । धरणीध्वजेन धरणीध्वजखचराधिपेन । कोपात् रोषात् । तामसास्त्रं तमोबाणः । मुमुचे मुच्यते स्म । मुच्लृ मोक्षणे कर्मणि लिट् ॥ १०३ ॥ तिमिरेति । स कुमारः । तिमिरप्रविधायि तिमिरमन्धकारं प्रविधत्ते तच्छील तमःप्रसारकमित्यर्थः । धावमानं गच्छन् । तिरोहिताखिलाशं तिरोहिता व्यवहिता अखिला निखिला आशा दिशो येन तत् । तत् अस्त्रम् । उद्वीक्ष्य विलोक्य । सुरदत्तविसर्जितेन सुरेण हिरण्येन दत्तं तेन विसर्जितेन विमुक्तेन—पूर्वं हिरण्याख्यदेवेन दत्तं पश्चादनेन कुमारेण विसर्जितमित्यभिप्रायः । तपनास्त्रेण सूर्यप्रकाशबाणेन । सद्य[3] तदैव । निवारयांबभूव निवारयति स्म । वृञ् वरणे णिजन्तात् लिट् । जातिः ॥ १०४ ॥ भुजगानिति । स कुमारः । भुजगान् भुजगबाणान् । गरुडेन गरुडबाणेन । वह्निं वह्निबाणम् । अब्दैः मेघबाणैः । अचलं पर्वतबाणम् । कुलिशेन वज्रबाणेन । तन्द्राम् आलस्यबाणम् । उद्यमेन उद्योगबाणेन । पयोधरान् मेघबाणान् । पवनेन वायुबाणेन । सिद्धिं कार्यसिद्धिबाणम् । विघ्नविनायकेन विघ्नविनायकबाणेन । रुरुधे रुणद्धि स्म । रुधिर् आवरणे लिट् ॥ १०५ ॥ स इति । ततः पश्चात् । हतहेतिः हता नष्टा हेतय आयुधानि यस्य सः । सः धरणीध्वजः । उग्रकोपात् तीक्ष्णरोषात् । असिं खड्गायुधम् । उद्यम्य कोशादपनीय । जवेन शीघ्रम् । समापतन्[4] समापतमानः । शशिप्रभाप्रियेण शशिप्रभायाः

कुमुदोंको संकुचित कर देता है, उसी प्रकार उसने अपने बाणोंसे प्रतिद्वन्द्वियोंको संकुचित कर दिया ॥१०२॥ राजा धरणीध्वजने मानवोंके मामूली हथियारोंसे अजितसेनको अजेय जानकर और अपनी सेनाको बुरी तरह मरते देखकर विरोधीके ऊपर मोहकी चादर डालनेके लिए क्रुद्ध होकर तामस (अन्धकार फैलानेवाला) अस्त्र छोड़ा ॥१०३॥ राजकुमारने यह देखकर कि अन्धकार फैलानेवाला और सभी दिशाओंको छिपा देनेवाला तामस अस्त्र सामने बड़े वेगसे चला आ रहा है, हिरण्यदेवके द्वारा समर्पित तपनास्त्र-सूर्यास्त्रका प्रयोग किया। उसके प्रयोगसे उसने शीघ्र ही तामसास्त्र (तामस अस्त्र) का निवारण कर दिया ॥१०४॥ इसके पश्चात् अजितसेनने धरणीध्वजके द्वारा प्रयुक्त भुजगास्त्रको अपने गरुडास्त्रसे, आग्नेय अस्त्रको मेघास्त्रसे, पर्वतास्त्रको वज्रास्त्रसे, तन्द्रास्त्रको उद्यमास्त्रसे, मेघास्त्रको वायव्य अस्त्रसे और सिद्धि-अस्त्रको विघ्नविनायक अस्त्रसे रोका ॥१०५॥ इस तरह धरणीध्वजके सभी आयुध व्यर्थ कर दिये गये। तब उसे बड़ा क्रोध आया, अतः वह म्यानसे तलवार निकालकर अजितसेनके ऊपर

---

१. म॰ इत्यपि । २. म॰ संकोचनमात्र । ३. मा॰ दयोऽपि । ४. म॰ शीघ्रम् । ५. म॰ तत्र पतन् ।

निहतप्रमुखे ततोऽरिसैन्ये नगमुड्डीय गते समं वयोभिः ।
प्रविसर्ज्य[1] हिरण्यमक्षताङ्गः स पुरं पौरकृतोत्सवं विवेश ॥ १०७ ॥
अथ पुण्यदिने मुहूर्तमात्रान्मिलिताशेषपरिच्छदो महेच्छः ।
गुरुणा निरवर्तयद्विवाहं जयवर्मा[2] दुहितुर्महोत्सवेन ॥ १०८ ॥
विधिना परिणीय राजपुत्रीं युवराजः कतिचिद्दिनान्युषित्वा ।
श्वशुरानुमतो जगाम शीघ्रं स्वपुरीमुत्सुकसर्वबन्धुलोकाम् ॥ १०९ ॥
अतिदूरतरोऽपि तेन सोऽध्वा जनकाश्वासनलोलमानसेन ।
दिवसैरतिसंमितैर्ललङ्घे जनयत्युत्सुकता न कस्य बन्धुः ॥ ११० ॥

प्रियेण कान्तेन । अमोघशक्त्या अमोघया सफलया शक्त्या शक्त्यायुधेन । हृदि वक्षसि । निर्भिद्य विदार्य । विगतासुः विगता अपगता असवः प्राणा यस्य सः । अकारि अक्रियत । डुकृञ् करणे कर्मणि लुङ् ॥ १०६ ॥ निहतेति[3] । ततः पश्चात् । निहतप्रमुखे निहितो हिंसितः प्रमुखो मुख्यनायको यस्य तस्मिन् । अरिसैन्ये अरेः शत्रोः सैन्येऽनीके । वयोभिः पक्षिभिः । साकं समम् । उड्डीय आकाशमुत्पत्य । नगं विजयार्धपर्वतम् । गते प्राप्ते याते सति । हिरण्यं हिरण्याख्यदेवम् । प्रविसर्ज्य प्रहित्य । अक्षताङ्गः अक्षतमबाधितमङ्गं शरीरं यस्य सः । स अजितसेनः । पौरकृतोत्सवं पौरैः पुरजनैः कृत उत्सवो यस्य[4] तत् । पुरं विपुलपुरम् । विवेश विशति स्म । विश प्रवेशने लिट् ॥ १०७ ॥ अथेति । अथ पुरप्रवेशानन्तरम् । पुण्यदिने शुभदिवसे । मुहूर्तमात्रात् अल्पकालमात्रात् । मिलिताशेषपरिच्छदः मिलितः संचितोऽशेषः समस्तः परिच्छदः परिकरो यस्य सः । महेच्छः[5] गभीर[6] जयवर्मा जयवर्मभूपतिः । गुरुणा[7] महता । महोत्सवेन[8] महोत्साहेन । दुहितुः पुत्र्याः । विवाहं पाणिग्रहम् । निरवर्तयत् अकरोत् ॥ १०८ ॥ विधिनेति । युवराजः अजितसेनः । राजपुत्रीं राजसुतां शशिप्रभाम् । विधिना विधानेन । परिणीय[9] विवाहं कृत्वा । कतिचित् कियन्ति । दिनानि[10] दिवसपर्यन्तम् । उषित्वा स्थित्वा । श्वसुरानुमतः सन् श्वसुरस्य मातुलस्यानुमतः सम्मतः सन् । उत्सुकसर्वबन्धुलोकाम् उत्सुकाः सर्वे विश्वे बान्धवा एव लोका यस्याः ताम् । स्वकम् (?) । स्वपुरीं साकेतपुरीम् (?) । शीघ्रं त्वरितम् । जगाम ययौ । गम्लृ गतौ लिट् ॥ १०९ ॥ अतीति । जनकाश्वासनलोलमानसेन जनकस्य पितुः आश्वासने विश्रम[11]– (विश्रम्भ-) करणे लोलं[12] लम्पटं मानसं यस्य तेन अजितसेनकुमारेण । सोऽध्वा स मार्गः । अतिदूरतरोऽपि अत्यन्तविप्रकृष्टतरोऽपि । अतिसमितैः परिमितैः । दिवसैः दिनैः । ललङ्घे गम्यते स्म । बन्धुः बान्धवः । कस्य, उत्सुकताम्

तीव्र वेगसे झपटा। पर शशिप्रभाके प्रिय (अजितसेन) ने सीनेपर अमोघ शक्तिका प्रहार करके उसकी जीवनलीला समाप्त कर दी ॥१०६॥ इसके पश्चात् स्वामीके दिवगत होते ही उसकी सेना पक्षियोंके साथ उडकर विजयार्ध पर्वतकी ओर चली गयी और राजकुमार अजितसेनने हिरण्यको विदाई देकर सकुशल विपुलपुरमे—जहाँ पुरवासी उत्सव मना रहे थे—प्रवेश किया ॥१०७॥ फिर उदार हृदय राजा जयवर्माने शीघ्र ही सब प्रकारकी समाग्री एकत्रित करके महान् उत्सव और उत्साहके साथ शुभ दिनमे अपनी कन्याका विवाह कर दिया ॥१०८॥ राजकुमारी शशिप्रभासे विधिपूर्वक विवाह करके युवराज अजितसेन कुछ दिन ससुरालमे रहा। फिर श्वसुरसे अनुमति लेकर उसने शीघ्र ही अपनी नगरीको प्रस्थान कर दिया, जहांपर सभी बन्धु-बान्धव उससे मिलनेके लिए लालायित थे ॥१०९॥ अपने पिताको आश्वासन देनेके लिए उसका मन उतावला हो रहा था, अत बहुत लम्बे रास्तेको उसने बहुत ही थोडे दिनोमे

१ म प्रविसृज्य । २ अ जयधर्मा । ३ श स विहितेति । ४ =यस्मिन् । ५ =महाशयः । 'महेच्छस्तु महाशय'। ६ आ गम्भीरबुद्धिः । ७ =गुरुजनेन समम् । ८ =महामहेन । ९ =उद्वाह्य । १० =अहानि । ११ श स विक्रम° । १२. =सतृष्णम् ।

श्रुत्वा तं सकलत्रमुद्धृतरिपुं भूत्या महत्यागतं
बिभ्राणः प्रमदोदयान्निजतनुं [1] पुष्यत्कदम्बाकृतिम् ।
निर्गत्यानुगतः पिता परिजनैः पौरैश्च जातोत्सवै-
रानन्दाश्रुतरङ्गितेक्षणयुगः प्रावेशयत्पत्तनम् ॥ १११ ॥

इति श्रीवीरनन्दिकृतावुदयाङ्के चन्द्रप्रभचरिते महाकाव्ये षष्ठः सर्गः ॥६॥

■

उद्युक्तताम् । [न] जनयति [न] उत्पादयति, अपि तु [2] जनयत्येव । जनैङ् प्रादुर्भावे लट् । अर्थान्तरन्यासः ॥ ११० ॥ श्रुत्वेति । उद्धृतरिपुम् उद्धृता रिपव शत्रवो येन तम् । सकलत्र वनितासहितम् । महत्या भूत्या विभूत्या । आगतम् आयातम् । त कुमारम् । श्रुत्वा आकर्ण्य । प्रमदोद गात् प्रमदस्य सतोषस्योदयादुद्गमात् । पुष्यत्कदम्बाकृति पुष्यतो विकसत कदम्बस्य नीपवृक्षस्याकृतिर्यस्यास्ताम् । निजतनु स्वशरीरम् । बिभ्राण धरमाण । [पिता जनक] । जातोत्सवै उत्पन्नोत्सवयुक्तैः । परिजनै सेवकजनै । पौरै पुरजनैः । अनुगत. [3] पश्चादागत । निर्गत्य निर्याय । आनन्दाश्रुतरङ्गितेक्षणयुग आनन्दाज्जातेनाश्रुणा नेत्रोदकेन तरङ्गितमूर्मितमीक्षणयोर्नयनयोर्नेत्रयोर्युग युगल यस्य स, सन् । पत्तन पुरम् । प्रावेशयत् प्रवेशयति स्म । विश प्रवेशने णिजन्ताल्लङ् ॥ १११ ॥

इति वीरनन्दिकृतावुदयाङ्के चन्द्रप्रभचरिते महाकाव्ये तद्व्याख्याने च
विद्वन्मनोवल्लभाख्ये षष्ठ. सर्ग. ॥६॥

■

समाप्त कर दिया । बन्धुजन किसे उत्सुक नही बना देते ? ॥११०॥ अजितसेनके पिताने जब यह समाचार सुने कि अजितसेनने सग्राममे शत्रुओके छक्के छुडा दिये हैं , उसका विवाह हो गया है ; वह नगरके बाहर आ गया है , अपने साथ बहुत अधिक सम्पत्ति भी लाया है, तब उसे बडा हर्ष हुआ, और हर्षसे उसके शरीरमे रोमाच हो आये, जिससे वह विकसित कदम्बकी भाँति हो गया । वह अपने परिजन और पुरजनोके—जिन्होने खूब उत्सव मनाया है—साथ अपने नगरके बाहर पहुँचा । वहाँ अपने पुत्र अजितसेनको देखकर उसे बहुत आनन्द हुआ, और आनन्दसे उसकी आँखोमे अश्रुधारा प्रवाहित होने लगी । उसने उसे नगरमे प्रवेश कराया ॥१११॥

इस प्रकार महाकवि वीरनन्दी विरचित उदयाक चन्द्रप्रभचरित महाकाव्यमें
छठा सर्ग समाप्त हुआ ॥६॥

■

---

१. म पुष्यत् । २ = सर्वस्यापि । ३ – ननुगत ।

[७. सप्तमः सर्गः]

पूर्वजन्मकृतपुण्यकर्मणः पाकशासनसमानतेजसः ।
चक्ररत्नमथ तस्य खण्डिताऽरातिचक्रमुदपादि चक्रिणः ॥ १ ॥
रश्मिजालजटिलीकृताखिलव्योम दुःसहनिरीक्ष्यविग्रहम् ।
यद्व्यभाव्यत विलोक्य मानवैर्भानुबिम्बमिव सेवयागतम् ॥ २ ॥
त्रासितारिरुदभून्निजद्युतिद्योतितद्युविवरो महानसिः ।
दृश्यजिह्व इव तेन चक्रिणं छद्मना स्वयमसेवतान्तकः ॥ ३ ॥

---

[1] प्रक्षीणघातिस(क)चतुष्टयलब्धबोधदृग्वीर्यसौख्यसदनन्तचतुष्टयार्हं ।
आनम्रभव्यजनतासुखदानशील पायादनन्तजिनपो जगतीमनन्ताम् ॥

पूर्वेति । अथ पुरप्रवेशानन्तरम् । पूर्वजन्मकृतपुण्यकर्मण. पूर्वस्मिन् जन्मनि कृत विहितं पुण्यकर्म येन तस्य । पाकशासनसमानतेजस पाकशासनस्य देवेन्द्रस्य समान सकाश तेज प्रतापो यस्य तस्य । अजितसेनस्य, चक्रिण सार्वभौमस्य । खण्डितारातिचक्र खण्डित विभिन्नमरातीनां शत्रूणा चक्र यस्य[2] तत् । चक्ररत्नं चक्रमेव रत्न तथोक्तम् । रूपकम् । उदपादि उदपद्यत । पदि गतौ लुङ् ॥१॥ रश्मीति । रश्मिजालजटिलीकृताखिलव्योम रश्मीना किरणाना जालेन समूहेन जटिलीकृत वेणीकृतमखिल व्योमाकाश यस्य (येन) तत् । दु सहदुरीक्ष[3] (क्ष्य–) विग्रह दु सह सोढुमशक्यो दुरीक्ष (क्ष्य) द्रष्टुमशक्यो विग्रहो गात्र यस्य तत् । यत् चक्रम् । मानवै मनुष्यै । विलोक्य वीक्ष्य । सेवया वरिवस्यया । 'वरिवस्या तु शुश्रूषा सेवाभक्तिरुपासना' । आगतम् आयातम् । भानुबिम्बमिव भानो सूर्यस्य बिम्बमिव मण्डलमिव । व्यभाव्यत निरचीयत[4] । भू[5] कृपोपकल्पने लङ् । उत्प्रेक्षा ॥२॥ त्रासितेति । त्रासितारि त्रासिता अरयो येन स । निजद्युतिद्योतितद्युविवर निजस्य द्युत्या कान्त्या द्योतित प्रकाशित दिव आकाशस्य विवर मध्य येन तत् (स) । महान् असि खड्गरत्नम् । उद्भूत् उदेति स्म । भू सत्ताया लुङ् । तेन छद्मना[6] खड्गव्याजेन । दृश्यजिह्व दृश्या जिह्वा यस्य स । अन्तक इव यम इव । स्वय, चक्रिण चक्रवर्तिनम् । असेवत असेविष्ट । षेवृङ्[7] सेवने लङ् । उत्प्रेक्षा ॥३॥

इसके पश्चात् पूर्व जन्ममे पुण्य कमानेवाले और इन्द्रके समान तेजस्वी चक्रवर्ती अजितसेनके यहाँ शत्रुओका दमन करनेवाला चक्ररत्न उत्पन्न हुआ ॥१॥ उसकी किरणोका जाल पूरे आकाशमे फैला हुआ था । तीव्र तेजसे युक्त होनेसे वह दर्शकोके नेत्रोको असह्य था, और इसीलिए लोगोंको उसकी ओर देखना कठिन था । उसे देखकर लोग समझते थे कि राजसेवाके निमित्तसे जैसे सूर्यमण्डल आ गया हो ॥२॥ उसके यहाँ खड्गरत्न उत्पन्न हुआ । उसे देखकर अजितसेनके शत्रु भयभीत हो गये । उसकी कान्तिसे आकशका मध्यभाग प्रकाशित हो उठा । उसे देखकर ऐसा जान पडता था मानो वह अदृश्य रूपमे चक्रवर्तीकी सेवा करनेवाले

---

१. आ प्रतौ पद्यमिद नोपलभ्यते । २ = येन । ३ एष टीकानुगत पाठ, प्रतिषु तु 'निरीक्ष्य' इत्येव पाठ समुपलभ्यते । ४ आ विरचीयत । ५. श स आ । ६ आ श स व्याजेन । ७. स श षेवृ ।

वज्रपांसुजलघर्मवारणं जातमिन्दुरुचि घर्मवारणम् ।
व्यञ्जितुं कमलया स्वसेवन पाणिपद्ममिव संप्रदर्शितम् ॥ ४ ॥
सिन्धुतोयतरणादिषु क्रियासूपयोगगमेन गर्वितम् ।
पुण्यवैभववशीकृतं विभोश्चर्मरत्नमगमद्विधेयताम् ॥ ५ ॥
ज्योतिरुज्ज्वलमनल्पमण्डलं[1] यद्व्यराजदवनौ प्रसारितम् ।
चक्रभृन्महिमनिर्जितं नभ. संप्रकुच्य तमिवाश्रय गतम् ॥ ६ ॥
वृत्तिमद्रिकुलिशादिभेदनप्रायकर्मसु दधत्पटीयसीम् ।
दण्डरत्नमभवद्भवान्तरोपार्जितोर्जितशुभाभ्युदीरितम् ॥ ७ ॥

वज्रेति । वज्रपांसु[2]जलघर्मवारण वज्रस्याशने [3]पांसोर्धूल्या जलस्य सलिलस्य घर्मस्य चातपस्य च वारण निवारणम् । इन्दुरुचि इन्दोश्चन्द्रस्येव रुचि. कान्तिर्यस्य तत् । घर्मवारण छत्ररत्नम् । कमलया लक्ष्मीदेव्या । स्वसेवन निजसेवनम् । व्यञ्जितु प्रकाशितुम् । पाणिपद्म पाणिरेव पद्मम् । रूपकम् । स [प्र] दर्शितमिव सविलोकितमिव । जातम् उत्पन्नम् । उत्प्रेक्षा ॥४। सिन्ध्विति । सिन्धुतोयतरणादिषु सिन्धो समुद्रस्य तोयस्य जलस्य[4] तरणादिषु प्लवनादिषु । क्रियासु कार्येषु । उपयोगगमनेन उपयोगस्य प्रयोजनस्य गमनेन प्राप्त्या । गर्वितम् अहंकारितम् । पुण्यवैभववशीकृत पुण्यस्य सुकृतस्य वैभवेन सामर्थ्येन वशीकृतमधीनकृतम्[5] । चर्मरत्न चर्माख्यरत्नम् । विभो चक्रिण । विधेयता वशत्वम् । अगमत् अगच्छत् । गम्लृ[6] गतौ लुङ् । 'सर्तिशास्ति—' इत्यादिना अङ्-प्रत्यय· ॥५॥ ज्योतिरिति । ज्योतिरुज्ज्वल ज्योतिषा कान्त्या उज्ज्वल प्रज्वलम्, पक्षे ज्योतिर्भि पञ्चविधज्योतिर्भिरुज्ज्वलम् । अनल्पमण्डलम् अनल्पं बहुल मण्डल प्रदेशो यस्य तत्, पक्षे अनल्पमण्डल विस्तृतबिम्बम् । अवनौ भूम्याम् । प्रसारित[7] मदुतारित[8](?) विस्तृत वा यत्सूर्यमण्डलम् । चक्रभृन्महिमनिर्जित चक्रभृतश्चक्रवर्तिनो महिम्ना निर्जित विजितम् । नभ गगनम् । संप्रकुच्य सकोचन कृत्वा । त चक्रिणम् । आश्रयम् आधारम् । गतमिव यातमिव । व्यराजत् व्यभासत । राजृ दीप्तौ लङ् । श्लेषोपमा ॥६॥ वृत्तिमिति । अद्रिकुलिशादिभेदनप्रायकर्मसु अद्रिकुलिशादीना पर्वतवज्रादीना भेदनेषु प्रायकर्मसु बहुक्रियासु । 'प्रायो भूम्न्यन्तगमने' इत्यमरपाठाददन्तत्व प्रायशब्दस्य । पटीयसीं[9] प्रकृष्टपटुम् । वृत्ति वर्तनाम् । दधत् धरन् । भवान्तरोपार्जितशुभाभ्युदीरित भवान्तरे जन्मान्तरे उपार्जितेन शुभेन

यमराजकी जीभ दृष्टिगोचर हो रही हो ॥३॥ उसके यहाँ छत्ररत्न उत्पन्न हुआ । वह वज्र, धूलि, जल और धूपको रोकनेवाला और चन्द्रमण्डलके समान सफेद था । उसे देखकर ऐसा जान पड़ता था मानो चक्रवर्ती अजितसेनकी सेवामे उपस्थित होकर स्वयंकी सेवा व्यक्त करनेके लिए लक्ष्मीके द्वारा प्रदर्शित किया गया, उसका कर-कमल हो ॥४॥ उसके यहाँ चर्म-रत्न उत्पन्न हुआ । यो वह समुद्रके जलमे तैरने आदि अनेक कार्योमे उपयोगी होनेसे सगर्व-सा था किन्तु चक्रवर्तीके पुण्यके वैभवसे प्रभावित होकर उसकी इच्छाके अनुसार प्रवृत्ति करनेवाला हो गया ॥५॥ वह चर्मरत्न ऐसा जान पडता था मानो चक्रवर्ती अजितसेनकी महिमासे पराजित होकर जगमगाती ज्योतिसे उज्ज्वल और विशाल मण्डलवाला आकाश सकुचित होकर उसकी शरण पाकर, उसके घर, पृथ्वीमे फैला हुआ पडा हो ॥६॥ चक्रवर्तीके जन्मान्तरोमे सचित शुभ कामोको प्रेरणासे उसके यहाँ दण्डरत्न उत्पन्न हुआ, जो पर्वत और वज्र आदि

१ इ °मण्डन । २. श स° पांशु° । ३. श स पांशो । ४=तोये जले । ५. °मधीनीकृतम् । ६ श स गम् गतौ । ७.=विस्तारितम् । ८ श स 'प्रसारित मदुतारितम्' इति नोपलभ्यते । ९ =प्रकर्षेण पट्वीम् ।

यद्रराज निजभासुरप्रभाभासिताखिलनभोदिगन्तरम् ।
तद्भयाधिगतवेपथोश्च्युतं वासवस्य कुलिशं करादिव ॥ ८ ॥
भास्करादिरगगोचरीभवद्ध्वान्तपाटनविधौ पटीयसी ।
किंकरत्वमभजत्समुज्ज्वला तारकाधिपकलेव काकिणी ॥ ९ ॥
प्रोद्बभूव नवमेघमेचकप्रान्तवर्तितिमिरक्षतिक्षमः ।
रत्नदर्पण इव श्रियः स्फुरद्दीपभासुरशिखः शिखामणि ॥ १० ॥
स्यन्दमानमदनिर्झरश्चलच्चारुचामरविराजितो गजः ।
तद्गुरुत्वगुणनिर्जितश्छलाच्छैलराडिव ययावुपानतिम् ॥ ११ ॥

शुभनामकर्मणाभ्युदोरित प्रेरितम् । दण्डरत्नम्, अभवत् अभूत् । भू सत्ताया लङ् ॥७॥ यदिति । यत् दण्डरत्नम् । निजभासुरप्रभाभारभासितनभोदिगन्तर निजस्य स्वस्य भासुराणा देदीप्यमानाना प्रभाणा कान्तीना भारेण समूहेन भासित प्रकाशित नभसो गगनस्य दिशा ककुभामन्तर मध्य यस्य (येन) तत् । तद्भयाधिगतवेपथो *तस्मादजितसेनाज्जातभयाद्भीतेरधिगतः प्राप्तो वेपथु कम्पन यस्य (येन) तस्य । वासवस्य देवेन्द्रस्य ।* करात् हस्तात् । च्युत पतितम् । कुलिशमिव वज्रमिव । रराज राजति स्म । राजृ दीप्तौ लिट् । उत्प्रेक्षा ॥८॥ भास्करेति । भास्कराधिरगगोचरीभवध्वान्तपाटनविधौ[1] भास्करस्य सूर्यस्याधिरुचोऽधिककान्तेरगोचरीभवस्याविषयभूतस्य ध्वान्तस्य तमस पाटनस्य भेदनस्य विधौ विधाने । पटीयसी प्रकृष्टपट्वी । तारकाधिपकलेव तारकाधिपस्य चन्द्रस्य कलेव षोडशभाग इव । समुज्ज्वला प्रज्वला[2] । काकिणी काकिणीनामरत्नम् । किंकरत्व भृत्यत्वम् । अभजत् आश्रयत् । उपमा ॥९॥ प्रोद्बभूवेति । नवमेघमेचकप्रान्तवर्तितिमिरक्षतिक्षम नवमेघ इव वर्षाकालमेघ इव मेचकस्य नोलवर्णस्य प्रान्ते समीपे वर्तिनो विद्यमानस्य तिमिरस्य तमसः क्षतौ विनाशने क्षम समर्थ । श्रिय श्रीदेव्याः । रत्नदर्पण इव रत्नमुकुर इव । स्फुरद्दीपभासुरशिख स्फुरत प्रज्वलतो दीपस्य प्रदीपस्य (इव) भासुरा देदीप्यमाना शिखा ज्वाला यस्य स । शिखामणि. चूडामणि । प्रोद्बभूव उत्पद्यते स्म । भू सत्ताया लिट् ॥१०॥ स्यन्देति । स्यन्दमानमदनिर्झर स्यन्दमानः स्रवन् मदस्य मदजलस्य निर्झर प्रवाहो यस्य स । चलच्चारुचामरविराजित चलद्भि कम्पमानैश्चारुभिर्मनोहरैश्चामरै[3]श्चमरीरुहैः । विराजितो विभासित । गज गजरत्नम् । तद्गुरुत्वगुणनिर्जित तस्याजितसेनस्य गुरुत्वमेव गुणस्तेन निर्जितो विजित. । शैलराट् महामेरुपर्वत । छलात् (गजरत्न·) व्याजादिव । उपानतिं

भेदन-जैसे बहुत-से कार्योंमे अत्यन्त पटु था । ॥७॥ दण्डरत्नने अपनी जगमगाती प्रभासे पूरे आकाश और सभी दिशाओंके अन्तरालको प्रकाशित कर दिया था । वह ऐसा जान पडता था मानो चक्रवर्तीके भयसे काँपनेवाले इन्द्रके हाथसे गिरा हुआ वज्र हो ॥८॥ सूर्य आदिकी प्रभा जहाँ नही पहुँच सकती वहाँ अन्धकारको हटानेमे समर्थ, उज्ज्वल और इसीलिए चन्द्रकला सरीखी काकणी (काकणीरत्न) चक्रवर्तीकी सेवामे उपस्थित हुई ॥९॥ चक्रवर्तीके यहाँ चूडामणिरत्न उत्पन्न हुआ, जो अपने आस-पासमे फैले हुए, वर्षाकालीन मेघकी भाँति काले और गाढ अन्धकार को मिटानेमे समर्थ था, जिसकी आभा जलते हुए दीपककी लौ के समान थी और जो ऐसा जान पडता था मानो लक्ष्मीका रत्नदर्पण हो ॥१०॥ अजितसेनकी सेवामे एक गजरत्न उपस्थित हुआ । उसका मदजलका प्रवाह बह रहा था और वह चलते हुए चामरो (चँवरो) से सुशोभित था । ऐसा जान पडता था मानो चक्रवर्तीके गौरवसे पराजित हुआ पर्वतराज सुमेरु अथवा हिमालय उसकी सेवामे उपस्थित हुआ हो, जिसके ऊपर झरने बह रहे

---

१ एष पाठष्टीकाश्रय, प्रतिषु तु 'दिरग' इत्येव दृश्यते । २ = प्रोज्ज्वला । ३ = बालव्यजनैः । 'चामर बालव्यजन रोमगुच्छ प्रकीर्णकम् ।' इति हैम ।

अस्खलद्गति बृहद्बलान्वितं वाजिरत्नमसदन्मनोजवम्[1] ।
तन्निभेन विदधे समीपगस्तस्य वायुरिव पर्युपासनम् ॥ १२ ॥
शक्रदुर्विषहशक्तिभीषणस्तेजसा विजिततारकाधिपः ।
शौर्यभूररिभियामभूरभूत्कार्तिकेय इव वाहिनीपतिः[2] ॥ १३ ॥
देवमानवशुभेतरग्रहप्रापितापदपहस्तनक्षमः ।
देहबद्ध इव पुण्यसंचयः संबभूव भवने पुरोहितः ॥ १४ ॥

सेवाम् । ययौ इयाय । या प्रापणे लिट् । उत्प्रेक्षा ॥११॥ अस्खलदिति । अस्खलद्गति स्खलनरहिता गतिर्गमनं यस्य तत् । बृहद्बलान्वित बृहता महता बलेन शक्त्यान्वित युक्तम् । मनोजव मन इव जवो वेगो यस्य तत् । वाजिरत्नम् अश्वरत्नम् । असदत् प्रसन्नमभवत् । षद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु लुङ् । 'पुषादि-शास्ति—' इत्यादिना अङ्-प्रत्यय । तन्निभेन तस्याश्वरत्नस्य निभेन व्याजेन । तस्य नृपस्य । समीपगः समीप गच्छति स्म तथोक्त, निकटमागत इत्यर्थ । वायुरिव वात इव । पर्युपासन सेवाम् । विदधे चकार । डुधाञ् धारणे च लिट्[3] । उत्प्रेक्षा ॥१२॥ शक्रेति । [4]शक्रदुर्विषहशक्तिभीषण शक्रेण देवेन्द्रेण दु सहया शक्त्या सामर्थ्येन भीषणो भयकरः, पक्षे शक्तिर्नामायुधविशेषस्तया भयकरः । तेजसा कान्त्या, पक्षे प्रतापेन । विजिततारकाधिप विजितो निर्जितस्तारकाधिपश्चन्द्रो यस्य (येन) स , पक्षे पराजिततारकासुर । 'बाहुलेयस्तारकजित्' इत्यभिधानात् । शौर्यभू शौर्यस्य प्रतापस्य भू स्थानम् । अरिभियाम् अरिभि कृताना भिया भयानाम् । अभूः अस्थानम् । कार्तिकेय इव षण्मुख इव । वाहिनीपति सेनापतिरत्नम् । अभूत् अभवत् । भू सत्तायां लुङ् । उपमा ॥१३॥ देवेति । देवमानवशुभेतरग्रहप्रापितापदपहस्तनक्षम देवै सुरैर्मानवैर्मनुष्यैः शुभस्य (शुभात्) इतरेऽशुभास्त एव ग्रहाः शनैश्चराद्यशुभग्रहा इत्यर्थ., अशुभग्रहैश्च प्रापिता कृता सा चासावापच्च तथोक्ता तस्या अपहस्तने विनाशने क्षमः समर्थ । देहबद्ध शरीरसबद्ध । पुण्यसचय इव पुण्याना शुभकर्मणा सचय समूह इव (समूह , स इव) । पुरोहितः पुरोहितरत्नम् । भवने राजमन्दिरे ।

हो और जो चमरमृगोके बालोसे अलंकृत हो ॥११॥ चक्रवर्तीको अश्वरत्नकी प्राप्ति हुई । उसकी गति अस्खलित थी; उसका वेग वायुके समान था और वह बड़ा बलवान् था । वह ऐसा जान पडता था मानो अजितसेनकी सेवामे उस (अश्व) के बहाने वायु उपस्थित हो गया हो ॥१२॥ अजितसेनका सेनापति कार्तिकेयके समान था । कार्तिकेय अपने पास शक्ति नामक आयुध रखते थे । वह आयुध शत्रुओके लिए असह्य था । फलत शत्रु लोगोको कार्तिकेय भीषण थे । कार्तिकेयने अपने तेजसे तारक नामके असुरको जीत लिया था । कार्तिकेय पराक्रमके निवास स्थान थे, सर्वथा निर्भय थे और थे सेनापति । इसी तरह अजितसेनका सेनापति सामर्थ्यसे सम्पन्न था, शत्रु उसके सामर्थ्यको असह्य जानकर उससे डरते थे । उसने अपनी कान्तिसे चन्द्रमाको जीत लिया था, वह पराक्रमी था और था निर्भय ॥१३॥ चक्रवर्तीके यहाँ पुरोहितरत्न उत्पन्न हुआ । वह देव, मानव और अशुभ ग्रहोके निमित्तसे होनेवाली विपदाओको दूर करनेमे समर्थ था, और वह ऐसा जान पडता था मानो मूर्तिमान् पुण्यराशि हो—पुण्य-

---

१ अ क ख ग घ म °मसिधन्मनो° । २ अ 'योजनानि य उदित्य गच्छति द्वादश क्षणत ईदृशो ययु । शत्रुतारककृतक्षय क्षमी कार्तिकेय इव वाहिनीपति ।' एष त्रयोदशः श्लोकः । ३. आ प्रतावेव स्वस्तिकान्तर्गत पाठो दृश्यते । ४. एष पाठष्टीकाकृदभिमत , प्रतिषु तु शत्रु° इत्यवलोक्यते ।

तत्क्षणाभिलषितामराधिपावासकल्पसदनादिसाधकः ।
ब्रह्मणा सकलशिल्पकर्मणा संनिभः स्थपतिरप्यजायत ॥ १५ ॥
[1]चित्तपट्टलिखितव्ययागमो नित्यकृत्यगृहकार्यकोविदः ।
लोकवृत्तविदुदारधीरधीसंगतो गृहपतिः समुद्ययौ ॥ १६ ॥
[2]प्रासदन्निति शशिप्रभान्विता रत्नशब्दगदिताश्चतुर्दश ।
तस्य भाग्यभवनस्य भूपतेर्दुर्लभं किमथवा शुभोदये ॥ १७ ॥
नित्यसंनिहितदेहदेवतादत्तचिन्तितविचित्रवस्तवः ।
रत्नवच्च निधयः सुकर्मणस्तस्य सद्मनि नवोपतस्थिरे ॥ १८ ॥

सबभूव सजायते स्म । भू सत्तायां लिट् । उपमा ॥१४॥ तत्क्षणेति । तत्क्षणाभिलषितामराधिपावासकल्पसदनादिसाधकः तत्क्षणेन क्षणमात्रेणाभिलषितानां वाञ्छितानाममराधिपस्य देवेन्द्रस्यावासस्य विमानस्य कल्पानां सदृशानां सदनादीनां मन्दिरादीनां साधको[3] निर्माणकः । शिल्पकर्मचणविश्वकर्मणा[4] शिल्पकर्मणा नानाविधशिल्पक्रियया प्रतीतः शिल्पकर्मचणः, 'तेन वित्ते चुञ्चुपचणौ' इति प्रतीतार्थे चण-प्रत्ययः, स चासौ विश्वकर्मा ब्रह्मा तेन । संनिभः समानः । ब्रह्मणा देववर्धकिना वा समान इत्यर्थः । स्थपतिः तक्षकरत्नमपि । अजायत समभवत् । जनैङ् प्रादुर्भावे लङ् । उपमा । १५॥ चित्तेति । चित्तपट्टलिखितव्ययागमः चित्तमेव मन एव पट्टो लेखनपत्रं तत्र लिखितो व्ययागमो येन सः । रूपकम् । नित्यकृत्यगृहकार्यकोविदः नित्यमनवरतं कृत्ये विधातुं योग्ये कार्ये क्रियायां कोविदो निपुणः । लोकवृत्तवित्[5] लोकस्य वृत्तं वार्त्तां वित् जानन् । उदारधीरधीसंगतः उदारया गम्भीरया धीरया धीररूपया धिया संगतः संयुतः । गृहपतिः गृहपतिरत्नम् । समुद्ययौ समुद्बभूव । या प्रापणे लिट् ॥१६॥ प्रासदन्निति । भाग्यभवनस्य भाग्यस्य भवनस्य स्थानस्य । तस्य भूपतेः अजितसेनस्य । शशिप्रभान्विता शशिप्रभया शशिप्रभादेव्या अन्विता युक्ता । रत्नशब्दगदिता रत्नशब्देन गदिता प्रोक्ता । चतुर्दश चतुर्दशप्रमिताः । प्रासदन् प्रसन्ना अभवन् । अथवा तथा हि । शुभोदये पुण्योदये । दुर्लभं प्राप्तुमशक्यं किम् । अर्थान्तरन्यासः ॥१७॥ नित्येति । नित्यसंनिहितदेहदेवतादत्तचिन्तितविचित्रवस्तवः नित्यमनवरतं संनिहिताभिर्देहेन युक्ताभिर्देवताभिर्दत्तानि चिन्तितानि स्मृतानि विचित्राणि नानाविधानि वस्तूनि येषां ते । नव नवसंख्याः । निधयः कालादिनिधयः । रत्नवत् रत्नानीव । सुकर्मणः पुण्यवतः । तस्य अजितसेनस्य । सद्मनि मन्दिरे । उपतस्थिरे प्रापुः । ष्ठा गतिनिवृत्तौ लिट् । उपमा ॥१८॥

राशिकी मूर्ति हो ॥१४॥ उसके यहाँ शिल्पिरत्न उत्पन्न हुआ । वह शीघ्र ही इच्छित, इन्द्रके निवास मन्दिर सरीखे महलोंके निर्माणमें चतुर था, और इसीलिए वह सारी शिल्पकारीको जाननेवाले ब्रह्माके समान था । ॥१५॥ उसके यहाँ गृहपतिरत्न उत्पन्न हुआ । वह अपने चित्तरूपी लकड़ीके पटियेपर आय और व्ययका हिसाब लिखता रहता था—बहीमें लिखे विना ही वह सारे आय और व्ययके हिसावको याद रखता था । वह प्रतिदिन करने योग्य घरके कार्योंमें प्रवीण था, लोकव्यवहारका जानकार था और उसकी बुद्धि उदारता और धीरतासे युक्त थी ॥१६॥ इस प्रकार उस भाग्यशाली चक्रवर्तीको शशिप्रभा सहित चौदह रत्न प्राप्त हुए । शुभोदय होनेपर क्या दुर्लभ है ? ॥१७॥ पुण्यात्मा चक्रवर्ती अजितसेनके घर चौदह रत्नोंकी तरह नौ निधियाँ भी उपस्थित हुईं । वे निधियाँ अपने पास रक्षाके निमित्तसे रहनेवाले सदेह

---

१ म चित्रपट्ट । २ क ख ग घ म प्रासिषन्निति । ३ = निर्माता । ४ सर्वासु मूलप्रतिषु 'ब्रह्मणा सकलशिल्पकर्मणा' इत्येव पाठः समुपलभ्यते । ५ = लोकवृत्तं वेत्ति जानातीति लोकवृत्तवित् ।

तेषु माषचणकातसीतिलव्रीहिशालियवमुद्गकोद्रवान् ।
पाण्डुकः सततमेवमादिकान्क्षुन्मयामयहरान्व्यशिश्रणत् ॥ १९ ॥
कान्तकुण्डलमनोज्ञमुद्रिकातारहारमणिमेखलादिकम् ।
रत्नरश्मिरुचिरं विभूषणं चित्तवाञ्छितमदत्त पिङ्गलः ॥ २० ॥
वृक्षगुल्मलतिकासमुद्भवं चित्तहारि सकलर्तुगोचरम् ।
पुष्पपल्लवमथोत्तमं फलं तस्य कालनिधिरीप्सितं ददौ ॥ २१ ॥
रन्ध्रनद्धनिबिडादिभेदतो भिद्यमानवपुरुत्तमोत्तमम् ।
वाद्यवस्तु सुखकारि कर्णयोस्तस्य शङ्खनिधिना व्यतीर्यत ॥ २२ ॥

तेष्विति । तेषु निधिषु । पाण्डुक[1] पाण्डुकाख्यनिधिः । क्षुन्मयामयहरान् क्षुन्मया एवामया व्याधयस्तान् हरन्तीति क्षुन्मयामयहरास्तान् । माषचणकातसीतिलव्रीहिशालियवमुद्गकोद्रवान् माषश्च, चणको हरिमन्थकः स च, अतसी उमा सा च, तिलश्च, व्रीहिश्च, शालिश्च, यवश्च, मुद्गश्च, कोद्रवश्च, तथोक्तास्तान् । एवमादिकान् एवंप्रमुखान् धान्यविशेषान् । सततम् अनवरतम् । व्यशिश्रणत् अददात् । श्रण दाने लङ् । ॥१९॥ कान्तेति । पिङ्गलः पिङ्गलाख्यनिधि । रत्नरश्मिरुचिर रत्नाना रश्मिभि कान्तिभी रुचिर मनोहरम् । चित्तवाञ्छित चित्तेन मनसा वाञ्छितमभिलषितम् । कान्तकुण्डलमनोज्ञमुद्रिकातारहारमणि-मेखलादिकं कान्ते च ते कुण्डले च तथोक्ते, मनोज्ञा चासौ मुद्रिका च तथोक्ता, तारो निर्मल स चासौ हारश्च तथोक्त, मणिभिर्निर्मिता मेखला काञ्चीदाम, सा च मणिमेखला च तथोक्ता—कान्तकुण्डले च मनोज्ञमुद्रिका च तारहारश्च मणिमेखला च तथोक्तास्ता आदयो यस्य[2] तत् । विभूषणम् आभरणम् । अदत्त अददात्[3] । डुदाञ् दाने लङ् ।॥२०॥ वृक्षेति । अथ पुन । कालनिधि कालाख्यनिधि[4] । तस्य चक्रिणः । ईप्सित वाञ्छितम् । वृक्षगुल्मलतिकासमुद्भव वृक्षश्चूतादिर्गुल्मो वृन्ताकादिर्लतिका द्राक्षादि — वृक्षश्च गुल्मश्च लतिका च तथोक्ताः, तासु समुद्भूत निष्पन्नम् । चित्तहारि मनोहारि । सकलर्तुगोचर सकला ऋतव एव गोचरो विषयो यस्य तत् । पुष्पपल्लव पुष्प च पल्लवश्च तथोक्तम् । 'फल जाति.' इति द्वन्द्व एकवद्भाव[5] । उत्तम श्रेष्ठम् । फल फलजातिम् । ददौ विशश्राण । डुदाञ् दाने लिट् ॥२१॥ रन्ध्रेति । रन्ध्रनद्धनिबिडादिभेदत रन्ध्र वशादि नद्ध भेर्यादि निबिड वीणादि रन्ध्र च नद्ध च निबिड च तथोक्तानि तान्येवादि (यौ) येषा ते तथोक्तास्त एव भेदास्तेभ्यो रन्ध्रनद्धनिबिडादिभेदत. । भिद्यमानवपु' भिद्यमान वपु स्वरूप यस्य तत् । उत्तमोत्तमम् अत्यन्तोत्तमम् । कर्णयो श्रवणयो । सुखकारि आह्लादनकारि । वाद्यवस्तु पञ्चमहावाद्यवस्तु । तस्य चक्रिण । शङ्खनिधिना शङ्खाख्यनिधिना । व्यतीर्यत दीयते स्म । तॄ

देवोके द्वारा चक्रवर्तीको मनचाही विचित्र चीजें प्रदान करती थी ॥१८॥ उन नौमे एक पाण्डुक नामकी निधि थी । वह भूखकी व्याधिको दूर करनेवाले उडद, चने, अलसी, तिल, सामान्य धान्य-व्रीहि, विशेष धान्य-शालि (साठिया धान), जौ, मूग और कोदो आदि खाद्यान्नोको सदा प्रदान करती थी ॥१९॥ पिङ्गल नामकी निधि रत्नोकी किरणोसे विभूषित सुन्दर कुण्डल, मनोज्ञ अँगूठियाँ, जगमगाते हार और मणिरचित करधनी आदि इच्छित आभूषण प्रदान करती थी ॥२०॥ काल नामकी निधि वृक्षो, झाड़ियो और लताओमे उत्पन्न होनेवाले, मनोहर, छहो ऋतुओके फूल, कोपल और उत्तम फल चक्रवर्तीकी इच्छानुसार प्रदान करती थी ॥२१॥ शंख नामकी निधि बासुरी, मृदङ्ग और वीणा आदि नाना प्रकारके कानोको

१. श स पाण्डुर । २ = यस्मिन् । ३ भा अदधात् । ४ भा 'कालनिधि कालाख्यनिधि.' इति नोपलभ्यते । ५. भा द्वन्द्वैकत्वम् , श स द्वन्द्वैकवद्भाव ।

चित्रनेत्रपटचीनपट्टिकारत्नकम्बलपटीपटादिकम् ।
वस्त्रजातमखिलं महागुणं चित्तहारि वितताार पद्मकः ॥ २३ ॥
कम्रताम्रतपनीयनिर्मितं त्रापुषं रजतलोहसंभवम् ।
मन्दिरोपकरणं ददौ महाकालनामनिधिरेवमादिकम् ॥ २४ ॥
प्रासमायकरथाङ्गमुद्गरं शक्तिशङ्कुतरवारितोमरम् ।
शस्त्रजालमिदमादि माणवः शात्रवघ्नमददादुरुप्रभम् ॥ २५ ॥
सोपधानशयनासनादि यद्देहनिर्वृतिविधायि मार्दवम् ।
तत्समस्तमजनिष्ट तस्य नैपूर्वसर्पनिधिसंप्रपादितम् ॥ २६ ॥

प्लवनतरणयो. कर्मणि लङ् ॥ २२ ॥ चित्रेति । चित्तहारि मनोहारि । महागुणं महासुखकारित्वादिस्वभाव-युक्तम् । चित्रनेत्रपटचीनपट्टिकारत्नकम्बलपटीपटादिकं चित्रश्चासौ नेत्रपटश्च चित्रनेत्रपटो विचित्रसूक्ष्मवसन, 'नेत्र मृदुगुणे[2] वस्त्रे तरुमूले विलोचने । नेत्र रथे च नाड्या[3] (नद्या) च नेत्रो नेतरि भेद्यवत् ॥' इति विश्व., चित्रनेत्रपटश्च, चीन कौशेय तच्च, पट्टिका कटिवेष्टन सा च, रत्नकम्बलो लोहितकम्बलः स च, पटी द्विपटिका सा च, पट सामान्यवस्त्र स च तथोक्ता ते आदि (आदौ) यस्य तत् । अखिलं निखिलम् । वस्त्रजाल[4] वस्त्रसमूहम् । पद्मक पद्मनिधि । वितताार ददौ । तॄ प्लवनतरणयोर्लिट् ॥ २३ ॥ कम्रेति । कम्रताम्रतपनीय-निर्मित ताम्र च तपनीय च तथोक्ते कम्रे च ते ताम्रतपनीये च ताभ्या निर्मित रचितम्, ताम्रसुवर्णविहित-मित्यर्थ । त्रापुष त्रपुणो विकारस्त्रापुष त्रपुभाजनम् । रजतलोहसंभवं रजत रूप्य लोह च ताभ्या संभवम् । एवमादिकम् एवप्रकारम्[5] । मन्दिरोपकरण मन्दिरस्य राजसदनस्योपकरणम् । महाकालनिधि महाकालाख्य-निधि. । ददौ यच्छति स्म । डुदाञ् दाने लिट् । स्वभावोक्ति ॥ २४ ॥ प्रासेति । प्राससायकरथाङ्गमुद्गरं प्रास कुन्तायुध सायको बाणो रथाङ्ग चक्र मुद्गर (र) लोहगदा—प्रासश्च सायकश्च रथाङ्ग च मुद्गरश्च तथोक्तम् । शक्तिशङ्कुतरवारितोमर शक्तिश्च शङ्कुश्च तरवारिश्च तोमरश्च तथोक्तम् । 'वा पुंसि शल्य शङ्कुर्ना सर्वला तोमरोऽस्त्रियाम्' । इत्युभयत्राप्यमर । शात्रवघ्न शत्रूणा समूह शात्रव तद्धन्तीति तथोक्तम् । उरुप्रभम् उर्वी प्रभा यस्य तत् । इदम् एतत् । इदमादि इदप्रभृति । शस्त्रजाल शस्त्राणामायुधाना जालं समूहम् । माणव माणवाख्यनिधि· । अददात् अदात् । डुदाञ् दाने लङ् ॥ २५ ॥ सोपधानेति । यत्, देहनि-र्वृतिविधायि देहस्य शरीरस्य निर्वृति सुख विधत्ते इत्येव शील तथोक्तम् । मार्दव मृदुस्वभावम् । सोपधानशय-नासनादिक सोपधानम् उपधानेनोपबर्हेण सह वर्तते इति तथोक्तम्, सोपधान च तच्छयन च, तच्च आसन च सोपधानशयनासने ते आदि (आदौ) यस्य तत् । तत्समस्त तत्सकलम् । नैपूर्वसर्पनिधिसप्रपादित नै एव पूर्वस्मिन् यस्य स नैपूर्व स चासौ सर्पनिधिश्च तथोक्तस्तेन नैसर्पनिधिना सप्रपादित सप्रदत्तम् । तस्य

सुख देनेवाले उत्तमोत्तम वाद्य, चक्रवर्तीको देती थी ॥२२॥ पद्म नामक निधि विचित्र सूक्ष्म वस्त्र, चाइना सिल्क, कमरबन्द, लालकम्बल, दुपट्टे एव लाभकारी और सभी प्रकारके सुन्दर वस्त्र चक्रवर्तीको दिया करती थी ॥२३॥ महाकाल, नामक निधि राजमहलके योग्य, सुन्दर तांबे, सोने, शीशे, चांदी और लोहे आदिके बने पात्र (लोटे, गिलास, थाली, घडे आदि) प्रदान करती थी ॥२४॥ माणव नामक निधि भाले, बाण, चक्र, मुद्गर, शक्ति, शंकु, खड्ग और तोमर आदि नाना प्रकारके, वैरियोको मारनेवाले चमकीले हथियार देती थी ॥२५॥ चक्रवर्ती अजितसेनके यहाँ उसके शरीरको सुख देनेवाली कोमल तकिया, सेज और आसन

---

१. म महाताल । २ आ नेत्रमधिगुणे । ३. आ नाड्या । ४ एष टीकापाठ., मूलप्रतिषु तु 'वस्त्रजातम्' इत्येव समुपलभ्यते । ५ = एव प्रकारकम् ।

चित्ररत्नकिरणैः प्रवर्तयन्व्योमनीन्द्रधनुरुद्भवां श्रियम् ।
सर्वरत्ननिधिरस्य सर्वदा सर्ववाञ्छितफलप्रदोऽभवत् ॥ २७ ॥
नोदसिक्त स मदप्रवर्तिनीं तादृशीमपि विलोक्य तां श्रियम् ।
धर्म एष हि सतां क्रमागतो यन्न यान्ति विभवेन विक्रियाम् ॥ २८ ॥
वीतरागचरणौ समर्च्य सद्गन्धधूपकुसुमानुलेपनैः ।
संपदा परमया सबान्धवः स व्यधत्त निधिरत्नपूजनम् ॥ २९ ॥
चक्रवर्तिविभवोचितोत्सवं तस्य पार्थिवसमूहसंगतः ।
पट्टबन्धविधिमन्यदा स्वयं संनिधाय निरवर्तयद्गुरुः ॥ ३० ॥

चक्रिणः । अजनिष्ट अभूत् । जनैङ् प्रादुर्भावे लिङ् ॥२६॥ चित्रेति । चित्ररत्नकिरणैः चित्राणां नानाविधानां रत्नानां मणीनां किरणैर्मयूखैः । व्योमनि गगने । इन्द्रधनुरुद्भवाम् इन्द्रधनुषि (षः) उद्भवामुद्भूताम् । श्रियं शोभाम् । प्रवर्तयन् कुर्वन् । सर्वरत्ननिधिः सर्वरत्नानां निधिः[2] (सर्वरत्नाख्यनिधिः) । अस्य चक्रिणः । सर्वदा सर्वस्मिन् काले । सर्ववाञ्छितफलप्रदः वाञ्छितं च तत्फलं च तथोक्तं सर्वं च तद् वाञ्छितफलं च तथोक्तं सर्ववाञ्छितफलं प्रददातीति तथोक्तः । अभवत् अभूत् । भू सत्तायां लङ् ॥२७॥ नोदेति । स चक्री । मदप्रवर्तिनीं मदं गर्वं प्रवर्तयत इत्येवं शीला मदप्रवर्तिनी ताम् । तादृशीमपि, तां श्रियं संपत्तिम् । विलोक्य विलोकनं पूर्वं॰ वीक्ष्य । नोदसिक्त गर्वितो नाभवत् । षिची क्षरणे इति धातोर्लुङ् । विभवेन संपदा । (सन्त) विक्रियां विकारम् । न यान्ति न गच्छन्ति । या प्रापणे लिट् । यत् यस्मात् । एष अयम् । सताम्[3] । क्रमागतः क्रमात् परिपाट्या आगतः । धर्मो हि स्वभावो हि । अर्थान्तरन्यासः ॥२८॥ वीतरागेति । सबान्धवः बान्धवैः सह वर्तते इति तथोक्तः, बन्धुसहित इत्यर्थः । सः चक्री । सद्गन्धधूपकुसुमानुलेपनैः गन्धश्च धूपश्च कुसुमं चानुलेपनं च तथोक्तानि, सन्ति च तानि गन्धधूपकुसुमानुलेपनानि च तैः । वीतरागचरणौ वीतरागस्य सर्वज्ञस्य चरणौ पादौ । समर्च्य संपूज्य । संपदा संपत्त्या सह । निधिरत्नपूजनं निधीनां नवनिधीनां[4] रत्नानां चतुर्दशरत्नानां च पूजनमर्चनम् । व्यधत्त चकार । डुधाञ् धारणे च लङ् ॥२९॥चक्रवर्तीति । पार्थिवसमूहसंगतः पार्थिवानां—पृथिव्या ईशाः पार्थिवाः 'ईशे' इत्यञ्—प्रत्ययः[5], तेषां समूहेन सन्दोहेन संगतः सहितः । गुरुः पिता । तस्य चक्रिणः । चक्रवर्तिविभवोचितोत्सवं चक्रवर्तिनः सार्वभौमस्य विभवस्य ऐश्वर्यस्योचितं योग्यमुत्सवम् (निरवर्तयत्, यत्र) । पट्टबन्धविधिं पट्टबन्धस्य पट्टाभिषेकस्य विधिम् । अन्यदा अन्यस्मिन् दिने । स्वयं

आदि सारी चीजें नैसर्प निधिके द्वारा दी हुई थी ॥२६॥ चक्रवर्तीके यहाँ सदैव उसके सब प्रकार-के मनचाहे फलको देनेवाली सर्वरत्न निधि नामकी निधि थी, जो नाना प्रकारके रत्नो और मणियोकी किरणोसे आकाशमे इन्द्र धनुषकी शोभा फैलाया करती थी ॥२७॥ गर्वको उत्पन्न करनेवाली ऐसी विभूतिको देखकर भी वह चक्रवर्ती कभी सगर्व नही हुआ। क्योंकि सच तो यह है कि सज्जनोका कुल परम्परासे चला आया यह स्वभाव होता है, कि वे वैभवके निमित्तसे कभी इतराते नही ॥२८॥ चक्रवर्ती अजितसेनने अपने बन्धु-बान्धओके साथ श्रेष्ठ चन्दन, धूप, पुष्प और लेपनसे वीतराग प्रभु—अरहन्तके चरणोकी पूजा की और फिर उत्तम सम्पत्ति व्यय करके नौ निधियो और चौदह रत्नोकी भी पूजा की ॥२९॥ इसके पश्चात् एक दिन चक्रवर्ती अजित-सेनके पिता अजितजयने स्वय सभी राजा-महाराजाओकी उपस्थितिमे चक्रवर्तीकी शानके अनु-

---

१ अ क ख ग घ याति । २. आ 'सर्वरत्नानां निधि' इति नोपलभ्यते । ३ = सज्जनानाम् । ४. श स नवरत्ननिधीनाम् । ५ अ श स ईश इत्यण्—प्रत्ययः ।

अजीवश्च कथं जीवापेक्षस्तस्यात्यये भवेत् ।
अन्योन्यापेक्षया तौ हि स्थूलसूक्ष्माविव स्थितौ ॥४५॥
कथं च जीवधर्माः स्युर्बन्धमोक्षादयस्ततः ।
सति धर्मिणि धर्मा[1] हि भवन्ति न तदत्यये ॥४६॥
तस्मादुपप्लुतं सर्वं तत्त्वं तिष्ठतु संवृतम् ।
प्रसार्यमाणं शतधा शीर्यते जीर्णवस्त्रवत् ॥४७॥

ब्रुवन्ति । 'ब्रुवस्तिप्यञ्चत—' इत्यादिना रोरु सादेश ब्रुव आह इत्यादेशश्च । लट् ॥४४॥ अजीव इत्यादि । तस्य जीवपदार्थस्य । अत्यये अभावे सति । जीवापेक्ष जोवपदार्थसापेक्षः । अजीवश्च अजीवपदार्थ । कथ केन प्रकारेण । भवेत् स्यात् । जीवपदार्थस्य विद्यमानत्वे अजीवपदार्थ इति व्यपदेश , तदभावे तद्व्यपदेशाभाव', तस्मात्कारणात् अजीवपदार्थस्य जीवपदार्थापेक्षेत्यर्थ । अजीवजीवपदार्थौ स्थूलसूक्ष्माविव[2] । इव शब्दो वाक्यालङ्कारे ।[3] अन्योन्यापेक्षया परस्परापेक्षया। स्थितौ तिष्ठत स्म हि । ष्ठा गतिनिवृत्तौ कर्त्तरि क्त ॥४५॥ कथमित्यादि । तत जीवाजीवयो परस्परापेक्षया विद्यमानत्वात् । बन्धमोक्षादय बन्धश्च मोक्षश्च बन्धमोक्षौ तो आदी[4] येषा ते तथोक्ताः । जीवधर्मा जीवस्य धर्मा । कथ च केन प्रकारेण । स्यु. भवेयु । धर्मिणि धर्मा. सन्ति अस्य इति धर्मी तस्मिन् । सति विद्यमाने । धर्मा स्वभावा । भवन्ति सन्ति । भू सत्ताया लट् । तदत्यये तस्य धर्मिण. अत्यये नाशे । न हि धर्मा न भवन्ति हि ॥४६॥ तस्मादित्यादि । तस्मात् कारणात् । सर्वं विश्वम् । तत्त्व जीवादि वस्तुस्वरूपम् । उपप्लुतं[5] निराकृत संवृतम् असत्यम् । तिष्ठतु वर्त्तताम् । प्रसार्यमाणं प्रसार्यते इति प्रसार्यमाण विस्तीर्यमाणम्[6] । कर्मण्यानश्[7] । जीर्णवस्त्रवत् विशीर्णवस्त्रमिव[8] । शतधा

जो प्रत्यक्ष आदि किसी भी प्रमाणसे सिद्ध हो ॥४४॥ जीव पदार्थकी सत्ता जब किसी प्रमाणसे सिद्ध नही होती, तो उसका अभाव ही मानना होगा, और उसका अभाव माननेपर अजीव पदार्थ कैसे सिद्ध हो सकता है ? क्योकि जीव और अजीव पदार्थोंका व्यवहार परस्पर सापेक्ष है । जैसे स्थूल और सूक्ष्मका व्यवहार । स्थूल व्यवहार तभी होता है, जब कोई सूक्ष्म हो और सूक्ष्म व्यवहार भी तभी होता है, जब कोई स्थूल हो । इसी तरह जीव व्यवहार अजीवको जानकर और अजीव व्यवहार जीवको जानकर किया जाता है ॥४५॥ और जब जीव पदार्थ ही सिद्ध नही है, तो उसके बन्ध और मोक्ष आदि धर्म कैसे सिद्ध हो सकते हैं ? क्योकि धर्मी–पदार्थके होनेपर ही उसका कर्म–स्वभाव या गुण सिद्ध होता है, न कि उसके अभावमे ॥४६॥ अत' जीव, अजीव, बन्ध और मोक्ष आदि सभी तत्त्व बाधित हैं । ऐसी स्थितिमे वे शास्त्रोमे ही छिपे रहे । अन्यथा ज्यो-ज्यो विचार किया जायगा त्यो-त्यो पुराने सडे-गले वस्त्रकी तरह उनमे सैकड़ो उलझने उपस्थित हो जायेंगी । गला हुआ पुराना कपड़ा तभीतक सुन्दर मालूम पडता है, जबतक उसकी तह न खोली जाये । तह खोलनेपर तो उसकी सैकडो धज्जियाँ दृष्टिगोचर होने लगती है, और वे आपसमे उलझने भी लगती हैं ॥४७॥

---

१ इ 'धर्मा' इति नास्ति । २ = स्थूलश्च सूक्ष्मश्चेति स्थूलसूक्ष्मौ तद्वत् । ३ = इवशब्द औपम्य वाचक । ४. आ आदिः । ५. = उपप्लुत बाधितं संवृतमप्रसारितं वा । ६ = विस्तार्यमाणम् । ७ श स °नत् । ८ श °वस्त्र इव ।

प्रतिजन्तु यतो जीवः स्वसंवेदनगोचरः।
सुखदुःखादिपर्यायैराक्रान्तः प्रतिभासते ॥ ५५ ॥
नचास्वेविदितं[1] ज्ञानं वेद्यत्वात्कलशादिवत्।
स्वात्मन्यपि क्रियादृष्टेर्दीपादेः स्वप्रकाशनात् ॥ ५६ ॥
विषयान्तरसंचारो न च स्यादस्ववेदिनः।
अपरापरबोधस्य वेदनीयस्य संभवात् ॥ ५७ ॥

प्रतीत्यादि। यत यत कारणात्। प्रतिजन्तु जन्तुं जन्तुं प्रति [इति] प्रतिजन्तु। अव्ययीभाव। स्वसवेदनगोचर' स्वसवेदनस्य सुखी अहं दु खो अहम् इत्यादि स्वसवेदनप्रत्यक्षस्य गोचरो विषय। सुखदु खादिपर्यायै सुख च दु ख सुखदु ख ते आदो[2] येषा ते तथोक्ता सुखदु खादयश्च ते पर्यायाश्च तै, आदिपदेन रागद्वेषादि [3]विपरिणामा परिगृह्यन्ते। आक्रान्त प्रापित'[4] जोव. जोवपदार्थ। प्रतिभासते प्रकाशते। भासि दीप्तो। लट् ॥५५॥ न चेत्यादि। ज्ञान धर्मि[5]। अस्वविदित स्वविदित न, अस्वविदितम् इति साध्यम्। वेद्यत्वात् ज्ञातु योग्यत्वात्। इति प्रमेयत्वात्[5] हेतु। कलशादिवत् इति दृष्टान्त एव न च[6]। स्वात्मनि स्वरूपे। क्रियावृत्ते[7] क्रियाया: व्यापारस्य वृत्ते प्रवृत्ते[8]। दोपादे प्रदोपादे.। आदिशब्देन सूर्यादे[9], स्वप्रकाशनात्[10] स्वस्य प्रकाशनं प्रभासन स्वप्रकाशन तस्मात्, स्वप्रकाशनाभावे परप्रकाशनानुपपत्तिरित्यर्थ ॥५६॥ विषयेत्यादि। अस्ववेदिन. स्वव्यवसायरहितस्य ज्ञानस्य। विषयान्तरसचार विषयान्तरेषु परविषयेषु सचार प्रवृत्ति। न स्यात् न भवेत्।

नही होतो' यह हेतु देकर कौन अपना परिहास करावेगा ? ॥५४॥ 'अनुपलब्धि' हेतु देकर जीवका अभाव सिद्ध नही किया जा सकता, क्योकि जगत्‌मे जितने भी जन्तु हैं, उनमे जीवकी सत्ता स्वसवेदन प्रत्यक्षसे सिद्ध है—प्रत्येक जन्तुके—जीवके साथ सुख-दुःख आदि अवस्थाएँ लगी हुई हैं, और इसीलिए उन्हे 'मैं सुखी हूँ' (सुखावस्थामे) 'मैं दु.खी हूँ' (दुःखावस्थामे) इस प्रकारका स्पष्ट आभास होता रहता है ॥५५॥ यदि यह कहो कि 'ज्ञान स्वसवेदी-अपनेको जाननेवाला नही है, क्योकि उसे दूसरा ज्ञान जानता है, अतः वह वेद्य है। जैसे कलश आदि। जैसे कलश आदि अपनेको नही जानते, वैसे ज्ञान भी अपनेको नही जानता, क्योकि अपनेमे क्रिया नही होती। जिस प्रकार नट नृत्यकलामे कितना ही कुशल क्यो न हो, पर वह स्वय अपने ही कन्धेपर चढकर नृत्य नही कर सकता। इसी प्रकार ज्ञान कितना ही निर्मल हो, किन्तु वह अपनेको नही जान सकता।' ठीक नही, क्योकि अपनेमे भी क्रिया देखी जाती है। देखिए न, दीपक, चन्द्र और सूर्य आदि अपनेको भी प्रकाशित करते हैं। दीपक आदि अपनेको प्रकाशित करनेसे यदि प्रकाश्य हैं, तो अन्य पदार्थोंको प्रकाशित करनेके कारण प्रकाशक भी। इसी प्रकार ज्ञान अपनेको जानता है, अत वेद्य है और अन्य पदार्थोंको जानता है, अत वेदक भी ॥५६॥ यदि ज्ञान अस्वसवेदी हो तो वह चेतन या अचेतन किसी भो पदार्थको नही जान सकता। यदि यह कहो कि 'पहले ज्ञानको दूसरा ज्ञान जान लेता है, अत' पहला ज्ञान पदार्थो-

१ इ नत्वास्व°। २ आ आदि' श स आदि। ३ आ 'वि' नास्ति। ४ श स धर्मी। ५ = इति हेतुः। ६. = वाच्यम्। ७ श स °वृत्ति। ८ = क्रियादृष्टे क्रियादर्शनात्। ९ श स सूर्यादि। १० = प्रमाणाधीनत्वात् प्रमेयस्य। अत प्रमाणमेव मीमास्यते। ननु चेद स्वसवेदनलक्षण प्रमाणमसिद्धमिति चेत्, उच्यते—न चेत्यादि। ज्ञानं-स्वसवेदनम् अस्वविदित भवति, वेद्यत्वात्। यद्वेद्यं तद् अस्वविदितम्। यथा कलशादि। [इति] न च—न वाच्यम्। स्वात्मन्यपि क्रियादृष्टे—क्रियादर्शनात्। दीपादे स्वप्रकाशमात् यथा दीप स्व प्रकाशयन्नेवार्थं प्रकाशयति। तथा ज्ञानम्।

अनवस्थालता च स्यान्नभस्तलविसर्पिणी ।
यदेवाविदितं तेषु तन्न पूर्वस्य वेदकम् ॥ ५८ ॥
तस्माद्विषयविज्ञानमप्रत्यक्षमवस्थितम् ।
तदप्रत्यक्षतायां च विषयस्यापि सा गतिः ॥ ५९ ॥
परोक्षादपि चेज्ज्ञानादर्थाधिगतिरिष्यते ।
परेण विदितोऽप्यर्थस्तथा स्वविदितो भवेत् ॥ ६० ॥
तस्मात्स्ववेदने सिद्धे प्रत्यक्षे सति युक्तितः ।
प्रत्यक्षबाधा न भवेत्कथं नास्तित्ववादिनाम् ॥ ६१ ॥

कस्मात्, इत्युक्ते । अपरापरबोधस्य अपरापरस्य उत्तरोत्तरस्य बोधस्य ज्ञानस्य । वेदनीयस्य ज्ञातव्यस्य । संभवात् अस्तित्वात् ॥५७॥ अनवस्थेत्यादि । तेषु अपरापरबोधेषु । यदेव ज्ञानम् । अविदितम् अज्ञातम् । ज्ञानम् । पूर्वस्य प्रथमज्ञानस्य । वेदक बोधकम् । 'कृतकामुकस्य'—इत्यादिना कर्मणि षष्ठी । न भवति[1] । नभस्तलविसर्पिणी नभसः आकाशस्य तले प्रदेशे विसर्पिणी प्रसारिणी, अवसानरहितेत्यर्थ. । अनवस्थालता अनवस्थैव अनवस्था दोष एव लता वृततिश्च तथोक्ता । स्यात् । अस भुवि लिङ् ॥५८॥ तस्मादित्यादि । तस्मात् कारणात् । विषयविज्ञानं विषयस्य पदार्थस्य विज्ञानं परिज्ञानम् । अप्रत्यक्षं परोक्षम्[2] । अवस्थितं स्थितम्[3] । तदप्रत्यक्षताया तस्य विषयपरिज्ञानस्याप्रत्यक्षताया च । विषयस्यापि पदार्थस्यापि । सा परोक्षता । गति शरणम् । स्यादित्यध्याहारः ॥५९॥ परोक्षादित्यादि । परोक्षादपि अप्रत्यक्षादपि । ज्ञानात् परिज्ञानात् । अर्थाधिगति. अर्थस्य विषयस्य अधिगति निश्चयः । इष्यते चेत् अङ्गीक्रियते चेत् । परेण अन्यज्ञानेन सन्तानान्तरज्ञानेन वा । विदितोऽपि ज्ञातोऽपि । अर्थ घटादिपदार्थः । तथा परप्रत्यक्षप्रकारेण । स्वविदित. स्वेन विदितो ज्ञातः । भवेत् स्यात् । भू सत्ताया लिङ् ॥६०॥ तस्मादित्यादि । तस्मात्[4] स्वेन ज्ञात (?) अन्यस्य ज्ञानेन स्वस्य ज्ञान न जायते तस्मात् । युक्तितः विचारात् । स्ववेदने स्वस्य वेदन तस्मिन् स्वसवेदने प्रत्यक्षे—प्रत्यक्षप्रमाणे । सिद्धे निष्पन्ने सति । 'यदभावो भावलक्षणम्' इति सप्तमी । नास्तित्ववादिना नास्तित्व वदन्तीत्येवशीला. तेषा शून्यवादिनाम्[5] । प्रत्यक्षबाधा प्रत्यक्षेण प्रत्यक्ष-

---

को जान लेता है' तो यह भी ठीक नहीं; क्योंकि उत्तरोत्तर जितने भी ज्ञान होंगे, वे सब अगले-अगले ज्ञानके वेद्य ही तो होंगे ॥५७॥ पूर्व-पूर्व ज्ञानको उत्तरोत्तर होनेवाले ज्ञान जानकर उन्हें पदार्थोंको जानने योग्य बनाते रहेंगे, ऐसा माननेपर तो अनवस्था दोषकी बेल पूरे आकाशमें फैल जायेगी—आकाशकी तरह उसका भी अन्त नहीं आयेगा । उत्तरोत्तर होनेवाले ज्ञानोंको यदि स्वतः अस्वसवेदी ही मानते हैं तो वे पूर्व-पूर्व ज्ञानको नहीं ही जान सकेंगे ॥५८॥ ऐसी अवस्थामें पदार्थोंको जाननेवाला ज्ञान अप्रत्यक्ष ही बना रहेगा । उसके अप्रत्यक्ष रहनेसे विषयकी भी वही गति होगी—वह भी अप्रत्यक्ष बना रहेगा ॥५९॥ यदि परोक्ष ज्ञानसे भी पदार्थोंका ज्ञान हो जाता है, यह स्वीकार करते हो तो एक मनुष्यने जिस पदार्थको जाना है, उसकी जानकारी दूसरेको भी हो जानी चाहिए ॥६०॥ इसलिए युक्तिबलसे स्वसवेदन प्रत्यक्षके

---

१ =यदि ज्ञानमन्येन ज्ञानेन विदितं सद् वेदकं स्यात् तदा । २ आ प्रतावेव केवलं 'परोक्षम्' इत्युपलभ्यते । ३. आ निराकृतम् । ४. =तस्मात् कारणाद् युक्तित' प्रमाणोपपत्त्या स्ववेदने स्वसवेदने नाम्नि प्रत्यक्षे प्रमाणे सिद्धे व्यवस्थापिते सति नास्तित्ववादिना च.र्वाकतत्त्वोपप्लवाना प्रत्यक्षेण बाधा प्रत्यक्ष-बाधा कथं न भवेत् ? अध्यक्षेण जीवमपह्नुवानाना तेषां प्रत्यक्षमेव जीवव्यवस्थापकं भवेत् इति भावः । ५. तत्त्वोपप्लववादिनाम् ।

जीवे सिद्धेऽपि गर्भादिमरणान्ते स्ववेदनात् ।
प्रागूर्ध्वं च कथं सिद्धस्तस्येति यदि मन्यसे ॥ ६२ ॥

सदकारणवत्त्वेन सिद्धा तत्राप्यनादिता ।
अनन्तता च वाय्वग्निपृथिवीपयसामिव ॥ ६३ ॥

न च सिद्धमहेतुत्वं हेतोः कस्याप्ययोगतः ।
भूतानां न च हेतुत्वं सहप्रत्येकपक्षयोः ॥ ६४ ॥

प्रमाणेन बाधा पीडा[1] । कथ केन प्रकारेण । न भवेत्, अपितु भवेदेव । भू सत्ताया लिङ् ॥६१॥ जीव इत्यादि । स्ववेदनात् स्वसंवेदनप्रत्यक्षात् । गर्भादिमरणान्ते गर्भ एवादिर्मरणमेवान्तो मरणान्त , गर्भादिर्मरणान्तो यस्य[2] तस्मिन् । जीवे जीवपदार्थे । सिद्धेऽपि निष्पन्नेऽपि । तस्य जीवपदार्थस्य । प्राक् गर्भात् प्राक् । ऊर्ध्वं च मरणादूर्ध्वं च । चकार समुच्चयार्थ । कथ केन प्रकारेण । सिद्धि. अस्तित्वम् । इति यदि मन्यसे जानासि । मनि ज्ञाने लट् ॥६२॥ सदित्यादि । तत्रापि जीवपदार्थेऽपि । सदकारणवत्त्वेन सतो नित्यस्याकारणवत्त्व तेन, 'सदकारणवन्नित्यम्'[3] इत्यभिधानात् । वाय्वग्निपृथिवीपयसामिव वायुश्चाग्निश्च पृथिवी च पयश्च तथोक्तानि । अनादिता न विद्यते आदिर्यस्य [स] अनादि तस्य भाव. तथोक्ता आदिरहितत्वम् । अनन्तता न विद्यतेऽन्तोऽवसानो [न] यस्य [स] अनन्त तस्य भावोऽनन्तन्ता अवसानराहित्यम् । सिद्धा निष्पन्ना[4] ॥६३॥ न चेत्यादि । अहेतुत्वम् असाधनत्वम्[5] । असिद्धम् अप्रसिद्धम् [अनिष्पन्नम्] । न च न भवति । कस्यापि हेतो. साधनस्य । अयोगत अयोगादयोगतोऽघटनात् । सहप्रत्येकपक्षयो. सह सहितश्च प्रत्येकश्च सहप्रत्येकौ[6] (?) तौ च तौ पक्षौ च तथोक्तौ, तयो योगपद्य—अ(पा)र्यवयपक्षयो , वाय्वग्निपृथिवीपयासि जीवस्य युगत्कारणानि पृथिव्याद्येकैकं प्रत्येकतया कारणम् इति सहप्रत्येकपक्षौ तयोरित्यर्थ. । भूताना पृथिव्यादीनाम् । हेतुत्वं

सिद्ध हो जानेपर तत्त्वोपप्लववादियोको प्रत्यक्ष बाधा क्यो नही होगी ? ॥६१॥ यदि तुम स्वसंवेदन प्रत्यक्षके आधारपर गर्भसे लेकर मरण पर्यंत जीवकी सत्ताको मानकर भी यह पूछो कि 'गर्भसे पहले और मरणके बाद उसकी सत्ता कैसे मानी जा सकती है ?' तो सुनो, जो पदार्थ सत् हो और जिनकी उत्पत्ति किसीसे न हुई हो, वे सब निश्चित ही अनादि और अनन्त होते हैं । जैसे पृथिवी, जल, अग्नि और वायु ॥६२-६३॥ जीवकी उत्पत्तिका कोई हेतु नही है—वह किसीसे उत्पन्न नही हुआ, यह असिद्ध है, ऐसा भी नही कह सकते; क्योकि उसकी उत्पत्तिका कोई हेतु सिद्ध नही है । यदि यह कहा जाये कि पृथिवी, जल, अग्नि और वायु ये चार भूत उसकी उत्पत्तिमे हेतु हैं, तो दो विकल्प उठते हैं—(१) चारो भूत मिलकर जीवकी उत्पत्तिमे हेतु हैं, (२) या एक-एक करके ? वे दोनो ही तरह जीवकी उत्पत्तिमे हेतु

---

१ विरोध. । २. श स यस्मिन् । ३ श स °वन्नित्याभिधानात् । ४ =वादिप्रतिवाद्यपेक्षया व्यवस्थाप्यमानो जीव पक्ष , अनाद्यनन्तो भवति, सदकारणवत्त्वात् । येषा सदकारणत्त्व तेषामनाद्यनन्तत्वम् । यथा वाय्वग्निपृथिवीपयसाम् । सदकारणवाश्चासौ तस्मादनाद्यनन्त । ५ अ आ इ न च न हेतु° = अकारणवत्त्वम् । ६ = सहपक्षो यौगपद्यपक्ष , प्रत्येकपक्ष क्रमपक्ष ।